(श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध पर
श्री एकनाथ महाराज की लिखी मराठी टीका का अनुवाद)

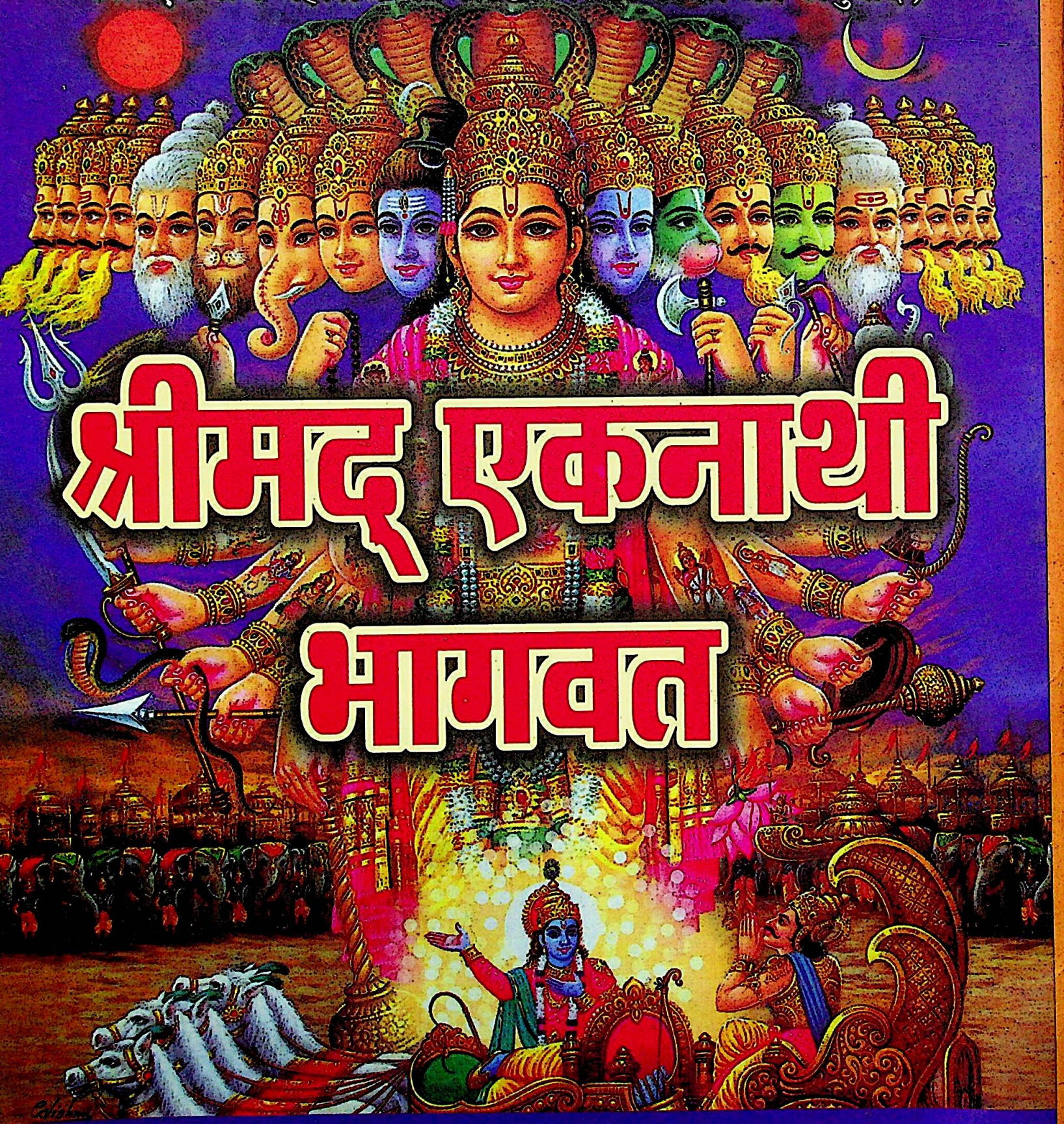

श्रीमद् एकनाथी भागवत

अनुवादक

ना. वि. सप्रे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वेद में जो नहीं कहा गया गीता ने पूरा किया। ता की कमी की आपूर्ति 'ज्ञानेश्वरी' ने की। उसी कार ज्ञानेश्वरी की कमी को एकनाथी भागवत ने ा किया। दत्तात्रेय भगवान के आदेश से सन् १५७३ एकनाथ महाराज ने भागवत के ग्यारहवें स्कंध पर स्तृत और प्रौढ़ टीका लिखी। यदि 'ज्ञानेश्वरी' मद्भागवत की भावार्थ टीका है तो नाथ भागवत मद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध पर सर्वांगपूर्ण टीका इसकी रचना पैठण में शुरू हुई और समापन ाणसी में हुआ। विद्वानों का मत है कि यदि नेश्वरी को ठीक तरह से समझना है तो एकनाथी गवत के अनेक पारायण करने चाहिये। तुकाराम ाराज ने भण्डारा पर्वत पर बैठकर एकनाथी गवत का एक सहस्त्र पारायण किये।

पैठण में आरम्भ एकनाथी भागवत् मुक्तिक्षेत्र ाणसी में मणिकर्णिका महातट पर पंचमुद्रा नामक ठ में कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को पूर्ण हुई। इस ग्रन्थ भागवत धर्म की परम्परा, स्वरूप विशेषताएँ, ध्येय, धन आदि भागवत के आधार पर निरूपित हुआ है।

मूल्य : छः सौ रुपये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीमद् एकनाथी भागवत

(श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध पर
श्री एकनाथ महाराज ने लिखी मराठी टीका का अनुवाद)

अनुवादक
ना०वि० सप्रे

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

SHRIMAD EKNATHI BHAGWAT

Translated by

N.V. Sapre

ISBN : 81-7124-402-5

प्रथम संस्करण : २००५ ई०

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

फोन व फैक्स : (०५४२) २४१३७४१, २४१३०८२

E-mail : vvp@vsnl.com • sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-२२१ ००१

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्री एकनाथ-चरित्र

एकनाथ का जन्म संत परिवार में हुआ था। उनके परदादा भानुदास महाराष्ट्र के महान संत थे। उनके पुत्र थे चक्रपाणि और उनके पुत्र थे सूर्यनारायण। एकनाथ ने सूर्यनारायण के घर में शक १४५० में पैठण में जन्म लिया। एकनाथ को ज्ञानेश्वर का अवतार कहा जाता है क्योंकि उन्होंने ज्ञानेश्वर के कार्य को पूरा किया। तेरहवीं सदी के अन्तिम दशक में ज्ञानेश्वर ने अपनी इहलीला समाप्त की। उन्होंने ज्ञानेश्वरी के रूप में जो ज्ञानसम्पदा महाराष्ट्र को सौंपी उसका प्रचार-प्रसार करने का दायित्व नामदेव के कन्धों पर आ पड़ा। उन्होंने ई०स० १३५० तक यह जिम्मेदारी निभायी लेकिन अगले दो सौ वर्ष का कालखण्ड (ई०स० १३५० से १५५० के बीच) इस कार्य के लिए अनुपयुक्त था क्योंकि इसी कालखण्ड में मुसलमानों ने देश में भयानक उत्पात मचाया और अशांति का वातावरण बना दिया। फिर एकनाथ का उदय हुआ। उन्होंने महाराष्ट्र में परमार्थ विषयक जागृति का बिगुल बजाया। उनके प्रयासों से जनजीवन में धार्मिक आस्था जोर मारने लगी और जीवन सामान्य हो चला।

एकनाथ का जन्म मूल नक्षत्र में हुआ था। उनके जन्म के कुछ ही महीने बाद उनके माता-पिता की मृत्यु हो गयी। वे अकेले रह गये तो उनके दादा-दादी लाड़-प्यार से उन्हें 'एका' कहकर पुकारने लगे। छठवें वर्ष ही उनका जनेऊ हो गया और उन्हें घर में ही ब्रह्मकर्म की शिक्षा दी जाने लगी। घर में जो गुरु पढ़ाने आते थे वे उनकी बुद्धि की तीव्रता से परेशान थे। एक दिन उन्होंने चक्रपाणीजी से कह ही दिया, ''मैंने तो पेट के लिये कथा कहना सीखा था किन्तु आपका पौत्र ऐसे जटिल प्रश्न करता है कि मैं उसका समाधान नहीं कर पाता।'' बारह वर्ष की आयु तक आते-आते उसने रामायण, महाभारत आदि पौराणिक ग्रन्थों का अध्ययन पूरा कर लिया था। दैनिक कृत्य के उपरान्त वे भगवद्भजन में लग जाते। एक रात वे अकेले ही शिवालय में बैठकर राम-कृष्ण-हरि का मंत्र जप रहे थे कि तभी उन्हें आत्मिक प्रेरणा हुई कि देवगढ़ जाकर जनार्दन स्वामी के चरणों में गिरना है। वे दादा-दादी से बिना कुछ कहे ही देवगढ़ के लिये चल पड़े। तीसरे दिन प्रातःकाल वे देवगढ़ पहुँचे। गुरु के दर्शन होते ही वे मानों गद्‌गद् हो गये। उन्होंने स्वयं को उनके चरणों में सौंप दिया। यह शक संवत् १४६७ की घटना है।

एकनाथ जनार्दन स्वामी के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित हुए। ब्राह्मण कुल में पैदा होकर वे यवन शासक की नौकरी में थे लेकिन किसी भी कर्म में वे कम नहीं थे। प्रातःकाल से मध्याह्न तक का काल स्नान-संध्या, समाधि तथा दत्तात्रेय की सेवा में बीतता। इसके बाद वे अपने सरकारी कामकाज में व्यस्त हो जाते। सायंकाल संध्यावंदन आदि से निवृत्त होकर वे 'ज्ञानेश्वरी' तथा 'अमृतानुभव' का पारायण करते। गुरुसेवा करते-करते एकनाथजी के मनोविकार शान्त हो गये। उनकी चित्तवृत्ति शुद्ध हो गयी। उनके जैसा शिष्य पाकर जनार्दन स्वामी अत्यन्त प्रसन्न हुए। एकनाथ ने गुरुमुख से ही ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव तथा श्रीमद्‌भागवत आदि ग्रन्थ सुने और इससे उनका आत्मबोध जागृत हो गया। एक बार जनार्दन स्वामी ने एकनाथ को देवगढ़ के हिसाब-किताब का काम सौंपा। उन्होंने देखा कि एक दिन के हिसाब में एक पाई की भूल रह गयी है। तीन पहर रात बीत जाने पर जनार्दन स्वामी जागे तो उन्होंने एकनाथ को हिसाब मिलाते देखा। तभी संयोगवश भूल पकड़ में आ गयी थी। एकनाथ ने जोर से ताली बजायी। गुरु ने हर्ष से पूछा, ''यह ताली किसलिये बजायी?'' एकनाथ ने पूरी कथा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुना दी। उन्होंने उपदेश दिया, "नाथ! एक पाई की भूल का पता लगते ही जब तुम्हें इतना हर्ष हो रहा है तब संसार की जो बड़ी भूल तुम्हारे हाथों हुई है उसका पता लगने से तुम्हें कितना आनन्द होगा? प्रिय शिष्य, यदि ऐसी ही तन्मयता से श्री दत्त का चिन्तन करो तो भगवद्प्राप्ति की ताली मिल गयी समझो।" छः वर्ष तक उन्होंने गुरु की सेवा की और जनार्दन स्वामी ने उन्हें श्री दत्तात्रेय के दर्शन कराने का संकल्प किया। देवगढ़ पर जहाँ जनार्दन स्वामी समाधि लगाते थे वह स्थान अत्यन्त रमणीक था। इसी स्थान पर उन्हें श्री दत्तात्रेय के दर्शन होते थे। एक दिन जनार्दन स्वामी ने एकनाथ से संकेत में ही बताया कि इस स्थान पर दत्तात्रेय भगवान के सिवाय और कोई आता नहीं। वे किसी भी रूप में आ सकते हैं लेकिन उन्हें देखकर डरना नहीं। एक दिन जनार्दन स्वामी पूजा से निवृत्त हुए थे तभी एक फकीर वहाँ आ पहुँचे और जनार्दन स्वामी से बातें करने लगे। उनका वेष असाधारण था। पूरा शरीर चमड़े से ढँका हुआ था। साथ में एक कुतिया भी थी। उनकी आँखों से मानों आग बरस रही थी। जनार्दन स्वामी ने फकीर की आज्ञा से कुतिया का दूध निकाला और मिट्टी के पात्रों में उसे उड़ेल कर एक साथ पीने लगे। एकनाथ ने वह पात्र धोया और उसी धोवन को तीर्थ मानकर ग्रहण किया। फकीर ने एकनाथ को अपने पास बुलाया। एकनाथ ने फकीर और गुरु दोनों को नमस्कार किया। फिर हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गये। उन्होंने देखा कि जो गुरु थे वही परमगुरु हैं और जो परमगुरु थे वही गुरु हैं। फकीर के रूप में उपस्थित दत्तात्रेयजी बोले, "यहाँ महाभागवत का जन्म हुआ है। इसके हाथों भागवत धर्म का प्रसार होगा।" इसका उल्लेख उन्होंने एक अभंग में इस प्रकार किया है—"एका (एकनाथ) ने जनार्दन की शरण जाकर, आत्मदृष्टि पाकर परब्रह्म भगवान दत्त को इन आँखों से देखा।" श्री दत्तात्रेय के दर्शन से उन्हें इस बात का ज्ञान हुआ कि सगुण-निर्गुण एक है। वह दत्त है अर्थात् अपना रूप उन्होंने पहले ही दिया हुआ है। वह सहजसिद्ध हैं, अर्थात् बुद्धि पर से परदा हटते ही वह उपस्थित हो जाता है।

एकनाथ को श्री दत्तात्रेय भगवान के दर्शन हो गये और इनका वरप्रसाद भी मिला तो जनार्दन स्वामी के मन में आया कि अब इससे अनुष्ठान कराना चाहिये। इसके लिये उन्होंने देवगढ़ पर वायव्य दिशा की ओर सुलभ पर्वत पर एक सुरम्य स्थल निश्चित कर लिया। वहाँ वे ब्राह्म मुहूर्त में उठकर स्नान-संध्या आदि से निवृत्त होकर तदपुरान्त पूर्वाभिमुख होकर सिद्धासन लगाकर बैठ जाते। श्रीकृष्ण की मूर्ति का ध्यान करना ही उनका दैनिक कार्यक्रम था। वे इस प्रकार का अभ्यास योग करने लगे। इससे बाह्य स्फुरण की गति बन्द हो गयी और वे इसी देह में विदेहावस्था का भोग करने लगे। जनार्दन स्वामी ने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया था कि सगुण और निर्गुण एक हैं। प्राणायाम, धारणा और ध्यान ये सब भक्ति के साधन हैं। वे भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण की मूर्ति का ध्यान करते थे। फलस्वरूप एकनाथ को साक्षात आनन्दमय भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन हुए। देवगढ़ पर वे इस प्रकार तपश्चर्या कर रहे थे कि एक दिन जब वे समाधि में थे तभी एक काला सर्प फूत्कार करता हुआ उन पर टूट पड़ा और उनके शरीर से लिपट गया। आश्चर्य तो इस बात का था कि साम्य स्थिति का अनुभव करने वाले एकनाथ के अंगस्पर्श से कालसर्प की दंश करने की दुष्ट बुद्धि नष्ट हो गयी ओर वह नाथ के मस्तक पर फन फैलाकर झूमने लगा।

एकनाथ जब अनुष्ठान सम्पन्न कर घर लौटे तो गुरु जनार्दन स्वामी ने विचार किया अब उनका यहाँ का काम समाप्त हो चुका है अतः अब उसे तीर्थयात्रा के लिये भेज देना चाहिये। वे चाहते थे कि इस प्रकार अनेक संत-महात्माओं का सत्संग लाभ कर वह भागवत धर्म का प्रवर्तक बने। जनार्दन स्वामी ने उन्हें साथ लेकर नासिक-त्र्यंबकेश्वर तक चलना स्वीकार कर लिया। रास्ते में गोदावरी के तट पर वे चन्द्रभट नामक ब्राह्मण के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आश्रम में रुके। ब्राह्मण ने अभ्यागतों का उचित स्वागत किया तथा बाद में चतुःश्लोकी भागवत का निरूपण किया। जनार्दन स्वामी को वह इतना अच्छा लगा कि उन्होंने एकनाथ को चतुःश्लोकी भागवत पर 'ओवी' छन्द में विस्तृत ग्रन्थ लिखने की आज्ञा दे दी। दूसरे दिन वे पंचवटी-नासिक पहुँचे। वहाँ से त्र्यंबकेश्वर। फिर वहाँ से गोदावरी के उद्‌गम स्थल ब्रह्मगिरि पर्वत की परिक्रमा करके तथा निवृत्तिनाथ की समाधि के दर्शन करके पुलकित हुए। गंगास्नान, ब्राह्मण-संतर्पण आदि से निवृत्त होकर तथा एकनाथ को आगे का कार्यक्रम बताकर जनार्दन स्वामी देवगढ़ लौट गये। उनके साथ चन्द्रभट भी चले गये।

एकनाथ ने चार-पाँच वर्ष में भारतवर्ष की यात्रा की। गुरु से बिछोह उन्हें सहन नहीं हो रहा था। गुरु का उपदेश था—"योगक्षेम चलाने वाले भगवान समर्थ हैं। अपना ज्ञान कहीं प्रकट न करो और साधु-महात्माओं से मिलते हुए अपना स्वानंद अन्दर ही अनुभव करो।"

एकनाथ ने इस प्रकार अखण्ड मनःस्थिति में रहकर यात्रा की। पयोष्णी, नर्मदा, ताप्ती, गंगा, यमुना, कावेरी, तुङ्गभद्रा आदि नदियों में स्नान किया, आठों विनायकों तथा बारहों ज्योतिर्लिंगों के दर्शन किये। गोकुल, वृन्दावन, मथुरा आदि कृष्णभक्ति के क्षेत्रों में सुख का अनुभव किया फिर प्रयाग, काशी और गया की त्रिस्थली यात्रा की। महान भक्त नरसी भगत का जूनागढ़ प्रदेश देखा, द्वारिका का दर्शन कर भाव-विभोर हो गये। पचीसवें वर्ष वे घर लौटे।

एकनाथ के दादा-दादी ने एकनाथ की खोज की और उसे घर लिवा आये। दादा-दादी के आग्रह से एकनाथ ने गृहस्थाश्रम धर्म स्वीकार कर लिया। उनकी पत्नी उनके अनुरूप ही थी। गुरु के घर रहकर जिस वेदान्त विचार का अध्ययन उन्होंने किया था उससे उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला कि परमार्थ का सच्चा अर्थ गृहस्थाश्रम में रहकर उसे लोकोपयोगी और जीवनोपयोगी बनाना है। उनकी लोकसेवा में जातिभेद और वर्णभेद को कोई स्थान नहीं था। स्त्री-पुरुष में भेद करना भी उन्हें स्वीकार नहीं था। उनके इस समव्यवहार के सम्बन्ध में कथा प्रसिद्ध है कि एक बार श्राद्ध में ब्राह्मणों के समय पर न आने पर उन्होंने पितरों के लिये बनाया भोजन अंत्यजों को खिला दिया था। उनके विरोधकों ने यह भ्रामक प्रचार कराया कि एकनाथ देववाणी (संस्कृत) का अपमान करके मराठी भाषा में भागवत कहता है और रचता है। यह भी कहा कि यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को नष्ट कर रहा है, ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग को प्रधानता देता है और ब्राह्मणों के समान अन्य तीनों वर्णों का समादर करता है। लेकिन एकनाथ अपने समभाव पर अडिग रहे। उन्होंने एक अभंग में कहा है, निंदक हमारी काशी है, वे हमारे सारे पापों का विनाश करने वाले हैं। निंदक हमारे धोबी हैं, वे हमारे कपड़ों को बिना कुछ लिये ही धो डालते हैं। निंदक हमारे गुरु हैं।

एकनाथजी ने विपुल ग्रन्थ रचना की है जिनमें प्रमुख हैं—'स्वात्मबोध', 'चिरंजीव पद', 'आनन्दलहरी' आदि। नाथ भागवत उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त 'भावार्थ रामायण' उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एकनाथ की श्रीमद्भागवत
(एकादश स्कन्ध)

मान्यता है कि श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध पर जिसमें साधकोपयोगी तत्त्वज्ञान का ही विस्तृत विवेचन है उसकी रचना करने के लिये ही एकनाथ महाराज ने जन्म लिया था। वारकरी सम्प्रदाय के लोग उन्हें संत ज्ञानेश्वर का अवतार मानते हैं और 'ज्ञानेश्वरी' के बाद 'नाथ भागवत' को पूजनीय मानते हैं। जहाँ ज्ञानेश्वरी में कृष्ण-अर्जुन संवाद को ग्रन्थ का आधार बनाया गया है, वहाँ नाथ-भागवत में श्रीकृष्ण उद्धव संवाद की चर्चा है। जिस प्रकार समस्त भारतवर्ष में रामायण और महाभारत का आदरपूर्वक पठन-पाठन किया जाता है, उसी श्रद्धा से महाराष्ट्र में एकनाथी भागवत का पठन-पाठन किया जाता है।

ज्ञानेश्वरजी कहते हैं कि वेद अत्यन्त महान होते हुए भी देने के मामले में कंजूस हैं। वे सबके समझने लायक भी नहीं हैं। वेद की दृष्टि से गीता अधिक उदार है। वेद की कमी को पूरा करने के लिये ही भगवान ने गीता प्रकट की।

''वेद सम्पन्न होय ठायीं। परी कृपणु ऐसा आनु नाहीं। जे कानीं लागला तिहीं। वर्णाच्याचि॥ ....तरी मज पाहतां तें उणें। फेडावया गीतापणें। वेदु वेठला भलतेणें। सेव्य होआवया॥ म्हणोनि मज कांही। समर्थनी आत विषय नाहीं। गीता जाणा हे वाङ्मयी। श्रीमूर्त्ति प्रभुची॥ इ० (ज्ञानेश्वरी, अ० १८)'' इसमें ज्ञानदेव ने गीता को 'प्रभु की वाङ्मयी मूर्त्ति' तक कह डाला है।

गीता के सम्बन्ध में एकनाथ महाराज कहते हैं—''कृष्णनिःश्वासी जन्मले वेद। गीता श्रीकृष्ण मुखें प्रगटली शुद्ध। यालागीं गीतार्थ अगाध। धडौते वेद तेणें झाले॥'' (अ० ३१) अर्थात् वेदों का जन्म कृष्ण के श्वासोच्छ्वास से हुआ लेकिन गीता साक्षात उनके मुख से प्रकट हुई यह उसकी विशेषता है। श्री गुलाबराव महाराज तो गीता को 'जागृत श्रुति' कहते हैं।

जो सम्बन्ध वेद और गीता में है वही सम्बन्ध गीता और ज्ञानेश्वरी में है और वही सम्बन्ध श्री ज्ञानेश्वरी और नाथ भागवत में है। गीता के काल में उसका अन्तर्निहित रहस्य ग्रहण करने लायक अधिकांश लोगों की क्षमता नहीं हुई थी इसलिये भगवान श्रीकृष्ण को पुनः चार हजार वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। शक ११९७ में ज्ञानेश्वर के रूप में श्रीकृष्ण का अवतार हुआ। इससे पूर्व गीता ग्रन्थ संस्कृत भाषा की मोटी पोथियों के वेष्टनों में बँधा हुआ था तथा जनसाधारण की पहुँच से बहुत दूर था। हालांकि उनका हृदय उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए छटपटा रहा था। ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी' लिख कर जनमानस की तृष्णा को शान्त किया।

वेद की कमी को गीता ने पूरा किया तथा गीता की कमी की आपूर्ति ज्ञानेश्वरी ने की। उसी प्रकार ज्ञानेश्वरी की कमी को एकनाथी भागवत ने पूरा किया। सन् १५७३ में एकनाथजी ने भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध पर विस्तृत और प्रौढ़ टीका लिखी। ज्ञानेश्वरी श्रीमद्भागवत की भावार्थ टीका है तो नाथभागवत श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध पर सर्वांगपूर्ण टीका है। आकार में यह ज्ञानेश्वरी से दुगुनी है। इसकी रचना पैठण में शुरू हुई और समापन वाराणसी में हुआ। यदि ज्ञानेश्वरी को ठीक तरह से समझना है तो एकनाथी भागवत के अनेक पारायण करने चाहिये ऐसा अनेक विद्वानों का मत है। यह मर्म जानकर ही श्री तुकाराम महाराज ने भण्डारा पर्वत पर बैठकर उस ग्रन्थ के एक सहस्र पारायण किये थे यह बात सर्वविदित है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्री दत्तात्रय भगवान के आदेश से एकनाथ ने भागवत के एकादश स्कन्ध पर टीका लिखना प्रारम्भ किया। वे अपने ग्रन्थ निर्माण का कारण सन्तजनों की आज्ञा बतलाते हैं। ''संतों ने काफी आग्रह किया तो मैंने पूछा, महाराज किस ग्रन्थ को प्रारम्भ करूँ यह बतलाएँ। इस पर संतों ने कहा, पुराणों में भागवत श्रेष्ठ है; उसमें 'उद्धवगीत' अत्यन्त श्रेष्ठ है अतः तुम उसी का प्रारम्भ करो। भगवान तुम्हें सहायक हैं।''

''एकांती आणि लोकांतीही ग्रंथ करण्याबद्दल संतांनी फार आग्रह केला, तेव्हां मी म्हटलें, महाराज! कोणत्या ग्रंथाला प्रारम्भ करूँ ते सांगावें त्या वेळीं संत म्हणालें, पुराणांमध्यें भागवत हे श्रेष्ठ होय, त्याकरितां त्याचा तूं आरम्भ कर वक्ता भगवान तुला साह्य आहे (१-५७-५८)''

फलतः वे संतों को वन्दन कर उसके बाद अपनी कुलदेवी एकवीरा (रेणुका) तथा सद्गुरु जनार्दन महाराज को नमस्कार करते हैं।

''आता कुलदेवतेला नमस्कार करूँ. ती ऐक्यरूपानें एकनाथामध्येंय राहिलेली असल्याकारणानें, ऐक्यावांचून दुसरी गोष्टच काढूं देत नाहीं. कानांमध्ये आणि मुखामध्ये एकपणानें ती 'एकवीरा' (श्री रेणुका) देवीच एकत्वानें वास करीत आहे. तीच शिव आणि शक्ति अशीं दोन्ही स्वरूपें घेऊन, एकपणानेंच मिरवीत आहे. (१-६८-७०)'' एकादश स्कन्ध की अपनी टीका का आरम्भ उन्होंने (किसी) एकादशी को ही किया था।

''म्हणून एकादश स्कंधावरची ही टीका, एकादशीलाच एका म्हणजे एकनाथ करीत आहे त्यामुळें ती एकपणाच्या सुखाला एकत्वानें प्राप्त होईल'' (१-११४-११५)

''इसलिये एकादश स्कन्ध की यह टीका एकादशी के ही दिन एका अर्थात् एकनाथ आरम्भ कर रहा है। इससे वह एकपन के सुख को एकत्व से पात्र होगी।'' (१-११४-११५)

श्री एकनाथजी ने अपनी टीका के लिये सम्पूर्ण भागवत को छोड़कर ग्यारहवें स्कन्ध को क्यों चुना इसको वे स्वयं ग्रन्थ के आरम्भ तथा अन्त में बताते हैं। ग्यारह का अर्थ एक के साथ एक ही होता है। वहाँ दो का प्रवेश नहीं है, अर्थात् यहाँ केवल 'अद्वैत ही अद्वैत है द्वैत की कोई बात नहीं है।'

एकनाथी भागवत में ३१ अध्याय हैं जिनमें कुल मिलाकर १८७९८ ओवियाँ हैं। ओवी मराठी के सन्त साहित्य का अत्यन्त लोकप्रिय छन्द है, जिसका मुकुन्दराज के समय से ही प्रयोग होता आ रहा हे, अर्थात् काल के साथ ही ओवी की बनावट में अन्तर भी विद्यमान है। लेकिन ज्ञानेश्वर की ओवी अप्रतिम मानी जाती है। एकनाथजी ने स्वयं अपनी संशोधित ज्ञानेश्वरी में इसका प्रमाण-पत्र दिया है। वे कहते हैं कि ज्ञानेश्वर के बाद 'ओवी' लिखने का अर्थ है अमृत से भरी थाली में 'नरोटी' (नारियल को तोड़ने के बाद उसके ऊपरी आवरण का टुकड़ा) रखना। स्पष्ट है इस अभिप्राय को लाक्षणिक रूप में ही लेना होगा।

यह त्रिकालाबाधित सत्य है कि जब दुनिया में कोई नयी चीज आती है या कोई नया आविष्कार होता है तो उसका जमकर विरोध होता है। जिस समय एकनाथ पैठण में भागवत की टीका लिख रहे थे उस समय पैठण के कतिपय संस्कृत विद्वानों तथा अनुदार पण्डितों ने उनका प्रखर विरोध किया किन्तु एकनाथ ने अपने स्वभाव के अनुरूप बड़े संयम से उनका विरोध सहन किया। एकनाथजी के पुत्र हरि पण्डित भी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। पहले उनका स्वर भी विरोधकों में था, पर बाद में वे अपने पिता के भक्त हो गये। पैठण के एक भक्त ने नाथ द्वारा लिखित भागवत के पाँच अध्यायों (पंचाध्यायी) की नकल तैयार की और उसका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पारायण शुरू किया। वहाँ से वह काशी पहुँचा और पंचाध्यायी का पाठ करने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस 'पंचाध्यायी' को जनार्दन स्वामी ने भी सुना था और यह ग्रन्थ पूरा होगा ऐसा आशीर्वाद भी दिया था।

''त्या वाराणसी नामक मुक्तिक्षेत्रांत, मणिकर्णिकेच्या महातीरावर, पंचमुद्रा नामक पीठामध्यें ही एकादशस्कंधावर टीका केली आहे ती ऐकून सज्जनांना संतोष झाला आणि जनार्दन ही आनंदाने प्रसन्न झाले. त्यानें पांच अध्याय संपतांच आपण आपल्या मुखानें वरदान दिले होते. ते असें की हा ग्रंथ निर्विघ्नपणें सिद्धीस जाईल'' (३१-५३५)

हिन्दी रूपान्तर—

उस वाराणसी नामक मुक्तिक्षेत्र में मणिकर्णिका के महातट पर पंचमुद्रा नामक पीठ में यह एकादश स्कन्ध पर टीका लिखी है। उसे सुनकर सज्जनों को संतोष प्राप्त हुआ और जनार्दन भी आनन्द से प्रसन्न हो उठे। उन्होंने पाँच अध्याय पूर्ण होने पर ही अपने मुख से वरदान दिया था। वरदान यह था कि यह ग्रन्थ निर्विघ्न रूप से सम्पन्न होगा।

काशी के कुछ विद्वानों ने 'पंचाध्यायी' को सुना और तत्कालीन पीठाधिपति से (इनके ठीक-ठीक नाम का स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता।) उन्होंने एकनाथजी के पास आदेश भेजा कि वे अपने ग्रन्थ के साथ काशी आयें। इतना ही नहीं उन्होंने ब्राह्मण द्वारा किया जाने वाला 'पंचाध्यायी' का पारायण बन्द करवा कर पोथी को अपने अधिकार में ले लिया और मठ में सुरक्षित रखवा दिया। कुछ दिन के बाद जब एकनाथजी के पास आदेशपत्र पहुँचा तो काशी के विद्वानों का आदर करने वे काशी चलने की तैयारी करने लगे। इसी बहाने काशी यात्रा का लाभ होगा इस उद्देश्य से अनेक भक्तगण उनके साथ हो लिये। जहाँ-जहाँ से वे गुजरते वहाँ से और भक्त उनके साथ हो लेते। पंचगंगा घाट पर पूरा जुलूस रुका।

प्रारम्भ में काशी के विद्वानों ने उन्हें अपने कार्य से विरत होने को कहा किन्तु एकनाथ ने उसमें अपनी असमर्थता प्रकट की। वे पंचगंगा घाट पर बैठ कर ग्रन्थ रचना करने लगे। वाराणसी में पंचगंगा घाट के किस स्थान पर इस दिव्य ग्रन्थ का लेखन हुआ होगा यह तो पता नहीं है, पर यह मान्यता अवश्य है कि तैलंग स्वामी मठ से लगे स्थान पर जो अकेले मुरलीधर कृष्ण की श्याम प्रतिमा स्थापित है वह एकनाथ महाराज की ही देन है। लगता है कि आरम्भ में एकनाथ पंचगंगा घाट पर टिके थे, पर बाद में 'पंचमुद्रापीठ' अर्थात् मणिकर्णिका घाट के परिसर में आ गये, जहाँ उन्होंने कार्तिक शुक्ल पौर्णिमा को ग्रन्थ पूरा किया।

''महामंगल अशा कार्त्तिक महिन्यांत शुद्ध पौर्णिमेच्या दिवशी सोमवार शिवयोगाचे दिवशी ही एकादश स्कंधावरील टीका समाप्त झाली'' (३१-५५२)

कुछ ही महीनों बाद कई पण्डित आदरपूर्वक ग्रन्थ का श्रवण करने लगे। ग्रन्थ पूर्ण होते ही उनके पूर्व विरोधकों ने नाथ भागवत की पाण्डुलिपि को पालकी में रखकर उसकी जयजयकार करते हुए जुलूस निकाला और फूल-मालाएँ चढ़ा कर उनकी पूजा की।

इस ग्रन्थ में भावगत धर्म की परम्परा, स्वरूप, विशेषताएँ, ध्येय, साधन आदि सब कुछ भागवत के आधार पर रोचक ढंग से निरूपित किया हुआ है। भागवत धर्म की आत्मा है—''सब भूतों में भगवद्भाव का अनुभव करना''।

एकनाथजी ने तीन प्रकार के भक्त कहे हैं—(१) प्राकृत, (२) मध्यम और (३) उत्तम। मूर्तिपूजक प्राकृत हैं, ईश्वर को ध्यान में रखकर प्राणिमात्र को समान दृष्टि से देखने वाले को मध्यम तथा प्राणिमात्र में ईश्वर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का दर्शन करनेवालों को उत्तम भक्त कहा है। उन्होंने प्रपंच को परमार्थपरक बनाने का स्वानुभव दूसरों को दिया। उन्होंने संत ज्ञानेश्वर का तत्त्वज्ञान पूर्णतयः स्वीकार किया तथा उसे अधिक सरल, उदार, विशाल तथा समावेशक बनाया। इस दृष्टि से नाथ भागवत उत्तम भाष्य ग्रन्थ है।*

श्रीमद् एकनाथी भागवत का हिन्दी में भावानुवाद तैयार करते समय मैंने मराठी में कृष्णाजी नारायण आठल्ये द्वारा अनुवादित ग्रन्थ सार्थ श्री एकनाथी भागवत का उदारतापूर्वक उपयोग किया है जिसके लिए में उनका कृतज्ञ हूँ।

—ना०वि० सप्रे

* कुछ अंश रामचन्द्र कृष्ण कामत द्वारा लिखित सार्थ श्री एकनाथी भागवत की सम्पादकीय से साभार।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ

अध्याय १ १-१९

मंगलाचरण, परिक्षिती वृत्तांत; श्रीकृष्ण चरित्र की अपूर्वता, भूभार हरण के लिये यदुकुल नाश का कृष्ण का संकल्प, ब्रह्मश्राप, लौहमूसल की उत्पत्ति, यादव मूसल का चूर्ण तथा शेष टुकड़े समुद्र में फेंकते हैं, उससे समुद्र में घास उत्पन्न होती है। शेष टुकड़े से व्याध का बाण बनाना।

अध्याय २ २०-५७

नारद-वसुदेव भेंट एवं वार्ता, संत दर्शन का माहात्म्य, जड़मरत जनक एवं नौ ऋषभ पुत्रों का संवाद, भागवतधर्म का रहस्य, भगवद्भक्तों के लक्षण, भक्ति की अनन्यता, नामस्मरण महिमा।

अध्याय ३ ५८-९८

जनक के प्रश्न, माया के लक्षण, तरने के उपाय, नारायण स्वरूप, सद्गुरु लक्षण, सच्छिष्य लक्षण, परब्रह्म लक्षण, कर्माकर्म विवरण, पूजा विधान, मूर्ति ध्यान, विवरण आदि।

अध्याय ४ ९९-११२

भागवत अवतार कथा, नारायण आख्यान, नानावतार वर्णन, अभक्त के लक्षण एवं गति।

अध्याय ५ ११३-१४०

युग के अनुसार भगवत्सेवा, नामस्मरण आदि के मार्ग, मद्य, मांस, मैथुन के प्रयोग सम्बन्धी वेदोक्ति, भागवद्धर्म रहस्य, वसुदेव का भाग्य, निमिजायंत संवाद, पंचाध्यायी का माहात्म्य।

अध्याय ६ १४१-१६१

श्री कृष्णदर्शनार्थ देवताओं का आगमन, कृष्ण-द्वारका वर्णन, निजधाम गमन के लिये प्रार्थना, उद्धव का साथ चलने का आग्रह, द्वारका में उत्पात, यादवों का प्रभास जाने का विचार, प्रभास महात्म्य, श्रीकृष्ण चरित्र महात्म्य।

अध्याय ७ १६२-१९२

श्रीकृष्ण उद्धव संवाद, भगवान का उद्धव को उपदेश, यदु-अवधूत संवाद, अवधूत के चौबीस गुरु। पृथ्वी, वायु, जल, आकाश, अग्नि, चन्द्र, सूर्य आदि के अनुकरणीय गुण, कपोत-कपोती कथा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय ८ १९३-२०९

अजगर, पतंग, समुद्र, मधुमक्खी, मछली, पिंगला वेश्या आदि गुरुओं से अवधूत ने बोध प्राप्त किया।

अध्याय ९ २१०-२३२

परिग्रह से बाधकता, त्याग से अनन्त सुख की प्राप्ति, ठिटवी, बालक, साँप, मकड़ी आदि शेष गुरुओं से बोध, दत्तात्रेय परम्परा, सद्गुरु माहात्म्य, यदु की संगमुक्तता।

अध्याय १० २३३-२६५

निष्काम धर्माचरण, सद्गुरु की आवश्यकता, शिष्य लक्षण, स्वर्ग-सुख का वर्णन, सकाम कर्म के दुष्परिणाम, वेदान्त-मीमांसक मत विवेचन।

अध्याय ११ २६६-३३२

बंधमोक्ष की व्याख्या, शुकवामदेव दृष्टांत, विद्या, अविद्या, जीव परमात्मैक्यता, मुक्तों के लक्षण, पाण्डित्य, प्रतिष्ठा प्राप्ति के इच्छा की निरर्थकता, वैदिक तांत्रिक दीक्षा, प्रतिमा पूजा का विधान, पूजा के ११ अधिष्ठान, निर्गुण से सगुण का वैशिष्ट्य नाम महिमा, सत्संग यह भक्ति का सर्वोत्तम साधना।

अध्याय १२ ३३३-३५९

सत्संग महिमा, गोपिका यश वर्णन, भववृक्ष वर्णन, गुरु भक्ति से भववृक्षच्छेदन।

अध्याय १३ ३६०-३९४

त्रिगुण लक्षण, परमार्थ के लिये सत्यगुण, उसी से रजतम का नाश, सनकादिकों के ब्रह्मदेव से प्रश्न, चित्त में विषय या विषय में चित्त, हंसगीता, सनकादिकों का सन्देह निवारण।

अध्याय १४ ३९५-४२०

"भक्ति से सायुज्य मुक्ति मिलती है तो वेदज्ञ भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन क्यों करते हैं?" उद्धव की शंका का समाधान, पुरुषार्थ सम्बन्धी मतभेद, तदनुरूप वेदार्थ, उत्तम पुरुषार्थ भक्ति, स्त्री-संग त्याग, ध्यानयोग वर्णन।

अध्याय १५ ४२१-४३३

भक्ति मार्ग में सिद्धियों का विघ्न, अष्ट महासिद्धि तथा १० अन्य सिद्धियों की प्राप्यता, सिद्धि साधनोपाय, सिद्धियों का वर्णन तथा उनके त्याग की आवश्यकता पर बल।

अध्याय १६ ४३४-४५०

नाथ भागवत का पूर्वार्द्ध विश्लेषण, भगवद्विभूति वर्णन, अर्जुन के प्रश्न का सन्दर्भ, समाधान एवं वासुदेवादि व्यूहमूर्ति, उनके भक्त, विभूतियों का अनंततत्व, भक्त महिमा आदि।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय १७ ४५१-४७५
चारों युगों के धर्म, वर्णाश्रम धर्म, उनके लक्षण, वर्ण-बाह्यों के लक्षण, धर्मों के धर्म लक्षण, ब्रह्मचर्य गृहस्थ के धर्म।

अध्याय १८ ४७६-४९४
वानप्रस्थाश्रम धर्म, संन्यासाश्रम धर्म, परमहंस का धर्म, शक्ति व भक्ति का वर्णन।

अध्याय १९ ४९५-५२०
युधिष्ठिर को भीष्म द्वारा मोक्ष धर्म कथन, ज्ञान-विज्ञान लक्षण, शक्ति रहस्य, यम नियम, निर्गुण विवेचन, शम दमादि के लक्षण।

अध्याय २० ५२१-५४१
वेद ही गुण-दोष बनाते, फिर कैसे न देखें? किसकी सुनें तुम्हारी या वेद की? उद्धव का प्रश्न एवं समाधान गुण-दोष न देखना उत्तम साधना, मनोजय, कर्म, सांख्य एवं भक्ति योग।

अध्याय २१ ५४२-५६५
स्वधर्माचरण से मोक्ष-प्राप्ति, देशकाल द्रव्य की शुद्धता, धर्म, अधर्म, फलश्रुति का स्वरूप, कर्मकाण्डियों का मनोराज्य, श्रीकृष्ण ही सही अर्थ में वेदज्ञ।

अध्याय २२ ५६६-५९९
तत्व संख्या निरूपण, प्रकृति एवं पुरुष, मंत्रों का एकत्व, जन्म, मरण, देह, अवस्था, आत्मा पर आरोप।

अध्याय २३ ६००-६४४
भिक्षु गीतारंभ, अधर्म का धन नाशवान, धन के पाँच हिस्सेदार, भिक्षु कथा, छल पश्चात्ताप तथा स्वयं की कथा का वर्णन, सुख-दुःख मीमांसा, भिक्षु गीत माहात्म्य।

अध्याय २४ ६४५-६७१
कपिल एवं देवहुति संवाद, ज्ञान से द्वंद्वनाश, नारायण का लीला विग्रह, सृष्टिक्रम; त्रिलोक रचना, प्रलय लक्षण, कर्म की ऊँच-नीच गति, स्वर्ग, ध्रुव, वैकुण्ठ लोकों का वर्णन, सगुण भक्तों को सायुज्यता, अनन्य भक्तों का प्रेमरहस्य, सांख्य शास्त्र।

अध्याय २५ ६७२-६९२
त्रिगुण विजय, निर्गुण उपासना, त्रिगुणों के लक्षण, त्रिगुण तथा निर्गुण आहार, त्रिगुणों से सुख, निर्गुण सुख, विविध वृत्ति, विविध अहंकार एवं ममत्व के लक्षण, गुण एवं निर्गुण ज्ञान वर्णन।

अध्याय २६ ६९३-७१४
विषयासक्ति से अनर्थप्राप्ति, भागवत धर्माचरण यही नरदेह का कर्त्तव्य, विषयासक्ति निषेध, पुरूर व्याख्यान, ऐलगीत, संतसंग महिमा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अध्याय २७ ७१५-७३४

भक्तों की पूजाविधि, आगमोक्त हवन विधि, प्रतिमाओं के प्रकार, मूर्ति प्रतिष्ठा, फलश्रुति, पूजोपचार का वैभव, निष्काम भक्ति से साधक की भगवदैकता।

अध्याय २८ ७३५-७६६

किसी के स्वाभाविक कर्म की स्तुति या निन्दा न करें, सर्वत्र भगवद्भाव से देखें, आत्मा में संसार निर्मूल, ज्ञानी की विदेहता, अनन्य भक्तों को विघ्न नहीं सताते।

अध्याय २९ ७६७-८०९

भोले भाले लोगों को ईश्वर प्राप्ति सुगम कैसे? भागवद्धर्म से जन्म-मरणच्छेद, स्त्री संग त्याग की आवश्यकता, प्राचीन ज्ञानी स्त्रियाँ, श्रीकृष्णाज्ञा से उद्धव का बदरिकाश्रम प्रयाण।

अध्याय ३० ८१०-८२८

श्रीकृष्ण स्वरूप सौन्दर्य वर्णन, द्वारका में भीषण उत्पात का वर्णन, यादवों में कलह एवं संहार, बलराम निर्वाण, कृष्ण मूर्ति वर्णन, जराव्याध का बाण मारना, पश्चात्ताप एवं कृष्ण का क्षमादान एवं सदेह स्वर्ग को भेजना।

अध्याय ३१ ८२९-८५१

श्रीकृष्ण निर्वाण, देवताओं की कृष्णस्तुति, १४ श्लोकों का माहात्म्य, दारूक का द्वारका में आगमन, कृष्ण निधन समाचार का कथन, शोक, यादव सतियाँ, अर्जुन द्वारा मृतक संस्कार, द्वारका विलय, पाण्डव स्वर्गारोहण, उपसंहार इति।

●

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संत एकनाथ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

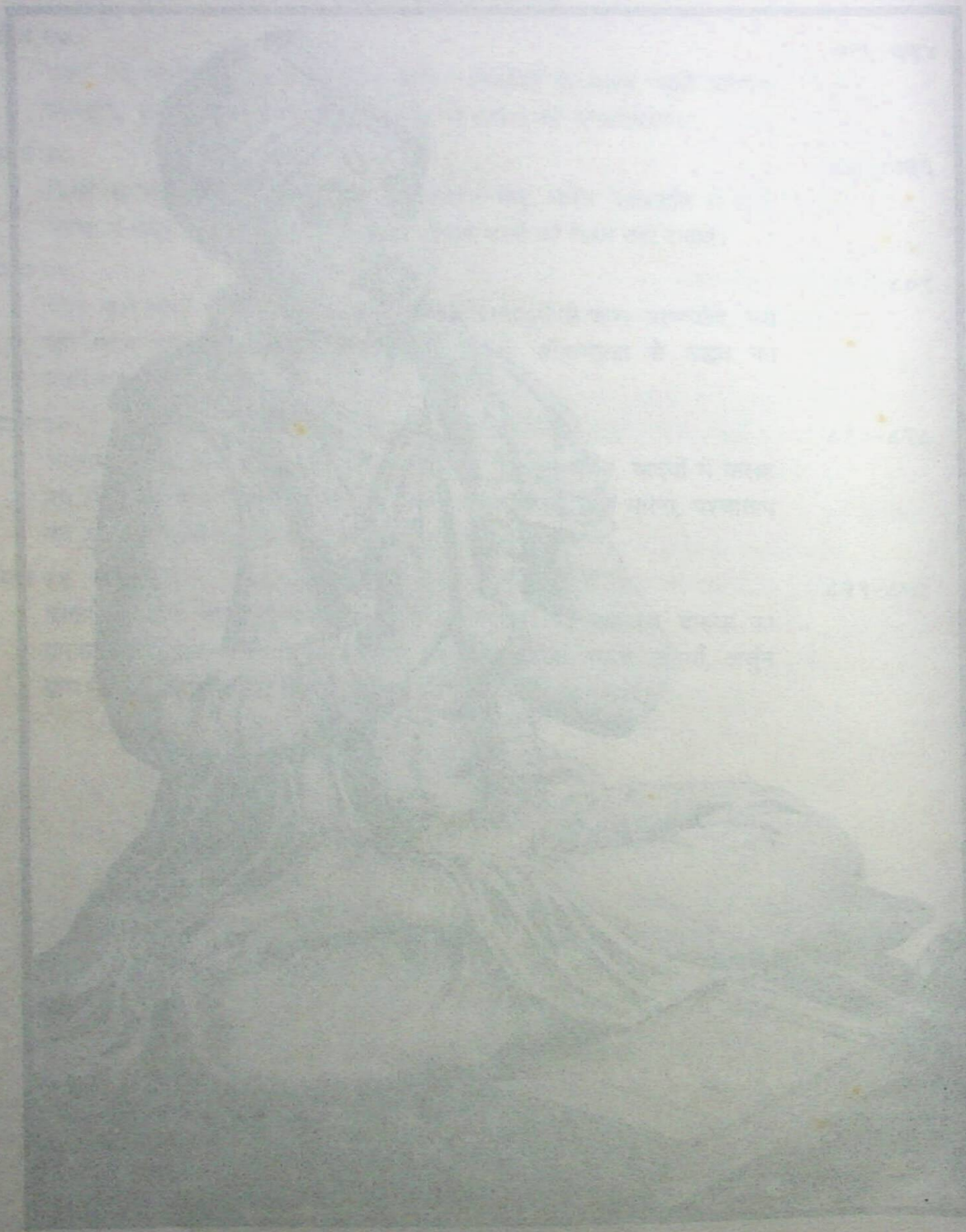

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

॥ श्री ॥

श्रीमद् एकनाथी भागवत

सदा सेव्या सदा सेव्या श्रीमद्भागवती कथा
यस्याः स्मरणमात्रेण हरिश्चित्तं समाश्रयेत्।
अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः
गायत्री भाष्यरूपौ सौ वेदार्थ परिबृंहिता॥

प्रथम अध्याय

ॐ श्री गणाधिपतये नमः श्री सरस्वत्यै नमः।
श्री गुरुभ्यो नमः॥

भक्त्या भागवतं भावमभावं काव्यपाठतः।
पठनात्पदव्युत्पत्तिर्ज्ञानप्राप्तिस्तु भक्तितः॥

ओंकारस्वरूप श्री जनार्दन स्वामी को मैं प्रणाम करता हूँ। हे सद्गुरु जनार्दन! आपके स्वरूप में आदि-अंत की कल्पना ही सम्भव नहीं है। ऐसे आपके श्रीचरणों को 'मैं' और 'तुम' वाला भाव भूलकर मैं प्रणाम करता हूँ। श्री एकदंत गजानन! आपको भी मैं प्रणाम करता हूँ। सम्प्रति तुम ही एकात्म भाव से एक में अनेकता का दर्शन करा रहे हो, फिर भी अद्वैत नहीं टूटता। तुझमें समस्त चराचर का वास है इसीलिये तुम्हें 'लम्बोदर' कहते हैं इसीलिए सचमुच ही तुम सबके सम्बन्धी हो। तुम्हारा जो दर्शन करता है उसका संसार सुखमय होता है और इसीलिये तुम्हें 'विघ्नकर्ता' यह उत्तम नाम शोभा देता है। हे गणराजा! 'आनन्द' ही तुम्हारा मुख है, चारों पुरुषार्थ तुम्हारे चार हाथ हैं और प्रकाशमानों को प्रकाश देनेवाला तुम्हारा दाँत चमकता रहता है। पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा ये दोनों तुम्हारे कर्ण के स्थान पर हैं। मुख में परा-पश्यंती-मध्यमा तथा वैखरी नामक चार वाणी हाथ जोड़कर खड़ी रहती हैं। हे विनायक! सारी सृष्टि एकाएक आत्मस्वरूप से परिपूर्ण दिखाई देने लगती है। वही तुम्हारी दृष्टि दिव्य और सुख से सन्तुष्ट करने वाली है। सुख से तोंद भरी है, नाभी में आनन्द भरा हुआ है। नाभी के नीचे करधनी शोभा दे रही है। तुमने शुद्ध सत्व का सुन्दर वस्त्र परिधान किया है। तुमने शरीर पर धारण किये हुए सुन्दर अलंकारों को तुम्हारे ही शरीर के कारण शोभा प्राप्त हुई है। प्रकृति और पुरुष तुम्हारे दो चरण हैं, उन्हें मोड़ कर सहजासन में बैठकर तुम पूर्णत्व से शोभायमान लग रहे हो। तुम्हारा क्षणमात्र के लिए भी दर्शन हो जाए तो विघ्न तो खोजने से भी नहीं मिलता। संसार का बन्धन तोड़ने वाला परशु तुम्हारी मुट्ठी में है ही। अनन्यभाव से जो भक्त तुम्हें अच्छा लगता है उसे तुम सांसारिक संकटों से मुक्त करते हो। तुम स्वयं ही उसे अपने बोधरूपी अंकुश से अपनी ओर खींच लेते हो। जो निरभिमान और निरपेक्ष है उसका सुख तुम्हीं बढ़ाते हो। उसे आनन्दरूपी मोदक देकर उसे अपने हाथ से शान्ति प्रदान करते हो। सूक्ष्म से सूक्ष्म कण में भी तुम्हारा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अधिष्ठान रहता है इसलिए मूषक-वाहन यह नाम तुम्हें शोभा देता है। तुम न तो पूरे नर हो न पूरे कुंजर हो। तुम व्यक्त और अव्यक्त से परे हो। तुम्हें ऐसा निर्विकार जानकर मैं तुम्हें सादर प्रणाम करता हूँ ताकि यह ग्रन्थ बिना किसी विघ्न के पूरा हो जाय। ऐसे श्री गजानन को 'मैं' कह कर प्रणाम करने वाला भी कहाँ का है? क्योंकि जो मूल रूप से अकर्ता है वही इस ग्रन्थ कथा का विस्तार कर रहा है। अब विवेक की साक्षात मूर्ति तथा जो इन्द्रिय वृत्तियों को चेतनता प्रदान करती है उस सरस्वती को भी मैं प्रणाम करता हूँ। जो वाचा से बात कराती है, बुद्धि को बोध प्रदान कराती है और प्रकाश को प्रकाशमान करती है, जो आँखों में दृष्टि के रूप में रहती है अथवा फल में रस के रूप में रहती है, उसी प्रकार शिव की काया में शक्तिरूप से रहती है। शक्कर में जिस प्रकार माधुर्य या पुष्प में मकरंद रहता है, उसी प्रकार शिव का और शक्ति का सम्बन्ध अनादिसिद्ध एवं तर्क से परे है। वाचा से जिसका वर्णन सम्भव नहीं है, ऐसा वह आत्मस्वरूप का माधुर्य चारों ओर वाणियों में श्रेष्ठत्व से भरा हुआ है। इसलिए वाणी की देवता सरस्वती ग्रन्थ के अर्थ की उत्तम अभिरुचि प्रदर्शित करती है। संसार में विवेक का चुनाव करने वाले जो हंस हैं उस पर ही यह हँसवाहिनी देवी सहजासन में बैठी हुई है। परमहंस पर विराजमान उस देवी को विवेकी हंस ही ठीक तरह से पहचानते हैं। लेकिन जो मूर्ख, मंदबुद्धि और भाग्यहीन होते हैं उन्हें वह उनके पास होते हुए भी नहीं दिखाई देती। उसके रूप का विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसका निराकार और विश्वाकार रूप भी वही है। वही आत्मीयता से अनुपम कथा कहलवाता है। 'यह बोल अच्छा रहा' यह बात जिस प्रकार बोल कर ही अभिव्यक्त की जाती है, उसी प्रकार मन का स्तुति-भाव वाणी से ही वाणी का गौरव करता है ऐसा समझना चाहिए। वह वाग्विलास रूपी सर्वांगसुन्दरी सरस्वती देवी अंतर्बाह्य रहकर स्वयं ही ग्रन्थ का सुन्दर अर्थ कहती है। वह स्वभाव से सर्वदा ही प्रसन्न रहती है इसलिए इस निरूपण में बहार आ गयी है। फिर भी उसने मुझमें वक्ता होने का अभिमान नहीं होने दिया है। वाग्देवता की यह स्तुति वाणी ने ही की है, इसलिए मन में द्वैत का विचार आने का अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ है। उसने 'बोल' और 'बोलने' को नष्ट किया, मौन को भी तोड़ दिया लेकिन निरूपण तो कराया ही और जो बोलने के लिए असम्भव है उसे शब्दों के माध्यम से व्यक्त कराया। ऐसी उस सरस्वती को प्रणाम करने के लिए सेवक बन कर गया तो 'मैं पन' के साथ परावाणी भी लुप्त हो गयी। जहाँ 'मैं पन' का ही अभाव है वहाँ 'तू पन' को कहाँ स्थान मिलेगा? फिर भी इस विषय प्रतिपादन में वह कल्पनातीत प्रसाद भर-भर कर डाल रही है। जिस प्रकार सागर में लहरें उछलती हैं उसी प्रकार यहाँ आत्मस्वरूप पर स्वरूपाकार शब्दों की लहरें शोभा दे रही हैं। जिस प्रकार चीनी का रवा माधुर्य से अलग नहीं होता उसी प्रकार निरूपण के शब्द ब्रह्मरसयुक्त होने के कारण ब्रह्मसुख के रस से अलग नहीं हैं। वहाँ ब्रह्मानन्द रस वृत्ति ने 'मैं पन' के साथ सरस्वती को भी एक ही थाली में परोसा है। इससे अभिन्नत्व के शेष से तृप्ति की डकार आने के कारण इस कथा के उद्गार बाहर आ रहे हैं। अब संतप्त जनों को शान्त करने के लिए स्वानन्द की वर्षा करने वाले जो चिदानन्द के मेघस्वरूप ही हैं उन्हें प्रणाम करता हूँ। वे चैतन्य के अलंकार, ब्रह्मविद्या का शृंगार अथवा ईश्वर का मनोरम निवास ही हैं। वे ब्रह्मवस्तु के निवासस्थान अथवा सुख का पूर्ण उल्लास अथवा सुरक्षित विश्राम स्थल हैं अथवा वे भूतदया का सागर, करुणा का मायका अथवा स्वानन्द का गौरव करनेवाले निर्गुण के सगुण अवयव ही हैं अथवा वे आँखों की दृष्टि अथवा उसकी सुन्दर पुष्टि है जिनके चरणांगुष्ठ में संतोष को भी संतोष प्राप्त होता है। वे जिनकी ओर देखते हैं उनका भवसंकट दूर होता है और उनकी आँखों के सामने परब्रह्म अपने आप प्रकट हो जाता है। वे साधन में किया गया कठिन प्रयास अथवा शास्त्रचातुरी का विलास नहीं देखते। यदि विश्वास हो तो वे स्वयं ही ज्ञान का प्रकाश

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

फैलाते हैं। वे सदैव संसार में ही रहते हैं, हर प्राणी को दिखाई पड़ते हैं लेकिन अनिश्चय के कारण प्राणी दुविधा में रहते हैं और नास्तिक लोग उनके अस्तित्व को नकारते हैं। एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूरत बनायी और उसे गुरु मानकर सम्पूर्ण धनुर्विद्या सीखी और अर्जुन आदि पर भी भारी रहा ऐसी कथा महाभारत में है। वह गुरुभाव ही उसके लिए फलदायी सिद्ध हुआ। अर्थात यह संसार विश्वास न होने के कारण ही नष्ट होता है और अनिश्चय में फँसा रहता है। यदि निश्चय कर उन पर विश्वास किया जाए और भक्तिभाव से उनके चरणों पर माथा रखा जाए तो कभी आत्मानुभव की कमी नहीं होती। उन्हें आस्थापूर्वक प्रणाम करने से वे हमसे एकात्मता कायम करते हैं लेकिन हमें भी एकात्मता से उनका सेवक बनकर रहना होगा। उनकी सेवा के माधुर्य को ब्रह्मसुख की उपमा भी कम होगी। अनन्य भक्ति से जो उनकी उपासना करते हैं वे उस आत्मस्वरूप के सच्चे माधुर्य का अनुभव लेते हैं। वे प्रकृति से परे रहते हैं, प्रकृतिरूप में रहते हुए भी वे अविकृत रहते हैं, उनके ही कारण प्रकृति के आकार, विकार और व्यवहार की बाधा नहीं होती। वे न तो भोग से ऊबते हैं न त्याग का आडम्बर रचते हैं। वे हमेशा अपनी सहज स्थिति में ही रहते हैं। जिस प्रकार आत्म-साक्षात्कार के समय उत्पन्न होने वाली प्रेम की तरंगें शरीर में ही विलीन हो गयीं उसी प्रकार उस समय होने वाले विलक्षण आनन्द से अनुभव होने वाला विस्मय भी विस्मृत हो गया, प्रपंच और परमार्थ एक हो गया। लेकिन ऐसा कुछ हुआ था इसका भी उसे स्मरण न रहा। स्मरण का विस्मरण के साथ ही लोप हो गया, काया काया में ही विलीन हो गयी, अन्दर-बाहर वाला भाव टूट गया, लेकिन वह गया या रहा इसका भी उसे स्मरण नहीं है। स्वरूप की जागृति के कारण उनके स्वप्न और जागृति नष्ट हो गयी, साक्षात्कार के साथ सुषुप्ति समाप्त हो गयी, उन्मनी अवस्था में तूर्यावस्था स्थिर हो गयी। दृष्य द्रष्टा के साथ चला गया, अकेलेपन के कारण दर्शन भी नष्ट हो गया और उनका न होना भी लुप्त होकर उस लोप के साथ लुप्त करने वाले ज्ञान का भी विलय हो गया। ज्ञान अज्ञान को ले गया तभी ज्ञातापन का भी लोप हो गया और विज्ञान शरीर में घुल गया। लेकिन यह घुलना कोई नयी बात नहीं है। इसलिए जो सचमुच ही सज्जन हैं वे मुझे सावधान करें, मेरी ओर ध्यान दें, यही इस शिशु की प्रार्थना है। लेकिन जिस प्रकार सूर्य सदैव प्रकाश का ही गोला है, अग्नि सदैव तेजयुक्त ही रहती है, उसी प्रकार संत सदैव सावधान ही रहते हैं। मेरा यह कहना कि वे मेरी ओर ध्यान दें, एक बचकाना प्रयास ही है। यह सुनकर संतजनों ने बार-बार गौरव कर आग्रहपूर्वक आज्ञा की और यह ग्रन्थ प्राकृत में लिखवाया। एकान्त में तथा अन्य लोगों के बीच भी जब संतों ने आग्रह किया जो मैंने कहा, "महाराज! कृपया बतायें कि मैं किस ग्रन्थ को लिखना प्रारम्भ करूँ? उस समय संत बोले, पुराणों में भागवत श्रेष्ठ है और उसमें उद्धवगीत तो अत्यन्त श्रेष्ठ है इसलिए तुम उसे प्रारम्भ करो। वक्ता भगवान तुम्हारे सहायक हैं। हमें ज्ञानकथा सुनने की लालसा है, तिस पर तुम्हारे जैसा सरस वक्ता हो तो फिर और क्या चाहिए? हमें मालूम है कि संतों की स्तुति करने से तुम्हें स्फूर्ति प्राप्त होती है लेकिन अब कथा की शुरुआत कर विषय का प्रारम्भ करो। संतों की इस वाणी से मन सहसा प्रसन्न हो उठा। इस प्रसादवाणी से अंतःकरण स्वानंदरूपी उल्लास से भर उठा। जिस प्रकार मेघों की गर्जना से विभोर होकर मोर नाचने लगता है या मेघों से गिरते जल को देख चातक मन ही मन प्रसन्न हो उठता है अथवा जैसे चन्द्रकिरण देखकर चकोर आनन्द से डोलने लगता है उसी प्रकार संतों के मुख से निकला उत्तर मुझे सदैव सुख ही देता आया है। हे स्वामीजन! आपने सचमुच ही मुझे आनन्द विभोर कर दिया। क्योंकि आपका यह कार्य आप मुझसे ही पूरा कराने वाले हैं इसलिए मैं व्यर्थ ही 'मैं पन' के वश में क्यों हो जाऊँ? लेकिन दास समर्थों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। इसलिए आपने जो कार्य मुझे सौंपा है, उसे मैं पूरा करूँगा। लेकिन आप अपनी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कृपादृष्टि बनाये रखें जिससे कार्य अपने आप ही पूर्णत्व की ओर पहुँचेगा। इस पर संत बोले, ''अरे! हमने तुम्हारे मन के साथ अपना मन जोड़ कर शब्दों में तारतम्य बना रखा है। इसलिए तुम अपना विषय शीघ्र प्रारम्भ करो। अब कुलदेवता को नमस्कार करें। वह ऐक्य रूप से एकनाथ में ही निहित होने के कारण ऐक्य के सिवाए अन्य कोई चीज निकालने ही नहीं देता। उसने मन को केवल एक ही रूप दिखलाया है इसलिए जन में या वन में वही स्वरूप दिखायी देने लगा है। कानों में और मुख में वह 'एकवीरा' (श्रीरेणुका) देवी ही एकत्व से निवास कर रही है। वही शिव और शक्ति का रूप लेकर एकत्व से शोभायमान हो रही है। उस एकवीरा ने गर्भ धारण कर एकत्व में ही एक वीर को जन्म दिया। जिसके आतंक से बड़े-बड़े वीर भी काँपते हैं, उस बोधरूपी परशुराम को उसने जन्म दिया। उसने जन्म लेकर माया जननी का वध किया और आज्ञा शिरोधार्य कर पिता को संतोष प्रदान किया। इसीलिए वह इस भूमण्डल पर सदा विजयी होता रहा। उसने अहंकार रूप—सहस्रबाहु सहस्रार्जुन का वध किया और उसका राज्य अपने स्वजातीय ब्राह्मणों को अर्पण कर दिया। उसने जननी को मार कर उसे पुनर्जीवित कर दिया। वही हमारी कुलदेवता बनी। उसने अपने ही नाम से हमें ख्याति दिलवायी, क्योंकि एकवीरा और एकनाथ एक ही अर्थ के शब्द हैं। उसका जब वध हुआ उसी समय उसके स्वभाव में परिवर्तन हुआ और वह माता जगदम्बा क्रोध त्याग कर शान्त हो गयी। उसने गोद में बिठा कर आश्वासन दिया कि कैसा भी संकट क्यों न आये लेकिन मेरा नामस्मरण करने से समाधान प्राप्त होगा। उस जगदम्बा का जयजयकार करने के लिए ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'उदो', 'उदो' (उदयोस्तु) अर्थात् उदय हो कहता हूँ। वही मेरी बुद्धि में योगरूपी गर्भ रखकर स्वयं प्रकट हुई है। अब उस गुरु जनार्दन को प्रणाम करें जो संसाररूपी गज के लिए सिंह के समान है और जो जन में तथा विजन में समदृष्टि से पूर्ण है। जिसके कृपाप्रसाद से साधक को देह में देहांगों का भास नहीं होता और संसार का अंधड़ देखते-देखते स्वप्नवत हो जाता है। जिसके कृपाकटाक्ष से अलक्ष्य वस्तु भी दिखाई दे जाती है और गुरुत्व के कारण साक्षी को भी साक्ष्य का विस्मरण हो जाता है। जिन्होंने बिना जीवन के ही जीवित रखा, मृत्यु के बिना ही मृत्यु को मार डाला, दृष्टि लेकर अदृश्य का दर्शन कराया। सारा शरीर ही चक्षुरूप बनाया, देह में ही देह को विदेही बनाया और फिर विदेह भाव को मिटाया और अन्त में मिटने को भी मिटाया बचा केवल आत्मरूप। अभाव भाव में मिला, सन्देह असन्देह में गला, विस्मय विस्मयी में डूब गया, दिव्यानंद का अनुभव हुआ। स्वेच्छा से ही भक्त बना तो उस भक्तिभाव में भी ईश्वर दिखाई दिया। तब भज्य, भजक और भजन का अंत हुआ सा लगा। नमन से ही नमन किया, फिर नमन करने वाले कहाँ चले गये इसका पता नहीं चला। दृष्य और द्रष्टा दोनों का ही एक साथ अन्त हो गया। दृष्टि का सामर्थ्य नष्ट होकर दर्शन भी क्षीण हो गया। अब जब सब कुछ देवतामय ही हो गया इसलिए भक्त का भक्तिभाव भी नष्ट हो गया। दोनों भाव नष्ट होकर अभेद भाव से केवल अनंतरूप शेष रह गया। त्याग के साथ अत्याग का लय हुआ, भोग के साथ अभोग भी उड़ गया, योग के साथ अयोग भी डूब गया और योग्यता का अहंभाव भी नष्ट हो गया। इसमें भी अधिक आस यह है कि सायुज्य स्थिति में भी वह दास बन कर रह गया है। वहाँ का आनन्दरस अत्यन्त अविनाशी और अगोचर है। 'शिवो भूत्वा शिवं भजेत' अर्थात् शिव होकर शिव की पूजा करना इसी अवस्था में शोभा देता है। अन्यथा बोलना तो केवल बोलना ही है। उस योग में स्वस्वरूप से भजन करने में कोई लाभ नहीं है। अभेद भाव के इस सेवासुख में नारद प्रसन्नता से नाचता, गाता है। शुकसनकादिक जो स्वस्वरूप के संत हुए वे इसी पथ पर आगे बढ़ने से हुए। सागर में जब ज्वार आता है तो उसी पानी से गड्ढ़े भी भर जाते हैं। उसी प्रकार ईश्वर ने मुझे अपना देवत्व प्रदान कर मुझे अपना भक्त बना लिया। वैसे देखा जाए तो समुद्र और नदी का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जल एक समान है, लेकिन जब उनका संगम होता है तो उसकी विशेष शोभा रहती है। उसी प्रकार परमेश्वर के साथ ऐक्य रूप से भजन करने पर भजन का सुख द्विगुणित हो जाता है। दायाँ और बायाँ ये शरीर के दो अंग हैं लेकिन इन से जिस शरीर का बोध होता है, वह एक ही है। उसी प्रकार ईश्वर और भक्त ये दो अलग मालूम होने पर भी देवत्व में दोनों के ऐक्य का अनुभव होता है। उसी प्रकार यद्यपि गुरु जनार्दन ने मुझे अपनत्व का सम्मान देकर मुझे अद्वैत भक्त बना रखा है, फिर भी मेरी काया, वाचा तथा मन को प्रेरित कर वही मुझे परिचालित करते हैं। वही (जनार्दन) मेरा मुख बन गया है, मेरी दृष्टि के आगे मूर्तिमंत होकर वही खड़ा है और विवेक बन कर वही ग्रन्थ का लेखन करा रहा है। लेकिन उनका लाघव विस्मयकारी है क्योंकि उन्होंने मेरा नाम अभंग में रख दिया है। लेकिन उसका अभिमान भी नहीं होता।'' यह भाषण सुनकर उसे संतोष हुआ और उसने कहा, ''शाबास! तुम सचमुच ही निजभक्ति के अवतार हो, इसीलिए यह रहस्य तुम्हारे मुँह से निकल रहा है। इसे स्तुति कहें या विषय का प्रतिपादन? यह ग्रन्थ की प्रस्तावना है या ब्रह्मज्ञान? यह साहित्यशास्त्र है या समाधान! यह क्या है यही समझ में नहीं आता। तुम्हारा एक-एक शब्द मानों विलासपूर्ण विवेक है। वह संतोष को अपरिमित संतोष प्रदान करता है। तुम्हारे मुख से जो भी वाणी निकलती है वह संतों के हृदय को ग्राह्य होती है। मुमुक्ष रूपी भ्रमरों के झुण्ड उस पर मँडराते रहेंगे। ग्रन्थ का प्रारम्भ सुन्दर होने के कारण मुक्त, मुमुक्षु, साधक एवं प्रतिबद्ध लोग भी केवल श्रवणसुख से निजसुख का आनन्द प्राप्त करेंगे। वचनामृत के इस तुषार से ग्रन्थरूपी भूमि में विवेक के अंकुर फूटे और उसमें फल लगे। अथवा निष्प्राण में प्राण आये, सिद्ध को सिद्धि प्राप्त हुई अथवा पतिव्रता को अपना पति वर्तमान वैभव के साथ प्राप्त हुआ। इस प्रकार मैंने हर्षभरे स्वर में कहा, ठीक है महाराज! आपके चरणों के कृपाप्रसाद से मैं ग्रन्थ का अनुवाद सहज और सरल ढंग से करूँगा। सेतुबंध के समय श्रीरामचन्द्र के दृष्टिप्रताप से ही शिलाएँ समुद्र पर तैर सकी थीं और वसिष्ठजी की आज्ञा से सूर्यमण्डल के स्थान पर छाटी (साधुओं का गमछा) ही प्रकाशमान हुई थी। याज्ञवल्क्यजी के मंत्राक्षतों से ही शुष्क काष्ठ में नये पल्लव विकसित हुए या धर्मराज ने श्वान को भी स्वर्गारोहण के योग्य बनाया। उसी प्रकार मेरे नाम से ग्रन्थ प्रकाशित होना भी गुरु के प्रताप और वैभव का द्योतक है। यदि एका (एकनाथ) और एकादश इन आध्याक्षरों से ही घटित देखा जाए तो राशि-नक्षत्र एक ही होता है। लेकिन जब उस एक ही में पूर्ण दिखाई देता है तो उसकी कीमत दस गुनी हो जाती है। एक के साथ एक रखने से ग्यारह हो जाता है। इसीलिए एका को भी अकेले ही ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा हुई। जो सुन्दर है उसे और भी सुन्दर बनाकर, मन को दृढ़ रखकर गुरु जनार्दन एकनाथ को टीकाकार बना कर उसका जीवन सार्थक कर रहे हैं। दशमस्कंध का जहाँ अन्त होता है, वहीं एकादश स्कन्ध का प्रारम्भ होता है और मानों एकादश स्कन्ध से जगन्नाथ ही ग्रन्थ का प्रारम्भ कर रहे हैं। इसलिए एकादश स्कन्ध की यह टीका एकादशी के ही दिन एका अर्थात एकनाथ कर रहा है। इसलिए उस एक के सुख से एकत्व की प्राप्ति होगी। अब व्यास, वाल्मीकि, भार्गव आदि जिनका पुराणों में 'उशना कवि' शुक्राचार्य, आदिकवि के रूप में गौरव किया गया है—उन महाकवियों को प्रणाम करता हूँ। उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे अपने ज्ञान से मेरी बुद्धि को विकसित करें ताकि मेरा यह ग्रन्थ पूर्ण हो। उसी प्रकार ग्रन्थ का अनुवाद करने के लिए अत्यन्त चतुर श्री शंकराचार्यजी को भी प्रणाम करता हूँ। उन्होंने अपनी कर्मठता का विचार दूर रखकर पृथ्वी पर ज्ञानसूर्य (ज्ञानमार्ग) का प्रकाश फैलाया। अब भागवत के श्रेष्ठ टीकाकार श्रीधर को प्रणाम करता हूँ जिनकी टीका में असीम अर्थ भरा हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक टीकाकार, काव्य रचयिता तथा विवेक चतुर होंगे, जिनके चरणों में नमस्कार कर ग्रन्थश्रवण करने के लिए उपस्थित रहने की विनती करता हूँ। अब निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नामदेव, वटेश्वर आदि जिन पर गुरु की विशेष कृपा है ऐसे प्राकृत कवियों को भी प्रणाम करता हूँ। जिनके ग्रन्थों का अवलोकन करने से प्राकृत लोगों को भी ज्ञानप्राप्ति होती है, उनके चरणों पर भी एकात्म-भाव से और अनन्य भक्ति से मस्तक रखता हूँ। संस्कृत ग्रन्थकर्ताओं को 'महाकवि' कहते हैं और प्राकृत ग्रन्थकर्ताओं को 'लघुकवि' ऐसा क्यों है? क्या सुवर्ण पुष्पों में किसी को नया तथा किसी को पुराना कहा जा सकता है? क्या कपिलागाय का दूध, दूध है और अन्य गायों का दूध पानी? वास्तव में दोनों का दूध रंग और स्वाद में समान रूप से मधुर होता है। जब मराठी अनुवाद से संस्कृत समझ में आती है तो मराठी भाषा समझने में क्या कठिनाई है? राजा यदि जंगल में जाकर बैठता है तो सेवक के लिए वही स्थान पवित्र हो जाता है। यदि सेवक उसकी सेवा के लिए जंगल में नहीं पहुँचेगा तो राजा उसे दण्ड देगा अथवा यदि राजा एक गरीब लड़की से तथा दूसरी अमीर लड़की से शादी करता है तो वहाँ जाकर दोनों का दर्जा बराबरी का हो जाएगा। संसार में वस्तुओं के नाम देश और भाषा के अनुसार बदलते रहते हैं किन्तु राम, कृष्ण आदि जो विशिष्ट नाम हैं वे भाषा की भिन्नता के कारण नहीं बदलते। संस्कृत भाषा की उत्पत्ति यदि ईश्वर से हुई तो क्या मराठी भाषा चोरों ने बनायी? इन भ्रमों को दूर रखिये। व्यर्थ की बातें करने से क्या लाभ है? सारांश हरिकथा संस्कृत में हो या मराठी में, वह समान रूप से पावन है, ऐसा ही लोग कहेंगे। अब मेरे पितामह के पितामह भानुदास का वंदन करता हूँ क्योंकि उनके ही कारण हमारा वंश भगवान को सर्वतोपरि प्रिय हुआ है। जिसने बचपन में ही ज्ञानसूर्य को प्राप्त कर लिया और स्वयं चित्सूर्य बन गया, उसी प्रकार मानापमान को जीत कर वे भगवत् पावन हुए जिसकी पगबंध प्राप्ति देखने के लिए साक्षात श्री विट्ठल आये थे। उनके कुण्डल कान में चमकने के कारण रात में भी दिखाई दिये। उसी भानुदास का पुत्र था चक्रपाणी, जिसे सुलक्षण पुत्र की प्राप्ति हुई। उसका नाम 'सूर्य' रख कर भानुदास ने इस लोक से बिदा ली। उस सूर्य के तेजस्वी किरणों से माता रुक्मिणी पैदा हुई, इसलिए रखुमाई वास्तव में हमारी माता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में मैंने पूर्वजों की मालिका का अभिवादन किया। ऐसे वैष्णव कुल में मैंने जन्म लिया यह मेरा अहोभाग्य है। इसी वैष्णव कुल में नारद, प्रह्लाद, सनकादिक, उद्धव, अक्रूर, श्रीशुक, वसिष्ठ आदि परमेश्वर के महान भक्तों ने जन्म लिया और वे संसार के लिए भूषण बन गये हैं। ये सारे वैष्णव ग्रंथार्थ की ओर अवधान देंगे इसलिए मैंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही वैष्णव वंश की मालिका को प्रणाम किया। अब जिस गोत्र में मैंने जन्म लिया उन विश्वामित्र जी को मैं प्रणाम करता हूँ। वे प्रतिसृष्टि निर्माता ब्रह्मदेव सदृश हैं तथा उनके ही कारण गायत्री मंत्र को महत्व प्राप्त हुआ है। उपनिषदों का विवेचन करने वाले ऋषि याज्ञवल्क्य को भी मैं प्रणाम करता हूँ। वे कृपामृत की वर्षा कर कवि के कर्त्तव्य की पुष्टि करते हैं। आज समस्त प्राणिमात्र को भी मैं प्रणाम करता हूँ क्योंकि उनके ही कारण ईश्वर से मैत्री सम्भव हुई और ग्रन्थारम्भ का कार्य उत्तम रीति से सम्पन्न हुआ। अब गुरुओं के भी गुरु दत्तात्रय महाराज को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने अपना बोध विशद करने के लिए ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी। वही शब्द सुझाते हैं, अर्थों में अर्थ प्रकाशित करते हैं पर वक्तृत्व का श्रेय मुझको देते हैं। वे कहते हैं कि श्रीमद्भागवत भगवान के हृद्गत है। जिसका चित्त निरन्तर भगवान के साथ रहता है, उसे ही वह प्राप्त होगा। कल्प से भी पूर्व, भगवान ने बुद्धिमान ब्रह्मदेवजी को आत्मबोध कराने के उद्देश्य से, इस ज्ञान का चार श्लोकों में उपदेश किया था। उसका सद्भाव—विस्मयकारी है। क्योंकि केवल शब्दमात्र (एक बार कहने से) से ही उसे उसका अनुभव प्राप्त हुआ। सद्गुरु कृपा की महानता का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? उसने क्षणमात्र में ब्रह्मदेव को निःसन्देह कर दिया। वही चार श्लोकोंवाला उपदेश गुरुपरम्परा से वैसा का वैसा चला आ रहा है। ब्रह्मदेव ने वह उपदेश अत्यन्त बुद्धिमान एवं भक्तिमान मानसपुत्र नारद को दिया। उसे सुनकर नारद

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तृप्त होकर नखशिखांत अर्थमय हो गये और पूर्ण परमानन्द से नाचने लगे। कन्धे पर ब्रह्म-वीणा रखे तथा ब्रह्मज्ञान से गीत गाते और ब्रह्मानन्द से नाचते हुए भूमण्डल पर आये। सरस्वती के तट पर रुके। वहाँ उन्हें व्यास ऋषि के दर्शन हुए। उस समय महर्षि व्यास सन्देह-सागर में हिचकोले खा रहे थे। उन्होंने वेदार्थ से युक्त समस्त पुराणों की रचना की थी लेकिन जैसा समाधान वे चाहते थे, वह उन्हें नहीं मिला था। 'आप जरा भी चिन्तित न हों' इस प्रकार नारदजी ने उन्हें आश्वस्त किया। उन्होंने एकान्त में व्यासजी को गोपनीय तत्त्व का उपदेश दिया और फिर वे चार श्लोक दिखा कर उन्हें भयमुक्त कर दिया। उसे भानु से छिपा कर आकाश से भी बचा कर, धीरे से कान में बताकर निजबोध का उपदेश किया तब कहीं उन्हें स्वसुख का समाधान प्राप्त हुआ। तब स्वयं व्यासजी ने शुक को दशलक्षण भागवत का उपदेश देकर उसे आत्मज्ञान से सार्थक किया। इस प्रकार शुक को भी आनन्द हुआ और वह भी परमानन्द से तृप्त हुआ। फिर वह समाधिस्थ होकर आत्मशान्ति में स्थिर होकर बैठ गया। इससे उसे समाधि में ही सहज समाधान प्राप्त हुआ। फिर उस स्थिति में वह अचानक परीक्षित को ब्रह्मज्ञान सिखाने पहुँचा। परीक्षित के अधिकार का क्या पूछना? उसने तो कलि को ही बाँध रखा था। उसका अधिकार युधिष्ठिर से भी श्रेष्ठ है, ऐसा अनुभव हो रहा था। क्योंकि जब तक श्रीकृष्ण भूलोक पर थे तभी तक धर्मराज वहाँ था, कृष्ण के निजधाम चले जाने के बाद वह कलि के भय से भाग गया। लेकिन परीक्षित कलि को दबाकर शासन कर रहा था, अर्थात वह धर्मराज से भी अधिक साहसी था। वह अर्जुन की वीर निर्व्यंग परम्परा में उत्पन्न हुआ था। वह कृष्ण की बहन सुभद्रा का नाती था। (सुभद्रा का पुत्र था अभिमन्यु और उसका पुत्र परीक्षित) उसका पिण्ड मानों अधिकार रूपी पिण्ड था क्योंकि गर्भ में उसकी रक्षा श्रीकृष्ण ने की थी। वह जब गर्भ में था तभी उसके भय से अश्वत्थामा का शस्त्र भीतर नहीं प्रवेश कर पाया था। उसके अधिकार की भला कौन व्याख्या कर सकता है? जिसने गर्भ में भी मेरी रक्षा की वह परमेश्वर प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है, ऐसा परीक्षण वह कर रहा था, इसीलिए उसका नाम परीक्षित रखा गया था। नाम की महिमा कितनी अगाध है। अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित ने पृथ्वी का उद्धार करने के लिए ही जन्म लिया था। उसके ही कारण त्रिभुवन को श्रीमद्भागवत का प्याऊ उपलब्ध हुआ था, यह बात प्रसिद्ध है। शरीर में वैराग्य और विवेक लेकर ब्रह्मप्राप्ति के लिए सर्वस्व का त्याग करनेवाले उस परीक्षित को देखकर श्रीकृष्ण को नितांत प्रसन्नता हुई। ब्राह्मणों का कोप विचित्र था। उन्होंने परीक्षित को ब्रह्मज्ञान का शाप दिया। ऐसे लोगों के चरणों में मैं काया, वाचा तथा मन से भक्तिभाव से नमस्कार करता हूँ। ब्राह्मण ब्रह्मा से भी अधिक श्रेष्ठ हैं इस सम्बन्ध में मैं अधिक क्या कहूँ? लेकिन श्री विष्णु अभी भी अपने हृदय पर श्रीवत्सलांछन धारण करते हैं। इसलिए ब्राह्मण ब्रह्मा के लिए भी पूज्य हैं यह मेरा विचार सही है। इसीलिए वेदरूप नारायण पृथ्वी पर आये। इसीलिए ब्राह्मण पृथ्वी पर के ईश्वर हैं। वे परब्रह्म के अवयव हैं। ऐसा होते हुए भी जो उन्हें नहीं भजते वे भाग्यहीन हैं। ब्राह्मणों का सामर्थ्य विचित्र है। उन्होंने ईश्वर को अपना आज्ञाधारी बना रखा है। अहो! मूर्त्ति की प्रतिष्ठा करते समय, उसमें केवल मंत्रांश से ही देवत्व का अंश प्रकट होता है। इस पर संतों ने कहा, क्या कहूँ? तुम भक्ति से जो भी स्तवन करते हो उसमें सचमुच ही साहित्य और चातुर्य के नये सिद्धान्तों की सृष्टि करते हो। तुमने गणपति और सरस्वती दोनों को ही एक ही पंक्ति में बिठाया है। उसी प्रकार संतवर्णन में तुमने स्तुति के रूप में एकात्मता प्रकट की। इसके बाद कुल और कुलदेवता का वर्णन करते समय तुमने जो कथा सुनायी उसे सुनकर मन से चिन्ता का पूरी तरह विस्मरण हो गया। जो सद्भाव संतचरणों में था वही ब्राह्मणों के प्रति भी। गुरुस्तवन से भी तुमने संतों को प्रसन्न कर दिया इसलिए तुम्हारी वाणी धन्य है। तुम्हारे मुख से शब्द निकलते ही हमने पहचान लिया कि स्वयं गुरु

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जनार्दन तुम्हारे मुख से बोल रहे हैं। तुम में प्रेम का ज्वार उठ रहा है, उसे नियंत्रण में रखो और अगली कथा सुनाने का मन में निश्चय कर कथा का प्रारम्भ करो। आपने स्मरण दिला कर अच्छा ही किया। इसीलिए मैंने आपके चरणों पर पूरा विश्वास रखा है। जहाँ कहीं आपको गलती लगती हो उसे आप सुधार दें। ग्रंथार्थ सिद्ध कर मुझे सज्जनों के बीच मान्यता दिलायें। उन्होंने कहा, ''ठीक कह रहे हो। तो हे कविपोषक! तुम्हारे ग्रन्थ का सन्दर्भ ठीक तरह से जानने के लिए अब संस्कृत पर भी टीका करना शुरू कर दो।'' इसी भाषण पर भक्तिभाव रख कर मैं आपके चरणों से लगा हूँ। अब आपकी आज्ञा से कथा प्रारम्भ करता हूँ तो नैमिषारण्य में सूत शौनकादिकों को पिछला कथा सन्दर्भ इस प्रकार सुना रहे हैं। इससे पूर्व दशम स्कन्ध में नौ लक्षणों से युक्त कथा सुनायी। अब ग्यारहवें स्कन्ध में श्रीकृष्ण मोक्ष का लक्षण बता रहे हैं। जो चिदाकाश के पूर्णचन्द्र हैं और ज्ञानयोगियों में श्रेष्ठ हैं ऐसे वे शुकयोगिन्द्र बोलने लगे और सुनने लगे राजा परीक्षित। उसने कहा, ''महाराज, इसीलिए मैंने सर्वस्व का त्याग किया। तभी आपने कृपापूर्वक दर्शन दिये। मेरे भाग्य की अब कोई सीमा नहीं है। सचमुच इस मोक्ष की कथा अगाध है। जिन्हें अपने मोक्ष के प्रति आस्था है उन्हें मन लगाकर अत्यन्त आदर के साथ श्रवण करने के लिए तैयार रहना चाहिए। मन को एकाग्र कर कान में रखना चाहिए और अवधान को सावधान कर श्रवण करना चाहिए। भगवान ने अनेक युगों में अनेक अवतार धारण किये किन्तु इस श्रीकृष्ण अवतार का चमत्कार कुछ और ही है। हरि की लीला अगाध है। उसका रहस्य देवताओं की समझ में भी नहीं आता। जिसने जन्म लेते ही माया (माँ) से अलग होकर अपनी ही लीला से अपना पोषण किया जिसने बाल्यावस्था में ही पूतना आदि को मुक्ति का सुख भोगने दिया, माँ को विश्वरूप दिखलाया, गोपालों को वैकुंठ का दर्शन कराया और फिर भी अपना बालरूप नहीं बदलने दिया। बालक था तभी अनेक बलवान लोगों को मारा, संसार में विलक्षण कर्म किये किन्तु बाल्यावस्था की सीमा कभी पार नहीं की। साक्षात परब्रह्म होते हुए चोरी की, देवता होते हुए भी व्यभिचार किया, पत्नी और बच्चे रहते हुए भी ब्रह्मचारी होने का आदर्श प्रस्तुत किया। अधर्म से धर्म की वृद्धि की, अकर्म से कर्म का उद्धार किया, अनियमितता से अत्यन्त कठिन नियमों का पालन किया। संग से निःसंगता सम्पादित की, भोग से योग को बढ़ाया, बिना त्याग किये अत्यन्त अव्यंग और निर्दोष त्याग किये। कर्मठ लोगों को बोध कराने के लिए कर्म की जड़ता के बन्धन तोड़ डाले और स्पष्ट कर दिया कि भोग से भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। भक्ति, भुक्ति और मुक्ति इन तीनों को एक ही पंक्ति में बिठाया। इसकी ख्याति के सम्बन्ध में क्या कहा जाय? इसने मिट्टी खाकर विश्वरूप दिखलाया। उस श्रीकृष्ण का उत्तम एवं परमपवित्र चरित्र मैं तुम्हें बताऊँगा। इस अवतार में आत्मबोध का पूरी तरह विस्तार हुआ है इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। एकादश स्कन्ध के सारांश में आदि और अन्त में कहीं संक्षेप में तो कहीं विस्तार से परमात्मास्थिति अर्थात मुक्ति के ही सम्बन्ध में कहा गया है। नारद ने वसुदेव को 'निमि-जयंत' की कथा संवाद रूप में संक्षेप में बतायी। और उद्धव पर अत्यन्त प्रेम होने के कारण उसे अनेक दृष्टांत देकर श्रीकृष्ण ने स्वमुख से जो कथा सुनायी वह 'विस्तारस्थिति' है। पहले दशम स्कन्ध में निरोधन लक्षण बताये थे जिसमें श्रीकृष्ण ने अनेक युक्तियाँ सोच कर किस प्रकार अधार्मिक लोगों का संहार कर पृथ्वी का भार कम किया था इसके बारे में बताया गया था। उनके अधर्म के कारण पृथ्वी आक्रोश कर रही थी, इसलिए लोगों की सहायता के लिए पूर्णब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण ने अवतार लिया। उन दुष्ट दैत्य और दानव तथा पृथ्वी के लिए भारस्वरूप हुए समस्त राजाओं का श्रीकृष्ण भगवान ने वध किया। पिछली कथा का सारांश श्रीशुक आगे बता रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीबादरायणिरुवाच

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः।
भुवोऽवतारयद्भारं जविष्ठं जनयन्कलिम्॥ १॥

स्वयं पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण ने लोगों का चित्त रंजन करने वाले बलवान को लेकर तथा वीर यादवों को एकत्र कर दैत्यों का संहार किया। जिन्हें यादव नहीं मार सकते थे, उनके सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने निराली युक्ति की योजना की। वह यह कि उन्होंने उनके ही मित्र, निकट सम्बन्धी, रिश्तेदार इनमें परस्पर घोर कलह उत्पन्न कर दिया और पृथ्वी का भार कम करने के लिए पाण्डवों को भी क्षुब्ध कर कलह के बहाने कौरवों का भार हलका किया।

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नैर्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान्।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान् हत्वा नृपान्निरहरत्क्षितिभारमीशः॥ २॥

अत्यन्त अघोर कृत्य करने वाले दुष्ट, जिनकी सेना पृथ्वी के लिए भारस्वरूप थी, उनका संहार करने के लिए उन्हें एकत्र किया जाए और भूमि का भार हलका किया जाए इस उद्देश्य से कृष्ण ने कलह का कारण उपस्थित किया। श्रीकृष्ण के इस संकल्प के अनुसार कपट के पाँसों का निर्माण हुआ। उसी कपट से देखिए कौरवों का समुदाय अनायास ही मारा गया। संसार में जुआ दुष्ट लोग ही खेलते हैं। तिस पर इस जुए का प्रारम्भ कपट से हुआ। दुष्टबुद्धि कौरवों ने जानबूझ कर धर्म के सामने कपट के पाँसे फेंके। सीधे-सादे अनाड़ी लोग भी धर्मपत्नी का छल नहीं करते और द्रौपदी तो सचमुच धर्म की पत्नी थी, उसे ये लोग बाँधकर सभा में ले आये। इतना ही नहीं बल्कि उसकी वेणी के केश खींचे जिससे किचकिच इतनी बढ़ी। वास्तव में उसका यही कर्म उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। जंगल में कोई किसी को लूटता है तो राजा उसकी खोज करता है लेकिन अगर भरी सभा में राजा ही लूटने लगे तो समझ लो कि वह मृत्यु को ही निमंत्रण देता है। बिना किसी अन्याय के यदि राजा ही लूटने लगे तो वहाँ भगवान सहायता के लिए दौड़ कर आता है। द्रौपदी वस्त्रहरण यही कौरवों का मुख्य अन्याय था। आग लगाना, विष प्रयोग करना तथा स्त्रियों का अपहरण करना, घात लगाकर मारना, मारने के लिए हाथ में शस्त्र लेना, अवज्ञा और उपहास, दुर्वचन, धर्म का छल इसी को श्रीकृष्ण ने निमित्त बनाया। पतिव्रता स्त्री को अनावृत्त किया इस कारण मृत्यु तो होनी ही थी। यही कलह का कारण बना और इसी कर्म से पूरे कुल का विनाश हो गया। ऐसा जो धर्म का विरोधी होता है उसका वध ईश्वर निश्चित रूप से करता है। सचमुच इसीलिए उसने पाण्डवों के मन में भीषण क्रोध निर्माण किया। पृथ्वी का भार कम करने के उद्देश्य से सगे-सम्बन्धी, इष्ट मित्र, सखा, भाई, शास्त्रज्ञ और जो अत्यन्त पवित्र थे उनमें भी विचित्र प्रकार का कलह उत्पन्न किया। पृथ्वी का भार हलका करने के लिए श्रीकृष्ण ने सुहृद, सखा, भाईयों का भी, उनके साथ आयी हुई राजसेना पर हमला कर समूल गोत्र का वध किया।

भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं। यद् यादवं कुलमहो ह्यविषह्यमास्ते॥ ३॥

ऐसे दुष्टों का साथ देने वाले और अधर्माचरण करने वाले, भूमि के लिए केवल भारभूत ऐसे अनेक राजा और उनकी सेना का संहार किया। कलह का तो मात्र बहाना था। पृथ्वी पर अधर्म करने वाले राजा और उनकी इतनी अधिक सेना को खोज-खोज कर मारा कि उसका कोई हिसाब नहीं। फिर भी श्रीकृष्ण को लगा कि पृथ्वी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का भार अभी कम नहीं हुआ है। इसका कारण यह था कि जिन यादवों ने शक्तिशाली होकर असंख्य दुष्टों का संहार किया था, वही यादव अब विद्रोही हो गये थे यह बात श्रीकृष्ण को अच्छी नहीं लगी। इसलिए यादवों का नाश हुए बिना पृथ्वी का पूरा भार कम नहीं होगा और यह यादवकुल कैसे नष्ट होगा इसके बारे में वे विचार करने लगे। कपूर खाने से अग्नि बढ़ती है लेकिन कपूर समाप्त होने पर अग्नि भी बुझ जाती है। उसी प्रकार यादवों द्वारा सबका संसार होने के बाद अन्त में उनके ही संहार की बारी आयी। जब तक केले के पेड़ में फल नहीं आते तब तक वह बढ़ता रहता है लेकिन केले पुष्ट होते ही माली वह पेड़ काट डालता है। उसी प्रकार यादव वंश की इतनी अधिक वृद्धि हुई कि वह अब भविष्य में संहार के ही लिए थी। फल पकने के बाद जब उसकी गन्ध फैलने लगती है तो माली उसे तोड़ कर ले जाता है उसी प्रकार अपने ही कुल के फलों को तोड़कर ले जाने का विचार श्रीकृष्ण के मन में आया। श्रीकृष्ण की कृपा से यादव अपने बाहुबल से पराक्रम कर बढ़े हुए थे लेकिन वही श्रीकृष्ण उनके नाश का संकल्प कर मन ही मन क्षुब्ध हुआ था। यादवों का कुल अत्यन्त प्रबल हुआ। उन पर शासन करने वाला कोई नहीं रहा। ऐसे इन उन्मत्त वीरों की अवस्था श्रीकृष्ण के लिए असह्य हो उठी।

नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथंचिन्मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम्।
अन्तःकलिं यदुकुलस्य विधाय वेणुस्तम्बस्य वह्निमिव शान्तमुपैमि धाम॥ ४॥

यदि मैं निजधाम को चला गया तो यही लोग अधर्म के लिए प्रवृत्त होंगे। क्योंकि कुकर्म के लिए प्रवृत्त होने में सम्पत्ति का मद और अहंकार का अतिरेक यहीं बाते मुख्य रूप से कारणीभूत होती हैं। मेरे ही बल से बलशाली होकर ये सारे अजिरथि बन बैठे हैं। इनका सामना करने के लिए भूमण्डल पर कोई नहीं बचा है। इनका गर्व मैं ही उतार सकता हूँ। इंद्रादि देवतागण, दैत्य, राक्षस या दानवों के वश में भी ये नहीं हो सकेंगे और अगर ये इसी प्रकार पीछे पड़े रहें तो इन यादवों का संहार करने के लिए पुनः मुझे ही अवतार लेना पड़ेगा। इस प्रकार अब अपनी ही आँखों के सामने अपने कुल को काल के मुँह में झोंकने का विचार कर श्रीकृष्ण ने वही निश्चय पक्का किया। यदुवंश रूपी वंशबेल श्रीकृष्ण के कृपा जप से बढ़ी हुई थी। वहाँ अब कपट के बहाने ऋषियों के शाप की चिनगारी गिरी। वास्तव में वह श्रीकृष्ण के संकल्प और ब्रह्मशाप से भड़क उठी। वह अब स्वजनों के विरोध के रूप में तथा कालाग्नि के कोप से सबके विनाश का कारण बनेगी। इस प्रकार यादवों के कुल का निर्दलन कर फिर अपनी लीला से अपने निजधाम जाने की श्रीकृष्ण ने योजना बनायी।

एवं व्यवसितो राजन् सत्यङ्कल्प ईश्वरः।
शापव्याजेन विप्राणां संजह्रे स्वकुलं विभुः॥ ५॥

इस प्रकार अपने कुल को स्वयं ही नष्ट करने का विचार उनके मन में आया और उन्होंने समूलकुलक्षय का निश्चय किया। अब यह कार्य हो कैसे? इस पर जगदीश ने यह विचार किया कि ब्राह्मण के शाप के बहाने कुल का अपने आप ही विनाश हो जाएगा। बस इतना सिद्ध हो जाए तो अवतार की इतिकर्तव्यता समाप्त हो जाएगी और फिर स्वलीला से निजधाम चलें ऐसा यदुवीर ने विचार किया। श्रीकृष्ण 'लीलाविग्रह' अर्थात् स्वेच्छा से देह धारण करने (जीवों की तरह कर्म के अनुसार देह धारण करनेवालों की तरह नहीं) वाले तथा नितान्त सुन्दर थे। उनकी गुणकर्मक्रिया अत्यन्त पवित्र थी। वह परिपूर्ण ब्रह्म, पूर्णावतारी तथा संसार का उद्धार करने वाला था।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः॥ ६॥

समस्त मंगलों से पूर्ण मंगल तथा गोकुल की स्त्रियों को रिझाने वाला वह श्रीकृष्ण स्वयं मोक्ष की नौका ही था। उसका सौन्दर्य अलौकिक था। जो भक्तकामकलदुम, मेघ की तरह नीली कांतिवाला मनोहर दीखने वाला, जिसका नाम त्रैलोक्य में प्रसिद्ध है, ऐसे वह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण स्वभाव से ही इस नाम के अनुरूप है। श्रीकृष्ण के सौन्दर्य पर जहाँ लक्ष्मी पागल हो उठी, बेचारा मदन जन्म लेने को विवश था वहाँ दण्डचंद्र की क्या दशा है? जिसका नाम त्रैलोक्य को पवित्र करने वाला है, जो राक्षसों को भस्म करने वाला है, जिसे 'पूर्णकाम' कहा जाता है, वह भक्तों के लिए सदा सुगम है। त्रैलोक्य में जितना भी कुछ सौन्दर्य है, वह सब भूल कर श्रीकृष्ण के पास आ गया था या यों कहिए कि कृष्ण के सौन्दर्य से ही त्रैलोक्य का सौन्दर्य सुशोभित होता है। जो सारे सौन्दर्य की शोभा है, लावण्य की राशि है, जिसके अंग की प्रभा से संसार को शोभा प्राप्त हुई है। जो हर्ष में भी परम हर्ष, अथवा सुख को ही अत्यन्त सुख देने वाला परमसुख है, जिसके कारण विश्राम को भी आराम मिलता है, वह निराकार ही मानों साकार हुआ अथवा त्रैलोक्य के सम्पूर्ण लावण्य से युक्त सुन्दर श्रीकृष्ण, शोभा को भी सुशोभित करने वाला था। जमा हुआ घृत पिघलने पर भी उसका घृतपना नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार निराकार स्वरूप साकार होने पर भी वह पूर्ण परब्रह्म ही था। उसे देखते ही देखने की इच्छा पूरी होती है, देखते-देखते ही देखना पूरा हो जाता है, दृष्टा के साथ दर्शनक्रिया भी लज्जित होकर अपने स्वरूप में लौट जाती है। दृष्टि संतृप्त होकर ढकार लेती है और व्यक्ति अपना पड़ोसी बनकर कृष्ण स्वरूप का आनन्द अनुभव करता है। एक बार श्रीकृष्ण के माधुर्य का आस्वाद लेने पर जिह्वा रसस्वाद को भूल जाती है क्योंकि फिर स्वाद ही अच्छा नहीं लगता। उसकी माधुरी विचित्र है। उस माधुरी ने अमृत का स्वाद भी फीका कर दिया है। इस प्रकार जिह्वा हरिरस में पूर्ण रूप से सुख का अनुभव करती है। श्रीकृष्ण की हवा से ही सारा संसार नीरस हो जाता है। श्रीकृष्ण की सुगन्धवायु के सिवा अन्य कोई गन्ध नाक को अच्छी ही नहीं लगती। वास, सुवास, पुष्प, घ्रेय, घ्राता और घ्राण ये सब कृष्ण के मकरंद से स्वयं ही एकत्र होकर उनके यहाँ विश्राम के लिये आते हैं। उनके शरीर के स्पर्श से देह, देही और देहपन यह भाव नष्ट हो जाता है। देह ही अपनी देहबुद्धि किस तरह भूल जाता है? कठिन की कठिनता नष्ट हो जाती है, मृदु की मृदुता लुप्त हो जाती है, इस प्रकार स्पर्श का स्पर्शत्व नष्ट हो जाता है, ऐसी अवस्था श्रीकृष्ण ने कर डाली है। उसके पठन से वाच्य-वाचक का स्थान जो वाणी है उसने 'नेति' शब्द को मिटा कर उसे निःशब्द कर दिया है। वाक वाचा में ही समा गयी, वाक्शक्ति अवाक हो गयी। कृष्णनाम ने वाच्य-वाचक का भेद नष्ट कर दिया। उन चरणों का चिन्तन करते ही चित्त सहज ही विस्मृत हो जाता है और फिर निश्चिंत होकर कृष्ण चरणों में विश्राम करता है। चित्त, चिन्ता और चिन्तन इन तीनों का स्मरण ही नहीं रहता। श्रीकृष्ण चरणों का चिन्तन करते ही चित्त परिपूर्ण ब्रह्म ही हो जाता है। भूमि पर पड़े उसके पदचिन्ह आश्चर्यजनक है। उसे देखते ही कर्माकर्म का लय हो जाता है और फिर कर्म, कर्त्ता और क्रिया यह भ्रम उसके पदरज से निर्भ्रम हो जाता है। उसके चरणों की छाप देखते ही कर्माकर्म के बन्धन टूट जाते हैं क्योंकि कर्म का मुख्य अंग है माया जिसका अल्पांश भी शेष नहीं रह पाता। गौ के पीछे अंकित पद-चिह्न देखने पर कर्त्ता के साथ कर्म का विलय हो जाता है। 'अकर्म' यह कहना भी शेष नहीं रहता। इस प्रकार कर्म का निष्कर्म हो जाता है। उसकी कीर्त्ति सुनने से श्रोता का श्रोतापन ही नहीं रह जाता, वक्ता का वक्तापन शेष नहीं रह जाता, वक्ता का वक्तापन नहीं बच पाता, केवल श्रवणमात्र से ही परब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति होती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसानु कौ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वरः॥ ७॥

इस प्रकार उदारकीर्त्ति कृष्ण ने अपने अवतार को विख्यात बना दिया। उसके कारण जड़ जीवों का उद्धार होता है और श्रवणमात्र से त्रैलोक्य पावन होता है। स्वयं निजधाम जाने के बाद, अपने बाद संसार सागर को पार करने के लिए भगवान स्वयं की कृष्ण कीर्त्तिरूपी नौका छोड़ गये थे। इस नौका की स्थिति विचित्र है। कल्पांत में भी वह डूबने नहीं देती। उसके श्रवणमात्र से आज तक कितने ही श्रद्धालु तर गये और आगे भी कितने ही तर जायेंगे यह मालूम नहीं है। श्रीकृष्ण की कीर्त्तिरूपी नौका को भवसागर में छोड़ना ही पर्याप्त है, उसके छोड़ते ही सागर सूख जाता है। फिर श्रवणार्थी पुरुष जो नौका से उतरता है वह सूखे कदमों से ही सागर पार करता है। जो कृष्ण की कीर्त्ति का पठन करते हैं उनके जन्ममरण का संसार शून्य हो जाता है वे अत्यन्त पावन और कीर्त्तिमान हो जाते हैं और सुरगण उनकी वन्दना करते हैं। श्रीकृष्ण कीर्त्ति का आदर से पालन करने पर चारों मुक्तियाँ पैरों तले आ जाती हैं। उनके योग से त्रिभुवन पावन होता है, हरिनाम से परम निर्वृत्ति अर्थात् परमानन्द प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण कीर्त्ति के नामाक्षर श्रवणद्वार से भीतर प्रवेश करते ही, अंतःकरण में भरा हुआ सारा अज्ञान एकाएक खड़बड़ा कर बाहर आ जाता है। उसी प्रकार (कृष्ण कीर्ति) के गर्जन से अज्ञान को बाहर भी कोई आसरा नहीं मिलता। इसलिए भय के मारे उसका सपरिवार विलय हो जाता है। इस प्रकार कृष्णकीर्त्ति में परमानन्द प्राप्त होता है। कृष्णकीर्त्ति प्रताप के प्रकाश से सारा संसार कृष्णमय ही दिखायी देने लगता है। इसलिए वह कीर्त्ति उसे कीर्त्तिमंत की ही तरह सहज ही निजसुख प्रदान करती है। जिसे देखने पर देखना समाप्त हो जाता है, जिसे चखने पर चखना पूर्ण हो जाता है, जिसका श्रवण करने से श्रवण समाप्त हो जाता है, जिसका चिन्तन करने से चित्तवृत्ति ही जम जाती है। जिसकी भेंट हो जाने पर मिलन की कमी कभी नहीं रह जाती, जिसके साथ बात करने से परमार्थ को ही आलिंगन हो जाता है, और जिसके आलिंगन करने से आलिंगन की इच्छा विलीन हो जाती है और जिसका नाम लेने से महाभय का भी नाश होता है, ऐसा वह सत्य संकल्प ईश्वर, वह सर्वेश्वर शार्ङ्गधर स्वलीला से अर्थात् स्वेच्छा से शीघ्र ही निजधाम जाने के लिए उद्यत हुए।

राजोवाच

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम्।
विप्रशापः कथमभूद् वृष्णीनां कृष्णचेतसाम्॥ ८॥

तब परीक्षित ने बड़े आदर के साथ पूछा कि हे शुकयोगीन्द्र! यादव तो विप्र भक्ति में विनम्र थे। ऐसा होते हुए भी उन्हें शाप क्यों मिला यह बतलाइए। यादव दानवीर थे, राजा होते हुए भी परम पवित्र थे, निरन्तर ब्राह्मणों की सेवा में तत्पर रहते हुए कृष्ण के आज्ञाधारी थे। सदैव कृष्ण का सहवास होने के कारण यादवों के पास निरन्तर साधुसंत रहते थे। नारदमुनि तो सदैव वहीं रहते थे। ऐसा होते हुए भी यादवों को शाप कैसे मिला? दक्ष के शाप का प्रभाव, कृष्ण के पास रहने से नहीं होगा, इसलिए नारद भी द्वारका में ही रहते थे। फिर, ऐसा वह श्रीकृष्ण स्वयं वहाँ उपस्थित रहने पर भी यादवों को शाप कैसे मिला?

यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम।
कथमेकात्मनां भेद एतत्सर्वं वदस्व मे॥ ९॥

शाप के लिए मूल कारण है संताप। तब ब्राह्मणों को क्रोध कैसे हुआ? और शाप भी क्या दिया? इसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कृपया संक्षेप में बतायें। यादव तो सभी भाई बंद हैं, एक दूसरे के चहेते और उनका पालनकर्ता स्वयं श्रीकृष्ण! ऐसा उनमें ऐक्य भाव और समस्त एक परिवार होते हुए उनमें की परस्पर एकता टूट कर मारपीट तक की नौबत कैसे आ पहुँची? 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (आत्मा ही पुत्र है) यह श्रुति सबके लिए प्रमाण है। ऐसा होते हुए भी श्रीकृष्ण के ही लड़के शाप से कैसे बाधित हुए? वह शाप सच कैसे हुआ? 'कुल का विनाश करने का संकल्प कृष्ण का ही था, वही ब्राह्मणों के शाप के लिए कारणीभूत हुआ और इसीलिए वह सभी यादवों के लिए बाधक हुआ इसे ध्यान में रखो। कृष्ण संकल्पमात्र से ही सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करता है। उसने ही यादवकुल का संहार करने का निश्चय किया' यह कहकर, शुक उसके अवतार की महत्ता का वर्णन करते हैं।

श्रीशुक उवाच

बिभ्रद्वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं कर्माचरन्भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः संहर्तुमैच्छत् कुलं स्थितकृत्यशेषः॥ १०॥

कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि, गायज्जगत्कालिमलापहराणि कृत्वा।
कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे पिण्डारकं समगमन्मुनयो निसृष्टाः॥ ११॥

परीक्षित राजा से शुक्राचार्य ने कहा, "कर्ता तथा कराने वाला वह एक श्रीकृष्ण है। उसने ही अपने लड़कों को शाप मिले इसलिए उनके मन में अविचार उत्पन्न किया। श्रीकृष्ण के मन में निजधाम जाने की उत्कंठा लगी हुई थी इसलिए शेष बचा हुआ कार्य भी पूरा करने की उसे जल्दी हो रही थी। अब मेरा कुलक्षय कब होता है यही चिन्ता भगवान के मन में लगी हुई थी। भगवान का यही उद्देश्य शाप के लिए कारणीभूत हुआ ऐसा समझ लो। जिस कृष्ण ने कुलक्षय का विचार मन में लाया था, उस कृष्ण की सुन्दर मूर्त्ति का वर्णन उल्लसित मन से शुक परीक्षित से करने लगे। समस्त सौन्दर्य का अधिष्ठान, ऐसा मनोहर सुशोभित वेष उसने धारण किया था। उस जगदीश ने अपने शरीर में मानों सभी प्रकार के लावण्य का संग्रह किया था। कैसा चमत्कार कहा जाए। उसके सौन्दर्य पर ऐसा तेज चढ़ गया था कि उसके प्रत्येक अंग पर लोगों की दृष्टि जम सी गयी थी। कृष्ण का स्वरूप इतना आकर्षक था कि लोगों की दृष्टि भय से काँप रही थी। जिस प्रकार गुड पर मक्खियाँ आकर बैठती हैं उसी प्रकार कृष्ण के स्वरूप पर लोगों की दृष्टि जम सी गयी थी और उसने उनके शरीर को चारों ओर से बींध दिया था। आँखें दर्शन लोभ के कारण ललचायी हुई थीं। आँखों में मानों जिह्वा निकल आयी थीं। इस प्रकार श्रीकृष्ण मूर्त्ति की शोभा मानों स्वानंद का साकार भण्डार ही था। उस श्रीकृष्ण को जिस दृष्टि ने देखा वह मानों लौटने के लिए तैयार ही नहीं थी। वे उसका अधिक से अधिक आलिंगन कर रही थीं। इसलिए सारी सृष्टि उन्हें कृष्णरूप ही दिखायी देती थी। आँखों को उसकी ऐसी चाह थी कि कामिनियाँ उस पर टूट पड़ती थीं और इसीलिए गोपियों के मन में उस गोविन्द के लिए मीठी चाह उत्पन्न हो गयी थी। कृष्ण इस प्रकार अत्यन्त सुन्दर था इसलिए उसमें विषय की अभिलाषा हो ऐसी बात नहीं है क्योंकि वह पूर्णकाम अर्थात निरिच्छ और केवल आत्मस्वरूप में ही रमण करते थे। कृष्ण यदि पूर्णकाम थे तो वे द्वारका में घर बसाकर स्त्रीपुत्रों के साथ राजसी ठाठ से रहकर विषयों का उपभोग क्यों करते थे? तो इसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण चारों आश्रमों के प्रकाशक हैं तथा त्रैलोक्य में सच्चे गृहस्थ एक अकेले श्रीकृष्ण ही हैं, सच्ची निष्ठा से वही ब्रह्मचारी हैं। कृष्णदेह में 'दैव' अर्थात 'भाग्य' की प्रधानता नहीं थी। वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'लीलाविग्रही' अर्थात स्वेच्छा से देहधारण करने वाला (अन्य जीवों की तरह कर्म से कर्मपरावलंबी—देह धारण करने वालों की तरह नहीं) तथा शुद्ध चैतन्य सागर पर एक लहर के समान उसका देह था। उसके सारे कर्म पवित्र करने वाले थे। उनका श्रवण और कथन करने से ही सबका उद्धार होता है। कृष्ण के कर्मों का जो स्मरण करता है, उसका वही कर्म जीव को कर्मबन्धन से मुक्त करता है। दोनों का उद्धार करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने ऐसा उत्कृष्ट कर्माचरण किया था। यदि यह कहें कि श्रीकृष्ण सकाम होंगे इसीलिए उन्होंने कर्माचरण किया तो फिर जिसका नाम दूसरे को निष्काम कर सकता है वह स्वयं सकाम कैसे हो सकता है? श्रीकृष्ण की विषय भोग लीलाओं का स्मरण करने से संन्यासी भी अपने आप निष्काम हो जाते हैं। विषयी लोगों की भी विषयेच्छा नष्ट हो सके ऐसा ही उदार कर्माचरण उसने किया सभी दृष्टियों से पूर्णकाम होते हुए उसने असाधारण कार्य किये। केवल स्मरण मात्र से लोग भवसागर पार कर सकें इसलिए उसने अपनी कीर्ति का विस्तार किया और वह कर्म भी कितना मंगलदायक था। किंचित श्रवण मात्र से ही कर्म का फल तत्काल नष्ट हो जाता है। श्रवण से मन में सद्भाव उत्पन्न होता है, सद्भाव से देवत्व प्रकट होता है और उससे अहंकार नष्ट होता है। श्रीकृष्ण की कीर्ति का स्मरण, श्रवण अथवा पठन करने से अनेक लोगों का उद्धार हुआ है और आगे भी होगा। पूर्वजन्म में पुण्य कमाया है तभी हरिकथा में मन लगता है, अन्यथा अनेक लोगों को अनायास ही गहरी निद्रा आ जाती है। जो हरिकथा में तत्पर रहते हैं उनके पुण्य की कोई सीमा नहीं है। कीर्तन से दीनों का उद्धार हो इसलिए श्रीकृष्ण ने इस सरल उपाय की योजना की है। हरिकीर्तन की कथाओं को जोर से कहने से प्रायश्चित लज्जा से नत हो जाते हैं और तीर्थों का बड़प्पन भी कम हो जाता है। नाममात्र से ही मुक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार अपनी कीर्ति से उदार, पूर्णब्रह्म शार्ङ्गधर, लीलाविग्रही सर्वेश्वर ने यदुवंश में पूर्णावतार धारण किया था। उसे नहीं लगता था कि पृथ्वी का भार कम हुआ है क्योंकि जो अत्यन्त प्रबल यादव बचे हुए हैं उनका भी निर्दलन हो जाना चाहिए ऐसा उनका विचार था। श्रीकृष्ण ने कहा, अब इस अवतार में मेरे लिए इतना ही कार्य बच रहा है—अपने वंश को समाप्त करना। उसे पूरा कर फिर निजधाम को चलूँ। यादवों के कालस्वरूप देवाधिदेव ने भविष्य को ध्यान में रखते हुए जो चमत्कार किया उसे सुनिए। नारदादि मुनियों को स्वयं श्रीकृष्ण ने बुलाकर आग्रहपूर्वक बताया कि अब आप लोग यहाँ से चले जाएँ क्योंकि संतजन जिस स्थान को छोड़ कर चले जाते हैं वहाँ अनर्थ की लीला शुरु हो जाती है। इसलिए यादवों के विनाश के लिए पहले यही आवश्यक है यह जानकर उन्होंने यह युक्ति रची। भक्त, संत और साधु जिसके निकट हों वहाँ अनर्थ की भीड़ नहीं रहती। यह रहस्य केवल श्रीकृष्ण को ही मालूम था। जहाँ संतों का समुदाय रहता है वहाँ जन्म और मृत्यु का भी अभाव रहता है। यह बात केवल श्रीकृष्ण को ही मालूम होने के कारण उसने ब्रह्मपाश के लिये इसी उपाय की योजना की। जिस स्थान को छोड़ कर संत दूर चले जाते हैं वहाँ अनर्थ तत्काल मस्तक पर प्रहार करता है। इसे ध्यान में रखकर ही श्रीकृष्ण ने समस्त ऋषियों को द्वारका के बाहर भेज दिया। ऋषिगण अपने-अपने आश्रम की ओर जाने वाले थे किन्तु इस नाटकीय श्रीकृष्ण ने तीर्थ का बहाना बनाकर उन्हें 'पिंडारका' भेज दिया। जिनका स्मरण करते ही कलिकाल भी भय से काँपने लगता है, ऐसे किन-किन ऋषियों को श्रीकृष्ण ने पिंडारका भेजा, जरा सुनो।

विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरंगिराः।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वशिष्ठो नारदादयः॥ १२॥

जो तपस्या के तेज से देदीप्यमान, जो पूर्ण ज्ञान में योग से चैतन्यधन हैं जिनका श्रीकृष्ण निरन्तर वन्दन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करते थे वे सारे बड़े-बड़े ऋषि पिंडारक जाने के लिए निकल पड़े। गायत्री मंत्र से प्रति सृष्टि निर्माण करने में समर्थ महा हठी विश्वामित्र भी शीघ्र ही चल पड़े। जहाँ शीत और ऊष्मा की बाधा नहीं होती ऐसे आश्रम में रहने वाला और जिसके नाम से द्वंद्व भागने लगते हैं, ऐसा असित मुनि भी तत्काल निकल पड़ा। जिसने सूर्य की शरण में जाकर उसके घोड़े के कान में बैठकर सम्पूर्ण वेदपाठ किया, वह कण्व ऋषि भी निकल पड़ा। जो अत्याहारी होते हुए भी निराहारी के नाम से प्रसिद्ध थे वे दुर्वासा ऋषि भी तेजी से द्वारका के बाहर चल पड़े। जिस भृगु ने मारी हुई लात को श्रीकृष्ण हृदय पर धारण कर वह 'श्रीवत्स' भूषण कह कर विचरण करता है, वह भृगु ऋषि भी चल पड़ा। अंगिरांऋषि तो स्वयं सृष्टि में बुद्धिमान, जिसका पुत्र देवगुरु बृहस्पति था वह भी जाने के लिए निकला। कश्यप की बात तो विचित्र ही थी। उसने सुर, नर, किन्नर आदि को जन्म दिया और जिस लिए इस सृष्टि को 'काश्यपसृष्टि' भी कहते हैं, वह भी जाने के लिए निकल पड़ा। सभी युक्तों में जो योग्यता में श्रेष्ठ है, जिनका वर्णन वेदों में भी है वे वामदेवऋषि भी जाने के लिए निकल पड़े। अत्रि का भी चमत्कार ही है। उन्होंने तीन देवताओं को जन्म दिया। उस श्रीदत्त महाराज को बड़े-बड़े योगी भी वन्दन करते हैं। अनुसूया का यह कैसा अहोभाग्य है। वे अत्रि मुनि सभी ऋषियों में श्रेष्ठ होते हुए भी श्रीकृष्ण की आज्ञा मानने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। इसलिए उन्होंने पिंडारक जाने में बड़ी जल्दी की। जो श्रीराम के सद्गुरु, ब्रह्मज्ञान के कारण नितांत उदार, जिसकी कफनी की ऐसी महिमा थी कि उसने तेजस्विता में सूर्य को भी पीछे छोड़ दिया। ऐसा वह वसिष्ठ ऋषि भी कृष्ण की सूचना स्वीकार कर तुरन्त द्वारका छोड़ कर पिंडारक जाने के लिए निकल पड़े। उसी प्रकार देवर्षि नारद जिसका ज्ञान भी अगाध था जो सदैव परमानन्द में लीन रहते थे और जिनकी उत्सुकता हरिकीर्तन में ही रहती थी वे भी कन्धे पर वीणा रखकर ब्रह्मपद गाते-गाते ब्रह्मानन्द से नाचते-गाते पिंडारक की ओर चल पड़े। ऐसे सारे मुनिश्रेष्ठ और बड़े-बड़े ऋषि सपरिवार शिष्य समुदाय के साथ पिंडारक में एकत्र हुए। इस प्रकार पिंडारक में शाप देने और अनुग्रह करने में भी समर्थ सभी ऋषि एकत्र हुए और कृष्ण के वैभव का वर्णन करने लगे। कपटी-नाटकी श्रीकृष्ण ने इधर तुरन्त कुलक्षय करने की इच्छा से अपने ही लड़कों का कपट-मेला आयोजित कराकर बड़े-बड़े ऋषियों की हँसी उड़वायी। निंदा, अपमान तथा दिल्लगी करने से ब्राह्मणों का छल होता है और यदि ब्राह्मणों का पूरी तरह द्वेष हुआ तो फिर कुलक्षय हो गया ऐसा निश्चय ही समझिये! ब्राह्मणों के गुस्से के सामने कुल की क्या बिसात है। महादेव का लिंग गल गया और इन्द्र की सारी सम्पत्ति समुद्र में डूब गयी। सारा समुद्र भी खारा कर डाला। ऐसा भयानक कोप था ब्राह्मणों का। ऐसा चरित्र जिन ऋषियों का था वे सब वहाँ एकत्र थे। पृथ्वी पर ब्राह्मण ही ब्रह्म का रूप है और उसका वचन परमप्रमाण है यह सच कर दिखाने के लिए ही श्रीकृष्ण ने कुल का संहार कर दिखलाया।

कीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः।
उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत्॥ १३॥

सभी यादवपुत्र गेंद खेलने लगे। वे गेंद को ऊपर ही ऊपर लोक लेते थे और एक-दूसरे को मारते हुए शरीर को बचाते हुए भागते जाते थे। इस प्रकार विविध प्रकार से मजे लेते हुए वे यादवों के लड़के पिंडारक पहुँचे। उनमें अपनी अमीरी का जबर्दस्त अहंकार भरा हुआ था। वे सभी मदोन्मत्त होकर बड़े उद्धत हो गये थे। उन्होंने अपने मन में विचार किया कि यहाँ भूत भविष्य जानने वाले अनेक महर्षि एकत्र हुए हैं। सुना है कि उनकी बातें बिल्कुल सच सिद्ध होती हैं। लेकिन हम लोग उन्हें अवश्य चकमा दे सकेंगे। क्योंकि जो कभी भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

घटना सम्भव नहीं है, वह इनके वचनों से भी कैसे घटेगा? यह कहकर यादव वंश के लड़कों ने बड़े-बड़े ऋषियों के सामने एक कपट प्रस्तुत किया।

ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम्।
एषा पृच्छति वो विप्रा अंतरर्वन्त्यसितेक्षणा॥ १४॥

पहले से ही लक्ष्मी के मद में लीन, तिस पर कपट की योजना बनायी। उन्होंने जांबवती के पुत्र 'सांब' को स्त्री के वेष में सजाया। वह साँवला और सुन्दर था। उसकी आँखें पानीदार थी। उस पर वह स्त्रीवेष बहुत ही फबने लगा और वह अभिनय पटु होने के कारण स्त्रियोचित लज्जा, नेत्रकटाक्षादि हावभाव आदि का उत्तम ढंग से प्रदर्शन कर सका। उसने आँखों में काजल लगाया था। वह इस प्रकार नेत्रकटाक्ष करने लगा जिससे उस पर नजर टिक नहीं पाती थी। वह स्वाभाविक रूप से ही सुन्दर और नाजुक था। तिस पर वह हंस की गति से धीरे-धीरे चलने लगा। कुछ शैतान बच्चों ने उसके पेट पर कपड़े के टुकड़े बाँध कर पेट को बड़ा कर दिया था, जिससे वह कोई गर्भवती स्त्री मालूम होती थी। सखियों के कन्धे पर हाथ रख कर वह धीमे कदमों से इस प्रकार चल रही थी ताकि पेट न हिलने पाये। इस प्रकार पग-पग पर सुस्ताते हुए चलने वाली उस युवती को ऋषियों ने देखा। स्त्रियोचित मर्यादा का पालन करते हुए वह ऋषियों से थोड़े से अन्तर पर खड़ी हो गयी। उसके साथ के लड़के ऋषियों के पास पहुँच आए उन्होंने उन्हें साष्टांग दण्डवत किया। छल करने के उद्देश्य से आये उन यदुकुमारों ने उन ऋषियों की प्रदक्षिणा की, अत्यन्त आदर के साथ उनका चरणस्पर्श किया और बोले, हम आपके दर्शन के लिए आये हैं। इस प्रकार वे सभी राजकुमार भीतर से अनम्र होते हुए भी ऊपर से विनम्र होने का दंभ भरते हुए हाथ जोड़कर खड़े हो गये और अत्यन्त लीनता से उन ऋषियों से इस प्रकार निवेदन किया, "महाराज! उस तरफ वह जो स्त्री खड़ी है, उसे आपके वचनों पर अत्यधिक विश्वास है। वह गर्भवती है और उसका समय पूरा हो चला है। उस सुन्दरी को आप से स्वयं पूछने में लज्जा का अनुभव हो रहा है।"

प्रष्टु विलज्जती साक्षात् प्रब्रूतामोघदर्शनाः।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किं स्वित्सजनयिष्यति॥ १५॥

उसे स्वयं आपके पास आकर पूछने का साहस नहीं होता, इसलिये उसने हमारे माध्यम से आपसे विनती की है। आप सचमुच ही सत्यदर्शी हैं, आपका वचन कभी भी असत्य नहीं होता। साक्षात हरिहर भी आपकी वन्दना करते हैं। आप सभी प्रकार का ज्ञान प्रदान करने में उदार हैं। इसलिये यह गर्भवती स्त्री आपसे यह सविनय पूछ रही है कि वह किसे जन्म देगी? उसे तो पुत्र की इच्छा है। इस प्रकार वे कपट भक्ति से हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। उन्हें कपट ही प्रिय होने के कारण उन्हें फल भी उनकी भावना के अनुरूप ही मिले। उनका यह झूठा कर्म पहचान कर नारद तो ऋषियों के आगे नाचने लगे। उन्होंने मन ही मन कहा, यादवों की मृत्यु अब अत्यन्त निकट आ गयी है। चूँटी को जब पर निकलने लगते हैं तो उसकी मृत्यु निश्चित हो जाती है। इस प्रकार ब्राह्मणों का छल होने पर कुल का विनाश निश्चित ही है। ब्राह्मण भले ही गाली या शाप दे लेकिन उसे भक्तिपूर्वक प्रणाम करना चाहिए। ब्राह्मण यदि मारने के लिए आये तो उसके सामने मस्तक झुकाना चाहिये। उन ब्राह्मणों का छल करना विषभक्षण करने की तरह है। विष में तो केवल खाने वाले के प्राण चले जाते हैं किन्तु ब्राह्मणों का छल करने से सारे कुल का नाश होता है। विद्वान अथवा अविद्वान का मन में विचार लाये बिना,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्राह्मण पृथ्वी पर ब्रह्म का ही अवतार है ऐसा समझना चाहिए। उसका छल करने से कुलक्षय निश्चित है ऐसा समझना चाहिए।

एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप।
जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुलनाशनम्॥ १६॥

हे राजाधिराज परीक्षित सुनो! इस प्रकार उन यादवों के शरीर में मानों मृत्यु की वायु का संचार ही हो चुका था इसलिए वे उन ऋषियों का छल करने गये। उनका प्रश्न कपटपूर्ण है, यह मालूम होने पर उन्हें अत्यन्त क्रोध हुआ। फिर क्या! उन उद्धत लड़कों पर उन्होंने अनिवार्य वाग्वज्र छोड़ा। उन्होंने कहा, अरे! इसके गर्भ से जो बालक उत्पन्न होगा वह तुम्हारे कुल के लिए कालस्वरूप होगा। आप सभी अभागे हैं। शुद्ध लोहे के मूसल का वह प्रसव करेगी।

तच्छ्रुत्वातेऽतिसंत्रस्ता विमुच्य सहसोदरम्।
साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन् मुसलं कुलनाशनम्॥ १७॥

यह शापवचन सुनकर यादवों के वे लड़के घबरा गये। उन्होंने तत्काल उस सांबा के पेट पर बाँधा हुआ कपड़ा हटा कर देखा। तो वहीं पर लोहे का मूसल निकला हुआ दिखायी दिया। उसे देखते ही सब लोग भयविह्वल हो गये, एकाएक चौंक गये और आश्चर्यचकित हो गये। यादवों के कुल का विनाश करने का जो संकल्प श्रीकृष्ण ने लिया था वही उन ऋषियों के शब्द के साथ तत्काल मूसल बन गया। ब्राह्मण जिन-जिन वचनों का उच्चार करते हैं उन्हें श्रीकृष्ण झूठा नहीं होने देते। ब्राह्मण के मुँह से निकले हुए शब्द को श्रीकृष्ण स्वयं सच करके दिखाते हैं। उन महान ऋषियों का कोप देखकर तथा कुलक्षय का शाप सुनकर उन यदुकुमारों को बड़ा खेद हुआ और वे भय से काँपने लगे।

किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः।
इति विह्वलिता गेहानादायं मुसलं ययुः॥ १८॥

हम भाग्यहीन हैं, हमने व्यर्थ ही कपटपूर्वक उन महान ऋषियों को चिढ़ाया और अपने ही हाथ से अपना घात कर कपट के द्वारा घर में कुलक्षय ले आये। अब नगरवासी हमें क्या कहेंगे? वे कहेंगे इन ब्राह्मणों का छल करने की क्या आवश्यकता थी? इसलिए चिंताक्रांत हो कर, मलान मुख से वे सब उस मूसल को लेकर घर आ गये।

तच्चोपनीय सदसि परिम्लानमुखश्रियः।
राज्ञ आवेदयाञ्चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ॥ १९॥

सभा में वसुदेव, उग्रसेन, बलराम, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न आदि अनेक यादव बैठे थे, केवल श्रीकृष्ण वहाँ नहीं था। ऐसी उस सभा में सांब आदि सभी कुमार आये और लोहे का वह मूसल सामने रखकर मुँह छोटा कर पूरा वृत्तांत सुनाने लगे।

श्रुत्वाऽमोघं ब्रह्मशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप।
विस्मिता भयसंत्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः॥ २०॥

श्लोक २०—ब्राह्मणों का हमारे ऊपर भयंकर कोप हुआ है यह देखकर यादव भी भय से काँपने लगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्राह्मणों का शाप कभी व्यर्थ नहीं जाता यह जानने के कारण भय के मारे उनकी सूझबूझ समाप्त हो गयी। प्रत्यक्ष मूसल देख कर तो उनमें खलबली मच गयी। नागरिकों में तो यही कोलाहल मच गया कि अब यादवों का कुल बचता है या नहीं? राजा परीक्षित! सुनो, भविष्य की गति बड़ी कठिन है क्योंकि वह वृत्तांत उन्होंने श्रीकृष्ण को नहीं जानने दिया। वे अपने ही मत से विचार करने लगे।

तच्चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः स आहुकः।
समुद्रसलिले प्रास्यल्लोहं चास्यावशेषितम्॥ २१॥

यादवों के राजा उग्रसेन ने लोहे के हथौड़े से उस मूसल का चूर्ण बनवाकर उसे समुद्र में फिंकवा दिया। लेकिन उस मूसल का अग्रभाग अत्यन्त दुष्कर था। किसी भी प्रकार से उसका चूर्ण नहीं हो पा रहा था। वह निखालस वज्र की तरह कठिन था। इसलिए उसे उसी तरह समुद्र में दूर फेंक दिया।

कश्चिन्मत्स्योऽग्रसोल्लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः।
उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन्किलैरकाः॥ २२॥

मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनास्यैः सहार्णवे।
तस्योदरगतं लोहं स शल्ये लुब्धकोऽकरोत्॥ २३॥

समुद्र की लहरों के ज्वार से लौह का वह सारा चूर्ण प्रभास तीर्थ के तट पर लगकर बड़ी-बड़ी घास के रूप में प्रस्फुटित हुआ। लोहे का टुकड़ा एक मछली ने निगल लिया। उस मछली को एक मछुआरे ने जाल डाल कर अन्य मछलियों के साथ पकड़ लिया। फिर जब मछुआरे ने उस मछली को चीरा लगाया तो उसके पेट में से लोहे का टुकड़ा निकला। उसे देखकर मछुआरे को बड़ी प्रसन्नता हुई क्योंकि वह लोहा जिसे प्राप्त होता है वह बड़ा भाग्यशाली होता है। कहते हैं कि मछली के पेट से निकले हुए लोहे का निशाना अचूक लगता है और इसीलिए असाध्य शिकार भी सध जाता है। इसलिए मछुआरे ने उस लोहे का बाण बनाया।

भगवानज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा।
कर्तुं नैच्छद्विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत॥ २४॥

लोहे का चूर्ण बनाने की तथा उसे समुद्र में फेंकने की वार्ता बिना किसी के कहे सर्वज्ञ श्रीकृष्ण को मालूम हुई। लेकिन ब्राह्मणों के शाप को झुठलाने का विचार भी उसके मन में नहीं आया। कोई कह सकता है कि यह उसके वश में ही नहीं होगा। ब्राह्मणों का शाप झुठलाना उनसे सम्भव ही नहीं था। तो देखो, जिसने गुरु के मृतपुत्र को जीवित कर दिया वह श्रीकृष्ण कलिकाल का भी नियंता था। कलिकाल के दाँत तोड़ कर जिसने देवकी के गर्भ वापस लाये, वह श्रीकृष्ण वास्तव में ईश्वर का भी ईश्वर है। मन में आयी हुई बात को मूर्त रूप देने का सामर्थ्य मुझ में है यह बात वह जानता था। बिना किसी की नींद भंग किये जिसने पूरी मथुरा को द्वारका में स्थानान्तरित कर दिया वह श्रीकृष्ण क्या नहीं कर सकता? लेकिन उसने भी अपने कुल की ममता का मोह नहीं किया। अपने कुल के क्षय का प्रसंग आया। फिर भी उसने ब्राह्मणों का शब्द झूठा सिद्ध नहीं होने दिया। यद्यपि ब्राह्मण ने लात मारी फिर भी उसने उसे हृदय पर धारण कर लिया। उसे ही श्रीवत्सलांछन कहते हैं। उसे ही सर्वभूषणों में श्रेष्ठ मानकर वह हृदय पर धारण करता था। इसीलिये वह पूर्ण ब्रह्मण्यदेव है। श्रीकृष्ण ब्राह्मणों को अपने मस्तक पर रखकर उनका वंदन करता था। वह ब्राह्मणों के वचन को कभी झूठा नहीं होने देता था।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसलिए, वेदस्तुतिपाठक उसका 'पूर्ण ब्रह्मण्यदेव' के रूप में वर्णन करते हैं। स्वयं श्रीकृष्ण भी ब्राह्मणरूप ही था इसीलिए तो वह ब्राह्मणों का पक्ष लेता था। कुलक्षत्रय हुआ फिर भी ब्राह्मणों पर कुपित नहीं हुआ। ब्राह्मणों का शाप सुनकर वह मोह में नहीं पड़ा, बल्कि उलटे मेरा संकल्प पूरा हुआ यह ठीक ही हुआ ऐसा उसने कहा। इस प्रकार कालरूपी श्रीकृष्ण ने इसमें प्रसन्नता ही मानी। कुलक्षय से क्षिति अथवा दुःख से उसने जरा भी सम्बन्ध नहीं रखा। इसके विपरीत उसे परम संतोष प्राप्त हुआ। उसकी ज्ञानमय कथा अगले अध्याय में है। वह अत्यन्त रसाल एवं आनन्ददायक है इसलिए श्रोताओं को मेरे निरूपण पर ध्यान देना चाहिए। उसमें नारद और वसुदेव में बहुत ही मधुर संवाद होगा। जनक और ऋषभदेव के प्रश्नोत्तर सुनकर जीव आनन्द सागर में तैरता रहेगा। यह रसाल ब्रह्मज्ञान की कथा है, शुद्ध परमार्थ है। उसके प्रति मैं आपके मन में रुचि जगाऊँगा। इसके लिए एकनाथ गुरु जनार्दन की तथा अर्थ की ओर ध्यान देने के लिए श्रोताओं की प्रार्थना कर रहा है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशे स्कंधे परमहंससंहितायां
एकाकारटीकायां विप्रशापः प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्वितीय अध्याय

हे देवाधिदेव! तुम्हारी जय हो। तुम स्वसामर्थ्य से ब्रह्मभाव का भोग करते हो। जब तुम कृपा से अवलोकन करते हो, तब विश्व में विश्वात्मा की व्याप्ति का अनुभव होता है। इस विश्व में जो विश्ववासी है, उस पर विश्वास रखने के लिए तुम कहते हो और वैसा से तुम प्रसन्न होते हो और प्रसन्न होने पर अपने निजपद में स्थान देते हो। उन चरणों की कृपा से 'अहं' 'सोहं' के बन्धन टूट जाते हैं और मैं तुम्हारे उदर में प्रवेश कर जाता हूँ। तुम मेरी माता हो इस दृष्टि से जब तुम्हारी ओर देखता हूँ तो पाता हूँ कि पिता भी तुम ही हो। इससे अधिक आश्चर्य की बात और क्या बताऊँ? इस लोक में तो माता और पिता अलग-अलग रहते हैं लेकिन वे दोनों जनार्दन में ऐक्यरूप में विद्यमान हैं और मैं उनका नन्हा-सा बालक बन गया हूँ। इसलिए इन दोनों का स्नेह एकत्र कर इस बालक को पालते हो और प्रतिदिन आत्मबोध का नया वैभव दिखला रहे हो। शिव, शक्ति, गणेश तथा उसी प्रकार विश्व, विष्णु, सूर्य आदि अनेक अलंकार अपनी ही प्रसन्नता के लिए मुझे पहनाते हो। इस प्रकार तुम मुझे, अपने शिशु को आभूषण पहनाते हो और कृपादृष्टि से वह वैभव तुम ही देखते हो। बालक के शरीर पर अलंकार पहनाने से, उसकी शोभा और सुख बालक को कैसे मालूम होगा? वह वैभव तो माँ ही भोगती है। इस प्रकार मुझसे ग्रन्थ कहलवा कर उसका सुख जनार्दन ही लें। अपने चिद्रत्नों की माला मेरे गले में तुम ही पहनाते हो और सुरक्षा के लिए एकात्म होकर मेरे पीछे दौड़ते हो। जिसका पिता सम्पन्न होता है, उसे सभी लोग सम्मान देते हैं। उसी प्रकार जनार्दन ने इस एका को अपना कहा, इसलिए अमान्य होते हुए भी वह अधिक मान्यता के लिए पात्र हुआ है। बालक स्वयं बोल नहीं सकता इसलिए उसकी माँ उसे बोलना सिखलाती है। उसी प्रकार इस ग्रन्थ की कथा गुरु जनार्दन मुझसे कहलवा रहे हैं। उन्होंने यहाँ कितना बड़ा चमत्कार कर दिखाया कि श्रीभागवत के एकादश स्कन्ध का अर्थ और वह भी मराठी भाषा में मुझ जैसे मूर्ख से कहलवाया। खैर! पहला अध्याय श्रवण कर राजा परीक्षित मौन बैठे रह गये। आगे की कथा सुनने की उन्हें इच्छा नहीं दिखाई दी। क्योंकि, यदि मैंने अब प्रश्न किया तो शुक्राचार्य कृष्ण निधन की कथा सुनाएंगे। इसलिए वह राजा शान्त बैठ गया। उसके मन का यह अभिप्राय जानकर शुक्राचार्य बोले, "हे परीक्षित! इस अध्याय को मोक्ष का प्रस्ताव समझ लो। यह पूरा अठारहवाँ स्कन्ध ही बड़ा अलौकिक है। इसमें एक से एक बढ़कर श्लोक हैं तथा आत्मसाधन करने वाले के लिए पग-पग पर मुक्तिसुख प्राप्त होता है।" इतना सुनते ही राजा सावधान हो गया। क्योंकि उसे मुक्तिसुख की अत्यधिक चाह थी। उसने सर्वांगों को कर्ण बनाया। यह देखकर शुक्राचार्य के चित्त को अतीव आनन्द हुआ और उन्होंने कहा, "तुम तो अवधान की मूर्त्ति ही बन गये हो, तो अब अंतःकरण को शान्तकर गुह्यज्ञान सुनो।" दूसरे अध्याय में नारद और वसुदेव के बीच के संवाद का निरूपण है। इसमें मुख्य रूप से भागवतधर्म का लक्षण प्रश्नोत्तर के रूप में बताया गया है।

श्रीशुक उवाच

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः॥ १॥

जो मुक्त लोगों में अग्रणी है, ब्रह्मचारियों में शिरोमणि है, जिसे योगीजन भी वन्दनीय मानते हैं, जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भक्तमण्डल में अत्यन्त श्रेष्ठ है, जो ब्रह्मरस का सागर तथा आत्मबोध का पूर्णचन्द्र है, वह शुक योगीन्द्र बोलने लगा और कुरुवंश का राजाधिराज सुनने लगा। शुक्राचार्य ने कहा, जो व्यासजी के साक्षात गुरु तथा मेरे परमगुरु महामुनीश्वर नारद हैं उनका श्रीकृष्ण भजन से अत्यन्त प्रेम था। श्रीकृष्ण ने स्वयं ही सारे मुनिजनों को द्वारका से पिंडारक भेजा था, लेकिन नारदजी वहाँ से बार-बार द्वारका आते थे क्योंकि द्वारका में कालपुरुष का प्रवेश नहीं होता था। इसलिये वहाँ श्रीकृष्ण अपने स्वसामर्थ्य से विचरण कर रहे थे। नारदजी को दक्ष का शाप था कि वे क्षणभर के लिए भी एक स्थान पर नहीं रह सकेंगे, लेकिन यह शाप हरिकीर्तन में लागू नहीं होता था इसलिए वे निरन्तर कीर्तन में ही लीन रहते थे। कीर्तन गाने में जिसकी ख्याति थी वे लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण स्वयं द्वारका में निवास करते थे इसलिए वहाँ भी इस शाप की बाधा नहीं उपस्थित होती थी इसीलिए नारदजी निरन्तर वहीं निवास करते थे। नारद को पूर्ण ब्रह्मज्ञान था तो फिर उसे सगुण श्रीकृष्ण मूर्ति क्यों अच्छी लगती थी? क्योंकि यद्यपि श्रीकृष्ण देहधारी थे फिर भी उनका देह केवल चैतन्यमय था इसलिए श्रीकृष्ण का भजन नारदजी को अत्यन्त प्रिय था। इस प्रकार जब श्रीकृष्ण का भजन मुक्तों को भी भला लगता है तो ऐसा भाग्यहीन कौन है जो उसे नहीं भजता? शुक्राचार्यजी इसी का निरूपण करते हैं।

को नु राजन्निन्द्रियवान्मुकुन्दचरणाम्बुजम्।
न भजेत्सर्वतोमृत्युरूपास्यममरोत्तमैः॥ २॥

हे राजश्रेष्ठ! यह उत्तम नरदेह पाकर भी जो श्रीकृष्ण को नहीं भजता, उसे माया रूपी घोर दु:ख ग्रस लेता है, यह जान लो। जिस भगवान के लिए उसके पैरों से निकले उदक को मस्तक पर धारण कर सदाशिव महाश्मशान में आत्मध्यान में बैठा हुआ है, जिनसे साक्षात ब्रह्माजी पैदा हुए हैं वहाँ दूसरों की क्या बात की जाय? नरदेह पाकर भी जो नारायण को नहीं भजता उसे पूर्ण रूप से मृत्यु से ग्रसित समझना चाहिए। परमात्मा श्रीकृष्ण को छोड़कर जो लोग अन्य प्रकार के साधनों के फेर में पड़ते हैं उनको संसार बन्धन से कभी मुक्ति नहीं मिल सकती। श्रीकृष्ण चरणों को छोड़कर कुछ लोग इन्द्रादि देवों का भजन करते हैं, लेकिन जब वे देवता ही मृत्युग्रस्त हैं तो वे भजने वालों की मृत्यु को कैसे टाल सकते हैं? सभी इन्द्रिय सुरक्षित होते हुए भी जो श्रीकृष्ण चरणों का भजन नहीं करता, वह कहीं भी जाए लेकिन मृत्यु उसका साथ नहीं छोड़ती। वह हर क्षण उसका विनाश करती है। महामुनि नारद, मुक्त होते हुए भी निरन्तर उनके भजन में तल्लीन रहते हैं। वह हमेशा द्वारका में ही रहते थे। उनकी श्रीकृष्ण पर अत्यन्त प्रीति थी।

तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम्।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत्॥ ३॥

अहा! नारदजी धन्य हैं। उन्हें सर्वत्र श्रीकृष्ण ही दिखाई देते थे। उन्हें सदा हरिनाम का ही व्यसन था और वे परमानन्द में ही निमग्न रहा करते थे। जो श्रीकृष्ण का चहेता था और जिसे श्रीकृष्ण सभी दृष्टियों से चाहते थे, जिसके संग से जड़ जीवों को भी मुक्ति प्राप्त होती है, उसे देखते ही वसुदेव को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्हें साष्टांग दण्डवत कर उन्हें बैठने के लिए उच्चासन दिया। साक्षात परब्रह्म ही घर में आये हैं, इस प्रकार श्रद्धाबुद्धि से उनकी पूजा प्रारम्भ की। नारद साक्षात नारायण ही हैं इस दृढ़ विश्वास से उन्होंने उनकी पूजा की। सुवर्णपात्र में उनके पैर धोकर मधुपर्क विधि से उनकी पूजा की। इस प्रकार प्रेमपूर्वक पूजा कर—वसुदेव अपने आसन पर बैठ गये और प्रसन्न अंत:करण से बोलने लगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वसुदेव उवाच

भगवन्भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम्।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम्॥ ४॥

आज आपने स्वयमेव आने की कृपा की इससे मैं अत्यन्त भाग्यवान हो गया हूँ। आप की निकटता से हम कृतकृत्य हो गये हैं। माँ जब नहीं दिखायी देती तो बच्चा लोगों के बीच असहाय हो उठता है, लेकिन माँ के आते ही उसके मन में आनन्द समा नहीं पाता। उसकी भी अपेक्षा आपका आगमन अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि उससे प्राणिमात्र को नित्य ही सुख प्राप्त होता है। दीनों का उद्धार करने के लिए आप सहज ही पृथ्वी पर संचार करते हैं। माँ को आये देख बालक को नित्य नया वैभव प्राप्त होता है लेकिन आपका आगमन समस्त दीनजनों को सहज ही आत्मसुख का वैभव प्राप्त कराता है। माँ जो सुख प्रदान करती है वह नश्वर रहता है और आपके आगमन से जो सुख प्राप्त होता है वह शाश्वत होता है। परा से परे चिन्मात्र चित्सुख भोगने का अवसर प्राप्त होता है। आप भागवत धर्म पर चलने वाले हैं। हम लोग जब प्रयाग संगम पर निष्काम बुद्धि से कोटियज्ञ करते हैं, तभी हमारी आप से भेंट होती है। नारदजी! आप भगवद्स्वरूप हैं। आपकी भेंट मात्र से मनुष्य—निष्पाप हो जाता है। तुम्हारी थोड़ी भी कृपा हो जाए तो तुम्हारा चित्स्वरूप अंत:करण में अंकित हो जाता है। तुम्हारे ही कारण भक्ति को अलौकिक महिमा प्राप्त होती है। तुम्हारे ही कारण भक्ति के सामर्थ्य का प्रसार हुआ। तुम्हारे ही कारण भक्ति भगवत्स्वरूप बनी। तुम अपनी आत्मनिष्ठा के कारण चित्स्वरूप बन गये हो। आप ही भक्ति की प्रकाशक मशाल हैं, भक्ति मार्ग के पथप्रदर्शक हैं। नारदजी! आपके अनेक उपकार हैं। आपने भक्ति की हाट ही सजा दी है। तुमने ही श्रेष्ठ और परिपूर्ण भागवत शास्त्र का व्यासजी को उपदेश कर दीन जनों का उद्धार करने के लिए दस लक्षण प्रकट किये। नारदजी! आप ईश्वर समान हैं। लेकिन यह उपमा भी कम है। इस अभिप्राय से वसुदेव बोले।

भूतानां देवचरितं दु:खाय च सुखाय च।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्॥ ५॥

देवताओं से प्राणियों को सुख और दु:ख प्राप्त होते हैं और उनका भोग भोगना पड़ता है। अधिक या कम वृष्टि होने से प्राणियों में घबराहट उत्पन्न होती है। इसलिए मुझे सचमुच ही ऐसा लगता है कि उन देवताओं की अपेक्षा साधु ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि देवताओं की करनी से दु:ख मिश्रित सुख उत्पन्न होता है लेकिन साधु निर्दोष सुख के दाता हैं। अर्थात् दु:खक्लेशरहित सुख प्रदान करते हैं। तिस पर तुम्हारे जैसा कृपालु आत्मसखा मिलने पर क्या पूछना। परमार्थ सुख की मानों बहार ही आ जाती है। यह महिमा इन लोगों की समझ में नहीं आती और विशेष बात यह है कि एक बार यह सुख प्राप्त होने पर वह कल्पांत में भी समाप्त नहीं होता। नारदजी! यह अच्युतात्मस्थिति निश्चित रूप से आपके ही पास है। तुम्हारी महिमा की बराबरी भगवान से भी नहीं हो सकती। वह कैसे? तो नारदजी! उसे मैं यथार्थ ढंग से बताता हूँ। देवता का अवतार होने पर उसके दास को सुख प्राप्त होता है और दैत्य भयाक्रांत हो उठते हैं लेकिन यह भेदभाव आपमें नहीं है। आप देवताओं के भी अपने हैं और दैत्यों को भी आप पर विश्वास है। रावण तुम्हें एकान्त में अपने मन की गुह्य बातें सुना रहा था। रावण ने देवताओं को कारागृह में डाल रखा था लेकिन वही तुम्हारे चरणों का वन्दन कर रहा था। अन्त में तुम सचमुच ही राम के भी मित्र थे। सारांश यह कि तुम्हारे में विषमभाव नहीं है। जरासंध कृष्ण का बैरी था, लेकिन उसके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

घर भी आपका आना-जाना था और कृष्ण की सभा में तो उसके सम्बन्धी आप ही थे। देवताओं का नाम कोई न ले इसका बीड़ा हिरण्यकश्यपु ने उठाया था, लेकिन उसे आपका कीर्तन बहुत अच्छा लगता था। इससे ज्ञात होता है कि आपमें भेदभाव नहीं है। देवताओं के मन में लालच है लेकिन आप साधुओं में वह नहीं है। वह कैसे इसे भी यथार्थ ढंग से बताता हूँ।

भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः॥ ६॥

वे जैसे यज्ञों से देवताओं को संतुष्ट करते हैं, वैसे ही फल देवता उन्हें देते हैं और जो उन्हें नहीं भजते उन पर विपदाएँ लाते हैं ऐसी देवताओं की चाल है। पुरुष जिस प्रकार घूमता है उसी प्रकार उसकी छाया भी घूमती है। उसी प्रकार देवताओं का भजन करने से वे बहुत प्रसन्न होते हैं, नहीं तो उलटे उनके मार्ग में विघ्न लाते हैं। प्रातःकाल सूर्य जिस प्रकार ऊपर चढ़ता जाता है वैसे-वैसे छाया भी निकट आने लगती है। उसी प्रकार हमारे कर्म के अनुसार भगवान भी निकट आने लगते हैं, अर्थात् प्रसन्न होते हैं। सूर्यास्त होते ही छाया विलुप्त हो जाती है, उसी प्रकार भजन न करने से देवता क्षुब्ध हो जाते हैं। उसी प्रकार देवता स्वार्थी हैं यह आप भी जानते हैं। अन्य देवताओं की बात क्या करें? लेकिन जो सबसे बड़ा देवता है वह भी पक्का घूसखोर है, वह भी प्राण लिये बिना भेंट नहीं करता और गर्भवास हमें सहना पड़ता है। उसका प्रेमपूर्वक भजन करने से वह अपना निजांग देकर भी प्रसन्न होता है लेकिन जो उसे नहीं भजता उसके घर भूल कर भी नहीं जाता। लेकिन संतों की बुद्धि वैसी नहीं है। आप तो सचमुच ही दीनों पर दया करने वाले हैं। कृपा की निधि हैं। वह कैसे यह बताता हूँ। आपने व्यासजी को सज्ञान जानकर ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया लेकिन ध्रुव को अज्ञान बालक जानकर उसकी उपेक्षा नहीं की। आपने जब प्रह्लाद को उपदेश दिया उस समय वह दैत्य का पुत्र है यह विचार भी आपके मन में नहीं आया। आपकी कृपा की लहर यही दीन जनों का विश्रामस्थल है। वाल्या धीवर राह में लूटपाट करता था, न भजन जानता था न पूजन करता था उसे आपने रामनाम का उपदेश देकर महाकवि वाल्मीकि बनाया। उसका वन्दन देवता भी करते हैं। उसके ग्रन्थ को देखकर सदाशिव भी आनन्द से विभोर हो उठते हैं। ऐसे आप कृपालु और अनाथ के लिए आश्रयस्थल हैं। तुम बाह्य रूप से कुपित होते हो, लेकिन फिर उसका पाप दूर करते हो और अंततः, हे दयालु! एकत्व का दीप जला कर सद्रूप दिखलाते हो। आप सचमुच ही अच्युतात्मा हैं, इसलिए भगवान भी आपकी आज्ञा का पालन करते हैं। आप उससे जिसका उद्धार करने के लिए कहते हैं, उसी का वे उद्धार करते हैं। अन्यथा उसका हाथ भी नहीं पकड़ते। इस प्रकार आप दीनों को परमार्थ की दीक्षा देने वाले गुरु हैं और ब्रह्मज्ञान से अत्यन्त उदार हैं। इसलिए अब जो बात मैं पूछूँगा उसे ठीक तरह से बताइये।

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान् भागवतांस्तव।
यान्श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते विश्वतो भयात्॥ ७॥

उसने पुनः आदरपूर्वक कहा, "हे देवर्षि! आज मेरे सारे कर्म फलीभूत हुए। क्योंकि आत्मसुख देने वाले आप हमारे घर आये। पहले आपने जिस प्रकार शिष्यों पर कृपा की थी उसी प्रकार मुझ पर भी कृपा कर मुझे संसार पाश से छुड़वाइये। आप पर मेरा पूर्ण विश्वास है। आपने अपने दर्शन से मुझे सचमुच ही कृतकृत्य कर दिया। तो अब वैसी ही कृपा से मुझे यथार्थ ढंग से भागवत कथा का निरूपण करें। भागवतधर्म इस प्रकार बताएँ जिससे समस्त कर्मों का विलय हो जाए और उसका श्रद्धापूर्वक श्रवण करने से जन्ममरण से मुक्ति प्राप्त हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जाए। संसार का भय अत्यन्त विदारक है और उसका मूल कारण माया है। वह माया जिस धर्म से समूल नष्ट हो जा, ऐसे धर्म के बारे में मुझे कृपापूर्वक बताइए। यदि आप यह कहें कि उसे सुनने का मुझे अधिकार नहीं है तो उसके सम्बन्ध में मैं बताता हूँ उसे सुनें।''

अहं किल पुराऽनन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम्।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया॥ ८॥

मुझे पूर्ण अधिकार नहीं है यह मैं स्वयं भी जानता हूँ। लेकिन मैंने भगवद्भजन किया हुआ है, उसे तुम श्रवण करो। मैंने भी पूर्व में देवाधिदेवों की आराधना की थी लेकिन ममता के कारण वह भजन व्यर्थ गया। पुत्रलोभ के कारण मैं देवताओं की माया में फँस गया था। देवता ने संतुष्ट होकर मुझसे कहा कि जो माँगोगे वही तुम्हें दूँगा। उस समय माया ने मुझे धोखे में डाल दिया। इसलिए मैंने माँगा, 'मुझे पुत्र हो।' वही यह मेरा पुत्र श्रीकृष्ण है। लेकिन वह मुझे ब्रह्मज्ञान नहीं बताता। वह मेरे चरणों पर मस्तक रखता है और कहता है, मैं तुम्हारा बालक हूँ। इस कारण से हमें श्रीकृष्ण से ज्ञानप्राप्ति नहीं होती। हृषीकेशी श्रीकृष्ण सचमुच परमात्मा है यह मैं जानता हूँ। मैंने उसे जन्म दिया इसीलिए मुझे श्रद्धा है और इसीलिए तुम भी संतुष्ट हुए हो। तो अब उसी प्रकार अपनी कृपा से मेरा उद्धार करो। जिस माया के भुलावे में हम फँसे हुए हैं, वह समूल किस प्रकार नष्ट होगी, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान हमें दीजिये। इससे अधिक कुछ कहने से क्या लाभ है?

यथा विचित्रव्यसनाद्धवद्भिर्विश्वतोभयात्।
मुच्येमह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत॥ ९॥

मायारूपी जल से यह संसार-सागर बिलकुल लबालब भरा हुआ है। उसे पार करना अत्यन्त कठिन हो गया है। तो हे मुनिवर! उसे पार करने के लिए आप नौका बनें। इस सागर का जल बिलकुल खारा है और प्रचण्ड जलचरों की भरमार हो गयी है। वे इतने उन्मत्त हो गये हैं कि उन्होंने अपने सामर्थ्य से सारे चराचर को निगल लिया है। अविवेक रूपी तट पर मोह की दुर्धर लहरें चल रही हैं और धैर्य के तट को उध्वस्त कर रही हैं। अहंकार का तूफान 'रों रों रों रों' की आवाज करता रहता है जिससे सम्पूर्ण सागर क्षुब्ध हो उठता है और बड़े कर्कश स्वर में 'मैं और मेरा' यह गर्जना करता रहता है। उसी प्रकार अनेक प्रकार की वासनाओं के भँवर देखो कैसे घूम रहे हैं। इसलिए देवताओं को भी इस सागर को पार करने का साहस नहीं होता। ईर्ष्या की खाड़ियों में क्रोध का ज्वार भरता रहता है और ईर्ष्या तिरस्कार के काँटे राह में बिखेर देती है। कामरूप पर्वतों के असंख्य ऊँचे-नीचे शिखर दिखायी देते हैं और उन पर वासनाओं के बड़े-बड़े वृक्ष विषयांकुर से बढ़ते रहते हैं। इस समुद्र में संकल्प-विकल्प रूपी मछलियाँ तथा निंदारूपी भयानक मगरमच्छ हैं और ब्रह्मद्वेष रूपी मगर मत्त होकर समुद्र में विचरण करते रहते हैं। संसारसागर इतना प्रचण्ड है, फिर भी उसको सोखने वाले तुम अगस्ति हो। इसलिए तुम्हारी सहायता से इस समुद्र को पार करने का हमें पूर्ण विश्वास है। इसकी लहरों का भय सारे ब्रह्माण्ड को है लकिन तुम्हारी कृपा से वे हमें बाधक नहीं होंगी। तो हे नारददेव! हे दयानिधान! आप इस जन्म-मरण रूपी संसार सागर से मेरा उद्धार करें। यह संसार समुद्र केवल पैर से चलकर उस पार जा सकूँ ऐसा भागवत धर्म का विचार मुझे बताइये। वसुदेव का यह भाषण सुनकर नारद के मन को परम संतोष हुआ। उसकी उसी आनन्दमय स्थिति का वर्णन शुक्राचार्य अपने मुँह से राजा परीक्षित को सुनाते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीशुक उवाच

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः॥ १०॥

वसुदेव के इस प्रश्न का उत्तर देते समय शुक्राचार्यजी आनन्दमग्न हो गये। चैतन्यरूपी मेघरूपी नारद मुमुक्षु लोगों पर चित्सुख की वर्षा करने लगे। श्रीशुक्राचार्य ने कहा, ''हे राजा यह अपनी रुचि का प्रश्न सुनकर मन से मन मिल जाने के कारण नारद ने कहा, ''हे वसुदेव! तुम्हारी वाणी धन्य है। तुम्हारा यह प्रश्न सुनकर चिदानंद स्वरूप से नारायण प्रकट हुए हैं।'' यह कहते समय नारद आत्मानंद से अभिभूत हो उठा। उसके शरीर पर रोमांच हो आये, शरीर पसीने-पसीने हो गया, आँखों से आनंदाश्रु बहने लगे और वे स्वानंद के रंग में डोलने लगे। भक्त श्रोता मिलने पर जिस वक्ता को पूर्ण आनन्द नहीं प्राप्त होता, उसे कथासारामृत का स्वाद ही मालूम नहीं है, वह बिलकुल शुष्क है। वसुदेव का प्रश्न सुनकर नारद को अत्यन्त आनन्द हुआ और फिर उस आनन्दयुक्त वाणी से गर्जना करते हुए वसुदेव से क्या कहा, सुनो।

नारद उवाच

सम्यगेतद् व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ।
यत् पृच्छसे भागवतान्धर्मांस्त्वं विश्वभावनान्॥ ११॥

नारद ने कहा, हे यादवश्रेष्ठ! हे परमार्थनिष्ठ वसुदेव! तुम्हारी उत्कंठा सचमुच ही धन्य है। भागवतधर्म पर तुम्हारी बहुत अधिक भक्ति है इसमें सन्देह नहीं है। हे श्रीकृष्ण जनक! जिस धर्म के प्रश्नोत्तर से इस सारे विश्व का उद्धार होगा, उसी धर्म के बारे में तुमने पूछा यह बहुत अच्छा हुआ। तुम्हारे प्रश्नोत्तर से साधकों का उद्धार होगा इसमें आश्चर्य कैसा? इसके योग से महापापी भी पावन हो जाएंगे।

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वाडनुमोदितः।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि॥ १२॥

भागवत धर्म का गुण ही ऐसा है कि उसके श्रवण से ही कितनों का उद्धार होता है, कुछ उसके पठन से तर जाते हैं। कुछ उसके चिन्तन से, संसार पाश से मुक्त हो जाते हैं। कुछ श्रोता को और वक्ता को देखकर मन में आनन्द का अनुभव करते हैं, सद्भाव से उनकी प्रशंसा करते हैं वे इस भागवत धर्म से तर जाते हैं। इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि जो देवताओं का द्रोही है या दुरात्मा है अथवा सारे विश्व का द्रोह करने वाला दुष्ट चाण्डाल होता है, वह भी इस भागवत धर्म से तर जाता है, ऐसी इसकी महिमा है। यदि भागवत धर्म हृदय में धारण किया जाय तो वह अकर्मी के कर्मों का विनाश करता है और अधर्मी के अधर्मों को रसातल तक ले जाकर उन्हें उत्तम से उत्तम पद पर आरूढ़ कराता है। भागवतधर्म जहाँ पहुँचता है वहाँ वह कर्माकर्म का विलय कर निंदा, द्वेष, क्रोध, अविद्या आदि का नाम भी शेष नहीं रहने देता। अब उस भागवत धर्म के सम्बन्ध में ही तुमने अत्यन्त आदर से और भक्ति से गूढ़ प्रश्न किया है। इसलिए हे वसुदेव, तुम अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त उदार भाग्य के हो। तुम्हारी पवित्रता का कितना वर्णन किया जाय? जिसके सुनाम से हम पावन और जगतवंध्य हुए, वह श्रीकृष्ण तुम्हारा पुत्र है। वह श्रीकृष्ण तुम्हारे घर में नित्य रहता है। इसलिए तुम्हारे जैसा भाग्यवान तो मुझे इस संसार में कोई और नहीं दिखाई देता। हे वसुदेव! तुम्हारे ही नाम से इस अनन्त को 'वासुदेव' कहते हैं। उस वासुदेव का नामस्मरण करने से प्राणी अति पावन हो जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

त्वया परमकल्याणपुण्यश्रवणकीर्तनः।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम॥ १३॥

जिसके गुणानुवाद से पुण्य की वृद्धि होती है और जिसके नामस्मरण से संसार का बन्धन कटता है उस नारायण का आज तुमने स्मरण कराया, इसलिए तुम्हारी इस वाणी का कल्याण हो। आज तुम्हारा यह प्रश्न सुनकर हृदय में मानों नारायण ही पूर्णरूप से प्रकट हो गया है। तुमने मुझ पर बहुत बड़ा उपकार किया है। इसलिए हे वसुदेव, तुम्हारा पूर्ण कल्याण हो। नारद का यह भाषण सुनकर शायद किसी के मन में यह विचार आये कि नारद को पहले नारायण का विस्मरण हुआ था और अब वसुदेव के प्रश्न से उसे स्मरण हुआ है। लेकिन जो इस प्रकार विकल्प का तर्क करेंगे उसे आत्मघाती समझना चाहिए। उस विषय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शुकदेव बता रहे हैं उसे सुनिए। अग्निकुण्ड में अग्नि स्वयंभू रहती है, उसमें घी डालने से वह और अधिक भड़क उठती है। उसी प्रकार प्रेमपूर्ण प्रश्न होने पर मुक्तजन के सुख का और भी अधिक विकास होता है। श्रोता जब भक्तिभाव में तल्लीन हो जाता है उस समय मुक्त भी अधिक उल्लास से कथा सुनाता है। उस सुख का आस्वाद वही ले सकता है जो जानकार है। इसलिए मुक्त, मुमुक्षु और विषयीजन भी भागवत धर्म से पूर्ण शान्ति प्राप्त करते हैं। वही प्रश्न वसुदेव ने किया इसलिए नारद को भी परमानंद हुआ और पूर्वपरम्परागत, प्राचीन भागवत धर्म को सप्रमाण बताने के लिए नारदमुनि ने पूर्व इतिहास बताना शुरु किया।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः॥ १४॥

उपर्युक्त आशय का ही प्रश्न जनकराजा का था, और उसका उत्तर नौ आर्षभों ने दिया था। नारद ने कहा, उस भागवत धर्म का सम्पूर्ण प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो। किन्तु तुम पूछोगे कि प्रथम आर्षभ कौन था, इसलिए उनके वंश के बारे में तुम्हें बताता हूँ। उनका जन्म उत्तम कुल में हुआ था और वे सभी अचेत ब्रह्मनिष्ठ थे।

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः॥ १५॥

स्वयंभू मनु का पुत्र था। उसका नाम था 'प्रियव्रत'। उसका पुत्र 'आग्नीध्र' नाम से ख्यातिप्राप्त था। सूर्यवंशीय उसके पुत्र का नाम 'नाभी' था। उस नाभी को ज्ञान का वैभव 'ऋषभ' नामक पुत्र हुआ। यह वासुदेव का अंशांशावतार था और उसने संसार में मोक्षधर्म का प्रकाश किया।

तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद्वेदपारगम्॥ १६॥

ऋषभ वासुदेव का अंश था। संसार में मोक्षधर्म पर लोगों की श्रद्धा बढ़े इसीलिए भगवान का यह 'अंशांश' अवतार हुआ था। पंचमस्कन्ध में उसका चरित्र सविस्तार बताया गया है। उसे वेदशास्त्र सम्पन्न सौ पुत्र थे। उनमें भी जो सबसे बड़ा पुत्र था वह अत्यन्त पवित्र था। उसका लोकविलक्षण चरित्र बताता हूँ, सुनो।

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतम्॥ १७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस बड़े पुत्र का नाम था 'भरत' और वह नारायण का परम भक्त था। अभी भी 'भरतखण्ड' को 'भरतवर्ष' इस नाम से जाना जाता है वह भी इसी के नाम से प्रसिद्ध है। वह मन से, वाचा से और कर्म से नारायण को ही भजता था, राजकर्ता होने पर भी आत्मज्ञानी था। जिस प्रकार राह चलते समय गलत-सही पग पड़ने पर और पैर में चोट लगने पर भी उसे भूमि का ही आधार रहता है, उसी प्रकार 'भरत' राज्य का प्रशासन करते समय यथोचित कर्मों का पालन करते हुए भी वह कभी आत्मनिष्ठा से च्युत नहीं हुआ। इसी स्थिति को 'अखण्ड स्थिति' कहते हैं जो कल्पांत में भी नहीं बदलती और जिसमें मनुष्य अत्यन्त सुखी होता है। उसे पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता। इस प्रकार भरत सदाचरण करते हुए नारायण परायण था। यह बात मैं तुम्हें विस्तार से बताता हूँ, सुनो। नरों के बड़े समुदाय को 'नार' कहते हैं। उस 'नारा' अथवा प्राणिसमुदाय की आत्मा 'अयन' अर्थात् अधिष्ठान होने के कारण उसे 'नारायण' कहते हैं। उसके प्रति भरत परायण अर्थात् अनन्य भाव से शरण हुआ और अपना अहंभाव भूलकर तद्रूप हो कर रहा। ऐसा वह ऋषभ का पुत्र, जिसका नाम 'भरत' था, जिसकी पवित्र कीर्त्ति सारे संसार में फैली हुई है। वह भरत इस भूमि, में हुआ इसलिए इस देश को 'भारतवर्ष' कहते हैं। समस्त वैदिक कर्मों का संकल्प प्रारम्भ करते समय उसके नाम का उच्चार करना पड़ता है। लेकिन इस प्रकार बिल्कुल आत्मस्वरूप होने पर भी उसे विषयसंग योग्य नहीं है, यह जानने के लिए मैं उसका चरित्र सबको सुना रहा हूँ, उसे कृपया सुनें। केवल नाम से ही वह इतना प्रसिद्ध हुआ, इसीलिए उसे 'भरतखण्ड' इस नाम से पुकारते हैं। लेकिन इससे भी अधिक उसका प्रताप प्रचण्ड अर्थात् विचित्र है, उसे सुनें।

स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम्।
उदासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः॥ १८॥

उसने समस्त दिशाओं में विजय प्राप्त कर समुद्रवलयांकित पृथ्वी पर शासन किया। बड़े-बड़े देवता भी जिन भोगविलासों को नहीं भोग सके थे, ऐसे विविध सुखों का उसने उपभोग किया। उसे स्त्रियाँ तथा पुत्र अनुकूल थे और पवित्र मंत्री भी अनुकूल थे। उसी प्रकार समस्त राष्ट्र अनुकूल होते हुए भी उसने उन विविध प्रकार के दिव्य भोगों का त्याग किया। इस प्रकार के सभी भोगों का उपभोग करने के बाद, वह अपना समुद्रवलयांकित राजपाट छोड़ कर स्वहित को ध्यान में रखते हुए हरिभजन के लिए निकल पड़ा। जो राज-वैभव का उपभोग करते हैं उन्हें विरक्ति तो कभी होती नहीं है, किन्तु भरत ने बड़े आश्चर्यजनक बात यह की कि वह सभी भोगों का त्याग कर लक्ष्मीपति की सेवा करने लगा। सच तो यह है कि उसे उसी जन्म में मोक्ष प्राप्त हो जाता किन्तु उसे दूसरा जन्म लेना पड़ा। उसका भी कारण बताता हूँ। एक हिरनी जिसका प्रसूतिकाल निकट आ गया था, नदी में खड़ी पानी पी रही थी। इतने में उसे व्याघ्र की गर्जना सुनाई पड़ी। वह एकाएक भय से उछल पड़ी। लेकिन उछलते समय उसके पेट का गर्भ पानी में गिर पड़ा। उस समय भरत वहाँ स्नान कर रहा था। उसने उसे देखा और स्वभावत: मन से कोमल होने के कारण उसने उसे तुरन्त बाहर निकाला। वह हिरनी वापस नहीं लौटी। माताहीन शिशु दीन दिखायी देने लगा। इसलिए भूतदया से प्रेरित होकर भरत उस शिशु का पालन करने लगा। धीरे-धीरे उस मृग के प्रति उसकी ममता बहुत बढ़ गयी। इतनी अधिक कि स्नान, संध्या, अनुष्ठान आदि करते समय भी उसे हिरनी के उस बच्चे का स्मरण होने लगा। जप अथवा ध्यान प्रारम्भ करते ही भरत की आँखों के सामने उस हिरनी के बच्चे के सिवाए और कुछ भी नहीं दिखायी देता था। बैठने पर, खाना खाते समय, सोते समय, हर पल उसे उस मृग का ही ध्यान हो आता था। हिरनी का वह बच्चा आँखों से ओझल होते

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही वह ध्यान छोड़कर खड़बड़ा कर उठ जाता था। इस प्रकार उस मृग से उसकी ममता हो गयी। एक दिन वह मृग स्वेच्छा से जंगल में चला गया। इसलिए भरत को बड़ा दुःख हुआ और तभी मृत्यु ने उसे आ दबोचा। इसलिए जहाँ ममता है वहाँ मृत्यु अवश्यमेव रहती है। जो पूरी तरह ममताशून्य रहता है, उसे जन्म अथवा मृत्यु स्पर्श भी नहीं करती। भरत स्वयं बड़ा तपस्वी था, फिर वहाँ काल ने कैसे प्रवेश किया? तो ममता का मौका पाकर मृत्यु ने उसे आ दबोचा। जिस समय उसके शरीर की मृत्यु हुई उस समय भरत को मृग का ही ध्यान हो रहा था। इसलिए उसे अगला जन्म मृग का ही प्राप्त हुआ। इस प्रकार उसके लिए पुनर्जन्म का कारण हो गया। कृपा के ही कारण क्यों न हो लेकिन संग करने से वह योगी के लिए योगभंग का कारण बनता है। इसलिए जो निःसंग होता है, वही अभंग साधक होता है। मृग का स्मरण करते-करते ही उसे मृत्यु आयी इसीलिए उसे मृग का जन्म प्राप्त हुआ। जो कृष्ण का स्मरण करते हुए मरता है वह मृत्यु के बाद कृष्णस्वरूप ही हो जाता है। अंत समय प्राणि की जैसी मति होती है उसी प्रकार उसे गति प्राप्त होती है। इसलिए मन में रात-दिन श्रीकृष्ण का ही स्मरण करना चाहिए। भरत मृग बना लेकिन उस मृग के शरीर में भी उसे श्रीकृष्ण का स्मरण था क्योंकि पूर्वजन्म में किया हुआ अनुष्ठान कभी व्यर्थ नहीं जाता यह निश्चित है। उसके बाद तीसरे जन्म में वह 'जड़-भरत' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। वहाँ वह मायापाश से बिलकुल अलिप्त रहने के कारण नित्यमुक्त हो गया। पिछले अनेक जन्मों की कमी उसने इस जन्म में पूरी की। उसने अपने को आत्मस्वरूप में लीन कर लिया और परब्रह्म पद प्राप्त कर लिया। इस प्रकार ऋषभ को सौ पुत्र हुए उनमें जो सबसे बड़ा था उसके बारे में बतलाया, अब शेष के बारे में सुनो।

तेषां नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः॥ १९॥

प्रत्येक खण्ड पर एक इस प्रकार नौ खण्डों पर नौ को अधिपति बना रखा था। इक्यासी पुरुष कर्ममार्ग के प्रवर्तक थे। शेष जो नौ असामी थे वे सारे भाग्य के भूषण एवं ब्रह्मज्ञान के मानों अधिष्ठान ही थे। उनके लक्षण बताता हूँ, सुनो।

नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः॥ २०॥

ये नौ भाई मानो ऋषभकुल को बिना तेल-बाती के प्रकाशित करने वाले दीपक ही थे। वे नौ के नौ सच्चिदानन्द स्वरूप होते हुए सायुज्यस्वरूप के प्रकाशक अर्थात् साधकों को सायुज्यस्वरूप का दर्शन कराने वाले थे। उन्होंने आत्माभ्यास के परिश्रम से कर्माकर्म को नष्ट कर दिया था। इसलिए वे भ्रमरहित होकर बिना किसी आश्रम का स्वीकार कर रहे थे। वे शब्दज्ञान और ब्रह्मज्ञान में पारंगत थे तथा शिष्यप्रबोधन में समर्थ तथा परम अद्भुत और अत्यन्त दक्ष थे। वे ब्रह्म विद्या के सचल पुतले थे तथा उनके अवयव मानों ब्रह्म को निकले हुए अंकुर थे। वे विद्या के प्रतिबिम्ब एवं स्वतः सिद्ध परब्रह्म का स्वरूप थे। उन मुनीश्वरों ने दसों दिशाओं को एक डोरे में पिरोकर चद्दर बना दी थी और वायु को बँट कर उसकी करधनी बना दी थी। आकाश का ही उन्होंने वस्त्र बना दिया था। नौ पुरुष चिदाकाश का ही वस्त्र ओढ़े खड़े थे। प्राण और अपान को रस्सी बट कर उसे नाभि के पास गाँठ बाँध दिया तभी मानो जीव की ग्रन्थि खुल गयी और वही उन नौ पुरुषों का ब्रह्मसूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत बन गया। इस प्रकार परब्रह्म के वैभव और आत्मस्वरूप के अनुभव से वे बिल्कुल परिपक्व हो गये थे। अब उन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नौ पुरुषों के नाम यथागौरव बताता हूँ। उनका नाम सुनते ही काल कम्पित होकर पीछे से ही भाग जाता है, जिनके नाम का स्मरण करने से संसार माथा नहीं उठा पाता। हे परीक्षित! जिनका नाम लेने से भक्तजनों को निश्चित रूप से मुक्ति ही मिलती है, उनके नाम की कीर्त्ति के सम्बन्ध में तुम्हें बताता हूँ, सुनो।

कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः॥ २१॥

कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध पिप्पलायन, आविर्होत्र, सुलक्षणी द्रुमिल निर्दोष चमस तथा करभाजन इस प्रकार उन नौ के नौ नाम थे। इन नामों का स्मरण करने से सभी पापों का विनाश होता है ऐसी उनकी महिमा है। उनकी परमहंस स्थिति मैं तुम्हें बताता हूँ। जिनके कारण सारी पृथ्वी पावन हो जाय ऐसी वे पुण्य पूज्य नौ मूर्तियाँ थीं।

एते वै भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम्।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन्महीम्॥ २२॥

वे नौ यद्यपि शरीर से अलग दिखाई देते थे लेकिन भगवद्रूप से वे एक ही थे। चाहे सुष्ट हो या दुष्ट हो वे सबको अपनी ही तरह एक ही दृष्टि से देखते थे। क्योंकि उनमें असाधुत्व जैसी कोई चीज शेष नहीं रह गयी थी, सब कुछ चिन्मय हो जाने के कारण 'संत' कहने लायक भेद उनमें रह ही नहीं गया था। सारा संसार ही जहाँ भगवान से भरा हुआ है वहाँ हम उनसे अलग कैसे रह सकते हैं। इसलिये वे सब भूतमात्र तथा पंचमहाभूतों को भगवद्स्वरूप में ही देखते थे। देखना और देखने का पदार्थ भी स्वयं ही बन जाना, होना न होना आवागमन इन सारे लक्षणों को निगल कर वे संसार में विचरण करते थे।

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्यगन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान्।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथविद्याधरद्विजगवां भुवनानि काममम्॥ २३॥

वैकुण्ठ, कैलाश, उसी प्रकार देवता तथा सिद्ध (साध्य, गंधर्व, यक्ष, नर, किन्नर, नाग, मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, द्विज, गौएँ) आदि के स्थान, सारांश सप्तस्वर्ग तथा सप्त पातालादि अर्थात् श्लोकों में वर्णित चौदह लोकों में वे अबाध गति से विचरण करते थे। उनके मन में विषयासक्ति न होने के कारण उनकी गति कहीं बाधित नहीं होती थी। स्वेच्छानुसार कहीं भी जाने का सामर्थ्य उनमें होने के कारण वे निष्काम भाव से कहीं भी विचरण करते रहते थे।

तं एकदा निमेः सन्नमुपजग्मुर्यदृच्छया।
वितायमानमृषिभिरजनाभेर्महात्मनः॥ २४॥

जहाँ मन का प्रवेश भी निषिद्ध है, वहाँ वे पग से चल कर जाते। इस प्रकार वे इच्छागमनी पुरुष स्वेच्छा से विचरण करते-करते एक बार कर्मभूमि पर आये ओर पृथ्वी पर के 'अजनाभ' खण्ड पर (भारतवर्ष) पहुँचे। वहाँ राजा जनक का यज्ञ चल रहा था और असंख्य बड़े-बड़े ऋषि वहाँ एकत्र थे। यज्ञ वैदिक विधि से शास्त्रोक्त ढंग से चल रहा था। कुण्ड, मण्डप, वेदिका, दिशासाधन, अनुष्ठान की पीठिका अर्थात् यज्ञ की पूर्व तैयारी कर सभी कर्म पवित्र रीति से चल रहे थे। स्त्रुक, स्त्रुवा आदि यज्ञपात्र, त्रिसंधान अर्थात् तीन जगह जोड़ी हुई दर्भ की डोरी तथा दर्भ के परिस्तरण फैलाकर अखण्ड घृत की धार कुण्ड में देते हुए ऋषि लोग होम कर रहे थे। होम समाप्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होकर पूर्णाहुति का समय आ ही रहा था कि तभी ये नौ पुरुष (आर्षभयोगी) तेज से देदीप्यमान होकर वहाँ आते दिखाई पड़े।

तान् दृष्ट्वा सूर्यसंकाशान्महाभागवतान् नृप।
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे॥ २५॥

जिसके अंगूठे के नाखून के तेज के सामने करोड़ों सूर्यों का तेज लुप्त हो जाता है, उस भगवान को जिन्होंने अपने हृदय में सुरक्षित कर लिया है उनके अलौकिक तेज का क्या वर्णन किया जाय? उनकी देहकांति के सामने सूर्य का तेज भी निष्प्रभ हो जाता था। अपने शरीर की कान्ति से प्रभा को ही शोभायमान करने वाले वे नौ पुरुष मानों साकार चैतन्य का सार ही थे। इन नौ पुरुषों को भगवद्भाव का वैभव, भगवान का गौरव अथवा नवविधा भक्ति की साकार मूर्त्तियाँ कहना ही उचित होगा। मानों वे नौ पुरुष नवखण्ड पृथ्वी के अलंकार, नवनिधि का सार अथवा नवरत्नों का निज भण्डार ही साकाररूप लेकर आये थे। अथवा नौ नारायण वहाँ स्वयमेव प्रकट हो गये थे अथवा नौ नृसिंह ही देदीप्यमान रूप लेकर वहाँ आ गये थे। उन यज्ञकुण्डों में दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि तथा आहवनीयाग्नि इन तीन अग्नियों का आवाहन हुआ था। वे इन्हें देखकर उठ कर खड़े हो गये। उन्हें केवल इन नौ भागवतों ने ही देखा अन्य लोग उन अग्निदेवताओं को नहीं देख पाये। ऐसी उन तेजःपुंज मूर्त्तियों को देखकर ऋत्विज और आचार्य उठ कर खड़े हो गये। राजा जनक तो दौड़ कर ही उनकी अगवानी में आये और उन्होंने उनका स्वागत किया। उन्होंने दौड़कर ही उन्हें दण्डवत् किया और मुकुट उतार कर मस्तक से चरणों का वन्दन कर अत्यन्त सत्कारपूर्वक उन्हें यज्ञमण्डप में ले आये।

विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान्।
प्रीतः संपूजयाञ्चक्रे आसनस्थान् यथाऽर्हतः॥ २६॥

अतिथि भागवत परायण थे यह जानकर जनक को अत्यन्त आनन्द हुआ और उसने स्वयं उनकी पूजा करने की तैयारी शुरू की। उन्होंने परम श्रद्धा से उनके चरण धोये, फिर धूप, दीप, चन्दन, पुष्प आदि साहित्य से मधुपर्क विधान से उनकी यथायोग्य पूजा की।

तान्रोचमानान्स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान्नव।
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः॥ २७॥

अपने अंगों की निज प्रभा से उनके शरीर की शोभा बढ़ रही थी। उनका शरीर विचित्र तेज से शोभायमान ब्रह्मविद्या का गाभा थी। मानों उनके शरीर का ब्रह्मज्ञान परिपक्व होकर प्रकाशमान हो गया था और उनके शरीर का भूषण था। अन्य भूषण उन्हें अनावश्यक थे। मुकुट, कुण्डल, सुवर्ण के कड़े ये आभूषण मुर्खों के शरीर पर कितने भी क्यों न हों लेकिन उन अलंकारों की शोभा उन पर विलुप्त हो जाती है और उनके अन्दर की मूर्खता ही बाहर प्रकट होती है। यह ज्ञानधन वैसा नहीं था। पूर्ण ब्रह्मत्व से ही वह सुशोभित होता था। वही उनके शरीर का भूषण था। अन्य भूषण वे नहीं धारण करते थे। वे ब्रह्मानुभव से पूर्ण होते थे और वही अनुभव उनके इन्द्रियों के द्वारा भी प्रस्फुटित होता था। पूर्णानुभव से आने वाली शान्ति ही उनका भूषण था। उसके आगे मुकुट और कंगन तुच्छ होते थे। पहले सनकादिकों का वर्णन किया है। ये उनकी ही योग्यता के थे या अधिक थे, यह पूछें तो उनमें और इनमें कोई भेद नहीं ऐसा समझना चाहिए। उनकी और इनकी गति एक थी, उनकी और इनकी स्थिति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक थी और उनकी और इनकी शान्ति भी एक जैसी ही थी, वास्तव में उनमें भेद कुछ भी नहीं था। उनकी ही तरह ये भी सगे भाई थे, उनकी ही तरह बोध इनका भी था, चाल-चलन, ढंग, व्यवहार उनके ही जैसा था, अन्तर कुछ भी नहीं। वे चार और ये नौ लेकिन सबका ब्रह्मज्ञान एक जैसा, उनकी और इनकी शान्ति एक जैसी। ये बातें जनक ने जान लीं। उनकी यह परिपूर्ण स्थिति देखकर राजा को बड़ा संतोष प्राप्त हुआ और उन्होंने अत्यन्त विनम्र होकर मृदु-मंजुल वाणी से उनकी विनती की।

विदेह उवाच

मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान्वो मधुद्विषः।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि॥ २८॥

सार्वभौम चक्रवर्ती होते हुए भी विदेह ऐसा राजा जनक उन ऋषभपुत्रों से अत्यन्त प्रेम से विनती करने लगा। उनसे भेंट होते ही राजा जनक को असीम आनन्द हुआ और उस सुख संतोष के आवेग में उसने उनसे प्रेमपूर्वक विनती की। उसने कहा—आप का सामर्थ्य देखा जाय तो आप ईश्वरस्वरूप हैं, देहभाव से देखा जाय तो भगवान के भक्त हैं, मानों आप श्रीहरी के पार्षद हैं। देवता स्वयं अपना ही भक्त है ऐसा जो ध्वनितार्थ उपनिषद में है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव आप में हो रहा है। "शिव होकर ही शिव की पूजा करनी चाहिए"—("शिवो भूत्वा शिवं यजेत") यह उपनिषद रहस्य आप में ही शोभा दे रहा है। अन्य लोग केवल मुँह से इन बातों का उच्चार करें। लेकिन उस बात का कोई अर्थ नहीं दिखाई देता। श्रीविष्णु संसार में जो भी कुछ उत्पन्न करते हैं, वह सब पवित्र करने के लिए, केवल दीन-दुखियों का उद्धार करने के लिए। इसीलिए आप कृपापूर्वक पृथ्वी पर संचार करते रहते हैं। आप संसार के कल्याण के लिए ही विचरण करते रहते हैं, किन्तु जब भाग्योदय होता है तभी आप से भेंट होती है। आज मुझे आपकी सेवा का लाभ मिला इसका अर्थ मैं सचमुच ही बड़ा भाग्यवान हूँ। धन्य है मेरा भाग्य और धन्य है मेरा वैभव। आज आपके चरणों का अपूर्व लाभ होने से मैं सचमुच ही धन्य हो गया हूँ।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥ २९॥

सभी प्रकार के देहों में नरदेह अत्यन्त दुर्लभ है। उसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। जब पाप और पुण्य समान रहता है तभी यह कर्मभूमि अर्थात् यह नरदेह प्राप्त होता है। पुण्य और पाप की मात्रा यदि कम अथवा अधिक हो तो उसे स्वर्ग या नरक प्राप्त होता है। कर्म समान होने पर नरदेह प्राप्त होता है। किन्तु सभी की बुद्धि एक जैसी नहीं होती, उस समता में भी गाढी विषमता कैसे हो जाती है वह बताता हूँ। पाप का एक बहुत बड़ा हिस्सा एक पलड़े में रखें और दूसरे पलड़े में पुण्य डालें और दोनों का भार यदि समान भी हो तो भी उस जन्म में उस व्यक्ति में पापबुद्धि ही होगी। जिस प्रकार बालू और सुवर्ण तौल में यदि समान भी हो तो उस स्वर्ण को खरीदने के लिए लोग धन खर्च करते हैं और बालू कोई मुफ्त में भी नहीं लेता। उसी प्रकार किसी का पुण्य बहुत बड़ा होता है और उसकी बराबरी में दूसरे पलड़े में छोटे-छोटे पाप डाले जाते हैं और उनका भार समान हो जाता है। ऐसा कर्म लेकर जो जन्म लेते हैं उनका प्रेम पुण्य के प्रति अधिक रहता है। पुण्य ओर पाप जब पूरी तरह नष्ट हो जाते हैं तभी नित्यमुक्ति प्राप्त होती है। मनुष्य देह की प्राप्ति भी महान संकट है। वहाँ कनक-कांता रूपी विषय का अभिमान उत्पन्न होता है। जिस प्रकार प्यासा अपनी प्यास बुझाने के लिए अमृत देकर मृगजल प्राप्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करे, उसी प्रकार लोग अमूल्य मानव जीवन में विषयों में लिप्त रहते हैं। जैसे कोई चिन्तामणि देकर गन्धर्व नगर अर्थात् आकाश में दिखाई देने वाले बादलों की आकृतियों का चयन करे उसी प्रकार वे मिथ्या विषय साधनों के लिए नरदेह का सत्यानाश कर लेते हैं। जैसे कल्पतरु का बगीचा उजाड़ कर कोई उसे जंगल समझ कर दूर फेंक दे और उसके स्थान पर भांग के पौधे लगा दे उसी प्रकार प्राणी नरदेह प्राप्त कर उसका विनाश कर लेते हैं। शिस्नोदर के लिए सारा दिन प्रयास, नहीं तो उपहास, निंदा आदि हर रोज गृहस्थी की कचकच, वासनाओं की तृप्ति के लिए प्रयास और यदि इतने पर भी समय बच जाय तो चौपड़ की बाजी बिछाना। हर तरह के हँसी-मजाक, विषय वासनाओं की ही बकवास। ऐसे लोगों को राम का नाम लेते समय मुँह बन्द हो जाता है। जैसे कामधेनु घर आने पर, उसे खिला नहीं सकते इसलिये उसे घर से निकाल देते हैं उसी प्रकार श्रीरामनाम का जप न करने के कारण प्राणि नरदेह प्राप्त कर भी व्यर्थ चला जाता है। इस नरदेह का अहंकार किया जाय तो वह तो क्षणभंगुर है। यहाँ तो भगवान से एकरूप हुए भक्तों का मिलना ही भाग्य की बात है। जिन्हें भगवद्भक्ति से प्रेम रहता है उन पर भगवान का भी अत्यन्त प्रेम रहता है। ऐसे भगवद्भक्तों से साक्षात मिलन तभी होता है जब अनेक कोटि पुण्य साथ में खड़े हों। जिसके प्रेम की लालसा के कारण ही भगवान ने अपना निजनिर्गुण रूप त्याग कर जन्म लिया, जिनके प्रेम के कारण उस पद्मनाभ को दशावतार की शोभा प्राप्त हुई। ऐसे जो कृष्ण कृपा के कारण उनके अत्यन्त चहेते बन गये, ऐसे लोगों की भेंट तभी होती है जब भाग्य का उदय होता है। शरीर निष्काम हो, आत्मस्वरूप की ओर दृष्टि हो और कोटि-कोटि पुण्य राशि का साथ हो,तभी हरि के प्रियजनों से भेंट होती है। एक समय बाघ और सिंह का दूध मिल जाएगा, चन्द्रामृत भी प्राप्त हो सकेगा किन्तु हरिप्रियों से भेंट नहीं हो सकेगी। उसके लिए अत्यन्त दुर्लभ भाग्य की आवश्यकता होती है। बाघ और सिंह के दूध से मनुष्य अत्यन्त शक्तिशाली और पुष्ट हो जाएगा लेकिन उस दूध से जन्म-मरण से छुटकारा नहीं प्राप्त होगा। कहते हैं कि जो चन्द्रामृत का सेवन करता है वह निरोगी होता है लेकिन चन्द्र स्वयं ही मूलरूप से क्षयरोगी है उसका अमृत दूसरे को कैसे निरोगी करेगा? बाघ और सिंह के दूध से यदि प्राणी अजर-अमर हो जाते तो फिर उसी दूध से जिनकी उत्पत्ति होती है वे बाघ और सिंह क्यों मरते? लेकिन जब हरिभक्तों की भेंट होती है, तब सांसारिक संकटों की बाधा नहीं होती। जन्म-मरण का फेरा पूरी तरह समाप्त हो जाता है। सारांश यह कि उनसे भेंट होने के लिए अत्यन्त भाग्य की आवश्यकता होती है। आज वह सारा भाग्य मेरे हिस्से में आया है क्योंकि मुझे आपके दर्शन हुए। इसलिए 'आत्यंतिक क्षेम' का क्या अर्थ है, यह मुझे समझाइये।

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गःशेवाधिर्नृणाम्॥ ३०॥

आप निष्पाप और निर्मल हैं आपके दर्शन से कलिमल तत्काल नष्ट हो जाता है। आप स्वाभाविक रूप से ही पवित्र हैं। गंगा में स्नान करने से वह सबको पवित्र कर देती है लेकिन वह गंगा भी अपना पातक नष्ट होने के लिए आपके ही चरण स्पर्श की कामना करती है। आपके दर्शन का लाभ ही चित्स्वरूप गंगा है। संसार में वह अत्यन्त समर्थ है। केवल दर्शन से ही संसार ताप को नष्ट कर डालता है। फिर जन्म-मरण का प्रश्न ही कहाँ उठता है? आपके इस दर्शन के आगे गंगा की क्या बिसात है? उसके सामने तीर्थों की महिमा की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। तीर्थ भी भवदोष से लिप्त हैं। वह दोष आपकी दृष्टि से नष्ट होता है। ऐसी पवित्रता आप अपनी दृष्टि से ही बढ़ाते हैं। मैं तो आज अत्यन्त पवित्र हो गया हूँ। क्योंकि आज आप दीन दयाल से मेरी भेंट हुई। ऐसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पवित्र और कृपामूर्त्ति का साथ मुझे आज भाग्य से ही प्राप्त हुआ है। सत्संगति के माहात्म्य का वर्णन करते समय श्रुतियाँ भी मौन हो जाती हैं। ब्रह्म स्वयं निर्धर्म है, अपना धर्म वह नहीं जानता, साधुओं के मुख से ही ब्रह्म को ब्रह्मत्व प्राप्त होता है। उस सत्संग की महिमा अत्यन्त महान और निरुपम है। सत्संग को यदि निधि की उपमा दी जाय तो उसके खोने का भय है किन्तु सत्संग की महिमा ऐसी है कि वह साधकों को पूरी तरह सद्रूप करता है। अच्छी निधि प्राप्त होने पर उससे विषय भोग बढ़ता है। लेकिन महाराज! सत्संग में वह बात नहीं है। वह विषयरहित तथा अत्यन्त सुख देने वाला है। इन्द्रिय रहित स्वानन्द तथा विषयरहित परमानन्द प्राप्त होने का ही वे बोध कराते हैं। इसलिए साधुओं की महिमा अगाध है। सत्संग यदि निमिष मात्र के लिए भी हो जाए तो उससे भवसंग हो जाता है इसलिए सत्संग का भाग्य भाग्यवान साधक ही जानते हैं। संत चरणों में जिनका भाव है, उन पर उस भाव के कारण ही संत स्वयमेव प्रसन्न होते हैं। संतों के सान्निध्य मात्र से संसार अपने आप व्यर्थ हो जाता है। अनेक प्रकार के विकार, विषयों की भरमार आदि से संसार की बाधा तीव्र हो उठती है। उस संसार को समाप्त करने के लिए सत्संग यही एकमात्र रामबाण उपाय है। दीप की संगति से जिस प्रकार कर्पूर का कर्पूरत्व नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सत्संगति प्राप्त होने पर क्षणार्ध में ही संसार की अर्थात् जन्ममरण परम्परा की तथा देहात्म बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है। वह आपका सत्संग मुझे आज अनायास ही मिल गया है तो अब यह बताएँ कि प्राणी 'आत्यंतिक क्षेम' अर्थात् शाश्वत कल्याण कैसे प्राप्त करते हैं। यदि आप कहें कि भागवत धर्म ही आत्यंतिक क्षेम का मूलमंत्र है तो महाराज! उस धर्म का अनुक्रम सुगम करके बताएँ।

धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम्।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः॥ ३१॥

यदि भागवत धर्म सुनने का हमें अधिकार हो, तो महाराज! आप हमें सम्पूर्ण भागवतधर्म सुनाइये। इस भागवत धर्म की ख्याति कुछ विचित्र है। इसे यदि प्रेम से स्वीकार किया जाय तो श्रीपति उससे संतुष्ट होकर स्वयं सेवकों के अधीन हो जाता है। वेदशास्त्रों के अनुसार श्रीकृष्ण की ख्याति 'अजन्मा' है लेकिन भक्तों के लिए वे अनेक जन्म लेते हैं। ऐसे इस भागवत धर्म की शरण में जो भी कोई अनन्य भाव से जाता है, उस पर नारायण प्रसन्न होकर अपना सर्वस्व अर्पण करता है। अब यदि मुझे भागवत धर्म श्रवण करने का अधिकार न हो तो सचमुच ही मैं अनन्य भाव से आपकी शरण आया हूँ और आप सब अत्यन्त कृपालु हैं। भूत दया तो आप में परिपक्व हो रही है। आप दया के सागर हैं, आपके कारण दीनों का उद्धार होता है। जिस पर आपकी पूर्ण कृपा रहती है वहाँ जन्ममरण नहीं रहता, सारे अधिकार सहज ही प्राप्त होते हैं। अर्थात् आपकी कृपा जैसा कोई सामर्थ्य ही नहीं है यह जानकर मैं निश्चयपूर्वक आपकी शरण में आया हूँ। अज्ञान की लज्जा से क्या लाभ है? यहाँ मेरा सारा कार्य आपकी ही कृपा से होने वाला है। इस प्रकार जनकराजा ने प्रार्थना कर उन ब्राह्मणों की चरणरज अपने माथे से लगायी। जनक राजा का नम्रतापूर्वक पूछा गया यह प्रश्न सुनकर वे सभी नौ पुरुष संतुष्ट हुए। वही कथा नारद मुनि अपने मुख से वसुदेव को सुना रहे हैं।

श्रीनारद उवाच

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः।
प्रतिपूज्याब्रुवन् प्रीत्या ससदस्यर्त्विक्त्वजं नृपम्॥ ३२॥

जो जगत की स्थिति और गति का जानकार है, जो हरिहर का लाडला है, जो निज आत्मज्ञान में परिपूर्ण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है, उस नारद ने वसुदेव से कहा, वसुदेव! इस प्रकार जनक राजा द्वारा मार्मिक प्रश्न पूछे जाने पर उन महानुभावों को अत्यन्त संतोष हुआ। उन्होंने जनकराजा को धन्य-धन्य कहा। यज्ञ के ऋत्विजों को तथा सभासदों को परमार्थ श्रवण की उत्सुकता बढ़ने लगी। उन्हें भी योग्य अनुमोदन देकर उन नौ असामियों ने बोलना प्रारम्भ किया। जनक के नौ प्रश्न इस कथा का प्रमुख विषय है। भागवत धर्म किसे कहते हैं, भगवद्भक्त कैसे होते हैं? 'माया' किस तरह विराजती है? अज्ञानियों को उससे तरने के क्या उपाय हैं? उसी प्रकार परब्रह्म कैसा होता है? 'कर्म' किसे कहते हैं? अवतार चरित्र संख्या परम, अभक्तों को 'अधोगति' क्यों प्राप्त होती है? और किस युग में कैसा धर्म होता है? इन सबका अच्छी तरह निरूपण करें। इस प्रकार नौ मार्मिक प्रश्न राजा जनक ने पूछे। उन नौ पुरुषों ने उनके क्रम से उत्तर दिये। उनमें से पहले प्रश्न का कवि ने उत्तर दिया।

कविरुवाच

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद् विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः॥ ३३॥

राजा ने 'आत्यंतिक क्षेमं' अर्थात् अत्यन्त कल्याण किसमें हैं यह प्रश्न किया। कवि तो उस विषय का परमज्ञाता ही था। उसने आत्यंतिक क्षेम का अर्थ अर्थात् 'भागवत धर्म' का प्रतिपादन करना प्रारम्भ किया। उसने कहा, राजा! एक चमत्कार ध्यान में रखो। हमारा संकल्प ही हमारा बैरी है। वही शरीर में देहबुद्धि (साढ़े तीन हाथ का देह मैं ही हूँ, यह भावना) बढ़ाकर संसार का भय दृढ़ करता रहता है। जिसके पास देहबुद्धि होती है, उसके भाग्य में सुख तो नहीं ही होता। ऐसे लोग सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि द्वंद्वों के बीच में तथा व्याधियों के महासागर में डूब जाते हैं। क्योंकि देहबुद्धि वालों के पास दुःखों की राशि तो रखी ही रहती है। रात दिन चारों ओर से महाभय के भूत उसे सताते रहते हैं। 'मैं ही देह हूँ' मानने वाले को चिन्ता का बहुत अधिक भय लगता है। उस पर ममता द्वारा संकल्प-विकल्पों की मार निरन्तर पड़ती रहती है। देह-बुद्धिवालों को अणु के बराबर भी सुख नहीं प्राप्त होता। ऐसा होते हुए भी जो सुख मानते हैं वे महामूर्ख हैं। देहबुद्धि दुःखजनक है। दीपक की संगत करने वाले पतंग के भाग्य में केवल दुःख ही रहता है, फिर भी वह उसे गले लगाने के लिए आगे बढ़ता है, उसी प्रकार देहबुद्धि विषयों की ओर भागती है। इस प्रकार देहबुद्धि बहुत खराब है। वह विषयों के प्रति रुचि बढ़ाती है। इससे महाभय उत्पन्न होकर जन्ममरण के फेरे बढ़ जाते हैं। जो यह जानता है कि देहबुद्धि में इतना संताप और महापाप है वह इन विषयों में जरा भी नहीं उलझता। विषयों के प्रति कोटि-कोटि जन्म मरण सहने पड़ते हैं यह बात जो जानता है वह उस भय से विषयों का त्याग करता है और उन्हें इन्द्रियों में बन्द कर देता है। लेकिन विषय इन्द्रियों में बन्द होना नहीं चाहते। विषय छूटते नहीं है और निरन्तर कष्ट देते रहते हैं। इसीलिए वेदों ने हरिभक्ति प्रकट की है। इसमें इन्द्रियों को बन्द नहीं करना पड़ता और विषयासक्ति अपने आप रुक जाती है। हे राजाधिराज! इतना अद्भुत सामर्थ्य हरिभक्ति में है यह स्मरण रखो। योगी लोग इन्द्रियों का दमन करते हैं किन्तु भक्त लोग उन्हीं इन्द्रियों को भगवान की भक्ति में लगाते हैं। योगी जिन विषयों का त्याग करते हैं, उन्हें ही भक्तगण भगवान को अर्पण करते हैं। योगी विषयों का त्याग करते हैं लेकिन उस त्याग से शरीर को दुःख होता है और भक्त वही विषय भगवान को अर्पण करते रहने के कारण नित्यमुक्त हो जाते हैं। कुछ विकल्पी लोग इसे सम्भव नहीं मानते। इसलिए यहाँ 'कायेन वाचा' यह कृष्णार्पण ध्योतक श्लोक बताया गया है। घरबार, बाल-बच्चे और प्राण भी भगवान को अर्पण करने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चाहिए यही सम्पूर्ण भागवतधर्म है और इसी का नाम 'मुख्य भजन' है। अब ग्यारहों इन्द्रियों को किस प्रकार भगवद्भक्ति की ओर लगाया जाए उसके विषय में संक्षेप में बताता हूँ। 'मन' से हरि का ध्यान करना चाहिए, 'कानों' से उसकी कीर्ति का श्रवण करना चाहिए, 'जिह्वा' से नामस्मरण करना चाहिए और दिन रात उसके कीर्तन में मग्न रहना चाहिए। 'हाथों' से हरि का पूजन करना चाहिए, पैरों से मन्दिर में जाना चाहिए, नाक से तुलसी निर्माल्य की गन्ध लेनी चाहिए। जो मस्तक पर नित्य निर्माल्य धारण करता है और पेट में चरणतीर्थ तथा हरिप्रसाद एकत्र करता है उसे देखकर संसार भय दूर भागता है। बढ़ते हुए सद्भाव तथा बढ़ते प्रेम के कारण जिसके भाग्य में श्रीकृष्ण का अखण्ड भजन रहता है उसे संसार का बन्धन नहीं रहता। सभी भयों में संसार भय अत्यन्त कठोर है। वह बेचारा भी हरिभक्ति के सामने किंकर हो जाता है। फिर वह सामने कैसे खड़ा हो पाएगा? रामकृष्ण का स्मरण करने से जहाँ जन्म-मरण उठकर भागने लगते हैं वहाँ भव भय का साहस कौन धीर कर सकता है? जहाँ हरिचरण भजन से प्रेम है, वहीं संसारभय की निवृत्ति है। इस प्रकार हमारे विवेक के अनुसार भगवद्भक्ति ही परम निर्भय है। तुम निश्चयपूर्वक जान लो कि यह हमारा दृढ़ निश्चय है और वेद, शास्त्र, पुराण इसके साक्षी हैं। सारांश यही कि सभी प्राणियों के लिए भगवद्भजन ही सबसे अधिक निर्भय स्थान है। वेद, शास्त्र, पुराण भले ही एक ओर रहें लेकिन प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण ने अपने मुख से यही कहा है कि मैं सर्वथा भक्तों के अधीन हूँ। इससे भगवान के कथन में भक्ति ही प्रधान है। इतना ही नहीं, बल्कि साक्षात श्रीकृष्ण ने अपने चारों हाथ उठाकर निज आत्म प्राप्ति का उपाय बताते समय 'भक्त्याहमेकन्या गाह्यः' अर्थात् केवल भक्ति से ही मैं वश में आने वाला हूँ, यह बात बतायी है।

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अंजः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥ ३४॥

जिनके पास वेद शास्त्र का ज्ञान नहीं है, ऐसे अज्ञानी लोगों को ईश्वर प्राप्ति सुगम हो और वे ब्रह्मस्वरूप प्राप्त कर सकें इसलिए भगवान ने ही यह हरिभक्ति प्रकट की है। वेदशास्त्र का अध्ययन किये बिना किस जड़-मूढ़ ने भवसागर पार किया ऐसा यदि पूछें तो उन्मत्त गजेन्द्र का उद्धार हुआ है। परीक्षित का गर्भावस्था में संरक्षण हुआ है। अम्बरीष का गर्भ निवारण भक्ति के ही कारण हुआ। 'अहं भक्तपराधीनः' अर्थात् मैं भक्त के वश में हूँ यह बात स्वयं नारायण ने कही है। इस भगवद्भक्ति से वनचर, वानर जाने कितने तर गये। भालुओं का उद्धार करने के लिए भगवान ने जंगल में जाकर भक्ति से जांबवती से विवाह किया फिर यह भी याद करो कि अविवेकी ग्वाले, गोधन और गोपाल जो कृष्ण के सखा थे वे भी प्रबल अनन्य प्रीति के ही कारण तर गये। शास्त्र विरुद्ध अविवेक के कारण, जार भावना से ही क्यों न हो लेकिन श्रीकृष्ण से अत्यन्त प्रेम रखने के कारण कितनी गोपियों का उद्धार हुआ उनकी तो कोई गिनती ही नहीं है। अनेक प्रकार के शास्त्र पढ़े बिना सुलभ उपाय से ब्रह्मप्राप्ति हो सके और दुर्बल भी पार लग सकें इसलिए भगवान ने अपनी भक्ति प्रकट की। राजा! वही यह भागवत है, जिसमें मुख्य रूप से भक्ति ही प्रधान है। शुद्ध भावना से भगवद्भजन करने से अज्ञानी जनों का उद्धार हो जाता है। यह भागवत नहीं बल्कि दीन अज्ञानी लोगों के लिए खुला हुआ पौसरा है। भजनभाव से संसार सागर पार करने के लिए भगवान ने यह बहुत बड़ी नौका ही बना कर रख दी है। भजन भाव से जो इस भागवत रूपी महानौका में बैठ कर निकल पड़े उन्हें भजन स्वभाव के कारण संसार भय के हिंचकोले नहीं लगते। स्त्री, शूद्र आदि सभी को एक ही बार में भजन भाव से उस तट तक ले जाया जा सकता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। भक्तिभाव से इस नौका को खेने से कर्माकर्म रूपी क्रूर जल को काट कर आत्मबोध के प्रवाह की दशा से वह एक ही समय उस किनारे तक पहुँचाती है। वैराग्य के नाविक चारों ओर अटल बैठे रहने के कारण वे विषयों की चट्टानों से बचाते हुए सुगमता से किनारे तक पहुँचाते हैं। संचित क्रियमाण की लहरों को काट कर सही रास्ते पर लगाते हैं और भाग्य का संचय समाप्त कर आत्मस्वरूप के तट पर पहुँचाते हैं। इसमें यदि कुछ न्यूनाधिक हो जाए तो गुरुवचन के अनुसार सँभाल कर भूतदया की डोर से आत्मविश्वास के साथ खींचते हैं। तब बड़ी शीघ्रता से वह नौका परात्पर तट पर जा लगती है। सबको एकाएक परतीर पर उतारते हैं और फिर आत्मसाक्षात्कार हो जाने के कारण पुनरावृत्ति रुक जाती है और आवागमन नहीं करना पड़ता। एक भक्तिभाव होने से, फिर जिसे 'डूबना' कहते हैं, वह मिथ्या हो जाता है। फिर जहाँ पहुँचना चाहता है, वह स्थान वह स्वयं हो जाता है। यहाँ बिना पहुँचे ही तर जाना है और बिना प्रयास के ही प्राप्ति होनी है। अर्थात् सहज उपाय से ब्रह्म की प्राप्ति हो, इसलिए नारायण ने भक्ति प्रकट की है। भागवत धर्म की स्थिति ही कुछ ऐसी है कि सीधे-सादे लोग भी संसार सागर को पार कर जाते हैं। सुलभ रीति से किस प्रकार ब्रह्मप्राप्ति होती है, वही अब श्लोकार्थ में स्पष्ट रूप से बताते हैं।

यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पते दिह॥ ३५॥

जिसे श्रुति-स्मृति की समझ नहीं है, लेकिन केवल भक्तिभाव से भगवन्मार्ग अर्थात् भागवत धर्म का अनुसरण करता है, उसे विधि निषेध की बाधा नहीं होती और उससे स्वप्न में भी गलती नहीं होती। सप्रेम सद्भाव से यदि भागवत धर्म का आचरण करें तो कर्माकर्म की बाधा नहीं होती। उसकी भक्ति से ही पुरुषोत्तम सदा सन्तुष्ट रहता है। श्रुति और स्मृति ये दो आँखें हैं। इनके बिना जो अन्धे हैं, वे भी भक्ति के बल के कारण हरिभजन में दौड़ते समय गिरते या लड़खड़ाते नहीं हैं। हे राजा! ध्यान में रखो कि प्रेम के बिना श्रुति स्मृति का ज्ञान, प्रेम के बिना ध्यान पूजा, प्रेम के बिना श्रवण-कीर्तन यह सब व्यर्थ है। माँ को देखते ही शिशु आँखें बन्द कर ही उसकी ओर झपटता है, लेकिन उसके साथ माँ भी उतने ही प्रेम से उसकी ओर झपटती है और शिशु को थाम लेती है। उसी प्रकार जो भक्त भगवान को प्रेमपूर्वक भजता है, उसके उस भजन के साथ ही भगवान भी आनन्दपूर्वक चलने लगता है और पग-पग पर उसे सँभालता है। इस प्रकार भागवत धर्म का आचरण करते समय उसे कर्माकर्म की बाधा नहीं हो सकती। क्योंकि जिसने कर्म में आज्ञा और नियम बनाये हैं वह पुरुषोत्तम ही उसके भजन में उपस्थित रहता है। इस प्रकार स्वानंदकंद गोविन्द जहाँ भागवत धर्म से सन्तुष्ट होकर विचरण करता रहता है वहाँ विधि-निषेधों का प्रवेश कैसे हो सकता है? उसके भक्त को कभी भी प्रमाद की बाधा नहीं होती। जिस प्रकार पहरेदार मालिक के लड़के को नहीं रोक सकता उसी प्रकार जो भागवत धर्म से भजन करने वाला है उसे कर्म की रुकावट बाधक नहीं होती। जिसे भगवद्भजन में विश्वास है, उसके तो विधिनिषेध दास ही बन जाते हैं। उसका भजन विलास देखकर स्वयं जगन्निवास परम सन्तुष्ट होते हैं। भागवत धर्म से कर्म जैसे-जैसे छूटते जाते हैं, वैसे-वैसे पुरुषोत्तम सन्तुष्ट ही होता है। लोगों को व्यर्थ ही भ्रान्ति है कि भक्तों को कर्म की बाधा होती है। कर्म यदि भक्त से प्रमाद कराता है तो उसी प्रमाद में भगवान प्रकट हो जाते हैं। इसलिए हरिभक्तों को कर्म का विधि निषेध बाधक नहीं होता। अजामिल को उसका कर्म बाधक हुआ था, वह यमपाश में बँध गया, इतने में केवल नाम लेने से भगवान वहाँ प्रकट हुए और उन्होंने उसे पावन किया। स्वधर्म कर्म जब

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निजसत्ता के वाहक बन जाते हैं तब भजनरूपी पालकी में शयन करने वाला भक्त यदि गिर पड़ता है तो स्वधर्म कर्मों को ही दण्ड मिलता है। इस प्रकार भजन प्रताप के योग से स्वधर्म कर्मों को भी दण्ड दिया जा सकता है। वर्णाश्रम का अस्तित्व मिटा कर कर्मों का भी विनाश किया जा सकता है। सारांश यह कि जो भागवत धर्म का सेवन करने वाले हैं उनके स्वधर्म कर्म तुच्छ सेवक हैं। जिनमें भक्तों के सामने खड़े रहने का भी साहस नहीं है वे भक्तों के लिए बांधक कैसे हो सकते हैं? भागवत धर्म कैसा है? भगवान के प्रति कर्म कैसे अर्पण होता है? हे राजन! यह अत्यन्त गोपनीय निजभजन कर्म तुम्हें बताता हूँ, सुनो।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतः स्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥ ३६॥

सोद्देश्य हो या निरुद्देश्य हो, वैदिक हो लौकिक हो या स्वाभाविक हो, ये सारे कर्म भगवान के प्रति अर्पण करना, इसी को 'भागवत धर्म' कहते हैं, इसे ध्यान में रखो। पानी की तरंग अत्यन्त चंचल होती है, लेकिन वह जहाँ भी कहीं जाती है, वह जल में ही मिलती है। उसी प्रकार भक्त के सारे कर्म तत्काल भगवान के ही चरणों में अर्पित होते हैं अर्थात् भगवद्रूप ही हो जाते हैं। इस श्लोक में पहले मानसिक कर्मों के अर्पण के बारे में बतलाया गया है तथा बाद में इन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार आदि के कर्मों का तथा अन्त में कायिक कर्मों का अर्पण बताया गया है। भागवत धर्म की वास्तविक स्थिति अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि इन्द्रिय वृत्तियाँ हैं तथा उन्हें भगवान के प्रति अर्पण करना है। यह कैसे किया जाता है सुनो। हे राजा! भक्त को स्वधर्म कर्म की बाधा क्यों नहीं होती इसका रहस्य बताता हूँ। अति निस्सीम आत्मबोध से मन में ही पुरुषोत्तम प्रकट होते हैं जिससे संकल्प विकल्प भगवद्रूप हो जाते हैं जिसके कारण भक्त निष्पाप ही रहते हैं। वे हरी की तरह सत्यसंकल्पी होते हैं। जिस प्रकार शतरंज के खेल में राजा, प्रधान, हाथी, पैदल ये सब रहते हैं लेकिन वे सब केवल लकड़ी के टुकड़े होते हैं, इसलिए भगवान के भक्त के संकल्प भगवद्रूप ही हो जाते हैं। उसका संकल्प जिस विषय की अभिलाषा करता है वह विषय आत्माराममय ही हो जाता है जिससे भजन का उल्हास अपने आप ही बढ़ जाता है। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में भजन होने लगता है और शरीर में आत्मबोध पूरी तरह भर जाने के कारण अनुसंधान अखण्ड रहता है। जब मन को समाधान प्राप्त होता है तो उससे भजन भी बढ़ जाता है। अनुसंधान पूरी तरह बढ़ने के कारण ध्येय, ध्याता और ध्यान एकरूप होकर भजन चलता रहता है। भक्त, तुर्या, साक्षी और उन्मनी को भी भगवद्भजन में लगाते हैं। इस प्रकार भावना के बिना ही जो भाव उत्पन्न होता है वह तत्काल भगवान स्वरूप ही हो जाता है। फिर अर्पण का आश्चर्यभाव किसलिए? अर्पण किये बिना ही वह अपने आप भगवद्अर्पण होता है। स्वरूपानुभव से स्वप्न मिथ्या हो जाता है, जागृति छील कर ज्ञान बाहर निकालती है, सुषुप्ति का सुखसमाधान छाँट कर पूरी तरह एकत्रित करने से स्वयं मन ही आत्मार्पण करता है। ऐसी स्थिति का सुखसमाधान ज्ञानी भक्त ही जानते हैं। इस प्रकार मानसिक व्यापार स्वरूप में सहज ही अर्पण हो जाता है यह जान लो। घर में जब दीपक जलाया जाता है तो उसी का प्रकाश खिड़कियों से बाहर आता है। उसी प्रकार मन में श्रीहरि प्रकट होने पर वही इन्द्रियों में भजनानन्द के रूप में प्रकट होता है। इन्द्रियों का वही व्यापार विस्तारपूर्वक बताता हूँ। इन्द्रिय व्यापार भी परब्रह्मस्वरूप में भजनरूप हो जाते हैं। दृष्टि जब दृष्य वस्तु को देखती है, उस समय उसे उसमें भगवान ही दिखाई देता है। इस प्रकार भजन सत्ता से दृष्यदर्शन के साथ दृष्टि का विषय भी भगवान को अर्पित हो जाता है। दृष्य को दृष्य रूप में जो शक्ति प्रकट

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करती है वह दृष्टि में दर्शनरूप हो जाती है। ऐसे अभिन्न भाव से दर्शनार्पण कर भक्तगण भजन करते हैं। एकत्व में तीनों भाग हैं और तीनों में एक ही रूप है। इस प्रकार सुन्दर देखना ही पूर्ण समर्पण है। आँखें नित्य विविध प्रकार के अनेक पदार्थ देखती हैं लेकिन भक्तों को उन सब में परमात्मा का ही रूप दिखाई देता है और इस प्रकार वे दृष्टि के अर्पण का वैभव भोगते हैं। इस प्रकार भक्त दृष्टि का दर्शन ब्रह्मार्पण करते रहते हैं। अब हे राजा! अब तुम्हें बताता हूँ कि श्रवण का ब्रह्मा में किस प्रकार अर्पण होता है। जो शब्दों का मुँह से उच्चार कराता है वही कानों में सुनने वाला बनकर बैठा हुआ है और अर्थ जानने वाला भी वही है। अर्थात् यहाँ श्रवण भी ब्रह्मार्पण हो जाता है। मुँह से शब्द निकल रहा है तभी शब्द का उच्चार कराने वाला उसके पीछे-पीछे प्रकट होता है। इससे वह भजन प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होता है और श्रवण सहज ही ब्रह्मार्पण हो जाता है। शब्दोच्चार होते ही अर्थ की वृद्धि होने लगती है इतने में जो शब्द का उच्चार कराने वाला होता है वही शब्दार्थ का माधुर्य ग्रहण करता है और इस प्रकार श्रवणार्पण से ही हरिभजन में रुचि उत्पन्न होती है। कान पर शब्द पड़ते ही शब्दार्थ के कारण भजन बढ़ता है और इस प्रकार शब्दों के प्रवर्तक से जुड़ जाता है अर्थात् अर्पित हो जाता है। जो शब्दों को मुँह से निकलवाता है, उससे एकात्मता निश्चित करने से भजन श्रवण के हाथ में आता है और सहज ही ब्रह्मार्पण हो जाता है। सद्गुरु का वचन कान पर पड़ते ही मन का मनपन मन में ही विलीन हो जाता है। वही श्रवण ब्रह्मार्पण होकर भगवद्भजन में सार्थकता आती है। इस प्रकार श्रवण से ही श्रवण करने पर उसे ब्रह्मार्पणता प्राप्त होकर सहज ही हेतुरहित भगवदभजन हो जाता है। भजन से सन्तुष्ट होने वाला जगन्निवास गन्ध का गन्ध बन कर रहता है और परेश घ्राण के द्वारा ब्रह्मार्पण से सुवास ग्रहण करता है। जो पुष्प को पुष्पत्व देता है और फिर अनेक प्रकार की सुगन्धता का ब्रह्मार्पण भोग करता है। नासिका में अवकाश स्वयं ही ग्राहकता बन जाने के कारण वह भोग स्वयं ही कृष्णार्पण होता है। अब 'रस' के अर्पण के सम्बन्ध में बताता हूँ। जिह्वा रसग्रहण करने जाती है तो भगवान स्वयं ही रसास्वाद बन जाते हैं, जिससे रसना में रसोपभोग की वृत्ति ब्रह्मार्पण हो जाती है। जिह्वा जो भी स्वाद ग्रहण करती है, वह हरिरूप होकर पूर्ण रूप से मधुर हो जाती है। इस प्रकार जिह्वा अपना रसानुभव ब्रह्मार्पण कर देती है। रस, रसना और रसास्वाद का निजस्वरूप में अभेद ही है। ऐसी भावना से रस का सेवन करने से स्वानन्द कन्द इन्द्रियद्वार के बाहर आता है। अर्थात् ऐसे रससेवन से परमानन्द का साक्षात्कार होता है। कडुवा, मधुर आदि जो अनेक रस हैं उनका रसना धीरे-धीरे सेवन करती है लेकन वह सारा 'ब्रह्मरस' ही होने के कारण उसके स्वाद में मधुर परमानन्द ही प्रकट होता है। इस प्रकार रसना भी रसभोग द्वारा कृष्णार्पण में ही रत होती है। अब हे राजा! 'स्पर्श' इस विषय की व्यवस्था ब्रह्मार्पण में किस प्रकार होती है, सुनो! अपने शरीर से स्पर्श करने जाओ तो देह में विदेही आत्मा ही प्रकट होता है। इसलिए जिसे भी स्पर्श करने जाओ, वह स्पर्शभोग ब्रह्मार्पण होने लगता है। स्पर्शास्पर्श से अर्थात् त्वचा से किसी को स्पर्श करने का विचार करें तो वहाँ स्पर्श करने के लिए कुछ नहीं रहता। उस ऐक्यरूप के कारण कृष्णार्पणरूपी भजन ही प्रकट होता है। इसलिए जो भी पदार्थ लेने जाओ, वह पदार्थ सर्वसत्ताधीश परमात्मा ही बनकर रह जाता है इस प्रकार उस भजन से निजभक्ति का स्वार्थ अर्थात् परमार्थ ही पल्ले पड़ता है। अब हाथ के अर्पण के बारे में बता रहे हैं। हाथ भगवान को जब कुछ देने जाते हैं, तब वह देते समय भजन किस प्रकार हो जाता है, देखें। तो देनेवाला, लेने वाला और दान ये तीनों बातें भगवान स्वयं हो जाता है। अब 'पैर' का अर्पण सुनिये। भक्त हर तरफ पैर से चल कर आता है वह मार्ग भगवान स्वयं हो जाता है इसलिए ब्रह्मार्पण के कारण पग-पग पर निजभजन होता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। चरणों को चलने के लिए जो गति देता है, वही पृथ्वी की धारणा शक्ति है ऐसी युक्ति धारण कर चलने से, चलने का वह कर्म ब्रह्मस्थिति को पहुँच जाता है। अभी तक ज्ञानेन्द्रियों में से श्रोतेन्द्रियों के सम्बन्ध में बतलाया, अब कर्मेन्द्रियों में से वागिन्द्रिय के सम्बन्ध में सुनिये। बोल और बुलवाने वाले की भेंट बोलने में होती है। उसे देखकर बोल लज्जा करता है। उसे दूर कर ही बोलना प्रकट होता है इसलिए ब्रह्मार्पण के साथ निजभजन बढ़ता रहता है। नि:शब्द में शब्द का विलय होता है नि:शब्द बात ही शब्दों से कही जाती है। अर्पणकर्ता के साथ वास्तविक अर्पण विधि इसे ही समझो। बोल बुलाने वाला बोल के भीतर ही है यह मान लेने पर वह बोल कृष्णार्पण ही हो जाते हैं। इस प्रकार शब्द रूप से ही भजन होकर ब्रह्मार्पण के साथ परमार्थ प्रकट होता है। अब अभिमान का अर्पण बताते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, मन से कर्म से और वचन से जो भगवदभजन में दृढ़ होता है वही उस भजन को अभिमान के साथ दृढ़तर थाम कर रहता है। समुद्र के भीतर रहने वाली लहर कहती है कि वास्तव में देखा जाए तो जगत को शान्त करने वाला और पोसने वाला तथा चातक की तृष्णा को हरण करने वाला जो मेघ है उसकी उत्पत्ति मुझ से ही है। मेरे ही कारण फसल पकती है, मेरे ही कारण नदियाँ जल से भरकर बहती हैं और फिर समुद्र में मिल कर मुझसे ही मिल जाती हैं। इस न्याय के अनुसार भगवद्भक्त मूल का पूर्णत्व पाकर उस पूर्णत्व के अभिमान से भजने लगता है। उस भजन का लक्षण ध्यान देकर सुनो। वह कहता है कि त्रिभुवन का कर्ता मैं हूँ, कर्म करके अकर्ता तथा सभी प्रकार के भोग भोगकर नित्य अभोक्ता रहने वाला भी मैं हूँ, सभी लोकों में मेरी ही सत्ता है, सभी में सब का नियंता भी मैं ही हूँ, सब को सभी प्रकार से प्रकाशित करने वाला भी मैं ही हूँ, उसी प्रकार सबका रास्ता भी मैं ही हूँ। सकल प्राणियों में मैं ही एकमेव हूँ, व्याप्य और व्यापक मैं ही हूँ, उत्पन्न होने वाला और उत्पन्न करने वाला मैं ही हूँ। एकता भंग किये बिना जगद्रूप होनेवाला मैं ही हूँ। देवों का आदिदेव मैं हूँ, देवों में जो देवत्व है वह मेरा ही तत्व है। विनाशवान पदार्थों में अव्यय और अज मैं हूँ। अक्षरों में जो अक्षरधर्म दिखाई देता है वह मेरे ही कारण है। ईश्वर में निहित जो भी सत्ता है, वह सब मेरे ही सामर्थ्य के कारण है। ईश्वर में जो भी ईश्वरत्व है वह मेरे ही कारण है। जलरूप में रसरूप मैं हूँ, प्रकृतिपुरुषों का जनक मैं हूँ, सृष्टि रचना की संकल्पना मेरी है किन्तु मैं निर्विकल्प हूँ। सभी कारणों का अनादि कारण मैं हूँ, समाधि की मूल समाधि मैं हूँ, आत्मशुद्धि को मेरे ही कारण शुद्धि प्राप्त हुई। अभिमान का कृष्णार्पण इसी प्रकार होता है। मैं अजन्मा होते हुए, बिना जन्म लिये जन्म लेता हूँ। मैं अकर्मा होते हुए कर्म किये बिना कर्म करता हूँ। पुरुषोत्तम को 'उत्तम' की महिमा मेरे ही कारण प्राप्त हुई है। 'सत्' शब्द से मेरा ही बोध होता है। 'चित्' शब्द से तो स्पष्ट रूप से 'मैं' ही हूँ। सत्, चित् और 'आनन्द' ये तीन भिन्न धर्म न होकर निर्व्यंग जो 'आनन्द' है, वह मैं हूँ। मेरे ही कारण सूर्य में प्रकाश है, मुझमें ही चिदाकाश का आकाश है। जगन्निवास मेरे ही कारण जगत में आनन्द से विचरण करता है। मैं अज हूँ। मेरे अजत्व के कारण ही माया को अजत्व प्राप्त हुआ है। नि:शेष निर्बीज पदार्थों का बीज मैं हूँ। मेरे ही स्वरूप से आत्मस्वरूप प्रकट होकर नाचता रहता है। अधिष्ठान का वास मुझमें ही है। जगदीश्वर का पूर्ण ईश्वर मैं हूँ। परमपुरुष का पुरुष मैं हूँ और परेश का परेश भी स्वयं मैं हूँ। असत् पदार्थ मेरे कारण सत्तावान होते हैं। अचित् अर्थात् जड़ वस्तुओं को मेरे कारण चेतनता प्राप्त होती है। निजानंद को भी मेरे ही कारण आनन्दत्व प्राप्त होता है। सभी सिद्धियों की मूल सिद्धि मैं हूँ, बुद्धि की सर्वांग सुन्दर बुद्धि मैं ही हूँ। मोक्ष की उपाधि भी मेरे कारण ही सिद्ध होती है। सच्चा धर्म मैं हूँ। मुझमें निहित ब्रह्म से कर्म का विस्मरण होता है। ब्रह्म समाधि की परमावधि जो परब्रह्म है, वह मैं हूँ। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर ये भी वास्तव में मेरा ही अंश धारण करते हैं। दशावतारों का अवतारी मैं ही हूँ। मेरी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

महत्ता स्वयं मैं भी नहीं जानता। इस प्रकार अनेक विचारों के अभिमान से वह भगवद्भजन करता है और 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ इस दृढ़ भावना से स्वयं अपने जीव को ही पूर्णत्व से समर्पण करता है। पूर्णत्व में डालकर अभिमान जो भी कल्पना करता है वह सब वह स्वयं ही हो जाता है और वह पूर्णत्व भी अपने मूल के पूर्णत्व में अर्पण करता है। 'ब्रह्माहमस्मि' जो वचन है, उस अहंता को भगवद्जन कहते हैं। लेकिन यह तो तद्रूप हो कर और अभिमान ब्रह्मार्पण करके ही भजन करने लगता है। देहबुद्धि का कचरा झाड़ कर ऐसे भजन से जो अहंकार उत्पन्न होता है वही अपरोक्ष आत्मस्वरूप का साक्षात्कार है। इस प्रकार पूरी तरह निश्चिंत होकर वह पूर्णत्व से विचरण करने लगता है। इसलिए मनन का मनन मैं ही हूँ, चित्त को चिन्तन धर्म के बिना जो आत्मचिन्तन होता है, वह मैं ही हूँ। जिसकी सहज प्राप्ति नहीं होती उसका निजचित्त को चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार जब चित्त स्वानुभव से भजने लगता है तो जो अप्राप्य सा लगता है उसकी भी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए चित्त निश्चय करके जो भी चिन्तन करता है, वह सब वह स्वयं ही बन जाता है। इस साक्षात्कार से चित्त निजबोध से युक्त होकर भजने लगता है। जो अस्तित्व में नहीं है उसकी चिन्ता करना 'अतिचिंता' है और जो अस्तित्व में है, उसकी चिन्ता करना 'निश्चितता' है। इन दोनों का चिन्तन छोड़ देने से न भजते ही भजन हो जाता है। चित्त, चिन्त्य और चिन्तन इन तीनों का समाधान होने पर, वह समाधान भी पूर्णतयः सहज ही कृष्णार्पण हो जाता है। ऐसी भगवद्जनों की विधि से बुद्धि भजनशील होने पर सकल कर्मों में भी सहज ही समाधि प्राप्त होती है। कुछ लोग कहते हैं कि 'कर्माचरण में समाधि कभी सम्भव नहीं होती। तो हे राजा जनक, समझ लो कि उन्हें आत्मस्वरूप का बोध हुआ ही नहीं है। जो 'तटस्थ' भाव को ही समाधि कहते हैं, उसकी बुद्धि काम नहीं कर रही है, ऐसा समझना चाहिए क्योंकि वह वास्तविक 'समाधि' न होकर केवल 'मूर्च्छा' है। जो तटस्थता से जागृत होता है वह समाधि भी खो देता है। अर्थात् यह बात एकतरफा है। मतिमंद लोग भी इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे। 'समाधि' और वह भी एकतरफा यह कहना भी लज्जास्पद है। ऐसा होते हुए भी जो इसे सच मानेंगे, उसमें केवल शब्द पाण्डित्य ही होगा। उन्हें शुद्ध स्वरूप की पहचान नहीं है, यही कहना होगा। यहाँ प्रारब्ध अत्यन्त समर्थ होने के कारण वह मूर्च्छा लाकर निश्चेष्ट करता है। सच पूछा जाय तो चलते-फिरते समाधिस्थ वसिष्ठादिक ऋषि हैं। देवर्षि नारद को ही देखिये। उनके विनोद कर्म से भी कभी समाधि भंग नहीं होती। याज्ञवल्क्य के समाधि के सम्बन्ध में तो प्रसिद्ध ऋषियों ने परीक्षा भी ली है। स्वरूप देखकर जो मूर्च्छित होता है वह स्वयं तरता है किन्तु स्वयं तरकर दूसरों को भी तारने का ज्ञान शुकवामदेव आदि ने ही प्रकट किया है। इसलिए समाधि और व्युत्थान इन दोनों ही अवस्थाओं में बुद्धि ब्रह्मार्पण होती है, वही अखण्ड और परिपूर्ण समाधि है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मसमाधि देकर शीघ्र ही घनघोर युद्ध में झोंक दिया किन्तु उस करुणानिधि श्रीकृष्ण ने उसे तटस्थता का स्पर्श भी नहीं होने दिया। समस्त प्रकार के कर्मों में भी समाधि होनी चाहिए यह ज्ञान बुद्धि को केवल सद्गुरु ही देते हैं, इसलिए युद्ध जैसे 'घोर' कर्म में भी समाधि का भंग नहीं होता। बुद्धि द्वारा परब्रह्म का आकलन करने पर कोई भी कर्म अहेतुक ही चलता है, यही बुद्धि का सच्चा अर्पण है। अन्य जो आनुमानिक ज्ञान है, वह भ्रम है। स्वरूप में असीमित तन्मय दृष्टि तथा कभी न टूटने वाली समबुद्धि जिसकी रहती है उसे कर्म करते समय भी अज्ञान की बाधा नहीं होती। ऐसी ही स्थिति का नाम 'परम-समाधि' है। देहबुद्धि पूरी तरह समाप्त होने पर स्वस्वरूपानुभव से अहंकार की बाधा नहीं होती। सदासर्वदा स्वस्वरूप में बुद्धि भजनशील होने पर वह किसी भी कर्म में स्वयं ही श्रीकृष्णार्पण होती है। मन की छटपटाहट बिलकुल शान्त होती है, उसी का नाम है 'परमसमाधि'। 'देहबुद्धि' का त्याग किये बिना प्राणवायु

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को बन्द कर समाधि लगाना यह काष्ठ की तरह जड़ अर्थात् मूर्च्छावस्था जैसी ही स्थिति है, ऐसा समझना चाहिए। अब 'कायिक' कर्म का लक्षण बताते हैं। जिसकी मन को जानकारी नहीं होती लेकिन इन्द्रियों का व्यापार चलता रहता है, ऐसा जो कर्म होता रहता है, उसे सहज ही 'कायिक' अर्थात् केवल काया का कर्म समझना चाहिए। श्वासोच्छ्वास अथवा आँखों का खुलना बन्द होना भी नारायण के ही लिए होता है। घर, शरीर तथा वर्णाश्रम धर्म के अनुसार उसके हिस्से में जो भी कर्म आते हैं, उन उन कर्मों को वह कर्तव्य बुद्धि से अभिमान रहित होकर करता रहता है। यदि चीनी का बड़ा सा करैला बनाया जाय तो उसका डंठल तथा काँटे भी मीठे ही होंगे। उसी प्रकार समस्त इन्द्रियों का कर्म ब्रह्मार्पण के योग से ब्रह्मा में मधुर अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है। वह पूरे कर्मसमूह का विधिपूर्वक निर्वाह कर उसका गौरव बढ़ाता है। लेकिन मन में कर्तापन का भाव नहीं रखता। मैंने सत्कर्म का पालन किया, मेरा आचरण अत्यन्त उत्तम था, मैंने जन्ममरण को समाप्त किया, यह स्वाभाविक देहभाव उसमें उत्पन्न ही नहीं होता। वह देह के साथ विचरण अवश्य करता है, लेकिन देहधर्म को धारण नहीं करता। उसे ज्ञान का अहंकार नहीं होता, इसलिए सहजभजन में वह अहंकार रहित होकर ही विचरण करता रहता है। उससे जो कुछ भी उत्पन्न होता है वह सब मेरा मधुर खाद्य है, ऐसा भगवान कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्मार्पणत्व के कारण ऐसे भक्त के सारे स्वभाव अर्पण नहीं करने होते बल्कि सहज ही अर्पण हो जाते हैं। पारस की कसौटी पर जो भी सोना चढ़ता है वह अत्यन्त शुद्ध सोना ही बनता है उसी प्रकार उसके शरीर से जो भी कर्म होता है वह सच्चा परब्रह्म होता है। उसका खेल ही उसकी महापूजा है, उसका बड़बड़ाना ही महास्तुति है, इस प्रकार उसके स्वाभाविक कर्म से स्वानंदपूर्ण श्रीनारायण सुखी होता है। जिस राह की ओर वह देखता है उसी राह पर भगवान प्रसन्नतापूर्वक खड़े हो जाते हैं। फिर वह देखे या न देखे, उसे स्वाभाविक रूप से भगवान ही दिखाई देता है। वह जिस मार्ग पर चलता है, वह मार्ग ही स्वयं श्रीरंग बन जाता है। अर्थात् वह भगवान के पेट पर मस्ती से चलता है। उससे स्वाभाविक रूप से जो कर्म होता है, वह अहेतुक ब्रह्मार्पण ही होता है। इसी का नाम है निर्दोष 'भजन' और यही है शुद्ध भागवत धर्म। स्वाभाविक रूप से जो व्यवहार होता है वह ब्रह्मार्पण ही होता है। इसी का नाम है शुद्ध 'आराधन'। हे राजा जनक! पूर्ण 'भागवत धर्म' जिसे कहा जाता है, समझ लो कि वह यही है। इस प्रकार के भगवदजन मार्ग पर किसी बात का भय नहीं है। हे नृपनाथ! तुमने 'अभय' के सम्बन्ध में पूछा था। वह इस भजन से ही निश्चित रूप से प्राप्त होता है। राजा! इसमें भय का कारण क्या है, यह अगर पूछते हो तो वह भी बताता हूँ। हे श्रवणसौभाग्यनिधे! सावधान होकर सुनो।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्मायया ऽतो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥ ३७॥

आत्मा पूर्ण रूप से सर्वत्र एक ही है। फिर भी 'उससे मैं भिन्न हूँ' यह कहना ही भयजनक अज्ञान है। उसमें भेद-भाव उत्पन्न होने के कारण वह अत्यन्त दुःखदायी होता है। यदि दृढ़ अज्ञान ही भय का मूल कारण है और ज्ञान ही उस अज्ञान का निवर्त्तक है तो फिर वहाँ भगवद्जन कहाँ से आये? पण्डितों को ऐसा ज्ञानाभिमान होता है। इसलिए हे राजा! तुम्हें जो कहता हूँ वह सुनो। हमारा दृढ़ विश्वास है कि ज्ञान का मुख्य कारण भक्ति है। 'माया' ही अज्ञान का मूल कारण है। ब्रह्मादिक भी उसे नहीं सँभाल पाते। वह त्रिगुणात्मक है तथा प्राणियों के पीछे लगी हुई है और वह अत्यन्त दुस्तर है यह जान लो। स्वस्वरूप को आवृत्त करना यही उस माया का प्रमुख लक्षण है। द्वैत का उभरना ही 'मूल माया' है। ब्रह्म अद्वैत से परिपूर्ण है। हे राजा! उस अद्वैतरूप में 'मैं' का जो भाव उत्पन्न होता है वही वास्तव में माया का जन्मस्थान है यह जान लो। उस माया के पेट में भय, शोक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और दुःख का भण्डार है। वह जब ब्रह्मदेव और शंकर जैसों का भी पीछा नहीं छोड़ती तो फिर अन्य की क्या बिसात है? उस महामाया की निवृत्ति करने के लिए केवल भगवद्भक्ति ही समर्थ है। गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यही बात कही है। भगवद्गीता का वह वचन—"मामेव ये प्रपच्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" (माया भगवान की शक्ति है, उसकी निवृत्ति करने के लिए भगवद्भजन ही चाहिए, वहाँ अन्य उपाय नही चलेंगे। जो भगवान के भक्त होते हैं वही हरि की माया सुख से तर जाते हैं। अपने अन्तर की यही गुप्त बात श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सामने प्रकट की। माया का यह सबसे बड़ा गुण है कि वह प्राणि की दृष्टि को स्वस्वरूप से विन्मुख करती है और द्वैतभाव से बलवान होकर हमेशा भ्रम के त्रिगुट (दृश्य, दर्शन, द्रष्टा यह भावना) को बढ़ाती रहती है। द्वैत का भान ही भय का जनक तथा माया द्वैत की जननी है, यह जान लो। ऐसी उस माया का निवर्तक ब्रह्मज्ञान है, ऐसा ज्ञान सम्पन्न साधु संत बताते हैं। लेकिन यह श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञान, भक्ति का ही पोष्यपुत्र है यह जान लो। यदि भगवद्भजन नहीं किया तो ब्रह्मज्ञान कभी प्राप्त नहीं होगा। भले ही वेदशास्त्र सम्पन्न हों लेकिन यदि उन्होंने भगवद्भजन नहीं किया तो माया को परावृत्त करने वाला ब्रह्मज्ञान उन्हें भी कभी प्राप्त नहीं होगा। शब्दज्ञान की व्युत्पत्ति लौकिक ज्ञान बढ़ाने में भले ही समर्थ हो लेकिन माया की निवृत्ति करनेवाला ज्ञान हरिभक्ति के सिवाए कभी प्राप्त नहीं होगा। हरिगुण की रसाल कथा ही ब्रह्मज्ञान की जननी है। हरिनाम का गजर सुनते ही माया प्राण बचाकर वहाँ से भागती है लेकिन वह भाग नहीं सकती क्योंकि हरिनाम के भय से वह अपने ही स्थान पर घुल जाती है। इसलिए हरि की माया हरिभक्तों के लिए बाधक नहीं होती। हरिनाम की शक्ति विचित्र है, उसके आगे माया की कुछ नहीं चलती इसलिए हरिभक्त सुख से माया को तर जाते हैं ऐसा स्वयं श्रीपतिजी ने कहा है। सलोकता, समीपता, सरूपता तथा सायुज्यता इन चारों मुक्तियों को भगवद्भक्ति अपनी गोद में खिलाती है। इस प्रकार यदि अनन्यभाव से भक्ति नहीं की गयी तो शास्त्रज्ञ लोगों को कभी भी मुक्ति नहीं मिल सकेगी। जो हरिभजन से विमुख होते हैं उनके सामने द्वैत सर्वदा खड़ा रहता है। उनका महाभयंकर तथा दुःखदायी प्रपंच बढ़ता ही जाता है। जिस प्रकार अचानक दिशा भूलने वाला व्यक्ति पश्चिम को ही पूर्व कहता है उसी प्रकार परब्रह्म से विमुख होने पर मिथ्या अद्वैत का बोलबाला हो जाता है। द्वैत के भेदरूपी कुएँ में से संकल्प-विकल्प के सोते फूटते हैं और जन्म-मरण की बाढ़ में सारा ब्रह्माण्ड डूब जाता है। जन्म मरण के आकर्षण से अनेक प्रकार के दुःखों की राशि और संकटों का सामना अभक्त लोगों को ही करना होता है क्योंकि हरिभक्तों को स्वप्न में भी जन्म-मरण का आकर्षण नहीं होता। भक्ति की महिमा अगाध है, उसमें संसार बन्धन प्रवेश नहीं करता। ऐसे भगवद्भजन को साधने के लिए सद्गुरु के चरणों की सेवा करनी पड़ती है। अपने शिष्य की मृत्यु की चिन्ता का जो निवारण करता है, वही सच्चा सद्गुरु है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के गुरु केवल मंत्र-तंत्र उपदेश तक ही सीमित समझने चाहिए। मंत्र-तंत्र का उपदेश करने वाले गुरु घर-घर में दिखाई देते हैं लेकिन जो शिष्य को सद्वस्तु दिलाते हैं उसी को श्रीकृष्ण सद्गुरु मानते हैं। गुरु ही देव है, गुरु ही माता-पिता है, गुरु ही आत्मा है और गुरु ही ईश्वर है। गुरु सभी दृष्टियों से परमात्मा ही है। तात्विक दृष्टि से देखा जाए तो गुरु परब्रह्म ही है। गुरु की उपमा देने लायक संसार में अन्य कुछ मिलने वाला नहीं है। गुरु की महिमा अगाध है। भाग्य के बिना उसकी भेंट नहीं हो सकती। निष्काम पुण्यराशि तथा असीम वैराग्य का साथ हो, तथा नित्यानित्य विवेक की चाह हो तभी सद्गुरु कृपा प्राप्त होती है। सद्गुरु कृपा प्राप्त हो जाए तो भक्ति के भण्डार खुल जाते हैं, फिर उसके सामने जहाँ कलिकाल भी भागने लगता है तो वहाँ संसारभय क्या कर लेगा? गुरु को माता-पिता भी नहीं कह सकते क्योंकि उनका साथ तो केवल एक ही जन्म का होता है लेकिन गुरु तो हर जन्म में माँ-बाप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की तरह होता है। अधोद्वार से जन्म देने वाले लौकिक दृष्टि से माता-पिता होते हैं किन्तु अधोद्वार का स्पर्श न होने देने वाले जो गुरु हैं वही सच्चे अर्थ में माता-पिता हैं। गुरु को कुलदेवता कहा जाय तो उसकी पूजनीयता केवल कुलधर्म के कर्मों में ही होती है, लेकिन गुरु सभी कर्मों में अकर्ता होने के कारण सदासर्वदा और सभी दृष्टियों से पूजनीय है। गुरु को देवतातुल्य कहा जाय तो देवता को देवत्व भी उसी के कारण आता है, इसलिए देवता की भी तुलना सद्गुरु के साथ नहीं हो सकती। इसे ध्यान में रखो। गुरु और ब्रह्म को यदि समान कहा जाए तो वह उपमा भी कुछ कम ही होगी क्योंकि ब्रह्मा को ब्रह्मत्व गुरुवाक्य से ही आता है। अद्वय रूप में वह अवश्य सद्गुरु के समान होगा। इसलिए गुरु की महत्ता अगाध है। वह अनुपम है। ब्रह्मा के सम्बन्ध में ब्रह्मत्व-प्रमाण-प्रमा-प्रमेय आदि वाक्य-महिमा सद्गुरु की है। ब्रह्म सबका प्रकाशक है लेकिन सद्गुरु उसका भी प्रकाशक है। इसलिए गुरु से पूज्य और कुछ भी नहीं है। इसलिए हे राजा! सद्गुरु को कभी भी मनुष्य भावना से नहीं देखना चाहिए। ऐसी भावार्थ बुद्धि से रहने से अच्छे शिष्य की सहज ही चित्तशुद्धि होती है। जिसकी गुरु चरणों पर असीम भक्ति रहती है, उसके मनोरथ भगवान पूरे करते हैं क्योंकि सद्गुरु की आज्ञा का पालन भगवान भी करते हैं। गुरु के कहने से वह जड़, मूढों का भी उद्धार करता है। ब्रह्म भावना से जो गुरु की सेवा करते हैं, उनकी आज्ञा का पालन भगवान भी करते हैं। उन्हें वह सदा सर्वदा निज स्वरूप का सुख प्रदान करता है। इस गुरु मर्यादा का भगवान कभी उल्लंघन नहीं करता। गुरु की आज्ञा का पालन भगवान स्वयं करते हैं और गुरु भी भगवान को महानता प्रदान करता है। इसलिए वे दोनों ही अभिन्न भाव से भावार्थी लोगों के तारनहार होते हैं। अन्तःकरण में सद्भाव न होते हुए भी जो भक्ति का ढोंग करते हैं वे अपनी भावना के अनुसार संसार सागर में अनेक प्रकार से डूबते-उतराते रहते हैं। वे मानवता से हाथ धोते हैं, आत्मत्व को खो देते हैं और ब्रह्मप्राप्ति में भी ठगे जाते हैं। हरिभक्ति कभी भी दंभ से नहीं उत्पन्न होती। यहाँ शुद्ध भाव के बिना परमार्थ कभी हाथ नहीं आता। यह बात तुम ध्यान में रखो कि समस्त साधनों में सद्भाव ही एक श्रेष्ठ साधन है। सूखे खम्भे के पास सद्भाव रखते ही वहाँ देवाधिदेव प्रकट हो गया, फिर सद्गुरु तो स्वयं साक्षात परब्रह्म हैं। इसलिए गुरुभजन जैसा भजने के लिए सरल मार्ग नहीं है। सचमुच जिसे ज्ञान-भक्ति कहते हैं वह वास्तव में गुरुभक्ति ही है। गुरु की अपेक्षा ब्रह्म श्रेष्ठ है, यदि ऐसा कहें तो गुरुत्व की महिमा कम होती है। ऐसा विषम भाव रखने से शिष्य के मन में ब्रह्मसाम्य का उद्गम नहीं होगा। हमारे लिए सद्गुरु ही परब्रह्म है, ऐसी सप्रेम भावना रखना ही उत्तम गुरुसेवा है। ऐसी सेवा से अर्थात् ऐसे निजभाव से शिष्य स्वयं परब्रह्म हो जाता है। ऐसी ही गुरुसेवा से प्रह्लाद द्वंद्वातीत हो गया और नारद परब्रह्म से ऐक्य प्राप्त कर निजानन्द से नाचते-गाते देवदानवों के बीच विचरण करता रहता है। ऐसी ही गुरु सेवा करने से अम्बरीष की गर्भव्यथा समाप्त हो गयी। उस गर्भव्यथा को भगवान ने सहन किया। अपने भक्त को उसने संसार की व्यथा नहीं होने दी। ऐसी अभिन्न भावना से जो सुबुद्धिमंत गुरुचरणों का भजन करते हैं वे जनार्दन के प्रिय बन जाते हैं। वे उन्हें संसार भावना का स्पर्श नहीं होने देते। गुरु और ब्रह्म ये दोनों एक हैं, उसी प्रकार शिष्य भी तत्स्वरूप ही है। जो कोई भेद भावना से भिन्नता मानते हैं वे माया के कारण ऐसा करते हैं, ऐसा कवि का कहना है।

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयोर्ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।
तत् कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात्॥ ३८॥

जिस प्रकार कोई व्यक्ति सोते समय स्वप्न में संसार की कल्पना करता है, उसी प्रकार पुरुष को जो प्रपंच दिखाई देता है वह वास्तव में न होते हुए मिथ्या भासित होता है। मनुष्य जब नींद में रहता है, उस समय उसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वप्न दिखाई देता है, वही जब जागृत हो जाता है तो मनोरथ का चिन्तन करने लगता है, और उसे अवास्तव जन वन दिखाई देने लगता है। अथवा जो आसन लगाकर मूर्ति का चिन्तन करता है उसे ध्येय, ध्याता, ध्यान, उपचार आदि का व्यर्थ का आभास होने लगता है। जिस प्रकार धन के लोभी का धन गायब होने पर भी उसकी वासना धन धान्य को नहीं छोड़ पाती उसी प्रकार उसका मन धन का स्मरण करने से द्रव्य लोभ से पागल हो जाता है। मन स्वयं भले ही धन न हो लेकिन वह धन के खजाने का स्मरण करता है और स्मृति लोप होकर धन लोभ से पूरी तरह पागल हो जाता है। उसी प्रकार मोह द्वारा पूरी तरह ग्रस्त होने पर मिथ्या देहादि के द्वैत का आभास होने लगता है, उसे अहंभाव से सच मान लेने पर संसार का भय शरीर पर अचूक प्रहार करता है। यह बात ध्यान में रखो कि भवभय का प्रमुख कारण हमारे मन की कल्पना ही है। उस मन का निरोध करने के लिए सद्गुरु के वचन तथा उनके प्रति दृढ़ निष्ठा रखनी चाहिए। यह जानकर जो सच्छिष्य ज्ञाता होते हैं, वे गुरु की बात पर विश्वास रखकर विवेक और वैराग्य के बल से अपने मन को सँभाल कर रखते हैं। राजा! उस नियंत्रण की क्या युक्ति है, उसे मैं संक्षेप में तुम्हें बताता हूँ। सद्गुरुवचन आत्मबोध से मन को सावधान करता रहता है। सद्गुरु पर तथा उसके वचन पर दृढ़ निष्ठा रखने से चंचलता से विषयचिन्तन करते हुए मन जो देखता है वह सब ब्रह्मार्पण होता जाता है। गुरुकृपा का ऐसा सामर्थ्य है कि विषय का जो भी स्वार्थ मन में रखो वह सब परमार्थ रूप ही हो जाता है। भूमि भय से जो भागता है उसे सब जगह भूमि ही दिखाई देती है। ऐसा होने से आना-जाना अपने आप ही बन्द हो जाता है और वह एक ही स्थान पर ठहर जाता है। इस प्रकार मन को एक मर्म दिखला देना चाहिए और वह यह है कि वह जिसे भी देखता है वह सब ब्रह्म ही है। ऐसा करने से वह जो भी कर्म करने लगेगा, वहाँ पुरुषोत्तम सहज प्रकट हो जाएगा। इस प्रकार गुरुपदेश के अनुभव के प्रभाव से इन्द्रियों की वृत्तियों पर नियन्त्रण हो जाता है और ब्रह्मरूप अधिष्ठान से ऐक्य मिलाकर बाह्य प्रवृत्तियों पर लगाम कस जाती है। इस प्रकार बाह्य कर्मों पर नियन्त्रण होकर मन का द्वैतभाव टूटता है और बाहर भी परब्रह्मरूप चिदाकाश चारों ओर भर जाता है। इस प्रकार के भजन से मन पर नियन्त्रण करने से, उन भक्तों को कल्पांत काल में भी भय नहीं रहता। वे निर्भय होकर विचरण करते रहते हैं। लेकिन यह अगाध निष्ठा भोले भाले लोगों से नहीं सध पाती, इसलिए एक और सरल साधन बताता हूँ।

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः॥ ३९॥

भोले-भाले लोगों के लिए तरने का प्रमुख साधन चित्तशुद्धि ही है। हरि के जन्म, कर्म और गुण के सम्बन्ध में अत्यन्त आदर से श्रवण करना चाहिए। खोये हुए पुत्र के मिलने की वार्त्ता माँ जितनी उत्कंठा से सुनती है, उतनी ही उत्कंठा से जीवन को सार्थक करने वाली हरिकथा सुननी चाहिए। हरि के जन्म-कर्म तथा गुण अनन्त हैं, वह सब कहाँ सुनने को मिलेगा? तो इसका उपाय यह है कि जो भी प्रसिद्ध पुराण हो, उसे पूरी श्रद्धा से सुनना चाहिए। पुराणों में अनेक देवताओं का उल्लेख है वे सब भी जिसका चरणस्पर्श करते हैं, वेदों और पुराणों ने भी जिसका वन्दन किया है वह चक्रपाणि श्रीकृष्ण ही एक समर्थ अर्थात् श्रेष्ठ है। उसके अत्यन्त अद्भुत जन्म तथा परमार्थ युक्त जो भी कर्म भगवान ने स्वमुख से सुनाये हैं, उन सबका ज्ञानप्राप्ति के लिए श्रवण करना चाहिए। लेकिन जिस किसी पुराण का भी वह श्रवण करे यदि वह उसका मनन नहीं करता तो सब व्यर्थ है। इसलिए श्रवण की हुई बात का अच्छी तरह मनन करते रहना चाहिए। पैसा देकर गाय खरीदी जाए और उसके दूध का सेवन स्वयं किया जाए तो वह विषयभोग होता है लेकिन यदि उसी गाय को दान में दिया जाए तो वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परमामृत का दूध अर्थात् मोक्ष प्रदान करती है। उसी प्रकार जो श्रवण किया जाए वह मनन से ही परमपावन होता है। अगर श्रवण की उपेक्षा की जाए तो वह निष्फल होता है। हरि का नाम कान में पड़ते ही कितने ही लोगों के मुख से वह बाहर निकलता है तो कितनों के इस कान से दूसरे कान में से निकल पड़ता है। परन्तु हरि का नाम कान में पड़ते ही, जिसके अन्त:करण में प्रवेश करता है उसका सारा पाप धुल जाता है और वह हरि के चरणों में लिपट जाता है। इस प्रकार हमेशा श्रवण के प्रति मननयुक्त श्रद्धा रखने से, विकल्प की कभी भी बाधा नहीं उत्पन्न होती और चित्तवृत्ति अपने आप शुद्ध हो जाती है। इस प्रकार मननयुक्त श्रवण करने से पूर्णानन्द उफनने लगता है और आनन्द के उस आवेग में वह हरिकीर्तन करने लगता है। तानमुद्रा-पदबंधयुक्त हरि का अगाध चरित्र कीर्तन के माध्यम से गाकर जब वे उनका विवेचन करने लगते हैं तो परमानन्द मानों बहने लगता है। जिसका जन्म नहीं है उसके जन्मों का वर्णन करते हैं, जिसका कोई कर्म नहीं है उसके कर्म अर्थात् लीलाओं को गाते हैं और जिसका कोई नाम नहीं है उसके नाम का संकीर्तन कर प्रेम से गर्दन हिलाते हैं। अपना हित साधने के लिए लौकिक की लज्जा छोड़ प्रसन्नता से नाचते रहते हैं। कीर्तन के योग से दोषों का निर्दलन होता है, जप, तप निराश हो जाते हैं, यमलोक उजाड़ हो जाता है और तीर्थों की आशा निष्फल हो जाती है, यम नियमों का उपवास हो जाता है, योगाभ्यास की मरने जैसी अवस्था हो जाती है, कीर्तन का गजर शुरु होते ही, परमात्मा श्रीकृष्ण नाममात्र से ही सारे दोष नष्ट कर देता है। कीर्तन की घड़घड़ाहट शुरु होते ही चारों ओर आनन्द छा जाता है। श्रीविष्णु आनन्द से गर्दन हिलाने लगते हैं और आनन्द के उस आवेग में शंकर तो ताण्डव नृत्य करने लगते हैं। इस प्रकार हरिकीर्तन मन को अत्यन्त आनन्द प्रदान करता है। यह भक्ति का राजमार्ग है। इस मार्ग में स्वयं चक्रपाणि सुरक्षा करता रहता है। वह चक्र लेकर उससे कहता है, "भक्त के स्थान पर तुम्हारी क्या आवश्यकता है? संसार में मेरा तो कोई शत्रु नहीं है लेकिन जो भक्तों से द्वेष करता है, उसका मैं अपने शस्त्र से विनाश करता हूँ।" चक्र से अहंकार की लुगदी बना देता हूँ। गदा तो मोहमाया का विनाश करती है, शंख से आत्मबोध को जागृत करता हूँ, और कमल से हमेशा अपने भक्तों की पूजा करता हूँ। जहाँ चक्रपाणी ही सुरक्षा कर रहे हैं, वहाँ संसारभय की कथावार्ता भी नहीं सुनाई पड़ती। श्रीहरि स्वयं कीर्त्ति गाने वाले की सुरक्षा करते रहते हैं। जो कथा श्रवण नहीं कर सकते हों, उन्हें 'राम, कृष्ण, गोविन्द' का नामस्मरण करना चाहिए। 'अच्युत' नाम की महिमा ही कुछ ऐसी है कि उसकी गर्जना करने से कल्पांत में भी 'च्युति' अर्थात् अधोगति नहीं हो सकती। इस नाम का जो नित्य स्मरण करते हैं वे सचमुच अच्युत के ही अवतार हैं। जिनकी वाणी रामकृष्णादि नामों का अखण्ड जप करती है, गर्जना करती है, उनके चरणों को साक्षात तीर्थ दण्डवत करते हैं और बड़े-बड़े देवतागण भी उनके चरण छूते हैं। नाम का तेज ही विलक्षण है। उसे लेने वाले की चरण रज यमराज भी अपने मस्तक पर धारण करते हैं। नाम के पास चतुर्भुज श्रीकृष्ण सदासर्वदा खड़े रहते हैं। नाम के प्रभाव के सामने संसारभय नगण्य है। नाम का सामना करने का साहस कलिकाल में भी नहीं है। नाम में जितनी शक्ति है उतना पाप पूरे त्रैलोक्य में नहीं है। हे जनकराजा! चारों भक्तियाँ नाम के पास ही रहती हैं, यह ध्यान में रखो। नाम से सुगम अन्य कोई साधन नहीं है। श्रीधर के नाम का, उसके जन्मों का तथा कर्मों का श्रवण करने से पापी का भी उद्धार होता है। इसलिए शास्त्रों के पण्डित हरि की लीला कल्याणकारी है इस प्रकार वर्णन करते हैं। ऐसा भक्तियोग जिनके अंत:करण में रहता है, उनमें ज्ञान का अहंकार नहीं रहने पाता। अहंकार की ममता छोड़ वे नि:संग होकर हरिकीर्तन करते रहते हैं। हरिकीर्त्ति का श्रवण और हरिनाम का स्मरण करने से सप्रेम भक्ति की वृद्धि होती है और भक्त को देह का भान ही नहीं रहता। राजा! उस स्थिति का भी वर्णन करता हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥ ४०॥

हरिनाम का तथा गुण-कीर्तनों का वर्णन जागृति में तो उत्तम है ही, लेकिन जब स्वप्न में भी वही स्थिति होती है तो यह समझना चाहिए कि हरिभक्ति मन में अच्छी तरह रच-बस गयी है। इस रीति से भक्तियुक्त होकर, जिसका व्रत धीरे-धीरे दृढ़तर होता जाता है, वैसे-वैसे उसका चित्त अधिकाधिक द्रवित होकर हरिनाम कीर्त्ति की प्रीति विचित्र ढंग से बढ़ने लगती है। परमप्रिय जो आत्मा है वही हरि है। उसकी नामकीर्तिका हर्ष अपार, नित्य नयी चाह उभरे, इस योग से अंतर्बाह्य हरि ही प्रकट होता है। किसी संकट में माँ से बेटा बिछड़ जाता है और काफी अन्तराल के बाद दोनों की भेंट होती है उस समय लड़का फुक्का फाड़कर रोने लगता है और माँ से लिपट जाता है। उसी प्रकार भक्ति मार्ग पर जब जीव की शिव से भेंट होती है और दोनों में आत्मसाक्षात्कार का आलिंगन होता है उस समय अनिवार्य रूपसे रुदन शुरु हो जाता है। परमात्मा को आलिंगन होता है, इसलिए जोर की सिसकियाँ आने लगती हैं और प्रेम से परिपूर्ण होने के कारण वह रोमांचित होकर जोर-जोर से सिसकियाँ लेकर रोने लगता है। फिर दूसरे ही क्षण जोर-जोर से हँसने लगता है और कहता है, अरे! मैं तो मुझमें ही हूँ। गलती हो गयी, भेंट हुई यह कहना मेरा ही पागलपन था, यह सोच कर वह हँसने लगता है। मैं तो स्वयं अखण्ड रूप से सर्वत्र व्याप्त हूँ, पूर्ण अभेद के कारण मैं अनादि जैसा था, वैसा ही हूँ। उसी प्रकार मैं अव्यय होकर जनमा और मर गया इसका स्मरण होते ही वह गर्दन हिलाकर हँसने लगता है। रस्सी को साँप समझ कर, घबरा कर भागते हुए लड़खड़ा कर गिर पड़ता है, तभी उस रस्सी को पहचान कर अपने आप ही हँसने लगता है। उसी प्रकार संसार मिथ्या है तथा देहभाव पूरी तरह झूठा है, ऐसा होते हुए मैं व्यर्थ की ममता और अहंभाव में था। धन्य है वह गुरुवचन जो मेरे लिए तारक बना। देह में होते हुए मैं विदेही बना। मेरे चारों देह मिथ्या क्यों हो गये? ऐसे अनुभवोद्‌गारों की गर्जना करने लगता है। वह कहता है, "धन्य है वह भगवद्‌भक्ति। उसने चारों मुक्तियों को भी मिथ्या सिद्ध कर दिया। परमात्मा तो मैं ही हूँ यह निश्चित है।" ऐसे उल्लासपूर्ण गर्जन से त्रिभुवन को निनादित कर देता है। धन्य है भगवान का नाम। उस नाम ने मुझे नित्य निष्काम कर दिया। संसार भ्रम पूर्णतया मिथ्या सिद्ध हुआ। इस प्रकार जोर-जोर से गर्जना कर पुकारता है। अब त्रिभुवन में अन्य कुछ भी नहीं है, जो कुछ भी दिखायी देता है, वह मैं ही हूँ, कहकर जोर की आवाज लगाता है। जिसके कारण दुर्धर भवबन्ध नष्ट हो गया, उस सद्‌गुरु की स्तुति में ही, अपनी अलौकिक वाणी में गरजता है। 'अरे! यह संसार मिथ्या हो गया, जन्म-मरण का अभाव हो गया, कलिकाल का अस्तित्व ही समाप्त हो गया' की रट लगाता है। इस प्रकार एक के बाद एक रट लगाने लगता है। उसी क्षण आत्म सुख का गीत गाता है और स्वानन्द से डोलता रहता है। अपने प्रिय की मधुर कथा जब सुनाने लगता है तो उसका समाधान ही नहीं होता, उसी प्रकार आत्मानुभव से जब हरिकथा गाने लगता है तो उसे संतोष ही नहीं होता। उसका गायन सुनते समय ज्ञानी श्रोता सुस्वरूप होता है, मुमुक्षु को उसका गाना सुनकर प्रेम उमड़ आता है। इस प्रकार वह जब गाने लगता है उस समय उसमें निजसुख का ज्वार उमड़ आता है और जब हर्ष पेट में नहीं समा पाता तो वह अलौकिक भाव से नाचने लगता है। दूजेपन का काम छोड़कर लौकिक की लाज छोड़कर वह अहंभाव त्याग कर सहज आनन्द से बड़े मजे से नाचता है। जो खरीद कर शराब पीता है, वह भी दारू की बेहोशी में गाता है और नाचता है, फिर जिसने ब्रह्मानन्द रस का सेवन किया हो, वह होश में कैसे रह पायेगा? इसलिए ब्रह्मानन्द के उन्माद में लौकिक छोड़कर वह स्वयं नाचता-गाता रहता है। लोग उसे पागल कहते हैं। यह बात पण्डितों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की समझ में नहीं आती। राजा, उसे भगवान के सिवाए अन्य कोई लोकाचार दिखायी ही नहीं देता। उसके निज बोध की कथा सुनाता हूँ। सुनो।

खं वायुमग्नि सलिलं महीं च ज्योतीषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥ ४१॥

स्वानन्द के बोध से तथा ब्रह्मोन्माद के परमानन्द से वह जिधर भी कहीं देखता है, उधर उसे सारा चराचर पूर्णानन्द से भरा हुआ और स्वानन्द से सराबोर दिखाई देता है। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश ये सब उसे हरिस्वरूप ही दिखाई देने लगते हैं। भूतों अथवा महाभूतों की प्रतिभा के अंकुर उसे अभिन्न, एकरूप ही दिखाई देने लगते हैं। जिस प्रकार केले का पेड़ बिना खाद के ही फल और पत्तों के रूप में विकसित होता है, उसी प्रकार हे राजा परीक्षित! परब्रह्म भूत-भौतिकात्मक रूप में प्रकट होता है। अथवा स्फटिक गृह की दीवार पर उकेरे गये हाथी, घोड़े आदि के चित्र भीतर के दीपक के कारण ही वैसे के वैसे दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार तेजःपुंज सूर्यचन्द्र आदि में चमकने वाला अग्नि तथा नक्षत्रों में दिखाई देने वाली चमक तथा प्राणियों की आँखों में दिखाई देने वाला तेज यह सब आत्मज्योति के ही कारण तेजस्वी दिखाई देता है। आतिशबाजी का सामान, जैसे गन्धक, कोयला आदि वस्तुओं को युक्ति से मिलाया जाए तो अग्नि फूलों की तरह दिखाई देता है। उसी प्रकार परब्रह्म स्वलीला से सूर्यचन्द्राकार होकर विविध रूपों में परिभाषित होता है। पृथ्वी स्वयं गन्धरूप है, लेकिन वह सुगन्ध कस्तूरी आदि पदार्थों में ही प्रकट होता है। उसी प्रकार भगवान की सत्ता सर्वत्र है लेकिन वह सात्विक प्रवृत्ति के लोगों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इसलिए सात्विक व्यक्ति में जो तत्त्व है, वह भगवद्त्व ही है, ऐसा समझ लो। सत्ववान लोगों को सत्व के ही कारण महत्त्व और हरिरूप से मान्यता प्राप्त होती है। पृथ्वी के चारों ओर जल का आवरण है उसे 'चतुःसमुद्र' कहते हैं। उसी प्रकार दसों दिशाओं में होने वाला ईश्वर का अंश ही 'दिशा' इस नाम से जाना जाता है। पूर्व-पश्चिम आदि जो प्रकार हैं वह दसदिशाओं के ही भाग हैं, ईश्वर का ही अंग है। उस रूप में श्रीरंग ही मूर्तिमंत दिखाई देता है। घास, दूब, दर्भ, पेड़ आदि को देखकर वह उन्हें श्रीहरि के केश ही कहता है। सबके शरीर में सम हरिरूप होते हुए भी, न पहचानने वाले के लिए वह सब विषम ही दिखाई देता है। उँगलियाँ गिनने से वे अलग-अलग मालूम होती हैं लेकिन वे मूलतः हमारे शरीर के एक ही अंग में चिपकी रहती हैं। इस प्रकार वन, बेलें, दर्भ, जंगल आदि को देखकर ये सब हरि का ही स्वरूप है, ऐसा वह कहता है। यह सारा वह ऐक्य भाव से ही देखता है, उसमें उसे निराला अंश नहीं दिखाई देता। वह कहता है, चाहे दूब हो, पेड़-पौधे हों या जंगल की लतर हों, यह अनन्त कोटि केशों की राशि श्रीहरि के ही शरीर पर बढ़ी है, और उसे श्रीहरि के स्वरूप से शोभा आयी हुई है। वट की लटकने वाली जड़ें अलग-अलग बढ़ती हैं, फिर भी वे वट के ही वृक्ष की होती हैं, वह अपने वटत्व से अलग नहीं हो जातीं। उसी प्रकार चैतन्य से, नदियों के रूप में अनेक प्रवाह निकले हुए हैं, उसमें भी चैतन्य ही ओतप्रोत रहता है और वे चिद्रूप से ही निरन्तर बहती रहती हैं। अथवा चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब का अमृत जिस प्रकार बिम्ब में बिम्बरूप होकर ही रहता है उसी प्रकार भगवान में संसार का आभास होता है और वह भजन विश्वास से भगवद्रूप ही हो जाता है। उसी प्रकार सृष्टि के अलग-अलग भाग देखते समय जिस प्रकार मन उल्लसित होता है, उसी प्रकार सारा संसार मानों भगवान ही पूर्ण रूप से आभूषित हैं, ऐसा अनुभव उसे होने लगता है। इसलिए वह समस्त प्राणिमात्रों के हृदय में इस प्रकार लीन हो जाता है मानो समुद्र के जल में नमक घुल-मिल गया है। उस अवस्था में वह चींटी को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देखकर भी उसे हरिस्वरूप समझ कर प्रणाम करता है। यह तो कुछ भी नहीं, लेकिन किसी मक्खी को भी भगवान का स्वरूप समझकर अनन्यभाव से शरणागत होकर दण्डवत करता है। गाय हो या गधा हो, चाण्डाल हो या श्वान हो, लोक जिन्हें अत्यन्त निंद्या और कनिष्ट समझते हैं, उन्हें भी पूर्ण भगवद्रूप मानकर अनन्य भाव से दण्डवत करता है। पाषाण को भी हरिरूप समझता है। तृण को भी भगवत्स्वरूप समझकर उसका वन्दन करता है। स्थावरजंगमादिकों को भी चिदैक्य भाव से दण्डवत करता है। हरिनाम स्मरण की महिमा से इतना लाभ कैसे होता है यह पूछोगे तो, ऐ राजा! उसका मर्म सुनो। विधिपूर्वक पूजा, अथवा श्रवण, स्मरण, कीर्तन करते हुए जिसकी सर्वकाल 'चिदैक्य भावना' रहती है, उसे ही 'पूर्णप्राप्ति' साध्य होती है।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥ ४२॥

हे चक्रवर्ती राजा जनक, सुनो! जहाँ ऐसी भगवद्भक्ति रहती है, वहाँ गोवत्स न्याय के अनुसार विषय-विरक्ति भी दौड़ कर आती है। जिस प्रकार जुड़वाँ फल एक दूसरे को नहीं छोड़ सकते उसी प्रकार भक्ति और विरक्ति साथ-साथ ही उत्पन्न होती हैं और उनके सामर्थ्य से भक्त भी समर्थ हो जाते हैं। जहाँ भक्ति और विरक्ति सहज स्थिति में एक साथ रह सकती हैं, वहीं पूर्ण-प्राप्ति भी सदा सर्वकाल दासी की तरह सेवा करती है। इस प्रकार भगवद्भक्ति त्रिभुवन में अत्यन्त समर्थ है और भक्ति-विरक्ति की एकता के कारण भक्तों के घर प्राप्ति भी रहने लगती है। अब भक्ति, विरक्ति और अनुभव प्राप्ति ये तीनों एक ही समय कैसे उत्पन्न होती हैं, वह स्थिति भी तुम्हें विस्तार से बताता हूँ। जैसे-जैसे भगवद्भक्ति की जाती है, वैसे-वैसे विषयों के प्रति विरक्ति उत्पन्न होती जाती है और उसी के अनुसार अनुभव स्थिति भी भक्तों को उसी समय प्राप्त होती है। भूखे व्यक्ति के सामने षड्रसयुक्त भोजन की थाली रखने से उसे प्रत्येक ग्रास में पुष्टि, तुष्टि तथा क्षुधानाश का अनुभव होता है। जितना ग्रास खाया जाए उतना ही क्षुधा का नाश होता है और जितना अधिक पेट भरता है उसी के अनुसार सुख और समाधान भी उतना ही बढ़ता जाता है। पुष्टि, तुष्टि तथा क्षुधानाश ये तीनों चीजें जिस प्रकार भोजन करने वाले को एक साथ प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार भगवद्भजन में भक्ति का त्रिकूट अर्थात् भक्ति, विरक्ति और अनुभव प्राप्ति ये तीनों एक साथ उत्पन्न होती है। हे राजा! सद्भाव से भगवद्भक्ति करने से भक्ति, विरक्ति तथा अनुभव प्राप्ति ये तीनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। हे राजा! सद्भाव से भगवद्भक्ति करने से भक्ति, विरक्ति और भगवत्प्राप्ति ये तीनों उपर्युक्त न्याय से एक ही समय प्राप्त होती है। भक्ति का अर्थ है समस्त प्राणियों के प्रति सप्रेम भावना और प्राप्ति का अर्थ है अपरोक्ष साक्षात्कार, अर्थात् भगवद्रूप की तीव्र स्फूर्ति अब विरक्ति ऐसी जैसे मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरी देह आदि जो ममत्व और अहंकार होता है, वह जहाँ समूल मिथ्या हो जाता है उसी का नाम राजा विरक्ति है। इस प्रकार भजन से भक्ति, विरक्ति और भगवत्प्राप्ति ये तीनों ऐक्यभाव से सद्भक्त में भजन दृष्टि के कारण एक ही समय उत्पन्न होती है। इसलिए राजा! स्वहित के लिए हरि की भक्ति अवश्य करनी चाहिए। वहाँ निश्चय ही भगवत्प्राप्ति होती है।

इत्यच्युताङ्घ्रि भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिभगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥ ४३॥

इस प्रकार जो सदा समस्त भूतों के प्रति अनन्य भक्ति करते हैं, वे भक्ति, विरक्ति और भगवत्प्राप्ति अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। हे राजा! हरिभक्ति यह एक उत्तम अंजन है। सद्भक्त अपने नेत्रों में यह अंजन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सूर्योदय होने के बाद दिन जिस प्रकार समाप्त होते ही रात आनी ही है, उसी प्रकार उत्पत्ति और स्थिति समाप्त होते ही प्रलय का आना निश्चित ही है। ऐसा प्रलयकाल आता देख अनादि काल क्षुब्ध होता है और वह महाभूतों के साथ पृथ्वी का विनाश करने के लिए भयंकर ताण्डव करने लगता है। जब फसल पक जाती है तो गरमी में अपने आप सूखने लगती है उसी प्रकार अब तक सृष्टि में स्थूल आकार में जितना कुछ व्यक्त हो रहा था, उन सबकी वह अव्यक्त अर्थात् अदृश्य करने लगता है। घास आदि का बीज पृथ्वी पर पड़ा रहता है, वह वर्षाकाल में अपने आप अंकुरित हो जाता है और शरद ऋतु में अनेक रूपों से फल बनकर पुष्ट होता है। ग्रीष्म ऋतु के अन्त में उसकी जड़ें और फल अदृश्य हो कर उसके बीज पृथ्वी में विलीन हो जाते हैं। उसी प्रकार इस संसार की अवस्था है। जिस प्रकार वसन्त ऋतु के आगमन से पहले पेड़ों के पत्ते गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मदेव आदि का प्रभाव भी काल अपनी शक्ति से नष्ट कर देता है। जिस प्रकार किसान सूखे खेत को बटोरने लगता है, उसी प्रकार काल भी शीघ्रता से व्यक्त को अव्यक्त करने लगता है। हे राजा! वही अव्यक्त करने की रीति तुम्हें बताऊँगा। प्रलयकाल आने से पूर्व ही काल की प्रक्षोभक शक्ति प्रकट होती है।

शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन् प्रतपिष्र्याता॥ ९॥

जब कालशक्ति क्षुब्ध हो जाती है तो सौ वर्ष तक वर्षा नहीं होती। इससे महासंकट उत्पन्न होकर सृष्टि का संहार होता है। पृथ्वी की पीठ पर कुछ भी शेष नहीं रहता। प्राणि मर जाते हैं, जंगल जलकर राख हो जाते हैं। आँख में लगाने भर के लिए भी एक बूँद पानी नहीं रहता। इस प्रकार काल सभी लोगों का संहार कर डालता है। तभी द्वादश सूर्यों का मेला आकाशमण्डल में एकत्र होकर उसके प्रखर किरणों से सारा त्रिभुवन संतप्त हो उठता है। धूप की लहरें उठती हैं और उनके कारण पर्वत मालाएँ झुलस जाती हैं। हे राजा! उस भयानक अग्नि से भूमण्डल देखते-देखते भस्म हो जाता है।

पातालतलमारभ्य सङ्कर्षणमुखानलः।
दहन्नूर्ध्वशिखोविष्वग् वर्धते वायुनेरितः॥ १०॥

उष्णता से पृथ्वी का तल तपता है और उससे शेष नाग का फन झुलसने लगता है। तब शेष अपने सहस्रमुखों से विष की अग्निज्वालाएँ उगलने लगता है। अग्नि की वे ज्वालाएँ पाताल के नीचे से ऊपर आकर त्रिभुवन को भी जलाने लगती हैं। तब अनिवार ज्वाला भड़क उठती है। शेषनाग क्रोध से फुफकारने लगता है। उससे प्रचण्ड वायु उत्पन्न होती है और वही उस अग्नि की सहायक बनकर जब दसों दिशाओं को जलाने लगती है तब ज्वालाएँ और भी अधिक भड़कती हैं।

सावंर्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट्॥ ११॥

स्वर्ग से लेकर पाताल तक अग्नि की ज्वालाएँ भड़क उठती हैं, तभी प्रलय करने वाली मेघपंक्ति भी उस दुर्धर प्रसंग में क्षुब्ध हो जाती हैं। उस समय पानी की बड़ी-बड़ी बूँदें नहीं गिरतीं बल्कि जोर से बिजली कड़कती है और अत्यन्त प्रचण्ड एवं निरन्तर मूसलाधार बारिश शुरू हो जाती है। हे राजा! ये पर्जन्य धाराएँ अन्य धाराओं की तरह साधारण नहीं होतीं। उनका परिमाण तुम्हें बताता हूँ। हे वीरश्रेष्ठ! वह प्रसंग सचमुच ही अत्यन्त कठिन है। उन प्रलय मेघों की धाराएँ उन्मत्त हाथी की सूँड़ की तरह होती हैं और ऐसा वह पर्जन्य क्षणभर के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लिए भी रुके बिना सौ वर्ष तक निरन्तर बरसता रहता है। बिजली अपने तेज से सम्पूर्ण आकाश को जला डालती है। उसके गर्जन से काल की भी घिग्घी बँध जाती है। इस प्रकार प्रलयकाल में मेघ उन्मत्त हो जाते हैं। इससे अपार जल का संचय होता है। वह इतना अधिक हो जाता है कि जहाँ से मेघ बरसते हैं, उसे भी मिलाकर समस्त त्रैलोक्य जलमय हो जाता है। ऐसे उस मेघ को 'सावर्तक मेघ' कहते हैं। उसकी वृष्टि अद्‌भुत रहती है। उस समय तीर्थ, क्षेत्र, पवित्रोदक, नदियाँ और समुद्र सब एक हो जाते हैं। चन्द्र, सूर्य आदि के साथ तीनों लोक उस जल में डूब जाते हैं। अरे! ऐसे उस ऐक्यसमुद्र में परमेश्वर का विराट देह भी विलीन हो जाता है। हे राजा! उस समय साकार जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती।

ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः॥ १२॥

श्लोक १२—प्रलयकाल में महाभयंकर पानी ऐसे उल्हास से उछलता है कि वह समस्त दृश्य पदार्थों का विनाश कर डालता है। उस समय विराट पुरुष का शरीर भी पिघल जाता है। ईंधन समाप्त होने पर जिस प्रकार अग्नि अपने पूर्व स्वरूप में चला जाता है, उसी प्रकार विराट शरीर का अभिमानी 'वैराज' पुरुष अव्यक्त में अर्थात् प्रकृति में प्रवेश करता है। जो कोई ब्रह्मलोक में रहने वाले होते हैं, उन्हें महाप्रलय के समय ब्रह्मदेव के ही साथ मुक्ति मिलती है ऐसा श्रुतिस्मृति का वचन है। जिसे 'वैराजपुरुष' कहते हैं वह 'हिरण्यगर्भ' ही है। उसे भी प्रलयकाल में अव्यक्त में प्रवेश करना पड़ता है। तो फिर ब्रह्मदेव के साथ वहाँ के लोगों को मुक्ति मिलती है, ऐसा जो श्रुति में कहा गया है, उस वचन की क्या व्यवस्था की जाए? (अन्तरिक्ष बताते हैं—) राजा जनक ने जिस माया का स्वरूप पूछा है, उस माया की शक्ति इतनी दुर्धर है कि यदि भगवद्‌भक्ति न की जाए तो ब्रह्मदेव को भी वह मुक्ति नहीं मिलने देती। ब्रह्मलोक प्राप्त होने पर भी यदि भगवद्‌भक्ति न की जाए तो मुक्ति दुर्लभ है। निश्चय ही भक्ति के पास मुक्ति दासी की तरह रहती है। भगवद्‌भजन न किया जाए तो ब्रह्मदेव को भी मुक्ति नहीं मिलती तो परमार्थ में लगे अन्य ज्ञानाभिमानी लोगों की क्या बात की जाए? जिसे जिस पद का अभिमान रहता है, उसके लिए वही दृढ़ बन्धन होता है। इसलिए त्रिभुवन में मोक्ष दुर्लभ हो गया है। इसलिए स्वयं शंकर भी अपने कैलास पद का अभिमान छोड़कर दिन रात महाश्मशान में (काशी क्षेत्र में) रहकर भगवद्‌भजन में लीन रहता है। इसलिए हे राजराजेश्वर! ब्रह्मलोक प्राप्त होने पर जो वहाँ भी भगवद्‌भक्ति करते हैं, उन्हें ही प्रलय के अन्त में मुक्ति प्राप्त होती है। ब्रह्मलोक में रहकर जो हरि की भक्ति नहीं करते, वे पुनरावृत्ति के फेर में फँस जाते हैं। ऐसी माया की शक्ति अत्यन्त दुर्धर है। सारांश यह कि यदि भक्ति न की हो तो मुक्ति किस बात की? इसी अर्थ का ब्रह्मदेव का वचन (भागवत में) दो श्लोकों में है। उसका भावार्थ यह है, "ज्ञानाभिमानियों का पतन होता है और भक्तों को संसार बन्धन की कभी बाधा नहीं होती। श्लोक इस प्रकार है—"

येऽन्यऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्त भावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽ नादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥ १॥
तथा न ते माधव तावकाः क्वचिदूभ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपयूर्धसु प्रभु॥ २॥

(भागवत, द० स्कं० पूर्वार्द्ध अ २)

भगवद्‌भक्ति न करने पर ज्ञानीजनों को भी मुक्ति नहीं मिलती। इसी अर्थ के दृष्टांत के लिए ब्रह्मदेव का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भाषण यहाँ दिया हुआ है। जन्म में श्रेष्ठ ब्राह्मणजन्म और वह भी वेदशास्त्र सम्पन्न, ऐसा होने पर भी भगवद्भजन न करने पर उसका भी निश्चित रूप से पतन होता है। भक्तों की समस्त प्राणियों के प्रति भगवद्भावना ही होती है, इसलिए वहाँ विघ्नों को स्थान ही नहीं मिलता क्योंकि विघ्न का अर्थ है हानि। लेकिन वही उनके लिए उपाय बन जाता है क्योंकि भावार्थ के लिए ईश्वर सदा सहायक होता है। भक्ति के बिना मुक्ति की चाह कर प्रयत्न करने से वह प्रयत्न निष्फल होता है। अस्तु। अब वर्तमान प्रकरण (प्रलय) के सम्बन्ध में बात करें। बैराजपुरुष भी अव्यक्त में प्रवेश करता है। वैराज का अव्यक्त में प्रवेश होते ही महाभूत विलास (अथवा विनाश) शुरु होता है और भूतों का ह्रास् होने लगता है। राजा! उनका 'अनुप्रवेश' अर्थात् एक में दूसरे का विलय किस प्रकार होता है उसे क्रम से सुनाता हूँ।

वायुना हृतगन्धाः भूः सलिलत्वाय कल्पते।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते॥ १३॥

प्रलयवायु का प्रक्षोभक क्रोध पृथ्वी का गन्ध हरण कर लेता है। इसलिए पृथ्वी वहीं घुलकर चारों ओर पानी ही पानी हो जाता है। इसके बाद वायु का भयंकर क्षोभ होकर वह जल का रस नष्ट कर डालता है। इसलिए प्रलय के महातेज में धीरे-धीरे जल का ह्रास हो जाता है। उस तेज के स्वाभाविक गुण से, वायुबल से तम अर्थात् अन्धकार फैल जाता है। उस समय आकाश में प्रलय वायु ही भर जाता है। उस प्रलय वायु का स्पर्श गुण और चपलता को आकाश स्वाहा कर देता है। अर्थात् सम्पूर्ण वायु का आकाश में विलय होता है।

हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते॥ १४॥
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लोयत।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि॥ १५॥

आकाश के शब्दगुण को वह प्रलयकाल पूरी तरह निगल लेता है। तब तामस अभिमान क्षुब्ध होकर समस्त आकाश को पी जाता है। दशेन्द्रियों का समुदाय राजस अहंकार में प्रवेश करता है और चित्त चतुष्ट का मेला सात्विक अहंकार में प्रवेश करता है। हे राजश्रेष्ठ! इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवताएँ मिलकर सात्विक अहंकार में प्रवेश करती हैं, यह जान लो। इसके बाद त्रिगुणों के साथ वे तीनों अहंकार महत्तत्व में मिल जाते हैं और जिस प्रकार कन्या अपने बालबच्चों को लेकर अपने मैके आ जाती है, उसी प्रकार महत्तत्व भी माया से मिल जाते हैं। मुर्गी जिस प्रकार अपने चूजों को अपने पंखों के नीचे छिपा लेती है और लगता है कि वह अकेली बैठी है उसी प्रकार कल्पांत के समय माया अकेली बच रहती है। इस प्रकार उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय तक माया के तीन रूप दिखला दिये। ऐसी वह त्रिगुणात्मक माया मिथ्याभूत अर्थात् न होते हुए भी दिखाई देनेवाली है। बच्चे जिस प्रकार खेल खेलते समय दिन में ही 'रात हो गयी' कहते हैं, उसी प्रकार पूर्ण स्वरूप में माया की त्रिविध कल्पना करते हैं।

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥ १६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तीन लोकों में उत्तम, मध्यम और अधम, तीन अवस्थाएँ यथा जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति, स्वर्ग-मृत्यु-पाताल ये तीन लोक, संचित-प्रारब्ध-क्रियमाण ये तीन कर्म, सत्त्व-रज-तम ये तीन गुण ये सब माया के कार्य हैं— ध्येय-ध्याता-ध्यान; पूज्य-पूजक-पूजन; ज्ञेय-ज्ञाता-ज्ञान यह त्रिपुटी भी माया की ही है। दृश्य-द्रष्टा-दर्शन; कर्म-कर्ता-क्रियाचरण; भोग्य-भोक्ता-भोजन, यह त्रिपुटी भी माया की ही है, यह समझ लो। शब्द-श्रोता-श्रवण; घ्रेय-घ्राता-घ्राण; रस-रसना-रसास्वाद, यह त्रिपुटी भी माया की ही है। कर, क्रिया और कर्ता; चरण, चाल और चालता; वाक-वाचा-वदविता ये तीन अवस्थाएँ भी माया की ही हैं। अहं, सोहं और जड़मूढ़ता; साधक, साधन और साध्यता; देवी, देव और परिवार देवता, ये तीन प्रकार भी माया के ही हैं। देह, देही और देहाभिमान; भव, भवमय और भवबन्धन; मुक्त, मुमुक्षु और अज्ञानी यह घटना भी माया की है। सुख, दुःख और जड़त्व; व्याधि, समाधि और व्युत्थान; उत्पत्ति, स्थिति और मृत्यु इन सारे लक्षणों से माया का ही विकास होता है। आकाश में चारों ओर नीले रंग का आभास होता है लेकिन वहाँ नीले रंग का अस्तित्व भी नहीं होता, उसी प्रकार आत्मस्वरूप में माया का मिथ्या आभास होता है। मृगजल जिस प्रकार प्रत्यक्ष दिखाई देता है, लेकिन वह केवल चिलचिलाती धूप ही रहती है, उसी प्रकार स्वरूप में माया प्रबल हुई दिखाई देती है, लेकिन मूल में कुछ भी विभासित नहीं होता। माया मिथ्या है लेकिन कल्पना के कारण वह प्रबल मालूम होती है। उसका विनाश किया जा सके ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। पर नामरूप की तड़क-भड़क से उसने ब्रह्मादिकों को पागल बना रखा है। उसने ही मिथ्या त्रिपुटी के विस्तार से सम्पूर्ण त्रैलोक्य को बन्धन में डाला हुआ दिखाई दे रहा है। जिस प्रकार दीपक के साथ छाया दिखाई देती है, लेकिन उसे नष्ट करने जाओ तो वह दिखाई नहीं देती उसी प्रकार स्वस्वरूप में माया मिथ्या है और उसका विनाश करना देवताओं के लिए भी कठिन हो गया है। जिस प्रकार देह के साथ छाया मिथ्या रहती है, उसी प्रकार ब्रह्मा में माया मिथ्या है। वह कल्पना के कारण ही विस्तार पाती है इसलिए वेदशास्त्र उसे 'अजेय' मानते हैं। राजा! जहाँ कल्पना बढ़ती है वहीं माया का मूल है। राजा! जिसे कल्पना कहते हैं, वही मुख्य माया है, इसे ध्यान में रखो। माया का निरूपण करते समय इससे अच्छा रूपक नहीं मिलेगा। त्रिविध लक्षणों से युक्त माया तुम्हें विशद रूप से बतायी। राजा! अब तुम्हें और क्या श्रवण करने की इच्छा है? माया भयंकर है और उसे पार करना कठिन है, यह सुनकर ऋत्विज, ब्राह्मण और सभा के सभी लोग थर-थर काँपने लगे। राजा को भी आश्चर्य हुआ। माया का स्वरूप विचित्र है, ज्ञानी लोग भी उसका निवारण करने में समर्थ नहीं हैं। जिसके जाल में ब्रह्मदेवादि भी फँसे हुए हैं वहाँ दूसरों की क्या बिसात है? माया ने शिव का भी आकलन कर उसे जीवदशा में ला दिया है। ऐसी इस माया को साधारण जन भी पार कर सकें ऐसा उपाय इनसे पूछिए। राजा ने इसी आशय से उनसे आग्रहपूर्वक प्रश्न किया।

राजोवाच

यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम्॥ १७॥

हरि की माया अत्यन्त कठिन है, यह सुनकर राजा को हँसी आ गयी। वह मिथ्या ही सही लेकिन देहाभिमानी को बाधक होने में समर्थ बनी। माया दुस्तर है यह शास्त्र प्रसिद्ध है लेकिन जो सीधे-सादे, भोले-भाले हैं और बुद्धि से मन्द हैं, वे किस उपाय से तर सकेंगे इसका कोई निश्चित उपाय बताइए। जो अपने मन को वश में नहीं कर पाये हैं किन्तु जिनका संसार सागर को पार करने का दृढ़ निश्चय है, ऐसे भोले-भाले लोग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होंगे उनके लिए माया को पार करने का कोई सरल उपाय हो तो बताइये। पहले कवि ने संक्षेप में बतलाया है कि 'तन्माययाऽतोबुध आभजेति' गुरु और ब्रह्म एकरूप हैं ऐसी अभेद भाव से भक्ति करने पर माया को पार किया जा सकता है। उस भक्ति का स्पष्ट लक्षण मालूम हो और माया को तरने का भी उपाय मालूम हो, यही इस प्रश्न को पूछने का कारण है। उसी उपाय का सुगम साधन बताने के लिए अन्तरिक्ष का छोटा बेटा 'प्रबुद्ध' बोलने लगा।

प्रबुद्ध उवाच

कर्माण्यारममाणानां दुःखहत्यै सुखाय च।
पश्येत्पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्॥ १८॥

जो प्रबुद्ध अर्थात् ज्ञानी होता है, वही माया से तरने की बात पूरी तरह से जानता है। हम भी प्रबुद्ध अर्थात् ज्ञानसम्पन्न होने पर माया के बन्धन से छूट सकते हैं। मन में विषय का छन्द रहना यही मुख्य बन्धन है। इसलिए जो विषय का अर्थात् विषयासक्ति का त्याग करता है वही प्रबुद्ध अर्थात् ज्ञानी है। यही आशय अब स्पष्ट करके बताता हूँ, सुनिए। यदि मन विषय में लुब्ध होकर रह गया और पूर्ण वैराग्य नहीं हुआ तो माया को पार करना सम्भव नहीं होगा। इसलिए वैराग्य की ओर प्रवृत्ति मुड़े इसलिए विषयों की निन्दा करते हैं। विषय नाशवान हैं, किन्तु मूर्ख उसे ही बड़ा सुख मानते हैं, लेकिन वह सुख ही दुःखदायी होता है। विशेषरूप से स्त्रीविषयक इच्छा से ही माया पीछा करती है। पास का धन खर्च कर सुख के लिए स्त्री को लाकर उसे घर की मालकिन बनाकर रखते हैं, लेकिन वही स्त्री करोड़ों दुःखों का भोग कराती है। संसार में स्त्री की अभिलाषा से ही माया को बल प्राप्त होता है। स्त्री कामना से ही संसार बढ़ता है, स्त्री कामना से महद दुःख प्राप्त होता है। सारांश, स्त्री कामना से सारा संसार मोहित हो गया है। बड़े प्रेम से स्त्री को पीढ़े पर बिठाते ही वह संसार को करोड़ों गुना बढ़ाती है। स्त्रीकामना ही महामोह की गाँठ बाँध कर दुःख के सागर में ढकेल देती है। जो माता नौ महीने उसे अपने उदर में पालती है, उसे दूर कर पत्नी को परम निकट का मानते हैं। इस प्रकार माया स्त्रीकामना से प्रबल होती है। जो अपने मुँह का ग्रास उसे खिलाती है, उसकी गन्दगी साफ करती है उस माता की अपेक्षा स्त्री माया के कारण जगत में अपनी बन जाती है। मिलने को तो हजारों स्त्रियाँ मिल सकती हैं लेकिन पूरे त्रिभुवन में माँ खोज कर भी नहीं मिलेगी। यह बात जिन ज्ञानियों को मालूम रहती है, वे भी स्त्री को सिर पर बिठाते हैं। माँ की सेवा करने से भुक्ति और मुक्ति मिलती है और स्त्री की सेवा करने से नरकप्राप्ति होती है यह बात भी जो शास्त्रज्ञ जानते हैं, वे भी स्त्री की कामना से माता की उपेक्षा करते हैं। इस प्रकार स्त्रीकामना के विस्तार से माया सारे त्रिभुवन में फैल रही है। उसने ज्ञान सम्पन्न लोगों को भी भ्रम में डाल रखा है। सचमुच स्त्रीकामासक्ति ही महामाया है। देखो! विषय को सुख मानकर काम्य कर्म करने से लोग अत्यन्त दुःखी होते हैं क्योंकि काम्य कर्म दुःखदायक ही है। स्त्री कामना के कारण गृहासक्ति बढ़ती है और गृहासक्ति के कारण प्राणी स्वयं ही अपने को कष्ट में डाल देता है। हे राजाधिराज! उन कष्टों के कारण अन्त में क्या स्थिति होती है, वह भी तुम्हें बताता हूँ। निर्मल पानी लेकर दीवार पोंछने लगो तो पानी का निर्मलपन नष्ट होकर वह गन्दा हो जाता है, हाथ कीचड़ से सन जाते हैं और दीवार का पलस्तर खराब होकर वह खुरदुरा हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्मदेव आदि देवताओं को भी विषयसुख से सुख नहीं प्राप्त होता। ऐसे विषय को जो आनन्द मानते हैं, वे महामूर्ख अथवा पशु ही हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः॥ १९॥

रात-रात भर मर कर कष्ट किया लेकिन उससे कौड़ी की भी प्राप्ति नहीं हुई। सारांश, धन प्राप्त करने के लिए प्राणान्त कष्ट करने पड़ते हैं और ऐसे कष्ट से धन प्राप्त भी किया तो वह महादुःख का ही कारण बनता है। धन अनर्थ का मूल है। अपने सर्वनाश का भी वही कारण है। धन न रहने पर उसे प्राप्त करने के लिए परिश्रम करना पड़ता है। मिलने पर उसके सुरक्षा की चिन्ता करनी पड़ती है। प्राणि के लिए रात दिन हृदयरोग ही लग जाता है। द्रव्य का लोभ अविश्वास से रहने के लिए बाध्य करता है। माँ-बाप से चोरी करना सिखलाता है। स्त्री-पुत्रों में कलह शुरू कराता है। इष्टमित्रों को दूर करता है। ऐसा यह धन का स्वाभाविक गुण है। धन के पास आधिव्याधि, धन के पास दुष्ट बुद्धि, धन के पास लोभ और क्रोध होता है, धन के पास असत्य सदैव रहता है, धन के पास अनेक विकल्प होते हैं, धन पाप का केन्द्र बिन्दु होता है। सारांश, धन पूर्णरूपेण दुःख रूप ही है। वही धन दानधर्म में खर्च करने से उसका उत्तम फल मिलता है लेकिन लालची व्यक्ति को वह नरक ले जाता है। इस धन की तरह खराब वस्तु सारे त्रिभुवन में कोई नहीं है। नलिका में रखे चने की लालच में बन्दर नलिका में हाथ डालकर अपना हाथ फँसा लेता है। उसी प्रकार कनककांता की अभिलाषा ही नरदेह को उस दशा में पहुँचाती है। देखो, धन सहज ही नहीं मिल जाता और अगर मिल भी जाय तो अनीति से मिलने के कारण हानिकारक होता है। इसलिए धन में सचमुच ही सुख नहीं है। लोग काफी सम्पत्ति खर्च कर बड़े शौक से घर बनवाते हैं, लेकिन वह टिकाऊ न होने के कारण जल्दी ही गिर जाता है और धन के साथ-साथ जीवन भी व्यर्थ चला जाता है। जीवन नष्ट कर, वीर्य खर्च कर पुत्र उत्पन्न करता है, वह पुत्र मर जाता है और दुःसह दुःख के सागर में डूब जाता है। गृहस्थी में सभी सुहृद जब तक उनका स्वार्थ रहता है तब तक सगे-सम्बन्धी होकर रहते हैं। लेकिन जब स्वार्थ का विरोध होने लगता है तो शत्रु बनकर चोट करने से नहीं चूकते। बड़ी हवस के साथ गौ, घोड़े आदि अनेक प्रकार के पशु एकत्र करते हैं, इतने में वे पशु मर जाते हैं। उस दुःख से गृहस्थों को कष्ट होता है। जब हमारा देह ही अशाश्वत है तो उससे खड़ा किया हुआ प्रपंच कैसे शाश्वत हो सकता है? सारे जगत को ही काल ने ग्रस लिया है। इस लोक में सभी विषय के ही जाल में फँसे हुए हैं। मनुष्यदेह कर्मभूमि में आया हुआ है। यहाँ यज्ञ आदि कर्म करके उन कर्मों ने स्वर्ग को भी जीत लिया ऐसा कहते हैं। लेकिन जब यहाँ इहलोक नश्वर है तो स्वर्ग भी वैसे ही नश्वर होगा।

एवं लोक परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम्।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम्॥ २०॥

मन में विषय भोग की इच्छा धारण कर इस जगत में यज्ञ करते हैं और पर्याप्त पुण्य प्राप्त कर उस पुण्य के योग से स्वर्ग जाते हैं। स्वर्गसुख का अधिपति इन्द्र है लेकिन वह भी कहीं मेरा पतन न हो जाए इस भय से आक्रान्त रहता है। तपस्वी लोगों पर वह विघ्न ढाता है। कुल मिलाकर स्वर्ग की स्थिति हानिकारक ही है। इस प्रकार अपने पुण्य से स्वर्ग प्राप्ति होती है इसलिए उस स्वर्गलोक को 'पुण्यजित लोक' कहते हैं। लेकिन पुण्यक्षय होते ही उनका भी क्षय होता है। इसलिए स्वर्ग के श्रेष्ठ पुण्यवानों को भय लगा रहता है। गाँठ में उत्तम पुण्य होने पर स्वर्ग के भोग में अच्छा सुख प्राप्त होगा, यह कहना भी निखालस गलत है। हे राजा! उस स्वर्ग के दुःख बताता हूँ, सुनो। जिनके पुण्य समसमान होते हैं, उन्हें समसमान पदों की प्राप्ति होती है। वे परस्पर स्पर्धा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और कलह करने लगते हैं। उसके मन में रात-दिन द्वेष जगाते हैं। जिस प्रकार इस लोक में मण्डलवर्ती राजा राज्य के लालच से कलह करते हैं उसी प्रकार स्वर्ग में रहने वालों में भी कलह मचा रहता है और उस द्वेष से वे अत्यन्त दुःखी रहते हैं। कहीं मेरा पतन न हो जाए इस भय से उनका झुकाव कलह और द्वेष की ओर रहता है। इससे उनका अर्जित किया हुआ पुण्य नष्ट हो जाता है और बेचारे याज्ञिक अधोमुख होकर धराशायी हो जाते हैं। (अर्थात् पृथ्वी पर जन्म लेते हैं) इस प्रकार जो स्वर्गसुख को आनन्द मानते हैं वे शुद्ध पशु हैं क्योंकि वहाँ द्वेष और विनाश होता है और कलह तो नित्य चलता रहता है। वे किये हुए विषय का ही नित्य सेवन करते रहते हैं किन्तु उनके मन की कभी तृप्ति नहीं होती। फिर भी यह मिथ्या है यह बात उनकी समझ में नहीं आती। यह भी माया की ही मोहिनी शक्ति है। जिस प्रकार वेश्या धन लेने के बाद ग्राहक को दुतकार कर निकाल देती है, उसी प्रकार जो विषय से लिपट कर रहता है, उसे अधिक से अधिक दुःख प्राप्त होता है। इसलिए हे राजा! जो दोनों लोकों का भोग साधने में लगे रहे वे माया के योग से फँसते चले गये और उनका अधिकांश जीवन व्यर्थ गया ऐसा समझो। कर्मभूमि में नरदेह खर्च करना यही भाग्य का सम्पूर्ण सार है। देवतागण भी नरदेह की कामना करते हैं लेकिन वे भी विषय के चक्कर में व्यर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार विषयासक्ति ने अपनी माया से कितने लोगों को ठगा होगा इसका हिसाब कौन जाने? इसलिए विषय की विरक्ति उत्पन्न करने के लिए गुरुभक्ति करनी चाहिए। वही कथा

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥ २१॥

विषय क्षणिक हैं यह जानकर पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए पूर्ण श्रद्धा धारण कर अनन्य भाव से सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए। हे राजा! केवल सद्गुरु वचन से ही मैं यह माया तर जाऊँगा ऐसे निश्चय से वह एकनिष्ठ भक्ति धारण कर अपने इष्ट की प्राप्ति के लिए मुमुक्षु उसके चरणों में लगता है। जिसे 'गुरु' कहते हैं उनके भी अनेक प्रकार हैं। हे राजा! वे प्रकार भी तुम्हें बताता हूँ। सुनो! एक वेदाध्ययन कराने वाले गुरु होते हैं, कोई भाषण देने में निपुण होते हैं, कोई ज्योतिष शास्त्र में निपुण होते हैं, लेकिन बुद्धिमान लोग उन्हें 'गुरु' नहीं कहते। कोई आगमोक्त मंत्रों की उपासना करते हैं, शिष्य को मंत्र देते हैं और उसका विधिपूर्वक जप करने के लिए कहते हैं। किन्तु उससे आत्मानुभव की प्राप्ति कब होगी इसे गुरु शिष्य दोनों को ही मालूम नहीं रहता। कोई वायुधारणा (प्राणायाम आदि) सिखलाते हैं कोई अन्य प्रकार के ध्यान करके बताते हैं। कोई हठयोग की आदत डालते हैं। कोई मुद्रा लगाना सिखलाते हैं। कोई ब्रह्मसंवाद में पटु हैं तो कोई तत्व निरूपण में कुशल हैं और कोई वैराग्य सम्बन्धी भाषण इतने उत्तम ढंग से करते हैं कि उससे दोनों भोगों से घृणा हो जाती है। वे शुद्ध ब्रह्म का निरूपण इस प्रकार करते हैं कि उसे सुनकर मनुष्य में प्रेम के सोते फूट पड़ते हैं। किन्तु अपने अंतःकरण का भ्रम कैसे जाएगा इसका मर्म उनकी समझ में नहीं आता। घानी में डाला हुआ गन्ना जिस प्रकार नीचे के बर्तन में रस भरता रहता है और स्वयं घानी में करकराता रहता है उसी प्रकार केवल शब्द ज्ञानी ज्ञान के निरूपण में उत्तम वक्ता रहता है। वह अपने वक्तृत्व से लोगों का अच्छा मनोरंजन करता है लेकिन स्वयं अलिप्त रहता है उसकी रोजी रोटी अच्छी तरह से चलती रहती है। उसे लोगों में मनचाही प्रतिष्ठा मिलती है लेकिन ऐसे गुरु से उच्चश्रेणी की आत्मप्राप्ति की उत्कंठा पूरी नहीं होती। जिस प्रकार केवल 'अमृत' का उच्चार करने भर से उसकी रुचि नहीं मालमू होती, उसी प्रकार शाब्दिक ज्ञान से उसे अनुभव का लाभ नहीं मिल पाता। जिसने स्वयं ही स्वाद नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चखा वह दूसरों को कैसे स्वाद चखाएगा? इसलिए जो पूर्ण अनुभवी है, वही सद्भाव से शिष्य का उद्धार करता है। इसी तरह गुरुत्व के अनेक प्रकार हैं। लेकिन जो शिष्य को अपरोक्षानुभव प्राप्त कराता है उसी को 'सद्गुरुस्वामी' कहते हैं। जिसके भाषण से 'असत्' असंतता का तत्वतः निशेःष अस्त हो जाता है तथा 'सत्' का उदय होता है उसे ही वेदशास्त्रों ने सद्गुरुत्व कहा है। जो मंत्र तंत्र का उपदेश करते हैं वे भी पूज्यत्व की दृष्टि से श्रेष्ठ ही होते हैं लेकिन जिसमें 'पूज्य' और 'पूजक' का भेद नहीं होता वही वास्तव में 'सद्गुरु स्वामी' है। किसी में शुद्ध ब्रह्मज्ञान रहता है, ब्रह्मस्वरूप को देखकर उसका मन उसमें रम जाता है, द्वैत की भावना समाप्त होकर चारों वाचाएँ मौन हो जाती हैं, सारी इन्द्रियाँ तटस्थ हो जाती हैं, प्राण जहाँ पंगु हो जाता है, अत्यन्त अद्भुत परब्रह्म को देखकर जिसके देहभाव में तटस्थता आ जाती है, ऐसा जो भी कोई आत्मानुभवी रहता है, उससे शिष्य विनती करता है लेकिन वह उससे न कुछ पूछता है और न कुछ बताता ही है। वह तटस्थ भाव से मौन ही रहता है। किसी को ब्रह्म का अनुभव होता है, उसका बाध्य-बाधकता का भ्रम भी नष्ट हुआ रहता है, द्वैतभाव भी समाप्त हुआ रहता है, संसार में जिसके लिए कोई विषमभाव नहीं रहता लेकिन उसका व्यवहार कुछ विचित्र-सा रहता है। उसमें चिड़चिड़ापन रहता है, वह कुछ अजीब-सा काम करता रहता है, साथ ही वह अपने स्वभाव में कुछ ऐसी उग्रता का प्रदर्शन करता है कि कोई उसके निकट नहीं जा सकता। वह अपने में ही हँसता रहता है, परमार्थ को ध्वनि से अभिव्यक्त करता है लेकिन उससे शिष्य को किसी भी बात का बोध नहीं होता। वह दुश्चिता में पड़ जाता है। ऐसा जो ब्रह्मज्ञानी होता है, उसकी ब्रह्मस्थिति लोगों की समझ में नहीं आती। ऐसी अवस्था में उसके पास ज्ञानप्राप्ति के लिए भक्तिभाव से कौन जाएगा? हे राजा अब तुम्हें सद्गुरु के वास्तविक लक्षण बताता हूँ। यदि अंतःकरण में श्रद्धाभाव लेकर सुनोगे तो सुखी हो जाओगे। जो काया, वाचा तथा मन से दीनजनों पर कृपालु रहता है, शिष्य के भवबन्धन तोड़ देता है, जो अहंकार का अस्तित्व नष्ट करता है, उसी प्रकार जो शब्दज्ञान में पारंगत रहते हुए सर्वदा ब्रह्मानन्द में लीन रहता है, वह अपने शिष्य का उसकी भक्ति के अनुरूप प्रबोधन करने में समर्थ होता है। शिष्य की भक्ति के अनुसार उसे वैसा अनुभव देता है लेकिन मन में गुरुता का जरा भी अहंकार नहीं रहने देता। शिष्य से सेवा लेने की कल्पना वह स्वप्न में भी नहीं करता, बल्कि वह स्वयं ही शिष्य की सेवा करता है और उसे पूज्य मानता है। शिष्य को पुत्र के समान मानना चाहिए ऐसा स्मृतिवचन है, उसके अनुसार वह शिष्य को गौण न मानकर उसकी ओर ब्रह्मभाव से ही देखता है। शिष्य अपनी भक्ति के कारण उसकी सेवा करता है, लेकिन वह उसे सेवक नहीं मानता। जिसके लिए सभी भूत भगवद्रूप हैं वह शिष्य को सेवक के रूप में कैसे देखेगा? मैं एक महान योगी हूँ, ऐसी शेखी भी वह नहीं बघारता। गुरुता का अहंकार कभी उभरने नहीं देता। स्वप्न में भी अपने निर्वाह का संकट शिष्य पर नहीं डालता। इतना ही नहीं बल्कि शिष्य पर संकट आने पर वह तत्काल उसका निस्तारण करता है। मैं एक अकर्ता निजात्मयोगी हूँ यह कहकर वह विषयों का न भोग ही करता है न उन्हें पूर्ण रूप से त्याग देने का ही आग्रह करता है। प्रारब्ध के अनुसार जो भी भोग आते हैं उन्हें देह को सौंप कर वह स्वयं परब्रह्म योग में मग्न रहता है। देह पालकी में चढ़े अथवा विष्ठा में गिरे लेकिन उसके लिए दोनों का ही सुख या दुःख नहीं रहता। देह में रहते हुए भी उसे देह का अहंकार नहीं होता और घर में रहते हुए भी घर की आसक्ति नहीं रहती, अन्त में लौकिक दृष्टि से लोगों में रह कर वह लोगों जैसा व्यवहार करता है। स्त्री उसे मेरा पति, पुत्र मेरा पिता और शिष्य उसे मेरा गुरु कहते हैं लेकिन वह उन सबमें निराले ही ढंग से व्यवहार करता है। इस प्रकार पूरी तरह व्यवहार तथा आचरण कर वह भक्ति करता है। भूतमात्र में हरि का ही दर्शन करना चाहिए, उसी का भजन करना चाहिए यही उपदेश वह अपने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शिष्यों को देता है। ये सद्गुरु के लक्षण हैं लेकिन ज्ञान के अहंकार के कारण वे पण्डितों की समझ में नहीं आते। जो पूर्ण अनुभवी होते हैं वे ही इस रहस्य को जानते हैं, दूसरों का ज्ञान वहाँ पंगु पड़ जाता है इसके गुरुत्व की महानता यह है कि उसमें पूर्ण शान्ति का वास रहता है। हे राजा! सद्गुरु का लक्षण यही है और मुख्य भूषण भी यही है। संसार में शान्ति परदेसी हो गयी थी उसे निवास के लिये कहीं स्थान नहीं मिल रहा था इसलिये वह सद्गुरु के चरणों में वास करने आयी। जिस प्रकार माँ के घर आने पर लड़की स्वेच्छा से विचरण करती है, उसी प्रकार शान्ति भी आनन्दपूर्वक वास करने के लिए सद्गुरु के पास आती है। वेदशास्त्र का मर्म जानकर भी जो विद्वत्ता की शेखी नहीं बघारता, जिसे आत्मानुभव से ही पूर्ण शान्ति प्राप्त हुई रहती है, वही निश्चित रूप से सद्गुरु है। शायद श्रोतागण यह कहकर रुष्ट हो जाएँ कि व्यर्थ ही अनावश्यक विस्तार कर ग्रन्थ को बड़ा किया। लेकिन 'निष्णात' शब्द का अर्थ लगाते समय ये सारी बातें ध्यान में आयीं। यह कोई मेरा अपना पांडित्य नहीं है बल्कि सद्गुरु स्वयं ही पद-पद में अर्थ स्पष्ट कर मुझसे कहला रहे हैं। फिर भी सद्गुरु के लक्षण अगाध होने के कारण उनका वर्णन करना कठिन है। वेद भी जहाँ पागल होकर मौन हो जाते हैं वहाँ मेरा बोलना कहाँ तक काम आयेगा? देखिये, कैसा चमत्कार है। मेरे सखा जनार्दन स्वामी प्रसन्न हुए इसलिए श्रीमद्भागवत देशी भाषा में, अर्थात् प्राकृत में उत्तम रीति से प्रकट हुआ। एका जनार्दन की शरण में है। जब उसकी पूर्ण कृपा होती है तभी गुरुभक्त देह में रहते हुए भी देह के बन्धन को स्पर्श नहीं करता। जिनके चरणों की सेवा करने से देह में रहते हुए भी देह बन्धन की बाधा नहीं होती, उनकी शरण में अनन्य भाव से जाने पर जिस अगाध ज्ञान की प्राप्ति होगी उसका पता वेदों को भी नहीं है। सद्गुरु भक्ति न करने से परमार्थ की प्राप्ति कभी नहीं होगी, इसलिये शिष्य के कल्याण के लिए ग्रन्थों में सद्गुरुभक्ति करने के लिये कहा गया है। इसलिए अनन्य भाव से सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए ताकि वे अपने यथार्थ आत्मबोध बताकर शिष्य को सद्भावना से सन्तुष्ट कर सकें। राजा! इस प्रकार सद्गुरु का लक्षण तुम्हें बताया। अब शिष्य का लक्षण बताता हूँ। ध्यान से सुनो।

तत्रभागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमायया ऽनुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मा ऽऽत्मदोहरिः॥ २२॥

कितने ही शिष्य ऊपर से सात्विक दिखाई पड़ते हैं किन्तु अन्दर बड़े विकल्पी होते हैं। किसी को केवल प्रतिष्ठा की चाह रहती है तो कोई स्वयं को ब्रह्मनिष्ठ समझ कर कर्म ही नहीं करते हैं। किसी को प्राणायाम अच्छा लगता है, किसी को आसन का अभिमान रहता है, किसी के मन में सन्देह होने के कारण उसे पूर्ण विश्वास किसी भी बात में नहीं होता। कुछ लोग बड़े आदरपूर्वक गुरु से उपदेश लेते हैं लेकिन मन में फलप्राप्ति के सम्बन्ध में विकल्प रखते हैं। इस प्रकार शिष्यों के अनेक भेद हैं। लेकिन वास्तव में वे सारे ढोंगी होते हैं यह ध्यान में रखो। अब सच्चे शिष्य के लक्षण बताता हूँ, ध्यान से सुनो। सच्चे शिष्य निष्कपट बुद्धिवाले, शुद्ध सत्वगुणी तथा सच्चे परमार्थ साधक होते हैं। उनमें ढोंग नहीं होता। वे गुरुचरणों के सेवक, गुरुवचन पर बिके हुए तथा सद्गुरु पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने वाले होते हैं। सच्छिष्य सद्गुरु के वचनों के लिए अपने प्राणों को भी न्योछावर कर देते हैं। गुरु की आज्ञा के बाहर वह तिलमात्र भी नहीं हिल सकता। सद्गुरु को जो केवल मनुष्य बुद्धि से नहीं देखता, जो गुरु सेवा के लिए सदैव आनन्द से तत्पर रहता है, निजभाव से सेवा के लिये वह अत्यन्त तत्पर रहता है, आठों पहर शरीर घिसना पड़े तो भी वह काम से जी नहीं चुराता। यह काम उच्च है या यह काम नीच है ऐसी कल्पना भी उसके मन में नहीं आती। अपना नित्य का धर्मकर्म गौण मानकर वह गुरु की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सेवा को उत्तम मानता है। सेवा में किसी प्रकार का कपट न कर वह शुद्ध मन से उसे करता है। सेवा में कष्ट जितना अधिक होता है, उतना ही उसका मन अधिक उल्हसित होता है। गुरु के लिए सच्छिष्य और असच्छिष्य एक समान रहते हैं लेकिन जिसके हृदय में जैसा भाव रहता है उसी के अनुसार उसे फल प्राप्त होता है। 'भावेषु विद्यते देवो' यही उपदेश का सार है। अपने भाव के अनुसार ही फलभोग भोगना पड़ता है। अपनी बुद्धि के अहंकार के बल पर मृत्यु से बचने के प्रयास में हिरण्यकशिपु मारा गया। मौका देखकर भगवान ने उसे समाप्त कर दिया। लेकिन उधर प्रह्लाद को देखिये। देवाधिदेव मेरी रक्षा करने वाला है ऐसा उसका दृढ़ भाव था और उसी भाव के कारण राजा ने उसे मारने के जितने भी प्रयत्न किये वे सब व्यर्थ गये। परमार्थ में ज्ञान का अभिमान शुद्ध डाका है इसलिये जो सद्भाव से परिपूर्ण रहता है वही जन्म-मरण के बन्धन तोड़ डालता है। शिष्य की परीक्षा करने वाला मैं ज्ञानी हूँ ऐसा अहंकार सद्गुरु को कभी नहीं होता बल्कि उसके प्रति जिसके मन में जैसी भक्ति होती है वैसा वह फल पाता है। राजा! इसे रहने दो लेकिन देखो अच्छे शिष्य का सद्भाव कितना विचित्र होता है। गुरु और ब्रह्म को वह ऐक्य भाव से मानता है। वह मानता है कि सद्गुरु मेरी इन्द्रियों का परिचालक, मेरे हृदय में रहने वाली 'आत्मा' है तथा बाह्य सेवा करते समय सद्गुरु वास्तव में साक्षात 'ब्रह्ममूर्ति' है। सद्गुरुंचरणों में वह अपना तन-मन-धन अर्पण कर अपना प्राण भी उसे अर्पण कर देता है, अर्थात् सब कुछ आत्मार्पण करता है। इससे सद्गुरु भी उस पर सन्तुष्ट होकर उससे मोहित हो जाते हैं और स्वयं स्वामी होते हुए भी सेवक के अधीन हो जाते हैं। बलि ने सर्वस्व अर्पण कर दिया इसलिये भगवान उसके द्वार पर द्वारपाल बनकर रह गये। भजन भक्ति का यह आनन्द है कि उसमें जो स्वामी रहता है वही सेवक के पास पहरा देता है। जो उत्तम भक्त होते हैं वे भगवान की ऐसी अगाध प्रीति के पात्र बनते हैं, लेकिन यह लाभ भोले-भाले लोगों को कैसे प्राप्त होगा? इसीलिए हर प्रकार से सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए ताकि वह प्रसन्न होकर शिष्य को का उपदेश कर सके। जिस भजन से भगवान का भजन कर 'उत्तम भक्त' बने, उन सारे भागवतधर्मों को सद्गुरु से निश्चयपूर्वक तथा भक्तिपूर्वक सीखना चाहिए। भागवत धर्म का प्रमुख लक्षण है सत्संगती। सद्गुरु भी असत्संगति का त्याग करने के लिए यही उपदेश देते हैं।

सर्वतौ मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रय च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥ २३॥

मन में यदि सबसे नि:संग होने की इच्छा हो तो निश्चित रूप से सत्संग करना चाहिए और असत्संग छोड़ देना चाहिए। देह संगति ही मुख्य असत्संग है। इसलिए उसे समूल वर्जित करना चाहिए। हे राजेश्वर! सत्संगति ही सामर्थ्यवान है यह बात ध्यान में रखो। जहाँ दया, मैत्री और विनय इन तीन लक्षणों का पूर्णत्व के साथ वास दिखायी दे उस पुरुष की संगति को 'सत्संग' कहना चाहिए। 'स्वहित' सिद्ध करने के लिये 'सत्संग' अत्यन्त आवश्यक है। बड़प्पन छोड़ कर साधु की शरण में लीन होना चाहिये। देहाभिमान त्याग कर उन्हें साक्षात् दण्डवत करना चाहिए। संसार में साधु से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। संतों का पूजन करने से स्वयं देवताओं को भी सन्तोष होता है। पूरी श्रद्धा से संतों की चरण रज को सर पर धारण करना चाहिये। संतों के सामने अपनी बुद्धि की शेखी नहीं बघारनी चाहिये। संतों का समुदाय देखकर वे भगवत्स्वरूप हैं ऐसा भाव एकनिष्ठा से धारण करना चाहिये। ऐसी भगवद्भावना से विनम्र होने को ही 'प्रश्रय' अथवा विनय कहते हैं। विनम्रतापूर्वक संत चरणों की सेवा करते रहने से भूतदया की वृद्धि होती है। यही 'दया' का प्रमुख लक्षण है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्राणिमात्र का दुःख देखकर जिसके प्राण बेचैन हो उठते हैं वह किसी को दुःख देने का विचार स्वप्न में भी नहीं कर सकता। जिससे स्वयं को दुःख होता है, ऐसा आचरण वह प्राणिमात्र के प्रति कभी भी नहीं करता। जिससे स्वयं को सुख प्राप्त होता है, वही आचरण वह दीनों के प्रति करता है। वह समस्त प्राणियों पर समान रूप से दया करता है, उन्हें कभी खराब शब्द नहीं कहता। प्राणिमात्र के दुःखों का जिससे निवारण हो तथा उन्हें सुख प्राप्त हो ऐसे ही उपायों का वह चिन्तन करता है। प्राणिमात्र को दुरुक्ति कहने से, जिह्वा को काटने के लिए तत्पर हो उठता है। प्राणिमात्र के प्रति दुर्भाव का चिन्तन करने पर वह अपने ही चित्त का निर्दलन करने लगता है। प्राणिमात्र को दुःख होता है तो वह उनके लिए अपने प्राण बिछा देता है। सारे जीव उसे दयार्द दृष्टि से अपने प्राणों से भी प्रिय लगते हैं। ऐसी पूर्ण करुणा का ही नाम 'दया' है। अब 'मैत्री' का असाधारण लक्षण बताता हूँ। सुनो! सभी प्राणिमात्र के लिए सुहृदों के सिवा और कोई अपना नहीं है। इसलिए मैत्री बिना किये ही अपने आप हो जाती है। विषयों के वियोग से वह खराब नहीं होती, विकल्पों से वह टूटती नहीं है, सारांश यही है कि कितने ही बड़े संकट क्यों न आयें, लेकिन मैत्री वैसी की वैसी बनी रहती है। प्राण जाने पर भी जो नहीं टूटती उसी का नाम मैत्री है। कल्पांत का घाव सामने देखते ही मित्र समुदाय एकत्र हो जाता है। ऐसा आचरण करने से प्राणिमात्र के मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। उस श्रद्धा की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में क्रम से बताऊँगा। श्रद्धा का लक्षण अत्यन्त विचित्र है। इसमें ब्रह्मदेव तथा चींटी एक समान मालूम होते हैं। फिर भी यथोचित क्रिया कभी नहीं चूकती यह ध्यान में रखो। अर्घ्यपाद्यादि पूजन सभी प्रकार के दान तथा सम्मान यह सब श्रद्धापूर्वक ब्राह्मण को अर्पण करना होता है। किसी को केवल अन्न ही दिया जाता है, किसी को अन्न और वस्त्र, किसी को केवल सूखा अनाज, किसी को चारा और पानी तो किसी को पीने के लिये केवल दूध देना चाहिये। संक्षेप में कहें तो जिससे उसे पूर्ण सुख प्राप्त हो, वह सब उसे पूरी श्रद्धा से देना चाहिये। अनुचित श्रद्धा से किया हुआ कार्य सभी प्रकार से दुःखकर होता है। उदाहरण के लिए ब्राह्मण को घास देना तथा गाय को पकवान परोसना अथवा श्वान को सिंहासन पर बैठाना और साधु को गन्दे गड्ढ़े में बैठने के लिये कहना अनुचित श्रद्धा का लक्षण है। भले ही बाघ का उपवास हो जाय लेकिन उसे गोदान नहीं देना चाहिये। गाय कीचड़ से लथपथ हो गयी हो तो तेल लगाकर नहीं नहलाना चाहिये। इन्द्रिय भले ही देह के ही भाग हों लेकिन जैसे जिह्वा का कार्य नाक से नहीं होता उसी प्रकार सब प्राणियों की आत्मा भले ही एक हो लेकिन उनकी पूजा उनकी योग्यता के अनुसार ही करनी चाहिये। योग्यता के अनुसार देने में क्रिया भले ही भिन्न हो लेकिन अंतःकरण की श्रद्धा अभिन्न रहती है। भागवत धर्म का प्रमुख लक्षण यही है। समस्त भूतों में भूतात्मा अभिन्न स्थिति में होती है इसलिए दया, मैत्री तथा साधु के प्रति भक्ति किस प्रकार प्राप्त होगी? प्रबुद्ध ऋषि इसके लिये उपाय बताने लगे। साधकों को ब्रह्म प्राप्ति हेतु भागवत धर्म की स्थिति अगले नौ श्लोकों में प्रबुद्ध राजा को बता रहे हैं।

शौचंतपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥ २४॥

परमार्थ साधने के लिये 'शुचिर्भूत' होना आवश्यक है। शुचिता के सिवा कभी भी स्वार्थसिद्धि नहीं हो सकेगी। इसलिये हे राजा! शुद्ध शौच के अर्थात् शुचिता के लक्षण सुनो। अंतःकरण का मल धोये बिना बाह्य शुद्धि नहीं होती। वासना के मल से म्लान हुए मन को स्वच्छ किये बिना अहंकार से बाह्य सफाई दिखाना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किसी अन्धे के घूर कर देखने की तरह है। वासना के मल से मलिन हुए मन को भक्तिभाव से गुरु वचनों पर विश्वास कर आत्मनिष्ठा से धोकर पवित्र करना चाहिए। जिस प्रकार अग्नि में डालने से सुवर्ण की गन्दगी जल जाती है और वह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार गुरुसेवा के कारण जड़त्व टूट जाता है और निर्दोष चित्तशुद्धि प्राप्त होती है। जिस प्रकार शीशा साफ करने से अपना ही चेहरा साफ दिखायी देता है, उसी प्रकार चित्तशुद्धि से आत्मशुद्धि अपने आप हो जाती है। लोहा यदि पारस को ढँकता है तो वह अपने लौहत्व को खो देता है, उसी प्रकार अंतःशुद्धि करने से स्थूलबुद्धि का लोप हो जाता है। सूर्यकान्त को सूर्य के सामने धरने से वह सूर्य के तेज से प्रदीप्त होता है और वही तेज अग्नि के रूप में प्रकट होकर यज्ञ याग के काम आता है। उसी प्रकार गुरुवचन से अंतःशुद्धि होने पर अंतर्बाह्य शुचिता प्रकट होती है। ऐसी शुचिता जो नहीं करते वे वास्तव में बहुत बड़े ढोंगी हैं। शौच जाते समय यदि जल कम ले जाएँ तो हाथ गन्दे ही रह जाते हैं और गुदाद्वार भी साफ नहीं हो पाता। उसी प्रकार विकल्पी लोग अपवित्र बने रहते हैं। अन्दर विष भरा हुआ किन्तु ऊपर से देखने में अत्यन्त सुन्दर। ऐसे कटुफल को कोई नहीं स्वीकारता क्योंकि उसके भीतर अत्यन्त कटुता भरी रहती है। धोबियों के राजा को यदि तीर्थ में नहलाया जाय तो क्या वह सचमुच ब्राह्मण बन जायगा? नट राजा का स्वांग करे तो वह अपनी बाह्य क्रियाओं से पूज्य नहीं हो जाता। लड़की कितनी भी सुन्दर और सुकुमार हो लेकिन यदि उसके होठों पर कोढ़ हो गया हो तो कोई उससे विवाह नहीं करता। नीचे नग्न हो और मस्तक पर मोतियों की बनी जाली पहन ले, अथवा नकटी लड़की नाक में आवदार मोती की नथ पहन ले तो वह जिस प्रकार उसका उपहास होगा उसी प्रकार बाहर से पवित्रता दिखलाने पर उतनी ही विडम्बना होगी। कौवे के शरीर पर दही का लेप करने से क्या वह राजहंस बन जायेगा? दही समझ कर यदि रुई धुनने लगे तो मक्खन तो नहीं ही निकलेगा लेकिन ठट्ठा अवश्य होगी। उसी प्रकार यदि अंतःकरण में विकल्प हो तो बाहर से पवित्रता दिखाने के लिए जो-जो क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, उससे हे राजा! विडम्बना ही होती है। गुरुपदेश के अनुभव से अंतःकरण को निर्मल कर लेने पर और शास्त्रीय मार्ग से बाह्यांग स्वच्छ करने पर ही सच्ची पवित्रता आती है और वहीं अद्वैत स्थिति का वास होता है। जब अंतःकरण में पूर्ण पवित्रता का वास हो जाता है तो वह बाह्य कर्मों से प्रकट होने लगती और वही पवित्रता अपने आप परमार्थ दशा को पहुँचाती है। ईश्वर भाव का यह रहस्य जिसे आत्मसात होता है उसका कर्म ही ब्रह्मरूप हो जाता है और उसे देहभ्रम की बाधा नहीं होती। हे नृपश्रेष्ठ इसी का नाम है, 'पवित्रता'। अब तप की स्थिति बताता हूँ सुनो। शरीरशोषण को तप कहते हैं लेकिन वह प्रारब्ध भोग के अनुरूप होता है। हृदय में कृष्णस्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना यही तप का शुद्ध रूप है। जिस प्रकार 'वीरश्री' का मद आँखों पर चढ़ते ही वह पुरुष अपनी दृष्टि अग्रभाग पर केन्द्रित कर रण में पराक्रम करने के लिये अग्रसर होता है, उसी प्रकार हृदय में ईश्वर को धारण कर जो संसार में विचरण करता है वही सच्चा 'तपस्वी' है। यही तप का सच्चा स्वरूप है और इसी का नाम है शुद्ध 'तप'। इससे अधिक इसके स्वरूप के सम्बन्ध में कहना कठिन है। फिर व्यर्थ की बकवास किसलिये? मुमुक्षु में द्वंद्व सहिष्णुता होनी चाहिये। इसी का नाम 'तितिक्षा' है। हे नृपवर्य! स्मरण रखने के लिये उसे भी सुन लो। दीवार पर बने शेर और शेरनी के चित्र के बीच में एक दीवार ही रहती है उसी प्रकार सुख और दुःख इन दोनों भोगों के बीच भी अपना ही शरीर अखण्ड रहता है। जिस प्रकार दावाग्नि से अथवा ग्रीष्म की तपन से आकाश नहीं झुलसता, वह तपन से अलिप्त ही रहता है पानी ठंडा हो या बर्फ ही गिरती रहे लेकिन पृथ्वी अपनी सहनशीलता के कारण काँपती नहीं है उसी प्रकार आत्मस्वरूप के सुख के कारण सच्चा साधु भी द्वंद्व में लिप्त नहीं होता, शरीर ठंढक से ठिठुरता भी हो तो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी साधु नहीं ठिठुरता, अत्यन्त गर्मी से शरीर तप्त होता है लेकिन उस देह के ताप के कारण साधु गरम नहीं होता। सुख को देखकर वह उसे जितनी खुशी से आलिंगन देता है उतनी ही प्रसन्नता से वह दुःख भी सहन करता है। राजा! इसी का नाम है सच्ची 'द्वंद्व सहिष्णुता'। सामने से गुलेल का पत्थर आकर लगता है तो दुःख होता है लेकिन वही पत्थर सोने का हो तो दुःख के स्थान पर अपार आनन्द होता है। सुख या दुःख को व्यक्त करने वाला तत्व एक ही है। उससे एकता होने पर साधक सुखपूर्वक द्वंद्व सहन करते हैं। उसी प्रकार द्वंद्व का अनुभव जिस ज्ञान को होता है उसे जान लेने पर द्वंद्व की परिणति निर्द्वंद्व में होती है। कड़े गन्ने में और उसके रस में जिस प्रकार अखण्ड मिठास रहती है उसीप्रकार द्वंद्व में 'चिद्धन वस्तु' को वह देखता है। ऐसी यह अखण्डता जब तक साधक के हाथ नहीं लगेगी, तब तक हे राजाधिराज! ये द्वंद्व सचमुच ही सहन नहीं होंगे। इसी का नाम द्वंद्वसहन या 'तितिक्षा' है। अब 'मौन' का क्या लक्षण होता है उसे ध्यान से सुनो। लोगों में वाद-विवाद करने से देहाभिमान दृढ़ होता है किन्तु सद्गुरु ने उस अभिमान को शब्दों के साथ ही समूल नष्ट कर दिया। सद्गुरु के वचन कान में पड़ते ही स्तुति और निन्दा दोनों को निगल कर मुख से बोल नहीं निकलते। हृदय में तितिक्षा भर जाती है। किसी का अवगुण कहने लगो तो वहाँ अपनी ही मूरत दिखायी देती है। इसीलिये किसी को कठोर वचन कहते समय गुरुवचन से वह मौन हो जाते हैं क्योंकि स्वयं ही स्तव्य, स्तविता और स्तवन होने के कारण अपना ही स्तवन करना मूर्खता ही होगी। जहाँ अपनी आत्मा नहीं हो ऐसा कोई स्थान ही नहीं है, जहाँ-जहाँ जो भी दिखाई देता है वह निरन्तर आत्मप्रकाश के ही कारण दिखाई देता है। सद्गुरु ने ऐसी युक्ति बता दी और वह विश्वास के कारण अंतःकरण में इस प्रकार स्थिर हो गयी जिससे वह वाचा से निन्दा या स्तुति करता ही नहीं है। अगर अपने हित के लिये कुछ संवाद करना भी चाहता है तो, सद्गुरु के भाषण के आगे वेदशास्त्रों की युक्तियाँ भी कुंठित हो जाती हैं। इस प्रकार स्तुति, निन्दा अथवा विवाद ही समाप्त हो जाता है। ऐसे महामौन के कारण साधकों को परमानन्द की प्राप्ति होती है। ऐसा महामौन साध्य होने के लिये सद्गुरु वेदाध्ययन कराते हैं अथवा उपनिषद के अर्थ का विश्लेषण कर उसका अर्थज्ञान समझाते हैं। यदि इससे भी दृढ़ मौन प्राप्त करना हो तो श्रीरामकृष्ण का नामस्मरण करने के लिये कहते हैं। नामस्मरण की अखण्ड गर्जना के आगे वेदार्थ भी उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ा रहता है। जिसकी वाणी निरन्तर रामनाम की गर्जना करती रहती है उसे दण्डवत करने के लिए तीर्थ भी वहाँ उपस्थित होते हैं, बड़े-बड़े देवतागण उसका चरणस्पर्श करते हैं और यम स्वयं उसके चरणों का तीर्थ अपने मस्तक पर लगाता है। अरे! जिसे रामनाम का स्मरण कहते हैं वही साक्षात 'महामौन' है। वेदों ने नाम का पूर्ण स्तवन किया है, इसीलिये हरिनाम ही शुद्ध वेदाध्ययन है। तात्पर्य यह है कि हरि का नामस्मरण करने से वेदाध्ययन का फल प्राप्त होता है। वेद अथवा नामस्मरण इसी का नाम 'स्वाध्याय' है यह ध्यान में रखो। महाराज! अब 'आर्जव' का लक्षण ध्यान से श्रवण करो। आर्जव वह है जो जीव में जीवन रहता है अथवा वस्त्र में तंतु ऐक्यभाव से रहते हैं अथवा जैसे शक्कर का करैला बनाने से उसका माधुर्य कम नहीं होता, उसी प्रकार विषम स्वभाव जीवों का भी यह अपने मृदु स्वभाव से रंजन करता है। चन्द्र की चन्द्रिका भले ही वक्र हो लेकिन इसके कारण भीतर का अमृत नहीं छलकता। उसी प्रकार टेढ़े स्वभाव के लोगों को देखकर भी उसकी मनोवृत्ति में परिवर्तन नहीं होता। वह किसी को भी नीच नहीं समझता सभी को अपना मित्र, सगा-सम्बन्धी समझता है, मानों प्रत्येक प्राणिमात्र से उसका पुराना परिचय हो। निहाई तप्त लोहे को सहारा देती है, हथौड़े का घाव भी सहन करती है, सँडसी से लोहे के टुकड़े को पकड़कर उस पर हथौड़े से प्रहार करते हैं, उस लोहे के साथ वह लौहगुण से ही सम्बन्ध रखती है। उसी प्रकार जिसे सभी सगे हैं, ऐसा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिसका स्वभाव है उसका नाम 'आर्जव' है। यह गुरुदीक्षा नितान्त अपूर्व है। (अब ब्रह्मचर्य के बारे में बताते हैं) देवता, दानव, बड़े-बड़े ऋषि आदि को भी मदन ने अपना दास बना कर रखा है। इस मदन की मार बहुत कठिन है। यह अत्यन्त दुर्धर अंतःकरण में काम का स्थायी निवास है तिस पर कामवृत्ति को दबाने का प्रयास करता है। उसका मन ही उसे निष्काम नहीं रहने देता। लेकिन लोगों को वह ठगता है। लेकिन सद्गुरु की युक्ति ऐसी नहीं है। उनके उपदेश से काम की कामनावृत्ति ही बदल जाती है। वे शिष्य को अखण्ड ब्रह्मचर्य का उपदेश करते हैं। मदन के राज्य में स्त्री-पुरुष का भेद है लेकिन गुरुदीक्षा अलौकिक है। इस दीक्षा में स्त्री-पुरुष दोनों माया अर्थात् मिथ्या है और विषयसुख केवल भ्रम है। इस पर कोई शंका प्रकट करता है—'जननेन्द्रिय ही आनन्द का स्थान है।' यह वेदवचन क्या गलत है? इस पर समाधान इस प्रकार है। जो वेदों के पूर्ण ज्ञाता हैं वह इसका विवेचन इस प्रकार करते हैं—'शक्कर का माधुर्य कैसा है' यह यदि कोई पूछे तो बताना कठिन है। उसे शक्कर का एक कण चखने के लिये दिया जाता है। उसे चखने पर उस कण में जो मिठास है वही शक्कर की पूरी राशि में है ऐसा मालूम होता है। इस प्रकार लोग परमानन्द सुख की मिठास जननेन्द्रिय के रूप में चखते हैं। इसी उद्देश्य से वेदों ने जननेन्द्रिय को आनन्द का स्थान बताया है। वह जननेन्द्रिय सुख क्षणिक होता है लेकिन उस सुख की नित्य स्थिति को जो संभोग के बिना ही बढ़ाते हैं उन्हें स्त्री-पुरुष मिथ्या मालूम होते हैं और वे सहज ही सज्ञान हो जाते हैं। जिस मिठास को चखा वही शक्कर है उसी प्रकार मैथुन को ही परमानन्द मानकर विषयांध लोग मैथुन के पीछे दौड़ते हैं। जननेन्द्रिय में ही परमानन्द की मिठास होती है यह मानकर मूर्ख शिरोमणि निरन्तर स्त्री काम का दबाव सहते रहते हैं। शक्कर का यदि नारियल बनाया जाय तो उसका कवच, गरी आदि सब शक्कर ही होता है। उसी प्रकार विषय सुख का कल्लोल मूलतः मूल परमानन्द से ही होता है। कितने भी प्रकार के पकवान क्यों न बनाये जाएँ लेकिन उसमें जो स्वाद आता है वह शक्कर की मिठास के कारण ही होता है उसी प्रकार विषय के प्रति जो आकर्षण उत्पन्न होता है, वह आत्मानन्द के माधुर्य के कारण ही होता है। यह मूल आत्मस्वरूप की मिठास उनकी समझ में नहीं आती और वे विषयों का दबाव सहते रहते हैं। किन्तु सद्गुरुकृपा अत्यन्त बलवान है। वह विषयों की सारी आसक्ति एक ओर खींच लाती है। इसलिये विषय की आस्था सच्छिष्य के माथे पर नहीं चढ़ पाती। गुरुवचन पर निष्ठा होने के कारण स्त्रीभोग की आसक्ति मिथ्या हो जाती है। मूलतः यह आत्मा और आत्मी नहीं होती। मूल तत्व का अनुभव होते ही 'अखण्ड ब्रह्मचर्य' की प्राप्ति होती है। इसी का नाम उत्तम 'नैष्ठिक ब्रह्मचर्य' है। इस अखण्ड ब्रह्मचर्य का बोध सद्गुरु करते हैं। हे चक्रवर्त्ति राजा! अब 'अहिंसा' का रूप सुनो। स्वप्न में, सुषुप्तावस्था में अथवा जागृतावस्था में भी प्राणिमात्र पर वक्रदृष्टि नहीं करनी चाहिए। देखो, कहीं पैर पटकने से पृथ्वी को कष्ट न हो इसलिये वह अपने पैर बहुत आहिस्ते से रखता है। कहीं आकाश चौंक न पड़े इसलिये वह जोर से पुकारता नहीं है। अपने वचनों से सबको सन्तोष प्रदान करता है। वाणी में मानों अमृत ही भरा है। उसकी वाणी जब आकाश में प्रवेश हो करती है तो मानो उस शब्दानन्द चमत्कार से सारा आकाश आत्मसुख से भर जाता है। इस प्रकार उसका पूरा भाषण आनन्दमय रहता है। पानी में छलांग लगाने से कहीं वह दब न जाय इसलिये तरंग के अनुसार पानी की धार न कटे ऐसे हिसाब से वह जल में गोता लगाता है। ऐसे विचार से वह पानी में डुबकी लगाता है जिससे पानी का ताप दूर हो जाता है और इस प्रकार स्नान करने से जीवन से जीवन का ताप कम होता है। कहीं वायु को भी कष्ट न हो इसलिये वह श्वासोच्छ्वास भी जोर से नहीं लेता। उस पर नियन्त्रण रख कर ही शरीर को चलाता है। जिस प्रकार अपने ही शरीर पर आघात करने के लिए वह कभी हाथ नहीं उठाता उसी प्रकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्राणिमात्र पर हाथ चलाने की बुद्धि उसके मन में उत्पन्न नहीं होती। कहीं घूर कर देखने से प्राणियों के मन में भय न उत्पन्न हो इसलिये प्राणिमात्र को प्राणी समझ कर उनकी ओर, क्रूर दृष्टि से नहीं देखता। सारे केश कहीं दब न जायें इसलिये वह कभी अपने शरीर को नहीं रगड़ता। इस प्रकार भूतहिंसा के भय से अपने देह के देहपन का भी अहंकार नहीं करता। प्राणियों को जरा भी दुःख होने से प्राणियों में वास करने वाले परमात्मा को दुःख होगा, ऐसा जिसका दृढ़ विश्वास होगा, उसके ही मन में अहिंसा का वास होता है। प्राणियों को कायिक, वाचिक तथा मानसिक ये तीन प्रकार के दुःख होते हैं। वे जहाँ निःशेष होकर विलीन होते हैं वहीं अहिंसा का वास होता है। हे राजाधिराज! इसी का नाम शुद्ध अहिंसा है यह ध्यान में रखो। हे नृपवर्य! अब 'द्वंद्व साम्य' की दशा का वर्णन करता हूँ, ध्यान से सुनो। सुख और दुःख भाग्य के अधीन हैं और वह भाग्य पूरी तरह शरीर के माथे लिखा है, यह सोच कर हम सद्गुरु के उपदेश के अनुसार निश्चिंत होकर रह जाते हैं। भाग्य के अनुसार देह सुख-दुःख का भोग सहता रहता है। मूर्ख व्यक्ति उसमें हर्ष या विषाद का अनुभव करता है किन्तु शिष्य गुरुपदेश में तल्लीन होने के कारण उसमें से किसी भी बात का स्पर्श अपने शरीर को नहीं होने देता। देह के सुख से सुखी होने से दुःख भी अपना प्रभाव जमाता है। ये बातें गुरु ने समझायी रहती हैं इसलिये वह उनसे मुक्त रहता है। निरभिमानी पुरुष को दुःख के संयोग से दुःख नहीं होता, उसी प्रकार सुखसंभोग में सुख का भी अनुभव नहीं होता। दोनों ही बातों से वह अलिप्त रहता है। छाया धूप में गरम होती है तो वह छाया से ही शीतल हो जाती है। उसी प्रकार एक बार मन में यह विश्वास होने पर कि सुख और दुःख दोनों ही मिथ्या हैं, जो प्राप्त है उसी में आनन्द मालूम होने लगता है। देह में रहकर भाग्य के अनुसार आचरण करने पर सुख या दुःख बाधक नहीं होता। यह अलौकिक रहस्य श्रद्धावान शिष्य को ही प्राप्त होता है। श्रद्धा के बिना यह रहस्य कभी हाथ में नहीं आता और जब तक यह रहस्य हाथ नहीं लगता तब तक सुख-दुःख के प्रति समभाव उत्पन्न नहीं होता। जब तक देह में 'अहंभाव' दृढ़ है तब तक द्वंद्व की पीड़ा अत्यन्त भयंकर होती है लेकिन जो गुरुपदेश से निरभिमानी हो जाते हैं उनके लिये ये द्वंद्व मिथ्या हो जाते हैं, इसे ध्यान में रखो। जिस प्रकार स्वप्न की दरिद्रता अथवा अमीरी जागृत होने पर मिथ्या हो जाती है, उसी प्रकार गुरुभक्तों को आत्मसाक्षात्कार के कारण द्वंद्व बाधा की वार्त्ता भी नहीं सुनायी पड़ती। बच्चों के खेल में एकादशी और पारन जिस प्रकार समान है, उसी प्रकार गुरुपदेश के साथ वे सारे द्वंद्व समाप्त हो जाते हैं। चन्दन के सुगन्ध से जिस प्रकार बेर और बबूल भी चन्दन बन जाते हैं, उसी प्रकार गुरुवचन के अनुभव से सारे द्वंद्व आत्मस्वरूप में ही लीन हो जाते हैं। चन्दन के आसपास के पेड़ केवल शुष्क काष्ट होते हुए भी देवताओं तथा ब्राह्मणों के मस्तक पर धारण किये जाते हैं। वह सब सत्संग की महिमा है। सद्गुरु यही सबसे बड़ा सत्संग है। उनकी संगत से शिष्य का परिवर्तन हो कर वह स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। इस प्रकार गुरुवचनों पर विश्वास करने से 'द्वंद्व साम्य' प्राप्त होता है, यह भी गुरुवचन ही है।

सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसर्न संतोषं येन केनचित्॥ २५॥

सद्गुरु के वचन पर विश्वास रख वह यही मानता है कि चारों ओर परमात्मा ही भरा हुआ है और इसी आत्मबुद्धि को निश्चय से दृढ़ कर मन में विचार करता है। (वह विचार इस प्रकार है) मुझमें परमात्मा का वास है इसीलिये यह स्थूल शरीर हिलता-डुलता है, बोलता है। उसी के पूर्ण चित्प्रकाश से यह विश्व विश्वरूप मालूम होता है। उसके ही आत्मप्रकाश से मेरी दृष्टि को दृष्य दिखायी देता है। दृश्य-द्रष्टा-दर्शन रूप से स्वयं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परमात्मा ही सुशोभित है। जो भी दृश्य दृष्यरूप में प्रगट होता है उसके अन्दर-बाहर आत्मस्वरूप ही भरा रहता है। इसी अनुवृत्ति से वह सारी सृष्टि को जगमगाते हुए देखता है। उस समय जो भी भूताकृति उसे दिखायी पड़ती है वह सब परमात्मस्वरूप ही है ऐसा उसे अनुभव होता है। इतना ही नहीं बल्कि त्रिभुवन का नियंता मैं ही हूँ ऐसा स्फुरण उसमें होने लगता है। वह सोचता है मेरे ही आदेश से संसार चल रहा है, कलिकाल का नियंता मैं ही हूँ, उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाला मैं ही हूँ। यह मूल अहंता सहज ही उत्पन्न होती है। पूर्वान्वय से देखने पर उसे सर्वत्र अपना ही स्वरूप दिखायी देने लगता है। तब दृश्य-दर्शन-द्रष्टा यह त्रिगुट नष्ट होकर 'अहंकार' पिघल जाता है। तब परब्रह्म से एकत्व स्थापित होकर चारों ओर सच्चिदानन्द भर जाता है। ऐसा विशुद्ध अनुभव गुरुपदेश से सच्छिष्यों को प्राप्त होता है। उस समय यह सुनकर कि भगवान वैकुण्ठ में हैं, उसे कुछ विचित्र-सा लगता है। भगवान क्षीरसागर में रहता है यह सुनकर उसे अपार हँसी आती है। सचमुच, ऐसी तिल रखने की भी जगह नहीं है जहाँ भगवान न हों। ऐसे उस ईश्वर को किसी एक स्थान का कहना सच्छिष्य को नहीं पटता। वैकुण्ठ और क्षीरसागर जिसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं वह परमात्मा वैकुण्ठवासी अथवा क्षीराब्धिवासी है यह कहना स्पष्ट रूप से ईश्वरत्व को नकारना है। जब सर्वत्र ईश्वर का वास है वहाँ उसकी एकदेशी महिमा का वर्णन करना उचित नहीं होगा। वह अनाश्रमी पूर्ण ब्रह्म है, वह वैकुण्ठादि आश्रम से कभी भी बँध कर नहीं रह सकता। जो सब में अखण्ड भरा हुआ है उसे 'आवाहन', जो सबका अधिष्ठान है उसे 'आसन', जो सर्वव्यापी है उसके लिये सिंहासन की कल्पना करना, स्थान की कल्पना करना केवल कल्पना का खेल है। लेकिन ऐसी कल्पना करनेवाली अपनी प्रवृत्ति भी ब्रह्मरूप है यह जो नित्य देखते हैं उनकी परब्रह्मस्थिति कभी विचलित नहीं होती। यदि वास्तव में ऐसी परब्रह्मस्थिति प्राप्त करनी है तो साधक को द्वैत की भावना त्याग कर प्रतिदिन एकान्त में बैठना चाहिये। परमार्थ की साधना करते समय साधक को अन्न और वस्त्र की अड़चन हो तो उसे ऐसे वस्त्र लेने चाहिये जिसके लिये धन आवश्यक न हो, जिन्हें दूसरों ने त्याग दिया है ऐसे फटे-पुराने वस्त्र भी चल सकते हैं। उसे साग-सब्जी, फल-फूल, कंद आदि भक्षण कर अपना पेट भरना चाहिये लेकिन परमार्थसाधन छोड़कर अन्न-वस्त्र अथवा धन प्राप्त करने नहीं जाना चाहिये। भले ही हाथ में झोली लेकर भिक्षा माँग ले लेकिन अन्न-वस्त्र के लिए जीवन खर्च नहीं करना चाहिये। ज्ञानी साधक कभी भी अन्न अथवा आच्छादन के लिए प्रयास नहीं करते। देह भाग्य के अधीन है, भाग्य ही उसका सहज पालन करता है। हम भले ही रात-दिन परिश्रम करें लेकिन यदि भाग्य में नहीं हैं तो हाथ में एक कौड़ी भी नहीं लगती। ज्ञानी साधक यह बात जानते हैं। इसलिये भाग्य से जो भी मिल जाय उस पर अपना निर्वाह कर साधक सदा निश्चिंत रहते हैं और प्रसन्नतापूर्वक, गुरुवचन के अनुसार परमार्थ साधते हैं। देह के भाग्य के अनुसार सुख-दुःख की घटनायें होती रहती हैं, उसमें साधकों को सन्तोष प्राप्त होता है क्योंकि उन्हें गुरुवचनों का चस्का लगा रहता है। शरीर को उसके भाग्य के अनुसार अन्न-वस्त्र मिलता रहता है लेकिन गुरुवाक्य का सुख छोड़कर मन कभी भी शरीर की ममता के वश में नहीं रहता। याचना किये बिना यथासमय सहज ही जो कुछ प्राप्त हो जाय उसे उत्तम मानकर वह गुरुवचन के अनुसार उसका सेवन करता है। शरीर निर्वाह के लिये वह किसी भी चीज की इच्छा नहीं करता। जो कुछ मिलता है उसी में सुख मानकर वह आत्मानन्द में तृप्त रहता है। भाग्य के अनुसार सुख-दुःख भोगते समय साधक के मन को संतोष ही होता रहता है। यह अनुभव उस शिष्य को गुरुवचनों पर विश्वास रखने से ही प्राप्त होता है। यही विश्वास दृढ़तर होने के लिए गुरु के पास आग्रहपूर्वक बैठकर पूर्ण निश्चय के साथ ज्ञानदायक भागवत शास्त्र का अध्ययन करना चाहिये।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रद्धां भगवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापिहि।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि॥ २६॥

जिसमें भगवान के सगुण अथवा निर्गुण स्वरूप का वर्णन रहता है, अथवा जिसमें भगवान ने कुछ कहा होता है अथवा जिसमें भगवद्गुणानुवाद का वर्णन रहता है, उसे हे राजा! तुम 'भागवत शास्त्र' समझ लो। साधक उसे प्राणों से भी प्रिय मानते हैं। उसमें भी विशेषरूप से ज्ञान के निरूपण से उन्हें विशेष प्रेम रहता है, उन्हें वह बहुत अच्छा लगता है। गुरुमुख से सुना हुआ ज्ञान का निरूपण उन्हें अत्यन्त मधुर लगता है और इस प्रकार श्रीभागवत पर उनकी दृढ़ श्रद्धा रहती है। उसके श्रवण से उनका मनोरथ पूर्ण होकर विषयों की इच्छा दब जाती है। मन में विषय के प्रति रुचि न होने पर भी साधक के लिये विषय बाधक होते हैं और उससे उन्हें अनुताप होता है। विषयावस्था अनिवार्य होने के कारण उसका त्याग नहीं हो पाता, इसलिये मुमुक्षु के मन को अनुताप से अत्यन्त व्यथा होती है। वास्तव में विषय से अत्यन्त प्रेम न होते हुए भी स्वयं विषय का त्याग करना सम्भव नहीं होता। ऐसे साधकों के लिए शास्त्रों ने कुछ नियम निर्धारित कर दिये हैं। विषय के प्रति आसक्ति नहीं है फिर भी विषय से निवृत्ति भी नहीं हो पाती, ऐसी स्थिति साधकों की रहती है। उनके लिये शास्त्रों ने कुछ नियम बनाये हैं। जो केवल विषयासक्त रहता है वह शास्त्र की बात कभी नहीं मानता अथवा जो जीवनमुक्त हुआ रहता है वह भी शास्त्र की बात मान्य होते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करता। जो मुक्त हैं वे विषय को मृगजल की तरह मानते हैं। फिर वे मृगजलवत् विषय की निवृत्ति के लिये किस शास्त्र के नियमों का पालन करें? सारांश यही है कि जो अत्यधिक आसक्त रहते हैं उन पर तथा जो विशुद्ध विरक्त होते हैं उन पर भी शास्त्र का कोई नियम लागू नहीं होता। केवल मुमुक्षु पर ही शास्त्र के नियम लागू होते हैं। गुरु शिष्य का संवाद होता है उससे ज्ञानार्थ का बोध होता है, लेकिन उस बोध में विषयबाधा आड़े आती है। वह न आये इसके लिये शास्त्रों के नियम प्रसिद्ध हैं। मानसिक, वाचिक तथा कायिक कर्म के अनुसार—विषयबाधा तीन प्रकार की होती है। उन तीनों के लिये शास्त्रों ने तीन प्रकार के नियम बनाये हैं। मन के लिये 'शम' अर्थात् शान्ति का नियम, इन्द्रियों के लिये 'दम' अर्थात् निग्रह का नियम तथा वाणी के लिये 'सत्य' का नियम इस प्रकार तीन नियम बनाये हैं। विषय कामरूप हाथी 'अहं' के मद से उन्मत्त होकर यौवन के नशे में विधि का बन्धन तोड़ देता है। चाहे सुहृद हो, राजा हो अथवा गुरु हो वह इन सबको झटक देता है। सूँड़ से स्वर्ग के शिखर को लपेट लेता है और लबालब भरी हुई नरक की नदी में डुबकी लगाता है। यदाकदा धर्म के जल से उसे स्नान भी कराया जाय तो वह लोभ की धूल अपने मस्तक पर डाल लेता है और ब्रह्मदेव सरीखे देवताओं को पछाड़ कर वह ममता की गर्जना करता है। विवेकरूपी महावत ही उस समय उसके मस्तक पर चढ़ सकता है और शास्त्रविधि के अंकुश से उस पर नियन्त्रण कर सकता है। उस पर वैराग्ययुक्त 'उपशम' का पहरा बिठा कर विवेकरूपी महावत उसे 'दम' के शृंखलाबन्ध से उसे काबू में लाता है और उसे सत्य के खम्भे से कसकर बाँध देता है। मानसिक, वाचिक तथा कायिक कर्मों से विषयों की अत्यधिक बाधा होती है। उन तीनों के लिये तीन प्रकार के नियम बनाये हैं। राजा! उन नियमों का मर्म सुनो। 'शम' की स्थिति यह है कि वह विषय से आसक्ति हटा कर मन बुद्धि आदि जो चित्तवृत्तियाँ हैं उन्हें परमार्थ की ओर मोड़ता है। पूर्व में सूर्य के उदय होते ही जिस प्रकार अन्धकार त्रिभुवन को छोड़कर चला जाता है उसी प्रकार गुरुपदेश से 'शम' प्राप्त होते ही मन से अपने आप विषय की निवृत्ति होती है। जब गुरुपदेश के अनुसार 'दम' बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्तियों को दबा देता है तो फिर शम की संगति से इन्द्रियों के कर्मों की निवृत्ति होती है। कन्या का पालन-पोषण कर उसे दामाद को दान देने के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बाद जिस प्रकार कन्या बाप के कुलगोत्र को छोड़ देती है उसी प्रकार दम की सहायता से इन्द्रिय विषय का त्याग करते हैं। कहीं 'वाणी' बहकना न शुरू करे इसलिये उसे 'सत्य' की बेड़ी पहनाकर अत्यन्त शुद्ध और स्थिर कर देते हैं। ''जो सत्यवक्ता है उसे ब्रह्मादि देवता भी वन्दन करते हैं और असत्य बोलने वाले को अधोगति प्राप्त होती है।'' इस आशय का जो प्रतिपादन करते हैं, वे भी झूठ बोलते हैं। लेकिन रामनाम के बार-बार उच्चारण करने से जो वाचा पवित्र हो जाती है, वह भविष्य में कभी भी कल्पांत में भी असत्य में नहीं डूबेगी। मथ कर निकाला हुआ मक्खन पुनः मट्ठे में डालने पर भी वह उसमें नहीं डूबता उसी प्रकार नाम से वाणी पवित्र होने पर असत्य कभी उसका स्पर्श नहीं करता। जिस प्रकार सूर्य के किरण लगते ही घी की कनी पिघलने लगती है उसी प्रकार सत्य के निश्चय के सामने असत्य चौंधिया जाता है और समूल नष्ट हो जाता है। चन्दन वृक्ष के सान्निध्य से खैर और बैर के वृक्ष भी अपने सामान्य काष्टगुण से वंचित होकर चन्दनरूप हो जाते हैं उसी प्रकार नाम के गजट से वाणी में निजसत्व प्रगट होता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से जुगनू लुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार रामनाम के प्रभाव से असत्य का अपने आप लोप हो जाता है। अमावस्या के बाद प्रतिपदा को जब चन्द्रमा अँधेरे को हटाकर प्रगट होता है तब प्रकाश का समूह संसार में प्रगट होता है। उसी प्रकार असत्य का प्रभाव होने के कारण वाणी भी सत्य के संभ्रम से प्रगट होती है या जिस प्रकार राजा की आज्ञा से प्रजा भी अपने धर्मानुसार आचरण करती है। सत्य से अच्छा कोई तप नहीं है, सत्य से अच्छा कोई मार्ग नहीं है क्योंकि सत्य से सद्रूप की प्राप्ति होती है और सत्य से ही साधक निष्पाप हो जाते हैं। इस प्रकार काया, वाचा तथा मन से जो शम, दम और सत्य इन तीन प्रकारों से नियमों का पालन करता है, उसके विषय तत्काल भाग जाते हैं। इस प्रकार का स्वार्थ साधने के लिये अंतःकरण में भगवच्छास्त्र के प्रति रुचि रखनी चाहिये। लेकिन द्वेषभावना से दूसरे शास्त्रों की निन्दा भी नहीं करनी चाहिये। एक की स्तुति और दूसरे की निन्दा करने से दोष लगता है। इसलिये साधक निन्दा की राह पर नहीं चलते। अर्धांगी लक्ष्मी का वन्दन करें और पैर से गंगा निकली है इसलिये क्या उसकी निन्दा करें? अपनी माँ को नमस्कार करना तथा अन्य स्त्रियों को लतियाना क्या उचित है? अपने आराध्य देवता का भजन करना चाहिये किन्तु वह भी निन्दा और स्तुति इन दोनों को त्याग कर जो निजसत्य धारण कर मौन का आश्रय लेता है वही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होता है। इतना प्रयास न कर, कष्ट न सहकर यदि एकनिष्ठा से भगवद्भक्ति की जाय तो हरि भक्तों को अनायास ही मुक्ति प्राप्त होती है। हे राजा! उस भक्ति का सच्चा स्वरूप क्या है और हरिभक्त किस प्रकार सुलभ ढंग से परमपद प्राप्त करते हैं, वह तुम्हें बताता हूँ, सुनो।

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥ २७॥

भक्ति का मुख्य साधन यह है कि श्रीहरि का दिव्य जन्म, दिव्य गुण तथा दिव्य कर्म आदि का पूर्ण श्रद्धा से श्रवण किया जाय और आनन्दपूर्वक कीर्तन किया जाय। हरिकीर्तन के सामने अन्य सभी साधन बिलकुल निम्न श्रेणी के हैं। हरि की लीलाएँ अत्यन्त महान और अद्भुत हैं। उनका गायन करने से मन को अत्यन्त प्रसन्नता होती है। समुद्र में पाषाण तैराये, हाथ से गोवर्धन पर्वत उठाया, बिना किसी की नींद खराब किये मथुरा को द्वारका ले आये। गुरु के मृत पुत्र को जीवित कर दिया, मुख से दावाग्नि निगल लिया, माँ के सन्तोष के लिये कंस द्वारा मारे हुए उनके गर्भों को लाकर दिखलाया। अजन्मा होते हुए असंख्य जन्म लेने वाला, अकर्मा होते हुए अद्भुत कर्म करने वाला तथा अगुणी होते हुए गुणों में विचरण करने वाला वह श्रीपति, उसके गुणकर्मों का वर्णन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करने से उसे अतीव सन्तोष प्राप्त होता है। मूलतः वह आनन्दघन है, तिस पर कीर्तन में उसकी गुण कर्म लीला गाने से वह प्रसन्न होकर डोलने लगता है। इस प्रकार कीर्तन में हरि की कीर्ति गाने से चित्त की वृत्तियाँ निर्मल हो जाती हैं और उस वृत्ति में ध्यान की मुद्रा स्थिर हो जाती है। राजा! वह ध्यानस्थिति बताता हूँ, सुनो। मस्तक पर मुकुट, कान में कुण्डल, कमर में मेखला (कमरबंद) तथा जरी का पीताम्बर पहना हुआ तथा गले में आपाद वैजयंतीमाला, ऐसा वह मेघश्याम सुशोभित होता है। ऐसी वह मनोहर, सुन्दर, सगुण मूर्त्ति मनश्चक्षु के सामने प्रगट हो जाती है, अथवा नामरूप गुण का त्याग कर निर्गुण स्वरूप अर्थात् परिपूर्ण ब्रह्म शुद्ध चैतन्य का अंतःकरण में स्फुरण होने लगता है। ऐसी मूर्त्ति मन में स्थिर होते ही भक्त की बाह्य क्रिया कृष्णार्पण हो जाती है, यहाँ तक कि स्त्रीपुत्र आदि भी पूरी तरह कृष्णार्पण हो जाते हैं।

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान्सुतान्गृहान्प्राणन्यत्परस्मै निवेदनम्॥ २८॥

अग्निहोत्रादिक 'याग' और होम, ग्रहण आदि में किया हुआ उत्तम 'दान' तथा 'तप' अर्थात् वर्णाश्रम के अनुसार यथोचित किया हुआ जो स्वधर्म है, वेद शास्त्रों के अनुसार किया हुआ आचरण, विधि विधान के अनुसार गुरुदीक्षा लेकर प्राप्त किया हुआ शुद्ध मंत्र अथवा केवल भगवान के नाम के मंत्र का जाप आदि सब अर्थात् यज्ञ, दान, धर्माचरण तप-दीक्षामंत्र अथवा नाम का जाप निर्विकल्प मन से कृष्णार्पण करना चाहिये। इस प्रकार का आचरण कर जो अनन्य भाव से हरि की शरण में जाते हैं वे हरि के प्रेम के पात्र हो जाते हैं और जिस प्रकार माँ अपने नन्हें बालक का पालन-पोषण करती है, उसी प्रकार श्रीहरि उनका पालन-पोषण करता है। इसलिये उदर निर्वाह के जो उद्योग हों उन्हें भी कृष्णार्पण ही करना चाहिये। जो भक्त ज्ञान से सम्पन्न होते हैं वे कभी भी 'यह मेरा है' कहकर उसके प्रति मन में अहंकार नहीं धरते। मन में जिसके प्रति अत्यन्त रुचि रहती है, जिसके प्रति अत्यन्त प्रेम रहता है, वह सब गुरुवचनों पर विश्वास कर कृष्णार्पण कर देते हैं और इसके लिए आठों पहर अपना शरीर सेवा में खर्च करते हैं। क्षणभर के लिये भी वे विषयाकार व्यापार नहीं करते। अन्न के लिए पागल होकर वे धनिकों के पैर नहीं छूते हैं। विषय की इच्छा से वे अपना जीवन कौड़ियों के भाव नहीं बेचते हैं। लाखों रुपया खर्च करने पर भी जीवन का आधा हिस्सा भी प्राप्त नहीं होगा। ऐसे अमूल्य जीवन से भक्त केवल परमार्थ अर्जित करता है और विषयों की राशि पर थूकता है। राजा भी राज्य का वैभव त्याग कर वन में चले जाते हैं तथा विषयासक्ति त्याग कर परमार्थ की साधना करते हैं। पूर्ण भक्ति की महिमा का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? सच्चा भक्त एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देता, वह सारा जीवन ही कृष्णार्पण कर देता है। उसी प्रकार पुत्र, स्त्री आदि जो भी कोई हों उन्हें तथा स्वयं को वह भगवत्सेवा के लिये अर्पण करता है। पुत्रदारादिक 'मेरे' हैं ऐसी ममता वह मन में कभी नहीं पालता। स्त्री, पुत्र, अपनी काया, घर तथा प्राण आदि में अंतर्बाह्य परमात्मा ही भरा हुआ है यह वह देखता है और बिना संकल्प के अर्थात् 'अर्पण करता हूँ' कहे बिना ही सहज ही ब्रह्मार्पण हो जाता है।

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम्।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु॥ २९॥

इस प्रकार जो स्त्री, गृह, देह तथा सम्पत्ति ये सब शुद्ध श्रद्धा से आत्मार्पण कर सदासर्वदा भजन करते हैं वे ही भक्त श्रीहरि को अत्यन्त प्रिय होते हैं। समस्त प्राणिमात्र के हृदय में वास करने वाला जो परमात्मा भगवान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीकृष्ण है उसे स्वहित साधने के लिये जो पूरी तरह भजता है, उसकी उस निर्गुण परमात्मा के प्रति जब तक दृष्टि स्थिर नहीं होती, तब तक उसे सर्वात्मभावना से सगुण मूर्ति का ही हृदय में ध्यान-भजन करना चाहिये। यदि ध्यान में सगुण मूर्ति भी ठीक तरह से न आ रही हो तो प्रतिमा का ही ध्यान भजन करना चाहिये। उपासक लोग अपने घरों में जिसकी पूजा करते हैं उन्हें 'चलमूर्ति' समझना चाहिये और द्वारकादि क्षेत्र की पुराणकाल से प्रसिद्ध मूर्ति को 'अचलमूर्ति' समझना चाहिये। उन मूर्तियों से भी श्रेष्ठ स्थान 'ब्राह्मण' का है। वे पूरी तरह पूज्य हैं। उनका सर्वकाल, सभी प्रकार से भजन करना चाहिये। उन ब्राह्मणों में भी सदाचार सम्पन्न 'श्रोत्रिय' अर्थात् वेदों के जानकार ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। उनसे भी श्रेष्ठ और पूज्य हैं वे जो वेद शास्त्रार्थ प्रवीण हैं। उनमें भी जो 'भागवत' अर्थात् भगवद्भक्त होने के साथ-साथ भागवत धर्म में तत्पर हैं, जो निष्काम भाव से भगवद्भक्ति करते हैं तथा जिनकी श्रीकृष्ण पर पूर्ण श्रद्धा है, जिनका हृदयस्थ श्रीकृष्ण ही आत्मा, श्रीकृष्ण नाथ ही जिनका अनन्यस्वामी हैं ऐसे जो पूर्ण भगवद्भक्त हैं वही वास्तव में भक्तों को पूज्य हैं। जिसके देवता, मानव और वेद भी स्तुतिपाठक चारण होते हैं वह 'सद्गुरु' अत्यन्त महानता के कारण शिष्य को सभी प्रकार से, सब से अधिक पूज्य हैं। गुरु और ब्रह्म इन दोनों को एकसमान कहा जाय तो वह भी कम ही होगा क्योंकि गुरुवचन से ही ब्रह्म को ब्रह्मत्व प्राप्त होता है। देवता के प्रति जैसी भावना रखते हैं वैसी ही सद्गुरु के प्रति रखनी चाहिये। गुरु में और देवता में भिन्नत्वभाव होता ही नहीं है। इसलिये देवता की पूजा करने से गुरु को सन्तोष प्राप्त होता है और गुरु की पूजा करने से देवता को सन्तोष होता है। नाम दो होने पर भी वे प्रसन्नतापूर्वक एक ही स्वरूप में रहते हैं। सोना और कंगन ये दो नाम होते हुए भी सुवर्ण एक ही है। उसी प्रकार गुरु में और ब्रह्मा में भेदभाव नहीं होता। उस सद्गुरु का भजन तन, मन, धन से निष्कपट भाव से करना चाहिये। अपने सर्वस्व के साथ श्रीगुरु के चरणों में आत्मार्पण करना चाहिये। उसी प्रकार साधु और ज्ञानसम्पन्न श्रोता को भी सद्गुरु समान ही मानना चाहिये। उनके साथ संवाद कर श्रवण और निरूपण करते रहना चाहिये।

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथोरतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः॥ ३०॥

ऐसे लोगों के पास कथानुवाद करते हुए परस्पर निजात्मबोध होता है और उस गुह्यज्ञानसंवाद से परमानन्द छलकने लगता है। इस प्रकार हरिकथा में रुचि के कारण परस्पर श्रद्धा उत्पन्न होती है और वे परस्पर सुखसंवाद करते हुए आत्मसुख का माधुर्य चखते रहते हैं। आत्मसुख का माधुर्य एक बार चखने से दुःखों की राशियों का विलय हो जाता है। इस प्रकार भक्ति साम्राज्य की पताका फहरा कर साधकों को स्वानन्द साम्राज्य का उपभोग लेना चाहिये। सद्भाव से अभेद भजन करते समय भक्तों को स्वानंद की पूर्ण प्राप्ति होती है। हे राजा! उस स्वानंद का वास्तविक लक्षण बताता हूँ, सुनो।

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या संजातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुललकां तनुम्॥ ३१॥

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित् हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥ ३२॥

हरिकथा की महिमा को भक्तिभावना से पूछने वाले तथा बताने वाले इन दोनों को ही बहुत पुण्य प्राप्त होता है पाप औषधि के लिये भी नहीं मिलता। जिसके नामस्मरण मात्र से ही सारे पातक नष्ट हो जाते हैं, वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वयं अंत:करण में प्रविष्ट होते ही फिर पातक को कहाँ ठौर मिलेगा? साधन रूप भक्ति की युक्ति से सप्रेम भक्ति उत्पन्न होती है। हे ज्ञानसम्पन्न चक्रवर्ति राजा! उस भक्ति की स्थिति बताता हूँ, सुनो। सद्भाव से की हुई अभेद भक्ति से जब हृदय में श्रीहरि प्रकट होते हैं उस समय देह के बाह्य चिह्न भी बदलने लगते हैं। जब परस्पर आध्यात्मिक संवाद शुरु होता है, उस समय अन्तर में स्वरूप का बोध होता है, नेत्रों में अश्रु जमा हो जाते हैं, शरीर पर पसीना चुहचुहाने लगता है और प्राणों की गति कुंठित हो जाती है। चित्त चैतन्य की भेंट होते ही आनन्द से कंठ भर आता है, शरीर पर रोमांच उभरने लगते हैं तथा दृष्टि अर्धोन्मीलित होकर स्तब्ध हो जाती है। अच्युत का चिन्तन करने पर वह प्रेम से सिहर उठता है, वह जोर-जोर से रोने लगता है, सिसकियाँ लेकर बेचैन हो उठता है। रोने के साथ-साथ उसे हर्ष भी होने लगता है। हर्ष के उस आवेग में वह जोर-जोर से हँसने भी लगता है। वह कहने लगता है, आज तक मैं देहाहंकार के कारण मोह-मद से ग्रस्त था, अब गुरुकृपा के बोध से मुक्त हो गया हूँ और यह कहते हुए वह परमानन्द से डोलने लगता है। 'मैं' और 'मेरा' इस सांसारिक भावना से मैं स्वयं को ही भुला चुका था। सद्गुरुवचन ने स्वयं को मुझसे मिलाया इस आनन्द से वह उल्लसित होता है। सद्गुरु का वचन कितना आकर्षक है। उसके कारण ही मैं आत्मसुख का भोग करता हूँ। इस आश्चर्य से वह स्वानंद से डोलने लगता है। जाने कैसे संसार के भूतों का भय लग रहा था। लेकिन गुरु वचन ने उसे वास्तव में नष्ट कर दिया और यह कह कर वह लोकलज्जा का विचार न कर नाचने भी लगता है। माँ को देखकर जिस प्रकार बालक विविध प्रकार से नाचने लगता है, उसी प्रकार गुरुवाक्य की महिमा का विचार मन में लाकर निजभक्त अपनी ही तान में नाचने लगता है। आत्मबोध प्राप्त होने के कारण वह नृत्य विनोद से भगवान के पद प्रसन्नतापूर्वक स्वयंस्फूर्त्त होकर गाने लगता है। उस गुणानुवाद कीर्त्ति के गजर से सारा त्रिभुवन प्रसन्नता से भर जाता है। उस आनन्दोद्गार से सन्तुष्ट होकर परमानन्द का अतिरेक हो उठता है। गाना छोड़कर वह अब जोर-जोर से चिल्लाने लगता है। 'मेरा गाना मैं ही सुनूँ, यहाँ दूसरा कोई है ही नहीं' ऐसा ही कुछ वह कहता रहता है। गानेवाला भी मैं ही और सुनने वाला भी मैं ही, मेरा गाना भी सचमुच मैं ही। सारे संसार में एक अकेला मैं ही। द्वैत होते हुए भी द्वैत की बात नहीं, ऐसी उसकी स्थिति रहती है। भक्तिभाव से भगवान की सेवा करते रहने से कर्मक्रिया अपने आप रुक जाती है। 'अहं-सोहं' समाप्त होकर वृत्ति का लय होता है। इस प्रकार प्रेमयुक्त भक्ति बढ़ने से साधक का साधन-श्रम नष्ट हो जाता है। सांसारिक भ्रम दूर हो जाता है और चारों वाणियों के साथ इन्द्रियों को शान्ति प्राप्त होती है। जहाँ एक भी नहीं है और दूजा भी नहीं है, आगे भी कुछ नहीं है और पीछे भी कुछ नहीं है, जहाँ सुख भी आत्मसुख में विलीन हो जाता है यही स्वरूप निश्चित रूप से निज शिष्य का होता है। बालक का लाड-प्यार किस प्रकार करना है यह उसकी माता ही जानती है, उसी प्रकार शिष्य को पूर्ण बोध कराने की कला केवल सद्गुरु को ही मालूम होती है। बच्चे को अलंकार पहनाकर सजाने का समाधान भोगना जैसी केवल माँ ही जानती है, उसी प्रकार शिष्य के सुख से सुखी होना केवल सद्गुरु को ही मालूम होता है। इन्द्रियों को जिसका स्थान मालूम नहीं होता, मन और वाणी के लिये भी जो अगोचर है, बुद्धि जिसकी मर्यादा रेखा नहीं जानती, ऐसी निर्विकार है निजवस्तु। जो दृष्टी को दिखलायी जा सके अथवा हाथ में दी जा सके, वैसे परमार्थ को दिखलाया या दिया नहीं जा सकता लेकिन सद्गुरु शिष्य को उसका भी बोध करा देते हैं। शिष्य को प्रबोधन करने की दृष्टि से सद्गुरु विचित्र उपदेशक है। इसलिये शिष्य के सुख से गुरुराज इस स्वानन्द का भोग करता है। शिष्य को जैसे-जैसे परब्रह्म की प्राप्ति होने लगती है, वैसे-वैसे उसका भ्रम दूर होने लगता है, इससे सद्गुरु का सुखसंभ्रम भी बढ़ने लगता है। रणभूमि पर सेनापति शत्रु की सेना ध्वस्त करता है तो इधर राजा यश

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की पताका फहराता है, उसी प्रकार शिष्य के परमानन्द में डुबकी लगाते ही गुरु सुखसागर में तैरने लगता है। शिष्य के प्रति ऐसी आतुरता जिस सद्गुरु में वास करती है, उसी के पास अनन्य श्रद्धा से पहले बताये हुए भागवत धर्म सीखने चाहिये।

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम्॥ ३३॥

ऐसी भागवत धर्म की स्थिति है। सद्गुरु की शरण में जाकर भागवत धर्मोक्त भगवद्भक्ति का अभ्यास करना चाहिये। इस भक्ति में माया की शक्ति बाधा नहीं डाल सकती। 'माया' को वेदशास्त्र के अध्ययन से नियंत्रित नहीं किया जा सकता। ब्रह्मादि देवताओं के लिये भी वह दुस्तर है। लेकिन भगवान की ओर जिनकी लगन लग गयी है वे केवल हरिनाम के स्मरण से ही उसे पार कर लेते हैं। हरिनाम की गर्जना सुनकर माया तत्काल भाग जाती है इसलिये इस उपाय से हरिभक्तों के सुख का पारावार नहीं रहता। हे राजा! यह माया परात्पर नारायण की है। नारायण के चरणों का भजन करने से उसे सहज ही पार किया जा सकता है। भजन का उपाय तुम्हें बताया। तुमने माया को पार करने का उपाय पूछा था, तो हे राजेश्वर! भगवद्भक्ति यही एक उपाय है यह तुम निश्चित रूप से जान लो। भक्ति के पास सदैव तृप्ति रहती है, भक्ति के पास नित्य मुक्ति रहती है, भक्ति के पास भगवत्प्राप्ति रहती है और हरिभजन से ही माया की निवृत्ति होती है। हरिनाम कीर्तन के गजर से माया प्राण बचाकर भागती है, हरिभजन की शक्ति से सीधे सादे, भोले-भाले भक्त भी इस माया को पार कर लेते हैं। जिस नारायण की भक्ति करने से निजभक्त सहज ही माया को पार कर जाते हैं, उस नारायण की मुख्य स्वरूप स्थिति कैसी होती है, यह प्रश्न चक्रवर्ती जनकराजा ने उन नवयोगियों से पूछा।

राजोवाच

नारायणभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः।
निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमा॥ ३४॥

सभी भूतों के प्रति भगवद्भाव रखना यही माया को तरने का उपाय है यह सुनकर राजा को प्रसन्नता हुई। उस आनन्द के आवेग में उसने परब्रह्म स्वरूप के बारे में पूछा। जिस नारायण की भक्ति करने से उत्तम भक्त माया तर जाते हैं, उस नारायण का निजस्वरूप राजा ने बड़ी उत्कंठा से पूछा। 'ब्रह्म-परमात्मा-नारायण' एक ही वस्तु का नाम है तो उस वस्तु की निजस्थिति कैसी रहती है इसका साद्योपांत वर्णन करने के लिये राजा ने कहा। जो सारे संसार का अधिष्ठान है, अंतर्बाह्य जिसकी पूर्ण व्याप्ति है उसे वेदज्ञ 'नारायण' के नाम से पुकारते हैं। सौभाग्य से ही मुझे आप जैसे ज्ञाननिधि प्राप्त हुए हैं। आपके वचनामृत के बोध से मेरी अहंभूमि गल गयी। आपके भाषण से मेरी स्वानन्द स्फूर्ति उफन कर बाहर आ गयी। चित्तवृत्ति तो इतनी पुलकित हो उठी है कि कितना भी भाषण करो मन तृप्त नहीं होता। राजा का यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुनकर प्रबुद्ध का छोटा भाई पिप्पलायन प्रसन्नता से बोलने के लिये आगे बढ़ा।

पिप्पलायन उवाच

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र॥ ३५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(पिप्पलायन ने कहा) अरे! जिसके कारण विश्व की उत्पत्ति होती है, जिसके कारण सुरक्षा होती है जिसके कारण प्रलयकाल को प्रलयशक्ति प्राप्त होती है ऐसे त्रैलोक्य की तीनों अवस्थाओं के लिये जो कारणीभूत है, जगतका जो मूल उद्देश्य है, लेकिन जो स्वयं हेतुरहित तथा सदासर्वदा सच्चिदानंद से परिपूर्ण होता है, वही 'नारायण' है यह जान लो। प्रातःकाल, सायंकाल तथा दोपहर इन तीनों समय में जिस प्रकार गगन अलिप्त रहता है उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और लयावस्था में भी परमात्मा नारायण अलिप्त रहता है। तुम कहोगे कि उत्पत्ति-स्थिति तथा प्रलय को कौन देखता है तो उसके स्पष्टीकरण के लिये दृष्टांत सुनो। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों को ही व्याप कर समाधि के पार भी जिसकी व्याप्ति है, जो उनका साक्षी है वही निश्चित रूप से नारायण है यह जान लो। जागृति का ज्ञान, स्वप्न का मिथ्या भान तथा सुषुप्ति का जो पूर्ण साक्षी है वह शुद्ध चैतन्य ही वास्तव में नारायण है। इस प्रकार परज्योति परमात्मा जो त्रिभुवन के सभी जीवों के हृदय में वास करता है, उसे ही हे राजवर्य! निश्चित रूप से 'नारायण' कहते हैं यह ध्यान में रखो। इस प्रकार यदि ब्रह्मस्वरूप का वर्णन किया जाय तो लगेगा कि ब्रह्म प्राप्ति अगम्य है। इसलिये जिससे सहज ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सके ऐसा उपाय बताता हूँ, सुनो। परमात्मा पूर्ण रूप से तुम्हारे ही हृदय में वास करता है, उसके ही कारण मन, बुद्धि और इन्द्रियों का चलन होता है। उसके ही तेज से आँखें देख पाती हैं, उसके ही स्वाद से रसना में रस के प्रति रुचि जगती है, उसके ही अवधान से कानों को शब्द ज्ञान का बोध होता है, उसके ही कारण अहंकार अहंभाव धारण कर पाता है, मन मनन कर सकता है, उसके ही कारण चित्त चिंतन कर सकता है, बुद्धि को उसकी ही ब्रह्मज्ञान शक्ति से बोद्धव्य प्राप्त होता है। उसके ही कारण जड़ देह सचेतन होता है, उसके ही कारण त्वचा को शीत-उष्ण तथा मृत्यु और कठोर का भेद मालूम होता है, पैरों का चलना और हाथ का देना भी उसके ही आदेश से सम्भव होता है। उसके ही कारण प्राण की श्वसन क्रिया तथा आँखों का खुलना और बन्द होना होता है। उसके ही आनन्द से प्राणी जननेन्द्रियों का आनन्द भोगते हैं। इस प्रकार जो त्रिभुवन को चलाता है, जो स्वानंद से हृदय में वास करता है, उसे ही 'नारायण' कहते हैं। वास्तव में 'परमात्मा' वही है। अब जिसके योग से मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रिय विचरण करते हैं वह उनके अधीन है ऐसा यदि तुम कहोगे तो वह कल्पांत में भी सम्भव नहीं होगा। अब उस स्वरूप का ज्ञाता बनकर उसे जानना चाहोगे तो वह सम्भव नहीं होगा क्योंकि ज्ञानी बनकर अर्थात् मैं ज्ञाता हूँ और वह ज्ञेय है इस ज्ञान से बुद्धि का कभी आत्मस्वरूप में प्रवेश नहीं होता। ज्ञान अथवा ज्ञानाभाव इन दोनों को छोड़ कर जब केवल सद्भाव उत्पन्न होगा, तभी परब्रह्म की अपने आप प्राप्ति होगी।

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा प्राणेन्द्रियाणि च यथाऽनलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूलमर्थोक्तमाहयदृते न निषेधसिद्धिः॥ ३६॥

वैकुंठ, कैलाश, क्षीराब्धि, आदि की मन कल्पना कर सकता है, लेकिन आत्मा की वास्तविक कल्पना करने का मनबुद्धि आदि को सामर्थ्य नहीं होता। जो मन स्वयं त्रिभुवन की कल्पना कर सकता है वह मन आत्मस्वरूप में प्रवेश नहीं कर सकता। बुद्धि भी पूर्णरूप से निश्चयात्मक है किन्तु उसके लिए भी परब्रह्म दुरूह है। जो मन, बुद्धि के लिये अगोचर है, जो वाणी के लिये भी दुस्तर है ऐसा वह परात्पर परब्रह्म शब्दों के लिये कभी भी गोचर होना सम्भव नहीं है। आकाश को गठरी में बाँधना चाहो तो चारों छोर खाली रह जाते हैं उसी प्रकार शब्दों से परब्रह्म को समझाने का प्रयास करो तो शब्दार्थ का धर्म ही नष्ट हो जाता है। प्राण की गति से जिस क्रिया शक्ति का चलन होता है उस क्रिया को भी जब परब्रह्म का आकलन नहीं होता तो इन्द्रियों को कैसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो पायेगा? जिस प्रकार जलाशय में प्रतिबिम्बित होने पर भी सूर्य गीला नहीं होता, उसी प्रकार मन, बुद्धि और इन्द्रियों के परे वह परमात्मा है, यह निश्चित रूप से ध्यान में रखो। मन का जो अनादि मन है, बुद्धि की जो सज्ञान बुद्धि है, नेत्रों का जो आद्य नेत्र है, कान को भी जो ध्यानपूर्वक सुनने वाला कान है, नाक की जो मूल नाक है, जो जिह्वा की भी जिह्वा है, जो त्वचा की अंतर्त्वचा है, जो जीवों का जीव है, जो इन्द्रियों का प्रकाशक है, कर्म करते हुए भी जो अकर्ता है वह कभी भी इन्द्रियार्थ इन्द्रियों में विषय नहीं हो सकता। जहाँ बुद्धि की दृष्टि नहीं पहुँच पाती वहाँ मन का मनपन कैसे प्रवेश कर पायेगा? फिर श्रवण, नयन, घ्राण आदि के संयोग से वह कैसे प्राप्त हो सकेगा? जिसके पास प्राणों की शक्ति भी नहीं पहुँच पाती, वहाँ वाणी कैसे पहुँच पायेगी? वह लज्जा से मुड़ कर अपने आप लौट जाती है। फिर उसके आगे कर्मेन्द्रियों की क्या प्रतिष्ठा होगी? अग्नि से क्षण प्रति क्षण ज्वाला तथा चिनगारियाँ निकलती रहती हैं किन्तु उनसे अग्नि का पूर्ण स्वरूप प्रगट नहीं होता। सूर्य से असंख्य सूर्यकान्त चमकते रहते हैं लेकिन उनमें सूर्य प्रकट नहीं होता। उसी प्रकार ब्रह्मा से अनेक इन्द्रिय व्यक्त होते हैं लेकिन उन इन्द्रियों की ब्रह्मा से जान-पहचान कभी भी और किसी भी तरह होना सम्भव नहीं है। यदि केले के फल से केला उत्पन्न हो सके या शक्कर से ईंख उत्पन्न हो तभी इन्द्रिय ब्रह्मा को जान पायेंगे लेकिन वह ब्रह्मादिकों के लिये भी साध्य नहीं है। यदि इन्द्रियों को ब्रह्मज्ञान नहीं हो पाता तो जीवों का बन्धन कभी नहीं टूटेगा इसलिये जन्ममरण से कभी मुक्ति नहीं मिलेगी। 'शब्दादेवापरोक्षेति' ऐसी श्रुतिशास्त्रों की मान्यता है लेकिन वह भी झूठ ही लगता है ऐसा तुम कहोगे। तो हे राजा! शब्द स्वयं लय हो जाता है और जीव को ब्रह्मज्ञान देता है। इसके सम्बन्ध में जो निरूपण सुना रहा हूँ उसे ध्यान से सुनो। वेदों ने तो बाजी लगाकर जीव को संसारबन्धन से मुक्त करने का बीड़ा उठाया है लेकिन सभी शास्त्रों की छानबीन करने के बाद लगता है कि उन्होंने भी हाथ टेक दिये हैं। श्रुति ने 'नेति नेति' कह कर अनात्म पदार्थों का निषेध किया और एक प्रकार से आत्मस्वरूप की पहचान बतायी लेकिन आत्मा का प्रत्यक्ष स्वरूप वेद भी नहीं बता पाये। शब्द से जो निःशब्द का ज्ञान कराता है वही 'परब्रह्म' है ऐसा समझना चाहिये। यह पहचान जिसकी समझ में आती है, वह स्वयं सहज ही ब्रह्मरूप हो जाता है। श्रुति 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नहीं, यह नहीं' कह कर निषेधरूपी वचनों से परब्रह्म का दर्शन कराता है। इस श्रुतिशब्द की सहायता से जो निःशब्द परब्रह्म को जान सकता है वही परब्रह्म तक पहुँचता है। शब्द अपने निषेध से जिसका ज्ञान कराता है, उस तत्त्व में जिसकी बुद्धि समरस होती है, वही तत्त्व निश्चित रूप से परब्रह्म है। आखिर निषेध की मर्यादा भी वही है। शब्द अपनी सारी शक्ति से जीव को ब्रह्म की प्राप्ति करा देता है। 'शब्दादेवा परोक्षेते' अर्थात् 'शब्दों से ही अपरोक्ष ज्ञान' जिसे कहते हैं, वह यही है। जहाँ वाणी पूरी तरह कुंठित हो जाती है, जहाँ मन और बुद्धि नहीं पहुँच पाती वही निषेध की सीमा है। उसी को 'परब्रह्म' कहते हैं। जो वाणी को सवाक बनाता है किन्तु वाणी जिसे नहीं कह पाती जो मन और बुद्धि वालों को जानता है लेकिन मन बुद्धि जिसे नहीं जानती, जो नेत्रों को रूप आदि दिखाता है लेकिन जिसे नेत्र नहीं देखते जो श्रवण और घ्राण इन दोनों को सुनने की और घ्राण लेने की शक्ति देता है जिसे जानने के लिये दूसरा कोई नहीं है ऐसे जो 'स्वसंवेद्य' अर्थात् स्वयं ही अपने को जानने वाले हैं, जिसे जानने वाला अन्य कोई नहीं है। वहाँ शब्द को प्रवेश करने के लिये अवकाश ही कहाँ है? जो कृश भी नहीं है और विपुल भी नहीं है, जो सीधे भी नहीं है और वक्र भी नहीं है, जो सूक्ष्म भी नहीं है और स्थूल भी नहीं है ऐसी जो निर्विकार वस्तु है जिसमें न रूप है न गुण है, जिसे न आश्रम है न वर्ण है, जिसमें 'मैं' पना नहीं है और 'दूजा' पन भी नहीं है, उसी प्रकार जिसे जन्म और मरण नहीं है, जो न हलका है न भारी है, जो न दुबला पतला है न पुष्ट ही है, जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

न बसा हुआ है और न उजाड़ ही है, जो निःशेष निर्धर्म है, जो न छोटा है न लम्बा है, जो न वरिष्ठ है और न कनिष्ठ है, जिसका विवेक से विचार करने पर विवेक भी सिकुड़ जाता है, जिसका न आदि है न अन्त है जिसकी मध्यस्थिति भी नहीं है गुणयुक्त नहीं है और गुणातीत भी नहीं है, जो अद्वय भाव से अच्युत और अनन्त है, उस स्वरूप का शब्दों में वर्णन करने का प्रयास वेदों ने किया, श्रुतियों ने भी बहुत हो-हल्ला किया किन्तु बड़े कष्ट से 'नेति-नेति' कहने के कारण उन्हें लज्जा से गर्दन झुकानी पड़ गयी। तो क्या वेद उस स्वरूप को बिना जाने ही लौट गये? ऐसी बात नहीं है। उसने उसे जान लिया लेकिन वह शब्दों में व्यक्त नहीं कर सका इसलिए वह मौन धारण कर बैठ गया और निःशब्द होकर तटस्थ रह गया। इस प्रकार वेदों ने मौन धारण कर लेने के बाद सभी छः शास्त्र सकते में आ गये। वे अपने-अपने मत के अभिमान के कारण वितंड़ावाद में उलझ गये। शब्दवृत्ति जब शान्त हो जाती है, तभी ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, इस बात का वेदों को पूरा विश्वास हो गया इसीलिये उन्होंने शब्दों से शब्दों का निषेध कर हमेशा के लिये मौन धारण कर लिया। वेदराज के मौन धारण करते ही बेचारे शास्त्र इधर-उधर भागने लगे। शब्दों का जंगल ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उन्हें सच्चा समाधान नहीं ही मिला। कल्पना का विराम होते ही जिन्हें ब्रह्म की प्राप्ति होती है उन्हें षड्दर्शन में मेल दिखायी देने लगता है, शास्त्रों को अपने आप समझ आ जाती है और सारा त्रिभुवन एकरूप दिखायी देने लगता है। 'ब्रह्म' एक ही एक है तथा अद्वय है, ऐसा सिद्धान्त आपही ने प्रतिपादित किया था तो फिर त्रिभुवन में जो एकता दिखायी देने लगी वह किसको? ऐसा हे राजा! तुम कहोगे। तो तुम्हें बताता हूँ कि जिसकी वासना की गाँठ टूट गयी, अहंकार की गाँठ खुल गयी, भाग्य केवल शरीर तक ही सीमित रह गया उनको ही यह सृष्टि ऐक्यरूप से भासित होने लगी। उस अनुभव का किस्सा सुनाते समय उल्हास मालूम हुआ और स्वानन्द से सन्तुष्ट होकर पिप्पलायन मुनि ब्रह्मैक्यरूप से सृष्टि की प्रशंसा करने लगे।

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम्।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत्॥ ३७॥

ब्रह्म और आत्मा एक है इस अनुभव से प्रपंच भी ब्रह्मरूप ही दिखायी देने लगता है। जिस प्रकार आकाश में नीलापन का आभास होता है उसी प्रकार ब्रह्म में भी माया विचरती रहती है। उसकी करनी बड़ी अद्भुत है। उसने नपुंसक में भी पुरुषत्व उत्पन्न किया। उसका पतिव्रता धर्म भी बड़ा विचित्र है। उसने नपुंसक में काम उत्पन्न किया अनात्मा का नामकरण किया और उसके ही कारण निष्कर्म में कर्म उत्पन्न हुआ। वह निःसंग की संगति में ही रममाण हुई और बिना शरीर का स्पर्श किये उसे गर्भ ठहर गया। प्रधान और महतत्त्व से उसे गर्भ ठहरा और उसने विकारयुक्त त्रिगुणों को जन्म दिया। उस विचित्र स्त्री ने ज्ञानाज्ञानरूपी गाँव में वास कर अपनी विद्या और अविद्या—स्वभाव के अनुसार शिव-भेद उस पुरुष को भोगने के लिये बाध्य किया। जिस प्रकार सुवर्ण में अलंकार, तंतू में वस्त्राकार अथवा दीवार पर चित्र का आभास होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में माया का साकार आभास होता है। मिट्टी के गोकुल बनाये, उनकी भिन्न-भिन्न नामों से पूजा की लेकिन उनमें की मिट्टी एक ही होती है उसी प्रकार ब्रह्म में जगद्रूप से माया का आभास होता है। घी के कण जिस प्रकार घी से भिन्न नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्म में भी माया अनेक प्रकार दिखाती है। मूल रूप से ब्रह्म तो अकेला है, वह अनेक कैसे हुआ? तो वह माया की संगति का प्रभाव है ऐसा स्पष्टीकरण पिप्पलायन ने दिया। ब्रह्म मूलतः ओंकार रूप है, वही अकार-उकार-मकार इस प्रकार तीन रूपों में प्रगट हुआ। सत्त्वादि तीन गुणात्मक विकार उसी के हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तीनों गुण समान होने पर उसे 'प्रधान' कहते हैं। वही क्रिया शक्तिसूत्र है। उसमें जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो उसी को 'महतत्त्व' कहते हैं। अहंब्रह्मं यह जो पूर्णस्फूर्ति है, उसमें का 'अहं' ही देहाकृति में आया। उस देहाभिमान के कारण ही परब्रह्म को 'जीव' कहते हैं। 'क्रिया' का अर्थ है दस इन्द्रिय उनके अधिष्टातृ देवताओं को 'ज्ञान' कहते हैं। विषय को 'अर्थ' और सुख-दुःख को 'फल' कहते हैं। तीन गुण, पंचभूत, पाँच विषय, दस इन्द्रिय, उनकी सहायता से सुख-दुःख भोगने वाला जीव और ज्ञान, क्रिया, कर्माचरण इन सबको भी पूर्णब्रह्म समझना चाहिये। चीनी का कटहल बनाओ तो भी उसके काँटे, छिलका, गुठली आदि शुद्ध शक्कर ही होती है, उसी प्रकार जगत के रूप में सारा ब्रह्म ही है। कपड़े की गुड़िया बनायी, उसमें भिन्न-भिन्न अवयव बनाये फिर भी उसमें एक जैसा सूत ही होता है, उसी प्रकार जो अविकृत ब्रह्म है, वही जगत के आकार में दिखायी देता है। जगत, विश्व, प्रपंच ये नाम अलग-अलग होने पर भी वह सारा शुद्ध परब्रह्म ही है। उपनिषद का प्रमुख तत्त्व यही है और वेदांत का परम परमार्थ यही है। अब संसार के रूप में परब्रह्म फैला हुआ है और संसार तो विकारयुक्त है तो कोई ब्रह्म को भी विकारयुक्त कहेगा। लेकिन हे राजा! ऐसा कभी नहीं होगा।

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत्॥ ३८॥

ब्रह्मा को माता-पिता नहीं है इसलिये उसे जन्म नहीं है। आत्मा यदि एकदेशी होता तो उसने माता के गर्भ में जन्म लिया होता। आत्मा के सिवा संसार में तिलमात्र के लिये भी जगह नहीं है। वह इतना परिपूर्ण है इसीलिये उसे जन्म का स्पर्श नहीं है। जन्म से पूर्व बालक का अस्तित्व नहीं होता, जन्म लेने पर उसका अस्तित्व मानते हैं लेकिन यह आस्ति-नास्ति की भाषा आत्मा के पास नहीं है। अब है, पहले नहीं था, इस प्रकार का 'आस्तिक्य' आत्मा में कभी प्रवेश नहीं करता। वह नित्य, निरन्तर ऐसा ही है। देहरूप से जन्म लेनेवाले बालक का दिन-प्रतिदिन विकास होता दिखायी देता है, उस प्रकार का बालजन्म आत्मा का न होने के कारण उसकी 'वृद्धि' अर्थात् विकास नहीं होता। जिसमें वृद्धि नहीं होती उसके स्वरूप में कभी भी 'विपरिणाम' अर्थात् परिवर्तन नहीं होता। उसमें बाल, युवा और वार्धक्य ये अवस्थायें कभी भी नहीं होतीं। मैं बाल्यावस्था में छोटा था, युवावस्था में बड़ा हो गया और हाय, अब मैं वृद्ध हो गया हूँ। ये तीन अवस्थाएँ देखने वाला अर्थात् जानने वाला परमात्मा है। साक्षी अथवा देखने वाला उन अवस्थाओं से परे होता है, वह कभी अवस्थाभूत नहीं होता। ऐसा वह परमात्मा सचमुच देह में होते हुए भी अवस्थारहित अथवा देहातीत होता है। आत्मा अवस्थाशून्य, अविकारी तथा पूर्ण है। उसमें कभी भी क्षीणता नहीं आती। उसी प्रकार जिसे 'जन्म' ही नहीं है उसे 'मरण' कैसे आयेगा? तुम कहोगे कि ऐसी आत्मा है कौन? तो यह जान लो कि वह सर्वज्ञ है और केवल 'ज्ञानस्वरूप' है। अब तुम कहोगे कि ज्ञान भी क्षणिक है, घटज्ञान से परज्ञान नष्ट होता है, लेकिन ऐसी बात नहीं है। उस विषय को जानने वाली इन्द्रिय वृत्ति ही नष्ट हो जाती है, ज्ञान वैसा का वैसा अविनाशी ही होता है। इसका उदाहरण यह है कि जिस प्रकार प्राण देह की वृद्धि करता है लेकिन केवल देह ही बाल, युवा आदि अवस्थाओं के अधीन होता है, प्राण अवस्थारहित होता है इसीलिये वह जैसा का तैसा रहता है। प्राण देह का चालक है, उसे देहावस्था की बाधा नहीं होती और आत्मा तो प्राण को भी चैतन्य प्रदान करता है। इसलिये उसमें देहावस्था सम्भव नहीं है। इसी उदाहरण से परब्रह्म का निर्विकार स्वरूप समझना चाहिये। आत्मा देह की इन्द्रियों से बिलकुल अलग है, यह अगले श्लोक में स्पष्ट किया गया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु प्राणो हि जीवसुपधावति तत्र तत्र।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते कूटस्य आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः॥ ३९॥

अंडज, स्वेदज, जारज और चौथा, अद्भिज, इनमें आत्मा की संगति से प्राण सहज सर्वकाल रहता है। प्राण के साथ आत्मा रहने से उसे 'जीव' कहते हैं। जब उस प्राण को देहावस्था की बाधा नहीं होती तो फिर जीव के माथे पर वे कैसे सवार होंगी? देहेन्द्रियों में विचरण करते हुए भी आत्मा देहावस्था से अलिप्त रहता है। वह किस तरह अलिप्त रहता है इसे उदाहरण देकर समझाता हूँ। आत्मा जब सविकार देह में रहता है तो उसे सविकार मानते हैं। वही देहेन्द्रियों को छोड़कर पूर्वस्मृति से स्वप्न में भी रहता है। देहेन्द्रिय के बिना रहने वाले लिंगदेह में आत्मा जागृत अवस्था के अभिमान संकल्प से स्वप्न भी देखता है। जब वह स्वप्न भी शान्त हो जाता है और देहाभिमान का लय हो जाता है तो सुषुप्तावस्था में जो विकारशून्य पूर्ण परमात्मा है वही शेष रहता है। देहेन्द्रियों के साथ जब अभिमान भी लीन हो जाता है तो स्फुरण का स्फुरण नहीं होता। जब सारा शून्य ही हो गया तो फिर चिद्धन (ज्ञानमय) आत्मा भी नहीं है, ऐसा तुम कहोगे। उसका उत्तर देता हूँ—सुषुप्ति में यदि आत्मा न होता तो 'मैं सुख से सोया हुआ था' इसका स्मरण कैसे हुआ होता? अर्थात् यह जहाँ जागता है उसे 'शून्य' कभी नहीं कहा जा सकता। जो मैं जागृति में 'जानने वाला' वही मैं स्वप्न देखने वाला और वही मैं सुषुप्ति में सुख भोगने वाला है। इस प्रकार वह तीनों अवस्थाओं में साक्षी होता है। ऐसी तीन अवस्थाओं में जो पूर्ण साक्षीरूप से विचरण करता है वह कभी भी शून्य नहीं है। हे राजा! वही परिपूर्ण परमात्मा है और वह शुद्ध चिद्धनस्वरूप है। अब जब सुषुप्ति में ब्रह्मानुभव होता है तो फिर संसार का आभास क्यों होता है ऐसा तुम पूछोगे तो उस अवस्था में अहंकार अविद्या में लीन रहता है। (उसका विनाश नहीं हुआ रहता) इसलिये संसारभ्रम उत्पन्न होता है। वह अविद्या जब अहंकार के साथ नष्ट होती है, उस समय जगद्रूप से ब्रह्म का ही आभास होने लगता है और जन्म-मरण का ठिकाना ही नष्ट होकर जीव परब्रह्म के साथ ऐक्य प्राप्त करता है। फिर वहाँ हेतु, दृष्टांत, प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता इन सबसे रहित एक परब्रह्म परमात्मा ही सदैव परमानन्दस्वरूप में रहता है। उस अवस्था में सुख पर सुख की तरंगें मचलने लगती हैं आनन्द ही आनन्द का उपभोग लेता है, स्वानंदानुभव से परिपूर्ण होने के कारण सारा जगत परमानन्द से भर जाता है। हे राजा! इस माया का विलय होकर इस प्रकार का अनुभव कब होगा ऐसा यदि तुम पूछोगे तो मैं यही कहूँगा कि निष्काम भावना से उस यदुवर्य श्रीकृष्ण का भजन करना चाहिये।

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतोमलानि विधमेद्गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥ ४०॥

यदि मन में निर्विकार स्वरूप की प्राप्ति की इच्छा हो तो उत्कट प्रेम से अविश्रांत भगवद्भक्ति करनी चाहिये। पुत्र और वित्त की बात छोड़ कर लौकिक की लज्जा त्याग कर भगवद्भजन की चाह से निर्लज्ज होकर नाचना चाहिये। इन तीनों की आसक्ति त्याग कर श्रीहरिचरण का भजन करते रहने से चित्त का मल क्षण प्रतिक्षण नष्ट होने लगता है। कर्म से उत्पन्न होने वाले जो रजतमादि दोष चित्त में बस्ती बनाकर बैठ जाते हैं। वे सब भक्तिप्रेम रूपी जल से धुल जाते हैं। सप्रेम भक्ति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे विरक्ति चरणों के पास आ जाती है, इससे विषयासक्ति अपने आप कम होकर चित्तवृत्ति निर्मल हो जाती है। चित्तवृत्ति जब निर्मल हो जाती है तो वह सारे भूतों में परमात्मा को अनन्य प्रीति से भजने लगता है। यह ज्ञानोत्तर चौथी भक्ति अत्यन्त श्रेष्ठ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। यह भक्ति अत्यन्त उदार रहती है, वह भक्त का अहंकार नष्ट कर डालती है, वह देवतागण, मानव, स्त्रियों, शूद्र इन सबका उद्धार कर जीव को आनन्दित करती है। यह भक्ति जब बढ़ती है तो भवभय की निःशेष शान्ति होती है। चारों मुक्ति चरणों के पास आ जाती हैं। हरि की भक्ति अत्यन्त उदार है। आँखों में जब कचरा आ जाता है तो सूर्य बिम्ब उसे नहीं दिखायी देता फिर अन्य सारे पदार्थ कैसे दिखाई देंगे? कचरा निकल जाने पर दृष्टि निर्मल हो जाती है, सूर्यमण्डल के साथ-साथ अन्य पदार्थ भी साफ-साफ दिखायी देने लगते हैं। उसी प्रकार परमात्मा हृदय में रहता अवश्य है लेकिन जब तक चित्तवृत्ति मलिन रहती है तब तक उस परब्रह्म का प्रकाश नहीं होता क्योंकि चित्त वासना के दोष से दूषित हुआ रहता है। इसलिये भगवद्भक्ति करने से ही चित्तवृत्ति निर्मल होती है और ऐसे भजनों से ही भक्त निर्विकार स्वरूप तक पहुँचते हैं। परमप्राप्ति के लिये संसार में एक भगवद्भक्ति ही समर्थ है। हे नृपवर्य! मैंने तुमसे उसका यथार्थ वर्णन किया है। आँखों का पटल हटते ही जिस प्रकार प्रकाश के साथ सूर्य दिखायी देता है, उसी प्रकार कल्पना नष्ट होते ही निश्चित रूप से परब्रह्म भी प्रकट होता है। मन जब निश्चयपूर्वक निर्विकल्प साम्यावस्था में पहुँचता है, तब देह में विचरण करते हुए भी भवबन्धन उसे स्पर्श नहीं करता, यह बात निश्चित रूप से जान लो। इस प्रकार पिप्पलायन ने अत्यन्त आनन्दपूर्वक, गर्जना करते हुए भाषण दिया। तब राजा को मनःपूर्वक सन्तोष हुआ और अनुभव का लक्षण मालूम हुआ। इस प्रकार ब्रह्मनिरूपण सुनते-सुनते राजा का लालच बढ़ गया और उन्होंने निरूपण बढ़ाने के लिए पुनः प्रश्न किया। जिसके कारण कर्मबन्धन टूट सके ऐसे कर्मयोग का समूल लक्षण सुनने के लिये राजा ने आग्रहपूर्वक प्रश्न किया।

राजोवाच

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः।
विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम्॥ ४१॥

राजा ने आत्मश्रद्धा से परिपूर्ण होकर अत्यन्त विनीत भाव से पूछा, स्वामी! जिसके योग से कर्म का बन्धन टूटता है, वह कर्मयोग मुझे पूरी तरह बताइये। किस कर्म के योग से सारा कर्म नष्ट होकर अपने आप नैष्कर्मसिद्धि प्राप्त होती है और पुरुष की पुरुषोत्तम से भेंट होती है, उसका सच्चा मर्म मुझे बताइये।

एवं प्रश्नममृषीन्पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके।
नाब्रुवन् ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम्॥ ४२॥

स्वामी! पहले यही प्रश्न मैंने सनकादिक से पिता के सान्निध्य में पूछा था, उसका उत्तर उन्होंने क्यों नहीं दिया? मेरी इस आशंका का भी समाधान कीजिये। राजा का मन अत्यन्त पवित्र था, उनका उत्तर देने के लिये आविर्होत्र बड़े हर्ष के साथ आगे बढ़ा और उसने कर्म वैचित्र्य का निरूपण किया।

आविर्होत्र उवाच

कर्माकर्मविर्मेकति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥ ४३॥

(आविर्होत्र ने कहा) हे नृपनन्दन! कर्म, अकर्म और विकर्म साधारण नहीं हैं। उनके विभाग का निर्णय बड़े-बड़े ज्ञानी, स्मृतिकार भी नहीं कर पाये। जो स्वयं प्रतिसृष्टि करने वाले थे वे भी कर्म के विभाग का निर्णय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करते समय भ्रमित हो गये। जिन्होंने एक चुल्लू में समुद्र का प्राशन किया था, वे भी कर्म-समुद्र में डूब गये। इसी कर्माकर्म की चिन्ता में असंख्य महर्षि मताभिमान से थक गये। अन्त में उनकी भी समझ में कुछ नहीं आया। कर्माकर्म का विभाग जब स्वयं ब्रह्मदेव की भी समझ में नहीं आया तो उस कर्म की चिन्ता करनेवाले दूसरों की क्या कथा है? कर्म का मूल वेद है और वेद स्वयं नारायण है। अर्थात् उस वेद के वाक्यों का विचार करते समय श्रुतिशास्त्रों का भी मुँह बन्द हो गया। कर्म, अकर्म और विकर्म ये तीनों एक ही हैं फिर भी उनके तीन प्रकार हैं। उनके विभागों का विस्तार भी बताता हूँ, सुनो। जिस प्रकार सफेद, मृदु और मधुर ये तीन भेद दिखायी देने पर भी जिस प्रकार शक्कर एक ही होती है, उसी प्रकार कर्मठ लोग एक ही कर्म के तीन भेद मानते हैं। मधुरता को यदि अलग किया जाय तो उसमें मृदुलता और सफेदी रहती ही है, सफेदी अलग करने पर भी उसमें मृदुलता और मधुरता होती है, उसी प्रकार 'कर्म' को अलग करने पर भी उस कर्म के सर्वांग में 'अकर्म' और 'कर्म-अकर्म' में 'विकर्म' अत्यन्त भूषण के साथ विचरण करता है। मुख्यरूप से जो मूलतः उत्पन्न होता है उसे 'कर्म' कहते हैं और जो विहिता विहित क्रियाएँ हैं उन्हें 'विकर्म' कहते हैं। अकर्म के संयोग से कर्म का विकास होता है और यह विकर्म में भी जिसको दिखायी देता है उसे गुरुकृपा के बल पर तत्काल निष्कर्मता प्राप्त होती है। जब कर्म पर विशेष रीति से कर्म का विकास होता है तो उसे 'विकर्म' कहा जाता है। जहाँ कर्म की गति रुक जाती है, उसे 'अकर्म' यह नाम दिया जाता है। कर्म की चिन्ता इस प्रकार अगम्य है। जब तुमने यह प्रश्न किया उस समय तुम अभी बच्चे हो यह समझ कर सनकादिक ने उसका कोई उत्तर नहीं दिया था। हे नृपनन्दन! कर्माकर्म की चिन्ता भी किसी भी अयोग्य व्यक्ति को नहीं बतानी चाहिये क्योंकि कर्म ज्ञानियों के लिये भी अगम्य है।

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा॥ ४४॥

रोग दूर करने के लिए जिस प्रकार बाप लड़के को औषधि देता है और वह रुचि से उसे खा ले इसलिये उसके हाथ पर शक्कर देता है, उसी प्रकार मन्दमति लोग वेदों के परोक्षवाद को सच मान लेते हैं। वेदों का अन्तर्गत उद्देश्य है कर्म से ही कर्म का बन्धन समाप्त करना। वेदों ने स्वर्गादिक फल की बात कही है लेकिन वह केवल प्रवृत्त होने के लिए दिया हुआ प्रलोभन है। कर्म से ही कर्म का मूल नष्ट करने का वेदवचनों का उद्देश्य है ऐसा ही समझना चाहिये। पैर में पड़ी हुई बेड़ी को तोड़ने के लिये हथौड़ा मँगाया लेकिन उस हथौड़े को ही जो बेच कर खा गये उनका बन्धन कभी नहीं टूटेगा। उसी प्रकार सचमुच कर्म का बन्धन तोड़ना भूलकर जो लोग सारा कर्म विषय के प्रीत्यर्थ खर्च करते हैं उनका भवबन्धन कभी भी नहीं टूटेगा और जन्म-मरण कभी समाप्त नहीं हो पायेगा। दूसरे, हमें स्वर्गफल की आकांक्षा नहीं है इसलिये हम वेदोक्त कर्मों का आचरण नहीं करते यह धारणा भी गलत है। उस पर बहुत बड़ा अनर्थ हो जाता है।

नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥ ४५॥

जो जितेन्द्रिय होने के घमण्ड में वेदोक्त कर्मों का आचरण नहीं करते उसे परमार्थ की प्राप्ति तो नहीं ही होती, उलटे उस पर बहुत बड़ा अनर्थ टूट पड़ता है। भले ही कोई बड़ा शास्त्रवेत्ता हो और ज्ञानी हो लेकिन यदि वह वेदोक्त कर्मों से विमुख रहा तो वह ज्ञानी होकर ही पूरी तरह लुट जाता है और दुःख के सागर में डूब जाता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। जो वेदोक्त कर्मों का आचरण नहीं करता और कर्म छोड़कर स्वयं को 'निष्कर्मी' समझता है वह भ्रम में है और अभिमान में नष्ट हो गया है ऐसा समझ लो। विषयों का भले ही निग्रह किया हो और उसने वेदोक्त कर्मों का त्याग कर दिया हो तो समझ लो कि वह अपने पैरों पर पत्थर मार रहा है और वह नरक में डूबा ऐसा समझ लो क्योंकि वेद ही परमार्थ का मूल है इसलिये वेदोक्त कर्मों का पालन न कर वह जो कुछ भी करता है वह सब हे राजा! उसके अध:पतन के लिये कारण बनता है। आँखें सचमुच देखने के लिये हैं लेकिन यदि उन आँखों को ही निकाल कर देखना शुरू कर दें तो हमारी दृष्टि ही नष्ट हो जाती है, फिर अन्य चीजें कैसे देखेंगे? उसी प्रकार जिसने वेदोक्त आचरण न कर जिसे भी चाहे परमार्थ मान लिया उसने निमंत्रण देकर अनर्थ को घर बुला लिया ऐसा समझ लो। इस प्रकार वे आचार के अनर्थ प्रवाह में बहकर जन्म-मरण की राह पर लग जाते हैं। उधर विविध प्रकार की गर्भयातना भुगतते हुए कल्पान्त में भी उनसे छुटकारा नहीं मिलता। वहाँ बार-बार जन्म लेने पर भी जन्म से छुटकारा नहीं मिल पाता और बार-बार मरने पर भी मौत नहीं टलती। वेदविहित कर्म न करने से इस प्रकार अत्यन्त दु:सह दु:ख भोगने पड़ते हैं। मूल पद में बताया गया है 'विकर्मणा ह्यधर्मेण' इससे मालूम होता है कि विकर्म में पूर्ण अधर्म रहता है। लेकिन 'अकर्म' का अर्थ 'अधर्म' न समझो। जिसके लगने से भी कर्म नहीं लगता उसी का नाम अकर्म अथवा निष्कर्म है। निष्कर्मलक्षण का ही अर्थ है धर्म और उसके ही कारण साधु परममुक्त होते हैं। जिसे शुद्ध अकर्म का आकलन होता है वह तत्काल निष्कर्म होता है। अकर्म का मर्म ज्ञात होते ही मुक्ति पैरों के पास आ जाती है।

वेदोक्तमेव कुर्वाणो नि:सङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुति:॥ ४६॥

दासी स्वामी की आज्ञाधारी होती है। जिस प्रकार राजा का आदेश अथवा सिक्का प्रजा स्वीकार करती है उसी प्रकार जो वेदों की आज्ञा स्वीकार करता है और स्वधर्माचरण कर निष्काम रहता है, अर्थात् मैं ही कर्मकर्ता हूँ ऐसा अहंकार मन में नहीं रखता, वही कर्म सहज रीति से श्रीअनंतरूपी ईश्वर को अर्पण होता है। इस प्रकार जो कर्म ईश्वर को अर्पण होता है, वह कर्म निर्धर्म होता है। इसी का नाम है—'नैष्कर्म्य सिद्धि'। वेदों ने कर्मफल के सम्बन्ध में कहा है लेकिन जिसकी वासना निष्काम और निर्मल रहती है उसे वेदोक्त प्रबल फल को स्वप्न में भी नहीं भोगना पड़ता। ऐसा होते हुए भी जैसे पारस देकर पान के साथ सुपाड़ी माँगी जाय उसी प्रकार कर्मफल की इच्छा करके लोग पूरी तरह घाटे में रहते हैं। कर्म में निष्कामता यही नित्य फल है, फल की आशा में सभी धोखे में रहे हैं। चन्दन पूर्णरूप से गन्धरूप है, उससे यदि फल की कामना करें तो स्वयं को धोखा देना है। मछली हाथ में आये इसलिये वंशी में थोड़ा आमिष लगाते हैं। उसी प्रकार मन को निष्काम करने के लिये वेदों ने फल की आशा का प्रलोभन दिया है। आमिष दिखा कर मछली को पाला जाता है या उन्हें पानी से बाहर कर दिया जाता है? उसी प्रकार कर्म ही कर्म का विनाश करता है यह बात फलेच्छु की समझ में नहीं आती। फल की आशा से स्वधर्म कर्म की ओर प्रवृत्त होता है और उससे 'नैष्कर्मसिद्धि' प्राप्त होती है। यही वेद का सच्चा उद्देश्य है। कर्म ब्रह्मरूपत्व से सदा सफल है। लेकिन फल की इच्छा करने वाले के लिये वह निष्फल सिद्ध होता है। यही ध्यान में लाकर कर्म कुशल लोग फलाशा त्याग देते हैं। इस प्रकार वैदिक कर्म का आचरण करते रहने से 'नैष्कर्म्य' प्राप्त होता है। लेकिन तुम्हें इससे भी सुलभ एक उपाय बताता हूँ, सुनो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥ ४७॥

हे राजा! जिसके योग से वासना का जाल टूट जाता है, अहंकार की गाँठ खुलती है और जीव में परमात्मा स्वयं प्रगट होता है उस सुन्दर तांत्रिक विधान को तुम्हें बताता हूँ, सुनो। हे राजाधिराज! जिस तांत्रिक महापूजा से भगवान को सन्तोष प्राप्त होता है, वह विधान अब सुनो। वैदिक मन्त्र और तांत्रिक तंत्र से युक्त पूजा अत्यन्त पवित्र है। वह पुरुष को तत्काल निष्काम करती है। पूजा का वह प्रकार अत्युत्तम है। लेकिन पूजा वैदिक हो या तांत्रिक, वह गुरुमार्ग से ही सफल होती है। इसीलिये पहले सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए।

लब्धानुग्रह आचार्यात्तेन संदर्शितागमः।
महापुरूषमभ्यर्चेन्मूर्त्याऽभिमतयाऽऽत्मनः॥ ४८॥

प्रवृत्ति मार्ग या निवृत्ति मार्ग के कार्य में गुरु अवश्य ही होना चाहिये। हे राजा! अपने मन से भजन करने पर उस मनुष्य के अनेक संकटों में पड़ने की सम्भावना है। भूमि और पैर तो सिद्ध ही रहते हैं लेकिन यदि मार्गदर्शक न हो तो व्यर्थ भटकना पड़ता है। उसी प्रकार बिना गुरु के जो उपाय करने लगते हैं वे अहंकारी लोग अहंभाव के कारण भ्रम में पड़ जाते हैं। गुरु और ब्रह्म दोनों एक ही हैं यह भावना मन में रखकर भक्ति भाव से उनकी सेवा करनी चाहिये और उन्हें प्रसन्न कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिये। फिर अपने अधिकार के अनुसार अथवा संस्कार के अनुरूप जो मूर्ति अच्छी लगे, उससे सम्बन्धित मंत्र विद्या ग्रहण करनी चाहिये और तब गुरुमुख से पुरुषोत्तम की वैदिक और तांत्रिक मिश्र महापूजा सीख लेनी चाहिये और इष्ट की प्राप्ति के लिये भगवान का भजन पूजन करना चाहिये। हे राजा! वही आगमोक्त पद्धति से पूजा करने की विधि विस्तारपूर्वक बताता हूँ ध्यान से सुनो।

शुचिः सम्मुखमासीनः प्राण संयमनादिभिः।
पिण्डं विशोध्य संन्यास कृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम्॥ ४९॥

विधिपूर्वक स्नान संध्या करना यही ब्रह्मज्ञान है। आचमन करते समय हम हरिस्वरूप हो जाते हैं। यह न मालूम होने के कारण कुछ लोग तंत्र मार्ग में अज्ञान भरा है ऐसा कहते हैं। केशवादि नामों से अंग-प्रत्यंग में ठीक प्रकार से न्यास करने से हम हरिस्वरूप हो जाते हैं, लेकिन यह न जानने के कारण तंत्रमार्ग पर अज्ञान थोपते हैं। (इसलिये ऐसा न कर) शास्त्र के अनुसार स्नान संध्या कर मूर्ति के पास आकर उसके सामने आसन लगाना चाहिये। पहले दर्भासन, उस पर मृगचर्म और उसके ऊपर कपड़े की तह बनाकर रखना चाहिये। उस पर बैठ कर रेचक, पूरक और कुंभक इस प्रकार प्राणायाम कर प्राण का संयमन करना चाहिये और भूतशुद्धि आदि से शरीर को शुद्ध करना चाहिये। भूतविलय, भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा आदि से पिण्ड शुद्धि कर ज्ञाता मनुष्य को गुरु सम्प्रदाय से प्राप्त विधि के अनुसार मूलमंत्र से अंग-प्रत्यंगों से न्यास करना चाहिये। हृदय, कवच, शिखा, सिर, नेत्र अस्त्रायफट् आदि आगमोक्त पद्धति से यथाविधि करना चाहिये। इस प्रकार मूलमंत्र दीक्षा तथा दिग्बंधादि संरक्षक विधि होने के बाद हे राजेन्द्र! मूर्तिपूजन करना चाहिये। उसका प्रकार बताता हूँ, सुनो।

अर्चादो हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः।
द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम॥ ५०॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पूर्व श्लोक में कहे अनुसार सारे प्रयोग अर्थात् द्रव्यशुद्धि, भूमिप्रोक्षण आदि फिर से करना चाहिये। प्रत्येक पदार्थ को शुद्ध करने का मुख्य अर्थ शुद्धि है। भूमिशुद्धि संमार्जन से होती है, आत्मशुद्धि चित्त की सावधानी से होती है और मूर्ति पर चढ़ाया हुआ पहले का लेप अर्थात् निर्माल्य दूर करना मूर्तिशुद्धि है। फिर पूजा का साहित्य सिद्ध करके उन सब पर शंखोदक से प्रोक्षण कर अपने आसन पर एकाग्र मन से बैठना चाहिये। जिसके ध्यान में सम्पूर्ण मूर्ति नहीं आती उसे प्रतिमामूर्ति की स्थापना कर उसी की प्राप्त उपचार से आगमोक्त विधि से पूजा करनी चाहिये। अत्यन्त प्रयास से यदि ध्यान में मूर्ति आती हो तो उसे बाह्य उपचार की चिन्ता छोड़ ध्यान दृष्टि से उत्तम प्रकार से मानस पूजा करनी चाहिये। जिसके हृदय से ध्यान डिगता नहीं है और जो बाह्य मूर्ति की पूजा भी सावधानी से कर सकता है, उसे आगमोक्त विधि से दोनों पूजा यथासांग करनी चाहिये।

पाद्यादीनुपकल्प्याऽथ सन्निधाप्य समाहितः।
हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत्॥ ५१॥

पूजा का सारा साहित्य पास में रख कर फिर शास्त्रोक्त पद्धति से मूर्ति का न्यास करें। जैसे हम अपने शरीर का न्यास करते हैं उसी प्रकार मूर्ति का भी करना चाहिये। मूलमंत्र से मूर्ति का न्यास करना चाहिये, यही आगमोक्त गुरु दीक्षा है। अपने अंग-प्रत्यंगों का न्यास करने से मनुष्य स्वयं हृषीकेश हो जाता है। यही उद्देश्य मन में दृढ़ करना चाहिये। चित्त का अनुसन्धान दृढ़ रखकर हृदय की मूर्ति तथा बाह्य प्रतिमा का पूजन मूलमंत्र से यथाविधि करना चाहिये।

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्ति स्वमन्त्रतः।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः॥ ५२॥

अव्यंग अर्थात् जिसमें जरा भी व्यंग्य न हो ऐसी श्यामसुन्दर, मनोहर श्रीरंग की मूर्ति का ध्यान करना चाहिये, ध्यान करते समय मन में अत्यन्त उल्हास रहना चाहिये। सुन्दर चतुर्भुज मूर्ति, शंख, चक्र, गदा, कमल आदि आयुधों के साथ, उसी प्रकार पार्षदसमुदाय तथा आयुधों के देवता आदि सभी का चिन्तन करना चाहिये। मधुपर्क विधि, पाद्य, अर्घ्य, आचमन आदि देकर निर्मल जल लेकर पुरुषसूक्त मंत्र से स्नान कराना चाहिये। मुकुट, कुण्डल, कमर में मेखला, पहनने के लिये जरीदार पीताम्बर, गले से पैरों तक शोभित वनमाला, कंठ में तेजःपुंज कौस्तुभमणि, पद्मचिह्न से अंकित पैर के तलुए, उस पर अंकित ऊर्ध्व रेखा, ध्वज, वज्र आदि चिह्न, उसी प्रकार कंकण तथा चरणों में पायल आदि (इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये।)।

गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः।
साङ्गं सम्पूज्य विधिवत्स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम्॥ ५३॥

शुद्ध श्यामवर्ण, ललाट पर पीला केशरी टीका, उस पर कुंकुम से सनी हुई लाल अक्षत, गाँठ बनाकर बाँधे हुए पिरोये हुए फूल उसके चारों ओर भ्रमरों का समुदाय, गले में कमल और तुलसी की मालायें और श्यामवर्ण देह पर सुशोभित चन्दन! (इस प्रकार ध्यान करना चाहिये।) धूप, दीप, नैवेद्य तथा कर्पूरयुक्त ताम्बूल अर्पण करना चाहिये। फिर निरंजन से आरती कर उच्च मंत्रस्वर में जय-जयकार कर मंत्रपुष्प अर्पण करना चाहिये। उसके बाद वेदयुक्त मंत्रों से स्तुति करनी चाहिये अथवा पुराणों के अनुसार अनेक प्रकार के स्तोत्रों का स्तवन करना चाहिये अथवा प्राकृत भाषा से अनेक प्रकार के नामोच्चार के साथ गद्यपद्यात्मक स्तुति करनी चाहिये। हे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जनक राजा! स्तवन से भगवान को सन्तोष होता है ऐसी मन में भावना रखनी चाहिये और फिर प्रेमभाव से श्रीहरि को साष्टांग दण्डवत करना चाहिये।

आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्ति सम्पूजयेद्धरेः।
शेषामाधाय शिरसि स्वधाम्युद्वास्य सत्कृतम्॥ ५४॥

द्वैतभाव से भजन करना स्थूल बुद्धि है ऐसा समझना चाहिये। भजन में तन्मय हो जाना यही सचमुच भजन की सिद्धि है। मूर्तिध्यान से तन्मयता प्राप्त होना तथा ऐक्य भाव से वृत्ति का निश्चल रहना इसी का नाम मुख्य भक्ति है। इस प्रकार पूजा करके उठने पर पुनः श्रीहरि को नमस्कार करना चाहिये। इस प्रकार हरि की पूजा का शेषप्रसाद मस्तक पर धारण कर फिर भगवान को अपने हृदय मन्दिर में सुलाना चाहिये। ध्यानमूर्ति का हृदय में शयन यह मानस पूजा का विसर्जन है तथा प्रतिमा को पलंग पर सुलाना यह प्रतिमा पूजा-विधान की समाप्ति है। पूजा का विसर्जन होने पर भी अपने अनुसन्धान को नहीं छोड़ना चाहिये। अर्थात् सर्वदा अखण्ड हरि का स्मरण करते रहना चाहिये। राजा! इसी का नाम 'आगम विधि' है इसे ध्यान में रखो। इससे परमात्मा की प्राप्ति होती है, इसलिये बुद्धिमान लोग सदा इसी का पालन करते हैं। फिर यह भी ध्यान में रखो कि आगमोक्त विधि लक्षण में प्रतिमा ही मुख्य नहीं है बल्कि जिसकी जहाँ पूर्ण श्रद्धा हो वहाँ यह विधि निःसंकोच करना चाहिये।

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः॥ ५५॥

श्लोक ५५—हे राजा! यह पूजा केवल एकदशीय अर्थात् प्रतिमा में ही होती है, ऐसा नहीं है। उसके लिये अनेक स्थान हैं। उनमें से जहाँ भगवत्प्राप्ति अत्यन्त शीघ्र हो सकती है वह मैं तुम्हें बताता हूँ। इसी विधि से 'जल' में यथासमय विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये अथवा 'सूर्यमण्डल' में हरि का ध्यान कर पवित्रता से पूजा करनी चाहिये अथवा 'अग्नि' में ज्वाला निकलने पर उसमें श्रीहरि के स्वरूप का मन में ध्यान कर पूजा करनी चाहिये। किन्तु सबकी अपेक्षा 'अतिथि' भगवत्स्वरूप है, ऐसा समझ कर उसकी पूजा करने पर भगवान की प्राप्ति अति शीघ्र होती है। वैश्वदेव के अन्त में जो भी कोई आये, वह किसी भी जाति का क्यों न हो, उसकी जो भगवद्भावना से पूजा करते हैं उनके घर पूर्ण प्राप्ति दौड़ती हुई आती है। जिससे पहले का परिचय न हो ऐसा कोई वैश्वदेव के अन्त में यदि आता है, तो उसकी जो ब्रह्मभावना से पूजा करते हैं उनकी भुक्ति और मुक्ति दासी बनकर रहती हैं। उसमें यदि वैश्वदेव के अन्त में सौभाग्य से पवित्र ब्राह्मण ही आ गया और यदि उसका श्रद्धापूर्वक पूजन किया तो उसके घर स्वानन्द से नारायण का वास होता है। राजा! वैश्वदेव के अन्त में अतिथि के साथ भुक्ति-मुक्ति भी आते रहते हैं इसलिये अतिथि विन्मुख चला गया तो व्यक्ति उस लाभ से वंचित रह जाता है और यदि उसकी पूजा की जाय तो सुख की प्राप्ति होकर परमानन्द से जीवनयापन करता है। अतिथि सामने होने पर मूर्ति का ध्यान नहीं करना पड़ता क्योंकि वह स्वयं ही नारायण स्वरूप होने के कारण उसकी पूजा करने पर सर्वार्थ सिद्धि पूर्ण रूप से हाथ लगती है। इस प्रकार अतिथि को जो अर्पण किया जाता है वह भगवान के मुख में ही समर्पित होता है। इसलिये अत्यन्त आदर के साथ सदासर्वदा अतिथि को ब्रह्म समझ कर उसकी पूजा करनी चाहिये। हे राजा! ऊपर पूजा स्थान के रूप में जिसका उल्लेख हुआ है वहाँ पूजा करने वाले की श्रद्धा ही प्रमुख है। बिना श्रद्धा के पूर्ण प्राप्ति कभी नहीं हो सकती, इसे ध्यान में रखो। हमारा हृदय भी एक पूजास्थान है। उस हृदय में यदि हम श्रद्धा से पूजन करें तो सम्पूर्ण प्राप्ति अपने आप सामने खड़ी हो जाती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वैसे भी देह को परिचालित करने वाला ईश्वर हमारे शरीर में हृदय में ही रहता है। उसके प्रति श्रद्धा रखकर यदि भजन किया जाय तो सहज ही आत्मप्राप्ति होती है। हम जिस भी चीज का सेवन करते हैं, वह सब भगवान के मुख में ही जाता है ऐसी भावना से भजन करने से परमात्मा सहज ही प्राप्त होता है। देह की अहंता छोड़ कर सारे भोग भोगने वाला ईश्वर ही है। ऐसी दृढ़ भावना रखने से परमार्थ का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है। देह, जड़, मूढ़, अचेतन है, समस्त भोगों का पूर्ण रूप से उपभोग करने वाला ईश्वर ही है, ऐसा अहंकार मन में रखकर अज्ञानी लोग अनेक दुःख भोगते हैं। हे नृपवर्य! उस देहअहंकार को छोड़ कर हृदयस्थ परमात्मा की शरण में जाने पर सचमुच ही परमार्थ का पूर्ण लाभ होता है। 'मैं' पन को पूरी तरह छोड़ना इसी का अर्थ है हृदयस्थ की शरण में जाना। तुम स्वयं परब्रह्मस्वरूप ही हो, व्यर्थ ही देह का अहंकार न करो। हे राजा! ऐसे कर्म से ही कर्म का बन्धन टूटता है और पूर्ण समाधान प्राप्त होता है। आगमोक्त भजन का यह प्रमुख लक्षण है। इसे सुनकर राजा को अत्यन्त समाधान हुआ और वह परमानन्द से तृप्त हो गया। राजा की श्रवणेच्छा जैसे-जैसे पूर्ण होने लगी, वैसे-वैसे कथा अधिक रोचक मालूम होने लगी और सुनने की इच्छा बढ़ने लगी। राजा अब परमानन्द से तृप्त होते हुए भी स्वानंद के प्रलोभन में पुनः विनोद से प्रश्न पूछेगा। कहीं मैं चुप रहा तो ये मुनिवर्य उठ कर चले जायेंगे इस भय से वह विचित्र ढंग से एक के बाद एक प्रश्न पूछने लगा। स्वानंद से उसकी चित्तवृत्ति भर गयी। इन्द्रिय आत्मसुख से बिंध गये। इस प्रकार मन में तृप्त होते हुए भी राजा प्रश्न पूछ ही रहा था। इसके बाद वह हरि के अवतारों के बारे में पूछेगा। वह कथा अत्यन्त सुन्दर और मनोहर है तथा उसका निरूपण प्रेममय होने के कारण वह आपके हृदय को शान्त कर देगा। इस प्रश्न का उत्तर उत्तम कथा है। मैं एकनाथ श्री जनार्दन स्वामी का किंकर तथा संतों की पादरक्षा धारण करनेवाला हूँ। संतजन कृपासागर हैं और श्रीजनार्दन वरदमूर्ति हैं। उनकी कृपा से आगे की कथा सुसंगत यथार्थ से वर्णन करूँगा। श्रीभागवत का यह भण्डार भरने का कार्य जनार्दन स्वामी ने इस एका को सौंपा है। वह निजबोध को खोलकर श्रवण सामग्री का भण्डार भर देगा।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादश स्कंधे निमिजायते
संवादे, माया कर्म ब्रह्म निरूपण नाम तृतीयोध्यायः ॥ ३ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चतुर्थ अध्याय

हे ओंकारस्वरूप श्रीगुरु शिव! तुम्हें प्रणाम करता हूँ। नमस्कार करने से जहाँ जीव का जीवभाव नि:शेष हो जाता है वहाँ देहभाव कैसे प्रवेश कर सकता है? जीव का जीवभाव तथा देह का देहभाव ले कर ऊपर से सेवा भी करा लेते हो! इसलिये हे भगवान, आपका यह कौशल बस देखते ही बनता है। शंखासुर का वध कर उसका शरीर हाथ में धारण करते हो और आज तुम मुझमें प्रवेश कर मेरे शरीर को भी परिचालित कर रहे हो। शंख से जो आवाज निकलती है उसमें फूँकने वाले का कौशल रहता है उसी प्रकार मैं जो कुछ बोलता हूँ वह सब आपके कारण सुन्दर हो जाता है। अब मेरे शरीर में जो गति है वह तुम्हारी ही संगति से है, मुझसे होने वाले सारे कर्म तुम्हारे ही बल से हो पाते हैं। मेरी देह का जो 'मैं' पना है वह तुम स्वयं हो गये हो। भगवन्! तुम्हारे ही प्राण से मेरे प्राण चल रहे हैं। 'नेत्र' जो कुछ देखते हैं वह सब तुम्हारी ही ज्ञानशक्ति से, कान जो सुनते हैं वह सब तुम्हारा ही अवधान है, जिह्वा जो कुछ चखती है वह सब तुम्हारे ही स्वादरूपी मुख से सम्भव होता है। 'बुद्धि' जिस ज्ञान से संतुष्ट होती है वह ज्ञान भी तुम्हारा ही है। 'मन' अपने मनोधर्म से अत्यन्त चपल रहता है वह भी तुम्हारी ही शक्ति के कारण, विवेक को उज्ज्वल विवेक तुम से ही प्राप्त होता है। 'वाणी' जो कुछ बोलती है वह वक्तृत्व तुम्हारे ही शब्दों से आता है, 'बोध' जिस प्रबोध से मन में अपना स्थान बनाता है, वह प्रबोध तुम्हारे ही अनुग्रह से होता है। तुम्हारे ही आनन्द से 'जागृति' जाग उठती है, तुम्हारे ही कारण 'स्वप्न' स्वप्न को देखता है। 'सुषुप्ति' जिस सुख से सुखी होती है वह पूर्णतया तुम्हारे ही सुख से। जिन-जिन विषयों को मैं भोगता हूँ उन्हें भोगने का सामर्थ्य तुम्हारे में ही है। तुम्ही अपने साथ मुझे लेकर मुझे मेरी अस्मिता के साथ परिचालित करते हो। मुझे कठपुतली बनाकर तुम सूत्रधार बन गये हो और मनचाहे ढंग से सूत्र हिलाकर तुम मुझसे विचित्र काम कराते हो। हे जगच्चालक चिदधन श्री जनार्दन! कृपालु जगजीवना! तुम्हारी ही सत्ता से तुम्हारे श्रीचरणों को मैं प्रणाम करता हूँ। इस प्रकार तुम्ही मेरे चालक हो इसलिये यह ग्रन्थ भी तुम ही मुझसे लिखवा रहे हो। इसलिये 'मैं एक कवि हूँ' यह समझना सचमुच ही जड़बुद्धि का परिचायक है। यह एका (एकनाथ) जनार्दन के साथ एकरूप हो गया है या जनार्दन एकनाथ के साथ एकरूप हो गया है? तो तुम ही भिन्न-भिन्न नाम धारण कर एक अकेले विचरण करते हो? जिस प्रकार सुवर्ण का आभूषण कहें अथवा आभूषण में सुवर्ण है यह कहें उसी प्रकार एका और जनार्दन एकत्व से तुम जनार्दन ही हो। ऐसी विनती सुनकर सद्गुरु प्रसन्न हुए और बोले यहाँ कल्पना करने की तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जब कर्पूर में ज्योत जलती है तभी उसका कर्पूरधर्म समाप्त हो जाता है उसी प्रकार सच्छिष्य को सद्गुरु मिलते ही उनका भेदभाव समाप्त हो जाता है। जिस बोध के कारण भिन्न भाव समाप्त होता है, उस आत्मबोध से श्रीभागवत् भरा हुआ है। इतिहास में संवाद रूप में उसे श्रीनारद ने वसुदेव को सुनाया है। उस इतिहास का अर्थ सुनने से अन्तर में परमार्थ प्रकट होता है। जब श्रोतागण उसे सुनते हैं तो उनके हृदय में निरन्तर स्वानंद के बोध अर्थात् अनुभव का उदय होता है। (यह सुन कर) इस पर संत श्रोता समुदाय कहने लगा, "क्या आश्चर्य है! सद्गुरु स्तवन में तुमने ब्रह्मभाव अत्यन्त अभेदत्व से साध लिया है। यह सद्गुरु की विनती है या ब्रह्मसुख की खान है? तुम्हारे प्रेमभरे बोल सुनकर सज्जनों की चित्तवृत्ति प्रेम के रंग में रंग गयी है। मराठी भाषा में तुमने परमार्थ की खान ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

खोल दी है। ये शब्द नहीं पारस हैं। उनके कान में पड़ते ही जीव ब्रह्मरूप हो जाता है। इस प्रकार श्रीभागवत् में अनुपम और अगाध स्थिति अवश्य है, तो अब अर्थज्ञान के अनुसार उस कथा की संगति अच्छी तरह लगाओ।'' संतों का यह भाषण श्रवण कर, उनके चरण मस्तक पर धारण कर आगे की कथा का निरूपण करता हूँ। श्रोतागण कृपया ध्यान से सुनें। तीसरे अध्याय के अन्त में तांत्रिक भक्ति का निरूपण करते समय अपनी पसन्द की मूर्त्ति का भजन करने के लिये कहा था, उसे सुनकर राजा के मन में एक प्रश्न उठा कि त्रिभुवन में भगवान तो एक हैं, लेकिन उनकी अवतार मूर्ति अनेक क्यों हैं? उनके जन्म-कर्म और उनके अनेक प्रकार कैसे हो गये? वह प्रश्न राजा ने मुनि से पूछा।

राजोवाच

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः।
चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तुनः॥ १॥

मुनीश्वर का ज्ञान वैसे भी अगाध था, तिस पर प्रतिपादन की रसाल शैली! इससे राजा का मन तल्लीन हो गया और वह प्रश्न पूछने लगा। उसने कहा, ''हरि तो देवाधिदेव हैं, वह स्वलीला से अर्थात् स्वेच्छा से कैसे जन्म लेता है? स्वेच्छा से कौन-कौन से कर्म करता है? उसकी उस अगाध महानता का वर्णन करें। (शायद आप कहेंगे) ईश्वर का जन्म नहीं होता, वहाँ कर्मों की बात कैसे पूछते हो? (लेकिन मैं कहता हूँ) भगवान को रूप नहीं है और नाम भी नहीं है उसे जन्म भी नहीं है और कर्म भी नहीं है। वह अजन्मा है किन्तु जन्म लेता है, वह अकर्मा है किन्तु कर्म करता है, वह विदेही है किन्तु देहधारी होकर संसार में स्वधर्म का पालन करता है। तो उसके अवतार की स्थिति कैसी है, जन्म कौन से हैं, व्यक्ति कैसे हैं, अवतार कितने हैं, मूर्त्ति कितनी हैं? हे स्वामी! आप कृपा करके मुझे सुनाएँ। जो पूर्व में हो गया है और आगे होने वाला है और वर्तमान में जो हैं, उन सारे अवतारों के बारे में साद्योपांत सुनाएँ। हरि का चरित्र और उसके अवतार गुणों को प्रतिपादित करने का जनक राजा का प्रश्न सुनकर द्रुमिल आनन्दपूर्वक सुनाने लगा।

द्रुमिल उवाच

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तानुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित् कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥ २॥

जिसकी लीला की शक्ति अपार है, ऐसी अनन्त शक्ति जिसके नाखून में रहती है और इसीलिये जिसे अनन्त कहते हैं उसके सारे गुण किसे गिनायेंगे? उस अनन्त की गुणसमृद्धि का जो वर्णन करेगा उसे मंदबुद्धि समझना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार आकाश के विस्तार का नाप चींटी से नहीं हो सकता अथवा समुद्र के सारे पानी का नाप जिस प्रकार नमक के पास नहीं होता, उसी प्रकार अनन्त के अनन्त गुणों का आकलन कौन कर पायेगा? हे नृपवर्य! पर्जन्य की धाराओं की भी गिनती हो सकेगी, पृथ्वी पर उगी हुई सारी दूब की भी गिनती हो सकेगी। हे राजा! वायु तेज गति से बहती है लेकिन उसका वेग भी गणित से ज्ञात किया जा सकता है। आँखों का दिनभर में खुलना और बन्द होना इसका भी हिसाब हो सकता है। पृथ्वी के परमाणुओं की भी कालान्तर में गणना हो सकती है किन्तु भगवान के गुणों का गणित वेदों को भी नहीं आता इसे ध्यान में रखो। उसका एक नाम लेते ही वेद मौन हो गये, उसके सारे गुणों की गणना करते समय शेष की जीभ भी टूट गयी। उस अनन्त के अनन्त गुण यहाँ कौन गिन सकता है? फिर भी उसके अवतार के कुछ लक्षण मैं संक्षेप में अवश्य बताऊँगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधातमवाप नारायण आदिदेवः॥ ३॥

सर्वप्रथम 'द्रुमिल' मुनि यह अवतारों में से पुरुषावतारों की कथा सुनाने लगा। उसने कहा, महाराजा! ध्यान देकर सुनें। श्रीनारायण ने आत्मशक्ति के योग से पंचमहाभूतों को भूताकृति में यथाप्रमाण उत्पन्न कर ब्रह्माण्ड की स्थिति निर्माण की। 'ब्रह्माण्ड' का ही नाम विराजपुर है। उसमें लीला से देवोत्तम ने प्रवेश किया इसलिये उस पुरुषोत्तम को अपने ही अंश का होने के कारण पुरुषोत्तम कहने लगे। (इसी को 'विराट पुरुष' कहते हैं। यह नारायण का पहला अवतार है।) उसके ही अंश से प्रकृति ने प्रजा उत्पन्न की इसलिये उसे 'पुरुष' यह नाम दिया गया। वह अकर्तात्म प्रयोग से संसार को चिच्छक्ति से चेतन करता है। उसके ही योग से जगत को जगत्व की स्फूर्ति प्राप्त होती है। उसकी गुणकीर्ति का अब दो श्लोकों में वर्णन करता हूँ।

यत्काव एष भुवनत्रयसंनिवेशो यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलभोज ईहा सत्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता॥ ४॥

त्रैलोक्य नाम से जो कुछ है, वही उसका शरीर है। उसके ही योग से प्राणी इधर-उधर विचरण करते हैं। ब्रह्मदेवादिक देहधारी इनके ज्ञानेन्द्रियों की तथा कर्मेन्द्रियों की महानता उसके ही अर्थात् उस आदिपुरुष के ही इन्द्रियों के कारण है। उसी की इन्द्रिय शक्ति से समस्त देहधारियों के इन्द्रिय, अपने-अपने व्यापार में कार्यरत रहते हैं। वह जगत के नेत्र का नेत्र, जगत के प्राण का प्राण, जगत के कान का कान तथा जिह्वा की जिह्वा है। वही जगत के हाथ, पैर तथा वाणी है। इस प्रकार दोनों इन्द्रियों में उसी के इन्द्रिय हैं। जीवों में जो ज्ञान है वह उसी के कारण है, उसे ज्ञान देने वाला दूसरा कोई नहीं है। स्वभावतः वह ज्ञानधन है। उसके प्राण से जगत का प्राण चलता है, बल, तेज और क्रियाशक्ति प्राप्ति होती है। रज, सत, तम आदि गुणों से युक्त होकर उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने वाला मूलरूप से आदि कर्ता भगवान वही सचमुच 'पुरुषावतार' है। हे राजा! सत्वादि त्रिगुणावस्था से वही उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कर्ता होता है। उसकी गुणावतार कथा भी तुम्हें बताता हूँ, सुनो।

आदावभूच्छतधृती रजसाऽस्य सर्गे विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु॥ ५॥

वही आदिकरूप में सृष्टि की उत्पत्ति के समय रजोगुण से राजशक्ति धारण कर 'शतधृति' बना। उसी को 'ब्रह्मा' कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्मदेव के रूप से राजसशक्ति से सृष्टि निर्माण की। स्वधर्मस्थिति का तथा सृष्टि का प्रतिपालन करने के लिये सत्वगुण से वही 'विष्णु' बना। द्विज धर्म का प्रतिपाल करने वाला और यशभोक्ता श्रीविष्णु, धर्म का ह्रास होते देख अनेक अवतार धारण कर संसार में प्रकट होता है। वही सृष्टि के अन्त में तमोगुण अर्थात् तामसशक्ति से स्वयं ही 'रुद्रमूर्ति' होकर कल्पांत में सबका विनाश करता है। जो खेत की बुवाई करता है वही उसकी रक्षा करता है, वही देखभाल करता है, वही सँभालता है और फसल सूखने पर वही उसकी कटाई और दँवाई करता है। इस प्रकार उत्पत्तिकाल में 'ब्रह्मदेव' वही है, स्थितिकाल में वही 'विष्णु' है और प्रलयकाल में उसी पुरुषोत्तम को 'रुद्र' यह नाम प्राप्त होता है। इसलिये श्रुतिशास्त्र में वही आदिकर्ता है ऐसा निश्चयपूर्वक कहा गया है। दक्ष, कश्यप आदि में जो कर्तव्यक्षमता आयी वह इसी के सामर्थ्य से। इस प्रकार विचार करने पर कर्त्ता यही एक है इसके सिवा किसी और को अणुरेणु जितनी कर्त्तव्यता भी सम्भव नहीं है। जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयंभू रहता है, उसके ही योग से उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का आभास होता है। वही आदिकर्ता सहज रहता है और वही अपने अंश से 'पुरुषावतार' होता है। हे राजा! वही 'नारायण' इस नाम से अवतीर्ण हुआ। उसका चरित्र अत्यन्त अद्‌भुत तथा अलौकिक है और वह अत्यन्त पवित्र और पुण्यकारक है। उसका वर्णन करता हूँ, सुनो!

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ठ मूर्त्यां नारायणो नर ऋविप्रवरः प्रशान्तः।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः॥ ६॥

जो त्रिभुवन में नित्य अजन्मा था लेकिन योनि में जन्म लिया, उसने धर्म नामक ऋषि की धर्मपत्नी जो मूर्ती नामक दक्षकन्या थी उसे अपनी जननी बनाया। उस मूर्त्ति-माता के उदर में नर नारायण का अवतार हुआ। वे दोनों स्वरूप से एक थे किन्तु दो रूपों में धर्म के घर अवतीर्ण हुए। हे राजा! उसने (इस नारायण ने) नारद आदि को नैष्यकर्म्य लक्षण का निरूपण कर स्वयं भी उसका आचरण कर दिखाया। वह कथा सुनो। यह नारायण किस देश का था यह जानना चाहते हो तो समझ लो कि वह बदरिकाश्रम में रहने वाला था। नारद सनकादिक ऋषि अभी भी उसकी सेवा में रहते हैं। अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष ध्यान उसे सहज ही रहता है इसलिये उस स्वरूपनिष्ठा का पक्ष अर्थात् अलक्ष्य के ध्यान का वह साधक को उपदेश देता रहता है। उस स्वरूप का बोध हमें स्पष्ट रूप से हो सके इसलिये अभी भी उसके साथ ऋषियों के समुदाय नित्य संवाद करते रहते हैं। जिस स्वरूप को लोग नहीं देख पाते उसका वह भाषण से विशद करके समझाता है और अनुग्रह कर उसका तत्काल अनुभव कराता है। ज्ञाता ऋषीश्वर अनेक थे किन्तु उनमें नारायण यह अवतार था। उस अवतार में जिस चरित्र की अवधारणा हुई वह अत्यन्त विचित्र था। राजा! तुम्हें बताता हूँ, सुनो!

इन्द्रो विशङ्क्य मम धामजिघृक्षतीति कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम्।
गत्वाऽप्सरोगणवसन्तसमुन्दवातैः स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः॥ ७॥

नारायण का प्रताप, निष्ठा और कठिन तप देखकर इन्द्र को भय लगा। उसने मन ही मन कहा, "यह मेरा निष्पाप स्वर्ग सहज ही ले लेगा।" उसका दारुण तप देखकर उसे लगा कि अब मेरा स्वर्ग स्थान हाथ से निकल गया और यह कहकर उसने अप्सराओं के साथ काम को उसके यहाँ भेजा। काम के साथ अप्सराएँ तो थीं ही, साथ में दूसरा वसन्त और सबके आगे तपस्वियों का बैरी क्रोध था। तीर्थक्षेत्र में रह कर कितना ही अनुष्ठान क्यों न किया जाय लेकिन उससे अंत:करण में क्षमा उत्पन्न नहीं होती। क्रोध आते ही वह तप का विनाश कर देता है। इस प्रकार शर्त लगाकर निकली हुई यह मण्डली बदरिकाश्रम में उस स्थान पर पहुँची जहाँ नारायण तपस्या कर रहे थे। उन्होंने अपना-अपना पराक्रम दिखाना प्रारम्भ किया। वसन्त ने वन का शृंगार किया तो कोकिला कलरव करने लगी, सुगन्धयुक्त शीतल वायु बहने लगी। फूलों से पराग की वर्षा होने लगी। भौरों की गुंजार का झणत्कार होने लगा, स्त्रियाँ श्रृंगार रस के गीत गाने लगीं, अपने हावभाव तथा नेत्रकटाक्ष से वे कामविकार जगाने लगीं। किन्तु उन कामिनियों से नारायण को जरा भी कामबाधा उत्पन्न नहीं हुई, क्रोध का भी पराक्रम नहीं चला और चुपचाप इतना सा मुँह लेकर लौट गया। फिर मदन ने कामिनियों के कटाक्ष बाणों का उस पर प्रहार किया लेकिन उस प्रहार से नारायण जरा भी विचलित नहीं हुआ। शस्त्र से आकाश पर यदि प्रहार करें तो वह वैसा का वैसा अविचलित सा रहता है। उसी प्रकार काम ने नारायण को छला लेकिन वह निजसंतोषी निर्द्वंद और निर्विकार ही रहा। अग्निसर्प अपने सामर्थ्य के बल पर अग्नि का तेज निगलता गया लेकिन स्वाद लेते ही मुँह जल जाय, उसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकार नारायण की दृष्टि से उन स्त्रियों के काम की गति हुई। नारायण की महिमा न जानकर काम ने दौड़ क़र उस पर प्रहार किया लेकिन अपने निंद्य धर्म से ये लोग लज्जित हो उठे। पराजित होकर मुँह छिपाये लौट गये उस समय नारायण ने उनके कुंठाग्रस्त चेहरे को देखा। नारायण स्वयं इन्द्रियों का नियंता है यह न जानकर वे उसे छलने गये थे लेकिन अब उनमें उसके सामने से लौटने का साहस नहीं हो रहा था। न आगे जा पा रहे हैं न पीछे लौट पा रहे हैं इस दुविधा में वे गड़बड़ा गये। भय से उनका शरीर काँपने लगा और वे व्याकुल हो उठे। यह नारायण के ही प्रभाव के कारण है और कहीं वह शाप न दे दे इस भय से वे काँपने लगे। उनकी वह असहाय स्थिति देखकर वह कृपालु व्यथित हो उठा। उसके मन में जरा भी क्रोध नहीं हुआ। ऐसी विचित्र थी उस नारायण की शान्ति।

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान्।
मा भैष्ट भो मदन मारुत देववध्वो गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम्॥ ८॥

यह इन्द्र का किया हुआ अपराध था फिर भी नारायण को उन पर गुस्सा नहीं आया। कामादिकों पर भी उन्हें क्षोभ नहीं हुआ। उसने इन्द्र को भी शाप नहीं दिया। उसके प्रति नारायण के मन में जरा भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। अपकार करने वाले पर जो कुपित होता है उसकी कोप के कारण तत्काल दुर्गति होती है लेकिन अपकार करने वाले पर जो उपकार करता है वही श्रेष्ठ परमार्थी है। अपकारी अर्थात् शत्रु पर उपकार करने का नाम ही परम शान्ति है। उस शान्ति का स्वरूप नारायण ने प्रत्यक्ष आचरण करके लोगों को दिखाया। परमार्थ की स्थिति यह है कि हृदय में अत्यन्त शान्ति होनी चाहिये। उसका स्वरूप उसने प्रत्यक्ष आचरण से लोगों को दिखाया। कामादिक भयाक्रांत हो उठे थे। अप्सराएँ भी साशंक हो उठी थीं। उन्हें अभय देकर नारायण ने कहा, हे काम वसंतादिक स्वामी! आप इतनी कृपा कर यहाँ पधारे हैं। आपकी चरण धूलि से हमारी आश्रमभूमि पवित्र हो गयी है। आप यहाँ सहज ही आ गये हैं लेकिन हमें आपका पूजन अवश्य करना चाहिये। यही हमारा अनुष्ठान है। आप हमारे कुछ बलिदान अर्थात् उपचार स्वीकार करें और आप अप्सराओं, देवस्त्रियों! आप बिकुल निर्भय रहें। यहाँ आयी हुई आप सब मेरे लिये पूज्य हैं। आश्रम में कोई अतिथि आने पर जो उसकी पूजा नहीं करते उसकी पुण्यसंपदा का विलय हो जाता है और आश्रम की स्थिति शून्य हो जाती है। इसलिए यदि आपने हमारी पूजा स्वीकार नहीं की और बिना उपचार ग्रहण किये चली गयीं तो यह आश्रम शून्य हो जायेगा। इसलिये कृपा करके पूजा ग्रहण करें। आश्रम में आया हुआ अतिथि सभी की दृष्टि में पूज्य होता है। आश्रम में जो अतिथि की पूजा करते हैं उस आश्रम की कीर्ति का वर्णन शंकर भी करते हैं। समधी जब नाराज होते हैं तो उनके चरण छूते हैं उसी प्रकार अतिथि जब विन्मुख होकर जाने लगता है तो उसका वन्दन करने से वह प्रसन्न हो जाता है और दूसरे को भी आनन्द देता है। समधी यदि नाराज हो गया तो वह बहू को मैके नहीं भेजेगा लेकिन यदि अतिथि नाराज हुआ तो आज तक सम्पादित किया हुआ सारा पुण्य नष्ट हो जायेगा। आश्रम में जो अध्यात्म भाव से अतिथि की पूजा करते हैं उस आश्रम में वैकुण्ठ में रहने वाला वैकुण्ठपति नित्य निवास करने आता है। नारायण ने ऐसा कहा लेकिन यह मेरी महान शान्ति है ऐसे भाव ने उसके मन को स्पर्श भी नहीं किया। जिसमें परिपूर्ण शान्ति होते हुए भी घमण्ड जरा भी नहीं है वही सच्चा देवाधिदेव है। देवताओं को और मानवों को जो नित्य नचाता है, जिसके भय से तपस्वी लोग तप छोड़ देते हैं, उन कामक्रोधों को अभय देकर नारायण ने अपने पास रख लिया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः।
नैतद् विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे॥ ९॥

इस प्रकार अभय देते हुए नारायण ने अपने मुख से कहा, इससे काम, क्रोध, वसंत और अप्सरा आदि लोगों ने लज्जा से गर्दन झुका ली। नारायण की निर्विकार पूर्ण क्षमा देखकर वसंतादिक लोगों ने समझ लिया कि यह कोई ऋषि नहीं अपितु साक्षात परमात्मा है और वे स्वयं उसकी महिमा का वर्णन करने लगे। हे महाराज चक्रवर्त्ति! सार्वभौम विदेह! सुनो। कामादि मण्डली अत्यन्त भक्तिभाव से नारायण की स्तुति करने लगी। जो सर्वकाल लोगों को छलते थे, उन्होंने जब नारायण की परिपूर्ण शान्ति देखी तो वे उस शन्ति की स्तुति करने लगे जिससे नारायण को संतोष प्राप्त हो, उसके मन में पूर्ण कृपा उत्पन्न हो, इस प्रकार वे परमार्थ बुद्धि से उनका स्तवन करने लगे। उन्होंने कहा, "देवाधिदेव! तुम्हारी जय हो। तुझ जैसी कामक्रोधरहित निर्विकार स्थिति देवताओं में या मानवों में नहीं दिखायी देती। मेरे काम के वश में ब्रह्मदेव भी कन्या को पकड़ने के लिये गया और पराशर ने क्या किया? उन्होंने दिन में ही दुर्गंधा का उपभोग किया। योगी जिनका शिरसा वन्दन करते हैं, जो तपस्वियों में शिखर पर है वह शंकर भी मोहिनी के पीछे आसक्त हुआ उस समय उसका लंगोटी में वीर्यस्खलन हुआ।" विषयग्लानि से विष्णु भी वृंदा के श्मशान में धरना देकर बैठा था। अहिल्या की कथा तो वेदों और पुराणों में भी प्रसिद्ध है। नारद ने मेरी नहीं सुनी लेकिन उसे भी साठ पुत्र हुए। मेरा प्रहार सह सके ऐसा समर्थ पुरुष संसार में कोई नहीं है। ब्रह्मचारियों का राजा मारुति अपने ब्रह्मचर्य का बड़ा अभिमान करता था लेकिन उससे बिना संग किये मैंने मकरध्वज को जन्म दिया। चन्द्र को मैंने कलंकयुक्त किया, इन्द्र के शरीर में छिद्र किये और शंकर के लाडले पुत्र कार्त्तिक स्वामी को गुफा में बन्द कर दिया। मेरे मदन का प्रहार देवदानवों को भी सहन नहीं होता फिर मानव उसे कैसे सहन कर पायेंगे? शंकर ने मुझे जलाया लेकिन मैंने उसे पागल कर दिया। लेकिन तुम्हारे जैसा आश्चर्यकारी धैर्य त्रिभुवन में कहीं भी देखने को नहीं मिलेगा। तुमने मुझ जैसे प्रभावशाली मदन को पराजित किया। शान्ति के कल्याण का उदय हुआ। इतना यश तुम अकेले ने सम्पादित किया। अपनी शान्ति से हमारे स्वभाव को जीत लिया। मुझ काम को जीत कर क्रोध का भी घमण्ड चूर कर दिया। वासना की मस्ती भी हमेशा के लिये क्षीण कर दी। हे नारायण! कितने ही बड़े तपस्वी क्यों न आयें लेकिन उनसे तुम्हारी यह निष्ठा अर्थात् आत्मस्थिति की बराबरी नहीं की जायेगी। अपने स्वानुभव को सार्वजनिक कर तुमने शान्ति का साम्राज्य स्थापित कर दिया। पहले भी अनेक तपस्वियों के कामक्रोध को जीतने का वर्णन आता है। लेकिन उन्हें भी हमने पूरी तरह छला, उसे अब सबके सामने बताता हूँ। कपिल जैसी महान तेजोराशि उसे भी क्रोध ने छला, सगर को शाप देते समय वह भी क्रोध के वश में आ गया। नारद को भी क्रोध आया और उसने नलकूवर को वृक्ष बनाकर छोड़ा। गौतम ने तो क्रोध में अहिल्या को वनवासी शिला बनाकर छोड़ा। जो सदा लोगों के विघ्न दूर करता है उस विघ्नेश को भी क्रोध ने छला तब क्रोध में आकर उसने चन्द्रमा को तत्काल शाप दिया। दुर्वासा को भी क्रोध आया और उसने अंबरीष को शाप दिया और भगवान को गर्भवास दिलाया। इस प्रकार क्रोध ने अनेक ऋषियों को छला। जो प्रतिसृष्टि निर्माण कर सकते हैं वे भी कामक्रोध के चक्कर में फँस जाते हैं। इन्द्र की सम्पत्ति समुद्र में गिर गयी यह क्रोध कथा पुराणों में प्रसिद्ध ही है। औरों की बात क्या की जाय? क्रोध ने शंकर को भी छला। उसने यज्ञदीक्षा लेकर बैठे हुए दक्षद्विज का वीरभद्र से शिरच्छेद कराया। मैं काम जहाँ रहता हूँ वहाँ क्रोध भी धीरे-धीरे आ ही जाता है। लेकिन हे नारायण! आपने तो काम और क्रोध का मानों अस्तित्व ही नष्ट कर दिया। तुम्हारा यह सामर्थ्य आश्चर्यजनक है। इतना धैर्य औरों में नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसीलिये बड़े-बड़े ऋषि भी तुम्हारे चरणों की सेवा करते हैं। हे देवाधिदेव! शान्ति की इच्छा से जो तुम्हारी नित्य सेवा करते हैं वे तुम्हारे नामस्मरण से ही कामक्रोध आदि के स्वभाव को सहज ही जीत लेते हैं। जहाँ सम्मान के साथ काम अर्थात् इच्छा पूर्ण होती है वहाँ आदरपूर्वक अनुग्रह किया जाता है लेकिन जहाँ सम्मानपूर्वक काम तृप्त नहीं हो पाता वहाँ क्रोध लाल होकर शाप देता है। इस प्रकार शापानुग्रह करने में समर्थ पुरुष सदा कामक्रोधयुक्त रहते हैं लेकिन तुमने अपनी महानता के अनुकूल ही कार्य किया यह कौतुक की बात है। अपनी शान्ति और स्वरूपनिष्ठा से कामक्रोध को अंकित कर दिया। फिर इतना सब कुछ करने पर भी गर्व न होने का अहंकार भी नहीं! छल करनेवालों को हलका साबित करने अथवा उनकी उपेक्षा करने का भी तुम्हारा विचार नहीं दिखायी देता। लोग पृथ्वी को गोड कर उसे दुःखी करते हैं लेकिन वह अन्न पैदा कर उन्हें सुखी करती है। इस प्रकार अपकार करने वाले पर जो उपकार करता है वह मोक्ष के सिर पर का मुकुट है। हे कृपामूर्त्ति! तुझ में निर्विकार शान्ति का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। तुम्हारे स्वरूप की सच्ची स्थिति हमें निश्चित रूप से आज ही मालूम हुई। तुम निर्गुण, निरुपम, मायातीत, पूर्णब्रह्म हो। सहज ही यदि कोई तुम्हारा नामस्मरण करे तो सकाम को भी काम स्पर्श नहीं कर सकता। जो सर्वकाल तुम्हारा नामस्मरण करता है, उसे मैं काम ही निष्काम कर देता हूँ और क्रोध ही क्रोध का शमन करता है और जो मोह है वही परमबोध होकर रहता है। जो निजशान्ति के योग से धीर वीर होकर परमानन्द में ही निरन्तर तृप्त रहते हैं ऐसे मुक्तजनों की असंख्य पंक्तियाँ तुम्हारे चरण छूती हैं। तुम्हें नमस्कार करने के लिये महासिद्धों का समुदाय आगे बढ़ता है लेकिन उन्हें मौका नहीं मिल पाता। आप ऐसे परात्पर गुरु महात्मा हैं। तुम्हारे सेवकों के निकट यदि विघ्न जाने का प्रयास करता है तो वह दीन हीन हो जाता है। तुम्हारे सामने वह किस बल बूते पर आयेगा?

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते।
नान्यस्य बर्हिषि बलोन् ददतः स्वभागान् धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि॥ १०॥

हे नारायण! तपस्वी लोगों के लिये विघ्न उत्पन्न करना, उन्हें कष्ट देना तथा उनके तप में बाधा डालना यह हमारा स्वभाव ही है इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। लेकिन जो हृदय के काम को छिपा कर, बाहर से जप-तप तथा भक्ति का ढोंग करने वाले महाठग होते हैं उन पर ही विघ्न का प्रभाव पड़ता है। हमारी विघ्न उत्पन्न करने की शक्ति तुम्हारे सच्चे भक्तों के आगे काम नहीं करती। भक्ताभिमानी भक्तों के रक्षक होने के कारण, वहाँ विघ्नों की गति उलटी हो जाती है। मेरे भक्तों के लिये विघ्न किस बात के? तो देवाधिदेव उसका भी अभिप्राय तुम्हें बताता हूँ, सुनो! आत्मपद प्राप्ति की आकांक्षा मन में होने के कारण जो स्वर्गसुख को ठोकर मार कर निरन्तर निष्कामबुद्धि से तुम्हारा भजन करते हैं उनके देवता अनेक प्रकार के विघ्न उत्पन्न करते हैं। 'हमारा उल्लंघन कर ये अटल पद तक पहुँचते हैं' यह कहकर देवेन्द्रादिक उनके लिये अनेक विघ्न उत्पन्न करते हैं। हमें हविर्भाग दिये बिना ये पूर्ण पद तक पहुँचना चाहते हैं इस क्रोध से इन्द्रादि देव उनके लिये अनेक प्रकार के विघ्न खड़ा कर देते हैं। उनके भजनों में बाधा पहुँचाने के लिये विघ्न तत्काल पहुँच जाते हैं। लेकिन उन विघ्नों से उनका कुछ नहीं बिगड़ता क्योंकि तुम हृषीकेश उनकी सुरक्षा के लिये तत्पर रहते हो। सकाम कल्पना छोड़कर जो तुम्हारे चरणों में रममाण होते हैं, उनकी तुम नारायण! आठों पहर सुरक्षा करते रहते हो। विघ्नों से घबराकर 'हे भगवान! दौड़ो, दौड़ो कहते हैं और तुम उनकी पुकार पुकार सुनकर दौड़ जाते हो। नारायण! तुम कभी निष्ठुर नहीं होते हो। भक्तों के निकट विघ्न पहुँचे इससे पहले ही तुम उनकी चारों ओर से सुरक्षा के लिए तत्पर रहते हो। विघ्न कुपित होकर छलने के लिये दौड़ता है तभी उस विघ्न में ही तुम्हारा रूप प्रगट होता है। इसलिये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भक्तों को विघ्न कोई बाधा नहीं पहुँचा सकते। काम हरिभक्तों को छलने जाता है तो काम के हृदय में भी श्रीहरि का ही वास्तव्य उन्हें दिखायी देता है और जो विघ्न रहता है वही उनके लिये निर्विघ्न हो जाता है। सारांश भक्तों को स्वप्न में भी विघ्न का भय नहीं रहता। विघ्न विरोध उत्पन्न करता है लकिन विघ्न के भीतर बाहर श्रीहरि ही होने के कारण जो विरोध है वही निजभक्तों के लिये महाबोध तथा स्वानन्द का कन्द होता है। जिन्हें तुम्हारे चरणों पर श्रद्धा होती है उनके लिये विघ्न में से ही परमार्थ प्रगट होता है। इस प्रकार भावबल के साथ सर्वसमर्थ तुम अपने भक्तों के लिये निरन्तर सहायक बनते हो। इस प्रकार भक्त सभी विघ्नों को पराजित कर इन्द्रपद के पाथे पर पैर रख, तुम्हारी कृपा से परमार्थ पद तक पहुँचते हैं। भगवान जिसकी सुरक्षा के लिये तत्पर रहते हैं, उसे छलने के लिये भी जब विघ्न दौड़ पड़ते हैं तो फिर गरीब सकाम लोगों की क्या कथा है? तो हे राजा जनक! उनकी भी कथा सुनाता हूँ। मन में विषय कामना रखकर जो इन्द्रादि देवों को बलिदान देने के लिये यज्ञ आदि के चक्कर में पड़ते हैं उन्हें भगवान कोई विघ्न नहीं पहुँचाते। इन्द्र याज्ञिकों का राजा है और सकाम यज्ञ करने वाले ये देवताओं की प्रजा है। वे उन्हें उत्तमोत्तम यज्ञभाग अर्पण करते हैं। वह बलिपूजा मिलते ही वे उन्हें विघ्न नहीं करते। लेकिन काम आदि उन्हें कष्ट नहीं देते क्योंकि वे निष्काम को कभी स्पर्श नहीं करते। वे सहज ही काम के वश में रहते हैं क्योंकि वे सदा सकाम कर्मों को ही करते हैं। अब जो मुझ काम के वश में होते हैं वे अपना तप खर्च कर भोग भोगते हैं, लेकिन जो क्रोध के चक्कर में फँसते हैं वे व्यर्थ ही तप से हाथ धो बैठते हैं।

क्षुत्तृट्त्रि कालगुणमारूतजैह्व्यशैश्न्यानस्मानपारजलधीनतितीर्य केचिंत।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गोर्मजन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति॥ ११॥

प्राणायाम से प्राणापान की गति का निरोध कर, निजप्राण को वश में कर वायु, वर्षा, जाड़ा, धूप आदि सहन कर जो अनुष्ठान में व्यस्त रहते हैं, क्षुधा और तृष्णा का संयमन कर जिह्वा और शिस्न पर नियंत्रण कर मुझ काम को जीत लिया यह मानकर अहंकार से उन्मत्त होते हैं। वे क्षुद्र अपमान से क्रुद्ध होकर क्रोध के अधीन होकर शाप देते हैं और अपनी निष्ठा और तपसम्पत्ति व्यर्थ ही खो देते हैं। सकाम अनुष्ठान कर मुझ काम की संगति से पुष्पमाला, चन्दन (इत्र आदि) तथा स्वर्ग की अप्सराओं के भोग भोग कर अमृत का भी प्राशन करते हैं। लेकिन ऐसे भोग देने वाले मुझ काम की उपेक्षा कर जो क्रोध के वश में हो जाते हैं वे एकाध प्रखर शाप देकर अपने सारे तप पर पानी फेरते हैं। विराट समुद्र तैर कर पार करने वाला कोई जैसे गाय के पैरों में एकत्र पानी में डूब जाय उसी प्रकार मुझ काम को जो जीत लेते हैं वे भी अपने क्रोध के कारण दुःख भोगते हैं। मुझ काम की अतृप्ति में जो स्थिति है वही क्रोध के लिये सुदृढ़ स्थिति है। लेकिन काम, क्रोध ये अभक्तों का छल करते हैं, हरिभक्तों के आगे उनकी कुछ नहीं चलती। तुम्हारे भक्तों को भी जब काम क्रोध का बन्धन नहीं बाँध सकता तो फिर तुम भक्तपति नारायण को हमारे काम की कैसे बाधा हो सकती है? तुम्हारी महिमा न मालूम होने के कारण हम अपना धर्म चलाने के लिये यहाँ आये। लेकिन हे कृपालु पुरुषोत्तम! तुम्हारे पास तो सर्वदा क्षमा ही वास कर रही है।

इति प्रगृणतां तेषा स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः।
दर्शयामास शुश्रूशां स्वर्चिताः कुर्वतीर्विभुः॥ १२॥

अपकारी पर उपकार करना इसी को 'निर्विकार शान्ति' कहते हैं। उसी शान्ति की पूर्णावस्था विघ्नकर्ता को हरी ने (नारायण ने) दिखला दी। कामादिकों ने अपनी स्थिति निवेदन कर अनेक प्रकार से नारायण की स्तुति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की। इतने में उन्हें वहाँ एक अद्‌भुत चमत्कार दिखायी दिया। चमत्कार यह कि वहाँ अनेक उत्पन्न से उत्तम स्त्रियाँ उत्पन्न हो गयीं। रूप, वैभव, अलंकार इत्यादि में वे लक्ष्मी से भी सुन्दर दिखायी दे रही थीं। ऐसी वे स्त्रियाँ सेवा और आदरभाव में अत्यन्त तत्पर दिखायी दे रही थीं। नारायण की यह लीला भी कितनी विचित्र थी। उसने कितना बड़ा चमत्कार दिखला दिया। उन स्त्रियों को देखते ही आगत स्वर्ग की अप्सरायें जैसे सूर्य के सामने जुगनू निस्तेज दिखायी देते हैं वैसी निस्तेज दिखायी देने लगीं।

ते देवानुचरोद्दष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः।
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपीदार्यहतश्रियः॥ १३॥

इन (नारायण निर्मित) स्त्रियों को देखते ही मदन मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। वसन्त के मुँह में पानी आ गया और क्रोध तो आँखें फाड़ कर बस देखने लग गया। भ्रमर गुंजार करना भूल गये, कोकिलायें जैसे पंचम स्वर ही भूल गयीं प्राणवायु का संचार रूक गया इस प्रकार देवताओं के वे सेवक पागल जैसे हो गये। उन स्त्रियों का स्वरूप देखकर अप्सरायें किसी दासी की तरह दिखायी देने लगीं। वे लज्जित हो उठीं। उन स्त्रियों के शरीर से निकलने वाले परिमल से वसन्त तो बौरा गया। उसी प्रकार उनके शरीर की सुगन्धित वायु शरीर में लगते ही मलयानिल संभ्रम में पड़ गया। नारायण की इस विधा का क्या वर्णन किया जाय? जो उसे सम्मोहित करने आये थे वही उसके मोहजाल में फँस गये। सौन्दर्य में रंभा और तिलोत्तमा प्रमुख हैं लेकिन समुद्र मंथन के समय उत्पन्न हुई लक्ष्मी ने अपने सौन्दर्य से उन दोनों पर विजय प्राप्त की। उस लक्ष्मी की अपेक्षा आज नारायण ने उत्पन्न की हुई स्त्रियाँ अधिक सुन्दर थीं।

तानाह देवदेवेशः प्रणत्रान् प्रहसन्निव।
आसामेकतमां वृड्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम्॥ १४॥

यह आश्चर्य देखकर काम आदि सारे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। (वे होश में आते ही) नारायण ने हँस कर कहा, हम आपकी पूजा करें, आपका सत्कार करें तथा आपको कोई भेंट दें यह उचित ही है। इसलिये इन्द्र को सन्तोष हो इसलिये इनमें से कोई एक दासी आप स्वीकार करें। यदि इनका सौन्दर्य अधिक हो तो जो इनमें से आपके लायक हो उसे ही आप स्वीकार करें। शायद आप यह कहें कि इनमें से कोई भी स्त्री कम सुन्दर नहीं है, सभी सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं तो आप इनमें से किसी एक का अंगीकार करें, ताकि वह स्वर्ग के लिए एक भूषण ही होगा। नारायण का यह भाषण सुनकर सबको बड़ा ही सन्तोष हुआ और उन्होंने उसे साष्टांग दण्डवत कर उसका भाषण शिरसा वंद्य किया।

ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः।
उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवंययुः॥ १५॥

इन्द्रायानग्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम्।
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मतः॥ १६॥

नारायण का भाषण सुनकर उसके चरणों पर मस्तक रखकर स्त्रियों में जो उर्वशी थी उसे साथ लेकर कामादि सारे लोग बड़ी फुर्ती से वहाँ से निकले। वह नारायण के उरू से अर्थात् जाँघ से सट कर खड़ी थी इसलिये उसका नाम उर्वशी पड़ा और कालान्तर में वह देवांगन में भी इसी नाम से पहचानी जाने लगी। इस प्रकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वे सारे देवताओं के दूत स्वर्ग पहुँचे और उन्होंने नारायण की अद्‌भुत शक्ति का इन्द्र की सभा में वर्णन किया। उन्होंने नारायण का अत्यन्त पवित्र चरित्र उन्हें सुनाया जिसे सुनकर देवतागण आश्चर्य चकित हो गये। इन्द्र ने उर्वशी को देखा तो वह रात दिन उसके साथ लंपट होकर रहने लगा। बाहर आकर सभा में बैठने का उसे होश ही नहीं रहा। वर्षों तक उसे साथ लेकर वह अंतगृह में रहने लगा। नारायण की यह कथा प्रथम दृश्य सगुण अवतार की कथा है। अब हे राजराजेश्वर! अगला अवतार सुनो। राजा, कितनी विचित्र बात है। समस्त छलवादियों की स्वतः पूजा करने का ही नाम है 'पूर्णानुभव'। सद्‌भाव से भगवद्‌भजन करते समय इन्द्र उसमें अनेक प्रकार के विघ्न उत्पन्न करता है। नारायण चैतन्यधन होने के कारण उन्होंने समस्त विघ्नों की पराजय कर डाली लेकिन भोले भाले यदि भक्ति करने लगें और उनके भी मार्ग में ऐसे ही विघ्न आये तो उन्हें भगवद्‌प्राप्ति कभी नहीं होगी ऐसा विकल्प तुम मन में न लाओ। क्योंकि ब्रह्मादिक समस्त प्राणिमात्रों का जो केवल भौं उठाकर ही नियंत्रण करता है उस श्रीनारायण का केवल भक्तिपूर्वक भजन करने से विघ्नों की बाधा कभी नहीं हो सकती। उसके कारण ही इन्द्र का इन्द्रपद कायम है, उस श्रीनारायण का भक्तिभाव से भजन करने पर भक्तों को कौन विघ्नों की बाधा खड़ी करेगा? वह श्रीहरि ही अपने भक्तों की सुरक्षा करता रहता है। यह सच है कि कामादिक सबका छल करते हैं लेकिन जब उनका चालक भी नारायण ही है तो वह अपने भक्तों का स्पर्श कैसे करने देगा? सारे विघ्नों को जिसने भुलावे में रखा उस नारायण का नित्य स्मरण करने से केवल उसके भय से ही विघ्न भाग जाते हैं। हरि के नामस्मरण से ही भक्त की सुरक्षा होती रहती है। अपने भक्तों की रक्षा करने के लिये ही देवता अनेक प्रकार के अवतार धारण करता है। उसके अवतारों का अत्यन्त अद्‌भुत चरित्र तुम श्रवण करो।

हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः।
विष्णुः शिवाय जगतां कलयाऽवतीर्णस्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये॥ १७॥

ब्रह्मदेव के सनकादिक पुत्रों ने जब पिता से प्रश्न किया तो 'हंसावतार' लेकर उन्होंने उस प्रश्न के उत्तर के बहाने ब्रह्मज्ञान कथन किया। हरिनाम का नित्य भजन करने से महादुर्धर विघ्न भस्म हो जाते हैं। ऐसे उस हरि के अवतार का उत्तम वर्णन सुनो। जिसका नाम सुनकर यम भी भाग जाता है, जिसके नाममात्र से जन्म-मरण का नाश हो जाता है वह 'श्रीदत्त' का अवतार अर्थात् साक्षात परब्रह्म है। जो निष्ठापूर्वक ब्रह्मचारी हैं, स्वप्न में भी जिनका वीर्यपतन सम्भव नहीं है और इसी कारण जिन्हें 'कुमार' कहते हैं वे सनकादिक भी अवतार मूर्त्ति ही हैं। उसी प्रकार हमारे ज्ञानसम्पन्न पिता ऋषभनारायण को भी तुम भगवान का अवतार ही जान लो। उपर्युक्त नामों से और रूपों से अवतार लेनेवाला वह एक नारायण ही है। जगत् का पालन करने वाला जो श्रीकृष्ण है वही अपने अंश से अवतार लेता रहता है। वही श्रीकृष्ण स्वयं मधुकैटभ दैत्य का संहार कर 'मधुसूदन' नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'हयग्रीव' को अवतार लेनेवाला भी वही है। उसी ने बाद में शंखासुर का वध कर डूबे हुए वेदों को निकाल कर उन्हें ब्रह्मदेव के हाथ में दिया। इस प्रकार वेदों की रक्षा उसी ने की यह निश्चित रूप से जान लो।

गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये क्रौडे हतौ दितिज उद्धरताऽम्भसः क्ष्माम्।
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे ग्राहात् प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्तम्॥ १८॥

उसी ने मत्स्यावतार धारण कर प्रलयकाल की बाढ़ में पृथ्वी का मनु तथा वनस्पतियों के साथ संरक्षण किया। उसी ने कूर्मावतार धारण कर मंदर पर्वत को अपनी पीठ पर लादकर क्षीरसागर का मन्थन कर देवताओं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को अमृतपान कराया। जिस समय हिरण्याक्ष दैत्य पृथ्वी को रसातल तक ले गया था उस समय उस प्रभु ने 'वराह' अवतार धारण किया। उस श्वेत वराह मूर्ति की पृथ्वी देवी ने पूर्ण निष्ठा से भक्ति की। उस समय उस दैत्य का वध कर पृथ्वी का उद्धार किया और परम शान्ति प्रदान की। उसी ने दीनों का संकट निवारण करने के लिये वैकुण्ठ से छलांग लगायी और गजेन्द्र का नक्र ने पकड़ा हुआ पैर छुड़ा कर उसका प्रेमपूर्वक उद्धार किया।

संस्तुन्वतोऽब्धिपतिताच्छ्रमणानृषींश्च शक्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम्।
देवस्त्रीयोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे॥ १९॥

किसी समय अकस्मात हुए जलप्रलय में मार्कण्डेय ऋषि डूबने लगे थे उस समय उन्होंने श्रीकृष्ण का स्मरण किया। तत्काल 'वटपत्रशायी' भगवान ने उसे बचाया (यही बालमुकुन्द है) ऋषि शालिग्राम की पूजा कर रहे थे उस समय नल नामक वानर ने अपने स्वभाव के अनुसार उनकी देवपूजा उध्वस्त कर देवता को समुद्र में फेंक दिया। यह देखकर उस ऋषि ने क्रोध से 'तुम्हारे हाथ से शिला पानी में नहीं डूबेगी' ऐसा शाप दिया। तभी उन्हें समुद्र में शालिग्राम तैरते हुए दिखायी दिये। उन्हें निकालने के लिये ऋषि ने जल में प्रवेश किया। वे समुद्र की भीषण लहरों के बीच फँस गये और उनकी साँस फूलने लगी। तब उस ऋषि ने उस संकट का निवारण करने के लिए जार्तिहरण श्रीहरि की प्रार्थना की। इससे प्रसन्न होकर श्रीहरि वहाँ प्रकट हुए और उन्होंने उस ऋषि की पूजा के साथ बाहर निकाला। वज्राघात से वृत्तासुर को मारने के कारण इन्द्र को ब्रह्महत्या का पातक लगा जिसके कारण वह अंधतम नामक नरक में डूब रहा था। उस समय कृपालु श्रीअनंत ने अवतार धारण किया तथा कृपादृष्टि से इन्द्र को उस ताप से मुक्त किया। मुर नामक दैत्य ने अमरपुर जीतकर देवताओं के जनानखाने की स्त्रियों को बन्द कर रखा था। श्रीहरि ने उस 'मुर' नामक दैत्य का वध किया इसलिये उसका नाम 'मुरारी' हो गया। उसने देवताओं की सभी स्त्रियों को मुक्त कर उन्हें पुनः देवताओं के सुपुर्द किया। जो राक्षसों का राजा और दुष्टों में अग्रगण्य, जो हरि का नाम सुनते ही क्रोध से संतप्त होकर मन ही मन जलने लगता था वह क्रोध का महासागर, अविवेक की अपार निधि, जो गर्व से उन्मत्त होकर मदोन्मत्त होकर हरिनाम का स्मरण करने वाले अपने पुत्र का छल करता था उस हिरण्यकश्यपु का साधुओं को अभय देने वाले स्वभक्त हितकारी 'नरसिंह' ने नाखूनों के अग्रभाग से वध किया।

देवासुरे युधि च दैत्यपतीन् सुरार्थे हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात् कलाभिः।
भूत्वाऽथ वामन इमामहरद्बलेः क्षमां याञ्चाछलेन समदाददितेः सुतेभ्यः॥ २०॥

समुद्रमंथन के अन्त में क्षीरसागर के तट पर देवदानवों के बीच अमृत के लिये जब बहुत कलह मच गया था उस समय जिसके सामने अमृत भी फीका लगे ऐसा 'मोहिनी' अवतार लेकर उन्होंने राक्षसों को मेघ्य प्राशन करने के मद्य लिये दिया और देवताओं को अमृत दिया। उस समय चुराकर अमृत प्राशन करने के कारण राहु का शिरच्छेद किया और उसके धड़ पर म्हालसा के स्वरूप में स्वयं नेवासे में वास्तव्य किया। देवताओं की सहायता करने वाले नारायण ने द्वारका में कुश का निर्दलन कर तथा लवणासुर का वध कर स्वयं 'कुमार' रूप में अवतार धारण किया। इस प्रकार भक्त कार्य का पक्ष लेने वाला श्रीहरि ने एक के बाद दूसरे मन्वंतर में देवताओं के कार्य से स्वयं अनेक अवतार लिये। देवताओं का सहायक जगजीवन स्वयं बौना वामन बनकर याचक धर्म स्वीकार कर देवताओं के अपमान का बदला लेता है। अपने दान के पुण्य से राजा बली समर्थ था, उसके साथ युद्ध करना देवताओं के लिये कठिन था। इसलिये त्रिविक्रम रूप से अर्थात् त्रैलोक्य व्यापक रूप धारण कर उसने बली का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

छल किया। लेकिन बली का प्रभाव प्रबल होने के कारण उसने देवता को द्वारपाल बना दिया। इस प्रकार विष्णु भक्तों की परीक्षा लेने के लिये उनका काफी छल करते हैं लेकिन अन्त में वह दयानिधि स्वयं ही दासों का दास बन जाता है। इस प्रकार बली का छल कर वामन ने सारा दिग्मण्डल अपने अधिकार में कर लिया और उसे देवताओं को अर्पित कर उन्हें सुखी किया।

निःक्षत्रियामकृत गां च त्रिःसप्तकृत्वो रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन्सलङ्कं सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः॥ २१॥

वही देवदेवोत्तम देवाधिदेव स्वयं 'परशुराम' बना और उसने अपने प्रताप से समस्त क्षत्रियों का पराक्रम व्यर्थ कर दिया। वह गो ब्राह्मणों का महान हितैषी था। उसने सहस्रार्जुन का वध कर उसके सहस्रबाहु के अनेक टुकड़े कर डाले और दैत्यों के समस्त कुलों को रसातल तक पहुँचाया। जमदग्नि का क्रोध परशुराम के तेज से प्रज्ज्वलित होकर उसने हैहयकुल को भस्म कर क्षत्रियों की पृथ्वी को भून डाला। उसने इक्कीस बार वीररस देकर क्षत्रियों का उन्माद रोग नष्ट किया तथा भूदेवता को धरती का आधिपत्य सौंप दिया। इसके बाद सभी अवतारों में जो श्रेष्ठ था, जिसकी वीरवृत्ति अत्यन्त उज्ज्वल थी, वह सभी अवतारों में श्रेष्ठ श्रीराम हुआ। उस राम के नाम से समस्त पातक भाग जाते हैं, उसका नामस्मरण करने वाले के चरणों में यम भी लीन हो जाता है। गणिका के सारे कर्म, अकर्म रामनाम से ही नष्ट हो गये। उसके नाम से कलि भी थरथर काँपने लगता है, यमदूतों की कोई परवाह नहीं करता, रामनाम के स्वर से जन्म-मरण समूल नष्ट हो जाता है। जिसने देवताओं के बन्धन खोले, नवग्रहों की बेड़ियाँ तोड़ीं और जिसने त्रैलोक्य में रामराज्य का झंडा फहराया, जिसके सामर्थ्य से समुद्र पर शिलायें तर गयीं, क्षुद्र वानरों ने राक्षसों को मारा और सुवर्ण की लंका शरणागत विभीषण को सुपुर्द की। प्रताप का वह साक्षात पुतला जिसने सहज ही समुद्र पर सेतु बनाया, जिसने अपने चरणों से शिला का उद्धार किया और जो स्वभक्तों के लिए प्राणों से भी अधिक प्रिय है। हे राजा! वह साक्षात अवतार आज भी संसार में विचरण कर रहा है। (एकनाथ कहते हैं) यह भाषण त्रेतायुग में द्रुमिल मुनि राजाजनक को सुना रहे हैं। इसलिये 'श्रीराम राम' इस से जो नित्य जप करता है वह पुरुषों में पुरुषोत्तम रहता है तथा कर्माकर्म से अतीत रहता है। राम का यह नाम यदि अकस्मात् कर्णपुट में प्रवेश करता है तो उस नामघोष से कलिसम्बन्धी सभी पापों का विनाश होता है। रामनाम की महिमा ऐसी है। रामनाम ने जगत का उद्धार कर अपनी कीर्ति फैला रखी है। उस राम का चरित्र जो गाते हैं या सुनते हैं, वे धन्य हैं।

भूमेर्भरावतरणाय यदुध्वजन्मा जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान् शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते॥ २२॥

हे राजाधिराज! अब तुम्हें अगले अवतारों की कथा सुनाता हूँ। वह अवतार श्रीकृष्ण का है। उसकी कथा अत्यन्त अद्भुत और विचित्र है। जो परा से परात्पर, जो अजन्मा होते हुए भी अक्षर और श्रुतिशास्त्र के लिये भी जो अगोचर है ऐसा वह श्रीकृष्ण पूर्णावतार है। जिसे नाम देना कठिन है, जहाँ रूप का प्रश्न ही नहीं उठता जिसके लिये ब्रह्मत्व शब्द भी अपूर्ण है ऐसा जो श्रीकृष्ण है वह अवतार है इसे ध्यान में रखो। जो वर्णाश्रम को स्पर्श नहीं करता अर्थात् जो वर्णाश्रम से परे है, जिसे ईश्वरत्व का स्पर्श भी सहन नहीं होता, जो वास्तव में अहा और अव्यय होकर स्वानंद में निमग्न रहता है ऐसा वह स्वलीला से धारण किया हुआ श्रीकृष्णावतार है। इस प्रकार वहश्रीकृष्णनाथ का अवतार गुणधर्म कर्मातीत है। वह जगत का नाथ स्वयं ही, अपनी ही इच्छा से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यादवों के वंश में उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार उफनता समुद्र चंचल भासित होता है, वास्तव में वह जल ही रहता है अथवा काली, श्वेत, बलुई पीली मिट्टी अलग प्रकार की मालूम होने पर भी जमीन का ही भाग रहती है या शक्कर के बड़े ढेर में जो मिठास रहती है वही मिठास उस राशि में से निकाले हुए छोटे हिस्से में भी रहती है, उसी प्रकार यादवों के कुल में श्रीकृष्ण का अवतार पूर्णांश से हुआ था। जिस प्रकार दीपक जलाते ही प्रकाश का पुंज बाहर आता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण का जन्म होते ही उन्होंने अद्‌भुत कार्य किये। जो ब्रह्मदेवादिकों से भी नहीं हो सकता है वह सब देवाधिदेव श्रीकृष्ण ने बाललीलाओं के रूप में ही कर दिखाया। मुख से दावाग्नि निगल लिया, नख से पर्वत उठाया, पूतना के स्तन का विष अपने मुँह से उसके प्राणों के साथ चूस लिया। बछड़े चुराने के बहाने उसने ब्रह्मदेव को भी पागल बना दिया। वह बछड़े और गोप वह स्वयं ही हो गया। अघासुर का जबड़ा चीर कर उसके टुकड़े कर दिये, कालिया सर्प का विष निकाल लिया, यमलोक की तलाशी लेकर वह गुरु के पुत्र को वापस ले आया। प्रजा को पीड़ा देकर जो कर वसूल करते हैं, जिन्हें धर्म और नीति अच्छी नहीं लगती, ऐसे धरती के लिए जो केवल भारस्वरूप हैं ऐसे कितने ही राजाओं को उसने मार गिराया। उनमें से अनेक का सेना की सहायता से, कितनों का तो स्वयं ही और अनेकों का किसी युक्ति से वध किया। किसी के घर भाई-भाई में ही कलह उत्पन्न कर उनका काम तमाम किया और किसी का अग्रपूजा के बहाने ही वध किया। राजा! यह श्रीकृष्ण अधर्म को प्रताड़ित करेगा, धर्म की महिमा बढ़ायेगा ये कौतुक भरी बातें तुम्हें विशेष रूप से दिखायी देंगी। जैसे-जैसे समय व्यतीत होगा वैसे-वैसे वह अपने नये-नये चरित्र दिखायेगा और जो उसके असीम भक्त होंगे वही उसके सुख के लिये पात्र होंगे। साधुओं के लिये तो नित नये स्वानंद समारोहों की बाढ़ आयेगी। हे राजाधिराज! उस श्रीकृष्ण की लीला तुम भी अपनी आँखों से देखोगे। वही जब आगे जाकर 'बौद्धरूप' लेकर दृढ़ मौन व्रत का पालन करेगा तब किसी को मालूम ही नहीं हो पायेगा कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है? वह सर्वदा तटस्थ रह कर बड़े-बड़े वाद उत्पन्न करेगा और वादों के बहाने मद और महामोह मचा रहेगा। वह दुर्धर मोह उत्पन्न करेगा, कोई दांभिक कर्म करेंगे, कितने ही धर्मभ्रष्ट होंगे वह अपना आत्महित किस बात में है इसे नहीं समझ पायेंगे। ऐसे मत का प्रचार होगा जिसमें लोग वेदों को ही झूठा कहना शुरू कर देंगे। वेदविहित को न पहचानना यही सचमुच में बलवान मोह है। कितने ही मोह में फँसेंगे, कितने ही लोगों का ज्ञान का अभिमान सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर वे सारे कर्मों की निन्दा करेंगे और वह केवल मूर्खता है यह जानकर वे सभी कर्मों को त्याग देंगे। इस प्रकार की मोहमय स्थिति उत्पन्न होने पर कलियुग की प्रवृत्ति होगी और नीच लोग राजा होकर प्रजा को लूटना-खसोटना शुरू करेंगे। शूद्रों से भी कनिष्ट जाति के लोग बड़े-बड़े राजा होंगे। वे अत्यन्त पापी राजा वर्णावर्ण को भ्रष्ट करेंगे। किसी भी व्यक्ति को बिना किसी अपराध के दण्ड देंगे। राह चलने वालों को पकड़कर उनका सर्वस्व लूट लेंगे। राजा वास्तव में दुर्बलों की शक्ति होता है वह राजा स्वयं ही जनता को लूटना शुरू कर देगा। राजाओं में इस प्रकार शुरू होने वाला अधर्म भगवान को सहन नहीं होगा। जब धर्मानुसार जीवन अधर्मियों को दुःसह होगा तभी श्रीनारायण को 'कल्कि' नामक अवतार धारण करना पड़ेगा। वह (कल्की अवतार) प्रबल शस्त्र की धार से दुष्ट राजाओं का संहार करेगा, महामोह का मूल ही तोड़ डालेगा। तब धर्म का उदय होगा, सत्य की चार गुना वृद्धि होगी और वेदोक्त कर्म चालू होकर सब लोग स्वधर्म से व्यवहार करने लगेंगे।

एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज॥ २३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हे राजन! भगवान के नाम, उसके अवतार, जन्म, चरित्र तथा कर्म अनन्त हैं, उस श्रीहरि की कीर्ति भी अनंतोत्तम है। इस प्रकार उस भगवान की महिमा अगाध है। उसके जन्म और कर्म का कोई अन्त नहीं है। हे पुरुष श्रेष्ठ उसकी यह महिमा तुम्हें संक्षेप में बतायी। ऐसे अवतारचरित्र तथा उनके नाम, कर्म आदि सुनकर राजा के मन में प्रेम का सागर उमड़ पड़ा और उसका मनोधर्म शान्त हुआ। प्रत्येक अवतार के समय भगवान सगुण आकार अवश्य लेता है लेकिन वह स्वयं निर्गुण के गुण प्रकट करता हुआ कर्माचरण करके दिखाता है। जो हरि के सेवक भगवान का गुणवर्णन करते हैं, जिनके भाषण से श्रोताओं का हृदय शान्त होता है, वे अत्यन्त धन्य हैं। जब श्रोताओं की श्रवणवृत्ति शान्त होती है तो उससे वक्ता को स्वानंदसुख प्राप्त होता है और अपने आप साहित्य रस भरकर ग्रन्थों में प्रसाद बाँटने लगता है। सचमुच, जिस प्रकार चन्द्रकिरणों के कारण चकोर के मुख अपने आप खुल जाते हैं उसी प्रकार जनार्दन स्वामी के एकनाथ की भी संतों की कृपा से वाचा प्रस्फुटित हुई है। सूर्यकिरणों के स्पर्शमात्र से जिस प्रकार कमल की कली अपने आप खिल उठती है, उसी प्रकार संतों के कृपाप्रसाद से अर्थज्ञान से ग्रन्थ का भी विस्तार हो रहा है। उनकी ही कृपा से मैं भागवत का अर्थ निकाल रहा हूँ। अब अगले पाँचवें अध्याय की कथा श्रोतागण ध्यानपूर्वक सुनें। राजा मधुर प्रश्न करेगा। उसे सुनते ही मन की इच्छा पूर्ण होगी। साधकों की जिज्ञासा तृप्त होगी और धर्माधर्म का निर्णय समझ में आयेगा। उसके भजना-भजन का कौशल दिखाई देगा। प्रश्नोत्तरों की यह कथा अत्यन्त सुन्दर और रस से पूर्ण होगी जिसे सुनते ही अधर्म की गाँठ खुल जायेगी। उस उत्तम निरूपण से संतों का श्रवण तृप्त होगा। जनार्दन स्वामी की पूर्ण कृपा के कारण एकनाथ उसे सुनायेगा। शरीर में वायु का संचार होने से वह बड़बड़ाने लगता है। उसी प्रकार एकाजनार्दन यह कविता सुना रहा है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादश स्कंधे निमिजायंत
संवादे एकाकारटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पंचम अध्याय

हे ओंकारस्वरूप सद्गुरु देव! तुम्हें मेरा नमस्कार है। यदि तुम्हें उदार कहें तो तुम अत्यन्त कंजूस दिखायी देते हो। अपने घर आये याचक से भेंट होते ही तुम उसे निगलने के लिये दौड़ पड़ते हो। उसे देखते ही उसे उसके प्राणों सहित आत्मसात कर लेते हो। जो भी कोई तुम्हारे पास माँगने के लिये आते हैं उन्हें बाँध कर तुम उन्हें अपने ऐक्यरूप में समा लेते हो। उन्हें छुड़ाने के लिये स्वप्न में भी किसी दूसरे से भेंट नहीं होती। तुम्हारी अणुमात्र प्राप्ति भी जिसे हो जाती है, उसकी इहलोक की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। ठग का बीड़ा खाने से वह अपने ही लिये घातक होता है, उसी प्रकार जब तुम प्रसन्न होते हो तो दूसरे के प्राण ही नष्ट हो जाते हैं। जो भी कोई तुम्हारे पास कुछ माँगने के लिये आया उन्हें तुमने पूरी तरह लूट ही लिया, अन्त में वे नग्न स्थिति में निर्लज्ज होकर त्रिभुवन में घूमने लगे। तुम्हारी ऐसी निर्वाणस्थिति के रहते तुम्हें उदार कौन कहेगा? तो उसका भी चमत्कार सुनो। इससे पहले जिनका 'उदार' के रूप में वर्णन किया है उन्हें भी तुमने आत्मसदृश कर लिया है और फिर उन्हें उदारतापूर्वक अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है। षड्गुण ऐश्वर्य वैभव के साथ तुमने स्वयं को ही दान में दे दिया और वह दिया हुआ दान तुम कल्पांत में भी वापस नहीं लेते। स्वयं का ही दान देने के कारण तुम दासों के ही अधीन रहते हो और इसलिये तुम उनकी ही इच्छा से नाचते फिरते हो। बली ने अपना सर्वस्व दान दिया लेकिन अन्त में तुम उनके ही अधीन हो गये और अभी तक उसके घर के दरवाजे पर रखवाली करते हो। धर्मराज ने तुम्हें अग्रपूजा दी लेकिन अन्त में तुम उनकी सेवा करने लग गये। उसके लिये स्वयं अनेक प्रकार के संकट सहे, यहाँ तक कि उनकी जूठन भी उठायी अपने भक्त अम्बरीष का गर्भवास भी तुमने सहन किया। हे ऋषिकेश! ग्वालिनों ने तुम्हारा पालन-पोषण किया, लेकिन अन्त में उनकी सुरक्षा तुमने ही की। सारांश यही कि भक्तों को स्वस्वरूप देने की उदारता केवल तुझमें ही है। हे दयालु ऋषिकेश! यह सामर्थ्य दूसरों में नहीं है। इस प्रकार तुम उदार होते हुए राजा और रंक दोनों के लिये समान हो। जहाँ भाव रहता है वहाँ तुम निश्चयपूर्वक मिल जाते हो। तुम्हारी प्राप्ति के लिए योगी गिरिकन्दराओं में जाकर बैठते हैं, कोई भोगों का त्याग कर विरक्त होकर बैठते हैं और कुछ तो सर्वस्व का ही त्याग करते हैं। कुछ दसों दिशाओं में भटकते रहते हैं। कोई तुम्हारे लिये पागल हो जाते हैं लेकिन उन्हें क्षण भर के लिए तुम्हारा स्वप्न में भी दर्शन नहीं हो पाता। लेकिन ऐसे लोगों के लिये भी तुम्हारी प्राप्ति एक रीति से सुलभ है। यदि वे संतचरणों में अत्यन्त भक्तिभाव से एवं असीम भाव से रंग जाएँ तो उन्हें तुम्हारी प्राप्ति हो सकेगी। जो संतचरणों में रंग जाता है उसे आत्मप्राप्ति सहज ही होती है क्योंकि सर्वव्यापी परमात्मा संतस्वरूप में अवतीर्ण हुआ रहता है। इसलिये संतों के जो रूप हैं वे श्रीहरि के भी रूप हैं। इसलिये संतों की कृपा प्राप्त करने के लिये अत्यन्त उत्कंठा से प्रयास करना चाहिये। उन्हें ज्ञानार्थ की पिपासा है इसलिये मैं इस ग्रन्थ के बहाने उनके चरणों की सेवा करूँगा। संतों की कृपादृष्टि यही मेरी आँखों का अंजन है। उनकी चरणकृपा का उदय होते ही जनार्दन स्वामी प्रकट हो जाते हैं। उनकी सेवा को गुरुत्व का नाम देकर निजस्वभाव के अनुसार जीवभाव के साथ भजन के लिये अग्रसर हो रहा हूँ। भज्य, भजक तथा भजन इन तीन भावनाओं को एक ही चिदात्मस्वरूप में दिखला कर जगजीवन की निजभक्ति श्रीजनार्दन में की जा सकती है। यही विशुद्ध अभेदभक्ति है। इसमें परम ऐक्य के योग से भजन में अधिक मधुरता आती है और भक्तों की रुचि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और भी बढ़ जाती है। भक्तों के प्रेम के लिये भगवान अपना सर्वस्व खर्च करता है। ऐसी इस अभेद भक्ति की मधुरता है। गोविन्द को वह अत्यन्त प्रिय है इसलिये भक्तों के योगक्षेम का भार श्रीधर स्वयं सँभालता है और भक्तों को स्वयं भवसागर पार कराता है। अपने भक्तों का देहभाव (भार) देवाधिदेव स्वयं वहन करता है तो फिर अभक्तों का देह भार वहन करने वाला क्या कोई और है? तो उसका उत्तर यह है कि भक्तों को अहंकार न होने के कारण भगवान को ही उसे वहन करना पड़ता है और अभक्तों को पूर्ण देहाभिमान होने के कारण उनमें अतिबद्धता होती है इसलिये जो अभिमानरहित होता है वह पूरी तरह भगवद्भक्त है। जिसमें देहाभिमान है उसमें भक्त की प्रवृत्ति कभी नहीं आ सकती। भगवान बड़े कौशल से निजभक्त का संरक्षण करता है इसलिए उसका बाल भी बाँका नहीं होता। वह प्रसन्नतापूर्वक अपने भक्तों को निर्भय कर उनको निजसुख देकर उनका तारण करता है। इसलिये निरभिमानी होकर जो भक्तिमार्ग पर चलते हैं वे विघ्नों को ठोकर मारकर निश्चय के साथ भगवत्पद प्राप्त करते हैं। इसके बाद राजा ने अभक्तों की गति के बारे में प्रश्न पूछा। इस पाँचवें अध्याय में अभक्तों का लक्षण और उनकी गति का निरूपण कर, विभिन्न युगों में श्रीहरि पूजाविधान किस प्रकार का रहता है इसका भी विवेचन करेंगे। अवतार चरित्र और पराक्रम सुनाकर चौथे अध्याय का समापन किया। अब राजा मुनियों से अभक्तों के लक्षण पूछ रहा है।

राचोवाच

भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः।
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाविजितात्मनाम्॥ १॥

राजा ने कहा, हे दयानिधि मुनिश्रेष्ठ! जो भगवद्भजन को पीठ दिखाता है, ऐसे अभक्त मनुष्य को कौन सी गति प्राप्त होती है? जो काम के कारण मदांध हो गये हैं, क्रोध से संतप्त हो गये हैं, अतिलोभ से लालची हो गये हैं और सर्वदा प्रपंच में रम गये हैं, उसी प्रकार जो घमण्ड के पुतले तथा अहंकार के शिरोमणि हैं, विकारों का ढेर और विकल्पों की खुली खान हैं, जिनकी सद्बुद्धि की आड़ में महामोह का गहरा बादल आया हुआ है, जो कपट में अत्यन्त कुशल, लोभ से ग्रस्त हैं जिस प्रकार चमगादड़ दिन के उजाले में जो नहीं दिखायी देता उसे अँधेरे में देखते हैं, उसी प्रकार वे परमार्थ के मामले में अन्धे किन्तु प्रपंच में महापण्डित होते हैं, जिन्हें आत्महित समझ में नहीं आता और ज्ञान बेचकर व्यर्थ का काम बढ़ाते हैं ऐसे जो अभक्त हैं उनकी कौन सी गति है यह मुझे बतायें। आप जैसे बुद्धिमान और बोध के चलते-फिरते महासागर आज मेरे भाग्य से मुझ मिले हैं, इसलिये मुझे निश्चयपूर्वक इन प्रश्नों का उत्तर बतायें। इस प्रकार जब राजा ने अभक्तों के लक्षणपूछे तो उसका उत्तर देने के लिये 'चमस' अत्यन्त प्रसन्नता से आगे बढ़ा।

चमस उवाच

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥ २॥

चमस ने कहा—जो सारे जगत का जनक है वही एकमेव प्रमुख गुरु है, उसे जो पुरुष नहीं भजता, उसका सर्वस्व नष्ट हो गया समझिये। चारों आश्रम और चारों वर्ण उसी मूलपुरुष से उत्पन्न हुए हैं। हे राजाधिराज! उनकी उत्पत्ति का स्थान सुन लो। मुख से वेदवेत्ता ब्राह्मणों का जन्म हुआ। बाहुओं से क्षत्रिय पैदा हुए,जाँघों से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वैश्यवर्ण उत्पन्न हुआ और शूद्र वर्ण का जन्म स्थान चरण है। मूलरूप में गुण तो तीन ही हैं और गुणों के कारण ही वर्ण बने हैं, तो फिर तीन गुणों में से चार वर्ण कैसे उत्पन्न हुए? (उत्तर देते हैं) शुद्ध सत्त्वगुण से ब्राह्मण उत्पन्न हुए, सत्त्व और रज के मिश्रण से राजा अर्थात् क्षत्रिय हुए, रज और तम मिलकर वैश्य वर्ण हुआ और तमोगुण से शूद्रवर्ण हुआ। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण 'द्विजन्मा' अर्थात् उपनयन संस्कार के कारण दो बार जन्म लेते हैं, उन्हें गायत्री मंत्र का तथा वेदाध्ययन का अधिकार है, लेकिन शूद्र संस्काररहित हैं। ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम ये इन तीनों वर्णों को प्राप्त हैं किन्तु ब्राह्मण इन चारों आश्रमों को आश्रयभूत होते हैं। गृहस्थाश्रम यह उस विराट पुरुष के चरण स्थान पर, ब्रह्मचर्याश्रम हृदय स्थान पर, वानप्रस्थाश्रम वक्षःस्थान पर तथा संन्यासाश्रम यहाँ शिरस्थान पर रहता है।

य एषां पुरूषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्तवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥ ३॥

जरा देखिये, इन ब्राह्मणादि वर्णों को जिससे जन्म प्राप्त होता है, उस देवाधिदेव का यदि भजन नहीं किया तो प्राप्त हुए उत्तम देह का अधःपात होने लगता है। पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा तथा उसी प्रकार विविध शास्त्रों के विचार, उनका स्वरूप तथा सिद्धान्त आदि का विवेचन करने में पारंगत, सारांश शब्द पाण्डित्य में अत्यन्त चतुर, ऐसे पण्डित, ज्ञानाभिमान के कारण अत्यन्त उन्मत्त हो जाते हैं और सचमुच उसी अभिमान के कारण वे भजन से विन्मुख हो जाते हैं। कोई निखालस ध्यानी रहते हैं, वे स्वप्न में भी परमार्थ को नहीं पहचानते हैं। वे सचमुच अज्ञान के कारण ही परमार्थ को नहीं पहचानते। वे सचमुच अज्ञान के कारण जगन्नाथ को नहीं भजते। गन्ने के रस की मिठास बकरी नहीं जानती इसीलिये वह उसके पत्ते चबाती है। उसी प्रकार हरिभक्ति की मिठास न जानने के कारण ही बेचारे अज्ञानी लोग विषय लंपट होकर ही रह जाते हैं। किन्तु वेदशास्त्रों के अवलोकन से जो स्वयं को ज्ञाता समझ कर पण्डित होने का घमण्ड करते हैं, वे भक्तिमार्ग का अपमान करते हैं। ज्ञानाभिमान के कारण अत्यन्त उन्मत्त हो जाते हैं। ज्वरग्रस्त व्यक्ति जिस प्रकार दूध को कड़ुआ समझता है, उसी प्रकार ज्ञान के अभिमान से पण्डित लोग हरिभजन से विन्मुख हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान के अभिमान के कारण जो हरिभजन से विमुख हो जाते हैं वे चतुर्वर्ण में श्रेष्ठ होते हुए भी अधःपतन में फँस जाते हैं अधिक क्या कहें? वर्णों में श्रेष्ठ (ब्राह्मण) होते हुए भी जो हरिचरण से विन्मुख रहता है उसकी अपेक्षा भगवद्भजन प्रेम से करने वाला चांडाल भी श्रेष्ठ है। 'हम मुक्त हैं' यह कह कर वे भगवद्भजन नहीं करते, वे पश्चादि योनि में जन्म-मरण के थपेड़े सहते हुए अधःपतन की ओर अग्रसर होते हैं। मनुष्य देह प्राप्त करने पर भी जो ईश्वर भजन नहीं करते वे स्थानभ्रष्ट होकर अधःपतन से अत्यन्त कष्ट प्राप्त करते हैं और घोर यातनायें भुगतते हैं। ज्ञानाभिमान के कारण जो भजन नहीं करते हैं, उनका भयानक अधःपात होता है इसलिये हे राजा! अज्ञानियों की भी वही गति होगी ऐसा मत समझो।

दूरेहरिकथाः केचिद् दूरेचाच्मतकीर्तनाः।
स्त्रीयः शूद्राददयश्चै वतेऽनुकम्प्या भवादृशाम्॥ ४॥

एक ही बाप के दो पुत्र हैं, उनमें से एक प्रबुद्ध है और दूसरा बालक है, उनमें से कोई पिता का अपमान करता है तो पिता प्रबुद्ध को ही मारता है लेकिन बालक यदि पिता के सिर पर भी चढ़ता है, पिता को लात भी मारता है तो उसे दोष नहीं लगता। गलती का फल बड़े वाले को ही भोगना पड़ता है। ज्ञाता यदि भजन नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करता तो उसे महादोष ग्रस लेते हैं और जो अज्ञानी किन्तु भाविक हैं वे साधुओं के कृपानुग्रह से तर जाते हैं। अज्ञानी का विशेष दोष न होने के कारण वह केवल साधु पर विश्वास रखकर ही शुद्ध हो जाता है। ज्ञानाभिमानी का भाव विपरीत होने के कारण उसी को दोषों की बाधा होती है। अज्ञानी साधु पर विश्वास कर उसका वन्दन करता है और जो ज्ञानाभिमानी है वह दोनों की निन्दा करता है। इसलिए उसे निश्चित रूप से दोनों की बाधा होती है। साधु पर विश्वास करने से अज्ञान नष्ट होता है लेकिन ज्ञानाभिमानी के पास अनेक तर्क-वितर्क होते हैं। उन्हें किसी पर भी विश्वास नहीं होता। अभिमान की जिद के कारण ही उनका पतन होता है। इस पर ठीक तरह से विश्वास करने पर ज्ञात होता है कि अहंकार का बंधन बहुत बड़ा होता है। अभिमान जैसी झूठी और खराब वस्तु दुनिया में कोई नहीं है। अभिमान साक्षात ईश्वर के लिये भी बाधक होता है। अभिमान के ही कारण ईश्वर उपाधि से सबल होता है। अभिमान के ही कारण देहबुद्धि उत्पन्न होती है और वह सुर और नर दोनों के लिये बाधक होती है। इसलिये जो अज्ञानी होते हैं उन्हें ज्ञानाभिमान नहीं होता, यदि वे साधुसज्जनों पर विश्वास करे तो वे उन पर अनुग्रह करते हैं। जो नीच वर्ण के हैं वे शूद्र आदि जिन्हें शास्त्र अथवा वेद श्रवण का अधिकार नहीं प्राप्त है उनके मन में यदि सद्भाव उत्पन्न हुआ तो वे कनिष्ट जाति में उत्पन्न होते हुए भी सन्तों की कृपा के पात्र होते हैं। उनका अधिकार उन्हें एक विश्वास के कारण ही प्राप्त होता है (राजा जनक ने कहा) जो पूर्ण भावार्थी होते हैं उन्हें हे दयालु कृपामूर्ति! आप जैसे साधु सन्त ही अनुग्रह देकर तारते हैं। (चमसमुनि कहते हैं) इस प्रकार अज्ञानी तर जाते हैं किन्तु जिनके मन में ज्ञानाभिमान भरा रहता है उन्हें ब्रह्मदेव भी नहीं तार सकते। उनकी स्थिति भी मुनि बता रहे हैं।

विप्रोराजन्वैश्यौ च हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम्।
श्रौतेन जन्मनाऽथापि मुह्यन्त्यान्मायवादिनः॥ ५॥

जो अज्ञानी और हीन वर्ण के होते हैं, वे सन्तों के चरण पकड़ कर पूर्ण विश्वास के भरोसे जन्म-मरण की बाधा से बच निकलते हैं। बाकी जो व्रतबन्ध के कारण दो बार जन्म वाले अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं वे स्वाभाविक रूप से हरिचरणों की ओर पहुँचे रहते हैं, किन्तु हम ही अधिकारी हैं, वैदों का ज्ञान केवल हमें ही है, ऐसी अपनी अहंता के कारण वह घमण्ड में फूले रहते हैं। हमारा जन्म उच्च, हमारा कर्म उच्च, हम ही अग्रपूजा के अधिकारी हैं ऐसा पूज्यत्व का अभिमान, वेदों का उनका ज्ञान बस दिखावे भर का ही होता है लेकिन अभिमान शिखर तक पहुँचा रहता है। यज्ञोपवीत और गायत्रीमंत्र का जिन्हें पूर्ण अधिकार है जिन्हें हरि के भजन की चाह है जिनके चरण पकड़ने से हरि की भेंट हो सकती है ऐसे जो उत्तम ब्राह्मण उन्हें भी वेदों के ज्ञान का अभिमान होता है और उसी घमण्ड के कारण उनमें मोह उत्पन्न होता है। चमसमुनि उसी का विस्तार से निरूपण कर रहे हैं।

कर्मण्यकोविदाः स्तब्धाः मूर्खाः पंडितमानिनः।
वदन्ति चाटुकान्मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः॥ ६॥

विधि, विधान, मंत्र इनमें से कुछ भी समझ में नहीं आता फिर भी घमण्ड और ज्ञातापन का अभिमान कुछ मत पूछिये। मदारी के पास विद्या थोड़े ही रहती है लेकिन उसके पूरे शरीर पर तमगों की भीड़ लगी रहती है। उसी प्रकार प्रबुद्ध ज्ञान की नुमाइश करके आसन-पूजा आदि की भीड़ लगा देता है। जिस प्रकार गहरा लाल रंग देकर स्फटिक को माणिक की छवि लाने का प्रयत्न किया जाता है उसी प्रकार शुद्ध रूप से मूर्ख लोग भी ज्ञान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का झूठा अभिमान रखते हैं। उन्हें विधान की कोई जानकारी नहीं रहती और जानकार से भी वे नहीं पूछते। लोगों के बीच प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये अपने ही मत से कर्म करते हैं। मीठे-मीठे किन्तु झूठे शब्दों से वाचाल बनने का प्रयत्न करते हैं तथा भोग में जरा भी सुख नहीं है ऐसा कहने वालों को अप्सरादिक भोगों के लिये लालायित लोगों को इहलोक और परलोक का लालच दिखाते हैं। यहाँ अच्छे से अच्छे भोगों का आनन्द लिया जाये और भविष्य में स्वर्गसुख तो रखा ही है इस आशा से बेचारे यज्ञ-याग करने के पीछे दौड़ते-फिरते हैं। कर्ता भले ही खर्च करके डूब जाय लेकिन मुझे आचार्यत्व मिले ऐसी उनकी बुद्धि रहती है। ऐसी बुद्धि से वे यज्ञ के लिये प्रयत्न करते हैं। अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये अनेक प्रकार की कर्मचेष्टायें करते हैं और कर्मारम्भ का बहुत बड़ा समारोह करने का भारी-भरकम प्रयास करते हैं। जिस प्रकार शराबी शराब को अमृत समझता है और उसकी बात मधुर समझ कर अन्य लोग स्वाद लेने की इच्छा से मद्यपान की ओर प्रवृत्त होते हैं। लेकिन उससे क्या होता है? एक तो शरीर पर अपना संयम टूट जाता है और तत्काल दारिद्र्य और पिशाचातत्व का संचार होता है। उसी प्रकार अधःपतनात्मक सुख को ही स्वर्गसुख मान लेते हैं और जो फल की आशा से लंपट हो जाते हैं वे जान-बूझ कर उस काम की ओर प्रवृत्त होते हैं। कीड़ा दीवार फाँद तो नहीं सकता लेकिन उस पर चढ़ने का प्रयत्न तो करता ही है और अपने आप गिर पड़ता है। उसी प्रकार स्वर्ग सुख के लिये भी पतन निश्चित है। कर्म की आसक्ति से काम और लालच की अत्यधिक वृद्धि होती है जिससे ढोंग करना आवश्यक हो जाता है और उस ढोंग में क्रोध भी अचानक बढ़ता है।

रजसा घोरसंकल्पाः कामुका अहिमन्यवः।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान्॥ ७॥

लेकिन इसके लिये बेचारे वे भी क्या करेंगे? उनका शुद्ध सत्त्व ही नष्ट हुआ रहता है इसलिये वे रजोगुण से काम की ओर आकर अत्यन्त कामासक्त हो जाते हैं। उस समय अप्सराओं के भोग की इच्छा बलवती होकर स्वर्गसुख की प्रीति बढ़ने लगती है इसलिये यज्ञ आदि प्रारम्भ कर पुण्य बढ़ाने का प्रयास शुरू हो जाता है। तब वे तंत्र-मंत्र, शुद्धि, द्रव्यशुद्धि अथवा यज्ञयाग का विधि भी नहीं देखते जिससे स्वर्ग प्राप्ति तो नहीं ही होती, उलटे इस अविधि कृति से वे ठगे अवश्य जाते हैं। जिस प्रकार अंबील अथवा माँड पूरी तरह पकने के बाद कड़ुई हो जाती है, उसी प्रकार कामी पुरुषों की इच्छा अर्थात् काम तृप्त न होने से उनके शरीर में क्रोध भड़क उठता है। या जिस प्रकार घीकुआर पकने पर उसकी कड़ुवाहट बढ़ती जाती है, उसी प्रकार काम का भंग होने पर क्रोध भड़क उठता है। क्रोध सचमुच ही कालसर्प है। वे द्वेष की फुफकारें छोड़ता रहता है। वह पूज्यता की कुण्डली बना कर बैठता है और साधु निन्दा की हवा बहाता है। तो यही क्रोध का निवास है। इस स्थान पर तम की पंचायत बैठती है और देश के खोटे सिक्के वहाँ बिकने के लिये आते हैं। फिर जो भी राह में मिलता है उसे जन्म-मरण के प्रयोग की लत लगाकर खेचरी, भूचरी आदि बाह्य मुद्रा दिखाकर पापकर्म से पाप की प्रवृत्ति बढ़ाता है। मुँह से स्वधर्म का पाठ अवश्य पढ़ता है लेकिन अधर्म की खदान खोल कर शुद्ध झूठ कर्माचरण करता है। इससे पापाचार की फसल पक कर गगन को छूने लगती है। उस समय अच्छे और बुरे एक ही बाट से अधर्म की तराजू में तौले जाते हैं। अभिमान को आश्रय देकर ज्ञानाभिमान बढ़ाते हैं और फिर साधुजनों की निन्दा करते हैं, और सज्जनों का उपहास करते हैं। संसार में वे सबमें दोष ही देखना शुरू करते हैं। यदि उसमें कोई निर्दोष दिखायी देता है तो उसका मजाक उड़ाते हैं और उस पर अनेक प्रकार के आरोप मढ़ते हैं। इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकार जो अभिमान के नशे में रहते हैं उन्हें पाप बुद्धि की बाधा होती है। वे सहज बात भी करते हैं तो उसमें हमेशा साधुओं की निन्दा ही भरी रहती है। जो श्रीहरि के प्रिय हैं वे सदा हरि की भक्ति करते हैं उनका वे हमेशा उपहास करते हैं, उनके गुणों की चर्चा भी दोषों के ही रूप में करते हैं। ब्राह्मण जब हरि का नामस्मरण करने लगते हैं तो उसे 'अधर्म' कहते हैं। नामसंकीर्तन का गजर सुन कर ये उसे 'महापाप' कहते हैं। जो इस प्रकार हरिनाम की निन्दा तथा उसके प्रति दुर्बुद्धि रखने वाला होगा उसे वास्तव में दुष्ट और भजन वैरी चांडाल समझना चाहिये।

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो गृहेषु मैथुन्यसुखेषु चाशिषः।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं वृत्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः॥ ८॥

स्त्रीकाम में बेचैन, मैथुन के सिवा अन्य कहीं सुख नहीं है इस भ्रमात्मक कामासक्ति से मूर्ख बने लोग निश्चय ही स्त्रियों की ही उपासना करते हैं। इस प्रकार मूर्ख लोग शब्दचातुरी से अपनी मूर्खता का वर्णन करते हैं कि विविध प्रकार की भोगविधि से स्त्रियों का उपभोग करने में ही मनुष्य जन्म की सिद्धि है। स्त्री समागम में जो प्रत्यक्ष सुख मिलता है उसे जो छुड़ाना चाहते हैं वे महामूर्ख हैं। उन महामूर्खों ने वैराग्य के नाम पर अनेक लोगों को ठगा है। घर के अनेक भोगविलास और सुन्दर स्त्री को छोड़कर जिन्हें वैराग्य की उत्कट इच्छा होती है, उन्हें उनका कर्म ही सजा देता है और उनका भाग्य ही उनका सर्वस्व लूट कर उन्हें जंगल में भेजता है। क्या गृहस्थाश्रम में भगवान नहीं हैं? इसीलिये पागल की तरह जंगल की ओर दौड़ते हैं? ईश्वर यदि जंगल में ही होता तो हिरन, खरगोश और व्याघ्र क्यों नहीं तर जाते? आसन पर बैठ कर ध्यान करने से ही यदि ईश्वर की प्राप्ति होती तो शुतुरमुर्ग के झुण्डों का क्यों नहीं उसी क्षण उद्धार हो जाता? एकान्त गुफा में रहकर यदि ईश्वर की प्राप्ति सम्भव होती तो बिल में रहने वाले चूहे भवसागर पार न कर चीं-चीं करते क्यों फिरते? ईश्वर बहुत बड़ा सर्वज्ञ है। उसने पशु-पक्षियों के युगल ही बना दिये हैं लेकिन लोगों ने उस परमेश्वर को ही पागल बनाकर सर्वसंगपरित्याग की महिमा इतनी बढ़ा दी है। 'आनन्द का स्थान जननेन्द्रिय है' यह ईश्वर का ही वेद में वचन है लेकिन अज्ञानी लोग उसकी परवाह न कर त्याग को ही महिमामण्डित करते हैं। ईश्वर ने ही मैथुन में परमानन्द भर दिया है लेकिन मूर्ख लोग उसका भी त्याग कर वैराग्य लेकर संन्यासी बनते हैं। संसार में जो पागल हैं वही स्वयं संन्यासी होते हैं। भगवान ही उन्हें दण्ड देकर घर-घर भिक्षा माँगने के लिये भेजता है। अपनी स्त्री को त्याग कर जो कर्म छोड़कर संन्यासी बनते हैं उन्हें स्त्री शाप की बाधा होकर पेट भर भीख भी नहीं मिलती। उन्हें यह दण्ड मिला है। मूंछे और सिर मुंडवा कर भगवा वस्त्र लपेट कर घूमना यह विडम्बना भी स्त्री शाप के ही कारण है। दोनों हाथों में ढेर सारी मिट्टी लेकर वे गुदा में लगाते हैं और तीनों पहर गोता लगाते हैं। ऐसा दण्ड उन्हें स्त्रीशाप के ही कारण मिला है। चूतड में लंगोटी लगा दी, हाथ में झोली लटका दी, तिस पर हाथ में दण्ड देकर स्त्री शाप के कारण भीख माँगने के लिए भेज दिया। स्त्री सुख जैसा कोई सुख नहीं है और स्त्री त्याग जैसा कोई पातक नहीं है यही न समझने के कारण अनेक मूर्खों ने वैराग्यरूप से सर्वसंगपरित्याग कर स्वयं दण्ड भुगत लिया है। स्त्री संग के सिवा अन्य कितने ही सुख क्यों न हों लेकिन वे उद्वेगरूप ही हैं। सौभाग्य से जो भाग्यसम्पन्न हैं वही स्त्री संगति से अनेक प्रकार के सुख विलास भोगते हैं। सदासर्वदा इच्छित भोग प्राप्त होना यही ईश्वर का प्रसाद है और उसका त्याग करना यही ईश्वर का क्षोभ है। प्रत्यक्ष दिखायी देने वाले स्त्रियादि भोग छोड़ कर मोक्ष की बात करना ही झूठ है। वेदों के वैराग्यवाद ने बेचारे भोले-भाले लोगों का विनाश कर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दिया है। इस प्रकार की परस्पर चर्चा करने के बाद वे कहते हैं "गोविन्दा! हमें कभी त्याग करने की बुद्धि न देना। सर्वस्व का त्याग कर भीख माँगने से मर जाना अच्छा है। मुक्ति तो किसी ने नहीं देखी है लेकिन आज की विपत्ति तो अभी दिखायी पड़ती है। किसी को मुक्ति प्राप्त हुई दिखायी देती, कहीं दिखायी पड़ती तो उसे सच माना जा सकता था, लेकिन वैसी बात नहीं है, इसलिये वैराग्य से सर्वस्व का त्याग करने की बात व्यर्थ है।" इस प्रकार त्याग की निन्दा कर वे हमेशा भोग की ही बात करते हैं और परस्पर इसी प्रकार का आशीर्वाद देते हैं। स्त्रीसुख को ही अत्यन्त श्रेष्ठ मानकर हमेशा स्त्रैण बन कर रहते हैं। फिर क्या पूछना? जागृति में, स्वप्न में तथा सुषुप्तावस्था में सदा स्त्री का ही ध्यान करते हैं। न सद्गुरु का भजन करते हैं, न बड़ों की पूजा, न अतिथि को अन्नदान, हमेशा स्त्रियों के अधीन रहते हैं। कहीं स्त्री के मन को ठेस न लगे, कभी स्त्री के वचन का उल्लंघन न हो, नित्य स्त्री का ही अनुसंधान कर उसके अनुसार आचरण करते हैं। हमेशा सद्भाव से स्त्री की ही आराधना करना। न कुलदेवता का ध्यान, न कुलवृत्ति की चिन्ता, न माता, पिता अथवा सद्गुरु की भक्ति। रुपया, पैसा सब कुछ पत्नी के अधीन सौंप कर स्वयं उसके अधीन होकर रहते हैं। ऐसे ये स्त्रीलंपट लोग स्त्रीभोग भोगने के उद्देश्य से द्रव्यार्जन करने के लिये केवल अहंकारवश उदरभरण के लिये ही यज्ञयाग का प्रारम्भ करते हैं। यज्ञ से मुझे सभी प्रकार की सिद्धि प्राप्त हो ऐसा विचार भी उस दंभी के मन में नहीं रहता। केवल तात्कालिक निर्वाह का साधन मिले इसी युक्ति की योजना की रहती है। यज्ञ की दीक्षा लेकर हाथ में यज्ञ का कंगन पहनने से समाज में मेरी प्रतिष्ठा बढ़ेगी, मैं बड़े-बड़े लोगों के बीच पूजनीय बनूँगा, मुझे अग्रपूजा का सम्मान प्राप्त होगा ऐसी उत्कट इच्छा मन में रखकर ही वह यज्ञ का प्रारम्भ करता है। निर्वाह तथा प्रतिष्ठा के अनेक विचारों की योजना मन में पहले से ही करके रखता है और फिर यज्ञयाग की शुरुआत करता है। लेकिन इस काम में भी धन कमाने का ही उसका दृढ़ निश्चय रहता है। विधिविधान की ओर उसकी दृष्टि नहीं रहती। शुद्ध मंत्रोच्चार के प्रति आदर नहीं रहता। अन्न को बिना पकाये, सूखे अनाज से ही वह हवन करता है। मैं स्वयं यज्ञ कर रहा हूँ इस प्रकार वह जनता में प्रचार करता है और यज्ञ के बहाने अपने कुशल मंगल को देखता है। स्वयं तो विधि विधान नहीं जानता लेकिन जो जानते हैं उनसे भी नहीं पूछता। लेकिन ऐसे शठ, ढोंगी लोग पशु को मारने के लिये उद्यत हो जाते हैं। फिर यज्ञ का पुरोडाश अर्थात् पशु के मांस का हवन द्रव्य शेष मजे में ग्रहण करते हैं और अपने पवित्र होने की, निर्दोष होने की घोषणा करते हैं। जहाँ देवता के आवाहन और विसर्जन का ही ठिकाना नहीं है वहाँ पूजा और दक्षिणा किसे दी जाये? हाँ, अपने ज्ञान के अभिमान से सत्पात्र का अनादर और अवहेलना अवश्य करते हैं। केवल उपजीविका के लिये पशु की हिंसा करने लगते हैं और स्वयं याज्ञिक-यज्ञकर्ता होने का ढिंढोरा पीटते हैं। केवल जीविका के उपार्जन के लिये अविधि से हिंसा करते हैं। इससे मुझे पाप लगेगा ऐसी चिन्ता भी उसके मन को नहीं छूती।

श्रिया विभूत्याऽभिजनेन विद्यया त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।
जातस्यमेनान्धधियः सहेश्वरान् सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः॥ ९॥

ऐसा क्रम चलता रहता है। तिस पर यदि और सम्पत्ति मिल जाय तो फिर क्या पूछना? मदमस्त हाथी की तरह वह घमण्ड में चूर होकर डोलने लगता है अथवा नाले में बाढ़ आने पर वह जिस प्रकार सूखे पेड़ों को बहा ले जाता है अथवा वानर के मुँह में शराब लगने पर वह जिस प्रकार बहक कर बड़बड़ाने लगता है उसी प्रकार सच्चा ज्ञाता मैं हूँ, यह समझ कर वह उलटा-सीधा नाचने लगता है। मेरे सामने दूसरा कोई ज्ञानी है ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कौन? और कहीं सौभाग्य से सुवर्ण, मोती, रत्न आदि मूल्यवान चीजें भण्डारगृह में आ जाएँ और घर के परिसर में हाथी, घोड़े, पालकी आदि आ जाएँ तो फिर और क्या चाहिये? वह घमण्ड के कारण इन्द्र के मस्तक पर लात मारने के लिए भी तैयार हो जाता है। "यज्ञयाग में स्वाहाकार प्राप्त करने के लिए इन्द्र मुझ से आशा करता है तो फिर उसे मुझसे श्रेष्ठ क्यों समझा जाय? इसके उपरान्त शिष्य, सगे-सम्बन्धी, सज्जन एवं सेवकजन उसके चारों तरफ इकट्ठा हो जाएँ तो फिर त्रिभुवन में मुझ जैसा कोई समर्थ नहीं है ऐसा ही वह समझने लगता है। काँटों से भरे पेड़ के चारों ओर जिस प्रकार हरियाली लिपटी रहती है उसी प्रकार अपने चारों ओर शिष्यों का जमावड़ा देखकर घमण्ड में वह ध्रुवमण्डल को भी अपने पैरों तले ही समझता है। बिच्छू में विष कम रहता है लेकिन उसका दर्द भयंकर रहता है उसी प्रकार इसके पास विद्या कम लेकिन घमण्ड मानों बहता रहता है। जुगनू जिस प्रकार अँधेरे में अपने तेज की चमक दिखाता है, उसी प्रकार वह अज्ञानी लोगों में अपनी सर्वज्ञता तथा प्रतिष्ठा प्रदर्शित करने लगता है। पर निकली हुई चिउंटी जिस प्रकार गरुड़ के मस्तक पर पैर धरने का प्रयास करती है उसी प्रकार यह अल्पज्ञ अपनी अल्प विद्या के घमण्ड में बृहस्पति की भी परवाह नहीं करता। ताँबे के पैसे का एक सिक्का दान में देकर वह उदारता में बली को भी अपने से कम मानता है। वह कहता है—दानियों में कर्ण को महान समझा जाता है लेकिन हमारे सामने वह नहीं टिक सकता। कर्ण को हर रोज ८०००० तोला सुवर्ण दान के लिये मिलता था, उसकी और हमारी बराबरी कैसी? जिसके हाथ से हमेशा अपकार ही होता है उसके हाथ से कभी-कभी उपकार भी हो जाता है लेकिन इतनी सी बात से उसे गलतफहमी हो जाती है और वह अपना सारा संचित पुण्य खो बैठता है। इस प्रकार जरा से दान से दातृत्व की शेखी बखारते हुए अपने ही मुँह से मेघ की तरह गर्जना करने लगता है। अपने सौन्दर्य के अभिमान में वह साक्षात मदन का भी उपहास करने लगता है। सौन्दर्य केवल मुझ में ही है और मेरी बराबरी करने वाला कोई दूसरा नहीं है ऐसी भाषा वह बोलने लगता है। कौआ अपने सौन्दर्य के आगे राजहंस को भी हेय समझता है अथवा कछुई अपने को सीता से भी सुन्दर समझती है या जिस प्रकार सामने हरा भरा जंगल देखकर भैंसा उन्मत्त हो जाता है उसी प्रकार अपने सौन्दर्य के गर्व से वह फूल जाता है और इसके बाद यदि उसके हाथों कोई पराक्रम हो जाय तो फिर क्या पूछना? कहता है मेरे सामने श्रीराम, परशुराम और बलराम क्या हैं? मानों गोग्रहण के युद्ध में उत्तराने किये हुए पराक्रम का वर्णन हो रहा हो। या फिर जिस प्रकार शारीरिक बल के उन्माद से जंगली सुअर किसी को कुछ नहीं समझता उसी प्रकार वह शरीर सामर्थ्य की घमण्ड में मदमाता रहता है। ऐसे लोग प्रारम्भ से ही अपने को ज्ञानी समझते हैं, और अब 'याज्ञिक' कहला कर प्रसिद्ध होते हैं। इसलिए स्वयं यज्ञकर्म कर लोगों को विस्मित कर देते हैं। मिलने के लिये आने वाले लोगों के सामने अपने कार्यों की बड़ाई करते हैं तथा अपनी कीर्ति बढ़ाने के लिये अनेक उपाय कर लोगों को बताते हैं। उसके ऐसे मिथ्या कर्माचार में भी ज्ञातृत्व का अभिमान भरा रहता है। जिस प्रकार उल्लू अँधेरे में बाहर निकलता है उसी प्रकार ये अज्ञजनों के बीच आत्मस्तुति से विचरते रहते हैं। बकरी की लेंडी जलने पर प्रकाश नहीं देती लेकिन धुआँ फैलाती है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के दंभ तथा गर्व के उन्माद से उनकी सद्बुद्धि अन्धी होकर वह केवल साधुओं की ही नहीं बल्कि ईश्वर की भी निन्दा करता फिरता है। जिस प्रकार पीलिया होने पर सब कुछ पीला ही दिखायी पड़ने लगता है उसी प्रकार निन्दावृत्ति तथा घमण्ड के अतिरेक से उसकी बुद्धि की प्रखरता मन्द होने लगती है। वे निर्दोषी को भी दोष लगाने लगते हैं और निष्पाप को भी पापी समझने लगते हैं। वे कहते हैं—जो समस्त योगियों का मुकुटमणि है, जिसे भूतभर्ता अर्थात् शंकर कहते हैं, उसका व्यवहार देखने पर वह नितांत मलिन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दिखायी देता है। उमा क्रोध में अग्नि में कूद पड़ी इसलिये उतने याज्ञिक का शिरच्छेद किया और वह कामांध तो इतना था कि मोहिनी को प्राप्त करने के लिये वह उसके पीछे नग्न होकर दौड़ने लगा। विष्णु तो हमेशा से ही कपटी था उसमें कोई भी अच्छी बात नहीं दिखायी देतीं। बेचारी वृन्दा कितनी पतिव्रता थी लेकिन उसने उसे भी व्यभिचारिणी बनाकर छोड़ा। ऐसा व्यभिचारी विष्णु जिस वृन्दा के वृन्दावन में वास करता है, उस वन में जो जटादाढीधारी लोक एकत्र होते हैं उन्हें भी हम साधु कैसे मानें? यदि सनत्कुमार को साधु कहा जाय तो उन्हें भी वैकुण्ठ में अत्यधिक क्रोध आया और उन्होंने श्रीहरि के सेवक जय विजय वीर को अधिक शब्द कहने के कारण शाप दे डाला। यदि ब्रह्मदेव को श्रेष्ठ कहें तो वह भी हीन और निर्लज्ज है। शंकर के विवाह में पार्वती को देखकर 'सावधान' कहते ही उसका वीर्य स्खलित हो गया। नारद बहुत बड़ा ब्रह्मचारी था लेकिन उसने भी जब कृष्ण से उसकी स्त्री माँगी तो कृष्ण ने उसे अच्छी तरह फँसाया। वह स्नान कर रहा था उस समय नारद की नारदी बनकर साठ पुत्रों को जन्म दिया। जिस युधिष्ठिर को साक्षात 'धर्म' कहते हैं वह भी निखालस अधर्मी है क्योंकि उसने गोत्रजों की हत्या का प्रयास किया। व्यास तो जारिणी का पुत्र था और उसी कर्म के कारण पराशर भी हीन सिद्ध होता है। वसिष्ठ और विश्वामित्र के परस्पर द्वेष और ईर्ष्या की बात ही न करें। यदि दुर्वासा को साधु कहें तो वह भी अम्बरीष का छल करने गया था। प्रह्लाद ने तो खुलेआम पितृद्रोह किया, फिर उसे भी साधु कैसे कहा जाय? तो फिर वर्तमान काल में साधु कोई नहीं है ऐसा यदि वे सोचते हैं तो इसमें आश्चर्य किस बात का? वे कहते हैं "कुछ तो अद्‌भुत सुनकर लोग एक के पीछे दौड़ने लगते हैं। कुछ लोग पेट के लिए कुछ तो बकते रहते हैं। कोई आसन पर बैठ कर मुद्रा लगाते हैं, कोई बगुले की तरह ध्यान लगाकर बैठते हैं लेकिन मन जिस पर विश्वास करे ऐसा एक भी साधु नहीं दिखायी देता।" इस प्रकार वे जानबूझ कर साधुओं की निन्दा करते रहते हैं। संसार में कोई साधु भी है इस बात पर उन्हें विश्वास नहीं होता। जिस प्रकार बकरे के सामने दर्पण रखने से वह आगबबूला हो उठता है उसी प्रकार साधु का नाम सुनते ही उसका पारा चढ़ जाता है। जो हरि के अत्यन्त प्रिय हैं उनसे वह घृणा करता है। जिस ईश्वर के आदेश से वे विचरण करते हैं उसे ईश्वर मानने को वे तैयार नहीं होते। हे राजा! ऐसे उस ईश्वर के बारे में तुम्हें बताता हूँ।

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं यथा स्वमात्मानमभीष्टमीश्वरम्।
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया॥ १०॥

जो समस्त प्राणियों में भेदभावरहित तथा सदैव अखण्ड भरा रहता है, जो सब में समसमान रूप से रहता है, कल्पांत में भी कभी न्यून नहीं होता, जो सब में सर्वकाल रहता है लेकिन व्यापकता उसे स्पर्श नहीं करती, जिस प्रकार कमलपत्र जल में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है उसी प्रकार सभी लोगों में रहते हुए भी उसका लोकव्यवहार से सम्बन्ध नहीं रहता। हे राजेश्वर! आकाश जिस प्रकार सभी पदार्थों को अंतर्बाह्य व्यापते हुए भी उनसे अलिप्त रहता है उसी प्रकार अलिप्तता कायम रखते हुए वह अनन्त ब्रह्माण्ड की रचना करता है और अकर्ता रहते हुए भी उन असंख्य ब्रह्माण्डों को अपने स्वरूप में चलाता है। इसीलिये उसे वेदों में अंतर्यामी के नाम से जाना जाता है। वही सभी के हृदयों में स्थित चैतन्य के रूप में पहचाना जाता है। ऐसे उस ईश्वर का निरन्तन ध्यान किया जाय, मन में चाह रखकर मुख से उसका नाम लिया जाय तो वह अभीष्ट पूर्ति की अखण्ड वर्षा करता है। उस ईश्वर की कथाओं का गायन करने से समस्त संकटों का नाश होता है। उसे देखने से वह प्रसन्न होकर स्वानंद की वर्षा करता है। सारांश यह कि सुखदाता भी वही है और शास्ता भी वही है। काल का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नियंता भी वही है। उसके भय से काल भी अपनी इच्छा से अपनी सत्ता नहीं चला सकता। उसके भय से प्राणियों का श्वासोच्छास नियमित समय से चलता रहता है, उसके भय से वायु भी आकाश में मंद गति से तथा निश्चित परिमाण में बहता रहता है। उसके भय से पृथ्वी जल में रहते हुए भी समुद्र उसे अपने में घोल नहीं सकता। उसकी आज्ञा से सूर्य ठीक ढंग से दिनमान चलाता है और जिसकी पुरातन आज्ञा से सूर्य अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता। वेद जिसका सदा गायन करते हैं, उपनिषद जिसका वर्णन करते हैं, जिसकी यशगाथा दुष्ट बुद्धि के लोग कभी कान से भी नहीं सुनते। जिसके नाम का स्मरण करने मात्र से समस्त पापों का विनाश होता है, यम भी जिसके चरण छूता है और जो भक्तों को जन्ममरण से मुक्त करता है, जिसका चरित्र कर्णपथ पर पड़ते ही विकल्प रसातल में पहुँच जाते हैं और देखते-देखते परब्रह्म से एकत्व प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह पवित्रता की मूर्ति जिसका वेद सर्वकाल स्तवन करते हैं, उसकी कीर्ति का श्रवण न कर ये अभागे लोग केवल मनोरथ की बातें करते रहते हैं। रीछ जब अपने गुर्राने में मगन रहता है उस समय उसे जिस प्रकार रणभेरी की आवाज नहीं सुनायी देती उसी तरह हरि के गुणानुवाद न सुन वे अत्यन्त रुचि से विषय की ही चर्चा करते रहते हैं। इसीलिये वे नितांत मूर्ख, उद्धत तथा हमेशा सुस्त और विषयांध होकर क्षुब्ध बने रहते हैं।

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥ ११॥

वेदों द्वारा प्रेरित न होते हुए भी सभी लोगों की सदासर्वकाल विषय के प्रति सहज ही वासना रहती है। मांसभक्षण, मद्यपान तथा स्त्रीसहवास इन बातों के प्रति लोगों की हमेशा तीव्र वासना रहती ही है। उसमें सेवन करने योग्य क्या है और क्या नहीं है इसका विचार कौन करता फिरेगा? एक बार विषय का चस्का लग जाय तो फिर वे लोग अनर्थ करने के लिये आगापीछा नहीं देखेंगे। कपास में जब आग लग जाती है तो वह बुझने का नाम नहीं लेती उसी प्रकार विषय लंपट पुरुष के मन में विवेक सहसा उत्पन्न नहीं होता। मछली जब बंसी में लगे मांस की ओर आकर्षित होती है तो फिर वह अपनी मृत्यु के बारे में भूल जाती है या बन्दर मुट्ठी भर चने के लालच में स्वयमेव नलिका में फँस जाता है या जिस प्रकार दूध मिल जाने पर बिल्ली इस बात का विचार नहीं करती कि वह ब्राह्मण के घर का है या अंत्यज के घर का, उसी प्रकार विषय में उन्मत्त लोग क्या सेवन करने योग्य हैं और क्या नहीं हैं इसका विचार नहीं करते। इस प्रकार बढ़ती हुई विषय वासना के कारण कहीं भविष्य में वर्ण समस्या न उत्पन्न हो इसलिये वेदों ने धर्म और आश्रम इस प्रकार विभाग बना दिये। पृथ्वी का पृष्ठ भाग विशाल होने के कारण वहाँ सप्तद्वीप बना कर उन भिन्न-भिन्न विभागों पर विभिन्न अधिकारियों की व्यवस्था की। वर्षा चारों ओर नियोजित ढंग से नहीं होती इसलिये वर्षा का जल बाँध बनाकर तालाबों तथा जलाशयों में एकत्र करते हैं। फिर खेती के लिये उस जल को उपलब्ध कराने के लिये नहरें बनाते हैं। वाद्यकार जिस प्रकार बाँस से वाद्य तैयार करते हैं और फिर विविध प्रकार की मधुर ध्वनि से उस वाद्य को बजाया जाता है उसी प्रकार विषय की लत से कहीं लोग उच्छृंखल न हो जाएँ इसलिये वेदों ने वेदों ने नियम बना दिये हैं। उस वेदाज्ञा के बारे में तुम्हें बताता हूँ। योनिभ्रष्टों पर नियंत्रण रखने के लिये स्त्रीसंग के लिये विवाह संस्कार का बन्धन लगाया तथा विशिष्ट वर्णों की योजना कर उस पर नियंत्रण किया। यदि ब्राह्मण धोबिन के पास जाता है तो उसे वह संभोग कड़ुआ नहीं लगता अथवा यदि धोबी ब्राह्मणी के पास जाता है तो वह स्त्रीसंग उसे तीता नहीं लगता। किन्तु चाहे जो स्त्री और चाहे जिस पुरुष का संयोग होने से वर्णसंकर उत्पन्न होता है इसे टालने के लिये वेदों ने विवाह की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

व्यवस्था की। धर्मपत्नी बनाने के लिये पाणिग्रहण करना हो तो सजातियों में ही विवाह होना चाहिये ऐसा निश्चित किया गया है। उसमें भी स्वगोत्र में विवाह नहीं करना चाहिये और परगोत्र में भी सप्तम पंचम छोड़कर (बाप की सात तथा माँ की पाँच पीढ़ियाँ त्याग कर) विवाह करना चाहिये। तीन वर्ण और तीन वेद छोड़कर अर्थात् उनमें मिश्रता न उत्पन्न हो इसका ध्यान रखकर सवेद तथा सवर्ण में ही विवाह करना चाहिये ऐसा निश्चय वेदों ने कर रखा है। जो सवेद और सवर्ण हो और जिसे अभी रजोदर्शन न हुआ हो ऐसी कन्या उसके पिता से माँग कर ही यथाविधि विवाह करना चाहिये। धर्म, अर्थ और काम किसी अन्य स्त्री के साथ नहीं करूँगा यह शपथ लेकर ही वेदोक्त रीति से विवाह करना पड़ता है। वधुवर द्वारा पाणिग्रहण करते समय ब्राह्मण, देवतागण तथा अग्नि साक्षी के रूप में रहते हैं इसलिये अन्य स्त्रियों को माता के समान मानना चाहिये। वेदों ने पुरुष के लिये स्वस्त्रीगमन ही निश्चित कर रखा है। इस प्रकार विवाह की व्यवस्था कर वेदों ने यह आज्ञा दी है कि अन्य सभी स्त्रियों को त्याग कर केवल अपनी स्त्री के साथ ही रमण करना चाहिये। दिन में स्त्रीसंग नहीं करना चाहिये, रात्रि में भी पहला और अन्तिम पहर छोड़ कर मध्यरात्रि में ही संभोग करना उचित है। अपनी स्त्री से संग करना चाहिये यह निश्चित होने पर भी रातभर संग करना उचित नहीं है। केवल सन्तानोत्पत्ति के ही लिये स्त्रीसंग करना चाहिये और वह भी उस समय जब ऋतुकाल चल रहा हो। जो पुरुष ऋतुकाल में स्वस्त्री से भोग करते हैं वे सचमुच ब्रह्मचारी ही हैं। वेद निवृत्ति की ही संस्तुति करते हैं। उन्होंने त्याग के साथ भोग का नियमन किया है। 'आत्मा वैपुत्रनामासि' पुत्र के रूप में हम स्वयं ही जन्म लेते हैं। इसलिये स्त्री को पुत्रोत्पत्ति होने पर उसके साथ सहवास नहीं करना चाहिये। यह कहकर वेद धीरे-धीरे विषय का त्याग कराता है। अब मांस खाने पर वेदों ने किस प्रकार प्रतिबन्ध लगाया जरा देखें। पशु हिंसा न हो इसलिये उन्होंने उसमें अनेक संकट और प्रतिबन्ध पहले से ही लगा रखे हैं। जिह्वा की रुचि के लिये अथवा स्वर्ग प्राप्ति की आशा से जो कोई पशु का वध करेंगे उन पुरुषों को नरक प्राप्त होता है। निष्काम कर्म के लिये पशु का वध किया लेकिन वह निष्काम कहाँ हुआ? इसलिये वेदों का यह कहना है कि सभी धर्मों में अहिंसा प्रमुख है। रोज-रोज मांसभक्षण न कर सके इसलिये वेदों ने यज्ञ में बचा हुआ अवशेष ग्रहण करने के लिये कहा है और वह भी बिलकुल परिमित मात्रा में कह कर वेदों ने मांसभक्षण का निषेध ही किया है। अब मद्यपान के नियंत्रण के सम्बन्ध में बताते हैं। 'सौत्रामणि' नामक यज्ञ कर फिर मद्यपान करना चाहिये ऐसी वेद की आज्ञा को जो मानता है वह स्वधर्म से च्युत हो गया ऐसा समझना चाहिये क्योंकि जिस कर्म में मद्यपान होता है उसे यदि स्वधर्म कहा जाय तो जीभ टूट कर गिर जायेगी। बेचारे लंपट बने हुए लोग वेदों को विषयवासना की ओर घसीटते हैं। 'सौत्रामणि' यज्ञ यदि किया हो तो भी स्वयं मद्यपान नहीं करना चाहिये, यज्ञ में बचा हुआ मद्य केवल सूँघना चाहिये लेकिन मुँह में नहीं डालना चाहिये। मैथुन, मांस भक्षण तथा सुरापान ये विषयों के तीन प्रकार हैं, उनका त्याग करना चाहिये यही निश्चित अर्थ है। त्याग ही वेदों का वास्तविक उद्देश्य है। वर्णाश्रम धर्म के माध्यम से वेद विषयों से निवृत्त होने की ही बात कहते हैं। वह कभी भी विषयासक्ति की बात नहीं करता। अपना धन खर्च कर विवाह के लिये यज्ञ करने तथा मद्य, मांस और मैथुन की बात वेद करें यह सम्भव ही नहीं है।

धनं च धर्मैकफलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम्॥ १२॥

ज्ञानाभिमानी लोग भगवान की कथा न सुनने के कारण त्रस्त रहते हैं। वास्तव में वह धन से परमार्थ की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आशा करता है लेकिन वह स्वधर्म के अनुसार धन का विनियोग नहीं करता, विषयोपभोग की ही ओर करता है। वही धन यदि धर्म के लिये खर्च करना हो तो एक कौड़ी के लिये भी उनके प्राण छूटने लगते हैं। धन के रूप में साक्षात धर्म ही स्वयं प्रकट होता रहता है। जिस प्रकार भाग्यवान के सहारे निधि हाथ लगती है। उसी प्रकार धन से धर्म की प्राप्ति होती है। जहाँ बीज रहता है वहाँ वृक्ष के साथ-साथ फल भी उपस्थित रहता है। जहाँ चन्दन रहता है वहाँ परिमल भी रहता है। उसी प्रकार जल में समस्त स्वाद उपस्थित रहते हैं। जहाँ देह है वहाँ कर्म रहता है, जहाँ रूप है वहाँ नाम रहता है उसी प्रकार जहाँ धन है वहाँ अच्छे से अच्छे धर्म निवास करते हैं। एकादशीव्रत के बहाने गीत नृत्य करते जागरण करने से सन्तुष्ट होने वाले देवता द्रव्य के ही कारण भक्तों को प्राप्त होता है। इस प्रकार धन के साथ-साथ परम धर्म भी पल्ले पड़ता है और जहाँ धर्म हो वहाँ ज्ञानसहित विज्ञान प्राप्त होता है। चन्द्रमा के कारण ही कलाएँ बढ़ती हैं, जीवन के कारण वात्सल्य बढ़ता है उसी प्रकार धर्मशील मनुष्य के घर में धन के कारण धर्म का अनुष्ठान दिखायी देता है। जहाँ धर्म रहता है वहाँ शुद्ध ज्ञान उपस्थित रहता है, ज्ञान जहाँ रहता है वहाँ विज्ञान का निवास रहता है और जहाँ विज्ञान रहता है वहाँ शान्ति और समाधान का निवास रहता है। इतना फल जिस धन से प्राप्त होता है उसे मूर्ख लोग भोग विलास में उड़ा देते हैं। देह के आकर्षण से लोग पागल हो जाते हैं और अपनी मृत्यु को भी भूल जाते हैं। वेदों के अनुसार जलते घर में देह रखने वाला तथा मरने वाले देह को शृंगार करने वाला डूब जाता है, लेकिन वेद की यह बात कोई नहीं सुनता। जन्म लेते ही काल देह को ग्रसित करता रहता है। पता नहीं देह के आकर्षण में लीन होकर लोग नित्य आने वाली मृत्यु को कैसे भूल जाते हैं? सबकी आँखों के सामने काल बाल्यावस्था को ग्रस लेता है और फिर युवावस्था की गर्दन मरोड़ कर उसे भी निगल लेता है। यौवन को निगलने के बाद वह थर-थर कँपाने वाला वार्धक्य दे देता है। काल का यह कार्य-कौशल ब्रह्मदेवादि देवताओं के लिये भी दुर्धर है। उसकी एक चपेट में जहाँ अमर देवताओं को भी मृत्यु आ जाती है वहाँ मूर्ख लोग निश्चयपूर्वक अपने जीवन को अक्षय मान लेते हैं। जब देह ही शाश्वत नहीं है तो उसके भोग किस तरह शाश्वत हो सकते हैं? लेकिन विषय के लिये लोग धन खर्च कर भ्रांत हो गये हैं। इस प्रकार सांसारिक भोग नाशवान हैं इसलिये उनका भोग करने के लिये स्वर्ग में जाने की इच्छा से वे यज्ञ करने लगते हैं। सुख प्राप्त करने के लिये जिस प्रकार पतंगा आग में कूद पड़ता है उसी प्रकार ये लोग इस लोक और परलोक के भोग की आसक्ति से अधःपतन की ओर अग्रसर होते हैं। "स्त्री, मांस और मद्यपान ये भोज जब वेदोक्त हैं तो उनके कारण पतन कैसा?" यह कहने वाले मूर्खों को वेद का विधान ही समझ में नहीं आता।

यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्॥ १३॥

वेदविहित कर्माचरण करने से उससे पतन कभी नहीं होगा लेकिन यदि वेद विधान में कोई त्रुटि हो जाय तो बड़ा ज्ञानी होने पर भी उसका पतन होता है। वेदों का अर्थवाद (स्तुतिवाद) सुनकर मन में सुखविलास की आशा करते हैं और भोग की आशा से यज्ञ के बहाने पशु हिंसा के लिये तत्पर हो उठते हैं। वेदों ने जिस 'आलभन' कहा है उसे ये लोग 'पशुहनन' कहते हैं। यह सकाम लोगों का ही विधान है। निष्काम लोग कभी भी पशुहिंसा नहीं करेंगे। निष्काम स्वधर्म के लिये यज्ञयाग करते हैं उसमें पशु का केवल आलभन करना होता है, वध कभी नहीं किया जाता। पशु का वध नहीं किया जाता केवल देवता के प्रीत्यर्थ उसका स्पर्श करना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चाहिये। इसी का नाम 'आलभन' है और यही निष्काम यज्ञाचरण है। हरिश्चन्द्र के यज्ञ में (वरुण को बलि देने के लिये) 'शुन:शेप' नामक एक ऋषिपुत्र को लाया गया था उस समय (विश्वामित्र ने) उस पर शस्त्र से प्रहार न कर केवल वेदोक्त विधि से ही यज्ञसिद्धि की गयी। वेदोक्त मंत्रों से समस्त देवताओं को प्रसन्न कर शुन:शेप मुक्त हो गया ऐसी कथा ऋग्वेदार्थ ऐतरेय ब्राह्मण में आती है। इसलिये यज्ञ में पशु का वध बिलकुल नहीं करना पड़ता। हरिश्चन्द्र ने यज्ञ के लिये पशु हिंसा वर्जित कर दी थी। इस पर मीमांसाकों का ऐसा मत है कि देवताओं के लिए पशु का वध करने को ही 'आलभन' कहना चाहिये और स्वर्ग प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक ही है। जो केवल मांसभक्षण के लिये पशु का वध करते हैं उन्हें ही हिंसा का पाप लगता है ऐसा मीमांसकों का मत है किन्तु देवताओं के प्रीत्यर्थ पशु का वध करने से स्वर्गप्राप्ति भले ही हो लेकिन वह स्वर्गभोग कुछ काल के बाद कर्मक्षय के साथ नष्ट हो जाता है। इसलिये यज्ञ करने वाले को भी हत्या का पाप लगता है। अब 'सौत्रामणि' यज्ञ करने पर पुरोणाश अर्थात् यज्ञ के अवशेष को केवल सूँघने के लिये कहा गया है किन्तु मद्य का सेवन करने का विधान वेदों में नहीं है। सारांश, जिसमें पशु का वध होता है वह कर्म दोषपूर्ण है। उससे यज्ञ करने वाले का अध:पतन होता है। वेदों ने पाणिग्रहण अर्थात् विवाह का विधान किया है। लेकिन वह केवल संतानोत्पत्ति के लिये अपनी स्त्री के साथ गमन करने के लिये है। इसलिये केवल रतिसुख के लिये प्रतिदिन स्त्रीसंग किया जाय इसकी आज्ञा वेदों ने नहीं दी है। मद्य, मांस और मैथुन इनका कोई स्वेच्छा से जी भर कर उपभोग न करे अर्थात् स्वच्छंद भोग पर नियंत्रण करने के लिये वेदों ने विवाह विधि तथा यज्ञविधि की योजना की है। ऐसे शुद्ध धर्म को न जान मूर्ख लोग यज्ञ का बहाना कर अधर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं और काम्य कर्म कर भ्रमयुक्त भोगों में प्रवृत्त होते हैं।

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सद्भिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्त्रब्धाःप्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥ १४॥

ये लोग घमण्ड के अतिरेक के कारण स्वयं को अधिक बुद्धिमान समझ कर वेद का क्या विधान है इसका विचार न कर अविधि से पशु की हिंसा करते हैं। केवल जारण मारण के घृणित प्रयोग से सारे भोग प्राप्त होते हैं ऐसा मन में विचार कर स्वेच्छा से पशु की हिंसा करते हैं। इस प्रकार वे चोर रास्ते से, अकारण ही पशुओं का वध करते हैं। ये यज्ञकर्ता जब मरते हैं तो यही पशु तेज छुरी लेकर उन्हें मारने के लिये आते हैं। सारांश, जिस प्रकार प्राणी द्वारा खाया हुआ विष उसके प्राणों को ग्रस लेता है, उसी प्रकार जब यज्ञ करने वाले मर जाते हैं उस समय जिन प्राणियों का उन्होंने भक्षण किया है वही पशु परलोक में उनका भक्षण करते हैं।

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥ १५॥

श्रीहरि जो परमात्मा है वह सभी के शरीर में अंतर्यामीरूप से निवास करता है इसलिये जो दूसरे का द्वेष करते हैं वे एक तरह से हृदयस्थ परमात्मा का ही द्वेष करते हैं। सारांश जो दूसरों का विनाश करते हैं वे स्वयं ही अपना नाश करते हैं तथा सपरिवार अध:पतन की ओर जाते हैं तथा उन्हें रौरव नरक प्राप्त होता है।

ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम्।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते॥ १६॥

जो ज्ञानी हैं वे स्वयं ही तर जाते हैं और अज्ञानी ज्ञानियों की शरण में आते हैं इसलिये उनके वचन पर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विश्वास करने से उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है। किन्तु जो अज्ञानी भी नहीं हैं और ज्ञानी भी नहीं हैं, जिन्हें केवल ज्ञान का घमण्ड रहता है उनका मन विषय के प्रति क्षुब्ध होता रहता है। ऐसे ये पुरुष आत्मघाती हैं ऐसा समझना चाहिये। केवल अर्थ और काम साधने के लिये जो अभिचार कर्म अर्थात् जारण-मारण आदि कर्म करते हैं वे त्रैवर्णिक (द्विज) होते हुए भी उनका वही कर्म उनके लिये आत्मघाती सिद्ध होता है। हे राजा! शरीर के सुख के लिये जो व्यभिचार करते हैं, वे अपने उस कर्म से ही आत्मघात कर लेते हैं। जिस डाली पर बैठा है उसे जो स्वयं ही तोड़ता है वह जिस प्रकार उस डाल के साथ गिर पड़ता है उसी प्रकार काम्यकर्म की आसक्ति से उसका तत्काल अधःपात होता है।

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः॥ १७॥

अत्यधिक कामी, अत्यन्त क्रोधी तथा क्रूर कर्म करने वाले लोग स्वयं ही अपना विनाश और अकल्याण कर लेते हैं। स्वयं अविधि से कर्म करते हैं और उसे ही शुद्ध विधि कहते हैं। अज्ञान का 'ज्ञान' के रूप में प्रतिपादन करते हैं। जो काम्य कर्मों से छले गये, जिन्हें महामोह ने जकड़ लिया जो घमण्ड तथा दंभ से जकड़े गये और जिन्हें कालसर्प ने निगल लिया है, गर्व आदि के ज्वर से जिसका मुँह कड़ुआ हो गया है वे विष का सममारक विषय सुख का आनन्द से सेवन करते हैं। साथ ही अपने विषय के लिये अपने देह को ही सगा मानकर युक्तिपूर्वक धन संग्रह करते हैं।

हित्वाऽत्यायासचरिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः।
तमा विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः॥ १८॥

मृत्यु का सामना करते हुए अमीर लोग धन प्राप्त करते हैं, मकान, स्त्रियाँ, बच्चे तथा ऐसी अनेक वस्तुओं का संग्रह करते हैं। कष्ट से प्राप्त किये हुए सारे भोगविलास छोड़कर अपने ज्ञान पर घमण्ड करने वाले लोगों को उनका ज्ञानाभिमान 'अधतमस' नामक नरक में ढकेल देता है जहाँ अन्धकार की आँखें भी अन्धी हो जाती हैं वहाँ मोहरूपी रात्रि का अन्धकार उस अधतम में मिलकर और भी भयंकर हो उठता है। उस अन्धकार को प्रकाशित करने के लिये यदि सूर्य भी आये तो वह भी काला हो जायेगा। जहाँ गहरी मूढावस्था अत्यधिक मूढ़ता को प्राप्त होती है, जहाँ सुषुप्ति भी सो जाती है, जहाँ आलस्य भी अलसा जाता है वहाँ निन्दा और क्रोध भी स्थायी रूप से डेरा लगा कर बैठ जाते हैं। वहाँ भजन से विन्मुख होने वाले पुरुषों का अभिमान के कारण अधःपतन होता है। गहरे पानी में डूबा हुआ पत्थर जिस प्रकार कभी भी बाहर नहीं निकल सकता उसी प्रकार वे भी वहाँ से बाहर नहीं आ सकते। जो सदा वासुदेव से विमुख रहते हैं, जिन्हें हरि भजन में संतोष नहीं प्राप्त होता उनकी इस प्रकार अधोमुख अवस्था होकर वे दुःख में छटपटाते रहते हैं। ऐसे अभक्तों की कथा सुनाने की अपेक्षा मूक रहना अच्छा है। राजा! तुमने पूछा ही था इसलिये उनकी स्थिति के बारे में आज इतना बोलना पड़ा अन्यथा आज तक हममें से किसी ने भी अभक्तों के वर्णन से अपनी जिह्वा को अपवित्र नहीं किया। हे राजाधिराज! अब हम दोनों अर्थात् मैं वक्ता और आप श्रोतागण मिलकर 'राम राम राम राम' कहकर वाणी का प्रायश्चित्त करें। अभक्तों की दशा सुनकर राजा को अत्यन्त दुःख हुआ, वह मन ही मन थक सा गया और उसके निवारण के लिये मन में हरि के नाम का स्मरण करने लगा। जिस हरि का उन्होंने स्मरण किया, उस हरि के बारे में ही उनसे पूछें इसलिये हरि के भक्त युग-युग में किस प्रकार भजन करते हैं यह प्रश्न किया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजोवाच

कस्मिन्काले स भगवान् किं वर्णः कीदृशो नृभिः।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम्॥ १९॥

राजा ने कहा—सचमुच, जिसके स्मरण से कर्माकर्म सर नहीं उठा सकते, उस भगवान की कथा मेरे लाभ के लिये सुनायें। वह परमात्मा श्रीहरि सृष्टि के प्रारम्भ में, युग युगान्तर में किस नाम से, किस रूप से तथा किस वर्ण में प्रकट होते हैं? उसी प्रकार भक्तगण किस रूप में उसकी पूजा करते हैं? उसी प्रकार तत्कालीन लोग उस अधोक्षज का किस विधि से यजन करते हैं? हे योगीराज! यह सब आप मुझे बतायें। आपके मुख से सुने भाषण के आगे अमृत भी फीका लगेगा। आपके भाषण से सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त होकर जन्म-मरण की बाधा दूर हो जाती है। उसमें भी हे स्वामी! युगधर्म के अनुसार आचरण करने वाला नारायण, उसका गुणानुवाद तथा उसे भजन पूजन की विधि कृपया मुझे सुनायें। राजा का यह भाषण सुनकर सभी को परम सन्तोष प्राप्त हुआ। यह हरिगुणों का प्रश्न है यह जानकर कनिष्ट भ्राता 'करभाजन' योगी बोलने लगा।

करभाजन उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते॥ २०॥

कृत, त्रेता तथा द्वापर इन युगों में भक्त नाना वर्णों से, नाना नामों से तथा नाना प्रकार के उपचारों से केशव का यजन करते रहते हैं। 'क' कार का अर्थ है ब्रह्मदेव, 'श' कार का अर्थ है शंकर तथा 'च' कार का अर्थ है 'विष्णु'। वास्तव में निर्गुण 'केशव' इन तीनों का पूर्ण प्रकाशक है। केशव तो अर्धमात्रा है उसका व्यक्ताव्यक्त उच्चार नहीं हो सकता। बाह्यामंतर एकत्व से वह सचमुच अव्यापक व्याप्त करता है। वही हरयुग में भिन्न-भिन्न नामों से नाम और रूप धारण करता है। भक्तगण उस पुरुषोत्तम की नाना प्रकार की भजनविधि तथा क्रियाधर्म से पूजा करते हैं। उनका क्रमध इस प्रकार है—

कृते शुक्लश्चर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान्विभ्रद्दण्डकमण्डलून्॥ २१॥

कृतयुग में गौरववर्ण, जटाधारी, चतुर्भुज, वल्कल परिधान किया हुआ, हाथ में दण्डकमण्डल धारण करने वाला, मृगचर्म, यज्ञोपवीत, हाथ में रुद्राक्ष की माला, कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला, इन लक्षणों से युक्त मूर्तिमंत परमात्मा का कृतयुग के भक्तगण पूजन करते हैं।

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च॥ २२॥

उस काल में सभी लोग हमेशा शान्त, वैरभावरहित, सदा समदृष्टि रखने वाले तथा परस्पर सुहृद एवं मित्रवत रहते थे। उस काल में तप करके ही देवता की उपासना करते थे। उस ताप का प्रमुख लक्षण यह था कि शम-दम पूरी तरह साध कर स्वयं भगवद्भजन किया जाता था। हे राजा! उस समय दस नामों से भगवान का नामस्मरण करते थे। वे दस नाम तुम्हें बताता हूँ, सुनो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः।
इश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते॥ २३॥

हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, अव्यक्त और परमात्मा इन नामों का वे जप करते हैं। उस काल के बड़े-बड़े भक्त इन्हीं नामों का पाठ कर उच्च स्वर में गायन करते हैं तथा इस प्रकार संसारभय का विनाश करते हैं। कृतयुग की यह उपासना तुम्हें सविस्तार बतायी। अब त्रेतायुग का भजन और मूर्ति का ध्यान सुनाता हूँ।

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्त्रुवाद्युपलक्षणाः॥ २४॥

त्रेता युग में पुरुषोत्तम यज्ञमूर्तिस्वरूप में रहता है। उसका वर्ण अग्नि की ज्वाला की तरह रक्तवर्ण, केश लालिमायुक्त भूरे रंग के और हाथ चार होते हैं। उस निर्मल यज्ञपुरुष को त्रिगुणों की त्रिमेखला तथा तीन वेदों के सम्पूर्ण ऐक्य का स्वरूप होने के कारण उस मूर्ति की शोभा तद्रूप ही रहती है। हाथ में स्त्रुक, स्त्रुवा आदि यज्ञपात्र लिये हुए, यही उस यज्ञमूर्ति का लक्षण हेता है। त्रेतायुग में भक्तगण नारायण के इसी स्वरूप का ध्यान करते हैं।

तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिः।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठाब्रह्मवादिनः॥ २५॥

उस काल के लोग तीन वेदों से नारायण का भजन करते हैं। श्रीहरि पूर्ण रूप से सर्वदेवस्वरूप होने के कारण त्रेता युग का भजन इस प्रकार का होता है। त्रेतायुग के समस्त लोग वेदवचनों पर परम श्रद्धा रखने वाले तथा भजनशील और धर्म पर श्रद्धा रखने वाले धर्मनिष्ठ होते हैं। वे धार्मिक जन आठ प्रकार के नामों से प्रतिदिन नामस्मरण करते हैं। हे राजा! वे नाम सुनो।

विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः।
वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते॥ २६॥

विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ (सुतपा प्रजापति की पत्नी 'पृश्नि', उसका पुत्र होने के कारण पृश्निगर्भ), सर्वदेव, उपक्रम, वृषाकपि, जयंत, उरुगाय, इन श्रेष्ठ नामों से उसका स्मरण किया जाता है। अब द्वापरयुग में भक्तगण भगवान का ध्यान, नामस्मरण तथा भजन किस प्रकार करते हैं उसे सुनो।

द्वापरे भगवाञ्छ्यामः पीतवासा निजायुधः।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः॥ २७॥

द्वापर में मेघ जैसी नीलकांति, सरसों के फूल जैसी आभा, पीताम्बर परिधान किये हुए और श्रीवत्स चिह्न से अंकित, उसी प्रकार शंख, चक्र, गदा, पद्म ये चार आयुध धारण किये हुए ऐसे लक्षणों से युक्त भगवान श्रीहरि का सदासर्वदा ध्यान करते हैं।

तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम्।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप॥ २८॥

चन्द्रमा की तरह श्वेत छत्र तथा रत्नजड़ित चामर आदि राजलक्षणों से युक्त राजोपचार अर्पित कर द्वापर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

युग के लोग अत्यन्त भक्तिभाव से पूजा करते हैं। परात्पर परमात्मा को शीघ्र पाने की दृष्टि से वे उसकी वैदिक तथा तांत्रिक इस प्रकार मिश्रपूजा करते हैं। तत्वजिज्ञासु पुरुष इस प्रकार भगवान का भजन करते हैं। जिससे कलिमल दहन हो ऐसे उस काल में नामस्मरण कैसे होता था उसके प्रकार बताता हूँ।

नमस्ते वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः॥ २९॥

हे वासुदेव! तुम्हें साष्टांग प्रणाम करता हूँ, हे 'संकर्षण' तुम्हें नमन करता हूँ, 'प्रद्युम्न' तुम्हें प्रणाम करता हूँ, अनिरुद्ध तुम्हें अभिवादन करता हूँ। उसी प्रकार—

नारायण ऋषये पुरुषाय महात्मने।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः॥ ३०॥

"हे ऋषीश्वर नारायण! हे सुरेन्द्र महापुरुष! हे विश्वरूप! हे विश्वेश्वर! हे महात्मा श्रीवर! तुम्हें प्रणाम करता हूँ। हे सर्वभूतात्मन् पुरुषोत्तम! तुम्हें नमस्कार है।" हे राजाधिराज! द्वापर युग में इन नामों से उसका नित्य स्मरण करते हैं। इन नामों के घोष से उसे परम संतोष प्राप्त होता है और वह अकस्मात वैकुण्ठ छोड़कर उस नाम संकीर्तन में दौड़ा चला आता है।

इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम्।
नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु॥ ३१॥

द्वापर के लोग इन्हीं नामों से स्तुति स्तवन करते हैं। अब हे राजा! कलियुग के भजन तथा तंत्रयुक्त विधि के सम्बन्ध में बताता हूँ।

कृष्णवर्णं त्विषा कृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सूमेधसः॥ ३२॥

कलियुग के देवता श्रीकृष्ण हैं इसलिये उस कृष्णकांति के प्रभाव का वर्णन करें। उसकी कांति इन्द्रनील मणियों की कांति की तरह दमक रही थी। उसकी मूर्ति सभी अवयवों से परिपूर्ण थी तथा मुरली, शृंग आदि उपांगों से युक्त थी। चारों भुजाएँ अत्यन्त पराक्रमी तथा उन चारों हाथों में शंख-चक्रादि सर्वांग सुन्दर आयुध शोभा देते हैं। पीछे नन्द सुनंदादि सेवक सशस्त्र खड़े हैं। कलियुग के ज्ञानी इस प्रकार श्रीकृष्ण का सदैव चिन्तन करते हैं। कलियुग के श्रीकृष्ण को रोज के कीर्तन के आगे मधुपर्कादिक विधानों से की गयी यथाविधि पूजा गौण लगती है। हे रांजाधिराज! कैसा आश्चर्य है कि श्रीकृष्ण को कीर्तन ही पूजा मालूम होती है। कृष्ण को कीर्तन से इतना प्रेम है। इसी कारण से गरुड़ ध्वज को सदैव प्रसन्नता मालूम होती है। श्रीकृष्ण को कीर्तन प्रिय है इसीलिए वह नारद को इतना सम्मान देता है। नारद निरन्तर श्रीकृष्ण का ही गुणगान करता है और उसके ही नाम का घोष करता रहता है। नाम संकीर्तन करने के कारण ही उसने प्रह्लाद की संकटों से रक्षा की। कीर्तन से श्रीकृष्ण को संतोष प्राप्त होता है और वह भक्तों के भवबन्धन तोड़ डालता है। गजेन्द्र ने नामस्मरण करते ही उसे नारायण की प्राप्ति हुई। उसका संसार बन्धन तोड़ कर उसे स्वयं वैकुण्ठ में ले गये। नीचों में नीच, अत्यन्त पापी वेश्या थी। एकाएक उसके मुख से रामनाम निकला। उस नामोच्चार के कारण श्रीहरि ने उसकी वैकुण्ठ में रहने की व्यवस्था की। समस्त पापों की साक्षात मूर्ति अजामिल को भी नामस्मरण के कारण पवित्र कर दिया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार नाम की महिमा अद्‌भुत है। नामस्मरण से गोविन्द के स्वरूप में लीन होने वाली द्रौपदी को संकट से छुड़ाया। सचमुच नाम भक्तों की व्याधियों को दूर कर देता है। अंत:करण की शुद्धि के लिए मुख्य रूप से हरिकीर्तन ही उपाय है। चित्तशुद्धि के लिये नाम जैसा कोई अन्य साधन नहीं है। कीर्तन में हरि को कैसी रुचि रहती है? उसी प्रकार जैसे गाय बछड़े को या मधुमक्खी छत्ते को एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ती। उसी प्रकार नामस्मरण करने वाले भक्त की श्री हरि को चाह रहती है। भक्त को यदि जरा भी दु:ख होता है तो वह स्वयं ही उसका निवारण करता है। इसलिये जिसे हरिकीर्तनसे लगन लग गयी उसे अन्य साधनों के फेर में पड़कर संकट में पड़ने की क्या आवश्यकता है? जिसे हरि के नामसंकीर्तन तथा हरि के गुणानुवाद सुनाने में चौगुना आनन्द होता है उसका सारे साधन करने की तरह उद्धार होता है। इतना ही नहीं अपितु उसके कारण सारी पृथ्वी ही पवित्र हो जाती है। यदि एक राम का ही नाम वाणी में रह जाय तो वह समस्त पापों का पर्वत चूर कर परमानन्द का सुख प्रदान कर सकता है। प्रेमपूर्वक हरिकीर्तन करने से श्रीहरि प्रकट होता है। उससे श्रेष्ठ साधन और कोई नहीं है। श्रीहरि को कीर्तन से बड़ा सुख प्राप्त होता है। कीर्तन निष्ठा से भगवान सन्तुष्ट होता है। कीर्तन से और हरिनाम से भोले भाले लोग तर गये हैं। इसलिये कीर्तन से श्रेष्ठ और प्रबल कोई साधन नहीं है। फिर किस उद्देश्य से नीच लोग उसकी निन्दा करते हैं? इस प्रकार जो नाम कीर्तन से विन्मुख होते हैं उन्हें स्वप्न में भी सुख नहीं प्राप्त होता है। अलबत्ता मूर्ख लोग कीर्तन का द्वेष कर अत्यन्त विपत्तियों का सामना करते हैं। जिसके हृदय में द्वेष ने संचार किया है उसके आचार को धि:कार है। द्वेष करने वाले लोग सदासर्वदा अत्यन्त असहनीय दु:ख ही भोगते रहते हैं। कलियुग में जो बुद्धिमान पुरुष होते हैं वे हमेशा नामसंकीर्तन में ही मग्न रहते हैं। वे अत्यन्त आनन्द से उस नाम का ही गौरव करते हुए अत्यन्त प्रेम से उसका स्मरण करते हैं। अनेक महान अवतार हैं लेकिन उनमें श्री रामचन्द्र और भगवान श्रीकृष्ण का ही चरित्र अत्यन्त पवित्र है। उन्हीं के चरणों का वन्दन करना चाहिये। कहा भी है—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चनुतं शरण्यम्।
भूत्यार्तिहन्प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्म्॥ ३३॥

समाधि आदि ध्यान लक्षण देवी-देवताओं का ध्यान, सगुण-निर्गुण ध्येय आदि समस्त उपायों को एक हरिचरण स्मरण ने तत्काल तृणप्राय कर दिया। इसलिये ध्यान करने के लिये वही हरिचरण श्रेष्ठ हैं। वह कल्पना आदि के सारे कष्ट दूर कर भक्तों का अभीष्ट सारे मनोरथ सदा पूर्ण करते हैं। हे राजा! नित्य हरिचरणों का ध्यान करने से केवल भक्त के दैहिक दु:खों का ही निवारण नहीं होता बल्कि भवरोगों का भी दु:ख दूर होता है। वह भक्तों का मनोरथ पूर्ण करता है इसका अर्थ यह नहीं है कि वे मनोरथ विषयासक्त होते हैं। हरिचरणामृत किसी भगवद्‌भक्त को विषयहीन परमानन्द से तृप्त कर देता है। उन चरणों की पवित्रता का किस तरह वर्णन किया जाय? उसका तीर्थ साक्षात शंकर भी अपने मस्तक पर धारण करते हैं। हरि के चरण तो वास्तव में समस्त तीर्थों की जन्मभूमि ही है। इसलिये उन चरणों के ध्यान से भक्त को भी पवित्रता प्राप्त होती है। अचानक चरण लगने के कारण पाषाण भी पवित्र हो गये। फिर जो प्रयत्नपूर्वक उनका ध्यान करते हैं उनकी पवित्रता का कितना वर्णन किया जाय? जिस रावण ने सदैव शत्रुता का व्यवहार किया जो उसकी स्त्री को चुरा ले गया उसका भाई शरण आया तो उसे उसने निजभाव से आत्मीय बना लिया। हे राजा! उसे केवल आत्मता ही प्रदान नहीं की बल्कि उसे सुवर्ण नगरी सौंप कर उसे वहाँ अटल रूप से स्थापित कर दिया। इसलिये हरि के चरण शरणागत के लिये शरण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जाने योग्य ही हैं। भगवद्भक्तों के लिये उसके जैसा निर्भय स्थान नहीं है। भक्त को जरा भी दुःख हो जाय तो वह भगवान को सहन नहीं होता। प्रह्लाद के असहनीय दुःख का उसने स्वयं ही निवारण किया। दावाग्नि को उदर में रखकर वन में गोपालों की रक्षा की। पाण्डव जब लाक्षागृह में जल रहे थे उस समय उन्हें वहाँ से बाहर निकाला। जो अपने सर्वांग से निरन्तर भक्तों की पीड़ा दूर करता रहता है, जो भक्तों के प्रेम के कारण रणभूमि में उनके रथ को हाँकता है ऐसे उस भगवान के चरणों को प्रणाम करने से वह अपने भक्तों को गोद में बिठाकर उनकी सेवा करता है। शरणागत की रक्षा करने वाला दयाशील संसार में अन्य कोई नहीं है। प्रचण्ड संसारसागर को पार करने के लिये हरिचरणों की ही अटल नौका है। जो भी शरण आता है उन सबको वह चरणकृपा से पार लगा देता है। शरणागत को आश्रय देने वाले उस महापुरुष के चरणों का सनकादिक भी स्वयं ध्यान और अभिनन्दन करते हैं। ऐसे उन चरणों की अगाध महिमा का वर्णन करते समय वेद भी मौन हो गये, ब्रह्मदेव और शंकर भी स्तवन करते-करते मौन हो गये। उस श्रीकृष्ण के चरण अतर्क्य तथा अगम्य हैं। यह जानकर ब्रह्मदेव और ईशान अर्थात् शंकर आदि साष्टांग दण्डवत कर उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे।

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्म्॥ ३४॥

जिस राजवैभव के लिये देवता भी लार टपकायें ऐसे राज्य को श्रीरामचन्द्र ने पिता के वचन के कारण त्याग दिया। श्रीराम वास्तव में सच्चा धर्मनिष्ठ तथा पिता के वचनों का पालन करने वाला था इसलिये इतना बड़ा राज्य छोड़ कर वनवास पर चल पड़ा। वनवास में पैदल जाते हुए भी प्रिय सीता को साथ में लिया इसलिये उसे स्त्रीलंपट नहीं समझना चाहिये क्योंकि सीता केवल स्त्री नहीं अपितु भगवान की असीम भक्त थी। इसलिये सारे राजभोग छोड़कर केवल श्रीराम की सेवा के स्वार्थ से उसने श्रीराम के साथ वनवास स्वीकार किया। राजा रामचन्द्र ने अपनी सेवा का कार्य समस्त सेवकों में उनके अधिकार के अनुसार बाँट दिया था, वे सारे कार्य वन में मैं अकेले करूँगी ऐसा हेतु मन में रखकर सेवा भी होगी और इसी प्रकार मैं कृतार्थ हो जाऊँगी इसी उद्देश्य से वह सचमुच पैदल चलकर वनवास में गयी थी। श्रीराम के सुख का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? पैदल चलते समय उसे दुःख का भान भी नहीं हुआ। प्यारे मैके को भी वह भूल गयी। सेवा में उसे अत्यधिक आनन्द आ रहा था। मन में परिपूर्ण भक्ति के कारण ही वह वन में सेवाभाव से आयी हुई थी। भक्त की वह भक्ति केवल रामचन्द्रजी ही जानते थे, अन्य देवतागण या दानव उसे नहीं जान सकते। निजभक्तों का मनोरथ रघुनाथ ही जानें उसी प्रकार उसकी सेवा का स्वार्थ उसके भक्त ही जानें। भगवद्भजन का सुख केवल भाविक भक्त ही जानते हैं। रघुनाथ ने जान लिया था कि सीता पूर्णरूप से भाविक भक्त है इसीलिये वे उसके कहने से मृग के पीछे भागे। उस मायावी मृग के मिथ्या सुनहलेपन के बारे में वे जानते थे किन्तु भक्त का हठ पूरा करने के लिये वे मृग के पीछे दौड़ गये। बालक का हठ पूरा करने के लिये जिस प्रकार माँ तत्पर रहती है उसी प्रकार अपने भक्त के कहने से राम भी उस मायावी मृग के पीछे दौड़ गये। वानर की बातें सुनकर भी जिस रामचन्द्र के मन में कभी कोई विकल्प नहीं आया वे सीता के कहने से मृग के पीछे दौड़ गये इसमें आश्चर्य की क्या बात है? भक्त की बात को फिर वह कैसी भी हो, रामचन्द्रजी झूठ नहीं समझते थे इसलिये वे स्वयं दौड़कर मृग के पीछे-पीछे गये। जो अपने भक्त के कहने से तत्काल मृग के पीछे दौड़ कर गया, उसके पैरों की धूल शंकरादि देवतागण अपने मस्तक पर लगाते हैं। मृग के पीछे दौड़ते समय उसने पाषाण को भी पवित्र कर दिया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसके चरणों में अनन्यभाव से शरण जाकर परमभक्ति से वन्दन किया जाय। इस प्रकार उस महापुरुष के चरणों का अभिवादन कर समस्त देवतागण उसका वन्दन करने लगे। कलियुग में लोग कीर्तन से ही परम पावन होकर मुक्त होते हैं।

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान् युगवर्तिभिः।
मनुजैरिज्यते राजम् श्रेयसामीश्वरो हरिः॥ ३५॥

इस प्रकार कृतयुग से कलियुग तक के लोग स्वहित के लिये श्रीहरि का इन नामों से, इन रूपों से तथा इन अवतार लीलाओं का गायन कर भक्ति के अनुसार भजन करते हैं। उसमें भी बड़े-बड़े ऋषियों ने कलियुग की महिमा का वर्णन किया है क्योंकि इस युग में चारों मुक्तियाँ दासी बनकर रहती हैं।

कलिं सभाजयात्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्रसंकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते॥ ३६॥

हे सर्वज्ञ राजा! सुनो, कलियुग धन्य है कि उसमें हरिकीर्तन तथा नामस्मरण से सारे मनोरथ पूरे हो जाते हैं। कलियुग में पाप बहुत होते हैं इसलिये केवल कीर्तन से स्वार्थसिद्धि किस प्रकार होती है? तो जो दोषों का त्याग कर गुण ही ग्रहण करते हैं वे हरिकीर्तन से मुक्त होते हैं। हरिकीर्तन से चित्त शुद्ध हो जाने के कारण दोषों का त्याग कर केवल गुण ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार सार ग्रहण करने वाले लोग कलियुग में हरिकीर्तन से ही परममुक्त होते हैं। कलि के गुण जानने वाले लोग, नाम से ही मोक्ष प्राप्त होता है यह ध्यान में रखकर कीर्तन ही करते हैं और वे सचमुच ही नित्ययुक्त होते हैं। कलियुग में निरन्तर नामस्मरण करना चाहिये यही सार है। हे राजेन्द्र! जो पुरुष नित्य नाम का घोष करते हैं, पुरुष मुक्ति प्राप्त करते ही हैं।

सम्मत श्लोक १

ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥ १॥

सं० श्लोक—कृतयुग में शमदमादि साधन, त्रेतायुग में वेदोक्त यज्ञ तथा द्वापरयुग में आगमोक्त तंत्रविधि से युक्त पूजन यही साधन है। इस प्रकार तीनों युग के लोगों को, परम संकट के साधनों का प्रयोग करने पर भी मन को रत्तीभर भी शान्ति नहीं प्राप्त होती। लेकिन कली ने कीर्तन के द्वारा उन सभी साधनों को लज्जित कर दिया। परमात्मा को कीर्तन में नाच, गाकर वश में किया जा सकता है। गाँव के बाहर जहाँ मवेशी एकत्र होते हैं, यमुना किनारे की बालू में गोपालों के साथ हुंबरी हमाम का खेल खेलते समय तथा प्रेम के गीत सुनकर भगवान विभोर हो जाते हैं और उनके साथ आनन्दपूर्वक नाचने लगते हैं। कृष्णा, कान्हा, गोपाल! ऐसे लाडले किन्तु उलटे-सीधे नामों से वे गोपाल बार-बार गर्जना करते हैं, उसे सुनकर उस घनश्याम को सुख प्राप्त होता है। उस सुख के कारण भगवान को परमानन्द का उफान आता है। सारांश, इस प्रकार कलियुग में कीर्तन के माध्यम से भक्तों का अनायास ही उद्धार हो जाता है। कीर्तन के आवर्तन प्रारम्भ होते ही पापों की राशियों का बडवानल जलने लगता है और भक्तों का तत्काल उद्धार हो जाता है। हरिनाम के कारण कलि का महत्त्व बढ़ गया है। कलियुग की यही विशेषता है कि नामसंकीर्तन के कारण चारों वर्णों की मुक्ति प्राप्त होती है। फिर स्त्रियाँ तथा शूद्र जैसा विचार शेष नहीं रहता। वेद अत्यन्त कंजूस हो गया कि उसने केवल तीन वर्णों की ही बात सुनी, स्त्री,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शूद्रों से उसने बात नहीं की। वह मौन अभी भी कायम है। वेद की यह बहुत बड़ी कमी इस हरिकीर्तन ने ही पूरी की। क्योंकि हरि के नाम से स्त्री, शूद्र अथवा अंत्यज लोगों का भी उद्धार हो जाता है। कीर्तन से स्वधर्म जुड़ता है, कीर्तन से स्वधर्म बढ़ता है, कीर्तन से ही परब्रह्म प्राप्त होता है। अधिक क्या कहें ? मुक्ति भी कीर्तन के सामने शर्मा जाती है। कीर्तन के आनन्द के कारण ही चारों मुक्तियाँ हरिभक्तों को वरने आती हैं लेकिन भक्त उन्हें दूर भगा देते हैं। लेकिन वे दासी बनकर उनके चरणों पर लग ही जाती हैं। हे राजा! कलियुग में ऐसा साक्षात्कार है। कीर्तन की महिमा इतनी महान है इस सम्बन्ध में मन में जरा भी विकल्प न रखो। चाहे कृतयुग हो, त्रेतायुग हो या द्वापरयुग हो नामस्मरण के लिये कभी भी निषेध नहीं है। लेकिन कलियुग में चारों मुक्तियाँ नाम के पास स्वयं दासी बन कर रहती हैं।

न ह्यतः परमोलाभो देहिनां भ्राम्यतामिह।
यतो विन्दत परमां शान्तिं नश्यति संसृति॥ ३७॥

हे राजेश्वर! जो लोग जन्म-मरण के भँवर में फँस कर संसार में चक्कर खाते रहते हैं, उन प्राणियों को कलियुग में कीर्तन से ही सद्गति प्राप्त होती है। कलियुग में कीर्तन से ही सांसारिक बन्धन टूट कर शान्ति सुख के अनुभव से परमानन्द से भेंट होती है। ऐसे कीर्तन में बहुत बड़ा लाभ है। देवताओं को अथवा मानवों को (दूसरे युगों में) कष्ट करने से भी वह प्राप्त नहीं होता लेकिन कलियुग में वह सुलभ हो गया है। इसीलिये भाग्यशाली लोग हरिकीर्तन की आशा करते हैं। कीर्तन के कारण चारों मुक्तियाँ भक्त के गले लग जाती हैं। कोई कहेगा कि ऐसा नहीं होगा। तो हे राजा! उसकी स्थिति अर्थात् उपपत्ति बताता हूँ, सुनो। कीर्तन में हरिनाम का घोष होता है, उसे सुनकर भगवान को अत्यन्त संतोष प्राप्त होता है, और वह वैकुण्ठ छोड़कर तीव्र गति से दौड़कर आता है। देवता हरिकीर्तन से अत्यन्त लुब्ध होते हैं, वह वैकुण्ठ लौटना ही भूल जाते हैं। भक्त की भक्ति देखकर उसे वही स्थान अधिक अच्छा मालूम होता है अर्थात् यदुनायक जहाँ रहता है वहीं वैकुण्ठ भी आ जाता है। इस प्रकार भक्त कीर्तन से ही 'सलोक' मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। नामसंकीर्तन के गजर से ही श्रीहरि भक्तों के समीप दौड़ कर आता है। यही 'समीपता' मुक्ति है। हरिकीर्तन से ही वह भक्तों के हाथ लगती है। कीर्तन से जब भगवान प्रसन्न हो जाता है तो वह भक्त को साक्षात दर्शन देता है। उसका श्यामसुन्दर पीताम्बरधारी ध्यान भक्त के मन में सहज ही अंकित हो जाता है। जिस ध्यान का भक्त कीर्तन करता है वही ध्यान उसके मन में अंकित हो जाता है। उस समय भगवान के वही रूप लक्षण भक्त को प्राप्त होते हैं। श्यामसुन्दर, चतुर्भुज, पीताम्बर धारण कर, शंखचक्रादि आयुध हाथ में ली हुई सरूपता कीर्तन से लुब्ध होकर भक्त को माल्यार्पण करती है। उस समय भगवान और भक्त एक समान हो जाते हैं। दोनों के अवयव एक समान और दोनों के आयुध तथा अलंकार भी एक जैसे। भक्तिभाव से हरिकीर्तन करने से हरिभक्तों को इतनी महिमा प्राप्त होती है। लक्ष्मी जब दोनों को एक स्थान पर देखती है तो उसमें देवता कौन है और भक्त कौन है यह वह भी नहीं पहचान पाती। ब्रह्मदेव भी नमस्कार करते समय चौंक जाता है। शुद्ध भाव से हरिकीर्तन करने से जनार्दन को संतोष होता है। देवता और भक्त आलिंगन में बँध जाते हैं और वह बन्धन कभी ढीला नहीं होता। तब बाह्यांतर में चराचर में देवता प्रकट हो जाते हैं। उसे संसार में अन्य कुछ दिखायी ही नहीं देता। इस प्रकार जब वृत्ति स्वानंद में मग्न हो जाती है और कभी उससे भिन्न नहीं होती तो उसी को 'सायुज्य मुक्ति' कहते हैं। उसमें भिन्नभाव रहता ही नहीं है। इस प्रकार पूर्ण सायुज्यता प्राप्त कर जब वह हरिकथा करने लगता है उस समय उस कथा की तल्लीनता सभी प्राणियों को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अत्यन्त प्रिय लगती है। इस प्रकार चारों मुक्तियाँ हरिकीर्तन के पास दासी होकर रहती हैं इसलिये भक्त हरिभजन पर लुब्ध हो जाते हैं। वे मुक्ति नहीं चाहते। इस प्रकार हरिकीर्तन ने योग, याग, तप आदि साधनों को बिलकुल अनाथ कर दिया है। कलियुग में नामस्मरण और हरिकीर्तन से ही जड़ तथा जीवों का उद्धार होता है।

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः॥ ३८॥

कीर्तन के कारण चारों मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं इसलिये कलियुग में कीर्तन भक्ति ही प्रमुख है। इसलिये इन्द्रादि देवतागण भी कलियुग में जन्म लेने की आकांक्षा रखते हैं। स्वर्ग भोग का स्थान नहीं बल्कि वह विषयवासनाओं का बन्दीगृह है। इसलिये भाग्यशाली जीव कलियुग में जन्म लेकर हरि का कीर्तन करते हैं। जब स्वर्ग के देवतागण भी कलियुग में जन्म लेने की इच्छा करते हैं तो कृतादि युग के उत्तम लोग कीर्तन धर्म रूप भजन के लिये विशेष रूप से जन्म लेने की इच्छा करते हों तो इसमें कैसा आश्चर्य है। कृतयुग के भाग्यशाली लोगों ने यज्ञयाग कर स्वर्ग की प्राप्ति की लेकिन वे भी कलियुग के जन्म की इच्छा करते हैं। कृत, त्रेता तथा द्वापर इन तीनों युगों के श्रेष्ठ पुरुष भी कलियुग में जन्म लेकर आने की इच्छा करते हैं। उस काल के लोग परस्पर बातें करते हैं कि कीर्तन से चारों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं यही कलियुग की महिमा है और इसीलिये सृष्टि में कलियुग धन्य है। जो सचमुच भाग्यवान होते हैं वही कलियुग में जन्म प्राप्त करते हैं। सारांश, कलियुग में जन्म लेने के लिये देवतागण, मानव तथा नाग भी उत्कंठा रखते हैं। दीन दुबलों का उद्धार हो सके इसलिये कलियुग में श्रीनारायण नामस्मरण से ही संसार बन्धन टूट जाता है। सारांश, हरिकीर्तन सभी को तारता है। इसलिये हे राजा! कलियुग में हरिकीर्तन में श्रद्धा रखने से लोग अनायास ही तर जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। कलियुग में अनेक प्रकार के लोग नारायण की उपासना करेंगे और स्त्रियाँ तथा शूद्र की भक्ति की महिमा का प्रसार करेंगे।

क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी॥ ३९॥

कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायो भक्ता भविष्यन्ति वासुदेवोऽमलाशया॥ ४०॥

विशेष रूप से द्रविड देश में भक्ति अधिक बढ़ेगी। तिस पर भी जहाँ प्रसिद्ध तीर्थों के स्थान होंगे वहाँ स्त्री भक्ति में उफान आयेगा। ताम्रपर्णी नदी के तट पर हरिभक्ति की महिमा बहुत अधिक है, कृतमाला के चारों ओर के परिसर में तो हरिभक्ति का उल्हास प्रकट होता है। निर्मल जल से युक्त नदी, उसका जल प्राशन करने से श्रीहरिचरण के प्रति प्रेम की वृद्धि होती है और भगवद्भजन करने की बुद्धि दृढ़ होती है। कावेरी नदी के दर्शन मात्र से पापों की राशियाँ नष्ट हो जाती हैं। जिस कावेरी तट पर श्रीरंग प्रसन्नतापूर्वक निवास करता है, वहाँ भक्ति का प्रवाह अखण्ड बहता रहता है। नदी में डुबकी लगाते ही तत्काल चित्तशुद्धि होने का अनुभव होता है और भक्ति की स्पर्धा बढ़ते-बढ़ते उसकी पताका वैकुण्ठ तक पहुँचती है। हे राजराजेश्वर! सुनो। इन पाँच नदियों के तीर्थ में स्नान करने से अथवा उनका जल प्राशन करने से भगवद्भजन में बुद्धि स्थिर होती है। इन तीर्थों का दर्शन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करने से सहज ही कलिमलक्षालन होता है तथा स्नान अथवा जलप्राशन करने से भगवद्भजन करने में उत्साह बढ़ता है। इन तीर्थों का दर्शन, स्पर्श अथवा स्नान करने से वासुदेव का शुद्ध भजन करने की इच्छा की वृद्धि होती है। जो इस प्रकार के भक्त होते हैं वे देवतागण, ऋषि तथा पितर इन तीनों के ऋण से मुक्त होते हैं। वे कभी भी देवतागण, ऋषि अथवा पितरों से बँधे हुए नहीं होते।

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥ ४१॥

शरणागत के लिये शरण अर्थात् आश्रय देने वाले या संरक्षक केवल श्रीमुकुंद के चरण ही हैं। असीम भाव से उसकी शरण में जाने से जन्म-मरण का बन्धन नहीं रहता। फिर उसे देवता, ऋषि, आचार्य अथवा पितर इनके ऋण की क्या चिन्ता है? वे भक्त भगवद्भजन से ही मुक्त हो जाते हैं। श्रद्धापूर्वक भगवद्भक्ति करने से समस्त पितरों का उद्धार होता है। भगवद्भक्ति के आनन्द से 'ऋषि' नित्य ही तृप्त होते हैं। भगवद्भक्ति के आनन्द से सभी 'प्राणी' सुखी होते हैं। पुत्र यदि भगवद्भक्ति करे तो उसके माता-पिता और सगे-सम्बन्धियों का भी उद्धार होता है। समस्त देवताओं का नियंता जो श्रीहरि है उसका उल्लासपूर्वक भजन करने से 'देवऋण' की बाधा भगवद्भक्त को कभी नहीं होती। जो अनन्यभाव से भजन करते हैं वे कभी भी कर्म के अधीन नहीं होते क्योंकि कर्म जिसके अधीन रहता है उस हरि की ही शरण में वे रहते हैं। अनन्यशरण हरिभक्त कभी भी कर्म का सेवक नहीं होता अथवा देवताओं का भी चाकर नहीं होता। जो हरि की शरण में आ गया वह किसी का आश्रित नहीं है। वह कर्माकर्म से अलिप्त तथा ऋणत्रयी से मुक्त ही रहता है। समस्त प्राणियों में वासुदेव ही भरा हुआ है ऐसा उसका दृढ़ विश्वास रहता है इसलिये वह सभी कर्मों से अलिप्त तथा सकल कर्मों से मुक्त होता है।

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥ ४२॥

देह का अभिमान छोड़कर तथा अन्य देवताओं का भजन त्याग कर जो हरिचरणों की ही शरण में जाते हैं उन्हें कर्मों का बन्धन कभी स्पर्श नहीं करता। इस प्रकार जो अनन्यशरण होते हैं वही हरि के प्रिय होते हैं और जो इस प्रकार हरि के भक्त होते हैं उन्हें स्वप्न में श्री कर्मबन्धन स्पर्श नहीं कर सकता। हे राजा! अब तुम यदि कहोगे कि भगवद्भक्त विहित कर्माचरणों के कारण नित्यमुक्त रहते हैं, तो तुम्हें यह बता दूँ कि वे यदि असत्कर्म भी करें तो भी उन्हें प्रायश्चित्त का बन्धन नहीं है। जिस प्रकार सिंह का छावा मत्त हाथी के वश में नहीं आता उसी प्रकार हरि के भक्त यदि अकर्म भी करें तो भी वे यम के वश में नहीं आ सकते। हरि के भक्त केवल नामस्मरण कर ले, भले ही वह महान पापी ही क्यों न हो, लेकिन यम आकर उसका वन्दन करेगा। तब जो हरि के परम प्रिय भक्त हैं उन्हें यम अकर्म के लिये दण्ड कैसे देगा? (शंका) वेदाज्ञा अर्थात् साक्षात् विष्णु की ही आज्ञा है, उसी देवता ने धर्म और अधर्म की व्याख्या की है, फिर यदि भक्त विकर्माचरण करें तो उन पर वेदाज्ञा का प्रभाव क्यों नहीं होगा? (समाधान) जिस प्रकार राजा का प्रिय सेवक पहरे पर के सिपाही के अधीन नहीं होता तो फिर राजा का प्रिय पुत्र उस द्वारपाल के अधीन कैसे होगा? उसी प्रकार जिसे केवल हरिनाम का स्मरण रहता है उसके चरणों को वेद प्रणाम करते हैं तो जो हरि को पूरी तरह प्रिय है उसे वेद का विधान कभी बाधक नहीं होगा। वैसे भक्त के हाथों कभी निषिद्ध कर्म नहीं होगा किन्तु यदि दैवयोग से वैसा हो भी जाय तो अच्युत स्मरण से ही उसकी उस कर्म से मुक्तता होती है। कर्माकर्म जिसे बाँध नहीं सकता ऐसा भागवतधर्म कौन-सा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है? तो तुम्हें भक्तिमार्ग के उत्तम से उत्तम धर्म बताता हूँ, सुनो। देहाभिमान के आकर्षण को त्याग कर जिसकी हरिभक्ति समस्त प्राणिमात्र में दृढ़ रहती है वह कर्माकर्म को पैरों तले रौंद देता है, मुक्ति अपने केशों से उसके चरण झाड़ती है। वह जिसकी भी ओर कृपादृष्टि से देखता है उसका सांसारिक भय तत्काल नष्ट होता है और वह जहाँ कहे वहाँ तत्काल हरि की भक्ति डेरा जमा कर बैठ जाती है। उसके अनुग्रह से दीनजनों के अंत:करण में भगवान प्रकट होते हैं और उसके कर्माकर्म का निस्तार स्वयं श्रीहरि करने लगते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उदय के साथ अन्धकार भाग जाता है उसी प्रकार हृदयमन्दिर में यम प्रकट होते ही कर्माकर्म सहज ही दूर हो जाते हैं। हे राजश्रेष्ठ! भगवान के नाम की कीर्ति इसी का नाम परमभक्ति है। भक्ति के पास चारों मुक्तियाँ दासी की तरह सेवारत रहती हैं। भक्ति की यह पूर्ण स्थिति सुनकर राजा के शरीर पर रोमांच उभर आये, आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगे और वह प्रसन्नवृत्ति से डोलने लगा। जनकराजा की इस स्थिति का वर्णन करते समय नारद मन ही मन सुखभरित हो गया और उसी अवस्था में उसने वसुदेव को उस इतिहास का समापन सुनाया।

नारद उवाच

धर्मान् भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः।
जायन्तेयान् मुनीन् प्रीतः सोपाध्यायोह्यपूजयत्॥ ४३॥

नारद इतिहास सुना रहे थे, साथ ही साथ डोल भी रहे थे। उसी मुदित अवस्था में उन्होंने भक्ति का रहस्य बताया। (नारद ने कहा) इस प्रकार जयंत पुत्रों ने जनकराजा को परम प्रीति का अपने स्वानुभव के अनुसार भगवान की श्रेष्ठ भक्ति का वर्णन किया। उनका भाषण सुनकर जनक राजा को अत्यन्त आनन्द हुआ। उसने अत्यन्त प्रेमपूर्वक उन जयंती पुत्रों की पूजा की। श्रवण से समाधान हो जाने के कारण उसे पूजा करने में भी अत्यन्त प्रेम का अनुभव हुआ। तब जनकराजा ने अत्यन्त भक्तिभाव से उनकी पूजा की। अहिल्या का पुत्र शतानंद राजा का उपाध्याय था। उसने भी बड़े आदर के साथ पूजा करवायी और स्वयं भी की।

ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः।
राजा धर्मानुपातिष्ठान्नवाप परमां गतिम्॥ ४४॥

इस प्रकार वे सभी नौ श्रेष्ठ भगवद्भक्त देखते-देखते आकाश मार्ग से ऊपर जाते-जाते अदृश्य हो गये। उस भागवत धर्म का आचरण कर तथा उस प्रकार की भगवद्भक्ति कर उस जनकराजा ने भी उत्तम गति प्राप्त की। सद्भाव से भक्ति करने से देह में रह कर भी विदेहस्थिति प्राप्त होती है। जनकराजा को वह प्राप्त होने के कारण वह परम शान्तिमय स्थिति में पहुँच गया।

त्वमप्येतान् महाभाग धर्मान् भागवताञ्छुतान्।
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसेपरम्॥ ४५॥

हे वसुदेव! जहाँ सारे भाग्य की पंक्तियाँ विश्राम करने आती हैं वह भाग्यस्थिति तुम्हारे घर खेलने लगी है। वसुदेव! तुम्हारे ही नाम के कारण भगवान को 'वासुदेव' कहते हैं। 'वासुदेव' इस नाम के प्रभाव से सभी लोगों के दोषों का विनाश होता है। हे वसुदेव! ऐसे भाग्य के भाग्यनिधि सचमुच तुम ही हो। तुमने भागवत धर्म के विधि को श्रवण किया। श्रद्धापूर्वक परमात्मस्वरूप का श्रवण करने के बाद मनन करते हुए उसे धारण करना चाहिये। ऐसा करने से तुम सभी बन्धनों से मुक्त होकर तत्काल निजधाम पहुँच जाओगे। वह ऐसा निजधाम है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जहाँ कार्य और कारण दोनों अनावश्यक हैं। उस परम पवित्र स्थान में तुम निजसुख का अनुभव लेकर सुखस्वरूप होकर रहोगे।

युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत्।
पुत्रतामगमद्ब्रह्मं भगवानीश्वरो हरिः॥ ४६॥

तुम्हारे परिवार की कीर्ति से असीम यश की बाढ़ आ गयी है। तुम्हारे यश से त्रिभुवन भर उठा है। सारी पृथ्वी परमानन्द से भर गयी है। जिसके लिये लोग यज्ञयाग करते हैं, जिसके लिये दानधर्म किया जाता है, जिसके लिये तप किया जाता है, जिसके लिये योगसाधना की जाती है, वेद अथवा शेषनाग भी जिसका वर्णन नहीं कर सकते, सनकादिक के लिये भी जो दुर्लभ है उस श्रीकृष्ण को आप अपनी गोद में खिलाते हैं, जो कलिकाल का शासक है, ब्रह्मदेव आदि देवताओं का जो नियंता है, जो संहारकर्ता का भी संहारकर्ता है, जो त्रिभुवन का पालनकर्ता है, जो सभी भाग्यों में श्रेष्ठ है, जो सभी शोभाओं की शोभा है, जो षडगुणों का अधिष्ठान है वह श्रीकृष्ण पुत्र के रूप में आपके शरीर पर खेल रहा है।

दर्शनालिंगनालापैः शयनासनभोजनैः।
आत्मा वां पावितः कृष्णं पुत्रस्नेह प्रकुर्वतोः॥ ४७॥

परब्रह्ममूर्ति श्रीकृष्ण का अवलोकन करने से दृष्टि पावन होती है, आँखों को सुख का अनुभव होता है, कृष्ण के मुख से निकले शब्द कान से भीतर प्रवेश करते ही कर्णरन्ध्र पवित्र होते हैं। श्रीकृष्णा, हे कृष्णा इस प्रकार पुकारते समय या कृष्ण के साथ बोलते समय आपकी वाणी शान्त और पुनीत हो जाती है। जिसके लिये अनेक प्रकार के यज्ञयाग किये जाते हैं वहाँ भी जो यज्ञभाग नहीं लेता वही श्रीकृष्ण आपके साथ बैठकर खाता है। जो योगयागों में भी नहीं मिलता वह श्रीकृष्ण घर में भोजन के लिये आपकी बाट जोहता रहता है। बाललीला करते हुए अपने मुँह का ग्रास आपके मुँह में डालता है। संतप्तों का ताप शान्त करने वाला वह भगवान श्रीकृष्ण आपके मुँह में ग्रास डालता है अर्थात् आप जैसा भाग्य संसार में किसी ने प्राप्त नहीं किया है। उस कृष्ण के उच्छिष्टामृत से जहाँ जिह्वा अमृत के स्वाद से भी ऊब जाती है वहाँ अन्य रसों को कौन मधुर कहेगा? अनेक प्रकार की तपस्यायें तथा कष्ट करने पर भी जो अंतरशुद्धि नहीं प्राप्त होती वह श्रीकृष्ण रसावशेष से सहज ही प्राप्त होती है। कृष्ण को चुम्बन देते समय उसके मुख के सुवास से घ्राणेन्द्रिय पावन हो जाते हैं और उसका चुम्बन लेते समय मन शान्त होकर स्वानंदपूर्ण उल्लास से भर उठता है। आपको आसन पर बैठे देख कृष्ण तेजी से दौड़ते हुए आपके पास आता है और गोद में बैठ कर अपना शरीर आपसे सटाकर आपको शान्ति प्रदान करता है। उस श्रीकृष्ण के शरीर के स्पर्श से सभी इन्द्रियों का काम नष्ट हो जाता है जिससे कर्म अपने आप निष्कर्म हो जाता है। प्रेमभाव से श्रीकृष्ण को कस कर आलिंगन देने से देह का देहपन समाप्त होकर 'मैं' और 'तू' का भाव समाप्त हो जाता है। निद्रित अवस्था में सब गहरी मूढ़ स्थिति में व्याप्त रहते हैं लेकिन उस समय कृष्ण तुम्हारे पास सद्रूप उपस्थित रहता है। योगी लोग अपने कर्म-कृष्णार्पण करने की कल्पना करते हैं। लेकिन कृष्ण स्वयं ही आपके सारे कर्म अर्पण कर लेता है। पुत्र प्रेम के कारण श्रीकृष्ण स्वयं ही आपके सारे कर्मों को बड़े उल्लास से स्वीकार कर रहा है। आपकी पवित्रता के सम्बन्ध में क्या कहा जाय? श्रीकृष्ण का पुत्र भावना से पालन कर आपने समस्त यदुवंश को पवित्र कर दिया तथा संसार का उद्धार करने का यश कमाया। 'वसुदेव पुत्र' तथा 'देवकीनंदन' इस प्रकार नामस्मरण करने से सांसारिक बन्धनों से मुक्ति मिलती है इतना आपका नाम पवित्र है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आप अनायास ही तर जायेंगे इसमें सन्देह नहीं है लेकिन जो पूरी तरह श्रीकृष्ण से द्वेष करते हैं वे वैरी भी 'विरोधभक्ति' के सहारे सहज ही तर जाते हैं।

वैरेण्य यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्रशाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्॥ ४८॥

शिशुपाल, वक्रदंत, पौंड्रक, शाल्य आदि बड़े-बड़े वीरों ने कृष्ण से बैर किया जिससे उन सबका ध्यान उन्हें बराबर लगा हुआ था, उनकी मूर्ति उन्हें रात दिन दिखायी दे रही थी। मेघ जैसी श्यामल कांतिवाला, कटि पर पीताम्बर परिधान किया हुआ, चित्र विचित्र अलंकारों से सजा हुआ, गदा आदि अस्त्रों से सुसज्जित, वह रणभूमि पर शत्रु की ओर देखता हुआ खड़ा रहता है। उत्कट वैरभाव के कारण वे श्रीकृष्ण की ओर अत्यन्त क्रोध से देखते रहते थे। क्रोध और द्वेष के कारण ही क्यों न हो, उन्हें उसका अखण्ड ध्यान लगने के कारण वे तद्रूप हो गये थे। कंस को परमभय के कारण श्रीकृष्ण का अखण्ड ध्यान लगा हुआ था। उस भय के कारण उसे खाते-पीते, उठते-बैठते चारों ओर श्रीकृष्ण ही दिखायी देने लगा। कंसासुर महाभय के कारण तथा शिशुपालादिक महान द्वेष के कारण अनायास ही मुक्ति पा गये। फिर श्रद्धालु लोगों को मोक्ष क्यों नहीं प्राप्त होगा? आप तो अत्यन्त प्रेमभाव से चित्त, वित्त, प्राण आदि श्रीकृष्ण पर न्योछावर कर रहे हैं इसलिये ब्रह्मप्राप्ति तो आपके चरणों को स्पर्श कर रही है। पूर्ण प्राप्ति आपके पास ही है लेकिन वह आपको मालूम नहीं होती। आप श्रीकृष्ण को अपना बालक समझते हैं और निजलाभ को ठुकरा रहे हैं।

माऽपत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये॥ ४९॥

आप श्रीकृष्ण को अपना पुत्र समझते हैं यह आपकी भावना अत्यन्त क्षुद्र है। वह परिपूर्ण निर्गुण परमात्मा ही कृष्णस्वरूप में अवतरित हुआ है। आप उसे बालक न समझें, यह देवताओं का भी देवता है, यह श्रीकृष्ण सबसे अधिक श्रेष्ठ, सर्वात्मा, सर्वेश्वर तथा योगियों में श्रेष्ठ योगी है। यह अविकारी, अविनाशी, परात्पर, परमहंस, इन्द्रियनियंता ऋषिकेश तथा जगन्निवासी जगतात्मा है। भावात्मक हो जाने के कारण यह सबको मनुष्य रूपधारी प्रतीत होता है, उसका ऐश्वर्य अत्यन्त गूढ़ है, वह गुणातीत है तथा त्रिभुवन में व्याप्त है।

भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम्।
अवतीर्णस्य निर्वृत्यै, यशो लोके वितन्यते॥ ५०॥

कालयवनादि असुर, जरासंधादि महावीर अथवा अधर्म करने वाले अन्य राजा जिनकी सेवा पृथ्वी के लिये भारस्वरूप हो गयी है, पृथ्वी का वह भार कम करने के लिये, निर्विकार धर्म की वृद्धि करने के लिये तथा साधुओं का संरक्षण करने के लिये आया श्रीकृष्ण भगवान का पूर्ण अवतार है। भक्तों का पालन करने तथा साधुओं को सुख देने के लिये यदुवंश में भगवान श्रीकृष्ण रूप में अवतरित हुए हैं। असुररूपी हाथियों का संहार करने वाला वह सिंह तथा सज्जनरूप वन पर आनन्द की वृष्टि करने वाला मेघ आपके घर परिपूर्ण अंश से अवतार लेकर आया है। जिसने त्रिभुवन का उद्धार करने के लिये अपार कीर्ति अर्जित कर ली है, उसके अवतार की कीर्ति ब्रह्मदेवादि भी गा रहे हैं। अत्यन्त कठिन इस संसार सागर को पार करने के लिये जिसका यशगान सुरवर गा रहे हैं और जिसके चरित्र का गायन बड़े-बड़े ऋषिगण भी सर्वकाल कर रहे हैं, जिसका नामस्मरण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करने से भक्त कलिकाल से मुक्त होते हैं, वह श्रीकृष्ण अवतार आपके यहाँ प्रकट हुआ है। श्रीकृष्ण एकमेवाद्वितीय परब्रह्म की निधि हैं उसे बालक मत समझिये। इतने से ही आप संसार सागर तर गये ऐसा समझ लीजिये। श्रीकृष्णावतार की यह कथा नारद ने वसुदेव को सुनायी। शुक बोले, हे परीक्षित राजा! इससे सबको बड़ा आश्चर्य हुआ।

शुक उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः।
देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः॥ ५१॥

इस प्रकार जनक तथा नवयोगी का पुराना इतिहास तथा कृष्ण परमात्मा पूर्ण ब्रह्म है आदि वृत्तांत नारद ने आनन्दपूर्वक सुनाया। शुक कहते हैं, हे राजा परीक्षित! नारद का वह भाषण सुनकर वसुदेव तथा देवकी ये दोनों मन ही मन आश्चर्य से चकित हो गये। कृष्ण परमात्मा है यह नारद का वचन सुनकर देवकी वसुदेव मन ही मन विस्मित हो कर स्तब्ध रह गये। वे दोनों ही बड़े भाग्यवान थे इसलिये श्रीकृष्ण हमारा पुत्र है यह भावना उन्होंने तत्काल छोड़ दी और कृष्ण साक्षात परब्रह्म स्वरूप हैं, ऐसी भावना निश्चित की। अहा! उस अपूर्व भाग्य का क्या वर्णन किया जाय? श्रीकृष्ण के प्रति ब्रह्मभावना धारण करते ही हृदय का सारा मोह और स्नेह झट निकल गया।

इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद्यः समाहितः।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५२॥

नारद ने जो यह निमि-जायंत संवाद वसुदेव को सुनाया वह इतिहास अत्यन्त पवित्र तथा जीव-शिव का भेद मिटाने वाला है। यह इतिहास कथा जो सचमुच ही ध्यान देकर तथा तल्लीन होकर भक्ति भाव से श्रवण करेगा वह इस प्रकार दिन-रात श्रवण मात्र से ही समस्त पुण्यों की राशि एकत्र कर लेता है। ऐसा वह पुरुष ब्रह्मपात्रि के लिये अवश्य पात्र होता है। अर्थ के साथ यदि इसका एक-एक शब्द भी सुना जाय तो उससे अंतःकरण शुद्ध होता है और इस प्रकार परमानंदानुभव रूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इसे 'पंचाध्यायी' कहते हैं। शंकर के ये पाँच मुख ही हैं। एकादश स्कन्ध के गूढ़ ज्ञान का वर्णन करने के लिए मानो यह पताका ही फहरायी गयी है। यह केवल पंचाध्यायी नहीं बल्कि एकादश स्कंध के ये पंचप्राण ही मानों शुद्ध ज्ञान का उपदेश करने के लिये अपने भक्तों के सामने प्रस्तुत हुए हैं। यह केवल पंचाध्याय नहीं अपितु शुक्राचार्य रूपी कोकिला का पंचम स्वर में किया हुआ गायन है। एकादश स्कन्ध यह 'वसन्त ऋतु' है और वह भक्त रूप भ्रमरों की गूँज है या फिर यह मिश्री का पंचकोनी टुकड़ा ज्ञानगम्भीर निजभक्तों को चखने के लिये दिया गया है। वास्तव में यह पंचाध्यायी भी नहीं बल्कि एकादश स्कन्ध के पंच-गन्धों की गंधाक्षत ही है जो भक्तों को निमंत्रण देने के लिये गाजे-बाजे के साथ भेजी गयी है। निजभक्तों के प्रति अत्यन्त कृपालु भगवान ने एकादश स्कन्ध का आगे का ज्ञान गम्भीर भाग सुनने के लिये उपस्थित होने के लिये प्रसन्नतापूर्वक यह पालकी भेजी है। एकादश स्कन्ध यह कृष्णउद्धवरूपी अर्धमात्रा है, अर्धोदय पर्व की महायात्रा है, इस यात्रा में साधकों को बुलाने के लिये पंचाध्यायी की यह मुनादी बुला रही है। श्रीकृष्ण उद्धव के मेले के इस सोज्वल ब्रह्मसुख को देखकर पंचाध्यायी व्याकुल होकर कहने के लिये भक्तों के पास आयी है। अहंकार का डेरा-डंडा श्रीकृष्णनाथ ने उखाड़ दिया और अपने अभय हस्त से आत्मस्वरूपी तीर्थ उद्धव को स्नान करने के लिये सुलभ कर दिया। उस मुक्ततीर्थ की बड़ाई करने पंचाध्यायी आगे आयी है। जो भी कोई संसार में श्रांत हो गया हो वह विश्राम करने के लिये यहाँ आयें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऐसा वह कर रही है। कृष्ण और उद्धव की मधुर कथायें सुनने का संयोग सचमुच कपिलाषष्ठी का योग है। पर्वकाल की कसौटी बताने के लिये यह पंचाध्यायी तीव्रता से आयी है। उद्धव भवसागर सुरक्षित पार कर सके इसलिये श्रीकृष्ण ने भागवत के रूप में यह सरज राह बना दी है। तैर कर जाने की अपेक्षा पैर से चल कर जाना कभी भी अच्छा ही है। भागवतधर्म की राह अत्यन्त सरल है। वह मार्ग दिखाने के लिये पंचाध्यायी श्रीशूद्रों को पुकार रही है। निरूपण का अगला भाग मधुर से मधुरतम होता जाएगा। उस कृष्ण वाक्यामृत की मिठास चखने का यह पंचाध्यायी निमंत्रण दे रही है। कृष्णउद्धव संवाद में परब्रह्म का मानों अन्न छत्र ही शुरू हो जाएगा। वहाँ स्वयं के सुख के लिये साधक तथा मुमुक्षुओं की भीड़ एकत्र होती जायगी। निश्चय ही परब्रह्म कृष्णरूप से सशरीर उपस्थित हुआ है। उसका स्वरूप ज्ञानगौरव तथा मनोहर रूप का वैभव देखने के लिये स्वर्ग से देवतागण आने वाले हैं। उन देवताओं द्वारा किया हुआ स्तोत्रपाठ, उसके साथ उद्धव का वैराग्य तथा कृष्ण उद्धव का ज्ञानमय भाषण इन सबसे परमानन्द के सागर में उफान आने वाला है। उसकी रसीली कथा अगले अध्याय में सुनायी जाएगी। तो अब श्रोतागण निजबोध की दृष्टि से ग्रथार्थ की ओर ध्यान दें। जिस प्रकार हम पतंग तैयार करते हैं और स्वयं ही उड़ाकर जब वह अच्छी तरह उड़ने लगती है तो मन ही मन संतुष्ट होते हैं उसी प्रकार मेरे नाम से कविता लिखकर सद्गुरु स्वयं ही वक्ता बन जाता है। इस प्रकार ग्रन्थ का अर्थ सुनाकर स्वयं ही श्रोता के रूप आनन्दित होता है। अकेलेपन के बिना अकेलेपन से रहनेवाला एका (एकनाथ) और दूजापन के बिना रहने वाला सखा जनार्दन वही ग्रन्थ का अगला भाग स्पष्ट रूप से बतला रहा है। दूजेपन का स्पर्श किये बिना एकनाथ जनार्दन को शरणागत है। श्रोताओं के चरण पकड़ कर वही आगे का कथानक सुनाएगा। नाम दो होने पर भी स्वरूप एक ही है। इसे जो जान लेगा वह स्वयं भी अत्यन्त सुख प्राप्त करेगा। एका जनार्दन के शरण में होने के कारण उस पर उनकी पूरी कृपा है। उस जनार्दन की कृपा से ही पंचाध्यायी का यह निरूपण सम्भव हुआ है।

इति श्रीभागवते महापुराणे एकादश स्कंधे वसुदेव नारद
संवादे एकाकारटीकाया पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

छठां अध्याय

हे ओंकारस्वरूप जनार्दन! तुम्हें नमस्कार करता हूँ। भक्तिभाव से तुम्हारे चरणों में नमस्कार करने से जन के साथ 'मैं' पन अपने आप नष्ट होता है। लिंगदोह का मर्दन इस का अर्थ जनों का अर्दन (नाश) है। इसीलिये तुम 'जनार्दन' इस नाम से प्रसिद्ध हो। हे जनार्दन! तुम्हारा कर्म भी वैसा ही है। 'कर्म' अथवा 'कर्तापन' शेष रखे बिना तुम भक्तों को जनता में सुख चैन से रखते हो। आनन्द से तुम्हारा नाम लेने पर तुम जीव का जीवभाव ही हरण कर लेते हो और फिर भी कृपालु बने रहते हो। तुम्हारे नाम की शक्ति असीम है। उसके आगे कलिकाल भी सिर नहीं उठा पाता और चारों युक्तियाँ दासी बन कर रहती हैं। नाम का दान ही जब इतना अपार है तो तुम्हारा साक्षात रूप किसकी समझ में आयेगा? इसलिये जानने और न जानने की बात छोड़कर शान्त बैठे रहना ही श्रेयस्कर है। यदि तुम्हारे स्तुतिस्रोत गाने का विचार करें तो श्रुतिशास्त्रों ने भी हार मान ली है, उनके आगे मेरे टेढ़े-मेढ़े बोल किसे अच्छे लगेंगे? इसलिये हे कृष्णस्वरूप जनार्दन! मौन ही तुम्हारा स्तुतिपाठ है तुम्हारे प्रति आकुलता ही तुम्हारा कीर्तन है और कुछ भी न करना ही तुम्हारा अनुसंधान है। ऐसा होते हुए भी मुझे तुम्हारे प्रति व्याकुलता बढ़ रही है। तो हे गुरुराया! कृपा कर इस ओर ध्यान दें। जैसे जुगनूं चन्द्रमा को प्रकाशमान करने का विचार करे अथवा मक्खी गरुड़ को अपने कन्धे पर उठाने की सोचे उसी प्रकार मैंने मूर्ख होते हुए एकादश स्कन्ध पर टीका लिखने का विचार किया है। किन्तु हे गुरुनाथ, इस सम्बन्ध में आप मुझ पर पूर्ण कृपा करें और ग्रन्थ रचना में यथार्थ अर्थ साध कर मेरी मनोकामना को सार्थकता प्रदान करें। ऐसी विनती सुनते ही श्रीगुरु ने कृपा का वरदहस्त मस्तक पर रखा। तभी यथार्थता के दीप से ग्रन्थ पर प्रकाश पड़ा। कृपा की करनी अगाध है क्योंकि उसके होते ही अर्थ चिन्तामणि की खान ही खुल गयी और कवि के गुण तथा साहित्य बाहर आने लगा। तैयार आभूषण पहनने में हिचकिचाहट किस बात की? कठपुतली से ताल साधने में कठपुतली को किस बात का कष्ट है? अपने ही पत्तल में से पकवान लेकर बालक अपने पिता के मुँह में डालता है, जिससे बाप को सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता है। वैसी ही यह बात है। ग्रन्थ भी तुम ही हो और कविता भी तुम ही हो तो फिर 'मैं कर्ता हूँ' यह अलंकार कौन उठाये? गुरु ने 'अहंता' तो नष्ट कर ही दी साथ ही 'सोहंता' भी शेष नहीं रहने दी। इसलिये मैं एक 'कवि' या 'कर्त्ता' हूँ यह भावना भी मुझमें नहीं रही। लौकिक अहंकार का त्याग करते समय एक दूसरा अहंकार 'शिवोऽहं' पीछे लग गया। इसलिये जो स्वयं को पागल कहता है वही सबसे बड़ा चतुर अर्थात् ज्ञाता है। इसलिये हे श्री गुरुनाथ! आपके चरणों पर मस्तक रखकर कहता हूँ कि 'कर्ता' तुम ही हो। अस्तु पाँचवें अध्याय के अन्त में नारद ने यही रहस्य बताया कि श्रीहरि ही साक्षात परमात्मा है तथा वह 'लीलादेह' धारण कर आपके घर में अवतरित हुआ है। आपके घर में रहकर वह अनेक अद्‌भुत लीलाएँ कर रहा है यह आपका अहोभाग्य है। यह श्रीकृष्ण ईश्वरों का भी ईश्वर है तथा बैकुण्ठ का स्वामी है। यह साक्षात परमात्मा परेश तथा जगदीश है। नारद के इसी भाषण को प्रमाणस्वरूप मानकर सारे देवतागण श्रीकृष्ण की प्रार्थना करने के लिये द्वारका में एकत्र हुए।

श्री शुक उवाच

अथ ब्रह्मात्मजैर्देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात्।
भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः॥ १॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शुक्राचार्य बोले, हे राजा परीक्षित! श्रीकृष्ण की मूर्ति देखने के लिये स्वर्ग के समस्त देवता द्वारका में एकत्र हुए और उन्होंने विचित्र स्तुति की। श्रीकृष्ण मूर्ति का कौतुक देखने के लिये चतुर्मुख ब्रह्मदेव, पंचमुख शंकर तथा षण्मुख कार्तिकस्वामी पधारे। पहले प्रजा की उत्पत्ति करने के लिये प्रजापति नियुक्त थे। वे भी कृष्ण की मूर्ति देखने के लिये द्वारका आये। आत्मस्वरूप में ही रममाण होकर जो सभी कर्मों से निवृत्त हो गये हैं ऐसे निष्काम भक्त सनकादिक भी सकाम होकर साँवली घनश्याम मूर्ति को देखने आये। सर्वभूतनायक जो रुद्र हैं वे ग्यारहों जन भूतगणों के साथ श्रीकृष्ण को देखने आये और तो और जो भूत भविष्य का त्रिकाल ज्ञाता महादेव है वह भी अपने सारे गणों का समुदाय लेकर श्रीकृष्ण को देखने के लिये द्वारका में आये। श्रीकृष्ण को देखने की आतुरता शंकर में इतनी अधिक हो गयी थी कि उसे देखने के लिये दौड़ कर आते समय उसकी जटायें भी खुल गयी थीं।

इन्द्रो मरुद्भिर्भगवानादित्या वसवोऽश्विनौ।
ऋभवोऽङ्गिरसो रुद्रा विश्वे साध्याश्च देवताः॥ २॥

गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धचारणगुह्यकाः।
ऋषयः पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नराः।
द्वारकामुपसंजग्मुः सर्वे कृष्णादिदृक्षवः॥ ३॥

उनचास मरुद्गणों के साथ स्वयं इन्द्र भक्तिभाव से श्रीकृष्ण को देखने आया। सूर्यमण्डल छोड़कर बारह आदित्यों का मेला कृष्ण की शोभा देखने के लिये तृषित होकर आया। आँखों में सूर्य की स्थापना होने के कारण सारी चीजें दिखायी देती हैं, किन्तु सूर्य भी कृष्णदर्शन न होने के कारण अन्धा हो गया था। श्रीकृष्ण का मुखकमल देखते ही सूर्य की आँखों पर का परदा हट गया फिर सूर्य स्वयं सर्वांगसुन्दर हो गया। तीनों अग्नि (गर्दपत्य, दक्षिण तथा आह्वनीय) तेज:पुंज अवश्य है किन्तु धुएँ से उनका तेज ढँक गया था। कृष्ण को देखते ही उन पर छाया हुआ धुँआ हट गया और वे अपने मूल तेज से चमकने लगे। आठों वसुओं का मेला भी कृष्णलीला देखने आया था। श्रीकृष्ण को देखते ही उन्होंने कहा, यह तो साक्षात मदन का पुतला है। लेकिन उन्हें वह कृष्ण की गोद में खेलता हुआ दिखायी दिया। अश्विनीकुमार स्वयं धन्वंतरी थे, लेकिन वह भवरोग से अत्यन्त त्रस्त थे, कृष्णदर्शनामृत से वे भी क्षणमात्र में रोगमुक्त हो गये। ऋषभदेव, आंगिरस तथा असाधारण धैर्य के स्वामी रुद्र भी आये। विश्वेदैव, साध्यदेव आदि अनेक देवताओं से आकाश भर गया था। अपनी गायन कला के बारे में गन्धर्व को बड़ा घमण्ड था लेकिन कृष्ण की मुरली का गायन सुनकर वह चूर-चूर हो गया। उन्हें दर्शन की उत्कंठा लगी हुई थी और वे क्षण प्रतिक्षण उसकी बाट जोह रहे थे। कृष्ण ने कृपादृष्टि से ही उन्हें आहिस्ता-आहिस्ता सरस गायन कला प्रदान की। अप्सरायें कह रही थीं, 'हमारी तरह कोई भी नृत्यकला में पारंगत नहीं है।' लेकिन कालिया सर्प के फन पर नाचते हुए कृष्ण ने एक ही ताल में उन्हें लज्जित कर दिया। वे अप्सराएँ इतना-सा मुँह लेकर दर्शन के लिये आयी थीं, उन नृत्यांगनाओं को भी नेत्र संकेत से ही नृत्य में प्रवीण कर दिया। श्रीकृष्ण को देखने के लिए पाताल से नाग भी आये थे। इतना ही नहीं तो अनेक सिद्ध, चारण, विद्याधरों के सभी समुदाय आये हुए थे। ऐसे विमानों के झुण्ड के झुण्ड द्वारका में सट कर खड़े थे। इतने बड़े-बड़े देवतागण श्रीकृष्ण की मूर्ति देखने के लिए उल्लासपूर्वक आये हुए थे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वपुषा येन भगवान्नारलोकमनोरमः।
यशो वितेन लोकेषु सर्वलोकमलापहम्॥ ४॥

श्रीकृष्ण ने जिस अवतार शरीर से अनेक प्रकार की युक्तियों से दुराचारी लोगों को संसार से तारने के लिए अपनी कीर्ति का विस्तार किया, जिस कीर्ति को ध्यानपूर्वक सुनने से सचमुच ही चतुर्विद्ध प्रायश्चित्तों की गति ही रुक जाती है, भक्तिभाव से जिसका नाम लेने से सभी पाप भस्म हो जाते हैं उस श्रीकृष्णरूपी पुरुषोत्तम ने सृष्टि के विश्राम का स्थल देखा। जिसका सुरेखित शरीर, सुरनरों में अत्यन्त मनोरम दीखने वाला वह घनश्याम देखकर सबके मन को समाधान हुआ। किरीटकुण्डल तथा मेखला पहिना हुआ, कटि में जरी का पीताम्बर परिधान किया हुआ तथा गले में वनमाला होने के कारण वह घननील अत्यन्त शोभायमान लग रहा था। सौन्दर्य और गुणों का वह मानों भण्डार ही था और अवतार मालिका का मुख्य रत्न श्रीकृष्ण उन्होंने देखा और उसका निवास स्थल द्वारका भी सभी देवताओं ने देखी।

तस्यां विभ्राजमानायां समृद्धायां महर्द्धिभिः।
व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुतदर्शनम्॥ ५॥

कृष्ण ने जिस नगरी को बसाया था उसकी शोभा का क्या वर्णन किया जाय? उसमें सुवर्ण कलशों की तो पंक्तियाँ दिखाई दे रही थीं और उनमें बड़े कौशल से रत्न जड़े हुए थे। उनका तेज आकाश में भी नहीं समा रहा था। उस द्वारिका में कामधेनु प्रायः प्रत्येक घर में थी, कल्पवृक्षों की तो कतारें लगी हुई थीं और घर की दीवारों पर चिन्तामणि के खिलौने लटक रहे थे। द्वारकावासियों के घरों में नवरत्नों के ढेर लगे हुए थे और वहाँ श्रीकृष्ण का वास होने के कारण ऋद्धि-सिद्धि भी दासी होकर वहाँ रहती थीं। कृष्णरूप की लालसा ने तो आँखों को मतवाला कर दिया तब वे बड़ी चाह से श्रीहरि के देह पर बैठकर मोरपंख जैसी आँखों को देखने लगे। कृष्ण के सौन्दर्य का क्या वर्णन किया जाय? उसे चखने के लिए तो आँखों में जिह्वा लग गयी। उपनिषद में वर्णन किया हुआ जो परब्रह्म है वही साकार रूप में आ जाने के कारण उसमें रसालता तो अपूर्व थी। कृष्ण को देखने के लिये देवतागण उछलकूछ मचाने लगे। आँखों को तो पलक झपकाने की फुर्सत नहीं थी। कृष्णस्वरूप का कौतुक देखते समय आँखों की क्षुधा बढ़ रही थी, उनमें सुख लबालब भर गया था, फिर भी वे अतृप्त थीं। श्रीकृष्ण को देखने वालों की भीड़ इतनी अधिक बढ़ रही थी कि देखने की जल्दी में उनके शिरस्त्राण एक-दूसरे पर गिर रहे थे। श्रीकृष्ण को देखने वालों ने चारों ओर से उन्हें घेर लिया। मानो सभी आँखों का भाग्योदय हो गया था। वे सम्पूर्ण पुरुष को देख रहे थे। श्रीकृष्ण गाढ़े मेघ की तरह श्यामवर्ण था। उसकी ओर निजात्मभाव से देखते ही आँखें कृष्ण कला के प्रभाव से श्यामल हो गयीं। जो वेदों की भी समझ में नहीं आता, योगियों के भी ध्यान में नहीं आता उस कृष्ण को वे साक्षात देख रहे थे। उनके भाग्य को अपूर्व ही कहना चाहिये। ऐसे श्रीहरि को देखते ही देवताओं ने विमानों से पर्जन्यधाराओं की तरह पुष्पवृष्टि की।

स्वर्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो यदूत्तमम्।
गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम्॥ ६॥

मंदार, पारिजात, कल्पवृक्ष, हरिचन्दन आदि स्वर्गीय वृक्षों के सुगन्धित पुष्प सबने श्रीकृष्ण पर उछाले। श्रीकृष्ण के चारों ओर उत्तमोत्तम पुष्पों का ढेर इकट्ठा हो गया था। फिर समस्त देवताओं ने सामने जाकर जय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जयकार किया जिससे दसों दिशाएँ गूँज उठीं। उन्होंने अनेक प्रकार के रसीले पद, प्रबन्ध तथा विविध प्रकार की गद्यपद्य रचनाओं से श्रीकृष्ण का स्तुति गायन शुरू किया।

देवा ऊचुः

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं बुद्धीन्द्रियप्राणमनोधचोभिः।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तैर्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरूपाशात्॥ ७॥

देवताओं ने कहा, हे सच्चिदानंद श्रीकृष्ण! काया, वाचा तथा मन से विवेक युक्त प्राणधारणा से तुम्हारे चरणों को प्रणाम करता हूँ। इन्द्रिय शान्त हो इसलिये विषयवासना छोड़कर दसों इन्द्रिय तुम्हारी ओर प्रवृत्त कर हे श्रीकृष्ण! भक्तिभाव से तुम्हें नमस्कार कर रहे हैं। विषयों के प्रति उदासीन होकर, संसार की आशा त्याग कर, कर्मपाश तोड़ने के लिये तपस्वी लोग तुम्हारे चरणों का चिन्तन करते हैं। मुक्ति की आशा से मुमुक्षु लोग तुम्हारे चरणों का ध्यान करते हैं लेकिन वे कैसी भी दृढ़ भावना क्यों न रखें लेकिन क्षण भर के लिये भी तुम उनके ध्यान में नहीं आते। तुम्हारे उन चरणों का प्रत्यक्ष दर्शन हमें आज हुआ, इस प्रकार देवतागण परस्पर अपने भाग्य का वर्णन करने लगे। "इस सगुण स्वरूप को देखकर उसकी इतनी स्तुति क्यों करते हैं? क्योंकि जो आकार ले लेता है वह सचमुच ही माया से युक्त होता है। जैसे आप शरीरधारी हैं, वैसे ही मैं भी शरीरधारी हूँ। तो मेरे दर्शन से आप कैसे तर पायेंगे?" यदि आप ऐसा कहें तो मैं कहूँगा, हे अनन्ता! आप ऐसा न कहें। आप स्वयं माया के नियन्ता हैं यह भी हमें मालूम हुआ है। वह समग्र कथा सुनें।

त्वं मायया त्रिगुणयाऽऽत्मति दुर्विभाव्यं व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै यत्स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः॥ ८॥

नींद लगने पर वह नहीं दिखायी देती, जागने पर तो वह बिलकुल ही नहीं दिखायी देती। उसी प्रकार देह में माया अतर्क्य स्थिति में है। वह सुरनरों को भी नहीं मालूम होती। हे देवाधिदेव श्रीकृष्ण! तुम्हारी माया तो वैसे भी अतर्क्य है, तिस पर गुणों का क्षोभ होने के कारण वह ब्रह्मदेव आदि के भी समझ में नहीं आती। तुम ही देवी माया का सहारा लेकर ब्रह्मादिकों को उत्पन्न करते हो, उनका पालन करते हो और तुम ही उनका संहार भी करते हो। लेकिन उस कर्म से तुम अलिप्त रहते हो। कोई स्वप्न में सृष्टि उत्पन्न करता है, उसका प्रतिपाल कर संहार भी करता है लेकिन वह क्रिया कर्ता पर लागू नहीं होती। उसी प्रकार तुमने भी अलिप्त रह कर ही सृष्टि उत्पन्न की है। सूर्य अपनी ही किरणों से मृगजल भरता है और अस्त के समय उसका शोषण कर उसे ले जाता है। उसी प्रकार तुम सब कुछ करके अलिप्त रहते हो। धर्म की बाढ़ समूल नष्ट हो जाती है, अधर्म की सीमा टूट जाती है तब हमारा संकट दूर करने के लिये तुम्हें अवतार धारण करना पड़ता है। अधर्म का नाश कर तुम धर्म की पूर्ण वृद्धि करते हो और देवताओं को अपने-अपने पद पर स्थापित करते हो। फिर भी हे श्रीकृष्ण तुम कर्मातीत हो। आत्मसुख के अनुसन्धान का तुम्हें हमेशा ध्यान रहता है जो हमें क्षण भर भी नहीं रहता इसीलिये हम सदा दीनवदन रहते हैं। जिसे निरन्तर आत्मसुख रहता है वह देहधारी होते हुए भी अवतारी पुरुष रहता है। उसके चरण गंगासागर जैसे तीर्थों को भी पवित्र करनेवाले होते हैं। भले ही वह गुणों में विचरण कर रहा हो लेकिन वह गुणातीत रहता है। उसके चरण का एक रजःकण भी त्रैलोक्य के महापातकों का विनाश कर देगा। यह तो तुम्हारे दासों की कथा है। फिर हम तो प्रत्यक्ष तुम्हारे चरणों का ही वन्दन कर रहे हैं। यह तो तुम्हारे चरणों की कथा है लेकिन तुम्हारी कीर्ति श्रवण करने से भी वैसा ही लाभ होता है। जो तुम्हारे चरणों का दर्शन करते हैं वे तो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भाग्यवान हैं ही, उनकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। हे स्वामी! तुम्हारी कीर्ति की पवित्रता भी वैसी ही है। कथा सुनाता हूँ, उसे ध्यान से सुनो। पहले से ही जिस अग्नि में ज्वालाएँ निकल रही हों उसमें और लकड़ियाँ डालने से आग धधक उठती है, उसी प्रकार देहाभिमान के कारण आशा बढ़ती रहती है जो तुम्हारे श्रवण कीर्तन से समाप्त होती है।

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशशि प्रवृद्धसच्छद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात्॥ ९॥

कृष्ण का स्तवन करने से वह तर जाता है। उस स्तवन को सुनने वाले का भी उद्धार होता है। इसलिये स्तवन के द्वारा तारने में समर्थ एक तुम ही हो। इसलिये तुम्हारी कीर्ति का श्रवण यही एक शुद्धि का साधन है अन्य सभी साधन केवल कष्ट उत्पन्न करते हैं। हे देवाधिदेव! सुनो, केवल तुम्हारे श्रवण की उत्कंठा ही अंतःकरण के पातकों को धोकर चित्तवृत्ति निर्मल करती है। गुणानुवाद श्रवण करने से जो विमुख हो गये और तपस्या करने लगे उनकी बुद्धि नाना प्रकार के साधनों के कारण कर्कश हो गयी। मंत्र विद्या तो ग्रहण कर ली लेकिन मंत्रोच्चार अशुद्ध होने से पुण्य तो नहीं ही मिलता उलटे भयंकर पातक अवश्य लग जाता है। 'शास्त्र' का श्रवण करने से अहंकार चौगुना बढ़ जाता है और ज्ञानी होने का अभिमान ब्रह्मदेव से भी नहीं छूटता। यदि 'वेदाध्ययन' शुरू करें तो उसमें का एक भी स्वरोच्चार गलत हुआ तो शुद्ध होना तो दूर, वृत्तासुर की तरह मृत्यु अवश्यंभावी है। 'दान' देने वाला नहुष भी कुएँ में गिरगिट होकर गिर पड़ा। दान करने से लाभ होना तो दूर उलटे नुकसान काफी हो गया। ऋष्यशृंग 'तप' करने लगा तो वह वेश्याओं के ही वश में हो गया। इससे श्रद्धा से तुम्हारी कीर्ति श्रवण करने से अच्छी शुद्धि और किसी में नहीं है। यदि यथाशास्त्र कर्म करके रहा जाय तो कर्म मार्ग बहुत कठिन है। 'प्राचीनवर्ही' राजा की कर्मासक्ति नारद ने उपदेश करके छुड़ायी। कर्माचरण करने से पहले आचमन करना है तो उतना ही पानी लेना चाहिये जिसमें उड़द डूब जाय। यदि इसमें जरा भी कम अधिक हुआ तो उससे सुरापान करने का दोष लगता है। सारांश यह कि जिसका हृदय दुष्ट अर्थात् अत्यन्त मलिन है उसे श्रीकृष्ण की कीर्ति का श्रवण किये बिना तपादिक साधनों से शुद्धि नहीं मिल सकेगी। राजा परीक्षित श्रवण करने से ही तर गया। श्रवण से ही क्रौंच का उद्धार हुआ। मत्स्य के उदर में श्रीकृष्ण की कीर्ति सुनने को मिली इसलिये मत्स्येन्द्रिय सिद्ध पुरुष हो गया। तुम्हारी कीर्ति का श्रवण करने से दो बातों की सिद्धि होती है। एक तो उससे चित्त की शुद्धि होती है और दूसरा उससे जीवब्रह्म में ऐक्य स्थापित होता है। इस प्रकार दोनों का उद्धार होता है। प्रत्यक्ष काशी में भी ऐसा ही होता है। वहाँ श्रवण में तारक ब्रह्म का उपदेश होता है इसलिये काशी मुक्तिक्षेत्र बन गयी है। वहाँ श्रवण से ही जीव का उद्धार होता है। तुम तो सदासर्वदा पूर्णकाम ही हो। तुम निष्कामों का निजधाम हो। फिर भी भक्तों का श्रम दूर करने के लिये तुम्हें कर्म करना पड़ता है। हे श्रीकृष्ण! इसीलिये तुमने अनेक प्रकार की लीलाएँ कीं और लोगों के लिए मोक्षमार्ग का सोपान बना दिया। तुम्हारी यशगाथा का भक्तिभाव से श्रवण करना यही चित्तशुद्धि का उपाय है। वहाँ सात्विक श्रद्धा यही एक उपाय है। मन में इच्छा कर जो भी कोई साधन किये जाते हैं वे सब उस इच्छा से ही व्यर्थ हो जाते हैं। जो इच्छारहित होता है उसी का अन्तःकरण चोखा रहता है। वैसा अंतःकरण देखते-देखते परमार्थ में विलीन हो जाता है। हृदय की गहराई में स्वधर्म का बीज अंकुरित होता है, उसमें ही श्रद्धा की बेल तैयार होकर बाहर निकलती है। सच्छ्रवण के जल से वैराग्य की जड़ें गहराई तक पहुँचती है और मजबूत होती हैं। उन्हें श्रद्धा की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पुष्टि मिलते ही वह तीव्रगति से चिदाकाश में चढ़ने लगती है और हे पुरुषोत्तम! उस चिदाकाश के स्वयं प्रकाशित चन्द्रमा तुम हो। हे मेघश्याम! तुम्हारी मूर्ति देखने के लिये साधकों को कितने प्रयास करने पड़ते हैं। तुम्हारे उस श्रीचरण के आज प्रत्यक्ष दर्शन हुए। इतना कहकर सभी देवतागण उसे साक्षात दण्डवत करते हुए स्तवन करने लगे।

स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः क्षेयाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भिर्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय॥ १०॥

हे श्रीकृष्ण! हमारे समस्त पातकों का विनाश करने के लिये सारे त्रिभुवन में तुम्हारा एक चरणरूपी धूमकेतु ही समर्थ है। पातकरूपी लकड़ियों की राशि में तुम्हारे चरणरूपी बड़वानल का स्पर्श होते ही वह अपने देदीप्यमान तेज से उसके तिल-तिल टुकड़े कर सब कुछ स्वाहा कर देता है। हे अनंता! ऐसे पापियों को कँपाने वाला तथा जो प्रेमयुक्त हैं उन्हें अभय देने वाले पैर को भक्तजन सदा अपने अंत:करण में धारण करते हैं। वह अंत:करण भक्ति प्रेम रस से सिक्त रहता है, उसमें तुम्हारे चरण अत्यन्त उल्लासपूर्वक स्वेच्छा से धारण करके बैठ जाते हैं। चरणों का ध्यान करते समय वे भूख और प्यास भी भूल जाते हैं उन्हें अभय प्रदान करने वाला एक तुम्हारा चरणध्वज ही है। हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे उसी चरण का दैवी ऐश्वर्य देखने के लिये भक्तों ने आज चतुर्व्यूह मूर्ति का पूजन किया। वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न इस स्वरूप को 'चतुर्व्यूह' कहते हैं और यही भक्त का पूजास्थान है। ये चार व्यक्ति भिन्न-भिन्न होते हुए भी उन चारों स्वरूपों में मूर्ति एक ही है, यही बात ध्यान में रखकर भक्तों का उनकी पूजा करना 'व्यूहास्थिति' कहलाता है। 'सात्वत' कहलाने वाले भक्त जो भगवत्पद् की इच्छा करते हैं वे उसी 'पद' की ओर ध्यान रखकर इस चतुर्व्यूह रूप की पूजा करते हैं। यदि जन्म-मरण के प्रवाह को रोकने की इच्छा है तो आत्मस्वरूप पहचानने वाले ज्ञानियों को इसी चतुर्मूर्ति की एकनिष्ठा से भक्ति करनी चाहिये। जन्ममूलच्छेदन करने के लिये जो त्रिकाल यज्ञ तथा एकनिष्ठ भक्ति से त्रिकाल पूजा कर भजन करते हैं वे कलिकाल पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त तुम्हारे दूसरे भक्त विधि-विधान युक्त तथा वेदोक्त पद्धति से यज्ञ द्वारा होम हवन कर तुम्हारा भजन करते हैं।

यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः॥ ११॥

दीक्षा ग्रहण करने में अत्यन्त आदर, यज्ञ के द्वारा भजन करने में उत्सुक, हाथ से केवल नियमित कियाएँ करना, अन्य हस्त व्यापार बिलकुल न करना, त्रिविध वेदात्मक विधि ही जिनके लिये प्रमाण हैं बाहर त्रिगुणों की त्रिमेखला, अंतर्यामी सर्वात्मा—चैतन्य के तेज से देदीप्यमान रहने वाला यज्ञपुरुष, वहाँ ओंकार, वषट्कार आदि लक्षणों से युक्त मंत्रोच्चार कर अतिपवित्र अवदानों से अपार द्रव्य अर्पण करते हैं। तुम्हारे अन्य भक्त योगयुक्त होते हैं, वे योगधारणा से तुम्हारा भजन करते हैं, आसन पर स्थिर होकर प्राणापान की समता लाते हैं। वज्रासन से दृढ़ बन्ध साध कर षड्चक्रों का भेदन कर कुण्डलिनी का सुदृढ़ स्कन्ध थपथपाते हैं। इससे वह महाशक्ति उछल कर अत्यन्त तीव्र गति से ऊर्ध्वगति से ऊपर जाने लगती है और वायु भक्षण कर योगस्थिति से गगन को ग्रास बना लेती है। सहस्र दल के पार सोख कर लिंगदेह का विकट मार्ग पार कर वह बड़ी तेजी से ब्रह्मस्थान तक पहुँचती है। वहाँ परमानन्द का भोग तथा शिव-शक्ति का संयोग होता है। इस प्रकार योग का अभ्यास करना यह योगियों का भजनमार्ग है। कोई तुम्हारी माया को जानने के लिये तुम्हारे ही पैरों का भजन करने लगते हैं। किन्तु

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हे श्रीकृष्ण! देवाधिदेव! तुम्हारी माया सर्वथा अतर्क्य है। देखने जाओ तो वह दिखायी नहीं देती, इतना ही नहीं बल्कि उसी माया का चित्त को मोह हो जाता है और तब वे वास्तव में सिद्धि के ही लिये भगवान के चरणों की पूजा करते हैं। एक और पक्ष है 'मुमुक्षु' लोगों का। ये लोग अध्यात्म में पारंगत रहते हैं। आत्ममाया का विनाश करने के लिए जिज्ञासुओं को अपने आत्मज्ञान के योग से मन में पूजा करने के प्रति अत्यन्त उल्लास रहता है। उनके मन में निरन्तर विवेक की ही भावना होने के कारण वे नित्य क्या है और अनित्य क्या है इसका विचार मंथन कर जब अपना निश्चय करते हैं तो उन्हें चारों ओर तुम ही तुम दिखायी देते हो। अनित्य होने के कारण जिसका त्याग किया वह मायिक होने के कारण मिथ्या हो गया। फिर शुद्ध निजात्मरूप ही शेष रहता है। इस प्रकार चारों ओर देखने पर तुम्हारा ही स्वरूप दिखायी देने लगता है। फिर वे अपनी पसन्द से तुम्हारी ही पूजा करने लगते हैं। जहाँ भी वे देखते हैं वहाँ तुम्हारे सिवा और कुछ नहीं रहता। इस प्रकार तुम्हारे ही चरणों की पूजा होती है।

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः।
यः सुप्रणीतममुयाऽर्हणमाददन्नो भूयात् सदाङ्घ्रिशुभाशयधूमकेतुः॥ १२॥

इस प्रकार चारों ओर तुम्हारे जो भक्त हैं वे तुम्हारे अत्यन्त प्रिय हो जाते हैं और हे श्रीपति! उनकी पूजा भी तुम अत्यन्त प्रेम से स्वीकार करते हो। भक्त जब जंगली फूलों की माला ले आये तो तुम उतावले होकर लक्ष्मी को छोड़ कर उसकी ही ओर आकृष्ट हो गये। वह वनमाला भक्तों ने अत्यन्त प्रेम से अर्पण की थी इसलिये उसका आकर्षण विशेष रूप से था। बासी हो जाने पर भी तुम उसे क्षण भर के लिये भी नहीं उतारते। भक्तों ने उसे भावार्थ से अर्पण किया और भगवान ने उसे सर्वांग पर धारण किया इसलिये वनमाला सूखना भूल कर सदा ताजा रहने लगी। उसकी सुगन्ध मिलते ही भगवान भक्ति में भूल गया इसलिये लक्ष्मी ने उससे सौतिया डाह शुरू कर दिया। प्रभु के पास मैं आयी उससे पहले भक्तों ने उसे कब अर्पण किया यह मेरी समझ में नहीं आता। मैं युवा होते हुए भी मुझे छोड़ कर उस अधेड़ को ही गले लगाता है। उसे भोग का लक्षण शायद नहीं मालूम। वह बुढ़िया है और मैं युवा हूँ लेकिन फिर भी वह उसके ही मोहपाश में फँसा हुआ है। वैसे यह ठीक भी है क्योंकि वैसे भी यह निर्गुण है, इसे गुण और अवगुण का क्या पता? मेरे भाग्य में चरणसेवा है और वह भी कभी-कभी और यह जब देखो तब गले से लगी हुई। इस वनमाला ने प्रेम के मामले में सचमुच ही मुझे मात दे दी है। मुझे एक ओर ढकेलकर स्वयं दोनों अंगों पर बैठ गयी है। श्रीकृष्ण इससे सदैव बातें करता रहता है। मैं कुछ कहने जाती हूँ तो मेरी ओर ध्यान नहीं देता। मुझे पैर दबाने के लिये रखा है इसलिये इसका डाह मैं कब तक सहूँ? इसने श्रीकृष्ण को पैरों तक जकड़ रखा है और मेरी सेवा मुझसे छीन ली है। कुछ भी हो लेकिन मैं क्षीरसागर की कुलवती कन्या हूँ और यह जंगली है, लेकिन भक्तों के प्रेम के कारण भगवान के कन्धे पर बैठी है। भक्ति के बल पर यह कन्धे पर बैठी है और कभी नीचे नहीं उतरेगी इसलिये लक्ष्मी उससे डाह करने के बजाय उसे नमस्कार करने लगी। हे भगवान! तुम्हें भक्तों की पूजा अच्छी लगती है इसलिए विनम्र होकर सारी भक्ति भावनाएँ तुम्हें अर्पण की हैं। तुम्हारा वह चरणरूप धूमकेतु हमारे सारे पापों का विनाश करे। हे श्रीकृष्ण! बार-बार एकत्र होने वाले पापों का भी विनाश करो। इस प्रकार देवताओं ने श्रीकृष्ण के चरणों का वर्णन किया लेकिन उनका मन तृप्त नहीं हुआ। इसलिए उनके चरणों का वर्णन करते-करते वे उसके ध्वजचिह्न का वर्णन करने लगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको यस्ते भयायभयकरोऽसुरदेवचम्वोः।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन् पादः पुनातु भगवान भजतामघं नः॥ १३॥

हे अनंता! बलिबंधन के समय जब वामन ने अपना चरण आगे बढ़ाया था तो उस समय तुम्हारे चरण सत्यलोक के ऊपर झलकते दिखायी दे रहे थे। सबसे ऊपर जो चरण बढ़ा उसे ही ज्ञानी लोक 'केतु' कहते हैं। उस समय तुम्हारी ही आत्मस्वरूप जो गंगा है वह पताका के रूप में झलकने लगी। बलिबंधन के समय आवेश के साथ कदम उठाने के कारण उसके नखों से आवरण कोश फूट कर अपार जल बहने लगा। हे भगवान! उस समय आपके चरण स्पर्श से ही उस जल को पवित्रता प्राप्त हुई इसलिये उस जल को ब्रह्मदेव ने कमण्डल में भर लिया और शंकर ने उसे मस्तक पर धारण किया। चरण की ध्वजा में पताका वही गंगा है। वही त्रिवाहिनी भी है और त्रिपथगा भी। श्रीकृष्ण की ऐसी चरण शोभा देखने के लिये नयनरूप भृंगों को बड़ा उल्हास होता है। केतु अर्थात् ध्वज जब फड़कने लगते हैं तो आसुरी सेना के हृदय में कम्पन्न शुरू हो जाता है और दैवी सम्पत्ति में हर्षोल्लास बढ़ने लगता है। इन चरणों की एक विशेषता यह है कि ये देवताओं को स्वर्ग सुख देने वाले हैं और वही चरण अधर्मियों को नरक में भेजते हैं। कोई चरणों की पूजा करके तर गये तो कोई चरणों का ध्यान करके तर गये लेकिन जो इन चरणों की उपेक्षा करते हैं वे अधःपतन की ओर जाते हैं। चरणों का वन्दन करने वाले तथा निन्दा करने वाले ये दोनों ही निजपद को प्राप्त करते हैं। लेकिन जो सर्वथा उनकी उपेक्षा करते हैं, उन्हें अधोगति प्राप्त होती है। चरणों का वन्दन करने वाली शिला तर गयी और निन्दा करने वाले शिशुपाल का तुमने उद्धार किया लेकिन चरणकमलों की जिसने उपेक्षा ही की उसे रौरव नरक में जाना पड़ता है। हे सर्वव्यापी सर्वेश्वर! सुनो, इस प्रकार तुम्हारा चरण उत्तम है और वह हमारे सभी पातकों का क्षणार्ध में उद्धार करेगा। पापों का जब उद्धार होता है तब सहज ही दुराचार नष्ट हो जाता है। तुम्हारा चरण इस संसार का सच्चा तारक है।

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरद्यमानाः।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य॥ १४॥

हे अच्युत! तुम्हारा चरण आत्मसुख का विस्तार करने वाला है तथा कालकर्मादिकों का नियंता है। उसी प्रकार वह देवताओं की आत्मा तथा शास्त्र है। काल के वास्तविक नियंता तुम ही हो इसलिये वह असमय अपना शासन नहीं कर सकता। देवताओं को अधिकारपद पर स्थापित करने वाले तुम ही हो इसलिए उनके नियंता भी तुम ही हो। हे कृष्णनाथ! कर्मों का स्वामी भी तुम हो क्योंकि तुम्हारे बिना इन्द्रियों की कोई भी क्रिया कोई नहीं कर सकता। इसलिये हे श्रीहरि! कर्मों का नियंता भी तुम हो। हे श्रीहरि! ब्रह्मदेवादि सभी शरीरधारी देवता तुम्हारे ही अधीन हैं। जिस प्रकार जुते हुए बैलों की सहायता से किसान खेत जोतता है अथवा उनमें जो काम नहीं करता उन्हें चाबुक से मारता है उसी प्रकार तुम्हारी ही आज्ञा के अनुसार कलिकाल में सब आचरण करते हैं। संसाररूपी खेत में तुम्हीं सबको काम पर जोत कर आत्मकर्म से, अपनी आज्ञा से उनसे सारा काम करवा लेते हो। अहंकार की मेढ़ बनाकर, महतत्त्वों का खलिहान झाड़ कर, तीन गुणों की डोर से जीवरूपी पशुओं को कसकर बाँध कर रखते हो। भोर से रात तक अपने कर्मों का फेरा पूरा करते समय जो कंधा बचा कर भागना चाहता है उसे ही तुम सजा देते हो। यदि तुम कहो कि यह बातें व्यर्थ हैं सृष्टि को बनाने वाली तथा धारण करने वाली माया है तो हे देवाधिदेव! ऐसा न कहो। क्योंकि माया को तुम्हारा ही आश्रय है। इसलिये 'परम कारण'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तुम ही हो। 'प्रकृति' और पुरुष ये दोनों तुम्हारी ही गोद में खेलते हैं। तुम माया से भी अधिक श्रेष्ठ हो, प्रकृति पुरुषों से भिन्न हो, काल का दुर्धर काल तथा सभी संहारों का कर्ता तुम ही हो। हे मेघश्याम! हमारे उत्तम निजसुख के लिए तुम्हारा चरण विस्तार ही कारणीभूत है। इसलिये हे पुरुषोत्तम! आपकी हमारे ऊपर सदा कृपा रहे यही आप से प्रार्थना है।

अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमानामव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः कालो गभीरस्य उत्तमपूरुषस्त्वम्॥ १५॥

हे श्रीपति! जगत की उत्पत्ति और स्थिति तुम से ही होती है और अंततः सबका संहार करने वाले निश्चित रूप से तुम ही हो। तामस शक्ति का क्षोभ होने पर वह अन्त में सारी सृष्टि का प्रलय कर देती है। उस समय समस्त जीव सूक्ष्मरूप से बीजरूप अव्यक्त में रहते हैं। जब उत्पत्ति का समय आता है तो यही सारे बीज अंकुरित होते हैं और वे यथासमय पल्लवित होते हैं और उनमें पुष्प और फल लगते हैं। हे कृष्णनाथ! यदि आप यह कहें कि यह तो गुण क्षोभ की अवस्था है, इसलिये मैं प्रलयकर्ता नहीं हूँ तो जिसे तुम्हारे स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है उन भक्तों के लिये माया, महतत्त्व और जीव इन सभी भावों का विनाश होकर वे निजपद स्वरूप का आनन्द भोगते हैं। हे कृष्णनाथ! तुम्हें उन सबका संहार करने में क्या कठिनाई है? इसलिए परिस्थिति के अनुसार 'महाकाल' यथार्थ में तुम ही हो। तुम संसार की स्थिति जानने नहीं देते। काल की गति तो तुमने अत्यन्त सूक्ष्म बनाकर रख छोड़ी है। अंततः अपनी प्रकृति के विकारों का विनाश भी तुम ही करते हो। प्रलय का मूल आधार लय, निमेष, घटिका, पल, अहोरात्र तथा त्रिकाल है जिसे 'त्रिनामी' कहते हैं। ऐसे प्रचण्ड मायामहतत्त्व का तुम विनाश करते हो। इसलिये हे श्रीकृष्ण! हे ऋषीकेश! इस प्रकार तुम महाकाल हो।

त्वत्तः पुमान् समधिगम्य यथाऽस्थ वीर्यं धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम्॥ १६॥

हे अनन्ता! कालान्तर में सृष्टि का निर्माणकर्ता भी तुम ही बन जाते हो और उस उत्पत्ति का पालनकर्त्ता भी तुम-ही हो। तुम्हारी वीर्यशक्ति प्राप्त कर पुरुष को पुरुषत्व प्राप्त होता है इसीलिये वह प्रकृति को अंगीकार कर उसमें गर्भादान करता है। उस समय वही प्रकृति महतत्त्व से गर्भवती होती है और पंचतत्त्वों को गर्भ में धारण कर हिरण्यवर्ण के अण्डे को धारण करती है। वह वीर्य अमोघ तथा प्रबल होने के कारण वह प्रिया विश्वाकार का बालक धारण करती है और उस अण्डे में सारा ब्रह्माण्ड रहता है। गर्भ को जिस प्रकार गर्भवेष्टन होता है उसी प्रकार इस अण्डे को सात प्रकार का बाह्य आवरण रहता है। उसका परिमाण तुम ही निश्चित करते हो। वे सप्त आवरण हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, स्थूल अहंकार तथा अत्यन्त प्रबल क्रियासूत्र। जिस प्रकार कठपुतली का एक सूत्रधार होता है उसी प्रकार उस गर्भ की सुरक्षा करने के लिये अंतरबाह्य तुम ही रहते हो। ऐसे जगत की सृष्टि दो से ही हुई है। तीसरा कोई भी, कहीं भी नहीं दिखायी देता। सारी सृष्टि दो ही वस्तुओं से भरी पूरी दिखायी देती है। दीपक जलाकर देखने पर भी तीसरा कोई नहीं दिखायी देता। प्रकृति के बारे में सोचते हैं तो वह भी मिथ्या है। इस प्रकार किसी दूसरे के बिना अकेले तुम ही पूरा विश्व बने बैठे हो। हे मल्लमर्दन श्रीकृष्ण! तुम अपनी कुशलता की चतुराई स्वयं प्रकट कर रहे हो। इस प्रकार तुम अकेले ही कर्त्ता होने के कारण किसी में लिप्त नहीं होते। अब कर्म करते हुए भी तुम अकर्त्ता किस तरह हो यह भी बताता हूँ, सुनो!

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तत्तस्थुषश्च जगतश्च भवानधीशो यन्माययोत्थगुणविक्रिययायोपनीतान्।
अर्थाञ्जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म॥ १७॥

चर और अचर, स्थावर तथा जंगम आदि सारे जगत के स्वामी तुम ही हो। अब यह स्वामित्व कैसे आता है यह सचमुच ही पूछते हो तो उसके बारे में भी स्पष्ट रूप से सुन लो। माया के योग से तुम स्वयं अनेक प्रकार के भोग करते हो लेकिन वे भोग तुम्हारे शरीर को स्पर्श नहीं करते। क्योंकि अकर्तात्म बोध के कारण तुम अलिप्त रहते हो। हे हृषीकेश! वह अकर्तात्मक बोध ऐसा होता है कि वह वेदशास्त्रों के लिये भी अतर्क्य है। भोग्य, भोग और भोक्ता इन तीनों को प्रकाशित करने वाले तुम ही हो। जिस प्रकार सूर्य घट में प्रतिबिम्बित होने पर भी घट से स्वभावतः अलिप्त ही रहता है, घट, जल और प्रतिबिम्ब इन तीनों को ही सूर्य स्वयं प्रकाशित करता है लेकिन तिस पर भी वह स्वयं उनसे अलिप्त रहता है, उसी प्रकार हे श्रीकृष्ण! तुम भी भोग भोगते हुए उससे अलिप्त रहते हो। अथवा कर्म, कार्य और कर्त्ता इन तीनों में ही निजआत्मा रहती है फिर भी तुम उससे अलिप्त रहते हो। जो दर्पण के प्रतिबिम्ब से ही विलास करने को प्रवृत्त हुआ है उस पर कोई व्यभिचार का आरोप कैसे लगा सकता है? जो स्वयं ही सारा संसार बन कर रहता है उस निजात्मयोगयुक्त योगी को कौन से भोगों की बाधा सताएगी? ऐसे बोध के सामर्थ्य से जो विषयोपभोग कर रहा है उसके विषयों के स्पर्श से उसका आत्मज्ञान कैसे मलिन हो सकता है? वह लेन-देन का व्यवहार करता रहता है, देखने में व्यावहारिक लगता है, घर में रहता है, गृहस्थी चलाता है लेकिन यथार्थ में वह उसमें नहीं रहता है। इस प्रकार आत्मबोध का मार्ग बिना जाने योगियों ने भोगों का त्याग अवश्य किया किन्तु शरीर में वासना होने के कारण उनका सारा शरीर काँपता रहता है। वे स्वप्न में विषय को देखते हैं और नींद खुलने पर प्रायश्चित्त करते हैं। इसका कारण यह है कि उनका अहंकार समाप्त नहीं हुआ होता और वे सदा भयभीत रहते हैं। विषय भय से कम्पित ऐसे लोगों को आत्मबोध नहीं हुआ रहता लेकिन तुम वैसे नहीं हो। तुम अत्यन्त धैर्यवान हो और तुम्हारा आत्मबोध स्पष्ट दिखायी देता है।

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारिभ्रुमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः॥ १८॥

शायद तुम अब कहोगे कि मैं धैर्यवान हूँ, आत्मज्ञान से परिपूर्ण हूँ ऐसा कौन कहेगा? तो हे स्वामी! मैं उसके लक्षण तथा उदाहरण भी बताता हूँ, सुनो। घर में सोलह हजार स्त्रियाँ और गोकुल की अन्य स्त्रियों के अलावा मथुरा में कुब्जा आदि मिश्र जाति की कुमारियों का भोग किया। यज्ञोपवीत भी नहीं हुआ था उसके पहले ही तुमने ग्वाले की विकलांग लड़की का भोग किया। राह चलती भी कितनी पकड़ी होंगी इसका कोई हिसाब ही नहीं है। हे हरि। इस प्रकार तुमने कितनी ही लड़कियों का भोग किया लेकिन तुम्हारा आत्मबोध मलिन नहीं हो पाया। अर्जुन का हाथ पकड़ स्वयं क्षीरसागर में चले गये। शेषशायी नारायण को भी तुम्हारे दर्शन की उत्कंठा लगी हुई थी इसलिये उसने जान-बूझ कर ही ब्राह्मणों के वस्त्रों का हरण कर लिया था। जिस प्रकार अपने ही स्वरूप को देखने के लिए दर्पण लेना पड़ता उसी प्रकार कृष्णार्जुन को देखने के लिये ही नारायण स्वयं उन बालकों को ले आये। "तुम नारायण के अवतार हो, तुम्हारा दर्शन लेने के उद्देश्य से ही मैं स्वयं ब्राह्मणों के लड़के यहाँ ले आया।" इस प्रकार नारायण के मुख से निकले हुए शब्द हमने स्वयं सुने हैं। इसीलिये कहता हूँ, हे श्रीकृष्ण! तुम्हारा आत्मबोध अगाध है। कितने ही काल पूर्व मरे हुए ब्राह्मणों के बच्चे तुमने ला दिये। तुम्हारी ही ये सारी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लीलायें हमने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखी हैं। जब नारायण को ही तुम्हारे प्रति इतना आदर है तो हमारी क्या कथा है ? हे अच्युत! गुणातीत श्रीकृष्ण! तुम्हारा आरपार किसी की समझ में नहीं आयेगा। पहले भी आपने अनेक अवतार लिये थे लेकिन उस समय ऐसे चरित्र नहीं दिखलाये। वेदविधि भी लज्जित हो गयी और आपने व्यभिचार करने वालों को भी आत्मपद दे दिया। अगर तुम यह कहोगे श्रीकृष्ण कि मैंने उदासीन होकर उन स्त्रियों का भोग किया, उससे आत्मज्ञान में कोई बाधा नहीं आयी। लेकिन श्रीकृष्ण! वैसा कुछ भी नहीं हुआ। वे स्त्रियाँ भी साधारण नहीं थी। वे विलास में चतुर थीं और शृंगारयुक्त हावभाव करती थीं। नखरे के साथ शरीर की कमनीयता का भी प्रदर्शन करती थीं और तुम्हें, पुरुषोत्तम को देखकर कामबाणों की भी वर्षा करती थीं। जिन बाणों के प्रहार से इन्द्र के शरीर में भी हजार छेद हो गये, जिन प्रचण्ड बाणों ने शंकर को भी मोहिनी के जाल में फँसा दिया, जिन बाणों की बौछार से तपस्वी लोग घबरा उठते हैं और वे घरबार छोड़कर भाग उठते हैं, ऐसे सोलह हजार कामबाणों का प्रहार होते हुए भी तुम्हारा आत्मबोध नहीं ढला। तुम्हारा यह कैसा सामर्थ्य है। घर की सोलह हजार तथा गोकुल की और मथुरा की स्त्रियाँ। लेकिन इतनी सारी स्त्रियाँ भी तुम्हें लंपट बनाने में समर्थ नहीं थीं। वे तो तुम्हें लंपट नहीं बना सकीं, उल्टे तुमने ही उन्हें विषयरहित बना दिया। हे श्रीकृष्ण! इस प्रकार तुम त्रैलोक्य के स्वामी अर्थात् श्रेष्ठ हो। तुम्हारी ऐसी कीर्ति सुनने से या तुम्हारा चरणोदक लेने से संसार पवित्र हो उठता है।

विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम्।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिमङ्गसङ्गैस्तीर्थद्वय शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति॥ १९॥

तुम्हारी कीर्ति का श्रवण करने से अंतःकरण के पातकों का क्षालन होता है और वृत्ति अत्यन्त प्रवृत्त हो जाती है। उसी प्रकार तुम्हारे चरणों से निकली हुई गंगा समस्त पातकों का विनाश करती है। हे श्रीरंग! आपका चरणतीर्थ सारे जगत को पवित्र कर देता है। इसीलिये साधुजन इन दोनों तीर्थों का अखण्ड सेवन करते हैं जिसके कारण वे परम पवित्र होकर समाधानपूर्वक निजात्मवृत्ति में लीन रहते हैं। हे श्रीपति! अवतार के अन्त समय में तुमने इन दो तीर्थों को प्रसिद्ध कर रखा है ताकि तुम्हारे दासों का तरना सम्भव हो सके।

बादरायणिरुवाच

इत्यभिष्टूय विबुधैः सेशः शतधृतिर्हरिम्।
अभ्यभाषत गोविन्दं प्रणम्याम्बरमाश्रितः॥ २०॥

शुक्राचार्य कहते हैं, हे राजा परीक्षित! इस प्रकार सभी देवताओं ने भक्तिभाव से तथा आनन्दपूर्वक श्रीकृष्ण का स्तवन किया। इस प्रकार स्तुतिस्तोत गाकर उन्होंने श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट किया। समस्त देवताओं को अत्यन्त कौतुक और प्रसन्नता हुई। यह स्तुति करने के लिए ब्रह्मदेव और शंकर सबके आगे आये थे, उन्होंने जय-जयकार करते हुए दण्डवत किया। शेष सारे देवतागण विमान में हाथ जोड़कर बैठे थे। उन सबकी ओर से पुनः विनती करते हुए ब्रह्मदेव आगे कहने लगे।

ब्रह्मोवाच

भूमेर्भारावताराय पुरा विज्ञापितः प्रभो।
त्वमस्माभिरशेषात्मंस्तत्तथैवोपपादितम्॥ २१॥

हे यादवश्रेष्ठ! श्रीधर! पहले हमने आपसे सुरवरों को अभय देने के लिये पृथ्वी का भार कम करने के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लिये प्रार्थना की थी। जैसी हमने प्रार्थना की थी उसके विचार से आपने अपनी लीला से कुछ अधिक ही धर्मवृद्धि की थी। हे पुरुषोत्तम! हे घनश्याम! तुम सर्वेश्वर और सर्वात्मा हो इसलिये जो काम हमारी समझ में नहीं आता वह भी आपने कर डाला।

धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसंधेषु वै त्वया।
कीर्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा॥ २२॥

जो सत्यवादी और साधु थे, तुम्हारे ही चरणों के प्रति जिनका संकल्प था उनके लिये तुमने यथार्थ रूप में धर्म स्थापना की और अपनी यह कीर्ति तुमने दसों दिशाओं में फैलायी। सचमुच उसके श्रवण से त्रिभुवन पावन हो जायेगा।

अवतीर्य यदोर्वंशे बिभ्रद्रूपमनुत्तमम्।
कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय जगतोऽकृथाः॥ २३॥

हे श्रीकृष्ण! पूर्ण पुरुष होते हुए तुमने यादवकुल में जन्म लिया। तुम्हारे स्वरूप की शोभा की तो कोई सीमा नहीं है। सबमें सर्वोत्तम तुम हो। तुम्हें देखते ही विचलित चित्तवृत्ति शान्त हो जाती है। इस प्रकार लीला से देह धारण करने वाले तुम्हें देखकर सभी को मनोरम लग रहा है। तुमने अत्यन्त अद्‌भुत कर्म किये। बायें हाथ से गोवर्धन पर्वत उठाया, मुख से बडवाग्नि को निगलकर गोपालों का संरक्षण किया। मृत हुए गुरुपुत्र को वापस ले आये। गत गर्भों से देवकी को मिलाया और स्वयं गोपाल वत्स बनकर ब्रह्मदेव को भी भ्रम में डाल दिया। हे श्रीकृष्णनाथ! अनंता! इस प्रकार जगत के हित के लिये तुमने अनेक प्रकार के चरित्र खेले।

यानि ते चरितानीश मनुष्याः साधवः कलौ।
शृण्वन्तः कीर्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तमः॥ २४॥

आपने यह अवतार लेकर अत्यन्त पावन तथा विचित्र कथाओं की रचना की और नाना प्रकार के चरित्र कर दिखाये। साधुजन कलियुग में इन चरित्रों का श्रवण-कीर्तन कर त्रिगुणों के साथ मायामोह से मुक्ति पा लेंगे।

यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम।
शरच्छतं व्यतीताय पञ्चविंशाधिकं प्रभो॥ २५॥

हे पुरुषोत्तम! हे ऋषीकेशी! इस यदुवंश में आपने अवतार लिया। उस अवतार को लिये कितने वर्ष बीत गये यह भी मैं आपसे बताता हूँ। हे गोविन्दा! मृत्युलोक में मनुष्य की आयु सीमा सौ वर्ष निर्धारित है। उस मर्यादा को समाप्त होकर भी पचीस वर्ष बीत गये।

नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम्।
कुलं च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम्॥ २६॥

तिस पर भी भूतल पर कोई देवकार्य शेष नहीं रह गया है। यादवकुल तो वैसे भी नष्टप्राय हो गया है। मरणप्राय हाथी या जिसका पंख उखड़ गया हो ऐसे पक्षी की तरह यादवों की सेना भूमि के लिये भारस्वरूप हो गयी है। जैसे फूस की टूटी झोपड़ी हो या जैसे राजकुमार को क्षयरोग जड़ जाय अथवा अग्नि में अजगर झुलस जाय उसी प्रकार यादववीरों की स्थिति हो गयी है। ब्राह्मणों का शाप महाभयंकर होता है इसलिये यादवों का वीर्य, शौर्य, प्रताप तथा शिखर तथा पहुँचा हुआ यशका समूह सब नष्ट होकर उन सब पर मूर्छा छा गयी है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे।
सलोकाँल्लोकपालान्नः पाहि वैकुण्ठकिङ्करान्॥ २७॥

इसलिये हे देवाधिदेव! हे यादवराया! हे श्रीकृष्ण! हम सब तुम्हारे चरणों की बाट जो रहे हैं। कृपया वैकुण्ठ चलने की तैयारी करें। हे देवकीनन्दन! यदि आप चाहें तो इसी क्षण चलने की तैयारी करें। देवताओं की सेना खड़े-खड़े आपकी प्रतीक्षा कर रही है। जो भी लोक या लोकपाल हैं उन पर आप कृपा करें। हम सब आपके दास हैं इसलिये इन दासों की बात को सम्मान प्रदान करें। हे वैकुण्ठनाथ महाराज! मुझे तथा शंकरादि समस्त देवताओं को भी आपकी सेवा की उत्कंठा है।

श्रीभगवानुवाच

अवधारितमेतन्मे यदात्थ विबुधेश्वर।
कृतं वः कार्यमखिलं भूमेर्भारोऽवतारितः॥ २८॥

ब्रह्मदेव का यह भाषण सुन कर योगज्ञानियों के मुकुटमणि श्रीकृष्ण ने अपनी मेघ गम्भीर वाणी से, हास्यवदन होकर ब्रह्मदेव से बातें शुरू कीं। जैसे नादब्रह्म पूर्ण हो गया हो अथवा आत्मानन्द का फल पक गया हो इस प्रकार श्रीकृष्ण ने बोलना प्रारम्भ किया। इससे कर्ण के भाग्य का उदय हो गया। उन्होंने गौरव के साथ कहा, "ब्रह्मदेव! तुम्हारी भक्ति देखकर मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ हूँ।" कहकर श्रीहरि उस समय पुत्रप्रेम से आलिंगन देने के लिये उत्सुक हो गये और उन्होंने प्रेम से कहा, "हे देवेन्द्र! तुम्हारा कहना सत्य है। हे ब्राह्मणेन्द्र! तुम्हारी विनती के अनुसार मैंने पृथ्वी का भार तो हल्का कर दिया। मैंने अपना कार्य पूर्ण किया है। कुछ भी शेष नहीं रहा है। फिर भी एक बड़ा काम रह गया है और मेरे लिये वही समस्या है।"

तदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्यश्रियोद्धतम्।
लोकं जिधृक्षद्बुद्ध मे वेलयेव महार्णवः॥ २९॥
यद्यसंहृत्य दृप्तानां यदूनां विपुलं कुलम्।
गन्तास्म्यनेन लोकोऽयमुद्वेलेन विनङ्क्षयति॥ ३०॥

यहाँ हमारा जो यादवों का कुल है, वह वीर्य, शौर्य और वैभव से उन्मत्त हो गया है। अपने बल के घमण्ड में वे धर्म का नाश करने पर तुल गये हैं। वे धर्म की जड़ें खोदना चाहते हैं लेकिन जिस प्रकार समुद्र को सीमाओं ने नियन्त्रित कर रखा है, उसी प्रकार मैंने योगबल से उन्हें काबू में रखा है। उन्हें यदि इसी तरह यहाँ छोड़ कर निजधाम के लिये चला जाऊँ तो ये अधर्म के लिए प्रवृत्त होंगे। उनका निस्तारण कौन करेगा? समुद्र अपनी मर्यादा तोड़कर उन्मत्त होने पर जब सारी चीजों को स्वाहा कर देता है तो उस पर कौन नियंत्रण कर पाता है? वैसी ही स्थिति होगी। ये अधर्मरत हो जाएँगे और आपके लिये संकट उत्पन्न करेंगे और तब आप ही उनकी शिकायत लेकर मेरे पास आयेंगे। ये देवताओं के वश में नहीं आयेंगे, दैत्य अथवा दानवों से भी ये हार नहीं मानेंगे और जब ये अधर्म का विद्रोह करेंगे उस समय आप ही शिकायत लेकर मेरे पास आयेंगे।

इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापजः।
यास्यामि भवनं ब्रह्मन्नेतदन्ते तवानघ॥ ३१॥

इसलिये हमारे इस यादव कुल का शीघ्र विनाश करने का निश्चय कर तथा उसको यथोचित बना कर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आज से ही उसका शुभमुहूर्त किया है। हे सखा ब्रह्मदेव! सुनो। एक बार इस कुल का नाश हो जाय तो फिर मैं सचमुच ही निजधाम आऊँगा और वह भी तुम्हारे लोक के रास्ते से। श्रीकृष्ण ने कही हुई यह बात शंकर और ब्रह्मदेव ने भी सुनी। समस्त देवताओं का समुदाय भी आनन्दित होकर आनन्द का घोष करने लगे। सब ने जोर-जोर से जय-जयकार कर करतल ध्वनि की और श्रीकृष्ण के चरणों का वन्दन कर उन पर पुष्पांजलि अर्पित की।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तौ लोकनाथेन स्वयम्भूः प्रणिपत्य तम्।
सह देवगणैर्देवः स्वधाम समपद्यत॥ ३२॥

शुक्राचार्य कहते हैं, हे राजा परीक्षित! कृष्ण का यह भाषण सुनकर सुरवरों के मन में अत्यन्त आनन्द उत्पन्न होकर उन्होंने उन्हें नमस्कार किया। ब्रह्मदेव, सूर्य, शंकर आदि देवताओं ने मिलकर कृष्ण को दण्डवत किया और चरणस्पर्श कर वे चले गये।

अथ तस्यां महोत्पातान् द्वारवत्यां समुत्थितान्।
विलोक्य भगवानाह यदुवृद्धान् समागतान्॥ ३३॥

उधर श्रीकृष्ण को कुल का विनाश जल्द से जल्द करने का निश्चय करने की ही देर थी कि इधर द्वारका में भयंकर उपद्रव होने लगे। आकाश में तिधारी केतु, धूमकेतु, दण्डकेतु आदि दिखायी देने लगे। शिखायुक्त पुच्छलतारा भी आकाश में दिखायी देने लगा। भरी दुपहरिया में भूकम्प के धक्के लगने लगे, दिन में उल्कापात होने लगे भूत नग्न होकर आकाश में नाचने लगे और क्रन्दन करने लगे। सियार नगर में घुस कर दिन दहाड़े चौराहों पर चिल्लाने लगे। शहर में चारों ओर सियारों के चिल्लाने की आवाज सुनायी पड़ने लगी। उसे सुनकर लोग भय से काँपने लगे। गाँव के अन्दर और बाहर श्वानों ने रोना शुरू किया। मार्जारों के कोलाहल का स्वर तो गाँव के प्रत्येक घर में सुनाई पड़ रहा था। गायें मध्यरात्रि में गुहारने लगीं। बच्चे खेलते समय मारपीट करने लगे, गिद्ध लोगों पर झपट्टे मारने लगे। उल्लू घर-घर बोलने लगे। लोगों की वाग्देवी क्षुब्ध हो उठी। वह कहने लगी, अरे यम की सवारी आ गयी, क्यों व्यर्थ ही जल्दी-जल्दी दौड़ कर आग में कूद रहे हैं। ज्वालामुखी के विस्फोट हुए, भूचाल के धक्के लगने लगे, धूप तो आग की तरह तपने लगी। हवा भी कम्प उत्पन्न करने लगी। ऊष्ण वायु के झोंकों से शरीर झुलसने लगे। नगर में चारों ओर धूल उड़ने लगी और आँखों में भरने लगी। स्त्री-पुरुषों में आँख खोलने की शक्ति नहीं रह गयी। चारों दिशाओं में जैसे धुंध छा गयी। शहर में रक्त की वर्षा होने लगी। यह सब देखकर समस्त यादवगण भय से दिग्मूढ़ हो गये। उनमें जो वृद्ध थे उन्होंने विचार किया कि ये अनिष्ट के संकेत हैं। किसी बड़े संकट की आशंका दिखायी देती है। यह सोच कर वे कृष्ण के पास आये और उन्होंने कृष्ण को सारा वृत्तांत सुनाया। सभी यादवों को उद्विग्न हुआ देख श्रीकृष्ण ने बोलना प्रारम्भ किया।

श्री भगवानुवाच

एते वै सुमहोत्पाता ह्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः।
शापश्च नः कुलस्यासीद् ब्राह्मणेभ्योदुरत्ययः॥ ३४॥

श्रीकृष्ण यादवों से कहने लगे कि ये जो दिन में पृथ्वी और आकाश में बड़े उपद्रव हो रहे हैं वे सब जगह समान हैं। ये अशुभ चिह्न देखकर मुझे भी स्मरण हो आया कि हमारे यादवकुल को ब्राह्मण का शाप है। ये चिह्न

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसी बात के सूचक हैं। ब्राह्मणों का शाप तो सच ही होकर रहता है। हरिहर भी उससे मुक्त नहीं हैं। इसलिये आप इसी क्षण इस सम्बन्ध में विचार करें। पहले सबको गाँव के बाहर निकालिये।

न वस्तव्यमिहास्माभिर्जिजीविषुभिरार्यकाः।
प्रभासं सुमहत्पुण्यं यास्यामोऽद्यैव माचिरम्॥ ३५॥

यदि प्राणों की आशा हो तो हमें आज ही द्वारका छोड़कर प्रभास की ओर चलना पड़ेगा। सोच क्या रहे हैं? शीघ्रता कीजिये। आज ही निकल चलिये। घर बार की आशा छोड़िये। अब यहाँ एक क्षण के लिये भी न रुकिये।

यत्र स्नात्वा दक्षशापद्गृहीतो यक्ष्मणोडुराट्।
विमुक्तः किल्विषात् सद्यो भेजे भूयः कलोदयम्॥ ३६॥

समस्त यादवश्रेष्ठ! सुनिये। प्रभासतीर्थ एक अत्यन्त पवित्र स्थान है। यहीं स्नान करने से नक्षत्राधिपति चन्द्रमा क्षय रोग से मुक्त हुआ। यक्ष ने अपनी सत्ताईस कन्याएँ चन्द्र को दी थीं। अन्य सबको छोड़कर वह केवल एक रोहिणी के साथ रममाण हुआ। इसलिये दक्ष ने चन्द्रमा को शाप दिया जिसके कारण उसे क्षयरोग ने ग्रस लिया। तब उसने यहाँ आकर स्नानादि कर्म किया। स्नान करते ही तत्काल उसका क्षयरोग दूर हो गया और उसकी सारी कलाएँ उसे प्राप्त होकर वह अपने मूल तेज से प्रकाशित होने लगा।

वयं च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पितॄन्सुरान्।
भोजयित्वोशिजो विप्रान्नानागुणवतान्धसा॥ ३७॥

हम भी वहीं पर स्नान, दान, पितृतर्पण करें तथा वेदशास्त्र सम्पन्न ब्राह्मणों का पूजन करें। नाना प्रकार के पकवान तैयार कर उन्हें देवब्राह्मणों को समर्पित करें और यथाविधि दान-दक्षिणा दें।

तेषु दानानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै।
वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरिवार्णवम्॥ ३८॥

जिस प्रकार गीली भूमि में बीज बोया जाता है उसी प्रकार दान देने के लिये उत्तम ब्राह्मण देखकर उसे श्रद्धापूर्वक उत्तमोत्तम दान देते रहना चाहिये। ब्राह्मण का मुख ही खेती लायक भूमि है। वह जड़ तथा पत्तियों से विहीन होने पर भी पवित्र है। ऐसा उत्तम खेत देखकर ही उसमें चित्रविचित दानों की बोआई कीजिये। विनय की उत्तम आर्द्रता, श्रद्धायुक्त निर्मल चाह, उसमें शमदमादि मजबूत बैलों से जुताई कर देनी चाहिये। इस प्रकार खेत में बीज बोने से फसल लहलहाएगी और चारों पुरुषार्थ प्राप्त होंगे। जिस प्रकार नौका के बल से समुद्र के जल में से तैर कर जाया जा सकता है, उसी प्रकार उस फसल के बल से हम सब पातकों को पार कर लेंगे।

श्रीशुक उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टा यादवाः कुलनन्दन।
गन्तुं कृतधियस्तीर्थं स्यन्दनान् समयूयुजन्॥ ३९॥

शुक कहते हैं, हे सुजान परीक्षित! सुनो। इस प्रकार प्रभास जाकर तीर्थ विधि करने के लिये श्रीकृष्ण ने अनुज्ञा दी। तब यादवों का झुण्ड एक साथ निकल पड़ा। उन्होंने अपने घोड़े तैयार किये और एक के पीछे एक दौड़ने लगे चारों ओर गड़बड़ी मच गयी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तन्निरीक्ष्योद्धवो राजन् श्रुत्वा भगवतोदितम्।
दृष्ट्वारिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुव्रतः॥ ४०॥

बड़े-बड़े वीरों का जमघट, हाथियों और घोड़ों की घरघराहट, द्वारका में किसी को भी राह चलना कठिन हो गया। प्रभास जाने की इतनी हड़बड़ी मच गयी। हे राजा परीक्षित! सारी द्वारका ही जब खड़बड़ा कर निकल पड़ी तो उद्धव के मन में वही बात आयी जो श्रीकृष्ण ने देवताओं से कही थी। शीघ्र ही कुल का विनाश करना और आज से ही उसका मुहूर्त है ऐसा भगवान ने कहा था। उसी कार्य की आज भगवान ने शुरुआत कर दी ऐसा उसने देखा। उद्धव हमेशा कृष्ण के साथ रहता था और कृष्ण की अनुमति से ही रहता था। स्वर्गस्थ देवताओं तथा भगवान के बीच हुआ भाषण उसने सुना था। श्रीकृष्ण की उपस्थिति में जब यहाँ द्वारका में बड़े-बड़े उत्पात हुए इसका अर्थ यही है कि यह सब श्रीकृष्ण की इच्छा से ही हुआ। यादवों को प्रभास ले जाकर यह क्षणार्ध में उनका विनाश करा देगा क्योंकि श्रीकृष्ण अब निजधाम जाने के लिये उतावला हो गया है। लेकिन यदि उनका विनाश ही करना था तो वह द्वारका में ही क्यों नहीं किया? उन्हें इतनी दूर क्यों ले गये? इसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण सर्वज्ञ था, उसे सब कुछ ज्ञात था और वह इस सबका सूत्रधार था। यादव वास्तव में देवांश थे और द्वारका सातवीं मोक्षपुरी थी इसलिये यदि यहाँ उनका विनाश हुआ तो उन्हें सायुज्ययुक्ति प्राप्त होगी। यही सोच कर श्रीकृष्ण ने यहाँ उनका विनाश नहीं किया क्योंकि उन्हें पदाभिमान है इसलिये उन्हें द्वारका में मृत्यु नहीं आयेगी यह जानकर ही श्रीकृष्ण ने उन्हें प्रभास भेजा। ब्रह्मशाप का मूल कारण था वह मूसल जो प्रभास में उत्पन्न हुआ था। यह बात श्रीकृष्ण जानते थे। इस प्रकार अपने कुल का विनाश कर श्रीकृष्ण निजधाम के लिये निकल पड़ेंगे यह ध्यान में आते ही उद्धव के मन को बुरा लगा। उसका गला भर आया। आँखों से अश्रुधाराएँ बहने लगीं। सारे शरीर से पसीना चुहचुहाने लगा और हिचकी आने लगी। कृष्ण वियोग यदि आधे क्षण का भी हो जाता तो उसकी समझ में नहीं आता था कि क्या किया जाय? वह कृष्ण के चेहरे की ओर एकटक देखता रह गया। आने वाले वियोग के तीव्र घाव उसके हृदय में होने लगे। धैर्य के साथ-साथ उसकी बुद्धि भी स्तब्ध हो गयी। मन बेचैन हो उठा। तब एकान्त है यह देखकर वह दौड़ कर श्रीकृष्ण के पास पहुँचा, उनके पैर पकड़ लिये और रोने लगा।

विविक्त उपसंगम्य जगतामीश्वरेश्वरम्।
प्रणम्य शिरसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभाषत॥ ४१॥

संसार का नियंता है काल और उसका नियंता जो श्रीकृष्ण है उसके चरणों पर मस्तक रखकर वह विनयपूर्वक बोलने लगा।

उद्धव उवाच

देवदेवेश योगेश पुण्यश्रवणकीर्तन।
संहृत्यैतत्कुल नूनं लोकं संत्यक्ष्यते भवान्।
विप्रशापं समर्थोऽपि प्रत्यहन्न यदीश्वरः॥ ४२॥

उद्धव ने कहा "हे यादवेन्द्र! हे देवेन्द्र के भी आदिइन्द्र! हे योगियों के ज्ञानचन्द्र! तुम्हारा स्वरूप कलारहित है। देवों में इन्द्र श्रेष्ठ है लेकिन तुम उस इन्द्र के भी इन्द्र हो। योगियों में शंकर श्रेष्ठ हैं लेकिन हे श्रीकृष्ण! तुम

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उनके भी ईश हो। तुम्हारा श्रवण और कीर्तन पुण्य को भी पावन करता है। कीर्तन से संसार भवबन्धन टूटकर समाधान प्राप्त होता है अपने कुल का विनाश कर तथा यह लोक छोड़ कर, हे श्रीकृष्ण तुमने निश्चय ही निजधाम जाने का विचार किया है?''

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि॥ ४३॥

ब्राह्मण का शाप झूठ साबित करने की सामर्थ्य तुझमें होते हुए भी केवल निजधाम जाने के लिये ही तुम अपने कुल का संहार कर रहे हो न? यह कहते समय उसे रुलाई आ गयी। उसे रोक न पाने के कारण वह जोर-जोर से सुबकने लगा। आँसुओं से उसकी आँखें भर आयीं। ऐसी स्थिति में ही उसने दौड़कर श्रीकृष्ण के पैर पकड़ लिये। चरणों पर मस्तक रखकर उसने कहा, हे श्रीहरि! तुम मेरे सखा हो, मेरे मालिक हो ऐसा होते हुए तुम हमें छोड़कर कैसे जा रहे हो? हे अच्युत! तुम जा रहे हो यह सुनते ही मन में दुःख का जो कोलाहल मचा है वह रुकता ही नहीं है। इसलिये मैं चाहता हूँ कि ऐसा वियोग न हो। जिस प्रकार पानी के बिना मछली छटपटाती है, उसी प्रकार मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। तो हे कृष्ण! आखिर अंतकाल में तुम मेरे प्रति इतने निष्ठुर हो ही गये न? तुम्हारे जाने के बाद मैं दीन हीन हो जाऊँगा। फिर मीठी-मीठी बातें किसके साथ करूँगा? अब देह में प्राण भी नहीं रह गया है। आत्मा निकल जाने पर देह केवल प्रेतरूप रह जाता है उसी प्रकार तुम्हारे निजधाम जाने के बाद हमारी गति होगी। हमारा माता-पिता तू ही है ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। ऐसा होते हुए, देखता हूँ तुम हमें छोड़ कर कैसे जाते हो? इतना कहकर वह उनके कदमों पर लौट गया। तुम तो निजधाम के लिये चल पड़े हो हो और हमें किसके हाथ सौंप रहे हो? हे पुरुषोत्तम! तुम मुझ पर क्यों रूठे हो? यह हमारे ही कर्मों का फल है। तुम क्या करोगे? गूंगे बालक को जमीन पर रख कर जिस प्रकार माँ सती जाने के लिये निकल पड़ती है और उस समय बालक जिस प्रकार व्याकुल हो जाता है वैसी ही अवस्था उद्धव की हुई। बंसी में लगा हुआ स्वादिष्ट मांस का टुकड़ा मछली निगल भी नहीं पाती कि तब तक मछुआरा बंसी को झटका देकर उसे ऊपर खींच लेता है, उसी प्रकार प्रेमविकृत उद्धव व्याकुल हो उठा। भगवान! आपके जाने के बाद मैं सेवा किसकी करूँ? हे श्रीकृष्ण! तुम यथार्थ में ही हमारा भाग्य हो। ऐसा होते हुए तुम हम पर क्यों रूठ गये? कोई अन्धा व्यक्ति अपने साथी को छोड़कर किसी गलत रास्ते से कँटीले जंगल में फँसकर असह्य हो उठता है, वैसी ही उद्धव की अवस्था हुई। वह बार-बार दौड़ कर पैरों पर गिरने लगा। जोर-जोर से रोने लगा। कहने लगा मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो? मैं इन चरणों से दूर नहीं रह पाऊँगा। ये चरणकमल मैं एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ पाऊँगा। हे गोपाल! तुम्हारा प्रयाण वास्तव में मेरे अन्तकाल का काल है। मुझे तुम्हारे संग की आदत लग गयी है। इसलिये मुझे भी अपने साथ ले चलो। मेरी आपसे यही प्रार्थना है। श्रीकृष्ण मुझ पर इतनी कृपा करें। तुम जब गरुड़ पर बैठोगे तो मुझे भी पीछे बिठा लो। लेकिन मुझे छोड़कर न जाओ। मुझे अपने निजधाम ले चलो। जीवनभर मुझे साथ दिया और अब अन्त समय में क्यों मुझे दूर कर रहे हो? हे कृपासागर कृष्ण! इतनी कृपा करो। अब तुम कहोगे कि मैं अपने ही कुल का काल बन गया हूँ, तुम्हारे लिये दयालु कैसे बना रहूँ? लेकिन तुम कृपया ऐसा न कहो क्योंकि तुम दीनों के प्रति दयालु तथा भक्तों के प्रति स्नेहपूर्ण हो। भक्त पर तुम्हारी कृपा है इसीलिये मैं तुमसे इतनी निकटता कर रहा हूँ। लेकिन हे श्रीहरि! मेरा उद्धार करो। मेरी विनय न ठुकराओ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम्।
कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजत्यन्यस्पृहा जनः॥ ४४॥

तुम्हारी नाना प्रकार की क्रीडाएँ तथा खेल जीवों को परम मंगलदायक होने के कारण लोग उस प्रिय तथा निर्मल लीला का आस्वाद कर्णद्वार से करते हैं। तुम्हारी कीर्तिश्रवणामृत की मधुरता का आस्वाद कर्णों ने आधी घड़ी के लिये ही लिया था कि उन्हें वह इतना मधुर लगा कि उसके आगे अमृत का माधुर्य भी फीका लगने लगा। तुम्हारी ऐसी कीर्ति सुनते ही वासनाओं के साथ इच्छा समाप्त हो जाती है, इसलिये जो तुम्हारे भक्त हैं वे तुम्हारी कीर्ति की सदा हृदय में धारण करते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण का वियोग मुझे सहन नहीं होगा। आपके स्वामित्व और आपके अच्छेपन का हमें व्यसन ही लग गया है।

शय्यासनाटनस्थानस्नानक्रीडाशनादिषु ।
कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजेमहि॥ ४५॥

सच पूछो तो तुम हमारे स्वामी हो लेकिन तुम मुझे अपने आसन पर बिठाते थे। हे श्रीकृष्ण! कोई मन की बात कहनी होती थी तो मेरे सिवा तुम्हारा और कोई नहीं था। कोई कठिन कार्य करना होता तो उस समय तुम मेरी ही राय लेते थे और जो राय मैं देता था वह तुम्हें उचित लगती थी। तुम भोजन करने जाते तो मेरी थाली अपने साथ लगवाते थे और खाना खाते समय नाना प्रकार का विनोद करते हुए अपने थाली में की चीज मुझे खिलाते थे। ब्रह्मदेवादि देवताओं को भी तुम्हारी पंगत का लाभ दुर्लभ था किन्तु मैं तुम्हारे साथ खाना खाने बैठता था और तुम्हारी थाली में बचा हुआ खाना तो तुम स्वयं मुझे हिस्सेदार बना कर खिलाते थे। मेरा हाथ पकड़ कर तो तुम अकेले एकान्त में बैठा करते थे। ब्रह्मदेव आदि देवताओं की कोई विनती होती तो उसे मैं तुम्हें सुनाता था। बिना किसी के जाने तुमने रासक्रीडा की लेकिन वह गोपनीय बात मुझे बताकर तुमने मुझे गोकुल भेज दिया था। पलंग पर सोयी हुई रुक्मिणी को जगा कर तुम मुझे अपने पास सुलाते थे। उस निद्रा के सुख के आगे बेचारी समाधि क्या चीज है? इस प्रकार तुम्हारी संगति में कितनी रातें काटीं उसकी कोई गिनती नहीं है। हे श्रीकृष्ण, फिर भी मुझे छोड़कर तुम जा रहे हो? हे कृष्ण! जब तुम्हारा समय नहीं बीतता था तो तुम रुक्मिणी को भेजकर मुझे बुलवा लेते थे और फिर हम दोनों बैठकर चौपड़ खेला करते थे। तुम जंगल में घूमने जाते थे तो रथ में मुझे बिठा लेते थे और फिर हम दोनों साथ-साथ घूमते थे। क्या अब तुम मेरी संगति से ऊब गये? पानी में जलक्रीड़ा करते समय या गोपियों के साथ हँसी-ठट्ठा करते समय भी मैं तुम्हारे साथ रहता था। स्नान करते समय तो मैं हमेशा तुम्हारे सामने खड़ा रहता था। ऐसी कितनी बातें तुम्हें बताऊँ? हे श्रीपति! रात को भी मैं तुमसे कभी अलग नहीं हुआ, फिर अन्त समय में तुम्हारा साथ कैसे छोड़ूँ? तुम हमारे स्वामी, हमारे सखा, सारे जीवों का प्राण हो। हे पुरुषोत्तम! हे मेघश्याम! तुम्हारा वियोग हमें कैसे सहन होगा? तुम्हारे श्रीचरण ही हमारा प्राण है। ऐसे इन चरणों के वियोग का दुःख सहने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है। तुम्हारे चरणों का सान्निध्य मुझमें नहीं है। तुम्हारे चरणों का सान्निध्य यही हमारा सर्वस्व है, प्राण भी चले जाएँ तो भी उनका वियोग हमें सहन नहीं होगा। शरीर चाहे रहे या जाये लेकिन तुम्हारे चरणों का वियोग हमें बिलकुल सहन नहीं होगा। तुम्हारा मोह अत्यन्त कठिन है। ब्रह्मदेव भी उस पर नियंत्रण नहीं कर सकते। लेकिन हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे शेषग्रहण के कारण मैंने उसे भी सुगमता से पार कर लिया।

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि॥ ४६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हे गोपाल! मैं तुम्हारा दास होने के कारण, तुम्हारे चन्दन में से बचा हुआ चन्दन अपने ललाट पर लगाने में तथा तुम्हारी माला अपने गले में डालने से कलिकाल भी मेरे सामने दीन-हीन हो जाता है। तुम्हारी कमर का पीला पीताम्बर मेरी कमर में लग गया तभी मैंने काम को जीत लिया और वह दृढ़ होकर मेरी कमर से लग गया। तुमने अपने हृदय पर लगा पदचिह्न मुझे दिया तभी माया मुझसे दूर चली गयी। वह तुम्हारे दासों के सामने खड़ी भी नहीं हो सकेगी। सच तो यह है कि यदि माया का कोई चेहरा होता तो वह सामने खड़ी होती। लेकिन वह तो स्वयं ही मिथ्या है। लेकिन लोग व्यर्थ ही परिश्रम कर रहे हैं। देखो। तुम्हारा उच्छिष्ट खाने के आगे समाधि का सुख भी शरमा जाता है और आत्मानन्द परिपक्व हो जाता है। इस प्रकार तुम्हारी सेवा करके ही मैं इतनी ऊँचाई तक पहुँचा हूँ। तुम्हारे ही अवशिष्ट का सेवन कर, मैं उस माया को भी तर गया हूँ जिसने योगियों को भी भयाक्रान्त किया है।

वातरशना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः॥ ४७॥

मिथ्या माया के भय से योगी गिरिकन्दराओं में छिप कर बैठ गये, लंगोटी भी छोड़ दी। फिर भी मन में भय तो है ही। वे स्वस्तिकादि आसन लगाकर प्राणायाम करने के लिये मूलबन्ध से गात्रों का अवरोध कर दृढ़ धारणा करते हैं। नाक से निकलने वाली वायु को नियंत्रित करने के लिये अभ्यास करते हुए शरीर को कष्ट देते हैं। भूख से ही भूख को खाते हैं, प्यास से ही प्यास का शमन करते हैं, इस प्रकार अत्यन्त निश्चयपूर्वक सुख और दुःख पर विजय प्राप्त करते हैं। सद्बुद्धि को हाथ में लेकर इन्द्रिय वृत्तियों को नियंत्रण में रख तथा वैराग्य की ख्याति सम्पादित कर ऊर्ध्व गति से चलने लगते हैं। मणिकर्णिका की ड्योढ़ी लाँघ कर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर फिर ब्रह्मगिरी पर विजय की दुंदुभि बजाते हैं। वहाँ उनके सर्वांग में शान्ति सुख का संचार होता है। सभी संकल्पों का त्याग हो जाने के कारण वे स्वयं चिद्ब्रह्म ही हो जाते हैं। इस प्रकार योगी लोग योगबल से माया पर विजय प्राप्त करते हैं। लेकिन उस माया को जीतने के लिये तुमने हमें उससे भी आसान रास्ता खोल दिया है।

वयं त्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु।
त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः॥ ४८॥

हे कृष्ण! तुम्हारे भक्तों का भजन करें, तुम्हारी कथावार्ता सुनें, बस इतने से ही मैंने तुम्हारी माया को पार कर लिया है। कर्ममार्ग पर चलने वाले हम कर्मठ लोगों पर तुमने बहुत बड़ा उपकार किया है। तुम्हारी कथा के श्रवण मनन से ही मोक्ष का द्वार खुलता है। मोक्ष की बात दूर ही रखें, हमें उसकी जरा भी इच्छा नहीं है क्योंकि तुम्हारे भक्त जब तुम्हारी कथा श्रवण करते हैं तो उन्हें सांसारिक बाधाएँ नहीं सतातीं। तुम्हारी अभेद भक्ति प्रिय होने के कारण हमें संसार में रहना ही अच्छा लगता है। जो भक्त होते हैं वे त्रिगुणों का भी सामना कर अत्यन्त प्रेम के साथ भजन करते हैं।

स्मरन्तः कीर्तयन्तस्ते कृतानि गदितानि च।
गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम्॥ ४९॥

प्रेमपूर्वक तुम्हारे चरित्र का श्रवण और कीर्तन करने से तुम स्वयं ही उनके संसार बन्धन का विच्छेद करते हो। संसारभाव को दूर कर तुम उन्हें आत्मपद के निकट स्थान देते हो। इस प्रकार हम तुम्हारे भक्त तुम्हारे श्रवण-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कीर्तन लाभ के लिये सहज ही पात्र हो जाते हैं। सहज कीर्तन करने से जब सचमुच इतना लाभ होता है तो तुम्हारे मुख की कथाओं का गायन करने से तो तुम स्वयं को अर्पण कर दोगे। गोकुल में चलते समय तुम्हारे कदमों की जो छाप पड़ी हुई है उसका जो आनन्दपूर्वक वर्णन करते हैं उन्हें तुम कन्धे पर बिठाकर निजबोध से तथा कीर्तन के छंद से नाचते हो। हे गोपाल! तुमने जो लीला की है उसका प्रेमपूर्वक गायन करने से उन सेवकों के साथ तुम्हारी निकटता हो जाती है। तुम्हारे हास्यवदन का जो वर्णन करते हैं उन भक्तों का तुम ध्यान करते हो और उनकी बातों से तुम स्त्री शूद्रों को समाधान देते हो। दृष्टि से तुम्हारा दर्शन सचमुच दृष्यातीत का दर्शन है, तुम्हारी सर्वत्र दिखायी देने वाली सुन्दरता का जो कीर्तन में वर्णन करते हैं उनके पग-पग पर तुम अपने सर्वांग को न्योछावर करते हो और अपना बड़प्पन त्याग कर उनके पास सर्वकाल रहते हो। हे ज्ञानश्रेष्ठ! अपनी गुह्य ज्ञानमुद्रा भी तुम उन्हें अर्पण करते हो और हे प्रबोधचन्द्र आत्मबोध देकर तुम उनका कल्याण करते हो। रासक्रीडादि नाना प्रकार की लीलाएँ अथवा 'अंगनामंगनादि' प्रबन्ध में वर्णित तुम्हारी कीर्ति का जो गायन करते हैं अथवा हे श्रीकृष्ण! ब्रह्मदेव को ठग कर तुम ही गोपाल और बछड़ा कैसे बने थे उनका वर्णन जो भक्त गाता है, उन्हें सभी भूतों में निजात्मता है यह प्रतीत कराकर तुम अपनी ही सत्ता उसे सौंप देते हो और हे कृष्णनाथ! उनके कहने के अनुसार तुम आचरण करते हो। मनुष्य रूप धारण कर तुमने जो जो लीलाएँ कीं उन्हें प्रेम से गाते हुए और सुनते हुए तुम्हारे भक्त तर गये। मैंने जब भी किसी चीज के लिए हठ किया उसे तुमने पूरा किया। ऐसा होते हुए भी हे कृष्ण! अब अन्त समय में तुम मेरी उपेक्षा कर क्यों जा रहे हो?

श्रीशुक उवाच

एवं विज्ञापितो राजन् भगवान् देवकीसुतः।
एकान्तिनं प्रियं भृत्यमुद्धवं समभाषत॥ ५०॥

श्री शुक्राचार्य कहते हैं—इस प्रकार देवकी के पुत्र अर्थात् पूर्णांश में पूर्ण भगवान श्रीकृष्णनाथ से उसके ही सेवक उद्धव ने विनती की। उद्धव को श्रीकृष्ण का 'व्यक्तिगत सेवक' इसीलिये कहा क्योंकि श्रीकृष्ण अपने मन की कोई भी गुप्त बात उससे कहते थे। रुक्मिणी की भी जहाँ पहुँच नहीं है, वसुदेव अथवा देवकी को भी जहाँ स्थान नहीं है, प्रद्युम्न, बलिभद्र अथवा अनिरुद्ध को भी जहाँ जाने की मनाही है वहाँ कृष्ण के पास उद्धव हमेशा रहता था। इसीलिये ज्ञानी लोग उसे 'एकांती' अर्थात् 'एकान्तभक्त' कहते हैं। श्रीकृष्ण के लिये जो चीज प्राणों से भी प्यारी थी, उसे वह उद्धव को देता था इतना उस भक्त का असीम प्रेम था। अगर उद्धव उस चीज को लेने से मना करता तो वह उसे मनाने के लिए उसके गले लग जाता था या पैर भी पड़ता था। भक्तों के प्रेम के आगे भक्त इतना असहाय हो जाता है। इसलिए कृष्ण का अत्यन्त प्रिय भक्त उद्धव ही था। इसीलिये 'प्रिय', 'सेवक', 'एकांती' आदि उपाधियाँ उद्धव पर ही भली लगती हैं। इसीलिये उसने अपने स्वामी से यह विनती की। उद्धव का भाषण सुनकर जिस प्रकार चातक के लिये मेघ द्रवित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण प्रेम से प्रसन्न हो उठा। चातक की प्यास होती ही कितनी है? उसे तृप्त कर जिस प्रकार मेघ सारी पृथ्वी को हरियाली से भर देता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण अब उद्धव के बहाने सारे त्रिभुवन को सन्तुष्ट कर देगा। उद्धव का भाषण सुनकर श्रीकृष्ण डोलने लगा। भक्त का भाग्य श्रेष्ठ था इसलिये प्रेम की आर्द्रता उत्पन्न हुई। अब उस भक्तरूपी गीली भूमि में श्रीकृष्ण आत्मबीज बोयेंगे और उसकी फसल सारे संसार के लिये पर्याप्त होगी। मुमुक्षुओं के लिये तो मानों मुक्ति की राशि ही मिल गयी। गाय बछडे के बहाने पूरे घर को दूध पिलाती है उसी प्रकार उद्धव के बहाने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीकृष्ण पूरे संसार को शान्त कर देगा। घर में मेहमानों के लिये अनेक पकवान तैयार होते हैं, वे बच्चों को बिना माँगे मिल जाते हैं। बच्चे वह पकवान नहीं खा सकते फिर भी माँ जबर्दस्ती उनके मुँह में ठूँसती है उसी प्रकार जनार्दन ने हमारे साथ किया। अपना शेष प्रसाद हमें दे दिया। कैसी अपूर्व कृपा की कि कृष्ण ने उद्धव को जो उपदेश किया उसका हमारी देशी भाषा में अर्थ करके हमें बताया। एका जनार्दन कहता है कि अब श्रोताओं को सावधान हो जाना चाहिये। लेकिन मैं यह अब किस मुँह से कहूँ? वास्तव में अब उन्हें मुझे सावधान करना चाहिये। निजभक्त ने ही प्रार्थना की है इसलिए वह भक्तपति अब आत्मज्ञान सुनाएगा। इसलिए अब उस बोध की ओर ध्यान लगाइए। क्योंकि युक्तों की पसन्द तथा मुमुक्षुओं की इच्छा जिससे तृप्त होगी ऐसी कथा आगे आने वाली है। उसे सुनने के लिये श्रवणरूप द्वार सहज ही खुलेगा। उद्धव ने यह श्रीकृष्ण को की हुई विनती नहीं बल्कि भगवान कृष्ण अब आत्मज्ञान की वृष्टि करने के लिये तैयार हुए हैं, उसका लाभ उठाने के लिये लोग आयें इसलिये उद्धव नगाड़ा पीट रहा है। अर्थतृषा से तृषित मोक्षमार्ग के प्रवासियों के लिये उद्धव ने यह बोध का मानों पौसरा ही खोल दिया है। मेरी भक्तिरूपी माँ मुझे गोद में लेकर वहाँ ले गयी, जिसके कारण मुझे जनार्दनरूप परमामृत प्राप्त हुआ। भगवान! आपकी इस भक्ति का लाभ हमें सदा मिलता रहे। तुम्हारे पास मुक्ति की माँग करना तो मूर्खता ही होगी क्योंकि यदि वास्तव में बद्धता हो तब तो मुक्तता की माँग करना उचित होगा लेकिन जब वास्तव में बन्धन है नहीं तो मुक्तता की माँग करने से मूर्खता ही हाथ आयेगी। 'मैं' और 'तुम' के अतिरिक्त तुम्हारी जो अभेद 'सहज स्थिति' है उसी का लाभ हमें होने दो। संतों के पास भी सदा-सर्वदा यही माँगना है। अब कृष्णनाथ उद्धव से गुह्यज्ञान का उपदेश करेंगे। तो एका (एकनाथ) जनार्दन से विनती करता है कि श्रवण करने के लिये मुझे दत्तचित्त करें।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादश स्कंधे एकाकार टीकायां
देवस्तुत्यद्धव विज्ञापनं नाम षष्ठोध्यायः ॥ ६ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सातवाँ अध्याय

हे ओंकारस्वरूप चतुराक्षर देव! चतुरों के मन को आह्लाद प्रदान करने वाले हे प्रबोध चन्द्र! हे इन्द्रों के भी इन्द्र जनार्दन! हे ज्ञाननरेन्द्र! निजबोधरूप! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हारी बात करते ही तुम भीतर से और बाहर से प्रकट होते हो। हृदय की गाँठ खोलकर दृष्टि के सामने खड़े हो जाते हो। हे जनार्दन! विषय वासनाओं का संहार कर तुम स्वयं प्रकट हो जाते हो और मन को संसार अथवा असंसार की भावना का स्पर्श नहीं होने देते। तुम्हारे चरणों का स्पर्श होते हुए मन स्थिर हो जाता है और फिर हे आनन्दधन अच्युत! तुम सहज समाधान प्रदान करते हो। अब हे गुरुनाथ! आपके चरणों पर एकात्मभाव से माथा टेकता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि अगली कथा में जिसमें साक्षात श्रीकृष्ण का भाषण है उसे श्रवण करें। जब उद्धव ने विनती की तो श्रीकृष्ण के मन में कृपा उत्पन्न होकर वह रोमांच भर आया और उसने बड़े कौशल से आत्मज्ञान का विशद वर्णन करना प्रारम्भ किया। कृष्ण के मन में भी यह बात थी कि निजधाम जाने से पहले मैं अपना निजज्ञान किसे सौंपूँ? इतने में उद्धव की भी व्याकुल दृष्टि पड़ी और श्रीकृष्ण को बड़ा संतोष हुआ इसलिये उसने वैराग्ययुक्त सम्पूर्ण आत्मज्ञान का उपदेश करना प्रारम्भ किया। उद्धव को ब्रह्मशाप से बचाने के लिये ब्रह्मज्ञान का उपदेश करना आवश्यक था क्योंकि ब्रह्मवेत्ता पर शाप की बाधा नहीं होती यह बात श्रीकृष्ण को मालूम थी। ब्रह्मज्ञान का उपदेश मन पर किस प्रकार अंकित किया जाय यह कला श्रीकृष्ण को पूर्णरूप से ज्ञात थी। इसलिये जिस युक्ति से आत्मतत्व से ही भेंट हो जाय ऐसा वैराग्य वह देखते-देखते उत्पन्न कर देता था। किसी अन्य अच्छी युक्ति से बताने से वैराग्य उत्पन्न नहीं होता यह बात कृष्ण को मालूम थी इसलिये उसने वैराग्य का निरूपण बहुत सुन्दर रीति से किया। कृष्ण ने पहले उद्धव के भाषण का अनुमोदन किया और तदुपरान्त उसी सन्दर्भ के साथ धीरे-धीरे ज्ञान वैराग्य के सम्बन्ध में बताने लगा।

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे।
ब्रह्मा भवो लोकपालाःस्वर्वास मेऽभिकाङ्क्षिणः॥ १॥

जो वेदों का वेदवक्ता तथा ज्ञानियों को दान प्रदान करने वाला है उस श्रीकृष्ण ने कहा—हे भाग्यवान भक्त उद्धव, सुनो! तुमने जो भावपूर्ण भाषण किया वह त्रिवार सत्य है और सचमुच मेरा मन्तव्य भी वही है। शंकर आदि देवताओं को मेरी कितनी उत्कंठा लगी हुई है, वे सब झुण्ड के झुण्ड यहाँ आकर मुझसे मिले भी और मेरे मन में प्रयाण की जो इच्छा थी उसके सम्बन्ध में भी उन्होंने बात की। इसीलिये तुम्हें अच्छा नहीं लग रहा है। शंकर आदि देवता उत्कंठा से मेरे वैकुण्ठ जाने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

मया निष्पादितं ह्यत्र देपकार्यमशेषतः।
यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः॥ २॥

पूर्व में जिसके लिये ब्रह्मदेव ने प्रार्थना की थी, वह देवताओं का कार्य मैंने पूरा कर दिया है। मनुष्यरूप धारण कर बलराम की वरिष्टता का सम्मान किया। लेकिन हम दोनों में छोटे-बड़े की कोई भावना नहीं है। कृष्ण और बलराम में एकात्मता ही थी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कुल वैशापनिर्दग्धनङ्क्षयत्यन्योन्यविग्रहात्।
समुद्रःसप्तमेऽन्होतां पुरीं च प्लावयिष्यति॥ ३॥

अब हमारा कुल शापाग्नि से दग्ध होकर रह गया है। वह भी परस्पर कलह से नष्ट हो जाएगा। मैंने समुद्र से जमीन माँग कर द्वारिका बसायी। मेरे निजधाम जाते ही वह उसे सातवें दिन डुबो देगा।

यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयंनष्टमंगलः।
भविष्यत्यचिरात्साधो कलिनापि निराकृतः॥ ४॥

हे उद्धव! तुम्हें हित की बात बताता हूँ, सुनो। मेरे इस संसार को छोड़ कर जाते ही धीरे-धीरे लोगों की बुद्धि का विनाश होगा। चारों ओर अधर्म मच जायगा, लोकनाशक होगा अमंगल। उस अमंगलता का कारण बताता हूँ, सुनो। जब तक मैं इस सृष्टि में विचर रहा हूँ तब तक कली को आँख खोल कर देखने का साहस नहीं है लेकिन मेरे जाते ही वह खड़बड़ा कर उठ बैठेगा। बाली का दुर्धर प्राबल्य होते ही ब्राह्मण अपना स्वधर्म त्याग देंगे, दानधर्म में किसी को श्रद्धा नहीं होगी क्रियाकर्म के नाम पर केवल ढोंग ही दिखायी देगा।

न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले।
जनोऽधर्मरुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे॥ ५॥

मेरे पृथ्वी छोड़ते ही कलि अत्यन्त प्रबल होकर ताण्डव मचायेगा। इसलिये इससे पहले कि कलि पृथ्वी का स्पर्श करे तब तक तुम यहाँ से जाने की तैयारी कर लो। जब कलि का संचार प्रारम्भ होगा तब लोगों में अधर्म बढ़ेगा, कुविद्या फैलेगी और निन्दा का प्रसार होगा। एक कौड़ी का भी लाभ नहीं होगा लेकिन निन्दा के पर्वत उभरेंगे ऐसी खराब बस्ती है, कलियुग की। इसलिये तुम क्षण भर के लिये भी यहाँ न रहो।

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेह स्वजनबन्धुषु।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग्विचरस्व गाम्॥ ६॥

इसलिये हे उद्धव! अपने कल्याण के लिये तुम भी यहाँ से अकेले चले जाओ। धन, धान्य, समृद्धि त्याग दो, जो भी कोई इष्ट, मित्र आदि हों उन्हें छोड़ो, भाई, बहन, स्त्री, बच्चे आदि किसी की भी आशा न करो। घर गृहस्थी में आशा रख कर यदि तुम केवल शरीर से हे बाहर निकलोगे तो वह त्याग बहुत कठिन और अनर्थकारी होगा। पहले स्नेह को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिये, फिर अभिमान का त्याग करना चाहिये, तदुपरान्त वासनारूपी जटाओं का मुंडन करना चाहिये और तब आश्रम के बाहर पैर रखना चाहिये। अब यह स्नेह कैसे छूटेगा? अभिमान को दण्ड कैसे मिलेगा? यदि तुम्हें इसमें कठिनाई मालूम होती हो तो उसका भी उपाय बताता हूँ। मेरा जो सर्वव्यापी स्वरूप है उसमें ही चित्त को रखकर निश्चयपूर्वक और सावधानी से उस आत्मस्वरूप में ही निरन्तर रहना चाहिये। उस व्यापक स्वरूप में निश्चयपूर्वक अवधारणा करने से उस निजभाव के कारण चित्त तन्मय होकर उसे तद्रूपता प्राप्त होती है। भृंगी भारी होती है और कीट मूर्ख होता है, फिर भी दृढ़ ध्यान के कारण वह तद्रूप होती है। सारांश यही कि अभ्यास करने से कुछ भी कठिन नहीं है। वह गूढ़ अभ्यास मैंने तुम्हें स्पष्ट रूप से बतला दिया। मेरा स्वरूप तो ज्ञानधन ही है और ध्यान करने वाला जीव भी सज्ञान है। इसलिये इस प्रकार ध्यान करने से वह भी तद्रूप हो जाता है। वहाँ सारी समदृष्टि होने के कारण चित्त को समाधान प्राप्त होता है, उस समभाव को ही बढ़ा कर यथास्थिति रहना चाहिये। पहले गृहस्थाश्रम को छोड़ें और फिर मैं कहाँ रहूँ यह विचार मन में आना स्वाभाविक है,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तो उसके बारे में भी सुन लो। स्वरूपसाम्य से समदृष्टि होती है, उस समदृष्टि से ही तुम सृष्टी में विचरण करते रहो। रहने के स्थान के सम्बन्ध में न चिन्ता करो और न कोई योजना बनाओ। कुछ काल के लिये भी एक स्थान पर रहने से उस स्थान के प्रति अभिमान हो जाता है। इस प्रकार बस्ती का विचार गलत है इसलिये तुम स्थान का प्रयत्न मत करना। जब तुम सब में सर्वगत हो जाओगे, सर्वाधार और सर्वदेशी बन जाओगे तब तुम तद्रूप होकर मुझे पा सकोगे और बिना हाथ पैर हिलाये निजधाम आ जाओगे। मुझे निजधाम ले चलिये ऐसा उद्धव ने कहा था तो श्रीकृष्ण ने उसे आत्मबोध का उपाय बताया। यदि यह उपाय नहीं किया तो मेरी प्राप्ति कभी नहीं होगी। फिर तुम निजधाम किस तरह आओगे? यदि कहोगे कि गरुड़ पर बिठा कर मुझे ले चलें तो यहाँ पंखों की गति न होने के कारण गरुड़ का वहाँ जाना सम्भव नहीं है। इसलिए जो साधक हैं वे उभय पक्ष छोड़कर मद्रूप हो जाते हैं लेकिन गरुड़ को पक्ष का अभिमान है इसलिये वह वहाँ नहीं जा सकता। अब तुम कहोगे कि मुझे कन्धे पर बिठा कर ले चलिये तो मुझे वास्तव में कन्धा ही नहीं है। इसलिये अहंबुद्धि का त्याग किये बिना तुम वहाँ नहीं जा सकते। बिना अहंभाव छोड़े कितने ही उपाय क्यों न करो लेकिन निजधाम में प्रवेश नहीं होगा। जो भी साकार तुम देख रहे हो वह सब नाशवान है। इस बात का तुम निजबोध से निश्चय करो।

यदिदं मनसा वाचा चक्षुभ्याँ श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्॥ ७॥

दृष्टि से जो भी देखा जाय वह सब दृष्यत्व के कारण नष्ट हो जाता है, कान को जो मालूम होता है वह सब शब्दत्व से विलीन हो जाता है, वाणी जो भी बोलती है, वह सब वितंडावाद में डूब जाता है इसलिये वेदों ने बोलना छोड़ा और 'नेति' शब्द से ही वह लजा गया। मन के संकल्प ने जो आकलन किया था वह सारा कल्पित हो गया जो अहंकार पर आधारित थे वे विषय विजातीय होने के कारण व्यर्थ हो गये। इन्द्रियों को जितना दिखाई देता है वह सारा नश्वर रहता है। यह सब नित्य-अनित्य के विचार से निश्चित हुआ है। लेकिन यह नित्य अनित्य विवेक भी मायावी है यह ध्यान में रखो। कुल मिलाकर यह सारा लोक मायामय है और माया संकल्प सृष्टि का ही सृजन करती है। संसार के रूप में जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सारा माया का संसार है, इसलिये तुम धैर्य धारण कर उसे पहचानो। स्वप्न का राज-वैभव जिस प्रकार एक भ्रम रहता है उसी प्रकार यह सारा सांसारिक वैभव माया है, इसे ध्यान में रखो।

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः सगुणदोषभाक्।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा॥ ८॥

परमात्मा से जो विभक्त रहता है उस पुरुष को 'अयुक्त' कहते हैं। अपने एकमेवाद्वितीय अद्वैत आत्मस्वरूप का विस्मरण होने के कारण उसे अनेकत्व से भेद का भ्रम होने लगता है। उस विस्मृति के भ्रम में मिथ्या भेद का सत्याभास होने लगता है और भेददृष्टि के आवेश में गुणदोष दिखाई देने लगते हैं। यथार्थ में जब भेद ही नहीं है तो शुद्ध वस्तु में गुणदोष दिखाई देने का प्रश्न ही नहीं उठता। भेद के जोर से ही गुणदोषदृष्टि उत्पन्न होती है और कर्माकर्म की त्रिपुटी भेददृष्टि के ही कारण दृढ़ होती है। भेद ने बहुत खराब काम किया है। वह कर्म, अकर्म, विकर्म, जन्म-मरणादि धर्म और स्वकर्म प्रकाशित करता है। कर्म और विकर्म से नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं और काम्य कर्म से स्वर्ग प्राप्त होता है इसलिये कर्म करके कर्ममुक्त होकर समाधान प्राप्त करना चाहिये। अब तुम पूछोगे कि कैसा कर्म? अकर्म का क्या लक्षण है? विकर्म का क्या गुण है? तो वह सब भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुनो। काया वाचा और मन से जो कुछ किया जाता है वह कर्म है और सूक्ष्म स्फूर्ति का भान है वह कर्म का मूल है। मन, वाणी अथवा देह में कर्म का बीज न उत्पन्न होना ऐसा जो 'अकर्म' है वह देहाभिमान वाले में कभी नहीं होगा। जो सभी दृष्टियों से कर्म से अलग है जिसे कर्म का स्पर्श नहीं हो पाता, जो कर्मठ के योग्य नहीं है वही यथार्थ में 'अकर्म' है ऐसा समझो। विधिनिषेध की चिन्ता किये बिना जहाँ विशेष कर्म बढ़ता है उसे 'विकर्म' कहते हैं। यह अत्यन्त संकट में डालने वाली चीज है। सर्वसाधारण कर्म जब विकृत होकर उसमें बड़े-बड़े विधिनिषेध उत्पन्न हो जाते हैं तो उसे 'विकर्म' कहते हैं। जो विधि के अनुसार नहीं होते वे 'निषेध' की ओर मुड़ते हैं यह तो स्पष्ट ही है। जिसका आचरण करते समय त्रुटि होती है अथवा बाधा आती है अथवा जिसमें आकुलता उत्पन्न होती है वह कर्म भी वास्तव में 'निषिद्ध' ही है। ऐसे विकारयुक्त कर्म का 'विकर्म' के रूप में स्वरूप दिखलाया। इस प्रकार कर्माकर्म के विभाग तुम्हें स्पष्टरूप से दिखलाये। जीव की उत्पत्ति ही पहले अविद्या के कारण होने से उसके कर्म भी अविद्यात्मक ही होते हैं। अब श्रीधरस्वामी ने किये हुए व्याख्यान की विशेषता बताता हूँ, सुनो। 'जीव' परम अविद्यायुक्त है। नित्यक्रिया यही उसका 'कर्म', नित्यकर्म न करना यह 'अकर्म' और निषिद्ध कर्म 'विकर्म' है। ऐसे भेदयुक्त कर्माकर्मविकर्म की त्रिपुटी जब सृष्टि में बढ़ती रहती है तभी गुणदोष बुद्धि के गर्भ में भेददृष्टि भी प्रबल होती है। जिसके कारण गुणदोषों में ही दृष्टि रह जाती है और विधि निषेधजन्य गाँठें पड़ जाती हैं, वहाँ अभेद में भेद कैसे उत्पन्न होता है? तो उसके बारे में भी सुनो। पुरुष एक अकेला ही होता है लेकिन जब वह मनोरथ की महापूजा पर बैठता है तब वह ध्येय, ध्याता और ध्यान के बहाने भेद का पागलपन शुरू करता है। वहाँ वह नाना प्रकार के उपचार, पूजा साहित्य आदि के बारे में सोचता रहता है। इस प्रकार वह अकेलेपन में भी मनस्वी भेद बढ़ाता है। 'ध्येय' को उत्तम कहता है और जो ध्याता है उसे 'नीच' मानता है इसलिये ध्यान गौण हो जाता है और गुणदोषों की वृद्धि करता है। ध्यान में विचित्र प्रकार के गुणदोष हैं, ध्येय को वह 'परम पवित्र' कहता है और आचरण पवित्र नहीं है इसलिये वह स्वयं अपवित्र हो जाता है। इस प्रकार ध्यान की दृष्टि से वह स्वयं ही अपने आप में गुणदोषों की त्रिपुटी और भेददृष्टि बनता है। वास्तव में स्वयं ही ध्येय, ध्याता और ध्यान होते हुए उसे छोड़कर गुणदोषों का स्वरूप अवश्य ही बढ़ाता जाता है। उद्धव! यह सारी सृष्टि भेददृष्टि के कारण बढ़ी हुई है और उस भेद के कारण ही कर्म की त्रिपुटी बढ़ गयी है। भेद के प्रति अनुराग जैसे-जैसे बढ़ता है, जैसे-जैसे विषय का प्रेम बढ़ता जाता है या इन्द्रियों का लाड़-प्यार किया जाता है वैसे-वैसे यह संसार बढ़ता ही जाता है। साँप को अमृत पिलाया जाय तो जैसे उसका विष ही बनता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने से दुःख बढ़ता जाता है।

तस्माधुक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत्।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे॥ ९॥

इसलिये बुद्धिमान पुरुष को इन्द्रियों के द्वार में विषय का प्रवेश ही नहीं होने देना चाहिये। जिस प्रकार विष में पकायी हुई खीर को मुँह में डाले बिना फेंक देना चाहिये अथवा रस से भरे अमृत फल पर यदि सर्प ने अपना विष फैला दिया हो तो उसे कौवे भी नहीं खाते क्योंकि वे जानते हैं कि ऐसा करने में उन्हें खतरा है, उसी प्रकार विषयों का सेवन करते समय मुमुक्षुओं को भला अच्छा कैसे लगेगा? रात-दिन, पग-पग पर उसमें आत्मघात के चिह्न उन्हें दिखायी पड़ते हैं। जिन्हें उसमें आत्मघात नहीं दिखायी देता, ऐसे ही लोग विषयों का सेवन करते हैं। जिस प्रकार उल्लू भरी दोपहरी को भी आधी रात समझता है, उसी प्रकार विषय सेवन से मुमुक्षु की अवस्था होती है। क्योंकि उससे जन्म-मरण का भोग तो नहीं ही टलता, उल्टे उसका आत्मपतन अवश्य होता है। यदि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तुम कहोगे कि प्राणियों का जीवन तो विषयों पर ही निर्भर रहता है, उसका त्याग करके वे किस प्रकार जीवित रहेंगे तो उसका भी सुगम मार्ग बताता हूँ, सुनो। विधिनियमों के अनुसार इन्द्रियों का निग्रह करने से चित्त शान्त होता है, उसी प्रकार यदि इन्द्रिय और मन इन दोनों का निग्रह किया जाय तो यह त्याग उत्तम और सरल हो जाता है। इन्द्रिय भले ही विषय की ओर प्रेरित हों लेकिन मन को उसमें प्रवेश नहीं करने देना चाहिये, यह भी एक प्रकार का त्याग ही है। यदि यह शंका करोगे कि मन को विषय का बल होने के कारण वह विषय की आसक्ति से चंचल हो जाता है और वह निश्चल कभी नहीं होगा, तो उसका भी उपाय सुनो। मेरा स्वरूप सर्वव्यापी है, वह मन के अन्दर भी रहता है और बाहर भी। जहाँ-जहाँ मन जाएगा वहाँ-वहाँ वह भी रहेगा ही। चित्त को रहने के लिये मेरा सिवा कोई स्थान नहीं है। वह स्वदेश में हो या परदेस में, रात-दिन मेरे अन्दर ही रहता है। इस प्रकार निरन्तर आत्मस्वरूप को ही देखते रहने से वही चित्त सर्वव्यापक हो जायेगा। फिर इस चित्त में ही, तुम्हें सारा जगत आदि से लेकर अन्त तक दिखने लगेगा। या फिर तुम्हारा जीवस्वरूप भी उत्तम है, उसमें ही यदि तुम इस जगत को देखने लगोगे तो यह जगत ही तुम्हारा निर्व्यंग अंग बन कर रहेगा। चर तथा अचर, क्षुद्र और महान आदि जो कुछ भी है उसे अपने जीवरूप में ही देखो। तुम कहोगे कि जीव तो एकदेशी है उसमें सारे जगत को कैसे देखा जाय? सुवर्ण और अलंकार ये जिस प्रकार एकरूप हैं, उसी प्रकार जीव की मेरे साथ एकता करो। चिन्तन से कीटक भ्रमर हो जाता है। उसी प्रकार आत्मदृष्टि से तुम भी तत्काल आत्मतत्त्व बन जाओगे। अरे! नमक का टुकड़ा समुद्र में मिल जाने पर समुद्र की ही तरह बड़ा हो जाता है, उसी प्रकार तुम भी तत्काल मद्रूप हो जाओगे। उस समय 'मैं' और 'तुम' का भेद अपने आप समाप्त हो जाएगा। उस समय तुम परमानन्दरूप शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सिद्ध बन जाओगे।

ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्माभूतः शरीरिणाम्।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥ १० ॥

शास्त्र के श्रवण से ज्ञान दृढ़ होता है, मनन के अभ्यास से ज्ञान का विज्ञान होता है, इन दोनों का स्वरूप ध्यान में लेने से तुम ब्रह्मस्वरूप हो जाओगे। अगर तुम पूछोगे कि स्वहित के लिये तुम्हारे चरणों का अखण्ड भजन करते रहें और अगर उसमें विघ्न आ जाये तो क्या करें? तो सुनो। दंभ और लौकिक बातों का विचार कर जो भक्त फल की इच्छा का त्याग कर भजन करता है उसके विघ्न किस प्रकार आयेगा? उसके मार्ग में विघ्नों का नाश करने के लिये मैं यह धारदार चक्र लेकर उसके आगे-पीछे सदैव खड़ा रहता हूँ। उद्धव! इस प्रकार जो निजभाव से मेरा भजन करता है उसे बाधा पहुँचाने का साहस देवताओं में भी नहीं है। सारांश यह कि ब्रह्मस्वरूप हो जाने के बाद चराचर की आत्मा तुम स्वयं हो जाओगे। चाहे स्थावर हो चाहे जंगम हो चाहे देव हो या दानव हो सब जगह तुम ही तुम रहोगे। तुम्हारे अतिरिक्त अणुमात्र के लिये भी कुछ नहीं रहेगा। इसलिये तुम्हारे लिये विघ्न किस प्रकार की बाधा उत्पन्न करेगा? ब्रह्मादिक को ग्रसित करने वाला जो काल है उसकी भी तुम आत्मा बनकर रहोगे। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने उद्धव की पीठ थपथपाते हुए यह बात कही। इस प्रकार बाह्य बाधकता अपने आप नष्ट हो जाती है, संकल्प कल्पना बन्द हो जाती है, ब्रह्मानन्द की भोर होती है और कर्म का रास्ता बन्द हो जाता है। ऐसा जो ब्रह्मानुभवी है उसके सामने कर्म दरिद्र अर्थात् निःसत्व हो जाता है, वेद उसके सेवक बन जाते हैं और विधिविवेक कर्मचारी हो जाते हैं। यही बात मैं तुम्हें कितनी बार और कैसे समझाऊँ? मैं भी उसका आज्ञाधारक बन जाता हूँ। ऐसे भक्त जहाँ कहीं भी मेरी प्रतिष्ठा करते हैं वहाँ मुझे प्रकट होना पड़ता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। भक्त का वचन निभाने के लिये मुझे नरसिंहावतार में सूखी लकड़ियों में प्रकट होना पड़ा, दुर्वासा को मैं पीठ पर लाद कर ले गया था। यह तो तुमने देखा ही था। अब यदि तुम कहोगे कि भगवान जिसका आज्ञाधारी बन गया, उसका कर्म तो किंकर हो ही जायगा, फिर ज्ञाता विषय के नाम पर सहज ही स्वेच्छाचार करते रहेंगे। ज्ञाता स्वेच्छा से विषयाचरण नहीं करते, उसका कारण भी सुनो। जिसका अभिमान दग्ध हुए वस्त्र की तरह रहता है उसका प्रपंच का ध्यान मिथ्या हो जाता है और उसे विषयों का दर्शन भी मिथ्या लगता है। जिसे प्रपंच की चाह रहती है विषयों से प्रेम रहता है, मनचाहे आचरण के प्रति आसक्ति रहती है वही संसार बन्धन के संकट में फँसता है। किन्तु ज्ञाता को विषय के प्रति सत्यनिष्ठा नहीं रहती, इसलिये वह विषय भोग में कैसे लब्ध होगा? अब ज्ञाता के कर्म का मर्म बताता हूँ, सुनो। ज्ञाता मनोधर्म को स्पर्श किये बिना ही सारी क्रियाओं और सारे धर्मों का आचरण करते रहते हैं।

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥ ११॥

श्लोक ११—गुणदोषातीत ज्ञाता मनमाने ढंग से कभी आचरण नहीं करता लेकिन वह स्वभाव से भीरू भी नहीं होता। वह विहित कर्म करता है, लेकिन यह मैंने अच्छा किया है ऐसा अहंभाव भी नहीं रखता। कुम्हार के चाक की तरह वह भाग्य के अनुसार चलता रहता है। न तो वृत्ति में संकल्प न मन में हेतु स्फुरता है ऐस कर्म ज्ञाता केवल शरीर धर्म से ही करता है। इसलिये सत्कर्म करने से सिद्धि प्राप्त हुई यह घमण्ड उसे छू नहीं पाता अथवा कर्म बीच में ही रुक गया तो इसके लिये उसके मन में बेचैनी नहीं होती। जिस प्रकार सोये हुए पुरुष के पीछे बाघ बैठ जाये या सामने स्वर्ग का भोग विलास आ जाय तो उसे न उसका भय लगता है न प्रीति उत्पन्न होती है। उसी प्रकार ज्ञाताओं की स्थिति रहती है। गुण अथवा दोष का विचार न कर जिस प्रकार बच्चे सहज रूप में खेलते रहते हैं, उसी प्रकार ज्ञाताओं की स्थिति रहती है। कर्मप्राप्ति अभिमान के कारण घटती है, वह अभिमान ही जब वे त्याग देते हैं तो फिर उसके बिना वे कैसे विचरण करते हैं? कर्म तो उनके हाथ से होने वाला नहीं है। ऐसा विकल्प यदि तुम मन में लाओगे तो मैं तुम्हें बताता हूँ कि यह स्थिति दूसरों की समझ में आने लायक नहीं है, निरभिमानता यह स्वानुभव है, दूसरों की समझ में वह कैसे आयेगा? भाग्य के अनुसार देह सहज रीति से सारी हलचल करता है लेकिन अज्ञान के जोर से अभिमान की वृद्धि होती है और वह 'मैं कर्ता हूँ' ऐसी बातें करने लगता है। उस समय गुरुवचनों के अनुसार ज्ञाताजन उचित अभ्यास के साथ अज्ञान के कारण उपजे अभिमान को समाप्त कर देते हैं। उस समय शेष प्रारब्ध के अनुसार, निरभिमान से उनका देह आचरण करता रहता है अर्थात् ज्ञानसम्पन्न लोगों के सारे कार्य केवल शरीर धर्म से ही होते रहते हैं। उन्हें 'अहेतुक' कहते हैं। बालक की उपमा देकर इस स्थिति का वर्णन बताया। कृष्ण ने उद्धव से कहा, "अब निरभिमान के लक्षण बताता हूँ सुनो।" तब उद्धव मन ही मन आनन्दित हुआ और ध्यान देकर सुनने लगा।

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः।
पश्यन्मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः॥ १२॥

पहले शास्त्रश्रवण से ज्ञान उत्पन्न होता है, तदुपरान्त उस ज्ञान के अनुभव से 'विज्ञान' प्राप्त होता है, ऐसे ज्ञानविज्ञान से सम्पन्न होने पर वह निरभिमान होता है। इस प्रकार सचमुच की निरभिमानता हाथ आने पर उसमें 'शान्ति' का उल्लास उत्पन्न होता है। जबर्दस्ती चित्त को निश्चल करने का प्रयत्न करना अथवा दाँत पीसकर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परोपकार सहन करना इसे शान्ति कौन कहेगा? आक्रोश से सहनशीलता लाने का प्रयास करना शान्ति नहीं है। शान्ति क्षुब्ध न होने वाले समुद्र की तरह होती है। वह न कभी घटता है, न कभी बढ़ता है। सैकड़ों नदियाँ अपना मटमैला जल समुद्र में डालती रहती हैं लेकिन समुद्र का जल मैला नहीं होता। उसी प्रकार स्वार्थ का विरोध करने वाली अनेक विषमताओं का प्रहार होने पर भी उसके चित्त में जरा भी परिवर्तन नहीं होता। वही सच्ची 'शान्ति' है। ऐसी शान्ति जिसे प्राप्त होती है वही समस्त प्राणिमात्र का सखा है, सबका चहेता वही है और सब का सुहृद भी वही है। उसका सखाभाव भी बड़ा विचित्र है। वह अपनी मैत्री के लिये सर्वस्व अर्पण करता है, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये वह किसी को फँसाता नहीं है जो कृपापात्र होता है उसी को उपदेश करता है। उसकी दृष्टि अतर्क्य होती है, उसे सारी सृष्टि मद्रूप ही दिखाई देती है। उसने अपनी दृष्टि से जगत की और मेरी गाँठ बाँधी रहती है। फिर वह जिधर भी देखता है उधर उसे मैं ही दिखाई देता हूँ। वह यदि मुझे नहीं देखता तो उसका वह न देखना भी मैं ही होता हूँ। उसकी देखने की दृष्टि मैं स्वयं हो जाता हूँ और सारी सृष्टि के साथ-साथ मेरी और उसकी दोस्ती जम जाती है। सारी सृष्टि ही जब मैं हो जाता हूँ तो 'वह और मैं' ये शब्द ही व्यर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार वह सर्वत्र समदृष्टि के योग से एकात्म होकर मुझमें ही वास करता है। इस प्रकार मनोधर्म ही छोड़ देने के कारण जिसके लिये मैं सुगम हो जाता हूँ उसे वह जन्म कैसे मिलेगा जिसके कारण उसे दुर्धर दुःख भोगना पड़ता है। माता की उदररूपी गुफा में रजस्वला के रुधिर में पिता के रेत द्वारा गर्भधारणा होकर संसार का प्रारम्भ होता है। माँ के पेट में स्थित जीव जन्तु उसके नाक में, मुँह में, छाती में और मस्तक में प्रवेश करते हैं और वह प्राणी नौ महीने तक विष्टामूत्र में लिपटा पड़ा रहता है। जठराग्नि के दावानल में गर्भ का गोल पिण्ड तैयार होता है और फिर उसमें से एक-एक अवयव तैयार होता है। हे नारायण! वह गर्भ की वेदना और वहाँ की नाना प्रकार की यातनाएँ तो असह्य होती हैं। उसके बारे में सुनकर ही घृणा होती है और फिर सबके अन्त में जो प्रसूति वायु उठती है उससे तो सारे शरीर में बिच्छू के डंक जैसी वेदनाएँ होती हैं और बड़े संकट से योनि में से शरीर का जन्म होता है। ऐसा अपवित्र जन्म उन उत्तम पुरुषों को कभी प्राप्त नहीं होता जिन्होंने निजधाम प्राप्त कर लिया है। वे समदृष्टि के कारण स्वयं ही पुरुषोत्तमस्वरूप हो जाते हैं। उनके आगे पीछे मैं ही होने के कारण उनके लिये जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता। वे कलिकाल की परवाह न कर सीधे मत्स्वरूप हो जाते हैं। जहाँ जन्म ही नहीं रहता वहाँ मृत्यु भी खाली हाथ लौट जाती है। इस प्रकार मेरे भक्त मेरा भजन कर उसके बल से ही मुझे प्राप्त करते हैं। इतना कह कर कृष्ण ने उद्धव की पीठ थपथपायी और कहा, "चलो उठो, शीघ्रता करो, यही युक्ति साध्य करो ताकि जीवन का कष्ट समाप्त हो जाय। मेघ के मुख से निकला हुआ जल चातक जिस प्रकार ऊपर ही ऊपर ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार कृष्ण के भाषण का भी उद्धव ने आकंठ पान किया। चकोर जिस प्रकार चन्द्रकिरण के लिए आतुर हो उठता है उसी प्रकार हरि के भाषण के लिये उद्धव उतावला हो गया। पक्षिणी के बच्चे माँ के आने का समय होते ही जिस प्रकार नीड में आगे सरक कर प्रतीक्षा करते हैं। उसी प्रकार कृष्ण का मुख देखकर उद्धव को अत्यन्त आनन्द हुआ और वह कानरूपी मुख से कृष्णामृत प्राशन करने लगा।"

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप।
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्वजिज्ञासुरच्युतम्॥ १३॥

शुक्राचार्य कहते हैं, हे परीक्षित! भगवान के हृदय में कृपा उत्पन्न हुई इसलिये उसने अपने महान भक्त को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आत्मज्ञान का उपदेश किया। उसे सुनकर उद्धव की ज्ञानक्षुधा और भी बढ़ गयी। इससे मालूम होता है कि श्रीकृष्ण का यह ज्ञानयुक्त भाषण कितना अपूर्व था। श्रीकृष्ण ने स्वमुख से अपना हृद्गत सुनाया, वह निरूपण नितांत मधुर था जिससे मन में सुनने की इच्छा बढ़ी, जिससे भगवान की मर्यादा का भी विचार नहीं रह गया। उद्धव का हृदय प्रेम से भर आया, उसने भगवान को साक्षात दण्डवत किया और फिर वह उनसे पूछने लगा।

उद्धव उवाच

योगेश योगविन्यास योगात्मन्योगसम्भव।
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः संन्यासलक्षण॥ १४॥

उद्धव ने कहा, हे योगियों के योगिराज! तुम श्रीपति योगियों की निधि हो। तुम योग की साक्षात मूर्ति हो तथा योग से ही तुम प्रकट होते हो। समस्त योगों की उत्पत्ति तुमसे ही है। मुझे मोक्ष लाभ हो इसलिये तुमने मुझे त्याग का और संन्यास का लक्षण बताया। लेकिन यह त्याग अत्यन्त दारुण और कठिन है।

त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् कामानां विषयात्मभिः।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः॥ १५॥

इस त्याग की रीति देखी ज्ञाय तो हे श्रीकृष्ण! वह मुझे भी कठिन लगती है। फिर दूसरों की क्या गति होगी? हे श्रीकृष्ण! जिनके चित्त में काम है, जिनकी बुद्धि विषयों के प्रति आसक्त हो गयी है उनसे यह त्याग कभी भी सम्भव नहीं है। जब तक तुम्हारी कृपा नहीं होती तब तक अभक्तों के द्वारा यह त्याग कैसे सम्भव होगा? भगवान ने जो त्याग बतलाया है वह सबके लिये सम्भव नहीं है। कैसा चमत्कार है! तुम साक्षात सबके हृदय में रहते हो लेकिन उसमें उनका चित्त प्रवेश नहीं करता और विषयों में फँस जाता है। इस प्रकार प्रपंच में आसक्त होने के कारण अभक्त तुमसे विमुख हो जाते हैं, उनसे त्याग नहीं हो सकता क्योंकि उनका चित्त सदैव दूषित हुआ रहता है। ''हे श्रीकृष्ण! त्याग क्यों नहीं होता?'' तो सुनो, उसका कारण भी बताता हूँ। त्याग करने में क्या कठिनाई है यह भी तुम्हें बताता हूँ।

सोऽहं ममाहमिति मूढ़मतिर्विगाढस्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाऽहं संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम्॥ १६॥

तुम्हारी माया विचित्र व्याधि है। वह शरीर में आत्मबुद्धि उत्पन्न करती है और शरीर के सम्बन्ध में जो कुछ है वह सब आत्मीय है ऐसा आभास कराती है। इस प्रकार विपरीत भावना बढ़ गयी है। 'मैं' और 'मेरा' यही विचार छा जाने के कारण बुद्धि विचारशून्य होकर घर गृहस्थी पर विशेष आसक्ति हो जाती है, जिससे त्याग कठिन हो जाता है। वह बुद्धि निर्मल हो सके, अनायास आत्मस्वरूप का आकलन हो जाए ऐसी कृपा भगवान करें तभी दास तर सकता है। हे पुरुषोत्तम! हे श्रीकृष्ण! हे आत्माराम! मेरे जैसे तुम्हारे दासों को सांसारिक यातनाओं से मुक्त करो। हे श्रीकृष्ण! तुम्हें छोड़ किसी दूसरे से पूछना मुझे अच्छा नहीं लगता क्योंकि विषयों ने सबको ग्रस लिया है।

सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे।
सर्वे विमोहितधियस्तव मायया इमे ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः॥ १७॥

महादेव से पूछने जाओ तो वह सृष्टि की उत्पत्ति में व्यस्त हैं। रात-दिन प्रजा किस प्रकार उत्पन्न की जाय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसी चिन्ता में मग्न। जो अपने दैहिक स्वभाव धर्म के कारण सर्वदा संसार की वृद्धि करता रहता है वह संसार से मुक्त कैसे रह सकता है? अपनी निर्मित की हुई चीज को वह कभी डुबायेगा नहीं। नारद ब्रह्मोपदेश कर संसार की उत्पत्ति में बाधा डालने लगा, तो ब्रह्मदेव ने कुपित होकर उसे शाप दे दिया। हे श्रीकृष्ण! इस प्रकार संसार की आसक्ति से जो उसमें लीन हो गये हैं उनसे पूछने का मन नहीं करता। यदि ऋषियों से पूछने जाओ तो वे हमेशा अपने ही मत के अभिमान में लीन रहते हैं, सदा अपना ही मत स्थापित करना चाहते हैं। उनके विरुद्ध कोई बोले तो उसे शाप देते हैं। मन में धन की आशा रखकर जो शिष्यों को उपदेश देते हैं, उनके मन में ही विषय होने के कारण वह उपदेश पेट भरने का साधन बन जाता है। जब गुरु में ही विषयासक्ति है तो शिष्य में विरक्ति कैसे आयेगी? ऐसे गुरु से जो पूछने जाते हैं वे स्वार्थ सिद्धि से वंचित हो जाते हैं। तुम सत्यस्वरूप, स्वयंप्रकाश, सर्वात्मा तथा अविनाशी हो इसलिये किस प्रकार युक्ति प्रयुक्ति से उपदेश करना चाहिये तथा विकल्प को किस प्रकार दूर करना चाहिये यह केवल तुम ही जानते हो। हे श्रीकृष्णनाथ! ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने में तुम्हारे जैसा कोई मुझे सारे त्रिभुवन में नहीं दिखाई देता। इस प्रकार हे कृष्ण! यथार्थ में आत्मा तुम ही हो, आत्मज्ञान देने वाले भी तुम ही हो और आत्मबोध में स्थिर करने वाले भी तुम ही हो।

तस्माद्भवन्तमनवद्यमनन्तपारं सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम्।
निर्विण्णधीरहमुह वृजिनाभितप्तो नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये॥ १८॥

हे यादवश्रेष्ठ! तुम नित्य, शुद्ध और पवित्रमूर्ति हो, इसलिये तुम्हें ममतामोह स्पर्श नहीं करते। इसीलिये लोग 'तुम पवित्र हो' इन शब्दों में तुम्हारी कीर्ति का गायन करते हैं। गोपों के जूठे ग्रास से जिसकी पवित्रता भंग नहीं हुई, बल्कि उसी जूठे ग्रास से तुमने उन गोपालों को तारा। पूतना के प्राणों को सोख लिया फिर भी तुम्हारी पवित्रता कम नहीं हुई बल्कि उसका उद्धार हुआ। अर्थात् दोष ही दोष का तारणहार बना। कालिया सर्प का मर्दन कर उसका अभिमान चूर कर दिया लेकिन पवित्रता नष्ट नहीं हुई। उसे विषविहीन कर उसका उद्धार किया। रजक तो जाति से नितान्त हीन था और उसका अध:पतन होने को था लेकिन उसे मारकर तथा उसे पुनीत बनाकर उसे तुमने सायुज्य मुक्ति का पात्र बनाया। गोपियों के साथ निंद्य मालूम होने वाला कर्म करके तुमने उन्हें निष्काम बना दिया। इससे वे अत्यन्त पवित्र होकर सायुज्यधाम चली गयीं। चाहे सुकर्म हो या कुकर्म हो लेकिन उसे करते समय पवित्रता अक्षुण्ण रहती है, इसीलिये अर्थात् अकर्तात्म बोध के कारण ही तुम्हें 'पुरुषोत्तम' यह नाम प्राप्त हुआ है। जो त्रिगुणों में फँस जाता है, उसे वे गुण जकड़ लेते हैं लेकिन तुम्हारे पास आते ही वे गुण समाप्त हो जाते हैं इसलिये तुम सर्वथा 'अनंत' हो। देश या काल की तुम्हारे लिये कोई सीमा नहीं है इसलिये तुम 'अनंत' और 'अपार' हो। श्रुति भी तुम्हारी थाह नहीं पा सकीं। तुम्हारी मैं कितनी विनती करूँ? विनती करते-करते मैं व्याकुल हो उठा हूँ। तुम हृदयस्थ ज्ञानमूर्ति हो इसलिये समस्त त्रिभुवन में ज्ञाता तुम एक अकेले हो। ज्ञान, अज्ञान ये जो मायाशक्ति हैं, वे सारी ईश्वर के अधीन हैं। लेकिन तुम उस ईश्वर की भी ईश्वरमूर्ति हो। हे श्रीकृष्ण! यह तुम्हारी सत्य कीर्ति है। हे कृष्णनाथ! सर्वस्व के नियंता, सब कुछ करने पर भी अकर्ता और सब कुछ भोग कर भी अभोक्ता ऐसे एकमेव ईश्वर तुम हो। देश और काल से जिस स्थान का विनाश नहीं होता वहाँ के तुम निवासी हो तथा पूर्णांश का सम्पूर्ण अवतार हो। तुम 'नर' का अविनाश स्थान हो इसलिये तुम्हे 'नारायण' कहते हैं। तुम्हारे ही कारण जीव में चलन-चालन होता है। सबका चालकत्व तुम्हारे हाथ में है। इस प्रकार तुम स्वयं ईश्वर हो तथा नर के विशेष नारायण हो। युद्ध के समय तुमने ही अर्जुन को ब्रह्मज्ञान दिया। उस भीषण प्रसंग में जब एक-दूसरे का प्राण लेने के लिये जीव अग्रसर थे उस समय तुमने अर्जुन को ब्रह्मज्ञान दिया। तुम

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऐसे कृपालु हो इसीलिये मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक इन तीनों तापों से मैं दग्ध हो गया हूँ। यह संसार भीषण दु:ख से युक्त है। संसार एक अन्धा कुआँ है। उसमें कामक्रोधादि महादुष्ट सर्प हैं। उसमें निन्दा और प्रतिस्पर्धा रूपी काँटे फैले हुए हैं। ऐसे दु:ख में मैं पड़ा हुआ हूँ और पेट में ब्रह्मद्वेष का शूल उभरने से छटपटा रहा हूँ। उसमें से बाहर निकलने के लिए मुझे कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। इसलिये हे कृपानिधे! हे दयालु! आत्मज्ञान का बोध कराकर मुझे ऊपर निकालो।

श्रीभगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्वविचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात्॥ १९॥

शरीर में भूत का संचार होने पर जिस प्रकार मांत्रिक (समंत्र) उस पर अक्षत् फेंकता है उसी प्रकार जहाँ पहले ही पंचमहाभूतों का संचार हुआ था, उसमें कृष्ण वियोग का भूत शरीर में प्रवेश करने के कारण उद्धव बिलकुल घबरा गया था। तब उद्धव की घबराहट का बहाना बनाकर, लोगों के मन में 'अहं' का जो महिषासुर घुस गया था उसे निकाल बाहर करने के लिये कृष्णरूप जानकर निकल पड़ा। उस 'अहं' महिषासुर को निकाल बाहर करने के लिये श्रीकृष्ण यदु अवधूत संवादकथा की मंत्राक्षत फेंक कर उस भूत को भगा रहा है। श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा, अब तुम सावधान हो जाओ, क्योंकि इस मृत्युलोक में अपना उद्धार स्वयं ही करना पड़ता है। सच पूछो तो इस परमार्थ के लिये माता-पिता किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते। पुत्र, बन्धु, कन्या अथवा कांता तो कभी सहायक नहीं होते। परमार्थ में न समधी सहायता करता है न दामाद ही सहायक होता है, बल्कि जो हमारे शरीर में रहकर विवेक का काम करता है वही हमारे लिये सहायक होता है। मुमुक्षु मार्ग पर चलने वाले तत्त्वविचार करने वाले ज्ञानी लोग, कार्यकारण का विचार कर अपनी ही बुद्धि से संसार सागर को पार करते हैं। नित्य क्या है और अनित्य क्या है इसका विचार कर अनित्य का त्याग करते हैं और जो नित्य है उसका स्वहित के लिये अंगीकार करते हैं। नित्यत्व से जो शेष रह जाता है, वही मेरा चिद्धन स्वरूप है, इसे ध्यान में रखो। साधकों का साधन भी वही है इसलिये उसे भी वे अनन्यभाव से अर्थात् स्वयं ही वह तत्त्व हैं इस भावना से उसका चिन्तन करते हैं। इस प्रकार मुझमें दृढ़ भावना रखने से मैं ही वह कीट-भृंग बन जाता हूँ और इस प्रकार वे स्वयं ही अपना उद्धार कर लेते हैं।

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनूविन्दते॥ २०॥

पशु-पक्षी आदि योनियों में भी हित और अहित किसमें है इस बात का ज्ञान रहता है। फिर मनुष्य के देह में वह क्यों नहीं होगा? वह सहजस्फूर्त रहता है यह ध्यान में रखो। मैं अपने देह से जो कर्म कर रहा हूँ, उससे मैं तरूँगा या नहीं यह प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्फूर्ति के द्वारा जानता रहता है। अशुभ वासना को छोड़ जो मन में विषय की कल्पना भी नहीं करता वह स्वयं ही अपना गुरु बन कर नरक की यातनाओं से बचाता है यह ध्यान में रखो। जो गर्भावस्था और जन्म से थक जाता है, मरने-जीने की प्रक्रिया से ऊब जाता है, जन्म-मृत्यु के विनाश के प्रति व्याकुल रहता है, स्त्री पुत्रों के प्रति जिसके मन में मोह नहीं उत्पन्न होता, जीवन को काल ग्रस रहा है फिर भी मेरा हित किसमें है यह मालूम नहीं होता और इस विचार से जिसे रात को नींद नहीं आती जरा विचार करो कि तुम्हारे देखते-देखते उसने तुम्हारी बाल्यावस्था को ग्रस लिया, यौवन का शिखर उसने निगल लिया और अब वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वृद्धावस्था की ओर चक्कर लगा रहा है। वार्धक्य तो केवल जाल है लेकिन उसके भी पीछे काल लगा हुआ है। जीवन इस प्रकार बड़ी शीघ्रता से व्यर्थ जा रहा है यह बात संसार की समझ में नहीं आती। हर क्षण काल व्यर्थ हो रहा है, परमार्थ का तो कोई काम नहीं होता इसलिये जन्म-मरण के भँवर का अनर्थ सामने दिखायी देता है। स्वर्ग, नरक, कर्म और ब्रह्म ये चारों बातें मनुष्यत्व के कारण ही प्राप्त होती हैं इसलिये पापकर्म को छोड़ मोक्षधर्म को ही स्वीकार करना चाहिये। हाय! मोक्ष के लायक यह नरदेह व्यर्थ ही नष्ट हो रहा है। यह बात उसे शल्य की तरह चुभती रहती है इसलिये वह विषय-व्यापार की बात भूल जाता है। प्रत्यक्ष अनित्य के लक्षण से ही संसार नाशवान मालूम होता है इसलिये वह उसमें आसक्त नहीं होता, मृत्युलोक के भोगों के प्रति वह विरक्त हो जाता है। इसी प्रकार परलोक के विवेक का प्रकाश देता हूँ और उस विवेक से उसके मन में आत्मबोध जगता है। जिसमें जैसा भाव रहता है उसके लिये मैं वैसा ही देवता बन जाता हूँ इसमें जरा भी सन्देह न करना। देखो, उद्धव! इसके लिये केवल बुद्धि का निर्मल होना ही आवश्यक है, तभी आत्मबोध तत्काल सफल होता है।

पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम्॥ २१॥

इस प्रकार जो वैराग्य से पूर्ण तथा विवेक से युक्त धैर्यवान पुरुष है, वही सांख्य का और योग का विचार करता है, उसके अंतःकरण में तत्काल आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। जिन नरदेहों में विवेक रहता है, उन्हें आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। जो सर्वशक्तिमान तत्त्व है वही उन्हें धीरे-धीरे दृष्टिगोचर होने लगता है। जिससे सारी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वह सब शक्ति को शक्ति प्रदान करने वाला है, लेकिन जो सारी शक्तियों की भी समझ में नहीं आता ऐसे स्वरूप को वे देखते हैं। हे उद्धव! तुम्हें क्या-क्या बताऊँ? इस संसार में मैंने अनेक प्रकार के शरीरों का निर्माण किया लेकिन सुख का अनुमान लगाकर, वह भी नश्वर ही है, उसमें भी पतन है यह जानकर मन को उसका भी स्पर्श नहीं होने देता। कब भगवान की कृपा होगी? संसारबन्धन कब टूटेगा? जिससे परमानन्द प्राप्त होता है, वह आत्मबोध कब प्राप्त होगा? हे श्रीहरि! दौड़ कर आओ इस दीन पर दया करो, हे भक्तप्रेमी श्रीकृष्ण इस संसार सागर से मेरा उद्धार करो। इस प्रकार जैसे जल के बिना मछली छटपटाती है, उसी प्रकार वह आत्मज्ञान के लिये छटपटाता रहता है, भक्तिप्रेम की लहरें मन में उठती रहती हैं इसलिये वह अपने शरीर को भी नहीं सँभाल पाता। कोई अजाने की नरदेह से वंचित हो गये, किसी ने नास्तिकता के कारण उसकी उपेक्षा की, किसी को ज्ञान के अहंकार ने ग्रस लिया तो कोई विषय के ही भुलावे में आ गया। कोई साधन के अभिमान से ठगा गया, कोई आज करूँगा, कल करूँगा कहते-कहते मर गया, कोई बहक कर गलत रास्ते पर चले गये। मन को विवेक की बात समझ में आती है लेकिन विषयवासना नहीं छूटती इसलिये वह संतप्त होकर नारायण का चिन्तन करता है। कृष्ण उद्धव से कहते हैं—जिसमें विवेक के साथ वैराग्य उत्पन्न होता है, वही स्वयं अपना गुरु बनता है—यह ध्यान में रखो। उसकी बुद्धि को मैं ही मुझे नरदेह ही विशेष रूप से अच्छा लगता था क्योंकि वह देह धारण करने वाला तत्काल मद्रूप हो सकता है।

एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषीप्रिया॥ २२॥

मैंने कुछ शरीर एक पैर के बनाये, दो पैर के तो अनेक बनाये, कुछ तीन पैरों के बने, वे तो बड़े मजेदार दिखायी देते हैं, चतुष्पाद प्राणी तो बहुत सुन्दर दिखायी देते हैं। सर्पादि प्राणियों को तो मैंने पैर ही नहीं दिये,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कितने ही प्राणी अनेक पैरों से चलने वाले हैं। इस प्रकार मैंने अनेक प्रकार के शरीर गढ़े हैं। इस प्रकार पृथ्वी पर मैंने बनाये हुए शरीरों की संख्या कितनी है, इसका अन्त नहीं है, लेकिन वे प्राणी मुझ कर्त्ता को नहीं पहचानते इसलिये मतिमंद हैं। मुझ कर्त्ता की प्राप्ति हो सके इसलिये मैंने अपने अंश से ज्ञानशक्ति प्रकाशित कर मनुष्य शरीर का निर्माण किया। जिस देह से वे मुझे प्राप्त करते हैं, उस देह से मुझे अत्यन्त प्रीति है, इसीलिये वेद नरदेह का वर्णन करते हैं और देवता भी नरदेह की कामना करते हैं। अनेक युक्तियों से लोग इसी नरदेह से मुझे प्राप्त करते हैं। ऐसे नरदेह की प्रीति के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने उद्धव को बताया।

अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम्।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥ २३ ॥

नरदेह प्राप्त करने के बाद वे कर्ता की खोज करते हैं—मेरी, जो त्रिभुवन की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाला परमेश्वर, मेरी बुद्धि का विवेक से अनुमान लगाते हैं, लेकिन वह अनुमान और उससे निष्पन्न होने वाला ज्ञान भी जड़ ही रहता है, क्योंकि उस ज्ञान को प्रकाशित करने वाला स्वयंप्रकाश मैं उन सबसे भिन्न हूँ। ऐसे लक्षणों से वे मुझे जानते हैं लेकिन इस प्रकार के कितने ही अनुमान वे करें लेकिन मैं उनके वश में आनेवाला नहीं हूँ। तो जो भी कोई अभिमान त्याग कर मेरा स्वरूप देखने का प्रयास करते हैं, केवल उन्हें ही मेरे स्वरूप का साक्षात अनुभव प्राप्त होता है, यह बात ध्यान में रखो। जिसकी सारी आशाएँ नष्ट होती हैं, वही धीरे-धीरे ब्रह्मस्वरूप प्राप्त करता है, उसने ही कलिकाल से लड़ने के लिये कमर कस ली है ऐसा समझना चाहिए। चेहरा तो स्वत:सिद्ध रहता है लेकिन यदि निर्मल दर्पण हो तभी उसकी छवि दिखायी दे सकती है, उसी प्रकार जब बुद्धि को विवेक प्राप्त होता है तभी नरदेह में आत्मा दिखायी देने लगता है। इस सम्बन्ध में एक प्राचीन इतिहास है, वह मैं अब तुम्हें सुनाता हूँ। यदु और अवधूत इन दोनों का संवाद साधकों के लिये ज्ञानसाधन रूप हैं।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः ॥ २४ ॥

श्रीकृष्ण ने प्रसन्नतापूर्वक कहा, उद्धव! हमारा पूर्वज जो यदु था उसने अवधूत के साथ ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में सुन्दर संवाद किया था। वह यदुराजा मानों क्षत्रियों में सूर्य था, अन्य नृपति रूप चन्द्र के प्रकाश को वह अपने तेज से देदीप्यमान करता था। उसने अवधूत से गुरु के लक्षण श्रवण किये थे इसलिये उसे लगे हाथ सायुज्यता मुक्ति प्राप्त हो गयी थी। वही प्राचीन कथा अब तुम्हें सुनाता हूँ।

अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्।
कविं निरोक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित्॥ २५ ॥

आत्मतेज से प्रकाशित तथा ब्रह्मानन्द से डोलने वाले किसी एक अवधूत को यदु ने आते हुए देखा। यदु ने उस अवधूत के स्वरूप का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया। उसने यज्ञोपवीत धारण किया था इसलिये वह ब्राह्मण होगा तथा ब्रह्मवेता होगा ऐसा उसको विश्वास हो गया। यदु क्रीड़ा करने के लिये वन में गया था तभी यह अवधूत निर्भय और नि:शंक होकर विचरण करता हुआ सामने से आता दिखायी दिया। भीतर के प्राण को वह बाहर नहीं निकलने दे रहा था, ऐसी प्राणाप्राण की समता, धारणा किये बिना ही उसे प्राप्त हो गयी थी। उसका देखना भी विचित्र प्रकार का था। दृश्यरूप से देखना वह नहीं जानता था। वह सर्वांग सुन्दर हो गया था और द्रष्टा के रूप में ही वह दृश्य देखता था। मैं जंगल में भटकने वाला एक व्यक्ति हूँ इसकी उसे जानकारी ही नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

थी। समदृष्टि के योग से उसे सर्वत्र व्यापकता ही प्राप्त हो गयी थी। कर्म, कार्य और कर्ता यह सब वह स्वयं ही बन गया था। जीव ने शपथ लेकर क्रिया को अर्पण कर दिया था। देह पर जो अहंकार था वह देह के मिथ्या होते ही भाग गया था। नित्यानित्य विवेकरूपी होम से जो ब्रह्माग्नि उत्पन्न हुआ उससे चारों आश्रमों के घर जल गये और वह निराश्रमी हो गया। उस आश्रम में शास्त्रश्रवण विधि की पोथी थी, वह भी जलकर राख हो गयी। वह राख भी हाथ नहीं लगी। विधिनिषेध की शर्त तथा पंचायतन देवपूजा राख में मिल गयी। संचित-क्रियमाण कर्म की,जो पूँजी थी वह भी जलकर खाक हो गयी। इस प्रकार ब्रह्मानन्द से डोलने वाले तथा निजसुख से झूलने वाले उस अवधूत को यदु ने आते देखा। उसने सर्वसंकल्प विकल्परहित होने की विभूति शरीर में लगायी थी इसलिए उसे अवधूत कहना पड़ेगा अन्यथा वह ब्राह्मण ही था। सामने दीखने वाला सारा प्रपंच उसने आत्मबोध से धो डाला था इसीलिये उसे 'अवधूत' कहते हैं, वैसे वह प्रसिद्ध ब्राह्मण था। जो 'अहं' को धो देता है वही अवधूत है, वही योगी है और वही पुनीत है। जो अहंकारग्रस्त होता है वही जन्मकर्म में पतित होता है ऐसा समझना चाहिये। उस अवधूत के देह को वार्धक्य नहीं आता क्योंकि जब देह में देहत्व ही नहीं रहता तो वार्धक्य कहाँ से आयेगा? और यही चिरयुवा होने का मूल कारण है। उसके और भी लक्षण हैं। उसका चिरनूतन रहने वाला ज्ञान मैला नहीं होता, वह नित्य नये रूप में ही उसका भोग करता रहता है। इसलिये वह यौवन से भरा पूरा था। आत्मज्ञान के तेज से उसने द्वैत को जीत लिया था इसलिये वह इस प्रकार नि:शंकर होकर घूम रहा था। उसे किसी भी बात का भय नहीं लग रहा था। इस प्रकार अवधूत के लक्षणों का निश्चय हुआ और वह आत्मज्ञान से परिपूर्ण है ऐसा लगा। यदु के मन में उसके प्रति पूज्यबुद्धि उत्पन्न हुई, उसके प्रति अनन्य श्रद्धा और नम्रता हो आयी। राजा का चित्त प्रसन्न हुआ और उसने उसे साष्टांग दण्डवत कर, भक्तिपूर्वक हाथ जोड़कर प्रश्न किया।

यदुरुवाच

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा।
यामासाद्य भवांल्लोकं विद्वांश्चरति बालबत्॥ २६॥

यदु ने कहा, स्वामी! धर्म-कर्म का आचरण कर अथवा यमनियम साधकर भी जो बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती वह अपूर्व बुद्धि मुझे आपमें दिखायी दे रही है। आप सारे कर्मों में तो कुशल दिखायी देते हैं किन्तु बिना कुछ किये निश्चल रहते हैं। आत्मबोध के कारण आप में अकर्तात्मबोध आ गया है और इसीलिये अहेतुक बालक की तरह आपकी स्थिति दिखायी देती है। आप बालकों की तरह व्यवहार करते हैं किन्तु आप में बालबुद्धि नहीं है। आप सर्वथा सर्वज्ञ हैं ऐसा मुझे लगता है। इस मृत्युलोक में आकर नरदेह प्राप्त कर उसकी जैसी सार्थकता आपने की है वह अन्यत्र नहीं दिखायी देती।

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः॥ २७॥

इस लोक के लोग प्रायः धर्मार्थकाम की ही इच्छा करने वाले हैं इसलिये उन विषयों का ज्ञान वे अवश्य प्राप्त कर लेते हैं। वे कहते हैं, हम स्वधर्म का पालन करते हैं, स्नान संध्या में कीर्ति प्राप्त करते हैं और धन प्राप्ति के लिये गायत्री के फल दे डालते हैं। वे कहते हैं, हम वेदों के अनुसार यज्ञ करते हैं, वेदमार्ग की स्थापना करते हैं और अन्त में स्वर्ग की इच्छा कर उसे उदरनिर्वाह का साधन बना देते हैं। कुछ लोग स्वयं को स्वकर्मनिष्ठ बताते हैं और दर्भ, मुसिका आदि नष्ट करते हैं, लेकिन यदि कोई यात्रक आ जाय तो उसे मुट्ठीभर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनाज भी नहीं देते। ढोंगी लोग अपना नाम बढ़ाने के लिये वैष्णवदीक्षा लेते हैं और चकाचक देवताओं की पूजा कर दोनों हाथ से शंख बजाते हैं। आयुष्य दान करने वाले पुण्यपुरुष स्वयं को वैद्य और अहिंसक कहते हैं किन्तु स्थावर जंगम आदि समस्त जीवों की हत्या कर सफलता की पताका फहराते हैं। अपनी कीर्ति बढ़ाने के लिये कुछ लोग तुलाभार कराते हैं। वे लोग मलमूत्र से भरे देह को द्रव्य से तौलते हैं। लेकिन परमार्थ के नाम पर कोई एक कौड़ी भी नहीं खर्च करता। देखिये, मूर्ख लोग कैसे भुलावे में आ जाते हैं। वे सच्चे स्वार्थ को भूल जाते हैं। पूर्व कर्म से जिन्हें लक्ष्मी प्राप्त नहीं है, वे लोग लक्ष्मी की उपासना करते हैं, लेकिन लक्ष्मी के पति श्रीहरि का भजन नहीं करते। विश्व का गुरु जो श्रीहरि है उसकी पत्नी है। उसकी अभिलाषा कर वे उसे अपने पास रखते हैं, हरि को अर्पण नहीं करते। हरि उन्हें नरक में भेजता है। रोग का विनाश हो और आरोग्य प्राप्त हो इसलिये सूर्य की उपासना करते हैं लेकिन उन्हें इस बात का स्मरण नहीं रहता कि देह नश्वर है। इससे आत्मस्वरूप का विस्मरण होता है। इस प्रकार हम आयुष्य, यश और द्रव्य के लिये लोगों को भजन में लिप्त देखते हैं लेकिन स्वामी! आश्चर्य की बात है कि आप परब्रह्मस्वरूप में लीन दिखायी देते हैं। विषय का जोर विचित्र रहता है। इससे लोग मिथ्या भ्रम में पड़े हुए हैं। वे ज्ञान के साधन साध्य कर विषय की कामना करते हैं। वेदान्त-वार्तिक की वाक्पटुता से अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं किन्तु पेट के लिये वे ज्ञान का विक्रय करते हैं। इस आश्चर्य का वर्णन कौन करेगा? कोई योगाभ्यास कर श्वांस को रोक कर रखते हैं और आँखें मूँदकर ध्यान करते हैं लेकिन मन में विषय का ही चिन्तन करते रहते हैं। इस प्रकार ज्ञानेच्छु लोग अनेक प्रकार के साधन अपना कर मूर्ख बनते हैं। लेकिन आपने आत्मसुख प्राप्त कर अलौकिक कार्य किया। इस प्रकार हे अवधूत स्वामी! तुमने जीवित को तृण समान किया, समस्त लोक को तुच्छ मानकर निजात्म हित में लीन हो। आप आत्मानन्द में तृप्त होकर हृदय में शान्त हो गये हैं ऐसा हम देख रहे हैं। उनके लक्षण सुनिये।

त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः।
न कर्ता नेहसे किंचिज्जडोन्मत्तपिशाचवत्॥ २८॥

आप सर्वज्ञ हैं लेकिन वह ज्ञानतत्त्व आप प्रकट नहीं होने देते। आप कुछ करते भी नहीं हैं और किसी वस्तु की इच्छा ही करते हैं। आपकी आत्मशान्ति से जड़त्व प्रकट होता है, आप सर्वथा मौन रहते हैं, आपमें किसी भी प्रकार की विकलता नहीं दिखायी देती। शरीर से अव्यंग होने के कारण आप स्वरूप से सुन्दर दिखायी देते हैं। ज्ञान तो अकेला ही था, उसके साथ दूसरा कोई न होने के कारण वह परदेसी हो गया था। वह आप में लीन हो गया इसलिये आपको 'कवि' यह नाम प्राप्त हुआ। कर्म करते हुए भी आप 'अकर्ता' हैं, यह आपकी दक्षता है। आप ब्रह्मरस से परिपूर्ण 'रसाल' भाषण करते हैं वह माधुर्य अमृत में कहाँ से आयेगा? ब्रह्मरस प्राशन कर आप ब्रह्मानन्द में मस्त हो गये हैं इसलिये आप 'उन्मत्त' अवस्था में किसी को देखते भी नहीं। सदासर्वदा आत्मस्वरूप में लीन होने के कारण आप 'मेरा' और 'तेरा' जैसी बात नहीं करते। आपका यह पागलपन सारे संसार को अवश्य दिखायी देता है। आप आत्मज्ञान से तृप्त तथा परमानन्द से शान्त हो गये हैं यह लक्षण भी साफ दिखायी दे रहा है।

जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना।
न तप्यसेऽग्निनामुक्तो गङ्गांभस्थ इव द्विपः॥ २९॥

कामलोभरूपी दावाग्नि में जलने वाले लोक हमें दिखायी दे रहे हैं, उससे कोई नहीं बच पाया है। लेकिन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हे अवधूत! आप उस दावाग्नि में रहते हुए भी उससे झुलसते नहीं हैं। आपकी यह अविचलित अवस्था सचमुच ही आश्चर्यजनक है। वह हमारी समझ में कभी नहीं आयेगी। नदी के दोनों किनारों पर आग लगने पर जिस प्रकार हाथी पानी में डुबकी लगा लेता है और फिर उस पर आग की लपटों का प्रभाव नहीं होता, उसी प्रकार आप भी दुःख से मुक्त हैं ऐसा लगता है। शीत और ऊष्मा आपको स्पर्श नहीं करते, आप ब्रह्मस्वरूप में निश्चल हैं इसलिये हे दयाधन! हे कृपामूर्ति! आप से थोड़ी विनती करता हूँ।

त्वं हि न पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम्।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः॥ ३०॥

आप ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण हैं तथा आत्मानंद से परिपूर्ण हैं। उस आनन्द का कारण क्या है, कृपया स्पष्ट करके बतायें। देह में होते हुए भी आप विदेहस्थिति में रहते हैं, आपको विषय स्पर्श भी नहीं कर सकता। इतनी अलिप्तता आपने किस प्रकार प्राप्त की? आपको राजा का भय नहीं है, धनवानों की चिन्ता नहीं है, दीन का भाषण आपको प्रिय लगता है और उसका मनोरथ आत्मज्ञान देकर पूरा करते हैं। इस प्रकार आप बिलकुल कृपालु हैं, आप दुखियों के बन्धु तथा दीनों के लिये दयालु हैं। उसी प्रकार निजात्मभाव से आप भक्तों के भक्तवत्सल हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण यदु का भाषण बड़े चाव से सुनाने लगा। उसने उद्धव से कहा ''इस बोध को सावधानी से चित्त में धारण करो।''

श्रीभगवानुवाच

यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा।
पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः॥ ३१॥

वह श्रीपति अपने मुख से यदु के भाग्य का वर्णन करने लगा। यदुराजा ब्राह्मणों का अत्यन्त भक्त होते हुए सत्त्वशील था। उसी प्रकार वह अत्यन्त बुद्धिमान और श्रद्धालु था। भगवत् कृपा से उस भाग्यवान अवधूत की यदु से भेंट हुई। तब यदु ने अत्यन्त विनम्र होकर अपने लाभ के लिये उससे विनती की। मधुपर्क विधि से उसकी पूजा कर मृदु मधुर वाणी से उसने प्रार्थना की। इससे अवधूत सन्तुष्ट होकर प्रेम से बोलने लगे।

ब्राह्मण उवाच

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह ताञ्छृणु॥ ३२॥

क्षीरसागर में उफान आता है या मेघ गर्जना करते हैं या आत्मसुख की तुरही बज उठे, उसी प्रकार वह ब्राह्मण बोलने लगा। हे राजचूडामणि सुनो। तुम यदुकुल दीप के साक्षात सूर्य ही हो। तुम्हारी वाणी धन्य है। तुमने अपने गुणों से मुझे संतुष्ट किया। राजा होते हुए भी सात्त्विक, सिद्ध लक्षणों से युक्त ऐसे इस पृथ्वी पर तुम एक ही हो। तुमने जो प्रश्न किया, वह सुन्दर, गुणयुक्त और उत्तम से उत्तम है। तुम स्वानंद का कारण पूछते हो, वह मैं तुम्हें यथार्थ रूप में बताता हूँ, सुनो। हे राजा! गुरु के बिना आत्मप्राप्ति कभी सिद्ध नहीं होती। उन गुरुओं के बारे में भी मैं तुम्हें यथार्थ रूप में बताता हूँ। आत्मबुद्धि के विचारों में जब मैं तल्लीन था उस समय मैंने अनेक गुरु किये। जिस किसी भी प्राणी में मुझे कोई सद्गुण दिखायी दिया, उस गुण के लिये मैंने उस गुरु को स्वीकार किया। बुद्धि से उस गुण को स्वीकार किया और धैर्यपूर्वक उसे धारण किया। इसलिये मैं मुक्त हो गया और इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकार स्वेच्छा से विचरण करता रहता हूँ। संसार सागर पार करने के लिये मुख्य रूप से 'सद्बुद्धि' चाहिये। यहाँ अन्य किसी उपाय की परम्परा नहीं है फिर व्यर्थ ही कष्ट सहने की क्या आवश्यकता है? जिसके पास सद्बुद्धि नहीं होती वह क्रीतदास की तरह होता है। दिन-रात हजारों कष्ट भोगते-भोगते उसे क्षण भर का भी विराम नहीं मिलता। जिसके हृदयमन्दिर में सद्बुद्धि नहीं होती उसके मन में कभी वैराग्य नहीं उत्पन्न होता। फिर संसार सागर कैसे पार होगा? विवेक तो उसे स्वप्न में भी नहीं दिखायी देता। वैराग्य के साथ यदि सद्बुद्धि भी मिली हो तो उसके सामने बेचारा संसार क्या करेगा? वह तो एक घाव में उसके दो टुकड़े कर देगा। यदि संसार नाम की कोई चीज हो तो उसके विनाश के लिये प्रयास करना आवश्यक है लेकिन जो मनुष्य विवेक का आश्रय लेता है उसका तो संसार ही नष्ट हो जाता है। संसार के नाश का कारण उसकी 'प्रज्ञा' है। वह यदि कायम रहे तो संसार 'मृगजल' की तरह हो जाता है। मैं जिन गुरुओं का वर्णन कर रहा हूँ, वह मैं अपनी निजबुद्धि से बतानेवाला हूँ, उसमें से जो ग्राह्य हो उसे स्वीकार करें, जो त्याज्य हो उसका त्याग करें। वही मैं देशी भाषा में बताने वाला हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो। उसके कारण शिष्य की ग्रहणशक्ति स्पष्ट रूप से दिखायी देगी। अब उदाहरण के रूप में उस बुद्धि के लक्षण बताता हूँ। सूप, चलनीं तथा चूल्हा की तरह बुद्धि का उपयोग करना चाहिये। चलनी में जो भी गिरता है, उसका सूक्ष्म तत्त्व नीचे गिर पड़ता है और गुण दोषों के कंकड़ चलनी में ही रह जाते हैं और खड़खड़ाहट करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में त्याग करना चाहिये। वैसा न करने से गुणदोषों के कंकड़ उसके पेट में ही रह जाते हैं और स्वार्थ की निश्चित रूप से हानि होती है। लेकिन सूप की स्थिति निराली रहती है। भूसा तथा कचरा वह फेंक देता है और केवल बीज अपने पेट में रहने देता है। स्वयं वैराग्य से तप्त होना तथा अपने गुणों से अपरिपक्व को परिपक्व बनाना चूल्हे का स्वभाव है। हे वीर श्रेष्ठ! इस प्रकार इन तीनों स्थितियों को निश्चित रूप से धारण करना चाहिये ताकि दर्पण के समान परमार्थ भी प्राप्त हो सके। यदु से उस ब्राह्मण ने कहा कि जो लक्षण मैंने बताये हैं उन्हें ध्यान देकर सुनो। जिससे जो गुण मैंने लिया, उसे मैंने गुरु बनाया इसलिये मेरे गुण अगणित हो गये—इतने कि सारा जगत ही मुझे गुरुओं से भरा दिखाई पड़ रहा है। जिससे मैंने ग्रहण किया वह सहज ही मेरा गुरु हो गया लेकिन उसके दोषों का मैंने त्याग किया वह भी मेरा गुरु हो गया। इस प्रकार गुण ग्रहण और दोष त्याग इन दोनों के समान भाव से दोनों ही मेरे गुरु हो गये। राजा! अब तुम भी विचार करके देखो तो तुम्हें भी सारा जग गुरुमय ही दिखायी देगा। इस प्रकार शान्त होकर देखने से सारा जगत ही गुरु मालूम होने लगा। यह साधन जिसके पास रहता है, वही परमार्थ को साधता है। तुम्हें यह कठिन मालूम होगा। इसलिये मैंने जिन श्रेष्ठ गुरुओं को स्वीकार किया उनमें से जो प्रमुख हैं उनके बारे में बताता हूँ।

पृथिवीवायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः॥ ३३॥

मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः।
कुमारी शरकृत्सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत्॥ ३४॥

अपने सभी गुरुओं के बारे में बताता हूँ। उनकी संख्या चौबीस है। उनके नाम मैं धीरे-धीरे सुनाता हूँ। (१) पृथ्वी, (२) वायु, (३) आकाश, (४) अग्नि, (५) जल, (६) चन्द्रमा और (७) सूर्य, (८) कपोत। (९) अजगर, (१०) समुद्र, (११) पतंग, (१२) मधुमक्खी, (१३) हाथी, (१४) भौंरा, (१५) हिरन, (१६) मछली, (१७) पिंगला नामक वेश्या, (१८) टिटिहरी, (१९) बालक, (२०) कुमति,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

(२१) हथौड़ा चलाने वाला लोहार, (२२) साँप, (२३) केंचुली, (२४) रानी मक्खी इस प्रकार कुल मिलाकर चौबीस गुरु हैं। पच्चीसवाँ तत्त्व जो परब्रह्म है, उसे प्राप्त करने के लिये इन चौबीस गुरुओं की उपासना करनी चाहिये। सुविचार तथा आत्मबुद्धि से इन गुरुओं का भजन करना चाहिये। हृदय में आत्मज्ञान ठीक से प्रविष्ट हो जाय इसलिये मैंने आत्मविचार से ही रात दिन अनेकों को गुरु बना लिया। किस युक्ति से, किस विचार से, किस गुण के लिये कौन-सा गुरु बनाया? वह भी सविस्तार बता रहा हूँ, सुनो।

एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः।
शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः॥ ३५॥

हे निर्मल विवेकचक्रवर्ती राजराजेश्वर! गुरुओं की जो संख्या थी वह मैंने तुम्हें बतायी। उनके पास जो लेने लायक गुण थे उन्हें मैंने अपनी युक्ति से सीखा और फिर विकल्प का भ्रम त्याग कर आत्मस्थिति तक पहुँचा।

यतो यदनुषिखामि यथा वा नाहुषात्मज।
तं तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते॥ ३६॥

नहुष का पुत्र ययाति, ययाति का पुत्र यदु, इस वंश परम्परा के अनुसार यदु को नहुषनंदन कहते हैं। इसलिए अवधूत ने कहा, हे नहुष पुत्र! अब गुरु के लक्षण बताता हूँ, तो हे चतुर! उन्हें तुम श्रवण करो। जिस गुरु के पास जो गुण था उसे मैंने सीखा। किस प्रकार सीखा यह तुम्हें बताता हूँ, ध्यान देकर सुनो। यदु सारे शरीर को मानों कान बनाकर सुनने लगा। शब्दों को पीछे छोड़ वह उसमें अर्थ की ओर ध्यान देने लगा। सारे विकल्पों का त्याग कर विनम्र हुआ वह राजा जो भी विषय सुनता था उसके अनुसार तद्रूप हो जाता था।

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः।
तद्विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम्॥ ३७॥

परमार्थ में शान्ति प्रमुख है। साधक में वह अवश्य होनी चाहिये इसलिये उस शान्ति के लिये मैंने सबसे पहले पृथ्वी को गुरु बनाया। पृथ्वी तीन प्रकार से गुरु है। पर्वत, वृक्ष और भूमि। इन तीनों के गुण देह में धारण करने के कारण पृथ्वी में गुरु के गुण आ गये हैं। अन्तर्निग्रह करने का अर्थ 'शान्ति' और बाह्येन्द्रिय निग्रह का अर्थ 'दांति' होता है और इन्द्रसहिष्णुता का अर्थ 'क्षांति' है इसलिये क्षोति यह गुण प्राप्त करने के लिये पृथ्वी को गुरु बनाया। अनेक प्रकार के प्राणी 'यह पृथ्वी मेरी है' यह कहकर उससे चिपकते हैं और अपनी-अपनी प्रवृत्ति तथा व्यवहार के अनुसार उसके अनेक प्रकार से टुकड़े करते रहते हैं। लेकिन उन जीवों के अलग-अलग प्रकार के व्यवहार पृथ्वी स्वयं ही संचालित करती रहती है और अपनी एकात्मता साधते हुए वह सदा अखण्ड ही रहती है। ऐसा ही लक्षण योगियों का भी लक्षण रहता है, वह भले ही भिन्न-भिन्न कर्म करता हो लेकिन उसकी प्रवृत्ति सदा एक-सी रहती है। यह देह प्रारब्धयोग से चलता है और जीव भी प्रारब्धयोग से ही आचरण करते हैं। इसे ध्यान में रखकर, प्रत्येक जीव में मेरी ही आत्मा है, इस भावना से जो रहते हैं उन साधकों को दूजे की बाधा नहीं होती। जीव पृथ्वी की पूजा करे अथवा उस पर मलमूत्र विसर्जन करे लेकिन इससे उसे न हर्ष होता है और न विषाद ही होता है। अपनी शान्ति के कारण वह बिलकुल निश्चल रहती है। समस्त प्राणी पृथ्वी से उत्पन्न हुए हैं। उन्होंने अपने अच्छे-बुरे कर्म से पृथ्वी की पूजा न की हो या उसे कष्ट भी न दिया हो लेकिन वह ऐक्य भाव से, द्वंद्व भाव भूलकर आत्मरूप से निश्चल ही रहती है। उसी प्रकार योगी भी प्राणियों के भिन्न-भिन्न स्वभाव के कारण भयभीत नहीं होते। समस्त प्राणियों के प्रति उनकी निजात्मभावना होने के कारण, विषय के प्रति भी उनमें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समभाव होता है। हे राजा! अब तुम्हें पृथ्वी की अद्‌भुत शान्ति के बारे में बताता हूँ, सुनो। वही शान्ति साधु-सन्तों ने धारण करने के कारण वे भगवद्‌भक्ति के लिए पात्र हुए। पृथ्वी पर अग्नि प्रज्ज्वलित कर उसे जलायें अथवा उस पर हल चलायें, या लातों से उसे मारे, लेकिन पृथ्वी उस अपराध का विचार न कर उलटे उन पर प्रसन्न ही होती है और वही अनेक प्रकार की फसलें उगाकर प्राणिमात्र को तृप्त कर देती है। इस प्रकार की निजात्म-शान्ति के लिये मैंने पृथ्वी को गुरु बनाया। हे भाग्यशाली राजा। इस शान्ति की अभिनव स्थिति के बारे में सुन लो। सुनो! किसी ने दूसरे का अपराध किया और दूसरे ने उसे चुपचाप सहन कर लिया, अर्थात् उसकी उपेक्षा की, लेकिन इतने से ही उसे शान्त कैसे कह सकते हैं ? ईंख को तोड़ने से वह मीठा लगता है, जिस शस्त्र से उसे तोड़ते हैं उसे भी मीठा बना देता है और उसे पेरने से या पकाने से भी वह उपकार करने वालों को उत्कृष्ट स्वाद ही देता है। इस प्रकार दूसरे का अपराध सहन कर उसका हित करना यही निर्द्वंद्व शान्ति है। दूसरे का अपराध सहन कर उस पर उपकार करना यह गुण मैंने पृथ्वी पर स्थित परोपकारी पर्वत से सीखा।

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकांतसम्भवः।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम्॥ ३८॥

पृथ्वी पर उत्पन्न पर्वतों को भी मैंने गुरु बनाया और उनसे मैंने जो सीखा वह भी सुनो। रत्न आदि मूल्यवान वस्तु जिन्हें पर्वत अपने में संग्रह करके रखता है वह केवल परोपकार के ही लिये रहता है। घास, पानी आदि अन्य पदार्थ भी वह केवल परोपकार के ही लिये रखता है। वह न किसी को बुलाता है न किसी को आने से मना करता है और न किसी से ऊब कर उसे बाहर जाने के लिये कहता है। याचक की जो भी इच्छा रहती है उसे वह परोपकार बुद्धि से पूरी करता है। ग्रीष्मऋतु समाप्त होते ही उस पर की घास तथा अनाज समाप्त हो जाता है लेकिन पर्वत किसी को देने से पीछे नहीं हटता इसलिये ईश्वर भी तत्काल मेघवृष्टि कर उसे समृद्ध कर देता है। दाता जिस उल्लास से देने लगता है, उसी उत्साह से जगन्नाथ उसकी आपूर्ति करता रहता है। मन में यदि कोई विकल्प न रखें तो अच्युत भगवान अखण्ड देने वाला है। लेकिन शंकालु लोगों की समझ में यह बात नहीं आती कि सच्चा दाता ईश्वर ही है। इसीलिये उन्हें दारिद्रय भोगना पड़ता है। इस प्रकार पर्वत की उत्पत्ति केवल परोपकार के लिये है। परोपकार के अतिरिक्त कोई अन्य कल्पना ही उसके मन में नहीं आती। साधक में सचमुच पर्वत की जैसी उदारता चाहिये। काया, वाचा तथा मन से सर्वस्व देते समय भी प्रसन्नता होनी चाहिये। हमेशा कोई भी कार्य करते समय सब पर उपकार करते रहना चाहिये। करोड़ों प्रकार के लाभों पर लात मार कर भी परोपकार के लिए हमेशा तत्पर रहना चाहिये। परमार्थ की सच्ची इच्छा रखने वाला साधक सामने दिखाई देने वाला स्वार्थ छोड़ कर परोपकार के लिये कठिन से कठिन संकट में भी कूद पड़ता है। मूर्त्तिमंत उपकार जन्म ले ले अथवा साक्षात परोपकार ही साकार हो जाय इस प्रकार यह उपकारी बनकर रहता है। देखो! जिस प्रकार ईंख अपने माधुर्य से सब पर उपकार करता है उसी प्रकार योगी भी संसार में रहकर अपने समधुर व्यवहार से परोपकार करता रहता है। जिस प्रकार पर्वत में से पानी के सोते निकलते रहते हैं उसी प्रकार उसमें से परोपकार के सोते निरन्तर बहते रहते हैं। वे सूखने का नाम ही नहीं लेते। उसने जगत को इतना उपकारबद्ध किया रहता है। कंजूसी की संगत छोड़ कर पर्वत एकान्त में उपकार करता रहता है अथवा धैर्यवृत्ति का निश्चय कर वह उपकार की साक्षात मूर्ति ही बन जाता है। अब वृक्ष से क्या सीखने लायक है यह बताता हूँ। सर्वांग से, सर्वोपरी, सर्वकाल एवं सर्वत्र सबकी पराधीनता में ही रहना चाहिये यह मैंने वृक्ष से सीखा। जिसने वृक्ष को लगाया है, उसके ही अधीन वह रहता हो यह बात नहीं है बल्कि जो उसे काटने के लिये तैयार होता है उसके भी वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अधीन रहता है। उसी प्रकार योगी को पालकी में बिठाया जाय तो वह उसके अधीन होता है अथवा कोई यदि सूली पर चढ़ाने के लिये ले जाय तो वह उसकी भी आज्ञा में चलता रहता है। देह का अहंकार छोड़ देने के कारण योगी को पराधीनता प्राप्त हुई रहती है। विश्व सभी दृष्टियों से मेरी आत्मा ही है वह समझ कर वह सबके कहने के अनुसार चलता है। जो कुछ है वह सब मैं ही हूँ यह सोच कर वह साधक-बाधक का विचार न कर, उसकी आज्ञा में संतोषपूर्वक रहता है। सुख या दुःख जो भी प्राप्त होगा वह भाग्य के अधीन रहता है, सब लोग मेरी ही आत्मा है यह मान कर वह पराधीन होकर आचरण करता रहता है। सबमें मेरी आत्मा है यह जान लेने पर उसे सहज ही पराधीनता प्राप्त होती है। यह 'परात्मता' मैंने वृक्ष से सीखी। वृक्ष से मैंने एक और गुण सीखा है। वह गुण है अतिथि की पूजा करना। वृक्ष के पास यदि कोई अतिथि आता है तो वह उसे खाली हाथ नहीं लौटाता। पान, फूल, फल, जड़, छाया, छाल, लकड़ी, कुछ न कुछ वह उसे देता ही है। जो वृक्ष का पालन करता है या जो उसे काटता है, उन दोनों को ही वह समान रूप से पुष्पों से और फलों से सन्तुष्ट करता है। जिस प्रकार वृक्ष अपना पूरा शरीर अतिथि पर खर्च कर सार्थकता प्राप्त करता है, उसी प्रकार साधु भी अपना चित्त, वित्त, देह और शब्द सब कुछ अतिथि को अर्पण कर उसे सन्तुष्ट करता है। अतिथि को निराश न करना यही साधु का अलौकिक गुण होता है। वह उसे अन्न, द्रव्य, जल आदि बड़े आनन्द से देता रहता है। याचक द्वार पर आता है तो भले ही उसे अपना सर्वस्व देना पड़े लेकिन उसे खाली हाथ नहीं जाने देना है, यह विचार मैंने आत्मबुद्धि से वृक्ष के पास सीखा। इस प्रकार पृथ्वी मेरी गुरु बनी। अब दूसरा गुरु वायु बना, उससे जो-जो सीखने की इच्छा हुई वह भी सुनो, राजा! वायु को गुरु पद प्राप्त हुआ वह दो प्रकार से। एक तो प्राणवायु के द्वारा और दूसरा बाह्य वायु के द्वारा।

प्राणवृत्त्यैव संतुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः॥ ३९॥

जो प्राण की ही तरह विषय की आसक्ति नहीं रखता या विषय सेवन करने के बाद भी जिसे अहंकार, नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार उसे अहंकार नहीं होता। प्राणों की हलचल से क्षुधा उत्पन्न होती है, उसके कारण प्राण क्षुब्ध होता है, उससे काया, वाचा, मन और इन्द्रिय भी विगलित होते हैं। उस प्राण की रक्षामात्र के लिये कैसा भी आहार क्यों न मिले, वह मधुर है या नहीं इसका भी प्राण विचार नहीं करता। उसी प्रकार योगी देह का अभिमान नहीं करता, वह विषय सेवन करता है लेकिन उसमें उसे आसक्ति नहीं होती। भूख लगने पर पकवान मिले या भूसा मिले, इसकी वह चिन्ता नहीं करता। ज्ञानधारणा कहीं ढल न जाये, इन्द्रियाँ विकल न हों इसलिये वह बहुत सम्भल कर तथा धैर्यपूर्वक आहार करता है। प्राण के ही कारण इन्द्रियाँ सशक्त रहती हैं, प्राण के ही योग से देह चलता है, लेकिन प्राणकर्म में देह लिप्त नहीं होता। वह अलिप्त होकर ही चलता रहता है। उस प्राण की ही तरह योगी की स्थिति रहती है। सब कुछ करने पर भी उसकी किसी में आसक्ति नहीं रहती। इसलिये उसे देहस्थिति का स्पर्श नहीं होता। ब्रह्मादिकों का देह सुन्दर है इसलिये उसका पालन किया जाय और सुअर आदि के देह से परहेज किया जाय ऐसी अस्पृश्यता प्राण दयालु तथा समदृष्टि होने के कारण नहीं करता। उसी प्रकार योगी का मन, हे कर्म उच्च है और यह कर्म नीच है ऐसी भावना नहीं रखता। राजा के शरीर का प्रेम से संपादन किया जाय और भिकारी का देह छोड़ दिया जाय ऐसी कुंठा प्राण कभी नहीं करता। उसका समभाव सदा शुद्ध ही रहता है। प्राण, अपान, समान, उदान अथवा अणु-रेणु में बसे व्यान इतने नाम और उसके इतने स्थान होते हुए भी प्राण अपना एकत्व नहीं छोड़ता। उसी प्रकार ऊँच-नीच वर्णावर्ण देख अथवा उत्तम अधम आदि गुणावगुण देखकर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

योगी अपना सर्वत्र समभाव कभी नहीं छोड़ते। प्राण यथार्थ में देह के भीतर रहते हुए भी बाह्य वायु से भेदभाव नहीं करता। इसी प्रकार योगी में भी अंतर्बाह्य एक ही भावना होती है।

विषयेष्वाविशन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः।
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत्॥ ४०॥
पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः।
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक्॥ ४१॥

चतुर पुरुष को इस वायु की तरह दोहरी एकता साधनी चाहिये। अंतर्बाह्य सदा एक से एकभाव से व्यवहार करना चाहिये। अब तक तुम्हें प्राणवृत्ति के सारे लक्षण बताये। अब बाह्य वायु के लक्षण भी ध्यान देकर सुनो। वायु सबको स्पर्श करके जाता है, लेकिन कहीं भी फँस कर नहीं रहता। उसी प्रकार योगी भी विषय सेवन करते हुए किसी में आसक्त नहीं होता। वह इन्द्रियों की संगति में रहकर भले ही विषय में खेलता रहता हो लेकिन गुणदोषों की आसक्ति से उसके ज्ञान में कोई खराबी नहीं आती। वस्त्र, चन्दन, स्त्री अथवा सुवासिक पुष्पों की मालायें आदि विलास की वस्तुओं का वह भले ही उपभोग करता हो, लेकिन जिस प्रकार वायु जल में नहीं रुकता उसी प्रकार योगी भी विषय से अलिप्त ही रहता है। जिस प्रकार वायु से जाल उड़ता रहता है किन्तु वायु जाल में नहीं फँसता, उसी प्रकार अनेक भोग भोगते हुए भी योगी उस भोग में नहीं फँसता। वायु से भेंट करने अनेक प्रकार के सुगन्ध आते हैं, लेकिन मन में उसके प्रति आसक्ति न रख वह तत्काल उन्हें छोड़कर आगे बढ़ जाता है। उसी प्रकार आत्मस्वरूप से योगी भी समस्त देह में प्रविष्ट रहता है इसलिये उस देह के गुणों का आश्रय वह उक्त स्थान में लेता रहता है। जिस प्रकार सुगन्ध पर वायु खेलती रहती है फिर भी वह सुगन्ध को स्पर्श नहीं करती, उसी प्रकार आत्मदृष्टि के सामर्थ्य से वह देह के गुणों में लिप्त नहीं होता। राजा! तुम्हें यह परिपूर्ण आत्मस्थिति बताता हूँ, सुनो। जिस प्रकार आकाश सभी पदार्थों से अलिप्त है ऐसा अनुभव होता है, उसी प्रकार यह स्थिति है।

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत्॥ ४२॥

आकाश निर्मल, अभेद्य, अलिप्त तथा सभी पदार्थों के साथ समभाव रखने वाला है इसलिए मैंने आकाश को गुरु बनाया। वह विषम में होते हुए सम, संग में होते हुए भी असंग तथा भेद करने पर भी उसका अभेद नहीं टूटता, इसलिये आकाश को गुरु बनाया है। साँप और नेवला में बैरभाव है लेकिन दोनों के ही हृदय में आकाश तो है ही। बैर और निर्बैर यह आकाश नहीं जानता, वैसी ही स्थिति आकाश की होनी चाहिये। आकाश की ही तरह योगी भी अपने परिपूर्ण व्यापक रूप से ब्रह्म की भावना से ही स्वयं को देखता रहता है। ब्रह्मसमन्वय से देखने पर स्थावर जंगम सब जगह मैं ही भरा हुआ हूँ, मेरे सिवाय तिलमात्र की भी जगह नहीं बची है, ऐसा उसे दिखायी देने लगता है। आकाश तो सभी पदार्थों में रहता है लेकिन वह सबको नहीं दिखायी देता। उसी प्रकार योगी भी दृष्य और द्रष्टा इसके पार की स्थिति में विचरता रहता है। बरछे-भाले से आकाश में छिद्र नहीं होता, अथवा ज्वालाग्नि से वह नहीं जलता, ज्वाला से अलग न होने पर भी वह जैसा का तैसा दिखाई देता है। उसी प्रकार योगी के लिये भी सारे द्वंद्व किसी भी काल में बाँध नहीं सकते। द्वंद्व से विलग न होते हुए भी वह शोभायमान रहता है। योगी पर भले ही शस्त्रों से आक्रमण किया जाय लेकिन उन शस्त्रों में वह स्वयं को ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देखता है। इसलिये जिस प्रकार आकाश को घाव नहीं लगता उसी प्रकार उसे भी घाव नहीं लगता। जो भी द्वंद्व उसे बाधा करने आता है, वह सब मेरा ही स्वरूप है ऐसा उसे लगने लगता है इसलिये सहज ही द्वंद्वभाव दूर होकर अबाधित निजरूप ही शेष रह जाता है। आकाश जलाशय में डूबा दिखायी देता है लेकिन जैसे वह पानी से गीला नहीं होता उसी प्रकार योगी समस्त देह में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है। आकाश में कीचड़ लगाने का प्रयास करने से वह आकाश में नहीं लगता बल्कि लगाने वाले को ही गन्दा कर देता है। उसी प्रकार जो योगी को दोष लगाता है वही दोष का भागी होता है। आकाश सारे जनों पर फैला रहता है लेकिन उनके घर्षण से वह मैला नहीं होता। उसी प्रकार योगी भी सारे कर्म कर कर्मठ होकर कभी मलिन नहीं होता। आकाश को कपड़े में बाँधने जाओ तो चारों छोर खाली रहते हैं उसी प्रकार कर्म से योगी को बद्ध करने का प्रयास करने से वह कर्म ही निष्कर्म हो जाता है। घट में जो आकाश रहता है उसे 'घटाकाश' कहते हैं। यथार्थ में घट के भीतर और बाहर आकाश पूरी तरह व्याप्त रहता है। उसी प्रकार आत्मा देह के भीतर है ऐसा कहते हैं, लेकिन वह देह के बाहर भी रहता है। देह मिथ्या है लेकिन चैतन्यस्वरूप परिपूर्ण है।

तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत् कालसृष्टैर्गुणैः पुमान्॥ ४३॥

पृथ्वी की धूल से आकाश गन्दा नहीं होता, पानी के कारण वह गीला नहीं होता, अग्नि की ज्वाला से वह जलता नहीं है अथवा वायु के बल से वह उड़ता नहीं है। जब बादलों की गड़गड़ाहट होती है तो आकाश ढँक जाता है लेकिन उसमें से किसी को भी वह स्पर्श नहीं करता, अपने अलिप्त होने की सामर्थ्य से वह यथावत रहता है। उसी प्रकार योगी भी आत्मस्वरूप की समरसता में होने के कारण कालनिर्मित गुणों के वश में नहीं होता। काल की सामर्थ्य अपार है वह शरीर में जरामरण का प्रादुर्भाव करता है लेकिन योगी स्वयं देहातीत होने के कारण जन्म-मरण का विचार नहीं करता। स्वप्न में यदि चिन्तामणि प्राप्त हो जाय और वह तभी किसी कुएँ में गिर जाय तो नींद खुलने पर वह उसके खोने की बात नहीं करता। उसी प्रकार योगी का देहसंग होता है। ब्रह्मदेवादि के देह को भी जो काल खा जाता है वह भी योगियों के चरणों का वन्दन करता है क्योंकि योगी काल की भी आत्मा होने के कारण स्वयं काल का महाकाल होता है। बिजली आकाश में गड़गड़ाहट उत्पन्न कर अपने तेज से आकाश को प्रकाशित करती है लेकिन भीतर और बाहर आकाश होते हुए भी वह उसमें लिप्त नहीं होता। उसी प्रकार सत्त्वगुण ज्ञान का प्रकाशक है लेकिन योगी उसे भी स्पर्श नहीं करता इसे ध्यान में रखो। वह स्वयं शुद्धज्ञानस्वरूप ही रहता है इसलिये वह बौद्धिक ज्ञान नहीं लेता। सूर्य का उदय होते ही दीपक के प्रकाश का कोई उपयोग नहीं होता उसी प्रकार 'सहजज्ञान' प्राप्त होने पर बौद्धिक ज्ञान को कौन पूछेगा? सत्त्व से जो ज्ञान उत्पन्न हुआ रहता है वह भी इच्छापूर्वक नहीं ग्रहण करता अथवा रजोगुण का प्रभाव बढ़ने पर भी उसमें कर्मठता नहीं आ पाती। तमोगुण के प्रभाव से वह क्रोध मोह के वश में नहीं होता। ज्ञान के कल्लोल तथा आत्मानन्द से वह अपने आप गुणातीत हुआ रहता है। अवधूत ने कहा, "हे राजकुमार, यदुवीर! अब उदक को गुरुपद कैसे प्राप्त हुआ यह बताता हूँ। ध्यानपूर्वक उसके लक्षण श्रवण करो।"

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम्।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः॥ ४४॥

उदक के लक्षणों के बारे में विचार करें तो वह स्वभाव से ही अत्यन्त निर्मल रहता है और उसके गुण धर्म

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के अनुसार वह सबको कोमल और मधुर मालूम होता है। प्राणि पवित्र हो सके इसीलिये तीर्थ स्थानों में जल में पवित्रता होती है। योगियों के शरीर में भी रात दिन इतने लक्षण होने चाहिये। मैले शरीर से जो भी कोई जल में प्रवेश करता है उन्हें वह अपने स्वभाव धर्म से निर्मल कर छोड़ता है। लेकिन मैंने इन सबका मैल साफ किया ऐसा अहंकार वह मन में नहीं रखता। उसी प्रकार योगी भी केवल भक्ति से भजन में लगे भक्त लोगों के, कलिकालजन्य पापों का विनाश करके भी गुरुत्व का अहंकार नहीं धरते। उससे जो भी कोई मिलता है, उसके साथ उसका व्यवहार इतना कोमल रहता है कि भले ही उसके प्राण चले जाएँ लेकिन उसके मन में प्राणिमात्र के प्रति कठोरता नहीं उत्पन्न होती। चकोर के लिये जिस प्रकार चन्द्र किरण है अथवा पक्षी के बच्चों के लिये उसकी माताओं के पंख हैं या जीवों के लिये जीवन है, उसी प्रकार उसकी सबके प्रति मृदुता रहती है। उदक केवल बाह्य मल को स्वच्छ करता है लेकिन योगी यह अंतर्बाह्य दोषों का क्षालन कर उसे भीतर और बाहर से शुद्ध करता है। उदक केवल एक ही बार सुखी करता है लेकिन योगी सभी काल सुख प्रदान करता है। उदक का सुख रहता ही कितना है? क्षणभर के बाद पुनः प्यास लगती है किन्तु योगी आत्मानन्द से इस प्रकार तृप्त कर देता है कि उस सुख में पुनः बाधा नहीं आती। उदक का माधुर्य केवल जिह्वा को ही मालूम होता है लेकिन योगी का माधुर्य सारी इन्द्रियों को तृप्त कर देता है। योगी की मिठास एक बार मालूम हो जाय तो उसके आगे अमृत का स्वाद भी फीका मालूम होता है। वह घड़ी आधी घड़ी में ब्रह्मदेव अथवा इन्द्र के पदों को भी ठुकरा देती है। धूप से संतप्त लोग जब जल के पास आते हैं तो वह अपने स्पर्शमात्र से उन्हें शीतल कर छोड़ता है। योगी की स्थिति भी वैसी ही है। वह भी अपने स्पर्श से सबका ताप दूर करता है। उदक जिसे शान्त करता है, उसे पुनः ताप होता ही है लेकिन योगी कृपा करके जिसे स्पर्श करता है, वह त्रिविध तापों से भी मुक्त हो जाता है। योगी जिसका ताप हरते हैं उसे जीवनपर्यंत पुनः ताप नहीं होता। वह शान्ति में ही रम जाता है और स्वानुभव में डोलता है। मेघ के मुख से उदक का अधःपतन होता है और उसके नीचे आने से ही सारे लोग शान्त होते हैं और उन्हें अन्नदान भी मिलता है। योगी इस लोक में इसीलिये जन्म लेते हैं कि लोग श्रवण-कीर्तन से तृप्त हो जाएँ और आत्मज्ञान से उनका उद्धार हो सके। पर्जन्य का जल देखते ही जिस प्रकार सब लोग प्रसन्न हो उठते हैं अथवा गंगादि तीर्थों का दर्शन करने से जिस प्रकार पापों का क्षालन होता है, उसी प्रकार योगियों का दर्शन भी बिना भाग्य के नहीं होता। उसके चरणों का जो दर्शन करता है वह भवरोगों से मुक्त हो जाता है। उसका दर्शन या स्पर्श न हो सके तो उसका नामस्मरण करना चाहिये ताकि केवल उतने से ही वह नाम संसार के मूल में छिद्र कर देगा। भगवान का कीर्तन करने के बजाए भक्त का नामस्मरण करने से संसार बन्धन कैसे टूटेगा यह नहीं पूछना चाहिये। सच तो यह है कि भगवान का कोई नाम ही नहीं होता। भक्तों ने उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप उसे नाम, रूप आदि विलास अर्पित किये हैं। इस प्रकार भक्तों ने ही भगवान की प्रतिष्ठा बढ़ायी और उसे वैकुण्ठ में बैठाया। ऐसे भक्त के उपकार से ही वह झुक जाता है और उसकी आज्ञा में रहता है। भक्त के वचन के अनुसार भगवान न नर है न सिंह है, ऐसा रूप धारण कर वह खम्भे में से प्रकट हुआ और उसने भक्त का वचन सच कर दिखलाया। आज भी इस बात का प्रमाण है कि वह ज्ञानानंदघन भगवान अपने भक्तों के वचन के अनुसार पाषाण में भी प्रकट होता है। भक्तों के प्रेम से भगवान झुक जाता है, भक्तों का वचन वह तोड़ नहीं सकता। इसलिये जहाँ भक्त का नाम आता है वहाँ भगवान दौड़ कर आता है। भक्त के उपकार का ऋण चुकाने के लिये उसे तत्काल दौड़ कर आना पड़ता है। यह कहते समय अवधूत का प्रेम भी उफनने लगता है। इसके बाद का गुरु अग्नि है, उसके भी लक्षण बताता हूँ। उन्हें कर्ण और मन को एकत्र लाकर सुनो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः।
सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत्॥ ४५॥

अग्नि अपने स्वयंभू तेज से ही देदीप्यमान रहता है। उसे हाथ में पकड़ना सम्भव नहीं है, लेकिन वही अग्नि सबके पेट में उपस्थित रहकर अपने तेज से सब कुछ भक्षण कर लेता है। उसी प्रकार योगी भी भगवद्भाव से दीप्त होने के कारण, देवादि भी उसे नहीं पकड़ पाते। जिस प्रकार हाथ में अंगार रखना कठिन हैं उसी प्रकार योगी को पकड़ना भी अत्यन्त कठिन है। माया भी अपने गुणों से उस पर काबू नहीं पा सकती। अग्नि के लिये जिस प्रकार मुख यही एक पात्र रहता है, उसी प्रकार योगी का एकमात्र पात्र उदर ही होता है। किसी विशिष्ट निधि को रखने के लिये उसके पास पात्र ही नहीं होता। अग्नि जो कुछ भी सेवन करता है, उसे वह जलाकर अपने ही जैसा कर डालता है। इसी प्रकार योगी सब कुछ भक्षण करता है लेकिन मलिनता को स्पर्श नहीं करता। सुगन्ध से युक्त चन्दन की लकड़ी हो, अथवा दुर्गन्धयुक्त कोई अन्य लकड़ी हो, नीम की कड़ुई लकड़ी हो या गन्ने की लकड़ी हो, उनका आकार-विकार आदि सब कुछ जलाकर वह उन्हें अपने जैसा बना देता है। उसी प्रकार योगी जिस वस्तु को स्वीकार कर लेता है, उसकी ओर वह पहले आत्मदृष्टि से देखता है, उसके सारे दोष दूर कर फिर उन पदार्थों को आत्मभाव से स्वीकार करता है। जिस भोग्य पदार्थ का भोग करने के लिये वह जाता है, वहाँ वह स्वयं को ही देखता है इसलिये भोक्ता भी तद्रूप ही हो जाता है। यही योगी का भोग है। अग्नि में जो मैली वस्तु पड़ती है वह अग्निमुख से निर्मल ही हो जाती है। उसी प्रकार योगी भी जो थोड़ा-बहुत सेवन करता है वह परमपवित्र ही हो जाता है। अग्नि के मुख में आहुति पड़ने से यज्ञ होता है और उस कर्म से स्वर्ग प्राप्त होता है लेकिन योगी के मुख में जो पड़ता है उससे आत्मपद ही प्राप्त होता है। हे राजा! अग्नि का एक और भी लक्षण है। वह भी ठीक से सुन लो। वही साधक का साधन और सिद्धों का लक्षण है।

क्वच्चिच्छन्नः क्वचित्स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम्।
भुङ्क्ते सर्वत्र दातृणां दहन्प्रागुत्तराशूभम्॥ ४६॥

होमकुण्ड में दबाया हुआ अग्नि भीतर तेजस्वी होता है किन्तु ऊपर से राख से ढँका रहता है, अथवा यज्ञशाला में उसे प्रज्ज्वलित कर याज्ञिक लोग बड़ा यज्ञ भी करते हैं। उपासक के मन में जैसी भावना रहती है, वैसा श्रेय वह उसके लिये उत्पन्न करके देता है और पहले के सारे पापों को जलाकर हवि ग्रहण करता है। उसी प्रकार योगी की लीला भी भक्तों के नेत्रों में प्रकट होती है। किसी से वह बिल्कुल गुप्त रहता है, आँखों से दिखायी भी नहीं देता। ऐसे लोगों की जगह लोग भक्ति के बल पर जो भी अर्पण करते हैं उससे मुमुक्षुओं को मोक्ष प्राप्त होता है। योगी के मुख में उसके पड़ते ही सारे संचित सुख-दुःखों को जलाकर उसे आत्मपद दिलाा कर सुखी करता है। हे राजा! जिसके योग से सगुण और निर्गुण समभाव से एकरूप दिखायी देते हैं ऐसे अग्नि का एक और लक्षण तुम्हें बताता हूँ।

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभूः।
प्रविस्ट इयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवेधसि॥ ४७॥

स्वभावतः अग्नि निराकार ही है। लकड़ियाँ लम्बी, टेढ़ी, गोल, बड़ी या छोटी जिस आकार की होती हैं उसी आकार का वह मालूम होता है। भगवत्स्वरूप की जाति भी वैसी ही है। स्वमाया की कल्पना से ही आकृतियों का निर्माण कर उन उन उनमें सकल रूप से घुसा रहता है इसलिये अनेक रूपों में भासित होता है। जिस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकार गंगा का जल एक ही होते हुए भी, भँवरा, तरंग आदि विभिन्न स्वरूपों में भासमान होता है। अथवा मण्डप के छायाचित्र बत्तियों के प्रकाश से ही निर्मित होते हैं। राम, रावण आदि नामों से लोगों को परदे पर नाट्याभिनय करके दिखलाते हैं। उसी प्रकार नाना प्रकार के प्राणी, नाना प्रकार के मत, नाना प्रकार की आकृतियाँ दिखायी पड़ती हैं, उन सब में श्रीहरि ही प्रवेश कर सहज रीति से उन्हें नचाता रहता है। योगी की स्थिति भी वैसी ही रहती है। नाना प्रकार के आकार और व्यक्ति दिखायी पड़ने पर भी वह उन सब में समदृष्टि से स्वयं को ही देखता है इसलिये उसे किसी प्रकार भ्रम नहीं होता। वह जो भी कुछ देखता है वह सब वह स्वयं ही रहता है ऐसी मीमांसा अवधूत ने हाथ उठा कर की। जन्म और मृत्यु इस देह का ही होता है, आत्मा यह नित्य और अविनाशी है यह निश्चय चन्द्रमा को गुरु बना कर दृढ़ कर लिया।

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मन॥ ४८॥

शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के योग से चन्द्रमा की कलाएँ बढ़ती हैं और घटती हैं लेकिन मूल चन्द्रमा को वृद्धि या क्षय नहीं होता। वैसी ही स्थिति सच्चे योगी की रहती है। जन्म, मृत्यु आदि जो छह विकार हैं वे सचमुच देह के ही लिये हैं। आत्मा स्वरूप से ही अविनाशी निर्विकार, अनंत और अमर है। घट स्वाभाविक रूप से ही नाशवान है, लेकिन उसमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब रहता है, उसी प्रकार अशाश्वत में शाश्वत दिखाई देता है, लेकिन उसे नश्वर का विकार नहीं लगता। घट के साथ चन्द्रमा की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु घट के विनाश के साथ चन्द्रमा का विनाश नहीं होता। चन्द्रमा अपनी सहज स्थिति के अनुसार नाश तथा उत्पत्ति रहित ही होता है। उसी प्रकार योगी आत्मस्वरूप होने के कारण देह के साथ जन्म नहीं लेता और न देह के साथ उसका विनाश होता है। वह अखण्ड रूप से परिपूर्ण ही रहता है। काल की गति अत्यन्त गहन है। उसी के कारण नाश और उत्पत्ति हुई दिखाई पड़ती है। लेकिन काल का यह प्रभाव शरीर पर है, आत्मस्थिति पर वह लागू नहीं होता। सारांश यह कि काल का सामर्थ्य अगाध है यह जो कहा जाता है वह देह के कारण ही। आत्मस्थिति की ओर देखा जाए तो वहाँ काल रहता ही नहीं है। काल की सूक्ष्म गति का विवेचन करते हुए अवधूत को सहसा स्मरण हुआ और उसने सिंहावलोकन करते हुए अग्नि का पुनः उदाहरण दिया।

कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ।
नित्यानापि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम्॥ ४९॥

उस काल की नदी की गति अत्यन्त प्रचण्ड है। उसकी गति अत्यन्त सूक्ष्म है। उसमें प्राणीरूप तरंगें उठती हैं और टूटती हैं लेकिन यह जगत को दिखायी नहीं देता। इस नदी में जरा से जर्जर हुए लोगों का कचरा तैरता रहता है और षड्विकाररूप भयंकर भँवरे उसमें घूमते रहते हैं। बाह्य और युवावस्था की उछाल चलती रहती है। वार्धक्य का जल मन्द गति से बहता रहता है और जन्म-मरण की लहरें उछल-उछल कर शोर मचाती रहती हैं। प्रवाह की धारा के प्रहार से जीवन के बुर्ज ढहते हैं। स्वर्गादि मन्दिर तोड़कर शिखरों पर स्थित इन्द्रों को भी वह प्रवाह वेग नीचे गिराता है। यही जल पाताल में प्रवेश करता है और सर्पों का संहार कर उनकी हड्डी-पसली एक कर देता है। काल के ऐसे प्रवाह में भूत तरंगों का बनना-टूटना रात-दिन निरन्तर चलता रहता है। लेकिन मजे की बात है कि यह सब किसी के ध्यान में नहीं आता। महाप्रलय के समय जब प्रलयमेघों की गर्जना होती है, तो उस समय भयंकर बाढ़ आती है और उसमें ब्रह्मदेवादि अनेक बड़े-बड़े वृक्ष टूट कर, जड़ के साथ उखड़ कर बह जाते हैं। वहाँ काल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी प्रवेश नहीं कर पाता। सब कुछ अकस्मात ही हो जाता है। कालरूप इस नदी की जाति बड़ी विचित्र है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसका निश्चित स्वरूप ध्यान में नहीं आ पाता। उस सूक्ष्म गति की यथार्थ स्थिति अब जान लो। कहते हैं दीप वही है लेकिन उसकी शिखा क्षण प्रतिक्षण विलय होती है और दूसरी उत्पन्न होती है। लेकिन यह सूक्ष्म बात लोगों की समझ में नहीं आती और अन्त में वह दीप बुझ जाता है। नदी का पानी जो प्रतिक्षण बहता रहता है वह भी सदा नया ही रहता है लेकिन अनाड़ी लोग सारा पानी एक ही समझते हैं। उसी प्रकार काल की गति सब की समझ में नहीं आती। यदि देह को ही देखा जाय तो काल उसे ग्रसता ही रहता है। बाल्य, कौमार्य अथवा युवावस्था में काल भी निकट ही रहता है लेकिन कोई उसे नहीं देखता। इसीलिये मैंने काल सूर्य को गुरु बनाया। उससे मैंने क्या सीखा यह भी सुन लो।

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः॥ ५०॥

सूर्य धीरे-धीरे अपनी किरणों से रसों के साथ पृथ्वी पर के समुद्र आदि का पानी सोख लेता है और वही बरसात में उस जल की वृष्टि कर लोगों को अनेक प्रकार से तृप्त कर देता है। किन्तु सूर्य अपने किरणों से जो शोषण क्रिया करता है वह किसी की समझ में नहीं आती फिर भी मेघों के द्वारा वृष्टि कराकर वह समस्त लोगों के साथ पृथ्वी को शीतल कर देता है। योगियों की बात भी वैसी ही है। वह थोड़ा बहुत जो किसी से लेता है उसका कल्याण करने के लिये हजार प्रकार से उसके मनोरथ पूरे करता है। आत्मानन्द में निमग्न योगी जिस किसी का भी कुछ सेवन करते हैं, उनके सारे मनोरथ परिपूर्ण होते हैं और अन्त में वे उन्हें निष्काम कर विश्रामस्थल तक ले जाते हैं। इस प्रकार योगी अपने योगबल से इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करते रहते हैं। उन्हें यदि कोई कुछ देता है तो वह योग्य समय पर कृपा के बल से सन्तुष्ट कर देते हैं। उनमें विषय देते समय या लेते समय किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होती। जल का शोषण करते समय या वर्षा के रूप में उसे वापस करते समय सूर्य जिस प्रकार अलिप्त रहता है उसी प्रकार वे भी अलिप्त रहते हैं।

बुद्ध्यते स्वेन भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः।
लक्ष्यतेस्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत्॥ ५१॥

जलाशय में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखायी देता है इसलिये मूढ लोग कहते हैं कि सूर्य जलाशय में डूब गया। यदि उसमें का पानी हिलता है तो समझते हैं कि सूर्य ही हिल गया और यदि जल गन्दा होता है तो मानते हैं कि सूर्य गन्दा हो गया। लेकिन सूर्य उस जलाशय का स्पर्श भी नहीं करता और आकाश में निर्बाध रूप से रहता है, उसी प्रकार योगी की योग्यता देहकर्म में रहते हुए भी देहातीत रहती है। लोग कहते हैं कि देहबुद्धि के छंद से योगी देह में विचरण करता है। उसी प्रकार वह देह के अनेक प्रकार के बन्धनों से बँधा रहता है, ऐसा भी वे अपनी स्वबुद्धि से कहते हैं। उसमें देह का मिथ्याभिमान रहता है। योगी का यह गुह्यज्ञान किसी की समझ में नहीं आता। रस्सी के साँप ने क्या किसी को काटकर मारा है? उसी प्रकार आत्मा चिदाकाश में रहते हुए मिथ्या देह में मिथ्या रूप से ही प्रतिबिम्बित होकर देहकर्म को दर्शाता है, इसीलिये वह कर्म उसे बाधक नहीं होता। अपना प्रतिबिम्ब वह जल में देखता है लेकिन यह नहीं कहता कि मैं जल में डूब गया हूँ। उसी प्रकार वह देह से भिन्न है, इसका जिसे पक्का ज्ञान हो गया है वह देहकर्म से नहीं डरता। मृगजल की बाढ़ देखकर जो नाव पकड़ने के लिये दौड़ पड़ते हैं वे मूर्ख हैं। उसी प्रकार संसार खुद ही मिथ्या है। मूर्ख उसे भयंकर समझता है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसलिये घरबार, स्त्री, बच्चे, जमीन-जायदाद आदि पर अधिक प्रेम करना ही नहीं चाहिये। इसलिये अवधूत राजा को कपोतपक्षी की कथा सुनाने लगे।

नातिस्नेहः प्रसंगो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित्।
कुर्वन् विन्देत संतापं कपोत इव दीनधीः॥ ५२॥

संसार दुःख का मूल कारण है, स्त्री की आसक्ति! जहाँ स्त्री के प्रति लंपटता का जोर अधिक रहता है, वहीं सारा दुःख रहता है। स्त्री से पुत्र होते हैं और उन पर विचित्र मोह जड़ता है। इसलिये सांसारिक लोग दुःख के पात्र बनते हैं। आसक्ति और मोहजाल से मनुष्य पराधीन होकर पग-पग पर विलक्षण दुःख भोगते रहते हैं। इसलिये किसी को किसी के प्रति आसक्ति अथवा स्नेह नहीं रखना चाहिये। जिसने अतिस्नेह किया उसे दुःख भोगना ही पड़ेगा। हे राजेश्वर! स्नेह और दुःख का परिणाम मालूम हो इसलिये तुम्हें कपोत-कपोती की कथा सुनाता हूँ, उसे शांतचित्त होकर सुनो।

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ।
कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित्समाः॥ ५३॥

एक वन में एक कपोत पक्षी रहता था। वह कपोती के प्रेम से अत्यन्त क्षुब्ध हुआ। स्त्री सुख की लालसा से उसने एक कठिन पेड़ देखकर उस पर अपना घरौंदा बनाया। वन में विहार करने वाले उस कपोत ने स्त्री के मोह में पड़कर अपनी स्त्री की संगति में काफी समय व्यतीत किया।

कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ।
दृष्टिं दृष्ट्याऽङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः॥ ५४॥

कपोत और कपोती का परस्पर बहुत प्रेम था। उनका वह प्रेम निरन्तर बढ़ता ही गया। हृदय में नित नयी आसक्ति उत्पन्न होने लगी। वे कामुक दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखते, अनेक प्रकार की कामचेष्टाएँ करते, एक दूसरे को प्रेम से सहलाते, एक दूसरे को गले लगाते। तन से या मन से एक दूसरे को अलग न होते, दोनों दो शरीर एक प्राण बनकर रहते, खाना-पीना साथ-साथ। ऐसा निरन्तर चल रहा था।

शय्यासनाटनस्थानवार्ताक्रीडाशनादिकम्।
मिथुनीभूय विस्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु॥ ५५॥

खाते समय उन्हें जो वस्तु अत्यन्त प्रिय लगती उसे वे एक-दूसरे को खिलाते। कपोत बड़े कष्ट से जो चीज ले आता उसे वह प्यार से अपनी स्त्री को देता। स्त्री को छोड़कर वह कहीं नहीं जाता था। एक दूजे का हाथ थामकर वे भीतर-बाहर टहलते। वे सदा एकान्त में बैठते, दोनों एक ही जगह रहते, नाना प्रकार की क्रीड़ा करते, नाना प्रकार के बिहार करते और आनन्दपूर्वक अनेक प्रकार के खेल खेलते। स्त्रियाँ जब एकान्त में होती हैं तो बड़ी मीठी बातें करती हैं, पति के मन में सास-ससुर के सम्बन्ध में विकल्प भर देते हैं, देवर-भाभी की निन्दा करती हैं और मीठी बातों से पति को भुलावा देती हैं। खैर! वे एक ही आसन पर बैठते, एक-दूसरे से टिक कर बैठते और रात-रात भर एक ही शय्या पर सोते। इस प्रकार स्त्री समागम सुख पर विश्वास कर वे अपने हित-अहित को भूल गये। गृहिणी के वैभव में ही वह नाचने लगा। वन उपवन में उनका समागम होता था। घरौंदा केवल नाम मात्र के लिये था। विषय विलास सब कुछ वन में ही होता था।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यं यं वाञ्छति सा राजंस्तर्पयन्त्यनुकम्पिता।
तं तं समनयत्कामंकृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः॥ ५६॥

प्राणों से भी मूल्यवान जो कुछ भी वह माँगती, उसे वह काममोहित होकर अत्यधिक परिश्रम करके देता था। उसकी इच्छा भाँप कर ही वह उसे उसकी इच्छित वस्तु ला देता था फिर माँगने पर क्या कहना? अपने को बेचकर भी वह उसके लिये ले आता। धर्म का स्मरण नहीं, गरीब पर दया करना तो मालूम नहीं, जो भी कृपा करता वह केवल स्त्री पर। शक्कर पर बैठी हुई मक्खी मारने पर भी नहीं उड़ जाती उसी प्रकार विषय का भोग करते समय वृद्धावस्था की तथा मृत्यु भी याद नहीं रहती। सत्यवादी लोग जिस प्रकार पूर्वजों के दिये वचन का पालन करते हैं, उसी प्रकार कामीजन स्त्रीसुख में बाधा नहीं आने देते। जिस प्रकार कामोपासक की सर्वत्र एकात्मता होती है, उसी प्रकार संसार में स्त्री के अतिरिक्त उसे कुछ भी नहीं दिखायी देता।

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः संनिधौ सती॥ ५७॥

वैसे ही लाडली पत्नी, तिस पर वह गर्भवती हुई, फिर क्या पूछने? धन के लालची को जैसे एकाएक धन की पेटी मिल जाय, उसी प्रकार वह उसके गर्भ का कुछ ज्यादा ही कौतुक करने लगा। दारू पीकर वह बन्दर जिस प्रकार मस्त होकर नाचने-डोलने लगता है उसी प्रकार वह गर्भ का कौतुक करने लगा। गर्भिणी के सारे मनोरथ उसने पूरे किये और प्रसूति काल आने तक वह उसी के लाड़-प्यार में खेलता रहा। इतने में अपने घरौंदे में प्रसूत होकर उसने अण्डे दिये। उसके प्रसूत होने की वार्ता सुनकर उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा।

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः॥ ५८॥

हरि की माया अघटित को घटित करने वाली है। वह दुर्गम होने के कारण उसकी लीला साक्षात ब्रह्मदेव की भी समझ में नहीं आती। उस देवमाया ने अण्डे में अवयवों की रचना की। पहले उस अण्डे में केवल रस भरा हुआ था। हरि की माया से उसी में नाखून, पंख, चोंच तथा नेत्रों के द्वार खुलकर चमत्कार हुआ। अण्डे अपने आप फूटे और उसमें से नन्हें-नन्हें कोमल चूजे बाहर निकले। उन्हें देखते ही माँ-बाप जीव-प्राण भूल गये।

प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कालभाषितैः॥ ५९॥

बच्चे अत्यन्त कोमल और लुभावने थे इसलिये माता-पिता पुत्र वात्सल्य के कारण मंजुल वाणी तथा स्नेह से उनका सांत्वन करते थे। जिस समय जो करना उचित होता था, उसके अनुसार वे दोनों मिलकर अपने उस शिशु का पालन-पोषण करते थे। उनके मंजुल शब्द सुनकर वे दोनों खुशी से डोलने लगते और बच्चों की नजर उतारते।

तासां पतत्त्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः।
प्रत्युद्गभैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः॥ ६०॥

उन्हें आलिंगन और चुम्बन लेने से, उनके ये मधुर, मृदु और मंजुल शब्द सुनने से, उनके पंखों के स्पर्श से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उन दोनों को अत्यन्त आनन्द होता था। माँ-बाप जब बैठे होते तो नन्हें-नन्हें बच्चे दौड़कर इधर-उधर आड़े-तिरछे दौड़कर तथा एक-दूसरे की चोंच से चोंच मिलाकर एक दूसरे को दिखाते थे और फिर आलिंगन देकर चुपचाप भागकर दूर चले जाते और फिर वहाँ से दौड़ते हुए उनके पास आते। माँ-बाप के पंखों की छाया रहने से बालकों में हीनता नहीं रहती। ऐसे बच्चों को जन्म देने के कारण उन्हें धन्यता मालूम होती है। उनके वे बच्चे अत्यन्त दुलारे होने के कारण वे उनसे बहुत लाड़-प्यार करते और उनकी इच्छा पूरी करते। उन्हें देखकर उनके नेत्र तृप्त हो जाते थे। एक-दूसरे पर उनका अत्यन्त प्रेम था। बालकों को खेलते देखकर वे उन्हें प्रेम से उठा लेते और उनके कोमल मुख का चुम्बन ले लेते।

स्नेहानुबद्धहृदयावन्योऽन्यं विष्णुमायया।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून्पुपुषतुः प्रजाः॥ ६१॥

हे राजा! उस अजन्मा 'अजा' माया ने कैसा भुलावा दिया, जरा देखो। हृदय में परस्पर प्रेमबन्धन होने के कारण वे उनका पोषण करने के लिये तत्पर रहते थे। स्त्री-पुत्रों का मोह बड़ा कठिन है। उनका पोषण करने के लिये वे चिंतातुर होकर अन्न के लिये भ्रमण करते फिरते थे।

एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थौ तो कुटुम्बिनौ।
परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम्॥ ६२॥

इस प्रकार वे बच्चे थोड़े बड़े हुए। परिवार बढ़ गया, भोजन की अधिक आवश्यकता मालूम होने लगी। तब गृहस्थी के विचार से वे चिन्ता में पड़ गये। इस प्रकार कुटुम्ब वत्सल वह कपोत और कपोती पुत्र प्रेम में बद्ध होने के कारण दोनों एक साथ बाहर निकल पड़ते और अधिक समय बाहर रहकर भक्ष्य ले आते। अब एक ही स्थान पर भक्ष्य कैसे मिलेगा? इसलिये वे जंगल-जंगल घूमने लगे लेकिन पर्याप्त भक्ष्य नहीं मिल पाता था। बहुत-सा चारा एकत्र कर फिर अपने घरौंदे की ओर जाएँ और अपने बच्चों को नाना प्रकार का भक्ष्य देकर उनका पोषण करें इस विचार से वे दोनों अनेक स्थानों, अनेक वनों और उपवनों में घूमने लगे।

दृष्ट्वा ताँस्लुब्धकः कश्चिद्यदृच्छातो वनेचरः।
जगृहे जालमातत्यचरतः स्वालयान्तिके॥ ६३॥

इस प्रकार एक दिन जब इनके माँ-बाप दूर गये हुए थे उनके बच्चे घरौंदे में ही उड़ रहे थे। वे भूख से क्षुब्ध हो गये और दुर्भाग्यवश बाहर निकल पड़े। उसी जंगल में एक बहेलिया पक्षी पकड़ने के काम में बहुत माहिर था। संयोगवश उसकी दृष्टि इन कपोत बच्चों पर पड़ी। उसने जाल फैलाकर उन बच्चों को उसमें फँसाया और अब कपोत कपोती के आने की प्रतीक्षा करने लगा।

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ।
गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः॥ ६४॥

बच्चों के प्रति मोह के कारण कपोत और कपोती जल्दी-जल्दी घरौंदे की ओर आये। स्त्री सुख की आसक्ति ही बढ़ती व्यथा का मूल कारण है। स्त्री की संगति के कारण कितना अनिवार दुःख भोगना पड़ता है, कौन बताये? पुरुष को दुःख देने के लिये स्त्री संग ही कारण है। वही पुत्र, नाती आदि के द्वारा कैसे-कैसे दुःख भोगने को बाध्य करता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कपोती स्वात्मजान्वीक्ष्य बालकान् जालसंवृतान्।
तानभ्यधावत्क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता॥ ६५॥

कपोती ने देखा तो पाया कि बिलकुल काल के जाल में उसके बच्चे फँसे हुए हैं। वह मुँह पर थप्पड़ मार कर विलाप करने लगी और जोर-जोर से आक्रोश करती हुई जमीन पर लोट रही थी। जाल में अपने बच्चे फड़फड़ा रहे हैं यह देखकर वह जोर-जोर से रोकर उन्हें पुकारने लगी। वह बार-बार उन बच्चों के निकट जाती और दुःख से व्याकुल होकर छटपटाने लगती।

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताऽजमायया।
स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान्पश्यन्त्यपम्मृतिः॥ ६६॥

अपने मृत पुत्रों को देख उसका अंतःकरण प्रेम से भर आया। पति को दुःखी करने के लिये वह कपोती कैसा विलाप कर रही थी। पुत्र स्नेह ने उन्हें बेचैन कर दिया था। उनके गुणों को याद कर वह रोने लगी। उसके आगे उसे अपना हित-अहित भी नहीं दिखायी दिया और वह अपने से ही जाल में फँस गयी। मायामोह के कारण वह कैसे भुलावे में आ फँसी! जिस जाल में बच्चे बँधे हुए थे, उसी जाल में वह स्वयं फँस गयी।

कपोतश्चात्मजान् बद्धानात्मनोऽप्यधिकान् प्रियान्।
भार्या चात्मसमां दीनां विललापातिदुःखितः॥ ६७॥

इस प्रकार पत्नी और बच्चों से बिछुड़ कर बेचारा कपोत अकेला रह गया। वह मुँह नीचे झुका कर रोने लगा। प्राणों से भी प्रिय अपने मृत बालकों को उसने देखा। अनुकूल तथा अनुरूप पत्नी से भी वह हाथ धो बैठा।

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिकोहतः॥ ६८॥

वह मन ही मन कहने लगा कि गृहस्थाश्रम धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का बड़ा आधार होता है। वह आधार टूट गया और मैं अधूरी इच्छा रहते अनाश्रमी बन गया। पूर्व नियोजित पाप के कारण कोई सत्कार्य करने से पहले ही उसने मुझे अकृतार्थ कर दिया। मेरी इच्छा होने से पूर्व ही मेरे धर्म कामार्थ का विनाश कर दिया। गृहस्थाश्रम में काम, अर्थ और धर्म तो भंग हुआ लेकिन चौथा पुरुषार्थ जो मोक्ष है, वह तो बचा है न? अब उसी को साध्य कर लिया जाय, आश्रम टूटने का दुःख क्यों किया जाय? लेकिन मैं तो मूढमति हूँ, विषय वासना मुझे नहीं छोड़ती, फिर मुक्ति कैसे प्राप्त होगी? मैंने पूर्व में बहुत ही कम पुण्य किया इसलिये काल ने मेरा संसार उजाड़ दिया। इस प्रकार मुझे विधुर बनाकर उसने मेरा परलोक का साधन भी छीन लिया। अस्तु! क्या सभी गृहस्थाश्रम वालों को परलोक साध्य होता है? लेकिन दूसरों की बात जो भी हो, मेरे पास तो वह साधन अवश्य था।

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता।
शून्ये गृहे मां संत्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः॥ ६९॥

स्त्री-पुरुषों की मनोवृत्ति परस्पर अनुकूल हो तथा उनकी प्रवृत्ति धर्म की ओर हो तभी परलोक साधन सम्भव है। दूसरों को वह प्राप्त नहीं होगा। किसी की पत्नी अत्यन्त वाचाल होती है, कोई उद्दण्ड और घुमंतु होती हैं, कोई दुष्ट, कजाक और व्यभिचारी होती हैं। कुछ स्त्रियाँ क्रोधी होती हैं, कुछ दर्पण सामने रखकर दाँत साफ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करती हैं। कुछ गन्दी और आलसी होती हैं। कुछ अत्यन्त झगड़ालू होती हैं, कुछ नाजुक और विलासिनी होती हैं। लेकिन मेरी पत्नी वैसी नहीं थी। वह मेरे लिये सदा अनुकूल रही। वह यथार्थ में मेरी धर्मपत्नी थी और मेरे अनुरूप आचरण करती थी। मैं धर्म कर्म की ओर प्रवृत्त होता तो वह भी भक्तिपूर्वक मेरी सहायता करती थी और मुझमें जब कामेच्छा होती थी तो उसे भी पूरा करने में वह कुशल थी। सचमुच वह मेरे सिवा किसी देवता को नहीं भजती थी। मुझे छोड़कर वह किसी तीर्थ को नहीं जाती थीं। मेरी बात का तो उसने कभी भी उल्लंघन नहीं किया। इस प्रकार मेरी पत्नी रूपगुण तथा शील आदि से सुसम्पन्न, मेरे लिये सदा अनुकूल, प्रतिव्रता तथा अत्यन्त निर्मल थी। वह महासाध्वी मुझे घर में अकेला छोड़ कर मुझे संकट में डालकर अपने पुत्रों के साथ स्वर्ग सिधर गयी।

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः॥ ७०॥

स्त्री गयी, पुत्र चले गये, अब मैं भी यहाँ किसके लिये रहूँ? लोकलज्जा और निन्दा के दुःख से मेरे प्राण निकल जायेंगे। इतना दुःख आन पड़ा, अब लोगों को मुँह कैसे दिखाया जाय? संसार का सुख तो नष्ट ही हो गया। अब यदि जीवित रहा तो लोग मुझे मूर्ख कहेंगे। आग लगे ऐसे विधुर के जीने को। वह निन्दनीय और लज्जास्पद रहता है। श्राद्ध का निमंत्रण भी कोई नहीं देता। हमेशा अकेले पड़े रहना। इस प्रकार यदि मैं इन लोगों में रहा तो उस उजाड़ घर में मुझे अकेले बैठा रहना पड़ेगा, ठीक से खाने को भी नहीं मिलेगा। इससे मुझे और भी दुःख होगा।

तांस्यथैवावृताञ्छिग्भिर्मृत्युग्रस्तान् विचेष्टतः।
स्वयं च कृपणः शिक्षु, पश्यन्नप्यबुधोऽपतत्॥ ७१॥

ऐसा बोलकर उसने क्या किया? उसने मृत स्त्रीपुत्रों को देखा। उसने पत्नी और बच्चों को कालपाश में बँधा देखा। उनकी हलचल बिलकुल बन्द हो गयी थी। यह देखकर भी उस मूख्र ने विचार नहीं किया और स्वयं भी उस जाल में फँस गया। मृत के पीछे मरना यह तो सबके पीछे लगा हुआ है लेकिन जन्म-मृत्यु को टाल कर अपना हित साध्य करना यह कोई नहीं करता। देखिये, स्त्री-पुत्रों के लिये अपना प्राण भी दे देते हैं, लेकिन भगवद्पद प्राप्त कर लिया जाय यह बात किसी के मन में नहीं आती।

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम्।
कपोतकान्कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम्॥ ७२॥

इस प्रकार वह दुर्बुद्धि कपोत जाल में फँसते ही बहेलिया का काम अनायास ही हो गया। कपोत को सपरिवार कन्धे पर लाद कर वह अपने घर की ओर चल पड़ा। ऐसा जो भी कोई मोहग्रस्त गृहस्थाश्रमी होता है, उसे काल तत्काल हरण करके ले जाता है। जैसी बुद्धि कपोत की थी वैसी ही घर गृहस्थी पर आसक्ति रखने वाले की होती है। नयों के लिये बिलखते हुए कपोती मर गयी यह अपनी आँखों से देखते हुए भी उस मूर्खबुद्धि ने फिर उसी जाल में छलांग लगायी। इस प्रकार वह कपोत परिवार की चिन्ता करते-करते स्वयं भी मर गया। मन में जरा भी विचार नहीं किया।

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत्।
पुष्णन्कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति॥ ७३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार सांसारिक व्यक्ति कुटुम्ब का पोषण करने में ही आसक्त हो जाने के कारण विषयवासना से सदा अतृप्त रहता है, इसीलिये उसका परिवार के साथ विनाश होता है। गृह की आसक्ति और गृहस्थाश्रम यह केवल द्वंद्व का सुख है। इसलिए वह कपोत की तरह संभ्रमित होता है। इसलिये इस प्रकार अपने जन्म को व्यर्थ नहीं करना चाहिये।

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिदारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढ़च्युतं विदुः॥ ७४॥

श्लोक ७४—इस मृत्युलोक में आकर जिसे उत्तम देह प्राप्त हुआ है और वह भी श्रेष्ठवर्ण ब्राह्मण का जन्म, जो मनुष्य देह प्राप्त करता है, उसके लिये मुक्ति का द्वार सदा खुला रहता है। एक दिन में एक क्षण में वह इस जन्म से पार निकल जाता है। यह बात अन्य वर्णों की है, फिर ब्राह्मण तो वैसे भी पूण्यमूर्ति ही है। वे सदा मुक्त ही हैं लेकिन व्यर्थ ही आसक्ति में फँसे रहते हैं। विद्वत्ता के साथ वैराग्य का होना बड़े भाग्य की बात है। वह ब्रह्मदेव आदि को भी प्राप्त नहीं होती। व्यर्थ की आसक्ति में अभागे हुए ये लोग शिस्नोदर के अधीन होकर व्यर्थ चले जाते हैं। मनुष्यदेह प्राप्त कर जो गृहासक्त होता है, उसे 'आरूढच्युत' अथवा पढ़तमूर्ख कहते हैं। वह हाथ में आये स्वार्थ को छोड़कर कपोत की तरह दुःखी होता है। विषय से कभी तृप्ति नहीं होती ऐसा वेद और पुराण कहते हैं। ऐसा होते हुए विषय से आसक्ति कर, व्यर्थ ही नरदेह को नष्ट करते हैं। नरदेह की महत्ता विचित्र है। केवल रामनाम का आवर्तन करने से भी चारों मुक्ति दासी बनकर रहती हैं। ऐसा होते हुए भी वही देह विषय के लिये नष्ट करते हैं। विषयसुख की आसक्ति से आज तक किसी को तृप्ति नहीं हुई। प्यासा व्यक्ति मृगजल पाकर कैसे शान्त होगा? इसलिये ज्ञानी पुरुष नरदेह प्राप्त होते हुए विषय के प्रयास में पागल बनकर क्यों कष्ट सहे? नरदेह जैसी निधि अनायास ही प्राप्त हुई है। इसलिये अभिमान बिलकुल छोड़ दो। तभी तुम्हें समाधान प्राप्त होगा। इसके बाद पुनः नरदेह प्राप्त होगा ही इसकी कोई आशा नहीं है। इसलिये विषयासक्ति छोड़ कर भक्तिभाव से श्रीहरि का भजन करना चाहिये। कलियुग में साधन बिलकुल सरल है। न योग की आवश्यकता है न यज्ञ की, न त्याग चाहिये न दान चाहिये। बिना लज्जा के हरिकीर्तन करने से चारों मुक्तियाँ चरणों पर आकर गिरती हैं। ऊब कर यदि उसके बदले में पारस मिले तो दुःख क्यों हो? उसी प्रकार कीर्तन के बल पर साक्षात ईश्वर की प्राप्ति होती है, इसे ध्यान में रखो। एकाजनार्दन कहता है, नश्वर देह के साधन से ही जन में जनार्दन होना यही स्पष्टतया बतलाया। एका जनार्दन की शरण में आया तभी जनार्दन एकत्व से एका हो गया, वैसे जैसे सुवर्ण और कंगन नाम से दो होते हुए भी मूलतया एक ही होते हैं। एकादश स्कन्ध में श्रीकृष्ण ने जो गुरुपदेश उद्धव को सुनाया तथा अवधूत ने यदु को बताया वही गुरुपदेश जनार्दनरूप एकनाथ सुना रहा है।

इति श्रीमद्भागवते एकादश स्कंधे, श्रीकृष्ण उद्धव संवादे,
यदु अवधूत इतिहासे एकाकार टीकायाम सप्तमोध्यायः॥ ७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अष्टम अध्याय

हे ओंकाररूप सद्गुरु! तुम्हें प्रणाम! तुम एक बहुत बड़े ज्योतिषी हो। तुम जीव का तथा चिद्ब्रह्म का भविष्य देखकर 'ओं पुण्या' (मैं प्रणवरूप पुण्यस्वरूप हूँ) इस मंत्र से जीव-ब्रह्म का विवाह कराते हो। दुल्हा-दुल्हन का विवाह तो अनेक लोग देखते हैं, किन्तु हे गुरुराजा! स्वयं से स्वयं का विवाह करा देने का तुम्हारा कौशल अत्यन्त अलौकिक है और विवाह कराने का तुम्हारा कौशल कुछ ऐसा है कि तुम पाँच पंचों की झंझट पाले बिना, काल की दृष्टि से बचाकर आत्मबोध की स्थापना करते हो। चारों पुरुषार्थों का लड्डू तथा पापड़ आदि से समर्पण कर अहंभाव को न्योछावर कर देते हो। साधन चतुष्टय का मधुपर्क कर जीव भाव का पिण्ड सहज अर्पण कर देते हो। विषय सुख जो पीछे छूटता है वही पैर का पाँवड़ा बन जाता है और दोनों ओर खड़े होकर सावधान कहते हो यही तुम्हारा सच्चा उपदेश है। विषय का व्यवधान यही सच्चा अंतरपट है जो सहज समाधि से दूर होता है और शब्द स्तब्ध होकर चारों ओर शान्ति हो जाती है। ऐसा यह तुम्हारा मुहूर्त अत्यन्त मंगलकारी होता है। अर्धमात्रा समदृष्टि होने पर ब्रह्मस्वरूप से भेंट होकर ऐक्य भाव की मुट्ठी बँध जाती है। विवाह कराने का तुम्हारा ढंग बिलकुल अनूठा है। वहाँ न कुछ काला है न कुछ सफेद है, न गोरा है न साँवला है। सच तो यह है कि वह आँखों से दिखायी ही नहीं देता। ऐसे स्थान पर विवाह समारोह कराते हो। लेकिन हे गुरुराया! कैसा आश्चर्य है, कैसा चमत्कार है कि दूसरा कोई न दिखायी देते हुए भी एक ओर एक के साथ अकेले ही विवाह कराने वाले तुम एक ही हो। गुरु समझ कर तुम्हें बाहर प्रणाम करने जाता हूँ तो अन्तर की आत्मा भी तुम ही हो। भीतर या बाहर, सर्वत्र तुम ही भरे दिखायी देते हो। तुम्हारा 'तूपन' देखने जाओ तो मेरा 'मैं पन' नष्ट हो जाता है। हे गुरुनाथ! ऐसा करते हुए भी आप मुझसे ग्रन्थ रचना करवाते हैं। सातवें अध्याय के अन्त में अवधूत ने यदु को कपोत की कथा सुनायी। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक, पृथ्वी से लेकर कपोत तक अत्यन्त श्रेष्ठ आठ गुरुओं के बारे में बताया। आत्मबोध से ही गुरुओं में श्रेष्ठत्व आता है। अब शेष बच रहे गुरुओं के लक्षण भी अवधूत यदु को बताएगा, तो उधर भी ध्यान दें। श्रवण करने से वह बोध स्थिति तुम्हें भी प्राप्त होगी।

ब्राह्मण उवाच

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद्यथादुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः॥ १॥

यदु को श्रवण में आस्था है, यह देखकर ब्राह्मण को बड़ा सन्तोष हुआ। आनन्द के उसी उल्हास में उसने आगे का निरूपण प्रारम्भ किया। उसने कहा, हे राजा! ध्यानपूर्वक सुनो! विषय का सुख स्वर्ग में तथा नरक में समान रहता है इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। उर्वशी का भोग करते समय स्वर्ग में इन्द्र को जो सुख प्राप्त होता है वही सुख विष्टा में विचर रहे सूअर को अपनी मादा का भोग करते समय मालूम होता है। इसी कारण से साधुजन दोनों जगह के भोग में मन नहीं लगाते। जिस प्रकार कोई प्रेत को आलिंगन नहीं देता उसी प्रकार साधु पुरुष विषय को स्पर्श नहीं करते। जीवित सर्प को हाथ में लेने की इच्छा किसी भी प्राणी को नहीं होती, उसी प्रकार साधुपुरुष मन में कभी विषय की आसक्ति नहीं रखते। जिस प्रकार बिना निमंत्रण दिये ही प्राणी के हिस्से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में दु:ख आता है उसी प्रकार बिना इच्छा किये ही अदृश्य प्राणी को बलात्कार से इन्द्रिय सुख भोगने को बाध्य करता है। कोई भी दु:ख भोगना नहीं चाहता किन्तु भाग्य जिस प्रकार बिना माँगे दु:ख देता है, उसी प्रकार वह सुख भी उसे भोगने को बाध्य करता है। ऐसा होते हुए भी लोग उसके लिये प्रयास करते ही हैं जिससे सारे जीवन का विनाश होता है। इसलिये विषय की आस्था छोड़ परमार्थ के लिये भजन करना चाहिये। लेकिन तुम कहोगे कि यदि परमार्थ के चक्कर में पड़ें तो यह देह बिना आहार के नहीं रह पायेगा। तो उसी का अनुभव लेने के लिये मैंने अजगर को गुरु बना लिया।

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेववा।
यद्दच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रिय: ॥ २ ॥

अजगर बिना कुछ प्रयास किये सहज ही जो आहार मिलता है उसका सेवन करता है। वह घबरा कर धीरज नहीं खोता। उसका निश्चय पक्का रहता है। स्वभावत: वह मुँह खोलता है और जो भी वस्तु मुँह में सरलता से आती है—भले ही वह सरस हो या नीरस हो, उसे सन्तोषपूर्वक ग्रहण करता है। यही बात योगियों की है। वे सर्वदा निजात्मस्थिति में ही तल्लीन रहते हैं। वे रस के प्रति कोई आसक्ति न रखते हुए जो भी सहज रूप से मिल जाता है उसे ग्रहण करते हैं। योगी क्या सेवन करते हैं इसका पता रसना को भी नही चलता। रसना की जानकारी के बिना जो आहार लिया जाता है वह स्वात्म दृष्टि से लिया जाता है। खट्टा, तीता आदि स्वाद वह जानता है लेकिन वह सब कुछ एक ही स्वाद से—ब्रह्मरस भाव से ग्रहण करता है। वह सरस, नीरस ये भाव नहीं जानता, आत्म सुख के माधुर्य से ही उसे स्वादिष्ट बना लेता है। मुँह खोलने पर यदि उसमें हवा भी भर जाय तो वह अजगर का आहार बन जाता है। उसी से उसके शरीर का पोषण होता है। वही स्थिति योगियों की भी रहती है। वे वायुभक्षण करके भी सुखी रहते हैं। आहार के लिये वे दूसरों के आगे याचना नहीं करते। कम, अधिक, सरस, नीरस यह भावना ही उनमें नहीं होती। स्वभाव से ही, जो भी मुँह में आकर गिरता है उसे वे शान्त चित्त से सेवन करते हैं।

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रम:।
यदि नोपनमेद्ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥ ३ ॥

अजगर को यदि लम्बे समय तक आहार न मिले तो भी उसकी स्थिरता नहीं टलती, वह अपने ही स्थान पर वैसे ही लोटता रहता है। उसी प्रकार योगी को भी यदि बहुत समय तक आहार न मिले तो वह लम्बा आसन लगाकर निद्रा के बिना भी सोया रहता है। निद्रा तो उसे आती ही नहीं लेकिन वह दिन-रात निजसुख की तंद्रा में ही पड़ा रहता है। वह कोई बाह्य उपाय नहीं करता, भाग्य से जो मिलता है वही उसका भक्ष्य बन जाता है। जिस समय जो कुछ भाग्य में होगा वह सब उस समय मिलेगा ही, इस निश्चय से उसका ज्ञान मलीन नहीं होता। निजात्मबोध के कारण उसका निश्चय नहीं टलता।

ओज:सहोबलयुतं बिभ्रद्देहमकर्मकम्।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि ॥ ४ ॥

अजगर की शक्ति उद्दंड तथा देह और पराक्रम प्रचण्ड रहता है वह प्रयास के नाम पर कुछ भी नहीं करता। केवल मुँह खोलकर पड़ा रहता है। योगी भी उसी प्रकार का होता है, उसमें शरीर सामर्थ्य होता है उसकी बुद्धि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी कुशल रहती है और इन्द्रिय बल भी पर्याप्त रहता है लेकिन वह आहार की कल्पना का स्पर्श भी मन को नहीं होने देता। काया और वाचा को वह उसके स्वभाव से विचलित नहीं होने देता। वह स्वप्न और जागृति से वंचित रहता है, सुषुप्ति का त्याग कर सोता है तथा शून्य का विस्तार समाप्त कर स्वरूपानंद में शयन करता है।

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्यय।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यस्तिमितोद इवार्णव॥ ५॥

अब, मैंने जिस समुद्र को गुरु बनाया उसके लक्षण सुनो। उसमें गांभीर्य, परिपूर्णता तथा निर्मलता आदि गुण होते हैं। समुद्र हमेशा प्रसन्न रहता है उसी प्रकार योगी भी सदा प्रसन्नमुख रहता है। आत्मबोध के कारण उसमें व्याकुलता नहीं होती। नदियों के गन्दे जल के मिलने से भी वह मैला नहीं होता, वह निर्मल ही रहता है। उसी प्रकार योगी भी सदासर्वदा, नाना प्रकार के कर्म करते हुए भी सदा शान्त एवं अलिप्त रहता है। जिस प्रकार समुद्र जल में गम्भीर रहता है, उसी प्रकार योगी स्वभाव के अनुसार स्वात्मानुभव से गम्भीर रहता है। जिस प्रकार वह सीमा का उल्लंघन नहीं करता उसी प्रकार योगीश्वर गुरु आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। समुद्र में हर किसी को घुसने का साहस नहीं होता। वह सबको जल और लहरों के नीचे डुबा देता है। उसी प्रकार जो योगी के पास जाता है, उसके जन्म-मरण रूप संसार को योगी डुबो देता है। समुद्र में घुसना और बाहर निकलना इसे जो जानता है वही समुद्र में स्नान कर सकता है। दूसरेां को वह अपने कोलाहल से व्याकुल कर छोड़ता है। उसी प्रकार सबका योगियों का साथ नहीं हो सकता। वे स्वयं अपने ही से भयभीत रहते हैं। भाविक लोग ही उनके साथ संगत कर सकते हैं। बड़ा धनवान भी जिस प्रकार किसी भी उपाय से समुद्र का उल्लंघन नहीं कर सकता उसी प्रकार देवता, राजा, मनुष्य अथवा किन्नर भी योगीश्वर का उल्लंघन नहीं कर सकते। समुद्र में मैल नहीं रह पाता, अपनी लहरों से वह उसे किनारे पर फेंक देता है। उसी प्रकार योगियों में भी ध्यान के कारण मैल नहीं रह पाता। ताम्रपर्णी नदी समुद्र से जा मिलती है तो वह मोतियों की खान बन जाती है उसी प्रकार जब श्रद्धा की योगियों से भेंट होती है तो वह भी मोतियों की खान बन जाती है। जो समुद्र में गोता लगाता है उसे नाना प्रकार के रत्न प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार जो योगी के साथ समरस होकर रहता है उसके चरणों पर ज्ञानरत्नों की राशि आ जाती है। जिस प्रकार समुद्र की कोई सीमा नहीं होती, उसी प्रकार वेद और शास्त्र भी योगियों को सीमा में नहीं बाँध सकते। समुद्र का पानी जिस प्रकार प्रवाहरहित, निश्चल रहता है उसी प्रकार योगी भी मृत्युभयरहित होता है तथा निश्चल बनकर रहता है। समुद्र में कभी प्रवाह नहीं होता, वह हमेशा वैसा ही परिपूर्ण रहता है, उसी प्रकार योगी भी जन्म-मरण की बाधा से मुक्त रहता है। समुद्र के लक्षण निश्चित करते-करते योगी में उससे भी अधिक विशेषतायें मालूम हुई। तो अब योगी की महानता बताता हूँ, ध्यान से सुनो। समुद्र का पानी लहरों के नीचे अत्यन्त चंचल रहता है लेकिन योगी भीतर से बिलकुल शान्त रहता है। न व्याकुलता रहती है न विचार रहता है। समुद्र बाह्य रूप से क्षुब्ध दिखायी देता है लेकिन योगी कभी क्षुब्ध नहीं होता। योगी का मन किसी भी प्रकार से विचलित नहीं होता। वह हमेशा योगबल के कारण सावधान रहता है। पौर्णिमा अमावस्या के पर्व में समुद्र में ज्वार आता है, किन्तु योगी सदा स्वरूपानंद से परिपूर्ण रहता है। चन्द्रमा के कारण समुद्र में ज्वार-भाटा आता रहता है लेकिन योगी आत्मानुभव से सदा समभाव रहता है। समुद्र का जल खारा रहता है किन्तु योगीराज वैसा नहीं होता। वह समस्त प्राणिमात्र के लिये मधुर रहता है। उसका बोध भी मधुर तथा सत्य रहता है जिसमें पूर्ण बोध नहीं होता, जिसे निजात्मता का अनुभव नहीं रहता, उसमें अपरिपक्व फल की तरह माधुर्य कहाँ से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आयेगा? सागर के ऊपर मेघवृष्टि होने से वह जीवन व्यर्थ हो जाता है। लेकिन योगी में यह बात नहीं है। उसकी यदि सेवा की जाय तो वह उसे व्यर्थ नहीं जाने देता। योगी यदि थोड़ी भी सेवा ग्रहण करता है तो उतने ही से वह भव्यथा का निवारण करता है। इसलिये मुमुक्षुजनों को सदा हरिभक्तों की सेवा करनी चाहिय।

समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनि।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः॥ ६॥

पर्जन्यकाल में सभी नदियाँ अपार जल लेकर आती हैं लेकिन उससे समुद्र का जलस्तर नहीं बढ़ता। ग्रीष्मऋतु के आते ही नदियों का प्रवाह बन्द हो जाता है लेकिन उससे नदियों का वह स्वामी दुःखी नहीं होता। उसी प्रकार योगी के पास नाना प्रकार की समृद्धियाँ यदि स्वयं भी चलकर आ जाएँ तो उससे उसका अहंकार नहीं बढ़ता। यदि वह समृद्धि चली भी जाए तो उसका अंतःकरण दुःखी नहीं होता। वह सदा नारायणात्मक दृष्टि से सुखानन्द में ही विचरण करता रहता है। अमीर होने पर भी 'समृद्धि' का भाव उसे नहीं छू पाता। यदि वह दरिद्र भी हो जाय तो योगी को दरिद्रता मालूम ही नहीं होती। अमीरी हो या गरीबी, उसके लिये दोनों ही एक समान हैं। उसे प्रपंच की आसक्ति नहीं होती। स्वात्मानुभव से वह तत्वतः नारायण स्वरूप ही हुआ रहता है। प्रपंच का यह बन्धन बहुत कठिन है। इस सम्बन्ध में मैंने पतंगे को गुरु बनाया उसका किस्सा सुनो।

दृष्टवा स्त्रियं देवमायां तद्भवैरजितेन्द्रियः।
प्रलोभितः पतत्यन्धे, तमस्यग्नौ पतङ्गवत्॥ ७॥

'दैती गुणमयी' माया का सगुण-स्वरूप ही स्त्रियाँ हैं। प्राणियों में स्त्री-सुख भोगने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। हावभाव आदि गुणों से तथा चंचल कटाक्ष से वे पुरुष के धैर्यरूपी कवच को तोड़कर हृदयप्रदेश में संचार करती हैं। भीषण कटाक्ष के प्रहार से वे पुरुष का धैर्य नष्ट कर स्त्री रूप पाश में फँसा कर भोगरूपी कारागार में जकड़ देती हैं। स्त्री भोग का सुख केवल दुःख है, इसे ध्यान में रखो। मधुर विष मुँह में डालने पर उसका परिणाम प्राण नाश में ही होगा। दीपक के पास जाकर चिपकने से पतंगा को क्या सुख प्राप्त होता है? जोर-जोर से लिपट कर मृत्यु के मार्ग पर अवश्य ही लग जाते हैं। आगे वाले को मरा हुआ देखते हैं लेकिन पीछे वाले को दीपक का मोह वैसा ही कायम है। उसी प्रकार स्त्री के काम में एक बलि चढ़ता है लेकिन दूसरा उस विषय में आसक्त होता ही है। इस प्रकार विवेकहीन मूर्ख लोग स्त्रीसुख के लिये ललचाते हैं लेकिन उनके संसर्ग से आने वाली मृत्यु नहीं टलती। दीपक के रूप के भुलावे में पतंगा जलकर तेल में गिर पड़ता है उसी प्रकार स्त्रियों की संगति से निश्चय ही 'अंधतम' नामक नरक में पतन होता है।

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥ ८॥

देखो! स्त्रियाँ, सुवर्ण, वस्त्र, अलंकार तथा रत्न ये सारी चीजें माया ने तैयार किये हुए पतन के साधन हैं। एक स्त्री ही पहले नरक में ढकेलती है। सुवर्ण का लोभ तो उससे भी भीषण नरक, है। रत्न और आभूषण भी तत्काल नरकुण्ड में ढकेलते हैं। अनर्थ के ये सारे स्थल एक स्त्री में सिमट गये हैं। ऐसी स्त्री दिखायी देते ही लोग कहीं के नहीं रह जाते। शरीर में पहले ही पिशाच का संचार हुआ रहता है तिस पर दारू पीते ही फिर मनुष्य के नाचने और उन्मत्त होने की पराकाष्टा नहीं रहती। या जिस प्रकार कोई वाचाल व्यर्थ की गप हाँकने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लगे और तिस पर होली का मौसम हो तो जो दुर्गति वाणी की होती है उधर कौन ध्यान देगा? मदिरा तो वैसे भी लोगों के होश उड़ा देती है, तिस पर यदि उसमें कोई मादक पदार्थ मिला दिया जाय तो फिर उसे प्राशन करने पर संभ्रम की कोई सीमा नहीं रह जाती। उसीप्रकार मोह का जो असली रूप है वही स्त्री का स्वरूप है, तिस पर वस्त्र, आभूषण आदि उसे और भी बढाते हैं। काजल, बिन्दी, अलंकार, वस्त्र, तरह-तरह की साड़ियों से स्त्री सुन्दर दिखायी देने लगती है, उसमें माया के विकार फैल जाते हैं। जिन्होंने इन्द्रियों का दमन नहीं किया है उन्हें ही माया का ताप होता है। किन्तु भक्तों के सामने वह त्रिकाल में भी खड़ी नहीं रह सकती। श्रीगोविन्द के प्रति जिसके मन में अत्यन्त भक्ति रहती है, उसकी रक्षा स्वयं कृपानिधि ही करते हैं। अगर पूछोगे कि वे भक्तों की रक्षा किस प्रकार करते हैं तो इसका रहस्य यह है कि मूल रूप से 'आत्मा' में स्त्री-पुरुष यह भेद नहीं है। भगवान ही स्त्री रूप में दिखायी देता है ऐसा आभास देकर वह भक्तों की रक्षा करता है। सुन्दर स्त्री को देखकर जिसकी विवेकदृष्टि नष्ट होती है और जो आसक्ति से उपभोग को गले लगाते हैं वह अनन्त दुःख भोगते हैं। दीपक के रूप में जगमगाहट देखकर पतंगा में उपभोग की लालसा उत्पन्न होती है इसलिये वे दीपक पर झपट्टा मारते हैं और अग्नि में जलकर खाक हो जाते हैं। इस प्रकार माया स्त्री रूप से उपभोग की लालसा से जीवों को भुलावा देती है। जो हरिचरण से विमुख रहते हैं, उनको ही माया भुलावा देती है। फिर मैंने मधुकरी की वृत्ति से भ्रमर को गुरू बनाया। दूसरों को दुःख दिये बिना अपना कार्य पूरा करना होता है। उसके भी लक्षण सुन लो।

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः॥ ९॥

भ्रमर फूल को बिना रौंदे उसमें प्रवेश करता है और अपना काम कर लेता है। वैसे भ्रमर की बुद्धि अच्छी रहती है। यही बात योगियों की है। वह घर-घर जाकर मधुकरी माँग कर अपना निर्वाह करता है। गृहस्थों को कष्ट नहीं देता। समर्थ अथवा दुर्बल ऐसा भेदभाव न कर वह केवल प्राण रक्षा के लिए भिक्षा माँगता है। भ्रमर कमलिनी में घुसकर परिमल पर लुब्ध हो जाता है। सूर्यास्त के समय कमल की फाँक बन्द हो जाती है और वही भ्रमर के लिये बन्धक हो जाती है। जो सूखी हुई लकड़ी में प्रवेश कर जाता है वही कमलदल में फँस जाता है। प्रेमिका कहीं दुःखी न हो जाय इसलिये स्तब्ध रहता है। बाहर निकलने का रास्ता नहीं ढूँढ़ता। उसी प्रकार संन्यासी भी यदि एक ही जगह आसक्त होकर रह जाय तो वही उसके लिये बन्धन हो जाता है। वह विषय के लोभ में लिप्त हो जाता है।

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमाद्द्यात्पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥ १०॥

कितना ही छोटा फूल क्यों न हो लेकिन वहाँ भ्रमर का अनादर नहीं होता। उसमें घुस कर वह परिमल का सेवन करता रहता है। जो पूरी तरह विकसित कमलिनी हैं उनमें घुसकर भी वह उसका सार-अंश ले लेता है। उसी प्रकार योगी भी यथाशास्त्र तथा व्यवस्थित आदि का विचार या छोटे-बड़े तर्क का विचार करते नहीं बैठते। केवल सार-तत्त्व ग्रहण करते हैं। वेदान्त में वर्णित ब्रह्मस्थिति का भी वे समुचित सम्मान करते हैं। उसी प्रकार अन्य स्रोतों आदि में वर्णित ब्रह्मव्युत्पत्ति का भी आदर करते हैं। पण्डितों का वचन मानते हैं, उसी प्रकार यदि कोई साधारण आदमी कोई हित की बात करता है तो उसे भी आदरणीय मानकर उसमें का सार ग्रहण करता है। पति के हृदय में प्रेम उत्पन्न होने के लिये जिस प्रकार कुलवधु सास-ससुर का सम्मान करती है उसी प्रकार उस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रेम को दृष्टि में रखकर उनके नौकर चाकरों को भी आदर देती है। पानी और दूध भले ही मिल जाएँ लेकिन जिस प्रकार राजस उसमें से दूध ही ग्रहण करता है, उसी प्रकार योगी भी विवेकपूर्वक केवल सार अंश ही ग्रहण करता है। समस्त प्राणियों में भगवान के प्रति भक्ति यही मुख्य सारांश है इसे ध्यान में रखना चाहिये। हे महाबाहु! यही निष्ठा जिसके मन में जम जाती है उसे स्वप्न में भी नुकसान नहीं होगा। इस भरे-पूरे संसार में जो सारग्रही होता है वही योगी है। इस प्रकार अवधूत ने यदू को गुरु के लक्षण बताये। अवधूत ने आगे कहा, हे राजा, मैंने दो प्रकार की मक्खियों को अपना गुरु बनाया—एक थी मधुमक्खी और दूसरी थी सादी मक्खी।

सायंतनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिश्रितम्।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न संग्रही॥ ११॥

देखो! घर की मक्खी भले ही चीनी के ढेर पर बैठी रहे लेकिन वह अपने हाथ से मुँह में चीनी डालती है लेकिन उसके पास उसका संग्रह नहीं होता। योगी संन्यासियों का भी यही हाल होता है। भिक्षा में जो भी मिले उसे मुँह में डालना, संग्रह कुछ नहीं करना। हाथ में भिक्षापात्र और एकत्र करने के लिये पेट। इसके अतिरिक्त संग्रह करने के लिये कोई घर या बर्तन नहीं होता।

सायंयनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः।
मक्षिका इव संगृह्णीन् सह तेन विनश्यति॥ १२॥

भिक्षु के पास सुबह तथा शाम के लिये अन्न का संग्रह नहीं होता। संग्रह करने पर उसका विनाश होता है। इसी सम्बन्ध में मैंने मधुमक्खी को गुरु बनाया। कैसे-कैसे कठिन स्थानों पर मधुमक्खी मधु का संग्रह करती है। मधु ले जाने वाले लोग जब आते हैं तो वह संग्रह ही उसके विनाश का कारण होता है। संग्रह के लालच में वे कठिन से कठिन किनारों पर छत्ता लगाती हैं। वैसी जगहों पर भी मधु निकालने वाले लोग पहुँच जाते हैं और छत्ता झाड़ते हैं। उसके साथ ही मक्खियों का ढेर भी नीचे गिर पड़ता है। इस प्रकार संग्रह के फेर में प्राणनाश होता है। संसार की यह रीति देखकर भक्त, भिक्षु, योगी तथा अन्य सज्जनों को संग्रह के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिये। सत्कर्म का आचरण कर धर्म का संग्रह करना चाहिये यह मर्म न समझ अधम लोग धन के लालच में नष्ट हो जाते हैं। द्रव्य विनाश का फल है उसी प्रकार नाश का भी मूलकारण है और विशेष नाश का विस्तीर्ण स्थान स्त्री है। जीवन के विनाश का प्रमुख कारण है कनक और कांता। इनके प्रति जितनी अधिक आसक्ति होती है उतना ही संसार का दुःख भी बढ़ता है। कनक और कांता इनके प्रति जिसके मन में अरुचि है वही जन में जनार्दन है। जिसे आत्मसुख की इच्छा है उसे स्त्रियों का संसर्ग नहीं करना चाहिये। इसीलिये मैंने विशेष रूप से हाथी को गुरु बनाया।

पदाऽपि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि।
स्पृशन्करीव बद्धयेत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥ १३॥

जरा देखो, साठ वर्ष तक जीवित रहने वाले हाथी के सामने मनुष्य की औकात ही क्या है? लेकिन ये हाथी, हथिनी के शरीर संग की लिप्सा के कारण मनुष्य के बन्धन में फँस जाते हैं जो मनुष्य को अपने सामने फटकने नहीं देता वह हाथी स्त्री के कारण मनुष्य का दास बन जाता है। उसके इशारे पर उठता बैठता है और माथे पर अंकुश की मार सहता है। इसलिये जो धर्मनिष्ठ संन्यासी हैं उन्हें यदि संसार पर विजय प्राप्त करनी है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तो स्त्रियों को देखते ही तत्काल भाग जाना चाहिये। न स्त्री का दर्शन करे न उससे भाषण करे। स्त्री पर दृष्टि पड़ते ही पलायन करना चाहिये। भागते-भागते यदि लकड़ी की पुतली भी मार्ग में आ जाय तो बुद्धिमान व्यक्ति को उसका स्पर्श भी नहीं करना चाहिये। निर्जीव स्त्री भी पुरुष को कष्ट दे सकती है। अनिरुद्ध ने उषा को स्वप्न में देखा और चित्ररेखा उसे भगा कर ले गयी। कृष्ण जैसा उसका सखा होते हुए भी बाणासुर ने उसे बाँध कर रखा। उसे छुड़ाने के लिये श्रीहरि दौड़कर आया तो शंकर बीच में आ गये। दोनों में तुमुल युद्ध हुआ। इस प्रकार हरिहर भिड़े हुए थे लेकिन स्वप्न में जिस स्त्री ने बाँध रखा था उससे प्रयत्न करने पर भी वे अनिरुद्ध को नहीं छुड़ा सके। फिर औरों की क्या बात है? देखो जिसे कोई बाँध नहीं सकता उसे भी जब स्वप्न की स्त्री ने बाँध लिया तो फिर यदि यथार्थ की स्त्री हाथ पकड़ ले तो उसका छुटकारा कैसे हो पायेगा? स्वयं को 'पुरुष' कहते हैं लेकिन आखिर स्त्रियों के पैरों पर गिर पड़ते हैं। उन्हें मुक्ति कैसे मिलेगी? स्त्रियों की संगति में पतन ही पतन है।

नाऽधिगच्छेत स्त्रियं प्राज्ञः कहिचिन्मृत्युमात्मानः।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा॥ १४॥

गजराज हथिनी के साथ क्रीड़ा कर रहा था तभी अन्य बलवान हाथियों ने उस पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। उनमें जो प्रबल हाथी था उसने सारी हथिनियों का भोग कर डाला। सारांश यह कि विनाश का मूल कारण स्त्री है। अहिल्या के सम्बन्ध को लकर ही गौतम ने इन्द्र की बदनामी की। भस्मासुर का नाश भी स्त्री संगति के ही कारण हुआ। तिलोत्तमा जैसी स्त्री को देखकर कर सुंद और उपसुंद सगे भाई होते हुए भी, उसकी अभिलाषा के कारण अपना रिश्ता भूल गये और रणभूमि में एक-दूसरे पर प्रहार कर मर गये। आखिर स्त्री भोग नहीं ही हो पाया। स्त्री मृत्यु का कारण है इसे ध्यान में रखो। इसी प्रकार पूर्व कल्प की एक कथा है। अवतारी श्रीकृष्ण को शिशुपाल सदा कष्ट देता था। वह उनकी कांता भगाकर ले गया। सारांश यह कि चाहे देवता हों या मनुष्य हो या पशु ही क्यों न हो लेकिन उसके विनाश का कारण स्त्री संगति ही है। उसी के कारण घर पर आसक्ति होती है। कलह उत्पन्न करने के लिये भी स्त्री ही कारण होती है। वेश्याओं की संगत तो मृत्यु का द्वार है। इसलिये भले ही मृत्यु आ जाय लेकिन वेश्या के साथ समागम नहीं करना चाहिये। अब इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वेश्या के साथ समागम करने से विशेष नाश होता है और अपनी स्त्री से रत होने में बाधकता नहीं है क्योंकि बार-बार स्त्री सेवन करने से काम बढ़ता है और काम के बढ़ने से अधःपतन ही होता है। सारांश यही है कि स्त्री समागम इतना भयंकर है कि यदि भूल से भी स्त्री संग हुआ तो वह नरक में पहुँचा देगा। नरक में जायेगा यह बात निश्चित है। वेश्याएँ तो नरक का ही रूप हैं। एक स्त्री और दूसरा धन ये दोनों इस लोक के भीषण अनर्थ हैं। इसके कारण जीवन का मुख्य उद्देश्य अर्थात आत्मप्राप्ति तो दूर ही रह जाती है, हाँ प्राणघात अवश्य होता है।

न दे यं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद्दुःखसंचितम्।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु॥ १५॥

भाग्यहीन पुरुष न स्वयं खाता है, न धर्म करता है और न घरवालों को ही खाने देता है। मधुमक्खी की तरह संग्रह करता रहता है। मधुमक्खी बड़े प्रयत्न से छत्ता लगाती है और उसमें शहद भरा रहता है। उसे देखकर लोगों की दृष्टि उस पर लगी रहती है कि किस उपाय से वह शहद प्राप्त किया जाय। इस प्रकार बिना किसी की चिन्ता किये लोग छत्ता तोड़ते हैं, बर्तनों में शहद भरते हैं और श्रीमान लोग उसके माधुर्य का सेवन करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बेचारी मक्खियाँ तो शहद खाती नहीं, जो शहद निकालते हैं उनके हाथ शहद से सने रहते हैं और जिन पर लक्ष्मी प्रसन्न रहती हैं वे उसका स्वाद लूटते हैं। उसी प्रकार कंजूस का धन यक्ष की तरह होता है, न दान न धर्म का संरक्षण, चोर मार कर उठा कर ले जाते हैं और चोर को सजा देकर राजा उसे उठा कर ले जाता है। जो कष्ट करके धन संग्रह करते हैं उसका वे उपभोग नहीं कर पाते, वह कोई तीसरा ही ले जाता है। भाग्य की लीला विचित्र है। गृहस्थ आदमी बड़े प्रयत्न से भोजन तैयार करता है और संन्यासी बिना परिश्रम किये उसे खा जाता है। इसलिये भाग्य ही प्रमुख चीज है। इसलिये जो भाग्य के भरोसे रहता है वह संग्रह की लालसा नहीं रखता। आखिर भाग्य का ही सहारा रहता है लेकिन लोग व्यर्थ ही कंजूसी करते हैं।

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम्॥ १६॥

परिश्रमपूर्वक द्रव्य एकत्र कर पुरुष गृहस्थी का सामान तथा नाना प्रकार की चीजें अपने भोग के लिये एकत्र करता है, उसके पकवान तैयार करता है, तभी ऐन वक्त पर कोई अन्नार्थी ब्रह्मचारी अथवा संन्यासी अतिथि बनकर आता है और उस गृहस्थ के पहले ही खाना खाकर चला जाता है। गृहस्थाश्रमी उसकी ओर देखता रह जाता है। जिस प्रकार शहद की मक्खियों को भगा कर शहद पीने वाला शहद पीता है, वैसी ही स्थिति उस गृहस्थ की होती है। तैयार किया हुआ भोजन संन्यासी खा जाते हैं। यदि संन्यासी विन्मुख चला जाय तो सारे पुण्य व्यर्थ चले जाते हैं। यथा समय अतिथि के आ जाने से धर्म की रक्षा होती है। अर्थ संग्रह में क्या दोष है उसका तत्त्व मैंने तुम्हें बताया। अब मैंने 'मृग' को गुरु क्यों बनाया उसका वृत्तांत सुनो।

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित्।
शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात्॥ १७॥

जो दुर्व्यसनियों की वार्ता या वेश्याओं द्वारा गाये गीत चाव से सुनते हैं उसे निश्चय ही बन्धन होता है। एकटक दीपक की ओर देखने वाला मृग घंटानाद सुनकर पागल-सा हो जाता है और उसे सामने कुछ भी नहीं दिखाई देता। अन्त में वह जाल में फँस जाता है। वेश्याओं का गाना सुनकर कौन नहीं मोहित होता? प्रायः सभी मृग की तरह स्वार्थ से मोहित होकर गिर पड़ते हैं। जिसे तपस्वियों का मुकुटमणि कहते हैं तथा जिसकी पहले कभी स्त्री से भेंट नहीं हुई थी वह ऋष्यश्रृंग एकाएक स्त्री गीत के भुलावे में आ गया।

नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम्।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः॥ १८॥

वीणा की तार से निकली हुई मधुर झंकार, वेश्या का गायन तथा नृत्य आदि देखकर पुरुष गले में रस्सी से बँधे हुए बन्दर की तरह स्त्री के वश में हो जाते हैं। हिरनी के गर्भ में जन्म लेने वाला वह जो तपस्वियों में श्रेष्ठ था, जिसने स्त्री का दर्शन या भाषण नहीं सुना था वह ऋष्यश्रृंग स्त्री दर्शन के साथ ही उनके वश में हो गया, स्त्रियों के पीछे दौड़ पड़ा और उनके वचनों पर चलने लगा। जिस प्रकार मदारी का बन्दर नाचता है, उसी प्रकार वह स्त्रियों के साथ नाचने लगा, युवतियों के दर्शन से पागल हो गया, उसके मन में विवेक नाम की कोई चीज ही नहीं रह गयी। वह तप का श्रम भूल गया, पिता विभांडक को भी भूल गया, ब्रह्मचर्य का संकल्प भी भूल गया और स्त्रियों के अनुरोध पर नाचने लगा। संसार में स्त्रियों के जैसा उपसर्ग और कोई नहीं है। स्त्रियों के साथ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विनोद भी ठीक नहीं है। स्त्री संग सभी के लिये दुःखदायी है। वेश्याओं का गीत नहीं सुनना चाहिये, उन्हें बिलकुल वर्जित रखना चाहिये। सच तो यह है कि जहाँ हरिकीर्तन हो रहा हो वहाँ केवल परमार्थ की दृष्टि से भक्तिगीत सुनना चाहिये। जिसमें रामनाम का वर्णन नहीं है ऐसे ग्राम्यगीत कभी नहीं सुनिये चाहिये। कौतूहल के लिए भी उधर नहीं झाँकना चाहिये। अब 'मछली' को गुरु बनाने के भी लक्षण सुनो। वह केवल रसना की लोलुपता से अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है।

जिह्वयाऽतिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु षडिशैयथा॥ १९॥

अर्थसंग्रह से जीवन का नाश, स्त्रियों की संगत से अधःपतन तथा रसना की लोलुपता से मृत्यु, इस प्रकार जीव को तीन प्रकार के आघात होते हैं। जिसका जिह्वालौल्य प्रबल है, उसके हिस्से में अनर्थ ही आता है। रसना अनेक दुःखों का भोग कराती है। रसना की लालसा अर्थात भक्ष्य का माधुर्य जबर्दस्त है, उसके लालच में मछली बंसी में लगाया हुआ भोजन खाती है लेकिन तभी गले में काँटा धँसता है और प्राणपखेरू उड़ जाते हैं। वैसे देखने पर विषयरस उत्तम मालूम होता है लेकिन उसमें गुप्त रोग की फाँस छिपी रहती है। जो आसक्ति से उस रस का सेवन करते हैं वे भवरोग से छटपटाते रहते हैं। काँटे में फँसी हुई मछली जिस प्रकार जीवन और मृत्यु के बीच छटपटाती रहती है उसी प्रकार रोग से ग्रस्त मनुष्य दुःख भोगता रहता है। जिसमें रसना लोलुपता का दोष है उसे सुबुद्धि कहाँ से आयेगी? केवल विषयों के संसर्ग के कारण वह अनन्त जन्म-मरण का दुःख भोगता रहता है। केवल विषय रस का सेवन करने के कारण उसे करोड़ों जन्म भोगने पड़ते हैं। अगर ऐसा भोग न भोगना पड़े तो हे राजा! एक उदारहण सुनाता हूँ। इन्द्रियों की सजीवता सर्वथा रसना पर निर्भर रहती है। रसना के द्वारा रसग्रहण करने से इन्द्रियों में उन्मतत्ता आती है। जब इन्द्रियों की शक्ति प्रबल हो जाती है तो वह अधःपतन कराती है। यदि रसना पर विजय नहीं प्राप्त की तो भवव्यथा से कभी छुटकारा नहीं मिल पाएगा। आहार के बिना शरीर नहीं चलता, लेकिन उसका सेवन करने से इन्द्रिय प्रबल हो जाते हैं, इसलिये रसना को जीतने का मूल कारण मालूम होने से सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं।

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥ २०॥

देखो! साधक आहार वर्ज्य कर इन्द्रियों को जीतने की ज्यों-ज्यों कोशिश करता है, त्यों-त्यों रसना और भी बढ़ जाती है। वह कम नहीं होती। इन्द्रियों में आहार से ही बल आता है। निराहार से जैसे-जैसे वे इन्द्रिय व्याकुल हो जाते हैं वैसे-वैसे रसना और भी अधिक बलवती हो जाती है। रसना का जोर निराहार से घटता नहीं, अपितु बढ़ जाता है।

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥ २१॥

कहते हैं कि उपवास से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है, किन्तु यह बात मिथ्या है क्योंकि अन्नग्रहण करने पर वे पुनः बलशाली हो जाती हैं और अपने-अपने कर्मस्थल पर जागृत हो जाती हैं। जब तक रसना को नहीं जीता तब तक 'जितेन्द्रिय' कहना मिथ्या है। जब विषयचैतन्य और इन्द्रियचैतन्य में ऐक्य हो जाता है, तभी रसना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पर विजय प्राप्त हुई ऐसा समझना चाहिये। समस्त मधुर पदार्थों में जो मधुर है उस पर जिसने विजय प्राप्त कर ली उसी के वश में रसना रहती है। उसे रस-अपचन की बाधा नहीं होती। रसना विजयी का अभियान ब्रह्मसायुज्यता में स्थान पाता है। वही परमानन्द का सुख भोगता है।

पिङ्गला नाम वेश्याऽऽसीद् विदेहनगरे पुरा।
तस्या मे शिक्षितं किंचिन्निबोध नृपनन्दन॥ २२॥

अवधूत कहते हैं—हे राजा! देखो, मैंने एक वेश्या को गुरु बनाया। हे चतुर! उससे मैंने जो बातें सीखीं, उन्हें सुन लो। किसी समय जनक राजा की नगरी में 'पिंगला' नाम की वेश्या रहती थी। उसकी आशा निराशा में बदलने पर उसमें तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ।

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं संकेत उपनेष्यती।
अभूत् काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम्॥ २३॥

वह स्वच्छन्द विचरण करती थी। शाम को नाना प्रकार के शृंगारों से अलंकृत होकर वह दरवाजे पर खड़ी रहती थी। रूप तो उत्तम था ही, तिस पर मनोरम शृंगार किया हुआ। इस प्रकार वह सज-धज कर उत्तम पुरुष की बाट जोह रही थी।

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान् पुरुषर्षभ।
ताञ्छुल्कदान् वित्तवतः कान्तान् मेनेऽर्थकामुका॥ २४॥

गुणी, रूपवान तथा धनवान होने के साथ-साथ कामशास्त्र में भी निपुण तथा धन से सम्पन्न करने वाले पुरुष की वह प्रतीक्षा कर रही थी। हे पुरुषश्रेष्ठ, सुनो! राह में किसी पुरुष को आते देख वह अपने नेत्रकटाक्ष तथा शृंगाराभिनय से उसे इशारा करती थी।

आगतेष्वपयातेषु सा संकेतोपजीविनी।
अप्यन्यो वित्तवान् कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः॥ २५॥

किसी के ऊपर कंकड़ फेंकती, तो किसी को कहती, "महाराज! पान तो खाकर जाइये। राह चलने वालों को आँख मारती तो किसी को देखकर व्यर्थ ही लज्जा का अभिनय करती। मन की योजना को पूरा करने के लिये वह उपर्युक्त अनेक प्रकार के संकेत किया करती थी। लेकिन उधर से जाने वाले कामकाजी लोग उसकी ओर नहीं देखते थे। ऐसे लोगों को वह 'दरिद्री, दुर्बल' कहकर निन्दा करती थी, अब कोई तो धन देने वाला नौजवान आये और मुझे स्वीकार करेगा कह कर अपने मन को सांत्वना देने लगी।"

एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती।
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत॥ २६॥

इस प्रकार निराशा से भरी, उद्वेग के कारण नींद से भी वंचित हुई, दरवाजे के पास खड़ी पुरुषभोग की इच्छा से व्याकुल। घर के अन्दर जाती, दो चार कदम चलकर पुनः वापस चली आती। इस प्रकार भीतर-बाहर करते-करते आधी रात बीत गयी। पुरुष के आने का समय बीत चला, रात समाप्त हो चली। लोग निद्रा में लीन। लेकिन उस समय पिंगला व्यथित होकर पड़ी थी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः॥ २७॥

आखिर आशा की आर्द्रता समाप्त हुई, होंठ सूखने लगे, गला सूख गया तथा मुखकमल निस्तेज होने लगा। चिन्ता बढ़ने लगी। हाथ में द्रव्य नहीं आया इसलिये भीतर हालत से दीन हीन हो गयी। वैराग्य से चिन्ता बढ़ी और वही उसके सुख स्वार्थ का कारण बनी।

तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम।
निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः॥ २८॥

न ह्यङ्गाजातनिर्वेद देहबन्धं जिहासति।
यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप॥ २९॥

जरा देखो, उसमें वैराग्य किस तरह आया। जो विषय का चिन्तन कर रही थी वही उससे ऊब गयी। सारांश यह कि वैराग्य आशा को तोड़ता है। उस वैराग्य के कारण पिंगला ने विवेकपूर्ण गीत गाया, हे राजा! विवेक सागर! जिसकी बुद्धि में वैराग्य नहीं है उसे जन्म-मरण की व्याधि पग-पग पर बाधक होती है। जिसे अनुताप नहीं होता, जिसके अंतःकरण में विवेक उत्पन्न नहीं होता, वह संसार का क्रीतदास है, वह आशा की डोर से बँधा रहता है। उसके पैर में मोह ममता से कसी हुई देहबुद्धि की बेड़ी पड़ी रहती है। वह रात-दिन विषय का अनाज पीसता रहता है। क्षणभर का भी विश्राम नहीं रहता। जीर्णशीर्ण कथरी में लिपटा हुआ खाट पर पड़ा रहता है। उसके विवेक की आँखें फूटी रहती हैं। उसे विधियुक्त मार्ग नहीं दिखाई देता। ऐसे लोग इधर-उधर भटकते रहते हैं और घबराकर अन्धे कुएँ में गिर पड़ते हैं। वहाँ से ऊपर आने के लिये उन्हें रास्ता नहीं दिखाई देता। सच तो यह है कि काया, वाचा तथा मन से उन्हें बाहर निकलने की इच्छा ही नहीं होती। इतने में घने बालों वाला बिच्छू डंक मारता है। उसका विष शरीर में जोर मारने लगता है। फिर अन्दर से निंदारूपी कराह उठने लगती है। द्रव्यनाश की आग तथा द्वेष की गुर्राहट शुरू होती है। वह अहंकार की अंगड़ाई लेने लगता है और मोह की उबासियाँ आने लगती हैं। फिर भी यह विषय का अनाज तीव्रता से पीसता रहता है और गृहस्थी की सेज पर लोटता रहता है। इस प्रकार बेचारा अवैराग्य के कारण देह के कैदखाने में फँसकर अनन्त दुःख भोगता हुआ रसातल तक पहुँच जाता है। जरा देखो, सभी वर्णों में नीच, निकृष्ट तथा अत्यन्त निन्दनीय कर्म करने वाली उस वेश्या के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने देह बन्धन तोड़ दिया। जिससे देहबन्धन टूट सके ऐसी ही बातें उस वेश्या ने कही। हे चक्रवर्त्ती राजा! उस पिंगला में किस प्रकार विरक्ति हुई उसे सुनो।

पिंगलोवाच

अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः।
या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा॥ ३०॥

पिंगला ने कहा—सचमुच, मैंने व्यर्थ ही माया का विस्तार किया था। मेरी मूर्खता का अवलोकन करने से विचार कुंठित हो जाता है। मेरे मन की कोई मर्यादा ही नहीं थी। नीच पुरुष के साथ रत होकर उसमें आनन्द मानने में मैंने अपने भ्रम को शिखर पर चढ़ा दिया। स्त्री को यदि पुरुष चाहिये लेकिन मैं निरन्तर नीच पुरुष के साथ रत रही, यही मेरी पहली मूर्खता थी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय।
अकामदं दुःखभयादिशोकमोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा॥ ३१॥

संत अर्थात शाश्वत पुरुष का लाभ अत्यन्त निकट होते हुए भी, मुझे विषयासक्ति के कारण मालूम नहीं हुआ। उसके साथ रत होने पर तत्काल कामनिवृत्ति होती है। काम की निवृत्ति कर जो अपार शाश्वत सुख प्रदान करता है, वही वित्तदाता भी होता है। उसका दान अलौकिक होता है। प्रेमरति से सन्तुष्ट होकर वह निजात्मपद के साथ सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रदान करता है और वह पुरुष तथा स्त्री दोनों को ही रममाण कर सकता है। वही एक सबका रमण अर्थात पति है। ऐसे कांत को त्याग कर मैंने कितनी बड़ी भूल की। निरन्तर कामप्राप्ति के लिये ऐसे पुरुष को भज रही थी जो काम पूर्ण नहीं कर सकता। जो स्वयं अपना ही काम पूर्ण नहीं कर सकता वह मुझे कैसे निष्काम करेगा? ऐसों की संगति से मैंने मिथ्या मोह तथा अत्यन्त दुःख अवश्य प्राप्त किया। वे मुझे सुख तो नहीं ही दे सकते थे, उल्टे उन्होंने मुझे दुःख ही दिया।

अहो मयाऽऽत्मा परितापितो वृथा सांकेत्यवृत्त्याऽतिविगर्ह्यवार्तया।
स्त्रैणान्नराद् यार्थतृषोऽनुशोच्यात् क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती॥ ३२॥

जार पुरुष के साथ मैं जिस सुख की इच्छा करती थी वह मेरी मूर्खता के कारण ही। व्यर्थ ही मैंने संताप कर लिया। मैंने स्वयं ही अपने को दुःखी कर लिया। स्त्री के अधीन रहने वाले पुरुष नराधम होते हैं। वेश्यागामी पुरुष तो उनसे भी अधम होते हैं। ऐसे ही लोगों की संगत मैं चाह रही थी। अत्यन्त निंदनीय जो वृत्तियाँ हैं वे सब मुझे टालना चाहती होंगी। (हरहर!) भोगेन्द्रिय पर उदरनिर्वाह करना। व्यभिचार व्यवसाय की जाति तो निकृष्ट है ही। जो कोई थोड़ा-सा भी धन देता है उसकी जाति भी नहीं देखी जाती। इससे अधिक लज्जास्पद स्थिति क्या होगी? मेरे जीने को धिःकार है। जिस पुरुष को देह बेचा वह भी अत्यन्त दीन, हीन। उस पुरुष के लक्षणों का क्या वर्णन किया जाय? सभी गुणों में शून्य। कंजूसी के कारण पूरा पैसा नहीं दे सकता। काम भी पूरा नहीं करता, प्रेम का तो नामोनिशान भी नहीं। इतना ही नहीं बल्कि वह बाद में मुँह भी नहीं दिखाता। ऐसे लोगों से सुख की आशा करने से दुःख अवश्य ही बढ़ जाता है। उसे आग लगे। उसका मुँह भी नहीं देखना चाहिये। देखने से कै होने लगती है। सारांश, उस पुरुष की स्थिति का स्मरण होते ही मन को घिन होने लगती है। बस हो गयी वह संगत। मन उससे पूरी तरह ऊब गया।

यदस्थिभिर्न्यितवंशवंश्यस्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम्।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद् विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या॥ ३३॥

यह मनुष्य देहरूपी घर बड़ा कठिन है। इसकी आड़ी-टेढ़ी लकड़ियाँ केवल हड्डियाँ हैं, दोनों ओर हड्डियों की बनी मेढ़ है और उस पर गीली चमड़ी चढ़ी हुई है। उस पर रोमावलियों की कीलें लगी हुई हैं। अग्र भाग पर नखों की कोंपल से झरी बन्द कर दी गयी है। अस्थि, मांस, चमड़ी आदि की चौखट बना कर स्वाद लेने के लिये लाल चमड़े की जीभ आगे ही तैयार करके रखी हुई है। वायु भीतर-बाहर आ जा सके इसलिये प्राण, अपान के झरोखे तैयार किये गये हैं तथा ऊपर हिलने-डुलने वाले शिखर पर केशरूप कोंपल लगा दिये गये हैं। भीतर की खाली जगह को भर कर उसे नौ नाड़ियों से कसकर बाँध दिया है। इसमें नित्य नये मलमूत्र का ढेर एकत्र होता रहता है। अन्दर की खाली जगह में कितनी दुर्गन्ध भरी हुई है। नवद्वारों से दिन रात उसी का प्रवाह चलता रहता है। नालियाँ निरन्तर गन्दगी से बहती देख मनुष्य ऊब जाता है। रात-दिन उन्हें पानी से धोने पर भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वे साफ नहीं होतीं। इसकी बात करते ही पेट में जाने कैसी खलबली मच जाती है और उल्टी हो जाती है और मैं अभागन ऐसे शरीर के भुलावे में आ गयी थी। मैंने अपना विवेक खो दिया था। ऐसे इस हाड़ मांस के लोथड़े का तथा विष्ठा मूत्र के खजाने का मैं आलिंगन कर रही थी। आग लगे ऐसे शरीर को। पता नहीं क्यों मैं उससे ऊबती भी नहीं थी।

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात् काममच्युतात्॥ ३४॥

इस जनक नगरी में जन्म लेने वाली मैं अकेली मूर्ख थी। हृदयस्थ श्रीहरि को छोड़कर नीच पुरुष के साथ व्यभिचार किया। रात दिन मैंने ऐसे कितने पुरुषों का उपभोग किया उनकी कोई गिनती नहीं है। जब तक ईश्वर के प्रति प्रेम नहीं उत्पन्न होता तब तक वास्तविक सुख मिल ही नहीं सकता। जो निकट हृदयस्थ है जो पुरुषों में पुरुषोत्तम तथा अच्युत है, जो वीर्य का स्खलन किये बिना रति करता है और सन्तोष से निजात्मपद देता है, उस अच्युत ने जिसे निजसुख प्रदान किया, उस सुख की अधःपतन नहीं है। ऐसे नारायण को भूल गयी और जिनसे कामप्राप्ति नहीं हो सकती ऐसे लोगों के भुलावे में आ गयी। अकामदायी पुरुष नाशवान होते हैं। ऐसों की संगति से वे दुःख ही देंगे। लेकिन जरा मेरा मन तो देखिये। कितना मूर्ख है। वे उस पर आसक्त थे। अब उस आसक्ति से छुटकारा मिला और अच्युत सुख की, अक्षय हरिसुख की लगन लग गयी। उसका सुख भोगने से हर क्षण उसकी वृद्धि ही होती है।

सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम्।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा॥ ३५॥

जो मेरा हृदयस्थ है, जो मेरा सुख, जो मेरी प्रीति, मेरा प्रियतम अच्युत वही मेरी अंतरात्मा में भरा हुआ है। वही मेरा स्वामी, वही मेरा पति है। उसे ही मैं स्वयं के बदले में खरीद लूँगी और अन्य अश्लील बातों को त्याग कर मैं उसे ही परमानन्द से आलिंगन दूँगी। लक्ष्मी पैरों की दासी हो गयी है। लेकिन मैं उसे हर क्षण, सर्वत्र, सभी रूपों में अकेले ही भोगूँगी।

कियत् प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः॥ ३६॥

हृदयस्थ अच्युत को छोड़ अन्य कर्मदरिद्रों को पति बनाया। जो स्वयं ही भयाक्रांत हैं वे स्त्री को कैसे सुख दे पायेंगे? सभी काल के जबड़े में फँसे हुए हैं। इस लोक में सुख देने वाला कोई भी नहीं दिखायी देता। अस्तु! यह तो मनुष्यों की स्थिति है। अब अगर देवाधिदेव इन्द्र का वरण किया जाय तो एक कल्प में चौदह इन्द्र होते हैं, अर्थात् देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र को पदभ्रष्ट होना पड़ता है। इस प्रकार लोकों में चाहे वह देवता हो या मनुष्य हो सब अपने ही मरण से दुःखी रहते हैं। वे अपनी स्त्री को किस प्रकार सुखी करेंगे? वहाँ मूर्ख ही रममाण होते हैं। मेरा अहोभाग्य कि इसी रात, इसी क्षण मुझे विवेक और वैराग्य इन दोनों की मुझे प्राप्ति हुई मुझ पर लक्ष्मीपति प्रसन्न हो गये।

नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः॥ ३७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस जन्म में मेरे कर्म को देखें तो वह केवल निन्दनीय हैं। पिछले जन्म का कुछ पुण्य था जिससे पुरुषोत्तम मुझ पर प्रसन्न हुआ। लेकिन पूर्व जन्म में मैंने ऐसा क्या किया था? तो जिसका नाम 'पतित पावन' है उस कृपालु जनार्दन की कृपा से ही यह सम्भव हुआ है। नीच, दुर्वासनायुक्त, व्यभिचारी, शरीर बेचकर उदरनिर्वाह करने वाली मुझ जैसी स्त्री में वैराग्य का विचार आने का अर्थ यही है कि भगवान विष्णु मुझ पर प्रसन्न हुए हैं। अगर पूर्वजन्म का कुछ सुकृत होता तो मैंने नीच श्रेणी में जन्म ही नहीं लिया होता। योनिद्वार कर्माचरण करने वाली मैं पूर्ण रूप से पापी हूँ। इस प्रकार मैं पूर्णपतित और वह जगन्नाथ 'पतित पावन' जिसने कृपा करके मुझे विवेकयुक्त वैरागी बनाया। वैराग्य विचार से ही मेरा दुर्वासना का दु:ख समाप्त हुआ और मुझे परमसुख प्राप्त होकर आत्मसुख का लाभ हुआ। जिस पर दु:ख बरसता है उसमें यदि वैराग्य नहीं उत्पन्न होता तो वह भाग्यहीन है। लेकिन भगवान की कृपा कैसी न्यारी है। दु:ख के द्वार से उसने निजसुख ही मेरे पास भेज दिया।

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति॥ ३८॥

शरीर पर जब दु:खरूपी द्वंद्व बरसता है तो अभाग्य, क्रुद्ध हो उठता है। जिनका विवेक अन्धा हो जाता है उसे मंदभाग्य समझना चाहिये। दु:ख पर दृष्टि पड़ते ही जिसे विवेकयुक्त वैराग्य प्राप्त होता है वह हृदयस्थ मोहमाया के बन्धन तोड़कर तत्काल आत्मसुख प्राप्त करता है। पुरुषों के लिये 'विवेकयुक्त वैराग्य' ही परम निधान है। उसके कारण वे सुखी होकर परम संतोष प्राप्त करते हैं। पहले मैं अत्यन्त अभागी थी। किन्तु भगवान ने महापुरुषों का वैराग्य मुझे प्रदान किया और मैं त्रैलोक्य में धन्य हो गयी।

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसंगताः।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम्॥ ३९॥

भगवान ने कृपा करके मुझे निजवैराग्य प्राप्त करा दिया, मेरी दुर्वासना समाप्त की और ग्याम्य विषय नष्ट कर दिये। उसके वे उपकार धारण कर मैं अब उसकी शरण में जा रही हूँ। जो सर्वाधीश और सर्वनियंता है उस श्रीकृष्णनाथ की मैं शरण में हूँ।

सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद् यथालाभेन जीवती।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै॥ ४०॥

शरण में जाने के बाद मैं निश्चय ही इस लोक में सुखी हो जाऊँगी। मन में स्वभावत: सात्विक श्रद्धा है। शरीर निर्वाह की चिन्ता अदृश्य पर सौंप दूँगी। महान ऋषिगण जिस निजात्मा का भोग करते हैं उसी आत्माराम का मैं भोग करूँगी। निष्कामों को जो काम से तृप्त करता है वही परमात्मा मेरा पति है। जब ब्रह्मादिक देवतागण समर्थ हैं तो उन्हें छोड़कर प्रेमपूर्वक भगवद्भजन ही क्यों करें तो इसका उत्तर यह है कि जो मुझ जैसी दुराचारी जीव का उद्धार करता है, वही कृपालु स्वामी श्रीहरि संसार सागर को पार कराने वाला है।

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम्।
ग्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः॥ ४१॥

संसाररूपी गहरे अँधेरे कुएँ में, विषय में अन्धे हुए लोग पड़े हुए हैं। ऊपर आने के लिए उनकी बुद्धि काम ही नहीं करती। कोई कल्पना के जल में डूबे, वासना की लहरों में फँसे, दंभरूपी जलचर उन्हें नोच-नोचकर खा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गये तो कोई तृष्णा की दलदल में धँस गये। कोई दुःख की चट्टान पर टकरा गये और स्वर्ग की सीढ़ी पर रुक गये, कोई वहाँ से भी नीचे गिरे और संसाररूपी जल से दम घुट कर मर गये। जो नास्तिक थे उन्हें सम्पूर्ण जलसमाधि प्राप्त हुई, जो कर्मठ थे उन्होंने कर्मरूपी चट्टान पकड़ ली और जो बेचारे वेदबाह्य थे वह ड्योढ़ी के तल में जाकर गिर पड़े। वहाँ निन्दा के काँटे चुभकर खरोंच लग गयी, उसी प्रकार द्वेष के बड़े-बड़े पत्थरों की टक्कर से शरीर पर प्रहार हुए और हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो गये। काम का उफान प्रचण्ड रहता है। भीतर से उफन कर आता है। उसके कारण वह पानी मटमैला हो जाता है और जीव घबरा उठता है। वहाँ क्रोध रूपी पत्थर टूटते हैं, वे मस्तक पर गिरते ही कुछ भी शेष नहीं रहता और स्त्रीरूपी मगर खींच कर अन्दर ले जाते हैं। वहाँ कालरूपी सर्प एक ही साथ सबको निगल लेता है। भयानक विष से वे घिर जाते हैं और ज्ञान से बिछुड़ जाते हैं। जिस पर सर्प का विष चढ़ जाता है वह जिस प्रकार कड़ुई नीम भी मीठा गुड़ समझ कर खाने लगता है उसी प्रकार गृहस्थों को विषय विष की तरह कड़ुआ होते हुए भी मीठा मालूम होता है और परमार्थ अमृत की तरह मीठा होते हुए भी विषयजनों को वह कड़ुआ मालूम होता है। जो इस कूप के बाहर हैं वे भीतर वालों को नहीं देख पाते और जो कूप के अन्दर हैं वे बाहर वालों को नहीं देख पाते। ऐसे पीड़ित प्राणियों का उद्धार करने का धैर्य हे हृषीकेश, तुम्हारे सिवा अन्य किसी में नहीं है। तो हे कृपालु, मुझसे शीघ्र आ मिलो। इस प्रकार दुःखरूपी कुएँ में गिरे हुए प्राणियों का तारनहार तुम हृदयस्थ नारायण ही हो। तो हे कृष्णनाथ, दौड़कर आओ, दर्शन दो और मेरे संसार दुःख से मुझे उबार लो। यह तत्त्व जानकर मैं अब उसकी शरण में जा रहा हूँ। इससे मेरा संसार दुःख सहज ही दूर हो जायेगा ऐसा मुझे विश्वास है।

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात्।
अप्रमत्त इदं पश्येद् ग्रस्तं कालाहिना जगत्॥ ४२॥

मुझे तत्वतः यह ज्ञात हो चुका है कि समस्त पदार्थों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होने पर मनुष्य स्वयं ही अपना उद्धारकर्ता बन जाता है। दृढ़ वैराग्य वह है कि गहरी नींद में सोये प्राणी के पास यदि रंभा भी आ जाय तो वह जिस प्रकार निर्विकार रहता है, उसी प्रकार विषय शरीर से भिड़ने पर भी उसके इन्द्रियों को विकार नहीं होता। जिस प्रकार कै किये हुए अन्न पर रसना की इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार विषय देखकर मन आसक्त नहीं होता। ऐसा वैराग्य कैसे प्राप्त होगा? यदि विवेक दृष्टि से देखें तो मालूम होगा कि सारे जगत को काल ने ग्रस लिया है, उससे कोई बच नहीं पाया है। बाप, दादा आदि को काल ले गया, पुत्र और नाती पोतों को काल ने निगल लिया। यह प्रत्यक्ष देखकर भी जिसमें वैराग्य उत्पन्न नहीं होता उसका मनुष्य जन्म व्यर्थ गया। इसका नाम ही मृत्युलोक है। स्वर्ग भी इसी प्रकार नाशवान है। उसकी इच्छा करना भी किस काम का? वैराग्य के सिवा सारे जीव भाग्यहीन हो गये हैं।

ब्राह्मण उवाच

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम्।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा॥ ४३॥

अवधूत यदु से कहता है—उस वेश्या का भाग्य महान है कि उसमें उत्तम विवेक के साथ वैराग्य उत्पन्न हुआ। इस प्रकार स्वात्मबुद्धि से विचार कर, जिन परपुरुषों के प्रति दुर्वासनाएँ उसे अनेक प्रकार के ताप दे रही थीं उसे उसने पूरी तरह झटक दिया। जिन उपाधियों के कारण जन्म-मरण की बाढ़ आती है और जीव को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रत्यक्ष दुःख भोगना पड़ता है। उस वेश्या ने वैराग्ययुक्त विवेक के सामर्थ्य से दुर्वासना के मूल को ही नष्ट कर दिया। उसे उससे तत्काल शान्ति प्राप्त हो गयी और वह स्वात्मसुख का आनन्द लेने लगी। नित्यसिद्ध सुख देने वाले हृदयस्थ कांत का आश्रय लेते ही उसके मन के विकल्प नष्ट हो गये और वह हृदयस्थ आत्माराम के साथ एक हो गयी। अनुभव दृष्टि से उसे ऐक्यभाव से आलिंगन देते ही उस सुन्दरी को तत्काल निजसुख प्राप्त हुआ। वाणी से वाणी अवाक हो गयी, लज्जा स्वयं ही लज्जित हो गयी, दृश्य-द्रष्टा यह अवस्था समाप्त हो गयी इससे विषय का मार्ग ही बन्द हो गया। मन आत्मसुख से सुखी हो गया, वह पूर्ण रूप से सुखस्वरूप हो गया। संकल्प और विकल्प उजाड़ हो गये, दोनों ही निजप्रेम में निमग्न हो गये। मिश्री पानी में घुलते ही जल मीठा हो गया, उसी प्रकार वैराग्य के कारण उसकी भगवान से भेंट हो गयी और वह निजानंद में समरस हो गयी। वहाँ हेतु को स्थान नहीं था, भाव-अभाव ठंडे पड़ गये और दोनों का निजप्रेम सीमातीत हो गया। 'मैं' और 'तू' का भाव छोड़कर आलिंगन में समरस हो गये और समाधि की सेज पर उस निजपुरुष के साथ उसने शयन किया। कहीं माया की दृष्टि न लग जाये इसलिये उस सुन्दरी ने असंख्य स्फूर्ति को उस पर न्यौछावर कर दिया। इस प्रकार पिंगला समाधिरूपी शय्या पर निजसुख से सो गयी। यदु से अवधूत कहते हैं—इस प्रकार वैराग्य से वेश्या को शान्ति प्राप्त हुई। वैराग्य ने आशा के बन्धन तोड़ दिये और पिंगला निरिच्छ हो गयी। सारांश निरिच्छ को ही अपार सुख और आनन्द सर्वकाल प्राप्त होता है।

आशा हि परमं दुःख नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥ ४४ ॥

जहाँ आशा है वहाँ आसक्ति है, आशा के पास दीनता और ममता सदा नृत्य करती है। आशा के पास महाशोक है, आशा ही महान दोष कराती है और आशा के ही पास सम्पूर्ण पापों का संग्रह रहता है। आशा के पास सभी अधर्म वास करते हैं, आशा किसी से परहेज नहीं करती, आशा के लिये समय का निर्धारण नहीं रहता, वह सभी कर्मों का नाश कर डालती है। आशा नीच की उपासना कराती है, आशा नीचों की सेवा कराती है, आशा मृत को भी नहीं छोड़ती वह प्रेत के पास भी जाती है। अनन्त में आशा उत्पन्न होते ही उसे लघु वामनरूप प्राप्त हुआ। आशा ने देवताओं को भी दीन-हीन कर छोड़ा फिर दूसरों की क्या बात की जाय? जो जगत का शाश्वत दाता है उसे भी आशा ने भिखारी बना डाला। शत्रु के घर वह याचक बनकर गया तो उसे द्वारपाल बनना पड़ा। जहाँ आशा है वहाँ सुख नहीं है, आशा के पास परम दुःख है, आशा सबके लिये बाधक ही होती है। सारांश, आशा यही मुख्य दोष है। जिसकी आशा पूर्णतया नष्ट होती है वही परमसुख प्राप्त करता है। जो आशा को जीत लेता है, उसी के पास भगवान रहता है। उसकी बात का उल्लंघन भगवान भी नही करता। जो आशारहित है वही बुद्धिमान है, वही विवेकनिधि है—चारों मुक्तियाँ पग-पग पर उसका वन्दन करती हैं। निराशा सभी तीर्थों का तीर्थ है, निराशा ही मुमुक्षुओं का अर्थ है और निराशा के ही पास परमार्थ सदा खड़ा रहता है। नैराश्य के पास वैराग्य सदा दास बनकर रहता है, हृषीकेश दिन-रात आशारहित को देखने की इच्छा करता रहता है। नैराश्य को देखते ही दुःख भाग जाता है, निराशा के पास नित्य सुख रहता है, और निराशा के पास संतोष निर्भय होकर खेलता रहता है। नैराश्यवंत से भेंट करने वैकुण्ठ का राणा दौड़ कर आता है। महादेव भी सहज स्वभाव से नैराश्य की उपासना करता है। निराशा के सन्निकट मनोदुःख नहीं भटकता, जितने भी निहित धर्म हैं वे सब निराशा के पास आकर बैठते हैं, आशारहित निश्चित रूप से सच्चिदानन्द के पद पर विराजमान होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निराशा का नाम लेते ही देवाधिदेव दौड़ कर आता है और उसे आलिंगन देकर नामरूप भी भूल जाता है। उस निराशा का प्यार मिलने के कारण पिंगला ने जारपुरुष की आशा का मूल ही तोड़ दिया। जो आशा पाश का छेदन करे उसे ही समाधि का निजस्थान प्राप्त होता है। ऐसी निजसमाधि प्राप्त कर पिंगला ने शयन किया। सभी वर्णों में नीच और कर्म भी निन्दनीय, लेकिन वह वेश्या इस जगत में पावन हो गयी। इसीलिये उसकी कथा मुझे याद आयी। इसलिये यहाँ वैराग्य के सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है। इस प्रकार कृष्ण ने उद्धव की पीठ पर थपकी मारकर कहा। अवधूत ने यदु से कहा—जो वेदों के अनुसार अधिकारी नहीं थी उस वेश्या के चित्त में विरक्ति आते ही उसे स्वात्मसुख प्राप्त हुआ। इसलिये काया, वाचा तथा मन से नैराश्य की ही उपासना करनी चाहिये, परमार्थ प्राप्ति के लिये इससे अच्छा कोई साधन नहीं है। अन्य जो भी साधन हैं, वे सब निराशा के ही लिये हैं। इसलिये जिसने निराशा को साध लिया उसने परमार्थ लूट लिया। अवधूत करुणा से व्याप्त हो गया, उसने यदु को गले लगा लिया और कहा, ''ऐसी जो यह निराशा अर्थात् विरक्ति है उसे अवश्य साध्य करो।'' एकनाथ जनार्दन की शरण में आया है, उसकी पूर्ण कृपा है, वही आशा के पाश तोड़कर समाधान प्राप्त करायेगा।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकदश स्कंधे,
यदु अवधूत संवादे एकाकार टीकायां अष्टमोध्यायः ॥ ८ ॥
श्री कृष्णार्पणस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नवाँ अध्याय

हे ओंकाररूप सद्गुरो! तुम्हें मेरा प्रणाम। तुम स्वयं अमरावती के इन्द्र हो तथा अनुभव यही तुम्हारा ऐरावत है। वह हाथी स्वानंद में मत्त होकर डोलता रहता है। तुम्हारे हाथ में उपदेशरूपी तीक्ष्ण वज्र है। उससे तुम जड़जीवरूपी पर्वतों के संकल्प विकल्परूपी पंख तोड़कर उनकी पुनः सम्यक रीति से स्थापना करते हो। विवेक यही पारिजातक है जो वैराग्यरूपी पुष्पों से अपनी सुगन्ध बिखेर रहा है। मुमुक्षुरूपी भ्रमर उन पुष्पों में घुसकर चित्तसुखरूपी मकरंद का सेवन करते हैं। उपशम ही बृहस्पति है, जो तुम्हारे विश्वास के कारण तुम्हारे बिलकुल सन्निकट रहता है। तुम भी प्रेमपूर्वक उसका सम्मान करते हो। वही तुम्हारी सभा का प्रमुख सभासद है। तुम्हारे पास कृपारूपी कामधेनुओं के वत्स हैं। श्रद्धारूपी वत्सों की गुहार से उनके स्तनों में दूध उतर आया है और वह बह रहा है जो केवल भगवद्भक्तों के लिये है। तेजस्वी चिन्तामणि के टुकड़े तुम्हारे चारों ओर की भूमि पर बिखरे पड़े रहते हैं लेकिन भक्त उस ओर ध्यान भी नहीं देते। तुम्हारे चरणों के प्रति भक्ति से ही वे सन्तुष्ट रहते हैं। स्वर्ग की अप्सरायें अर्थात् अष्टमहासिद्धि तुम्हारे आगे नाना प्रकार से नृत्य करते हैं किन्तु जो यथार्थ में तुम्हारे दास हैं वे उधर ध्यान भी नहीं देते। जो मन्दबुद्धि पुरुष हैं वे ही उसके भुलावे में आते हैं। सर्वत्र समदृष्टि का तुम्हारा सिंहासन अटल है। उस पर सच्चिदानन्द की जो गद्दी है, वही तुम्हारा सुखासन रहता है। तुम्हारा वह पद प्राप्त करने के लिये यज्ञकर्त्ता पुरुष साधन चतुष्टय जुटाकर 'सोऽहं' (मैं ही परब्रह्म हूँ) इस विश्वास से यज्ञ करते हैं। जो सावधानीपूर्वक मन का होम करते हैं, उन भक्तजनों का भजन देखकर तथा उनके भक्तिभाव से सन्तुष्ट होकर तुम अपना पद उन्हें प्रदान करते हो। उन्हें निजात्मता अर्पण कर अपने पद पर बैठाते हो। मृत्यु के बिना अमर कर, जहाँ पतन नहीं है ऐसे स्थान पर उनकी स्थापना करते हो। इन्द्र ने अहिल्या के साथ व्यभिचार किया और तुमने वृंदा के संग व्यभिचार किया। इन्द्र केवल सहस्रनेत्र हुआ और तुम सर्वांग से सब कुछ देखने वाले हो गये। इन्द्र को दैत्य दीन-हीन कर देते हैं और उसका पद छीन लेते हैं, भक्तजन तुम्हें प्रसन्न कर लेते हैं और तुम्हारा चिद्धन पद छीन लेते हैं। ककुत्स्थ इन्द्र के कन्धे पर बैठा (सूर्यवंशी इक्ष्वाकु राजा के पौत्र ने इन्द्र को वृषभ बनाकर उसके कन्धे पर बैठकर युद्ध में दैत्यों पर विजय प्राप्त की।) तुम्हारे कन्धे पर दुर्वासा बैठा। इन्द्र विष्णु की बुद्धि से चलता है और तुम भक्तों की मर्जी से चलते हो। रावण ने इन्द्र को बंदी बनाया। इन्द्र यज्ञ का हविर्भाग माँगता है और तुमने बलि से भूमिदान माँगा। इन्द्र अग्नि के मुख से सन्तुष्ट होते हैं और तुम विश्वहतोमुख से तृप्त होते हो। हे गुरुराया! इस प्रकार तुम कृपा की साक्षात मूर्ति हो तथा अमर चक्रवर्ती हो। अब तुम्हारी विनती करने की इच्छा होती है तो वहाँ वाणी प्रवेश नहीं कर पाती क्योंकि तुम्हारे ही कारण वाणी प्रकट होती है। सचमुच वाणी के रूप में बोलने वाले तुम ही हो। यह एका (एकनाथ) जनार्दन में एकरूप हो गया। इसलिये वह जनार्दन ही वास्तव में वक्ता है। वही इस प्रकार मुख में तथा शब्दों में प्रवेश कर ग्रन्थ लिखवाने का कार्य करा रहा है। यहाँ अहंकार पूर्णरूप से नष्ट हो गया है। अर्थात् 'मैं' नष्ट हो जाने के कारण अब तुम ही कवि-कर्त्ता बन गये हो। तुम ही अभंगों में अर्थात् कविता में एकनाथ का नाम लिखते हो। एकनाथ का गुरु के चरणों में तादात्म्य भाव हो गया है। उस गुरुचरण के प्रसाद से ही अवधूत ने यदु को बताये हुए गुरु के लक्षणों का यथातथ्य वर्णन किया। पिछले अध्याय में, पिंगला किस प्रकार अकेली रहने पर विवेक और विवेक से उसकी प्रवृत्ति बदलती है और वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आत्मसुख प्राप्त करती है इस आशय का वर्णन है। सारांश यही है कि जैसे-जैसे पुरुष परिग्रह शून्य होता जाता है, वैसे-वैसे आत्मसुख प्राप्त होने लगता है। भाषण का यही सार उस ब्राह्मण ने वर्णन किया।

ब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत् प्रियतमं नृणाम्।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिंचनः॥ १॥

ब्राह्मण ने राजा से कहा, "जिसके पास परिग्रह अर्थात् किसी प्रकार का संग्रह रहता है उसे दिन रात दुःख भोगना पड़ता है। कुटुम्ब परिग्रह की आसक्ति से ही दुर्बुद्धि कपोतपक्षी का नाश हुआ। अकेले रहते हुए भी जो परिग्रह के चक्कर में फँसते हैं वे भी दुःख प्राप्त करते हैं। गृह का परिग्रह करने पर पत्थर और मिट्टी से भी आसक्ति होने लगती है। एक तिनके के लिये भी वे स्नेहसम्बन्ध तोड़ कर कलह के लिये उद्यत हो जाते हैं। लेकिन आश्चर्य की बात है कि विरक्त पुरुष भी परिग्रह के फेर में पड़ जाते हैं। वे अपने शिष्य सम्प्रदाय के पाश में फँस जाते हैं। शास्त्र के ग्रन्थों में रुचि जगती है जिससे मठ बनाने की इच्छा होती है और फिर मठ के शिष्यों को समझाते समझाते बेचारा थक जाता है। फिर वे उस परिवार से ऊब कर सारा परिवार ही छोड़ देते हैं। मठ की आशा जगने पर, उसके लिये शिष्य सम्प्रदाय जुटाना पड़ता है। शिष्य सम्प्रदाय एकत्र होते ही उनमें परस्पर कलह उत्पन्न होता है। इस प्रकार परिग्रह के कारण संन्यासी को विरोध अवश्य होता है। पहले पत्नी और बच्चों का परिग्रह त्याग कर लंगोटी भी त्यागकर निर्वस्त्र हो गया था लेकिन अब खुले बदन ही सिर पर गगरी लेकर मठ के चारों ओर लगे पेड़ों को सींचने लगता है। यदि कोई उस पेड़ का एक पत्ता भी तोड़ता है तो वह आकाश पाताल एक कर देता है। इस प्रकार परिग्रह का संकट अत्यन्त कठिन रहता है। वह सभी को दुःखी कर देता है। शोक से जो भी परिग्रह करो तो वही दुःख और कलह उत्पन्न करता है। यह अनुभव होते हुए भी वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। परिग्रह की स्थिति कुछ ऐसी है। यह सब देखकर ही जो ज्ञाता है वह उसके प्रति आसक्ति सदा के लिये छोड़कर अकिंचन मार्ग पर चल पड़ता है। प्रपंच स्वयं ही क्षणभंगुर है तो फिर उसका परिग्रह शाश्वत कैसे होगा? इस प्रकार सारी बातों का विचार कर वे अकिंचन हो जाते हैं। सभी परिग्रहों में देह परिग्रह अत्यन्त कठिन होता है। उसे मिथ्या समझ कर जो उसे तोड़ देता है वही सच्चा विचारी और ज्ञाता होता है। जिसका देह-परिग्रह मिथ्या हो जाता है वह अनंत सुख के मन्दिर में प्रविष्ट होता है, जहाँ सुख का अन्त नहीं होता, ऐसा निजसुख वह प्राप्त करता है। इतना कहने के बाद अवधूत ने विनोदपूर्वक कहा, "परिग्रह कितना दुःखदायी है इसका वर्णन तुम्हें टिटिहरी को गुरु बनाने के प्रसंग में बताया।" यह सुनते ही राजा को झटका सा लगा। उसने अपने मन में कहा, मैं भी राज-परिग्रह के पाश में फँस गया हूँ और देह परिग्रह में बन्दी हो गया हूँ। इसलिये मुझे अब इनका त्याग करना चाहिए। इस प्रकार राजा के मन में वैराग्य उत्पन्न होकर वह अपना सर्वस्व त्याग करने के लिये तत्पर हो गया। उसे श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त होने के कारण वह आत्मज्ञान के लिये सुपात्र बना। टिटिहरी को गुरु बनाने से परिग्रह का विचार करने के लिये वह ध्यानपूर्वक श्रवण करने लगा।

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निराभिषाः।
तदामिषं परित्यज्य, स सुखं समविन्दत॥ २॥

कोई एक नर टिटिहरा पक्षी था। उसे स्वादिष्ट माँस का एक टुकड़ा मिला। उसे तुरन्त खा लेना चाहिये था लेकिन अपने लोभी स्वभाव के कारण उसने उसे अपने पास जतन करके रख लिया। उस मांस के टुकड़े को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देखकर अनेक टिटिहरी पक्षी जो उससे बलवान भी थे, वे दौड़ कर उसके पास आये। वे अब जोर जबर्दस्ती से मुझसे वह टुकड़ा छीन लेंगे यह जानकर वह भागने लगा। वह दौड़ रहा है यह देख कर सबने उसे घेर लिया। माँस के उस टुकड़े की लालच में वहाँ बहुत बड़ा झगड़ा शुरू हो गया। कोई पंख से प्रहार करने लगे तो कोई नाखून गड़ाने लगे तो कोई मुँह से काटने लगे। इससे उसे अत्यन्त दुःख हुआ। मुँह में माँस का टुकड़ा होने के कारण वह चिल्ला भी नहीं सकता था। वे लोग कितनी ही धक्का-मुक्की कर रहे थे लेकिन उसका मुँह बन्द था। वह मन में विचार करने लगा कि ये मेरे सजातीय बाँधव होते हुए मुझे क्यों पीड़ा दे रहे हैं ? उसने कहा कि मेरे पास का यह माँस का टुकड़ा ही मेरे दुःख का मूल कारण है और यह कहकर उसने तत्काल वह टुकड़ा फेंक दिया और सुखपूर्वक, शान्त होकर बैठ गया। लेकिन जहाँ माँस का वह टुकड़ा गिरा था वहाँ झगड़े के कारण विचित्र सा कोलाहल मच गया। लोग एक-दूसरे का सिर फोड़ने लगे और मुँह नोचने लगे। वह टिटिहरी उस झगड़े को बड़े मजे में देख रही थी। सारांश जहाँ मूल परिग्रह विद्यमान है, वहाँ दुःख रहता है और उसका त्याग करने पर अपार सुख की प्राप्ति होती है। अट्टालिकायें, गोपुर, बाडे, धन, धान्य, वस्त्रालंकार, रत्न, पत्नी, बच्चे आदि जो समुदाय है, वही परिग्रह है। इस सारे परिग्रह का मूल यदि खोजा जाय तो केवल देहबुद्धि, अर्थात् 'देह ही मैं हूँ' यह भावना है। वह भी अभिमान में सनी हुई, अर्थात् सबका मूल कारण अभिमान है। उस अभिमान का ही जब त्याग करेंगे, तभी प्रपंच की जड़ नष्ट होती है। जब जड़ ही टूट जाती है तब वृक्ष भी गिर पड़ता है। अभिमान देहबुद्धि के लिये जीवन की तरह है और देहबुद्धि भी संग से दृढ़तर होती है। इन दोनों की संगति का निवास स्थान परिग्रह है। इस प्रकार ये दोनों परस्पर चिपके रहते हैं। इनका त्याग करने से अपार सुख प्राप्त होता है और उसका संग्रह करने से वह दुःख का कारण बनता है। पहले अभिमान का त्याग करना चाहिये। अभिमान के साथ सब कुछ छोड़ देने से सुख की बिछावन पड़ेगी। उस सुख का वर्णन करने में शब्द लजाकर पीछे हट जाते हैं। हे राजा! अब तुम यदि पूछोगे कि अभिमान छोड़ कर कैसे रहा जाय तो उसके लिये बालक को गुरु बनाने का वृत्तांत सुनाता हूँ।

न मे मानावमानौ स्तो, न चिन्ता गेहपुत्रिणाम्।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत्॥ ३॥

बालक कभी नहीं कहता कि यह मेरा है या यह तेरा है। उसकी समझ में ऊँच-नीच नहीं आता। इसलिये वह सुखपूर्वक मान-अपमान को सहकर रहता है। तीन महीने के बालक को मान-अपमान की समझ नहीं होती, वह अपने ही आनन्द में प्रसन्न रहता है। दूजेपन को वह स्पर्श ही नहीं करता, अपनी ही लीला में मस्त होकर वह खेलता रहता है स्वयं ही अपना मनोरंजन करता है। बच्चे को घरबार की चिन्ता कभी स्पर्श नहीं करती। वह स्वभाव से ही चिन्तामुक्त रहता है। उसे चिन्ता की बात मालूम ही नहीं रहती इसलिये वह स्वयं से ही प्रेम करता है। अपने में ही रममाण रहता है। वही स्थिति योगी की है। उसे प्रपंच का भान नहीं रहता इसलिये उसके लिये मान और अपमान एक समान रहते हैं। चित्र में बने सर्प का दंश किया हुआ जिस प्रकार चित्त के ही अमृत से बच जाता है, उसी प्रकार योगी जन्म-मरण की झंझट से छूट कर द्वंद्व से मुक्त होकर निश्चल बना रहता है। घरबार, पत्नी तथा बच्चों की चिन्ता उसके लिये मिथ्या है, क्योंकि जब उसे अपना देह ही सच्चा मालूम नहीं होता तो पत्नी और बच्चों की चिन्ता क्यों होगी ? यदि संसार का मूल खोजा जाय तो वह है कल्पना। वह कल्पना मन के अधीन रहती है। जब वह मन ही स्वस्वरूप में लीन हो जाता है तो सब कुछ चिद्धन बन जाता है। उस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वरूप की प्राप्ति के कारण वह चिद्धन स्वरूप में क्रीड़ा करता रहता है। वह क्रीड़ा अभिमान रहित तथा दैवयोग से चलती रहती है। जब आत्मसुख की प्राप्ति होकर मन के साथ सारे इन्द्रिय शान्त हो जाते हैं, वृत्तियों में जब अणुमात्र का भी स्फुरण नहीं होता तो उस स्थिति को 'समाधि' कहते हैं। उसी स्वरूप में मन लगाकर जब बाह्य स्फूर्ति का स्फुरण होता है तो उस स्थिति को साधुजन 'व्युत्थान' कहते हैं। ड्योढ़ी पर दीपक रखने से जिस प्रकार दोनों ही ओर की चीजें दिखायी पड़ती हैं, उसी प्रकार व्युत्थान दशा को जीवभावना तथा शिवस्वरूप दोनों का ही ज्ञान रहता है। नमक और पानी जिस प्रकार मिल कर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मस्वरूप में जब मन घुल मिल जाता है तो उसका आत्मस्वरूप से तादात्म्य हो जाता है और वह 'समाधि' तथा 'व्युत्थान' दोनों को लात से झटक देता है। फिर उसे न किसी का मान ही रहता है और न अपमान ही रहता है। फिर घरबार और स्त्री, पुत्रों की चिन्ता कौन करेगा? मन स्वस्वरूप में खो जाने के कारण वह उसे आत्मसंतोष प्राप्त होता है। मन विरहित शरीर व्यापार किसी बच्चे की तरह होते हैं। दैवयोग से ही जो हलचल हो जाय वही पर्याप्त है अर्थात् सदा शून्यवृत्ति से व्यवहार करना।

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द अप्लुतौ।
योविमुग्धा जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः॥ ४॥

चिन्ता की भँवर बहुत बलवान है। उसमें ब्रह्मदेव सरीखे देवतागण भी डूब जाते हैं। लेकिन हे यदुवीर! उसमें से केवल दो ही बच पाते हैं, योगी और बालक! उन दोनों को ही द्वैत का भान नहीं होता, दोनों को ही मान अपमान का ज्ञान नहीं होता, दोनों ही सुख में सुखी रहते हैं और दोनों ही मन विरहित व्यवहार करते हैं। लेकिन एक को बाद में दुःख प्राप्त होता है और दूसरा सुख और दुःख पर विजय प्राप्त कर चुका होता है। एक को मुग्धता का अर्थात् अज्ञान का सुख रहता है तो दूसरा आत्मज्ञान के कारण सुखी रहता है। बालक के मन में सुप्त वासना रहती है, उसी में बाद में अंकुर फूटते हैं जो उसे चक्कर में डाल देते हैं लेकिन योगी की यह बात नहीं होती। वह गुणातीत रहता है। संसार में उसका सुख-दुःख के साथ कोई सम्पर्क नहीं होता। जब देह में जीव विद्यमान रहता है तो वह गुणातीत कैसे रहता है? तो उसका रहस्य भी बताता हूँ। साधक साधुजनों की सेवा करके अपना सत्त्वगुण बढ़ाता रहता है। इस प्रकार सत्त्वगुण बढ़ जाने पर ज्ञान का साधन सिद्ध हो जाता है। उस सिद्ध ज्ञानसाधना के योग से वे मृत्युलोक में मोह ममता का भोग भोगने की समस्या को नष्ट कर देते हैं। सारांश यही कि शुद्ध सत्त्व की वृद्धि से रज और तम का संहार हाता है और सत्त्व एकमेव रह जाता है जो धीरे-धीरे स्वयं ही शान्त हो जाता है। जब तक लकड़ी के बोझ आग में पड़ते रहते हैं तब तक वह बड़े उल्लास से उसे जलाती रहती है लेकिन जब लकड़ी का एक भी टुकड़ा शेष नहीं रहता तब वही अग्नि अपने मूल तेज में विलीन हो जाता है। इसी प्रकार गुणावस्था को जीत कर योगी गुणातीत अवस्था तक पहुँच जाता है। इसलिये कल्पांत होने पर भी उसे संसार की व्यथा नहीं सताती। जो सुख अनन्त है, उसकी प्राप्ति उन्हें आत्मस्वरूप के रूप में ही प्राप्त हुई रहती है। देह में विचरण करते हुए भी वे देहातीत रहते हैं इसलिये चिन्ता का भँवर उनके लिये नहीं है। सचमुच, एक हुए बिना यह अवस्था नहीं प्राप्त होती। इसीलिये, हे राजेश्वर! मैंने कुमारी को गुरु बनाया था, उसकी कथा सुनाता हूँ।

क्वचित् कुमारी त्वात्मानं वृणानान् गृहमागतान्।
स्वयं तानर्हयामास क्वावि यातेषु बन्धुषु॥ ५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक कुमारिका थी। उसे घर में छोड़कर उसके माँ-बाप अपने इष्ट मित्रों के साथ कुलस्वामी की यात्रा पर गये। उन्होंने उस कन्या के विवाह का विचार पहले से ही कर रखा था। वही सम्बन्ध निश्चित करने के लिये वरपक्ष की ओर से श्रेष्ठ ब्राह्मण उनके घर आये। उन्होंने पूछा, ''घर में कौन है?'' लेकिन भावी वधू ने लज्जा के कारण मौन रखा लेकिन उनके स्वागत की पूरी तैयारी की। खिड़की में से ही सबको बैठने के लिये आसन दिये। गंधाक्षत, फूल, पान आदि सामग्री बिना माँगे ही लाकर धर दी। पूजा की सारी सामग्री सामने देखकर ब्राह्मण समझ गये कि वधू घर में अकेली है और उसकी ही यह चातुरी है। उसे उनके मेहमाननवाजी की चिन्ता पड़ गयी। वह मन ही मन बोली, ''मेरी माँ को आने में विलम्ब होगा और घर में तो चावल भी कूटे हुए नहीं हैं। चावल कूटने में तो भोजन में विलम्ब हो जायेगा।''

तेषामभ्यवहारार्थं, शालीन रहसि पार्थिव।
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत्॥ ६॥

ऐसा विचार मन में करते हुए वह चावल कूटने लगी। लेकिन वह काम करते समय उसने एक बहुत बड़ी बुद्धिमानी का कार्य किया। उसकी कथा सुनो। चावल कूटते समय उसके हाथ के कंगन बज उठे। उस नाद को सुनकर उसे स्वयं ही लज्जा होने लगी और वह मन में विचार करने लगी।

सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः।
बभञ्जैकैकशः शङ्खान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत्॥ ७॥

यदि इन कंगनों की खनखनाहट मेहमानों को सुनायी दे गयी तो मुझे अत्यन्त लज्जा होगी क्योंकि वे कहेंगे कि यह नववधू धान कूटने बैठी है। इसलिये कुछ ऐसा करूँ कि मेरे कंगनों की खनखनाहट तो न सुनाई दे लेकिन मेरा धन कूटना चलता रहे। यह सोचकर उसने अपने कंगनों की ओर देखा। कहने को तो वह छोटी लड़की थी लेकिन उसके विचार किसी प्रौढ़ व्यक्ति के थे। उस चतुर लड़की ने उस कंगन का स्वर कम करने का विचार किया। उसने अपने मन से कहा, इस समय यदि कंगन तोड़ दूँ तो वह अपशकुन होगा। मेरे पति को सौ वर्ष का जीवन मिले यह कहकर उसने वे कंगन तोड़े तो नहीं बल्कि वे कंगन उसने हाथ से निकाल कर जतन से रख दिये। दोनों हाथों में केवल दो-दो ही रखे। शेष कंगन वह हाथ में से निकालने लगी। लेकिन उन दो कंगनों की भी आवाज होने लगी, उसे सुनकर उसे पुनः लज्जा होने लगी।

उभयोरप्यभूद् धाषो ह्यवधनन्त्याः स्म शङ्खयोः।
यत्राप्येकंनिरभिददेकस्मान्नाभवद् ध्वनिः॥ ८॥

तब उसने सोचा कि यह भी व्यर्थ है। दोनों एक साथ जहाँ मिलते हों, वहाँ आवाज तो होगी ही, इसलिये दो में से एक-एक कंगन हाथ से निकाल कर वह पुनः धान करने बैठ गयी। अब एक कंगन से किसी भी प्रकार की आवाज नहीं आयी। हे राजवर्य! वही उपदेश मैंने वहाँ से सीखा।

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिंदम।
लाकाननुचरन्नेताँल्लोकतत्त्वविवित्सया॥ ९॥

यदि तुम सोचते हो कि मैंने अपने प्रतिस्पर्धी राजाओं को जीत कर उन्हें अपना दास बना कर रखा है तो तुम्हारा यह गर्व व्यर्थ है क्योंकि काम क्रोधादिक समस्त शत्रुओं को जब तक तुम विधिपूर्वक जीत नहीं लेते तब

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तक मैंने 'अरिमर्दन' किया यह कहना उचित नहीं होगा। काम आदि जो षड्रिपु हैं उन्हें इस उपदेशरूपी शस्त्र से जब तक हतवीर्य नहीं कर देते तब तक संसार में मेरा कोई शत्रु नहीं है यह नहीं कह सकते। अस्तु! अब तुम यदि पूछोगे कि तुम अवधूत लोकविरहित होकर रहते हो और वह कन्या तो घर के भीतर रहने वाली, तो तुम्हें उसका एकान्त का वृत्तांत कैसे मालूम हुआ? तो सुनो, मैंने निर्जन अरण्य में रहकर, गुरुवचन पर विश्वास कर, आसन पर अटल बैठ कर ध्यान से निजत्त्व का आकलन किया है। उस तत्व निश्चय के लिये मैं इस पृथ्वी पर विचरण करता फिरता हूँ और भले ही मैं जन में रहूँ या वन में, लेकिन मैं निजात्मभाव दृढ़ करके ही देखता रहता हूँ। भले ही दृश्य पदार्थ से भेंट हो जाय लेकिन दृश्य दृश्यत्व से नहीं दिखायी देता। इतना ही नहीं, अपितु द्रष्टापन भी नष्ट हो जाता है। ऐसी दृष्टि से मैं भटकता रहता हूँ। इस प्रकार गुरुत्व के गुण स्वीकार कर जब मैं संसार की ओर देख रहा था, तभी मुझमें चैतन्य भाव का स्मरण हुआ। इस आत्मदृष्टि से चराचर सृष्टि में विचरण करते समय मैं एकाएक उसी समय उस लड़की के घर पहुँच गया। हे चतुरा! अपना हेतु सिद्ध करने के लिये उस लड़की ने कंगन की युक्ति का कैसे विचार किया, उसका विचार कर मैंने उससे किस प्रकार का बोध लिया उसे श्रवण करो।

वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत् तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः॥ १०॥

जिस स्थान पर अनेक लोग निवास करते हैं, वहाँ सदा कोलाहल मचा रहता है। इतना ही नहीं, केवल दो ही व्यक्ति जब एकान्त में बैठते हैं तो भी वे अनेक प्रकार की बातें करने लगते हैं। जहाँ बातें करने में ही समय व्यतीत हो जाता है वहाँ अपना कोई स्वार्थ नहीं सध पाता। इसीलिये मैं अकेला ही घूमता रहता हूँ। अकेले होते हुए एकाग्रता सधी तो बहुत बड़ा लाभ होता है और इसीलिये मैंने सचमुच ही बाण बनाने वाले को अपना गुरु बनाया।

मन एकध सयुञ्ज्याज्जिनश्वासो जितासनः।
बैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः॥ ११॥

वैराग्य के बिना अभ्यास शुरू करने से विषयरूपी चोर उठ खड़े होते हैं, काम डाका डालता है और मूलधनरूपी आत्मज्ञान ही नष्ट हो जाता है। इसलिये सबसे पहले विवेकरूपी दीपक से अज्ञानरूपी अन्धकार को पहले नष्ट करना चाहिये और महामुद्रा (भूचरी, खेचरी, अगोचरी तथा अलक्ष्य) के योग से वैराग्य की भी पूरी सहायता लेनी चाहिये। प्राण और अपान की बहुत दिनों से भेंट नहीं हुई थी वह अभ्यास के योग से हो गयी। वह भेंट होते ही पुराने परिचय के चिह्न स्मरण हो आये। तब उन दोनों ने एक-दूसरे को आलिंगन दिया और समसाम्य से दोनों का समाधान हुआ। इस प्रकार आसन पर स्थिर बैठकर प्राण और अपान में ऐक्य उत्पन्न किया और ब्रह्मस्थान में प्रवेश करने के लिये बाँहें सरकायीं। ब्रह्म-गिरी के किले को शमदम से घेर कर इन्द्रियों के अंतर्मुख से प्रहार किया। प्राणापान की सुरंग में पूर्व परिचय होते हुए भी मन को एकाग्र रखकर उनमें ऐक्य स्थापित किया। एकाग्रता के हमले से आगे बढ़ने वाले प्राण और आगे बढ़े और उन्होंने कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा षट्चक्रों का भेदन किया। उन वीरों ने वैराग्य का कवच पहन लिया और पूरी एकाग्रता से उनके हाथ में ध्यानरूपी खड्ग चमकने लगे। उन खड्गों के चमत्कार का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? उन्होंने छोटे-बड़े सभी को साफ कर दिया। उसके सामने कोई सन्देह भी आ जाता तो उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते। उसने आलस को रसातल में भेज

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दिया और निद्रा को अपने वश में कर लिया। इस प्रकार दिन-रात सावधान रहकर योगरूपी किले को जीतने के लिये वे तत्पर रहते हैं। समरांगण के वीर बड़े रणधुरंधर थे। वे अपने ही बल पर आगे कूच करने लगे और सत्रहवीं जीवन कला अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र के अमृत संग्रह (तालाब) को उन्होंने हस्तगत कर लिया। वहाँ प्रचण्ड युद्ध हुआ। युद्ध में कामादिक छह शत्रुओं का संहार हुआ और वह अमोघ तथा दिव्य खड्ग चमकता रहा। इस प्रकार रणांगण में शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सत्रहवीं का जल अर्थात् अमृत प्राशन किया। तभी उस किले में से एकाएक अनुहत का ध्वनि सुनायी देने लगा। यहाँ सोहंवीरों की एकाग्रता होते ही भीतर का सारा भेद हाथ में आ गया। किले की रक्षा करने वाली अहंता मरने-मरने को हो आयी।

यस्मिन् मनो लब्धपदं यदेतच्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून्।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम्॥ १२॥

कामक्रोधादि वीर पुत्र युद्ध में मारे गये इस दुःख से विह्वल होकर अहंता और ममता मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगे। किले की यह वार्त्ता सुनकर उन शमदमादि वीरों में और भी अधिक स्फूर्ति का संचार हुआ और उन्होंने पुनः उस किले को जीतने के लिये आह्वान किया। उन वीरों का धैर्य विलक्षण था। पराक्रम करने में तो वे प्रसिद्ध थे ही। उन्होंने आगे का मार्ग देखा तो उन्हें उसमें विकट संकट दिखायी दिया। वहाँ वासनाओं के दुर्धर घाट थे जिसमें चलना अत्यन्त कठिन था। लेकिन उन्होंने धीरे-धीरे उस घाट पर चढ़कर उसे समतल बना दिया। उसके आगे रजतम की भीषण खाईं दिखायी दी। वह अपार गहरी खाई थी लेकिन उसमें निवृत्ति के पत्थर डालकर उसे बन्द कर दिया। फिर किसी को भी आहट न लगने देकर 'मनकर्णिका वोवरी' नामक आज्ञाचक्र हस्तगत कर ब्रह्मगिरी पर चढ़ने के लिये रस्सी की बनी सीढ़ी लगायी और ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश किया। तब चारों ओर दिग्विजय की जयजयकार सुनायी देने लगी। देखा तो वहाँ कोई भी शत्रु नहीं था, चारों ओर अपना ही राज्य था। तब रजतम की राहें अपने आप समतल होकर वहाँ रामराज्य की मुनादी की गयी। वहाँ कोई भी पराया नहीं दिखा। तब ध्यानरूप खड्ग को मुट्ठी में पकड़ लिया, समदृष्टि से वैराग्य कवच की गाँठ भी कुछ ढीली की। देखने पर ध्येय, ध्यान और ध्याता ही दिखायी नहीं दिये इसलिये ध्यान खड्ग की आवश्यकता ही नहीं रही। सत्त्व ने युद्ध की प्रचण्ड सामग्री एकत्र की थी लेकिन सामने कोई शत्रु नहीं दीख रहा था इसलिए उसे दूर फेंक दिया। तब तन्मयतारूपी छत्र धारण कर वह योगी जीवभाव को त्याग कर सहज समाधान से समसाम्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। फिर शुद्ध सत्त्वगुण बढ़ा और उसने सर्वस्व को त्याग कर तथा प्रणाम कर वह स्वयं आत्मस्वरूप में लीन हो गया। जिस प्रकार मंथन कर उत्पन्न किया हुआ अग्नि उन काष्ठों की होली जलाता है और स्वयं शान्त होता जाता है उसी प्रकार रजतम रहित सत्त्व निकाल लेने पर रज और तम का अपने आप ही विनाश हो जाता है और फिर सत्त्व के संभ्रम का अपने आप विलय हो जाता है। तब जीव का जीवत्व नष्ट हो जाता है, ज्ञातृत्व के साथ ज्ञान का लय हो जाता है, प्रपंच का भी ध्यान नहीं रहता और पूरी तरह चिन्मात्र स्वरूप भर जाता है।

तदैवमात्मम्यवरुद्धचित्तो न वेद किंचिद् बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे॥ १३॥

इस प्रकार परिपूर्ण भरे हुए चिन्मात्र स्वरूप में चित्त को संयत कर लाने से हे राजेन्द्र! उस चित्त को भी वहाँ चैतन्यस्वरूप ही प्राप्त होता है, इसे ध्यान में रखो। तब हृदय में भी चैतन्य धन और बाहर भी परिपूर्ण शुद्ध

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चैतन्य भर जाता है, वहाँ दूसरा कुछ भी नहीं दिखायी देता। वृत्ति पूर्णतयः समर्पित रहती है। ध्येय, ध्याता और ध्यान इन तीनों को एक साथ देखकर मन उल्हास से भर जाता है। इसी को 'सविकल्प समाधि' कहते हैं। उसका निर्गुण रूप में ही उपभोग करते हैं। वहाँ मन पूरी तरह समरस होकर रहता है और वह सुखरूप चिद्धनस्वरूप होकर ही रहता है। ज्ञानीजन ऐसी समाधि को अत्यन्त श्रेष्ठ मानते हैं। ब्रह्म इन्द्रियों के लिये गोचर नहीं है, गुण नष्ट होने पर ही वह आँखों को दिखाई देता है। जो अनुभव लेता है उसी को वह प्रतीत होता है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस पर विवाद करते-करते शास्त्र भी एक दूसरे के विरुद्ध हो गये हैं। वेदों में तो उसे 'नेति', 'नेति' कहा गया है। योगियों के समुदाय तो हाथ टेक कर शान्त बैठ जाते हैं। अनुभवी लोग उसे आत्मज्ञान से जानते हैं। वहाँ हेतु-मात्र दृष्टांत समूल डूब जाते हैं और अद्वैतवाद ने भी मात कर दी। अंतर्बाह्य समदृष्टि होना यही अनुभव का निश्चित लक्षण है। इसी बात को ध्यान में रख कर मैंने शरकर्ता को गुरु बनाया। बाण की नोक को तपा कर उसे सीधा करते समय उसकी दृष्टि एकाग्र होकर वहीं लग गयी थी। केवल उतने से ही उसका बाह्य प्रपंच की ओर से ध्यान हट गया। फिर राजा की सवारी पूरी शान शौकत के साथ उसके द्वार पर से गयी लेकिन सारा ध्यान शर तैयार करने में लगा होने के कारण उसे उसका भान ही नहीं रहा। इतने में, पीछे से राजा का नौकर आया और उसने पूछा, "क्या राजा की सवारी इधर से गयी है?" लेकिन उसने उत्तर दिया, "देखा तो नहीं।" (अवधूत कहते हैं) उस शरकर्ता को मैंने अपनी आँखों से देखा और उसकी बात सुनकर मैंने यह बोध ग्रहण किया कि संसार में एकाग्रता ही श्रेष्ठ वस्तु है। वह प्रपंच को आँखों के सामने नहीं आने देती। यही सिद्ध करने के लिए मैंने सर्प से यही शिक्षा ली कि घरबार किये बिना अकेले ही रहना उचित है और मैंने सर्प को गुरु बना लिया।

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽपभाषणः॥ १४॥

सर्प को किसी का भी संग अच्छा नहीं लगता। वह अकेला ही सुखपूर्वक विचरण करता रहता है। वह निरन्तर सावधान रहता है और एक भी साँस व्यर्थ नहीं जाने देता। योगी की स्थिति भी ऐसी ही रहती है। उसे भी दूसरे का उपसर्ग अच्छा नहीं लगता। जहाँ लोगों की दृष्टि न पड़े ऐसे एकान्त स्थल में वह रहता है। वह खराब आदमी की संगत नहीं करता लेकिन अच्छे का भी साथ नहीं निभाता। जिस प्रकार साँप अपनी केंचुल उतार फेंकता है, उसी प्रकार योगी भी अपने देहसंग से बाहर निकल पड़ता है। निरन्तर सावधान रहकर वह एक भी क्षण व्यर्थ नहीं जाने देता। सचमुच वह अपना स्वरूपानुसंधान टूटने नहीं देता। सर्प स्वयमेव बिल में घुस जाता है क्योंकि जिस मार्ग से वह गया है उसे सब लोग देखते हैं। लेकिन उसने खाया है या नहीं इसे कोई नहीं देखता। उसी प्रकार योगी भी योगसामर्थ्य से लोगों के सम्पर्क में न रहकर गुफा में पड़ा रहता है और स्वयं से ही क्रीड़ा करता रहता है। योगी का आचार छोटे-बड़े सभी देखते हैं लेकिन वह वास्तव में सविकल्प है या निर्विकल्प है यह किसी की समझ में नहीं आता। कोई कहता है कि वह कर्मनिष्ठ है तो कोई उसे कर्मभ्रष्ट कहता है। लेकिन उसके सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से किसी को कुछ भी मालूम नहीं होता। सर्प को तो बोलना नहीं आता वह केवल किसी शब्द का उच्चार मात्र करता है। उसी प्रकार योगी भी किसी प्रकार के वाद-विवाद में नहीं फँसता। अंतःकरण की कृपा के बल से थोड़ा सा ही किन्तु मृदु, मंजुल और कोमल कुछ तो बोलता है। इसलिये उसे एक ही बार सुन लेने पर भी कान तृप्त हो जाते हैं देखा जाय तो उसका बोलना अत्यन्त संक्षिप्त होता है, लेकिन वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संकल्प विकल्प का विनाश कर देता है। जो सत्यसंकल्पी होते हैं वही उसके शब्दों के स्वरूप को पहचानते हैं। जो अकेला और उदासीन है, जिसका मन परमार्थ की ही ओर लगा हुआ है उसे घरबार करने की इच्छा कर व्यर्थ का परिश्रम नहीं करना चाहिये।

गृहारम्भोऽतिदुःखाय विफलश्चधुवात्मनः।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते॥ १५॥

घरबार करना यही मूलतः दुःख का कारण है। जी जान से परिश्रम कर तथा कष्ट सह कर तीन मंजिल का मकान बनाइये लेकिन वह सर्वथा अशाश्वत ही रहता है। जहाँ संसार ही नाशवान है, शरीर का प्रत्यक्ष आकार ही मिथ्या है वहाँ केवल घर ही किस तरह शाश्वत हो सकता है? लेकिन मूर्ख लोग इसी को सत्य मान कर चलते हैं जो गर्भ में ही मृत हो गया उसका जन्म से ही जातक करते और मृत के ही जन्म पर उसका नामकरण करते हैं, उसी प्रकार अशाश्वत घर की स्थापना करना है। ऐसे गृह का प्रारम्भ भी मिथ्या है क्योंकि उसमें मिट्टी के लिये झगड़ा होता है, पत्थर और लकड़ी के लिये भी सम्बन्धी को दूर रखकर टंटा होता है। दीपक बड़े प्रयास से घर बनाती है और उसमें घुस कर सर्प बड़े मजे में रहता है। बिना किसी प्रकार का कष्ट किये दूसरे के घर में मौज करता है। उसी प्रकार योगी भी घर या देह का अभिमान नहीं करता। बिना, किसी अभिमान के, दूसरे के घर में रहकर आनन्द करता है। मैंने घर न बनाने का निश्चय किया। किन्तु ईश्वर ने जब इतनी बड़ी सृष्टि बनायी है उससे उसे बाधा क्यों नहीं होती? तो सृष्टि की रचना किस प्रकार हुई? वह किससे उत्पन्न हुई? यही जानने के लिये मैंने मकड़ी को अपना गुरु बनाया।

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः॥ १६॥

नर का आश्रयस्थल है इसलिये उसे 'नारायण' कहते हैं। समस्त जीवों का जो जीवन है वही नारायण सबका स्वामी है। ऐसा जो नारायण है उसने इस संसार को पहले उत्पन्न किया। कोई भी बाह्य सामग्री लिये बिना उसने इस विश्व की उत्पत्ति की। अकेले और वह भी बिना किसी सामग्री के यह कैसे सम्भव हुआ? तो उसने अपनी ही माया का क्षोभन कर यह संसार बनाया। उस निज माया के उदर में जीवसमुदाय असंख्य भरा हुआ है। उस माया का उसने दृष्टि से अवलोकन किया। इसी को निजकाल कहते हैं। इस प्रकार उसने अपनी माया की ओर देखा और उसे अपने शरीर पर खेलने दिया लेकिन अपने शरीर का स्पर्श नहीं होने दिया। ऐसी अलिप्तता का खेल वही जानता है। आकाश में धुआँ फैलता है लेकिन आकाश धुएँ को स्पर्श नहीं करता। उसी प्रकार वह अपने शरीर पर माया का पोषण करता है लेकिन उससे अलिप्त रहता है। जल से ही कमलिनी का पोषण होता है लेकिन उसी जल को वह अपने पत्ते में ढँक देती है। उसी प्रकार माया सत्-चित्-आनन्द में से आनन्द पर 'आवरण' डालती है, किन्तु सत-अंश के साथ चित् स्वतंत्र ही रहती है। स्वमाया का जो अधिष्ठान है वही माया का निवास स्थान है। उसी प्रकार वास्तव में माया का नियंता नारायण ही है। रजोगुण सृष्टि को उत्पन्न करता है, सत्वगुण उसका पालन करता है और तमोगुण कल्पांत के समय क्षुब्ध होकर काल के रूप में उसका संहार करता है। किन्तु माया की यह क्षोभक शक्ति नारायण के हाथ में रहती है, इसी दृष्टि से अन्त में संहार करने वाला ईश्वर ही रहता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः।
कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरूषेश्वरः॥ १७॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः।
केवलानुभवानन्दसंदोहो निरुपाधिकः॥ १८॥

इस प्रकार कार्यकारण नष्ट करने के बाद एक अकेला परिपूर्ण नारायण ही शेष रहता है। लेकिन यहाँ पर अकेला नारायण रहता है यह कहने वाला भी कौन है? यह लक्षण तो अद्वितीय है, इसी को भेद शून्य अवस्था कहते हैं। वहाँ न 'सजातीय भेद' है, न 'विजातीय' भेद है और 'स्वगत' भेद भी वहाँ नहीं है। इस प्रकार वह भेदरहित ही रहता है। ऐसा जो भेदरहित है वही प्रकृति पुरुषों का ईश्वर है। वही सबका श्रेष्ठ नियंता तथा 'पर' और 'अवर' है। उसके सम्बन्ध में भी निर्णय सुन लो। मनरहित संकल्प से जिसने प्रकृति और पुरुष को उत्पन्न किया वही वास्तव में ईश्वर है। उसी के सामर्थ्य से वे व्यवहार करते हैं। प्रकृति को चेताती सत्ता ही उसका पुरुषत्त्व है। इसीलिये प्रकृति का पति सभी दृष्टि से यही है। ब्रह्मेदवादि देवता 'पर' है तथा मनु से लेकर स्थावर तक सभी जीव 'अवर' हैं। इनका नियंता और चालक वही है। उसकी आज्ञा के बिना वायु भी नहीं हिलता, समुद्र अपनी मर्यादा में रहता है और सूर्य दिनमान नियंत्रित करता है। जिसकी आज्ञा को नमन कर प्राण भी (नाक में) बारह अंगुल तक ही घूमता रहता है। आज्ञा के भय से उसके आगे नहीं जा सकता। कठोर आज्ञा को ध्यान में रखकर मेरु भी अपना स्थान नहीं छोड़ता। चेतनशक्ति को आज्ञा मिलते ही वह अचेतन देह को सचेतन कर डालती है। वह स्वयं निराधार होते हुए भी सारे विश्व के लिये आधार बन गया है उसी प्रकार जैसे सर्पाभास के लिये रस्सी का ही आश्रय रहता है। सत्त्व आदि जो गुणशक्ति है वह आत्मकाल गति को नियंत्रित कर उसे समस्थिति में ला कर रखती है। वही प्रकृति अदृश्य रूप में निर्गुण स्थान में रहती है। जिस प्रकार वटवृक्ष अपने बीज में समा कर रहता है उसी प्रकार समस्त उपाधियों को निगल कर ब्रह्म केवल निरुपाधिक स्वरूप में रहता है। जिस प्रकार मंदराचल न होने पर क्षीरसागर निश्चल रहता है, अथवा विभिन्न आकार के अलंकारों को भट्टी में डालने पर वह मूल सुवर्ण की तरह हो जाता है अथवा जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से आकाश के समस्त नक्षत्रों को तेजहीन कर देता है उसी प्रकार माया के कारण आकार लेने वाली सारी सृष्टि लुप्त होकर केवल निरुपाधिक परमात्मा ही शेष रह जाता है अथवा ग्रीष्म ऋतु के अन्त में जिस प्रकार सभी प्रकार के बीज पृथ्वी में लीन हो जाते हैं उसी प्रकार प्रकृति उसमें लीन होकर वह केवल सुखस्वरूप में शेष रहता है। ऐसा केवल निरुपाधिक, सुखस्वरूपानंद का कल्लोल, चिन्मात्र तेज से तेजयुक्त तथा सद्-अंश के कारण निरन्तर निर्मल उस ज्ञानस्वरूप अनन्त ने उत्पत्ति काल में सृष्टि की रचना कैसे की उसे भी ध्यानपूर्वक श्रवण करो।

केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम्।
संक्षोभवान् सृजत्यादौ तय सूत्रमरिंदम॥ १९॥
तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम्।
यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान्॥ २०॥

उसने अपनी कालसत्ता से अपनी माया की ओर देखा तो वह क्षुब्ध हो गयी और उसने निजसूत्र अर्थात्

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वायुरूप सूत्रात्मा को उत्पन्न किया। इसी को क्रिया शक्ति कहते हैं। उसी क्रियाशक्ति ने तीन गुण व्यक्त किये और अहंकार के द्वारा जगत की उत्पत्ति का मूल निर्माण किया। तप गुणादिक्रम से देवता, मनुष्य तथा नाग उत्पन्न होकर 'अध' अर्थात् पाताल लोक, 'ऊर्ध्व' अर्थात् 'स्वर्गलोक' और मध्य अर्थात् मृत्युलोक, इस प्रकार त्रिभुवन की रचना हुई। ब्रह्माण्ड का वही वायुरूप सूत्र प्राणरूप से पिण्ड को सँभालने लगा। जान लो कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड की रचना करने वाली वही 'क्रियाशक्ति' है। जीव को संसारी बनाने के लिये ही उसने शरीर में षडविकारों का संचार किया। उसी प्रकार छह उर्मि अर्थात् जन्म, मरण, क्षुधा, तृष्णा, शोक, मोह उत्पन्न किये। इस प्रकार संसार की वृद्धि करने का ही इसका सारा प्रयास है। इसीलिये सांख्यशास्त्र में इसका उल्लेख 'क्रियाशक्ति' के नाम से किया जाता है। 'क्रियाशक्ति' के इस युग में ही मानों सारा संसार उड़ेला हुआ है। वह टेढ़ा-मेढ़ा जैसा भी हो अपने ही स्थान पर बढ़ता रहता है। वही क्रियाशक्ति देहाभिमान की गाँठ कसकर बाँधकर जन-जन को संसारी बनाकर छोड़ती है। प्रचण्ड वासना उत्पन्न कर अनेक प्रकार की योनियों में जन्म धारण कराती है। पिता के वीर्य में माता के रुधिर का मिश्रण बनकर वह मिश्रण काफी समय तक जठराग्नि के ज्वाला में उबलता रहता है। वहाँ उसमें अवयवरूपी अंकुर निकलते हैं और हस्तपादादि अवयव तैयार होते हैं। फिर देह को आकार प्राप्त होता है। फिर भी यातनायें नहीं टलतीं। वे अपार रहती हैं। पेट में गर्भ का गोला उबलता रहता है तभी अनेक प्रकार के दु:ख उपस्थित हो जाते हैं। नाक में और मुँह में विष्ठा, जंतु, आदि का प्रवेश होता रहने के कारण वह मस्तक झाड़ने लगता है। गर्भ की वेदना अत्यंत भयंकर होती है। उसका स्मरण होते ही मन भय से काँपने लगता है। योनि द्वार से जन्म होता है, उस समय भी जीव को अनेक यातनायें होती हैं। इस प्रकार माया जन्म देकर कभी तो स्वर्ग के कारागार में डालती है या फिर देहाभिमान से नरक में ही तड़पता छोड़ती है। इस प्रकार सुख-दु:ख की कड़ियों से बनी बेड़ी ठोंक कर दु:ख की राशि भोगने के लिये बाध्य करती है। फिर भी अविद्या से छुटकारा नहीं मिल पाता। माया का यह जाल महाभयंकर है। लेकिन हे राजा! तुम्हें उससे भयभीत नहीं होना चाहिये क्योंकि तुमने दृढ़ अनुताप किया है तथा अभिमान और दर्प का विनाश कर दिया है। तुम्हारी पूरी स्थिति ही बदली हुई लग रही है। तुम्हारे हृदय में चिच्छक्ति प्रकट होकर, अविद्या की रात्रि समाप्त होकर ज्ञानरूप सूर्य का उदय हुआ है। जहाँ अभिमान ही नष्ट कर दिया जाता है वहाँ कामादिक शत्रु भी नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जैसे शिरच्छेद करने पर हाथ-पैर अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार मैंने तुम्हें 'अरिमर्दन' कहा था, वह बिलकुल सत्य है। अवधूत का यह भाषण सुनकर राजा को बहुत संतोष हुआ। अवधूत भी प्रेम से विह्वल हो गया और उसने राजा के मस्तक पर हाथ रखकर उसे आलिंगन दिया। तब राजा को अत्यन्त धन्यता मालूम हुई। निजआत्मबोध से दोनों का मिलन हुआ। उनकी प्रसन्नता मानों आकाश में भी नहीं समा रही थी जो वास्तव में भाग्यवान है उसे ही इस प्रकार सद्गुरु की भेंट होती है। बालक का कौतुक करने से जिस प्रकार माँ को प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार शिष्य को आत्मबोध होते ही सद्गुरु को भी अत्यन्त आनन्द होता है। इस प्रकार परस्पर संवाद चल रहा था, तभी परमानन्द बहने लगा। उसी आनन्द के आवेग में अवधूत आगे की कथा का संवाद और भी स्पष्ट करके बतलाने लगा।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां संतत्य वक्त्रतः।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः॥ २१॥

'ऊर्णनाभि' का अर्थ है 'मकड़ी'। मकड़ी अपने पेट में के तन्तु मुँह से बाहर निकालकर उसका जाल तैयार करती है। फिर उन फैले हुए तन्तुओं पर स्वयं ही अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करती है। उन तन्तुओं के जाल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

से खेलते-खेलते वह देखते-देखते सारे तन्तु निगल लेती है और अद्वैतकला का प्रदर्शन करती है। इसी प्रकार सर्वेश्वर भी स्वयं ही संसार की रचना कर, अन्त में उन सबका संहार कर निर्विकार आत्मस्वरूप में शेष रहता है। इसी लक्षण को ध्यान में रखकर मैंने उस ऊर्णनाभी को गुरु बनाया। अब सारूप्यता का विचार कर मैंने भ्रमरी को अपना गुरु माना।

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद्द्वेषाद् भयाद् वापियाति तत्तत्सरूपताम्॥ २२॥

पुरुष काया, वाचा तथा मन को एकाग्र कर जिस वस्तु का ध्यान करता है उस वस्तु का स्वरूप उसे प्राप्त होता रहता है। स्नेह, द्वेष अथवा भय से जिस भी किसी वस्तु की उत्कंठा बनी रहती है, उससे उसे तद्रूपता प्राप्त होती है। देह नष्ट होने के बाद तद्रूपता आयेगी यह कहना व्यर्थ है। उसी देह से यहाँ रहने पर ही तद्रूपता प्राप्त होती है।

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
यातितत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसंत्यजन्॥ २३॥

भिंगुरटी एक कीट पकड़ कर लाती है और उसे दीवार से सटे नीड में बन्द करके रखती है। इसलिये उसे रातदिन उसके मरने की चिन्ता लगी रहती है। उस की उस तीव्र चिन्ता से ही वह क्रीडा स्वयं भिंगुरटी बन जाती है और तत्काल आकाश में उड़ जाती है यह हम अपनी आँखों से स्वयं देखते हैं। भिंगुरटी एक क्षुद्र कीट है, उसका ध्यान करने वाली कीट भी जड़मूढ़ है लेकिन उसे भी तीव्र ध्यान करने से भिंगुरटी का रूप प्राप्त होता है। वह अजड़ है, विद्रूप है, सौख्यदाता है, उसका ध्यान करने वाला भी ज्ञाता और अधिकारी है। ऐसा व्यक्ति यदि ध्यान करे तो वहाँ तद्रूप होने में जरा भी विलम्ब नहीं होगा। कीट को भिंगुरटी का रूप प्राप्त होता है, अर्थात् केवल तीव्र ध्यान करने से न हो सकने वाली बात हो जाती है। विचार करने पर मालूम होता है कि वे दोनों ही जड़ हैं, अर्थात् जड़ ही जड़ को जकड़ता है। लेकिन भगवान के ध्यान की बात ऐसी नहीं है क्योंकि ध्यान करने वाला मूलतः भवगद्रूप ही होता है, ध्यान करने से केवल उसका यह भ्रम कि 'मैं देसी' हूँ नष्ट हो जाता है। इसलिये वह अनायास ही तद्रूप हो जाता है। इसी देह में और इसी वृत्ति में से अपनी मुक्ति जिसकी समझ में नहीं आती और जो भगवद्प्राप्ति नहीं कर लेता तो फिर नरदेह की विद्वत्ता व्यर्थ है। यदि वह चैतन्य धन नहीं होगा, तो उसका ज्ञान, ध्यान, भजन, याजन और धर्माचरण आदि सब व्यर्थ है।

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिति मतिः।
स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो॥ २४॥

अवधूत यदु से कहता है—इतने गुरुओं से मैंने स्वबुद्धि से जो कुछ सीखा, वह सब तुम्हें बताया। मैंने अपनी ही बुद्धि से और युक्ति से और भी कितने ही गुण सीखे हैं वह भी तुम्हें अनन्य प्रीति के कारण बताऊँगा। चौबीस गुरुओं का गुरु जो समर्थ वैराग्य विचार है, वह इस नरदेह में ही प्राप्त होता रहता है, इसलिये नरदेह ही मुख्य गुरु है।

देहो गुरूर्मम विरक्तिविवेकहेतुर्विभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः॥ २५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हे चतुरश्रेष्ठ! देह को जो गुरुत्व प्राप्त हुआ है, वह दो प्रकार से है। परमार्थ की रक्षा करने के लक्षण भी तुम्हें बताता हूँ। देह जैसी खराब वस्तु पृथ्वी पर कहीं भी नहीं है लेकिन उसी प्रकार देह जैसी अच्छी चीज भी त्रिभुवन में अन्यत्र नहीं प्राप्त होगी। यदि खराब कह कर उसका त्याग करें तो मोक्षसुख से वंचित हो जाते हैं और अच्छा कह कर उसका उपभोग करें तो तत्काल नरक में जाना पड़ता है। इसलिये न उसका त्याग ही करना चाहिये और न भोग ही करना चाहिये। उसे दोनों अवस्थाओं के बीच ही नियंत्रित करके रखना चाहिये। अर्थात् उसे अपने हित के लिये आत्मसाधन में ही रखना चाहिये। जिस प्रकार गंतव्य स्थान तक पहुँचने के लिये किराये के घोड़े को वहाँ तक ले जाना पड़ता है और इसके बाद हमें उसकी चिन्ता नहीं रहती, उसी प्रकार परमार्थ को ध्यान में रखकर घर संसार में किसी उदासीन राही की तरह बस्ती करनी चाहिये। देह के प्रति आसक्ति का विचार बुद्धि तक नहीं पहुँचना चाहिये। देह की स्थिति नश्वर है और नश्वरत्व के कारण ही विराग उत्पन्न होता है। जो मुमुक्षु हैं वे किसी भी प्रकार के नाशवान वस्तु पर आसक्ति नहीं रखते और जिससे विरक्ति उत्पन्न होती है वही वास्तव में विवेक है। सारांश, विवेक और वैराग्य की प्राप्ति अपने ही विचारों से नरदेह में होती है। अन्य देहों में इस प्रकार का विचार ही नहीं होता क्योंकि अन्य देहधारी प्राणी केवल शिस्नोदर का ही व्यवसाय करते हैं। इसीलिये नरदेह एक अमूल्य निधि है। उसके योग से ब्रह्मसायुज्य में जाया जा सकता है। इसलिये देवता भी नरदेह का वर्णन कर मनुष्य होने की कामना करते हैं। इससे यदि तुम यह विचार करोगे कि नरदेह अत्यन्त पवित्र है, तो ऐसी बात नहीं है। उसे अत्यन्त निन्दनीय समझो क्योंकि उसका जन्म योनी द्वार से होकर मृत्यु उसका पीछा करती रहती है। प्राणी ने पूरी तरह जन्म लिया भी नहीं होता तभी मृत्यु उसके पीछे लग जाती है। गर्भ में भी मृत्यु का भय लगा रहता है। सारांश, इस देह के साथ मृत्यु चिपका हुआ है। वह बाल्यावस्था में भी रहता है और यौवन में भी सट कर बैठता है। ऐसा होते हुए भी मनुष्य अपनी मृत्यु के बारे में भूलकर अपने यौवन का अभिमान करता है। चतुर, बुद्धिमान, ज्ञाता, बलवान सब कुछ मैं ही हूँ यही कहता रहता है। तभी काल उस यौवन के ताजा फल को बिना डंठल तोड़े ही निगल लेता है। फिर वृद्धावस्था से जर्जर होकर मृत्यु को प्राप्त करता है। सफेद बालों के साथ वृद्धावस्था का आगमन होता है और मृत्यु प्रतीक्षा करती रहती है। जब सारा शरीर काँपने लगे तभी मृत्यु की आहट समझ लेनी चाहिये और जब गर्दन काँपने लगे तो समझना चाहिये कि मृत्यु की सवारी आ रही है। शत्रु की सेना सुगमता से भीतर प्रवेश कर सके इसलिये काल सारे दाँत गिरा कर मार्ग प्रशस्त कर देता है। कमर टेढ़ी हो जाती है उसे मृत्यु की ही निशानी समझना चाहिये। दोनों कानों में कील ठुक जाती है। मृत्यु आने वाली है इसलिये नेत्रों की ज्योति उसकी आगवानी करने जाती है, फिर आप उसमें अंजन डालिये या और कुछ कीजिये लेकिन अक्षर भी नहीं दिखायी देते। रातभर खाँसते रहने से पड़ोसियों को भी कष्ट होता है और वे कहने लगते हैं यह बुड्ढ़ा मरता भी नहीं है, व्यर्थ ही हमारे बच्चों की नींद खराब करता है। मृत्यु की बाढ़ आते ही पैर लड़खड़ाने लगते हैं, जीभ लड़खड़ाने लगती है और शरीर की नाड़ियाँ टूटने लगती हैं। यदि मृत्यु शीघ्र नहीं आयी तो वृद्धावस्था की विडम्बना अत्यन्त खराब रहती है। पत्नी, बच्चे तथा अन्य लोग भी पास नहीं आते। उस समय जीना अत्यन्त दयनीय हो उठता है। जब देह को वृद्धावस्था जकड़ लेती है तो जीवनभर जिनका परिश्रमपूर्वक पोषण किया है वही पास आने से कतराते हैं। उसकी बात भी कोई नहीं सुनता, सब उसका तिरस्कार करते हैं और कुत्ते उसके पीछे भौंकते हैं। जानकार लोग बच्चों को उसे भूत कह कर डराते हैं। खाँसी तो क्षणभर के लिये भी शान्त नहीं बैठने देती और जी व्याकुल होने लगता है। जिसने बचपन में उसे 'वृद्ध होने' का आशीर्वाद दिया था वह वास्तव में शाप ही था। वृद्धावस्था की तरह अन्य

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कोई दुःख नहीं है। युवावस्था में वृद्धावस्था का दुःख देखकर यह जान लेना चाहिये कि यह दुःख कल मेरा भी हाथ पकड़ लेगा। देह षड्विकारों से भरा हुआ है। उसके प्रत्येक विकार में अनेक अनर्थ हैं। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार अग्नि में घी डाला जाय उसी प्रकार उनमें छह उर्मी लगी हुई हैं। इस दुःख का जो मूल है वह इस देह के बहुत लाड़ करता है। इसलिये उस देह का पोषण करने से दुःख बढ़ता है और महादुःख की फल प्राप्ति होती है। सारांश, देह की संगति निरन्तर दुःखदायी है यह जानकर उसकी आसक्ति छोड़ देनी चाहिये। विरक्ति मन में प्रतिपादित करने के लिये देह गुरु का काम करता है। इस देह की सहायता से ही अविनाश पद की प्राप्ति होती है। इस गुण के कारण भी देह को गुरु कहना चाहिये। देह उपकार भी करता है और अपकार भी। उसमें दोनों ओर से गुरुता है। इसका विचार कर जो चतुर पुरुष अपना हित साध लेता है, वह धन्य है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि अज्ञान ही इस देह का मूल है और आत्मस्वरूप का न दिखायी देना ही प्रकृति का आभास होना है। प्रकृति के कारण ही त्रिसूत्र की उत्पत्ति होती है, तीन गुणों से तीन प्रकार के अहंकार उत्पन्न होते हैं और वहीं से महद्भूतों का विकार उत्पन्न होकर देह के साथ इन्द्रियों के व्यापार चलते हैं। अर्थात्, रस्सी के कारण सर्प तो हुआ ही नहीं केवल भ्रम के कारण उसे सर्प कहते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मवस्तु पर पिण्डत-ब्रह्माण्ड का आरोप किया जाता है। देह का मूल यदि देखा जाय तो वह मृगजल की तरह लगता है, सर्वत्र भ्रम का ही जाल फैला हुआ है। परब्रह्म के प्रति यह केवल आरोप है। देह न होते हुए भी उसका आभास होता है, इसे आरोप कहते हैं। अब 'अपवाद' किसे कहते हैं यह भी बताता हूँ। मन को एकाग्र करके श्रवण करो। देह के पंचभूतात्मक होने की बात प्रसिद्ध है। उसे 'मैं' कहना बुद्धिसंगत नहीं है क्योंकि देह मलिन है और मैं शुद्ध हूँ। देह और मैं परस्पर अत्यन्त विपरीत हैं। मैं पृथ्वी नहीं हूँ क्योंकि वह जड़ होती है। मैं जल नहीं हूँ क्योंकि वह द्रव रूप होता है। मैं तेज नहीं, क्योंकि उसमें दाहकता होती है। उसी प्रकार मैं वायु भी नहीं हूँ क्योंकि उसमें चंचलता होती है। मैं आकाश नहीं क्योंकि वह शून्य होता है। 'अहं' भी मैं नहीं हूँ क्योंकि वह दृश्य है। मैं जीव नहीं हूँ क्योंकि वह एकदेशी है। उसी प्रकार मैं माया भी नहीं हूँ, क्योंकि वह मिथ्या है। नश्वर होने के कारण मैं देह नहीं हूँ बाधकत्व के लिये मैं विष नहीं हूँ। सारांश, इन तत्त्वों का और मेरा यहाँ सम्बन्ध नहीं है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अभिमान हंस और परमहंसों को भी रहता है। लेकिन वह भी सत्त्वावस्था का साधन है। वह अभिमान भी मैं नहीं। जिन तत्त्वों का ऊपर वर्णन किया है उन सबका मुझमें 'अपवाद' अर्थात् अभाव है। हे यदु! इस प्रकार मेरी बुद्धि को जो बोध हुआ है वह मैंने तुम्हें बतलाया तुम्हारी अनन्य भक्ति और भाव देखकर मैंने यह सारा गूढ़ ज्ञान तुम्हें बतलाया अन्यथा यह सब बतलाने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु हे भाग्यवान राजा! तुम्हारी यह आस्था ही मुझे तुम्हारे पास बुलाती है। इस प्रकार संवादसुख की एकतानता में ही उन्होंने अद्वैत बोध से सानंद ताली बजायी और आनन्द के अतिरेक के कारण दोनों ब्रह्मस्वरूप में लीन हो गये। अवधूत ने कहा, इस देह जैसा उपकारी मित्र कोई नहीं है इसलिये उसे जतन करके रखना चाहिये। लेकिन वह तो मूलरूप में पराया ही है। उसका अच्छी तरह जतन करने से उसका अन्त भयंकर होता है। वह श्वान, श्रृगाल का भोजन बन जाता है अथवा अग्नि की आहुति बन जाता है। यदि इन दोनों अवस्था से बच निकला तो वह कृमि कीटकों का शिकार हो जाता है। इन तीन के अतिरिक्त देह की कोई चौथी अवस्था नहीं है। इसलिये हे राजा! मैं देह के प्रति आसक्ति ही नहीं करता। आत्मस्वरूप के ज्ञान से मैं निःसंग होकर पृथ्वी पर घूमता हूँ। देह के उपभोग के जितने साधन हैं वे सब बन्धन ही हैं इसे ध्यान में रखो। उसके योग से वासना प्रबल होकर असीमित रूप से बढ़ जाती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान् पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन्।
स्वान्ते सकृच्छमवरुद्धधनः स देहः सृष्ट्वास्य बीजमवसीवति वृक्षधर्मा॥ २६॥

देहभाग का प्रमुख आकर्षण है स्त्रीभोग! सब कुछ खर्च कर अपने साथी के रूप में पत्नी ले आते हैं। लेकिन स्त्री से पाणिग्रहण करते ही प्रपंच का दुःख बढ़ने लगता है। उस स्त्री के उपभोग के लिये घर बनाना आवश्यक हो जाता है। घर ठीक तरह से चले इसके लिये धन-धान्य आदि समृद्धि की आवश्यकता होती है। फिर बाल बच्चे पैदा होने पर प्रपंच बढ़ते ही अपार चिन्ता उत्पन्न होती है। उन बाल बच्चों के प्रति वात्सल्य उत्पन्न होता है। उनके लिये नौकर-चाकर, दास-दासी, जानवर आदि रखने पड़ते हैं। इसके लिये कठिन कष्ट सहने पड़ते हैं। सुख का एक क्षण भी नहीं मिलता। समधी और दामाद का आकर्षण उत्पन्न होता है, सगे-सम्बन्धियों के झुण्ड एकत्र होते हैं। उनका उचित स्वागत-सत्कार करने में अनेक संकट आते हैं और वह सब सहते-सहते देह चूर-चूर हो जाता है। आश्रित परिवार का पोषण करने के लिये अनेक उपाय करता है, देश-परदेश में भटकने लगता है और रात-दिन परिश्रम करके हैरान हो जाता है। शरीर को सुख देने के लिये कई गुना दुःख बढ़ाता रहता है। मूर्ख लोगों का यह ढंग ही है कि वे देह के अहंकार के कारण व्यर्थ की अभिलाषा बढ़ाते हैं। देहसुख की इच्छा से जमीन, जायदाद आदि की बेड़ी पैरों में पड़ती है। घर-बार, स्त्री-पुत्रों का प्रेम उसे पागल कर देता है जिससे वह अपना स्वार्थ नहीं जान पाता। घरबार, बच्चे, सम्पत्ति आदि का लोभ शरीर ने बढ़ाया रहता है। वही वासना देह के अन्त समय में दूसरे जन्म की प्राप्ति का बीजारोपण करती है। ज्वार का दाना बाली पर चढ़ता है और फिर बाली से अलग होकर धरती पर गिर पड़ता है, पेड़ टूट जाता है किन्तु बीज धरती के भीतर शेष रहता है। उस बीज को जल और धरती मिलते ही तत्काल दूसरा पेड़ बढ़ने लगता है। उसी प्रकार दूसरा जन्म लेने के लिये यह वासना शेष रहती है। उस पेड़ की ही तरह बीज लिंगदोह में शेष रहता है और योनि के द्वार से पुनः जन्म दिलाता है और स्वर्ग या संसार का भ्रमण कराता है। देह में वासना किस प्रकार बढ़ती है यह भी तुम्हें बताऊँगा। आसक्तिपूर्वक विषयों का सेवन करने से वासना असीमित बढ़ जाती है।

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कहिं तर्षा शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्बह्वयः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥ २७॥

जिह्वा रस की ओर आकर्षित होती है, तृष्णा प्राशन करने के लिये लालायित रहती है, शिस्न को रतिसुख की चाह होने के कारण वह उसमें रममाण होने के लिये छटपटाता रहता है। त्वचा मृदुता चाहती है, उदर भरपेट अन्न मिलने की इच्छा करता रहता है। कान गान, मंजुल, ध्वनि, आलाप आदि की आकांक्षा करते रहते हैं। नाक सुगन्ध के लिये उद्यत रहते हैं। अच्छा रूप देखने के लिए आँखें लालायित रहती हैं। अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करने के लिये हाथ बेचैन रहते हैं। पैर भ्रमण करना चाहते हैं। जिस प्रकार घर में एक पति को अनेक पत्नियाँ रहने पर सौतें आपस में खींचतान करती रहती हैं उसी प्रकार इन्द्रियों को विषय की आसक्ति होने के कारण वे उसे अपनी ओर खींचती रहती हैं। इस प्रकार इन्द्रियों को विषय की आसक्ति होने के कारण वासना भी प्रबल होती रहती है। वास्तव में ये वासनायें ही पुरुष को इस देह से उस देह में ले जाती रहती है। इसलिये विषय का त्याग करने के लिये देहसंग बिलकुल छोड़ देना चाहिये। ऐसा करने के लिये मनुष्य देह ही उत्तम है क्योंकि ज्ञानप्राप्ति इसी देह में है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥ २८॥

अपने इसी स्वरूप को लोग जान सकें इसलिये श्रीअनंत ने सृष्टि के प्रारम्भ में अपनी माया के हाथों अनेक प्रकार के शरीरों का निर्माण किया। जमीन पर चलने वाले कुछ लोग तैयार किये, कुछ आकाश में विचरण करने वाले तैयार किये, कुछ पानी में तैरनेवाले तैयार किये तो कुछ स्थावर तथा कुछ जंगम शरीर तैयार किये। वृक्ष, सर्प, पशु, दंश करने वाले प्राणी, राक्षस, पिशाच, बगुले, हंस, मछली, कछुए आदि समस्त योनियाँ उसी ने बनायीं। ऐसी चौरासी लाख योनियाँ तैयार कर लेने के बाद जब उसने उनकी ओर आँख उठाकर देखा तो उसमें उसे आत्मप्राप्ति कर लेने वाला कोई अधिकारी नहीं दिखायी दिया। ऐसी सृष्टि देखकर भगवान को समाधान नहीं हुआ इसलिये उसने बड़ी आस्था से मानव देह की रचना की और उस मनुष्य में उसने अपना बहुत सा ज्ञान भर दिया। इसी ज्ञान से वे इस देह में रहकर विदेहास्थिति तक पहुँचते हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये सारी योनियों के लिये एक जैसे हैं। किन्तु मनुष्य देह में का ज्ञान उन सबमें विशेष है। ऐसे उस मनुष्य देह को देखकर भगवान को सन्तोष हुआ क्योंकि इसी देह को ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने का अधिकार है और इसी देह से मेरी प्राप्ति होने लायक है ऐसा उसे लगा। मनुष्य योनि में जन्म लेकर भी जो ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त करेगा वह दाढ़ीरहित भेड़ की तरह है। मनुष्य देह के ज्ञान से सच्चिदानंद पद की प्राप्ति की जा सकती है, इतना अधिकार नारायण ने कृपापूर्वक हमें दिया है। मनुष्य देह में ही यदि ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना है तो वह मैं अगले जन्म में प्राप्त करूँगा, ऐसा जो कहता है वह डूब गया ऐसा समझना चाहिये। उसका असली अज्ञान यही है।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥ २९॥

चौरासी लाख योनि के जब कोटि-कोटि फेरे होते हैं तब सौभाग्यवश अकस्मात इस नरदेह की प्राप्ति होती है। जो मनुष्यदेह में जन्म लेता है वह परमार्थ को आलिंगन देता है। ऐसा अलभ्य लाभ हुआ देख उसके पितर भी बहुत बड़ा उत्सव मनाने लगते हैं। यदि यह कहें कि मनुष्यदेह प्राप्त करने के बाद पहले सारे भोग भोग लें और फिर आराम से परमार्थ के बारे में विचार करें तो यहाँ इस बात का विश्वास नहीं है क्योंकि मृत्यु निश्चित और अनिवार्य है। मृत्यु न किसी के गुणों का विचार करती है न दोषों का, देश और परदेश की चिन्ता नहीं करती, दिन या रात का विचार नहीं करती, सीधी विनाश ही करती है। मेंढक को पकड़ने के बाद जिस प्रकार साँप उसे निगलने लगता है उसी प्रकार जब से देह उत्पन्न होता है तब से मृत्यु उसका पीछा करती ही रहती है। साँप मेंढक को निगलता रहता है और मेंढक मक्खियाँ पकड़ता रहता है। उसी प्रकार मृत्यु के मुख में पड़े हुए लोग विषय के भुलावे में पड़े ही रहते हैं। इसमें जो आलस करता है वह पूरी तरह डूब ही जाता है। उसके हाथ आया परमार्थ छूट कर वह संसार चक्र के भँवर में गोता खाता रहता है। हे यदुराजा इन सारी बातों का विचार कर इसी देह से शीघ्रता से परमार्थ का लक्ष्य साधने के लिये तत्पर रहना चाहिये। आलस झटकार कर, नींद को दूर हटा कर रात दिन आत्मचिंतन करते रहना चाहिये। वीर क्षत्रिय जिस प्रकार शत्रु पर विजय प्राप्त करने से पहले विश्राम नहीं करते, उसी प्रकार, उसी तेजी से परमार्थ के पीछे लगना चाहिये। अधिक उम्र बीत जाने पर वर का मन जितना सावधान रहता है उसी प्रकार हमें सायुज्य लग्न होने तक सावधान रहना चाहिये। राजा का एकमेव लड़का खो जाने पर जिस प्रकार राजा उसे अपने सारे राज्य में खोजता है, उसी प्रकार हमें अपना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निजसुख साधने का प्रयत्न करना चाहिये। काल का प्रहार होने से पहले ही परमार्थ साधने में सारा जीवन खर्च कर देना चाहिये। समय व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। किन्तु नरदेह के अनमोल जीवन में, गृहस्थी की आशा में, विषय की लालसा में लोग भोग में लिप्त हो गये हैं। पशु आदि योनियों में विषय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यदि उसी विषय को नरदेह में भी पुष्ट करें तो इससे क्या लाभ होगा? यदि विवेकपूर्वक विचार करें तो विषय तो भाग्य से ही मिलते रहते हैं। उसके लिये व्यर्थ परिश्रम करने से मूल नरदेह का ही नाश होता है। नरदेह अत्यन्त पवित्र है। वह प्राप्त होने पर भी जो ब्रह्मज्ञान साध्य नहीं करता उसे पुच्छ विहीन पशु ही समझना चाहिये। अपरोक्ष ज्ञान के अतिरिक्त केवल पेट के लिये ढोंगी ज्ञान के लिये प्रयास करना वैसा ही है जैसे मर्कट दारू पीकर उछलता रहता है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त किये बिना जो शास्त्र ज्ञानी हो गये उन्हें अँधेरे में चमकने वाले जुगनू की तरह समझना चाहिये। अज्ञानरूपी अँधेरे में वे खूब चमकते हैं लेकिन सूर्योदय हो जाने के बाद उन्हें कौन पूछता है? ब्रह्मज्ञान के बिना संन्यासी नाटक के संन्यासी की तरह है जो मिष्ठान्न की भिक्षा के लिये लालायित रहते हैं। मन में विषय की अभिलाषा रखकर जो वेदाध्ययन करते हैं उन्हें बरसाती मेढ़क के समान समझना चाहिये। मेंढ़क कीचड़ खा कर 'टराँव टराँव' करते रहते हैं वैसी ही उनकी अवस्था रहती है। विषय प्राप्ति के लिये रखा हुआ मौन बगुले के ध्यान की तरह है और विषयबुद्धि से किया हुआ गायन उसी प्रकार है, जैसे गधी को देखकर गधा चिल्लाता है। विषय के लिये प्रवचन आदि करना उसी प्रकार है जैसे भात की हाँडी देखकर कौए कोलाहल करते हैं। जिस प्रकार भाँड पेट के लिये जो मन में आये वह बकते रहते हैं, उसी प्रकार विषय प्राप्ति के लिये शास्त्रों का उल्टा-सीधा अर्थ बताकर वितंडावाद बढ़ाते हैं। मन में विषय की दृढ़ भावना रखकर ऊपर से सदाचार का स्वांग भरते हैं। यह कुछ वैसा है जैसे कौआ बाहर से शुद्धता का ढोंग करता है और भीतर विष्ठा चिन्तन करता है। वेश्या जिस प्रकार अपना देह विक्रय कर अपनी गृहस्थी चलाती है उसी प्रकार वे अपनी उपजीविका के लिये अग्निहोत्र, यज्ञयाग आदि करते हैं। लेकिन चौथा पुरुषार्थ सिद्ध करना यही तो नरदेह का सच्चा स्वार्थ है। उसे न साधकर कुछ दूसरा ही अर्थ साधना महा अनर्थ है यह समझना चाहिये। नरदेह प्राप्त कर जो ब्रह्मज्ञान नहीं साध पाते उसे श्वान अथवा शृगाल अथवा उससे भी नीच स्तर का समझना चाहिये। उस सम्बन्ध में विचार सुनो। पशु को लात मारिये तो भी वह उसका द्वेष नहीं करता। लेकिन मनुष्य को यदि 'तू' कहो तो वह प्राण लेने के लिये उद्यत हो जाता है। पशु में संग्रह करने की लालसा नहीं होती। जितना खाना है खाता है और बाकी छोड़कर चला जाता है। लेकिन मनुष्य इतना लोभी है कि करोड़ों रुपया जेब में होने पर भी पेटभर खा नहीं पाता। फिर कहीं किसी को देने की बात आ जाए तो प्राण ही चला जाएगा। पशुओं को सुबह या सायंकाल के भोजन की चिन्ता नहीं रहती लेकिन मनुष्य की चिन्ता पूरे जन्म में भी नहीं छूटती। अपरिमित द्रव्य साथ में हो तो भी अनिवार चिन्ता होती ही है। नरदेही प्राणी को सारे संसार में अविश्वास ही दिखायी देता है। शरीर भले ही मरणासन्न हो गया हो लेकिन जमीन जायदाद लेता ही रहता है और नाती, पोतों के लिये मकान बनवाता रहता है। ऐसी दुर्धर चिन्ता पशुओं को नहीं होती। अब तुम्हें मैथुन की वास्तविक स्थिति बताता हूँ। पशु ऋतुकाल में ही मैथुन करते हैं और फिर स्त्री का स्पर्श नहीं करते लेकिन पुरुष प्रतिदिन स्त्रीसंग करते हैं, गर्भावस्था में भी नहीं छोड़ते। काम, क्रोध, लोभ, निन्दा और अहंकार ये सब मनुष्य के ही भाग्य में हैं। इसलिये आत्मज्ञान साध्य न कर केवल विषयी हो जाते हैं। वे श्वान और शृगाल से भी नीच है। उनमें मनुष्यता नाम की वस्तु ही नहीं है। विषय में जो सुख है वह स्वर्ग और नरक दोनों में समान है। इस मृत्युलोक में जो विषयसुख श्वान भोगता है वही सुख स्वर्ग में इन्द्र भोगता है। मनुष्य देह के अलावा जो पशु-पक्षी आदि अन्य योनियाँ हैं वे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विषयभोग के ही लिये हैं किन्तु नरदेह केवल विषयत्याग के लिये है। वह नरदेह कैसे प्राप्त होता है? तो उसका मिलना अत्यन्त कठिन है। उसका भी प्रकार तुम्हें बताता हूँ, ध्यान से सुन लो। पुण्य अधिक हो जाता है तो जीव स्वर्ग में जाता है और पाप बढ़ जाता है तो वह नरक में जाता है। पाप और पुण्य जब पूरी तरह समाप्त हो जाते हैं तो मुक्ति प्राप्त होती है। जब पाप-पुण्य एक समान होते हैं तब मनुष्य देह प्राप्त होता है तथा कर्मभूमि में आश्रमधर्म में बुद्धिमंत होकर जन्म लेता है। निश्चित रूप से मनुष्य देह प्राप्त करने के लिये कुछ किया नहीं जा सकता। जिसका भाग्य उत्तम रहता है, उसे ही वह अकस्मात प्राप्त होता है। अमूल्य रत्न द्रव्य देकर क्रय किये जा सकते हैं किन्तु चिन्तामणि हाथ नहीं आता उसी प्रकार अनेक योनियों में जन्म प्राप्त होता है लेकिन मनुष्य देह मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा नरदेह प्राप्त होते हुए जो ब्रह्मसुख की साधना नहीं करता वह जन में महामूर्ख तथा देवताओं में विश्वासघाती समझा जाता है। निजात्मप्राप्ति के लिये ही भगवान ने मनुष्ययोनि की योजना की है। जो उसके विश्वास का घात करता है उसका पतन अवश्यंभावी है। पितरों की इच्छा यही रहती है कि हमारा बेटा हरिभक्त हो तथा सारे कुल का उद्धार करे। लेकिन विषयासक्ति से वह सब पर पानी फेर देता है। (अवधूत कहते हैं) मनुष्यदेह केवल सकल भाग्य का फल है, यह वचन सफल करने के लिये ही मैंने यह अटल वैराग्य धारण किया है।

एवं संजातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि।
विचरामि महीमेत्तां मुक्तसङ्गोऽनहंकृतिः॥ ३०॥

आत्मसाधना करने के लिये देह साधक है, किन्तु वही देह विषयभोग के कारण बाधक हो जाता है। यह जानकर मैंने निश्चय करके वैराग्य धारण किया। उस वैराग्य के बल से तथा गुरुकृपा वचन की सहायता से विषयों का इन्द्रियों से सम्बन्ध तोड़ दिया। जीव जैसे ही अविद्या को अंगीकार करता है वैसे ही वह अविद्या कहती है, 'मैं तो विद्यमान' ही नहीं हूँ। यह मैंने अनुभव से जान लिया। इस प्रकार मिथ्यत्व से अविद्या नष्ट होने के कारण चित्प्रकाश का पूर्ण लाभ प्राप्त हुआ और इससे देह में व्याप्त अहंता भी पूर्ण रूप से निकल गयी। ज्ञान का साधन है अपनी देह, यदि उसके प्रति ही वैराग्य हो जाय तो देह के प्रति स्नेह कैसे उत्पन्न होगा? इसी अनुभव के कारण मैं निःसंग होकर पृथ्वी पर संचार करता रहता हूँ। स्वदेह में बिलकुल ही अहंकार क्यों नहीं है इसका उत्तर तुम्हें बताया। जब पुरुष की अहंता नष्ट हो जाती है तो देह भाग्य के अनुसार चलता है। उसी प्रकार जैसे सूखा पत्ता वायु के धक्के से इधर-उधर लोटता रहता है। इसीलिये, हे वीर! जब तक ब्रह्मसाक्षात्कार में वृत्ति विलीन नहीं हो जाती तब तक जो सच्चे वैराग्य के साथ रहता है वही अव्यंग्य और परिपूर्ण पुरुषार्थी होता है। अब शायद तुम कहोगे कि तुम्हें एक ही गुरु पर कभी विश्वास नहीं था तो उसके सम्बन्ध में सावधानीपूर्वक सुनो। नमक और जल मिलकर जिस प्रकार समरस हो जाते हैं, उसी प्रकार गुरुवाक्य कान में पड़ते ही वृत्ति पूर्ण रूप से लय हो जाती है। उसे साधक-बाधक से पीड़ा होती है यह कहना ही विसंगत है। जिस प्रकार मृत व्यक्ति को औषधि या गर्भ को दूध नहीं पिलाया जा सकता उसी प्रकार उसके लिये कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता है। लेकिन ऐसी अवस्था सभी को प्राप्त नहीं होती। गुरु कान में गुरुमंत्र देता है और मन में आत्मस्वरूप का बोध होता है लेकिन वह अधिक समय तक नहीं टिकता। बाह्य पदार्थ की ओर दृष्टि जाते ही विक्षेप उत्पन्न हो जाता है। आसन पर बैठते ही स्वरूपस्थिति और आसन छोड़ते ही संसारस्फूर्ति। ऐसी एक देश स्थिति सच्चे योगी को स्पर्श नहीं करती। देह आसन पर स्थिर हो या वह कर्म का आचरण कर रहा हो लेकिन जिसकी वृत्ति सर्वकाल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निश्चल होती है वही निर्मल आत्मयोगी है। समरांगण में परशुराम का सामना कर भीष्म ने उस पर निर्णायक बाण छोड़े, उसे शर्त में जीता, फिर भी भीष्म की समवृत्ति में अन्तर नहीं पड़ा। वह अपने समाधान में स्थिर थी। निर्णायक युद्ध में श्री समाधि न टूटे, यह साधने के लिये मैंने चौबीस गुरुओं का वन्दन किया। देह स्थिर हो तो वृत्ति स्थिर रहती है ओर देह के चंचल होते ही वृत्ति चंचल हो जाती है, तो इसे सबल देहबुद्धि ही कहना चाहिये। वह शुद्ध आत्मबोध नहीं है। प्रपंच देखते ही वृत्ति में विक्षेप आ जाता है। ऐसा विक्षेप दूर करने के लिये ही मैंने बहुगुरु का साधन किया। निजगुरु ने बताये हुए परमार्थ को साधने के लिये ही मंने प्रपंच के ही अनेक पदार्थों को गुरुपद दिया। जिससे विक्षेप उत्पन्न होता उसी को मैंने गुरुपद दिया। इस युक्ति से साधन करने के कारण, संसार अपने आप ही परब्रह्मस्वरूप हो गया। यदि पहले गुरु ने ही बोध नहीं किया होता तो क्या पृथ्वी आदि ने बोध कराया होता? निजस्वार्थ साधने के लिये मैं गुरुओं के साधन में पड़ गया।

न ह्यो कस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः॥ ३१॥

गुरु के आत्मज्ञान देने पर हृदय में चिद्भान प्रकट होता है, लेकिन वह विद्युल्लता की तरह चंचल होता है, उसमें स्थिरता नहीं होती। जो मूलरूप से चंचल है वह कभी दृढ़ नहीं हो सकता। वह क्षण भर के लिये भासित होता है और क्षणभर में लुप्त हो जाता है। इससे साधक उद्विग्न रहता है। साँप के मुँह से भक्ष्य छूट जाने पर वह जिस प्रकार छटपटाता है उसी प्रकार साधक में वेदनायें होती रहती हैं। आत्मभान का वियोग उसे जरा भी सहन नहीं होता। वैसे ब्रह्म अद्वितीय है और नित्य है यह सभी ऋषियों को मान्य है लेकिन उनसे पूछने पर उसमें भी अनेक विक्षेप उत्पन्न होते हैं। कोई कहता है कि ब्रह्म सगुण है तो कोई कहता है कि वह निर्गुण है। इस प्रकार विद्वत्ता के अहंकार के कारण एक दूसरे का खण्डन कर जोर का वाद-विवाद प्रारम्भ करते हैं। कोई कहता है ब्रह्म सप्रपंच है, कोई कहता है वह निष्प्रपंच है। इस प्रकार पाँच-पाँच जन मिलकर व्यर्थ की किचकिच बढ़ाते हैं। प्रपंचदर्शन से विक्षेपता उत्पन्न होती है उस समय आत्मैक्य साधने के लिये सुबुद्ध साधक को नाना पदार्थों के गुण गुरुरूप से ग्रहण करने चाहिये। विद्वान लोगों से प्रश्न पूछने से साधक के मन को समाधान नहीं होगा इसलिये उनसे पूछने का मन नहीं करता। इसलिये जहाँ बाधा उत्पन्न होती है वहीं ऐक्य होता है इसलिये अनेक पदार्थों को गुरुत्व देना यही उत्तम साधन मैंने नियोजित किया। गुरु के जो लक्षण मैंने बतलाये हैं वे आत्मबुद्धि के भी साधन हैं। उसी की तेज धार से सारी बाधायें काट डाली। उसी चंचलता से आत्मज्ञान का निश्चल मूल प्राप्त हुआ। दृष्य-पदार्थ देखने पर भी चित्स्वरूप का आभास होने लगा। पहले मेरे गुरुओं ने मुझे जो ज्ञान दिया था वही अब अनेक गुरू कर बाधा का विनाश करने से अधिक दृढ़ हुआ। मोक्षदायी गुरु एक ही होता है लेकिन अन्य गुरु उसका ही ज्ञान दृढ़तर करने में साधन बनते हैं। उसका यथा-तथ्य स्वरूप मैंने तुम्हें पहले बता ही दिया है। अब कर्म करने पर भी प्रपंच का भान नहीं होता। निजबोध की पहचान हो जाने के कारण सदासर्वदा समदृष्टि हो गयी है। अब दृष्य पदार्थ को आँखों से देखने पर भी वह दृश्य रूप में नहीं दिखायी देता। कर्म की त्रिपुटी पूरी तरह नष्ट हो गयी। ज्ञान का प्रभाव इतना अपूर्व है। यथेच्छ भोजन करने पर भी निराहार का लक्षण नहीं मिटता। उसी प्रकार संसार से सम्बन्ध रखने पर भी एकाकीपन नहीं टूटता। समुद्र में लहरें मचलती रहती हैं लेकिन उसे पानी का ऐक्य नहीं टूटता। उसी प्रकार संसार में विचरण करते हुए भी मुझे दूजेपन का आभास नहीं होता। सद्गुरु का चमत्कार अपूर्व है। सर्वत्र वही भरा हुआ है। गुरु के सिवाय रिक्त कोई वस्तु नहीं है। अब जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मेरा 'मैं' पन है वह भी गुरु ही स्वयं हो गया है और 'तुम' कह कर बोलने वाला जो तुम्हारा 'तू' पन है वह भी स्वयं सद्गुरु ही है। हे यदुराजा! इस प्रकार देखने पर मेरा गुरु अकेला एक ही है। उसमें दूजेपन का प्रश्न ही नहीं है। ऐसी यह सद्गुरु की कथा तुम्हें परमार्थ लाभ की दृष्टि से सुनायी यह कहकर अवधूत ने अत्यन्त आनन्द से राजा को आलिंगन दिया। निजबोध के योग से वे दोनों एकरूप हो गये। अंतरंग से अंतरंग मिल गया। सृष्टि में आनन्द प्रवाहित होने लगा। इससे वाणी स्तब्ध रह गयी। प्रश्नोत्तर करना वह भूल गयी। वह हर्ष हृदय मन्दिर में न रह सकने के कारण स्वेद के रूप में शरीर से बाहर निकल पड़ा और आनन्दरूपी मेघ आँखों में समाकर प्रेमाश्रु की वर्षा करने लगे। अहंकार की बेड़ियाँ टूटीं, संसार सागर के किनारे पर पहुँचे और अभेद्य अविद्या को जीतने के कारण शरीर रोमांचित हो गया। देहभान समूल नष्ट होने के कारण शरीर थरथर काँपने लगा, संकल्प विकल्प का लय हो गया और मन के साथ मनोरथ डूब गया। यदु ने सारा जीवभाव गुरुनाथ को समर्पित कर दिया। वह चिह्न उसके शरीर पर बाहर भी दिखायी देने लगा। वह अवधूत साक्षात दत्तात्रेय थे, उन्होंने यदुराजा को आलिंगन किया और उसे आत्मस्वरूप ज्ञान का अनुभव कराया। दत्तात्रेय की शिष्य परम्परा में पहला था सहस्त्रार्जुन और दूसरा था यदु और तीसरा शिष्य 'जनार्दन' उन्होंने कलियुग में बनाया। गुरुप्राप्ति के लिये जनार्दन अत्यन्त चिंतित था। उस सद्गुरु की चिन्ता में उसे तीनों अवस्थाओं का विस्मरण हो गया। किन्तु देवता भाव का भूखा होने के कारण उसने भक्त की वह छटपटाहट जान ली और श्रीदत्त उसके पास आये और उन्होंने उसके मस्तक पर हाथ रखा। हाथ रखते ही जनार्दन को तत्काल आत्मबोध का अनुभव हुआ और उससे प्रपंच का मूल ही व्यर्थ हो गया। कर्म करने पर भी अकर्त्ता बने रहने का बोध श्रीदत्तात्रेय ने उन्हें कराया। देह में रहकर भी विदेह रहने का बोध भी उसने अनुभव किया। गृहस्थाश्रम छोड़े बिना, कर्ममर्यादा का उल्लंघन किये बिना आचरण करने से भी आत्मबोध कभी मलिन नहीं होता। ऐसा बोध मन द्वारा ग्रहण किये जाने के कारण मन का स्वभाव ही नष्ट हो गया। जनार्दन उस अवस्था को न सँभाल सका और मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। उसे तत्काल होश में लाकर दत्तात्रेय जी बोले, यह सत्त्वगुण की अवस्था है, इसलिये उसे भूल कर निजबोध में ही विचरते रहो। जनार्दन पूजाविधि कर चरणों पर मस्तक रखने जा रहे हैं तभी योगमाया के योग से दत्तात्रेय अदृष्य हो गये। (एकनाथ श्रोताओं से कहते हैं) आख्यान के बीच में यह उपाख्यान आ गया, इसके लिये श्रोतागण रुष्ट न हों। प्रसंग के अनुसार गुरु की बात निकली इसलिये मैंने गुरु की ही कथा सुनायी। मुझसे बड़ी गलती हो गयी। लेकिन इसे व्यर्थ की बकवास न समझें। जो गुरु का भक्त होगा वही उसका भाव समझेगा और निरन्तर गुरु का स्मरण करता होगा वही उसका मर्म जान पायेगा। जिसकी गुरुचरणों पर दृढ़ निष्ठा होगी, जिन्हें गुरुभजनों की चाह होगी, जिन्होंने गुरुप्रेम प्राप्त किया होगा, वही उसका माधुर्य जान पायेगा। सद्गुरु का नाम लेते ही चारों मुक्ति मस्तक झुकाती हैं। किन्तु गुरुभक्तों को मुक्ति बिलकुल अच्छी नहीं लगती। क्योंकि गुरुचरणों में निजमुक्तता सहज ही विद्यमान रहती है। जिनके चरणों का तीर्थ लेने से चारों ही मुक्ति पवित्र हो उठती हैं और सारे पुरुषार्थ चरणों पर आ गिरते हैं, वे गुरुभक्त तीनों लोकों में धन्य हैं। नित्य, निराधार, निधर्म एवं निर्विकार ऐसे चैतन्य का वास्तव में सद्गुरु ने ही जीर्णोद्धार किया इसलिये सद्गुरु ही सत्स्वरूप हैं। यदि सद्गुरु की कृपा न होती तो कोई देवताओं का भी कुशल-क्षेम न पूछता। देवता को देवत्त्व प्रदान करने वाला सचमुच सद्गुरु ही है। वास्तव में, सद्गुरु की कृपा के बिना भगवान होते हुए भी नहीं के बराबर हो गया था। उसे देवता के उचित स्थान पर बिठा कर उसका भजन करने के लिये प्रेरित करने वाला एक गुरुराज ही है। उस सद्गुरु की कथा सुनाकर मैंने गलती की। मुझसे बहुत बड़ा अपराध हो गया। श्रोतागण इसके लिये क्षमा करें। लेकिन मैंने यह व्यर्थ ही नहीं कहा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दत्तात्रेय के शिष्यों का नाम बताते समय मुझे जनार्दन का भी स्मरण हुआ। मैं भले ही यह कहूँ कि मैं जनार्दन का स्मरण नहीं करता लेकिन वह मुझे स्वयं का विस्मरण नहीं होने देता। वह हठपूर्वक निरन्तर, रात-दिन मुझे अपनी याद दिलाता रहता है। मैं जहाँ भूलने का प्रयास करता हूँ, वहीं वह आकर खड़ा हो जाता है। मैं भले ही उसकी ओर न देखूँ लेकिन मेरा वह न देखना भी वह स्वयं ही हो जाता है। घट आकाश को छोड़ना चाहता है लेकिन आकाश घट को नहीं छोड़ता। उसी प्रकार जनार्दन हमारे पीछे लगा हुआ है। मैं उसकी बात नहीं करता लेकिन वही मेरे मुख में वक्ता बनकर रहता है जो मुझे बोलने को बाध्य करता है। तो अब मैं करूँ तो क्या करूँ? किसी दृश्य पदार्थ को देखने लगता हूँ तो मुझे उसके अन्दर-बाहर जनार्दन ही दिखाई देने लगता है। कान से कुछ सुनने लगता हूँ तो उन शब्दों में जनार्दन ही घुस जाता है। अब न मैं कुछ देखूँगा, न सुनूँगा ऐसा विचार कर शान्त बैठता हूँ तो उस शान्ति के रूप में भी जनार्दन दिखायी देने लगता है। बस, ऐसी परिस्थिति में फँस गया हूँ। जनार्दन किसी बात का विस्मरण नहीं होने देता। हर दृष्टि से मैं अपराधी हूँ। अब श्रोतागण ही कोई उपाय सुझाएँ। इस पर श्रोतागण बोले, "महान आश्चर्य है। इन बातों में अहंभाव तो जरा भी नहीं दिखायी देता। इसके बोलने का भाव देखकर तो प्रेम का उफान आता है। तुम्हारे शब्दों पर विचार करें तो वे क्षीरसागर से भी गहरे मालूम होते हैं। तुम्हारे प्रेम का आकर्षण कुछ विचित्र है।" हम स्वानन्द में डोलना चाहते हैं। तुमने गुरु सम्बन्धी जो निरूपण किया वह प्रेमयुक्त ब्रह्मज्ञान का ही स्वरूप है। इसलिये हमें बहुत समाधान हुआ है। तुम्हारे निरूपण में दोष देने की जगह ही नहीं है। गुरु का स्मरण नित्य करना चाहिये यह तत्त्व गुरु ने स्वयं ही बतलाया। अमृत के सेवन से कौन तृप्त होगा? तिस पर जनार्दन के प्रति तुम्हें असीम प्रेम है, यह बात भी हमें ज्ञात हो गयी है। निरूपण तो अपूर्व था ही उसे रसालता भी प्राप्त हो गयी। तुम मूलकथा का आख्यान सुनाओ या उपाख्यान, लेकिन तुम्हारा निरूपण का माधुर्य अन्य किसी बात में कैसे आयेगा? शुद्ध निरूपण से गुरु का वर्णन करते हो और तिस पर स्वयं को अपराधी कहते हो। इससे मालूम होता है कि तुम्हारी बुद्धि किस तरह एकरूप हो गयी है। अपने विनय से श्रोताओं का सम्मान अधिक बढ़ाते हो। तुम्हारी जो अपराधबुद्धि है वह भगवद्चरणों में ही विलीन हो गयी है। तो अपराध की शुद्धि तो हो ही गयी। सच्चे ज्ञानी तुम्हीं हो। जब गुरु की स्तुति करते हो तो मूलकथा को भूल जाते हो। प्रेम का लक्षण ऐसा ही होता है। हमें अच्छी तरह मालूम हो चुका है। कुछ अन्य श्रोताओं ने कहा, "हमारे मन को थोड़ा आश्चर्य हो रहा है। इसलिये ग्रन्थ के अगले भाग का प्रारम्भ कर मूल कथा सुनाओ।" संतों के इस भाषण का सम्मान कर तथा उनके चरणों को प्रणाम कर आगे की कथा सुनाता हूँ, श्रोतागण ध्यान से सुनें। इस प्रकार उस अवधूत ने यदु को परमार्थ बताया। उस भाषण से उसका बहुत समाधान हुआ। इसके बाद वह शान्त होकर बैठा रहा।

श्रीभगवानुवाच

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः।
वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम्॥ ३२॥

श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा, "इस प्रकार राजा को ब्रह्मज्ञान देकर तथा उसका समाधान हुआ देख अवधूत उससे विदा लेकर जाने के लिये तत्पर हुआ। तब राजा ने उसके चरण पकड़ लिये। अत्यन्त प्रेम से उसकी पूजा कर, उसे प्रदक्षिणा कर उसने पुनः उसके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया।" 'जाइये' वह कह नहीं सकता था और 'रहिये' कहने से स्वामित्व का आभास होता। वियोग तो असहनीय होने लगा। इससे वाचा बन्द हो गयी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसकी वह अवस्था देखकर श्री दत्तात्रेय के मन में करुणा उत्पन्न हुई और उन्होंने उसके मस्तक पर हाथ रखकर प्रसन्न मुद्रा से कहा कि आज से तुम्हारा और मेरा कभी वियोग नहीं होगा। राजा को इस प्रकार का आश्वासन देकर श्रीदत्तात्रेय निकल पड़े। जितनी प्रसन्नता से वे आये थे उतनी ही प्रसन्नता से वे चले गये। राजा को अत्यन्त समाधान हुआ और वह निजात्मबोध से निरन्तर सुखी हुआ।

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः।
सर्वसङ्गविर्निर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह॥ ३३॥

उद्धव को सामने देखकर श्रीकृष्ण ने कहा, ''यदुराजा, यह हमारे पूर्वजों का भी पूर्वज और राजाओं का मुकुटमणि था। तुम यदि उसका नाम नहीं जानते तो यह अपूर्व बात है। लेकिन उसके ही नाम से हम सारे वीर अपने को 'यादव' कहते हैं।'' नन्द के पुत्र श्रीकृष्ण ने आनन्दपूर्वक आगे कहा, वही यदु हमारा पूर्वज है। उसने ही दत्तात्रेय के साथ ब्रह्मज्ञान का संवाद किया। श्रीदत्तात्रेय के भाषण के हृद्गत पर विश्वास करने के कारण ही यदु में सर्वसंग परित्याग की पात्रता उत्पन्न हुई। जो संग छोड़कर दूर गया उसने 'संगत्याग' किया ऐसा कहना चाहिये लेकिन जो संग में रहकर भी स्नेह छोड़ देता है उसी को 'संगमुक्त' समझना चाहिये। आकाश सर्वत्र सभी वस्तुओं को आवृत्त करता है लेकिन वह किसी को भी स्पर्श नहीं करता। इसी का नाम है—'संगमुक्तता'। लेकिन यदु के पास इससे भी विशेष प्रकार की संगमुक्तता आ गयी थी। उद्धव! वह कथा भी बताता हूँ, सुनो। सचमुच, सबके संग में रहते हुए भी दत्तात्रेय के बोध से उसे संग की भनक भी नहीं लग रही थी। इसी का नाम है विशेषमुक्तता। पहले मेरी द्वैत से संगति थी। वह जाकर अब मैं निःसंग हो गया। ये दोनों ही बातें मिथ्या हैं। मैं सबसे 'विनिर्मुक्त' हो गया हूँ। रस्सी कभी साँप नहीं होती लेकिन उस पर साँप होने का आरोप किया जाता है। लेकिन वह भी रस्सी से ही नष्ट होता है। यह आत्मभ्रम भ्रान्ति के कारण ही निर्मित हेाता है। रस्सी तो रस्सी के ही रूप में रहती है लेकिन जिसे भ्रम है उसके मन में वह साँप के रूप में रहता है। इस प्रकार का द्वैत का भ्रम टूटते ही राजा को धीरे-धीरे समाधि लग गयी। ऐक्यभाव से समबुद्धि होने का नाम ही 'निजसमाधि' है। यही समाधि राजा को प्राप्त हो जाने के कारण वह ब्रह्मस्वरूप तक पहुँच गया। कृष्ण ने उद्धव से कहा, ''यदि तुम भी ऐसे के वंश में जन्म लेकर ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त करोगे तो पूर्वजों की प्रतिष्ठा में कमी आ जाएगी।'' इस पर श्रीकृष्ण ने उद्धव से तिरस्कारपूर्वक बोल कर अद्वैत पर टूट पड़ने के लिये उसकी उत्कंठा पर एक और प्रहार किया। एक तो विषैला काला सर्प, तिस पर यदि उसकी पूँछ पर पैर रख दिया जाय तो वह क्रोध से दंश करने के लिये टूट पड़ता है, किसी के वश में नहीं आता। उसी प्रकार उद्धव पहले से ही अनुताप दग्ध था, तिस पर श्रीकृष्ण ने उसका तिरस्कार किया तो वह परब्रह्म को निगलने के लिये मन में व्याकुल हो उठा। कृष्ण और उद्धव के बीच जो संवाद हुआ वह अगले अध्याय में है। उसमें गुरु-शिष्य का लक्षण बताया जायगा। चतुर श्रोताओं को उसका श्रवण करना चाहिये। एका जनार्दन कहता है, कृष्ण के मुख से निकला भाषण अत्यन्त गूढ़ है। यद्यपि मैं ठीक प्रकार से उसका वर्णन नहीं कर सकता फिर भी उसके स्वाभाविक माधुर्य से अंतःकरण तृप्त होता है। यदि शर्करा का करैला बनाया जाय तो उसमें कड़ुवाहट नहीं रहती। उसी प्रकार यह ग्रन्थ भले ही प्राकृत भाषा में लिखा गया हो लेकिन उसमें पूर्ण रूप से स्वानंद ही भरा हुआ है। यदि सोने का पिण्ड भी बनाया जाय तो वह पत्थर के मोल नहीं बिकेगा। उसी प्रकार भागवत यदि प्राकृत में भी हो तो भी उसमें आत्मज्ञान की कमी नहीं होगी। मोती के लिये लोग समुद्र में डुबकी लगाते हैं लेकिन यदि वही मोती घर के कुएँ में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मिलने पर कोई उसे फेंक देता है तो वह मूर्ख ही कहलायेगा। उसी प्रकार संस्कृत भाषा का अध्ययन कर बड़ी कठिनाई से परमार्थ से भेंट होती है, यदि वही परमार्थ देशी भाषा में प्राप्त हो जाय तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। धनवान और जानकार रत्नपरीक्षक हो तो वह धूल में पड़ा हीरा देखने पर उसे अपनी गाँठ में बाँध कर घर ले आता है। उसी प्रकार जो भी ज्ञाता या विद्वान हो उसे यह देशी भाषा में लिखा ग्रन्थ देखकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये बल्कि उसका अच्छी प्रकार परीक्षण कर चित्स्वरूप रत्न प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि क्षुद्र दृष्टि से देखें तो साक्षात व्यासजी के ग्रन्थ पर लोग नाक भौं सिकोड़ सकते हैं। फिर यह तो मराठी में लिखा काव्य है। इसीलिये कुटिलता छोड़कर इसे पढ़ें। जिन्हें आत्मसुख की चाह है वे प्राकृत में लिखे ग्रन्थ में मीन मेख नहीं निकालेंगे। वे ज्ञान रस को ही ग्रहण करेंगे क्योंकि उनमें परमार्थ के प्रति उत्कंठा रहती है। जो सचमुच ही परमार्थी हैं वे ही इस ग्रन्थ के अधिकारी हैं। जिनकी भागवत पर भक्ति है उन्हें ही निजसत्व प्राप्त होगा। जिनकी भागवत पर भक्ति नहीं है जो व्यर्थ ही विद्वत्ता की डींग हाँकते हैं, वे ही यदि निन्दा न करें तो आगे जाकर उन्हें भी भक्ति प्राप्त होगी। जिनके मन में सदा निन्दा ही भरी रहती है उन्हें कभी भी सद्गति प्राप्त नहीं होती। निन्दा सबसे श्रेष्ठ पातक है। निन्दक का नाम लेने पर भी जिह्वा को दोष लगता है। इसलिये प्रायश्चित के रूप में रामराम कहना चाहिये। किन्तु निन्दा में भी स्वार्थ ही दिखायी देता है क्योंकि निन्दक भक्त का हित ही करते हैं। वे अपना नुकसान कराकर दूसरों के सारे दोष धो डालते हैं। इसलिये श्रोताओं को गुण और दोष छोड़कर शान्त बैठना चाहिए। जिस ज्ञान का प्रवक्ता स्वयं श्रीकृष्ण है, वह ज्ञान अत्यन्त रसाल होगा यह कहने की आवश्यकता नहीं है। श्रीकृष्ण और उद्धव का यह ज्ञान अज्ञान को तत्काल दूर कर देता है इसलिये एका जनार्दन विनती करता है कि ध्यान देकर उसका श्रवण करें।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकदश स्कंधे,
श्रीकृष्ण उद्धव संवादे एकाकार टीकायां नवमोध्यायः ॥ ९ ॥
श्री कृष्णार्पणमस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दसवाँ अध्याय

अब सद्गुरु रूप धन्वंतरी को प्रणाम करता हूँ। उसकी दृष्टि से ही मनुष्य रोग से मुक्त होता है। इस संसार में भवरोग की बाधा दूर करने में उसके जैसा समर्थ अन्य कोई नहीं है। जिस भवरोग के संताप से लोग आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक इन त्रिविध तापों से झुलस रहे हैं, 'मैं' और 'मेरा' जैसे संकल्पों से वे सदा बड़बड़ाते रहते हैं, द्वैतभावना के उद्भव के कारण उनके जीभ का स्वाद नष्ट हो जाता है और मुँह कड़ुआ हो जाता है, इसीलिये वे मुँह से विष की तरह कड़ुई बातें करते रहते हैं। व्याधि के सन्निपात में वे विवेक को लात मारते हैं और वायु के झटके में हाथ से धैर्य को झटक कर वासनारूप जंगल में भटकने लगते हैं। महत्वाकांक्षाओं में सागर में डूबते-उतराते हैं, संकल्पों के मृगजल में डूबने और स्वर्ग की चोटी पर तेजी से चढ़ने लगते हैं और पैर फिसल कर नीचे गिर पड़ते हैं। माया की कँटीली झाड़ियों की खरोंच उन्हें लगती रहती है, लोभरूपी बैर के काँटे उन्हें कचोटते रहते हैं और वे प्रपंच से लिपट कर बैठ जाते हैं। फिर यदि कोई उन्हें पीटता भी है तो वे वहाँ से भागते नहीं हैं। भवरोग के भ्रम में वे कैसा पागलों जैसा आचरण करते हैं जो नहीं खाना चाहिये उसे खाने लगते हैं, जो नहीं करना चाहिये वह करते दिखायी देते हैं और स्त्रियों के पीछे पागलों की तरह दौड़ते रहते हैं। धन के भय से उन्हें कँपकँपी छूटती है और वे काँपने लगते हैं। मन को झटका लगता है और उनका शरीर पसीने से तरबतर हो जाता है। ऐसी स्थिति में कहीं तो मुँह छिपाकर बैठ जाते हैं। जब शरीर में भोग विलास का उन्माद चढ़ता है तो वे जमीन अथवा खाट पर नहीं रह पाते, विधि का आवरण वे फेंक देते हैं और कहीं भी उनकी चित्तवृत्ति स्थिर नहीं रह पाती। ज्ञानशक्ति क्षीण हो जाती है, शिथिल होकर वे छटपटाते रहते हैं और विषयरूपी जल माँगते रहते हैं। थोड़े से जल से उनकी प्यास पूरी नहीं होती और वे पेटभर पानी की हाँक लगाये रहते हैं। इस प्रकार सदा कुपथ्य करते रहने के कारण उनमें जीर्ण ज्वर उत्पन्न होने लगता है। कालान्तर में क्षय का प्रकोप होकर शरीर बिलकुल क्षीण हो जाता है। क्षण-प्रतिक्षण यह क्षीणता बढ़ती जाती है और शरीर में हुए विकारों के कारण चिन्ता उत्पन्न हो जाती है और सुख नष्ट हो जाता है। रोग का जोर इतना विचित्र रहता है कि परमार्थ कड़ुआ लगने लगता है और विषय मधुर लगता है। इस रोग को निर्मूल करने के लिये सत्कथा सुनाइये तो मुँह की भावार्थरूप दाढ़ें बन्द होकर दाँत बजना बन्द हो जाता है। अर्थात् सत्कथा अच्छी नहीं लगती। तुलसी का रस तथा शहद का मिश्रण नाक में डालने से उसे नाक खींच नहीं पाता, उल्टे इससे उसके सर में दर्द होने लगता है। इस प्रकार वह पूरी तरह रोगग्रस्त होकर रहता है। ऐसा यह जबर्दस्त रोग देख कर सद्गुरुरूपी चतुर वैद्य आगे बढ़ता है और कृपादृष्टि से उसकी ओर देखकर उसका रोग तत्काल ठीक कर देता है। वह वैद्य (सद्गुरु) अत्यन्त बुद्धिमान होने के कारण रोगी का प्राण जाने पर भी उसे मरने नहीं देता। वह प्राण के बिना ही उसे जीवित रखता है ऐसी सिद्धि सद्गुरु के पास होती है। रोगी का भाग्य महान है इसीलिये वह गुरु कृपा कूर्मावलोकन करता है और वही रोगी के लिये अमृत पान की तरह सिद्ध होकर वह तत्काल प्रकृतिस्थ हो जाता है। इस प्रकार प्रकृतिस्थ हो जाने के बाद वह रोगी स्वयं ही नित्यानित्य का पालन सावधानी से करने लगता है। किन्तु इतने से उसका जीर्ण ज्वर दूर नहीं होता तथा क्षय के लक्षण भी कम होते नहीं दिखायी देते। इसलिये सद्गुरु उसे रसायन देना शुरू करता है। रोगी को 'अर्धमात्रारूपी अक्षरस' देते ही उसका क्षयरोग दूर होकर वह पहले जैसा 'अक्षय' (अविनाशी) हो जाता है। रोगी कहीं भीषण कुपथ्य न कर दे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसलिये उस पर वैराग्य की नजर रखता है और निरन्तर आत्मानुसंधान का पथ्य देकर उसके संसाररूपी रोग का निवारण करता है। रोगी पूरी तरह ठीक हो जाने पर उसे तेज भूख लगती है इसलिये वह मानसिक चिन्ता की लाई बना कर भकाभक एक ही क्षण में खा जाता है। चार वर्णरूपी काला सफेद चना चार आश्रमरूपी अग्नि में भून कर उसे 'अहं-सोहं' रूपी गुड़ के साथ खा जाता है। फल की आशा के झोले भरे हुए थे उसे भी वह खा गया। गुड़ और चीनी की चाशनी की तरह कर्माकर्म के लड्डू बिना मीठा या कड़ुआ कहे वह अपनी इच्छा से खाने लगा। 'ब्रह्माहमस्मि' की चरम प्रवृत्ति के सुन्दर पकवान उसे दिखाई पड़े उसे तत्काल खाकर वह माया के पीछे पड़ गया। तब माया उसके डर से भाग गयी और अपने मिथ्यत्व में ही विलीन हो गयी। तब स्वानंद पुष्ट हुआ और संसाररोग बिलकुल नष्ट हो गया। ऐसे जिस सद्गुरु वैद्य ने मेरा उपचार कर मुझे स्वस्थ किया उसकी शरण में जाना चाहता हूँ तो चारों ओर तुम ही दिखायी देते हो। तुम से स्वयं को अलग कर तुम्हारी शरण जाना चाहूँ तो दोनों के बीच का 'तू' पन और 'मैं' पन नष्ट हो गया। तो तुम्हारा भजन अब किस प्रकार करूँ। जिनके जीवन-बन्धन टूट कर जो साक्षात आत्माराम हो गये वे भी तुम्हारी निष्काम भक्ति करते हैं। पूर्णावस्था को प्राप्त लोगों की तो यह स्थिति है। जो मोक्ष को गुरुभजन से श्रेष्ठ मानते हैं, वे भी मूर्ख हैं क्योंकि बहुत कम लोग जानते हैं कि मोक्ष तो गुरु चरणों का सेवक है। हमें तो सद्गुरु दृष्टि से ही परम स्वास्थ्य लाभ होता है। हम सद्गुरु स्तुति से ही संसार में पूजनीय होते हैं। गुरु सेवा के कारण ही हम भाग्यवान हैं और हमारा सामर्थ्य हमें गुरु स्तुति से ही प्राप्त हुआ है। सद्गुरु का नाम ही हमारे लिये वेदशास्त्र है, सारे मंत्रों की अपेक्षा सद्गुरु का नाम ही हमें अधिक श्रेष्ठ मालूम होता है। सद्गुरु का तीर्थ सारे तीर्थों को पवित्र करता है और गुरु के चरण हमारा क्षेत्र है और उस पर हमारा स्वतंत्र रूप से अधिकार है। तुम कहोगे कि अब यह स्तुति बन्द करो लेकिन तुम्हारी शपथ लेकर कहता हूँ कि तुम्हारे उदार गुणों का वर्णन करते मन को तृप्ति नहीं हो पाती। सचमुच तुम्हारा गुणवर्णन करने के लिये ही मैं श्रीभागवत की टीका लिखने के लिये प्रवृत्त हुआ, तुमने ही मुझे भक्तिपंथ की ओर अग्रसर किया और तुम्हारी कथा-कीर्तन के लिये प्रवृत्त किया। संसाररूपी हाथी को विदीर्ण करने वाले हे सिंह जनार्दन! तुम्हारी जय हो। मैं एकाएक तुम्हारी शरण में आया और तुम्हारे श्रीचरणों तक पहुँचा। श्रीभागवतशास्त्र मुझे गुरुकृपा से प्राप्त हुआ, उसका मतितार्थ श्रवण करें। श्रीकृष्ण उद्धव से परमार्थ का उपदेश करेंगे। यदु और अवधूत के संवाद में चौबीस गुरुओं के लक्षण सुनकर उद्धव की भावना ब्रह्ममय हो गयी। ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, मुझमें भी वह अंतर्बाह्य व्याप्त है, किन्तु स्वयं मुझे भी वह समझ में नहीं आता। इसका क्या उपाय किया जाय? उद्धव के मन की यह चिन्ता श्रीकृष्ण की समझ में आ गयी। वही उपाय श्रीकृष्ण ने अविरोध बताना शुरू किया।

श्रीभगवानुवाच

मयोदितेष्ववहितऽ स्वधर्मेषु मदाश्रयः।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत्॥ १॥

पहले वेदरूप में वर्णाश्रम धर्म मैंने ही बतलाया। नारदपंचरात्रादि ग्रन्थों में वर्णित वैष्णव धर्म यह मेरी उपासना का रहस्य भी बतलाया। जिसका जो भी वर्ण और आश्रम हो उसको उस वर्णाश्रम धर्म के अनुसार आचरण करना चाहिये। दूसरे के धर्म का आचरण करने से बहुत दुःख भोगना पड़ता है। उद्धव, यह बात ध्यान में रखो कि जो कर्त्ता है उसे अत्यन्त सावधानीपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। इस सावधानी के लक्षण ज्ञानी लोग जानते हैं। यहाँ कर्म चार प्रकार का है—नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा प्रायश्चित्त ये कर्म के चार विभाग हैं। ये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जानते हैं। यहाँ कर्म चार प्रकार का है—नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा प्रायश्चित्त ये कर्म के चार विभाग हैं। ये कर्म करते समय वृत्ति सावधान रखनी चाहिये। कर्म का आचरण कैसे करना चाहिये इसका मर्म मैं तुम्हें अभिनव प्रकार से बताऊँगा। नित्य और नैमित्तिक कर्म अत्यन्त आवश्यक हैं। वह प्रत्येक व्यक्ति को करना ही चाहिये वह कर्मफल की आशा किये बिना यथाविधि करना चाहिये। नित्यकर्म जैसे-जैसे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे नैमित्तिक कर्म भी बढ़ने लगता है। फिर विषयप्राप्ति की इच्छा से काम्य कर्म उफनता है तब वह निषिद्ध हो जाता है। इसलिये फल की अभिलाषा न कर नित्य नैमित्तिक कर्म समर्पण जानकर कृष्णार्पण करना चाहिये। काम्य अर्थात् सकाम कर्मों का विशेष त्याग करना चाहिये जिस प्रकार उलटी किये हुए पदार्थ को लोग भूलकर भी नहीं देखते। जब कामना ही छूट जाय तभी काम्य कर्मों का त्याग करना चाहिये। मन में कामना करने पर काम्य कर्मों का त्याग सम्भव नहीं होता। मन में विविध प्रकार की कामनाओं का ताण्डव चल रहा हो और बाहर से विरक्ति का ढोंग करना यह तो विडम्बना है। हे चतुर! उसे त्याग नहीं कहा जा सकता। कामना जब बढ़ने लगती है तो निषिद्ध कर्म घटने लगते हैं। इसलिये कामना को ही समूल नष्ट करने से निषिद्ध कर्मों के घटने की सम्भावना नहीं होती। या आँखों के समक्ष निषिद्ध कर्म होते देख यदि हरिनाम की गर्जना की जाय तो निषिद्ध कर्म बारह मार्गों से भाग जाते हैं। हरिनाम के योग से सहस्र प्रायश्चित्तों का श्रेय मिलता है। जहाँ हरिनाम का जयघोष चलता रहता है वहाँ निषिद्ध तत्काल भस्म हो जाता है। निषिद्ध अभक्तों के शरीर पर प्रहार करता है, भक्तों के पास वह कभी भी नहीं आता। काम्य-निषिद्ध की हवा भक्तों को नहीं लगती। भगवान जब भक्तों की रक्षा करता है तो उन्हें दोषों का सम्पर्क कैसे होगा? सहस्र प्रायश्चित्त केवल एक नामोच्चार से सम्भव होते हैं यह गोपनीय बात किसी से न कहना। काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग करने के सम्बन्ध में मैंने तुम्हें विस्तार से बताया है। अब नित्य और नैमित्तिकों के कर्म विभाग के बारे में भी सुनो। ईश्वर को अर्पण करने की दृष्टि से नित्यनैमित्तिक कर्म अवश्य करने चाहिये। वही मन को निर्मल करता है तथा परमार्थ का प्रमुख साधन है। कुछ लोगों का विचार है कि स्वधर्म बिलकुल निष्फल है लेकिन वे मूर्ख उसका मर्म नहीं जानते। स्वधर्म का आचरण करने से जन्म सफल होता है और स्वधर्म के योग से परमार्थ का फल मिलता है। सुवर्ण की अशुद्धि को दूर करने के लिये जब उसके पत्रे के दोनों ओर लेप लगा कर उसे आग दिखायी जाती है तो वह पुनः चमकने लगता है। उसी प्रकार स्वधर्म मुझे अर्पण करने से उसका कर्म सफल होता है। यह गोपनीय मर्म कर्मठों को न मालूम होने से उन्हें कर्म के सम्बन्ध में बहुत बड़ा भ्रम रहता है। कर्म मुझे अर्पण करने की बात कठिन अवश्य लगती है लेकिन जिसे मुझसे प्रीति है उसकी दृष्टि से मुझे समर्पित रहती है। जिसका मन कृष्ण में सुनिश्चित हो गया है उसके सारे कर्म कृष्णार्पण हो जाते हैं। भले ही वह मुझे अर्पण न करे लेकिन वे सहज ही मुझे अर्पण हो जाते हैं। जो रथ में निश्चल बैठा दिखायी देता है, वह अपने स्थान से बिना हिले भी चलता हुआ-सा दिखाई देता है। उसी प्रकार उसका (भक्त) स्वकर्म अनायास ही मुझे अर्पण हो जाता है। इस प्रकार निष्काम होकर सुखपूर्वक स्वधर्म का आचरण करें। उसके योग से रज-तम बचाकर सत्व के योग से पुरुषोत्तम को प्राप्त होते हैं। वर्ण और आश्रम की उत्पत्ति का मूल आधार जो मैं हूँ, उसे पहचानना चाहिये। अपने स्वभाव के अनुसार कुलधर्म से मेरी अकेले की ही उपासना करनी चाहिये। वर्ण के लिये मैं ही आश्रय भूत हूँ। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू' यह वचन प्रसिद्ध है। उसी प्रकार आश्रमों की उत्पत्ति भी मेरे ही कारण है यह बात वेद गरज-गरज कर कह रहे हैं। देव, देवी और कुलाचार का अधिष्ठान मैं हूँ। इस प्रकार मैं सभी का आधार हूँ। उद्धव तुम्हें मैं रहस्य की एक बात बताता हूँ, सुनो। सारे कर्मों का अध्यक्ष मैं हूँ, यह समझ लो और कर्म करते समय मेरी ही अभिलाषा करो तथा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्रिया करते समय भी मेरी ही धारणा करो। इस प्रकार कर्मों के आदि, अन्त और मध्य में अविनाशी मैं हूँ। मुझे अंत:करण में रखने से वे कर्म ही निष्कर्म में हो जाते हैं, इस बात को हे उद्धव, निश्चित रूप से समझ लो।

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम्।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम्॥२॥

इस प्रकार जिसका अंत:करण स्वधर्म के योग से शुद्ध हुआ रहता है, उन्हें पहचानने का यह लक्षण है कि वे उदासीन रहते हैं। उनकी विषय के प्रति आस्था बिलकुल नहीं होती किन्तु विषयासक्त लोगों को अपनी विषयासक्ति के कारण सारे कर्म विपरीत ही दिखाई देते हैं। मृगजल के तालाब कितने भी भरे क्यों न हों लेकिन उसमें धान या केले की पैदावार नहीं हो सकती। उसी प्रकार जिनकी बुद्धि ही विषय लंपट है उन्हें आत्मसुख के फल कभी भी प्राप्त नहीं होंगे। देखो, जो विषयासक्त होते हैं वे 'आयु:कामार्थ', आयुष्य की वृद्धि हो तथा मनोरथ सिद्ध हों—'क्षेमार्थ' मेरा निरन्तर कल्याण हो, 'धनधान्यार्थ-समृद्धि' धनधान्य की समृद्धि हो इस प्रकार का संकल्प कर्म करने के प्रारम्भ से ही करते रहते हैं। इसी हेतु से कर्म प्रारम्भ करने के कारण वास्तव में स्वकर्म होता ही नहीं है। बल्कि स्वधर्म के बहाने वे सर्वदा मनोरथों की ही उपासना करते रहते हैं। बैल को दुहने का प्रयास करने से सीप भर भी दूध नहीं निकलता, उसी प्रकार मनोरथ की उपासना करने से आत्मसुख बिलकुल प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार का कर्म वास्तव में कर्म होता ही नहीं है और उसे करने से वह सिद्ध भी नहीं होता। उसमें अनेक बाधायें आकर उसका विनाश हो जाता है। इसके अतिरिक्त देवताओं की ओर से भी बाधा आने की सम्भावना रहती है। विषयसेवन में सुख है यह सोच कर उसको प्राप्त कराने में यज्ञकर्म ही श्रेष्ठ है यह मानकर मूर्ख लोग कष्ट कर असीम दु:ख पाते हैं। तीनों वेद जानकर यज्ञकर्म में पारंगत हुए लोग स्वर्गादि फलों की इच्छा कर, मुँह नीचे कर अध:पतन को प्राप्त होते हैं। विवेक से दृष्टि प्रगल्भ होकर जो स्वर्ग को तृणवत मानकर उसे स्वीकार नहीं करते उसके पीछे वैराग्य लग जाता है—बल्कि वह शीघ्रता से उसके घर में प्रवेश करता है। वह वैराग्य का मायका है, विश्राम का भी विश्राम स्थल है। इतना नहीं बल्कि साक्षात विवेक ही उस पुरुष के रूप में साकार हुआ है ऐसा समझना चाहिये। ऐसे विवेक से बनी विवेक दृष्टि से देखने पर स्वर्गादि विषय भी मिथ्यासृष्टि मालूम होते हैं। हे जगत्श्रेष्ठ उद्धव! उस मिथ्यत्व का निरूपण अब सुनो।

सुप्तस्य विषयालोके ध्यायतो वा मनोरथ:।
नानात्मकत्वाद् विफलस्तथाभेदात्मधीर्गुणै:॥३॥

स्वप्न और मनोरथ ये दोनों मन के ही खेल हैं। जो सो रहा है उसे वे सत्य ही मालूम होते हैं लेकिन जागृत होने पर वही मिथ्या मालूम होते हैं। उसी प्रकार कामना के उल्हास तथा इन्द्रियों की आसक्ति से बुद्धि में इहलोक और परलोक के भोग का मिथ्या पागलपन घुसा रहता है। सीप सीप ही रहती है किन्तु धन का लोभी उसे रजत समझ बैठता है, उसी प्रकार विषय की अभिलाषा से भेद का पागलपन उसे जकड़ लेता है। स्वप्न में मनुष्य को मृत अवस्था में देखता है और जागृत होने पर स्वयं ही उसे झूठ कहता है, उसी प्रकार आत्मस्वरूप में जागृति आने पर उसे जन्म-मरण दिखायी ही नहीं देता। जीव और शिव का भेद जब तक कायम रहता है तब तक जन्म-मरण की बाधा रहती है। जब वह भेद ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है तो अद्वैत में वह बाधा नहीं रहती। वह भेद किस तरह दूर होता है, स्वस्वरूप से भेंट किस प्रकार होती है, उसके लिये एक उत्तम साधन बताता हूँ, ध्यान से सुनो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत।
जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनान्॥ ४॥

मन में वासनाओं का मैल रहता है, इसलिये यह भेद सबल मालूम होता है। इसलिये मन से मैल निकाल कर उसे निर्मल करते रहना चाहिये। पहले जिस नित्य नैमित्तिक कर्म के सम्बन्ध में कहा गया है उसी का नाम 'निवृत्त कर्म' है। वैसा कर्म साधकों को करना चाहिये। जो मेरे भजन में प्रवृत्त हो गया उसे काम्यकर्म पूरी तरह छोड़ देना चाहिये। मन में किसी भी प्रकार की कामना नहीं रखनी चाहिये। यह पहले भी विस्तार से बताया ही गया है। प्रत्येक कर्म मुझे समर्पित करने का विश्वास रखकर निरन्तर निर्मल कर्म का आचरण करने से मन के सारे मैल धुल जाते हैं। किसान खेत जोतता है और सरकार को उसका लगान दे देता है। गाँव के कंटकों से वह नहीं डरता। कृष्णार्पण से भी वैसी ही स्थिति प्राप्त होती है। चित्त के सारे मैल धुल जाने पर मन में 'नित्य' वस्तु का विचार उभरता है और इह परलोक के सुखों पर लात मार कर वैराग्य से 'अनित्य' का त्याग करता है। इस प्रकार वैराग्य अटल हो जाने पर उससे सत्त्वगुण की वृद्धि होती है। तभी वृत्ति मुझे जानने लायक निर्मल होती है। मेरा चिंतन करने से कामक्रोध का स्मरण ही नहीं होता। उसे अत्यन्त तीव्रता से मेरी लगन लगी रहती है। वह क्षणभर के लिये भी मेरे चिन्तन के बिना नहीं रहता। चित्त की इस अवस्था में जिसे कर्म क्रिया के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है उसे समस्त कर्मों का संन्यास कर ब्रह्मज्ञान में प्रविष्ट हो जाना चाहिये। श्रवण मनन कर्म में यदि कोई त्रुटि आती है तो वह मेरे भक्तों को बाधक नहीं होती क्योंकि वह कर्मों का दास नहीं है। स्वधर्म करने का क्या फल है? तो उससे चित्त का मैल निश्चय ही दूर हो जाता है। किन्तु मेरा भक्त भजन से ही निर्मल होने के कारण उसे स्वकर्म बाधक नहीं होता। सारांश यह कि मेरे भक्तों पर कर्मों की आज्ञा लागू नहीं होती। श्रवण-कीर्तन करते रहने के कारण वे कर्म बन्धन में नहीं फँसते। इस प्रकार जो जिज्ञासावस्था में रहते हैं वे कर्मबन्धन में नहीं फँसते। उद्देश्य ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना होता है, यही बात भगवान उद्धव से कहते हैं।

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्॥ ५॥

वृत्ति पर नियंत्रण करने के लिये अहिंसा, सत्य आदि धर्म बाह्य नियम का विरोध न करते हुए अविश्रांत आचरण करना चाहिये। अहिंसा-सत्य आदि का आचरण करते समय उसकी स्थिति इतनी उज्ज्वल हो जाती है कि उसकी गुरुभक्ति पर अटूट श्रद्धा हो जाती है, दिन-रात वह गुरु का ही चिन्ता करने लगता है क्योंकि उपनिषद में अन्तिम निर्णय के रूप में वचन है कि सद्गुरु के बिना कभी भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होगा। आँखों से अच्छी तरह दिखायी देता है लेकिन यदि उसे सूर्य की सहायता न हो तो उसे सामने की वस्तु नहीं दिखायी देगी। वह अन्धकार में ही निश्चल खड़ा रहेगा। यह सच है कि नौका पार कराती है लेकिन यदि केवट न हो तो इधर से उधर जाना सम्भव नहीं होगा। वर्षा से भूमि में आर्द्रता आती है और टोकरी में बीज भी पड़े हैं, लेकिन यदि तज्ञ व्यक्ति बीज न डाले तो फसल की बात करना व्यर्थ है। सहसा कोई रत्न दिखाई देता है तो मन में यह सन्देह उठता है कि वह असली है या नकली है। फिर रत्न परीक्षक उसकी कीमत लगाता है तब कहीं उसे प्राप्त करने के लिये लोग प्रयास करते हैं। उसी प्रकार आत्मस्वरूप सहज ही उपलब्ध रहता है, उसे श्रद्धापूर्वक सद्गुरु के हाथ से शुद्ध कर ज्ञानी लोग आत्मसुख के लिये प्राप्त होते हैं। आत्मज्ञान सम्पादन करने के लिये सद्गुरु की सेवा कर संत सज्जन शान्त होते हैं क्योंकि सद्गुरु आनन्दघन रहता है। तुम कहोगे कि जो अनेक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साधन किये उनमें गुरु भी एक साधन होगा। लेकिन यही बात अगर मुमुक्षु कहता है तो वह मूर्ख कहलाएगा। उसका निजात्मसुख डूब जाएगा। सद्गुरु साधनरूप है और साध्य उससे अलग है यह कहने से वह लुट जायगा, पूरी तरह लुट जायेगा। जो चित्सुख से सदा सम्पन्न है, जिसे चित्स्वरूप से समाधान प्राप्त होता है वह चिन्मात्र से कभी भी अलग नहीं रह सकता। नमक जब समुद्र में पड़ता है तभी वह समुद्र कहलाता है। दीप जब दावाग्नि को आलिंगन देता है तभी वह दीप तेज दावाग्नि बनकर रहता है। उसी प्रकार जिसे चिद्रूप का ज्ञान होता है वह पूर्णरूप से चिद्रूप ही बनता है। उसी प्रकार गुरु और ब्रह्म भिन्न नहीं थे इस सम्बन्ध में उपनिषद में प्रमाण है। यदि घृत की गुड़िया बनायी जाय तो वह घृत से भिन्न न होकर घी के रूप में ही आकारित होती है, उसी प्रकार सद्गुरु की मूर्ति भी चिद्रूप में ही साकार हुई रहती है या सच्चिदानन्द की शोभा अपनी आँखों से देखने के लिये उसने सहज ही देह धारण किया रहता है। उसकी भेंट होने के लिये सहस्र भाग्य होना चाहिये ऐसा कहते-कहते शायद उससे भेंट हो जाय लेकिन ऐसी भी बात नहीं है। सद्गुरु जिधर भी दृष्टिक्षेप करता है, उधर सुख की ही सृष्टि उत्पन्न होती है। वह जहाँ कहता है वहाँ महाबोध स्वानंद से रहता है। उस सद्गुरु के चरण दिखायी देते ही भूख-प्यास तत्काल नष्ट हो जाती है। कल्पना तो उठ ही नहीं सकती। सारांश गुरु के चरणों में निजसुख निवास करता है। उस सद्गुरु का लक्षण बताते समय शब्द रुक जाते हैं। जो सनातन पूर्णब्रह्म है उसे लक्षण की क्या आवश्यकता है? फिर भी एक लक्षण बतलाने की स्फूर्ति आती है। वह यह कि उसमें सर्वत्र शान्ति दिखायी देती है। शान्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं दिखायी देती। उद्धव! वह शान्ति ही समाधान है। शान्ति ही ब्रह्मज्ञान है और शान्ति ही पूर्णब्रह्म है यह जान लो। सद्गुरु की ऐसी स्थिति जानकर शिष्य के मन में गुरुभक्ति के प्रति प्रेम और भी अधिक बढ़ गया। इसलिए वह गुरु की खोज में निकल पड़ा उसका अंत:करण उसे विश्राम नहीं दिला रहा था। आठों पहर गुरु का ही लक्षण गुरु का ही ध्यान वह करने लगा। उस सर्व समर्थ को मैं कब देख पाऊँगा? मेरा यह पाश कब छूटेगा? मन को शान्ति कब और कैसे प्राप्त होगी? इस प्रकार वह सद्गुरु के लिये पागल हो गया। देखते-देखते यह आयु समाप्त हो गयी लेकिन मेरी अभी सद्गुरु से भेंट नहीं होती, यह मनुष्य देह समान होते ही सब कुछ डूब जायेगा ऐसा उसे लगने लगता है। गुरु का नाम सुनने मात्र से ही वह मन से आगे भागने लगता है और उस वार्ता के ही गले लग जाता है। उसकी आतुरता अत्यधिक बढ़ जाती है। यदि सद्गुरु से प्रत्यक्ष भेंट नहीं होती तो वह मन से ही गुरुनाथ की पूजा करने लगता है और परमभक्ति से पूजा करते समय उसका प्रेम इतना अधिक उफन उठता है कि वह हृदय में नहीं समा पाता। सद्गुरु से भेंट करने के लिये वह तीर्थ और तपोवन भटकता रहता है। नित्यकर्म करते समय भी वह एक क्षण के लिये गुरु को नहीं भूलता। सद्गुरु की प्राप्ति हो इसलिये वह हर छोटे बड़े की पूजा करने लगता है। मेरा गुरु मुझे मिले इसलिये वह ब्राह्मणों का अत्यधिक सत्कार करता है। वह भालू की तरह निरन्तर 'गुरु-गुरु' का जप करता रहता है। गुरु के अतिरिक्त वह अन्य किसी का चिन्तन नहीं करता। उठते-बैठते खाते समय, सोते समय कभी भी मन में गुरु का विस्मरण नहीं होने देता। जागृति में तथा स्वप्नावस्था में भी उसे गुरु की चिन्ता लगी रहती है। कैसी विचित्र बात है। केवल गुरु का स्मरण करते ही उसकी भूख-प्यास समाप्त हो जाती है। वह घर-बाहर के सुख को भूल कर सदा परमार्थ की ही ओर उन्मुख रहता है। सद्गुरु के प्रति जिसका इतना प्रेम रहता है, उसकी आस्था स्पर्धा से बढ़ती ही जाती है। उसे गुरु के रूप में तत्काल मैं ही दर्शन देता हूँ। उत्कंठा जितनी अधिक रहती है, उतनी ही भेंट अधिक निकट होती है। भेंट के लिये साधनों में 'विशेष उत्कंठा' यही प्रमुख साधन है। अन्य कितने ही बड़े साधनों का प्रयोग क्यों न करें लेकिन उससे आत्मज्ञान का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अल्पांश भी हाथ नहीं लगेगा लेकिन यदि सद्गुरु के भजन में प्रवृत्त होंगे तो आत्मज्ञान की राशियाँ सामने लग जायेंगी। मोक्ष भी चरणों पर गिर पड़ेगा। लेकिन गुरु का भक्त उसे भी स्वीकार नहीं करता क्योंकि वह चरण सेवा में ही तल्लीन रहता है। श्रीगुरुचरण का आकर्षण ऐसा विचित्र है कि उसके सामने मोक्षसुख का भी विस्मरण होता है। जिसकी रुचि गुरुभजन में नहीं होती वही संसार के बन्धन में पड़ते हैं। संसार का बंधन तोड़ने के लिये सद्गुरु की ही सेवा करना आवश्यक है। सद्गुरु की सेवा ही मेरा भजन है। क्योंकि गुरु में और मुझमें कोई भेदभाव नहीं है। इस प्रकार गुरु भक्तों की श्रद्धा कितनी असीम होती है और उन्हें गुरुभजन के प्रति कितना प्रेम रहता है उसे मैंने अपनी रुचि से स्पष्ट किया। कृष्ण कहते हैं, हे उद्धव! अब इसी प्रवाह में मैं तुम्हें शिष्यों के लक्षण बताता हूँ।

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः।
असत्वरीऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ६ ॥

जाल में फँसी हुई मछली जिस प्रकार छटपटाती है उसी प्रकार मान-सम्मान का प्रसंग आते ही सच्चा शिष्य संकट में पड़ जाता है। हौवा का नाम सुनते ही जिस प्रकार बच्चा घबरा उठता है उसी प्रकार सम्मान की बात सुनते ही भय से उसे संकट का आभास होता है। तेज हवा के झोंके से जिस प्रकार केले का वृक्ष काँपने लगता है अथवा उफनती हुई लहरों के कारण पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब काँप उठता है, उसी प्रकार सम्मान को वह आँख से भी नहीं देखना चाहता। बड़प्पन को वह एक बड़ा संकट मानता है और वह उसे अपने तक नहीं आने देता। प्रेम से सम्मान स्वीकार करने से देहाभिमान दृढ़ होगा इसलिये वह मान अभिमान छोड़ कर सदा हीन दीन होकर रहता है। मेरा नामरूप नष्ट हो जाय और कोई मेरी ओर न देखे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो ऐसा उपाय वह करने लगता है। लौकिक को देखकर वह उद्विग्न हो उठता है, शरीर से और घर से वह ऊब जाता है, अकेलापन ही उसे अच्छा लगता है इसलिये वह द्वैत का संग ही नहीं करता। उसके मन में यही अभिलाषा रहती है कि कोई मुझे न देखे, कोई मुझे न पहचाने, कोई मुझसे न शरमाये। चोर पीछा करता है उस समय जिस प्रकार धनवान व्यक्ति संकट के कारण छिप कर बैठ जाता है उसी प्रकार मान-सम्मान देखते ही वह देह में उपेक्षा का भाव रखकर छिप जाता है। लोगों के बीच मैं भी हूँ यह कोई न जान पाये ऐसी स्थिति में वह रहता है इसलिये उसे मान-सम्मान सहन नहीं होता। अहं की ममता छोड़ने के लिए वह मान-सम्मान की ओर नहीं देखता क्योंकि कहीं उसे ग्रहण करने से अहं भाव स्थायी हो जायेगा ऐसा उसे लगता है। जिसके उदर में अभिमान समाया रहता है वे ही हमेशा सम्मान की अपेक्षा करते रहते हैं। जो उस अभिमान को ही छोड़ने के लिये तैयार हो जाता है वह मान-सम्मान की ओर नहीं देखता। जिसने सम्मान प्राप्त किया है उसे अपमान सहन नहीं होता अतः वहाँ सहज ही देहाभिमान उत्पन्न होता है। इसलिये उसे सम्मान ही अच्छा नहीं लगता। वास्तव में देखा जाय तो ज्ञाता पुरुष सम्मान प्राप्त करने की लालसा से ही अपने ज्ञान का प्रदर्शन करता रहता है। इसमें आर्थिक स्वार्थ का लोभ भी मन में रहता है। सारांश यही कि सम्मान की इच्छा न रखना ही शिष्य का पहला लक्षण है। अब 'निर्मत्सरता' का लक्षण भी बताता हूँ, सुनो। ज्ञान की ईर्षा के कारण भी ज्ञानियों में परस्पर बैर उत्पन्न होता है। वहाँ अपने देह के प्रति अभिमान पूरी तरह घर बनाकर बैठ जाता है। ज्ञान के अभिमान की कथा का क्या वर्णन किया जाय? असीम तपश्चर्या कर विश्वामित्र दूसरी सृष्टि का निर्माण कर रहा था क्योंकि उसके मन में ज्ञान का अभिमान था। दुर्वासा को भी ज्ञान का अभिमान था इसलिये उसने अम्बरीष को व्यर्थ ही शाप दे दिया। उसके शाप के भय से मैंने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गर्भवास सहन किया। ब्रह्मदेव को भी ज्ञान का अभिमान हुआ और उसने गोपाल वत्सों का हरण किया। ज्ञान के अभिमान के भय से मुझे उनका रूप धारण कर रहना पड़ा। हे उद्धव! सभी प्रकार के अभिमानों में ज्ञान का अभिमान बहुत कठिन है। वसिष्ठ और विश्वामित्र ज्ञानाभिमान के ही कारण परस्पर लड़ रहे थे। ऐसे ज्ञानाभिमान के भय से ही मैं ग्वाला बना। याज्ञिक ब्राह्मणों ने तो मुझे मूर्ख कहा क्योंकि उन्हें कर्म का और ज्ञान का अभिमान था। जब मेरी ही यह अवस्था है तो दूसरों के बारे में क्या कहा जाय? ज्ञानाभिमान के पाश से ज्ञानी जन सरलतापूर्वक छूट नहीं पाते और ज्ञानाभिमान की जाति भी क्या है? वह मूर्खों के पास खड़ा नहीं रहता। ज्ञानियों में ही बैर उत्पन्न कर ईर्ष्यापूर्वक रहता है। सारांश यह कि जिसे ईर्ष्या के बिना रहना है उसे ज्ञान का अभिमान त्याग देना चाहिये। अन्यथा वह ज्ञानियों को ईर्ष्या से रहने को बाध्य करता है। अब ईर्ष्या की सामग्री के बारे में सुनो। वह देह में देहाभिमान को दृढ करता है, ज्ञान का सहारा लेता है और द्रव्य की आशा से उसमें लोभ भी घुस जाता है। जिसके पास इतनी सामग्री एकत्र हो जाती है वही ईर्ष्या के साथ द्वेष को चलाता है। सच्चे शिष्य को यह सहन नहीं होता। वह ईर्ष्या का त्याग ही कर देता है। ईर्ष्या भी कैसी है? वह सदा ज्ञानी के ही पास रहती है। पण्डितों में ईर्ष्या जबर्दस्त होती है। वे इस जन्म में उसे नहीं छोड़ते। जितने भी पण्डित दिखायी देते हैं वे सब ईर्ष्यालु ही होते हैं। वे दिखाने के लिए अत्यन्त विनम्र होकर मीठी बातें करते हैं। लेकिन उनकी बातें ईर्ष्या तथा दूसरों के छल से भरी रहती हैं। ईर्ष्या के कारण पण्डित क्रोध करते हैं और एक-दूसरे पर गन्दे आरोप लगाकर निन्दा करते रहते हैं। ईर्ष्या की ऐसी बाधा सच्चे शिष्य को कभी स्पर्श नहीं करती। जब ज्ञानीजनों को भी ईर्ष्या नहीं छोड़ती तो औरों की क्या बिसात है? किन्तु शिष्य तो द्वेष की बात ही नहीं करता और ईर्ष्या को समूल तोड़ देता है। वास्तव में शिष्य को ईर्ष्या को छोड़कर ही रहना चाहिये। बिना ईर्ष्या के रहने के सम्बन्ध में एक कथा सुनाता हूँ, सुनो। उसके सामने से कोई लाभ ही वस्तु छीन कर भी ले जाए तो वह मन में द्वेष भाव उत्पन्न नहीं होने देता। समस्त प्राणियों में ईश्वर का वास है यह भावना मन में होने के कारण उसे द्वेष हो ही नहीं सकता। दुर्जन निन्दारूपी वाग्बाण उसे कितना ही क्यों न बींधे लेकिन वह मन में द्वेष नहीं उत्पन्न होने देता। निन्दा में वह अपना हित ही मानता है। जिसने मेरी निन्दा की है उसे वह हित चाहनेवाली माँ के समान समझता है। उसने मेरे पापों का मल धो डाला है और मेरी वृत्ति निर्मल कर दी ऐसा ही वह मानता है। ऐसे विचारों से वह अपने मन को द्वेष का स्पर्श नहीं होने देता। इसे ही 'मत्सररहित' होना कहते हैं और यह शिष्य का दूसरा लक्षण है। इसके बाद तीसरा लक्षण है, 'दक्षता' जिसके सम्बन्ध में बताता हूँ। अपना हित साधने के लिये शिष्य की 'दक्षता' कितनी उपयोगी होती है यह तुम्हारी समझ में आयेगा। 'सावधानी' अर्थात् जागरूकता का सूर्योदय होते ही वह निद्रा तथा तंद्रा का अन्धकार झट नष्ट कर देता है और 'धारणा' के दिन की शुरुआत हो जाती है और धृति का मध्याह्न हो जाता है। ऐसे दिन का उदय होते ही शमदमादि समुदाय भक्ति के मार्ग पर चलने लगता है। मार्ग में क्षण भर के लिये भी नहीं रुकता। वहाँ पग-पग पर निजबोध का प्याऊ रहता है जहाँ राह चलने वालों की प्यास तो मिटती ही है साथ ही तृषा की तृष्णा भी शान्त हो जाती है। इस मार्ग में गाँव के लोग (संत) मिले और वे 'सोहं' की भावना से एक साथ हो लिये। इससे आगे का मार्ग चूकने का भय ही नहीं रह जाता। वे सीधे अपने गंतव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं। हे चतुर उद्धव, सुनो! 'आलस्य' या 'विलम्ब' मन को स्पर्श न करे इसी का नाम है 'दक्षता'। यही शिष्य का तीसरा लक्षण है। पहले का पुराना संग्रह उसके पास था उसकी ममता भी वह छोड़ देता है और आत्मज्ञान के अनुभव से उसे छोड़ने का दुःख भी उसे नहीं होता। देह के प्रति 'अहं' को दृढ़ करने से देह के प्रति ममता जगती है। जब मन को देहाभिमान ही स्पर्श न करे तो ममता उसी क्षण नष्ट हो जाती है। शरीर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मलमूत्र की गठरी है और नाशवान है यह तो दिखाई ही देता है इसलिये उसके प्रति होने वाला अहंकार नष्ट होकर, उसके स्थान पर 'सोहं बुद्धि अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ' यह भावना दृढ़तर हो जाती है। सोहंभावना को दृढ़ बना कर उसने अहंभाव तथा ममता का त्याग किया रहता है। शिष्य के मन की यही 'निर्ममता' उसका चौथा गुण है। शिष्य का हित साधने के काम में गुरु ही माता है, गुरु ही पिता है, सगे-सम्बन्धी भी गुरु ही हैं और बन्धु और सुहृद भी गुरु ही हैं। गुरु की सेवा यही उसका नित्यकर्म है, गुरु सेवा ही उसका सच्चा धर्म है, गुरु ही आत्माराम है, उसी प्रकार सुहृद का सारा गौरव भी सद्गुरु ही है। उसी प्रकार सद्गुरु को ही अपना हितैषी मानना चाहिये। हे उद्धव! सद्शिष्य का यही पाँचवाँ लक्षण है। चित्त को वह कभी विचलित नहीं होने देता। सभी प्रकार से सर्वकाल वह आत्मा में ही निश्चल रहता है। शरीर भले ही चंचल हो जाय लेकिन उसका चित्त गुरुचरण में ही अटल रहता है। शरीर व्यापार चलता रहता है लेकिन उसके हृदय में कोई गड़बड़ी उत्पन्न नहीं होती, गुरुचरणों में जो ऐसी निश्चलता रखता है वही सच्चा परमार्थी शिष्य है। जिसके हृदय में चंचलता होती है वह स्वहित साधने वाला शिष्य है ही नहीं। जिसके हृदय में निश्चलता वास करती है वही परमार्थ का साधक है। इस प्रकार की निश्चलता धारण कर जो अपने सच्चे हित की इच्छा रखता है, वही गुरुपदेश से एक क्षण में परमार्थ का पात्र हो जाता है। जिस प्रकार एक दीपक से दूसरा जलाने पर वह भी उसकी ही तरह हो जाता है, उसी प्रकार निश्चल वृत्ति के साधक को गुरु प्राप्त होते ही वह तत्काल तद्रूप हो जाता है। अर्थात् अंत:करण की निश्चलता ही शिष्य का श्रेष्ठ लक्षण है और वही शिष्य का छठवाँ गुण है, इसे ध्यान में रखो। इसी से षट्विकारों का विनाश होता है। षट्विकार देह में ही होते हैं। लेकिन शिष्य देहबुद्धि को स्पर्श ही नहीं करता अत: गुरुपदेश के अनुसार आचरण करने के कारण उसके विकार भी नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार की निश्चलता साध्य कर जो अर्थ जिज्ञासा से परमार्थ की साधना के लिये तैयार होता है, वही गुरुचरणों को भजने लगता है। जिसे अर्थ की जिज्ञासा ही नहीं है वह गुरु का भजन ही नहीं करेगा और अगर कभी करेगा भी तो विषय के लालच से ही करेगा। विषय का स्वार्थ छोड़कर, पूर्ण तत्त्वार्थ जानने के लिये जो भजन करता है, उसी का नाम है 'जिज्ञासा'। ऐसी तत्त्व जिज्ञासा धारण कर वह परमार्थ की चाह बढ़ाता रहता है। इस प्रकार स्वहित के लालच के कारण उसके चित्त को क्षणभर का भी विश्राम नहीं मिलता। परमार्थ के प्रति नितान्त प्रेम तथा 'बढ़ती हुई आस्था' शिष्य का सातवाँ लक्षण है। यह सातवाँ लक्षण जिज्ञासा के ही बल पर परमार्थ की दहलीज चढ़ने में सफल हुआ। अस्तु! सद्गुरु अनेक जनों के लिये शीतल छाँह है शिष्यों की तो माँ ही है। उसके प्रति जो ईर्ष्या करेगा उसकी आत्मप्राप्ति दूर हुई समझिये। इसलिये जो भी कोई गुरु का अनुग्रहीत हो उसे गुरु समान ही मानना चाहिये। उसके चित्त को ईर्ष्या का स्मरण ही नहीं होता। वह सबसे अत्यन्त विनम्रता से आचरण करता है। इसके विपरीत यदि कोई गुरुबन्धु कनिष्ठ हो तथा गरीब हो, उसमें उत्तम गुण भी हों तो उसे न मानना, उस पर झूठे आरोप लगाना कुशिष्य का लक्षण है। दूसरे में उत्तम गुण हो उसे दोष देकर उसका ज्ञान झूठा है यह कहना 'ईर्ष्या' का लक्षण है। साक्षात भेंट होने पर उसके गुणों का स्त्रोत गाना विनम्र होकर उसके पैर छूना लेकिन उसके पीठ घुमाते ही उसकी निन्दा करने का नाम है 'ईर्ष्या'। 'सच्छिष्य' का आचरण इस सम्बन्ध में बिलकुल शुद्ध रहता है। वह अपने को 'ईर्ष्या' का स्पर्श नहीं होने देता। सामने वाला उत्तम हो, मध्यम हो या साधारण हो वह सबको नमन करता है। छल उसे आता ही नहीं है। गुरु ने उसे सर्वत्र ब्रह्मभावना धारण करने का पाठ पढ़ाया रहता है। उस पर सदा ध्यान देते हुए वह सबको समभाव से वन्दन करता है। इस प्रकार, हे उद्धव! किसी भी प्राणी का छल करने की जानकारी न होना यही शिष्य का 'अनसूया' आठवाँ गुण है। इन आठ मनकाओं की माला जिसके हृदयकमल में निरन्तर वास करती है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वही सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त करता है। उस मिलन की अपूर्वता का क्या वर्णन किया जाय? इसके बाद का नवाँ लक्षण भी नया ही है। व्यर्थ की बकवास छोड़कर वह सत्य और पवित्र भाषण करता है। सद्गुरु से वह विनीत भाव से और मृदु वाणी से प्रश्न करता है और गुरु का वचन सत्य से भी सत्य है इसे भक्तिपूर्वक स्वीकार करता है। नाना प्रकार की युक्तियों से अनेक प्रकार के मतों का प्रतिपादन कर असमय व्यर्थ की बहस करना, पाखण्ड का सहारा लेकर महावाद का हो हल्ला करना, साधक-बाधक युक्ति की सहायता से शब्दच्छल करना और अपनी ही शब्दक्रीड़ा पर प्रसन्न होना ये बातें शिष्य के मन में नहीं आतीं। सद्गुरु के सामने व्यर्थ की बातें करना महान पाप है यह जानकर वह व्यर्थ की बकवास छोड़ देता है और मिथ्यावाद नहीं करता। शिष्य की बातें कैसी होती हैं? मानों परिपक्व वाणी से निकला अमृत हो। प्रेमरस में सने शब्दों में वह एकान्त में स्वयं से प्रश्न करता है। शरारती वादों के खट्टे कच्चे फल डंठल के साथ झड़ जाते हैं। वह प्रामाणिक तथा परिपक्व भाषण करता है। कपटपूर्ण और मर्मभेदी भाषण करना उसे नहीं आता। दूसरे के ऐब को वह स्पर्श नहीं करता और जिससे किसी के मन को दु:ख हो या अधर्म हो ऐसी बातें वह नहीं करता। कभी व्यर्थ की शंका नहीं करता। निन्दा के प्रति तो वह मूक ही रहता है। चाहे कोई बच्चा हो कोई अनाड़ी हो या पण्डित हो किसी को भी धोखा देना वह नहीं जानता। उसे कर्कश स्वर में बात करना नहीं आता। दूसरों का उपहास करना उसे नहीं आता अथवा बात करते समय वह किसी चीज की आशा भी नहीं करता। केवल निर्मल मन से और वैराग्य से वह बात करता है। वह बैरभाव से बात करना नहीं जानता, शब्दच्छल से घिनौनी बात भी वह नहीं करता, अधिक बात करने से वह ऊब जाता है, अधिकतर वह मौन ही रहता है। उसे वाद-विवाद या वितंडावाद नहीं रुचता, किसी से व्यर्थ बात करना भी अच्छा नहीं लगता। वह किसी से हँसी मजाक भी नहीं करता और लौकिक बात भी नहीं करता। उसे टेढ़ी बात करना नहीं आता, उसकी भाषा में कभी छल-कपट नहीं होता। वह किसी से प्रतारणा नहीं करता और न झूठ ही बोलता है। मन में किसी का काम करने की इच्छा न होते हुए भी ऊपर से 'हाँ' कह कर वह उसे धोखे में नहीं डालता। वह सदा हरिनाम का पाठ करता रहता है। पश्चिम की ओर खुलने वाली खिड़कियाँ जिस प्रकार थोड़ी-सी हवा आने पर खड़खड़ाने लगती हैं, उस प्रकार वह व्यर्थ की बकवास कर मुँह नहीं बजाता। शब्द ब्रह्म के सम्बन्ध में बात करते समय विपक्ष द्वारा बात काटने पर उसे सहज ही क्रोध आता है। साधक के मार्ग में यह बहुत बड़ी बाधा है यह जानकर वह व्यर्थ की बहस नहीं करता। शब्दज्ञान का वह गर्व भी नहीं करता अथवा मौन भी नहीं रहता। वह अपनी बात का अभिमान नहीं करता, सदैव सद्गुरु का स्मरण करता रहता है। अपनी बात से वह किसी में उद्वेग उत्पन्न नहीं करता, स्वयं बात करने का प्रयत्न नहीं करता, बात करते समय आवेश का प्रदर्शन नहीं करता, जिससे उद्वेग उत्पन्न न हो ऐसी ही बात करता है। सत्य, मधुर, सुनने में आल्हाद प्रदान करने वाली तथा सब के लिये हितकर सुमधुर हरिकथा का वह निरूपण करता है। सद्गुरु की प्रार्थना करते समय भी वह अधिक बातें नहीं करता। आत्मसुख प्राप्त करने का साधन वह एक ही शब्द में कहता है। इस प्रकार शिष्य के ये नौ लक्षण हैं। ये नवखण्ड पृथ्वी के भूषण हैं जो नारायण ने कृपापूर्वक भक्तों को प्रदान किये हैं। यह नवरत्नों की सुन्दर माला जो सद्गुरु के कंठ में पहनायेगा वह देखते-देखते सायुज्य सिंहासन पर आसीन होगा। इन नवरत्नों का पदक जिस शिष्य के हृदय पर सुशोभित होगा वही सद्गुरु का निश्चयपूर्वक विश्वासपात्र बनेगा। इन नवरत्नों का अभिनव गुलदस्ता जो सद्गुरु को भेंट स्वरूप देगा वह स्वराज्य के मुकुट का महामणि बनकर सुशोभित होगा। उद्धव! अब तुम शंका प्रस्तुत करोगे कि पत्नी, बच्चे तथा धन धान्य से सम्पन्न शिष्य को ऐसी निर्लोभता कैसे सम्भव होगी।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु।
उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः॥ ७॥

तो उसके सम्बन्ध में भी ध्यान देकर सुनो। शिष्य अपना दुःख नष्ट करने के लिये और आत्मसुख की प्राप्ति के लिये विवेक के साधन साध्य करता रहता है। आत्मसुख का विचार किया जाय तो वह सारे देह में एक समान रहता है। स्त्री और पुरुष ये दो व्यक्ति विजातीय होते हुए भी उनमें सुख अलग-अलग प्रकार का नहीं होता। देह में भेद होते हुए भी स्त्री और पुरुष में 'आत्मा' और 'आत्मी' नहीं होते। आत्मसुख नाम की जो वस्तु है वह प्रत्येक व्यक्ति में स्वतःसिद्ध होती है। सुख के ही लिये सब प्रपंच से लिपटते रहते हैं। लेकिन जिस पर गुरु की कृपा होती है उसे अद्वैत निजात्मसुख का लाभ होता है। एकत्व से नित्य और निर्दोष आत्मसुख हाथ आने पर भी, उसे नष्ट करने के लिये जो द्वैत की इच्छा करता है वह महामूर्ख है। यदि प्रपंच में ही सुख होता तो सनकादिक जैसे लोगों ने उसका त्याग क्यों किया होता? क्योंकि द्वैत नाम से जो भी कुछ है वह पूर्णतयः दुःखमय ही है और अद्वैत में परमसुख है। यही ज्ञान सम्पादन करने के कारण साधक स्त्री, बच्चे, सगे-सम्बन्धी, सम्पत्ति आदि के प्रति उदासीन हो गये और अद्वैत में ही उनका मन रमा। फिर कैसा घर, कैसा खेत? स्त्री और बच्चों को भी कौन पूछता है? तरह-तरह के धनधान्य से समृद्ध होते हुए भी 'वह भी मेरा' और 'देह भी मेरा' ऐसी बात वह नहीं करता। हे उद्धव, सुनो। इस प्रकार मेरे भक्त तत्त्व विचार से लिपटे होने के कारण वे संसार के प्रति उदासीन रहते हैं। वे गुरु के चरणों से लिपट कर प्रपंच पर झाड़ू लगा देते हैं और आत्मसुख देने वाले गुरुराया के भजन में भक्तिभाव से तल्लीन रहते हैं। वह आठों पहर गुरु की ही सेवा करता रहता है। निरन्तर भक्तिभाव से वह अपना अंतःकरण गुरु के चरणों में ही समर्पित कर देता है। हे उद्धव! अब तुम कहोगे 'देह के सिवा भिन्न ऐसी कौन सी वस्तु देख कर उसे आत्मसुख प्राप्त होता है? और विदेहपन का अनुभव कैसे आता है? तो देह में रह कर विदेहता तथा प्रपंच में रहकर शिष्य को अद्वैतता कैसे प्राप्त होती है, उसकी कथा सुनो।'

विलक्षणःस्थूलसूक्ष्माद् देहादात्मेक्षिता स्वदृक्।
यथाग्निर्दारुणो दाह्यात् दाहकोऽन्यः प्रकाशकः॥ ८॥

आत्मा स्थूल तथा सूक्ष्म देह से सदासर्वदा भिन्न है। इस भिन्नता के साथ ही वह हर समय प्रपंच में विचरण करता रहता है। दोनों देहों में जीव विचरण करता है उस समय भी जीवों में देहातीत भाव का स्फुरण होता रहता है। लेकिन उन्हें इसका अनुभव नहीं होता। वह कहता है, 'मेरी आँख में दर्द है' लेकिन नहीं जानता कि 'मैं ही दर्द कर रहा हूँ' वह कहता है 'मेरा पैर टूट गया' लेकिन यह नहीं कहता है कि मैं ही टूट गया हूँ। इस प्रकार देह में विचरण करते हुए भी मैं देह से भिन्न हूँ, ऐसी बात करता है। लेकिन भ्रान्ति के कारण मनुष्य को उसकी देहातीत अवस्था का अनुभव नहीं होता। द्रष्टा अर्थात् देखने वाला कभी दृश्य अर्थात् देखने की वस्तु नहीं हो सकता। देखने की वस्तु अर्थात् दृश्य जड़ होता है और देखनेवाला अर्थात् द्रष्टा उस दृश्य को चेतना करने वाला अर्थात् जानने वाला होता है। इसीलिये आत्मा देह से विलक्षण अर्थात् विपरीत लक्षण वाला होता है। आत्मा दो कारण से विलक्षण है। एक तो देखने वाले की दृष्टि से तथा दूसरा स्वप्रकाशकत्व से स्वसंवेद्यत्व से। इसलिये वह दोनों देहों से विलक्षण अर्थात् बिलकुल भिन्न है। दृश्य से द्रष्टा भिन्न है। तो फिर वह मन है ऐसा चार्वाक का मत है। आत्मा को मन नहीं कह सकते क्योंकि ग्यारह इन्द्रियों में आत्मा को भी एक इन्द्रिय माना गया है। इन्द्रिय होने के कारण वह जड़ है। इसीलिए मन आत्मा नहीं है। प्रपंच में मन की दक्षता दिखाई देती है, लेकिन वास्तव में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वह मन की दक्षता नहीं होती। जिस प्रकार प्राण के बिना राजा को भी अपना वैभव कभी दिखाई नहीं पड़ेगा, शस्त्र के एक प्रहार से लौह बख्तर के भले ही टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाएँ लेकिन वह सामर्थ्य शस्त्र का नहीं अपितु वह वीर का बल है। लोहे के बड़े गोले को यदि आग में डाला जाय तो वह तप्त होकर ज्वालाएँ निकलने लगती हैं। लेकिन वह लोहे का सामर्थ्य नहीं है। उस लोहे की ही तरह मन भी जड़ है। ज्ञानप्रभा उसे प्रकाशित कर, उसे श्रेष्ठत्व प्रदान कर प्रकृति में प्रवर्तन कराती है। मुरली के द्वारा सुमधुर गायन किया जाय या नाना प्रकार के सुर निकाले जाएँ तो वह मुरली का गुण नहीं बल्कि बजाने वाले का कौशल है। उसी प्रकार मन का व्यापार पराधीन ही समझो। उसका वह व्यापार स्वतंत्र नहीं होता क्योंकि मन जड़ है। सूर्य किरण का स्पर्श होते ही सूर्यकांत में से अग्नि निकलता है, उसी प्रकार आत्मा के प्रकाश से मन अत्यन्त तीव्रता से विचरण करता रहता है। जड़त्व के कारण ही मन जड़ है और आत्मा स्वप्रकाश से प्रकाशधन है। इसलिये मन आत्मा के अधीन है और आत्मा आत्मत्त्व के कारण स्वतंत्र है। 'मेरा मन' इस प्रकार वह कहता है लेकिन 'मैं ही मन हूँ' ऐसा नहीं कहता। इसलिये मन से आत्मा भिन्न है। वह अलग रहकर साक्ष्य के रूप में रहता है। दोनों देहों से भिन्न इस दृष्टि से आत्मज्ञान साध्य कर शिष्य की देहबुद्धि का छेदन किया रहता है। इसलिये देहात्मवादी लोग जो उपाधि को सत्य मानते हैं वे वास्तव में उसे मिथ्या सिद्ध करते हैं। अर्थात् यह शुद्ध, सात्त्विक बुद्धि नहीं है। तुम कहोगे कि मन से अलग रहने वाला वह आत्मा ब्रह्मदेव होगा। क्योंकि वह सभी देवताओं में श्रेष्ठ है। लेकिन यह संदेह भी तुम मन में धारण न करो। कल्प के प्रारम्भ में ब्रह्मदेव भी मूढ़ ही था। वह सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कर सका। उसकी बुद्धि जड़ थी। उसे सावधान कर मैंने ही उसे आत्मज्ञान दिया। तब वह ज्ञानसम्पन्न होकर सृष्टि की उत्पत्ति कर सका। केवल नाभिकमल में जन्म लेनेवाला ब्रह्मदेव मेरा बालक है। वह मेरे पेट पर ही खेलता है। वह विशुद्ध आत्मा नहीं है। देवताओं का जो भी समुदाय है वह मुझसे ही प्रकाश प्राप्त करता है। सर्वप्रकाशक तथा अनादि ईश्वर मैं हूँ, स्वयंप्रकाश-स्वभावी आत्मा मैं हूँ। दो देह और मन इनसे आत्मा बिलकुल भिन्न है। हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म देह से भी आत्मा बिलकुल भिन्न है। हे भक्तोत्तम उद्धव! हिरण्यगर्भ यही परमात्मा है ऐसी भी बात नहीं है क्योंकि हिरण्यगर्भ की आत्मा भी मैं ही हूँ। उसमें मेरी महिमा कहाँ से आयेगी? सारांश यह कि हिरण्यगर्भ की उपासना भी एक साधन के रूप में ही करनी चाहिये लेकिन वह मायास्वरूप होने के कारण उसे सच्ची आत्मा का स्वरूप नहीं प्राप्त होगा। जिस ढंग से वह विलक्षणता प्राप्त होती है उसके सम्बन्ध में भक्तों को वह दृष्टांत देकर अभिव्यक्त करता है। अग्नि काष्ठ में ही रहता है लेकिन काष्ठ बन कर नहीं रहता। लकड़ी पर लकड़ी का घर्षण करने से वह प्रकट होता है और तत्काल ही उन लकड़ियों को जला देता है। उसी प्रकार आत्मा भी देह में ही रहता है लेकिन वह देह बनकर नहीं रहता, वह जब ब्रह्मज्ञान से प्रकाशित होता है तब वह अनायास ही देहभाव को जला देता है। जिस प्रकार एक ही जगह रहकर दाह्य पदार्थ से दाहक भिन्न होता है उसी प्रकार प्रकाशित की हुई वस्तु से स्वप्रकाश भिन्न होता है। अग्नि के दृष्टांत से आत्मा का सच्चा स्वरूप नित्यत्व और निजात्म बोध से सिद्ध होता है। काष्ठ के संयोग से ही अग्नि को जन्म, नाश, नाम और रूप प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार आत्मा को भी देह के कारण ही विकारभाव प्राप्त होता है।

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान् गुणान्।
अन्तःप्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान् परः॥ ९॥

अनेक प्रकार के काष्ठ एकत्र होने के कारण जगत को अग्नि में काष्ठ के गुण समाविष्ट हुए दिखाई देते हैं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लेकिन अग्नि उनसे अलिप्त ही रहता है। लकड़ी पर लकड़ी रगड़ने से जब अग्नि बाहर आता है तो अग्नि उत्पन्न होने की बात की जाती है। उसी प्रकार लकड़ी के आकार की तरह वह छोटा बड़ा हुआ दिखाई देता है। अग्नि लकड़ी के आकार की तरह तिकोना, गोल तथा वक्र होने का आभास होता है और उसमें की लकड़ियाँ पूरी तरह जल जाने पर आग नष्ट हो गयी ऐसा कहा जाता है। उसी प्रकार अजन्मा, शाश्वत तथा अव्यय आत्मा को भी देह का ही आकार, विकार, जन्म, नाश आदि मिथ्या विशेषण लगाये जाते हैं। अग्नि का दृष्टांत देकर जो बात उद्धव को बतायी वह शायद उसे न जँचे इसलिये श्रीकृष्ण ने वही निरूपण बताना प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा, ''हे उद्धव! तुम कहोगे कि अग्नि का और काष्ठ का संयोग यह बात मूलतः ही सिद्ध है, इसलिये लकड़ी का धर्म अग्नि को लगता है यह बात मैं मानता हूँ किन्तु आत्मा मूलतः ही नित्यसिद्ध तथा अविकारी है। वह स्वयं गगन को भी स्पर्श नहीं करता फिर उसे देह का संग कैसे स्पर्श करेगा? और उसके कारण वह विकारयुक्त कैसे होगा? आत्मा का देह से संग होता है यह बात ही मिथ्या है। कभी न घटने वाली यह बात अगर होगी तो वह देहबुद्धि में ही होगी और जो देहबुद्धि में मिलेगा वह विशुद्ध देहधारी ही हो जायेगा। फिर उससे देहबुद्धि का त्याग कैसे सम्भव होगा? यही शंका मन में आती है।'' श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा, ''ऐसी शंका तुम्हारे मन में आयेगी इसलिये तुम मन ही मन इसका विचार सुनो। हे जगच्छ्रेष्ठ भक्त! यह बात केवल शाब्दिक चतुराई से हाथ नहीं आयेगी। मेरी यह अत्यन्त गोपनीय बात है। वह केवल तुम्हें सुनाता हूँ।''

योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि।
संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्याच्छिदात्मनः॥ १०॥

सुनो उद्धव! पुरुषोत्तम नाम का जो पुरुष है, जिसमें माया के सारे गुण हैं, शास्त्रों ने जिसे 'ईश्वर' का नाम दिया है, उस ईश्वर की ही वह माया जिसे जीव को संसार में लाने और भ्रम बढ़ाने जैसे अनेक कार्यों के लिये उत्पन्न किया है उस माया में ही जो चैतन्य प्रतिबिम्बित हुआ है, उसे ही 'जीव' कहते हैं। जिस प्रकार मूर्ख व्यक्ति को गढ़े के जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब डूबा दिखाई देता है, वैसा ही है यह। लेकिन चन्द्रमा गढ़े को छुए बिना आकाश में ही अलिप्त रहता है। उसी प्रकार आत्मा भी अविद्या से अलग ही है। जब अविद्या प्रतिबिम्ब को स्पर्श नहीं करती तो वह बिम्ब को कैसे स्पर्श करेगी? 'अहं' के प्रति लगन वासना की आसक्ति से उत्पन्न लिंग शरीर माया के वश में अनेक अनर्थ उत्पन्न करता है। लिंगदेह बलवान होने पर विषयभोग का मूल कारण बनता है। लेकिन लिंगदोह स्थूल भोग नहीं कर सकता। सूक्ष्मभूतसमूह ही स्थूल भूताकार बनता है। इसके अनंतर पंचमहाभूतों से स्थूल देह उत्पन्न होता है। इस प्रकार दोनों देहों का जन्म होता है। इन दो देहों के बीच विचरण करते समय जीव की देहबुद्धि दृढ़ हो जाती है। इससे अहं ममता बढ़ती है और वह यह भूल जाता है कि मैं वास्तव में कौन हूँ। आत्मसुख की मधुरता समझ में नहीं आती, इसलिये विषय के प्रति आसक्ति बढ़ती है। वह पापपुण्य का हिसाब जोड़ने लगता है, इस प्रकार सुबुद्ध रहते हुए भी पैर में बंधन पड़ जाता है। 'देह' ही मैं हूँ यह भावना दृढ़ होने के बाद देह के धर्म अर्थात् स्थूल, कृश आदि की उसे लगन हो जाती है और वह वर्णाश्रम के धर्म सच मानने लगता है और फलवैभव की इच्छा कर कर्म का आचरण करने लगता है। कोई सार्वभौम राजा अपने मन्दिर में पुष्पशैया पर सोया रहता है, वही स्वप्न में किसी अंत्यज के घर अन्न की भीख माँगने जाता है। भीख का टुकड़ा मिले इसलिये वह उस नीच से कहता है, ''अरे! तुम सचमुच राजा हो'' लेकिन वह भूल जाता है कि वह स्वयं राजा है। स्वप्न में वह स्वयं को भिखारी ही मानता है। उसी प्रकार अपनी निजात्मता को भूलकर वह देवताओं से फल की आकांक्षा करने लगता है। लेकिन उसे इस बात का स्मरण भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं होता कि मैं देवताओं का भी देवता हूँ। उस स्वप्न के अभ्यास के कारण वह राजा, 'मैं भिखारी' कह कर चिल्लाता रहता है। वह सुनकर सेवक लोगों को हँसी आ जाती है और वे कहने लगते हैं, राजा साहब स्वप्न में बड़बड़ा रहे हैं। वे गहरी मूर्च्छा में घिरे रहते हैं। नींद में वे इधर-उधर डोलते रहते हैं। उन्हें होश भी नहीं रहता कि वे निर्वस्त्र हैं या उनके शरीर पर कोई कपड़ा भी है। नींद में वे खुर्राटे भरते रहते हैं। पुरोहित उसे थपकी देता है तब कहीं विस्मित होकर वह जागता है और शरीर को वस्त्र से ढँकता है। 'स्वप्न में मैं भिखारी था' यह कहने में भी उसे लज्जा होती है उसी प्रकार अविद्या रूपी निद्रा की तंद्रा में वह 'मैं देहधारी' मैं कर्मदरिद्री, मैं श्रीमान, मैं ज्ञाता, मैं महान जैसी बातें देहात्म भाव के कारण करने लगता है। उस उनींदी अवस्था में कर्माकर्म पाँव पसारने लगते हैं। देह के मोह के कारण ही जहाँ भ्राँति फैली हो वहाँ हित-अहित का कौन विचार करता है? वह उसी प्रकार गहरी मूढ़ अवस्था में करवटें बदलता रहता है। लालचवश वह 'मैं' और 'मेरा' की रट लगाता रहता है। इस प्रकार करवट बदलकर लेटते हुए वह गुरु के चरणों पर गिर पड़ता है। उसे पास आये देख श्री गुरु उस पर कृपा कर उसे निजबोध से थपथपाते हैं। 'ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) की वाणी एक बार कान तक पहुँचते ही उसकी अविद्यारूपी निद्रा भाग जाती है और वह तत्क्षण जाग उठता है। जागते ही वह आश्चर्यचकित हो उठता है और 'मैं मेरा देह' कहने में लज्जित होता है। वह देहकर्म की निन्दा करता है और कर्मातीत जो ब्रह्म हैं वह 'मैं हूँ' कहने लगता है। संसार पाश में बँधने के कारण अविद्या ही है। उसे काटने का एकमेव शस्त्र ब्रह्मविद्या ही है। ब्रह्मविद्या अविद्या को निरस्त करती है इसलिये वह अवश्य ही ब्रह्म से भिन्न होगी और इसे भिन्न कहने से अद्वैतपन टूटता है यह कहोगे तो यह सिद्धान्त टिकने वाला नहीं है। अज्ञान से ही प्रपंच का विस्तार हुआ है। उसमें ज्ञान की और अज्ञान की सूक्ष्म राहें हैं। काँटे से काँटा निकाल देने से सारी झंझट समाप्त हो जाती है। अविद्या जीव को बन्धन में फँसाने वाली है तो ब्रह्मविद्या बन्धनों को काटने वाली है। उनके बारे में तुम्हें विस्तार से बताया। अब वही ब्रह्मविद्या किस प्रकार हमें प्राप्त हो सकती है, उसके सम्बन्ध की पूर्वपीठिका का विवेचन करता हूँ, सुनो।

तस्माज्जिज्ञासयाऽऽत्मानमात्मस्थं केवलं परम्।
संगम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम्॥ ११॥

उद्धव! इसीलिये जिज्ञासु को चित्त को सदा स्थिर रखना चाहिये जिससे सत्यासत्य विभाग द्वारा विवेक जागृत होता है। उसमें जितना असत्य होगा उतनी ही अविद्या होगी। उसके कारण ही जीव को नितांत पीड़ा होती है। उसका समूल विनाश करने के लिए 'सद्विद्या' प्राप्त करनी चाहिये। सद्विद्या साध्य करने के बाद सद्यस्तु (परब्रह्म) अधिक दूर नहीं है। वह अपने स्थान पर, इसी देह में कूट-कूट कर भरा है। शरीर इन्द्रियों के समुदाय में ब्रह्म व्याप्त रहता है किन्तु वह व्याप्त होते हुए भी अलिप्त और अपने स्वभाव के अनुसार मुक्त रहता है। सद्विद्या साधकर तथा आत्मानुसंधान कर साधक को दोनों देहों का निराकरण कर लेना चाहिये। स्थूल देह नश्वर होने के कारण मिथ्या ही होता है और सूक्ष्म देह वासनामय कल्पित है। उस कल्पना को भी मिथ्यत्व आता है इसलिए जो शेष रह जाता है वह केवल निर्विकल्प ब्रह्म ही है जिस प्रकार आकाश में प्रचण्ड मेघ पंक्ति एकत्र होकर अपने ही सामर्थ्य से पर्जन्यवृष्टि करते हैं किन्तु शरद ऋतु के अन्त में वे ही आकाश में लुप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार देह में जो आत्मबुद्धि दृढ़ हुई रहती है वही विवेक का उदय होते ही नष्ट हो जाती है। जुगनू के प्रकाश की ज्योति सूर्य को कैसे दिखाई देगी? उसी प्रकार ब्रह्मविद्या का उदय होने पर देह की सच्चाई कैसे टिक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पायेगी? रस्सी की जगह साँप का जो भ्रम हुआ था उसकी सत्यता मालूम होने पर साँप का आकार समाप्त हुआ और वह डोर के रूप में ही शेष रहा। विवेक के निर्णय के अनुसार जब साँप का भास उड़ जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म के सत्य के सामने देह का सत्यत्व शेष नहीं रह जाता। नरदेह का आश्रय लेकर ब्रह्मविद्या का विकास होता है। उसका जन्मस्थान देह है, उसी का निर्मूलन वह कैसे करेगा? उद्धव! इस प्रकार की शंका शायद तुम्हारे मन में आयेगी तो उसके समाधान के लिये तुम्हें अग्नि की उत्पत्ति का दृष्टांत सुनाता हूँ।

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणि।
तत्संधामं प्रवचनं विद्यासंधिः सुखावहः॥ १२॥

दो लकड़ियों को एक-दूसरे पर रगड़ने से उस घर्षण से अग्नि उत्पन्न किया जाय तो वह उन लकड़ियों को ही जला देता है और अग्नि के रूप में प्रज्ज्वलित होता है। उसी प्रकार ब्रह्मविद्या गुरुशिष्य के संवादरूपी मंथन से उत्पन्न होती है। उस मंथन का निरूपण ध्यान देकर सुनो। उसमें गुरु 'आध्य अरणि' अर्थात् अग्नि उत्पन्न करने वाली नीचे की लकड़ी है और शिष्य 'उत्तराणि' अर्थात् ऊपर का काष्ठ है, उपदेश 'मंथा' अथवा मथनी है। गुरु शिष्य का संवाद मंथन क्रिया है। इस प्रकार मंथन करना चाहिये। इस मंथन में अर्थात् संवाद में शिथिलता आयी तो ज्ञानाग्नि उत्पन्न नहीं होगा। स्वयं से ही विडम्बना होकर किये कराये पर पानी फिर जायेगा। आलस का मार्ग स्वीकार करने पर इतना बड़ा अनर्थ हो जाता है। इस योग को साध्य करने के लिये योगी आठों पहर कष्ट करते रहते हैं। अपने हित के लिये जागृत रह कर गुरुवचन पर विश्वास रख कर लगातार मंथन करते रहना चाहिये, तभी ब्रह्मज्ञान प्रकट होता है। एक बार वह ब्रह्मज्ञान प्रकट हो जाने पर देह का भान ही नहीं रहता। दृश्य, द्रष्टा और दर्शन तत्काल विलुप्त हो जाता है। आत्मज्ञान से आत्मसुख सिद्ध होते ही कार्य-कर्म-कर्त्ता अथवा ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता आदि का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। आत्मज्ञान से संसार दुःख का विलय होकर आत्मसुख का लाभ होता है और आत्मसुख में माया के गुणदोषों का झट विनाश हो जाता है।

वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धिर्धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम्।
गुणांश्च संदह्य यदात्ममेतत् स्वयं च शाम्यत्यसमिद् यथाग्निः॥ १३॥

आत्ममाया के गुण का निराकरण करने के लिये शिष्य चतुर, बुद्धिमान एवं दैवी सम्पत्ति का आश्रय कर सदा सद्गुण सम्पन्न होना चाहिये। ऐसे प्रकार के अधिकारी मुमुक्षु के मस्तक पर शास्त्र पारंगत तथा स्वानुभवसम्पन्न गुरु का वरदहस्त होने पर उसे तत्काल निजबोध प्राप्त होता है। उस निजबोध में दृष्टि स्थिर होते ही गुणों का कार्य गुणों के पेट में ही समा जाते हैं। गुण ही गुणों का प्राशन करते हैं। तम का प्राशन रजोगुण करता है। तम को खाकर जब रजोगुण उन्मत्त हो जाता है तो उसे देखकर सत्त्वगुण भी खौलने लगता है। सत्त्वगुण जब उबलने लगता है तो उसे द्वैतभाव सहन नहीं होता और वह तत्काल रजोगुण को निगल लेता है। शुद्धसत्त्व का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि उससे आत्मसुख का अनुभव होता है। वह अनुभव भी कैसा आश्चर्यजनक है। वह सदा चिर नूतन ही मालूम होता है और एक बात यह भी है कि सुखानुभव से सृष्टि उत्पन्न करने में सहायक होने वाले जिस रजतम के बीजों के अवशेष शेष रह जाते हैं वे भी नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् गुणों को उत्पन्न करने वाली माया भी उस शुद्ध सत्त्व में विलीन हो जाती है और वह सत्त्ववृत्ति अकेली अद्वैतरूप से बची रह जाती है। फिर 'ब्रह्माहमस्मि'—अर्थात् में ही ब्रह्म हूँ यह भावना भी धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है और तभी 'सोहंहंसा' की भी छुट्टी हो जाती है। उस समय देह का देहत्व ही समाप्त हो जाता है और जन्म-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मरण की ही मृत्यु हो जाती है। विश्व का भान नष्ट हो जाता है और चारों ओर घनानंद भर जाता है। तब सारी दृष्टि सुखमय हो जाती है और सारी सृष्टि भी आनन्दमय हो जाती है। आत्मानंद से मिलन के कारण परमानन्द का वातावरण हो जाता है। उस सुख की बराबरी कभी किसी बात से नहीं हो सकती। जहाँ वेद भी मौन हो जाते हैं और वृत्ति तत्पदा को प्राप्त होती है। फिर द्वैत शेष नहीं रह जाता और वृत्ति की वृद्धि रुक जाती है। सुखस्वरूप में ही डूब जाने के कारण उसकी वृद्धि तथा नाश रुक जाता है। लकड़ी के बिना अग्नि जिस प्रकार अपने मूल तेज में मिल जाती है उसी प्रकार वृत्ति भी अद्वैत रूप में सुखस्वरूप में मिलकर एकरूप हो जाती है। गंगा सागर में मिलकर सागर ही बन जाती है। या जल और नमक का मिलन होने पर वह सब जलरूप ही हो जाता है। एक दीपक दूसरे दीपक से मिल कर एकरूप हो जाते हैं उसी प्रकार वृत्ति का लय होने पर निर्व्यंग आत्मसुख प्राप्त होता है। फिर उस समय यह कहना भी शेष नहीं रह जाता कि आत्मा एक अद्वैत है। अर्थात्, आत्मा द्वैताद्वैत से भिन्न, नित्य और सत्यस्वरूप है। वह ज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाश, अविकारी, अविनाशी, अकर्त्ता, अभोक्ता, उदास तथा निर्निवेष निजात्मरूप है। उसकी देह नहीं है, कुल नहीं है, उसके नेत्र नहीं है, उसके कान नहीं हैं, उसका कोई नहीं है, वह समस्त मंत्र एवं मंत्रार्थस्वरूप है। वह अजन्मा, आद्य, अप्रमेय, अतर्क्य, अलक्ष्य, अव्यय नामरूप से आकलन न होने वाला भावाभावशून्य है। जो भाग्य, भोक्ता और भोग भी नहीं है, जो कार्य, कर्त्ता और कर्म भी नहीं है, जहाँ कर्त्ता और अकर्त्ता की ही समाप्ति हो गयी है वह अविनाशी, अभंग, शुद्ध, बुद्ध, असंगह, देहद्वय का संग जिसे स्पर्श नहीं करता। आत्मा के सिवा सब कुछ अनित्य है यह निश्चय दृढ़ हो जाने पर नित्य और अनित्य दोनों ही डूब जाते हैं और अंतर्बाह्य केवल आत्मस्वरूप ही बच जाता है। अज्ञान पूरी तरह नष्ट हो जाता है और ज्ञान की भी कोई स्थिति नहीं रहती। गुण, गुणी और गुणातीत ये भी इस अवस्था में नष्ट हो जाते हैं। हे उद्धव! सचमुच परमेश्वर वही है ऐसा मेरा निश्चय है। उपनिषदों द्वारा अभिव्यक्त तथा आत्मत्व से प्रतिपादित वही है। वृत्ति ऐसी स्थिति में पहुँचते ही संसारकी निवृत्ति होती है। वेदांत तथा सिद्धांत का यही अन्तिम निर्णय है। सचमुच ही निजात्मरूप की प्राप्ति हो जाने के बाद कार्य, कर्म, कर्त्तव्य यह सब पूरी तरह खत्म हो जाता है। अद्वैत प्रतिपादक श्रुति के मनन से और गुरुकृपा के प्रकाश से वृत्ति निजात्मपद को प्राप्त कर लेती है। कैसा अहोभाग्य है यह? हे उद्धव! देवादिदेव भी मेरा वन्दन करते हैं। मेरे उस ज्ञान की सारी धरोहर परम कृपा से मैंने तुम्हें सौंपी है। हे उद्धव! तुम्हें सचमुच ही निवृत्ति प्राप्त हो इसलिये मैंने तुम्हें यही विषय अनेक श्रुतियों का आधार लेकर प्रेमपूर्वक समझाया। अब तुम देह आदि जो भी कुछ मिथ्या, निन्दनीय, तिरस्कार योग्य है उसका अपने चित्त से स्पर्श न होने दो। उससे अलिप्त होकर तुम परमार्थी बनो। तुम्हें यह अलभ्य लाभ प्राप्त हुआ है लेकिन उसके लिये तुम्हें कठिन प्रयास करना होगा। अनेक मत-मतान्तर तुम्हें परेशान करने आयेंगे। उनके बारे में भी सुनो।

अथैपां कर्मकर्तृणां भोक्तृणां सुखदुःखयोः।
नानात्वमथनित्यत्वं लोककालागमात्मनाम्॥ १४॥

अनेक प्रकार के फलों की इच्छा कर और उसके अनुसार सुख दुःख भोगने वाले अनंत जीव हैं। उनका यह कहना है कि जो लोग मानते हैं कि सारे जीव एकरूप हैं, वह सच नहीं है क्योंकि यदि वैसा होता तो एक के सुख से सभी सुखी हुए होते अथवा एक के पाप से सभी पापी हो जाते। लेकिन ऐसा सब जगह नहीं होता। कर्मवादियों का मत है कि जीव नित्य और अनंत है, मुख्य ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है, हमारा कर्म ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हमारा कर्त्ता है। मन में जो 'अहं' की भावना उत्पन्न होती है वह प्रत्येक शरीर में भिन्न होती है, इसलिये जीव भी भिन्न-भिन्न हैं, कर्त्तापन और भोक्तापन उनके स्वरूप का प्रमाण है। इससे सम्बन्धित विचार ध्यानपूर्वक सुनो। लोक, काल, श्रुति तथा जीवित ये अनेक कारणों से अनित्य हैं, ऐसा मेरा वेदांतिक मत है। शायद कर्मवादियों का मत तुम्हें सच मालूम होगा लेकिन इससे तुम्हारे स्वार्थ की हानि होगी और तुम पर बहुत बड़ा अनर्थ होगा। वह अनर्थ क्या है जानना चाहते हो तो सुनो। कर्मवादियों का यह भाव पूर्वपक्ष ही है। परमात्मा निर्विकार है तथा सर्वस्वरूप एक है यह बात उन्हें स्वीकार नहीं। 'संन्यास' का नाम सुनते ही वे उसे महान पातक मानते हैं। इस प्रकार मताभिमानियों की बक-बक चालू रहती है। त्याग अथवा संन्यास करने वालों को वे अनधिकारी कहते हैं। वे कर्म को ही प्रधान मानते हैं और तदनुसार वैराग्य की निन्दा करते हैं। उनका मत है कि कर्म करो और सुख का उपभोग करो। वह कर्म ही जो त्याग देते हैं उन निष्कर्मियों को सुख किस बात का मिलेगा? त्याग समस्त दु:खों का मूल है। वैराग्य तो होता ही नहीं है। इसके लिये वे चार कारण बताते हैं। ध्यानपूर्वक सुनो। वे कहते हैं यदि अनित्य अर्थात् अशाश्वत जैसी कोई बात होती तो उसमें वैराग्य तो होता ही नहीं है। इसके लिये वे चार कारण बताते हैं। ध्यानपूर्वक सुनो। वे कहते हैं कि यदि अनित्य अर्थात् अशाश्वत जैसी कोई बात होती तो उसमें वैराग्य हो सकता था लेकिन यहाँ जब अनित्य जैसी कोई बात है ही नहीं तो बैरागी किस चीज का त्याग करेगा? मीमांसकों का मत है कि वैराग्य चार कारणों से होता है। वे चार बातों को नित्य मानते हैं। नित्यत्व के कारण चारों बातें सच हैं इस मत पर उन्हें गर्व है। कर्म-प्रकाशक वेद नित्य और अटल है ऐसा वे मानते हैं जीव नित्य हैं उसी प्रकार भोग और काल भी नित्य हैं ऐसा उनका कथन है। वेदों ने भी स्वर्ग को भोग भोगने का स्थान बताया है। वह बात तो झूठ नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध है कि ये चारों नित्य हैं। हे उद्धव! देखो, इस प्रकार यहाँ अनित्य जैसी कोई बात नहीं है तो यहाँ वैराग्य का क्या काम है? तात्पर्य यह है कि बैरागी लोग मिथ्या होते हैं। भोगने की चीजें यदि नश्वर होतीं अथवा मायावी होतीं तो वैराग्य सम्भव था। ऐसी तो कोई बात यहाँ नहीं है, (ऐसा उनका मत है) उसी प्रकार

मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा।
तत्तदाकृतिमेदेन जायते भिद्यते च धीः॥ १५॥

जीव के भोग्य पदार्थ हैं गंध, पुष्प, स्त्री आदि। प्रवाहरूप में वे नित्य हैं ऐसा वे अपने मतानुसार कहते हैं। आत्मा है और संसार नहीं है ऐसा तो कभी नहीं हो सकता क्योंकि जल के बिना समुद्र हो ही नहीं सकता। सृष्टि यह सदा शुरु ही है अर्थात् नित्य है। पिता पुत्र के रूप में वह अखण्ड चल रही है। यह सारी यातायात कर्म के कारण है। यह कभी नहीं हो सकता कि सृष्टि अनित्य हो। फिर जो नित्य है उसे ईश्वर नाम का एक कर्त्ता होना सम्भव नहीं है। नित्य का कर्त्ता कोई नहीं होता इसलिये वहाँ कोई ईश्वर नहीं है। वेदांती लोग स्वरूपभूत आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहते हैं। वह भी यहाँ नहीं होता ऐसा मत वे प्रतिपादित करते हैं। घट पट आदि आकार देखते समय ज्ञान की क्षणभंगुर अवस्था दिखाई देती है ऐसा होते हुए उन्हें आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहने में लज्जा क्यों नहीं आती? कुल मिलाकर वेदांत में भी आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में पक्का निश्चय नहीं है, फिर जिसे मोक्ष कहते हैं वह भी मिथ्या ही है। इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सुख के अतिरिक्त मोक्षसुख को कुछ अलग बताया गया है, लेकिन वह भी अविचार ही है क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा ही जीवों को प्रत्यक्ष सुख प्राप्त होते हुए भी, ये मूर्ख लोग उसे स्वीकार नहीं करते। देह के सिवा विदेह अवस्था में क्या कोई सुख भोगता है? अद्वैतवादी व्यर्थ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की बकवास करते हैं जो सच नहीं है। जिस से जीव को सुख की प्राप्ति होती है उन इन्द्रियों को ही वे मिथ्या कहते हैं। कोई आँखें फोड़ कर दर्शक बने वैसी ही यह वेदांतियों की बकवास है। यहाँ जब ईश्वर है ही नहीं तो वह फल देगा यह बात भी मिथ्या होगी। अद्वैतवादी महामूर्ख होते हैं, वे वैराग्य के बहाने मूर्खों को गढ़े में ढकेलते हैं। जिसका न कोई ठाँव है न ठिकाना और न सत्ता, ऐसे मिथ्या ईश्वर की मन में कल्पना कर वे कर्मफल का त्याग कराते हैं। नरदेह में ज्ञान का उदय हुआ और उसने देह का ही नाश करा दिया। क्या किसी ने फल को वृक्ष की जड़ काटते देखा है? ज्ञान परिपक्व हो जाने पर सारे संसार का ही विनाश हो जाता है ऐसा वेदांती कहते हैं। लेकिन जब यह सृष्टि प्रवाह रूप में नित्य ही है तो उसका विनाश कैसे होता है? मनुष्य के हृदय में स्थित ज्ञान से यदि संसार का नाश होता है तो जुगनू के तेज से चन्द्रमा, सूर्य आदि नवग्रह भी जलकर भस्म हो जायेंगे। सारांश, निवृत्ति का स्वीकार करने पर किया हुआ परिश्रम व्यर्थ चला जाता है क्योंकि इन्द्रियों के बिना जीव को कभी सुख की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिये प्रवृत्ति ही सबके लिये श्रेष्ठ है। जमकर कर्म करने चाहिये और उसके उत्तम से उत्तम फल भोगने चाहिये। जो संसार को केवल माया कहते हैं वे मूर्ख हैं, जीव को संसार के अतिरिक्त दूसरा कोई सुख नहीं है। इसलिये देवतागण भी मनुष्य के होने की कामना करते हैं और वेदांती मनुष्य देह की निन्दा करते हैं। उनकी युक्ति को कौन स्वीकार करेगा? यह वेदवचन है, उसे कौन झुठलायेगा? सारांश, उनकी बात पर जो विश्वास करेगा उसका पूरी तरह नाश हो जायेगा। वेदवचन सदा प्रमाणरूप रहता है उसे ही ये मिथ्या कहते हैं। इसका अर्थ यही न कि ये बहुत बड़े ज्ञानी बन गये? (भगवान कहते हैं) मीमांसकों की भाषा ऐसी होती है वे तर्क पर तर्क देकर अपना मत स्थापित करते हैं, लेकिन हे उद्धव! यह सरासर झूठ है। मीमांसावादियों का शब्द पांडित्य ध्यान में रखकर, प्रपंच की अनर्थता को दिखला कर (भगवान) वैराग्य को सिद्ध कर रहे हैं।

एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः।
कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत्॥ १६॥

श्रीकृष्ण ने कहा, हे उद्धव! ये सारा मतवाद मिथ्या है। लेकिन उसे कैसे समझा जाय? तो उन मतों पर विचार करना पर्याप्त है। निवृत्ति कष्टप्रद है इसलिये प्रवृत्ति ही अत्यन्त श्रेष्ठ है ऐसा माना जाता है। किन्तु प्रवृत्ति में भी अनेक कष्ट हैं और मृत्यु का भय तो अनिवार्य है। जन्म के मूल से ही काल जीव का अखण्ड पीछा करता रहता है। लवनिमिष पल-पल काल समय साधता रहता है। जैसी चोर के साथ मित्रता होती है उसी प्रकार काल का साथ रहता है। समय आते ही वह प्राण लूट लेता है कुछ भी शेष नहीं रहने देता। काल हाट बाजार नहीं देखता, घंटा मिनट नहीं देखता, देश-विदेश नहीं देखता। अपने प्रभाव से वह सबको स्वाहा कर देता है। प्रवृत्ति के कष्ट सहते-सहते एकाएक मृत्यु का प्रहार होता है। ऐसा प्रसंग कभी न आये। जीव में वासना की डोर जबर्दस्त रहती है इसलिये वह मर गया, बचाओ आदि की गुहार करता है। लेकिन मृत्यु के प्रहार को कौन निरस्त करेगा? उस समय किसी का कोई उपाय काम नहीं करता। काल केवल मार कर ही छुटकारा नहीं करता, अपितु भविष्य में भी काफी यातनायें भोगने के लिये बाध्य करता है। इनमें गर्भवास भी है जिसमें अनेक दुःख होते हैं। माता की उदररूपी गुफा में, मलमूत्र के विस्तार में, नीचे मुड़ी कर नौ महीने तक उसे पकाता रहता है। उस समय वह चारों ओर से मलमूत्र से लिपटा रहता है, नाक और मुँह में कीड़ों का प्रवेश होता रहता है। गर्भवास के वे कष्ट किससे कहेंगे? फिर गर्भवती स्त्री की दोहद की अवस्था आती है जब उसे कड़ुई, खट्टी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तथा नमकीन चीजें खाने की इच्छा होती है। उस समय गर्भ के शरीर पर पूरी चमड़ी न होने के कारण शरीर खौलने लगता है और उस दुःख से वह करवटें बदलता रहता है। उस गर्भ को पेट में क्या यातनायें हो रही हैं इसका अनुमान माँ-बाप को नहीं होता। उनसे छुटकारा दिलाने वाला वहाँ कोई नहीं होता। उस जीव की व्यथा वह स्वयं ही जानता है। जिस स्थान का उच्चार कोई मुँह से भी नहीं करता, जो स्थान कोई किसी को देखने भी नहीं देता, ऐसे उस योनिद्वार से अत्यन्त संकट से, आखिर प्राणी का जन्म होता है। जो नित्य का मूत्रालय है, नरक की खान है और रजस्वला के रुधिर का प्रवाह है, वहाँ से प्राणी का जन्म होता है। रजस्वला स्त्री के गन्दे रक्त से यह शरीर बनता है और गन्दे रक्त से पुरुष का जन्म होता है, फिर भी वह अपने को पवित्र कहता है। गर्भवास से अधिक दुःख और कौन सा है? मताभिमानी जो कहते हैं वह मिथ्या है। प्रवृत्ति में सुख बिलकुल नहीं है। एक जन्म से न जन्म की समाप्ति होती है और न एक मृत्यु से मृत्यु ही समाप्त होती है। काल योनि के द्वार से असंख्य जन्मों के फेरे लगवाता है। बार-बार जन्म और बार-बार मृत्यु, यह बराबर चल रहा है। ऐसी प्रवृत्ति में सुख क्या होगा? हाँ, भयंकर दुःख अवश्य सहना पड़ता है। जन्म और मृत्यु के रिक्त स्थान में बड़े-बड़े दुःख पीड़ा देते हैं। उनका दुःख देने का ढंग भी बताता हूँ। चोरों के हमले के भय से तेजी से भागो तो चोर बीच में ही लूट लेते हैं, उसी प्रकार जन्म-मरण के अंतराल में षड्विकार रहते हैं। षड्विकारों की पतिव्रता षडर्मी जीव से जोंक की तरह चिपक जाती हैं। सब मिला कर देखा जाय तो प्रवृत्ति में नितांत दुःख है, सुख जरा भी नहीं है। अब कर्मवादी जीव को स्वतंत्र कर्मकर्त्ता मानते हैं, लेकिन उनका यह कहना मिथ्या है क्योंकि पराधीनता उसे स्वयं अपनी आँखों से दिखायी देती है।

अत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातंत्र्यं च लक्ष्यते।
भोक्तुश्चदुःखसुखयोः को न्वर्थो विवशं भजेत्॥ १७॥

यदि जीव स्वतंत्र होता तो उसे कभी दुःख न भोगना पड़ता, सदा सुखी ही रहता। दुःख का मूल जो पाप है उसे वह न करता। बेचारा जीव हमेशा से ही दीन, कर्म करके कर्माधीन रहने वाला, उसे कर्म का फल देने वाला कोई दूसरा ही रहता है, वही उसे सुख-दुःख का भोग कराता है, इसे ध्यान में रखो। इसलिये ईश्वर की सत्ता ही श्रेष्ठ है। वही कर्म का फल देने वाला है। जीव सुख-दुःख का भोक्ता है, वह स्वतंत्र नहीं है। इस पराधीनता के कारण ही वह भयानक सुख-दुःख भोगता है। दुःख की इच्छा कोई नहीं करता लेकिन फिर भी उसे वह प्राप्त होता है। इससे भी प्रकट होता है कि उसे स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। वह पराधीन होकर आचरण करता है इसलिये उसे बिना माँगे सुख-दुःख भोगना पड़ता है। इस पर विपक्षी कहेंगे कि जो विधिपूर्वक कर्म करना नहीं जानते वही जीव दुःखी होते हैं और जो कर्म करना जानते हैं वे सुखी रहते हैं। जो सदाचार सम्पन्न श्रोत्रिय हैं या जो याज्ञिक और अग्निहोत्री हैं वे इस लोक और परलोक के लिये विधिपूर्वक कर्म करते हैं। जिनके इन्द्रिय अव्यंग हैं, उनमें कोई न्यूनता नहीं है, वे विधिपूर्वक कर्म कर दोनों लोकों के सुखों का कर्मयोग द्वारा उपभोग करते हैं। किन्तु (भगवान कहते हैं) कर्म में भी जो श्रेष्ठ रहता है उसे सुख का उपभोग सदा करने को मिलता ही है, ऐसी बात नहीं है। उसके बारे में भी बताता हूँ।

न देहिनां सुखं किंचिद् विद्यते विदुषामपि।
तथा च दुःखं मूढानां वृथाहंकरणं परम्॥ १८॥

जो कर्म के सच्चे ज्ञाता हैं वे भी दुःखी दिखाई देते हैं और जो कर्म का स्पर्श भी नहीं करते वे मूर्ख

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लोग भी सुखी दिखायी देते हैं। जो यज्ञपुरुष अच्युत हैं वे उसे छोड़ अग्निहोत्री यज्ञ करते हैं, उनका वह स्वकर्म ही उन्हें विपरीत फल देता है। अग्नि तो मेरा ही स्वरूप है और श्रुतिमंत्र तो सारे मेरे ही बीज हैं। होमद्रव्य के रूप में जो है वह भी मेरा ही स्वरूप है। इस मेरे जैसे सर्वव्यापी को अपने मन से नास्तिक समझ अनीश्वरवादी लोग यज्ञ करते हैं। वही उन्हें बाधक होता है। स्त्रुक, स्त्रुवा, प्रणीतापात्र आदि सामग्री से कर्मतंत्र अच्छी तरह करना जानते हैं किन्तु मुझ आत्माराम का सूत्र चुकने से यह याग अपवित्र हो जाता है। वास्तव में वह सब मैं विश्वतोमुखी होने के कारण मुझ यज्ञपुरुष को ही अर्पण होता रहता है लेकिन याज्ञिक लोग इसे स्वीकार नहीं करते। उनकी बुद्धि क्षुद्र और सकाम होती है। मुझे अर्पण किये बिना जो पुण्य प्राप्त करते हैं वह दुःख होता है। जैसे विष को अमृत कहा जाय उसी प्रकार सकाम का पुण्य रहता है। मुझे छोड़ कर जो स्वर्ग है उसे पीड़ा ही समझो और उससे मिलने वाले भोग को बड़ा रोग समझो। ऐसे याज्ञिकों का प्रयास मूर्खतापूर्ण होता है। कर्म करते समय यदि उसमें कोई न्यूनता हो तो मैं अर्थात् श्रीकृष्ण का स्मरण करो ताकि उस नाम से ही उसमें का न्यून कम हो जाय। मेरे नाम का इतना सामर्थ्य है। वही मैं जब याज्ञिकों के पास अन्न माँगने गया तो उन्होंने मुझे वह नहीं दिया। यही उस कर्म की कर्मठता है। वे मुझ इन्द्रपुरुष को छोड़कर इंद्रादि देवताओं का भजन करते हैं। लेकिन वे इंद्रादि देव मेरे ही अधीन हैं, इसे वे नहीं जानते। यही उस कर्म की कमी है। जो अपना कर्म कृष्णार्पण नहीं करता उसका भाग्य फूटा समझो। ऐसा करने से इस लोक में भी दारिद्रय में रहना पड़ता है और परलोक में भी विघ्न आता है। अपना मुँह छोड़कर यदि पूरे शरीर को खीर चटायी जाय तो उससे भूख तो शान्त नहीं होती उलटे दुःख होता है। उसी प्रकार मुझ यज्ञपति को छोड़कर यज्ञयाग करते हैं, उस यज्ञ को बालविधवा के गर्भ प्राप्ति की तरह फल आते हैं। मैं यज्ञ करने जा रहा हूँ इसके लिये दूसरे से धन माँगने पर उस यज्ञ का लाभ धन देने वाला हो जाता है। यज्ञ करने वाला सूखा ही रह जाता है। अवश्य ही कर्त्ता होने का अभिमान सिर पर सवार रहता है। खीर के चम्मच से लोगों को खीर परोसी जाती है। वह चम्मच जब गन्दा हो जाता है तो उसे एक ओर रख देते हैं। लेकिन खीर खाने वाले खीर खाकर चले जाते हैं। गन्ना घानी में डालने पर घानी उसका रस निकाल कर बर्तन भर देती है और स्वयं नीरस चीथड़े लेकर कटकटाती रहती है। वही दशा याज्ञिकों की होती है। याज्ञिक भी उसी प्रकार यज्ञ करते हैं और उसका फल धन देने वाले को प्राप्त होता है। यज्ञ में पशु हिंसा करनी पड़ती है वह दोष अवश्य ही कर्तृत्त्वाभिमान के कारण याज्ञिक के पल्ले पड़ता है। सारांश कर्म में निष्णात याज्ञिक इस प्रकार का दुःख भोगते हैं। लेकिन जिन मूर्खों को कर्म का ज्ञान भी नहीं होता वे परमसुख प्राप्त करते हैं। उन्हें कर्म का खटराग मालूम नहीं रहता लेकिन उनके मन में मेरे प्रति असीम श्रद्धा का भाव रहता है। इसलिये वे अगणित दुःखों को पार कर आत्मसुख का स्वाद चखते हैं। वे कर्म के प्रति आदर रखना नहीं जानते लेकिन मेरे प्रति उनके मन में श्रद्धा रहती है। ऐसे सीधे-सादे भक्त अत्यन्त सुख प्राप्त करते हैं। जो गोपाल गोकुल में निरन्तर मेरे साथ थे उन्होंने कौन सा कर्म किया था? लेकिन उन्होंने कर्म की होली जला कर नित्य नये आत्मसुख का अनुभव आखिर ले ही लिया। कर्ममार्ग के अनुसार यदि गोपियों के कर्म का विचार किया जाय तो उनका धर्म निन्दनीय था लेकिन उन्हें पुरुषोत्तम की आसक्ति होने के कारण वे भी परमधाम पहुँच गयीं। इतना ही नहीं बल्कि गोकुल के पशु, पक्षी, गौएँ और सर्प आदि सभी प्राणी मेरे पद पर पहुँच गये। लेकिन याज्ञिक लोगों को कर्माभिमान का अत्यन्त गर्व होने के कारण वे अपने ही कर्म में दुःख भोगने लगे। जो केवल कर्मठ होते हैं वे कर्म के कारण जड़बुद्धि होकर स्वयं सर्वज्ञ होने की मूर्खता के अभिमान में असहनीय दुःख भोगते हैं। दीपक के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कारण पतिंगा मृत्यु को प्राप्त होता है लेकिन उस पर न्योछावर होने में उसे सुख प्राप्त होता है। उसी प्रकार कर्मठों के लिए कर्म ही दुःख का कारण होता है लेकिन अपने अभिमान के कारण ही वे उसमें सुख मानते हैं। वास्तव में वे अभिमान के कारण ही जीव को स्वतंत्र मानते हैं। यदि विचार किया जाय तो उन्हें स्वतंत्रता नहीं होती। अब उसी का निरूपण करता हूँ।

यदि प्राप्तिं विधातं च जानन्ति सुखदुःखयोः।
तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद्यथा॥ १९॥

दुःख का नाश होकर सुख की प्राप्ति के लिये वे कर्म का आचरण करते हैं। कर्मवादी स्वयं को बहुत ज्ञानी समझते हैं लेकिन दुःख का नाश कैसे किया जाय यह सचमुच उनकी समझ में नहीं आता। कर्म करने से भी जिसका नाश नहीं होता ऐसा दुःख कौन-सा है? अगर इसका उत्तर पूछो तो क्रमवार बताता हूँ। मरने से अधिक कोई दुःख नहीं है, लेकिन उसका ही नाश कैसे किया जाय यह उन बेचारों को नहीं मालूम होता। मृत्यु का प्रहार इतना प्रखर है कि जैसे गरम पानी में हाथ डालने से हाथ जलता है लेकिन घर नहीं जलता, उसी प्रकार मृत्यु प्रबल रूप से अनिवार्य होने के कारण वह कर्म से नहीं टलता। जो सबको मारता है उस मृत्यु को कैसे मारा जाय यह बात उन कर्मठों की समझ में नहीं आती। जो कर्मों में रहते हैं उन्हें मृत्यु अचूक आती है। मरने का दुःख तो आखिर आना ही है इसलिये जब तक जीवित हैं तब तक सुख भोग लिया जाय ऐसी बातें मूर्ख लोग करते हैं। लेकिन जीवित अवस्था में भी उन्हें सुख किस बात का है?

कोन्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके।
आघात नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः॥ २०॥

हे उद्धव! कर्मठ लोगों को जीवित अवस्था में भी सुख की प्राप्ति नहीं होती, यही बात मैं अब तुम्हें बता रहा हूँ। विष मिलाकर यदि मिष्टान्न तैयार किया जाय तो ज्ञानी लोग उसे मीठा नहीं कहेंगे, उससे मेरी मृत्यु होगी यह जानकर वे उसे फेंक देंगे। जिस घर में आग लगी हुई हो उसमें बुद्धिमान व्यक्ति क्षण भर के लिये भी नहीं रुकेगा। मृत्यु के आने से पहले ही वह उस मकान को छोड़कर कहीं दूर भाग जायेगा। जब दरवाजे पर डकैत आ खड़े हों तो खीर भी मधुर नहीं लगेगी। उसी प्रकार शरीर को मृत्यु आ सकता है यह मालूम होने पर विषयभोग में सुख कैसे मिलेगा? जिसकी दाढ़ी में आग लगी हो उसे वह चेहरे की शोभा कैसे मानेगा? उसी प्रकार शरीर में नित्य नया मृत्यु दिखायी देते हुए विषय भोग में सुख कैसे मालूम होगा? जब मृत्यु काल की व्यथा शुरु होती है तो जन, धन, अन्न तथा स्त्री सुख नहीं दे सकती। वे सारे व्यर्थ हो जाते हैं। अंतकाल में कनक और कांता ये दोनों ही दुःख का कारण बन जाते हैं। वासना के कारण प्राण उनका शरीर नहीं छोड़ पाता। इसके कारण वह छटपटाता रहता है। जिस प्रकार सूली पर ले जाते समय विविध प्रकार के समारोह किये जाते हैं और उस व्यक्ति को पंचपकवान खिलाये जाते हैं किन्तु उनसे उसे सुख नहीं प्राप्त होता। उसी प्रकार सामने साक्षात् मृत्यु दिखायी देने पर विषय सुख में किसे आनन्द आयेगा? इसलिये जो बुद्धिमान हैं वे विषयों का त्याग करते हैं और जो मूर्ख हैं वे ही उसमें आसक्त होकर रहते हैं। शरीर में यदि क्षणभर के लिये भी दुःख हो तो करोड़ों विषय सुख भी व्यर्थ हो जाते हैं। इसलिये जो विषयसुख के लिये छटपटाते हैं वे पागल हैं। चिरमिठास निर्विषयों में ही है। सारांश, इस लोक में सुख है ही नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि परलोक में सुख है लेकिन हे उद्धव वहाँ भी सुख नहीं प्राप्त होता। किस तरह यह सुनो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रुतं च दृष्टवद् दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः।
बह्वन्तरायकामत्वात् कृषिवच्चापि निष्फलम्॥ २१॥

जैसा यह लोक है उसी प्रकार स्वर्गादि लोकों के बारे में भी हम सुनते हैं लेकिन वे भी पहले से ही दोषयुक्त हैं। मूर्ख लोग वैसे दोषयुक्त लोक की भी इच्छा करते हैं। अब तुम पूछोगे कि स्वर्ग में कैसा दोष है तो सुनो। वहाँ भी स्पर्धा, ईर्षा और विनाश रहते हैं। फिर वहाँ भोग के कारण तप भी क्षीण होता रहता है। अपने ही समान दूसरे का तप देखने पर वह उसके साथ स्पर्धा करने लगता है। अपने ही तरह दूसरा सुख भोग रहा है यह देखकर मन सुखी नहीं होता। अपने से ऊँचे पद पर किसी को आसीन होते देख उस पर किसी प्रकार का दोषारोपण कर उसकी निन्दा करते हैं। जब वहाँ भी विषम भाव उत्पन्न होता है तो वहाँ वास्तव में सुख कैसे मिलेगा? इसलिये स्वर्ग प्राप्ति के बाद भी सबको एक जैसा सुख नहीं प्राप्त होता। लोग अपने-अपने कर्म और तप के अनुसार कम-अधिक सुख भोगते रहते हैं। कोई उर्वशी का भोग करता है तो किसी को काली और विद्रूप हिडिंबा प्राप्त होती है। सारांश, भोग के कारण तप का क्षय होकर विनाश अवश्य होता है। जैसे-जैसे लोग स्वर्ग का भोग भोगते हैं वैसे-वैसे तप की शक्ति क्षीण होती जाती है। इस प्रकार वे स्वर्ग के लोग तप के क्षय के कारण नष्ट हो जाते हैं। हे उद्धव! स्वर्ग प्राप्ति के लिये विधिपूर्वक कर्म करने से विघ्नों की बाधा आती है। इसलिये वास्तविक स्वर्ग की प्राप्ति तो होती नहीं। जो गर्भ में ही मर जाता है उसका नामकरण नहीं होता। उसी प्रकार कर्म में विघ्न उत्पन्न हो जाने पर स्वर्ग की प्राप्ति भी रुक जाती है। अब यदि पूछोगे कि कर्म में विघ्न कौन उत्पन्न करता है तो कर्म अपनी प्रक्रिया में ही दूषित होता रहता है। वह कर्म ही उस कर्म में भयानक बाधा उत्पन्न करता है। कर्म ही कर्म का साधक भी है और बाधक भी। कर्म ही कर्म से मुक्त कराने वाला है। लेकिन यह बात न जानने के कारण लोग उसमें उलझे रहते हैं। काम्य कर्म में विलक्षण बाधायें होती है। उसमें देश, काल, मंत्र, तंत्र, द्रव्य, दक्षिणा विधि और पात्र सभी कुछ शुद्ध होना आवश्यक है। जिस प्रकार तपेदिक के रोगी के लिये थोड़ा कुपथ्य भी बाधक होता है उसी प्रकार कामनिक कर्म में थोड़ा सा दोष भी विघ्न उत्पन्न करता है। दूध से भरे बड़े बर्तन में यदि कांजी का एक बूँद भी पड़ जाय तो उस दूध से दही, दूध या घी कुछ भी प्राप्त नहीं होता। उसी प्रकार कामनिक कर्म थोड़े से भी दोष के कारण फलरहित हो जाता है। इतना ही नहीं बल्कि वह कर्म ही भयानक बाधा उत्पन्न करता है। साल भर खटकर किसान खेती करता है लेकिन फसल तैयार होने तक अनेक बाधायें उपस्थित होती हैं और किसान का परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। पहले अच्छा खेत चाहिये, फिर उसके लिये अच्छा बीज मिलना चाहिये, समय पर वर्षा होनी चाहिये, खेत में कीड़ों का प्रकोप नहीं होना चाहिये। खेती में काम आने वाले औजार भी अच्छे होने चाहिए। बुआई होने के बाद भी उसकी अच्छी देखरेख होनी चाहिये और बिना आलस किये सुबह होने तक पहरेदारी आवश्यक है। फसल हाथ में आने पर भी वर्षा उसे भिंगो देती है, बाल रोग के कारण काले हो जाते हैं, जंगली घास उग आती है। उसी प्रकार कर्म पर अहंकार का रोग लगता है अथवा अधर्म का कीड़ा उस कर्म का फल नष्ट कर देता है। फसल की यदि समुचित व्यवस्था नहीं हुई तो आशा तृष्णारूपी पंछी फसल को खा जाते हैं और उसमें अनाज का एक भी दाना नहीं रहने देते। तिल पर यदि अहंकार की मार पड़ जाय तो फिर क्या पूछना? सेम दिखायी तो देती है लेकिन उसमें से दाना नदारद। कामक्रोधरूपी चूहे तो फसल को मूल से ही खा जाते हैं। यदि विकल्प का हमला हो जाय तो फिर खेत में लकड़ी मिलना भी दूभर हो जाता है और दुर्वासना रूपी टिड्डी दल आ जाए तो फिर ऊपर से लेकर नीचे तक सब खूँट ही रह जाते हैं। इस प्रकार खेतिहर की ही तरह कामनिक कर्म में भी अनेक बाधायें उत्पन्न होती हैं। फल मिलना तो दूर,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यज्ञकर्ता विघ्नों के समुद्र में ही डूब जाता है। स्वर्ग तो एक है और यज्ञ करने वाले अनेक। उस यज्ञ में देवता विघ्न उत्पन्न करते हैं। पहले तो इन्द्र ही पूरे स्वर्ग का भोग करने को मिले इसलिये विघ्न उत्पन्न करता है। वेश्या एक रहती है और रात्रि भी एक लेकिन भोग की इच्छा करने वाले अनेक रहते हैं। इसलिये वे परस्पर झगड़ा करने लगते हैं। वही गति याज्ञिकों की होती है। जैसे कुतिया जब गरम होती है तो उसका भोग करने के लिये अनेक कुत्ते तैयार हो जाते हैं और एक-दूसरे को देखकर गुर्राते हैं। उसी प्रकार स्वर्ग की अभिलाषा करने वाले सकामों की गति होती है। वह कुतिया जिसे भोगने को मिलती है वह भोग करते समय ही गिर पड़ता है और संसार में उसकी छी: थू: होती है। जिसे भोगने जाता है वह इन्द्रिय फँस कर विमुख हो जाती है। मैथुन द्वार में फँसे रहने के कारण आने जाने वाले छी: थू: करते रहते हैं। उसी प्रकार यज्ञ करने वालों की स्वर्ग प्राप्ति है। उस स्वर्ग के भोग से तप का क्षय होता है। स्वर्ग भोग पर आसक्त रहने के कारण वे पुन: उलटे मुँह इहलोक में लौट आते हैं। सारांश, खेतिहर की ही तरह स्वर्गप्राप्ति में भी अनेक विघ्न हैं। वे किए हुए परिश्रम व्यर्थ कर देते हैं। फिर भोग भी कैसे प्राप्त होंगे? स्वयं को कर्मकुशल कहने वाले कुछ लोग कहते हैं कि हम कर्म करने में किसी प्रकार की कमी नहीं रहने देंगे। हम सब कुछ त्रुटिहीन कर स्वर्ग का फल भोगेंगे। लेकिन हे उद्धव! उनसे वह भी नहीं हो पाता। वह कैसे? तो उसका निरूपण पाँच श्लोकों में करता हूँ।

अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः।
तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु॥ २२॥

जिसमें कोई विघ्न न आये, ऐसे निर्विघ्न कर्म होते ही नहीं हैं और दैवयोग से हो भी गये तो उससे होनेवाली स्थानप्राप्ति नश्वर होती है। कर्म से जिस पद पर पहुँचते हैं और वहाँ पहुँचने पर उन्हें जो भी प्राप्त होता है उसके बारे में हे उद्धव, तुम्हें बताता हूँ।

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान्॥ २३॥

उत्तम कर्मभूमि प्राप्त होने पर तथा श्रेष्ठवर्ण ब्राह्मणकुल में जन्म लेने पर लोग सदा कामानिक ज्योतिष्ठोमादि यज्ञ अथवा अग्निहोत्र करते हैं। वे तीनों वेद जानते हैं, सभी कर्मों में कुशल रहते हैं लेकिन इस प्रकार ज्ञानी होते हुए भी वे मूर्ख हैं क्योंकि वे नश्वर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा मन में रखते हैं। जिस पुण्य से मुक्ति प्राप्त न होती हो उसे 'पुण्य' कहने में रोना आता है। यज्ञकर्ता विषयासक्ति में लिप्त रहते हैं, इसीलिये वे स्वर्ग के भोग के पीछे भागते हैं। इन्द्रादि देवताओं के लिये यज्ञ कर, जिनके कारण मैं दूर हो जाता हूँ ऐसे भोग भोगने के लिये वे स्वर्गलोक में जाते हैं। जिसे अनेक लोग चूस चुके हैं ऐसी पुरानी हड्डी को लेकर कुत्ता अपनी लार से चाट कर आनन्द लेता है उसी प्रकार यज्ञकर्त्ताओं को जिस स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा रहती है उसे वे अपने पुण्य से मधुर बना लेते हैं। अथवा जिस प्रकार श्मशान में बलि के लिये जो अन्न रखा रहता है उसके लिये कुत्ते आपस में लड़-झगड़ कर वह जूठा खाना खाते हैं। उसी प्रकार स्वर्ग के भोग भी अनेक लोगों का जूठा खाद्य ही है। अपने संग्रह का शुद्ध पुण्य खर्च कर लोग कितनों का ही जूठा भोग मोल लेते हैं और यज्ञकर्ता स्वयं को बहुत पवित्र समझते हैं। मोल लेकर कितनों का जूठा खाद्य चाटते रहते हैं। वैसे भी कौअे का मांस, वह भी कुत्ते के मुख से बचा हुआ, मोल लेने पर अधिक मिलेगा भी नहीं। स्वर्ग भोग में याज्ञिकों की स्थिति भी कुछ वैसी ही रहती है। स्वर्ग अनेक लोगों का उच्छिष्ट है। ऐसा होते हुए भी उसके लिये अत्यन्त परिश्रम का मूल्य चुकाना पड़ता है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और वह भी पेट भर नहीं मिलता क्योंकि उसे रात-दिन पतन का भय रहता है। देवतागण स्वर्ग का भाग भोगते हैं लेकिन वे भी दुर्भाग्य की बात करते हैं। लेकिन उसी स्वर्ग के भोग की प्राप्ति के लिये याज्ञिक लोग कितने बेचैन रहते हैं। इस प्रकार एक बार स्वर्ग की प्राप्ति हो जाने के बाद कैसे-कैसे भोग भोगने पड़ते हैं उसका वर्णन करता हूँ। उद्धव! ध्यान देकर सुनो। अरे स्वर्ग में भी सबको एक जैसे सुख भोगने को नहीं मिलते। जिसका जैसा पुण्य रहता है, उसी के अनुसार उसे भोग प्राप्त होते रहते हैं।

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते।
गन्धर्वैर्विहरन् मध्ये देवीनां ह्यद्यवेषधृक्॥ २४॥

अपने पुण्य का मोल देकर मिले हुए चन्द्रप्रभा की तरह शुभ्र विमान में बैठ कर वे दिव्य भोग का आनन्द लेने लगते हैं। वहाँ दिव्य देह प्राप्त होता है तो वहाँ वे पोशाक भी मनोहारी करते हैं। गन्धर्व मधुर गायन करते रहते हैं और ऐसे आनन्दमय वातावरण में स्त्रियाँ क्रीड़ाएँ करती हैं। स्वर्ग की उन अप्सराओं को देखकर मन भुलावे में आ जाता है और फिर उन्हीं के छंद में वे अनेक स्थानों पर क्रीड़ाएँ करने लगते हैं।

स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना।
क्रीडन् न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः॥ २५॥

उन स्त्रियों के साथ वह जहाँ चाहे वहाँ विचरण करता रहता है। वह विमान कितना और कैसे सुशोभित रहता है यह भी सुनो। उसमें अनेक छोटी-बड़ी घण्टियाँ लगी रहती हैं तथा उसमें रत्नजड़ित मेखला लपेटी रहती है। पूरा विमान ही घुँघरुओं से वेष्टित रहता है और उसकी गति भी बड़ी मजेदार रहती है। उस विमान को वह गन्धर्वों के वन में या नंदनवन में अपनी मनचाही जगह पर ले जाता है और वहाँ स्वर्गांगनों का उपभोग लेने में आसक्त होकर पड़ा रहता है। उस वन में पुष्पों से लदी क्यारियाँ रहती हैं और उनका पराग चारों ओर बिखरा रहता है। कोकिलाओं के सुमधुर स्वर तथा भ्रमरों के संगीत से वह स्थान भरा रहता है। मंद सुगन्ध तथा शीतल समीर मलय पर्वत से बहता रहता है और स्वर्गांगनाओं के हँसी कल्लोल से कामुक के विलास पर यौवन छा जाता है। अग्नि और कर्पूर का मिलन होते ही जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला भड़क उठती है, उसी प्रकार उस कामुक का पुण्य भोग भोगते-भोगते एकाएक समाप्त हो जाता है। लेकिन वह इतना अधिक कामसक्त हुआ रहता है कि नहीं सोचता कि इसमें मेरा पतन होकर सारे भोग समाप्त हो जायेंगे। दीपक पर फड़फड़ाने वाले पतंगे को इस बात का जरा भी स्मरण नहीं रहता कि इसमें मेरी मृत्यु निहित है। उसी प्रकार उसका मन भोग में इतना अधिक लिप्त रहता है कि उसे अपने पतन का स्मरण नहीं होता।

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥ २६॥

जब तक पुण्य की सम्पत्ति रहती है तब तक वे स्वर्ग का भोग भोगते हैं और पुण्य की वह शक्ति क्षीण होते ही उनका पतन हो जाता है। जब तक गाँठ में धन है तब तक वेश्या सौजन्य दिखाती है लेकिन धन समाप्त होते ही वह उसका मुँह भी नहीं देखती। उसी प्रकार स्वर्ग की स्थिति होती है। अपने पुण्य से भोग भोगते हैं किन्तु पुण्य का क्षय हो जाने पर उनका भी क्षय हो जाता है। इच्छा न होते हुए भी पतन हो जाता है। सुखी होने के लिये याज्ञिक अत्यन्त परिश्रम कर स्वर्ग प्राप्त करते हैं। वे अन्त में अत्यन्त सुखी होकर सिर नीचा कर पतन की ओर उन्मुख होते हैं। स्वर्ग के सारे सुखों का अस्त होकर भाग्य में गर्भवास आ जाता है। ऐसे उन कामियों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के सुख को आग लगे। सुख की आशा में याज्ञिक व्यर्थ ही फँस जाते हैं। हे उद्धव! इस प्रकार जिसे 'स्वर्गसुख' कहते हैं वे इस प्रकार दुःखी होते हैं। मूर्ख ही स्वर्ग को सुख मानते हैं लेकिन वह मार्ग दोषरहित नहीं है। याज्ञिक लोग विधिपूर्वक कर्म करते तो भी उन्हें महादुःख प्राप्त होता है। लेकिन यह मत समझो कि अविधि से कर्म करने से वे सुखी होंगे। यहाँ कर्ममार्ग की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है। एक में विधिपूर्वक आचरण होता है तो दूसरी में अविधि से। अभी मैंने तुम्हें जो बातें बतलायीं वह वेद विधानोक्त स्थिति है। विधियुक्त कर्म के आचरण से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, यह उचित प्रवृत्ति है। पुण्य का क्षय हो जाने पर किस प्रकार स्वर्ग से पतन होता है यह भी तुम्हें बतलाया। अब अविधि से किये हुए आचरण के सम्बन्ध में भी सुनो। वे मतिहीन लोग वेदविधि का उल्लंघन कर खराब लोगों की संगत से किस प्रकार अप्रकृति से अधर्म करते हैं उसके सम्बन्ध में भी सुनो।

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः॥ २७॥

जीव स्वभाव से ही कामासक्त होते हैं इसलिये उन्हें वांछित विषय प्राप्त होते ही वे उस पर लंपट हो जाते हैं और इच्छित वस्तु प्राप्त न होने पर उनका मन व्याकुल हो जाता है, यह प्राणिमात्र का स्वभाव ही है। ऐसे स्वभाव वाले मनुष्य का यदि दुष्ट पुरुष के साथ सम्बन्ध हो जाये तो उसे अधर्म पर ही श्रद्धा होने लगती है और वह अकर्म के लिये प्रवृत्त होता है। चंचल होने के कारण मन भी वानर की तरह है। दुष्ट संगति से यदि वह मदिरापान करे तथा उसे कामरूपी बिच्छू काट ले तो वह उटपटांग बातें कहने लगता है। इसमें आश्चर्य कैसा? पागल के हाथ में मशाल दे देने से वह जगह-जगह आग ही लगाता फिरेगा। उसी प्रकार वे भी दुष्टों की संगति से होली जलाकर धर्म को समूल भस्म कर देते हैं। छोटे बच्चे के हाथ में शस्त्र देने पर वह यह नहीं देखता कि जिस प्रकार वह प्रहार कर रहा है वह शरीर उसका है अथवा किसी और का। वह अपना शरीर भी काट लेता है। वह अपने हित के बारे में नहीं सोचता। जिस प्रकार शरीर में देवता का संचार होने पर ढोंग करने वाली लड़की के बोलने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता या बहुरुपिया के संन्यास में जिस प्रकार वैराग्य तृणमात्र भी नहीं होता उसी प्रकार वह भी कुसंगति से ही ढोंग रचाता है जिसके कारण विवेक के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता और वह कामशास्त्र की राह पकड़ लेता है। कामशास्त्र की लत से उसकी वासना बढ़ जाती है जिसके चलते वह अधर्म की योजना बनाता है और अधर्म के कारण अकर्म करके निन्दनीय कर्मों का आचरण करता है। निन्दनीय कर्मों की प्रवृत्ति के लिये भोग की लिप्सा मूल कारण है। भोग की लालच में ही अधर्म का विस्तार होता है। अधर्म के बढ़ते ही वह परधन और परस्त्री के लिये अनेक प्रकार की युक्ति लड़ा कर शरीर का नाश करता है। स्त्री के लिये तो उसकी व्याकुलता देखने लायक होती है। स्त्री के छंद में वह स्त्रैण बनता है और उस स्त्री को प्राप्त करने के लिये प्राणी की हिंसा भी करता है।

पशूनविधिनाऽऽलभ्य प्रेतभूतगणान् यजन्।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्वणं तमः॥ २८॥

विधि जो बताती है उसे नहीं कहना, वेद की बात नहीं सुनना, स्मृतिशास्त्र मन को स्वीकार्य नहीं है ऐसी स्थिति में स्वेच्छा से कर्म करना। जारण, मारण, उच्चाटन, स्तंभन, मोहन, वशीकरण आदि के प्रयोग कर असाध्य अंजन सिद्ध कर स्त्रियों को वश में करना। नमक, राई और भिलावा शहद में मिला कर तामसी व्यक्ति शाबरी मंत्र

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के प्रभाव से होम करने जाता है। जारणमारणादि कर्म करने के लिये बकरी, लोमड़ी, बन्दर, गिरगिटांग, मेढ़क, मछली, मगर, गिद्ध तथा चील जैसे पशु-पक्षियों का भी होम करते हैं। नग्न भैरव, बैताल, भूत, पिशाच, कंकाल, मारको, मेसको, मैराल आदि प्रबल भूतों की उपासना करते हैं। काली चिड़िया, मालढोक, चील, कौआ, बगुला, उल्लू को मारकर तथा काली बिल्ली को समारोहपूर्वक लाकर शाबरी मंत्रों से होम करते हैं। चलती घानी से तेल चुरा कर लाते हैं और शनिवार को प्रदोष के समय नहाते हैं तथा मध्यरात्रि में होम में डाकिनी तथा शाकिनी को जागृत करते हैं। शराब का घड़ा भरकर रखते हैं, मातंगी की पूजा करते हैं और मोहिनी मंत्र का जप कर शव की खोपड़ी में रुधिर भर कर रखते हैं। पूरे शरीर में हल्दी पोतते हैं, कपाल पर सिंदूर पोतते हैं और कामेच्छा पूरी करने के लिये अत्यन्त परिश्रम से भजन साध्य करते हैं। होमपात्र उसी क्षण तैयार करने के लिये पीपल को जड़ के साथ उखाड़ते हैं और आसन के नीचे रखने के लिये फल और फूलयुक्त वनस्पतियों को उखाड़ते हैं। मंत्रबीज का जाप करने के लिये मृग-भालू के शव का ताजा चमन मँगवाते हैं। पाप का भय नहीं मानते। इस प्रकार पशु, पक्षी तथा जलचर आदि जीवों को भयंकर पीड़ा पहुँचाते हैं, इतना ही नहीं अपितु ब्राह्मण का रक्त लेकर भी जारण-मारण की क्रिया करते हैं। गौ-ब्राह्मणों को नितांत कष्ट देते हैं, इतना ही नहीं बल्कि जमीन, सम्पत्ति तथा स्त्री का अपहरण करने के लिये उनकी हत्या भी करते हैं। मन्दिर में भगवान के सामने एकत्र अथवा शिवालय में शिवजी के सामने रखा हुआ द्रव्य अथवा पदार्थ उठाने में जरा भी सुस्ती नहीं दिखाते। अधर्म में उनकी वासना इतनी अथाह रहती है। सारांश यह कि इस प्रकार का कर्म करने में वह अकर्म के कारण बरक में इस प्रकार प्रवेश करता है जैसे चन्द्रमा अन्धकार में डूब जाता है क्योंकि अकर्म इतना प्रबल है कि वह जीव के ज्ञान का विनाश करता है तथा उसे मूढ बनाकर उसे नरक के प्रवाह में बहाता है। उस नरक की स्थिति बड़ी विचित्र है। करोड़ों वर्षों से वहाँ जाते हुए भी उसकी गहराई किसी को मालूम नहीं हुई। फिर कोई उससे कैसे उबर सकता है? उसे ही 'अंधतम नरक' कहते हैं, उसे देखते ही वृत्ति अन्धी हो जाती है। मूर्खतावश बाहर आने का मार्ग भूलकर वह नरक में ही लोटता रहता है और इस प्रकार कर्मभोग का जब तक अन्त नहीं हो जाता तब तक आकल्प नरक ही भोगता रहता है और फिर उसे स्थावर अवस्था प्राप्त होती है, अर्थात् वह वृक्ष अथवा पाषाण हो जाता है। इस प्रकार उसकी जड़ अवस्था होती है। उसे सुख स्वप्न भी नहीं दिखाई पड़ते। वह असहनीय दुःख भोगता रहता है। इस प्रकार अधर्म प्रवृत्ति का आचरण करने से सुख का अंश भी नहीं प्राप्त होता। अनिवार भोग भोगते हुए उसकी उससे मुक्ति नहीं होती।

कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः॥ २९॥

हे उद्धव! भाई, सुनो मरण जीव का धर्म है। उसके हिस्से में सुख कभी आता ही नहीं है। वह सदा दुःखद स्थिति में ही रहता है। नरदेह प्राप्त कर वे बड़े-बड़े क्रूर कर्म करते हैं जिससे उन्हें दुःख के ही फल प्राप्त होकर वे जीव को बड़ी से बड़ी यातनायें भुगतने के लिये बाध्य करती हैं, जिससे वे दुःख के भँवरे में फँस कर स्वयं ही अपने घातक बन जाते हैं। वे संतचरणों से विमुख हो जाते हैं, उन्हें स्वप्न में भी सुख नहीं प्राप्त होगा। कामी लोग क्रूर कर्म ही करते रहते हैं जिससे उनका दुःख बढ़ता ही रहता है। सारांश, प्रवृत्ति में रहकर सकाम कर्म करने पर भी, भले ही वे कर्म विधिपूर्वक ही क्यों न किये हों लेकिन उसे सदा अनिवार दुःख भोगना पड़ता है। विधिपूर्वक सकाम कर्म करने पर स्वर्ग से पतन होता है और वही कर्म अविधि से करने पर नरक प्राप्त होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सारांश इस प्रवृत्ति में सकाम पुरुष को सुख कहाँ प्राप्त होता है? तुम विचार करोगे कि दिक्पाल सदा सुख में रहते होंगे क्योंकि उन्हें जन्म-मरण नहीं है। बस उनकी ही तरह हम भी अमरत्व प्राप्त कर लें तो काम हो जाय क्योंकि दिक्पाल नित्य अर्थात् शाश्वत होते हैं, लोकपाल भी शाश्वत ही हैं अर्थात् वहाँ का सुख भी शाश्वत ही होगा। लेकिन जो ऐसी कल्पना करते हैं, वे मूर्ख हैं।

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम्।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुषः॥ ३०॥

लोकपालों में अमरेन्द्र अर्थात् इन्द्र ही श्रेष्ठ है क्योंकि वह मरुद्गणों का राजा है, उसे सूर्य, चन्द्रमा, वरुण, कुबेर, यम आदि सभी सम्मान प्रदान करते हैं उसके लिये अमरावती में सिंहासन है, ऐरावत पर आरूढ़ होने का सम्मान प्राप्त है, जिसके सामने उच्चैःश्रवा नाम का अश्व स्वयं ही आकर खड़ा है, उर्वशी जिसकी भोगपत्नी है, रंभा प्रमुख विलासिनी है, तिलोत्तमा नर्तन करती है और पैर के पास चिंतामणि बिखरे रहते हैं, जहाँ अष्टसिद्धि के भण्डार भरे हुए हैं, जहाँ के महल रत्नों से अलंकृत हैं, जहाँ मोतियों के झूले सुवर्ण की श्रृंखलाओं से बँधे झूल रहे हैं, जहाँ बैडूर्य मणियों के विशाल वृक्ष हैं, कामधेनुओं के बाड़े हैं और जहाँ कल्पवृक्षों के मण्डप चारों ओर अपनी शोभा बिखेर रहे हैं, जिसके आगे लोकपाल हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं, देवताओं की सेना ही जिसकी चतुरंगिणी सेना है और जो स्वर्ग के राज्य का उपभोग करता है उसे भी ब्रह्मदेव का दिन पूरा होने पर काल की शक्ति ग्रस लेती है। ऐसे एक या दो नहीं बल्कि चौदह इन्द्रों का ब्रह्मदेव का एक दिन पूरा होने पर क्षय होता है। कहते हैं ब्रह्मदेव की आयु सबसे अधिक लम्बी है। उसे दो परार्ध की आयु प्राप्त है। लेकिन जब तक मेरे काल की उस पर दृष्टि नहीं पड़ी तभी तक उसकी आयु की श्रेष्ठता है। जिसकी अग्रपूजा सम्मान की योग्यता है जो लोकों के लोकपालों का भी कर्त्ता है, उस ब्रह्मदेव को भी मेरे काल की सत्ता ग्रस लेती है। मैं कालात्मा दण्डधारी, शास्त्र, नियंता, ईश्वर, अंतर्यामी सर्वेश्वर हूँ तथा अत्यन्त दुर्धर और सर्वव्यापी हूँ। मेरा काल क्षोभ अत्यन्त भीषण है उसे कौन रोक सकता है? धर्म, अर्थ अथवा काम से उसका निवारण सम्भव नहीं है। उस प्रलयंकारी महाकाल को भी मेरी कालसत्ता ग्रस लेती है। सभी मेरे महाभय से भयाक्रान्त है। फिर लोकपालों को सुख कैसे प्राप्त होगा? मेरे ही भय से सूर्य लव-निमेष-पल-पल आगे बढ़ता रहता है। मेरे ही भय से प्राण खेलता है, मेरे ही भय से वायु प्रवाहित होता है, मेरे ही भय से अग्नि पेट में जठराग्नि के रूप में रहकर पेट में जो भी कुछ है उसे हजम करा देता है। मेरे ही भय से इन्द्र समय-समय पर पर्जन्य धाराओं की वृष्टि करता है। मृत्यु भी समय आने पर प्रलय कर देता है क्योंकि वह भी मुझसे बहुत डरता है। मेरे ही भय से समय अपनी सीमा का अतिक्रमण नहीं करता मेरे ही भय की आशंका से तीनों लोक काँपते रहते हैं। तीनों लोकों का शास्त्र और नियंता ईश्वर मैं हूँ। इतना कह कर भगवान ने जड़बुद्धि कर्मवादियों की कर्मठता तथा अनीश्वरवादित्व को पंगु बना दिया। प्रवृत्ति में कितना अनर्थ है इसका उल्लेख पहले ही कर दिया है। उसी प्रकार वैराग्य स्थापित कर निवृत्ति ही सबमें श्रेष्ठ है इसे भी निरूपित किया। अपने ऐश्वर्य का आविष्कार कर अपना ईश्वरत्व सिद्ध कर दिया। अब मीमांसकों के मत का खण्डन करने के लिये उसी निरूपण का विस्तार कर रहे हैं। मीमांसकों का मत है कि जीवों में अनेकता है, जीव ही कर्त्ता और भोक्ता है आदि। इसी का अब पूरी तरह खण्डन करते हैं।

गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ॥ ३१॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा, ये सभी ग्यारह इन्द्रिय अनेक प्रकार के कर्म करते हैं और आत्मा इन सबका साक्षी रहता है। घर में दीपक जलते ही लोग अपना-अपना काम प्रारम्भ कर देते हैं। दीपक किसी को जलने के लिये भी नहीं कहता और न जलने के लिये ही कहता है। उसी प्रकार यहाँ जीव की स्थिति है। अब आप कहेंगे कि जिस प्रकार किसान कुल्हाड़ी लेकर पेड़ काटता है उसी प्रकार जीव इन्द्रियों को प्रेरणा देकर उनसे कर्म करवाता है। लेकिन उसे इन्द्रियों की प्रेरकता बिलकुल सम्भव नहीं है। उसका वास्तविक कारण तुम्हें बताता हूँ, सुनो। जो सत्वादिक गुण हैं वे ही इन्द्रियों को प्रेरणा देते हैं। जीव, गुण और इन्द्रिय इन दोनों का साक्षी है। उसे कर्म की प्रेरकता नहीं होती। स्वयं प्रत्यक्ष स्पर्श न कर भी लौह चुम्बक अचेतन लोहे को गतिशील बनाता है उसी प्रकार यहाँ जीव की स्थिति है अथवा सूर्य का उदय होते ही लोग अपने अच्छे-बुरे काम करने लगते हैं लेकिन इसका प्रेरणास्रोत सूर्य नहीं होता। वह केवल कर्म के लिये साक्षी रहता है। उसी प्रकार जीव में वास्तव में कर्तृत्व नहीं होता। ऊपर से जो भी कुछ दिखायी देता है वह केवल भ्रम है। पीलिया से जिसकी आँख प्रभावित रहती है उसे चन्द्रमा भी पीला दिखायी देता है, उसी प्रकार जो मन्दबुद्धि हैं उन्हें ही आत्मा कर्त्ता होने का आभास होता है। उनकी समझ में यह नहीं आता कि वह बिलकुल निश्चल है। बादल तीव्र गति से चलते हैं तो बच्चे कहते हैं कि 'चन्द्रमा दौड़' रहा है। उसी प्रकार जो मंद बुद्धि होते हैं वे ही आत्मा को कर्त्ता मानते हैं। उपाधि के कारण उन्हें यह भ्रम होता है। 'देह मैं हूँ' और 'कर्म मेरा है' यह बात आत्मा को स्वप्न में भी मालूम नहीं होती। यह वैसा ही सत्य मानने की तरह है कि राजा मृगजल में डूब गया। सारांश आत्मा में किसी भी प्रकार की कर्तव्यता नहीं होती यही सत्य है। अब यह भी असत्य है कि वह फल का भोक्ता है। स्वप्न में एक हजार गायें भी दिखायी दें तो जागृत होने पर उनका दूध प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार उपाधि के कारण आत्मा भी मिथ्या भोक्ता है। गढ़े में प्रतिबिंबित सूर्य यदि उसके कीचड़ का सेवन करे तभी समझना चाहिये कि आत्मा भी देहरूप भोक्ता है। प्रतिबिंबित होने वाले चन्द्रमा को यदि मृगजल की मछलियाँ निगलने लगें तो यह माना जा सकता है कि आत्मा भी देह के कारण भोग भोगता है। सारांश, आत्मा को जो भोक्ता कहते हैं वह उपाधि के कारण है। लेकिन उपाधि तो मिथ्या है, फिर आत्मा भोक्ता कैसे होगा? इससे सिद्ध होता है कि आत्मा भोक्ता भी नहीं है और कर्ता भी नहीं है। अब जीव की अनेकता की जो बात कही जाती है वह भी मिथ्या है इसे अब सिद्ध करते हैं।

यावत् स्याद् गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः।
नानात्वमात्मनो यावत्पारतन्त्र्यं तदैव हि॥ ३२॥

जब तक जीव में सत्व रज तम का कोलाहल मचा रहता है तब तक जीव में अनेकता का भ्रम सच ही मालूम होता है, अहंकार के कारण जब तब जीव को 'मैं' का आभास होता है, तब तक जीव अनेकता को सत्य मानता है। लेकिन हे उद्धव, वह वास्तव में मिथ्या है। जिस प्रकार दर्पण हमें अपना ही चेहरा दिखाता है और दो चेहरों का आभास कराता है, उसी प्रकार माया अविद्या के सहयोग से द्वैत का दर्शन कराती है। दर्पण में जो हमें द्वैतप्रभाव दिखाई देता है वह आभास मिथ्या ही रहता है। वही आभास सामने रहने पर त्रिगुणों के विकार एक होते हुए भी अनेक दिखायी देते हैं और वे गुणों के क्षोभ से सत्य मालूम होते हैं। हमें अपना एक ही चेहरा चमचमाती तलवार में, दर्पण में तथा जल में क्रमशः लम्बोतरा, निश्चल तथा चंचल उस उपाधि के कारण मालूम होता है। सारांश जिस प्रकार तीन प्रकार के कार्य विशेष के कारण हमें अपना चेहरा तीन प्रकार का दिखायी देता है, उसी प्रकार गुणक्षोभ के कारण विविधता का होने वाला आभास झूठा है। वस्त्र में सूत ही बुना रहता है और उस पर सूत की आड़ी-तिरछी पंक्तियाँ भी दिखायी देती हैं उसी प्रकार इस चराचर सृष्टि में अनेक आकारों में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक ही वस्तु भरी होती है। शर्करा का ईंख बना दिया जाय ऊपर का कठिन छिलका और भीतर सूखा और गन्ने को निचोड़ कर रस निकाल लिया जाय इस प्रकार का त्रिगुण दोष उसमें नहीं होता। उसी प्रकार परमात्मा श्रीहरि इस चराचर सृष्टि में अद्वितीय रूप में भरा हुआ है, सत्त्वादिगुणों के क्षोभ से ही उसमें अनेकत्व का आभास होता है। जिस प्रकार बहुरुपिया अपने एक ही देह के अनेक रूप बनाता है उसी प्रकार सच्चिदानंद श्रीहरि आत्मरूप में चराचर में एक ही होते हुए भी अनेक रूपों में दिखायी देता है। यही द्वैत का अद्वैत है। कुछ लोगों के मन में एक शंका उपस्थित होती है, 'जीव अद्वैतरूपी है' यह तो हमें स्वीकार है लेकिन एक तरफ तुम ही कहते हो कि जीव 'पराधीन' है और अब कहते हो कि अद्वैत होने के कारण वह स्वतंत्र है। ये दोनों विचार परस्पर विरोधी हैं, उन्हें सच कैसे माना जाय? एक और अद्वैत का प्रतिपादन करते हो और उधर लोकपालों को भी मेरा भय है ऐसी बात करते हो, यह बात हमारी समझ से परे है। अद्वैत को किसका भय है? हे उद्धव! यदि तुम्हारे मन में इस प्रकार की शंका उपस्थित होती है तो उसे तुम्हारे मन का स्पर्श न होने दो। उसका रहस्य तुम्हें बताता हूँ, सुनो। जैसे-जैसे जीव उपाधि से तादात्म्य प्राप्त करता है वैसे-वैसे उसे अनेकता का भास होने लगता है और जहाँ अनेकत्व का आभास होता है वहाँ पराधीनता पहले ही उपस्थित हो जाती है। वहाँ फिर ईश्वर की सत्ता का नियंत्रण होता है। प्रचण्ड सेना एकत्र होने पर भी वह सेनापति के बिना व्यर्थ है, रसीला आम कितना ही क्यों न पक जाय लेकिन उसकी अच्छी सुरक्षा आवश्यक है, उसी प्रकार जब तक जीव को अनेकता का आभास होता है तब तक सृष्टि के लिये उत्पत्तिकर्त्ता, संहारकर्त्ता तथा नियंता के रूप में ईश्वर सदैव रहता है और इस प्रकार जीव पराधीन रहता ही है। अनेकता के कारण पराधीनता प्राप्त होती है इसीलिये नियंता ईश्वर रहता है। ईश्वर की ऐसी सत्ता देखने पर जीवों को भय लगने लगता है। मेरी ईश्वरी सत्ता के भय से यम भी थर-थर काँपता है। फिर इन्द्रादि देवताओं की क्या बात की जाय? ब्रह्मदेव भी मुझसे डरते हैं। मेरी अंत प्रलय की सत्ता का प्रभाव हरिहर के मस्तक पर भी पड़ता है। अनेकता का संहारक महाकाल मैं ही हूँ। इसीलिये जब तक अनेकत्व है तब तक काल का भय भी दुस:ह है और जब यह अनेकत्व ही समाप्त हो जाता है तो फिर काल किसका विनाश करेगा? सारांश अनेकत्व के माथे पर ईश्वरभय की काल सत्ता हैं। हे उद्धव! उस अनेकत्व के कारण ही जीव को सदा पराधीनता है। अनेकत्व जब समाप्त होता है तभी काल समाप्त होता है। फिर भय किसका रहेगा? एकत्व में ही स्वानंद होता है। जब द्वैत का मल न उठे तब सारी सृष्टि उसे ऐक्य रूप में ही दिखायी देती है। तब आत्मज्ञान से स्वानंद की अगणति राशियाँ उपभोग के लिये प्राप्त होती हैं। निजात्म ज्ञान का अलौकिक और द्वैतभाव से रहित अद्वैत सुख को छोड़ परममूर्ख कर्मवादी अनेक प्रकार के लोकों की इच्छा करते हैं। कर्मवादी अर्थात् लोकप्रवृत्त ही अत्यन्त श्रेष्ठ है इसलिये कर्म करके ही उत्तम भोग भोगने चाहिये ऐसा पहले कहा गया था। इसी का खण्डन कर उद्धव के मन में अद्वैत भावना दृढ़ करने के लिये भगवान उसी निरूपण को आगे बढ़ा रहे हैं।

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम्।
य एतत् समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचर्पिताः॥ ३३॥

जिनमें गुण विषमता होती है वही नर भोगों के प्रति आसक्त होते हैं ऐसा समझ लो। वे ही नर यागादिक कर्म कर भोग का स्थान भी प्राप्त करते हैं। लेकिन जिस लोक को भी वे प्राप्त करते हैं वहाँ से याज्ञिकों को पतन होने का भय रहता ही है इसलिये वह लोक भी अशाश्वत है यह जान कर उस लोक का अधिपति भी दु:खी ही दिखायी देता है। वह पद भी जाता है, वह लोक भी जाता है और भोगकर्म से भोग भी नष्ट होते हैं और किये हुए कर्म तो व्यर्थ होकर वे अध:पतन से दु:खी होते हैं। घायल हुए व्यक्ति को चाबुक से मारने पर जैसी वेदना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होती है उसी प्रकार उसे जीवन-मरण के चक्र में घूमते समय अत्यन्त दुःख होता है और वह अघोर गर्भवास भोगता है। रहट के कलशों के फेरे लगते रहते हैं, एक भरता है, एक खाली होता है उसी प्रकार यह भी जन्म से लेकर मृत्यु तक इसी प्रकार चक्कर लगाता रहता है। बिच्छू के काटने से छटपटाने वाले की दाढ़ी में जैसे आग लग जाय उसी प्रकार भोगक्षय से पतित होने वाले को गर्भ की पीड़ा भी सताती है। स्वर्गादि लोकों की अनित्यता मालूम नहीं होती इसीलिये उन्हें अधिक दुःख भोगना होता है। संसार के भँवरजाल में फँसने के कारण ही उन्हें कष्टों का फल दुःखों के रूप में प्राप्त होता है। जिन लोकों में भोगने के लिये भाग मिलते हैं उन लोकों को और भोगों को अनित्य कहा जाय तो वह भी उचित, नहीं है क्योंकि भोगलोक यदि सत्त्य होते तो उन्हें 'अनित्य' कहा ज़ाता। जिस प्रकार रस्सी से सर्प का भ्रम होता है उसी प्रकार इन चौदह लोकों की स्थिति है। वह सारा माया का ही खेल होने के कारण उसमें सुख का अंश कैसे होगा? जो केवल मायामय है वहाँ भोगसुख कैसा? कर्मठ लोग मूर्ख होते हैं इसीलिये मायिक वस्तुओं की इच्छा करते हैं। मृगजल के तालाब में यदि चावल और केले की खेती होती तो विषयभोग से सुख प्राप्त हुआ होता। लेकिन जो भ्रांत हैं उनकी समझ में यह बात नहीं आती। संसार तो सारा भरा पूरा दिखायी देता है, उसे मायामय कैसे कहा जाय? यदि तुम ऐसा समझते हो तो तुम्हें सहज भाषा में बताता हूँ, सुनो!

कालआत्माऽऽगमो लोकः स्वभावो धर्म एव च।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति॥ ३४॥

यह संसार पूरी तरह मायामय एवं काल्पनिक है क्योंकि उसकी उत्पत्ति अज्ञान से ही है। मन में विकल्प आने के कारण ही वह एक को अनेक कहता है। धतूरे का बीज खाने से बुद्धिमान व्यक्ति भी पागल हो जाता है और उसे जो हैं ही नहीं ऐसे खरगोश, मछली, गौ, सर्प आदि का भास होने लगता है। उसी प्रकार माया के पाश में फँसने के कारण उसे भ्रमवश अनेकत्त्व का भास होने लगता है। आकाश के बादलों को देखकर सुशोभित नगर और किले दिखायी देने लगते हैं। अँधेरे में रस्सी देखकर वह कहने लगता है कि यह साँप है, यह लाठी है या फूलों की माला है या कोई मोतियों का हार भूल गया है। उसी प्रकार मैं निजात्मा पुरुषोत्तम सर्वत्र होते हुए मुझे नाना प्रकार के रूप देकर मुझे काल, आत्मा, वेद, स्वभाव, धर्म आदि के नाम से पुकारते हैं। प्रकृति क्षोभक होने के कारण मुझे 'काल' कहते हैं। प्रकृति का नियामक होने के कारण मुझे 'आत्मा' कहते हैं, कर्म का प्रबोध होने के कारण मुझे 'वेद' कहा जाता है और अदृष्ट का द्योतक होने के कारण मुझे 'धर्म' के नाम से पुकारा जाता है। अदृष्ट को दृष्ट कर उसका भोग कराने के कारण उसे 'धर्म' कहते हैं। अब जिस कारण से उसे 'स्वभाव' कहते हैं उसे भी जान लो। 'आत्मा-भोक्ता' इसी का नाम स्वभाव है। जिस परिणाम के कारण आत्मा, भोक्ता, स्वभाव आदि का कारण बनता है, उसे स्वभाव कहते हैं। अनेक प्रकार के लोगों की प्राप्ति अदृष्ट का फल है। मुझे 'लोक' कहने का भी यही कारण है। सारांश, मुझ अकेले को मूर्ख लोग व्यर्थ ही अनेक मानते हैं। दीवार पर अनेक रंगों से यथातथ्य चित्र चित्रित रहता है जिससे दीवार नाना रूपों में दिखायी देती है, लेकिन वह एकरूप ही रहती है। उसके अनुसार नाना प्रकार के रूप, नाना प्रकार के धर्म, नाना प्रकार के नाम तथा नाना प्रकार के कर्म इन सबमें सदा सर्वोत्तम आत्माराम मैं हूँ। मेरे सिवा खाली जगह एक अणु के लिये भी नहीं है। सारे देहों में सदासर्वदा मैं सर्वोत्तम आत्माराम ही हूँ। जिस प्रकार समुद्र में लहरें रहती हैं उसी प्रकार मुझमें सारा जगत दिखायी देता है, लेकिन वह जगत नहीं स्वयं मैं ही हूँ और अव्यंग्य सुख मुझमें ही है। मैं शुद्ध बुद्ध मुक्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वभाव हूँ। फिर भी मुझे नाना प्रकार के सम्बोधन दिये जाते हैं। हे उद्धव! जिसमें जैसा भाव होता है उसी के अनुसार मैं उसका देवता बनता हूँ। जिसमें नास्तिक भाव रहता है, उसके लिये मैं कहीं नहीं रहता और जिसके मन में आस्तिक्य बुद्धि होती है उसके लिये मैं सभी जगह उपस्थित रहता हूँ। भक्तिभाव से मुझे जो जहाँ देखता है उसके लिये मैं वहीं उपस्थित रहता हूँ। देखो, मुझे प्राप्त करने के लिये विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं है। सर्वात्मा, सर्वव्यापी एक मैं ही हूँ ऐसा जिसका निश्चयी भाव रहता है वही एक मेरा भक्त तथा मेरे ज्ञान का तिलक है। वह यदि 'आत्मा' है तो मैं उसकी देह हूँ, मैं ध्याता हूँ और वह मेरा ध्येय है, मैं ज्ञाता हूँ और वह मेरा शुद्ध ज्ञेय है, इतना वह मुझे प्रिय है। हे उद्धव! जिसे 'एकात्मभक्ति' कहा जाता है, वह यही है। ज्ञानसम्पन्न ज्ञाता इसी भक्ति से मेरा भजन करते हैं। उनमें और मुझमें अभेद प्रेम रहता है। इसलिये तुम भी इसी ढंग से भजन करो। परमात्मा एक, नित्य और शुद्ध है, उसे मायामय संसार का बन्धन नहीं है और देहसम्बन्ध भी मिथ्या है इसे ध्यान में रखो। यही मेरा सच्चा 'आत्मबोध' है। मिथ्या सम्बन्ध में ही जीव फँसता है और 'आत्मज्ञान' से उसकी मुक्ति होती है। यह मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ। वही बात अन्य मतों का खण्डन कर दृढ़ की। चौहदवें श्लोक से चौंतीसवें श्लोक तक मीमांसकों के मतों का विस्तार से खण्डन किया। इस प्रकार विरुद्ध मत का खण्डन कर अद्वैत मत की दृढ़ स्थापना की। चराचर में श्रेष्ठ यही सच्चा आत्मज्ञान है। यह शुद्ध और पवित्र अद्वैत ज्ञान श्रवण कर उद्धव को बहुत प्रसन्नता हुई। उसके अंतःकरण में हर्ष की तरंगें एकत्र होने लगीं। उसने श्रीकृष्ण की ओर देखा। वह प्रेम से विह्वल हो गया। वह चिंतन भूल गया, उसकी आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे। वह अपने ही अस्तित्व को भूल गया। उद्धव क्षण भर के लिये अपना होश खो बैठा। इतने में अपने पर नियन्त्रण पाकर वह श्रीकृष्ण के सामने आ गया। जो अद्वैत भजन करते हैं वही कृष्ण के प्यारे होते हैं इसलिये ऐसा अद्वैत भजन मुझे कैसे प्राप्त होगा इस सम्बन्ध में वह श्रीकृष्ण से पूछने लगा।

उद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः।
गुणैर्न बद्ध्यते देही बद्ध्यते वा कथं विभो॥ ३५॥

उद्धव ने कहा, हे कृष्णनाथ! आत्मा जब शरीर में रहता है तो क्या वह वास्तव में बन्धन में रहता है या नहीं रहता? गुण रहते मुक्ति मिलती है या गुण जाने पर मुक्ति मिलती है? यही बात मुझे निश्चयपूर्वक और मुक्त मन से बताओ। गुण रहते मुक्ति मिलती है यह बात बिलकुल असंगत है क्योंकि ज्वर के रहते कभी स्वास्थ्य ठीक रहना सम्भव नहीं है या कीड़ा लगने पर पेड़ नहीं बढ़ सकता। शरीर में पत्थर बाँधकर समुद्र में कौन तैर पायेगा? उसी प्रकार जब तक शरीर में तीन गुण हैं तब तक मुक्ति कैसे मिलेगी? रज तम आदि जो गुण हैं उनका कार्यक्षेत्र देह है इसलिये वह बिना हिचक गुणों जैसे ही कर्म करता है। इसलिये उन कर्मों का जो फल है, जो सुख-दुःख है उसे भोगना आवश्यक हो जाता है और ज्ञानी लोग तो कहते हैं कि गुणों को मुक्ति नहीं है। हे कृष्ण! यदि यह कहें कि गुण जाने पर मुक्ति मिलेगी तो वह भी सम्भव नहीं है। हे करुणानिधि! इस सम्बन्ध में मैं आपसे विनती करता हूँ उसे सुनो। गुणों का कार्य है देह के इन्द्रिय, गुण जाने पर देह का रहना वैसे ही है जैसे भूमि विहीन वृक्ष। कारण समाप्त हो जाय और कार्य शेष रह जाय, क्या यह सम्भव है? गुण जाने पर देह जायेगा ही फिर मुक्त नर कैसे आचरण करेगा? सारांश, गुण रहें या न रहें तो भी मुक्ति कभी प्राप्त नहीं होगी ऐसा मेरा विचार है। इसलिये हे कृष्णनाथ! इसी के सम्बन्ध में मैं तुम्हारा विचार पूछता हूँ। हे जगन्नाथ! मैं पुनः आपसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऐसी विनती करता हूँ कि गुण और आत्मा कभी एक साथ नहीं रह सकते। जिस प्रकार मृगजल से भरे तालाब में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ेगा उसी प्रकार आत्मा कभी गुणों से बँध नहीं सकता क्योंकि गुणों का स्पर्श भी न करना उसका स्वभाव धर्म है। गुण है अज्ञान की रात्रि और आत्मा स्वयंप्रकाश सूर्य है। उसके सामने वे आयें भी तो कैसे? और उसे बाँधें भी तो कैसे? अन्धकार यदि सूर्य को निगल सकेगा, कौआ यदि कैलाश पर्वत पर पहुँचेगा, बगुला यदि मारुति को जर्जर कर पायेगा या मच्छर हाथी को खायेगा मक्खी के पंखों से यदि आकाश उड़ जायेगा, मेरु पर्वत यदि जलकुण्ड में डूब जायेगा या मृगजल में जहाज डूबेगा तभी आत्मा गुणों के बन्धन में बद्ध होगा। जिस प्रकार आकाश जाल में नहीं फँसता उसी प्रकार आत्मा भी गुणसमुदाय में नहीं फँसता। फिर सुख-दुःख का अनुभव गुणों के कोलाहल में वह कैसे भोगेगा? इस प्रकार विचार करें तो आत्मा किसी बन्धन में नहीं पड़ता फिर मुक्ति की बात क्यों की जाय? अतः हे श्रीकृष्णनाथ बद्ध-मुक्त अवस्था किसे प्राप्त होती है बतायें। सारांश, यहाँ बन्धन होने का क्या कारण है? और मुक्त नर का क्या लक्षण है? तात्पर्य बद्ध और मुक्त का सविस्तार लक्षण मुझे बतायें।

कथं वर्तेत विहरेत् कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः।
किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा॥ ३६॥

हे श्रीपति! अब मुझे बद्ध और मुक्त की स्थिति बतायें। वे दोनों किन लक्षणों से और कैसे पहचाने जायेंगे? उसी प्रकार विदेह स्थिति प्राप्त होने के बाद वे देह में किस प्रकार विचरण करते हैं? मुक्तता प्राप्त करने के बाद वे देह से भोग कैसे भोगते हैं? उनके त्याग की छाप कैसी रहती है यह भी बतायें? हे श्रीकृष्ण! इसे भी बतायें कि उनकी निद्रा का क्या लक्षण है? उनका आसन कैसा रहता है? पूर्ण परब्रह्म जानने के बाद उनका विचरण किस प्रकार का होता है? ऐसे जो मुक्तों के लक्षण होंगे और बद्धों के उनसे अलग दीखने वाले लक्षण क्या हैं वह भी कृपा करके मुझे बतायें।

एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
नित्यमुक्तो नित्यबद्ध एक एवेति मे भ्रमः॥ ३७॥

हे सर्वश्रेष्ठ वैकुंठाधिपति गोविन्द! इन प्रश्नों के उत्तरों की मुझे बड़ी उत्कंठा लगी हुई है, आप उनके समुचित उत्तर देने में समर्थ एवं श्रेष्ठ हैं। यह गुणों का सम्बन्ध अनादि काल से चलता चला आ रहा है इसलिये आत्मा 'नित्यबद्ध' हो गया है। इसलिये 'नित्यमुक्त' यह शब्द बिलकुल असंगत लगता है। आत्मा को यदि नित्यमुक्तता प्राप्त हो तो 'बंधन' शब्द का उच्चार ही नहीं करना चाहिये। एक ही को 'बद्ध' और 'मुक्त' कहें तो हे श्रीकृष्ण? मुझे इसमें भ्रम लगता है। हे श्रीकृष्ण, आत्मा तो सचमुच एक है। उस एक की ही बन्धन और मुक्ति ये दो अवस्थायें कैसी होंगी? जो तृप्त हुआ है वही भूखा, जो जागृत है वही सोया हुआ, जो जीवित है वही मृत इस बात को कैसे सच माना जाय? जो काला है वही सफेद, जो आँख वाला है वही अन्धा, जो आधा है उसे पूरा कैसे कहा जाय? करैले की बेल में केला कैसे उत्पन्न होगा? नमकीन नमक बिना, सूखा पानी, शीतल और भीषण अग्नि, गूँगा हो उसे वाचाल कैसे कहा जाय? साड़ी ही नग्न होने के कारण लज्जा करे, अन्न ही भूख के कारण व्याकुल हो, मुक्त को ही मुक्ति का अकाल, कर्पूर को ही सुगन्ध नहीं है यह कैसे कहा जाय? उसी प्रकार संत को ही असंत, अद्वैत को ही द्वैत, हित ही अनहित है ऐसा अब हमें लगने लगा है। आत्मा नित्यमुक्त है तथा वह शुद्ध और ज्ञानस्वरूप है, यह आपने ही बोध कराया था और वही गुणों की संगति से बद्ध होता है ऐसा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आपने बोध कराया। इससे मैं बड़ी असमंजस में पड़ गया हूँ। भगवन्! एक ही को एक ही समय बन्धन और मुक्ति कैसे होगी? हे अनंत! आप कृपालु हैं। इसलिये इसमें सत्य क्या है यह बतायें। मुक्ति को आप आगंतुक कहें तो मोक्ष अनित्य हुआ और बन्धन को आगंतुक कहें तो उसका आदि भी हुआ। पहले बन्धन था ही नहीं वह आज से उत्पन्न हुआ इस प्रकार यदि कहा जाय तो वह शास्त्रार्थ के विरुद्ध होगा। श्रुति, स्मृति और शास्त्रों के अनुसार मुक्ति और बन्ध अनादि सिद्ध हैं और आत्मा एक होते हुए उसकी ये दो अवस्थाएँ? और वे भी एक दूसरे के विपरीत? यह बात कितनी विचित्र है? यदि बद्धता बढ़ती है तो वह मुक्ति का छल करेगी और मुक्ति बिफर जाय तो वह बन्धन को को भी निगल लेगी। ये परस्पर विरोधी स्थितियाँ आत्मा के पास किस तरह रह पाती हैं? यदि शाम को भोर होगी तभी विद्या और अविद्या एक होगी, सूर्य यदि अन्धकार की गठरी बाँध दे तभी ये अवस्थायें आत्मा के साथ रहेंगी। हींग को यदि कर्पूर की गन्ध आने लगे, यदि अविद्या विद्या के बीच आये, खरगोश यदि शेर पर टूट पड़े तभी ये अवस्थाएँ आत्मा के साथ रहेंगी। उद्धव ने कहा, "हे कृष्णनाथ! ये दो अवस्थाएँ कैसी हैं यह समझ में आ जाय तो समझो मुक्ति भी हाथ लग गयी, ऐसा मैं निःसन्देह समझता हूँ।" उसने पुनः कहा, भगवन्! तुम ही मोक्षदाता हो, इसलिये मुझे वे अवस्थाएँ स्पष्ट करके बतायें। इतना कह कर उसने उनके चरणों पर मस्तक रख दिया। उद्धव का यह मार्मिक प्रश्न सुनकर नारायण परम संतुष्ट हुए। मेरा उद्धव अब ज्ञानी हो गया इस विचार के मन में आते ही वे आनन्द से डोलने लगे। परमार्थ के प्रति उसकी छटपटाहट तथा उसके प्रश्न का महत्त्व ध्यान में लाकर वे अपनी काया उद्धव पर न्यौछावर करने के लिये तैयार हो गये। भगवान् भक्तों के वचन का कभी उल्लंघन नहीं करते। इसके लिये उन्होंने अपने गुप्त ज्ञान का भण्डार खोल दिया। सचमुच, जब परमेश्वर प्रसन्न होता है तो वह भक्तों पर अपार कृपा ही करता है। उद्धव का प्रश्न गहरा होने के कारण जगजीवन कृष्ण कृपा से द्रवित हो उठा। एका जनार्दन (एकनाथ) विनयपूर्वक बताता है कि वह आनन्द का मेघ ही बन कर आया। उसकी वृष्टि से अब शिष्यरूप नदी में आनन्द की बाढ़ आयेगी जिसके फलस्वरूप शिष्य ज्ञानगंगा के समुद्र से जा मिलेगा। संसार की आस्था छोड़कर जो भक्तिमार्ग पर चल पड़ा वही इस भागवत का सच्चा अधिकारी है और वही परमार्थ का वास्तविक ग्राहक है और जिसके पेट में संसार की ही चिन्ता है, उसके मन में यह कथा सुनकर विपरीत भावनाएँ उत्पन्न होंगी क्योंकि चित्त जिस चीज का चिन्तन करता है वैसे ही होता है। जब तक चित्त सावधान और स्थिर नहीं है तब तक भागवत समझ में नहीं आयेगा। उसी प्रकार गुरु के बिना भागवत का अर्थ प्राणियों की समझ में नहीं आयेगा। जो संसार से विरक्त होगा, जो गुरु-चरणों के प्रति अनुरक्त होगा उसे ही परमार्थ प्राप्त होगा और उसे ही भागवत की फलप्राप्ति होगी। श्रीकृष्ण का मुख देखकर ही उद्धव को नित नया समाधि सुख प्राप्त होता था, फिर भी और अधिक सुनने की उसे इच्छा थी, इतनी महान थी उसकी श्रद्धा। जिसका वेदों ने भी प्रतिपादन किया है ऐसा वह ज्ञानस्वरूप परमात्मा श्रीकृष्ण, जिसका गुह्यज्ञान बार-बार सुनने को मिले इसलिये उसने नितांत योग्य प्रश्न ही पूछा था। अब भगवान श्रीकृष्ण विद्या और अविद्या का निराकरण करेंगे। यह अगला अध्याय बहुत सरस है। श्रोतागण मेरी ओर ध्यान दें। श्रीकृष्ण और उद्धव के बीच हुए संवाद की कथा अत्यन्त आह्लाद देने वाली है। इससे एका जनार्दन (एकनाथ) में भी महाज्ञान और परमानंद प्रकट होगा।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे श्रीकृष्ण उद्धव संवादे
परमहंस संहितायां एकाकार टीकायां दशमोध्यायः ॥ १० ॥
श्री कृष्णार्पणमस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ग्यारहवाँ अध्याय

श्री गणेशाय नमः ! श्री कृष्णाय नमः ! हे ओंकाररूप श्री गुरु ! तुम्हें नमस्कार है। तुम सत् और चित् के मेघ हो। तुम स्वानंद जीवन की वृष्टि करते हो जिससे मुमुक्षरूपी मयूरों को आनन्द होता है और वे हर्ष से नाचने लगते हैं। उन सजल मेघों को देखकर वे 'सोऽहं' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' का आर्त्तनाद करने लगते हैं और रोमांचरूपी पंख खोलकर अत्यन्त तीव्र गति से सत्त्व का नृत्य करने लगते हैं। स्वानंद के आवेग में नृत्य करने के कारण उनके सारे शरीर में बड़ी-बड़ी आँखें उभर आती हैं और वे सारे पंख शोभित हो जाते हैं, इसीलिये श्रीकृष्ण उन पंखों को मस्तक पर धारण करते हैं। वह मेघ सामने देखकर आर्त (भक्त मुमुक्षु) रूपी चातक मुँह खोलते हैं। मुँह में एक बूँद पड़ते ही वे सुखी तथा नित्य निर्दोष हो जाते हैं। आर्त्त की तृष्णा तत्काल दूर होती है। वे स्वानंदजल से तृप्त होकर हर्षोल्लास के साथ सुख का उपभोग करते हैं। उत्तम और निर्मल भूमि देखकर, उचित समय पर वे मेघवृष्टि करते हैं। उनकी वह सतत और प्रचण्ड वृष्टि शुरू होने पर जल की अनगिनत लहरें उठने लगती हैं। उस कृपारूपी वर्षा की शुरुआत होते ही शिष्यरूप नदी में बाढ़ आ जाती है। विकल्परूपी कूड़ा वह बाढ़ अपने प्रवाह में बहा ले जाती है। अनन्तर वह निर्मल प्रवाहयुक्त नदी चिदैक्य सागर में जा मिलती है और उससे समरस होकर आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाती है। फिर वैराग्य से शुद्ध की हुई भूमि अपनी ही आर्द्रता से गीली हो जाती है और मृदु हो जाती है। लेकिन उसमें बीज अंकुरित नहीं हुए होते ऐसी उस भूमि पर जब जल की निरन्तर वर्षा होने लगती है तो वासनारूपी ढेले गलने लगते हैं और सद्भाव की आर्दता मिलने से ज्ञान की वाष्प निकलने लगती है। तब वहाँ आत्मबीज बोये बिना ही अपने आप परिपूर्ण अंकुर निकल कर खेत में फसल स्वयमेव तैयार हो जाती है। बालों में दाने स्वाभाविक रूप से ही स्वस्थ्य एवं पुष्ट रहते हैं। परमकृपा से पोषण से पुष्ट होकर समदृष्टि के बाल पकने लगते हैं। परमानन्द से सृष्टि भर जाती है। जीव और शिव एकरूप हो जाते हैं। दुःखरूपी अकाल समाप्त होकर सुख के सुकाल का उदय होता है। कृपाधन सद्गुरु जब कृपा की वर्षा करने लगते हैं तो सच्छिष्यों में हर्ष का कोलाहल शुरू हो जाता हैं। आत्मज्ञानरूपी पर्जन्य की जब वर्षा होने लगती है तो साथ ही अवतारूपी ओलों की भी वर्षा होती है। वे ओले कार्य के अनुरूप आकार प्राप्त कर अन्त में निराकार में विलीन हो जाते हैं। उस पर्जन्य के तुषार यदि दैवयोग से जड़मूढ़ पर पड़ जाएँ और उसका एक बूँद भी सहसा उसके मुँह में पड़ जाय तो वह संतों की सभा में सम्मान पाता है। श्री हरिरूपी सद्गुरु महामेघ की जिस पर कृपा हो जाय वही चराचर में धन्य होकर देवताओं में तथा मानवों में भी पूजनीय बन जाता है। 'गुरु' शब्द का अर्थ भारी (वजनी) है। लेकिन वह इतना हलका है कि भवसागर में स्वयं तैर कर शिष्य को भी पार कराता है। उसका आदि, मध्य और अन्त वेद भी नहीं जान पाये। यह वही सद्गुरु आनन्दघन जनार्दन है जिसने मेरा एकाकीपन दूर कर इस एक एका को (एकनाथ) को पावन कर दिया और देखो! आत्मज्ञान का बोध कराकर जो एक है वही अनेक है और जो अनेक है वही एक है यह निश्चित कर दिया। निजआत्म्यैक्य का ज्ञान कराकर उसी ऐक्य से भक्ति मार्ग पर लगा दिया और अपनी ही कथा सुनाने के लिये मुझे श्रीभागवत सुनाने के लिये खड़ा कर दिया। भागवत की कथा यही है कि दशम अध्याय के अन्त में उद्धव ने श्रीकृष्ण को बद्धों की और मुक्तों की व्यवस्था के बारे में पूछा। उद्धव का प्रश्न अत्यन्त जटिल था। उसे सुनने के बाद अब श्रीकृष्ण अपने अंतःकरण का गुह्य ज्ञान उद्धव को बताने वाले हैं। वे प्रश्नोत्तर श्रवण करने से जन्ममरण के फेरे समाप्त हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जायेंगे, संसार की छत टूट जायेगी और विषयों का लेनदेन भी समाप्त हो जायेगा। मोक्षमार्ग के यात्री जो बेचारे अनेक साधन अपना कर थक गये, उन्हें भी बंधमोक्ष की प्रतियोगिता जीतने के लिये शीघ्र यहाँ आना चाहिये और भी जो जप-तप आदि साधन कर अथवा ध्येयध्यानादि अनुष्ठान करके हैरान हुए हों उन्हें भी शीघ्र यहाँ आकर इस साधन से ज्ञान-अज्ञान पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। ऐसी यह कथा नितांत जटिल है। इसलिये श्रोताओं को सावधान होना चाहिये। एकनाथ विनती करता है कि आज स्वानंदघन जनार्दन प्रसन्न हो गये हैं। इस ग्यारहवें अध्याय में बद्ध और मुक्त का भेद तथा साधु का लक्षण इसके बारे में श्रीकृष्ण बतायेंगे। इसी क्रम में प्रसंग के अनुसार भक्ति का लक्षण तथा ग्यारह पूजा के अधिष्ठान का श्रीहरि निरूपण करेंगे।

श्री भगवानुवाच

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ १॥

हे उद्धव! यदि तुम बद्ध और मुक्त अवस्थाओं को सच मानते हो तो यह सच नहीं है। सुनो, मैं तुम्हें बताता हूँ। सच पूछो तो मेरे स्वरूप में बद्ध और मुक्त ऐसी अवस्थाएँ हैं ही नहीं। वह सब गुणों के कार्य का परिणाम है। उनका सम्बन्ध मुझ से नहीं है। मेरे आत्मस्वरूप में न बद्धता है न मुक्तता है। गुणों के कार्यों से ही गुणों में बद्धता का और मुक्तता का भास होता है। गुण समूल मायावी हैं। मैं माया से विरत, गुणातीत हूँ। सत्य पर यदि असत्य की बाधा हो जाय तो सारे लोग मृगजल में भी डूबेंगे। चित्त में बनी हुई आग से गाँव जल कर भस्म होंगे, या स्वप्न के सिक्कों से सांसारिक लेन-देन होगा अथवा जब सूर्य को उसका प्रतिबिम्ब निगल जायेगा, पुरुष को उसकी छाया बाँध देगी, समुद्र यदि मृगजल में डूब जायगा तभी मैं गुणों की त्रिगुट मुझे बाँध पायेगी। जीभ पर यदि केश उग आयें, हथेली पर यदि पेड़ उग जायें, आँख में यदि पर्वत घुस जाये, तभी मैं गुणों के मेल से जकड़ा जाऊँगा। आकाश को यदि कुदाल खरोंच सके अथवा वायु के ललाट पर काजल चढ़े या बिजली के मस्तक पर लोग सेहरा बाँधे या आकाश टूट कर समुद्र में गिर पड़े पर्वत के साथ सारी पृथ्वी हवा से उड़ जाये, सूर्य अन्धकार में लड़खड़ाकर गिर पड़े तभी मैं गुणों में दिखाई पड़ूँगा। अधर में लटकते आकाश में सरोवर हो, उसमें अनेक प्रकार के मनोहारी कमल खिल उठें और उनका मकरंद भ्रमर सेवन करें ऐसा यदि सम्भव होगा तभी मैं आत्म गुणों के मेल से नाना प्रकार के विषयों का भोग कर फिर उन विषयों के लालच से स्वयमेव उन गुणों से बँध जाऊँगा। तीन गुणों के अधीन रहकर कार्य करने से गुणकार्यों से तादात्म्य हो जाता है। उससे भ्रान्तों को बद्ध और मुक्त इन अवस्थाओं का व्यर्थ ही आभास होता है। तुम कहोगे कि यदि गुण और आत्मा ये अलग हैं इसे सच मान भी लें तो गुणों के साथ रहने से आत्मा अवश्य ही विकारग्रस्त हो जायेगा। लेकिन भाई! जिस प्रकार अग्नि के कारण बर्तन गरम होता है, उसके कारण पानी गरम होता है और पानी गरम होने से खाना पकता है, उसी प्रकार आत्मा विकार मुक्त हेाता है। अग्नि के ताप से आकाश गरम नहीं होता उसी प्रकार आत्मा गुणों के साथ रहने पर भी विकार मुक्त रहता है। बहुरुपिया अन्धा दिखाई देने पर भी अन्धा नहीं होता उसी प्रकार आत्मा गुणों के साथ विचरता दिखाई देने पर भी अपनी निर्गुण अवस्था में ही अवस्थित रहता है। बहुरुपिया अन्धेपन के अपने अभिनय से सचमुच का अन्धा नहीं बन जाता, उसी प्रकार आत्मा भी गुणों के मेल से बद्ध नहीं हो जाता क्योंकि ये गुण मायावी हैं और आत्मा शुद्ध है। उनका और इसका किसी भी अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा व्यापक है और गुण सीमित। इस दृष्टि से भी उसे कोई बन्धन सम्भव नहीं है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्योंकि कलश में समुद्र कैसे समा सकेगा? राई में पर्वत कैसे रह पायेगा? अंजुली में यदि पृथ्वी समा सकेगी चिऊँटी यदि हाथी को निगल पायेगी, जुगनू यदि सूर्य को अपना ग्रास बना पायेगा, मक्खी यदि ब्रह्माण्ड को अपनी बगल में दबा सकेगी, पतंगा प्रलयानल को स्वाहा कर पायेगा तो आत्मा को गुण एकत्र होकर अपने पाश में बाँध सकेंगे। इस प्रकार बद्धता प्राप्त होना यही असम्भव बात है। बद्धता जाते ही उसके साथ मुक्तता भी गयी। लेकिन मैं आत्मा के रूप में जो हूँ वह सचमुच बद्ध-मुक्त अवस्थाओं से परे हूँ। स्वप्न का पुण्यात्मा अथवा महापापी दुष्ट ये दोनों ही जागृत होने पर जिस प्रकार मिथ्या मालूम होते हैं उसी प्रकार आत्मा में भी बद्धता और मुक्तता ये दोनों मिथ्या हैं। इसलिये जीवात्म पर बद्धता का जो आरोप किया जाता है वह सच नहीं है। फिर मुझ परमात्मा को बद्ध-मुक्त अवस्था कैसी? बिम्ब अथवा प्रतिबिम्ब में मल नहीं है लेकिन वह दर्पण की काँच पर लगा होने के कारण वह देह पर ही लगा है ऐसा लगता है। यदि उसे साफ करना हो तो दर्पण को ही रगड़ना होगा। ऐसा न कर प्रतिबिम्ब को साफ करने का प्रयत्न करना उचित नहीं होगा। उसी प्रकार जीव और शिव में दोष नहीं होता वह अंत:करण में होता है। अंत:करण को ही शुद्ध करने से बन्ध और मोक्ष दोनों की ही छुट्टी हो जाती है। उसी प्रकार गुणों के कारण उत्पन्न होने वाले जो अनेक प्रकार के दोष हैं वे सब अविद्यात्मक हैं। मूर्ख लोग अपनी स्थूल बुद्धि से उन्हें जीव की देह के साथ जोड़ते हैं। प्रबल हो गये गुण जब सद्बुद्धि से झड़ जाते हैं तभी अविद्या के कारण लगे हुए दोष नष्ट होते हैं और अविद्या ही निर्मल सद्विद्या हो जाती है, जीव शिव होकर रहता है। जीव और शिव ये दोनों जब मुझमें एकरूप हो जाते हैं तब मुझ अकेले के सिवा इस जन में या वन में कुछ शेष नहीं रह जाता। जीवभावना से देखें तो मैं ही जीव हूँ और शिवभावना से देखें तो मैं ही शिव हूँ। मैं एक भी नहीं हूँ और अनेक भी नहीं हूँ।, मेरा अनुभव मैं ही जानता हूँ। अब यहाँ तुम ऐसी शंका करोगे कि यदि जीव और शिव दोनों तुम ही हो तो फिर केवल शुकवामदेव ही क्यों मुक्त हैं? और दूसरों को जड़ जीव क्यों कहते हैं? जीव के रूप में भी जब सचमुच तुम ही हो तो फिर यह भेदभाव क्यों है? शुकवामदेवों की यह अवस्था वेदशास्त्र सम्मत है। वेदवाक्य की तो तीनों लोकों में मान्यता है, इसलिये यह बात कुछ विचित्र-सी लगती है और इसलिये असत्य है ऐसा यदि तुम कहोगे तो वह ठीक ही है। वेद कहता है वही सच है। वेद का वचन मेरा श्वासोच्छ्वास है लेकिन जो मैं अपने मुँह से कहता हूँ उसे तुम झूठ क्यों कहते हो? वेदों को भी वाणी देने वाला, सभी शास्त्रों का रचयिता मैं उसके भाषण की तुम असत्य कहते हो और स्वयं को बड़ा बुद्धिमान समझते हो। वेदों के तीन खण्ड हैं, कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञानकाण्ड! पाखण्डी नर उसे वेदवाक्य के बल पर ही मुँह बजाता है। वेद के कारण ही अनेक मतभेद तथा विवाद उत्पन्न होते हैं। लेकिन वेद केवल मेरा परोक्षवाद है। उससे तत्त्वज्ञान का बोध कैसे प्राप्त होगा? शब्दज्ञान और ब्रह्मज्ञान बाह्य दृष्टि से एक से लगते हैं। जिस प्रकार एक तोला और एक तोला सुवर्ण भार एक से होते हैं लेकिन दोनों के मूल्य में कभी बराबरी नहीं हो सकती उसी प्रकार वेदवाक्य और ब्रह्मस्वरूप का अनुभव ये दोनों एक से नहीं हैं। जिसे हरिहर भी स्वीकार करते हैं, उसकी बात को तुम प्रमाण नहीं मानते हो यह केवल तुम्हारा ज्ञानाभिमान है। इस अभिमान का त्याग करो। मेरा भाषण सत्य का भी सत्य है इसे निश्चित रूप से जान लो। तभी परमार्थ सिद्ध होगा। मेरे इस वचन को ब्रह्म का लेख समझो। हे उद्धव! मेरे विचार से वसिष्ठ वामदेव की बातों में बद्ध और मुक्त का कोई भेद नहीं है। यही मेरा सच्चा आत्मानुभव है। मुक्तों की दृष्टि से देखें तो सारी सृष्टि मुक्त दिखाई देगी इसलिये शुक और वामदेव की बात अलग कैसे होगी? बद्धमुक्त से भिन्न मैं चिद्धन परमात्मा हूँ। अगर तुम यह कहते हो कि जीव को भी बन्धन है तो वह भी सच नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया।
स्वप्नोयथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी॥ २॥

स्वप्न की स्थिति दो मुहूर्त ही रहती है लेकिन उतने समय में अनेक जन्मों तथा अनेक जातियों के लोग दिखायी पड़ते हैं। उसी प्रकार संसार तथा उसके अनुभव मिथ्या हैं। व्यर्थ का आभास वहीं विलीन हो जाता है जिससे देह में भीषण हाहाकार मच जाता है। इसी को शोक कहते हैं। टूटे हुए बर्तन में पानी भरने पर उसमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगता है तो बालक उसे अपने सीने से चपका लेता है लेकिन शीघ्र ही पानी बह जाता है और प्रतिबिम्ब लुप्त हो जाता है। इससे बालक छटपटाने लगता है। इसी का नाम है 'शोक'। अथवा गागर में चन्द्रमा का बिम्ब जब बालक के हाथ में नहीं आता तो वह जो दुःख प्रकट करता है उसका ही नाम है 'शोक'। जो नहीं है उसी के प्रति वह 'मैं' और 'मेरा' का भाव प्रकट करता है वही 'मोह' का कारण है। उसी अवसर पर भीषण ममता उत्पन्न होती है। मृगजल का तालाब देखकर उसमें केले की फसल तैयार होगी इस आशा से मृगतृष्णा के उस जल की आठों पहर रखवाली करता है। कोई उधर से गुजरता है तो उससे झगड़ा करने लगता है। इस मोह में अन्धा होने के कारण उससे सत्य का विवेक नहीं हो पाता। उसी प्रकार माँ-बाप कहते हैं कि पुत्रप्राप्ति से सुख लाभ होगा इस भ्रम से वह उनके मोह में पड़ा रहता है क्योंकि अन्त में लड़के उन्हें अँगूठा ही दिखाते हैं। गन्धर्वनगरी की रचना देखकर उसके मन में अभिलाषा उत्पन्न होती है और उसे प्राप्त करने के लिये वह बड़ी शीघ्रता से सेना तैयार करता है। उसी प्रकार देह का अभिमान मिथ्या है। देहसम्बन्धी ममता बहुत कठिन होती है। प्राणियों में ममता का अभिमान लगा रहता है, वही मोह का मूल कारण है। सारांश 'अहं' और 'ममता' ही मोह के माता-पिता हैं। उन्हीं के मेल से जागृत 'मोह' बढ़कर लोगों को भुलावे में डालता है। कोई विष स्वाद में मधुर रहता है इसलिये अपने प्रिय विषयों के प्रति आसक्ति रखते हैं और, जब अनेक बार उसकी प्राप्ति होती है तो उसे 'सुख' इस नाम सम्बोधन करते हैं। विषयलाभ से जो हर्ष होता है उसे ही वे 'सुख' कहते हैं और विषय का नाश होते ही उसे 'दुःख' और 'असुख' कहने लगते हैं। शोक, मोह, सुख, दुःख आदि से ही 'देह की प्राप्ति' होती है। देहाभिमान के कारण ही अनेक दुःखदायी देह धारण करने पड़ते हैं। वह जिस तीव्र ध्यान से मरता है उसी रूप में जन्म लेता है अथवा जो अत्यन्त द्वेष के कारण करता है वह द्वेषरूप में ही जन्म लेता है। सर्प और नेवले की पूर्वजन्म की वृत्ति बैर की ही होती है इसलिये वे बैरी के ही रूप में जन्म लेते हैं। मृत्यु के समय जो वासना शेष रहती है वही गति प्राणी को प्राप्त होती है। इसलिये अंतःकरण में अन्त समय जो प्रबल वासना उत्पन्न होती है वही गति उस प्राणी को प्राप्त होती है ऐसा वेद और पुराण भी बताते हैं। पुरुष के साथ जिस प्रकार छाया मिथ्या है, उसी प्रकार ब्रह्म में माया भी मिथ्या है। वही गुणकार्यों को उत्पन्न करती है और देह का आभास उत्पन्न करने का मूल भी वही है। जिस प्रकार स्वप्न में मन अकेला होने पर भी वह अनेक प्रकार के रूप धारण करता है उसी प्रकार चैतन्य का जो अन्यथा आभास है वही चराचर है। सारांश संसार का सचमुच ही कोई अस्तित्व नहीं है। फिर सुख और दुःख कैसा? जरा देखो। बिना देह के छाया किसकी रहेगी? जिसने जन्म ही नहीं लिया वह काला है या गोरा कैसे कहा जाय? सारा कुछ स्वप्न की तरह है, संसार का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार इन दो श्लोकों में वस्तुविरोध का अच्छे ढंग से निरूपण किया। अब प्रतीती से जो अनुभव प्राप्त होता है वह सत्य में बाधक नहीं होता। आँख पर उँगली रखने से दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं लेकिन आकाश में दो चन्द्रमा नहीं होते, उसी प्रकार निराकार में मिथ्या आभास होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धवशरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥ ३॥

जिसका आत्मज्ञान की तरह अनुभव होता है, 'अहंब्रह्मास्मि' की निरन्तर भावना रहती है, वही 'शुद्ध विद्या' है और वही अविद्या का नाश करने वाली है ऐसा समझ लो। मैं 'पापी', 'अभागा' यही भावना जहाँ प्रस्फुटित होती रहती है, वही भावना 'अविद्या' है जो अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न करती है। एक जीव को बन्धन में डालती है तो दूसरी उसे मुक्त करती है। हे उद्धव! ये दोनों मेरी ही अनादि शक्तियाँ हैं। तुम चिन्मात्र चैतन्यधन हो, चित्त्स्वरूप होने के कारण वृत्तिशून्य हो, सदा निर्धर्म होकर रहते आये हो, तुम्हारी शक्तियाँ कैसे माने? ऐसा व्यर्थ सन्देह करने का कारण नहीं है, सुरनरों के भी वश में जो नहीं आ पाती वह मेरी माया ही इन शक्तियों को जन्म देती है। उसे 'सत्' कहें तो वह तत्काल नष्ट होती है, असत् कहें तो उसका आभास होता है। उसी ने संसार को नाम और रूप की आसक्ति दी है। उसे न सच कह सकते हैं, न झूठ ही कह सकते हैं। इसीलिये उसे 'अनिर्वचनीय' अर्थात् शब्दों में व्यक्त न करने लायक कहा जाता है। उसी ने अविद्यारूपी पिल्लों को अपने पंखों के नीचे पाल-पोस कर बड़ा किया है। विद्या और अविद्या कोई आज की वस्तु नहीं हैं, वे अनादि शक्तियाँ हैं। ये माया की दो वृत्तियाँ हैं। इनके कारण ही बन्धन और मोक्ष का आभास होता है। तुम कहोगे ऐसी यह माया कौन है? तो तुम्हारी जो कल्पना है वही माया है, उसी में बद्धता और मुक्तता प्रस्फुटित होती रहती है इसे ध्यान में रखो। अब तुम्हें बन्ध मोक्ष की स्थिति के बारे में यथातथ्य रीति से बताता हूँ, उसे ध्यान से सुनो। जो स्वप्न में भी मेरी आराधना नहीं करता, मेरा भजन नहीं करता उसी में सारी अविद्या की वृद्धि होती रहती है और जो मेरे प्रति अत्यन्त तत्पर रहता है, आठों पहर भजन में लीन रहता है वह ब्रह्मविद्या का निवासस्थान है। वहीं उसकी सतत वृद्धि होती रहती है। जहाँ मेरे भजन का उल्हास रहता है वहाँ अविद्या का नाश होता है। वहीं ब्रह्मविद्या का प्रवेश होता है ऐसा भक्तों को पक्का विश्वास रहता है। अब तक मैंने शक्ति की दृढ़ स्थापना की दृष्टि से बन्ध का कारण और मोक्ष के साधन के बारे में बतलाया। इस पर उद्धव ने कहा, "बन्ध और मोक्ष इन वृत्तियों को तुम माया की शक्ति कहते हो, अर्थात् माया ही मोक्षदायिनी हो गयी। लेकिन हे कृष्ण, यह कैसे होगा? क्योंकि यदि माया मोक्षदात्री हुई तो फिर तुम्हारी भक्ति क्यों की जाय? तो इसमें सत्य क्या है, इसे बतायें।" इस पर कृष्ण ने उद्धव से कहा, "छाया स्वयं चल फिर नहीं सकती, वैसे ही माया को भी अपना सामर्थ्य नहीं है। फिर वह मोक्ष कैसे प्रदान करेगी? माया का नियंता विष्णु है और वही मोक्ष का दाता है। वही जीव का बन्धन तोड़कर सायुज्यता देता है। इस पर तुम कहोगे कि अविद्या और काम्य कर्म से जीव को जो बद्धता प्राप्त होती है वह ब्रह्मविद्या तथा निष्कर्म से टूटती है। यही बोध गुरु भी श्रुतियों के माध्यम से निश्चयपूर्वक करते हैं। क्या इसमें विष्णु कर्त्ता है? नहीं। फिर वह मोक्षदाता कैसे होगा?" लेकिन उद्धव! तुम ऐसे विकल्प की बात भी न सोचो क्योंकि गुरु के रूप में विष्णु ही रहते हैं। श्रुति का अर्थ भी साक्षात विष्णु ही हैं और शमदमादिक जो साधन हैं वह भी विष्णु ही हैं। शिष्य की बुद्धि को जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भी विष्णुरूप है यह ध्यान में रखो। इस प्रकार श्रीविष्णु ही अपने भक्तों को मोक्ष प्रदान करने वाला है। उस मोक्ष का परिपाक जो समाधि है वह भी श्रीविष्णु ही हैं, समाधि का सुख भी श्रीविष्णु ही हैं। सनातन ब्रह्म, परिपूर्ण परमात्मा जो विष्णु है वह मैं ही हूँ। मैं अपनी कृपा से भक्तों को भवपाश से मुक्त करता हूँ। अब तीसरे श्लोक में आये पद 'शरीरिणां' से जीव को बन्धन होता है ऐसा अर्थ ध्वनित होता है। उसका भी बड़ी कुशलता से निवारण करते हैं। एक को ही बन्ध मोक्ष होता है या नहीं, इस प्रश्न के उत्तर अब उद्धव को स्पष्ट रूप से दे रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः॥ ४॥

लकड़ियाँ कम या अधिक करने से अग्नि कम या अधिक होती है। उसी अग्नि में से एकआध चिनगारी उड़ कर आकाश की ओर चली जाती है किन्तु आत्मस्वरूप में कम और अधिक होना नहीं है। फिर उसका 'अंश' मालूम हाने के लिये अवकाश कहाँ है? जिससे आत्मज्ञान प्राप्त हो ऐसी बुद्धि उद्धव के पास थी। लेकिन इसलिये श्रीकृष्ण ने उसे बड़े प्रेम से 'महामते!' कहकर सम्बोधित किया। फिर बोले, "जरा ध्यान देकर सुनो। इस श्लोक का अर्थ अत्यन्त गूढ़ है। उस धारणा को धारण करो। कहकर जगजेठी कृष्ण ने उद्धव की पीठ थपथपायी और बोले, यह अत्यन्त गूढ़ बात तुझ पर कृपा होने के ही कारण बताता हूँ। पीठ थपथपाने के बहाने अपनी शक्ति उसे प्रदान की और इस प्रकार उद्धव के अंतःकरण में अद्वैत ज्ञान का लक्षण प्रकट किया। हे उद्धव! जिस प्रकार दीपक अनेक होने पर भी प्रकाश एक अभिन्न रहता है उसी प्रकार त्रिभुवन में जीव सब जगह एक है। दीपक की ज्योतियाँ एक होती हैं किन्तु दीपक एक नहीं होते। भेद जड़ में उत्पन्न होता है किन्तु अजड़ में ऐक्यवृत्ति होती है। चन्दन के टुकड़े अनेक होते हैं किन्तु उनमें सुगन्ध एक ही होता है। उसी प्रकार जीवरूप में मैं अविनाश परमात्मा प्रतीत होता हूँ। अब जीव के रूप में तुम श्रीकृष्ण ही हो इसे यदि सच मान लें तो संसार पाश आदि का जो बन्धन है वह तुम पर ही लागू होता है ऐसा कहना पड़ेगा" ऐसी यदि तुम कल्पना करते हो तो वह सच नहीं होगी। जिस प्रकार शरीर को चलाने के लिये प्राण की आवश्यकता होती है लेकिन उस पर शरीर की अवस्थाएँ लागू नहीं होतीं। सूक्ष्मदेह में स्वयंभू रहने वाला जीव मेरे ही अंश के रूप में प्रतिबिम्बित हुआ है। उसे बन्धन की भावना केवल मिथ्या आभासित होती है। घट में आकाश रहता है जिसे 'घटाकाश' कहते हैं लेकिन वह घट नष्ट होने पर भी आकाश नष्ट नहीं होता उसी प्रकार मैं भी जीवतत्व में अविनाश रूप में रहता हूँ। जैसे जलकुण्ड में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखायी देने पर भी सूर्य वास्तव में आकाश से जलकुण्ड में नहीं उतरता उसी प्रकार मैं भी जीवत्व से अलिप्त रहता हूँ। सूर्य जिस प्रकार जलकुण्ड में प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार सूक्ष्म देह में मेरा आभास होता है। वहाँ मिथ्या भोग के पागलपन का बन्धन मुझ पर कैसे लागू होगा? अब विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। प्रतिबिम्ब का नाम 'जीव' और मुख्य बिम्ब मैं 'शिव' यही 'जीव शिव' का बृहत् अर्थ है। तालाब, कुएँ, जगह-जगह दिखायी देने वाले जलकुण्ड इन सभी में सूर्य के बिम्ब दिखायी देते हैं किन्तु आकाश में देखें तो सूर्य के इतने बिम्ब नहीं दिखाई देते। उसी प्रकार एक को अनेकत्व देने वाला जो जीवत्व है वह मिथ्या है यह ध्यान में रखो। भागवत का मुख्य तत्त्व और ज्ञान का शुद्ध सत्त्व यही है। जलकुण्ड में सूर्य का प्रतिबिम्ब हिलता-डुलता है, वह निश्चल है, वह मटमैला होता है आदि जो जलकुण्ड के गुण हैं वे सब उस प्रतिबिम्ब पर मढ़े जाते हैं। वैसे देखा जाय तो शिव को कभी बाधकता नहीं होती। वास्तव में यह कार्य अविद्या का है जो जीव के मत्थे थोपा जाता है। इसलिये जीवभेद बिलकुल मिथ्या है। उसे विद्या और अविद्या अपने कर्म और गुण के अनुसार मुक्तता और बद्धता प्रदान करते हैं। उस एक जीवभाव को ये नित्यमुक्त और नित्यबद्ध अवस्थायें दिखाने के लिये विद्या और अविद्या कारणीभूत होती हैं। जिस प्रकार जल में सूर्य का प्रतिंबिम्ब हिलता है तो पानी की चंचलता या स्थिरता ये अवस्थाएँ केवल प्रतिबिम्ब के लिये होती हैं, उसका पता सूर्य को नहीं होता या जिस प्रकार अँधेरे के जुगनू को कल्पांत में भी सूर्य का दर्शन नहीं होता उसी प्रकार जीव की बद्धता अथवा मुक्तता परमात्मा पर लागू नहीं होती। पानी में आकाश डूबा दिखाई देता है लेकिन वह गीला नहीं हो जाता उसी प्रकार आत्मस्वरूप भी अविद्या से अलिप्त रह कर जैसा का तैसा रहता है। एक बद्ध

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और एक मुक्त यह जीव का ही भास है। इसे भी मैं तुम्हें सिद्ध करके दिखाता हूँ। ध्यान देकर सुनो। हजार घड़ों में पानी भरा जाय तो एक ही सूर्य हजार घड़ों में हजार रूपों में दिखाई देता है लेकिन एक घड़े की अवस्था दूसरे पर लागू नहीं होती। उनमें से जो घड़ा हिल रहा है उसमें का प्रतिबिम्ब हिलता हुआ दिखायी देता है लेकिन दूसरे घड़े में वह निश्चल रहता है। यदि संयोग से उनमें से एक घड़े में छेद हो जाय तो घड़े का पानी चूकर उसमें का प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब में मिल जाता है। बाकी प्रतिबिम्ब वैसे के वैसे रहते हैं। उसी प्रकार गुरुकृपा होने पर सूक्ष्म देह विलीन हो जाता है, उसका परमात्मा से मिलन हो जाता है। बाकी सब देह के बन्दीगृह में फँसे रहते हैं। इसी का निरूपण मैं लोगों के अनुरोध पर आनन्दपूर्वक, स्वरुचि से तथा विशद रूप में करने वाला हूँ।

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते।
विरुद्ध धर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि॥ ५॥

इसी प्रसंग में बद्ध-मुक्त लक्षण के सम्बन्ध में तुम्हारे जो प्रश्न हैं, उनका भी निरूपण करता हूँ। ये दोनों देह में ही रहते हैं और उनका स्वभाव एक-दूसरे के विपरीत होता है। एक सदा सुखी रहता है तो दूसरा रात-दिन दुःख उठाता रहता है। इस प्रकार इनके दो प्रकार के भेद हैं—एक जीव ईश्वरभेद और दूसरा जीव-जीव में परस्पर भेद। इस प्रकार बद्धमुक्त में भी भेद है। पहले तुम्हें जीवेश्वर की कथा तथा उनमें का भेद बताता हूँ और फिर जीव की बद्धमुक्तता की व्यवस्था स्पष्ट करके बताऊँगा। इस प्रकार जीवेश्वर में भेद स्वयं नारायण ढाई श्लोकों में वर्णन करने लगे यह उद्धव का अहोभाग्य है।

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्लान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥ ६॥

सुपर्ण का अर्थ है पक्षी। वह एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाता है उसी प्रकार देह धारण करने वाला जीव भी इस एक देह से दूसरे देह में जाता रहता है इसीलिये उसे भी पक्षी कहते हैं। पक्षी की ही तरह उसकी भी गति रहती है। एक देह को छोड़कर वे दूसरे देह में जाते हैं इसीलिये उन्हें पक्षी कहते हैं। इस प्रकार आत्मा देह से भिन्न है। इसे उदाहरण देकर समझाया तथा उसी क्रम में देहात्मवाद का खण्डन भी किया। आत्मा कभी देह धारण नहीं करेगा। देहबुद्धि धारण करना तो और भी खराब है। इसे भगवान उद्धव को अत्यन्त प्रेम और निश्चय से समझा रहे हैं। देहबुद्धि के उदर में जन्म-मरण का असंख्य भण्डार रहता है। ये सदा देहबुद्धि के साथ रहते हैं। चित्स्वरूप में दोनों ही समान हैं। वे कभी भी जड़ देह की तरह नहीं होते। ये दोनों अनादि मित्र हैं तथा परस्पर जीवश्चकंठश्च हैं। काल, अकाल वे कभी एक-दूसरे से अलग नहीं होते। सखा की तरह, हँसते, खेलते सीधे सादे रूप में साथ-साथ रहते हैं। प्रकाश दीपक से अलग नहीं रहता और दीपक भी प्रकाश को छोड़कर नहीं जाता उसी प्रकार जीवशिव का मिलन अपनी ही लीला से एक साथ चलता रहता है। जरा देखो! जीव जिस चीज की भी इच्छा करता है वह सब उसकी वासना के अनुसार ईश्वर उसे प्रदान करता रहता है। कभी उसे ना नहीं करता। अंतकाल में तो जीव जो भी कुछ माँगता है वह सब ईश्वर उसे देने लगता है और ईश्वर की आज्ञा के अनुसार ही जीव आचरण करता रहता है। सचमुच ईश्वर की आज्ञा जीव मनोभाव से स्वीकार करता है। कभी 'हाँ' या 'ना' नहीं करता। उनकी इस प्रकार की मित्रता की बात अपूर्व है। उनकी मैत्री आश्चर्यजनक है। ईश्वर जैसी भी प्रेरणा करता है वैसे-वैसे जीव उसका पालन करता रहता है, उससे जरा भी विचलित नहीं होता। जन्म के क्षण से लेकर जीव ईश्वर की आज्ञा को शिरोधार्य करता है। परस्पर मित्रता होने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के कारण ईश्वर जीव का सहायक होता है। संकट के समय जब जीव ईश्वर की रट लगाता है तो वह तत्काल आकर उसे संकट से छुड़ाता है। इस प्रकार शिव की आज्ञा में जीव रहता है। जीवत्व समाप्त होने पर वह शिव में ही एकरूप हो जाता है। वह भी जीव के ही लिये शिवत्व स्वीकार करता है अन्यथा वह भी अलग ही रहता है। ऐसी उनकी मित्रता है उसका वर्णन वाणी से कैसे सम्भव है। उद्धव! उनकी मैत्री का सौजन्य सचमुच जानने वाला एक मैं ही हूँ। इस प्रकार जीव ईश्वर के अधीन रहता है यह बात सिद्ध हो गयी और साथ ही साथ अनीश्वरवाद का खण्डन भी हो गया। अनीश्वरवाद का खण्डन करते समय पाखण्ड कर्म का भी खण्डन किया। कर्मपाखण्ड के मतवादी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। वे ईश्वर के स्थान पर चित्त धर्म को स्वीकार करते हैं। ईश्वर सहज चित्स्वरूप है यह कहकर चित्त धर्म का निराकरण किया। अनेक प्रकार के चिन्तन का नाम है 'चित्त' और हे उद्धव! चित्त के बिना जो निश्चलता होती है उसे 'चैतन्य' या 'शुद्धचित्त स्वरूप' कहते हैं। कुछ लोग धर्म का विचार न कर ईश्वर को मोक्षदाता कहते हैं। यह पाखण्डी भक्तों की बात है। उसकी चिद्रूपता स्थापित कर चित्तधर्म का निराकरण किया। तिलक-माला-मुद्रा आदि धारण कर जो संतों की निन्दा करता है, भक्ति का ढोंग रचा कर पाप का आचरण करता है, उसका नारायण कभी उद्धार नहीं करते। अंत:करण की बातें जानने वाला मैं हूँ इसीलिये मुझे 'अंतर्यामी' कहते हैं। वही मैं शाब्दिक वचनधर्मी अधर्म पर कैसे चलूँगा? मैं सचमुच ज्ञानस्वरूप हूँ, मैं सर्वसाक्षी और सर्वज्ञ हूँ। बिना धर्म-अधर्म का विचार किये मैं मोक्ष प्रदान कर दूँ यह नहीं होगा। जो स्वयं भक्त का स्वांग बनाकर पाप का आचरण करता है उसे 'दंभी' कहते हैं। उसका उद्धार भगवान नहीं करते। सदृशौ (समान) और सखायों (मित्र) इन दो शब्दों से भगवान ने पाखण्डियों का खण्डन कर दिया। विभिन्न मतों का खण्डन कर अपना मत स्थापित करने के लिये भगवान श्रीकृष्ण ने बड़ा विचार कर इन दो पदों की योजना की है। उन दोनों पक्षियों ने मिलकर देहरूपी वृक्ष पर अपना घोंसला बनाया। अब देह को वृक्ष किस उद्देश्य से कहा इसका कारण सुनो। माता का उदर क्यारी है और पिता का रेत बीज है, गर्भादान, बुआई और उसे बढ़ने के लिये वासना का जल है। 'सोहं' अर्थात् 'ब्रह्म मैं ही हूँ' इस भाव का गुप्त अंकुर त्रिगुणरूप भूमि में त्रिदल रूप से ऊपर आता है और 'कोहं' अर्थात् 'मैं कौन हूँ' इस भाव से बड़ा होकर वृक्ष का आकार लेता है। उसमें हस्तपादादि अनेक शाखायें फूट कर वे बढ़ने लगती हैं। उसी में नीचे नाखून तथा ऊपर शिखा फूट कर वृक्ष का पूर्ण विस्तार होता है। उसमें देह बुद्धि के दृढ़ मूल निकलते हैं और उसमें विकल्प की कलियाँ फलने लगती है। कर्म-अकर्म के पर्ण उसमें निकलते हैं जिससे मोह ममता के सुन्दर फलों के गुच्छे लटकते हैं। बड़ी-बड़ी ऊँची शाखाओं में सुख-दु:ख के फल लटकते हैं और उसके भार से लटक कर वे शाखाएँ जमीन पर पसर जाती हैं। ऐसे वृक्षों में गुप्त एवं कठिन स्थान पर हृदय में जीवशिव अपने बसेरे के लिये घोंसला बनाते हैं। यदि कोई उसे देह की सत्यप्राप्ति हुई ऐसा कहे तो श्रीकृष्ण उस मत का खण्डन करते हैं। पुरुष के साथ ही छाया मिथ्या होती है। वह तोड़ने-मोड़ने से दूर नहीं होती। उसी प्रकार मेरी माया अवर्णनीय है। वही अपनी इच्छा से वहाँ अपना घोंसला बनाती है। शान्त सोये हुए मनुष्य की तरह जीवात्मा नीड में रहता है। वैसे, सह सब माया है उसमें सत्य का अंश नहीं है। इस प्रकार देह सम्बन्धों के मिथ्यत्व के निरूपण से श्रीकृष्ण ने नैयायिक मत का जो मुख्य सिद्धान्त है उसी का उच्छेद कर दिया। ऐसे इस वृक्ष को काल जन्म से ही क्षण-क्षण तोड़ता रहता है और उसकी बाल्यावस्थादि अवस्थाओं पर प्रहार करता रहता है। इस वृक्ष के फल कच्चे, पके, तीते, कसैले होते हैं जिन्हें 'पिघले' कहते हैं। उन दो पक्षियों में जिसे 'जीव' कहते हैं वह अनेक प्रकार के दु:खदायक कर्मफलों का भोक्ता होता है। उन फलों के खाने से पेट नहीं भरता,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

खाने से पचता नहीं इसलिये संसार चक्र में फँसकर चक्कर लगाने पड़ते हैं। फिर भी वह बड़े चाव से खाता रहता है। वह एक फल खाता रहता है तो दूसरा उसे न खाने का इशारा करता है लेकिन जीव को उस फल की बहुत चाह रहती है इसलिये वह लगातार उन फलों को खाता रहता है। शिवा की बात नहीं मानता और रात-दिन फल खाता रहता है। फिर भी उसमें शक्ति नहीं होती। उसे अशक्त पाकर काल उसे अपने पाश में बाँध लेता है। दूसरा कर्मफल को स्पर्श नहीं करता। उसे देखकर कलिकाल भी भागने लगता है। जो कर्मफल का सेवन नहीं करता वह अपनी ज्ञानशक्ति से और भी अधिक प्रबल होता है, वह सदा परमानन्द से तृप्त रहता है और स्वानन्द से डोलता रहता है। उद्धव को आत्मबोध हो इसलिये श्रीकृष्ण ने जीवशिव का भेद तथा आत्मज्ञान का बोध प्रांजलता से तथा अत्यन्त प्रेम से निरूपित किया।

आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः॥ ७॥

जो कर्मफलों का सेवन नहीं करता, जो आत्मस्वरूप का जानकार होते हुए सचमुच ही जीव और प्रपंच का द्रष्टा होता है वही आत्मज्ञान के कारण अलिप्त रहता है। जीव प्रपंच का ज्ञाता है लेकिन परमात्मा को नहीं जानता इसलिये कर्मफल खाते समय बद्ध होकर व्यथा भोगता रहता है। बेचारा कर्मफलों का सेवन करता है और अन्धा, विकलांग तथा पागल बन जाता है। वह अपने को ठीक से नहीं पहचान पाता और देह की बेड़ी में फँस जाता है। देह सम्बन्ध में तो पग-पग पर आत्मघात होता रहता है और जन्म-मरण का अन्त न होने के कारण वह दुःख से छटपटाता रहता है। नश्वर विषयों की लत पड़ जाने के कारण जीव उनमें बद्ध हो जाता है। अविद्या का यह सम्बन्ध बुद्धिमान देहधारी को भी लग जाता है। जीव को विषय में जितनी रूचि रहती है, उतनी ही उसे नित्यबद्धता होती है और जो विषय से अलिप्त रहता है उसमें नित्यमुक्तता का वास रहता है। जो विद्या की प्रधानता से नित्यमुक्त रहता है, जो ज्ञानशक्ति से शक्तिमान रहता है, जो सर्वव्यापी होकर सबसे अलिप्त रहता है उसे ही 'नित्यमुक्त' कहते हैं। इस प्रकार जीव की नित्यबद्धता के बारे में बताया और शिव की मुक्तता भी व्यक्त की। अब जीव की बद्ध-मुक्तता के सम्बन्ध में भी बताते हैं। अब श्रीकृष्ण उद्धव से बद्धमुक्तों के लक्षण और दोनों की पहचान बतायेंगे।

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथास्थितः।
अदेहस्थाऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा॥ ८॥

अब तीन श्लोकों में बद्धमुक्तों का मिश्र लक्षण बतायेंगे और केवल मुक्तों का उत्तम लक्षण सात श्लोकों में निरूपित करेंगे। देह में रहकर भी विदेही होना यही मुक्त का लक्षण है। इसी कारण देह में रहते हुए भी उसे 'विदेह' कहते हैं। जिस प्रकार स्वप्न का राज्य और भिक्षा, जागने पर मिथ्या ही हैं, उसी प्रकार देहादि सुख-दुःख भी मुक्तों के लिये मिथ्या है। जो स्वप्न में मर कर अग्नि को समर्पित भी कर दिया गया वह जागने पर राख नहीं हो जाता उसी प्रकार प्रपंच मिथ्या है यह जिसने जान लिया उसी को 'मुक्त' कहते हैं। स्वप्न की अनुकूल, प्रतिकूल बातें का जागृति में स्मरण होता है लेकिन उनके सुख-दुःख की बाधा नहीं होती, उसी प्रकार संसार के सम्बन्ध में जो भी बातों हैं उनकी मुक्त को बाधा नहीं होती। अब बद्ध की स्थिति सुनो। वह वास्तव में देहातीत ही होता है किन्तु दुर्बुद्धि के कारण स्वयं को 'देह' मानता है और इसी कारण से उसे दुःख होता है। पानी में पड़े प्रतिबिम्ब को देखकर 'मैं डूबा' कहकर काँखने लगता है और 'मुझे बचाओ, तुम्हें पुण्य मिलेगा' कहकर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चिल्लाने लगता है इसलिये जागृति में 'अब मैं नहीं बचूँगा' कहता है। भ्रम का यह सघन पटल ही बद्धता का लक्षण है। स्वप्न का मिथ्या सुख-दुःख भोगते हुए भ्रम में छटपटाता रहता है। आत्मस्वरूप का विस्मरण होने से विषयासक्ति बढ़ती है, मन में संकल्प विकल्पों का उदय होता है, वही बद्ध का लक्षण है। अब उसके और भी लक्षण बताता हूँ। भोग भोगते हुए भी अभोक्ता रहता है, यही मुक्तावस्था है। उसके बारे में भी सुनो।

इन्द्रियेरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः॥ ९॥

अवशेष प्रारब्ध स्थिति के कारण मुक्तों की देह में बस्ती दिखायी पड़ती है। किन्तु जागृति में, स्वप्न में अथवा सुषुप्ति में भी वह देहास्थिति को स्पर्श नहीं करता। पुरुष के कारण छाया चलती-फिरती दिखायी देती है लेकिन उस छाया को पुरुष स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार मिथ्या देहबुद्धि कल्पांत में भी मुक्त के पास नहीं आ सकती। जिस प्रकार हम अपनी ही छाया में नहीं बैठ सकते उसी प्रकार मायादि गुण पास होते हुए भी उसका स्पर्श नहीं करते। नियति की इच्छा से उसे जो भी विषय प्राप्त होते हैं उनका वह सेवन करता है लेकिन सेवन करने का भास उसे नहीं होता क्योंकि उसमें विषय की भावना का स्फुरण ही नहीं होता। गुण ही गुणों की अवस्था का पोषण करते हैं, इन्द्रिय अपने-अपने विषयों का भोग करते रहते हैं, 'मैं' दोनों का साक्षी होने के कारण अकर्त्ता हूँ, चित्तस्वरूप होने के कारण मैं सबसे अलिप्त ही रहता हूँ। (ऐसी उसकी धारणा होती है) इन्द्रियों की संगति से विषयों में लिप्त होते हुए भी वह विषय की छूत से कभी मैला नहीं होता। जहाँ काम से अति प्रेम होता है वहाँ लालच की दृढ़ बस्ती होती है अथवा जहाँ काम की प्राप्ति नहीं होती, वहाँ क्रोध का तूफान उठता है। किन्तु मुक्त सदा निष्काम होने के कारण क्रोध लोभ के साथ उसका काम भी नष्ट हुआ रहता है। वह स्वयं आत्माराम तथा सारे जगत का विश्रामधाम बन जाता है। इस प्रकार मुक्त के हृदय में पाप या पुण्य उत्पन्न हो ही नहीं सकता। वह काम, क्रोध की वृत्तियों से शून्य हो परिपूर्ण चिद्ब्रह्म होकर रहता है। मुक्त का विषय सेवन ऐसा रहता है कि उसमें भी ब्रह्मभाव दिखायी देता है। इसलिये पापपुण्य का प्रश्न ही नहीं उठता और इस प्रकार उन्हें नित्य मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्त की बात ऐसी है। अब बद्ध की भी बात सुनो। वह सचमुच ही अकर्त्ता होते हुए भी मैं उसे कर्ता कहता हूँ और इसीलिये वह सर्वत्र उलझ जाता है।

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीतिं निबद्ध्यते॥ १०॥

शरीर भाग्य के अधीन है। हरिहर भी उसमें यत्किंचित फेरबदल नहीं कर सकते। वेदशास्त्रों द्वारा भी यह सम्मत है। देह में जिस गुण की प्रधानता होती है उसके ही अनुसार कर्म होते हैं और इन्द्रिय भी गुणों के अधीन होने के कारण वे उसके अनुसार कार्य करते हैं। अर्थात् देह का आचरण दैव के गुणों के अनुसार होता है फिर भी वह अपने को कर्त्ता मानता है। वही उसके लिये दृढ़ बन्धन का कारण बनकर अपना ही घातक बन जाता है। चने की आशा से बन्दर पिंजरे की नली में हाथ लगाता है और वही उसके लिये पाश बन जाता है। उसी प्रकार जीव देह के विषय विलास के घमण्ड में फँस जाता है। जो सचमुच ही देहातीत तथा गुणकर्मों का अकर्त्ता है वही कहता है 'देह मैं हूँ और कर्मों का कर्त्ता भी मैं हूँ।' इस प्रकार अहं ममता में भूल जाता है। चोरी न करके जो मैंने चोरी की कहता फिरता है उसे छोटे-बड़े सभी पीटने लगते हैं। वही गति जड़ जीवों की है। वास्तव में कर्म होता है प्रकृति का, उसे अपने माथे पर लेकर अहं की ममता से नाचता फिरता है, उस अभिमान के कारण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कल्पांत तक अनिवार्य बद्धता में फँसता जाता है। नीचे काजल का लेप लगाकर ऊपर सफेद स्फटिक रखने पर उसकी शुभ्रता लुप्त हो जाती है और वह काला ही दिखायी देने लगता है। उसी प्रकार जीव अन्धा हुआ रहता है। अन्धा हाथी जब उन्मत्त हो जाता है तो वह इस बात का विचार नहीं करता कि मैं गड्ढे में गिर पड़ूँगा उसी प्रकार जीव कर्म करने लगता है, अधोगति की ओर जाने का विचार भी उसके मन को स्पर्श नहीं करता। मैं देह हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, मैं विषयभोक्ता हूँ यह जो 'मैं' पन की अहंता है उसी का नाम है दृढ़बन्धन। इस प्रकार बद्धमुक्त का वर्तन निरूपण से स्पष्ट करके बतलाया। अब श्रीकृष्ण केवल मुक्तों का लक्षण अत्यन्त प्रेम से बतलाते हैं 'ज्ञानी मेरी आत्मा है' यह रहस्य की बात भगवान ने अर्जुन को सेना की भीड़ में बतायी थी। वही गुप्त बात भगवान इस समय उद्धव को बता रहे हैं। ज्ञान की मुक्तस्थिति का यथार्थ रीति से वर्णन करना यही आत्मगुह्य है। ज्ञान के लक्षण बताते समय श्रीकृष्ण को संतोष नहीं हो रहा था इसीलिए निरूपण के बहाने वे पुनः ज्ञान के लक्षण बता रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि भक्तों का माधुर्य एक श्रीकृष्ण ही जानें और कृष्ण भजन का स्वाद भक्त ही जानें! वैसे भी जब मुक्तों की कथा हो और वक्ता भगवान श्रीकृष्ण हों तो उद्धव के भाग्य का क्या वर्णन किया जाय? शेष भी वह नहीं कर पायेगा। उद्धव भी अर्जुन जैसा या उससे भी अधिक महान होना चाहिये क्योंकि वे दोनों नर नारायण थे इसीलिये उन्होंने उसके सामने गुप्त ज्ञान का वर्णन किया था। अब वही ज्ञान की कथा पुनः उद्धव को बता रहे हैं। इससे मालूम होता है कि उद्धव जैसा भाग्य किसी का नहीं है। निजधाम जाना छोड़ तथा अपनी इच्छा एक ओर रख भगवान ने इतना निरूपण किया इसका अर्थ यही होता है कि श्रीकृष्ण उद्धव को बहुत चाहते थे और उससे स्नेह रखते थे। उद्धव का पुण्य अत्यन्त निर्मल था, धन्य हे उद्धव! जिसके लिये स्वानंदघन नारायण स्वयं दयार्द हो उठे योगयागादि से भी जो नहीं प्राप्त हो सकता वह उद्धव के कहने से, जिस प्रकार गाय अपने बछड़े को चाटती है उस प्रकार उसे गुप्त बातें बताने लगे। जो अपने ही कुल का काल बना वही भक्तों का पक्ष लेने वाला तथा स्नेहसिक्त श्रीकृष्ण उद्धव पर प्रसन्न हुआ। इसलिये उद्धव का नाम लेते ही श्रीकृष्ण सांसारिक दुःख से मुक्त करते हैं इतना उन्हें भक्तों के प्रति प्रेम है। भक्तों का स्मरण करने पर भी वह उन्हें तारता है। एका (एकनाथ) जनार्दन संतों से विनती कर रहा है कि मुक्तों के लक्षण निश्चित करने से मुक्तता प्राप्त होती है इसीलिये श्रीकृष्ण मुक्तों की कथा सुना रहे हैं। कृष्ण ने उद्धव से कहा, मैं अपना अत्यन्त गुप्त रहस्य जो मुक्तों का लक्षण है वह तुमसे निवेदन कर रहा हूँ। वह चमत्कार सुनो।

एव विरक्तः शयने आसनाटनमज्जने।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ॥ ११ ॥

बैठना, भोजन करना, शयन करना, देखना, स्पर्श करना, सूँघना, टहलना, स्नान करना आदि कार्य मुक्तजन कैसे करते हैं? उसके लक्षण सुनो। पिछले श्लोक में बताया था कि प्रकृति धर्म का अभिमान करने से दृढ़बन्धन प्राप्त होता है लेकिन ज्ञाता उस अहंकार का स्पर्श नहीं करता। ज्ञाता को स्वाभाविक रूप से ही सारे कर्मों में निरभिमानिता रहती है वही मूल कथा तुम्हें सुनाता हूँ, ध्यान देकर श्रवण करो। जिस प्रकार छाया का सम्मान अथवा अपमान पुरुष को जरा भी बाधित नहीं करता उसी प्रकार देह का कर्माचरण निरभिमानी मुक्त को बाधित नहीं करता। स्वाधिष्ठान उनकी बैठक है, उसी आसन पर वे निरन्तर बैठे रहते हैं। वहाँ अभिमान आ ही नहीं सकता। वहाँ जम कर बैठा हुआ मन उठने का नाम ही नहीं लेता। उस आसन की महत्ता विचित्र है। वहाँ विस्मरण समाप्त हो जाता है, एकान्त कभी नहीं ढलता। यही मुक्तों का 'सहजासन' है। इस आसन का समाधान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऐसा है कि यहाँ समाधि और व्युत्थान इन दोनों का निवारण होता है। यही मुक्तों का चलता आसन है। आसन पर बैठने पर जो समाधान मिलता है वही चलते-फिरते समय भी रहता है। उठने और बैठने का भी उसे स्मरण नहीं रहता, चलने का भी भान नहीं रहता। पैरों से तेजी से चलते समय भी उसे चलते रहने का स्मरण नहीं रहता। चलते समय भी उसकी समाधि नहीं टूटती। मुक्तों के लक्षण ऐसे होते हैं। बादलों के कारण चन्द्रमा दौड़ता हुआ दिखाई देता है उसी प्रकार त्रैलोक्य में भ्रमण करते रहने पर भी वह अपने स्थान से नहीं हिलता। इस प्रकार न चलते हुए भी मुक्त भ्रमण करता रहता है। कुम्हार के चाक पर बैठी हुई मक्खी अपने स्थान से हिले बिना भी चाक के साथ घूमती रहती है। उसी प्रकार मुक्त का गमन देह के गमन के साथ परिलक्षित होता है। देह प्रारब्ध की ही तरह भटकता रहता है किन्तु मुक्त की आत्मस्वरूप की बैठक विचलित नहीं होती। रथ के घोड़े सरपट दौड़ते रहते हैं लेकिन जिस प्रकार उसमें सोने वाले की निद्रा नहीं टूटती उसी प्रकार की यह स्थिति है। इस प्रकार बिना हलचल के ही जो हलचल होती है वही मुक्त का गमन है। अब वह आत्मस्वरूप में डुबकी लगाकर किस प्रकार 'स्नान' करता है उसकी कथा सुनो। वह गंगा के जल से स्नान करता है किन्तु गंगोदक का स्पर्श भी नहीं करता। चितस्वरूप में स्थित मन किसी अशुद्धि से अपवित्र नहीं होता। आत्मस्वरूप में ही मज्जित होने के कारण उसमें परम पवित्रता आयी रहती है इसलिये तीर्थ उसके ही चरणों का तीर्थ माँगते रहते हैं। इतना पवित्र रहता है मुक्त का स्नान। वह जल को भी चित्स्वरूप ही देखता रहता है क्योंकि उसने चित्स्वरूप में ही अखण्ड डुबकी लगायी रहती है। उसके चरणों के रज:कण प्राप्त होने से पृथ्वी भी परम पवित्र हो जाती है। उसके प्राणों की संगति से वायु भी पवित्र हो जाती है। उसके चरण स्पर्श से गंगादि नदियाँ भी पवित्र हो जाती हैं। उसके उदर के सान्निध्य से अग्नि को भी पवित्रता प्राप्त होती है। उसके हृदय के आकाश में आकाश भी शान्त पड़ा रहता है इसलिये वह पवित्र होकर सर्वत्र अलिप्त और उदास रहता है। जो वैकुण्ठ प्राप्त कर लेते हैं वे भी सदा उससे भेंट करने की इच्छा करते हैं। उसकी बातें सुनने के लिये वेद दौड़े आते हैं और उसका प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिये देवतागण आते हैं। इस प्रकार चित्स्वरूप में स्नान कर वह सर्ववंद्य तथा पवित्र हो जाता है। यह मुक्त के स्नान की कथा है। अब उसका 'निरीक्षण' कैसा होता है, सुनो। यह समस्त चराचर देखते रहने पर भी वह न देखने वाला रहता है क्योंकि दृष्टि तथा दृष्य के प्रति अलिप्त होने के कारण दृष्टि पदार्थ देखते समय भी उसे वहाँ श्रीहरि के ही दर्शन होते हैं। सृष्टि दृश्य पदार्थों से भरी-पूरी रहती है किन्तु उसकी दृष्टि को दृष्य पदार्थ दिखायी ही नहीं देता। दृष्य पदार्थ से भेंट होने पर भी वह अदृष्य के गले ही पड़ता है। दर्पण में अपना चेहरा देखने पर अपनी ही आँखें दिखायी देती हैं उसी प्रकार सौन्दर्य से दृष्टि प्रकाशमान होकर दृश्यस्थान पर सौन्दर्य ही दिखायी देता है। आँखों से दर्पण दिखाई देता है और उसमें आँखों से आँखें ही दिखायी देती हैं, मुक्त का 'निरीक्षण' या देखना भी उसी प्रकार का है। वह अपने जैसा जगत ही देखता रहता है। देखने वाला पदार्थ, देखने वाला तथा यह त्रिगुट ही अदृष्य हो जाता है। वह सर्वांग सुन्दर होकर दर्शन का अवलोकन दर्शन से ही करता है। अनेक पदार्थ दिखाई देने पर भी दर्शन उस दृश्य को हटा कर दृश्यातीत आत्मतत्त्व ही सारी सृष्टि में व्याप्त दिखाई देता है। उद्धव! मुक्तों की यह जो निरीक्षण की पद्धति है उसे यथार्थ दृष्टि से जो देख पाता है, वह दृष्टि जिसे प्राप्त होती है उसे ही त्रिभुवन में पावन हुआ समझना चाहिये। इस दृष्टि से जो सदा आचरण करते हैं वे परममुक्त हैं इसे ध्यान में रखो और इसी दृष्टि से जो मुझे देखते हैं वे श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं और मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। परादि वाचाओं में जिस स्थान पर शब्द उत्पन्न होता है, उसी स्थान पर उसका श्रवण रहता है। श्रोता, वक्ता, कथा तथा निरूपण यह सारा वह स्वयं बनकर सुनता रहता है। उसके श्रवणेन्द्रिय शब्द समुदाय से अखण्ड जुड़े रहते हैं। चाहे वे लौकिक शब्द

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हों या नारायणोपनिषद सुनने का प्रसंग हो या हरि, गोविन्द ये नाम सुनने को मिलें लेकिन उन सबका अर्थ बोध उसे एक जैसा होता है। शब्दों का उच्चार करने वाला वही होता है और वही श्रवण में श्रोता बन जाता है जिससे शब्दों में अत्यन्त मधुर नि:शब्दता उपस्थित हो जाती है जो भी शब्द कान पर पड़ता है वह नि:शब्द हो जाता है। इस प्रकार श्रवण में मुक्तों का परमानन्दस्वरूप स्वानन्द बोध ही भरा रहता है। अकार, उकार और मकार इस त्रिगुट का शब्दसृष्टि के मूल शब्द 'प्रणव' अर्थात् ओंकार यह शब्द भी उसे ब्रह्मस्वरूप में दिखाई देने लगता है। यही मुक्तों की श्रवणसंतुष्टि है। शब्दज्ञान कानों पर आने पर भी शाब्दिक सृष्टि लुप्त हो जाती है और कानों में पूर्ण ब्रह्म ही भर जाता है। यही मुक्तों का स्वानंद श्रवण है। उपनिषद का श्रवण करने या लौकिक शब्द सुनने से मुक्तों के ज्ञान में परिवर्तन नहीं होता। उन्हें श्रवण में स्वानंद ही भरा दीखता है। अद्वितीय परब्रह्म यही वेदशास्त्रों का गूढ़ रहस्य है। वही रहस्य मुक्तों को सुगम हुआ रहता है। उन्हें शब्दों में परब्रह्म ही भरा दिखायी देता है। लौकिक शब्द हों या वैदिक शब्द हों, हर शब्द में ब्रह्म ही भरा रहता है। यही मुक्तों का श्रवण है। अब उनके घ्राण का लक्षण सुनो। नाक में सुगन्ध आने पर भी मुक्तों को गन्ध के सम्बन्ध में भावना उत्पन्न ही नहीं होती। उस सुगन्ध के रूप में उन्हें स्वानन्दकंद परमानन्द का ही अनुभव होता है। नाक, पुष्प और चन्दन वह स्वयं ही बन जाता है। इस प्रकार भोक्ता हुए बिना वह उस सुगन्ध का उपभोग करता है। नाक में सुगन्ध आते ही तत्क्षण परेश प्रकट होता है इसलिये वह सुगन्ध है या दुर्गन्ध है इस विषयोपभोग का उसे ज्ञान ही नहीं होता। मलयपर्वत से वायु के साथ सुगन्ध भी उड़ती है, वहाँ मुक्तों का घ्राण रहता है। इस प्रकार इस सुख का उपभोग अगम्य है। वायु जितना प्रवाहित होता है, उतना मुक्तों का सुवास ग्रहण करना होता है। इस प्रकार उसे सहज ही सुगन्ध का लाभ होता है। सचमुच वह इस प्रकार गन्ध विषय का भोक्ता बनता है। यही मुक्तों का सुगन्ध ग्रहण करता है। अब 'रस' सेवन करने का ढंग सुनो। रस, रसना और भोजन यह तीनों वह स्वयं हो जाता है। वह बिना जिह्वा के, हाथ लगाये बिना ही सब कुछ खाता रहता है। वह सभी रसों का स्वाद लेता रहता है लेकिन एक ही स्वाद से सब कुछ खाता है लेकिन वह भोक्ता नहीं बनता। ऐसे भोजन से वह सदा तृप्त रहता है। उसे भूख की जानकारी नहीं होती लेकिन खाना खाते समय वह किसी चीज को मना भी नहीं करता। वह बिना खाये ही सब कुछ खा जाता है लेकिन उसे जूठा नहीं करता। थाली, भोजन और स्वयं इनमें उसे कुछ भिन्नता नहीं मालूम होती। रस विषय के बहाने वह सर्वांग से स्वानंद का उपभोग करता रहता है। जिह्वा रस का आस्वाद लेने जाती है तो वहाँ परमानन्द प्रकट होता है इसलिये वह रस और रसना इन दोनों का त्याग कर निजानंद को ही ग्रहण करता है। सारी मधुरताओं में माधुर्य लाने वाली जो मूल मिठास है वहीं उसके अंत:करण का प्रेम रहता है। इसलिये नाना प्रकार के व्यंजन खाने पर भी उसे उसमें उसी मधुरता का स्वाद प्राप्त होता है। सारी चीजों में जो मिठास होती है वह मिठास वह स्वयं बन जाता है इसलिये वह जो भी पदार्थ खाता है उसमें उसे उसी मधुरता का अनुभव होता है। ऐसा है मुक्ता का निजबोध! वह रस का आस्वाद लेने जाता है तो उस पदार्थ का रसत्व लुप्त होकर वहाँ स्वानंदकंद परमान्द ही भर जाता है। इस प्रकार वे जिस-जिस रस को चखने जाते हैं वही ब्रह्मरस हो जाता है। सारांश, मुक्तों की भोजन करने की क्रिया ऐसी रहती है यह ध्यान में रखो। अब उनका स्पर्श ग्रहण कैसा रहता है इसका भी लक्षण सुनो। मुक्तों को ठंडक लगने पर उसकी शीतलता समाप्त हो जाती है। अथवा उष्णता उन्हें स्पर्श करती है तो उसकी उष्णता समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार अग्नि अपना सम्पर्क होते ही चन्दन और घुरे (दुर्गंधियुक्त वृक्ष) के विकारों को जलाकर उन्हें अपने जैसा बना देता है उसी प्रकार मुक्तों की देह पर यदि द्वंद्व टूट पड़ें तो वे स्वयं ही टूट जाते हैं। वह सब तरह से सब में विद्यमान होने के कारण उनका द्वंद्व अपने आप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समाप्त हो जाता है। वहाँ मुलायम और कठोर का भेद कैसा? शीतलता और उष्णता कैसी? वह सब में सबका आत्मा होकर रहता है इसलिये उसे द्वंद्व का भान ही नहीं होता। जिस प्रकार ग्रीष्म आग को नहीं जलाता, ठंडक हिमालय को बाधा नहीं पहुँचाती, उसी प्रकार द्वंद्व की यह माला मुक्तों के गले में नहीं पड़ती। सुवर्ण के सुन्दर अलंकार सुवर्ण की पेटी में ढँक कर रखने से वे ढँके हुए हैं यह कहने की अपेक्षा वे खुले रखें हैं यह कहना ही उपयुक्त होगा। उसी प्रकार उसे सारे द्वंद्व परब्रह्म की तरह रहते हैं। उसके शरीर से जो भी चीज आकर लगती है उसके शरीर का ही अंग बन जाती है। अलग कुछ नहीं रह जाता। अर्थात् सारे द्वंद्व टूट जाते हैं। हाथ में यदि कोई ललिया कमल पकड़े तो उस कमल का कमलत्व ही समाप्त हो जाता है। इसमें कमल से उत्पन्न ब्रह्मदेव भी डूब जाता है और परब्रह्मस्वरूप बन जाता है। स्पर्श, स्पर्श करने वाला तथा स्पर्श का विषय यह त्रिगुट ही समाप्त हो जाता है। बल्कि वह अपने स्वभाव के अनुसार सब कुछ स्वयं ही बन जाता है। पूजा के लिये वह मूर्ति को हाथ में लेता है तो उसे लगता है कि वह मूर्ति मैं स्वयं हूँ या वह पत्थरों से खेलता है तो उसे उसमें मेरा ही आभास होता है। दीवार पर अलग-अलग रंग के चित्र बने रहते हैं। उस पर कहीं भी हाथ लगाने पर दीवार का ही स्पर्श होता है, उसी प्रकार मुक्तों का स्पर्श करना पूर्ण रूप से अद्वैतरूपी तथा आत्मानात्मक ही होता है। इस प्रकार मुक्तों का स्पर्शलक्षण प्रतीत होता रहता है। अब उनका बोलना कैसा होता है यह सुनो। वह बड़े प्रेम से जब कोई सरस कथा सुनाता है, अथवा कोई लौकिक बात करने लगता है तो उसकी समाधि खण्डित नहीं होती। बोलते समय भी मौन नहीं टूटता यही उसकी पहचान होती है। शब्दों की नि:शब्दता ज्ञाता की ही समझ में आ पाती है। पति-पत्नी घर में लोगों के सामने बातें किये बिना ही आचरण करते रहते हैं। क्या वे अबोल हैं या उनमें अटूट प्रेम है? उसी प्रकार मुक्तों के बोलने की स्थिति रहती है। शब्दार्थ में से शब्द नि:शब्द होते रहते हैं। वह मुँह से जो अक्षर निकालता है वह सचमुच अक्षररूप ही रहते हैं। उसकी वाणी सुनकर मन आश्चर्यचकित हो उठता है। मैं एक कुशल वक्ता हूँ इस बात का उसे अभिमान ही नहीं होता अथवा मुझे लोगों का मनोरंजन करना है इसका भी उसे स्मरण नहीं होता। नि:शब्दों में से शब्द निकलते रहते हैं, उन शब्दों में भी नि:शब्द रूप ही रहता है। इस प्रकार वह बोलता है इसलिये बोलते रहने पर भी वह मौन रहता है। जल में लहरें उत्पन्न होती हैं तो भी लहरों का स्वरूप जल ही रहता है। उसी प्रकार सभी शब्द नि:शब्द से ही निकलते रहने के कारण शब्दों का सारा रूप नि:शब्द ही रहता है। वाच्य, वाचा और वाचकता इस त्रिगुट को छोड़ कर ही वह मधुर बातें करता है। यदि वह ऊटपटांग बातें भी करता है तो भी उसका मौन का दामन नहीं छूटता। अरे! सच बोलना है इसका भी उसे स्मरण नहीं होता अथवा स्वार्थवश झूठ बोला जाय ऐसा भी उसे नहीं लगता। सत्य तथा मिथ्या इन दोनों को उसने झट निगल लिया होता है इसलिये अलग तरह का भाषण करने पर भी वह मूल के मौन के कारण मौनी ही बना रहता है। वह जोर से हाँक लगाये अथवा सिंह जैसी गर्जना करे तो भी शब्दों में नि:शब्दता ही भरी होने के कारण उसका मौन नहीं टूटता। वह यदि मेरी स्तुति करने लगता है तो उसमें मैं ही रहता हूँ और यदि वह बेतुकी बातें करता है तो उसमें भी उसे मैं ही दिखायी देता हूँ। यदि वैसा ही प्रसंग उपस्थित होता है तो वह झगड़ा भी करता है लेकिन उस कलह में भी उसे आगे-पीछे मैं ही दिखाई देता हूँ। उसका ऊटपटांग या व्यंग्य भाषण भी शुद्ध परब्रह्म ही रहता है। उसमें और मुझमें कोई अन्तर न होने के कारण मैं और वह सदा एक ही स्थान पर रहते हैं। 'तुम्हें भगवान तारेगा' ऐसा यदि कोई अकस्मात् कहता है तो मैं उसे अपने मस्तक पर बिठाकर ब्रह्मसाक्षात्कार कराता हूँ। इसके लिये मैं सदा उसके वचन का पालन करता हूँ और उसके वचन को प्रामाणिक मानता हूँ। अब 'वह' और 'मैं' का जो वाक्प्रचार है वह केवल बाह्यदृष्टि से है। वैसे मैं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वही हूँ यह रहस्य मेरे भक्तगण अच्छी तरह जानते हैं। इसीलिये वह मेरा जीवश्चकंठश्च है और मैं भी उसका आत्मजीवन हूँ। वह और मैं कल्पांत में भी भिन्न नहीं हैं इसे ध्यान में रखो। सारांश वह समग्र मुझमें रहता है और उसके अन्दर और बाहर मैं रहता हूँ। ऐसी अभिन्नता से वह संसार में सुख से रमता रहता है। उसके मुख से जो शब्द निकलते हैं उनका उच्चार मैं ही करता हूँ। मुक्तों के बोलने के बारे में मैंने तुम्हें इस प्रकार विस्तार से बताया। अब उसके हाथ की क्रियाओं के बारे में बताता हूँ। वह हाथ में कुछ लेने जाता है तो वह लेना ही भगवान बन जाता है अथवा वह कुछ देने लगता है तो वह देना ही तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार दान तथा उसे देने वाला और लेनेवाला इन तीनों को वह अलग-अलग नहीं देखता। इस प्रकार करते हुए भी वह अकर्ता के रूप में हाथों से क्रियाएँ कराता है। उसके हाथ अपने स्वभाव के अनुसार जो भी क्रियाएँ करते हैं उसमें उसके सूत्रधार होने की छाप सहज ही दिखायी देती है। उसके हाथ में शस्त्र आ जाए तो उसका उपयोग करना उसे आता है किन्तु 'मैं कर्ता हूँ' यह अहंकार उसके मन को नहीं छूता। वैसा ही प्रसंग आ जाय तो वह द्यूत भी खेल लेता है किन्तु उसमें हारना या जीतना इनका उसे स्मरण भी नहीं होता। वह अपने स्वभाव से खेलता है, बस इतना ही। अथवा ब्राह्मण की पूजा करने का अवसर हो तो उसे भक्तिभाव से करना वह जानता है किन्तु पूज्य और पूज्यकत्व यह भावना मन में लाये बिना ही वह ब्राह्मण की पूजा करता है। धनुष्य की प्रत्यंचा खींच कर वह बाण चलाना भी जानता है, निशाना साध कर वह लक्ष्यभेद भी करता है किन्तु इससे मेरी कीर्ति बढ़े ऐसी इच्छा वह नहीं करता। उसके हाथ से कर्म इस तरह होते हैं जिस प्रकार सागर में तरंगें सहज ही उठती हैं। इस प्रकार उसके हाथ से अनेक कर्म होते हैं किन्तु वह निजस्वरूप में निश्चल ही रहता है। जिस प्रकार मृगजल भरता है उसी प्रकार वह भी निर्विकार ढंग से व्यापार करता है लेकिन मन में तिलमात्र भी अभिमान नहीं रखता। सूर्यकांत से अग्नि उत्पन्न होता है, वह कार्य सूर्य करता है ऐसा कहते हैं उसी प्रकार उसके हाथ से जो भी व्यापार होते हैं वे उसके किये नहीं होते। सूर्यकांत से अग्नि निकले यह कल्पना सूर्य के मन में भी नहीं होती उसी प्रकार मुक्त भी सारी क्रियाएँ करते समय निरभिमानी ही बना रहता है। अब पैर की क्रियाओं के सम्बन्ध में बताते हैं। वह जब चलता है तो उसके पैरों के नीचे की जमीन खिसक जाती है। वह स्वयं अपने पर ही स्वानंद से चलता रहता है। जल की लहरें जल पर अखण्ड गति से चलती रहती हैं उसी प्रकार वह अपने आत्मस्वरूप में चित्स्वरूप में ही चलता रहता है। पैर होते हुए भी वह अपनी मर्जी से पैरों के बिना चलता है, वह सर्वांग से चलता है क्योंकि वह सर्वव्यापी हो जाता है। जिस प्रकार जल अखण्डदण्डायमान होकर बिना पैरों के चलता रहता है उसी प्रकार नित्य सावधान रहने वाला मुक्त भी पैरों के बिना चलता रहता है। वायु जिस प्रकार पैरों के बिना सर्वत्र भ्रमण करता है उसी प्रकार आत्मस्वरूप में संचार करना मुक्त का लक्षण है। इस प्रकार बिना हलचल किये ही उसका सर्वत्र गमन होता है। चलते रहने का स्मरण ही उसे नहीं होता। ऐसा ही मुक्त का लक्षण होता है। अब मुक्त के स्त्रीभोग के सम्बन्ध में बताते हैं। मूलत: 'आत्मा' और 'आत्मी' ये दो नहीं हैं, इसलिये उसे स्त्री-पुरुष भावना की जानकारी ही नहीं होती। प्रारब्ध के कारण वह स्त्री का उपभोग करता है। नट नाटक करता है तो पुरुष होते हुए भी वह स्त्री का वेष धारण करता है और स्त्री दीखने लगता है। उस समय स्त्री और पुरुष ये दोनों भाव उसके पास रहते हैं। उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रमी बन जाता है अथवा अर्धनारी नटेश्वर में जो पुरुष है वही स्त्री रहता है। उसी प्रकार मुक्त को भी स्त्री या पुरुष के रूप में आत्मभावना ही रहती है। स्वयं अपनी ही छाया का आलिंगन करे, इस प्रकार द्वैत की कल्पना छोड़ वह स्त्री का उपभोग करता है। छाया बिलकुल पास होते हुए भी वह कहाँ रहती है इसकी जानकारी वह नहीं रखता उसी प्रकार मुक्तों को भी स्त्रियों की आसक्ति नहीं होती। इस प्रकार स्त्री-पुरुषों के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विकार उत्पन्न होने पर भी उसकी आत्मस्थिति नहीं ढलती और संयोग से संतति होने पर उसे उसमें अपनी ही आत्मप्रतीति होती है। इससे 'आत्मा वै पुत्र नामासि' इस श्रुति की सत्यता सिद्ध होती है क्योंकि वह सर्वकाल पुत्रों को भी आत्मभाव से ही देखता है। वह स्वयं ही माता रहता है और स्वयं ही पिता रहता है और पुत्ररूप से स्वयं ही क्रीड़ा करता है। जन में अथवा वन में उसे अपने सिवा कुछ भी नहीं दिखाई देता। स्त्री, पुत्र संतति ये सब मुक्तों को आकाश में विचरण करने वाले बादलों की तरह लगते हैं। वे यथासमय आते हैं और चले जाते हैं। स्त्री संभोग में जो सुख प्राप्त होता है वह सुख मुक्तों को सदा प्राप्त होता रहता है। इसलिये मुक्त को स्त्री सुख की विशेष कामना नहीं होती। अब धन की दृष्टि के सम्बन्ध में बताते हैं। राजहंस के लिये गोबर का जो महत्त्व होता है वही महत्त्व मुक्त को धन का होता है। उसे उससे कभी भी आसक्ति नहीं होती। वह उसके प्रति उदासीन ही रहता है। जिस प्रकार व्याघ्र को मिष्ठान्न अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार मुक्त को धन नहीं भाता क्योंकि उसे धन का लोभ नहीं होता। जिस प्रकार कौआ चारा चुगते समय कर्कट के ढेले को स्पर्श नहीं करता उसी प्रकार मुक्त अमूल्य रत्नमाला देखकर घृणापूर्वक थूक देता है। जिसे धन की आस्था रहती है उसे कल्पांत में भी मुक्तता नहीं प्राप्त होती। उसी प्रकार जिसे स्त्री की वासना होती है उसे कभी परमार्थ या आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। अब निद्रा के सम्बन्ध में बताते हैं। ससुराल में श्रम से थकी हुई लड़की जिस प्रकार विश्राम के लिये मैके आती है उसी प्रकार मुक्त की निद्रा के पास समाधि भी विश्राम के लिये आती है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं को स्पर्श न कर वह दिन रात आत्मस्वरूप में स्थित होकर आत्मा में ही सोया रहता है। इस प्रकार आत्मस्वरूप में सोये रहने पर उसके नीचे न तो धरती रहती है न ऊपर आकाश। उसकी निद्रा का सबसे बड़ा चमत्कार यह है कि चलते-फिरते समय भी उसकी निद्रा नहीं टूटती। खाना खाते समय भी वह अखण्ड निद्रा में रहता है। सारांश, वह सहज भाव से निजरूप होकर रहता है। सोनेवाला और जगानेवाला वह स्वयं ही रहता है और कौन किसे जगायेगा? वह स्वस्थ मन से निजरूप में सोया रहता है। जागृत अवस्था में भी वह सोया रहता है और सोये रहने पर भी जागता रहता है। इस प्रकार स्वयं ही निजरूप हो जाने के कारण वह निद्रा के आश्रित नहीं रह जाता। शय्या, शयन और शयनमन्दिर सब कुछ वही रहता है। अपने स्वरूप का स्वयं ही निवास होने के कारण वह निरन्तर निजरूप में सोया रहता है। इस प्रकार वह जो भी कर्म करने जाता है वहीं परब्रह्म प्रकट होता है। मुक्त को किसी नियम की पाबन्धी नहीं होती। यही मुक्त का रहस्य है। मुक्त को यदि नियम का बन्धन होगा तो फिर साथ-साथ साधन भी आ जायेगा और साधन आने पर मुक्तता कभी नहीं मिल पायेगी। मुक्त को तो कभी भी किसी चीज की आसक्ति नहीं होती। उसके हाथ से बचे हुए प्रारब्ध के अनुसार कर्म होते रहते हैं। जिसका अहंकार नष्ट हो गया हो वह सचमुच मेरा ही रूप है। इसके सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह वेदशास्त्र संमत है। जो नित्यमुक्त तथा निर्विकार रहता है वह व्यवहार में मेरे जैसा ही आचरण करता है। लहरों के भीतर और बाहर जैसे समुद्र ही होता है उसी प्रकार उसके भीतर और बाहर मैं ही रहता हूँ। इस प्रकार जो परब्रह्म होकर रहता है उसके लिये धर्माधर्म स्वप्न की तरह हैं। इन्द्रियों का कर्म भी उसे बाधक नहीं होता। इसका रहस्य वही जाने!

न था बद्ध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयान् गुणान्।
प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिल॥ १२॥

जिन इन्द्रियों के कर्म करने से मूर्ख को दृढ़बद्धता प्राप्त होती है, उसी इन्द्रियों से जब ज्ञाता कर्म करता है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तो उसे नित्यमुक्तता प्राप्त होती है। मूर्ख को कर्म का अहंकार रहता है और ज्ञाता सभी कर्मों में निरभिमान रहता है। जीवों के बन्धन और मोक्ष का कारण अहंकार है इसे ध्यान में रखो। 'मैं कर्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ', 'यही मूर्खों' का दृढ़बन्धन है। किन्तु वह प्रकृति कर्म ज्ञाता अहंकार से अपने माथे पर नहीं लेता। ज्ञाता के उसी निरभिमान के सम्बन्ध में मैंने तुम्हें बताया। इन्द्रियों को विषयभोग सौंपते समय वह अपना अभोक्तापन अच्छी तरह जानता है। अपनी छाया विष्ठा पर पड़े अथवा पालकी में चढ़े उसका सुख-दुःख व्यक्ति को नहीं होता उसी प्रकार देह का सुख-दुःख अथवा मान-अपमान मुक्त को बाधक नहीं होता। ज्ञाता विषयसुख की भी अभिलाषा नहीं करता। चित्र की सम्पत्ति की तरह विषय भी मिथ्या है ऐसा उनका विचार होता है। इसलिये जिसे प्रकृति के गुणों के प्रति कोई अहंकार नहीं होता वह देह में रहते हुए भी विदेही और नित्यमुक्त रहता है। उद्धव! देह में रहते हुए भी वह विदेही कैसे हुआ? यदि तुम ऐसी कल्पना कर रहे हो तो उसके सम्बन्ध में तुम्हें एक उदाहरण बताता हूँ। आकाश सब लोगों पर है, सभी पदार्थों से लगा हुआ दीखता है लेकिन किसी भी पदार्थ के दोष से वह मलिन नहीं होता। उस आकाश ही ही तरह ज्ञाता भी देह में होते हुए भी सदा देहकर्मों के प्रति अलिप्त रहता है। जिस प्रकार किसी बड़े पत्थर से आकाश को ढँका नहीं जा सकता उसी प्रकार प्रकृति के गुण क्षुब्ध हो जाने पर वह जड़बद्ध नहीं हो जाता। आकाश लोगों के बीच होने पर भी जिस प्रकार लोगों के घर्षण से उस पर घट्ठा नहीं पड़ता उसी प्रकार वह प्रकृति के कर्म के अनुसार आचरण करते हुए भी उसके गुणों से अलिप्त रहता है। आकाश पानी में डूबा हुआ दिखायी देता है किन्तु वह सूखा ही रहता है। उसी प्रकार वह पत्नी और बाल-बच्चों के बीच रहकर भी उनके दोषों में लिप्त नहीं होता। कोई यदि आकाश को कालिख लगाना चाहे तो वह लगाने वाले को ही काला करती है उसी प्रकार मुक्त को दोषी कहने से कहने वाले को ही दोष लगता है। ठंडक, धूप अथवा जल की धारा जिस प्रकार आकाश को स्पर्श नहीं करतीं उसी प्रकार द्वंद्वों के समुदाय में मुक्त निर्द्वन्द्व वृत्ति से खड़ा रहता है। अनेक प्रकार के मेघपटल गरजते हुए आकाश को ढँक लेते हैं लेकिन आकाश उनमें होते हुए भी उनसे अलग रहता है। वह उन मेघों को स्पर्श भी नहीं करता। उसी प्रकार मोहममता का जोर मुक्त को सताने का प्रयत्न करता है लकिन उसे उनमें से किसी की भी बाधा नहीं सताती। वह उन सबसे अलिप्त ही रहता है। आकाश को जलाने का प्रयत्न करने से आग ही बुझ जाती है उसी प्रकार तीन गुण यदि मुक्त को बाँधना चाहें तो गुणों का गुण ही समाप्त हो जाता है। प्रलयवायु के प्रहार से आकाश उड़ नहीं जाता लेकिन सारी वायु ही आकाश में समा जाती है। वैसे देखा जाय तो वह गगन में भी नहीं मिलता उसी प्रकार अविद्या भी अपने स्वभाव धर्म के अनुसार मुक्त को बद्ध नहीं कर पाती। 'अविद्या' इस नाम से ही वह मिथ्या है यह स्पष्ट मालूम होता है। मुक्त को वह दिखायी ही नहीं देती। आकाश की तरह जो सब कर्मों में होते हुए भी अलिप्त रहता है वही ज्ञाता है। जिस प्रकार सूर्य अलिप्त रह कर आचरण करता है उसी प्रकार मुक्त की स्थिति रहती है यह ध्यान में रखो। घृत, मधु तथा जल इन सब में प्रतिबिम्बित होकर भी सूर्य जैसे उन सबसे अलिप्त रहता है उसी प्रकार बाल्य, युवावस्था एवं वार्धक्य इन अवस्थाओं से मुक्त अलिप्त ही रहता है। अथवा सूर्य प्रकाश से शुभ अथवा अशुभ कर्म होता रहता है लेकिन सूर्य उन दोनों से अलग रहकर अपने स्वयं प्रकाश से प्रभावित होता रहता है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम धर्म का निर्वाह कर नित्य नैमित्तिक कर्म करते हुए भी मुक्त को कर्म का बन्धन नहीं होता। आत्मज्ञान के कारण वह अकर्त्ता ही बना रहता है। सूर्यकान्त में अग्नि उत्पन्न कर सूर्य अकर्त्ता ही रहता है, उसी प्रकार आत्मतत्व जानने वाला कर्म करते हुए भी अकर्त्ता ही रहता है। सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होता है लेकिन वह भींगता नहीं है। उसी प्रकार स्त्री की संगत से उसे बाल-बच्चे होते हैं लेकिन उसका ब्रह्मचर्य भंग नहीं होता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अब तक सूर्य की अलिप्तता का वर्णन किया। अब देह में रहकर अलिप्तता कैसी होती है उसका लक्षण बताता हूँ, सुनो। प्राण देह में रहता है जिसके कारण देह का चलन होता है, लेकिन देह के दोष को प्राण स्पर्श नहीं करता। वह सुख-दुःख से अलिप्त ही रहता है। उसी प्रकार मुक्त संसार में रहकर सारा प्रपंच व्यवहार करता है लेकिन उस संसार का तिल मात्र का दोष उसे नहीं लगता। वायु सबको स्पर्श करता है लेकिन स्पर्श का दोष उसे नहीं लगता। उसी प्रकार अहंभाव न रख मुक्त देह गेह में विचरण करता है। वायु सब जगह पहुँचता है लेकिन वह किसी के प्रति आसक्त नहीं होता। इस प्रकार स्वयं विषयी बने बिना मुक्त का विषय सेवन होता है। वायु जिस प्रकार एक जगह स्थिर नहीं रहती उसी प्रकार मुक्त की भी देहगेह में आसक्ति नहीं रहती। वायु आकाश में विश्राम करता है और मुक्त निर्गुण में। श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं, ऐसा जो अगाधपन है वही मुक्त की मुक्ति का कारण बनता है। इसमें भी विवेक प्रमुख है यह याद रखो।

वैसारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनिवर्तते॥ १३॥

विवेक से बुद्धि अत्यन्त प्रगल्भ होती है, उसे नित्य और अनित्य का ज्ञान होता है लेकिन वह ज्ञान अधूरा रहता है, वैराग्य के बिना उसकी वृद्धि नहीं होती। लेकिन वैराग्य कितना भी बड़ा क्यों न हो वह विवेक के बिना अन्धा है इसे ध्यान में रखो। उसे अपना पतन मालूम नहीं होता इसलिये वह अन्धे कुएँ में गिर पड़ता है। अन्धा हाथी उन्मत्त होने पर इधर-उधर भागने लगता है, गड्ढ़े में गिरकर वह मर सकता है यह बात उसकी समझ में नहीं आती। उसी प्रकार विवेक के बिना वैराग्य लंगड़ा है। जहाँ विवेक और वैराग्य मिलते हैं वहीं नित्य का संग्रह और अनित्य का त्याग दिखायी देता है। वही सद्विद्या रूपी खड्ग है जो नैराश्च के तेज से जगमगाता है। उसे वह गुरुवाक्यरूपी सील पर घिस कर तेज करता है और उसके प्रहार से संकल्प-विकल्प का समूल खात्मा कर देता है। 'असम्भावना' अर्थात् सत्य वस्तु असत्य मालूम होना और 'विपरीत भावना' अर्थात् देह को ही आत्मा समझना ये सारी भावनायें और वासनायें जब पूरी तरह टूट जाती हैं तभी आत्मस्वरूप में पुरुष जागृत हो गया ऐसा समझना चाहिये। अविद्यारूपी दीर्घस्वप्न में जो नाना प्रकार के भोगों का अनुभव कर रहा था उसका गुरुवाक्य के कृपा आशीर्वाद से जब अद्वैत में जागरण होता है तब द्वैत का ठिकाना ही नहीं रह जाता 'मैं' और 'मेरा' की भावना व्यर्थ हो जाती है और अविद्या के कारण उत्पन्न भेद का संशय मिटने से वह आत्मानुभव का आनन्द लेने लगता है। जागने पर स्वप्न का स्मरण हो आता है लेकिन वह सहज ही मिथ्या मालूम होता है। मुक्त को भी संसार वैसा ही दिखायी देता है इसलिये वह उन दोनों से अलिप्त रहता है। इस प्रकार मुक्त का जो आचरण रहता है वह इस प्रकार अलिप्त रहता है इसे ध्यान में रखो। 'कथं वर्त्तेत' अर्थात् वह किस प्रकार का आचरण करता है इस प्रश्न के उत्तर में प्रसंग के अनुसार यह लक्षण बताया। अब 'कथं विहेश्त' अर्थात् वह किस प्रकार विहार करता है? इस प्रश्न का उत्तर सुनने के लिये उद्धव का मन विचलित हो उठा है यह जानकर श्रीकृष्ण ने कहना प्रारम्भ किया।

यस्य स्युर्वीतसंकल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम्।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपिहि तद्गुणैः॥ १४॥

विद्यमान देह में रहते हुए भी देहस्थ गुण मुक्त को स्पर्श नहीं करते। पापपुण्य की कथा एवं सुख-दुःख की वार्त्ता उसके कानों पर नहीं जाती। जिस प्रकार कै किया हुआ पित्त कोई ग्रहण नहीं कर सकता उसी प्रकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक बार त्याग किये हुए संकल्प विकल्पों को वह कल्पांत में भी स्पर्श नहीं करता। इसलिये मुक्त का मन, बुद्धि, इन्द्रिय और प्राण ये सब संकल्पशून्य हो जाते हैं। इसीलिये मुक्त पर पापपुण्य का प्रभाव नहीं होता। जिस समय इन्द्रिय विषयक्रीड़ा में व्यस्त रहते हैं उस समय भी मुक्त संकल्पशून्य ही रहता है। उसके मन में मन नहीं होता इसीलिये वह वृत्तिशून्य रहता है। बच्चों को अलंकारों का मोल मालूम नहीं होता लेकिन उन्हें पहनने से उनकी शोभा बढ़ जाती है उसी प्रकार उसके इन्द्रिय भले ही कर्म में रत हों लेकिन मुक्त अकर्त्ता होकर अलिप्त रहता है। जो संकल्परहित होकर विहार करता है वही सचमुच मुक्त है। 'कथं विहरति' इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में बतलाया। मैंने मुक्त के जो भी लक्षण बताये वे सब मुक्त स्वयं ही जानता है। अन्य लोग विद्वत्ता के बल पर मुक्त को नहीं पहचान सकते। वे सभी वेदशास्त्रों में पारंगत रहते हैं किन्तु वे भी मुक्त को नहीं पहचान सकते जिसके देह में देह का अहंकार है वे मुक्त के लक्षण नहीं जान पायेंगे। मैंने बताये हुए लक्षणों को पोथी लेकर यदि कोई आतुरता से त्रिभुवन में ढूँढ़े तो उसे भी मुक्त की स्थिति नहीं मालूम होगी क्योंकि जो सचमुच ही मुक्त को पहचानता है वह भी सचमुच मुक्त ही रहता है। केवल अनुमान के आधार पर मुक्त की पहचान होगी यह आशा करना व्यर्थ है। जो सचमुच सूर्य को देखता है वह उसने प्रकाशित किये हुए संसार को भी देखता है उसी प्रकार जो सचमुच मुक्त को पहचानता है उसे संसार भी नित्यमुक्त ही दिखाई देता है। वहाँ किसी को मुक्त और किसी को बद्ध कहना बिलकुल अनुपयुक्त है। जो ऐसा समझते हैं वे महामूर्ख, अनाड़ी और अज्ञान के कारण अन्धे हैं ऐसा मानना चाहिये। मुक्त को पहचानना बिलकुल ही कठिन है यह जानकर उद्धव को चिन्ता हुई है यह जानकर श्रीकृष्ण ने कहा, इससे पहले मुक्त के जो लक्षण बतलाये उन्हें मुक्त ही जानते हैं। अब लौकिक रूप में मुक्त को पहचान सको ऐसे लक्षण भी बताता हूँ। उद्धव को ढाँढ़स बँधाने की दृष्टि से श्रीकृष्ण ने कहा, मुक्त को पहचानने के लक्षण बताता हूँ, सुनो। तब उद्धव भी एकाग्र होकर सुनने लगा। अब मुक्त को पहचानने के लक्षण मालूम होंगे यह जानकर उद्धव का मन अधीर हो उठा। यह जानकर श्रीकृष्ण ने भी निराली शैली में निरूपण प्रारम्भ किया।

यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किंचिद् यदृच्छया।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः॥ १५॥

श्रीकृष्ण बोले, हिंसा करने वाले मुक्त के देह की हिंसा करे, उसे छिन्न-भिन्न करें, उसे मारें या काटें उसकी भर्त्सना करें या उसे गाली दें लेकिन इसकी पीड़ा मुक्त को कभी नहीं होती और यदि बड़े गौरव के साथ उसकी पूजा करें तो भी वह उसे अपना गौरव नहीं मानता। देह में विद्यमान रहते हुए भी उसमें देहबुद्धि का अंश भी नहीं होता। इसी को जीवन्मुक्तता कहते हैं। इसीलिये उसे देह की व्यथा की बाधा नहीं होती। जिस प्रकार पुरुष के साथ छाया रहती है, वह पुरुष के कारण ही विचरण करती है, उसकी ममता पुरुष के मन में नहीं रहती, उसी प्रकार मुक्त का देह भी उसके साथ विचरण करता है लेकिन उसका अहंकार उसे नहीं होता। यह मुक्त का नित्य स्वभाव है। उसे कोई 'चोर' कहे, 'जासूस' कहे, 'जेबकतरा कहे' और इसके लिये दण्ड दे अथवा 'आप श्रेष्ठ पुरुष हैं' कह कर देवता की तरह उसकी पूजा करे जो जिस प्रकार छाया के मानापमान की पुरुष को पीड़ा नहीं होती उसी प्रकार पूजा अथवा पीड़ा से उसकी समता नहीं टूटती। देह बाघ के मुँह में पड़े अथवा प्रारब्ध से वह पालकी में चढ़े तो भी उसे हर्ष या विषाद नहीं होता क्योंकि समत्व के कारण वह निर्द्वंद्व हो जाता है। देह को सूली पर चढ़ाने के लिए ले जाते समय भी 'मैं अब मरने वाला हूँ' इस बात का उसे दुःख नहीं होता अथवा उसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हाथी पर बिठा कर सब लोग उसकी पूजा करें तो उसकी वृत्ति आनन्दित नहीं होती। सुख-दुःखादि व्यथाएँ अविद्या के कारण होने के कारण अनित्य हैं। इस प्रकार देह का मिथ्यत्व जान लेने के कारण उसे उसकी व्यथा नहीं होती। जहाँ सम्मान होता दिखाई देता है वहाँ वह उस सुख से अभिभूत नहीं होता अथवा अपमान के घावों से भयभीत होकर भाग नहीं जाता। देह पर अनेक प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं लेकिन वह कौतुकवश उन्हें देखता रह जाता है। शरीर मेरा है और मुझे व्यथा हो रही है इस बात का मुक्त को अनुभव ही नहीं होता। जीवन्मुक्त में विदेह स्थिति इतनी दृढ़ हुई रहती है कि उसे देहदुःख की व्यथा बाधित नहीं करती। लौकिक सृष्टि की नानाविध वार्त्ताओं से अथवा स्तुति सुमनों से उसकी पूजा की जाय अथवा अपशब्दों से उसकी निन्दा की जाय तो उससे मुक्त को दुःख नहीं होता।

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥ १६॥

दुष्टों द्वारा निन्दा के तीखे बाणों से हृदय पर प्रहार करने पर भी उसका मन नहीं कहता कि ये दुष्ट हैं, उनके उन दोषों का वह उल्लेख भी नहीं करता। अथवा भक्त, सात्त्विक और साधु ये तीनों मिलकर 'तुम शुद्ध दैवी पुरुष हो' कह कर उसकी स्तुति करें तो भी वह गुणानुवाद सुनकर 'मैं उत्तम पुरुष हूँ' इस प्रकार का भाव उसके मन में नहीं आता। वह लोगों में ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं करता। ये लोग अत्यन्त 'सज्जन हैं', 'भले हैं', 'गुणी हैं' ऐसी भाषा मुक्त के मुँह से नहीं निकलती। साधु हो या दुष्ट हो उनहें वह ब्रह्मरूप ही समझता है। निजात्मदर्शन से निजबोध होने के कारण वह चारों ओर तद्रूप होकर ही देखता रहता है। सारा विश्व मैं ही हूँ ऐसा अनुभव होने के कारण उसे किसी की निन्दा या किसी की स्तुति करने की इच्छा ही नहीं होती। स्तुति और निन्दा अपनी ही जगह विलीन हो जाती है। उसे आत्मसाक्षात्कार में ही विश्राम मिलता है, निजात्मपद में ही उसे आराम मिलता है। 'साधु' और 'असाधु' का भ्रम नष्ट होकर वह स्वयं ही आत्माराम होकर रहता है। दुष्ट कहकर जिसकी निन्दा की जाये उसे वह आत्मस्वरूप से देखने लगता है और तो और साधु कहकर जिसके गुणों का वर्णन किया जाय तो वह भी उसे आत्मस्वरूप में दिखाई देता है। दाहिना अंग शुद्ध अर्थात् वन्दनीय और बायाँ अंग अशुद्ध इसलिये त्याज्य ऐसा किसी को नहीं लगता। वह दोनों में ही उसका समान भाव रहता है उसी प्रकार वन्दन करने वाले को तथा निन्दा करने वाले को भी समान भाव से देखता है। इसलिये वह किसी को 'साधु' अथवा किसी को 'असाधु' कहना अर्थात् स्तुति या निन्दा करने का उसने त्याग किया रहता है। स्वानन्दसुख का बोध और समान भाव से वह समपद पर पहुँचा रहता है। उद्धव! यही मुक्त की पहचान है, याद रखो। अब और भी कुछ लक्षण तुम्हें बताता हूँ। मैंने तुम्हें प्रकट रूप से दिखाई देने वाला मुक्त का लक्षण बताया है। लेकिन लोग इसे कहाँ मानते हैं? क्योंकि लोगों के तर्क-वितर्क बड़े विचित्र रहते हैं। भाग्य से इनमें से एकाध लक्षण किसी मुक्त में सहज ही दिखाई देता है लेकिन केवल उतने ही से जगत में मुक्त को कौन स्वीकार करेगा? क्योंकि जो मुक्त है वह अपनी मुक्तता की पहचान लोगों से छिपाकर रखता है। इसके विपरीत जो अपनी मुक्तता का दिखावा करते हैं उन्हें स्वभाव का लोभी समझना चाहिये। शुक और वामदेव की मुक्तता को सभी स्वीकार नहीं करते फिर दूसरों की क्या बात की जाय? मेरी मुक्तता भी अनेक लोग स्वीकार नहीं करते। मैंने गोवर्धन पर्वत उठाया, दावाग्नि निगल लिया, अघासुर तथा वक दैत्य का संहार किया, कालिया का विनाश किया। जब तक मैं देहधारी हूँ, तब तक मैं नित्य ये पराक्रम करता रहता हूँ। आत्मसुख की तो मैंने लूट मचा दी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। फिर भी मेरी मुक्तता को ब्राह्मण स्वीकार नहीं करते, फिर दूसरों की बात क्या करें? सारांश, संसार मैं अत्यन्त कुतर्क भरे हुए हैं इसलिये मुक्तों की मुक्तता स्वयं मुक्त ही जानते हैं। दूसरा कितना ही चतुर क्यों न हो वह उसका लक्षण नहीं जान सकता।

मुक्त इस संसार में जड़ एक मूक पिचाश की तरह विचरण करता है। अब वे लक्षण भी यथार्थ ढंग से बताता हूँ।

न कुर्यान्न वदेत् किंचिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥ १७॥

मुक्त कायिक, वाचिक अथवा मानसिक इनमें से कोई भी कर्म उद्देश्यपूर्वक नहीं करता। उससे जो भी कर्म होता है, वह स्वाभाविक रूप में होता है। इसी का नाम है 'अहेतुक' कर्म। गुणों में ध्यान रखकर स्तुति अथवा निंदा की बातें न कर व मौन रहता है। लेकिन मौन का अहंकार करना भी उसका उद्देश्य नहीं होता। अगर वह मौन का अहंकार रखता है तो वह मुक्त बन्धन में पड़ जायेगा। इसलिये बोलना और न बोलना यह दोनों छोड़ वह मौनी हो जाता है। असत् वृत्ति से अर्थात् अनात्मवस्तु के निषेध से अशाश्वत का निराकरण कर परब्रह्म का अखण्ड चिन्तन करने बैठा तो पुण्याई के कारण सद्गुरु की पहचान मिली जिससे ध्येय, ध्याता, ध्यान समाप्त होकर भेद की भावना ही नष्ट हो गयी और चारों ओर चैतन्य ही भर गया। शास्त्रों की सहायता से शाश्वत और अशाश्वत की जो दीवार खड़ी की जाती है वह चैतन्य की बाढ़ में ढह जाती है। तब सन्त और असंत का भान ही नहीं रहता और चारों ओर चैतन्य ही भर जाता है। मन का मनपन टूट कर वृत्तिशून्य अवस्था प्राप्त हो गयी। उस चैतन्य का मन में ध्यान करो तो मन ही चैतन्य हो जाता है। इससे ध्यान सहज ही टूट गया। यही मुक्त का प्रमुख लक्षण है। उद्धव! चैतन्य में ही चित् खो जाने के कारण सच्चा मुक्त लोगों में जड़-मूक-पिशाच की तरह विचरता हुआ दिखाई देता है। (इसीलिये वह औरों में अच्छी तरह पहचाना जाता है। इसलिये उसका यह भी एक लक्षण है) नैष्कर्म ब्रह्म की उसे दृढ़ प्राप्ति हुई रहती है। अन्तर के निज बोध के कारण वह प्रसन्न दिखाई देता है। हाँ बाह्य संसार में वह अवश्य ही जड़ बना दिखाईं देता है जैसे अचेतन पत्थर हो। संकल्प और विकल्प को उभारने वाला मन आत्मस्वरूप में ही लीन हो जाने के कारण वह अपने स्थान से नहीं उठता। इसीलिये जड़ मालूम होता है। शब्द ब्रह्म को निगल कर वह स्वयं निःशब्द ब्रह्म हुआ रहता है। इसलिये 'निंदा' या 'स्तुति' का नाम नहीं लेता। सदासर्वदा सर्वांग से 'गूंगा' रहता है। 'ब्रह्म' कभी भी वाचा से व्यक्त नहीं हो सकता। इसलिये यदि वह कहता भी है तो मात्र संकेत से। वह किसी की स्तुति या निंदा भी नहीं करता। इसीलिये उसे 'गूँगा' कहते हैं। हे उद्धव! उसके मन में धन का कभी भी लोभ नहीं होता। इसीलिये वह कभी द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। इसीलिये लोग उसे पिशाच कहते हैं। उसकी पैशाचिकता का विचित्र चमत्कार है। संसार जिसका प्राशन नहीं कर सकता उस ब्रह्मरस का वह पान करता है और जिसका भक्षण नहीं किया जा सकता उस अभक्ष्य का वह भक्षण करता है। संसार जहाँ जा नहीं सकता उस अगम्य स्थान पर वह गमन करता है। संसार का मन जहाँ प्रवेश नहीं करता वहाँ यह सर्वांग के साथ प्रवेश कर जाता है। विधि-निषेध का विचार ही वह मन में नहीं लाता। कर्माकर्म का प्रयत्न वह नहीं करता। उसके अंगों से स्वानंद फूटता रहता है। इसीलिये संसार उसे पिशाच कहते हैं। इस प्रकार मुक्त की जड़ता, गूँगेपन और पिशाच के लक्षण मिथ्या अथवा बाह्य नहीं होते वे वास्तविक होते हैं। व्यर्थ की किचकिच उसे अच्छी नहीं लगती। ध्यान रखो कि मुक्त के मन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में किसी भी बात का आग्रह नहीं होता। जो अत्यन्त आग्रही होता है वह सचमुच ही बद्ध है। मुक्त के ये जो लक्षण बताये हैं वही साधकों के साधन होते हैं। सिद्ध को वह सहज ही प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार जो इन साधनों को साध्य करना जानता है वह साधक भी इसका लाभ लेता है। इसके अतिरिक्त जो अन्य शास्त्रज्ञ और पण्डित होने का अहंकार करते हैं उन्हें जिस प्रकार सज्जन दुर्बुद्धि को दूर ढकेल देते हैं उसी प्रकार मुक्तों की पंक्ति से दूर कर दिया जाता है। जो उपलब्ध साधन का उपयोग न कर केवल शास्त्र का अहंकार करता है और दिन-रात धन और मान-सम्मान की इच्छा करता है वह आत्मज्ञान से अलिप्त रहता है। जो स्वयं को कुशल कर्मठ याज्ञिक एवं शास्त्र सम्पन्न एवं वेदपाठी कहते हैं अथवा सदा धन की इच्छा से लोलुप रहते हैं उन्हें भी यह सुख नहीं प्राप्त होता। उद्धव! उन्होंने अब तक जो भी कष्ट किये हैं वे सब व्यर्थ हो जाते हैं। उसके सम्बन्ध में जो सच्चाई है उसे बताता हूँ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न विष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥ १८॥

वेदों का पठन कर वेदशास्त्रों का अर्थ जानकर अति पण्डित बनता है। चारों वेद उसकी जिह्वा पर सदा खड़े रहते हैं। स्वरयुक्त संहिता, पद, क्रम, अरण, ब्राह्मण, सूत्र, निरुक्त, जटापाठ, ध्वजस्थ आदि सवर्णक पढ़ सकता है। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गायन शास्त्र के सारे भेद जानने वाला, काव्यनाटक का उत्तम मर्मज्ञ, वेद तथा उपवेद जानने वाला, व्याकरण में नितांत पारंगत, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र, तर्कशास्त्र में निपुण, वैशेषिक शास्त्र का जानकार यज्ञ का कर्ममीमांसक, वेदांत का निरूपण करने में बृहस्पति, वार्त्तिक शास्त्र का ज्ञाता, तीनों प्रस्थान हाथ जोड़ कर सामने खड़े। शिल्पशास्त्र में नितांत निपुण, पाकशास्त्र में पारंगत, रत्नों की उत्तम परख करने वाला, अश्वपरीक्षा में भी दक्ष; आगमोक्त मंत्र-तंत्र में तैयार, शैवदीक्षा, वैष्णवदीक्षा का सार जानने वाला, सौर, शाक्त, तारण-मारण आदि मंत्र-तंत्र में कोई हाथ धरनेवाला नहीं, कामशास्त्र में निपुण, संगीतशास्त्र में भी प्रवीण, कविता करने में कुशल, राजनीति में भी निपुण, निघंटु जिह्वा पर, नटों का चमत्कार करने में दक्ष, प्रसिद्ध पंचाक्षरी, प्रसिद्ध वैद्य एवं रसायनशास्त्रवेत्ता। औषधि वही तैयार करे, भूत भविष्य का ज्योतिष जानने वाला, अमरकोशादि शब्दकोश तथा अठारह पुराण कंठस्थ, प्रश्नावली देखना भी आता है, स्वप्नाध्याय तो कोई उसके ही मुख से सुने। इतिहास के अध्याय मुखोद्गत, जाने गर्भ के लक्षण, शब्दव्युत्पत्ति का गहरा ज्ञान, साधक-बाधक प्रमाणों की जानकारी, समयसूचकता तो पीठ पर हाथ धरे, बोलने के काम में तो साक्षात् बृहस्पति। ब्रह्मज्ञान पर ऐसे बोले जैसे हथेली पर आँवला धरा हो लेकिन आत्मानुभव के सम्बन्ध में अन्धा। जिस प्रकार मोर के पंखों पर आँखें बनी रहती है किन्तु उनमें दृष्टि न होने के कारा वे अन्धी रहती हैं, उसी प्रकार विद्वानों की स्थिति रहती है। जिन स्तनों से दूध निकलता है उन्हीं स्तनों से लगी किलनी से चिपके रहने के कारण मूर्ख लोग रक्त ही चूस लेते हैं। उसी प्रकार ऐसे विद्वान विषय से जूझते रहते हैं। किलनी के मुँह में दूध आने लगता है तो उसे छोड़ कर वह केवल रक्त ही ग्रहण करती है, उसी प्रकार विद्वान भी ज्ञान बेच कर विषय माँगते हैं। मक्खी सुगन्धी चन्दन को छोड़ बड़े चाव से गन्दगी पर जाकर बैठती है उसी प्रकार पण्डित लोग भी आत्मज्ञान को छोड़कर विषयों से ही आकृष्ट होते हैं। अद्वैत मत की सिद्धता कर वह ज्ञान बेचने के लिए देश देशांतर जाते हैं, मूर्ख लोग ज्ञानियों का उपहास करते हैं फिर भी सम्मान की इच्छा करते ही हैं। ज्ञाता जब ब्रह्म का निरूपण करता है तो सात्विक लोगों का मन परमार्थ की ओर मुड़ता है लेकिन वक्ता केवल द्रव्य की इच्छा करता है। इस प्रकार विज्ञानों का ज्ञान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विपरीत हो जाता है। कहना कुछ और करना ठीक उसके विपरीत तो फिर ब्रह्मज्ञान किसलिये? जहाँ धन और मान-सम्मान रहता है वहाँ आत्मज्ञान नहीं हो सकता। धन और मान-सम्मान से चिपक कर ब्रह्मज्ञान की कथा कहने बैठो तो सहस्र कल्पों में भी आत्मसाक्षात्कार से भेंट नहीं होगी। एक-एक पद के अनेक आख्यान सुनाये, या एक-एक श्लोक के दस-दस अर्थ बताये लेकिन जब तक मन में मानाभिमान है तब तक ब्रह्मज्ञान कैसे होगा? मैं महान पण्डित, मैं बड़ा ज्ञाता इस अहंकार से ही वे त्रस्त हो जाते हैं। ऐसा अन्धा बालक नित्य अपने बाप के साथ रहने पर भी उसे नहीं पहचानता। वही गति विद्वानों की रहती है। वे निरन्तर आत्मा से एकरूप रहते हैं, दिन-रात उसी का वर्णन करते हैं लेकिन उस रूप को पहचानते नहीं हैं। विषय सेवन करने के लिये वे शास्त्रव्युत्पत्ति का व्याख्यान सुनाते हैं, उनका वह परिश्रम बाँझ गाय की सेवा करने की तरह व्यर्थ होता है। बाँझ गाय कभी बच्चा नहीं जनती, रस्सी छूटने पर भागती फिरती है, रोज दूसरों से उलझ कर सरकारी बगीचों में जाती है और उसका प्रायश्चित्त उसके मालिक को भोगना पड़ता है। पण्डितों की दशा भी वैसी ही होती है। उनकी विद्वत्ता से उनकी वाणी पुष्ट होती है। यही वाणी विषयों में उलझती है और उससे भी नहीं सँवरती। जिस प्रकार अभागे पुरुष के हाथ में सोना भी मिट्टी हो जाता है उसी प्रकार पण्डितों की विद्वत्ता भी विषयासक्ति के कारण नष्ट हो जाती है। ब्राह्मण को हाथी दान में मिलने पर वह उसका पोषण नहीं कर पाता और उसे कौड़ियों के मोल बेच देता है। वही हाल विद्वानों की विद्वत्ता का होता है। अद्वैतशास्त्र का सिद्धान्त वे जानते हैं यह उनका अलभ्य लाभ है लेकिन उसे वे विषयसुख के लिये बेच देते हैं। ऐसे विद्वान सचमुच मूर्ख हैं। धान में गन्ना डालने से वह उसका रस निकाल कर बर्तन में भर देता है और स्वयं सूखे चपटों को लेकर करकराता रहता है ऐसी स्थिति विद्वानों की होती है। विद्वान लोग जब ज्ञान कथन करते हैं तो उसमें जो उपयोगी होता है उसे सात्त्विक लोग ग्रहण कर लेते हैं और निःसत्व शब्दरूपी चिपाडों से विद्वानों का मुँह करकराता रहता है। उसमें मधुरता कैसी? नपुंसक के हाथ पद्मिनी सौंपने से जैसे वह जीवनभर रोती रहती है उसी प्रकार विद्वानों के घर में विद्वत्ता भी रोती ही रहती है। जरा देखो! यदि ब्रह्मज्ञान के बिना केवल शब्दज्ञान से संन्यास ग्रहण किया जाय और ध्यान धारण न किया जाय तो संन्यास व्यर्थ है। शब्दज्ञान के अनुसार जिस प्रकार कहा गया है उस प्रकार यदि आचरण न किया जाय और विषयासक्ति से रहा जाय तो समझ लो वह अपने हाथ से मुँह में मिट्टी डालता है। वेदशास्त्र सम्पन्न होकर उस पर जीविका चलाने लगा तो समझ लो वह एक व्यापारी अवश्य हो जायेगा किन्तु अपना मूलधन खो देगा। कोई रत्न के बदले कौड़ी खरीदे अथवा अमृत के बदले मांड पिये वही पण्डितों का अन्त होता है। अर्थात् वे आत्मज्ञान से वंचित हो जाते हैं। कितने कष्ट से उन्होंने शब्दज्ञान प्राप्त किया था, लेकिन उतने ही कष्ट के साधन से परब्रह्म को भेंट कर सकते थे। ईंट के बदले पारस पत्थर मिलने से मूर्ख पुरुष दुःखी होते हैं। पेट भरने के साधन के रूप में तथा अपनी विद्वत्ता के प्रदर्शन के उद्देश्य से वे सिफारिश लेकर श्रीमानों के पास जाते हैं। जिस प्रकार पेट भरने के लिये मांड पीना आवश्यक है उसी प्रकार विद्वान लोग पेट के लिये वितंडावाद करते रहते हैं। व्युत्पत्ति बल से वेद का अर्थ निकाल कर जब परब्रह्म साध्य नहीं कर पाते तो उस श्रम का फल श्रम ही प्राप्त होता है। उत्तम रत्न घान में डालो तो न तेल ही निकलता है और न ख़ली ही प्राप्त होती है, रत्न व्यर्थ ही चकनाचूर हो जाते हैं। उसी प्रकार विद्वान विद्वत्ता के फेर में पागल हो जाते हैं। वे परिश्रम का फल परिश्रम के रूप में ही प्राप्त करते हैं। श्रम से श्रम कमाते हैं, दुःख से दुःख भोगते हैं। यही बात श्रीकृष्ण उद्धव को दृष्टांत देकर बताते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां देहं पराधीनमसत्प्रजां च।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी॥ १९॥

दूध के लालच में सूखी गाय का दूध निकालने लगो तो चम्मच भर दूध तो हाथ नहीं आता, अलबत्ता गाय की दुलत्ती खानी पड़ती है। नटखट, अंग-चोर हर किसी को मारने वाली, ढेर सारा खाने वाली, अधर्मशील, लात मारने वाली और बेकाबू, छूटी तो भाग कर राजमहल में घुस जाएगी, लाठी से मारो तो जगह से हिलने का नाम नहीं लेगी, चाल भी ठीक नहीं, अपने मन से भटकती, चरती रहती है। जिससे दूध कभी न मिले, जो कभी गाभिन नहीं होती, ऐसी गाय को पोसने में पोषक को ही दुःख होता है। ऐसे ही घर को सुव्यवस्थित रखना यह गृहिणी का कर्त्तव्य है लेकिन यदि वह स्त्री ही पुरुष के अनुकूल न हो तो उसके कारण पुरुष को दुःख ही अधिक होता है और हमेशा सिरदर्द रहता है। निन्दा करना, आज्ञा का पालन न करना, पति को ऊलजलूल बकना, स्वयं मिष्ठान्न खाना यह स्त्रियों का बुरा लक्षण है। व्यवस्थित खाने-पीने को दो, पर्याप्त धन दो तो गुड़ की तरह मधुर बन जाती है लेकिन उसे धर्म करते हुए देखो तो सर फोड़ लेने की इच्छा होती है। यह स्त्री सचमुच असाध्वी है। जो पापपुण्य का विचार नहीं करती, कामचारी, धर्मशून्य होना यह दुराचारी स्त्री का लक्षण है यह ध्यान में रखो। ऐसे असाध्वी स्त्री के संग से सुख कैसे प्राप्त होगा? ये पुरुष अति दुःख से दुःखी होते हैं। जिसका देह पराधीन रहता है वह जीवन में सदा दीन बने रहते हैं। पराधीन को कल्पांत में भी समाधान प्राप्त नहीं होगा। अपनी सत्ता छोड़ जो पराधीन हो जाता है वह कभी स्वप्न में भी सुख की बात नहीं देखता। जो 'पर' अर्थात् माया के अधीन हो गया उस पराधीन को स्वप्न में भी सुख का संवाद प्राप्त नहीं होता। वह सदा दुःख में ही रहता है यह ध्यान में रखो। जो कहता है कि पराधीन को सुख है वह विशुद्ध मूर्ख है। दुःखों का दुःख पराधीन को अवश्य भोगना पड़ता है। अब 'संतति का विचार' सुनो। किसी को 'सुपुत्र' मिलता है तो किसी को 'कुपुत्र'। कुछ तो इतने मूर्ख होते हैं कि उनसे माँ-बाप को रात-दिन दुःख ही प्राप्त होता है। जो नरक से तारता है, जो पूर्वजों का उद्धार करता है, जो माँ-बाप को परमेश्वर समझ कर उनकी अनन्य भक्ति करता है, जो माँ-बाप को छोड़ अन्य तीर्थों को जाने की इच्छा नहीं करता, उनके चरणों के तीर्थ से असीम पवित्रता प्राप्त होती है ऐसी जिसकी भावना रहती है; जिस प्रकार लक्ष्मी और नारायण हैं उसी प्रकार मेरे माता-पिता हैं यह समझ कर जो अत्यधिक भक्ति से उनका भजन करता है, उनकी सेवा से कभी नहीं ऊबता; जो सत्त्व से अधिक सात्त्विक, जो पितृवचन का पालन करता है, धर्म और अधर्म का सतत विचार करना यही जिसका स्वाभाविक धर्म है, जो माता-पिता की सेवा से ही अपना उद्धार कर लेता है और सारे पितरों को मुक्त करता है, वही संसार में 'सत्पुत्र' है। ऐसे पुत्र का पालन-पोषण करने में माँ-बाप को आनन्द प्राप्त होता है। वह पितृभक्ति कर स्वयं भी तरता है और पूर्वजों का भी उद्धार करता है। 'सत्पुत्र' उत्पन्न होने पर इतना सुख प्राप्त होता है। अब तुम्हें 'असत्प्रजा' की स्थिति बताता हूँ। मूल में यह शब्द 'असत्प्रज' है। उसके व्यवहार के बारे में बताते हुए लज्जा आती है। लेकिन वह भी तुम्हें बताता हूँ। ऐसे जो पुत्र पैदा होते हैं उनका प्रेम केवल पत्नी और धन पर होता है। माँ-बाप की बिलकुल उपेक्षा करते हैं। ये दुष्ट, शठ, कर्मभ्रष्ट और अत्यन्त दुर्जन होते हैं, इनकी पूँजी है झूठ बोलना, झूठी कसम खाना, माँ-बाप को ठगना और सात्त्विक लोगों को कष्ट देना यही इनका धन्धा होता है, स्वयं तो नरक जाते ही हैं पर पूर्वजों को भी वहाँ ले जाते हैं। ऐसे कुपुत्रों का जो पोषण करते हैं वे अति दुःख से दुःखी होते हैं। पेट में फोड़ा पैदा हो जाये तो जैसे उसे फोड़ना सम्भव नहीं है उसी प्रकार असत् संतति का संसार उसे असह्य दुःख भोगने का बाध्य करता है। ऐसे पुत्र जब तक जीवित रहते हैं तब तक दुःख भोगना पड़ता है और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मरने पर नरक देते हैं। इस प्रकार दुष्ट संतति के लाड़-प्यार का अर्थ है दुःख से असीम पाप भोगना। उसी प्रकार गाँठ में धन होते हुए उसे सत्पात्र को दान न करना यही सब दुःखों का मूल है। इसीलिये धन के लोभी को अपार दुःख भोगना पड़ता है। धन प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न तथा धोखाधड़ी करनी पड़ती है। तिस पर यदि अनेक प्रकार के संकट सह कर धन प्राप्त हो भी जाय तो पहले उसे संग्रह करने के लिये दुःख भोगना पड़ता है, फिर उसकी रक्षा करने के लिये दुःख भोगना पड़ता है, उस धन के लिये जब पत्नी और बच्चे भी घात करने के लिये तैयार हो जाते हैं तो फिर औरों की क्या कथा वर्णन की जाय? सत्पात्र को दान न देकर जो कुबेर का धन सुरक्षित रखता है उसे दुःखातिरेक के कारण अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ता है और इससे धर्म की रक्षा नहीं होती। इस प्रकार रखा हुआ धन चला जाता है तो उससे दुःख की ज्वाला भड़क उठती है। इस प्रकार अमीरों को सैकड़ों जन्म लेने पड़ते हैं और वे करोड़ों दुःख भोगते रहते हैं। नरदेह प्राप्त कर जिसे अव्यंग वाणी प्राप्त हुई है और फिर भी जो हरिनाम का उच्चार नहीं करता उसके लिये तो पाप रखा ही हुआ है। जमीन में गाड़ कर रखे हुए लोहे को जिस प्रकार मिट्टी खा जाती है और उसका कोई उपयोग न होकर वह व्यर्थ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार नामोच्चार के बिना वाणी व्यर्थ नष्ट हो जाती है। आसन, ध्यान आदि की चिन्ता में न पड़ जो राम का नाम लेता है उसके करोड़ों जन्मों के कष्टों का परिहार उससे होता है, वही वाणी अत्यन्त उत्तम है। जो नित्य रामनाम का जाप करता है उसे मेरे ही जैसा (परमेश्वर जैसा) समझना चाहिये। सारे नियमों का पालन उसी ने किया यही माना जायेगा और सभी पुरुषों में वही उत्तम पुरुष है इसे ध्यान में रखो। चतुर्वर्णों में जो कोई रामनाम का अखण्ड जप करेगा वही मेरा लाड़ला बन जायगा। त्रिभुवन में भी मेरा उससे अधिक दुलारा कोई नहीं है। जिसे यह रामनाम अच्छा नहीं लगता, समझ लो उसके मुँह में पातकरूपी मुखरोग लग गया है। वह स्वयं ही अपने सुख से वंचित हुआ और आत्मघाती सिद्ध हुआ ऐसा समझना चाहिये। रामनाम के सिवाय जो मुँह है उसे केवल चमड़े का कुण्ड समझना चाहिये और उसमें की जीभ को केवल चमड़े का टुकड़ा समझना चाहिये। असत्य मल से वह जीभ लिपटी रहती है अथवा हरिनाम के सिवाय जो वाणी है वह गलित कुष्ट से सड़ी हुई है ऐसा समझना चाहिये। उसमें से असत्यरूपी कोढ का पानी रिसता रहता है और निन्दा की बदबू फैली रहती है। ऐसी वाणी में सचमुच अधर्म के कीड़े पड़ते हैं ओर वे चारों ओर बिलबिलाते रहते हैं। ऐसी वाणी जिसके सामने आती है, वह उससे मुँह फेर लेता है और नाक पर कपड़ा रखकर 'हरहर' कहता है। छोटे-बड़े सभी उस वाणी पर थूकते हैं। उस वाणी की दुर्गन्ध मुझे भी असह्य हो उठती है। ऐसी वाणी का जो रखवाला है वह दुर्बुद्धि है। उस पर अनर्थों का पहाड़ टूटता है और अनेक दुःख प्राप्त होते हैं। ऐसे पुरुष की वाणी सचमुच दुःखों का परिपाक है। जो वाणी नाम से विमुख होती है वह वाणी शुद्ध नरक है ऐसा समझो फिर वह वाणी वेदश्रुत ही क्यों न हो? जो नामकीर्त्तन की निन्दा करता है वह महापातकी से भी अधिक पापी है। उसके कारण पृथ्वी को भी अत्यन्त पीड़ा होती है। नामकीर्तन से ही वाणी धन्य हो उठती है इस भाव का निरूपण स्पष्ट करने के लिये श्रीकृष्ण तैयार हुए।

यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य।
लीलावतारेप्सित जन्म वा स्याद् वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः॥ २०॥

मेरे नाम, कर्म और गुणों की कीर्ति संसार को पवित्र करती है तथा महान दोषों का विनाश करती है। हरिनाम का स्मरण करने से जड़ जीवों का उद्धार होता है। तुम कहोगे "मैं विद्या तथा अविद्यातीत ब्रह्मस्वरूप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हूँ'' तो फिर तुम्हें गण, नाम तथा कर्म किस बात का? और कीर्तन धर्म भी कैसे होगा? लेकिन उद्धव! तुम ऐसी बात मन में न लाओ। मैं अपनी ही माया के सहारे अपनी अनेक लीलाएँ दिखाता हूँ, अनेक अवतार धारण करता हूँ और बिना कुछ किये ही सबका पालन और संहार करता हूँ। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये त्रिगुणात्मक तीन गुणावतार हैं, लेकिन उन तीनों रूपों में सचमुच मैं ही रहता हूँ, मैं ही चराचर का निर्माण करता हूँ और उनका संहार भी करता हूँ। ब्रह्मदेव के रूप में सृष्टि को उत्पन्न करने वाला भी मैं, विष्णु के रूप में उसका प्रतिपाल करनेवाला भी मैं और रुद्ररूप से उसका संहार करने वाला भी मैं ही हूँ यह समझ लो। जिस प्रकार बाल्य, यौवन तथा वार्धक्य इन तीनों अवस्थाओं का कर्त्ता एक ही पुरुष होता है, उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इन तीन कर्मों का कर्त्ता मैं ही हूँ। 'मैं' कर्त्ता होते हुए अकर्त्ता हूँ और अकर्त्ता के रूप में कर्त्ता हूँ। मेरी यह बात स्वयं मैं ही जानता हूँ, दूसरा नहीं जानता। मेरे नाम और कर्मों का वर्णन करने से उस वक्ता को मेरी ही उपाधि प्राप्त होती है और मेरी लीलावतारों का कीर्त्तन किया जाय तो कीर्त्तनकार को आत्मप्राप्ति होती है। सारे अवतारों में श्रेष्ठ श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि के जन्मकर्म, उनके विविध चरित्र तथा लीलाएँ इनका जो अखण्ड गायन करते हैं उन्हें आत्मप्राप्ति होती है। श्रीराम ने सहज लीला के रूप में सेतु का निर्माण किया तथा समुद्र में पत्थरों को तैरने के लिये बाध्य किया, श्रीकृष्ण ने खेल ही खेल में गोवर्धन पर्वत उठा लिया और दावाग्नि को निगल लिया, श्रीराम ने एक ही बाण से ताड़का का वध किया, श्रीकृष्ण ने बाल्यावस्था में ही पूतना का स्तन चूस कर उसे मार डाला। श्रीराम ने पैर से अहिल्या का उद्धार किया, श्रीकृष्ण ने यमलार्जुन दोनों का ही उद्धार किया। जिस धनुष को उठाने में रावण भी लड़खड़ा कर गिर पड़ा वही धनुष तोड़कर श्रीराम ने सीता का वरण किया, श्रीकृष्ण शिशुपाल आदि को जीत कर भीमकराजा की कन्या रुक्मिणी को घर ले आये। श्रीराम ने सुबाहु, खर, दूषण आदि का वध किया, श्रीकृष्ण ने अधासुर, बकासुर, केशी आदि को मारा। श्रीराम ने सुग्रीव को राजपाट देकर उसकी सिंहासन पर स्थापना की। उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने उग्रसेन को सिंहासन पर बिठाया। श्रीराम ने वानर सेना एकत्र कर राक्षसकुल का वध किया श्रीकृष्ण ने बालगोपाल इकट्ठा कर सारे मल्लों को मार डाला। श्रीराम ने रावण और कुम्भकर्ण को मारा, श्रीकृष्ण ने कंस और चाणूर का वध किया। श्रीराम ने बालि नामक वानर को धोखा दिया, श्रीकृष्ण ने महाघोर कालयवन को ठगा। श्रीराम ने राज्य पर विभीषण को स्थापित किया, श्रीकृष्ण ने राज्य पर धर्म की स्थापित की। एक बाप की आज्ञा से वनवास पर गया तो दूसरा माता के मृतपुत्रों को लेकर आया। इन अवतारों का चरित्र वर्णन कर ही पहले चोर रहा कोली महान ऋषि वाल्मीकि बना और व्यास जाटपुत्र होते हुए व्यास अवतार चरित्रों का गायन करने से ही त्रिभुवन में श्रेष्ठ कहलाये। इन दोनों अवतारों की महानता का वर्णन करते-करते ही दोनों महान कवि हो गये। देवताओं ने भी स्तुतिस्तोतों का गायन तथा वन्दन कर व्यास-वाल्मीकि को गौरवान्वित किया है। उन महाकवियों की काव्यकथा शेष नेत्रद्वार से श्रवण करते-करते तथा दो सहस्र नेत्रों से सुनने पर भी उसका मन नहीं भरता। यही कथा सुनने के लिये स्वर्ग में इन्द्र ने बृहस्पति का चरणस्पर्श किया। इस प्रकार सारे त्रिभुवन में इन अवतारों की चरित्रकथा की कीर्ति फैली हुई है। कथा महिमा का वर्णन अब बन्द करता हूँ। लेकिन केवल मेरे नाम का स्मरण करने से ही मैंने अजामिल ब्राह्मण का उद्धार किया। हरिनाम स्मरण से ही गजेन्द्र का उद्धार हुआ। पक्षी का नाम लेने के बहाने राम इन दो अक्षरों का स्मरण किया लेकिन केवल उतने से ही महापापी वेश्या का उद्धार हो गया। वेदशास्त्रों का अर्थ जानना कठिन है किन्तु मेरा नाम कठिन नहीं है यह ध्यान में रखो पठन करने से वेदशास्त्र पढ़ सकते हैं लेकिन केवल उतने से ही मुझमें प्रवेश नहीं हो पाता। लेकिन कोई सहज ही मेरा नाम ले ले तो वह मुझे अच्छा लगता है। वेदशास्त्रों के अधिकारी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

केवल ब्राह्मण हैं किन्तु मेरे नाम के अधिकारी चारों वर्ण हैं और संसार का उद्धार मेरे नाम से ही होता है इसे ध्यान में रखो। जहाँ नित्य मेरा नाम लिया जाता है, वहाँ सचमुच मैं ही रहता हूँ। इसमें सोचने या विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मेरा नाम ही तारने में समर्थ है। जिस वाणी से मेरा जन्म, नाम, कीर्ति अथवा गुणानुवाद का पठन नहीं होता वह वाणी व्यर्थ की बकवास करने वाली पिशाचिनी है, यह जान लो। जिस मुँह से मेरी कीर्ति का वर्णन नहीं किया जाता है वह केवल मदिरा भरा प्याला है। उस मद्य के प्याले के नशे की गन्दगी के भय से नाम वहाँ आता ही नहीं है। जिस वाणी से नाम का उच्चार नहीं होता उसे बाँझ समझना चाहिये क्योंकि वह हरिकथा का गर्भ धारण नहीं करती। उस वाणी के अन्य सारे उद्योग निष्फल हैं। श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा, भैय्या! एक अच्छा उपाय सुनो। मेरा नाममार्ग अत्यन्त सुगम होने के साथ ही परिपूर्ण है। वहाँ किसी अन्य मार्ग की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिये सज्जनों को हरि के नाम के अतिरिक्त वाणी का उपयोग करना ही नहीं चाहिये। यही उद्देश्य श्रीकृष्ण ने अत्यन्त प्रेम से प्रदर्शित किया। शब्दव्युत्पत्ति का ज्ञान प्राप्त कर लेने से उसकी योग्यता बढ़ेगी। उसे पंडिताई प्राप्त होगी लेकिन वैराग्य प्राप्त नहीं होगा और वैराग्य के बिना मेरी प्राप्ति कदापि नहीं होगी। मान लो वैराग्य प्राप्त हो भी गया तो वह भी यदि विवेक के बिना उत्पन्न हुआ तो जिस प्रकार आँखें न होने के कारण ज्येष्ठ होते हुए भी धृतराष्ट्र का राजपाट चला गया, उसी प्रकार विवेक के बिना वैराग्य अन्धा है और अनधिकारी है। उसमें सन्मार्ग देखने का सामर्थ्य नहीं है। उसका परिभ्रमण व्यर्थ है। जो विवेक से परिपूर्ण है उसका वैराग्य उफन कर बाहर आता है। उसे मेरी कुछ विचित्र जिज्ञासा रहती है। उसी का वर्णन श्रीकृष्ण करते हैं।

एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे॥ २१॥

जरा देखो! जिसके मन में मेरा नित्यमुक्त तथा नाशरहित स्वरूप जानने की उत्कट इच्छा बनी रहती है, उसे उसके अतिरिक्त और कुछ स्मरण नहीं होता। मुझे जानने की इसी तीव्र उत्कंठा को जिज्ञासा कहते हैं। मुझे प्राप्त करने के लिये वह कभी विद्वत्ता या मान-सम्मान को स्वीकार नहीं करता। श्रवण और मनन तथा मन में विचार करने के बाद देहादिक संसार चिन्तन व्यर्थ है ऐसा उसने निश्चित किया रहता है। इससे गुरुचरणों में उसका पूर्ण विश्वास रहता है और पूर्ण ब्रह्म के प्रति दृढ़ निश्चय रहता है। अतः अगले मार्ग पर चलने के लिये वह भगवद्भजन के प्रति तत्पर हो जाता है अथवा कर्म की झंझट छोड़कर वह ध्याननिष्ठ हो जाता है। अतः ध्येय, ध्याता और ध्यान इस त्रिगुट का उसे भान नहीं रह जाता, चारों ओर चैतन्य भर जाने के कारण वह भी सनातन परब्रह्म होकर रह जाता है। वहाँ कर्त्ता, कर्म और क्रिया का क्या काम? भेदभाव का भ्रम मिट जाता है, अन्दर बाहर परब्रह्म ही भरा रहता है और गुरुकृपा से मन निश्चल हो जाता है। चारों ओर सर्वकाल, सभी देशों में जहाँ परब्रह्म व्याप्त हो जाता है वहीं आत्मज्ञान स्थिर हो जाता है। ऐसे परब्रह्म का ध्यान जो नहीं कर पाता उसके लिये दूसरा आसान उपाय बताता हूँ।

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर॥ २२॥

मन स्वभावतः चंचल होता है और विषयवासना उससे भी अधिक चपल! इसी कारण से निर्गुण ब्रह्म में प्रवेश करने का सामर्थ्य मन नहीं जुटा पाता। वह सामर्थ्य लाने के लिये सांख्य, योग अथवा संन्यास का जो मार्ग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है उसमें आने वाले परिश्रम से यदि बचना है तो बस अत्यन्त उल्हास से मेरे प्रति भक्ति बढ़ानी चाहिए। इससे पहले बद्धमुक्तों के लक्षण बताते समय मुक्तों का लक्षण भी बताया था और शब्दों का पांडित्य करने वालों के खोखले शब्दज्ञान का भी विवेचन किया था। अब अपनी आत्मभक्ति का उद्धव से वर्णन करने के उद्देश्य से श्रीकृष्ण आदरपूर्वक भक्ति का स्वरूप बता रहे हैं। उद्धव! यदि इच्छापूर्वक मत्कर्म करने हों तो मनोधर्म भक्ति को अर्पण कर देना चाहिये और आनन्दपूर्वक मेरे गुण, कीर्ति तथा नाम आदि का स्मरण करना चाहिये। मेरे भजन से ही कार्य सम्पन्न होगा यह विश्वास मन में दृढ़ कर दिन रात, अथक मेरे भजन में प्रवृत्त होना चाहिये। भजन पूर्ण होने पर भी मन नहीं भरता एक पल भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहता। मेरे भजन में विशेष प्रेम होते हुए भी वैदिक, लौकिक अथवा दैहिक नैमित्तिक कर्म नहीं छोड़ना चाहिये। वह कर्म भक्तों को बाधक नहीं होता। लेकिन मेरे सभी कर्मों का आचरण करते समय फल की आकांक्षा की कल्पना नहीं करनी चाहिये यही भक्तों का गूढ़ मर्म है।

जो अन्तर से बिना ऊबे मुझ पर भक्ति रख सारे कर्म करता है और कभी फल की आशा नहीं करता वही भक्ति का अधिकारी होता है इसे ध्यान में रखो। पीपल का पेड़ फल खाने की आशा से नहीं लगाया जाता उसी प्रकार इच्छापूर्वक कर्म करने से आगे फल की इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती। मेरा भजन करने पर ज्ञान की भी कमी नहीं पड़ती मुझ पर भक्ति कर मेरा भजन करने से ही मेरे भक्तों को नित्यमुक्तता प्राप्त होती है। ज्ञान के बिना भक्ति नहीं होती यह केवल शब्दज्ञान है। भक्ति से ही प्रत्यक्ष अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है इसलिये मेरा भजन करते समय भक्तों को ज्ञान की कमी नहीं होती। घर गृहस्थी में रहने पर भी मेरे भक्तों को उसका बन्धन नहीं होता। जिसके मुख में मेरा नाम होता है, जिसे मेरे भजन की लगन रहती है, जिसके मन में मैं आत्माराम रहता हूँ उसके घर मुक्ति दासी की तरह रहती है। लेकिन जिसकी प्रवृत्ति निर्विषय हो जाती है उसके लिये मुक्ति का क्या महत्त्व है? भक्तों को किसी भी कर्म में विषय की आसक्ति नहीं रहती है। उसका मन विषय में नहीं रहता। उसका विषय मैं भगवान ही रहता हूँ। वे सदा मुझमें ही लोलुप रहते हैं इसलिये वे नित्यमुक्त रहते हैं। भक्त यदि विषयों का सेवन करते भी हैं तो उसे कण-कण में मुझे ही अर्पित करते हैं और समस्त प्राणिमात्र में वे मेरा ही रूप देखते हैं। इसीलिये मुक्ति उनका वन्दन करती है। इसलिये मेरे भक्तों पर कर्मों का बन्धन तो नहीं ही लगता, बल्कि मेरा स्मरण और कीर्तन करते हुए वे संसार का बन्धन तोड़ देते हैं। मेरे भक्तों का जो निवास होता है वही मेरा भी निवास रहता है इसे ध्यान में रखो। उसके द्वार पर मुक्ति आठों पहर हाथ जोड़ कर खड़ी रहती है। मेरा भजन करते रहने से किसी बात की कमी नहीं रह जाती। चारों पुरुषार्थों की अपेक्षा भक्ति मुझे अधिक प्रिय है। ज्ञान, नित्यानित्यविवेक तथा भक्ति इनमें भी मेरा अत्यन्त प्रेम रहता है। उसी प्रकार प्यारे भक्तों का भी मुझे रात दिन अधिक से अधिक सुख प्राप्त होता है। जिस प्रकार एकमेव बच्चा रहने पर माँ को वह अधिक प्रिय रहता है उसी प्रकार प्यारे भक्तों का कौतुक करने में मुझे अत्यन्त सुख का अनुभव होता है। इसलिये ऐसे भक्तों को मैं तत्काल अपनी छत्रछाया में ले लेता हूँ और उसे आत्मसुख देता हूँ। अगर वह उसे ग्रहण नहीं करता तो मैं उसका दास बन जाता हूँ जिसने अपने प्रेम के कारण अपनी चित्तवृत्ति मुझे अर्पण की उसकी सेवा करने का निश्चित विचार मैं उसी क्षण से करता हूँ। प्यारे भक्तों का जूठा खाने में अथवा उनके घोड़ों को नहलाने में मुझे जरा भी लज्जा नहीं होती। अधिक क्या कहा जाय? उनके घर की जूठन उठाने में मुझे जरा भी लज्जा नहीं होती। प्यारे भक्तों की मुझे इतनी अधिक चाह है कि उनके जूते भी मैं अपने मस्तक पर धारण करता हूँ। प्रेमी भक्तों की बात कहते-कहते श्रीकृष्ण भाव विह्वल हो उठे। उनका कंठ भर आया। शरीर पर रोमाञ्च उभर आये। उन्होंने दौड़कर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उद्धव को आलिंगन दिया। श्रीकृष्ण का प्रेम ही अद्‌भुत था। आँखें अश्रुपूरित हो गयीं और वे स्वानंदजीवन की वर्षा करने लगीं। मानों श्रीकृष्ण अपने आसुओं से उद्धव को भक्ति के साम्राज्य का राज्याभिषेक कर रहे थे। प्रसंगानुसार, भक्तों की कथा कहते-कहते उनकी आँखों के सामने उद्धव दिखायी दिया और उन्होंने दौड़ कर उसे बाहुपाश में बाँध लिया। श्रीकृष्ण को भक्तों से बहुत प्रेम था। जिस समय उसने आलिंगन दिया उस समय वह कार्यकारण भी भूल गया, अपने धाम जाने का भी उसे विस्मरण हो गया और 'मैं' और 'तुम' का तो उसे स्मरण ही नहीं रहा। मैं देवता हूँ और उद्धव भक्त हैं इस भेदभाव का भी उसे स्मरण नहीं रहा। कथा निरूपण की बात भी उसे याद नहीं रही। उद्धव अपने आपको भूल गया और कृष्ण अपने को। प्रिय लोगों की बात सुनाते समय परस्पर की बात से परे एकता के कारण दोनों गले मिले। प्रेम की चाह बहुत बड़ी चीज है। भक्ति का सच्चा सुख क्या है वह आज उद्धव को मालूम हुआ। भक्ति का जो अलौकिक प्रेम होता है उसी को इस समय उद्धव ने अभिव्यक्त किया। श्रीकृष्ण निजधाम की ओर जा रहे थे उस समय यदि उद्धव ने नहीं पूछा होता तो श्रीकृष्ण ने ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की कथा क्यों सुनायी होती? उद्धव ने सचमुच भक्तिप्रेम विशेष होता है यह बात उजागर की। उद्धव के उस प्रश्न से ही श्रीमद्‌भागवत त्रिभुवन में पूज्य हो गये। इसलिये तन, मन और प्राण से उद्धव की बड़े प्रेम से आरती उतारनी चाहिये। इससे अधिक उसकी स्तुति करने में वाणी असमर्थ है। जो शब्दों में भी व्यक्त नहीं किया जा सकता, बुद्धि भी जिसका आकलन नहीं कर सकती वह भक्तिप्रेम का आत्मगुह्य उद्धव को देने के लिये श्रीकृष्ण ने आलिंगन का केवल बहाना किया। उस पुरुषोत्तम ने भक्ति का शुद्ध और अति उत्तम प्रेम उद्धव को दिया और उससे श्रीकृष्ण आनन्दित हुआ। प्रेमी भक्तों की कथा सुनाते-सुनाते, महाराज! मैं श्लोक का अर्थ भी भूल गया। कृष्ण को भी प्रेम की यह कथा अच्छी लगी इसलिये उसे नियंत्रण में रखना कठिन हो गया। प्रेम का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह स्मरण का मरण नहीं होने देता। यह बात सज्जन जानते ही हैं क्योंकि वे भक्तिप्रेम को जानते हैं। लेकिन यह सब होते हुए भी मेरा सबसे बड़ा अपराध तो है ही क्योंकि श्लोक का अर्थ भूलकर मैं बहक गया। इसके लिये लोग मुझे क्षमा करें। इस पर श्रोताओं ने कहा, "रुको! जिस निरूपण से आनन्द प्राप्त होता है उसके सम्बन्ध में ऐसी बातें सहन नहीं होतीं। इतना मधुर है वह रहस्य। भागवत वैसे भी उत्तम है, तिस पर उसमें भक्तिप्रेम का वर्णन है, उससे मानों परब्रह्म ही प्रकट हो गया और हमारा मनोरथ पूर्ण हो गया। श्लोकों का सम्बन्ध छूटा और कथाभाग दूर हट गया ऐसी प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है। हमलोग श्रीकृष्णगुणानुवाद में तल्लीन हो गये हैं। तुम्हारे इस भक्तिप्रेम का निरूपण सुनकर श्रवणसुख में बाढ़ आ गयी है, वह रुकेगी ऐसा नहीं लगता। इसलिये चुपचाप निरूपण को चलने दो।" प्रेमी भक्तों की कथा कहते समय कृष्ण और उद्धव एकरूप होकर गले में बाँहें डालकर बैठे थे वह दुनिया से न्यारी मिलनी श्रीकृष्ण ने छुड़ायी और मन ही मन बोले, यह बिलकुल अयोग्य है क्योंकि उद्धव यदि अभी ही ऐक्यरूप में पहुँच गया तो फिर मेरी कथा को इससे अच्छा श्रोता और कौन मिलेगा? मेरे भक्तिज्ञान का विस्तार करने के लिये मेरे भक्तों का सखा एक उद्धव ही है, इसीलिये उसे सच्चे आत्मज्ञान का बोध कराकर उसे ब्रह्मपाप से विलग किया। गुह्यज्ञान की सारी मिठास और भक्तिप्रेम की चाह, साथ ही श्रीकृष्ण की दृढ़ मधुरता तथा चाह सचमुच उद्धव के पास ही थी। भक्तिप्रेम का एकमेव भोक्ता श्रीकृष्ण हैं और कृष्ण की कृपा भक्त ही जानते हैं। यह बात अनिर्वचनीय है। उसका शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता। कृष्ण ने उद्धव से कहा, हुँ! अब सावधान हो जाओ और भक्तिमार्ग के लिये उपयोगी आगे की कथा सुनो। फल का त्याग कर यदि सारे कर्म मुझे अर्पण करना सम्भव न हो तो प्रेमलक्षण का अत्यन्त सरल निरूपण सुनाता हूँ, उसे ध्यान से सुनो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन् सुभद्रालोकपावनीः।
गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाभिनयन् मुहुः॥ २३॥

मेरी कथा का श्रवण प्रारम्भ करने पर वहाँ काल का भी प्रवेश सम्भव नहीं है फिर दूसरों की क्या बात की जाय? और वहाँ कर्मबन्धन किस बात का? हरिकथा में जो क्षण व्यतीत होता है उसे काल भी ग्रस नहीं सकता। इसलिये हरिकथा का श्रवण यदि श्रद्धापूर्वक किया गया तो उसी को 'काल की सार्थकता' समझना चाहिये। अब कथा का माहात्म्य सुनो। यदि श्रद्धापूर्वक कथा श्रवण की जाय तो उसके प्रत्येक अक्षर से तीनों लोकों के पातक भस्म हो जाते हैं। अब श्रद्धा किसे कहते हैं यह भी सुनो। हरिकथा श्रवण करते समय जिसके अर्थ की ओर मन लगा रहता है उसी का अर्थ है श्रद्धापूर्वक श्रवण करना। कथा का प्रतिपादन सुनकर भी नास्तिक कहते हैं, "भगवान तो है ही नहीं। जो कहते हैं कि ईश्वर है वह केवल अपना पेट भरने के लिये हमें उस पर जरा भी विश्वास नहीं है।" ऐसे नास्तिकों की बात की चिन्ता न कर जिसकी आस्तिकता बढ़ती जाती है उसी का नाम है श्रेष्ठ श्रद्धा और उसमें अप्रतिम सुख होता है। श्रवण में अथवा ध्यान में लय, विक्षेप, कषाय तथा रसास्वाद आदि से बाधा उत्पन्न होती है। इसलिये इन चारों बाधाओं से बचना चाहिये। हरिकथा सुनते समय भी यदि मन में विषय की चिन्ता लगी रहे तो वह अच्छा है ही नहीं। प्रमुख विक्षेप यही है। स्त्रियों के हावभाव का वर्णन, उनके नेत्र कटाक्षों का वर्णन एवं शृंगार चेष्टाओं का वर्णन सुनने में ही जिसकी श्रद्धा रहती है उसका नाम है 'रसास्वादन'। अथवा वह हरिकथा सुनने के लिये बैठा अवश्य रहता है किन्तु उस कथा में उसका मन बिलकुल नहीं रहता। उसका चित्त कहीं अन्यत्र ही भ्रमण करता रहता है। उसे मर्कटरूपी विक्षेप कहते हैं। अन्यथा अनेक प्रकार के उद्वेग होने के कारण हरिकथा सुनते रहने पर भी उसमें मन नहीं लगता अथवा नींद आ जाती है। उसे तत्काल लय विक्षेप समझना चाहिये। सुनने अथवा ध्यान में बैठने पर सगुण अथवा निर्गुण इनमें से कोई भी रूप मन में नहीं उभरता और आँखों के आगे नीले-पीले रंग नाचने लगते हैं। यही तीन गुणों के क्षोभ का मिश्रण है। इसे 'कषाय' कहते हैं। श्रवण और ध्यान में इस प्रकार के दोष हैं। उसी प्रकार प्रेम तीन प्रकार का है। चतुर लोग इन तीनों प्रकार के प्रेम को पहचानते हैं। उसके लक्षण बताता हूँ, सुनो। महान वीरों के समर में पराक्रम अथवा भीषण युद्ध का वर्णन सुनकर मन प्रसन्नता से नाच उठता है, वह राजस प्रेम है। दुःख शोक का प्रसंग, मरने की वार्त्ता अथवा शोक कथाओं का सुनना भी जिसे सहन नहीं होता, उनमें का प्रत्येक प्रसंग सुनकर आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती है, सिसकी आने से जिसका बदन थर-थर काँपने लगता है वह सच्चा तामस है, यह समझ लो। सगुण मूर्ति का ऐश्वर्य, शंख, चक्र, कमल, गदा तथा पीताम्बर धारण किये गोविन्द का वर्णन सुनकर जो प्रसन्न हो उठता है, आँखों से आनंदाश्रु बहने लगते हैं, सिसकी रूक नहीं पाती, मन कृष्णमय हुआ रहता है, वह प्रेम सात्त्विक होता है। चौथे प्रकार के प्रेम की कल्पना भी अतर्क्य है। उद्धव! तुम मेरे अत्यन्त लाडले हो इसलिये तुम्हें उसके बारे में भी बताता हूँ। तुम्हारा भक्ति का स्वरूप महान है। उसके कारण मुझे गुप्त बात भी बतानी पड़ती है। तुम्हारे सिवाय दूसरों को देखने पर दूसरा अधिकारी पुरुष दिखायी नहीं देता। श्रीकृष्ण ने कहा, ध्यान दो। निर्गुण परब्रह्म के स्वरूप के बारे में जानकर जिसका मन चित्तस्वरूप में डूब जाता है उसे पुनः होश में आने का भान ही नहीं रहता। नमक का टुकड़ा समुद्र में डालने पर वह जिस प्रकार समुद्र के आकार का ही हो जाता है उसी प्रकार वह भी साक्षात् ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। चित्त और चैतन्य का मिलन होने पर और लिंगदोह का बन्धन टूटने पर आँखों में अश्रुओं की बाढ़ आ जाती है, शरीर रोमांचित हो जाता है, जीव भाव की दशा टूट जाती है और भाव विह्वल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होने के कारण गला रुंध जाता है, शब्द मुँह से बाहर नहीं आ पाते। शरीर से पसीना बहने लगता है, नेत्र अधोन्मीलित हो जाते हैं, आश्चर्य अपरिमित हो उठता है और वह स्वानंद से भर जाता है। इसे चौथा प्रेम जान लो। यही उत्तम भागवत की स्थिति है। वही मैंने यथार्थ रीति से बतायी। इस स्थिति को जानने वाला बस मैं ही हूँ। निर्गुण में प्रेम होना यह शुद्ध सात्त्विक लक्षण है। इसके लक्षण या तो मैं जानता हूँ या जो ब्रह्मस्वरूप हैं वे जानते हैं। उद्धव! श्रद्धापूर्वक श्रवण करने से इतना लाभ है, यह ध्यान में रखो। श्रद्धा से श्रवण करने का माहात्म्य त्रैलोक्य में बहुत अधिक है। विवेकी और इच्छारहित वक्ता मिले तो उसे श्रद्धापूर्वक श्रवण करना चाहिये या श्रोता यदि ज्ञानसम्पन्न हो उसे भी कथा कहनी चाहिये। जब श्रोता और वक्ता में से कोई भी न हो तो अपने मन का ही आश्रय लेना चाहिये और मेरे अवतार, अवतार कार्य आदि का अकेले में ही विचार करना चाहिये। विषयों की आस्था त्यांग कर तथा काल को टक्कर देकर, मेरे कीर्तन में अत्यन्त उल्हास धारण करना चाहिये। वासना का त्याग कर तथा लौकिक की लज्जा न कर श्रीकृष्ण का नामस्मरण करते हुए नृत्य के साथ कीर्तन करना चाहिये। रामकृष्ण, हरि, गोविन्द आदि का काव्य गायन करते हुए उनमें के अनेक प्रकार के छन्दबंद पदों से कीर्तन में आनन्द की वर्षा कर देनी चाहिये। जिनसे आत्मज्ञान का लाभ हो ऐसे प्रिय पदों का कीर्तन में गायन करना चाहिये तथा ऐसे समय संत समुदाय को सामने बैठाना चाहिये। वीणा, मृदंग, करताल आदि वाद्य लेकर तथा वैष्णवों के समुदाय एकत्र कर कीर्तन में जयघोष करना चाहिये। काल-प्रहर की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। दशमी को धार्मिक उत्सव के उपलक्ष्य में जागरण करना चाहिये तथा सुमधुर गायन करना चाहिये और मेरे अवतार कार्यों का स्मरण कर उनका हावभाव के साथ प्रदर्शन करना चाहिये। राम ने धनुष की प्रत्यंचा खींचकर किस प्रकार शंकर का धनुष तोड़ा इसका हावभाव के साथ प्रदर्शन कर, वह राम मैं ही हूँ ऐसी जो गर्जना करता है वह कीर्तन में रंग जमा देता है। कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत किस प्रकार उठाया, किस तरह दावाग्नि प्राशन किया, वह सब अपने हावभाव से प्रदर्शित कर तथा राम ने सेतु कैसे बाँधा इसका भी अनुकरण करके दिखाता है, आलस त्याग कर जो अहंकार को दूर भगा कर रात-दिन कीर्तन का घोष करता है, उसमें भी मैं अच्छा गायक हूँ इस बात का गर्व नहीं करता, गायन की प्रौढ़ता, ज्ञान का अभिमान तथा चतुराई के गर्व को जो न्योछावर कर देता है और शुद्ध प्रेम तथा सादगी से कथा का गौरव करता है, उससे मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है। नामसंकीर्तन का जयघोष जब अपनी चरम सीमा पर रहता है और नामोच्चार के साथ सबकी एक साथ ताली बजती है, उससे महान पातक भी भस्म हो जाते हैं। वैष्णवों के उस समुदाय में मैं भी खड़ा रहता हूँ। क्षीरसागर में भी जो सुख मुझे नहीं प्राप्त होता, वैकुण्ठ में जो सुख देखने को भी नहीं मिलता वह सुख मुझे कीर्तन में मिलता है। कीर्तन के वश में मैं डोलता रहता हूँ। प्यारे भक्तों को मैं बहुत चाहता हूँ। भक्तों की भक्ति के कौशल से मैं भी कीर्तन के ताल पर आनन्द से नाचता रहता हूँ। इस प्रकार के कीर्तन में अनेक पाप-प्रायश्चित्त विलीन हो गये, यमदूतों का मार्ग अवरुद्ध हो गया और पापों का तो उन्मूलन ही हो गया। नामस्मरण की चाह से करोड़ों मंत्र बीज लज्जित हो उठे और तपादिक साधन तो हरिनाम से पागल हो गये। हरिनाम का जयघोष सुनते ही योगयाग मुँह छिपाने लगते हैं। उस हरिनाम के भय से विषयसुखों का तो पलायन ही हो गया और अधर्म अपने स्थान पर ही जम से गये। हरिनाम का, गर्जन सुनकर समस्त दोषों का दिगंत में पलायन हो गया और तीर्थों का गर्व भी चूर-चूर हो गया। ऐसा यह कीर्तन कौशल हरि को अत्यन्त प्रिय लगता है। मेरे प्रेम में मदमस्त होकर जो रात-दिन कीर्तन करते रहते हैं वे मन से तथा वाणी से अनेक प्रकार के कार्य करते हुए भी मेरे सिवा और कुछ नहीं जानते।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने॥ २४॥

मेरे जो उत्तम भक्त हैं उनका धर्म, अर्थ और काम मैं ही हूँ। उनका मनोधर्म मेरे अतिरिक्त और कोई कार्य करना ही नहीं जानता। मेरा भजन यही उनका उत्तम कर्म है मुझे जो धर्म अर्पण होता है वही उनका पवित्र धर्म है मेरी चाह करना यही उनकी शुद्ध इच्छा है और उस इच्छा का विश्राम भी मुझमें ही है। वे अनेक प्रकार का धन खर्च कर परमार्थ का ही संग्रह करके रखते हैं। अशाश्वत रूप सम्पत्ति का संग्रह मेरे भक्तगण नहीं करते। धन में ही जिसका चित्त लगा रहता है वे अभक्त हैं, इसे याद रखो। वे जो भी भजन आदि करते हैं वह किसी नट द्वारा पैसों के लिये किये नाटक की तरह है। मन और वाणी से किये गये जो कर्म मुझे अर्पण नहीं होते वह सब ढोंग रहता है। वह केवल पेट भरने के लिये होता है। वह भक्ति के विरुद्ध होता है। उस विरुद्ध धर्म का लक्षण भी बताऊँगा। मेरे भजन को कम कर जो पैसा कमाने निकलता है उस भक्त का यह लक्षण प्रमुखता से भजन के विरुद्ध है। पास का धन खर्च करना नहीं जानता और मेरा सूखा ही भजन करता है, इस प्रकार जिसने मुझे ठगा है यह कार्य मुख्यतः विरोधी लक्षण है। इसी को 'अर्थविरुद्धता' कहते हैं। अब जो भक्त दुष्ट वासना से कर्म करता है, और मैं भगवान का भजन कर रहा हूँ इसलिये मुझे कोई दोष नहीं लगेगा इस भावना में जो दुष्ट वासनाओं में ही लिपटा रहता है उसका वह आचरण भजन के विरुद्ध लक्षण है। वह भजन भक्तों को अभक्त अवश्य बना देते हैं। मुझे अर्पण न कर जो भी श्राद्ध करता है उसकी कल्पना भी श्राद्ध के विरुद्ध है। श्राद्ध का जो संकल्प है वह मुझे अर्पण करने से ही विरुद्ध नहीं होता ऐसा वेद भी कहते हैं। 'पितरस्वरूपी जनार्दन' यह श्राद्ध का प्रमुख संकल्प है और ऐसा होते हुए मुझे नैवेद्य भी अर्पण नहीं करते। अन्न भी ब्रह्म है और मैं भी ब्रह्म हूँ और यही श्राद्ध का गूढ़ रहस्य है। लेकिन इस शुद्ध कर्म को न समझ वे व्यर्थ ही भ्रम बढ़ाते हैं। सारे जगत को उत्पन्न करनेवाला मैं हूँ, समस्त पितरों का मुख्य पिता भी मैं हूँ, ऐसे मुझको कर्म अर्पण न कर श्राद्ध करना सभी दृष्टियों से विरुद्ध है। मुझे अर्पण किये बिना जो भी कुछ किया जाता है, वह सब अभक्त के ही रूप में होता है। ऐसे विरुद्ध धर्म का जो आचरण करता है उसे अत्यन्त भयंकर दुःख प्राप्त होता है। उत्तम भक्तों का लक्षण यही है कि वे संकल्प के बिना ही मुझे अन्नपानादि अर्पण करते हैं और उसका रहस्य जानते हैं। जो मेरे प्रति ध्रुव की तरह अटल भजनशील रहते हैं उन्हें मेरी स्थिर और अटल भक्ति प्राप्त होती है। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी इन तीनों को जो प्राप्त नहीं होता, उद्धव! वह मेरी चौथी भक्ति है जो उन्हें उनके मेरे प्रति प्रेम के कारण प्राप्त होती है। आर्त अपनी पीड़ा दूर करने के लिये मुझे भजता है, जिज्ञासु ज्ञानप्राप्ति के लिये मेरा भजन करता है और तीसरा जो अर्थार्थी है वह मेरा भजन कर पर्याप्त धन पाने की कामना करता है। लेकिन इनके सिवा चौथा एक ज्ञानी होता है जिसके मन में इन कल्पनाओं का अंशमात्र भी नहीं होता इसलिये चौथी भक्ति उसके पास घर समझ कर रहती है। जिसे भक्ति में चारों ओर मैं ही मैं दिखायी पड़ता हूँ उसकी वैसी स्थिति मेरे भजन के ही कारण होती है। बिना संकल्प किये सब कुछ मुझे अर्पण होता है यह चौथी भक्ति का लक्षण है। उस भक्ति में मेरा भजन अतर्क्य है। उसमें जो भी कर्म किया जाता है वही मेरी पूजा होती है, वहाँ जो बातें होती हैं वही मेरा जप है, वहाँ जो भी दिखायी देता है वह अधोक्षजा का ही दर्शन होता है। वहाँ चलना वही मेरी यात्रा है, वह जो भक्षण करता है वही यज्ञ में मुझे अर्पित की हुई आहुति होती है। उसकी निद्रा ही मेरी समाधि होती है। इस प्रकार वह मुझमें ही भजन करता रहता है। इस प्रकार उसके सारे कर्म सहज रूप में अनायास ही मुझे प्राप्त होते हैं। उद्धव! यह सनातन चौथी भक्ति उसे पूरी तरह प्राप्त होती है। उद्धव! अब शायद तुम्हारे मन में यह विचार आये कि यह पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी भक्ति मूल रूप में चली आ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रही है यह बात काल्पनिक है। तो मेरी जो सहज प्रकाशस्थिति है उसी को 'भागवति शक्ति' कहा गया है। वेदांत में इसी को 'संविति' कहते हैं और शैवों के अनुसार इसी का नाम 'शक्ति' है। बौद्ध इसे 'जिनेश', 'नेमिनाथ' कहते हैं, जोगी 'आदिनाथ' कहते हैं, कोई 'भैरव', कोई 'खंडेराव', कोई 'गाणपत्त्य' कहते हैं तो कोई इसे 'अव्यक्त' भी कहते हैं। कोई कहते हैं कि यह 'आदिमाता' है। सौर कहते हैं कि यही 'सविता' है। उपासना के भेदों की तरह इसके नामों में भी अनेक भेद हैं। तो यह जो प्रकाश की स्थिति है उसी को 'भक्ति' कहते हैं। उसी के प्रकाश से त्रिभुवन में उत्पत्ति, स्थिति और लय का भास होता है। मेरी जो अनेक अवतार मालिकायें हैं, वे इसी प्रकार से उज्जवल रीति से प्रकाशित हैं। देवी, देवतागण सब इसी प्रकार से प्रकाशित दिखाई देते हैं। मेरे अवतारों की उत्पत्ति भी उसी प्रकाश से होती है और मेरे अनेक चरित्र उसी प्रकाश में प्रवेश करते हैं। इस प्रकाश की जो प्राप्ति है वही मेरी सनातन भक्ति है यह जान लो। उद्धव! मैंने उसे यथार्थ रूप में समझाया। निश्चल भक्ति सनातन है यह मूल श्लोक में है। इसीलिये मैंने सनातन भक्ति का सविस्तार वर्णन किया। मूल श्लोक के पद तथा पद का अर्थ छोड़कर व्यर्थ की बात नहीं की। अब श्रोतागण सावधान रहें क्योंकि आगे की कथा अत्यन्त रमणीय है। लेकिन हे उद्धव! मेरी यह भक्ति कैसे प्राप्त होगी यह पूछोगे तो उत्तर यही है कि भक्तिभाव से सत्संगति करने से मेरी भक्ति प्राप्त होती है।

सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम्॥ २५॥

मुख्य रूप से संतों की सेवा यही साधन भगवान को भाता है। वह जब साध्य होता है तो संतवचन की ही तरह वह आत्मभाव और आत्मभक्ति प्रदान करता रहता है। जिसे सतसंगति के मेले में रहना अच्छा लगता है, जो साधुवचनों का भूखा रहता है, साधु के मुख से निकले शब्द को अमान्य करना जो नहीं जानता, वही आत्मभक्ति का भाग्यवान पुरुष है। साधुवचनों पर उसकी अपार श्रद्धा है यह देख कर ही सद्गुरु उस पर कृपा करता है। साधु चराचर में श्रेष्ठ गुरु है। सचमुच गुरु के अलावा संसार से तारने वाला कोई अन्य नहीं है। गुरुवचन से भक्तों को आत्मभक्ति देने वाला सर्वथा मैं ही हूँ। संसार में जो सद्गुरु है उसकी आज्ञा मैं माथे से लगाता हूँ। वह जिस पर कृपा करता है उसका मैं तत्काल उद्धार करता हूँ। उस सद्गुरु में मेरा स्वरूप है यह जानकर जो भजन करता है उसे मैं कितना लाड़ करता हूँ यह कहना मेरे लिये भी कठिन है। उसका इहलोक और परलोक दोनों चलाने वाला मैं ही हूँ। उसके कारण मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है और उसके आनन्द से मेरे आनन्द को भी उफान आता है। उसके गुरु ने उसे जो मार्ग दिखाया है उस पर चलने में उसे जरा भी प्रयास या परिश्रम नहीं करना पड़ता। अगर कोई संकट सामने आता है तो मैं श्रीकृष्ण दौड़कर सशरीर उसके सामने खड़ा हो जाता हूँ। उसे जो पद प्राप्त करना है वह पद ही मैं उसके पास ले आता हूँ। संतों की सेवा के प्रति कितना प्रेम है इसे श्रीकृष्ण बता रहे हैं। ऐसा भाषण सुनकर उद्धव भाव विह्वल हो गये और मन ही मन विचार करने लगे कि ऐसा साधु पुरुष कौन होगा? उसके स्वरूप के बारे में क्यों न पूछा जाय? उस भक्ति का लक्षण भी क्या होगा? भजन की वह पहचान कौन-सी है? इसे सविस्तार जानने के लिये उद्धव ने प्रश्न किया।

उद्धव उवाच

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता॥ २६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ज्ञानी और वक्ता अनेक हैं, पर वे रजतमगुणयुक्त हैं। वे अपने-अपने गुणों के अनुसार निरूपण करते हैं इसलिये उन्हें पूछना मन को स्वीकार नहीं होता और अति सात्विक पुरुष सत्वगुण से ही व्याप्त रहता है इसलिये वह जब बोलने लगता है तो उसका वाक् प्रवाह गलत दिशां की ओर होने लगता है। इससे शुद्ध आत्मज्ञान नहीं हो पाता। लेकिन हे कृष्णनाथ! तुम वैसे नहीं हो। सच्चे गुण तुम्हारे ही पास हैं। तुम केवल लीला से देह धारण करते हो और आत्मज्ञान देने वाले एक तुम ही हो। इसीलिये तुम्हें त्रिभुवन में 'उत्तमश्लोक' (जिसकी कीर्ति पवित्र है) कहते हैं। इसलिये तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई हमें स्वीकार नहीं है। हे कृष्णनाथ मेरे प्रश्न का उत्तर देने वाले एक तुम ही हो। तो तुम्हें जो सर्वथा मान्य हो ऐसा साधु कौन है? जो जो साधु पुरुष तुम्हें मान्य है उनके लक्षण बताओ। कौन-सी भक्ति तुम्हें प्रिय है? उसके भी लक्षण बताओ। जो तुम्हें प्राप्त करा दे, अत्युत्तम, श्रेष्ठों में श्रेष्ठ तथा संतों ने आदरपूर्वक जिसे स्वीकार किया हो ऐसी श्रेष्ठ भक्ति कौन-सी है? तुम कहोगे, संतों ने किस भक्ति को आदर से स्वीकार किया है इसे संतों से ही पूछो, तो मेरा सारा विश्वास तुम्हारे भाषण पर है। इसलिये दूसरे से पूछना मुझे स्वीकार्य नहीं है। जो लोग अलग-अलग देवताओं का भजन करते हैं, वे अपने ही देवता की भक्ति को उत्तम कहते हैं। लेकिन हे श्रीकृष्ण! आपको जो मान्य हो वही मुझे बतायें। कुल, शील और भाषण जिनका समान होता है उस पुरुष को ही साधु कहते हैं। लेकिन तुम अपने मुख से जिसे शुद्ध कहोगे वही मेरे लिए वन्दनीय है। अगले श्लोक में उद्धव ने शाङ्गधर श्रीकृष्ण की तीन सम्बोधनों से प्रार्थना की है। उन तीन सम्बोधनों में नियोजित तीन विशेषणों से उसने अपने विचार श्रीकृष्ण को समर्पित किये और मैं श्रवण करने का अधिकारी हूँ यह भी बताया।

एतन्मे पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो।
प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम्॥ २७॥

पुरुषों में उत्तम पुरुष तुम हो, सारे कर्मों का तथा धर्मों का विचार करने वाले तुम हो इसीलिये हे सर्वसाक्षी गोविन्द! तुम्हें 'पुरुषाध्यक्ष' कहते हैं। जैसा कर्म रहता है उसी के अनुसार उसका फल देने वाले तुम हो इसीलिये तुम्हारा वर्णन लोकाध्यक्ष के रूप में होता है। उसी प्रकार ब्रह्मादिकों के नियंता और संसार का प्रतिपालन करने वाले तुम ही हो। हे श्रीकृष्ण! "यदि संसार का पालन करने वाला मैं ही हूँ, और उस संसार में तुम भी हो तो तुम्हें ही मैं ज्ञानकथा सुनाऊँ ऐसी कौन सी विशेषता तुझमें है?" ऐसा तुम कहोगे। लेकिन तुम्हारे यह कहने पर भी तुम सर्वज्ञ और सर्वेश्वर हो, तुम अन्तरात्मा तथा सबका नियमन करने वाले ईश्वर हो इसलिये यदि तुम्हें मेरा अधिकार ठीक लगता हो तो मुझे ज्ञान का निर्धार बताओ। मुझे अधिकार न भी हो तो भी मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। तुम्हारे यहाँ तो शरणागत की उपेक्षा कभी नहीं होती। विषयवासना में दारुण दुःख है यह जानकर ही तुम्हारे चरणों में आया हूँ। अत्यन्त दीन होने के कारण मैं तुम्हारा भिखारी हो गया हूँ। इसलिये मुझ पर अवश्य कृपा करो। मेरी वासनाएँ असीम हो गयी हैं उनका निस्तारण करना मेरे बस में नहीं है। हे कृष्ण! उनका तुम निवारण करो। इसलिये मैं तुम्हारे चरणों में आया हूँ। मैं तुम्हारा लाडला भक्त हूँ यह कहने में भी अहंकार मालूम होता है। लेकिन हे अनन्त! तुम सर्वज्ञ हो और दीनों के प्रति कृपालु हो। हे श्रीकृष्ण! मैं ही एक श्रवण का अधिकारी हूँ यह भी मैं नहीं कह सकता। इसलिये हे कृपानिधे! मुझ पर कृपा करें। यह कहकर उसने उनके पैर पकड़ लिये। "हम दोनों एक ही कुल में पैदा हुए नैसर्गिक मित्र हैं इसलिये मेरा पैर पकड़ना ठीक नहीं है।" ऐसा यदि तुम कहोगे तो हे गोविन्द! यह कहने का मर्म भी मैंने जान लिया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः।
अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः॥ २८॥

तुम निर्गुण और सर्वत्र समान हो, तुम चित्स्वरूप और चिदाकाश हो, पुरुषों में उत्तम तथा वन्दनीय ऐसे एक तुम ही हो। प्रकृति-पुरुषों से भी महान जो परब्रह्म है वह तुम हो। वेदशास्त्र तुम्हारी थाह नहीं लगा पाते। तुम इन्द्रियों के लिये अगोचर हो। अब हमारे भाग्य का स्वरूप देखो। तुम्हें हम प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देख रहे हैं। मुकुट, कुण्डल तथा वनमाला धारण की हुई तुम्हारी मेघ श्यामल मूर्ति कैसे शोभायमान हो रही है। तुम्हारे ये सुन्दर कमलनेत्र, पीताम्बर धारण किया हुआ तुम्हारा ऐसा स्वरूप देखकर तन-मन बिलकुल तृप्त हो जाता है। तुम सारे जगत का ही जीवन हो। तुम्हारा दर्शन अत्यन्त मधुर है। उस दर्शन से संसार की इच्छा पूर्ण हो जाती है। लेकिन ऐसे उस देह की भी तुम्हें इच्छा नहीं है। भगवन! तुम इतने निरिच्छ हो। फिर भी भक्तों पर कृपा करने की प्रबल इच्छा से तुम अनेक अवतार धारण करते हो। भक्तों की ही इच्छा के लिये तुम अपनी लीला से देह का नाटक दिखाते हो। हे कृष्णनाथ! सचमुच, भक्तों पर कृपा करने के लिये ही तुमने अवतार लिया है, इसलिये मेरे प्रार्थना किये बिना ही तुमने मेरे प्रश्नों का उत्तर देना स्वीकार किया है। जिस प्रकार बछड़े की हुंकार सुनते ही गाय के स्तनों से दूध बहने लगता है उसी प्रकार देखो, उद्धव के प्रश्न से भगवान भी आत्मज्ञान से सराबोर हो गये। सुबह शाम गृहस्वामी को दूध मिलता है वह बछड़े के कारण ही। वत्स को देखते ही जिस प्रकार गाय को दूध उतर आता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण उद्धव के वश हो गये। उद्धव श्रीकृष्ण के प्रेम के कारण ही अच्छा लगता था इसलिये उद्धव के प्रश्न उसे अत्यन्त प्रिय लगते थे। श्रीकृष्ण का साथ मिलने के कारण उद्धव का भाग्य कितना महान है। उद्धव जो भी प्रश्न पूछते, उसे सादर स्वीकार करने के लिये श्रीकृष्ण अंजुली आगे बढ़ाकर तैयार रहते थे। श्रीकृष्ण उसकी भक्ति पर इतने मुग्ध हो गये थे कि वे उसे चाटने के लिये उद्यत थे। जिसके पंख भी अभी नहीं निकले हैं ऐसे बच्चों को चिड़िया जिस प्रकार अपनी चोंच से चारा चुगाती है, उसी प्रकार आत्मज्ञान की गूढ़ बात श्रीकृष्ण उद्धव के हृदय में उड़ेलने लगे। अब श्रीकृष्ण पाँच श्लोकों में उद्धव के प्रश्नों का उत्तर देंगे और उनमें साधुओं के अत्यन्त पवित्र लक्षण बतायेंगे। साधुओं के लक्षण अपार हैं लेकिन श्रीकृष्ण उनमें से तीस लक्षण चुनकर उद्धव को बतला रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥ २९॥

कृपा का कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है। वह जिसके प्रति उत्पन्न होती है वही साधु है। कृपा संतों की ही देह में रहती है। इसी कारण उसे सारे संसार में मान्यता प्राप्त हुई है। कृपा को उनके ही कारण महत्त्व प्राप्त हुआ, उनकी ही कृपा पर दया जीवित रही, उन्होंने ही कठोरता का काँटा दूर किया और उन्होंने ही निष्ठुरता का समूल उखाड़ फेंका। साधु की कृपा समस्त प्राणिमात्र पर एक सी रहती है। यहाँ कुछ तथा वहाँ कुछ इस प्रकार का भेदभाव वहाँ नहीं होता। उनके हृदय में अवकृपा नहीं रहती। दयालु मनुष्य का हृदय बड़ा विचित्र रहता है। वह प्राणिमात्र का जीवन अपने जीवन में समाहृत कर लेता है और उनका दुःख हरण कर सुख देता है। इस प्रकार उसकी कृपा अद्‌भुत रहती है। जिसके कारण उसे दुःख होता है उसे वह दूसरों को कदापि नहीं देता और जिसके कारण उसे सुख मिलता है उसे वह प्राणिमात्र को अवश्य देता है। इसी का नाम है कृपा। यह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संतों का प्रथम लक्षण है। दूसरा लक्षण है अद्रोहता। उसके बारे में भी बताता हूँ। अद्रोहता लोगों के बीच भटक रही थी, उसे रहने के लिये स्थान नहीं मिल पा रहा था। तब वह साधु संतों की शरण में आयी। वहाँ उसे रहने के लिये पर्याप्त स्थान मिला। साधु शरणागत पर दया करते हैं इसलिये उन्होंने अद्रोहता का प्रतिपालन किया। वे प्राणिमात्र में भगवान का ही दर्शन करते हैं अतः उनमें द्रोह का नामोनिशान भी नहीं रह जाता। उनमें व्याघ्रसर्प आदि के प्रति भी द्वेष उत्पन्न नहीं होता। वे उन्हें उपद्रव दें तो भी साधु उनका द्वेष नहीं करते। देह पर कोई विपदा आ जाय तो उससे प्रारब्ध कर्म का ही नाश होता है इसलिये साधु उस आपत्ति के प्रति मन में द्वेष नहीं आने देता और आत्मज्ञान के कारण क्रोध का स्पर्श भी नहीं करता। इसी को अद्रोहता कहते हैं। यह दूसरा लक्षण है। अब तितिक्षा के सम्बन्ध में बताता हूँ, सुनो। इसका अर्थ है साधुओं के मन में होने वाली सहनशीलता। शान्ति परदेसी हो गयी थी। वह जिसके पास भी जाती वह उसे लौटा देता था। तब वह अत्यन्त दीन होकर संतों के घर आयी। संतों ने अत्यन्त प्रेम से उसका प्रतिपालन किया इससे वह भगवान की भी लाडली हो गयी और उन्होंने सारा वैभव उसके सुपुर्द किया। वह सारा वैभव लेकर शान्ति संतों के ही पास ही निरन्तर रहती है। इसीलिये उनमें दिन रात शान्ति दिखाई देती है। समस्त प्राणिमात्र भी यदि उन्हें त्रस्त करें तो भी वे किसी को 'भला' या 'बुरा' नहीं कहते। वह आत्मशान्ति के आधार पर नाचता रहता है। वह उत्तम संत है। ऐसी जो सहनशीलता होती है उसी का नाम 'तितिक्षा' है यह ध्यान रखो। यह संतों का तीसरा लक्षण है। अब सत्य की सत्यता सुनो। सत्य इस जग में अल्पायु ही होता है, वह यहीं जन्म लेता है और यहीं मर जाता है। उसका कहीं विकास नहीं होता था इसलिये वह संतों के पास आया। सत्य और संत की भेंट होते ही दोनों का सत्यस्वरूप में विलय हो गया, सत्य संतरूप हो गया और सृष्टि में चिरंजीव हो गया। इस प्रकार सत्य संतों की कृपादृष्टि से ही सत्यत्त्व से पुष्ट हो गया। वह संतों के बल से ही संसार में सर्वत्र फैल गया। इसीलिये सत्य के योग से परब्रह्म से भेंट होती है। संतों के इस उपकार से उपकृत होने के लिये सत्य उनके चरणों पर गिर पड़ा इसलिये सत्य को संतों के चरणों के सिवा कोई ठौर नहीं है। इस प्रकार जो सत्य का आधारस्वरूप रहते हैं, जिनके पंखों के नीचे सत्य जीवित रहता है, जिनके बल से सत्य समर्थ होता है, जिनकी दृष्टि सत्य से तृप्त होती है और जिनका व्यवहार सत्य भाषण से ही होता है, यही श्रेष्ठ की महानता है। वही संतों का घर है। ऐसे ही संतों का मैं सम्मान करता हूँ। मैं निरन्तर उनके ही पास रहता हूँ। जिन्होंने असत्य आचरण न करने का निश्चय किया रहता है, जिनके पास सत्य सप्रमाण उपस्थित रहता है, जो निरन्तर सत्य से सम्पन्न रहते हैं उनका आचरण साधु का प्रमुख लक्षण है। इसी का नाम है 'सत्यसार'। यही संतों का सच्चा लक्षण है। यह संतों का चौथा प्रमुख लक्षण है। अब शुद्ध और अपार गुण बताता हूँ, सुनो। जिसने निन्दा, मत्सर आदि सारे दोषों को आत्मज्ञान से धो दिया और अनिंदित आत्मज्ञान से चित्त को अत्यन्त पवित्र कर लिया, जिसने गुरु आज्ञारूप तीर्थ में स्नान किया और जिसके कारण सर्वांग रूप से शान्ति प्राप्त की, उसी प्रकार जो त्रिविध तापों से मुक्त हो गया और मत्स्वरूप से पवित्र हो गया उसकी पवित्रता का क्या वर्णन किया जाय? स्वयं तीर्थ भी उसके चरणों के तीर्थ की इच्छा करते हैं। मैं स्वयं भी उसके पदरज की आकांक्षा करता हूँ फिर दूसरों की क्या कथा कही जाय? श्रीकृष्ण ने कहा, "हे उद्धव! यह 'अनवद्य' नाम का पाँचवाँ गुण है। अब सबको समान दृष्टि से देखने के छठवें गुण के बारे में सुनो। आत्मस्वरूप के कारण साधु को सर्व समता प्राप्त रहती है इसलिये वह प्राणिमात्र को समान दृष्टि से ही देखता है। समुद्र में नमक का ढोंका डालने से जिस प्रकार वह उसमें विलीन हो जाता है, उसी प्रकार उस साधु के अंतर में विषमता पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। अनेक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकार के सुवर्ण के अलंकार खरीदने पर यदि उन्हें बाद में तोड़ा न जाय तो वे स्वाभाविक रूप से सुवर्ण ही बने रहते हैं उसी प्रकार विविध प्रकार के आकार और नाम के कारण संसार विषम दिखायी देता है किन्तु साधु चित्तस्वरूप होने के कारण जग को समान स्वरूप में देखता है। आत्मज्ञान के कारण वह विषमता को नहीं देखता। ऐसी समसमान स्थिति में, दैवयोग से सुख-दुःख प्राप्त होते हुए भी वह साम्यावस्था तद्रूपता के स्वाभाविक ऐक्यभाव के कारण द्वंद्वभाव से मुक्त रहती है। दाहिनी ओर से आ मिली महानदी तथा बायीं ओर से मिले गाँव के नाले को गंगा नदी उनके सारे गुणदोष त्याग कर अपने में एकरूप कर लेती है। फिर वहाँ यह पवित्र है और वह अपवित्र है यह कहना बिलकुल ही सम्भव नहीं है। मधुरता तथा कटुता के भेद को गंगा अपने स्वरूप से समरूपता प्रदान करती है। उसी प्रकार समदृष्टि होने के कारण साधु को सुख-दुःख की भावना एक ही जैसी होती है। सदा आत्मज्ञान से परिपूर्ण रहना यही संतों का महान लक्षण है। बहुरुपिया एक होते हुए भी गाय, बाघ के अलग-अलग रूप लेता है लेकिन उस स्वांग में एक बार बहुरुपिये को पहचान लेने पर स्वांग का भ्रम दूर हो जाता है। उसी प्रकार भय अथवा अभय यह भाषा केवल द्वैत की भावना के कारण होती है। साधु द्वैत की दृष्टि से एकरूपता से परिपूर्ण होने के कारण भय और निर्भय का भेद नहीं जानता। द्वंद्व के समय समत्व से परिपूर्ण रहना यह साधु का छठवाँ लक्षण है। अब 'परोपकार' उसका सातवाँ लक्षण है। वृक्ष अपने पत्ते, फूल, छाया, फल, छाल, लकड़ी, जड़ आदि से लोगों के लिये फलदायी होता है और सभी पर सदा उपकार करता रहता है। जो वृक्ष का पालन-पोषण करता है अथवा उसे तोड़ने के लिये उसकी जड़ पर जो प्रहार करता है उन दोनों को वह पुष्प, फल आदि से समान रूप से संतुष्ट करता है। वृक्ष फलों से लदा रहता है लेकिन उनमें से एक भी फल वृक्ष चख कर नहीं देखता। उसी प्रकार जो कर्मफल का स्पर्श नहीं करता वह अनायास ही परब्रह्मस्वरूप हो जाता है। उसी प्रकार साधु की काया, वाचा तथा मन से उपकार करने के लिये ही होती है, अपना पराया का भेद वह जानता ही नहीं। सब पर उपकार करना ही वह जानता है। उसी प्रकार जिस प्रकार चन्द्रमा आकाश में उदित होकर सारे संसार का अन्धकार दूर करता है, विश्व का ताप दूर करता है और अपने किरणों से सबको शान्त कर देता है। उससे निकलने वाला अमृत केवल चकोर ही प्राशन करे अन्य कोई न करें ऐसा भेद चन्द्रमा नहीं करता। जो भी जिस भावना से भजन करता है, उसी प्रकार उसे सुख प्राप्त होता है। उसी प्रकार साधु के प्रति जो जैसी श्रद्धा रखता है, उसे वैसा ही सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार साधु सब पर उपकार करता है। कौए चन्द्रमा का धिःकार करते हैं और चकोर चन्द्रामृत प्राशन करते हैं। उसी प्रकार दुष्ट साधुओं का धिःकार करते हैं और भक्तिवान साधु समागम से आत्मलाभ प्राप्त करते हैं। सातवें गुण का विस्तार बताते समय परोपकार का वर्णन किया। अब अगले श्लोक में श्रीकृष्ण साधु के लक्षणों में से ग्यारह और गुणों का लक्षण बता रहे हैं।

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक्शान्तः स्थिरो मच्छरणा मुनिः॥ ३०॥

शय्या पर उर्वशी भी आ जाय लेकिन फिर भी वह काम से क्षुब्ध नहीं होता, दिन रात स्वानंद में रमण करते रहने के कारण वह विषयवासना को प्रायः भूल जाता है। भिखारी जब पालकी में बैठता है तो उसे पहले के वाहनों का जिस प्रकार विस्मरण होता है उसी प्रकार यह भी आत्मानंद से तृप्त होने के कारण विषयवासना उसे तुच्छ मालूम होती है और उसे उसका विस्मरण होता है। कोई वस्तु प्राप्त करने में असम्भव हो तो उसकी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इच्छा की जाती है। लेकिन साधु को कोई वस्तु प्राप्त न हो सके यह सम्भव ही नहीं है। वह प्राप्त होने की स्थिति में ही आनन्दपूर्वक आत्मानंद में सुखी रहता है। सूर्य जब जुगनूँ से मिलने जाता है तो वह जुगनू को देख नहीं सकता और जुगनू भी सूर्य से भेंट नहीं कर पाता उसी प्रकार साधुओं की भी दुर्लभता से भेंट नहीं हो पाती। इस प्रकार दोनों ओर से देखने पर उसकी विषयवासना पूरी तरह नष्ट हो जाती है। साधु की यही निरिच्छता उसका आठवाँ गुण है। सावधानी से मन पर नियंत्रण करने से वही नियंत्रण बाह्य इन्द्रियों में अपने आप हो जाता है। जिस प्रकार बेटी को सिखलाते समय बहू थर-थर काँपने लगती है, मुख्य सेनापति हाथ में आते ही बाकी सेना बिना युद्ध किये ही पराजित हो जाती है या वृक्ष की जड़ काटने से टहनियाँ अपने आप मर जाती है उसी प्रकार जो मनोवृत्ति का नियमन है वही बाह्येन्द्रियों का नियमन होता है। ऐसी स्थिति में जो कर्म होता है वह निःसन्देह निष्काम होता है। जब मन आत्मस्वरूप में लग जाता है और बाह्येन्द्रिय मेरी भक्ति में लीन हो जाते हैं उस समय जो भी कर्म होते हैं वे सब ब्रह्मस्वरूप होते हैं। अथवा बाह्येन्द्रियों का संयमन करने से मनोमय कर्म में भी परब्रह्म प्रकट होता है। बाह्येन्द्रियों का यह नियमन आत्मा में रमण करने वाले पुरुष ही जानते हैं। इस प्रकार बाह्येन्द्रियों का नियमन करने का गुण यही साधु की निग्रहशक्ति है। यही वास्तव में नववाँ गुण है। अब दसवाँ गुण सुनिये। आकाश सभी को आवृत्त करता है लेकिन वह किसी को कठोर नहीं मालूम होता। उसी प्रकार साधु भी सर्वांग से सभी को मृदु लगता है। जिस प्रकार धुनी हुई रुई के गोले से किसी का सिर नहीं फूटता उसी प्रकार साधु का अंतःकरण सभी को अत्यन्त कोमल लगता है। जरा देखो, जिस प्रकार गंगा का जल गाय और बाघ दोनों को समान रूप से शान्त करता है, उसी प्रकार साधु भी सबके प्रति मृदु और मधुर रहता है। इसी को साधु की अत्यन्त मृदुलता कहा गया है, इसे ध्यान में रखो। यह दसवें गुण की योग्यता है। अब ग्यारहवाँ लक्षण सुनो। साधु को जो पवित्रता प्राप्त होती है वह वास्तव में भगवद्भजन के कारण ही। व्रत, तप, ज्ञान, तीर्थ आदि को जो पवित्रता प्राप्त हुई है वह उन्हें साधुओं से प्राप्त हुई है। परस्त्री और पराया धन इन्हें जिसका मन स्पर्श नहीं करता उन्हीं के चरणस्पर्श की इच्छा गंगादिकतीर्थ करते हैं। मेरी स्त्री, मेरा धन आदि के लोभ का अर्थ ही है अधोगति की ओर जाना। अतः स्त्री को धन की इच्छा न करना ही साधुओं की पवित्रता है। ऐसी पवित्रता होते हुए भी वह व्रत, तप, तीर्थ आदि की निन्दा नहीं करता। उन व्रतादिकों का विधिपूर्वक आचरण करते समय अत्यन्त श्रेष्ठ ब्राह्मणों का सा सदाचरण करता है। मगर के पाश में आने वाला पुरुष जिस प्रकार प्राणसंकट आने पर भी उस पाश से नहीं छूटता उसी प्रकार वह जीवब्रह्म को गले लगाता है। उस ब्रह्म को आगे करके ही वह गृहस्थ धर्म का उत्तम रीति से पालन करता है और उस कर्म में उसे साक्षात ब्रह्म का ही अनुभव होता है। लोगों के अनुसार वह कर्म करता रहता है लेकिन वास्तव में वह ब्रह्मस्वरूप में ही विचरण करता रहता है। इसे वही जानता है। इसका अनुभव दूसरों को नहीं होता। कुम्हार मटकी तैयार हो जाने पर उसे चाक पर से उतार लेता है किन्तु चाक पहले की ही गति से घूमता रहता है। उसी प्रकार साधु पूर्व संस्कार के अनुसार कर्म करता रहता है लेकिन उसकी प्रवृत्ति शून्य रहती है। साधु का यह बहुत महान लक्षण है। यह सुनने में आसान है किन्तु आचरण करने के लिये कठिन है। यह ग्यारहवाँ लक्षण अत्यन्त पवित्र है। अब बारहवाँ विचित्र लक्षण सुनो। किसी भी वस्तु का संग्रह करने अथवा उसे स्वीकार करने का विचार मन को स्पर्श ही नहीं करता ऐसी वृत्ति साधु की 'अपरिग्रहता' है। देह की अथवा घरबार की भी संगति न करना इसी का नाम है 'अकिंचनता'। स्फटिक को काजल पर रखा जाय तो वह काला दिखायी देता है, लाल रंग पर रखो तो उत्तम लाल रंग का दिखाई देता है, नीले रंग पर रखो तो नीले रंग का ही लगता है, लेकिन उसका शुद्ध स्वरूप निराला ही होता है। उसी स्फटिक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को यदि अड़हुल के फूल पर रखें तो वह लाल रंग का हो जाता है लेकिन वह फूल से बिलकुल अलिप्त रहता है। वह उस फूल के रंग में रंग नहीं जाता। उसी प्रकार साधु वस्तुओं का संग्रह करने वालों के बीच रहता है, ऐसा भी आभास होता है कि वह संग्रहकर्ता है, किन्तु जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति किसी अवस्था में भी वह संग्रही भाव का स्पर्श नहीं करता। पारस जिन धातुओं को स्पर्श करता है उन धातुओं को वास्तव में सुवर्ण बना देता है लेकिन वह सुवर्ण के अलावा दूसरे धातुओं को स्पर्श ही नहीं करता। उसी प्रकार साधु जिस चीज को अपना कहता है वह उसे दूसरे का मालूम ही नहीं होता। श्रीकृष्ण द्वारा ही अंकित होने के कारण वह ऐक्यभाव का ही महत्त्व बढ़ाता रहता है। जब चैतन्यस्वरूप में मन लग जाता है, सारा विश्व चैतन्यमय मालूम होता है, परिग्रह का विस्मरण हो जाता है, ऐसी स्थिति को 'अकिंचनभाव' कहते हैं। गृहस्थी त्याग कर जंगल में गया और वहाँ भी स्त्री का चिंतन करने लगा उस समय वह त्याग ही बाधक बना और वह पुनः परिग्रह में आ गया। कीट दीवार पर चढ़ता रहता है लेकिन उसका यह परिश्रम व्यर्थ है क्योंकि वह पहले से भी अधिक नीचे गिर पड़ती है और दुःख भोगती है लेकिन चींटी की बात वैसी नहीं है। वह कीट को लेकर पेड़ पर चढ़ती है उसी प्रकार सत्संग से मूर्ख उद्धार कर सकता है लेकिन वे मूर्ख उपाय ही नहीं करते। देखा जाय तो चींटी छोटी और कीट बड़ा होता है फिर भी चींटी कीट का उद्धार कर सकती है। उसी प्रकार जो अकिंचन पुरुष होते हैं वे भी सबका उद्धार करते हैं। अस्तु! मूर्ख का त्याग करने का जो ढंग है वह अत्यन्त बाधक और कष्टदायक होता है क्योंकि जब तक सत्संगति नहीं होती तब तक त्याग की स्थिति समझ में नहीं आती। मूर्ख गृहस्थी को छोड़कर जंगल में जाता है लेकिन वहाँ भी वह देह के प्रपंच में फँस जाता है। लेकिन देह में रहते हुए भी जो देह को मिथ्या कर देता है वही सचमुच अकिंचन बनता है। मूर्ख को त्याग भी बाधक हेाता है और साधु परिग्रह में रहते हुए भी मुक्त रहता है। अंतर्बाह्य त्याग करके ही शुक और नारद तीनों लोकों में अत्यन्त पवित्र हो गये। लेकिन वे दोनों जनक राजा के चरणों पर गिर पड़े क्योंकि जनक राज्य करते हुए भी विदेही था। मैं भी उसका सम्मान करता हूँ। देखो, साधु का माहात्म्य कितना आश्चर्यजनक है। इसी का नाम अकिंचनता है। यह बारहवाँ लक्षण है। अब 'अनीहा' के बारे में सुनो। अनीहा (अर्थात् निरिच्छता) दीन हो गयी थी। वह जिसके पास भी जाती, वह उसे लौटा देता। कोई उसे पलभर के लिये भी अपने पास नहीं रहने देता था। इस प्रकार निराश्रित हो जाने के कारण वह तिलमिला रही थी। तीनों लोक घूमते रहने पर भी उसे बैठने के लिये तिलमात्र की जगह तो नहीं ही मिली उलटे 'ईहा' (इच्छा) वैरन उसके पीछे लग गयी और जहाँ भी वह जाती वहाँ वह उसे मार खिलाती थी। उस अनीहा को कोई द्वार पर पैर भी धरने नहीं देता था। तब वह बेचारी अत्यन्त दीन दुःखी होकर रोने लगी और अपनी स्थिति का दुखड़ा रोने संतों के पास पहुँची। स्वभाव से ही दयालु होने के कारण उन्हें उस पर दया हो आयी और उन्होंने हलके हाथों से उसकी आँखें पोंछी और अपने हित के लिये उसका पालन-पोषण किया। इस प्रकार वह संतों के बल पर बढ़ी और पुराना बैर याद कर उस ईहा का (अर्थात् इच्छा का) बदला लेने के लिये संतों से उसका उपाय पूछ कर वह उसका छल करने के लिये प्रवृत्त हो गयी। अहं और ममता ईहा की सहेलियाँ थीं। ईहा के साथ अनेक प्रकार के खेल खेलते हुए उसने उसे काम के हवाले किया और वह काम की स्त्री बनी। काम का अनुमोदन मिलते ही इच्छा अत्यन्त प्रबल हो गयी और वह घर-घर में पहुँच गयी। तब उसका बदला लेने के लिये निरिच्छा शीघ्रता से चल पड़ी। उसने संतों से असंग होने का शस्त्र माँग लिया और इच्छा पर प्रहार करने के लिये वह पहले 'अहं' और 'ममता' इन दोनों को मारने के लिए दौड़ पड़ी। वे दोनों भय के कारण वहीं की वहीं मर गयीं। निरिच्छा ने पीछा करते ही अहं-ममता को वृद्धावस्था प्राप्त हो गयी अर्थात् उनका अन्त हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गया। वह दोनों थर-थर काँपने लगीं और बिना घाव लगे ही उन्होंने प्राणोत्सर्ग किया। अनीहा (निरिच्छा) को देखते ही काम बारहों बार दौड़ पड़ा। संकल्प का आखिरी गुट गिर पड़ा। इस प्रकार काम का रणक्षेत्र में पतन होते ही क्रोधादि योद्धा भी एक-एक करके गिर पड़े। अन्त में इच्छा का साथ देने वाला कोई नहीं रहा क्योंकि एक-एक को खोज-खोज कर मार दिया गया। अन्ततोगत्वा निरिच्छा के सामने खड़ा रहने वाला कोई वीर नहीं बचा, उसने सबको मार कर चकनाचूर कर दिया। उनकी अन्तिम क्रिया करने वाला भी कोई नहीं रहा। काम का नाश होते ही इच्छा सचमुच ही विधवा हो गयी। वह संतों से मुँह छिपाती भाग गयी। इसलिये जिसने इच्छा से संगति की उसकी अधोगति समझनी चाहिये और जो निरिच्छा का अंकित हुआ वह गोविन्द का प्रिय हुआ ऐसा समझना चाहिये। तुम कहोगे, यह 'अनीहा' अर्थात् 'निरिच्छता' कौन है और 'ईहा' का क्या लक्षण है? तो जिससे उनकी भी पहचान हो सके वह सब बताऊँगा। काम्यकर्मादि के जाल से 'ईहा' (इच्छा) अत्यन्त चपल है और जो अंत:करण में अटल रहती है वही 'अनीहा' (निरिच्छता) है। जिससे अंत:करण में इच्छा का गन्ध भी उत्पन्न नहीं होता अथवा कर्म की कर्मावस्था उत्पन्न नहीं होती, उद्विग्नता का अणुमात्र भी प्राप्त नहीं होता वही वास्तव में 'अनीहा' (अर्थात् निरिच्छता) है। ऐसी निरिच्छता जिसे प्राप्त होती है उसकी आज्ञा देवता भी मानते हैं। वही निरिच्छता रात दिन जिसकी दासी बन कर रहती है वह अनीहा अत्यन्त गौरवपूर्ण साधु का तेरहवाँ लक्षण बनकर रह रही है। अब चौदहवाँ लक्षण 'मितभोजन'। उसकी महत्ता का श्रवण करो। जो जिह्वा की इच्छा से बंध नहीं जाता, कभी क्षुधा के पाश में नहीं फँसता और पसंदगी का ख्याल न कर जो भोजन के लिये तैयार हो जाता है; अन्न की इच्छा प्राप्त करता है, जठराग्नि अन्न का भक्षण करता है और वह स्वयं साक्ष्य के रूप में उपस्थित है यह जानकर सारे रसों का सेवन करता है, भोजन में जो भी कुछ आता है उसको दोषदृष्टि से दूर करता है और उसे अत्यन्त पवित्र बना कर आत्मैक्य से उसका सेवन करता है। खाने लायक पदार्थ कौन से हैं यह जो देखता ही नहीं अथवा मैं एक खाने वाला हूँ इसका जिसे स्मरण ही नहीं होता वह मितभोजी साधु प्रत्येक कौर श्रीकृष्ण में समरस हुआ है यह मान कर सब कुछ खाकर भी बिन खाये जैसा रहता है। जिस प्रकार अग्नि आहार को पहले अपने जैसा बनाता है और फिर उसका अंगीकार करता है उसी प्रकार साधु पहले द्वैत का निवारण कर फिर आहार का स्वीकार करता है। इसी का नाम 'मितभोजन' है और यही साधु के आहार का लक्षण है। योजना के बिना कम खाना रोगी के पथ्य के समान होता है। हर ग्रास पर जो अन्न ब्रह्मार्पण हो रहा, उसी का नाम है 'परिमित भोजन' है उद्धव! यह साधु का चौदहवाँ लक्षण है इसे ध्यान में रखो। मलिन जल का प्रवाह लेकर अनेक नदियाँ समुद्र में मिलती हैं लेकिन वह तिल भर भी मलिन नहीं होता। वह निर्मल और निर्विकार ही रहता है। उसी प्रकार नाना उर्मी आने पर भी जिनके मनोधर्म में चल विचल नहीं होती ऐसे संतों की पराक्रमी शान्ति उनकी आत्मशक्ति को प्रेरित करती रहती है। जिस प्रकार नागबेल की लतर बिना आधार के वृक्ष पर नहीं चढ़ती, उसी प्रकार संतों के बल के आधार पर ही शान्ति बढ़ती है और चित्स्वरूप के मण्डप पर फैलती है। दसों दिशाओं को ढाँप कर बादल आकाश में छा जाते हैं लेकिन आकाश उनसे विकृत नहीं होता। वह उन बादलों को स्पर्श भी नहीं करता। जिस प्रकार ठंडक, धूप और वर्षा की धारायें आकाश को स्पर्श नहीं करती उसी प्रकार साधु की स्थिरता अनेक द्वंद्वों के होते हुए भी निर्द्वंद्व ही रहती है। उसी प्रकार ऊँच-नीच जैसी अनेक अवस्थाएँ प्राप्त होने पर भी अथवा मोहममता कितनी भी प्रबल क्यों न हो फिर भी जिसमें क्षोभ उत्पन्न ही नहीं होता उसी का नाम है, 'आत्मशांति'। संतों के कारण ही शान्ति का महत्त्व है और शान्ति के कारण ही संत पावन होते हैं। यह 'परस्पर लक्षण' संतों का पन्द्रहवाँ गुण है। जहाँ 'अहं' का नाम ही नहीं होता, वहीं अपने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पूर्वजों का मूल निवास होता है। अपना सबसे उत्तम आधार वही है। वहीं जिसका मनोधर्म स्थिर रहता है और मेरा जन्म ही नहीं हुआ है, मैंने मृत्यु देखी ही नहीं है यह भावना मन में स्थिर हुई रहती है उस स्थिति को 'स्थिरता' कहते हैं। अपने आश्रम को चारों आश्रमों में श्रेष्ठ समझता है तथा अपना मनोधर्म स्थिर कर वर्णाश्रम चलाता है तथा चारों वर्णों में जिसे पवित्रता प्राप्त हुई है, जिसके कारण ब्राह्मणों को ब्राह्मणत्त्व प्राप्त हुआ है ऐसे ब्रह्म के स्थान पर जिसका मन स्थिर हुआ है, उसी स्थिति को 'स्थिरता' कहा जायगा। त्रिभुवन में स्थिरता बिलकुल मरने जैसी स्थिति में आ गयी थी। उसका हाथ थामने वाला और उसका पालन करने वाला कोई दिखायी नहीं दे रहा था। उसे कोई द्वार पर खड़ा नहीं करता था फिर पथ्य आदि कौन देता? सबने उसे लावारिस की तरह छोड़ दिया था, तब सज्जनों ने उसका पालन-पोषण किया। इस प्रकार स्थिरता संतों के बल पर अच्छी तरह हृष्ट-पुष्ट हुई, वर्णाश्रमादि झूठे भेद नष्ट कर तथा अकारादि मातृकों का भेद कर एकदम बड़ी हो गयी और स्वस्वरूप में एकत्व प्राप्त कर स्थिरता वहीं स्थिर हो गयी। तब उसने सहज ही संतों को मार्ग प्रशस्त कर दिया। तब स्वस्वरूप से ही स्वकर्म करना स्वस्वरूप से ही वर्णाश्रम चलाना तथा स्वस्वरूप से ही स्वधर्म का पालन करना यही स्थिरता का स्वरूप है ऐसा जो हमारे धर्म कर्म का आचरण है, उसी का नाम उत्तम स्थिरता है। अब 'मेरी शरण में आना' यह जो सोलहवाँ लक्षण है उसके सम्बन्ध में सुनो। नदी जब समुद्र की शरण में आती है तो वह उससे एकरूप होकर समुद्र स्वरूप ही हो जाती है। उसी प्रकार जो वृत्ति मेरी शरण में आती है वह मत्स्वरूप ही हो गयी ऐसा समझना चाहिये। नमक पानी की शरण में आता है तो उसका तत्काल पानी हो जाता है, उसी प्रकार जो अनन्य भाव से मेरी शरण में आता है वह मेरे ही रूप में रहता है यह ध्यान में रखो। मेरी शरणआकर जो मान-सम्मान अथवा कीर्ति की अपेक्षा करता है वह गुड़ में कंकड़ की तरह होता है। गुड़ से सना हुआ पत्थर गुड़ से लिपटा रहता है लेकिन खाना बनाते समय उसका असली स्वरूप मालूम होता है। उसी प्रकार जो बाह्य रूप से मेरा भजन करता है और मन में विषय की अभिलाषा करता है, वह वास्तव में अनन्यभाव से मेरी शरण में नहीं आया है। उसे लालच का बहुत बड़ा कलंक लगा हुआ है। कोई लड़की सर्वांग सुन्दर हो किन्तु उसकी नाक पर कोढ़ का सफेद दाग हो तो जैसे कोई पुरुष उससे शादी नहीं करेगा उसी उसी प्रकार मेरे भजन में विषय लोभ दोष है यह ध्यान में रखो। या जैसे विधवा सुहाग की बिन्दी माथे पर लगाती है तो लोग उस पर थूकते हैं या जैसे 'कै' को लोग अत्यन्त घृणित मानते हैं, उसी प्रकार विषय की अभिलाषा अत्यन्त निन्दनीय है। त्रैलोक्य के साम्राज्यवैभव का विस्तार कर जो मेरी शरण में आता है वह ऐक्य भाव से मेरे जैसा हो जाता है। फिर उसे मान-अपमान कैसा? इसी का नाम है मेरी शरण में आना। उद्धव! यह सत्रहवाँ लक्षण है इसे ध्यान में रखो। अब 'मनन' नामक गुण के बारे में सुनो। वेदशास्त्र अथवा गुरुवचनों का निरूपण श्रवण करने अथवा अद्वैत का श्रवण करने के उपरान्त युक्तिपूर्वक साधक बाधक विचारों से मन में विचार करने का नाम है 'मनन'। अग्नि और कपूर का मिलन होने पर वह कपूर अग्निरूप ही हो जाता है, उसी प्रकार मेरे स्वरूप में मन रखने पर वह मन चित्स्वरूप हो जाता है। जिस प्रकार जल में उत्पन्न नमक जल में मिलते ही जलस्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार मन भी चित्स्वरूप का ही अंशभूत रहता है, मनन के योग से वह चित्स्वरूप हो जाता है। अस्तु! मनन के ही सामर्थ्य से जहाँ तक मन पहुँचना चाहता है, वहाँ तक उसके साथ मैं रहता हूँ, अथवा यदि वह स्थिर रहता है तो वहाँ भी मैं रहता ही हूँ। दीपक जिधर भी जाकर बैठता है वहाँ तो प्रकाश रहता ही है और अगर कहीं भी गये बिना वह अपने ही स्थान पर रहता है तो वहाँ भी प्रकाश रहता है। उसी प्रकार मेरा मनन करते हुए यदि मन मद्रूप हुआ तो फिर वह कहीं भी जाय लेकिन उसकी मद्रूपता नहीं टूटती। इस प्रकार मेरा जो केवल शुद्ध स्वरूप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है, उसमें जिसका मन मत्स्वरूप में स्थिर होकर ध्रुव की तरह अटल रहता है उसे मननशील कहते हैं। 'मुनि' शब्द का अर्थ मननशील ही है इसे ध्यान में रखो। यही अठारहवाँ लक्षण है। अगले श्लोक में दस लक्षणों का अत्यन्त मधुर निरूपण है, उसे सुनने के लिये उद्धव सावधान होकर सारे शरीर को कान बना कर बैठ गया।

अप्रमत्तो गंभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥ ३१॥

जब तक मन वृत्तिशून्य नहीं हो जाता तब तक चतुर पुरुष उस पर विश्वास नहीं करता। वृत्ती के रूप में कहीं मन ठग न ले इस भय से वह आत्मज्ञान के कारण सावधान रहता है। दुर्वासा सरीखा ज्ञानी भी मन के कारण क्षण-क्षण पर गुस्सा करता था। उसी क्रोध के आवेग में वह भीषण शाप देने के लिये दौड़ पड़ा। 'दुर्गंधा' मत्स्यकन्या थी लेकिन पराशर उसके भी मोहपाश में फँस गया। नारद केवल मौका देख रहे थे लेकिन उतने ही समय के लिये उन्हें गंगातट पर 'नारदी' बनना पड़ा। सारी सृष्टि का आजा ब्रह्मदेव लेकिन वह भी अपनी सुन्दर कन्या को देख मन विकृत हो जाने के कारण उसका उपभोग करने के लिये उद्यत हो गया और सरस्वती के पीछे दौड़ने लगा। इस संसार में मन की तरह लुच्चा कोई नहीं है। वह नाना प्रकार का छल कर ज्ञानी लोगों को भी कष्ट देता है। लेकिन साधु उस मन का दमन करते हैं। अब शायद आप यह कहेंगे कि यदि 'मन' बिना ही भोग होता है तो फिर वृत्ति क्यों क्षुब्ध होती है?' लेकिन ऐसी बात करने वाले भले ही ज्ञानी हों लेकिन वे मूर्ख हैं। साधुओं को यह बात अच्छी नहीं लगती। वृत्ति सत्त्वगुण का आश्रय कर सूक्ष्मरूप में रहती है। वह मन को क्षुब्ध कर 'मैं मुक्त हूँ' का आभास करा कर विषयी बना देती है। 'मुक्त हुआ' ऐसा अहंकार करना और विषयों में आसक्त रहना, यही तो मनःक्षोभ से प्राप्त होता है। इसलिये जब तक वृत्ति है तब तक साधु को मुक्ति बिलकुल मान्य नहीं है। मन अत्यन्त नाटकी है और नाटक बनाने वाला है। वही मुक्त होने का अहंकार करता है। इसलिये उसका नाश करने के लिये साधु आत्मज्ञान से सावधान रहते हैं। कृष्णसर्प का मुँह हाथ में हो और यदि हाथ को ढीला छोड़ दिया जाय तो वह तत्काल खा ही जायगा। इसलिये जब तक वह मर न जाय तब तक उसका मुँह दबा कर ही रखना चाहिये। उसी प्रकार साधु मन का निर्दलन करते हैं। इस प्रकार निर्दलन करने में जैसी सावधानी आवश्यक होती है वही साधु का लक्षण है। वास्तव में यह उन्नीसवाँ गुण है। अब बीसवाँ गुण सुनो। पर्जन्यकाल में पानी से लबालब भरी हुई नदियाँ समुद्र में मिलती हैं तो समुद्र अहंकार से फूल नहीं जाता अथवा ग्रीष्मऋतु में वे नदियाँ उतनी भर कर नहीं आतीं तो समुद्र सूख नहीं जाता। उसी प्रकार धन की अधिकता से साधु का मन उल्हसित नहीं होता अथवा सर्वस्व चला जाने पर दीनता का भाव नहीं लाता। रात और दिन आये या जाये, उससे सूर्य के प्रकाश में कोई कमी नहीं आती। उसी प्रकार अलग-अलग परिस्थितियाँ आने या जाने से साधु की गम्भीरता नहीं ढलती। कितनी भी बिजली कड़के, उससे आकाश नहीं उगमगाता। उसी प्रकार विकारों की कितनी भी लहरें क्यों न उठें लेकिन उसमें अटल रहना ही 'गांभीर्य' है। संतों की 'गंभीरता' यही है। यही सचमुच जीव और शिव की 'शांति' है। यह संतों की बीसवीं अवस्था है। अब धैर्य का स्वरूप सुनो। जो अपने धर्य से मन-बुद्धि आदि इन्द्रियों और प्राण को अपने नियंत्रण में कर उन्हें नित्य आत्मसन्मुख करता है और उन्हें वहाँ से लौटने नहीं देता या स्वयंवर में प्रबल शत्रु को अपने पराक्रम से जीत कर लायी हुई दुल्हन को वापस नहीं जाने देता उसी प्रकार साधु भी अपनी वृत्ति से धैर्य छूटने नहीं देता। जाल में फँसे हुए मृग को जिस प्रकार बहेलिया वापस जंगल में नहीं जाने देता उसी प्रकार साधु भी धैर्यपूर्वक मन पर नियंत्रण कर उसे देह की ओर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं जाने देता। देह को अनेक प्रकार के सुख प्राप्त हों अथवा उसे हाथी के मस्तक पर बैठा दिया जाय तो भी वह मन को देहाभिमान के पास भटकने नहीं देता अथवा प्रलयकाल के गड़गड़ाहट से भले ही पंचमहाभूतों में अफरातफरी मची हुई हो लेकिन वह अपने श्रेष्ठ धैर्य से मन को देह से नहीं मिलने देता। इस बीच वह काल की जबर्दस्त चोट के कारण वृत्ति को परब्रह्म की राह पर निश्चयपूर्वक लाकर चित्स्वरूप के बाजार में बेच देता है। वहाँ उसे तत्काल स्वानंदरूपी उत्तम ग्राहक मिल गया तो उसने जीव के साथ मन, बुद्धि, प्राण, विवेक आदि देकर उससे बदले में स्वानंद ले लिया। इसी का नाम है धैर्य! साधु का यह इक्कीसवाँ गुण है। अब षट्विकारों पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाती है यह भी सुनो। वह साधु स्वानंद से तृप्त रहता है इसलिये उसे भूख नहीं लगती। सांसारिक जीवन से वह तृप्त रहता है इसलिये उसे प्यास का भी विस्मरण हो जाता है। आत्मसुख का उपभोग करते-करते शोक और दु:ख तो भूल ही गया। चित्स्वरूप के ज्ञान से सन्देहरहित हो जाने के कारण मोह भी उसके सामने नहीं आता। वह जागृति, स्वप्न और सुषुप्तावस्था इन तीनों से बाहर आत्मज्ञान के परिसर में रहता है। वहाँ यदि जरा का आगमन होता है तो वह थर-थर काँपने लगता है। उसका कार्य और कारण दोनों ही व्यर्थ हो जाते हैं। देहपन से उसे देह का भी भान नहीं रह पाता इसलिये मृत्यु की भी मृत्यु हो जाती है। वह साक्षात् काल को भी निगल लेता है। इस प्रकार इन षट्विकारों को अनायास ही जीत कर साधु निश्चिंत होकर इस संसार में जीते हैं। यह उसका बाईसवाँ लक्षण है। सभी प्राणियों में उसे अपने स्वामी (ब्रह्मस्वरूप) का दर्शन होता है। फिर मान-सम्मान की अपेक्षा किससे की जाय? इसलिये सचमुच ही मान-अभिमान का त्याग कर वे विनम्र वृत्ति से जीते हैं। पहले देह में अभिमान जागृत होता है, तब मान-सम्मान की इच्छा होती है यह नियम है। लेकिन यहाँ तो देह का भान ही नहीं रह गया है इसलिये मान-अभिमान भी रसातल में पहुँच जाते हैं। इसी का नाम 'अमानिता' है। यह साधु का तेईसवाँ लक्षण है। अब 'साधु' किस प्रकार सम्मान देता है यह भी सुनो। वह ब्रह्मदेव से लेकर मक्खी तक सभी को शिरसावंद्य मानता है। चराचर में सर्वत्र उसकी एकनिष्ठता रहती है। ब्रह्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी बुद्धि को वह जानता भी नहीं है। समस्त प्राणिमात्र में वह ब्रह्मरूप ही देखता है और इसीलिये वह सब के आगे साष्टांग दण्डवत् करता है। वह देवता, मनुष्य अथवा गधे के बीच भेदभाव नहीं करता। सभी को वह बड़े सन्तोष से नमन करता है। कितने ही कौशल से विभिन्न प्रकार के अलंकार क्यों न बनाये गये हों लेकिन उससे सोने के गुण में कमी नहीं आती। उसी प्रकार नाम अथवा रूप की भिन्नता के कारण वह अपने मन में रंच मात्र की भी कमी नहीं लाता। चीनी का निंबोली का कड़ुआ फल बनाने से वह कड़ुआ नहीं हो जाता। उसी प्रकार सुअर जैसा कितना ही कनिष्ट जानवर क्यों न हो लेकिन उसका ब्रह्मस्वरूप नष्ट नहीं होता। समुद्र में भयंकर से भयंकर लहरें उठती हैं लेकिन उनमें शुद्ध पानी ही रहता है उसी प्रकार कोई भी प्राणी हो उसमें ब्रह्मस्वरूप ही भरा रहता है। इसी प्रकार साधु समस्त प्राणियों को सम्मान ही देता है। यही उसका इक्कीसवाँ लक्षण है। अब उसकी 'परबोधकता' अर्थात् दूसरों को बोध करने के सामर्थ्य के बारे में सुनो। जिसका जैसा भाव और श्रद्धा होती है उसे वैसा ही उपदेश करना साधु को भाता है। कोई ज्ञान प्राप्त करने पर भी पागल ही बना रहे और उसके अंत:करण में उस ज्ञान की अव्यवस्थित छाप ही पड़ी रहे तो सच्चे शिष्य की वास्तविक स्थिति उसकी समझ में नहीं आती। अर्थात्, ऐसा गुरु उपदेश करने के लिये पात्र नहीं होता। कोई यदि ज्ञान के आश्चर्य से ही अंत:करण भर जाने के कारण विस्मय से स्थित:प्रज्ञ होकर रह जाय और लकड़ी की तरह या ढोंके की तरह पड़ा रह जाय तो गुरु को उपदेश करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। कोई ज्ञान प्राप्त होने पर कंजूस हो जाता है। प्राण जाने पर भी वह कुछ नहीं बोलता। भय के कारण मौन ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रहता है। कभी एक भी शब्द नहीं बोलता। कोई पुरुष लाखों रुपया प्राप्त होने पर उसे जमीन में गाड़ कर उस पर पत्थर रख देता है, दान देने से वह व्यर्थ चला जायगा यह सोचकर उस सम्पत्ति को जमीन की संगति में छोड़ देता है। उसी प्रकार बड़े परिश्रम से आत्मज्ञान प्राप्त कर उसको सत्पात्र को दान नहीं करता यही उस कृपणता का लक्षण है। अर्थात् यही मक्कारी है। कोई पुरुष ज्ञान प्राप्त कर उसे देना भी चाहता है लेकिन वह उपदेश शिष्य की समझ में नहीं आता। गुरु का वह ज्ञान सत्त्वहीन हो गया है, ऐसा समझना चाहिये। अच्छे खेत में भी उसमें अंकुर नहीं फूटेंगे। कुछ लोग अपनी दीक्षा और अनुभव को अत्यंत गहन बता कर बड़े-बड़े श्रीमान लोगों को शिष्य बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वे ज्ञान का व्यवसाय ही शुरु करते हैं। शिष्य का मन आकर्षित करने के लिये उसकी रुचि के अनुसार निरूपण करना, इस प्रकार धन के लालच से उपदेश करने पर वह ज्ञान सत्त्वहीन ही हो जाता है। बीज में पानी घुसने पर वह खेत में बोने लायक नहीं रह जाता। उसी प्रकार ज्ञान में धनलोभ का प्रवेश हो जाने पर उस उपदेश से किसी का भी लाभ नहीं होता। ज्ञान न मिलने से शिष्य मन ही मन कुढ़ता रहता है और गुरु गुर्राता रहता है। वह सच्चा उपदेश कर्म नहीं है। यह घर के घर में लुकाछिपी है। जो शब्दज्ञान में पारंगत होकर ब्रह्मानन्द में डोलता रहता है और शिष्य को उपदेश देने में समर्थ रहता है वही मेरा साक्षात् स्वरूप है। मैंने जैसा अवतार धारण किया है उसी प्रकार यह भी अवतारी रहता है। इसीलिये वह अपने सच्चे शिष्य को चित्स्वरूप के अलंकार से बड़ी चतुराई से अलंकृत करता है। 'वह' और 'मैं' का प्रयोग करते समय उसमें केवल बाह्य दृष्टि से अन्तर मालूम होता है। किन्तु भीतर से वे दोनों एक ही घर के रहते हैं। एक ही रहकर वह अनेकों को उपदेश करता है। एक की ज्ञानप्राप्ति कितनी सुलक्षण होती है? लेकिन कुछ जैसे के तैसे अज्ञान में ही रहते हैं, यह किसका दोष है? किसान बुआई करता है। भूमि अच्छी होने पर उसमें फसल लहलहाती है और जमीन बंजर हो तो उसमें एक अंकुर भी नहीं फूटता। बीज उत्तम ही रहता है। उसी प्रकार भक्तों में ही उपदेश का अच्छा विस्तार होता है। तर्क करने वाले लोग बंजर खेत की तरह होते हैं। शिष्य समझ सके उस ढंग से उपदेश कर उसे परमार्थ की ओर ले जाने का जो प्रभावशाली गुण होता है उसे 'परबोधकता' कहते हैं जो पच्चीसवाँ प्रसिद्ध गुण है। साधु की मित्रता वैसे भी उत्तम रहती है। सबसे उसकी पुरानी ही जान-पहचान रहती है। वह सबका मित्र होने के कारण उसका व्यवहार सबके साथ एक जैसा होता है। वही सबका सगा और सम्बन्धी, वही वास्तव में सबका प्रिय रहता है। वह सबसे अलग रहते हुए मित्रता कायम रखता है। अपनी कैसी भी गुप्त बात क्यों न हो उसे दूसरे को सुनाने में वह दूजे का भाव नहीं रखता। सारी दुनिया की ओर वह अपनेपन से देखता है। अंत:करण में वह सबके प्रति निष्कपट रहता है। दूध और पानी जैसे एक हो जाते हैं, उनमें भेद नहीं दिखायी देता उसी प्रकार साधु भी सबके साथ एक जैसा व्यवहार कर समस्त जीवों को अपने में समरस कर लेता है। अत्यन्त मित्रता का लक्षण यह है कि दूसरों का दु:ख हर कर उसे सुख प्रदान करना। उसी प्रकार साधु भी जीवों का दु:ख हर कर उन्हें सुख देता है। साधु की मित्रता की महिमा अपार है। वह सबका पुराना ही मित्र है। इसलिये सबके साथ उसका सौजन्य नित नया ही रहता है। वह सदा निष्कपट रहता है। बन्धु से भी अधिक मित्र महत्त्वपूर्ण है। पुत्र से भी अधिक मित्र विश्वास करने योग्य हैं। वही मित्र यदि विश्वासघात करता है तो उसे ठग समझना चाहिये। मन, धन और कर्त्तव्य कर्म में जिसकी निष्कपट वृत्ति रहती है, उसी का नाम है सच्ची मित्रता। यही पहचान ध्यान में रखनी चाहिये। इस प्रकार मैत्री का पूरा लक्षण विस्तारपूर्वक बतलाया। यह साधु का छब्बीसवाँ लक्षण है। अब करुणा के बारे में सुनो। बदले में उपकार की इच्छा न कर, मैं बहुत बड़ा दयावान हूँ यह अहंकार भी मन में न रख दीनजनों का दु:ख निवारण करना इसी का नाम है सच्ची

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करुणा। मन में धन की आशा कर वैद्य दवाइयों का पुलिंदा खोलता है अथवा सम्भावना पर दृष्टि रखकर जिस प्रकार पुराणिक कथा सुनाने लगता है उस प्रकार का व्यवहार केवल विषय के स्वार्थ के लिये होता रहता है। लेकिन साधु की बात वैसी नहीं होती। वह निरिच्छ होते हुए दयालु रहता है। उसकी आँखों में दया का समुद्र भरा रहने के कारण ही वह अपना तन, मन, धन खर्च करके भी अनाथों पर दया करता है और दीनदुबलों को संकट से मुक्त करता है। उसे अपने स्वार्थ की जितनी चिन्ता रहती है उससे भी अधिक चिन्ता अनाथ प्राणियों के प्रति होती है। उद्धव! सचमुच इसी का नाम है पूर्ण दया। यह साधु का सत्ताईसवाँ लक्षण है, इसे ध्यान में रखो। अब 'कवि' शब्द का प्रतिपादन ध्यान से सुनो। वेद और शास्त्र का रहस्य जिसे हाथ के मैल के समान स्पष्ट है और जो सदैव ब्रह्मानन्द में डोलता रहता है उसका ही नाम सचमुच 'कवि' है। उपनिषद का अर्थ जिसके मुख की ओर जोहता रहता है और शब्दज्ञान और अनुभवज्ञान जिससे सत्य होता है उसी का नाम 'कवि' प्रसिद्ध है। 'कवि' इस शब्द के वर्णन से अट्ठाईस लक्षण पूरे हो गये। अब दो अत्यन्त गहन लक्षण शेष हैं उन्हें अगले दो श्लोकों में बताने का विचार श्रीकृष्ण ने किया।

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥ ३२॥

प्रपंच नगर के चारों ओर 'कर्म' की दुस्तर नदी प्रसिद्ध ही है। उसी के जल पर जीव जीते हैं। उत्पत्ति और स्थिति उसके इस तट पर होती है। उस नदी के जल से ही कर्म को कर्मफल आते हैं और उस पानी के बल से ही स्वर्ग, नरक आदि का भोग भोगना पड़ता है। प्रपंच नगरी से निकल कर जो परमार्थ की ओर दौड़ कर आने लगता है सो वह कर्मनदी में गोता खाकर डूब जाता है। कुछ ज्ञानी इसे तरना कहते हैं लेकिन वही कर्म में गोता खाकर स्वयं डूबते हैं और दूसरों को भी उसमें डुबाते हैं। वे व्यर्थ ही तरने की बकवास करते हैं। ऐसे कितने डूबे उनका पता नहीं है। लेकिन वही डूबते समय बताते हैं कि तरने का उपाय कर्म ही है और यह कहकर सबको डुबाते हैं। 'न कर्मणां' यह वेद का वचन है। इसका अर्थ है 'कर्म' से कोई ब्रह्मज्ञानी नहीं होता। लेकिन कर्मठ लोग इसे स्वीकार नहीं करते क्योंकि उन्हें कर्म का अहंकार रहता है। कर्म पूरी तरह देह के माथे रहता है। अगर उस देह का ही अभिमान नहीं छूटा तो कर्म का त्याग कभी नहीं होगा उलटे देहबुद्धि से कर्मबन्धन अवश्य प्राप्त होगा। कुछ ऐसे भी नष्ट होते हैं जो कर्म ही नहीं करते और कर्म नदी के इस तट पर खड़े होकर तर जाने की बात करते हैं। इस प्रकार जो वर्णाश्रम कर्म का त्याग करने वाले होते हैं वे कर्म भ्रष्ट हैं। उन्हें पाखण्डी और पापी समझना चाहिये। इस कर्मनदी को पार करके जाने वाला कोई एक भी वीर नहीं दिखाई देता। जब बड़े-बड़े नेता इसमें डूब कर मर गये तो औरों की क्या बिसात है? इस कर्मनदी की उत्पत्ति सचमुच मुझसे ही है। उसका यथार्थ भी तुम्हें आत्मज्ञान से बता देता हूँ। 'आज्ञायैवं' यह मूल श्लोक का पहला मूल पद है। उसके ही कारण यह कर्मनदी फलीफूली है उसे स्पष्ट करता हूँ। मेरे आज्ञारूपी गम्भीर मेघों ने मेरे श्वासोच्छास की वायु के योग से चतुर्वेद की विधि की धाराओं की असीम वर्षा की। इससे कर्मनदी में असीम बाढ़ आयी। उतार किधर है, किसी की समझ में नहीं आया। वहाँ गुण दोषों का घेरा पड़ा है तथा विधि-निषेदों के प्रवाह में कर्माकर्म का भँवरा किस प्रकार भीतर बाहर घूम रहा है, देखो! संकल्प विकल्पों के बड़े-बड़े टीले नदी में चारों ओर खड़े हैं जिससे नदी चारों ओर विस्तृत फैली हुई है। जो उसे पार करना चाहता है वह उन टीलों में फँसकर डूब जाता है। एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाता। कहीं मगर के पाश में पड़ जाय तो फिर पूछिये ही मत। वह पूरा का पूरा निगल जाता है। संकट में भी बाहर नहीं छोड़ता। देखते-देखते अधोगति तक पहुँचा देता है। अंगविकलता के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मत्स्य मांस की टोह में घूमते रहते हैं। कर्मठता के कछुए तो पत्थर की तरह कठोर होते हैं। जो भोगविलास के कारण आलसी बन जाते हैं उन्हें कालसर्प अपने चंगुल में फँसा लेता है। उनके नाक में और मुँह में पानी भर जाने के कारण मुँह से शब्द भी नहीं निकल पाता। कुछ व्यग्रता में डूब गये। कुछ तर जाने की आशा में कर्म के प्रवाह में ही फँस जाते हैं। वे विधि निषेध के घेरे से सहसा बाहर नहीं आते। कुछ स्वकर्म के प्रवाह में फँस कर दूर तक बहते चले जाते हैं। उन्हें सत्यलोक के मगर अपने बिल में घसीट ले जाते हैं। कुछ तो उस पार जा ही नहीं पाते वे बीच ही में सुन्दर फल देखकर बीच रास्ते की ओर दौड़ते हैं और स्वर्ग के संकट में फँस जाते हैं। युक्ति के बल पर तरने की आशा से जो निकलते हैं वे अहंकाररूपी भँवर में फँस जाते हैं जहाँ देव मछलियाँ उन्हें निगल जाती हैं। कुछ तीनों वेदों की तुंबी दीक्षारूपी रस्सी से पेट के नीचे बाँध लेते हैं लेकिन वे अप्सराओं के मायाजाल में फँस कर अंततः डूब जाते हैं। मंत्र-तंत्र का प्रयास करने वाले बेचारे दीक्षित तो अपने ही स्थान पर डूब जाते हैं। सारांश यह कि कर्म नदी के उस पार पहुँचने वाला कोई नहीं दिखाई देता। यहाँ ऐसा कोई बिरला ही दिखाई देता है। जो कोई इन सारे उपायों को एक ओर रख अनन्य भक्ति से मेरा भजन करता है उसे यह कर्मनदी बिलकुल सूखा ही छोड़ देती है। जब तक मेरी भक्ति की नाव नहीं मिलती और उस पर प्रेम की पाल नहीं चढ़ती तब तक बचाव के सभी प्रकार के प्रयास दुर्बल सिद्ध होते हैं। तो फिर ये पागल व्यर्थ का प्रयास क्यों करते हैं? अनन्य भक्ति का मार्ग स्वीकार कर, धर्मकर्म का त्याग करना यही तरने का सर्वोत्तम उपाय है। अन्य कोई भी उपाय दुर्बल तथा अधोगति तक पहुँचाने वाला है। अपना धर्म क्या है और कर्म क्या है यह जाने बिना अथवा मन से ही नास्तिकता स्वीकार कर अथवा आलस के कारण जो कर्म का त्याग करते हैं, यह उस प्रकार का त्याग नहीं है अथवा शरीर को क्लेश होगा इस भय से, अथवा आलस के कारण या ज्ञान के अहंकार से जो कर्म नहीं छोड़ते उस प्रकार का भी त्याग नहीं है यह ध्यान में रखो। मेरी वेदरूपी आज्ञा अत्यन्त पवित्र है। उन वेदों का विस्तार से विचार कर स्वधर्म कर्मों के जो कर्मवाद हैं उन्हें जानने वाला तथा स्वधर्मगुण अत्यन्त उत्तम है तथा उसमें बिगाड़ आ जाने से अधःपतन होता है ये दोनों बातें ध्यान में रखकर जो मेरी भक्ति के प्रति समर्पित होता है, ऐसा भक्त अन्य किसी बात का स्मरण न कर अखण्ड हरि का ही स्मरण करता है। इसी को कहते हैं, भक्ति में बिका प्राण! अन्य भजन आनुमानिक हैं। मेरे भजन प्रेम के कारण वह कर्म की याद भी भूल जाता है। दरिद्र कर्म को कौन पूछता है? वह भक्तों को बाधक नहीं होता। मेरे प्यार भरे भजन में रंग जाने पर वह सारे कर्मों को भूल जाता है। वही भजन की समाधि है ऐसा समझना चाहिये। वहाँ सचमुच ही कर्म बाधक नहीं होता। जिसकी कर्म पर श्रद्धा रहती है वही कर्म का अधिकारी होता है और जिसकी श्रद्धा श्रीकृष्ण पर होती है वह कर्म का अधिकारी नहीं होता। जो जीवभाव से भक्ति को ही समर्पित होता है वह तत्क्षण कर्म से विलग हो गया ऐसा मानना चाहिये। उसके भावार्थ पर जब मैं बिका तब वह कर्म में कैसे बँध सकता है? गुणदोषों की जननी अविद्या का जिसने निराकरण कर दिया और मेरे भजन में मग्न हो गया उस साधु को मैं प्रणाम करता हूँ। देह में आत्म भावना की जो कल्पना है उसे ही मुख्य रूप से अविद्या समझना चाहिये। वह कल्पना ही यदि अपने स्थान पर समाप्त हो जाय तो सचमुच संसार से अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या का त्याग हो जाने पर उसके साथ ही धर्म-अधर्मादिक का भी अपने आप त्याग हो जाता है। मस्तक टूट जाने पर शरीर कर्म करने के लिये उठ नहीं पाता उसी प्रकार अविद्या का त्याग होने पर सभी धर्मों का त्याग धीरे-धीरे हो ही जाता है। देखो! दिन में चन्द्रमा का उदय दिखायी देने पर भी वह होते हुए भी न होने जैसा होता है। उसी प्रकार अविद्या का अस्त हो जाने पर धर्म के सभी प्रकारों की वही स्थिति होती है। सूर्योदय हो जाने पर खोजने पर भी जुगनू नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दिखायी देता। उसी प्रकार अविद्या का नाश हो जाने पर धर्माधर्म के झुण्ड भी निस्तेज हो जाते हैं। नवग्रहों का समुदाय, नक्षत्रों की पंक्तियाँ, जुगनू के तेज की चमक ये सब रात्रि के साथ ही लुप्त हो जाते हैं। उसी प्रकार अविद्या के साथ धर्माधर्म की कला भी नष्ट हो जाती है। उद्धव! समस्त धर्मों के त्याग की यही पहचान है इसे ध्यान में रखो। इसके अतिरिक्त मेरा भजन! इसी का नाम है मुख्य भागवतपन! लेकिन तुम कहोगे कि केवल अविद्या का ही कैसे नाश होगा? उसके साथ अधर्म का भी नाश होगा। लेकिन अरे भई! मेरी भक्ति के बढ़ने से अविद्या अनायास ही नष्ट हो जाती है। अविद्या का नाश होते ही सभी धर्माधर्मों का नाश होता है। अब तुम कहोगे कि ऐसी कौन-सी भक्ति है? तो यह वही भक्ति है जिसका मैंने पहले निरूपण किया था। वह मेरी चौथी भक्ति है, इसे ध्यान में रखो। उसके ही योग से अविद्या का निराकरण होता है। आर्त (रोग से पीड़ित), जिज्ञासु (मोक्ष की कामना करने वाले) तथा अर्थार्थी (धन के इच्छुक) जो भक्ति करते हैं वह वास्तव में अविद्यात्मक होती है इसलिये मुख्य रूप से चौथी भक्ति ही मेरी भक्ति है। उस भक्ति में अविद्या का स्पर्श नहीं होता और भजन तो अपने ही स्थान पर अनायास होता रहता है। हे उद्धव! वही मेरी प्रिय भक्ति है। जिससे अविद्या रहती है और सभी धर्म थर-थर काँपते रहते हैं उस भक्ति का झण्डा लहराते देख उसके भय से ही अविद्या के प्राण निकल जाते हैं और सब धर्मों की चाह तो बिना जख्मी हुए मर जाती है। अपनी भक्ति का यह प्रकार भगवान ने बड़े प्रेम से बतलाया। अब जिससे भक्ति सजती है उन भक्तों का भजनभाव भी सुनो। बिना मेरे अनुसंधान के स्नान, संध्या, जप, होम, दान ये सब अधर्म ही हैं। वह मेरा भजन नहीं है। परपुरुष की चाह और उसके प्रति प्रीति तथा पति के सामने झूठा प्रेम-प्रदर्शन यह जिस प्रकार पतिव्रता का लक्षण नहीं होता, उसी प्रकार वैसी भक्ति भी व्यभिचारिणी ही होती है। स्त्रियों के प्रति इच्छा रखकर जो ध्यान और अनुष्ठान करता है उसकी वह कृति जारिणी स्त्री की तरह रहती है वह कोई पवित्र भक्ति नहीं है। काया, वाचा तथा मन से मेरी भक्ति में मग्न रहना, भजन करते समय दिन या रात का ख्याल न करना इसी का नाम सच्ची भक्ति है। जप के बिना भी जिसके मुँह में मेरा नाम है, धारण किये बिना भी मेरा ही ध्यान है और जो सारे कर्म बिना संकल्प किये मुझे ही अर्पण करता है, प्राणायाम के बिना ही वायु का विरोध करता है, मर्यादा के बिना ही स्वरूप ज्ञान होता है, विषय के बिना ही सदा स्वानंद में रहता है इसी का नाम है शुद्ध भक्त! भक्त कहलाने में बड़ा अच्छा लगता है। लेकिन भजनमार्ग में हृदय विह्वल हो उठता है। अकृत्रिम भक्ति जब प्रकट होती है उसी समय, उद्धव मेरी भेंट होती है। इस रीति से जो मेरा भजन करता है वह मुझमें और मैं उसमें निवास करता हूँ। सारे भक्तों में वही उत्तम भक्त है और साधु यह नाम उस पर ही फबता है। पुरुषों में उत्तम पुरुष वही है। साधुओं में सर्वोत्तम साधु वही है। हे उद्धव! मेरे विश्राम का अकृत्रिम स्थान वही है। उसके लिये मैं स्वयं अपने सर्वांग का बिस्तर बन जाता हूँ और पग-पग पर मैं अपना प्राण उस पर न्योछावर करता हूँ। ध्यान में रखो। वह मुझे कितना प्रिय है यह पूछोगे तो मैं कहूँगा कि उसी प्रकार जैसे जीव को प्राण प्रिय लगता है। उत्तम भक्त का यह लक्षण बताते समय भगवान भी प्रेम में पागल हो गये। वे अधीर हो उठे। उनका अपने अंत:करण पर नियन्त्रण न रहा। उसने उद्धव को गोद में उठा लिया और वह प्रसन्नता से नाचने लगा। आश्चर्य से उद्धव का गला भी रुंध गया। श्रीकृष्णनाथ यह भी भूल गये कि मैं देवता हूँ और यह एक भक्त है और यही भक्त और देवता का भाव उद्धव भी भूल गये। भक्ति के ऐसे साम्राज्य में दोनों की जब एकरूपता हुई तो अपने भक्त की कथा सुनाने के लिये भगवान का जी मचल उठा। ऐसे उत्तम भक्तों की कथा कृष्णनाथ को बहुत प्रिय लगती थी। इसीलिये वह उसे बार-बार सुना रहा था। श्लोक में अनेक विचार होते हुए उन्हें दूर कर श्रीकृष्ण ने बड़ी चाह से स्वयं ही यह ग्रन्थ लिखवाया। महाराज! सचमुच

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही मैं अपने मन से यह कथा नहीं लिख रहा हूँ। इसे लिखवाने वाला श्रीकृष्ण ही है इसे श्रोतागण सत्य मानें। अब श्रोतागण सावधान हो जायें। कथा का पिछला सन्दर्भ यह है कि दोनों एक दूसरे से गले मिले थे और उद्धव को अत्यन्त आश्चर्य हुआ था। कृष्णनाथ प्रेम से विह्वल हो गये थे, उन्होंने अपने को सँभाला और उद्धव की पीठ थपथपा कर उसे सावधान किया। उसने उद्धव से कहा "सचमुच तुम्हें भक्ति की कथा अच्छी लगी अतः मैं तुम्हें वही कथा सुनाता हूँ। ध्यान देकर सुनो। कोई मुझे जान कर मेरा भजन करता है तो भाव ही मुझे भजता है। लेकिन मैं उन दोनों को ही भक्ति में रमता हूँ और ये दोनों ही मुझे अच्छे लगते हैं।"

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः॥ ३३॥

आत्मस्वरूप में रहनेवाला, सच्चिदानंद, जगत का आदि, आनन्द का मूल स्रोत, नित्य सिद्ध, परमपवित्र ऐसे मेरे रूप को वे भली-भाँति जानते हैं। देश, काल और वर्तमान इन सबमें सदा परिपूर्ण, सर्वात्म, सच्चिदानंदघन तथा भेदरहित ऐसा एक मैं ही हूँ। सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप परब्रह्म वास्तव में मैं हूँ। यह जानकर जो मेरा भजन करते हैं वही उत्तम भागवत हैं इसे ध्यान में रखो। तुम कहोगे कि शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाने के बाद भजन कैसे किया जाय? तो इसका उत्तर यह है कि जब देवता और भक्त दोनों वही बन जाते हैं और 'मैं' होकर मेरा भजन करते हैं। दायाँ और बायाँ ये दोनों भाग अलग हैं किन्तु शरीर एक ही है उसी प्रकार देवता और भक्त ये विभाग मेरे स्वरूप में पूर्णरूप से दिखायी देते हैं। जरा देखो! लोहे का दर्पण बनाना है तो उसे लोहे से ही बनाना होता है और वह अपने प्रकाश से प्रकाशित हो इसलिये उसे लोहे से ही चमकाना होता है। दर्पण साफ हो जाने के बाद वह चन्द्र, सूर्य, आकाश, पृथ्वी के प्रतिबिम्ब स्वयं में धारण करता है। यह उससे अनायास ही होता है। उसी प्रकार मेरे भक्त भी जब 'मैं' होकर अनन्यभाव से मेरा ही भजन करते हैं तब मेरा सारा वैभव उनमें प्रतिबिम्बित होता है। अथवा जिस प्रकार समुद्र में लहरों के ऊपर और नीचे पानी ही रहता है उसी प्रकार मेरा भक्त मुझ में ही होने के कारण अंतर्बाह्य मद्रूप ही होता है। जिस प्रकार नृसिंह की सुवर्ण की मूर्ति सुवर्ण के ही हिरण्यकश्यपु का विदारण करती है और सुवर्ण के ही प्रह्लाद को गले लगाती है वैसी ही मेरे भजन की स्थिति है। वहाँ सगुण और निर्गुण रूप में मैं ही रहता हूँ। जिस प्रकार सुवर्ण और कंगन अभिन्न होते हैं उसी प्रकार मद्रूप हो जाने के बाद वह और मैं दोनों अभिन्न ही रहते हैं। इसलिये वह जिधर भी देखता है उधर उसे मेरा ही स्वरूप दिखाई देने लगता है और दृश्य, द्रष्टा का त्रिगुट नष्ट होकर वह तत्काल मत्स्वरूप में मिल जाता है। यह जानकर जो मेरा भजन करते हैं, वही भक्त उत्तम होते हैं, यह जान लो। उसी प्रकार मुझे जाने बिना जो मेरा भजन करते हैं वे मेरे भोले भक्त हैं। उस भोले भक्त ने वेदों का पठन नहीं किया होता, वेदांतशास्त्र का श्रवण नहीं किया होता उसमें विकल्प का लक्षण नहीं होता, वह केवल अनन्य भावार्थी होता है। उसे सगुण, निर्गुण का ज्ञान नहीं होता लेकिन हृदय में देवता का वास है इतना वह जानता है। देह में जड़त्व है इसीलिये देवता उससे आचरण कराता है। अपनी आँखें निकाल कर अलग से दूर रखे तो वहाँ हृदयस्थ नारायण न होने के कारण वह अन्धा ही होता है। इसलिये देखने की कला भी देवता की ही होती है। जीभ केवल चमड़े की होती है। उसे रस का स्वाद क्या होगा? उसे काट डालने से वह बेचारी किसी प्रकार का स्वाद नहीं जानती। इसलिये जिह्वा के द्वारा रसास्वादन करने वाला हृदयस्थ परमात्मा ही है। बुद्धि को ज्ञान प्रदान करने वाला भी सचमुच हृदय का नारायण ही है। मन का आवागमन भी उस हृदयस्थ के ही अधीन होता है इसीलिये जब दूर हो जाने पर भी वह लौटकर हृदय में ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आता है। इन्द्रियों को प्रेरणा देने वाली अथवा उसे नियंत्रण में रखने वाली शक्ति भी हृदयस्थ के ही अधीन है। इसीलिये उसे ही 'हृषीकेश' (अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी) कहते हैं। इस दृष्टि से देखें तो अपने ही हृदय में देवता का निवास दिखाई देता है। मैं भी कैसा मूर्ख हूँ कि उसे देखने के लिये बाहर की ओर दौड़ता हूँ। वह तीर्थ में या क्षेत्र में मिलेगा ऐसी हमारी कल्पना होती है। आत्मभाव के बिना तीर्थ में भी देवता के दर्शन नहीं होंगे। सारांश, भगवान मुझमें ही है उसके ही कारण इन्द्रियों में चेतनता रहती है और जो भी क्रिया-कर्म होते हैं वे उसके ही कारण हाते हैं। देह तो केवल अचेतन प्रेत है। उससे कर्म नहीं होता यह स्पष्ट ही है। यह देह बिलकुल व्यर्थ है। इन्द्रियों में चैतन्य लाना, कर्म, क्रिया अथवा कर्त्तव्य का पालन करना यह कार्य तो सचमुच देह से होता ही नहीं है इसलिये मुख्य कर्ता वह हृदयस्थ परमात्मा ही है। इस प्रकार कर्त्तव्य के रूप में जो भी है उसे वह अपने माथे पर नहीं लेता। सर्व कर्मों का कर्त्ता आत्मा है यह बात वह विश्वासपूर्वक मन में दृढ़ कर लेता है और फिर अन्नपानादि का सेवन करते समय आत्माराम ही सबका भोक्ता है यह स्वीकार करता है। सारे कर्म या कर्त्तव्य करते समय 'मैं' कर्त्ता हूँ यह बात उसकी समझ में ही नहीं आती। इस भोले भाव मेरा जो भजन हाता है, वह उत्तम है। मैं वह भजन बड़ी चाह से ग्रहण करता हूँ क्योंकि वह मेरा खाद्य है इसे ध्यान में रखो। बच्चे को जिस प्रकार सर्वभाव से माँ होती है उसी प्रकार मेरे भोले-भाले भक्तों के लिये सब कुछ मैं ही हूँ। दौड़कर माँ के गले में पड़ने के लिये, कान में हित की गुप्त बात कहने के लिये तथा खाना, भोजन तथा विश्राम इन बातों के लिये जिस प्रकार बालक के लिये माँ होती है उसी प्रकार मेरे भोले-भाले भक्तों के लिये प्यारी माँ के रूप में मैं हूँ। उनके लिये अर्थ, स्वार्थ, परमार्थ सब कुछ मैं ही हूँ। बालक के लिये माँ जिस प्रकार अपने मुँह का, पेट का तथा गाँठ का सब कुछ खर्च करती है उसी प्रकार अपने भक्तों के लिये मैं भी अपना सब कुछ खर्च करता हूँ। बच्चे के न माँगने पर भी जिस प्रकार माँ वात्सल्य से दौड़ कर बच्चे के मुँह में अपना स्तन लगाती है उसी प्रकार मैं भी भोले भक्तों को अपने अनुसंधान में लगाता हूँ। ज्येष्ठ पुत्र और कनिष्ठ पुत्र इन दोनों का पालन करने वाला पिता एक ही होता है किन्तु वह बड़े बेटे को डाँटता है तो छोटे का लाड़ करता है। ज्येष्ठ यदि कोई व्यंग्य की बात करता है तो वह उसे चाँटा लगाता है और छोटा लड़का तुतला कर बोलता है तो उसे बड़ा संतोष होता है। ज्ञानी के मुँह से कोई गलत बात निकलती है तो उसके दोष का फल उसे भोगना पड़ता है लेकिन भोले भक्तों की कथा असंबद्ध भी हो तो भी भगवान को उससे सचमुच ही सन्तोष होता है। कर्माकर्म का प्रायश्चित्त ज्ञानियों को ही करना पड़ता है। भोले भक्तों को मैं कभी भी कर्म से बँधने नहीं देता। बाप भोजन करने बैठता है तो बड़े बेटे को अपने से दूर बैठाता है और छोटे बच्चे को गोद में बिठा कर अपने हाथ से खिलाता है। उस समय बच्चे को जो भी अच्छा लगता है वह उसे खिलाता है। वह नहीं खाता तो उसकी खुशामद करता है। उसी प्रकार ज्ञानी लोग साधनों का उपयोग कर जब थक जाते हैं तब कहीं उन्हें मेरी प्राप्ति होती है लेकिन अपने भोले भक्तों का मैं अनायास ही उद्धार करता हूँ। मार्गदर्शक जानते हुए भी रास्ता चूक जाता है लेकिन बच्चा बाप की गोद में रहता है उसे किसी भी प्रकार की परेशानी नहीं होती। उसी प्रकार साधनों का कष्ट केवल ज्ञानी को भोगना पड़ता है। भोले भक्तों का उद्धार मैं ही करता हूँ इसलिये उन्हें जरा भी प्रयास नहीं करना पड़ता। मैं उसे अपने कन्धे पर बिठाकर सायुज्य सिद्धि तक पहुँचाता हूँ। लेकिन जरा देखिये उसकी भोली बुद्धि कितनी विचित्र होती है। वह वहाँ भी भजनविधि नहीं छोड़ता। अंत:करण में कपट को स्थान देना, यही भजन की बाधा होती है। वह कितनी ही युक्ति प्रयुक्ति से विचार करे लेकिन मैं उसके विचारों से बाहर ही रहता हूँ। वही केवल जो भोला भावार्थी है उसे आचार-विचार का ज्ञान नहीं होता। बिना इधर-उधर मुड़े वह सीधे मुझमें ही आकर मिलता है। भोले भक्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को देखकर मैं ही दौड़कर उसकी अगवानी करता हूँ। सभी तरह से अपने भक्त की भक्ति पर आसक्त होने के कारण मैं दिन-रात उसी के पास रहता हूँ। जो सच्चे भोले भाले भक्त होते हैं वे भगवान को प्रिय हैं। उनकी क्या बात करें? उनके बिना आधा पहर रहने के ऐवज में कोई मेरी पसन्द के ढेर सारे उपहार दें तो वे भी मुझे नहीं चाहिये। ऐसे भोले भक्तों को मैं उत्तम भागवत मानता हूँ। स्वयं भगवान होते हुए मैं उनके चरणों पर गिर पड़ता हूँ। वे सचमुच ही उत्तम हैं। उनके लिये मैं भूखा रहता हूँ। उनके लिये मैं सदासर्वदा सावधान रहता हूँ। उनके लिये मैं दसों दिशाओं में भटकता रहता हूँ क्योंकि भोला भक्त परम दुर्लभ है। उद्धव! और बात क्या कहूँ? भोले भक्त को देखते ही मैं उसके प्रेमस्वरूप अपना पद उसे अर्पण करता हूँ। वैसे मोल ही लगाया जाय तो मेरे भक्त मुझसे भी अधिक श्रेष्ठ हैं। इसीलिये मैं उनके अधीन रहता हूँ और उनके वचन का कभी उल्लंघन नहीं करता। मैं उनके वचन का उल्लंघन कर ही नहीं सकता। वसुदेव और देवकी की शपथ लेकर कहता हूँ कि भजन के लिये भक्ति ही प्रमुख है। उद्धव! जिस प्रकार घृत के बिना भोजन व्यर्थ है, बाँझ स्त्री का मैथुन व्यर्थ है उसी प्रकार भक्ति के बिना भजन सचमुच व्यर्थ है। देखो! जहाँ भाव है वहाँ भाग्य रहता है। जहाँ भाव रहता है वहाँ निश्चित रूप से मैं रहता हूँ। जहाँ भाव रहता है अपने स्वभाव के अनुसार ईश्वर प्रकट होता है। जहाँ भाव रहता है वहाँ विरक्ति रहती है। जहाँ भाव होता है वहाँ शान्ति प्रकट होती है। जहाँ भाव होता है वहाँ आत्मबोध से भक्ति का विकास होता है। इस प्रकार भक्तों में मेरी भक्ति मेरे साथ ही स्वानंदपूर्वक नाचती रहती है। इसलिये जो भोले और भावार्थी होते हैं वही उत्तम भागवत हैं। जो अनजान भक्त हैं वे इस प्रकार मेरा भजन कर मुझे प्राप्त करते हैं। अब उत्तम भक्ति कैसी होती है यह तुम्हें बताता हूँ।

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम्।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम्॥ ३४॥

अनेक प्रकार के अवतारों की तरह शैव अथवा वैष्णवों द्वारा तैयार की गयी अनेक मूर्तियाँ, तीर्थ क्षेत्रों में जिनका विशेष महत्व है ऐसी मूर्तियाँ या जो मूर्तियाँ ईश्वर ने स्वयं ही बनायी होती है या मनुष्य अथवा किन्नरों द्वारा स्थापित की रहती हैं अथवा जो स्वयंभू ही उत्पन्न होती हैं, जिन्हें शास्त्रों में गंडकी मूर्ति कहा जाता है, उनमें से अनेक भक्तों पर अनुगृह करने के लिए आयी रहती हैं। अनेक दैत्यों तथा राक्षसों द्वारा बनायी रहती हैं। उनमें से अनेक तीन वर्णों के लोगों द्वारा अपने-अपने घरों में पूजन के लिये तैयार करायी रहती है। मेरी ऐसी मूर्ति का दर्शन लेने के लिये लोग तत्परता से दौड़ कर जाते हैं और उनकी पूजा करने के लिये लोगों के मन में अत्यन्त चाह उत्पन्न होती है। जो मेरे भक्त हैं वे मेरा ही स्वरूप होते हैं। मेरे संत स्वयं मैं हूँ। कंजूस का मन जिस प्रकार धन के लिये लालायित रहता है उसी प्रकार मेरा मन उनकी भेंट के लिये उत्कंठित रहता है। उन्हें मेरी मूर्ति की अपेक्षा संतों के भजन में अधिक संतोष प्राप्त होता है। घरबार छोड़कर साधुओं की संगत में ही उन्हें अत्यन्त सुख मालूम होता है। चिन्तामणि को जिस प्रकार जतन करके रखा जाता है उसी प्रकार वे सज्जनों की मर्यादा को जतन करते हैं। निज नये भजन करते हैं और उनकी पूजा करने में तो उनका मन तृप्त ही नहीं होता। पूजा का साहित्य एकत्र कर बड़ी श्रद्धा से मेरी पूजा करते हैं। एकान्त में मेरी पूजा करते समय यदि कोई साधु पुरुष घर में आ जाय तो वह उसकी पूजा न कर मेरी ही पूजा करता रहेगा, वह मुझे लात मारे या मेरा घात करने के लिये उद्यत हो जाय किसी स्त्री को एक ही लड़का हो और कोई उस लड़के के मस्तक पर लात मारे तो माँ को सहज ही गुस्सा आता है। फिर उस क्रुद्ध माँ का गुस्सा शान्त करने के लिये यदि उसे रेशमी साड़ी भी दी जाय तो भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसका गुस्सा शान्त नहीं होता। उसी प्रकार मेरे संतों का अपमान कर यदि मेरी पूजा की जाय तो मैं ही क्षुब्ध होता हूँ। इससे मेरी सेवा बिलकुल नहीं होती, उलटे उसके इस कार्य से मेरा क्षोभ ही बढ़ता है। संत मेरे प्रिय हैं, उनकी पूजा मुझे अच्छी लगती है। जो संतों के सेवक हैं उनके मनोरथ मैं पूर्ण करता हूँ। मुझ जैसे निरिच्छ को भी संतों की इच्छा रहती है। मेरी पूजाध्यान छोड़कर जो संतों को दण्डवत करता है वह सहस्र यज्ञों का फल मुझे ही अर्पण करता है। उसी ने समस्त तीर्थों में स्नान किया तथा जप-तपों का फल प्राप्त किया ऐसा समझना चाहिये। जिसने ससम्मान साधु को नमस्कार किया उसे सारी पूजाओं का सार प्राप्त हो गया। मेरी प्रतिमाएँ अचेतन मूर्ति होती हैं लेकिन संत मेरी सचेतन मूर्तियाँ हैं। पूर्ण श्रद्धा के साथ उनकी भक्ति करने से वह निश्चयपूर्वक मुझे प्राप्त होती है। प्रतिमाएँ कल्पना के अनुसार उत्तम बनायी जाती हैं, लेकिन संत तो साक्षात पुरुषोत्तम ही हैं। वे चलते-फिरते परब्रह्म ही हैं। इसलिये साधुसेवा अत्युत्तम है। मेरी मूर्ति तथा सत्पुरुष का इस प्रकार तत्परता के साथ भजन करते हैं यह निश्चय तो तुम्हें बता ही दिया। अब भजन का प्रकार सुनो। मेरी प्रतिमा तथा सोज्वल साधु को जिसकी आँखें नहीं देखतीं उन्हें दृष्टि होते हुए भी उनकी आँखें मोरपंख पर बनी आँखों की तरह अन्धी ही हैं। जिस प्रकार स्त्रियाँ, पुत्र और सम्पत्ति को देखकर आँखों को सुख प्राप्त होता है उसी प्रकार वह चाव से संत प्रतिमाओं का दर्शन करता है। उनका उत्कंठा से होने वाला दर्शन ही साक्षात सौन्दर्य है। समझ लो कि उसी से नेत्र सार्थक होते हैं। इस प्रकार नेत्रों से भजन होता है। संत मेरी ही मूर्ति है यह समझ कर जो उनकी ओर दौड़ कर जाता है और उन्हें आलिंगन करता है और आनन्द के कारण उनसे बाहें नहीं छुड़ाता, ऐसे संतों का आलिंगन करने से सारा शरीर ही पवित्र हो जाता है अथवा यह समझ लो कि मूर्ति के स्पर्श से ही शरीर पवित्र हो जाता है। जो तीर्थयात्रा पर नहीं गये, संतों की सेवा में नहीं रहे अथवा श्रीहरि के सभा मण्डप में नहीं नाचे वे पैर सर्वथा निरर्थक हैं। जो अनेक प्रकार के विषय सुखों के लिये नीच के आगे नाचता है उसे श्रीहरि के सभा मण्डप में नाचने के लिये कहने पर वह बैल की तरह बैठ जाता है। तीर्थयात्रा में जाते समय पुण्यक्षेत्र की ओर जाने में, हरिकीर्तन के जागरण में जाते समय, संतों के साथ चलने में अथवा श्रीहरि के रंगमण्डप में नृत्य करने में पैरों को जो श्रम होता है उसी का नाम 'पैरों का सार्थक' है। अन्य जगह जाने का अर्थ है अधःपतन की ओर जाना। उद्धव! इसी का नाम चरणों की पवित्रता है यह जान लो। सर्वथा निष्कपट रहकर कौड़ी से लेकर करोड़ों तक की राशि जिसने मुझे अर्पण कर दी उसके उस अर्पण कार्य को ही मेरा 'अर्चन' कहते हैं। धनधान्य गुप्तरूप से संग्रह कर बाह्यरूप से मेरी पूजा करना यह मेरा 'अर्चन' नहीं है। वह मेरे साथ कपट कर रहा है यह जान लो। स्वयं को खाने को मिले इस आशा से जो भगवान की मूर्ति के सामने पकवान रखता है और अतिथि के आने पर उसे अन्न भी नहीं देता, यह कोई मेरा अर्चन नहीं है। पूजा करते समय हाथ पवित्र होते हैं और वही हाथ भगवान को अच्छे लगते हैं। जो भगवान की पूजा नहीं करते वे हाथ प्रेत के ही होते हैं यह जान लो। हाथ से ईश्वरमूर्ति की पूजा न कर तथा सत्पात्र को दान न देकर, यदि उन हाथों में रत्नजड़ित अँगूठियाँ और आभूषण पहने जाएँ तो वह प्रेत को आभूषण पहनाने की तरह है। हरिकीर्तन करने से अथवा अखण्ड नामस्मरण से ही वाणी सार्थक होती है। 'जयजयकार' की गर्जना से ही त्रिभुवन पावन हुए हैं। जिसकी वाणी रामनाम की गर्जना से सदा गरजती रहती है, वहाँ कलिकाल को भी शरण नहीं मिलती। पाप तो दूर भाग जाते हैं। कर्मदरिद्री लोग हरि का नाम छोड़ व्यर्थ की बातें करते रहते हैं। उनकी बातों को टट्टी के समय होनेवाली आवाज की तरह समझना चाहिये। हरिनाम के उच्चार से होने वाले सुख का आनन्द जिसके मुँह लग जाता है उसका मुँह सदा मेरी ओर ही रहता है और मैं सदा उसके पास रहता हूँ। विविध प्रकार के गद्य पद्यात्मक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्रोत, कुशलता से रचे हुए पद, अनेक वृत्तों में रचे हुए चित्र-विचित्र लीलात्मक चरित्र तथा इसी प्रकार के स्तुतिसुमन भगवान को अर्पण करने चाहिये। धैर्य, स्थैर्य, उदारता, मेघ की तरह सुन्दर कांतियुक्त सौन्दर्य, शौर्य, वीर्य, अतीव मधुरता एवं सद्गुणों का गाम्भीर्य आदि गुण ही गोविन्द रूप में एक साथ अवतरित हुए। भगवान त्रिविक्रम के रूप में बली के द्वार पर द्वारपाल बनकर खड़ा हुआ और उसी द्वार से द्वारका में आकर कुश का उद्धार किया। वही श्रीहरि आज भी सशरीर समुद्र किनारे पर खड़ा है। श्रीहरिरूप से सजी कोमल शोभा देखकर राक्षस, देवतागण और मानव भी उसे प्रणाम करते हैं। वही समुद्र में मत्स्य बना, नासिका के द्वार से वही वराह बना, वही नृसिंह के रूप में खंभे में अवतरित हुआ और यशोदा के मन्दिर में वही पला बढ़ा। वही कठोर पीठ वाला कछुआ बना और बली का छल करने के लिये वही वामनमूर्त्ति बना। उसके निःश्वास से होने वाले स्फुरण से वेदवाद का स्वर उभरता रहता है। चोर पत्नी को लेकर भाग गया इसलिये वह उसके लिये रोता है, जंगलों में भटकता है, उसके पास एक भी गुण नहीं है। अन्त में वह कुब्जादासी के साथ भी रममाण हुआ। स्तुति करते समय गुणकर्मों की तरह कीर्तन करना भी उसका ही नाम है यह जान लो। अब प्रह्म अर्थात् नमन का भी निरूपण सुनो। मेरी प्रतिमा का दर्शन कर अथवा संतजनों को देख देहाभिमान छोड़ जो भक्तिभाव से दण्डवत करता है, साधुजनों को प्रणाम करने से भी जिसका मन तृप्त नहीं होता और विनीत होकर बार-बार चरणों पर मस्तक रखता है, यह व्यवहार 'नमन' कहा जाता है। भगवद्भक्तों के चरणों की धूल जो स्वयं होकर माथे से नहीं लगाता, वह जीवित होते हुए भी प्रेत समान है। प्रेत की ही तरह वह अमंगल रहता है। लौकिक की लाज छोड़ जो अपनी खुशी से वैष्णवों की चरणधूली में लोटता रहता है, उसका व्यवहार ही मेरी भक्ति का विकास है। इस प्रकार प्यार से नमन करने से मान-अपमान सहज ही छूट जाता है। इसके लिये मेरा कीर्तन श्रवण करना चाहिये। इसके लिये हे उद्धव! श्रवणादि भक्ति का लक्षण सुनो।

मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम्॥ ३५॥

दृढ़ आस्तिक्य बुद्धि से अंतःकरण में समाधान होना इसी का नाम शुद्ध श्रद्धा है। आदर के साथ कथा श्रवण करने से उसमें निहित भावार्थ के कारण मन विचलित नहीं हेाता। ऐसा श्रोता अपना श्रवणेन्द्रिय तथा मन वक्ता के भाषण से निबद्ध करके रखता है। श्रवणार्थ बुद्धि की वृद्धि करता हे और वह भावार्थ से कथा में बिक जाता है। दूध पीने का मौका खोजने के लिये जिस प्रकार बिल्ली ताक लगा कर बैठती है उसी प्रकार कथा का सार ग्रहण करने के लिये निरन्तर उल्हास रखना चाहिये। कान में रत्नजटित कुण्डल पहनने से कान की शोभा नहीं बढ़ती बल्कि श्रवण करना यही कान का भूषण है। कथाश्रवण से ही कान का सार्थक होता है। भक्त स्वयं कितना ही अच्छा वक्ता हो, पुराणों में निष्णात हो फिर भी वह अत्यन्त प्रेम से आदरपूर्वक हरिकथा श्रवण करता है। जो हरिकथा सुनने के लिये श्रवणेन्द्रिय से सावधान रहता है वही भावार्थ का मनन कर सकता है। भले ही कथा का निरूपण समाप्त हो जाय लेकिन उसका मनन समाप्त नहीं होता। ऐसा मनन हो तो सहज ही मेरा ध्यान लग जाता है भले ही वह निर्गुण हो या सगुण हो। प्यारा होना ही ध्यान का प्रमाण है। लेकिन उद्धव! ध्येय, ध्यान और ध्याता इन तीनों की एक साथ भेंट नहीं होती तभी तक यह ध्यानावस्था रहती है यह जान लो जिसके अंतःकरण में ध्यान के प्रति चाह होती है, जिसके मन में मेरे प्रति प्रेम भावना होती है और उद्धव! जब सहस्त्रों जन्मों का भाग्य रहता है तभी इतना लाभ प्राप्त होता है। निष्काम मन से जब जन्म-जन्मांतर से साधना की जाती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है तभी दृढ़ विश्वास के साथ मेरा ध्यान लगता है। जब मेरा दृढ़ ध्यान लगता है, अनन्यभाव से मेरा भजन होने लगता है तभी वह समस्त पदार्थों के साथ मुझे आत्मसमर्पण करता है। वेदों में कही गयी क्रियाओं से अथवा लौकिक रूढ़ियों से मान्य क्रियाओं से अथवा देहसम्बन्धी क्रियाओं से भले ही अलौकिक लाभ हो जाएँ लेकिन भाविक भक्त उनका स्वीकार नहीं करते। वैदिक लाभ में तो स्वर्ग से लेकर सत्यलोक तक के सभी दिव्य भोग प्राप्त होते हैं लेकिन भक्त उन भोगों को हाथ तक नहीं लगाते। वह आनन्दपूर्वक भजन करता है और उसी में तृप्त रहता है। लौकिक लाभों का समुदाय ही है कल्पतरु, कामधेनु तथा चिन्तामणि। लेकिन भक्त उन्हें भी कृष्णार्पण कर आनन्द से हरिभजन करता है और उसी में तृप्त रहता है। गजांतलक्ष्मी घर में आये यही दैहिक लाभ की पराकाष्ठा है। लेकिन भक्त उसे भी कृष्णार्पण करता है और तृप्तिभाव से भजन करके सन्तुष्ट रहता है। ब्रह्मपद प्राप्त होने तक के सभी लाभ हेय समझ कर जो भक्त अपने प्राण तक बेच देता है और सब कुछ मुझे अर्पण करता है, जो मेरी सेवा के लिये प्राण बेचता है, वह आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाता। वह मेरी ही कथा, मेरा ही ध्यान और मेरा ही महोत्सव करता है।

मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वामुमोदनम्।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥ ३६ ॥

ध्यान की स्थिति में ध्यान करता है अन्यथा कथानिरूपण करता है। निरन्तर मेरी ओर ध्यान देने के प्रति दक्ष रहता है। मन को खाली नहीं रहने देता। मेरे जन्म और लीलाओं का निरूपण करने में उसे परम आनन्द मिलता है और ऐसी स्थिति में उसका शरीर रोमांचित हो जाने के कारण प्रेम से कथा और भी अधिक उल्हसित होती है। हरिकथा का रहस्य सुनकर भी जिसका हृदय द्रवित नहीं होता वह जल में रहकर भी शुष्क पाषाण की तरह है। मेरी भक्ति का लक्षण सुनो। वह पुण्यदिवसों पर व्रत करता है और दीनों के उद्धार के उपाय स्वयं करता है और दूसरों से कराता है। भागवत धर्म के विशेष पर्व नृसिंहजयंती, रामजयन्ती, वामनजयन्ती, कृष्णजन्माष्टमी तथा शिवरात्रि तो उत्तम से उत्तम हैं। वैष्णवों के लिये शिवरात्रि विरुद्ध है यह कहना अत्यन्त असंगत है। कोई पुराण उसके विरुद्ध नहीं है ऐसा व्यासजी भी स्पष्ट रूप से कहते हैं। शंकर तमोगुण से काला ही था किन्तु विष्णु का ध्यान कर वह शुद्ध हो गया और विष्णु शिव के ध्यान से काला हो गया। इस प्रकार ये दोनों एक-दूसरे के गुणों से सुशोभित हो रहे हैं। इसलिये शंकर गाय के दूध की तरह श्वेत है और विष्णु अत्यन्त सुन्दर घनश्याम है। ध्यान का महत्त्व इतना बड़ा है कि उनमें से प्रत्येक जन इस प्रकार दूसरे का ध्यान कर उसके गुणों से व्याप्त हो गया। जब मूलरूप से ही दोनों में एकता है तो उपासकों को ही उसमें विरोध क्यों मालूम होता है? इसीलिये शिवरात्रि का पर्व वैष्णवों के विरुद्ध नहीं। यह व्रत सभी के लिये पवित्र है। जो पर्व भगवान को प्रिय है, जो सारे कल्याणों की खान है जो दोनों ही पक्षों का तारक है और जो वैष्णवों की जननी है ऐसी यह एकादशी है। यह एकादशी शुक्ल और कृष्णपक्ष की विधि से भक्तों को कन्धे पर बिठाकर उन्हें सायुज्यसिद्धि देकर मोक्ष पद पर बिठाती है। यदि कोई शुक्ल एकादशी का व्रत करता है और कृष्ण पक्ष की एकादशी का व्रत छोड़ देता है तो केवल एक ही पक्ष का व्रत उसे सायुज्य तक कैसे पहुँचा सकता है? दो पक्ष होने से पक्षी उड़ सकता है। उनमें से एक को उखाड़ देने से वह उड़ नहीं सकता। उसी प्रकार कृष्ण का त्याग करने से सायुज्य तक नहीं पहुँच सकता। उसी प्रकार एकादशी है। उस एकादशी के दिन जो भी उत्सव किया जाता है वह मुझमें ही आकर मिलता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। जो एकादशी का व्रत करता है उसके घर में मैं सदा विचरण करता रहता हूँ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्योंकि सभी पदों में सर्वश्रेष्ठ मेरी एकादशी ही है। एकादशी का व्रत करने वाला जो मेरा भक्त है वह व्रत, तप तथा तीर्थों का राजा है। मुझ गरुड़ध्वज को वह प्रिय है। वह मेरे परिवार का ही है। मेरे भक्त जब घर आते हैं उस समय सभी पर्व उसके द्वार पर आकर खड़े हो जाते हैं। वैष्णवों को तो वह समय दीपावली तथा दशहरे की तरह आनन्ददायक मालूम होता है। चन्द्रसूर्यादि ग्रहण भी उस दिन पर न्योछावर हो जाते हैं। कपिलाषष्ठी तो उसकी दासी बनकर रहती है, फिर अर्घोदय को कौन पूछता है? मेरे भक्तों के आगमन से उल्हास मन में नहीं समाता। उसके लिये सारा धनधान्य खर्च हो जाए तो भी वह नाचता रहता है। ऐसा मेरे भक्तों का प्यार, और उनकी संगति की जो मधुरता है उसी का नाम है भक्ति का उत्कर्ष। जिस दिन संतों का घर पर आगमन होता है उस दिन मानों करोड़ों पर्वों का पुण्य ही प्राप्त हो जाता है। संत घर आते हैं वह दिन वैष्णव पर्व ही समझता है, श्रीहरि का मन्दिर सजाता है, तोरण बंदरवार तथा पताका फहराता है तथा उत्सव मनाता है। संतों को आदर के साथ बिठा कर बड़े चातुर्य से कीर्तन का प्रारम्भ करते हैं, प्रेम से नाचते-गाते हैं और बड़ी उत्कंठा से अंगविक्षेपादि का प्रदर्शन करते हैं। टाल, वीणा, मृदंग आदि बड़ी कुशलता से बजाते हैं और अनेक प्रकार के चरित्रों को गा बजाकर गरजते हैं तथा हरिनाम का जयघोष करते हैं।

यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम्॥ ३७॥

अब दीक्षा का लक्षण सुनो। वैदिक तथा तांत्रिक, ये दो प्रकार की दीक्षाएँ हैं, वेदोक्त ग्रहण करना वैदिक दीक्षा होती है तथा पुराणोक्त ढंग से ग्रहण करने को तांत्रिक दीक्षा कहते हैं। वैष्णव व्रत को ग्रहण करना पड़ता है। यही मेरा वैष्णवव्रत धारण करने का पुराणोक्त शुद्ध लक्षण है। वैष्णवव्रत धर्म का पालन करने के लिये प्रतिवर्ष आने वाले पर्वों को यथाविधि मनाना चाहिये। चातुर्मास में बताये गये एकादशी आदि व्रत एवं जयंतियाँ मनानी चाहिये। शयनी, कटिनी, प्रबोधिनी, पवित्रारोपणी, नीराजनी, वसंतदमनकारोपणी आदि जयंतियाँ अनेक पर्वकालों में समारोहपूर्वक मनानी चाहिये तथा नाना प्रकार की पूजा, नीरांजन तथा दीपमालाएँ जलाकर, मृदंग टाल आदि वाद्यों के गजर के साथ करनी चाहिये तथा अत्यन्त उल्हासपूर्वक यात्रा पर निकलना चाहिये। दिंडी, पताका तथा ध्वज लेकर नामघोष से गर्जना करनी चाहिये। जिस देवता की यात्रा पर निकलना है, उस देवता को घर लाना चाहिये। जिस मूर्ति पर भक्ति हो उसी मूर्ति की स्थापना करनी चाहिये।

ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि॥ ३८॥

मूर्ति उत्तम ढंग से तैयार करवानी चाहिये। वह ठीक-ठाक, सुडौल तथा मनोहर होनी चाहिये। उसे देखकर वह निर्दोष, भव्य एवं कोमल है ऐसे उद्‌गार साधु के मुख से निकलने चाहिये। मूर्ति सुघड़ हो पर कृश न हो, वह अधोमुख न हो, वह स्थूल और ऊर्ध्वमुख भी न हो और न रोती दुर्मुख ही हो। वह स्थूलकाय और विद्रूप मुँह वाली भी न हो और न अति दीन दीखने वाली ही हो। वह ऊर्ध्वा दृष्टि अथवा अधोदृष्टि वाली भी न हो। उसका मुख विकराल न हो। शरीर से सुन्दर किन्तु नाक से हीन न हो अथवा ऊपर का भाग पुष्ट और पैर कृश न हो, मोटी तथा नाटी न हो, अथवा आकार में बहुत बड़ी न हो। मूर्ति नाजुक हो तथा उसकी आँखें सुन्दर हों। सारे अवयव पुष्ट हों तथा देखने में वह सुप्रसन्न हो। अंग, उपांग में कोई न्यूनता न हो। वह उत्तम चिन्हों से युक्त तथा सुलक्षणी हो और उसके हाथ में आयुध हों। उसे देखते ही तन-मन तृप्त हो, जिसका दर्शन होते ही भूख-प्यास

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का स्मरण न हो। साथ ही वह नाजुक हो तथा चेहरे पर कृपा की छटा अंकित हो। जो मूर्ति देखते ही मन में बस जाय, सबको अच्छी लगे और प्रेमपूर्वक उसकी ओर देखते ही अंत:करण में प्रेम उमड़ पड़े ऐसी हो। वह किंचित हास्यमुख हो, मुद्रा अत्यन्त प्रसन्न हो। जिसके लावण्य के तेज से मन प्रसन्न हो उठता है वही है सर्वांगसुन्दर मूर्ति। वहाँ बड़े-बड़े साधुओं को एकत्र कर एकनिष्ठा से अग्न्युत्तारणादि विधि करना चाहिये और उसकी आँखों का आच्छादन निकाल कर किसी महान व्यक्ति के हाथों उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करनी चाहिये। विस्तृत देवालय बनवाना चाहिये। उसके चारों ओर वन, उद्यान तथा उपवन बनवाना चाहिये। खेत, बगीचे, तालाब तथा कुएँ बनवा कर सारा स्थान रमणीय एवं विश्राम करने योग्य बनाना चाहिये। अनेक प्रकार के वृक्ष लगाने को 'वन' कहते हैं, केवल भक्ष्य फलों के पेड़ लगाने को 'उपवन' कहते हैं और केवल फूलों के पेड़ लगाने को 'उद्यान' कहते हैं। यह सारी तैयारी कर उसे कृष्णार्पण करना चाहिये। चारों ओर व्यापारी आकर बाजार का निर्माण कर सकें इसलिये नगर बसाना चाहिये। रात-दिन वेदाध्ययन शास्त्रश्रवण तथा कीर्तन होना चाहिये। इतना करने का सामर्थ्य न हो तो धनी लोगों से सहायता लेकर, भक्तिपूर्वक कार्य सम्पन्न कराना चाहिये अथवा भगवद्भक्तों को एकत्र बुला कर, उनमें जो श्रीमान हों उनसे सहायता लेकर उस धन से यह कार्य सम्पन्न कराना चाहिये। एक बार देवता की प्रतिष्ठा करने के बाद जो पुन: उधर नहीं आता वह आलसी तथा अभागा है यह जान लो। वह सच्चा भक्त नहीं है। जो मूर्ति की प्रतिष्ठा करने का कर्त्तव्य जानता है, धन खर्च कर भक्ति भी कायम रखता है, वह छोटे कामों में भी सहभागी होता है और झाड़ू लगाने से भी पीछे नहीं हटता।

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद् यदमायया॥ ३९॥

शिष्य तथा सेवक होते हुए भी जो प्रतिष्ठा और सम्मान को छोड़ स्वयं दंभरहित होकर देवालय में सफाई आदि करता है और बड़े कौशल से रंगोली सजाता है, उनमें नानाप्रकार की आकृतियाँ निकाल कर उनमें अनेक प्रकार के सुन्दर रंग भरता है उसे मेरे भजन में नितांत प्रेम रहता है। किसी गरीब भिकारी की तरह वह मेरी सेवा करता है, निम्न स्तर सेवा करने में उसे बड़ा आनन्द आता है। मेरे भजन में वह कृत्रिमता नहीं लाता।

अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम्।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्॥ ४०॥

अनेक प्रकार की सम्पत्ति खर्च कर यहाँ देवालय बनवा कर देवता की प्रतिष्ठा की, मैं एक बहुत बड़ा भक्त हूँ इस बात का अहंकार नहीं किया। मन में सच्ची भक्ति न होते हुए भी बाह्य रूप से प्रयास कर भक्ति का जो विस्तार करता है वह ढोंग की कृति है, भक्त उसका स्पर्श भी नहीं करते। भक्त को अभिमान नहीं करना चाहिये। मान-सम्मान की इच्छा नहीं करनी चाहिये, दांभिक भजन कभी नहीं करना चाहिये और किसी भी विषय की अभिलाषा नहीं करनी चाहिये। जो भी अनुभव आये, अथवा देवालय के निर्माण में जो खर्च हुआ हो अथवा जो भी दान दिया हो उसका कभी उल्लेख नहीं करना चाहिये। यजमान जब अपनी की हुई बातों का स्वयं ही बखान करता है तो वह सब निष्फल हो जाता है। प्राण निकलने के बाद जिस प्रकार प्रेत शेष रह जाता है उसी प्रकार वे सारे धर्म निष्प्राण रह जाते हैं। किसान बुआई कर उसे ढँक देता है तभी अच्छी फसल उपजती है। उसी प्रकार दान का उल्लेख न करने से ही वह फलदायी होता है। हम जब देवता को कुछ अर्पण करते हैं अथवा कोई अन्य भगवान को कुछ अर्पण करता है तो हमें उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये। वह पुजारीपन का दोष होता है। देवता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का प्रसाद ग्रहण करते समय भी लालचवश पूरा प्रसाद नहीं लेना चाहिये। पहले उसे सबको बाँटना चाहिये और फिर थोड़ा-सा ग्रहण करना चाहिये। श्रीहरि को जो दीपक समर्पित करते हैं उससे अपने घर का काम नहीं करना चाहिये। पुराणों में तथा ज्ञानसम्पन्न स्मृतिकारों ने ऐसा ही कहा है। यह तो साधारण बाह्यपूजा हुई। लेकिन अंत:करण में मुझ पर दृढ़ विश्वास और भक्ति होनी चाहिये। वही भक्ति भगवान को प्रिय है। भाविकों की पूजा भक्ति से ही पूर्ण होती है। अब भक्ति का रहस्य सुनो। जिस भजन के कारण 'भक्त' कहा जाता है वह भजन ऐसा है कि इस लोक में जो भी उत्तम और प्रिय वस्तु होती है उसे वे मुझे ही अर्पण करते हैं।

यत् यदिष्टतमं लीके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते॥ ४१॥

अधिक क्या कहें ? यदि भक्त को सचमुच चन्द्रामृत भी प्राप्त हो जाय तो वह सारा का सारा भगवान को ही अर्पण कर देता है। देह के लोभ के कारण स्वयं सेवन नहीं करता। अमरत्व प्राप्त करने के लोभ से यदि अमृत का सेवन किया जाय तो देवतागण अमृतपान करते हुए भी यथाकाल मर ही जाते हैं। इसलिये नश्वर देह की ममता से भक्त अमृतपान नहीं करते। यदि वही भगवान को अर्पण किया जाय तो अक्षय अमरत्त्व प्राप्त होता है। याचना किये बिना अथवा दैवयोग से पारस अथवा चिन्तामणि भक्त के हाथ में आने पर वह उसे लोभ से अपने पास नहीं रखता, उसे तत्काल भगवान को अर्पण कर देता है। लोभ से कल्पतरु जतन करने से सहज ही इच्छा बढ़ती है लेकिन वही कल्पतरु भगवान को अर्पण करने से अपने आप निरिच्छता प्राप्त होती है। स्वार्थवश चिन्तामणि पास में रखने से वह अंत:करण में अत्यन्त चिन्ता ही उत्पन्न करता है। वही यदि भगवान को अर्पण कर दिया जाय तो अंत:करण निश्चिंत हो जाता है। कामधेनु का प्रतिपालन करने से मन में असीम इच्छा की वृद्धि होती है लेकिन यदि उसे कृष्णार्पण कर दिया जाय तो देह में पूर्ण निरपेक्षता रहती है। आशा के चक्कर में पारस पत्थर पास में रखने से वह धनलोभ बढ़ाता है लेकिन उसे भगवान को अर्पण कर देने से मनुष्य स्वार्थ से मुक्त हो जाता है अथवा देश, काल और ऋतु के अनुसार जो उत्तम फल या पदार्थ उत्पन्न होते हैं या नया अन्न उत्पन्न होता है उसे भक्तगण भक्तिभाव से मुझे ही अर्पण करते हैं। अपने मन की सारी प्रिय चीजें वे हरिचरणों की ओर ही प्रस्तुत करते हैं। साथ ही भिन्न-भिन्न पदार्थों का स्वाद भी वे मुझे ही समर्पित करते हैं। मुझ अनन्त के हाथों में मेरे भक्त प्रेमपूर्वक जो भी अर्पण करते हैं उनके फल का वर्णन करते समय वेद भी मौन हो जाते हैं। मैं तो वेद का वक्ता हूँ किन्तु मैं भी उनके फल का वर्णन नहीं कर सकता। हे उद्धव! अब यह जान लो कि उनका फल मैं स्वयं ही हूँ। हे उद्धव! प्राणों से भी अधिक मुझ पर जो प्रेम है उसी का नाम सच्ची भक्ति है यह ध्यान में रखो। अब जिससे मुझे तत्काल पा सकते हो, वे मेरी पूजा के अत्यन्त पवित्र और कल्याणकारी स्थल तुम्हें बताऊँगा।

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवःखं मरुजलम्।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे॥ ४२॥

एकादश स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय में ग्यारह पूजास्थलों का वर्णन है उनका वर्णन एका जनार्दन ऐक्यरूप से करेगा। सूर्य, अग्नि और ब्राह्मण; गौ, वैष्णव और आकाश, वायु, जल और पृथ्वी ये नौ स्थल तथा एक स्वयं इस प्रकार दस स्थल हमें अत्यन्त पूजनीय हैं। सभी पंचमहाभूतों में यह ग्यारहवाँ पूज्य पूजास्थान है, यह जान लो। अब उनकी पूजा का विधि-विधान और लक्षण सुनो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत् माम्।
आतिथ्येन तु विप्राग्रे गोष्वङ्ग यवसादिना॥ ४३॥

सूर्य मेरा अधिष्ठान है। जिस तेज के योग से सारे संसार की आँखें देखने में समर्थ होती हैं वह मेरे ही तेज से प्रकाशमान होता है। घर में दीपक जलाने पर उसका प्रकाश खिड़की के बाहर दिखायी देता है। उसी प्रकार मेरे स्वरूप में मेरा जो आत्मतेज होता है वही सूर्य के रूप में बाहर प्रकाशित होता है। आकाश में दिखायी देने वाला वह सूर्य मैं नारायण ही हूँ यह जान लो। मेरे उसी सूर्य के सौरसूक्त और त्रैविद्या ये उपासनामंत्र हैं। ऋग्वेदादि तीनों वेद, सारे सौरमंत्र तथा सूर्यसूक्त को ध्यान में रख कर सूर्य के समक्ष पठन करते समय सूर्य की ज्ञानपूर्वक पूजा करनी चाहिये। लेकिन ऐसा कभी नहीं कहना चाहिये कि यह वैदिकों की उपासना है, जो वेदों का पठन करते हैं उनके ही लिये वह उपयुक्त है और अज्ञानियों के लिये सूर्य की उपासना योग्य नहीं है। अब जिससे सूर्य तत्काल प्रसन्न होंगे ऐसी एक सरल उपासना तुम्हें बताऊँगा उसका ध्यानपूर्वक श्रवण करो। सभी वेदों की माता, सारे मंत्रों का मुकुटमणि जो गायत्री है उन्हें श्रेष्ठ वर्णों के ब्राह्मणों को भली-भाँति जान लेना चाहिये। उसके अर्थ की ओर ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि सूर्य उसके अधीन रहता है। उन तीन चरणों के गायत्री मंत्र से तीन बार अर्घ्य देने को ही 'त्रैविद्या' कहते हैं। अर्धमात्रा, अर्धबिम्ब ध्यान तथा त्रिपदा गायत्री से अर्घ्य प्रदान करने से चिद्धन परमात्मा को सन्तोष प्राप्त होता है और वह भक्त को अपनी तरह कर लेता है। यह मेरा पहला अधिष्ठान है। इसी का नाम है 'सूर्यपूजा'। अब अग्निपूजा का जो लक्षण है उसे विस्तारपूर्वक और सम्पूर्ण सुन लो। शरीर के सब अंगों में मुख श्रेष्ठ है। वह मेरा मुख अग्नि है, यह जान लो। यही बात सारे वेद और पुराण गरज कर कह रहे हैं। ब्राह्मण मुझे सब में प्रिय हैं, वे मेरे मुख के बल पर श्रेष्ठत्व प्राप्त करें इसलिये मैंने उन्हें अग्नि की सेवा में लगाया लेकिन वहाँ भी वे चूक गये। मेरे मुख में अवदान डाल कर 'इन्द्राय स्वाहा' कहते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण कर्म मार्ग में फँस गये और मुझे अर्पण करने का शुद्ध मार्ग वे भूल गये। मेरे मुख में अवदान अर्पण करते समय उनकी योग्यता ही उनके आड़े आयी इसीलिये इन्द्र, यम, वरुण, सूर्य आदि अनेक प्रकार के विकल्प अवदानों में उत्पन्न हो गये। वे यह भी नहीं मानते कि देवी और देवता मैं ही हूँ। मुझे भूलकर ही उनका सारा व्यवहार चलता रहता है। त्रिभुवन के लोग जिन-जिन बातों का सेवन करते हैं वह सब मेरे मुख में ही अर्पण होता है। लेकिन याज्ञिक लोग इसे स्वीकार नहीं करते क्योंकि कर्म के प्रति उनका विकल्प रहता है। इस प्रकार ये ब्राह्मण विकल्प बुद्धि होकर अभी भी सन्देह में पड़े हुए हैं यह ध्यान में रखो। वेदशास्त्रों का अध्ययन करने के बाद भी मुझे किस तरह अर्पण करना चाहिये इस सम्बन्ध में वे ठीक से नहीं बताते। उनकी एक समिधा से भी मेरा मन तृप्त होता है, तिस पर एकाध और होमद्रव्य अर्पण करने से मेरे मुख को अत्यन्त सुख होता है। उन्हें मैं अपना सर्वस्व अर्पण करता हूँ। मुझे आशारहित से प्रेम है इसलिये मैं निरिच्छ हाथों की प्रतीक्षा करता रहता हूँ। उनसे मिलने वाले छोटे से छोटे ग्रास की भी मैं प्रतीक्षा करता रहता हूँ। उनके निर्विकल्प हाथों से, भक्ति भाव से अग्नि को जो कुछ अर्पण होता है, भले ही वह तृण हो, काष्ठ हो या तिल हो या घृत हो, वह चित्स्वरूप मैं ही सेवन करता हूँ। इस प्रकार मैंने अग्नि की उपासना के रूप में दूसरे स्थल की पूजाविधि बतायी। अब ब्राह्मण भक्ति कैसे की जाय सुनो। उद्धव! पूजा में अत्यन्त श्रेष्ठ और मेरी प्राप्ति का शीघ्र मार्ग पूछोगे तो ब्राह्मण मेरी पूजा का श्रेष्ठ स्थान है। उनके भजन का एक आश्चर्य यह है कि उसमें जो भी कोई विघ्न आता है वह उन्हें देखते ही दूर भाग जाता है। इसलिये उनके चरणों पर मस्तक रखकर उनके चरणों की धूल शिरसावंद्य करनी चाहिये। आवाहन और विसर्जन के अतिरिक्त शालिग्राम में मेरा अधिष्ठान रहता है लेकिन वे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शालिग्राम केवल अचेतन रहते हैं और ब्राह्मण तद्रूप होते हुए सचेतन रहते हैं। मैं जनार्दन वस्तुतः अव्यक्त स्वरूप हूँ लेकिन वही मैं नारायण रूप में पृथ्वी पर ब्राह्मणरूप में व्यक्त हुआ हूँ। इसीलिये ब्राह्मणों को भूदेव कहते हैं। ब्राह्मणों के मुख से ही वेदों की महिमा की वृद्धि हुई है। ब्राह्मणों के कारण ही यज्ञ, दान, तप, तीर्थ आदि को श्रेष्ठत्त्व प्राप्त हुआ है, ब्राह्मणों के योग से ही देवताओं में प्रेमभाव उत्पन्न हुआ है और ब्राह्मणों के मुख से ही ब्रह्मा को ब्रह्मत्व प्राप्त हुआ है। उन ब्राह्मणों का अपमान करने से यज्ञदेवताओं का अपमान होता है। उसी प्रकार वेद, तप, दान, तीर्थ आदि का भी अपमान होता है। अधिक क्या कहें, वास्तव में परब्रह्म का भी अपमान होता है। त्रैलोक्य में भी मैं समा नहीं पाता इसलिये मैं त्रैलोक्य से भी बड़ा हूँ, किन्तु ब्राह्मण मुझसे भी बड़े हैं क्योंकि उनमें मैं वेदरूप नारायण अंतर्भूत कर रहा हूँ। ब्राह्मण का चरण हृदयस्थल पर रखने के कारण ही मुझे अत्यन्त पवित्रता प्राप्त हुई है। लक्ष्मी की उपेक्षा करने पर भी वह मेरे चरणों के निकट बैठती है और मेरा चरणतीर्थ शंकर भी अपने मस्तक पर धारण करते हैं। इसलिये ब्राह्मण पूजनीय हैं इसे ध्यान में रखो। उनके चरण धोने का काम मैं स्वयं करता हूँ। मैं स्वयं होकर उनकी जूठन उठाता हूँ फिर दूसरों की क्या बिसात है ? मेरा प्रमुख आवास और मेरी सारे उपचारों के साथ पूजा करने का स्थान अथवा दान, मान, मिष्ठान्न आदि सब एक ब्राह्मण की विधियुक्त पूजा में है। एक को नियम शालिग्राम का तो एक को स्थापित लिंग का होता है, किसी को गणेशजी का नियम रहता है तो किसी को सूर्य के दर्शन का। किसी को तुलसी का नियम रहता है तो किसी को हाथ में बँधे हुए अनन्त का किन्तु जिसे ब्राह्मण का नियम रहता है ऐसा भाग्यवान दुर्लभ है। जो नित्य नियम से ब्राह्मण की षोडषोपचार पूजा करता है वही भक्ति का राजा और मेरी आत्मा है। जो अलग-अलग देवताओं की उपासना नहीं करता और जीवभाव से ब्राह्मण का ही भक्त रहता है उसे मैं अनर्थ से बचाकर उसका स्वार्थ सिद्ध करता हूँ। ऐसे ब्राह्मणों के भक्तों से पृथ्वी भी पवित्र होती है। गंगा भी उसके पुनीत पैरों के तीर्थ की इच्छा करती है। मैं तो उन्हें शिरसावंद्य करता हूँ। देखो तो, मैं बिला मोल लिये उसका सेवक बन गया हूँ। ब्राह्मण की सेवा में मुझे अलौकिक और असीम सुख प्राप्त होता है। जो नित्य नियमानुसार ब्राह्मण की पूजा करता है वह भगवान का प्रिय बनता है। इसीलिये चारों बाहें फैलाकर उसे आलिंगन देने से ही मेरा मन शान्त होता है। ब्राह्मणों द्वारा स्नान किये हुए जल में जो भक्तिभाव से स्नान करता है उसका उसी काल में अवमृथ स्नान हो जाता है। ब्राह्मणों के चरणों का तीर्थ देखते ही दोष और पातक भाग जाते हैं। इसलिये उसी तीर्थ का भक्तिभाव से सेवन करने से सभी दोष दूर हो जाते हैं। जो नित्य नियमपूर्वक ब्राह्मण के चरणों का तीर्थ सेवन करता है वह स्वयं तो तीर्थस्वरूप होता ही है, साथ ही उसके योग से जड़ जीव भी पुनीत हो जाते हैं। उन ब्राह्मणों की पूजा करते समय अभ्यंग तैलस्नान, पुष्प, चन्दन, आसन, भोजन तथा यथाशक्ति धनधान्य भी देना चाहिये। ब्राह्मण को भोजन प्रिय है और सभी दानों में अन्नदान श्रेष्ठ है, इसलिये उत्तम पकवान तैयार कर ब्राह्मण मेरा ही स्वरूप है इस भावना से उन्हें भोजन कराना चाहिये। कुछ लोग ब्राह्मणों का अपमान कर उन्हें भोजन कराते हैं, कुछ ऊब कर देते हैं, कुछ निर्भत्सना करके देते हैं तो कुछ चिढ़-चिढ़कर देते हैं लेकिन हमें वैसा नहीं करना चाहिये क्योंकि ब्राह्मण मेरा स्वरूप है इसे ध्यान में रखो। उनका आदरातिथ्य कर उन्हें यथाशक्ति भोजन कराना चाहिये। अगर भोजन के समय कोई अज्ञानी अतिथि आ जाय तो उसके साथ छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। वह भी मेरा ही रूप होता है इसलिये उसे भी अन्न देना चाहिये। अतिथि यदि विन्मुख चला जाय तो उसके साथ सारा पुण्य भी चला जाता है इसलिये उसे समय पर अन्न अवश्य देना चाहिये। कम से कम पानी तो अवश्य पिलाना चाहिये। ब्राह्मण को पंगत में बिठाकर अन्न परोसने में जो भेदभाव करते हैं वे एक तरह से पाप ही मोल लेते हैं। उन्हें निश्चित रूप से अधोगति प्राप्त होती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। ब्राह्मण की सेवा में शरीर, वाचा, मन, धन आदि का उपयोग यथाशक्ति निष्कपट भाव से करने का ही नाम है अतिथि पूजन। त्रिपदागायत्री मंत्र का जप कर ब्राह्मण पूर्णतयः पवित्र हो जाते हैं इसलिये वेद भी वहीं निवास करते हैं। ब्राह्मण मेरा ही स्वरूप होते हैं इसीलिये वे मेरी पूजा का श्रेष्ठ अधिष्ठान भी हैं। ब्राह्मण की आज्ञा का पालन करने के लिये जिसका मन अत्यन्त तत्पर रहता है और जो उन्हें दान देता या दिलाता है उस वृत्ती का ही नाम है पूर्ण श्रद्धा। ब्राह्मण की सेवा धन के बिना नहीं होती यह कहना ठीक नहीं है। सेवा में श्रद्धा और भजन के प्रति पूर्ण उल्हास यही प्रमुख प्रमाणभूत साधन होते हैं। किसी की शरीर से सेवा करें, किसी का वाणी से पूजन करें, किसी का मन से ही भजन करें, किसी भी प्रकार से भजन करें लेकिन ब्राह्मण से पूर्ण दया प्राप्त होती है। ब्राह्मण की भक्ति में अंतःकरण का आनन्द से भर जाना तथा परमश्रद्धा और उल्हास से परिपूर्ण रहना इसी का नाम है 'आतिथ्य'। इस प्रकार ब्राह्मण का भजन यह पूजा का तीसरा अधिष्ठान है। अब गायत्री सेवा के सम्बन्ध में सुनो। जिस गौ के प्रेम के कारण मैंने सहस्त्रार्जुन का वध किया और इक्कीस बार पृथ्वी के वीर सैनिक क्षत्रियों को मार गिराया, रामावतार में मेरा महात्म्य बहुत अधिक था लेकिन उसमें गौसेवा नहीं हुई इसलिये मैंने गोकुल में अवतार लेकर गाय की सेवा की, गाय की सेवा से ही मैं पुष्ट हुआ इसीलिये मैंने बाल्यावस्था में ही बड़े-बड़े मल्लों को मार गिराया, कंस, चाणूर सरीखे अदम्य मल्लों का वध किया और उग्रसेन को राजसिंहासन पर बैठाया। गाय की सेवा मुझे अत्यन्त प्रिय है, उसके ही कारण मेरी कीर्ति फैली। मैंने कंस के राज्य के कारागार खुलवाये और बन्दी पितरों को मुक्त किया। इसलिये गौ और ब्राह्मण मेरे प्राण हैं। इन दोनों के कारण ही मेरी पूजा का अधिष्ठान सुलभ हो गया है। जो आपातकाल में गौ का संरक्षण करता है वह मुझे बहुत प्रिय लगता है। उसके साथ मैं भी गोरक्षण करने लगता हूँ। गौ की सेवा का विधान इस प्रकार है कि उसे रोज गोग्रास देना चाहिये उसे घास खिलानी चाहिये और उसके शरीर पर हाथ फेर कर उसका बदन सहलाना चाहिये। इतने से ही मैं प्रसन्न हो जाता हूँ। हे उद्धव! बिना किसी लोभ के गाय की सेवा करने से मेरी प्राप्ति होती है। अब सद्भक्ति से वैष्णव की पूजा कैसे की जाय, यह भी सुनो।

वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥ ४४ ॥

वैष्णव की सेवा करना बड़ा कठिन काम है। वहाँ जाति प्रमाण नहीं है। भक्ति प्रधान भाव को ध्यान रखते हुए यह शूद्र है और यह ब्राह्मण है यह भेदभाव मन में नहीं लाना चाहिये। विदुर दासीपुत्र था यह प्रसिद्ध ही है। लेकिन उसे श्रीकृष्ण भा गया। वह वैष्णवों में अत्यन्त श्रेष्ठ सिद्ध हुआ। उसे निंद्य कैसे माना जाय? मारुति जो वानरों की जाति में पैदा हुआ वह वैष्णवों में अत्यन्त श्रेष्ठ था। उसे कनिष्ठ कहने वाला पातकी कौन होगा? राक्षसों में विभीषण और दैत्यों में प्रह्लाद भी भगवान की शरण में आया जिसके कारण वह वैष्णव हो गया। जाति से श्रेष्ठ होते हुए भी यदि वह भक्तिरहित है तो वह वैष्णव नहीं है यह ध्यान में रखो अथवा यदि वह दिखावे के लिये भजन करता है तो वह भी वैष्णव नहीं हुआ है यह जान लो। जो वैष्णवों में जाति को प्रमाण मानता है, शालिग्राम को पाषाण समझता है और गुरु को साधारण मनुष्य समझता है वह पूर्णरूप से पातकी है। कौशल, चातुर्य, ज्ञातापन और जाति का अभिमान छोड़ जो अनन्यभाव से मेरी शरण में आयेगा वही सच्चा वैष्णव है यह समझ लो। उस वैष्णव की पूजा करनी चाहिये, लेकिन बाह्य उपचारों से नहीं बल्कि बन्धुत्व भाव से। मन में सच्ची आकुलता होनी चाहिये। उसी का नाम है सच्ची पूजा। सगे भाई का स्नेह कैसा रहता है, सुनो। जो भाई को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रणसंग्राम में चोट लगने पर शत्रु की ओर से उस पर होने वाले प्रहार को बचाने के लिये स्वयं आगे आकर शत्रुपक्ष का सामना करता है उसी प्रकार जिसके मन में आकुलता रहती है वही वैष्णवों की पूजा की सच्ची विधि है। स्नेह के बिना केवल तिलक चन्दन लगाने से भगवान को प्रसन्नता नहीं होती है। साधु एक ही पिता के पुत्र होने के कारण स्वाभाविक बन्धु ही होते हैं। उनमें सौतेला भेदभाव रखना स्नेह का लक्षण नहीं है। वास्तव में भक्तों की तथा अभक्तों की उत्पत्ति मुझसे ही है। लेकिन मेरे प्रति भक्ति भाव रखने से या न रखने से जो सौतेला व्यवहार उपस्थित होता है उससे परस्पर विरुद्ध स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वैष्णव विष्णु के ही उदर में रहते हैं। उसी उदर में जाकर हम भी रहें तो सहज ही सगेपन का भाव उत्पन्न होता है और अकृत्रिम प्रेम उत्पन्न होता है। ऐसे बन्धु भाव से जो व्याकुलता उत्पन्न होती है वही वैष्णव कुल की पूजा है। वैष्णवों की ऐसी पूजा करने वाले के पास भक्ति में रमा हुआ मैं प्रतीक्षा में खड़ा रहता हूँ। वैष्णवपूजा का जो लक्षण है वही मेरा पाँचवां पूजा स्थान है। अब आकाश का पूजन सुनो क्योंकि उसमें केवल मेरा ध्यान रहता है। आकाश निर्लेप और निर्विकार है। उसी प्रकार निरन्तर हृदय में मेरा ध्यान करना चाहिये। शान्त भाव से ध्यानस्थ रहकर जो सारे महदाकाश को अपना हृदयाकाश बना लेता है, वह मुझ परमेश्वर की पूजा करता है। हृदय में मुझ सूक्ष्म एवं निर्विकार का ध्यान करना यही मेरी सच्ची पूजा है। मुझ अनन्त की पूजा उसके ही कारण सम्भव हुई ऐसा समझना चाहिये। आकाश में दाग लगाने का प्रयत्न करने से वह आकाश को कभी नहीं लगता, उसी प्रकार सारे कर्म करते हुए जो अपने को मुक्त ही समझता है, आकाश सारे पदार्थों में व्याप्त है लेकिन फिर भी वह उन सबसे अलिप्त ही रहता है, उसी प्रकार जो आकाश में निष्ठा रखते हुए सारे कर्म करते हुए भी कर्मातीत ही रहता है वह आकाश का पूजक है। आकाश मेरा पूजास्थान है और उसकी पूजा का विधान इस प्रकार है। यह छठवाँ पूजास्थान है। अब वायु का अर्चन सुनो। जिसकी वायु के प्रति भगवद्बुद्धि कभी नहीं ढलती क्योंकि वायु के कारण ही जीवों में सजीवता आती है और जगत को धारण करने वाला भी वही है। वायु के रूप में समस्त प्राणिमात्र का प्राण मैं ही हो गया हूँ यह ध्यान में रखो। प्राण का मुख्य प्राण मैं ही हूँ। इसीलिये वायु मेरा ही स्वरूप है। वायु आकाश में ही उत्पन्न होता है लेकिन उत्पन्न होते हुए भी वह उससे अलग नहीं होता। सभी प्रकार की हलचल में वह आकाश में ही रहता है और अन्त में आकाश में ही स्थिर होता है। उसी प्रकार जन्मकर्मों का निर्णय जानते हुए भी अपना अधिष्ठान न छोड़ना तथा प्राण का भी प्राण बनकर रहना यही वायु का पूजन है। प्राण का आवागमन चालू रहते हुए भी 'ब्रह्मरूप मैं ही हूँ' इसका नित्य ध्यान करना और वह करते समय निरन्तर जागृत रहना यही वायु की पूजा है। जो मेरे स्वरूप से ही दृढ़ ध्यान करता है, वह उससे होने वाला वायु का पूजन यही सातवाँ पूजा स्थान है। जल से ही जल की पूजा करनी चाहिये ताकि जल के योग से ईश्वर के प्रति चाह उत्पन्न होती है और वह पूजा भगवान तक पहुँचती है। वह भक्त मेरा अत्यन्त प्रिय होता है। हे उद्धव! 'आपो नारायणः साक्षात' इस मंत्र का यही अर्थ है कि देवता द्वारा ही देवता की पूजा होती है। हे उद्धव! दूध से क्षीरसागर की पूजा करनी चाहिये, उसी प्रकार द्रव्य से द्रव्य की पूजा करने का ढंग भी वास्तव में जल से जल की पूजा करने का प्रकार है। जीवन ही जीवन को बचाता है। उस जीवन का भी जीवन मैं हूँ। इसीलिये लहरों से समुद्र का पूजन करना चाहिये उसी प्रकार जीवन से जीवन की पूजा करनी चाहिये। 'नद्यस्तृप्यंतु' 'समुद्रास्तृप्यंतु' इस मंत्र से जो अर्घ्य देते हैं वे भी जल से ही जल की पूजा करते हैं। इसमें पूजा और पूजक का एकत्व होता है। यही वेदोक्त विधिवत पूजा है। जीवन से जीवन की पूजा करना यही आठवाँ पूजास्थल है। अब पृथ्वी के पूजन के सम्बन्ध में सुनो। श्लोकार्थ के सन्दर्भ में वह सब बताऊँगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम्॥ ४५॥

जल में पृथ्वी निराधार रहती है इसलिये वह घुल कर उसका पानी होने लगता है इसलिये उसे धारण करने वाला मैं (धराधर) उसमें जाकर रहता हूँ। इसलिये वह मूल रूप से निराधार होते हुए भी साधार हुई। इसलिये पृथ्वी मेरा पूजास्थान है। अब उसकी पूजा की विधि सुनो। गौ के आकार का स्थंडिल बनाकर उस पर मेरा आवाहन करना चाहिये। इसका कारण यह है कि पृथ्वी गौ की तरह है। इसलिये जब उसकी पूजा का प्रसंग हो तो उसी के आकार का स्थंडिल बनाना चाहिये। उस स्थंडिल पर पृथ्वी की पूजा करने के लिये धराधर का आवाहन करना चाहिये। फिर उसके लिंग की और हृदयमंत्र की मंत्रोक्त पूजा करनी चाहिये। हृदय, कवच, शिखा, नेत्र, शक्ति, बीज आदि लक्षणों से युक्त यंत्र स्थंडिल पर बनाकर धराधर की महापूजा करनी चाहिये। अब स्वयं अपनी पूजा करना यह दसवाँ पूजा स्थान है। उसके भी लक्षण सुनो। पहले एक और उसके बाद पूर्ण अर्थात् शून्य यही दसवाँ लक्षण है। अपना पूजास्थान स्वयं होना यह पूजा का आश्चर्यकारक साधन है। शून्य के आगे कितने ही शून्य क्यों न हो लेकिन उनकी गिनती नहीं होती। लेकिन यदि पहले शून्य के नीचे एक भी रेखा आती है तो गणित लगाते-लगाते मनुष्य परेशान हो जायेगा। शून्य में शाखा निकलने पर उसे एक कहते हैं। जो एकपन से ही पूर्ण हो वह सहज ही परिपूर्ण रहता है। शून्य के आगे शून्य ही आ जाये तो गणित क्या होगा? निरिच्छा में जब इच्छा उत्पन्न होती है तभी वह अपनी पूजा स्वयं करने लगता है। एक में एक मिलाने पर दोपन से दूजा उत्पन्न होता है और एक में से एक घटाने पर शून्य ही देखने को मिलता है। अपना देवता वह स्वयं रहता है। जरा देखो, अपना पुजारी भी वह स्वयं ही होता है और भक्त भी वह स्वयं ही! इस पूजा का चमत्कार कितना आश्चर्यजनक है, देखो। हृदय में ही चैतन्यघन आत्माराम है यह भावना रख, स्वयं तद्रूप हो वह जो भी भोग भोगता है वे सब सहज ही ब्रह्मार्पण हो जाते हैं। वह अपने मुख में कौर डालता है तो उसके मुख से ही मैं सुखी हो उठता हूँ और परमपुरुष भी तृप्त हो उठता है। यही मेरी योग्य पूजा है। वह जो भी भोग भोगता है वे सब मुझे ही अर्पण होते हैं। उसके आनन्द में स्वयं मैं ही तन्मय होने के कारण वह पूजा भगवान को ही पहुँचती है। मेरी पूजा में यही प्रमुख पूजा है। जो यह पूजा करता है उसने अपनी स्वेच्छा से यह पूजा की यही उसका अर्थ निकलता है। पूजा के बहाने उसने गरुजध्वज, अधोक्षज को वश किया यही समझना चाहिये। यह मेरी प्रिय पूजा है। गरुड़ध्वज को भी यह प्रिय है। ऐसी भक्ति अधोक्षज को प्रिय है। वही मेरा प्रिय भक्त है। सगुण हो या निर्गुण, दोनों मेरे ही स्वरूप हैं। उनके प्रति जो अपने भोग अर्पण करता है वही मेरी सच्ची पूजा है। आत्मभोग से ही भगवान की जो पूजा की जाती है वह यही है अथवा सभी प्राणिमात्र समान हैं यह मानकर समान भाव से समस्त प्राणिमात्र की जो पूजा की जाती है वह भी भगवान की ही पूजा है। ग्यारहवीं पूजा का विचार करें तो उस संख्या में आगे और पीछे एक ही होता है क्योंकि जो ग्यारहों इन्द्रियों को देखे वही समस्त प्राणिमात्र का पुजारी होगा। एक के एक बाद रखने से ग्यारह होता है। यह विचार जिसने जान लिया उसने समझ लो समस्त प्राणिमात्र की पूजा कर ली। आत्मभोग अर्पण करने से अपने ही देह में परब्रह्म होने का ज्ञान होता है। वही परब्रह्म सभी प्राणियों में, देह में, विदेह में, समान रूप से रहता है। सारे देहों को चलाने वाला आत्मा सचमुच मैं ही हूँ। इसलिये भिन्न-भिन्न प्राणियों को देखकर जिसका मेरे प्रति प्रेम कम नहीं होता, प्राणिमात्र में ऊँच-नीच का भेद होते हुए भी जो परब्रह्म में कोई भेद नहीं देखता वह देखता है कि प्राणिमात्र में समानता की भावना एक सी है। मेरे साथ ऐक्य प्राप्त कर लेने के कारण उसे समस्त प्राणिमात्र में समानता दिखायी देती है। वही समस्त प्राणिमात्र

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की पूजा है। जिसे विभिन्न वस्तुओं में विषमभाव की बाधा नहीं होती वही सच्चा पूजक है। जो भक्ति भाव से मुझमें एकरूप हो गया, वह स्वयं प्राणिमात्र बन गया। अर्थात्, वह अपने आप ही सबसे एकरूप हो गया और आत्मभाव से सबकी पूजा करने लगा। वह रंक और राजा दोनों की पूजा करता है लेकिन उसके मन में उन दोनों में समान परब्रह्म की जो कल्पना है वह नहीं बदलती। वह उन दोनों में जो एकरूपता और समान भाव है उन्हें खण्डित किये बिना उनकी उचित पूजा करता है। हे उद्धव! सुनो यदि समस्त भूतों में मेरी पूजा करनी है तो वह मुझसे तादात्म्य होने पर ही पूरी होती है। ये ग्यारह पूजास्थल मेरी प्राप्ति कराने वाले तथा अत्यन्त पवित्र हैं। मैंने जैसा वर्णन किया है उसके अनुसार उनकी यथाविधि पूजा करनी चाहिये। मैंने जिस पद्धति से पूजा करने को कहा है उसी के अनुसार पूजा करनी चाहिये। यदि समझ में न आये तो मेरी मूर्ति का ही चिंतन करना चाहिये।

धिष्ण्येष्वेष्दिति मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहितः॥ ४६॥

जो सगुण को निर्गुण की अपेक्षा कम आँकता है वह पक्का मूर्ख है क्योंकि सगुण और निर्गुण दोनों एक जैसे हैं। उनमें एक कम और एक अधिक जैसी कोई बात नहीं है। घृत पतला हो तो भी वह घृत ही रहता है लेकिन वह जब जम जाता है तो पतले घृत की अपेक्षा अधिक स्वादिष्ट हो उठता है। उसी प्रकार निर्गुण की अपेक्षा सगुण स्वरूप से ही मन को त्वरित आनन्द प्राप्त होता है। निर्गुण का बोध होना ही कठिन रहता है क्योंकि वह मन, बुद्धि और वाणी को दुर्गम रहता है। उनका रहस्य शास्त्रों की समझ में भी नहीं आता। वेद भी उनके सम्बन्ध में मौन हैं। वायु को नापने जाओ अथवा आकाश को आलिंगन देने का प्रयत्न किया जाय उसी प्रकार भावना भागने लगती है। कहाँ स्थिर रहना है यही समझ में नहीं आता। लेकिन सगुण मूर्ति वैसी नहीं है ध्यान में रखो। वह सुलभ और सुन्दर होने के कारण उसे देखते ही भूख और प्यास नष्ट हो जाती है और प्रेम से मन शान्त हो जाता है। जो नित्यसिद्ध सच्चिदानंद, प्रकृति से भिन्न एवं परमानंद स्वरूप है वही स्वानंद का मूलकंद गोविन्द अपनी ही लीला से सगुण बना। शर्करा की मिठास की प्रशंसा चारों ओर होती है लेकिन यदि उसकी मिश्री बनायी जाय तो उसकी मिठास अधिक स्वादिष्ट हो जाती है। यही बात साकार मूर्ति के बारे में है। शुद्ध सोने की तार यदि दुल्हन को पहना दी जाय तो क्या दुल्हन सुन्दर दिखायी देगी? लेकिन यदि उसी सोने के अलंकार बनाकर मस्तक, कंठ, हाथ आदि अंगों पर पहना दिये जाएँ तो वही दुल्हन सुन्दर दिखायी देगी और लोग उसकी नजर उतारेंगे। उसी प्रकार जो निर्गुण और निराकार रहता है उसी की अपनी इच्छा के अनुसार सुकोमल, ज्ञानरूप, सुन्दर एवं मनोहर सगुण मूर्ति तैयार होती है। मुकुट, कुण्डल तथा मेखला से विराजित देदीप्यमान श्यामवर्ण, गले में कौस्तुभमणि तथा वनमाला और कटि पर जरीदार पीताम्बर। श्यामवर्णी, तिस पर भाल पर लगाया हुआ पीला चन्दन का टीका, दोनों नेत्रों में कमल की पंखुड़ियों को भी लज्जित करने वाली आरक्त आभा। ज्ञान का सौन्दर्य मानों मूर्ति की आँखों में उतर आया हो। इधर-उधर भटकते हुए जब वायु थक गया तब मानों उसने श्रीहरि के नाक में श्वासोच्छवास के रूप में बसेरा कर लिया। ओंकार में जिस प्रकार श्रुति होती है उसी प्रकार मुख में दंतपंक्ति शोभा देती है और चारों कोनों पर स्थित दाढ़ें तो सच्चित्प्रकाश की तरह झलकती हैं। जिस प्रकार जीव और शिव अपने भिन्नत्त्व के साथ एकसाथ रहते हैं उसी प्रकार निचला और ऊपर का होंठ श्रीहरि के शरीर में एक तरह तथा समान गुणों से जुड़े हुए हैं। कृष्ण का मुख देखकर अर्थात् कृष्णपक्ष में चन्द्रमा क्षीण होने लगता है। वह केवल पूर्णिमा को ही परिपूर्ण रहता है। लेकिन इस कृष्ण का मुखचंद्र

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सदासर्वदा परिपूर्ण रहता है। चन्द्रमा का तेज दिन में क्षीण हो जाता है लेकिन इस मुखचन्द्र की शोभा अप्रतिम है। उसके सामने चन्द्रसूर्य का तेज भी फीका पड़ता है लेकिन हरि का मुख सदासर्वदा स्वयंप्रकाश ही रहता है। सगुण स्वरूप में वह नारायण आर्तरूपी चकोरों को अमृतपान, मुमुक्षुरूपी चातकों को स्वानंदघन तथा सर्वभूषणों का भूषण बन गया है। चारों खदानों के प्राणियों की क्रियाएँ चार प्रकार की होती हैं, उसी प्रकार चारों हाथों के चारों आयुधों की स्थिति है। वेदों को देवता समझ नहीं आये तब वे लज्जित हुए थे उस समय जगत में अपना प्रताप दिखाने के लिये वे हरि के हाथों के आयुध बन गये। सामवेद शंख बना, यजुर्वेद चक्र हुआ अथर्ववेद तेज धार की गदा बना और ऋग्वेद कोमल सा कमल बन गया। इस प्रकार परमेश्वर ने चारों वेदों को चार हाथ में संतुष्ट कर दिया। तब उपनिषद भी जग में नाम कमाने के लिये भगवान के बाहुभूषण और बाजूबंद बने और हाथ के कंगन 'ब्रह्म मैं हूँ' इस शब्द ध्वनि का स्वर निकालने लगे। उसी प्रकार उनके नाखून, केश, उँगलियाँ तथा उँगलियों में धारण की हुई तिकोनी, षटकोनी आदि विविध आकारों की रत्नजड़ित अँगूठियाँ उपासकों के लिये उपासना का साधन बन गये हैं। हृदय पर स्थित पदक का तेज तो अपूर्व ही है। पेट पर त्रिगुण की तीन रेखायें शोभायमान हैं और कमर की मेखला में लगाये घागरे में का कलश कितना उत्तम शोभायमान है। दोनों पैर स्फटिक के खम्भों की तरह सुन्दर लगते हैं। लेकिन स्फटिक के पैर तो निर्जीव होते हैं। लेकिन हरि के पैर शरीर का अंग होने के कारण सचेतन हैं। दोनों पैरों पर ध्वज, वज्र, अंकुश, ऊर्ध्वरेखा तथा पद्म आदि चिह्न तथा यवांकित सामुद्रिक लक्षण होने के साथ पैरों की आकृति अत्यन्त सुन्दर है। पैर के तलवों की रक्तिम आभा और उस पर घनश्याम वर्ण की छटा—मानों आकाश में इन्द्र धनुषों का समुदाय उमड़ पड़ा हो। जगन्नायक को इस प्रकार सगुण हुआ देख दसों दिशाओं ने उनके चरणों के पास आने का साहस किया और अपना आत्मसुख साधने के लिये वे हरि के पैरों की दस उँगलियाँ बन गयीं। चन्द्रमा भी कृष्णपक्ष में क्षीण हो रहा था इसलिये उसने भी हरि के चरण धर लिये और वह उनके पैरों के नाखून बनकर स्वयं अत्यन्त पवित्र हो गया। यह मालूम होते ही शंकर ने उस चन्द्रमा को अपने मस्तक पर धारण कर लिया तो सहज ही भगवान के चरणों का तीर्थ उसके मस्तक पर से बहने लगा और उसी जल से संसार का उद्धार हुआ। देवता को इस प्रकार सगुण हुआ देख चारों मुक्तियाँ उसके चरणों के पास आकर नम्र हो गयीं, इसीलिये संत देवमूर्ति के आगे सदा तत्पर रहते हैं। उन चार मुक्तियों में सलोकता और समीपता ये दोनों दो पैरों के बीच में पैंजन के रूप में गरजते ही सरूपता पद का भूषण बन गयी और सायुज्यता पैंजन बनी। बड़े-बड़े राक्षस भी उस पैंजन का भय खाते हैं। सर्वसुख हरिचरणों में है और उसी के चरणों में समाधि भी है। हे उद्धव! धैर्य, वीर्य, उदार, कीर्ति, गुणगांभीर्य, शौर्य ख्याति इसका कारण मेरी सगुण मूर्ति ही है इसे अच्छी तरह ध्यान में रखो। मेरी इस मूर्ति के दर्शन से आँखों की प्यास मिटती है, जन्म-मरण का बन्धन टूटता है और विषयों का पूरी तरह नाश हो जाता है। मेरी मूर्ति का दर्शन करने के बाद योग-याग का श्रम नहीं करना पड़ता, गिरि-कन्दराओं में नहीं जाना पड़ता और न किसी प्रकार के संकट का सामना करना पड़ता है। आसन, पात्र आदि की भी आवश्यकता नहीं पड़ती और न समाधि के साधन ही जरूरी हैं। हे उद्धव! मुझे प्राप्त करने का मुख्य साधन मेरी भक्ति ही है इसे ध्यान में रखो। मेरी पूजा के स्थान ग्यारह हैं, वहाँ मेरा आवाहन कर मैंने बतायी हुई मूर्ति का ध्यान करना चाहिये। मेरी पूजा करें, मेरा ध्यान, कीर्तन करें, मेरा नामकरण करें तथा मेरे गुणों का वर्णन करें। रात दिन मेरी कथा कथन करें, रात दिन मेरे चरित्र की बातें सुनायें, इस प्रकार जो मेरा ध्यान करता है उसे ही मेरा सच्चा भक्त कहना चाहिये। दीपक की ज्योति हाथ में आते ही पूरे घर में प्रकाश फैलता है उसी प्रकार जब मेरी मूर्ति की ओर ध्यान एकाग्र हो जाता है तभी सारा ज्ञान प्राप्त होता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। हे उद्धव! इससे यह ज्ञात होता है कि सगुण और निर्गुण ये दोनों एक हैं। सच्चिदानन्द का सुख भी दोनों से समान रूप से प्राप्त होता है। सुवर्ण की छड़ के लिये जो कसौटी है, वही एक तोला सोने के लिये भी है। उसी प्रकार सगुण अथवा निर्गुण की उपासना से आत्मानंद में कोई अन्तर नहीं आता। शर्करा के ढेर में भी वही मिठास है जो एक छटांक शर्करा में है। यह मेरे अंत:करण का ध्यान है, यहाँ भक्तों को मन को निरन्तर जागृत रखकर हर्षपूर्वक मेरी पूजा करनी चाहिये। हे उद्धव! अब तुम मन ही मन विचार करोगे कि यह भक्ति किस उपाय से साध्य हो सकती है? तो मैं वे साधन तुम्हें बताऊँगा।

हृष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया॥ ४७॥

नाना प्रकार के योगयाग, वापी, कूप, वन, सरोवर, उत्तम से उत्तम श्रौत और स्मार्त कर्म करते समय जिन्होंने वे कर्म मुझे अर्पण कर दिये वही पूर्ण हुए। मुझे अर्पण किये बिना ये कर्म व्यर्थ हो जाते हैं। कर्म मुझे अर्पण करते समय भी कभी-कभार उस भक्त का मन किसी विघ्ननिवारक फल की इच्छा करता है इसलिये मैं उस भक्त को कभी कोई विघ्न नहीं आने देता। सकाम कर्मकर्त्ता को भी जो अत्यन्त प्रयास से नहीं प्राप्त हो पाता वह उत्तम लोक मैं अपने भक्तों को भोगों के साथ देता रहता हूँ। अंत:करण से जो मेरा भक्त है और भोगों के प्रति विरक्त है वह भोगों का सेवन करते समय भी मेरा स्मरण करता रहता है इसलिये वह भोगों के प्रति आसक्त नहीं होता। कोई साधु मन्दिर में जाते समय मूसलाधार बारिश से बचने के लिये यदि किसी वेश्या के घर में घुसता है तो वह वहाँ रहकर भी वेश्या को स्पर्श नहीं करता। उसी प्रकार भक्त दिव्य भोगों से ऊब जाता है और पश्चात्ताप करता हुआ हरि का स्मरण करता है। उस अनुताप की स्थिति में सारे भोग तत्काल नष्ट हो जाते हैं और जिस घर में मेरी भक्ति का वास रहता है उस घर में महान ज्ञानी जन्म लेता है। पूर्व संस्कारों के कारण उसे विषयों के प्रति विरक्ति प्राप्त होती है, वह जन्म लेते ही भक्तिमार्ग पर चल पड़ता है और भक्तों से प्राणों से भी अधिक प्रेम करता है। वह मुक्ति को लात मार कर अपने सर्वस्व से मुझे भजता रहता है। इस प्रकार मैं अपने भक्तों को बाधाओं का स्पर्श नहीं होने देता। इस प्रकार जिन्हें विषयों से विरक्ति होती है वे भी तालाब, कुएँ आदि परोपकार के काम करते हैं अथवा जब योग-याग और त्याग के साधन करते हैं तभी उनमें मेरी भक्ति उत्पन्न होती है। मन की समदृष्टि कर श्रौत स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान अथवा योग, याग, त्यागवृत्ति आदि का साधन जो एकनिष्ठा से करते हैं तभी उनकी चित्तवृत्ति शुद्ध होती है और उसके योग से मेरे प्रति उत्तम भक्ति उत्पन्न होती है। लेकिन इतना परिश्रम किये बिना भी मेरी सद्गति प्राप्त हो ऐसा एक गुप्त उपाय तुम्हें बताऊँगा। हे उद्धव! सारे साधन छोड़ कर जो साधु का भजन करेगा तभी उसका मन सचमुच शुद्ध होगा यह ध्यान में रखो। अब तुम पूछोगे कि साधु कैसा रहता है? और साधु कौन कहलाता है? तो उसका लक्षण पहले ही बता चुका हूँ। जो साधु है वही सद्गुरु है, यह ध्यान में रखो। उस सद्गुरु का भजन जो पूरे भाव से करता है उसकी समस्त शुद्धि का कारण सद्गुरु ही है यह जान लो। उनके मुख से निकला शब्द ही ब्रह्मसाक्षात्कार तक पहुँचाता है। उस सद्गुरु के भाग्यशाली चरणों की सेवा करने पर कौन-सी शुद्धि नहीं होगी? गुरु का नाम लेने पर उसकी ओर कलिकाल भी नहीं देख सकता। प्रसन्नतापूर्वक उसकी सेवा करने से मोक्षसुख भी चरणों पर आ जाता है। जिसके मन में सद्गुरु की प्रीति है, सद्गुरु के भजन में जिसकी आस्था है, उस पर मेरी भक्ति आसक्त हो उठती है। भक्त के साथ गठबन्धन करने के लिये वह आतुर हो उठती है। गुरुभजन के साथ जो जुड़ता है वही अपना स्वार्थ सिद्ध कर पाता है यह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सच है। उसके पास मेरी भक्ति राह देखती रहती है। सद्भक्ति ही क्यों, लेकिन गुरुप्रेम के कारण स्वयं मैं भी दिन-रात प्रसन्नतापूर्वक उसके पास खड़ा रहता हूँ। मुझे अपने भक्तों से जितना प्रेम नहीं है उतना अपने गुरुभक्तों से है। लेकिन सत्संगति के बिना उत्तम भक्ति कभी भी नहीं प्राप्त होगी।

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव।
नोपायो विद्यते सध्यङ्प्रायणं हि सतामहम्॥ ४८॥

मुझे प्राप्त करने के लिये भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग ये दो मार्ग हैं। उसमें ज्ञानमार्ग अत्यन्त कठिन है लेकिन भक्तिमार्ग बिना किसी बाधा के भक्त को मुझ तक पहुँचाता है। इस संसार को पार करने के लिये अनेक लोगों ने अनेक साधन बतलाये हैं लेकिन उन्हें व्यर्थ समझो। अनुभव से मेरा भक्तिमार्ग ही उत्तम दिखाई देता है। सारे उपायों में जो अत्यन्त सरल, निर्विघ्न, नित्य और पवित्र है वह केवल मेरा भक्तिमार्ग है। ज्ञानमार्ग भक्त को बीच रास्ते में ही व्याकुल कर देता है। खेत सींचने के लिये मोट और नहर यही दो उपाय हैं। मोट से कुएँ में एकत्र पानी निकालते हैं और वह भी काफी परिश्रम के बाद कम मात्रा में ही मिलता है। पहले मोट, नाड़ा और बैलों की जोड़ी इतनी तैयारी चाहिये, फिर उन बैलों को डंडे से पीटना पड़ता है और फिर उन्हें खींचना पड़ता है तब कहीं जमीन का छोटा-सा भाग गीला हो पाता है। तिस पर भी कभी मोट फट जाती है या नाड़ा टूट जाता है अथवा सहसा बैल बीमार पड़ जाता है या मर जाता है और ऐसा होते ही पानी का आना रुक जाता है और तैयार फसल सूख जाती है। लेकिन नदी से निकले नाले की स्थिति वैसी नहीं है। एक बार नाली बना देने पर पानी का प्रवाह अखण्ड चलता रहता है। ज्ञान भी मोट के पानी की तरह है। वेदशास्त्र पढ़कर मार्मिक पण्डित नित्य और अनित्य का विचार करते हैं। उनमें से एक का झुकाव कर्म की ओर रहता है, एक संन्यास की ओर मुड़कर मुण्डन करवाता है तो कोई इन दोनों को ही अनुचित ठहराता है। उनका कहना है कि देह को इस प्रकार के संकट में नहीं डालना चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि प्रारब्ध नाम की जो चीज है वही सच है। कोई कहता है शब्दज्ञान ही सच है तो कोई कहता है इस सम्बन्ध में मौन ही रहना चाहिये। कुछ विद्वत्ता का त्याग करने की बात करते हैं। जिसकी जितनी कल्पना चलती है वही बुद्धिमान कहलाते हैं। मूर्खों को कितना समझाया जाय? कोई तप को श्रेष्ठ कहता है तो कोई मंत्रों के पुरश्चरण को तो कोई वेदाध्ययन को ही श्रेष्ठ मानते हैं। कुछ लोग दान को श्रेष्ठ मानते हैं तो कुछ इन सबको खारिज कर देते हैं और मनुष्य को योगसाधना में फँसा देते हैं। वह साधक को आसनों तथा मुद्राओं की लत लगाता है और वायु पीकर रहता है। बड़े पण्डितों को ज्ञान का अहंकार होने के कारण सच्चे ज्ञान का कोई ज्ञान नहीं होता। ज्ञान मार्ग की यह अवस्था है। उसमें अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं। विकल्प से ही विद्वत्ता नष्ट होती है इसलिये विद्वत्ता से मेरी प्राप्ति नहीं होती। लेकिन मेरी भक्ति वैसी नहीं है। भक्तिसम्पन्न लोग मेरा नाम लेकर ही मुझे प्राप्त करते हैं। नाम से कितनों का उद्धार हुआ इसकी गिनती करना कठिन है। भागवत में यही कहा गया है। मेरे गुणों का वर्णन करने से अथवा हरिकथा नाम संकीर्तन करते समय विघ्न का प्रवेश नहीं हो सकता। हरिनाम की गर्जना किले की तरह है। जहाँ हरिनाम का घोष होता है वहाँ भला विघ्न का प्रवेश कैसे हो सकता है? मेरे भक्तों को देखकर वह भाग जाता है और मोक्ष के द्वार खुल जाते हैं। मेरे भक्त पूरी तरह इच्छारहित रहते हैं। वे मोक्ष की आशा नहीं करते इसलिये मैं श्रीकृष्ण उनके भाव पर लुब्ध रहता हूँ। सारांश बिना किसी विघ्न के मेरे पास आने के लिये भक्ति के सिवा कोई मार्ग नहीं है। सचमुच भक्ति ही मेरी पसन्द है। इसलिये भगवान ने अपनी प्रिय भक्ति का स्पष्ट रूप से वर्णन किया। उद्धव को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हरिभक्ति प्रिय थी इसलिये वह सुनते ही उसकी प्रसन्नता बढ़ गयी। अपने मन की बात श्रीकृष्ण ने बतलायी इससे उद्धव प्रसन्नता से नाचने लगा। उसने प्राण श्रीकृष्ण पर न्योछावर कर दिये और कहा, "जब तुम्हारी भक्ति इतनी सुलभ है तो सब लोग तुम्हारी भक्ति क्यों नहीं करते?" इस पर भगवान ने कहा, "उद्धव! बिना प्रारब्ध के यह भक्ति किसी को प्राप्त नहीं हो सकती। यदि करोड़ों वर्षों के संचित पुण्य की कमाई किसी के पास होगी तभी उनका मेरे संतों के साथ संग होता है और उस संगति से ही मेरी भक्ति उत्पन्न होती है। उद्धव! सत्संग से ही भक्ति प्राप्त होती है। मेरी भक्ति संतों के पास प्रतीक्षा करती रहती है।" "संतों को यदि तुम अपना कहते हो तो फिर बाकी लोग किसकी शरण में जायेंगे? तुम्हारी भक्ति दिन-रात संतों के ही पास क्यों रहती है?" उद्धव! मन में ऐसा विकल्प लाने की आवश्यकता नहीं है। संतों के भजन पर मेरी असीम श्रद्धा है, फिर भक्ति की क्या बिसात है? लेकिन यह तुम संतों की सेवा करने का कारण पूछोगे तो मैं अनन्त जिस पर किसी का भी नियंत्रण नहीं है, ऐसे मुझको उन्होंने अपनी भक्ति के पाश में बाँध लिया है। उन्होंने क्यों बाँधा है इसका कारण भी बताता हूँ। वे संसार में मेरे सिवा कोई अर्थ ही नहीं जानते। उन्होंने अपना स्वकर्म मुझे ही अर्पण किया रहता है। उन्होंने अपना सारा धर्म, देह, घर, रूप, नाम, आश्रमधर्म सब मुझे ही अर्पित किया रहता है। कल्पांत समय में बिजली की गड़गड़ाहट के भय से सारा विश्व भयाक्रांत हो उठता है और उसका विलय हो जाता है, ऐसे संकट आने पर भी वे मेरे पास से नहीं हटते। आकाश टूट पड़ने पर भी वे मेरे सिवा किसी और की राह नहीं देखते। इसीलिये मैं श्रीकृष्ण उनका दास हो गया हूँ। भावार्थ की महिमा अत्यन्त विस्मयकारी है। मुझ विश्वात्मा की भी वे आत्मा बन गये हैं। उनमें और मुझमें ऐसी एकता है इसीलिये मुझ पुरुषोत्तम को उन्होंने अपने वश में किया है। संतों में और मुझमें कल्पांत में भी भिन्न भाव नहीं है यह ध्यान में रखो। अपने जीवन की यह सबसे गुह्य बात मैंने तुम्हें बतायी। मेरी भक्ति से ही संत मेरे अपने हो गये हैं। अन्य लोग मुझे नहीं भजते इसलिये मैंने उन्हें अष्टपाश में बाँध कर काल के हवाले कर दिया है। काल को मेरे संतों के पास आने का सामर्थ्य नहीं है क्योंकि मैं सदा उनका रक्षक बना रहता हूँ। इसलिये वे कलिकाल के भी पाश में नहीं फँसते। इस प्रकार संतों का काम करने में मुझे संकोच नहीं होता। उद्धव! अब मैं अपना एक अत्यन्त गोपनीय मनोगत तुम्हें बताऊँगा।

अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वश्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा॥ ४९॥

हे यदुवंश कुलभूषण उद्धव! सुनो तुम स्वगोत्र हो, सेवक हो, सुहृद हो और प्रिय मित्र हो, इसलिये तुमसे अपना गुह्य बचाने का धैर्य मुझमें नहीं है। इसलिये मेरे गुह्य का गुह्यसार; अपितु उस सार का भी गुप्त भण्डार और उस भण्डार का भी गुप्त तत्त्व अब सचमुच ही तुम्हें बताऊँगा। सचमुच मैंने यह गुप्त से भी गुप्त बात किसी को नहीं बतायी। लेकिन तुम मेरे जीवश्चकंठश्च और सखा हो और मुझ पर तुम्हारा अप्रतिम प्रेम है और तुम्हारा वह प्रेम शुष्क नहीं है, लेकिन तुम्हारे प्रति मेरे मन में अनन्य भक्ति है और उस भक्ति के साथ तुम्हारे मन में विरक्ति भी है। तुम्हारी वृत्ति निष्कपट है। देखो! इस यादवकुल में मेरे जैसे एक तुम ही हो। उद्धव! तुम समान योग्यता वाले, मेरे गोत्रज होने के साथ मेरे सेवक हो, यही अभूतपूर्व है और केवल साधारण सेवक नहीं, अपितु विश्वासपात्र हो। तुम्हारे गुणों का कितना वर्णन करूँ? सचमुच यह बताते समय मुझे अपार हर्ष हो रहा है। इसीलिये यह गोपनीय बात तुमसे बचाकर रखने का मुझे धैर्य नहीं हो रहा है। यह कह कर जब भगवान ने उद्धव को अपने सीने से लगाकर उसे आलिंगन में बाँध लिया तब कहीं चिदानंदस्वरूप श्रीकृष्ण संतुष्ट हुए। फिर कृष्ण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बोले, ''सावधान होकर आदरपूर्वक मेरा भाषण सुनो। मेरा यह गुप्त ज्ञान तुम्हें मिलने से तुम्हारे वंश का उद्धार होगा क्योंकि जिस वंश में कोई ब्रह्मज्ञानी उत्पन्न होता है तो वह वंश उसके कारण पावन हो जाता है। मेरा यह भाषण बिलकुल सत्य है। यह जान लो। इस विषय में मन में कोई विकल्प न आने दो। लेकिन तुम कहोगे, ''तुम पूर्णब्रह्म नारायण स्वयं ही इस वंश में अवतरित हुए हो, अतः तुम्हारे ही कारण इस वंश का उद्धार हो गया। तुम्हारे आगे मेरा ज्ञान है ही कितना?'' तो नाम, रूप, जाति, गोत्र इन सबसे मैं अलिप्त ही हूँ। संसार के सभी कुलों से मैं कुलीन हो गया हूँ क्योंकि सारा जगत ही मेरा गोत्र है। यह सब ध्यान में रखकर ही मैं अपनी गुप्त बात का सार तुम्हें बताऊँगा। उसके योग से सारे संसार का उद्धार होगा। यह गुप्त ज्ञान सुनने के लिये उद्धव ने मन ही मन कान खोले और श्रीकृष्ण के मुख की ओर एकटक देखते ही उसके नेत्रों की ओर उद्धव की दृष्टि अटक गयी। श्रीकृष्ण का वह अत्यन्त गहन और रसाल निरूपण अगले अध्याय में है। इसलिए एका जनार्दन विनती करता है कि संत मेरी ओर ध्यान दें और श्रोतागण सावधान हो जाएँ। आपके चरणों का मैंने मस्तक से वन्दन किया है। आपके चरणों के प्रसाद से श्रीभागवत के श्लोकों का सुबोध अर्थ मैं वर्णन करूँगा ताकि संत सन्तुष्ट हो जाएँ। इसीलिये एका जब जनार्दन की शरण में पहुँचा तब वह समुद्र की लहरों की तरह सुशोभित हो गया।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे एकाकारटीकायां श्रीकृष्णोद्धवसंवादे
एकादशपूजाविधानयोगो नाम एकादशो अध्याय॥ ११ ॥
श्री कृष्णार्पणमस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बारहवाँ अध्याय

ॐ नमो सद्गुरु वसंत! भेदभाव तोड़ कर जब एकता का काल आता है, तभी तुम्हारा ऋतु आता है और इस ऋतु में बहने वाला वायु जब ज्ञानवन में प्रवेश करता है तब अविद्या के पुराने पत्ते तत्काल गिर पड़ते हैं और विरक्त भाव से आरक्त नये पल्लव सुशोभित हो उठते हैं। वैराग्य की ऊष्मा अत्यन्त प्रखर होती है, उससे सारे वृक्ष शुष्क हो जाने पर भी वसन्तु ऋतु के आगमन से उनमें कोमल पत्ते फूट पड़ते हैं। वसन्त ऋतु प्राप्त होने पर उन वृक्षों में तिरछी टहनियाँ निकल पड़ती हैं और उस ऋतु के कारण ही सोहंभाव (मैं ही ब्रह्म हूँ इस भावना के) के पुष्प उन वृक्षों पर विकसित हो गये। कृष्णस्वरूप से तदाकार होने के कारण काले भ्रमर मँडराते हुए तीव्रता से वहाँ पहुँचे और अत्यन्त मृदुता से मकरंद सेवन करने लगे ताकि पराग कुचलने न पाये। सद्भक्तिरूप मकरंद का प्राशन करते-करते उन भ्रमरों को अत्यन्त प्रसन्नता हुई, वे हृदय कमल में प्रविष्ट होकर स्थिर हो गये और सुषुम्ना द्वार से आगे निकले। छहों कमलों और द्विदल आदि को भेद कर वे और आगे झुके और मलय वायु के झोंके के साथ झूमते हुए सहस्त्रदल में जाकर मिल गये। शुभ्र सफेद पराग का सेवन कर वे भ्रमर दल उन्मत्त हो गये और आनन्द के उन्माद में उन्होंने कोलाहल प्रारम्भ कर दिया। आत्मानंद के कारण उन्होंने सुख का कोलाहल मचाना प्रारम्भ किया। इतने में उन्हें अनुहत का स्वर सुनायी पड़ा। वह दस प्रकार से रुनझुन कर रहा था। उस नाद का भी प्राशन कर वे निःशब्द होकर बैठ गये। वहाँ मोक्ष सुख के गुच्छ अत्यन्त सुन्दर डोल रहे थे इससे जीवों की वासना पूर्ण हो गयी और वे 'सोहं' का नाद करने लगे। इतने में मुमुक्षुरूपी मोर अत्यन्त प्रेम से पंख पसार कर नाचने लगे और वसन्त ऋतु की बहार से खिले वन में आकर उन्होंने गुरुनाम का शोर मचाना प्रारम्भ किया। यम-नियम रूपी कोकिलाओं ने मौन व्रत का विसर्जन कर मधुर स्तवन प्रारम्भ कर दिया। भक्ति के सरोवर में निर्मल पानी रहता है इसलिये विकसित नवविध कमलिनी प्रफुल्लित हो उठीं। भक्त उस निर्मल जल में अखण्ड डुबकी लगाकर स्नान का आनन्द ले रहे थे। दो चक्रवाक जीव और शिव उस सरोवर के जल का सेवन करते समय सद्गुरुरूपी ज्ञानसूर्य को वसन्त द्वारा सुशोभित वन में उदित हुआ देख एक साथ मिल गये। वसन्त ऋतु से उल्हसित होकर बड़े-बड़े वृक्ष पल्लवित हुए और उनसे स्वानंद की धारा बहने लगी। उनकी जड़ें धरती को भेद कर धराधर में मिल गयी। वहाँ ज्ञानरूप मलय पर्वत पर वायु बहने लगा जिससे वनश्री प्रफुल्लित हो गयी और मोक्षमार्ग के पथिकों ने वहाँ आत्मस्वरूप में सुखपूर्वक निद्रा ली। ऐसा सद्गुरु वसंतराज अपने भक्तरूप वन को आनन्द प्रदान करता है। भागवत भजन का वह अध्याय भगवान उद्धव को बता रहे हैं। बारहवें अध्याय में सत्संग की अगाध महिमा का निरूपण है। उसमें इसका भी निरूपण है कि कर्म का कर्त्ता कौन है और कर्मत्याग का स्वरूप क्या है? ग्यारहवें अध्याय की समाप्ति पर भगवान ने उद्धव से गुह्य बताने को कहा था, उसे सुनने के लिये उद्धव भगवान के मुख की ओर देखने लगा। तो वे अब कौन-सी गुह्य बात बतायेंगे, उनके होठों से कौन से शब्द बाहर आयेंगे, उन वचनों को अंगीकार करने के लिये उद्धव के अंतःकरण में उत्कंठा प्रारम्भ हो गयी। जिस प्रकार चातक मेघ का उदक ऊपर ही ऊपर निगल जाता है उसी प्रकार श्रीकृष्ण के भाषण के लिये उद्धव ने भी अपना मुँह फैला दिया। स्नान, संध्या और भोजन एक ही साथ हो उसी प्रकार ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान लेने के लिये उद्धव ध्यानपूर्वक बैठा रहा। उद्धव की ऐसी उत्कंठा देखकर श्रीकृष्ण भी तैयार हो गये। भक्त के प्रति कृपालु और अत्यन्त उदार श्रीकृष्ण अपनी गुह्य बात का तात्पर्य सुनाने लगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्री भगवानुवाच

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥ १ ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥ २ ॥

अष्टांग योग में मुझे वश करने का सामर्थ्य नहीं है। संसार के नित्यानित्य विचार भी मुझ तक नहीं आ सकते अथवा मन में निरन्तर प्रकृति पुरुषों का विचार करते रहने से भी मेरे स्थान तक पहुँचने का सामर्थ्य उस व्यक्ति को नहीं प्राप्त होता यह ध्यान में रखो। अहिंसा के साथ जो सारे धर्म हैं वे तथा सत्य आदि से भी मैं प्राप्त नहीं होता। यथाविधि वेदों का सांगोपांग अध्ययन करने से भी मेरी प्राप्ति नहीं होती। फिर उनके सामने बेचारों की क्या बिसात है ? पंचाग्नि साधन तो निरर्थक है। कृच्छ चांद्रायण व्रत भी व्यर्थ सिद्ध हुए क्योंकि उन्हें करने से भी मैं प्राप्त नहीं होता। जो घरबार छोड़कर विरक्त होता है या 'विरजा' होम (संन्यास लेने से पूर्व किया जाने वाला होम) कर अपने सर्वस्व का हवन करता है अथवा सारे साधनों में श्रेष्ठ संन्यास ग्रहण करता है उसे भी मैं परमेश्वर वश नहीं होता। श्रौतस्मार्त कर्म करते-करते कर्मठ लोग पागल हो गये फिर भी मैं उन्हें प्राप्त नहीं होता। हाँ, होम करते समय उन्हें कष्ट अवश्य भोगने पड़ते हैं। गौओं का दान करें, भूमि का दान करें, धनधान्य का दान करें लेकिन जब तक उनका दानाभिमान नहीं छूटता, मैं उन्हें वश नहीं होता। अथवा संकटचतुर्थी, ऋषिपंचमी, विष्णु पंचक, बुधाष्टमी आदि अनेक व्रत नियमित रूप से करने से भी उन कर्मों से मैं प्राप्त नहीं होता। या सर्वस्व खर्च कर अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञ यथासांग करने पर भी वे मेरी प्राप्ति के योग्य सिद्ध नहीं होते। उनके योग से मैं श्रीकृष्णवश नहीं होता। तालाब, कुएँ, बगीचे तैयार करने से मार्ग पर पेड़ लगाने से जंगल में पथिकों के लिये विश्रामस्थल बनाने से अथवा स्मार्त्त कर्मों का आचरण करने से भी मैं आत्माराम उन्हें नहीं प्राप्त होता। अनेक प्रकार के वेदमंत्र हों, अनेक प्रकार के गुरुमंत्र हों अथवा अत्यन्त विचित्र प्रकार के विधिविधान हों और उनका सामर्थ्य कितना ही बड़ा और पवित्र क्यों न हो फिर भी वे मेरी प्राप्ति कराने में स्वतंत्र रूप से समर्थ नहीं हो पाते। पुष्कर आदि अनेक तीर्थ हैं और पातकों का नाश करने में वे अत्यन्त समर्थ हैं लेकिन मुझ तक पहुँचने का सामर्थ्य उनमें नहीं होता अथवा जो रात-दिन यमनियम करते हैं या नानाप्रकार के साधन करके थक जाते हैं उनका भी मेरे द्वार तक पहुँचने का सामर्थ्य उन यमनियमों में नहीं है। उद्धव! उन यमनियमों का निर्णय मैं तुम्हें उन्नीसवें अध्याय में विस्तारपूर्वक बताऊँगा। यह बारहवाँ अध्याय संक्षिप्त स्वरूप का है। वे बारह यमनियम अथवा और सारे साधनों को मेरे नगर (वैकुण्ठ) तक आने का मार्ग ही नहीं मिल पाता। लेकिन यदि वे साधु का आश्रय लेकर संतों के द्वार पर जायें तो समझ लो वे मेरे ही घर आ गये। ऐसी परम्परा से मेरी प्राप्ति होती है लेकिन सत्संगति वैसी नहीं है। वह अपने संग से अन्य संगों का विनाश करती है और मेरी प्राप्ति होती है। सत्संग करने वाले भक्त मेरी प्राप्ति के लिये किसी पर निर्भर होकर नहीं रहते। कीड़े की चींटी से संगति होने से उसके देह की स्थिति बदल जाती है। उसी प्रकार संतों की संगत करने से भक्त भी बदल कर मद्रूप हो जाते हैं। जरा देखो। चन्दन के पेड़ के इर्द-गिर्द जो निर्गंध और अनुपयोगी वृक्ष होते हैं वे भी चन्दन की संगत से सुगन्धी होकर मूल्यवान हो जाते हैं। वे अचेतन काष्ट भी देवताओं और ब्राह्मणों के मस्तक पर चन्दन के रूप में विराजमान रहते हैं। उसकी आवश्यकता धनवानों को भी होती है। राजा लोग भी उन्हें वन्दनीय समझते हैं। उसी प्रकार सत्संग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करने से भक्त मेरी योग्यता प्राप्त करते हैं और अन्त में मेरे लिये भी वे पूज्य बन जाते हैं। उनकी महिमा का क्या वर्णन किया जाय? उद्धव! मेरा स्थान तत्काल प्राप्त करने के लिये सचमुच संतों की संगत के सिवा अन्य कोई साधन नहीं है। पहले तो साधन बताये हैं वे सब भी अहंकार के कारण मलिन ही हुए हैं। उनके लक्षण तुम्हें बताऊँगा, सुनो। अष्टांग योग में वायु को जीतना अत्यन्त कठिन है, वह पूरी तरह कभी सिद्ध नहीं होता। साधने पर भी परेशान करता है। नित्यानित्य विचार का ज्ञान रहता है लेकिन वहाँ पांडित्य का अहंकार बाधक सिद्ध होता है और मन में धन और सम्मान की प्रबल इच्छा रहती है। वहाँ ज्ञान ही ज्ञानी पण्डित के लिये विघ्न बन जाता है। लोग अहिंसा धर्म का पालन करते समय पानी छान कर लेते हैं लेकिन उसे छानते समय ही हजारों जीव मर जाते हैं। तो इस प्रकार अधर्म से वह धर्म व्याप्त रहता है। अगर वेदाध्ययन किया जाय तो मुख्य विषय के प्रति वेद मौन ही रहते हैं। इसलिये उनके पठन से भी मैं प्राप्त नहीं होता। यज्ञ और दानधर्म का शौक पालने पर भी मैं प्राप्त नहीं होता। देह से तप करने पर तप करने वाले के शरीर में क्रोध उत्पन्न होता है। वह तापसी क्रोध को पीछे नहीं जाने देता जिससे क्रोध दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। सर्वस्व का त्याग कर संन्यास ग्रहण करने से भी देहाभिमान नष्ट नहीं होता। बिरजा होम करने पर वह भी व्यर्थ हो जाता है क्योंकि मानाभिमान की बाधा होती है। श्रौतस्मार्त कर्म यथासांग करने पर अथवा इष्टापूर्त यज्ञ करने पर भी वहाँ स्वर्ग के नानाप्रकार के भोग बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिये साधकों के लिये कर्म क्षयरोग की तरह विनाशकारी बन जाते हैं। नाना प्रकार के दान करने पर भी वासना उस दान के प्रतिफल की इच्छा करती है अथवा दाता होने का अहंकार उत्पन्न होता है और वह किसी प्रकार भी कम नहीं होता। कोई साधक अनंतव्रत करता है और चौदह गाठों में देवता को बांधता है, फिर भी अन्त में वह अनन्त को ही भूल जाता है और हाथ में जो देवता था उसे भी खोदता है। अनेक प्रकार के यज्ञ करने पर उस प्रत्येक यज्ञ के विधि, मंत्र, तंत्र, पात्रशुद्धि आदि की झंझट के कारण वह याग पूरी तरह सिद्ध नहीं होता और यदि सिद्ध हो भी गया तो उससे होने वाले फलभोग की पीड़ा पीछा नहीं छोड़ती। अनेक प्रकार के वेदमंत्र और गुप्तमंत्र पढ़ते समय उनका उच्चार अव्यवस्थित नहीं होना चाहिये क्योंकि उन मंत्रों की रचना मंत्रवाद्यों से ही की जाती है। उसमें चूक होने के कारण अनेक मंत्रवादी पागल हो गये हैं। लाल वस्त्रों को भगवा बना कर अभिमान से तीर्थाटन पर चल पड़ते हैं। लेकिन उन बेचारों को भीख माँगनी पड जाती है और क्षणभर का भी विश्राम नहीं मिल पाता। बारह-बारह यमनियमों का अखण्ड परिश्रम करने में चौबीस तत्त्वों में ही इनका कल्पना संसार फैला रहता है। पच्चीसवाँ तत्त्व अर्थात् सबसे सगा सम्बन्धी जो परमात्मा है उसका किसी को पता ही नहीं रहता। इस प्रकार जो भी साधन बताये गये हैं उन्हें यदि अपने मन से किया जाय तो उन सबमें जो बाधा है वह मैं तुम्हें बता चुका हूँ। लेकिन यदि उन्हें साधुओं के निर्देश के अनुसार किया जाय तो वे सबके सब सिद्ध हो जाते हैं। हर साधन का विधि विधान क्या है, उसके क्या प्रकार हैं इसका पता अपने मन से कभी समझ में नहीं आता। लेकिन बिना किसी प्रकार के साधन का प्रयोग किये, केवल सत्संग से मुझे प्राप्त करने वाले लोगों की संख्या कल्पनातीत है। उसके सम्बन्ध में तुम्हें बताऊँगा।

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः॥ ३॥

विद्याधर मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघः॥ ४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वैसे देखा जाय तो केवल जड़, मूढ़ और शुद्ध रजतम योनि में जन्म लेने पर भी वे दृढ़ सत्संग के कारण मुझे प्राप्त कर सके। दैत्य, दानव, निशाचर, पक्षी, पशु, गन्धर्व, अप्सरा, सिद्ध, चारण, विद्याधर, नाग, विषैले सर्प, गुह्यक वे सभी मेरे पद तक पहुँच गये। इस प्रकार जब पक्षी, पशु, सर्प इन सबने मुझे प्राप्त कर लिया तो मनुष्य तो सहज ही उन सबमें श्रेष्ठ है। सत्संग से वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ आदि ने मुझे प्राप्त कर लिया। इतना ही क्यों? लेकिन जिनको वर्णाश्रम धर्म से बाहर कर दिया गया है और जिनका कोई नाम भी नहीं लेता, जिनकी छाया से ही संसार दूर भागता है ऐसे मलिन अंत्यज लोगों ने भी सत्संग कर मुझे प्राप्त कर लिया है। इतना ही नहीं बल्कि देवता और ब्राह्मण भी उनका वंदन करते हैं। ऐसे संतों की कीर्ति अपूर्व है। सत्संग करने से निंद्य भी वंद्य हो जाते हैं। उद्धव! तुम सचमुच निष्पाप हो इसलिये तुम सत्संग करो। पहले से ही शुद्ध सोना जब रत्न की संगत करता है तो उसका मूल्य बढ़ता ही जाता है और वह राजा के मुकुट की शोभा बढ़ाता है। उसी प्रकार पुण्य के बल पर सत्संगति प्राप्त होने पर लोग अनंत सुख भोगते हैं, देवाधिदेव उनका वंदन करते हैं और शंकर आदि भी उनकी भेंट करने आते हैं। यमधर्म उनके चरणों में लग जाते हैं और तीर्थ उनका चरणतीर्थ माँगते हैं। भक्तिभाव से संगत करने से पुरुष को इतना लाभ मिलता है। दैत्य, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र तथा अंत्यज की ही क्या बात करते हो, अरे, उन युगों में वहाँ और भी कईयों का उद्धार हुआ है।

बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः॥ ५॥

सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥ ६॥

जो वृत्तासुर इन्द्र के साथ युद्ध कर रहा था उसका वर्णन वेदों ने भी किया है। युद्ध में भी उसकी बुद्धि विषमभाव रहित थी इसलिये उसने मुझे प्राप्त कर लिया। नारद की कथाएँ सुनकर जो गर्भ में ही मुझसे गले मिला वह भक्तराज शिरोमणि प्रह्लाद ने कयापु के पेट से जन्म लिया था। महापराक्रमी वृषकर्मा दैत्य मेरे पद में प्रविष्ट हुआ। बलि के द्वार पर भिक्षा माँगने के लिये मैंने बटु वामन का अवतार लिया। कपट से बलि को बन्दी करने पर छलने वाला ही छला गया। मेरे जिम्मे ही द्वारपाल का काम सौंपा गया और बली मेरे अधीन हुआ। उसी बली का पुत्र बाणासुर शिव के वरप्रसाद से उन्मत्त हो गया था। उसने मेरे ही पुत्र के पुत्र को (प्रद्युम्न का पुत्र अनिरुद्ध) चुरा लिया और उसमें दोनों का जासूस था नारद। उस चोर बाणासुर को मैंने युक्ति से पकड़ा और उसे अत्यंत जर्जर किया। उसकी सहस्र भुजाओं को काट डाला। शंकर ने बीच बचाव कर उसके प्राण बचा दिये। उसने कहा, "कहीं अपने भक्त के पुत्र का संहार न कर देना।" मुझे भी बलि के प्रति प्रेम उमड़ पड़ा इसलिये मैं अखण्ड उसके द्वार पर रहता हूँ, अतः बाण का भी मैंने उद्धार कर दिया। फिर शंकर को सन्तुष्ट करने के लिये मैंने अपने हाथ में बाण उठाकर ऐक्य से शिव पद पर पट स्थापित किया तब कहीं उसे सुख प्राप्त हुआ। अर्जुन ने खांडव वन अग्नि के हवाले किया, उसमें मयासुर जलने लगा तो मैंने ही उसका उद्धार किया। शत्रु का भाई विभीषण राक्षस कुल में पैदा हुआ था वह अनन्यभाव से मेरी शरण में आया इसलिये वह मेरा परममित्र बन गया। सुग्रीव, मारुति तथा जामवंत के महान पराक्रम प्रसिद्ध ही हैं। रावण ने जंगल में जटायु को छिन्न-भिन्न कर दिया था, उसका मैंने उद्धार किया। गजेन्द्र सरोवर में ग्रहग्रस्त था। उसकी पत्नी और लड़कों ने भी उसे उसी अवस्था में त्याग दिया था। अन्त समय में वह दीनवाणी से मेरा स्तवन करने लगा। उसने समस्त की आशा छोड़

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दी, वैकुण्ठ मार्ग की ओर देखते हुए उसने एक सुन्दर कमल उठा कर कहा, "हे परमेश्वर! अत्यन्त शीघ्रता से आओ। गजेन्द्र की वह उत्कंठा देखकर मैं गरुड़ पर से कूद पड़ा और हाथी का बन्धन खोला। उसका जन्म पशु योनि में हुआ था किन्तु अंतकाल में उसने मेरा स्मरण किया इसलिये वह मेरे निजधाम तक पहुँच गया। इसीलिये पुराणों ने उसका गुणगान किया है। तराजू में तौल कर बेचने वाला एक बनिया था। वह सच बोलता था और सामान ईमानदारी से बेचता था। उसने सत्यव्रत से ही मुझे प्राप्त किया इसलिये उसका नाम सत्यतोलना प्रसिद्ध था। अंत्यजों में धर्मव्याध ने भी मेरा निजपद प्राप्त किया। जराव्याध तो प्रसिद्ध ही है। उसके अपराध करने पर भी मैंने उसका उद्धार किया। पैर पर बाण के आघात से ही कृष्ण का प्राणांत हुआ। हे परीक्षिति! वही जराव्याध था जिसका श्रीकृष्ण ने स्वयं ही उद्धार किया। मछियारों में गुहक को देखो। वह राम के सामने आया तभी उसके सम्पूर्ण कर्मों का नाश हुआ और वह निजधाम पहुँच गया। कुब्जा तो तीन जगह से टेढ़ी थी लेकिन भक्तिभाव में वह शुद्ध और सरल थी। उसके चंदन की पवित्र माधुरी का क्या वर्णन किया जाय? उसने चन्दन से मेरा विलेपन किया और मन मुझे अर्पण किया इसलिये मैं उसके अधीन हो गया। वह निजधाम पहुँच गयी। देखो। गोकुल की गोपिकायें संसार से परावृत्त होकर शरीर, मन और प्राण से मुझ पर आसक्त होने के कारण उन्होंने भी आत्मसुख प्राप्त कर लिया। गोपिकाओं को मुझसे बहुत प्रेम था या यों कहो कि मुझे ही गोपिकाओं से प्यार था। लेकिन हम दोनों के इस प्रेम की बराबरी की योग्यता प्राप्त करने में सारे साधन दुर्बल सिद्ध हुए। गृहस्थी की परवाह न कर, पति या पुत्रों का प्रेम छोड़ यज्ञपत्नियों को मुझसे ही प्रेम हुआ। भाविकों के मन में भक्ति के कारण परमेश्वर पर ही दृढ़ श्रद्धा रहती है। मुझे अन्न समर्पण कर वे मेरे निजधाम पहुँच गयीं। लेकिन जिन्हें कर्म का अभिमान था वे ब्राह्मण मुझ तक नहीं पहुँच पाये। एक ब्राह्मण अपने शास्त्राभिमान के बल पर अपनी स्त्री को मेरे पास नहीं आने दे रहे थे। वह लोगों से कहता था कि वे लोग वेदशास्त्र से भ्रष्ट हो गये हैं। गोरक्ष और ग्वालों की कैसी पूजा? अन्य स्त्रियों को मेरे पास आते देख वह स्त्री मुझसे मिलने के लिये बेचैन हो उठी। लेकिन वह ब्राह्मण अत्यन्त कर्मठ तथा कठोर अंत:करण का था। उसने उसे रोक रखा। बोला, "तुम्हारे पिता ने जब तुम्हें मुझे सौंपा तभी मैं तुम्हारे देह का पति बन गया हूँ। मुझे छोड़ तुम ग्वाले के पास कैसे जा रही हो?" तब वह बोली, "तुम इस देह के पति हो।" यह कह उसने अपना देह उसके सामने रख दिया और अपने प्राणों के साथ मुझसे मिलने के कारण उसे सायुज्यमुक्ति प्राप्त हुई। मेरी जिस प्राप्ति के लिये साधक तरह-तरह के प्रयत्न कर थक जाते हैं उन्हें किये बिना ही उन स्त्रियों ने अनायास मुझे प्राप्त कर लिया।

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः॥ ७॥

उन्होंने वेदपठन नहीं किया और न ही शास्त्रविद गुरु ही किये, व्रत, तप आदि अनेक प्रकार के साधनों का भी उन्होंने प्रयोग नहीं किया। अरे! केवल सत्संगति से ही कितनी ही स्त्रियाँ मेरे स्वरूप को प्राप्त कर सकीं। जो एकनिष्ठा से मेरी भक्ति करते हैं उनके लिये मैं श्रीकृष्ण सदा सुलभ हूँ।

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥ ८॥

जो संत केवल आत्मस्वरूपी थे उन्हें मेरी संगति प्राप्त हुई। भावार्थ से ही मुझसे मिलने के बाद तप, व्रत आदि की क्या आवश्यकता है? मुझे प्राप्त करने के लिये उनके पास भावार्थ यही एक पूँजी है। गोपियाँ भक्ति के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बल पर ही मेरे पद तक पहुँच गयीं। मेरी मुरली का स्वर सुनकर गोपियाँ सारा काम-काज छोड़ अपनी देह का भी ख्याल किये बिना मुझे ढूँढ़ते मेरे पास आयीं। पति और पिता के प्रेम की चिन्ता न कर अथवा वेद और शास्त्र की परवाह न कर उन्होंने मेरे प्रति ही भक्ति प्रकट की। गोपियों को मेरा प्रेम अत्यन्त प्रिय था। एक ही घाव से पुत्रस्नेह का त्याग कर विधि को पैरों तले कुचल कर गोपियों ने मेरे प्रेम के लिये मुझे त्वरित प्राप्त कर लिया। उसी प्रकार गायें भी मुरली के स्वर में बेहोश हो गयीं। मेरी मुरली के स्वर में तल्लीन होने के कारण बछड़े स्तनपान करना भूल गये। वे मेरे ध्यान में इतने तल्लीन थे मुँह का ग्रास मुँह में ही रह गया। मेरी मुरली का नाद सुनकर बाघ, हिरन भी परस्पर बैरभाव भूलकर एक-दूसरे के शरीर पर गर्दन टेक कर मुरली के नाद में तल्लीन हो गये। मैंने जिन यमलार्जुन (वृक्ष) को उखाड़ा वे भी यदि तर गये तो इसमें आश्चर्य कैसा? लेकिन वृन्दावन के वृक्ष, तृण आदि भी मेरे साहचर्य से तर गये इसे ध्यान में रखो। मैंने मोर के पंख धारण करने के कारण मोर भी तर गये। वृन्दावन में स्थित छोटे वृक्ष, बेलें, तृण, पाषाण आदि जड़ और मूढ़ वस्तुओं का भी मेरे सान्निध्य से उद्धार हुआ। मेरी संगति में अनन्य प्रीति होना यही उनकी शुद्ध भक्ति है। इसीलिये सचमुच कृतकृत्य होकर वे मुझ तक पहुँच पाये। अत्यन्त दुराचारी कालिया सर्प का भी मेरे पैरों के प्रहार के कारण उद्धार हुआ। अन्य नाग, नागिनें आदि समस्त सर्प परिवार का मेरे कारण उद्धार हुआ। अपनी जो निजप्राप्ति है, वह सचमुच मेरी संगति के बिना दुर्लभ है। श्रीकृष्ण उद्धव को बता रहे हैं।

यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥ ९॥

योग, याग, व्रत, दान, वेदाध्ययन, तप, तीर्थ, ध्यान, भक्तिभाव से संन्यास ग्रहण करना आदि जो अनेक साधन हैं, उनका निष्ठापूर्वक पालन करने पर भी यदि मन में दुराशा है तो कितना भी प्रयत्न करने पर भी वह प्राप्त नहीं होते। इस प्रकार के साधन कर थक जाने पर भी मेरी प्राप्ति नहीं हो पाती। लेकिन गोपियों ने सत्संग के कारण मुझे अनायास ही प्राप्त कर लिया। उन गोपियों के मन में मेरे प्रति अत्यन्त प्रेम था और मेरी संगति यही उनकी सत्संगति थी। सचमुच सत्संगति से ही आत्मपद की प्राप्ति होती है। गोपियों की प्यार में कैसी अवस्था थी इसका अनुभव तुम्हें गोकुल में हो ही चुका है। लेकिन उनकी प्रीति कैसी थी इसका तुम तर्क भी नहीं कर सकते। वह मैं तुम्हें बताऊँगा। गोपियों के असीम प्रेम का वर्णन श्रीकृष्ण अपने ही मुख से करने लगे। उद्धव का भाग्य कितना महान था कि भगवान गोपियों के प्रेम का रहस्य बताने लगे।

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः।
विगाढभावेन न मे वियोगतीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय॥ १०॥

अक्रूर सचमुच मुझे बलराम के साथ मथुरा ले गया उस समय गोपियों को जो दुःख हुआ उसका मैं वर्णन भी नहीं कर सकता। उनकी उस अवस्था का वर्णन करते हुए अभी भी मेरा संयम टूट जाता है। यह कहते समय भी भगवान का गला भर आया। भक्तों के सच्चे प्रेम का वर्णन करते समय श्रीकृष्ण प्रेम से पसीज उठे क्योंकि जो भक्तिकामना का कल्पतरु है ऐसे श्रीकृष्ण को भक्तों की करुणा निरुपम थी। मुझे मथुरा जाते देख उनकी आँखों से अश्रुधाराएँ फूट पड़ीं। मेरे लिये उनका हृदय भर आया और वे जमीन पर लोटने लगीं। उनके अंतःकरण का प्रेम अत्यन्त उत्कट था इसलिये मेरे प्रयत्न करने पर भी वे पीछे नहीं हटीं। मेरे पैर नहीं छोड़ रही थीं। मेरे लिये व्याकुल हो रही थीं। उनके हृदय की भक्ति अपूर्व थी। उन्होंने मेरे रूप को आलिंगन किया, मैंने उसे छुड़ाने का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रयत्न किया लेकिन उनके हाथों की गाँठ छूटती ही नहीं थी और उनकी साँस उनके देह में वापस लौट नहीं रही थी। वे लाज-शर्म बिल्कुल भूल गयीं। ससुर, पति तथा पिता के सामने मेरे चरणों पर माथा रखकर जोर-जोर से आक्रोश करने लगीं। उन्हें मेरे सिवा चारों ओर शून्य दिखायी देन लगा। वे बड़ी आशा से बार-बार मेरी ही शह देखने लगीं और लम्बी साँस लेकर बिलख-बिलख कर रोते हुए कहने लगीं, ''यह दुष्ट हमारे प्रिय मित्र को ले जा रहा है।'' अक्रूर को उसके ही सामने क्रूर कहने लगीं और अत्यन्त दीन होकर मेरे पास आयीं। मेरे सामने खड़ी होकर उन्होंने मेरा सुन्दर मुख देखा, तभी उन्हें मेरे वियोग के दु:ख का स्मरण हुआ और वे नीचे मुँह छिपा कर विलाप करने लगीं। इतनी वे मुझ पर आसक्त हो गयी थीं। उन्होंने अपना हृदय अनन्य भाव से मुझे ही सौंप रखा था। वे अपने सारे देहसुख भूल गयीं। मुझ पर उनका इतना अधिक प्रेम था। सचमुच ही उन्हें मेरे वियोग से अत्यन्त दु:ख हो रहा था। लेकिन उनके दु:ख की अवस्था मैं शब्दों में नहीं व्यक्त कर सकता। मेरे सिवा जो कुछ भी सुख था उसे वे गोपियाँ दु:ख ही समझने लगीं। कितना अलौकिक था उनका मेरे प्रति प्रेम। वे अपने अंत:करण से मुझे निकाल ही नहीं पा रही थीं। मैं गोकुल में रहने आया तब से वे मुझ पर आसक्त हो गयी थीं। उसी आसक्ति की साद्यंत कथा सुनो।

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥ ११ ॥

उन गोपियों का हर्ष कितना विस्मयकारी था। जरा देखो मुझे वृन्दावन जाते देख वे मेरा मुख देखकर प्रात:काल आनन्द का उपभोग करती थीं। दूसरे पहर मैं गौओं को पानी पिलाकर गोठों पर बिठाता था। वहाँ मुझे देखने के लिये वे गोपियाँ पानी पीने के बहाने आती थीं। वहाँ नाना प्रकार के विनोद, अनेक प्रकार की लीलायें तथा अनेक प्रकार के खेल खेलते समय तरह-तरह की मौज़ देखकर वे प्यारी गोपियाँ आनन्द से सुखी होती थीं। शाम को मुझे गाँव में आते देख वे आरती और न्यौछावर लेकर मेरे सामने दौड़ी आती थीं और बड़ी प्रसन्नता से मेरे चरणों पर मस्तक रखती थीं। इस प्रकार सुबह, दोपहर तथा सायंकाल मेरे दर्शन लेते हुए भी वे तृप्त नहीं होती थीं। उससे भी परे एक अत्यन्त गुप्त तथा एकान्त में घटी एक बात है। उद्धव! उस गुप्त बात का महत्त्व मैं तुम्हें समझाऊँगा। वह महान सुख का भी सुखस्थान है। स्वयं श्रीकृष्ण होते हुए भी मैं उसमें नाचता रहा। रासक्रीड़ा की रात हम सबको जिस सुख की प्राप्ति हुई, वह सुख या तो गोपियाँ ही जानती हैं या फिर मैं श्रीकृष्ण। उस सुख की माधुरी बेचारी लक्ष्मी भी क्या जान पायेगी? ब्रह्मदेवादिदेव भी पागल हो गये किन्तु उस सुख की माधुरी नहीं जान पाये। वह सुख प्राप्त करने के लिये शंकर ने योगाभ्यास किया फिर भी उसे उस सुख की प्राप्ति नहीं हुई। मोहिनी को देखकर वह उस पर मोहित हो गया। पार्वती ने भीलनी का रूप लेकर शंकर को वशीभूत किया। उस सुख की सुखकारी कथा हठयोगी और तपस्वी नहीं जानते। उद्धव! महामूर्ति संकर्षण पास में होते हुए भी उसे उस सुख की जरा भी प्राप्ति नहीं हुई। गोपियों के साथ जो यह रासक्रीड़ा हुई उसे कोई कामासक्ति कहेगा लेकिन वहाँ काम की प्राप्ति कैसे हो? उद्धव! ध्यान से सुनो। काम ने शंकर पर पूर्णतय: विजय प्राप्त कर ली थी अत: वह कहने लगा, ''मैं बड़ा पराक्रमी हूँ।'' वह अपने धनुषबाण से सुसज्जित होकर मेरी रासक्रीड़ा का भेद करने निकल पड़ा। लेकिन जहाँ मेरा स्वरूप ढाल बनकर सुरक्षा के लिये खड़ा हो वहाँ काम का कोई प्रभाव नहीं होता। मेरे स्मरण की ढाल इतनी शक्तिशाली है कि मदन के बाण के टुकड़े-टुकड़े हो गये। मदन की दृष्टि अत्यन्त चपल होती है। पराक्रमी मदन मौका देखकर कामीजनों को अपने प्रखर बाणों से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विद्ध करता है लेकिन वह कामबाणवृष्टि श्रीहरि के रंग में बिलकुल नहीं ठहर पाती। जहाँ मैं स्वयं आत्माराम क्रीड़ा करता रहता हूँ वहाँ बेचारा काम कैसे प्रवेश कर पायेगा? मेरी प्राप्ति की इच्छा से ही गोपियाँ कामरहित हो गयीं। उनमें कामवासना ही शेष नहीं रही। जो भी कोई मेरे नाम का स्मरण करता है उसकी ओर काम देख भी नहीं सकता। जिस स्थान पर मैं पुरुषोत्तम रमण करता हूँ, वहाँ कामकर्म का प्रवेश नहीं हो सकता। काम कहता है, ''हाय हाय! भाग्यवान होते हुए भी मैं अभागा हो गया। रासक्रीड़ा के अन्तिम क्षण तक मैं अभागा पहुँच ही नहीं सकता।'' मौज की वह रासलीला देखकर काम घण्टों तक लार चाटता रह गया लेकिन उसका अंश भी प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये वह सुख प्राप्त करने के लिये उसने मेरे ही पेट से जन्म लिया। उस मदन को मैंने अपने अंक में लिया और निजभाव से उसे आनन्दित किया। गोपियों ने मेरा ऐसा आत्मसुख रासक्रीड़ा के बहाने भोगा। रासक्रीड़ा की वह रात मैंने छह महीने की (मानव के ३६०००० महायुगों जितनी) बनायी थी। जहाँ मेरे ही क्रीड़ासुख की लहरें उछल रही थीं वहाँ काल और समय का स्मरण किसे रहता है? गोपियों का भाग्य अत्यन्त बलवान था तभी मेरा शुद्ध सुख उन्हें प्राप्त हुआ। मेरी ऐसी संगति में उन्होंने कितनी रातें व्यतीत कीं इसको कोई गिनती ही नहीं है। फिर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। मुझ पर उनका प्रेम बढ़ता ही चला गया। गोपियों ने मेरी भक्ति कर मुझ श्रीकृष्ण को प्रसन्न कर लिया और मेरी सुखप्राप्ति के लिये एकान्त में रासक्रीड़ा माँगी। वे गोपियाँ वेद के उदर की श्रुति थी यह जान लो। श्रुति के रूप में उन्हें मेरी प्राप्ति नहीं हुई इसलिये वे 'नेति नेति' (यहाँ परमेश्वर की प्राप्ति नहीं होगी) कहते हुए वहाँ से लौट गयीं। मेरे सुख की संगति उन्हें वहाँ प्राप्त नहीं हुई। विषयबुद्धि यही मुख्य अज्ञान है। वह होने पर मैं कभी भी नहीं प्राप्त होता इसे ध्यान में रखो। वेदोक्तविधि का ज्ञाता होने पर भी मैं पूर्णरूप से नहीं मिलता। ज्ञान-अज्ञान दोनों निःशेष होने पर ही मेरा आत्मसुख प्राप्त होता है। श्रुति ने यह बात निश्चित रूप से जान ली इसलिये वे सुख के लिये गोकुल में आयीं। वही सारी श्रुतियाँ गोपियों के रूप में गोकुल में आयीं थीं यह जान लो और रासक्रीड़ा के बहाने वे एकान्त में मेरी सुखप्राप्ति का उपभोग करने लगीं। उद्धव! इन बातों को भी एक ओर रहने दो। जिसकी जैसी भावना रहती है उसके लिये मैं वैसा ही देवता बना रहता हूँ इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। हे उद्धव! मैं भक्तों से किसी भी समय विन्मुख नहीं होता। जो भक्त जैसी भावना रखता है उसके अनुसार मैं फलद्रूप होता हूँ। मैं लोगों से सन्मुख रहता हूँ लेकिन वे ही मुझसे विन्मुख हो जाते हैं। इसका कोई इलाज नहीं है। वे जानबूझ कर दुःख भोगते हैं। मैं सकाम के लिये सकाम रहता हूँ और निष्काम के लिये निष्काम बन जाता हूँ। नास्तिक के लिये तो मैं तीनों लोकों में होते हुए भी नास्किता के कारण नहीं रहता हूँ। अस्तु! इस उपपत्ति का कितना वर्णन करूँ? सुनो! गोपियों को मेरे प्रति प्रेम था इसलिये उन्होंने मेरी संगति में जितनी रातें भोगीं उन्हें उन्होंने निमिषार्ध की तरह माना। लेकिन उन्हें प्राकृतिक रूप से जो रात्रियाँ उपलब्ध हुई थीं उन्हें वे अपने पति के सान्निध्य के होते हुए भी मेरे वियोग के कारण कल्प के समान बड़ी लगने लगीं। उनके उस दुःख की स्थिति को शब्दों में बताना कठिन है। मेरे वियोग में मेरा स्मरण करते हुए वे समाधिस्थ हो गयीं।

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥ १२॥

मैं गोकुल में था तभी से वे गोपियाँ मेरे प्रति आसक्त हो गयी थीं यह पूरी कथा मैंने तुम्हें यथातथ्य रीति से सुनायी। उन गोपियों को जब मैं अत्यन्त निष्ठुर होकर कृतघ्न की तरह छोड़कर जा रहा था उस समय मेरे वियोग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

काल के असह्य दुःख से पाषाण भी पिघल जाते। इस प्रकार मुझसे दूर होने पर भी मेरी ही कथा, मेरे ही गुणानुवाद तथा सदैव मेरा ही स्मरण करते-करते वे मत्स्वरूप तक पहुँच गयीं। चक्की पर अनाज पीसते समय वे जोर-जोर से मेरा ही गुणवर्णन करतीं अथवा दही मथते समय भी मेरा ही चरित्रगायन करतीं। छिड़काव समार्जन करते समय उन गोपियों को मेरा ही ध्यान लगा रहता था। इतना ही नहीं बल्कि मेरा स्मरण करते हुए बालकों को झूला झुलाती थीं। गाय का दूध निकालते समय भी मेरे ही स्मरण पर उनकी आसक्ति रहती थी। सारांश, सारा काम करते समय मुझे भूलने की बात ही वे भूल गयी थीं। कहीं आते-जाते समय भी उनका मन अखण्ड मेरी ही ओर लगा रहता था। बैठे रहने पर, खाना खाते समय, पीते समय उनका ध्यान मेरी ही ओर लगा रहता था। सारांश मेरे जाने के बाद उन्हें मुझसे अधिक प्रेम हो गया था। उनकी आँखें एकटक मेरी ही ओर लगी हुई थीं। वे हमेशा मेरी ही बातें किया करती थीं। इस प्रकार की अनन्य और सर्वत्र गोपियों और मेरे बीच प्रेम था। अपने घरबार में विचरण करते हुए भी वे मुझ में ही तल्लीन रहती थीं। इस प्रकार उनकी बुद्धि ही मत्स्वरूप हो गयी थी इसलिये वे अपना घरबार भी भूल गयीं। वे अपने पुत्र तथा पति को भूल गयीं और अपना कामधंधा भी वे भूल गयीं। वे शीत-उष्ण आदि द्वंद्व दुःख भी भूल गयीं। वे भूख-प्यास भूल गयीं। जिस देह के कारण उन्होंने पति और पुत्र को सगा मान लिया था उस देह को भूलकर उनका मन मुझ में ही रम गया। वे इहलोक और परलोक भूल गयीं। वे पूरा कार्यकारण ही भूल गयीं। जरा देखो! मेरा ध्यान करते रहने के कारण होने वाले आनन्दसुख का उपभोग लेते लेते वे अपना नाम और रूप भी भूल गयीं। चौबीस तत्त्वों के सारे विकार भूलकर मुनिश्रेष्ठ समाधि लगाता है। वह जिस प्रकार उस समाधि में सारे संसार को भूलता है, उसी प्रकार गोपियाँ भी सारा संसार भूलकर मत्स्वरूप ही हो गयीं या जिस प्रकार अनेक नदियाँ समुद्र में मिलते हुए उससे एकरूप होकर अपना नाम और रूप भूल जाती हैं, उसी प्रकार गोपियाँ भी अनन्यप्रीति से मेरे स्वरूप में मिलने के कारण नामरूप की भाषा ही भूल गयी। उन्हें इनमें से किसी भी बात की स्फूर्ति नहीं हो रही थी। सच्चिदानंद के स्वरूप के प्रभाव का क्या वर्णन किया जाय? सचमुच, मेरा स्वभाव न जानते हुए भी उन गोपियों का अनन्यभाव मेरे ही प्रति था। इसीलिये वे परब्रह्मस्वरूप तक पहुँच पायीं।

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुःसङ्गाच्छतसहस्त्रशः॥ १३॥

वे गोपियाँ केवल अबला थीं लेकिन मेरी संगति से उन्हें अत्यन्त प्रेम था और वह संगति भी कामासक्ति की अर्थात् शास्त्रप्रवृत्ति के विरुद्ध थी। शास्त्र के अनुसार मैं उनका पति नहीं था। लेकिन रूप के अनुसार देखा जाय तो मैं साक्षात मदन को भी मोहित करने लायक सुन्दर था। जो स्त्रियाँ शास्त्र सम्मति के विरुद्ध जाट बुद्धि से तथा व्यभिचार के लिये मुझसे रममाण हुई थीं वे चार प्रकार की स्त्रियाँ थीं—हस्तिणी, शंखिणी, चित्रिणी तथा पद्मिनि। उन चारों को मैं चार मुक्ति के स्थानों पर काम के मोह में रमा रहा था। अन्य किसी पुरुष की संगति में स्त्रियाँ क्षणभंगुर सुख भोगती हैं। लेकिन मेरी कामसक्ति से कभी विनष्ट न होने वाले निजसुख की प्राप्ति होती है। अपने पति की संगति से क्षणभर का आनन्द प्राप्त होता था, लेकिन मेरे सुख का आनन्द प्राप्त होने के कारण वे स्वानंदकंद परमानन्द का सर्वकाल उपभोग करती थीं। इसीलिये वे चंचल स्त्रियाँ अपने पति का सुख छोड़कर पूरी तरह मुझसे ही रममाण हुईं। मेरी कामकला ऐसी अपूर्व है। नौ रसों का रस जानने वाला, नित्य नये रंग उत्पन्न करने वाला एक मैं ही हूँ। इसीलिये गोपियाँ मुझ पर लुब्ध हुई थीं। उन गोपियों की भक्ति भी उतनी ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपूर्व थी। मन के अन्दर की भावना केवल मैं ही जानता हूँ। यही बात मन में लाकर वे जीवभाव से मुझे प्राप्त कर सकीं। अंग-प्रत्यंग का उपभोक्ता मैं ही हूँ, अंतर्बाह्य सर्वांग को शान्त करने वाला मैं ही हूँ यह जानकर वे मेरे साथ कामासक्त होती थीं। हावभाव, कटाक्ष आदि गुण तथा उसका गुप्त उद्देश्य मैं ही जानता हूँ। किस समय कौन-सा लक्षण समझना चाहिये, किस समय कैसे और कहाँ मिलना चाहिये यह भी मैं भी जानता हूँ। जिस समय वह अपने बिस्तर पर मेरी इच्छा करती रहती तभी मैं अपने सहवास से उसे सन्तुष्ट करता था। मुझे कभी छिप कर नहीं जाना पड़ता था और न दरवाजे पर कोई गुप्त संकेत ही देना पड़ता था। वह जीवभाव से मुझे वश हुई, उसे मैं उसकी शय्या पर ही तृप्त करता था। इस प्रकार सारे मनोरथों को पूरा करने वाले पुरुषों में एक मैं ही हूँ यह जानकर गोपियों ने मेरे ही प्रति शुद्ध भक्ति की थी। जिस पर निष्काम तपस्वी भी मोहित हो गये हैं, जिस पर योगी और संन्यासी भी अनुरक्त हुए हैं, उसी पर देह और घर-बार भूलकर गोपियाँ लुब्ध हुई थीं। अँधेरे में गुड़ खाने पर वह कडुआ नहीं लगता उसी प्रकार मेरा सच्चिदानन्द स्वरूप जाने बिना भी मेरी सेवा करते-करते वे मत्स्वरूप हो गयीं। पारस पत्थर है यह जानकर उसे लोहे के हथौड़े से तोड़ने का प्रयास करने पर लोहे का हथौड़ा भी सुवर्ण का हो जाता है। वैसी ही अवस्था गोपियों की हुई। विष समझ कर अमृत ग्रहण करने से मृत्यु टल कर अमरत्व प्राप्त होता है उसी प्रकार जार बुद्धि से मेरा भजन करने पर भी उन्होंने सायुज्यता प्राप्त की। मैंने गोपियों से कामविलास किया था उनका काम नष्ट किया इस पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्हें मेरे प्रति कामवासना से मोक्ष की ही प्राप्ति हुई। जिनका मेरे साथ संग हुआ ऐसी एक नहीं, दो नहीं असंख्य गोपियों ने आत्मपद प्राप्त कर लिया। वैरागर नाम के रत्न का यदि कंकड़ से स्पर्श होता है तो कंकड़ भी हीरा हो जाता है। उसी प्रकार मेरी संगति से कितनी गोपियों का उद्धार हुआ उनकी संख्या भी मैं नहीं जानता। मैं परब्रह्म की सुन्दर मूर्ति हूँ। मुझसे व्यभिचार करने के कारण गोपियों की अविद्या और पापों की राशि धुल गयी और उन्हें प्रत्यक्ष मूर्ति प्राप्त हो गयी। मैं अथवा मेरे संत इनमें से जिसकी भी संगति प्राप्त होगी वे निश्चित रूप से मुझे प्राप्त होंगे इसमें सन्देह नहीं है। कितने ही लोग विकल्प के कारण मेरे स्वरूप पर अनेक प्रकार के दोषारोपण करते हैं। किन्तु मेरे संत निर्दोष होने के कारण, उनकी संगति से निर्मल सुख प्राप्त होता है। हे उद्धव! तुम भी अधिक विचार-विमर्श न करो और सत्संग करते हुए सांसारिक उलझनों से मुक्ति पा लो।

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥ १४॥

उद्धव! मेरा स्वरूप शुद्ध निर्मल है। वेद त्रिगुण हैं इसलिये उन वेदों की जो प्रेरणा है वह मुझे प्राप्त करने में असमर्थ है, यह जान लो। उन वेदों से श्रुति-स्मृति अनेक प्रकार के कर्म लोगों से कराते हैं। उस कर्म की कर्मगति निश्चित रूप से किसी को भी नहीं मालूम होती। कर्म स्वरूप से अत्यन्त गूढ़ है। विधि और निषेध के कारण वह और भी कठिन हो गया है। महान ज्ञानी भी शास्त्रों के आधार से सूक्ष्म विचार करते हुए कर्म का निर्णय नहीं कर पाता। कोई कर्म प्रवृत्तिमूलक होता है तो कोई निवृत्तिमूलक। उसी प्रकार कोई सकाम रहता है तो कोई निष्काम। कर्म का स्वरूप अद्‌भुत है। वह साधक के ही शरीर पर आ गिरता है। कर्म के नाम से जो भी कुछ है वह सब अविद्यात्मक है और वेद त्रिगुणात्मक हैं। तत्संबंधी साधनरूप वेद में यही श्रवण करने योग्य है। तमोगुण से कर्मकाण्ड उत्पन्न हुआ है, रजोगुण से उपासनाकाण्ड उत्पन्न हुआ है और सत्त्वगुण से ज्ञानकाण्ड उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार वेद त्रिकांडात्मक तथा त्रिगुणात्मक है। वेद, शास्त्र, विधान एवं विधि इनका मूल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अविद्या ही है। उस अविद्या के कारण ही देहबुद्धि उत्पन्न होकर वह मनुष्य को विधि निषेध में भटका देती है। इसलिये हे उद्धव! तुम पहले अविद्या को त्याग दो ओर अविद्या का सम्बन्ध छोड़ देने से सहज ही वेद विधि का त्याग हो जाता है। ''लेकिन पहले 'अविद्या' क्या है यही हमारी समझ में नहीं आता। फिर उसका निराकरण कैसे करें?'' इसका उत्तर यही है कि हमारी कल्पना का जो बोध है, वही स्वतःसिद्ध अविद्या है। उसी कारण से विधिनिषेध की बाधा होती है। उसका त्याग करने से वह शुद्ध ब्रह्म हो जाता है। समरांगण में सेनापति का पतन होने पर सेना अपने आप ही भाग जाती है। उसी प्रकार अविद्या का त्याग करने से विधि और विधान से सहज ही छुटकारा प्राप्त हो जाता है। यदि मूल धुरा ही तोड़ दी जाय तो घोड़े जुते होने पर भी रथ नहीं चल पाता। एक ही घाव से जड़ काटने पर शाखाएँ और पल्लव अपने आप टूट जाते हैं। उसी प्रकार अविद्या को शीघ्रता से नष्ट करने पर विधि-निषेध सहज ही अपनी जगह नष्ट हो जाते हैं। वेदों का सारांश यही है कि मुझ भगवान को भजना चाहिये। शास्त्रों में वेदान्त श्रवण का वही अर्थ बताया गया है। उस वेदांत श्रवण का फल यही है कि अविद्या को निर्मूल किया जाय। उस अविद्या को निरस्त कर देने से फिर श्रवण नहीं करना पड़ता। गंतव्य स्थान तक पहुँचने पर जिस प्रकार आगे नहीं जाना पड़ता, उसी प्रकार अविद्या नष्ट होने के बाद श्रवण और मनन की आवश्यकता नहीं रह जाती। अब तुम कहोगे कि यह अविद्या किस प्रकार नष्ट हो? यह बहुत कठिन है। लेकिन यह संकट भी कैसे दूर किया जाय यह मैं तुम्हें बताऊँगा। वेद, शास्त्र अथवा कर्म विधान का साधन अविद्यात्मक ही है। उस अविद्या को दूर करने के लिये मेरी ही शरण में जाना चाहिये।

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥ १५॥

स्त्री पुत्रादि विषयों का ध्यान छोड़ तथा योग, योग्यता, बुद्धि, कर्मठता तथा कर्म का अभिमान त्याग कर मेरी शरण में आना चाहिये। वेदाध्ययन छोड़कर, शास्त्रश्रवण छोड़ कर, प्रवृत्ति और निवृत्ति को त्याग कर मेरी शरण में आना चाहिये। धन और सम्मान के लिये परिश्रम करना छोड़, ज्ञान और प्रतिष्ठा को छोड़ अनेक प्रकार की निष्ठाओं को छोड़ मुझ श्रेष्ठ ईश्वर की शरण में आना चाहिये। वैदिक और लौकिक आचार छोड़ कर, पुराणोक्त तथा तांत्रिक आचार छोड़कर मेरी शरण में आने से मेरा आत्मसुख प्राप्त करोगे। कुल की श्रेष्ठता छोड़कर, जाति का अभिमान छोड़कर, आश्रम की उच्चता का विचार छोड़ कर मेरी शरण में आओ। ज्ञान और ध्यान छोड़ कर, विधि और विधान छोड़ कर, देह का अभिमान छोड़ कर मेरी शरण में आओ। मेरा नाम अंतर्यामी है क्योंकि मैं मुख्यरूप से हृदय के भावों को जानता हूँ। शब्दों के योग से मैं कभी अलग नहीं होता। लेकिन ममत्त्व छोड़ कर परब्रह्म के प्रति श्रद्धा अवश्य रखनी चाहिये। उद्धव! त्याग को ही त्याग करने का लक्षण तुम्हें बताता हूँ। सभी प्रकार के अभिमान को छोड़ना यही त्याग का प्रमुख लक्षण है। सारा अभिमान छोड़कर मेरी शरण में आने पर फिर जन्म-मरण कैसा? मेरे प्रताप से ही तुम तर पाओगे यह ध्यान में रखो। ''तुम्हारी शरण में आने के लिये क्या पहाड़ों और गुफाओं में जाकर बैठना चाहिये, या किसी झोपड़ी में रहना चाहिये या दसों दिशाओं में भटकना चाहिये? तुम्हारा रहने का कोई निश्चित गाँव नहीं है। तुम्हारे रहने का निश्चित स्थान कौन सा है? तुम्हारी शरण में आने के लिये कोई कहाँ जाये?'' इस प्रकार की कल्पना तुम अपने मन में करोगे? तो उसका उत्तर है, ''मैं तुम्हारे हृदय में हूँ। उस हृदय में रहने वाले की ही शरण में जाना चाहिये। सम्पूर्ण भाव से और अपने सर्वस्व सहित मुझ हृदयस्थ की शरण में आओगे, तभी समस्त प्राणिमात्र में तथा हृदय में रहने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाला मैं तथा मेरी सर्वव्यापकता तुम्हें प्राप्त होगी। मन में तिलमात्र भी अभिमान रखकर मेरी शरण में आओगे तो मेरी प्राप्ति नहीं होगी क्योंकि अभिमान ही मेरी प्राप्ति में आने वाली बाधा है। कुत्ता जब पकवान को स्पर्श करता है तो ब्राह्मण जिस प्रकार उसे स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार मन में अभिमान रहने पर मैं भी साधक को स्पर्श नहीं करता। रजस्वला स्त्री की आवाज सुनकर जिस प्रकार पुरश्चरण करने वाला दूर भाग जाता है, उसी प्रकार अहंकार पास रहने पर मैं पास होते हुए भी दूर चला जाता हूँ। धोबी का स्पर्श किया जल जिस प्रकार सज्जन ग्रहण नहीं करते उसी प्रकार हे उद्धव! हृदय में अभिमान होने पर मैं उससे नहीं मिलता। आँख कंकड़ को नहीं सहती, घाव पर शूल अधिक चुभता है, मोती में जोड़ नहीं लगता या खीर में इमली नहीं जँचती, उसी प्रकार हे उद्धव! मुझमें अभिमान प्रवेश नहीं करता यह ध्यान में रखो। त्याग का यह लक्षण मैंने तुम्हें पूरी तरह बताया। अपनी पत्नी को परपुरुष के साथ सहवास करते देख जिस प्रकार पति उसे त्याग देता है, उसी प्रकार अभिमान में लिपटे हुए भक्तों को यह श्रीकृष्ण स्वीकार नहीं करता। इसलिये यदि अभिमान छोड़ कर तुम मुझ हृदयस्थ की शरण में आओगे तो देवकी की सौगन्ध मैं तुम्हारा उद्धार करूँगा। इस पर तुम कहोगे "तुम्हारी तो दो माताएँ हैं तो किस माता की शपथ को सच माना जाय?" तो मुझे सचमुच तुम्हारी ही शपथ है। तुम्हें मेरे ही कारण निर्भयता प्राप्त होगी। "लेकिन तुम शब्दों में तो फँसते नहीं और तुम्हारे लिये क्रिया कुछ भी नहीं है। तो तुम्हारी शपथ को सच कैसे माना जाय?" यदि तुम्हारे मन में ऐसी कल्पना आ रही हो और तुम सोचो कि तुम्हारे शब्दों पर विश्वास करके कोई अपना स्वधर्म छोड़ दे और कहीं तुम्हारी शपथ झूठ सिद्ध हुई तो तुम्हारे जैसे समर्थ से कौन झगड़ा करेगा? तो हे उद्धव! ऐसा मत कहो। मैंने तुम्हें जो शपथ दी है वह परमात्मा की शपथ है। उसे पूरी तरह सच समझो। उद्धव! तुम मेरी परिपूर्ण आत्मा हो। मुझ में और तुम में द्वैतभाव नहीं है। तो तुम्हारे सामने मैंने जो शपथ ली उसका साक्षी परमात्व तत्त्व ही है। लेकिन मैंने बताये सिद्धान्त का प्रमाण जब साक्षात् वस्तुस्थिति ही है तो इसमें शपथ की क्या आवश्यकता है? सर्वभाव से तुम मेरी शरण में आये हो तो तुम अभी के अभी तर जाओगे। प्रेम से मेरी शरण आने पर कलिकाल भी तुम्हारे चरण छुएगा। फिर संसार का भय कैसा? तुम्हारी ओर वक्रदृष्टि से देखने का किसमें साहस है? मेरी शरण में आते ही तुम्हें तत्काल मेरा सामर्थ्य प्राप्त होगा। तब संसार का सारा भय समाप्त हो जाएगा और कलिकाल तुम से काँपने लगेगा। घास में आग की चिनगारी गिरते ही वह सुलग उठती है और वह अग्नि अनेक जंगलों के वृक्ष जला देता है, उसी प्रकार यदि तुम शुद्ध अंत:करण से मेरी शरण में आओगे तो संसार का जंगल तुम जला डालोगे। "हृदयस्थ की शरण में जाना चाहिये यह ठीक है लेकिन वह हृदयस्थ हमारी समझ में नहीं आता।" ऐसा यदि तुम कहोगे तो उद्धव! उसका भी स्वरूप तुम्हें बताता हूँ, सुनो। नाम, रूप आदि का अभिमान छोड़ कर उद्धव का रूप शेष रहता है वही मुझ हृदयस्थ का स्वरूप है। इस प्रकार हृदयस्थ प्राप्त हो जाने के बाद सभी प्राणिमात्र में ईश्वर ही दिखायी देने लगता है। वहाँ उद्धव के रहने के लिये कोई अलग स्थान दिखायी ही नहीं देता। उस समय सभी प्राणियों में मैं ही दिखायी देता हूँ। आँखों से अनेक लोग देखने पर भी उन सब में अकेला मैं ही दिखायी देता हूँ। इस प्रकार हृदयस्थ से एकता प्राप्त कर लेने पर तुम मद्रूप हो कर मुझे प्राप्त करोगे। उद्धव! इस प्रकार मेरी प्राप्ति निर्भय तथा अटल है। यह गुप्त बात बताकर जब भगवान उद्धव की पीठ थपथपाने लगे तो उसने भी भगवान के चरण पकड़ लिये। कृष्ण उसे उठाने लगे लेकिन वह उठ नहीं रहा था। उसने कहा, "तुमने अपनी जो गुप्त बात बतायी वह मैंने सहज ही मान्य कर ली। अब केवल एक ही बात का सन्देह है, उसे मैं तुमसे अवश्य पूछूँगा।"

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उद्धव उवाच

संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर।
न निवर्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः॥ १६॥

हे कृष्ण! तुमने वेदों का और शास्त्रों का मंथन कर उसका सार अथवा योगरूप किले का भंजन अथवा रसमय सुख का सुखसमुद्र ही मुझे उपदेश के रूप में प्रदान किया। तुम योगियों के योगीश्वर हो। तुम सारे संसार के ईश्वर हो। तुम्हारा भाषण सत्य ही होगा लेकिन मुझे वह संदेहास्पद लगता है। तुमने ही पहले अत्यन्त दयापूर्वक बताया था कि स्वधर्म का आचरण करना चाहिये और उसे सच मानकर मैंने उस पर विश्वास कर लिया। जो स्वधर्माचरण करना है वही मेरा भजन है ऐसा तुमने बताया और अब अंत में उसे भी छोड़ कर शरण में आने की बात करते हो। तो अब आत्मा कर्त्ता है या अकर्त्ता है यही समझ में नहीं आता। हमें अब सब प्रकार के कर्म करने चाहिये या छोड़ देने चाहिये? हे श्रीकृष्ण! तुम्हारा उपदेश करने का ढंग ही कुछ अव्यवस्थित है। इससे हम दुर्बल लोगों के मन में सन्देह अवश्य उत्पन्न हो जाता है। हे कृष्ण! अब क्या किया जाय? आत्मा यदि अकर्त्ता है तो फिर कर्म का कर्त्ता कौन है? और आत्मा यदि अकर्त्ता है तो फिर त्याग की कोई सम्भावना ही नहीं है। उद्धव का यह प्रश्न सुनकर कमलनयन श्रीकृष्ण ने हंस कर क्या कहा उसे ध्यानपूर्वक श्रवण करें।

श्रीभगवानुवाच

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठ॥ १७॥

भैया, उद्धव! सुनो। मैं माया के स्वभाव के अनुसार ही जीवदशा में हूँ इसलिये जीव को जीवधर्म से ही कर्तृत्व प्राप्त होता है। जल में सूर्य प्रतिबिम्बित होता है और वह प्रतिबिम्ब जब हिलता है तो सूर्य के हिलने का आभास होता है। उसी प्रकार अकर्त्ता होते हुए भी जीव के अहंता स्वभाव से मैं कर्त्ता दिखायी देता हूँ। राजा निद्रा के वश में कभी स्वप्न में भिकारी बन जाता है उसी प्रकार प्रकृति के कारण ही मुझमें जीवभाव प्रतीत होता है। वास्तव में वह स्वयं राजा है लेकिन स्वप्न में वही अन्न की भीख माँगता है। उस समय जो कोई उसे मुट्ठीभर अनाज देता है उसकी स्तुति करते हुए वह राजा कहता है, "अरे! तुम राजा हो।" वास्तव में वह स्वयं ही राजा है लेकिन उस समय उसे यह बात मालूम नहीं रहती। उसी प्रकार जीव की स्थिति रहती है। उसका अपना पूर्णत्त्व उसकी ही समझ में नहीं आता। जिस प्रकार स्वप्न की अवस्था में राजा भिकारी हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण मैं कर्मकर्त्ता बन गया हूँ। ऐसी ही अवस्था में हमें वेदोक्त विधि विधान करना आवश्यक हो जाता है। इसीलिये जब तक ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक स्वधर्म का आचरण करना चाहिये। राजा जब तक नींद से जग कर राजवैभव पर नहीं आता तब तक उसके हाथ से भिकारी का काम होता है। राजा जब जागृत होकर राजपद पर आता है तो उसे 'भीक' शब्द कहने में लज्जा होने लगती है। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर वह 'मैं कर्त्ता' इन शब्दों का उच्चार कभी नहीं करता। राजा को जिस प्रकार झूठा भिकारीपन प्राप्त हुआ था उसी प्रकार परमात्मा का जीवभाव भी मिथ्या है यह ध्यान में रखो। अब उस जीव को शरीर में संचार करना पड़ता है उसका भी लक्षण सुनो। जीव जड़ को सजीव करता है इसलिये उसे 'जीव' कहा जाता है। सहज ही उसके स्वभाव धर्म के अनुसार जीव को चैतन्य रूप प्राप्त होता है। गागर में दीपक रखने पर उसका प्रकाश गागर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में फैलता है, वही दीपक घर में रखने पर प्रकाश घर भर में फैलता है। उसी प्रकार जब तक शरीर में है तभी तक यह जीव है अन्यथा यह साक्षात् सदाशिव ही है। अब इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। जीव का और शिव का अनुभव इस प्रकार का है। दर्पण का सूर्य मानों हाथ में दिखायी देता है, उसी प्रकार शरीर में भी जीव की प्रसूति (जन्म) हुई है। उस जीव की स्थिति उत्कर्ष के कारण रहती है इसलिये उसे 'प्रसूति' कहते हैं। दर्पण बहुत छोटा रहता है लेकिन उसमें सूर्य का पूरा प्रतिबिम्ब दिखायी देता है। उसी प्रकार विदेह को देह धारण करना पड़ता है। उसे 'विवरप्रवेशन' अर्थात् बिल में प्रवेश करना कहते हैं। कुण्ड में चन्द्र की स्थिति आकाश के चन्द्र की अधोगति मालूम होती है। उसी प्रकार शरीर में जीव की प्रसूति होती है। अर्थात् जो अव्यक्त है वह व्यक्त में प्रवेश करता है। जल में प्रतिबिम्बित होने पर भी सूर्य गीला नहीं होता। उसी प्रकार देह में कार्य करते हुए भी आत्मा अलिप्त ही रहता है। जल का प्रतिबिम्ब जिस प्रकार जल के हिलने से हिलता है उसी प्रकार जीव को जन्म और मरण प्राप्त होता है। कुण्ड में जिस प्रकार पूर्ण चन्द्र प्रतिबिम्ब के रूप में फँस जाता है उसी प्रकार जीव को भी कर्म का बन्धन प्राप्त होता है। कुण्ड का पानी सूख जाने पर और प्रतिबिम्ब अदृष्य हो जाने पर क्या चन्द्रबिम्ब अदृश्य हो जाता है? चन्द्र का बिम्ब जैसा था, वैसा ही वह रहा। कुण्ड के पानी में जो उत्पन्न हुआ और पानी सूख जाने पर अदृश्य हो गया वे दोनों मिथ्या थे। कुण्ड से बाहर निकालने का प्रयत्न करने पर भी वे हाथ नहीं आते। उसी प्रकार देह में जीवत्व मिथ्या ही रहता है। उसे सच मान लेने पर अत्यन्त दु:ख सहना पड़ता है। दर्पण बड़ा हो या छोटा हो लेकिन उसमें सूर्य का पूर्ण प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है। उसी प्रकार अंत:करण में रहने वाला मैं समस्त प्राणिमात्र में समान रूप से और सम्पूर्णता से व्याप्त रहता हूँ। सूर्य कुण्ड में फँसा हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार मूर्ख लोग जीव के लिये कर्म का बन्धन मानते हैं। आकाश के सूर्य को नहीं देखते और वह कुण्ड में फँसा हुआ है यही मानते हैं। उसी प्रकार जिन्हें निर्गुणों का अनुभव नहीं है वे ही जीव को बद्ध समझते हैं। आग की ज्वालाओं को जाल में फँसाने का प्रयत्न करने में, जाल ही जल जाता है। उसी प्रकार आत्मा को कर्म में बांधने के प्रयास में कर्म ही नि:सत्त्व हो जाता है। आवाज उत्पन्न होने के लिये आवश्यक है वायु और प्रत्याघात। लेकिन इन दोनों के वि‍ा ही जो आवाज सदा घूमती रहती है वह है 'अनाहतध्वनि'। उस अनाहत ध्वनि का मूल शब्द जिसे परा और अपरा वाणी में 'परा का नाद' कहते हैं और योगी जिसे बहुत चाहते हैं उसका अनुवाद शब्दों में व्यक्त होने वाला नहीं है। जिस ध्वनि की आनन्ददायक माधुरी शंकर ही जानते हैं अथवा उस सुन्दर मिठास को सनकादिक ने ही यथेच्छ चखा है। वायु का सत्त्व खोजने पर तथा शब्दतत्त्व को उससे मिलाने पर उन दोनों के चैतन्य से जो सजीवता उत्पन्न होती है, उसी को मन का स्वरूप प्राप्त होता है। जो चेतना का चैतन्य है वही वायु का शुद्ध सत्त्व है। शब्द का मूलतत्त्व वही है और उसी के योग से जीव मनोरूप होता है। जीव का शरीर के साथ संयोग किस प्रकार होता है इसे श्रीकृष्ण स्वयं बताने लगे तो आधारादि चक्र से घटने वाले सभी संस्कारों का क्रमानुसार वर्णन किया। 'मैं' इस पहले ही भ्रम से जीव को जीवत्व का आभास होने लगता है और वह जिस भी तत्त्व में प्रवेश करता है, उस तत्त्व को वह 'स्वयं' ही कहने लगता है। 'मैं देह' उसने कहते ही तत्काल उसकी पूर्णता होकर उसी समय उसे एकदेशीय तथा अंशभूत देहात्मबुद्धि प्राप्त होती है। वह सूक्ष्म नाद और अतिसूक्ष्म प्राण मिलकर प्रथमत: आधारचक्र में प्रवेश कर प्रारम्भ में ही अत्यन्त सूक्ष्म स्फुरण पाकर परा नामक वाचा उत्पन्न होती है। आधारचक्र में प्राण का निवास रहता है और परा नाम की वाणी वहीं रहती है। इसीलिये मन में अत्यन्त सूक्ष्म एवं कोमल स्फुरण उत्पन्न होता है और स्वाधिष्ठान चक्र में मन का पोषण होने लगता है। वहाँ पश्यंति वाचा बोलने का प्रयत्न करती रहती है किन्तु वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बोल नहीं सकती। इस चक्र में प्राणवायु भी एकत्र रहता है किन्तु वह उसके आगे नहीं जा पाता। वहाँ प्राण और अपान का झगड़ा होकर दोनों ही रूठ जाते हैं। वहीं बहुत बड़ा गृहकलह मच जाता है और दोनों में अलगाव होने लगता है। इस प्रकार प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान ये पाँच प्राण अलग-अलग रहने लगते हैं। जो पहले रूठ गया था उसे 'अपान' कहते हैं। गुस्से में जो आगे बढ़ा आता है उसे 'प्राण' कहते हैं। दोनों में जो समानरूप से नाभि में रहता है, उसे 'समान' कहते हैं। जो कंठ में रहता है, उसका नाम 'उदान' है। लेकिन व्यान को रहने का स्थान ही नहीं है इसलिये वह पूरे शरीर में परिभ्रमण करता रहता है। इनसे भी सूक्ष्म पंचप्राण होते हैं जो भिन्न-भिन्न स्थानों में रहते हैं। उन्होंने स्वयं ही अपने रहने के लिए अलग-अलग स्थान निश्चित कर लिया है। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा पाँचवाँ धनंजय यही वे पंचप्राण हैं। इनकी शरीर में जहाँ बस्ती रहती है वे स्थान तुम्हें निश्चित रूप से बताता हूँ। छींकर नाग का घर है, जम्हाई कूर्म का घर है और ढकार कृकल का घर है। हिचकी देवदत्त का निवास है। लेकिन धनंजय को कहीं भी बसेरा नहीं मिलता इसीलिये जीव और देह का संगम होने के स्थान पर (अर्थात् चिच्चडग्रंथि में) धनंजय रहता है। इससे जीव शरीर को छोड़ देता है तो भी कुछ समय के लिये यह शरीर को बचाकर रखता है। स्वाधिष्ठान नामक चक्र से प्रारम्भ कर क्रमानुसार प्राण के दस भाग होते हैं। उनका स्थान, मान और लक्षण ये सारी बातें मैंने तुम्हें बतायीं। मैंने तुम्हें पहले ही यह बात बता दी है कि प्राण और अपान ये दोनों रूठे हुए हैं। इसके बाद उन दोनों का कभी मिलन नहीं हुआ क्योंकि वे दोनों ही बहुत हठी तथा सनकी हैं। उन दोनों में जो मेल करा दे वही प्यारा दुलारा है, यह जान लो। उसे मैं स्वयं ही अपना सर्वस्व अर्पण करता हूँ। इसी का नाम योगसाधना है। हे उद्धव! प्राण के लक्षण बताते-बताते सहसा प्राण और अपान की साम्यस्थिति बताने का प्रसंग आया। इसलिये तुम भी उसे सुन लो। स्वाधिष्ठान चक्र से मणिपूर चक्र में आते समय जीव और मन की एकता होती है। वहीं सूक्ष्मप्राण का निवास होने के कारण पश्यंती परावाणी की एकता प्राप्त करती है। तब मन में खिलाड़ी प्रवृत्ति उत्पन्न होकर बाल्यदशा प्राप्त होती है, यह समझ लो। इसके बाद प्राण आराम से आगे बढ़ता है और अनाहत स्थान तक पहुँच जाता है। तब पश्यंती वाणी की कृपा से मध्यमा नाम की वाची उत्पन्न होती है। वह मौन का दामन छोड़े बिना अपने से ही गुनगुनाने लगती है। यहाँ मन को मुग्धावस्था (सोलह वर्ष के लगभग की अवस्था) प्राप्त होकर वह अनेक प्रकार के उपभोगों और सुखास्थिति की कामना करती है। लेकिन लज्जा के कारण कुछ कह नहीं पाती। फिर प्राण अत्यन्त तत्परता से विशुद्धि स्थान पर पहुँचता है और उच्छृंखल उदान का रूप धारण करता है। तब मन को भी परिपूर्ण यौवन प्राप्त होता है। उस विशुद्धि चक्र में भीतर से परावाणी भी आ मिलती है और पश्यंती और मध्यमा भी एक हो जाती हैं। इस प्रकार वे सब बड़ी शान से विचरण करने लगती हैं। उनके इस झटके के पीछे-पीछे तत्काल मुँह से वाणी प्रकट होती है। वह यौवन से उन्मत्त रहती है और मुँह से स्वर और वर्णों की व्यर्थ की बड़बड़ करती रहती है। आज्ञाचक्र की स्थिति भौहों में होती है और वह उनसे अलग है। वहाँ वाणी का प्रवेश नहीं होता। योगियों का हंस लक्षण यही है। ये क्रमानुसार छह चक्र हैं। चार मातृका, अट्ठाईस वर्ण तथा सोलहों सम्पूर्ण स्वर प्राप्त हो जाएँ तो यही योगियों का हंसलक्षण होता है। अब किस चक्र में कौन से वर्ण उत्पन्न होते हैं मातृका का क्या स्थान है सारे स्वर कहाँ उत्पन्न होते हैं उनके भी लक्षण सुनो। आधारचक्र में चार पंखुड़ियों की आकृति होती है और उन आकृतियों में चार मात्राएँ छूटी रहती हैं। व, श, ष तथा स इन अक्षरों को शास्त्रज्ञों ने मात्रा कहा है। स्वाधिष्ठान छह पंखुड़ियों का चक्र है। वहाँ छह वर्ण स्थापित हैं। 'ब' कार से 'ल' कार तक (ब, भ, म, य, र, ल) ये जो छह वर्षा हैं वे उन स्थानों पर निश्चित रूप से रहते हैं। मणिपूर चक्र में दस पंखुड़ियाँ हैं, जहाँ दस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वर्ण स्थापित हैं। 'उ' कार से 'फ' कार तक (ब, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ) ये दस वर्ण उस चक्र में रहते हैं। अनाहतचक्र बारह पंखुड़ियों का है। वहाँ 'क' कार से 'ठ' कार तक (क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ) बारह वर्ण रखे हुए हैं। वे उस चक्र की शोभा बढ़ाते हैं। विशुद्ध चक्र सोलह पंखुड़ियों का होता है और उसमें अ, इ, उ, ऋ, लृ मिलाकर कुल सोलह स्वर हैं। उन सभी स्वरों की जमघट कंठस्थान में होती है। वेदों में उनका अगाध सामर्थ्य दिखाई देता है। लेकिन आज्ञाचक्र बहुत कठिन है। वहाँ काकीमुख नाम का जो द्वार है वह खुलता ही नहीं है। वहाँ प्राणों की छटपटाहट नहीं चलती। वहाँ का मार्ग अत्यन्त विकट होने के कारण वह उन्हें नहीं मिल पाता। वह आज्ञाचक्र दो पंखुड़ियों का होता है और वह शुद्ध रूप से हंस का मन्दिर है। वहाँ पहुँचने के लिये महान योगसामर्थ्य की आवश्यकता होती है। इस स्थान तक पहुँचने के लिये योगी अनेक प्रकार के हठयोग करते हैं लेकिन अनेक संकटों का सामना कर योगाभ्यास करते पर भी वे वहाँ तक नहीं पहुँच पाते। मेरा यह स्थान प्राप्त करने के लिये एक अत्यन्त गूढ़ अनुष्ठान है। 'सोहं हंसा' की साधना जो कोई अत्यन्त सावधानी से करेगा वही उस स्थान तक पहुँचेगा। प्राणायाम का निरोध और त्याग कर 'सोहं हंसा' का स्मरण कर जो सावधानी से यह अनुष्ठान करेगा वही यह स्थान प्राप्त करेगा। वही वायु का निरोध करने में सक्षम होता है और वही आज्ञाचक्र में प्रवेश करता है। इतना ही नहीं वह उससे भी आगे का मार्ग अचूक खोज निकालता है। वहाँ ऋद्धि सिद्धि के समुदाय उसे अनेक सुखसमृद्धि के फल उपलब्ध कराते हैं लेकिन वह उन सब को पीछे छोड़ अपने पवित्र मार्ग पर अग्रसर होता है। जो ऋद्धिसिद्धियों के भुलावे में आ गया या जिसमें सिद्ध होने का अभिमान जाग उठा वह उस आज्ञाचक्र से च्युत हुआ और उसके सारे परिश्रम व्यर्थ गये ऐसा समझना चाहिये। लेकिन जिसमें पूर्ण वैराग्य रहता है वह सिद्धियों के भुलावे में नहीं आता। सुखोपभोग तथा मानसम्मान पर लात मार कर वह मेरी प्राप्ति के लिये अपने मार्ग पर चलता रहता है। इसके उपरान्त औटपीठ (आज्ञाचक्र के बाद का स्थान) तथा गोल्हाट (औटपीठ के आगे का स्थान) पार कर भ्रमर गुफा के संकट को पार कर सहस्रदल कमल का प्रवाह सोख कर वे धैर्यवान पुरुष मत्स्वरूप होते हैं। आज्ञाचक्र की स्थिति बताते समय योगमार्ग का वर्णन रुचिकर लगा इसमें पिछली कथा सुनाना भूल गया। इसके लिये श्रोतागण क्षमा करें। आप कहेंगे कि मछली जब प्रवाह के साथ बहती है तो वह पीछे मुड़ कर नहीं देखती, उसी प्रकार तुम भी बिना पीछे मुड़े ग्रन्थनिरूपण में आगे बढ़ते चलो। व्यर्थ की बकवास क्यों करते हो? बच्चा गलती करता है तो माँ उसे सिखलाती है, उसी प्रकार आपका यह भाषण मेरे कल्याण का ही द्योतक है। चक्रों का निरूपण करते हुए मन योग की ओर मुड़ गया और इसीलिये पिछला निरूपण भूलकर आगे बढ़ गया। यह सुनकर श्रोतागण हँस पड़े और बोले, तुम इस ग्रन्थ के कर्त्ता नहीं हो यह हमें मालूम हो चुका है इसलिये उसका निराकरण करने के लिये व्यर्थ का प्रतिपाद मत करो। करोड़ों ग्रन्थों का अध्ययन करने पर भी योगज्ञान का माधुर्य समझ में नहीं आता। उसे तुमने अपनी ही रुचि से स्पष्ट करके बतलाया। श्रीमद्भागवत समझने में कठिन था उसे श्रीकृष्ण ने तुम्हारे ही मुख से स्पष्ट करके सुनाया। वह सचमुच हमें बहुत अच्छा लगा। यह बारहवाँ अध्याय अत्यन्त गूढ़ है। यह बात देवाधिदेव ने ही कही है। लेकिन तुमने तो उसका अर्थ भी स्पष्ट करके बतलाया। इस प्रकार संतों ने आदरभाव व्यक्त कर अभयदान दिया। यह देखकर एकाजनार्दन को भी अत्यन्त हर्ष हुआ और उसने संतों को नमस्कार किया। वैखरी, मात्रा, स्वर और वर्ण आदि पदों का व्याख्यान हुआ। उसका ही निरूपण श्रीकृष्ण दृष्टांत देकर उद्धव से कर रहे हैं। जीव और शिव का जो सूक्ष्म मूल है, वही आदिपुरुष वाणी के रूप में स्थूल आकार धारण करता है। इसी का सरल विवेचन करके बताता हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी॥ १८॥

आकाश में ऊष्मा अदृष्य रूप में विद्यमान रहती है क्योंकि अग्नि सर्वत्र व्याप्त रहता है। वही मथनी से मंथन करने पर अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रकट होता है। वायु अग्नि का घनिष्ट मित्र है। इसीलिये अग्नि पर महीन रुई रखकर फूँकने से वह चमकने लगता है और उसकी नाजुक और कोमल ज्वालाएँ चारों ओर फैलने लगती हैं। इस प्रकार अग्नि मध्यम स्थिति में पहुँचने पर उसमें हवनसामग्री से होम करने पर उसकी ज्वाला भड़क उठती है और आकाश तक पहुँचती है। उसी प्रकार सूक्ष्म नाद शिव के संसर्ग से, प्राण की संगति से तथा षट्चक्रादि संस्कारों के योग से वाणी के रूप में प्रकट होता है। 'मरा' यह शब्द सुनने पर वह वाणी अमंगल मालूम होती है लेकिन उन्हीं अक्षरों को उलटा करने पर 'राम' के नाम से पवित्र हुई वाचा संतोष प्रदान करती है। अच्छा या बुरा उच्चार करने से वर्ण नष्ट नहीं हो जाते। वे कायम ही रहते हैं। इसीलिये वर्णों को 'अक्षर' (अविनाशी) कहते हैं। इस प्रकार वह वाणी पवित्र होती रहती है। जिस प्रकार वाणी वर्णोच्चारों से स्पष्ट रूप से प्रकट होती है, उसी प्रकार अन्य इन्द्रियों की भी प्रवृत्ति है। उन इन्द्रियों की स्थिति भी श्रीकृष्ण उद्धव से संक्षेप में बता रहे हैं।

एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च।
संकल्पविज्ञानमथाभिमानः सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः॥ १९॥

जिस प्रकार वाणी प्रकट होने का यह ढंग है, उसी प्रकार कर्म इन्द्रियों की प्रवृत्ति प्रकट होने का प्रकार है। चरणों की गति तथा हाथों की ग्रहणशक्ति (किसी वस्तु को पकड़ने का सामर्थ्य) स्पष्ट प्रतीत होती है। विसर्ग गुण है वायु का और आत्यंतिक सुखोपभोग लिंग के गुण के रूप में प्रकट होता है। कर्मेन्द्रियों में पाँचवीं जो वाणी है उसका विस्तारपूर्वक वर्णन पीछे आ चुका है। उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रिय होते हैं। दृष्टि देखने में व्यक्त होती है, उसी प्रकार जिह्वा रसों का चखना जानती है और कान को अपने विशिष्ट गुण के कारण सुनने का अधिकार प्राप्त हुआ है। शीत, उष्ण, मुलायम, कठोर यह ज्ञान त्वचा नामक इन्द्रिय द्वारा व्यक्त होता है। सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध का ज्ञान होने के मामले में नाक ही चतुर इन्द्रिय है। मन का संकल्प अथवा विकल्प, उसी प्रकार निश्चय यह बुद्धि का कर्म है। चिन्तन चित्त का कर्म है और 'मैं' अहंकार का कर्म है। रजतम सत्वों के विकार तो मूल काया के विकार हैं। उन तीनों का विवरण मैं बिलकुल संक्षेप में सुनाऊँगा। आधिदैव, आधिभौत तथा जिसे अध्यात्म कहते हैं, उसके कारण जो बड़ा प्रपंच दिखायी देता है वह ईश्वर का दृश्य स्वरूप है। ईश्वर स्वयं ही संसार का प्रमुख कारण है। इस कारण से भिन्न कोई कारण नहीं होता। घी यदि जम कर उसकी पुतली बन जाय तो वह घृत से भिन्न कभी नहीं दिखायी देती। अथवा यदि लकड़ी का घोड़ा बनाया जाय, उसकी रचना, उसकी खड़े रहने की शान आदि बातों के कारण वह कितना ही सुन्दर क्यों न लगे लेकिन उसने लकड़ी का गुण नहीं छोड़ा होता। उसके अवयव, टांगे, कन्धे आदि सब काष्ठ के ही होते हैं। उसी प्रकार तीन गुणों से उत्पन्न पंचमहाभूत शिव का ही मूर्तिमंत स्वरूप हैं। सुवर्ण का अलंकार अंततः सुवर्ण के ही रूप में शोभा पाता है, उसी प्रकार महाभूत तथा विषयेन्द्रिय भी अभिन्न रूप से शिवस्वरूप ही हैं। सुवर्ण का नाग तैयार करने पर उसका फन, पूँछ और मुड़ी हुई गर्दन के कारण उसे 'नाग' कहते हैं लेकिन वह सचमुच का नाग नहीं होता, वह अच्छे किस्म का सुवर्ण ही होता है। उसी प्रकार यह संसार भी मद्रूप ही है। प्रपंच ईश्वर से अलग नहीं है। इसी अर्थ से श्रीकृष्ण उद्धव से जीव-शिव की अभिन्नता का वर्णन कर रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनिरव्यक्त एको वयसा स आद्यः।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति बीजानि योर्नि प्रतिपद्य यद्वत्॥ २०॥

शिव स्वयं जीवों का जीव है इसलिये उसका शिवत्व भिन्न है ऐसा कहा जाता है। जीव और शिव इन रूपों से यह भिन्न लगता है इसीलिये जीवत्त्व भिन्न लगता है। समुद्र अपने शरीर पर अनेक वर्त्तुल भँवर बनाता है उसी प्रकार श्रीहरि ने ब्रह्माण्ड कमल उत्पन्न कर उसे अपनी नाभि में धारण किया है। इसीलिये उसे 'त्रिवृदब्ज' (तीन लोकों को धारण करने वाला) कहते हैं। उस नाभिकाल में ही अपनी लीला से त्रैलोक्य धारण करता है इसलिये श्रीहरि को पद्मनाभ कहते हैं। सोने के सिंहासन पर सोने की मूर्ति स्थापित कर उसकी सोने के ही फूलों से पूजा की जाय तो वे तीनों एकरूप ही भासित होते हैं। उसी प्रकार नाभिकाल में त्रैलोक्य धारण करने पर तीनों लोकों में एकता का ही भास होता है। इसीलिये श्रुति के मुख से 'पद्मनाभ' यही शब्द बाहर आया। सुगन्ध और मृदुता के कारण पीली चंपा की कलीं अकेली दिखाई देती है लेकिन वही अनेक पंखुड़ियों से प्रफुल्लित होती है, उसी प्रकार मैं श्रीकृष्ण अनेक लोकों के रूपों से विकसित हुआ हूँ। जब तक यह कार्य कारण सम्बन्ध नहीं था तब तक मैं अव्यक्त ही था। मैं सत्य का भी सत्य हूँ और मुझमें भेद जरा भी नहीं है क्योंकि शब्द और दृष्टांत इनमें से कोई भी जहाँ प्रवेश नहीं कर सकते ऐसा मैं अपार, अनादि, अनंत, आद्य और अव्यक्त हूँ। इस प्रकार जो अभेदस्वरूप है उसमें तीन प्रकार के भेद किस प्रकार होंगे? जिस स्वरूप का विचार करते-करते वेद भी लज्जित होकर वापस लौटे वही मेरा शुद्ध स्वरूप है। मैं सहायक समुदाय एकत्र न कर स्वयं के लीलाक्षोभ से ही क्षुब्ध काल बन जाता हूँ। मैं अपने ही सामर्थ्य से प्रबल हुआ हूँ और मेरी ही शक्ति का प्रबल विस्तार सर्वत्र व्याप्त है। अपनी उस शक्ति के विभाग भी मैंने ही ठीक तरह से बना रखे हैं। उन विभागों के बारे में मैं बताऊँगा, सुनो। गुणों की शक्ति, देवताओं की शक्ति, मन की शक्ति, इन्द्रियों की शक्ति, महाभूतों की भूतशक्ति इन सब में क्रियाशक्ति ही प्रमुख रहती है। जीव से जो अदृष्ट शक्ति उत्पन्न हुई वह त्रैलोक्य में अटल है। हरिहर भी जिसे नियंत्रित नहीं कर सकते ऐसी यह अदृष्ट शक्ति असीम है। जिस अदृष्टशक्ति ने जीव को बद्ध कर अपना लिया है उस पर नियंत्रण करना मेरे सामर्थ्य के बाहर है। जिस प्रकार स्वयं राजा भी राजाज्ञा का पालन करता है उसी प्रकार मैं भी अदृष्ट शक्ति का उल्लंघन नहीं करता। जीभ काट कर भगवान को अर्पित की जाती है लेकिन नाक नहीं काटी जाती। उसी प्रकार मैं कर्म की स्थिति नष्ट करता हूँ लेकिन अदृष्ट की गति को नहीं तोड़ता अथवा विशेष रूप से यह जान लो कि मेरी ही शक्ति माया, उसे आलिंगन देकर बैठा हुआ मैं अकेला त्रैलोक्य में अनेक व्यक्त रूपों में भासमान होता हूँ। जो जीवन्मुक्त हुआ वह मत्स्वरूप तक आकर पहुँचता है लेकिन वह भी अदृष्ट से ही बँधा होने के करण देहरूपी गृह में नाना प्रकार से विचरण करता रहता है। राजा जनक राज्यपद पर सुशोभित था। शुक्राचार्य अपने प्रारब्ध के अनुसार नग्नावस्था में रहता था। नारद तो हर जगह कलह ही लगाता फिरता था और प्रारब्धगति से विनोदी बन गया था। वसिष्ठ को पुरोहितत्व करना पड़ा। भीष्म को शरपंजर पर सोना पड़ा। याज्ञवल्क्य को दो पत्नियाँ थीं किन्तु प्रारब्ध के चक्कर में फँसकर उसे उसके ही अनुसार आचरण करना पड़ता था। हे उद्धव! इस प्रकार प्रारब्ध की शक्ति त्रैलोक्य में अनिवार रूप से बढ़ गयी है। जिस प्रकार मदारी के हाथ में बन्दर रहता है उसी प्रकार जीव अदृष्ट गति से बँधे रहते हैं। इस त्रैलोक्य में मैं अकेला हूँ किन्तु उन जीवों की प्रारब्ध गति से अनेक व्यक्तिरूपों में भासमान होता हूँ। 'विश्वतश्चक्षु' यह श्रुतिवचन है इससे इन सारे व्यक्तियों में मैं ही एक हूँ यह स्पष्ट होता है। मिट्टी के अनेक गोकुल बनाकर उन्हें अलग-अलग नाम और आकार देकर भले ही पूजा करें लेकिन उन सब में मिट्टी ही रहती है। उसी प्रकार यह संसार मेरे ही रूप में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अभिव्यक्त हुआ है। जिस प्रकार एक होने पर निद्रा के वश में होने पर हम अपने अनेक रूप देखते हैं, उसी प्रकार मैं भी विश्वात्मा हूँ ऐसा समझ लो। वट का बीज बहुत छोटा होता है और उसे उपयुक्त जमीन और पानी मिलने पर उसका अंकुर बढ़कर अत्यन्त मजबूत और असीम विस्तार वाला वृक्ष खड़ा दिखायी देता है। उस समय उसका नाम, रूप, पुष्प इन सारे रूपों में वह मूल बीज ही वास्तविक लगने लगता है, उसी प्रकार विश्व के आकार से केवल चिदात्मा का ही आभास होता है। मूल बीज में जो मिठास होती है वही बढ़ते-बढ़ते बड़े आकार में आ गयी। गन्ने के हर कांड़ में जो मिठास होती है, वही गन्ने की मूल अधिकृत मिठास है। उसी प्रकार मूल कारण चिदात्मा ही है। उससे जो भी तत्त्व निकलते हैं वे सब शुद्ध चैतन्य से भरे हुए हैं। सारा संसार चित्स्वरूप ही है। ईश सर्वांग से पूरा का पूरा बीजरूप रहता है। बीजरूप में ही ईख सफल होता है। उसी प्रकार चिन्मात्र ही संसार का मूल है और सारा संसार चित्स्वरूप है। बीज और ईख दोनों एकरूप रहते हैं, उसी प्रकार प्रपंच चित्स्वरूप है। यही बात श्रीकृष्ण अत्यन्त आग्रह और कृपापूर्वक बता रहे हैं।

यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः।
य एष संसारतरुः पुराणः कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते॥ २१॥

इसलिये संसार नाम से जो भी कुछ है वह सब मुझ में ही भरा हुआ है। मुझसे अलग अणुमात्र भी कुछ नहीं है। इसी अर्थ का दृष्टांत भगवान उद्धव को बताते हैं। जिस प्रकार रुई के महीन धागे कात कर उनसे वस्त्र तैयार किया जाता है अर्थात् उसमें आड़े-तिरछे बुने हुए तन्तु ही होते हैं, उन्हें वस्त्र यह नाम भी व्यर्थ है, उसी प्रकार संसार यह नाम भी व्यर्थ ही है। वास्तव में देखा जाय तो उसके रूप में मैं भगवान ही स्फुटद्रूप होता रहता हूँ। सूत स्पष्ट दिखाई देता है फिर भी उसे 'साड़ी' कहा जाता है। इस प्रकार हमारे सामने साक्षात चैतन्य दिखायी देते हुए भी पागल लोग उसे संसार कहते हैं। जिस प्रकार सूत के बिना वस्त्र नहीं होता उसी प्रकार मेरे बिना प्रपंच दिखाई नहीं देता। ऐसा होते हुए हे उद्धव! जिन्हें मैं प्राप्त नहीं हुआ उनका जरा भाग्य तो देखो! वे मुझे ही नकारते हैं। इस प्रकार मैं सर्वव्यापी विश्वात्मा हूँ और विश्व में भरा हुआ हूँ यह बात मैंने वृक्ष का दृष्टांत देकर तुम्हें बतायी। मुझे देखने का जिसका निश्चय हो चुका है उसके लिये मैं सर्वेश्वर हूँ। जो मनुष्य मुझे प्राप्त नहीं कर पाता उसे संसार का ही आभास होता है। भ्रम में पड़ा हुआ व्यक्ति मुझ सर्वात्मा, सर्वेश्वर को ही संसाररूपी विशाल वृक्ष समझ लेता है। उसी संसार वृक्ष का विस्तार भगवान बताते हैं।

भ्रान्ति के कारण ही संसारवृक्ष उत्पन्न होकर कर्माकर्मरूपी जल से फला फूला है। वह जीर्ण, पुराना तथा अत्यन्त विस्तीर्ण होकर फल और पुष्पों से लदा हुआ है। उसका बीज क्या है, मूल क्या है, रस क्या है? फल क्या है? आदि प्रश्नों से योगी आदि सभी भ्रम में पड़े हुए हैं उनके बारे में विस्तार से बताऊँगा।

द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्के प्रविष्टः॥ २२॥

भ्रमरूपी उर्वर भूमि में पाप पुण्य का बीज पड़ते ही यह वृक्ष उत्पन्न होता है और उसके सीरे पर कल्पना का विस्तार होता है। जिस प्रकार पत्ते, फूल अथवा फल न दीखने पर भी डोरे में पिरोये बेल की तरह केवल तंतु ही भरे रहते हैं और उन तंतुओं से ही बेल की बाढ़ होती है, उसी प्रकार कल्पना मात्र से संसार इतना शक्तिशाली हुआ है। कर्माकर्म रूपी बाँध के जल से अविद्यारूपी क्यारी भरती है और अनंत वासनाओं के मूल जमीन में धँस कर मजबूत हो जाते हैं जिससे इस वृक्ष का आधार ठोस हो जाता है और वह अपनी जगह से नहीं हिलता। सूक्ष्म

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वासनारूपी करोड़ों पतली जड़ें जमीन में प्रवेश कर जम जाती हैं। वे संकल्प विकल्पों के रूप में चारों ओर फैल कर उनके नीचे जाल फैला रहता है। संचित क्रियमाणों की अनेक क्यारियाँ जल से पहले से ही भरी रहती हैं, इसके बाद भी अन्य प्रवाह आकर उन क्यारियों को बार-बार भरते रहते हैं जिससे यह संसारवृक्ष अत्यन्त मजबूत होकर नित नयी बाढ़ ढूँढता रहता है। सगुण गुण की बाढ़ पर त्रिगुणात्मक अहंकार का त्रिदल फूट कर बाहर निकलता है। त्रिगुणों के गुणों का क्या कहना। वे एक-दूसरे में गुँथे रहते हैं। वे एक-दूसरे के शरीर पर गिरकर मिल जाते हैं और एक साथ मिलकर बढ़ते हैं। पंचभूतों की विशाल शाखाएँ तो प्रपंच के बाहर चली जाती हैं और एक-दूसरे पर फैल जाती हैं तथा एक-दूसरे में मिलकर बढ़ने लगती हैं। इस वृक्ष की शाखाएँ मूल से ही बढ़ी रहती हैं। उन शाखाओं के गाँव में दसों दिशाओं के रास्ते निकले हुए हैं। वे उस शाखा के हिलने से हौले-हौले डोलते रहते हैं। उन प्रत्येक शाखाओं में सुखपूर्वक रहने के लिये देवतागण भी आते हैं। वे कर्म का आधार लेकर अपनी-अपनी शाखा पर बैठते हैं। दस प्रकार की वायु का तूफान उठता है जिससे मालूम होता है कि वह वृक्ष हिलडुल रहा है। उसमें दो पक्षियों का अत्यन्त गूढ़ एक घोंसला है। इसी घोंसले से आत्मज्ञान उत्पन्न होता है। वही हृदय मन्दिर है। उसमें जीव और परमात्मा ये दोनों पूर्णतयः अतर्क्य स्थिति में निवास करते हैं। देहाभिमानी जीव और निरभिमानी परमात्मा ने मिलकर इस हृदय मन्दिर के घोंसले का निर्माण किया है। जीव संकल्प-विकल्प प्राप्त कराता है और परमात्मा निर्विकल्प स्थिति प्रदान करने वाला है। इन दोनों का वास हृदय में ही होता है इसलिये वास्तव में यह उनका ही घर है। वात, पित्त तथा कफ ये संसाररूपी वृक्ष की भीतरी छाल है। हे भक्तोत्तम उद्धव! इसी कारण से उन्हें वल्कल कहलाने का महत्त्व प्राप्त हो गया है। यह वृक्ष आकाश से भी ऊँचा है और शून्य से भी नीचे काफी दूर तक फैला हुआ है। उसी प्रकार वह चारों ओर सभी दिशाओं की सीमाएँ तोड़ कर फैला हुआ है। इस प्रकार विस्तार में फैला हुआ वह वृक्ष अपने मद की मस्ती में उखड़ कर नीचे आ गया है और वह पंचरसात्मक विषयों की अत्यन्त मधुर धाराओं की वर्षा करने लगता है। श्रुति और स्मृति यही उस वृक्ष के पत्ते हैं और उनमें स्वर्गरूपी पुष्प खिले हुए हैं जिसके लिये याज्ञिकरूपी भ्रमर अत्यन्त वेग से मँडराते रहते हैं। सुख और दुःख ये उस वृक्ष के जुड़वाँ फल हैं जो सदा एक साथ मिले रहते हैं। उसके सीरे से नीचे तक उसे सदा वही फल आते हैं। जितनी दूर तक सूर्यमण्डल दिखायी देते हैं उतनी ही दूरी तक इस वृक्ष का विस्तार है और उन सबको कर्मप्राप्ति सुख-दुःख के फल देती रहती है। सूर्यमण्डल तक इस वृक्ष का विस्तार है इसका अर्थ यह नहीं कि चन्द्रमण्डल आदि में संसार का भय नहीं है। हे उद्धव! मैं सूर्यमण्डल के मध्य में हूँ। लेकिन मेरे सिवा जहाँ तक स्फूर्ति का स्फुरण होता है वहाँ तक संसार का भय अवश्य है इसे ध्यान में रखो। सूर्य का जो मण्डल हे वह भी संसार में ही इसलिये जो उस वृक्ष का फल नहीं खाता वही रविमण्डल को भेद कर चला जाता है। इस वृक्ष के यहाँ दो ही फल हैं और उन दो फलों के भोक्ता भी दो ही हैं। वे दोनों इस संसार में रहते हैं। उनके बारे में बताता हूँ, सुनो!

अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्॥ २३॥

दुःखरूपी फल के जो भोक्ता होते हैं वे मन से अत्यन्त विषयासक्त होते हैं। गिद्ध की तरह वे विधि बाह्य रीति से विषयों का सेवन करते हैं। वे ग्राम्य विषयों में अत्यन्त तत्पर होते हैं इसलिये उन्हें 'ग्रामचर' कहा जाता है। गाँव के गिद्ध अर्थात् चील की तरह ये विषयों को लपकने में तत्पर रहते हैं। जिस प्रकार चील आकाश में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऊँची उड़ान भरती है और वहाँ से एकाएक अपने शिकार पर टूट पड़ती है उसी प्रकार उत्तम नरदेह प्राप्त होने पर भी ये विषयों से नोच-खसोट करते रहते हैं। ये मन से विषयासक्त रहते हैं और अधोगति प्राप्त करने योग्य होते हैं वे वास्तव में दु:ख फल के ही भोक्ता होते हैं। उद्धव! जो पुरुष गृहस्थाश्रम का त्याग कर वानप्रस्थाश्रमी हो जाते हैं उन्हें ही सुखफल प्राप्त होता है। उस सुखफल के विभागी, यथाशास्त्र कर्म करने के कारण ही जो उस राह पर चल पाते हैं, ऐसे ब्रह्मस्थान के अन्त तक और भी अनेक स्वर्ग हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययन करना चाहिये, गृहस्थाश्रम में अग्नि की तथा ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये और वानप्रस्थ में वन में रहकर वहाँ के फलभक्षण कर रहना चाहिये। इस क्रम से आचरण करने से क्रमानुसार मुक्तिस्थान अर्थात् ब्रह्मस्थान जिन्होंने प्राप्त कर लिया है वे लोग सुख के फल के भोक्ता हैं यह जान लो। अन्य स्वर्गों में सुख की प्राप्ति होती है लेकिन वहाँ से पुन: जन्म लेना होता है। ब्रह्मस्थान प्राप्त होने पर उन्हें मुक्ति ही प्राप्त होगी। मूलरूप में 'अरण्यवासी' यही पद है। उस पद से 'वानप्रस्थ' का ही बोध होता है। यहाँ 'संन्यासी' यह अर्थ नहीं लिया गया है। संन्यासी को वनवासी नहीं कहा जा सकता। वेदों में संन्यासियों के रहने के स्थान का कोई उल्लेख नहीं है। उन्होंने स्वदेह का हवन किया रहता है इसलिये उनके रहने का कोई निश्चित स्थान नहीं है। जो विरजा होम में अविद्या आदि कर्म प्रवृत्तियों को ही जला देते हैं वे संसाररूपी वृक्ष के फल खायेंगे यह सम्भव नहीं लगता। जागृत अवस्था के मेहमान को स्वप्न के घर में भोजन के लिये भेजना जिस प्रकार सम्भव नहीं है उसी प्रकार मनोवासना शून्य संन्यासी संसारसुख के भोक्ता किस प्रकार होंगे? जिन्होंने विरजाहोम में अपना कर्म जलाकर 'ब्रह्म मैं ही हूँ' यह सूत्र साध लिया उनके लिये जंगल में अथवा गाँव में नियमित निवासस्थान कौन देगा? आकाश के निवास के लिये कौन-सा घर निश्चित किया जाय? उसी प्रकार जो संकल्प त्याग संन्यासी हैं उन्हें रहने के लिए कौन जगह देगा? जो संकल्प त्याग करने वाले संन्यासी होते हैं उन्हें वनवासी कौन कहेगा? इसलिये उन्हें संसारवृक्ष के फल का भोक्ता नहीं कहा जा सकता। मूल पद अरण्यवासी है लेकिन वह वानप्रस्थ के हिस्से में आया है क्योंकि वानप्रस्थमाश्रमी सदा वन में रहता है इसलिये दूसरे फल (सुखफल) का भोक्ता वही है। अब संन्यासी की सुखप्राप्ति के बारे में सुनो। वे भी दोनों फलों को मिथ्या ही समझते हैं। त्रिभुवन में सर्वत्र एक मैं ही हूँ यह अनुभव उन्हें निश्चयपूर्वक हुआ रहता है। अनेक रूपों में फैला हुआ जो यह विस्तार है, वह सचमुच मैं चिदात्मा ही हूँ, यह निश्चय गुरुमुख से जानकर वे मेरा सच्चा सुख प्राप्त कर चुके हैं। वे मत्स्वरूप होकर मेरे हो गये, मेरे ही सुख से सुखरूप हो गये, सुख-दु:ख फलों से वंचित हो गये और संसार में आने से भी मुक्त हो गये। मायामय होने के कारण संसार मिथ्या भासरूप है यह जो जानता है वही वेदवेत्ता और विद्वान है। उसे ही परमहंस कहते हैं। वह सारे विश्व को अपना घर समझ कर ही रहता है। ऐसा पद प्राप्त करने के लिये अनन्यभाव से गुरुभक्ति करनी चाहिये। उसी से संसार की निवृत्ति होगी। यही बात श्रीकृष्ण बता रहे हैं। पहले सत्संगति के बारे में बताया। उससे मेरे पद की प्राप्ति होती है। उसी अध्याय के अन्त में गुरुभक्ति के बारे में बताते हैं।

एवं गुरुपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
बिवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्॥ २४॥

भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक साधन करने पर भी यदि सद्गुरु का भजन नहीं किया तो संसारवृक्ष का भेदन नहीं हो सकता। जिस प्रकार वीरों की स्वयं की ही शक्ति शत्रु का नाश करती है, उसी प्रकार संसारवृक्ष का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विनाश करने वाली केवल एक गुरुभक्ति ही है यह जान लो। पापों का नाश करने में जिस प्रकर गंगाजल समर्थ है उसी प्रकार गुरुभक्ति ही संसारभय को भस्म करती है इसे निश्चयपूर्वक ध्यान में रखो। सत्यव्रत ग्रहण करने से पाप अपने आप भाग जाते हैं, उसी प्रकार गुरु का भजन करने से संसार का अपने आप क्षय हो जाता है। मारुति दिखायी देते ही भूत चारों दिशाओं में भागने लगते हैं, उसी प्रकार गुरुभजन शुरु होते ही संसार का भय अपने आप भागने लगता है। मरते समय अमृतपान करने से मरण की ही मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार गुरुभजन करने से जन्ममरण की ही मृत्यु हो जाती है। अंतकाल में अकस्मात् 'हरि' कहने से यमदूत भी भाग जाते हैं, उसी प्रकार सद्गुरु का भजन करने से संसार भय भी भाग जाता है। गुरुभक्त अत्यन्त भाग्यवान होता है। सद्गुरु कौन है? भक्ति कैसे की जाय? यदि तुम्हारे मन में इस प्रकार का विचार आ रहा है तो उसके सम्बन्ध में यथार्थ रूप से बता ही चुका हूँ। हे उद्धव! तो जो वेद और ब्रह्मज्ञान में निष्णात होते हुए शिष्य को ज्ञान देने में समर्थ हो, वही सद्गुरु है। जो स्वस्वरूप में ही समाधान करता है, वही सचमुच सद्गुरु है। सद्गुरु बनने के लिये इसके सिवा कोई कारण नहीं है। उस सद्गुरु के भजन का ढंग मैं तुम्हें बताता हूँ। जो गुरुभजन करता है वह सभी कर्मों और धर्मों से भी महान है। गुरु को पिता के समान मानना चाहिये, पिता एक ही जन्म के लिये होता है किन्तु सद्गुरु सनातन माता-पिता है। वह समस्त संसार का पिता है। गुरु को माता के समान मानना चाहिये। गर्भ में रहने के कारण माता का उससे प्रेम रहता है किन्तु गुरुराज गर्भवास का ही निवारण करता है और पुत्र से भी अधिक प्रेम करता है। गर्भ से बाहर आने पर माता पुत्रस्नेह के कारण उससे प्रेम करती है लेकिन गुरुमाता बाह्य सारी बातों को पेट में छिपा कर स्नेह से अधिक प्रेम करती है। गुरु को स्वामी की तरह मानना चाहिये, स्वामी जन्म-मरण से छुटकारा नहीं दिला पाता, लेकिन सद्गुरु जन्म-मरण से छुटकारा दिलाता है इसलिये सद्गुरु ही सबसे बड़ा स्वामी है। गुरु को यदि कुलदेवता कहें तो कुलदेवता की पूजा केवल कुलधर्म में होती है किन्तु गुरु कुलदेवता का भी देवता है। अपने प्रत्येक कर्म में वह पूजनीय है। गुरु को यदि कल्पतरु मानें तो कल्पतरु कल्पना करने पर ही दान देता है किन्तु सद्गुरु निर्विकल्पता का ही दान देता है। वह निर्लोभता किसी बड़े दान की तरह होती है। चिन्तामणि जिस बात की चिन्ता करो वही वस्तु देता है लेकिन सद्गुरु चिन्ता का ही नाश करता है और मन को मार कर शाश्वत का निजदान करता है। कामधेनु दूध देती है लेकिन केवल इच्छा के अनुसार लेकिन सद्गुरु स्वानन्द का ही रस देता है और इच्छा का नाश करता है। समुद्र को गुरु जैसा कहें तो वह है तो गम्भीर किन्तु स्वभाव से गुसैल। किन्तु गुरु सदा स्वानंद से ओत-प्रोत होने के कारण आत्मबोध से अत्यन्त मधुर रहता है। गुरु के लिये ब्रह्मा की उपमा भी कम है क्योंकि गुरु के उपदेश से ही ब्रह्मा को सत्यत्त्व प्राप्त होता है। अन्यथा ब्रह्म तो केवल शाब्दिक ही है। शब्दार्थ को शब्दों में ही नष्ट कर गुरु ज्ञानमय अर्थ का बोध कराता है इसलिये त्रैलोक्य में उससे अधिक श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। इसलिये गुरु ही माता, गुरु ही पिता, गुरु ही स्वामी तथा गुरु ही कुलदेवता है। गुरु के सिवा किसी अन्य देवता का स्मरण ही नहीं होता। अत्यन्त कठिन संकट आने पर अथवा जब आसमान टूट पड़ा हो उस समय भी जो अन्य कहीं झाँक कर नहीं देखता, केवल गुरु का ही नामस्मरण करता रहता है, शरीर, वाणी, मन और प्राण से जो गुरु के सिवा किसी को नहीं जानता और उसी प्रकार जो अनन्यभाव से गुरु का भजन करता है, उसकी उस भक्ति को गुरुभक्ति कहते हैं। चिड़िया के बच्चे जिसके पंख भी नहीं निकले होते वे सदा उसी का ध्यान करते हैं। उसी प्रकार वह जागृति में, स्वप्न में अथवा सुषुप्तावस्था में भी गुरु के सिवा किसी का स्मरण नहीं करता। पहले तुमने भगवद्भजन की बात की और अब गुरु सेवा की बात करते हो। तुम्हारे इस निरूपण में सुसंगति नहीं है।" "ऐसी बात न सोचो। जो वास्तव में सद्गुरु

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है वही मेरी मूर्ति है यह निश्चयपूर्वक ध्यान में रखो। इसके सम्बन्ध में सन्देह न करो। इसी का नाम है अनन्यभक्ति। एकाग्र होकर गुरु का जो भजन किया जाता है वही मेरी पूजा है। गुरु और मैं इन दो में कल्पांत में भी कभी बिलगाव नहीं होता। गुरु और भगवान दोनों एक ही हैं इस भावना से जो भजन करता है वही गुरु का सेवक है। इसके अतिरिक्त कोई और होगा तो उसके बारे में सन्देह है। मुझसे एकत्व प्राप्त करने के लिये जिसने अत्यन्त प्रेम से गुरुभक्ति को स्वीकार किया वह त्रैलोक्य में धन्य है। अब भजन के स्वरूप के बारे में सुनो। गुरु की सेवा करने के लिये उसका देह मन से भी आगे रहता है और सारी सेवा मैं अकेला ही करूँ इस महत्वाकांक्षा से वह तैयार रहता है। सेवा का क्रम जैसे-जैसे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे यह अधिक उत्साह से सेवा के लिये तैयार रहता है। पूरी देह वह सेवा के लिये अर्पित कर देता है। गुरुसेवा में ही उसे विश्राम मिलता है। सेवा की चाह के कारण वह घड़ी भर के लिये भी विश्राम नहीं करता। जैसे-जैसे चाह बढ़ती जाती है वैसे-वैसे गुरुभजन की माधुरी बढ़ने लगती है। नित्य गुरु की सेवा करते हुए प्रेम का नया दौर ही शुरु हो जाता है। सद्भक्ति की इच्छा से उसने गुरु के चरणों में स्वयं को समर्पित किया रहता है। आलस्य उसके पास आना ही भूल जाता है, विश्राम का स्थान ही नष्ट हो जाता है। गुरुसेवा के संभ्रम में भूलने के कारण वह अन्य विषयों का सेवन ही भूल जाता है। प्यास जल को भूल जाती है, क्षुधा पकवान भूल जाती है और गुरु चरणों की सेवा में वह निद्रा भी भूल जाता है। जम्हाई लेने की भी फुर्सत नहीं मिलती, वहाँ निद्रा को कहाँ स्थान मिलेगा? मुख में सद्गुरु का नाम, हृदय में सद्गुरु का प्रेम और देह में सद्गुरु का कर्म यही रात-दिन अविश्रांत चलते रहना चाहिये। मन गुरुसेवा में व्यस्त रहने के कारण उसे पत्नी बच्चे तथा धन का भी विस्मरण होता है। मन का भी विस्मरण होता है और वह अपने अस्तित्व का भी स्फुरण भूल जाता है। उसके भजन का उत्साह आश्चर्यजनक होता है। भजन करते समय देह का भी स्मरण नहीं रह जाता। इस प्रकार गुरुसेवा की महिमा विलक्षण है क्योंकि सारा आत्मभाव गुरुचरणों में ही लगा रहता है। ऐसा होते हुए भी यदाकदा किसी समय गुरु से बिछोह भी हो जाय तो प्रेम का बन्धन नहीं टूटता, उलटे भजन में भक्ति बढ़ जाती है। जहाँ गुरु का गाँव है वहीं सारा मनोधर्म बस जाता है। गुरु के ध्यान को ही धर्म कर्म समझ कर वह सेवा का प्रयास नहीं छोड़ता। गुरु के मूर्ति की ही आदत हो जाने के कारण वह उसी मूर्ति को हृदयाकाश में स्थापित करता है और फिर अनेक प्रकार के भजनरंग में उसके भजन प्रेम का क्या वर्णन किया जाय? चित्स्वरूप यही उसकी पौर्णिमा और गुरु यही उसका पूर्णचन्द्र है और वह स्वयं उसके नीचे तृषित चकोर बनकर बैठ जाता है। फिर वह स्वयं स्वानंद बोधरूपी चन्द्रकिरणों का निरन्तर सेवन करता रहता है अथवा चिदाकाश में सद्गुरु को सूर्य बनाकर स्वयं सूर्यकांतमणि बन जाता है और उसके दिव्य तेज से देदीप्यमान होकर वह अपने प्रभाव से मायारूपी वन की होली जलाता है अथवा सद्गुरु के कृपामृतरूपी सागर में लहर बन जाता है और अंतर्बाह्य गुरु का ही स्वरूप है यह मानकर हृदय में वही भावना धारण करता है। अपना वास्तविक स्वामी जो सद्गुरु है वह सचमुच निर्विकल्प कल्पतरु ही है यह मानता है और उसकी छाया में बैठकर गुरुभक्ति का ही वर माँगता है अथवा सद्गुरु को कामधेनु बनाकर स्वयं उसके बछड़े की कल्पना करता है और ज्ञानरूप जिह्वा से स्वानंद का दुग्ध सेवन करता है। हे गुरुदेव तुम्हारी सभी वृत्तियों की सेवा मैं ही करूँ इस सद्भक्ति से मैं उसकी प्रार्थना करता हूँ और कहता हूँ, हे कृपानिधे! मुझे यही वर दीजिये। तब गुरुनाथ ने प्रसन्न होकर मस्तक पर वरदहस्त रखकर वैसा वर देते ही उसका मन आनन्द से मचल उठता है और वह कहता है, "मुझे वर मिल गया, मैं धन्य हो गया।" ऐसा वर प्राप्त कर वह वही सेवा प्रेम और आदर से करने लगता है। गुरुभजन के असंख्य प्रकार हैं। सद्गुरु का मन, बुद्धि, अंतःकरण आदि जो दशेन्द्रिय हैं उन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सबकी क्रिया मैं स्वयं बन जाऊँ ऐसी वह मन ही मन इच्छा करता है। सद्गुरु के सारे भोग मैं ही बनूँगा। इस प्रकार मैं ही गुरुभक्तिस्वरूप बनकर रहूँगा। सद्गुरु जहाँ खड़े रहेंगे वहाँ उनके पैरों के नीचे की जमीन मैं बनूँगा, सद्गुरु जहाँ-जहाँ चलते जायेंगे उस मार्ग की मिट्टी मैं ही बनूँगा। उनके पैर धोने का पानी मैं ही बनूँगा और चरण धोने वाला मैं ही रहूँगा और उनके चरणों के तीर्थ को सेवन करने वाला मैं ही बनूँगा। सद्गुरु के चरणों की धूल मैं स्वयं बनूँगा। सद्गुरु जिस पर बैठते हैं, वह सिंहासन भी मैं ही बनूँगा। उस पर रखा जाने वाला आसन भी मैं ही बनूँगा इसे ध्यान में रखो। सद्गुरु के शरीर में जो तेल लगाया जाता है, वह भी सर्वांग से मैं ही बनूँगा। गुरु को टेकने के लिये आगे-पीछे रखे जाने वाले तकिये मैं बनूँगा। यहाँ तक कि सद्गुरु की सिद्ध पादुकाएं भी मैं ही बनूँगा। दूसरों को उन्हें हाथ भी नहीं लगाने दूँगा। गुरु का श्वासोच्छवास भी मैं ही बनूँगा और उनके नाम से मैं ही तीव्र गति से बाहर आऊँगा। गुरु जिस सुगन्ध का सेवन करेंगे वह सुगन्ध मैं बनूँगा। गुरु कृपादृष्टि से जिधर देखेंगे वह दृश्य मैं ही बनूँगा। अथवा जो कीर्तन गुरु को पसन्द है उसका गायक मैं रहूँगा। सद्गुरु के मुख में जो कथा होगी वह आदरपूर्वक मैं ही रहूँगा और उसका प्रत्येक अक्षर और उसका अर्थ भी मैं ही रहूँगा। सद्गुरु जहाँ स्नान करेंगे वहाँ भी स्नान से उड़ने वाला पानी मैं बनूँगा। गुरु जो आचमन करेंगे वह भी मैं ही बनूँगा। गुरु जो वस्त्र परिधान करेंगे वह उत्तम वस्त्र मैं ही रहूँगा। गुरु के पैर पोंछने के लिये जो धूतवस्त्र होता है, वह मैं ही रहूँगा। गुरु के शरीर पर उबटन लगाया जाता है, वह उबटन मैं बनूँगा। गुरु के चरणों पर अर्पण किया जाने वाला फूल मैं ही रहूँगा। सद्गुरु जिसमें भोजन करेंगे वह थाली और अन्न मैं ही रहूँगा। उसमें रस का माधुर्य, पकवान, पंगत में साथ में बैठने वाला सब कुछ मैं ही रहूँगा। दही मथ कर जो मक्खन निकलता है उसे वैराग्यरूपी अग्नि पर पका कर भोजन का प्रमुख व्यंजन घृत मैं ही बनूँगा। भोजन में स्वाद लाने वाला लवण मैं बनूँगा और इसके बाद भी यदि कोई कमी रह जाएगी तो उसे वे गुरु पूरा करेंगे। जो पानी गुरु प्राशन करेंगे वह पानी मैं बनूँगा और सद्गुरु तृप्ति की जो ढकार देंगे वह भी मैं ही बनूँगा। गुरु को जो फल अर्पण किया जाता है वह फल तत्काल मैं बनूँगा। गुरु को अर्पण करने के कारण सफल होने वाले फल की सफलता मैं बनूँगा। गुरु की जूठन ग्रहण करने की मुझे आदत-सी पड़ गयी है। इसके लिये मैं बिल्ली बनकर उनकी थाली चाट कर साफ करूँगा। गुरु जब सुगन्धित चूर्ण से हस्तशुद्धि करेंगे तो मैं सुगन्धी चन्दन बन जाऊँगा और मुख में सुगन्ध लाने वाली गन्ध भी बन जाऊँगा। फलाशा तोड़ कर उसके टुकड़े तथा वासना की रेशाएँ तोड़ कर उसका बीड़ा सद्गुरु के मुख में रखने से आने वाली ताम्बूल की रुचि मैं बनूँगा। 'अहंता' का अभिमान छोड़कर मैं 'सोहं' का शुद्ध चूना बन जाऊँगा और शान्ति रूप पके पान में लग कर सद्गुरु के मुख में प्रवेश करूँगा। सभी सारों का शुद्ध कत्था मैं बनूँगा। सद्गुरु के मुख में रंग के रूप में मैं ही शोभा बढ़ाऊँगा। सद्गुरु के मुख का पवित्र थूक मैं लपकूँगा और पीकदानी का मुँह मैं ही बनूँगा। गुरु ने चबाया हुआ बीड़ा और थूकी हुई पीक के साथ पीकदान मैं ही बनूँगा। मक्खियाँ भगाने की चँवर मैं ही बनूँगा। गुरु के मुख का बीड़ा लेने के लिये मैं अत्यन्त आस्था से सेवक बनूँगा। अन्यथा गुरु की गोद में मैं प्यारा बच्चा बनकर लेटूँगा। मेरे गुणरूपी पुष्पों की माला मैं बड़े प्यार से गुरु के गले में डालूँगा। गुरु कमल के फूल के साथ खेलने लगेंगे तो उनका करकमल मैं ही बनूँगा। गुरु की नीरांजन से आरती करते समय उस नीरांजन की ज्योति मैं अपने ही तेज से प्रकाशित करूँगा और गुरु जिस प्रकाश से चलेंगे उस दीपक की प्रभा मैं बनूँगा। मैं श्रीगुरु पर अपने प्राण न्योछावर कर दूँगा। उनके सारे कष्ट मैं अपने ऊपर ले लूँगा। वह शाप लक्षण मुझे लगे। मैं छत्र भी हूँ और छत्रधारी भी। चँवर भी मैं हूँ और चँवरधारी भी मैं ही हूँ। पंखा भी मैं हूँ और पंखा झलने वाला भी मैं ही हूँ। इस प्रकार गुरु का सारा परिवार मैं ही रहूँगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गुरु जिस पर बैठेंगे वह घोड़ा मैं ही बनूँगा। गुरु का बोझ उठाने के लिये मैं घोड़े के रूप में वाहन बनूँगा। गुरु के आगे-आगे मैं मार्गरक्षक योद्धा रहूँगा, गुरु के गुणों का वर्णन करने के लिये मैं उनका भाट बनूँगा और गुरु के घर शान्तिपाठ करने वाला भिक्षुक बनूँगा। गुरु के सिर पर छत्र धारण करने वाला, उन पर चँवर झुलाने वाला, उन्हें बीड़ा देने वाला, फूल देने वाला, झाड़ू लगाने वाला, दूध देने वाला और द्वारपाल मैं ही बनूँगा। गुरु जिधर-जिधर ध्यान देंगे वहाँ का अवधान मैं ही रहूँगा, भले ही प्राण चले जाएँ लेकिन गुरु को छोड़कर एक क्षण के लिये भी मैं कहीं नहीं जाऊँगा। गुरु जो कथा कहेंगे उसे आग्रहपूर्वक सुनने वाला मैं श्रोता बनूँगा। गुरुकृपा से अध्यात्मज्ञान सुनाने वाला वक्ता मैं बनूँगा। गुरु उदारतापूर्वक दान देने लगें तो मैं गरीब याचक बन जाऊँगा। गुरु अपने मन की बात कहने लगें तो मैं ही एकान्तस्वरूप हो जाऊँगा। गुरु विश्राम करने बैठें तो मैं अवकाश बन जाऊँगा और गुरु के हृदयस्थ अवकाशरहित जो चिदाकाश है वह मैं बनूँगा। गुरु जिस पर बैठेंगे वह सुखकारी आसन मैं ही बनूँगा और डोली उठाने वाला कहार मैं ही बनूँगा। स्वामी का ख्याल रखते हुए, बड़े संयम से तेज कदम उठाकर तथा गुरु की पालकी का डंडा कन्धे पर उठा कर स्वामी से बातें करते हुए मैं तेज कदमों से चलता जाऊँगा। वाहन में बैठे हुए गुरु का ध्यान रखते हुए कहीं पैर परस्पर टकरा न जाय इसलिये पैर उठाकर चलूँगा। जमीन के गड्ढ़ों तथा ऊँचाइयों को बचाकर ठीक तरह से चलूँगा। संकल्प और विकल्प के झटकों से शरीर के दायें-बायें अंग को बचाते हुए श्रीगुरु के मुख की ओर देखते हुए मैं चलूँगा। रास्ता बिना भूले, पालकी का डंडा न हिले इसका ध्यान रखते हुए, दूसरों की आस किये बिना मैं उत्तम कहार बनूँगा। उस सुखद वाहन में बैठकर चलने से सुख बढ़ता ही जाएगा। चढ़ना, गिरना, लड़खड़ाना, डरना, दौड़ना, अटकना आदि का ध्यान रखते हुए ध्यानपूर्वक पूरी उम्मीद से चलूँगा। पालकी में बैठने में गुरुजी को कष्ट न हो इसलिये पालकी का डंडा कन्धे पर, मस्तक पर, कोहनी पर, इस प्रकार रखकर पैर का ध्यान रखते हुए चुपचाप चलूँगा। सामने चढ़ाई आ जाय, मोड़ आये, साँस फूलने से शरीर थक जाय लेकिन सीना तान कर, धैर्यपूर्वक चढ़ाई चढ़ता चलूँगा। काम का प्रवाह लाँघ कर, क्रोध के आवेग से बच कर तथा गड्ढ़ों से बच कर पालकी का अगला डंडा कन्धे पर लेकर मैं चलूँगा। ममता की दलदल विचित्र होती है। उसमें मनुष्य पूरी तरह फँस जाता है लेकिन मैं पैर में जरा भी कीचड़ लगे बिना उस दलदल को पार कर जाऊँगा। मोहरूपी नदी की खोह बहुत भयंकर है। पानी के तेज बहाव के कारण वह बड़ी तेजी से नीचे की ओर खींचता है। लेकिन मैं स्वामी को पानी का एक भी बूँद लगे बिना एक किनारे से दूसरे किनारे तक ले जाऊँगा। सामने दृष्टि रख कर तेजी से आगे चलते समय दोनों ओर का कहार मैं बन जाऊँगा और रास्ता चलता जाऊँगा। इस प्रकार आगे और पीछे मैं स्वयं सुखासन के आनन्द में कहीं स्वामी की नींद न टूटे इसका ध्यान रखते हुए उन्हें ले जाऊँगा। जूठे अन्न पर पलने वाला, आठों पहर जागता रहने वाला तथा गुरु के द्वार पर 'गुरु' 'गेरु' कहने वाला मैं कुत्ता बन कर रहूँगा। कोई अपरिचित दिखाई देते ही मैं 'सोहं' भावना से भूकने लगूँगा और भजनरूप कुण्ड में बैठने वाले गुरु के द्वार का कुत्ता बनूँगा। ऐसी अनेक कल्पनाएँ कर गुरु की सेवा के सम्बन्ध में शिष्य विचार करता रहता है। दैवयोग से वह भले ही दूर चला जाए किन्तु भक्तियोग से वह पास ही रहता है। गुरु सेवा के लिए जो इस प्रकार अपने आप को न्योछावर कर देता है वह सद्विद्या शास्त्र में सहज ही पारंगत हो जाता है। वह गुरु के पास रहे अथवा दूर रहे लेकिन उसे गुरुभक्ति से प्रेम ही रहता है। वह अपने प्राण गुरु की सेवा के लिये और भजन के लिये गुरु के द्वार पर ही रखे रहते हैं। गुरुभक्ति के प्रति ऐसी तत्परता के कारण तथा स्वरुचि से अधिकाधिक एकाग्रता साधने के कारण वही गुरुकृपाकुठार रूप सद्विद्यालक्ष्णशस्त्र उसके हाथ में आता है। उस शस्त्र को वैराग्य की सील पर घिसने और स्वस्वरूपाकार वृत्ति ने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सान लगाकर चमकाने से अत्यन्त तेज शस्त्र तैयार हो जाता है। अपने सामने शस्त्र तैयार कर उसे ऐक्यभाव की मुट्ठी में इस प्रकार पकड़ना चाहिये कि शस्त्र और शस्त्रधर दोनों एकजुट हो जाएँ। तब वह संसार पर प्रहार करने के लिये सिद्ध हो जाता है। ठीक से निशाना साध कर प्रबल प्रहार करने से के लिये तत्पर होते ही संसारवृक्ष का नाश होता है और प्रहार करने पहले ही टूट जाता है। लिंग वासना निज कल्पना का नाश करती है उसे धैर्यपूर्वक तथा सावधान होकर नष्ट करने से संसाररूपी वृक्ष का नाश होता है। आत्मसाक्षात्कार होने पर सभी साधन अपने आप नष्ट हो जाते हैं। भोजन से परितृप्ति हो जाने के बाद शेष पकवान वैसे ही रह जाते हैं। जिस प्रकार क्षुधा शान्त हो जाने के बाद कोई अमृत भी मुँह से नहीं लगाता, उसी प्रकार ब्रह्मपद की प्राप्ति के बाद इन साधनों का प्रयास नहीं करना चाहिये। यही भाव मन में रख कर मैंने तुम्हें पहले भी बताया था कि साधनों का प्रयास प्रवृत्ति निवृत्ति के साथ छोड़ देना चाहिये। परब्रह्म तक पहुँचने के बाद सारे वेदोक्त कर्म भी मिथ्या हो जाते हैं और आश्रमादि वर्णधर्म भी मिथ्या हो जाते हैं। यह कर्मत्याग का मर्म है। स्वप्न में गड़बड़ी में चलते समय लड़खड़ा कर जो कुएँ में गिर पड़ता है वह जागृत होने पर खुद को उसमें से निकालता है। उसी प्रकार साधन का अट्टहास व्यर्थ है। खेत जब फसल से भर जाता है तो उसे कौन जीतेगा? जब गजान्तलक्ष्मी ही घर में आयी तो दरवाजे दरवाजे भीख कौन माँगेगा? जब निधि ही हाथ लग जाये तो आँख में अंजन कौन डालेगा? उसी प्रकार आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर साधनों का बोझ कौन ढोयेगा? हे उद्धव! ज्ञानसामर्थ्य को स्वीकार करने के बाद सचमुच अपनी वृत्ति का ही त्याग करना चाहिये। अग्नि से अन्न पक कर तैयार होता है, लेकिन जब तक उसकी भाप निकल नहीं जाती तो उसकी जो गरमी शेष रह जाती है, उससे खानेवाले का मुँह जलता है और खाना बनाने वाले को भी उसका स्वाद समझ में नहीं आता। पेड़ से आम गिरता है, फिर भी उसमें खटास रहती है। उसी आम को पाल में डाल दिया जाय तो पक जाने पर उसकी सुगन्ध से ही उसकी मिठास का पता चल जाता है। लेकिन आम को पाल में रखने में भी खूबी है और वह यह कि एक आम का दूसरे से सम्पर्क नहीं होना चाहिये क्योंकि ऐसा होने से दोनों में दाग लग जाता है और उनके संसर्ग से अन्य आम भी खराब हो जाते हैं। समरभूमि में विजयध्वज फहराने से भी, जब तक शरीर के कवच नहीं उतारे जाते तब तक सच्चा विश्राम नहीं मिल पाता। गर्भवती स्त्री प्रसूत होती है और पुत्र की प्राप्ति से आनन्दित होती है लेकिन जब उसका बारहवें दिन नामकरण होता है तभी उसे पुत्र होने का सच्चा सुख प्राप्त होता है। कोई पुरुष मर जाता है तो उसके शरीर का दहन होता है लेकिन सुतक तो रहता ही है। वह जब समाप्त हो जाता है तभी देह की शुद्धि होती है। उसी प्रकार अज्ञान जाकर जो ज्ञानाभिमान बच रहता है उसका भी त्याग करने पर स्वानंद से आत्म समाधान होता है। खैर का शूल सचमुच मारता है तो चन्दन का क्या कुछ अलग करता है? उसी प्रकार ज्ञान अथवा अज्ञान दोनों ही प्रकार का अभिमान बाधक ही होता है। लोहे की बेड़ी तोड़ कर शौक से सोने की बेड़ी पहनने से पीड़ा कम नहीं होती। 'ब्रह्मादिक' 'ब्रह्म मैं ही हूँ' यह अभिमान कोई शुद्ध ब्रह्म नहीं है। अहंता के कारण वह भी कठिन है। उसका लक्षण भी सुनो। पानी से नमक तैयार होता है और वह पानी में ही मिल जाता है। लेकिन मोती पानी से ही तैयार होता है किन्तु वह कठिन रहता है इसलिये वह पानी में घुल नहीं जाता। मोती होने से उसका मोल भले ही बढ़ जाय लेकिन वह स्त्री के होठों के पास सोने की तार में फँस जाता है। मुक्त होते हुए भी वह नाक के पास आ गया, यह कठिन प्रसंग अभिमान के कारण उपस्थित हुआ। उसी प्रकार अज्ञान का अभिमान तत्काल नष्ट हो जाता है लेकिन ज्ञानाभिमान बहुत कठिन है। मिट्टी की गागर कच्ची रहती है वह तत्काल गलने लगती है और मिट्टी में मिल जाती है। लेकिन वही भट्टी में सेंका हुआ खपरैल कठोर होने के कारण कितने ही दिन क्यों न

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बीत जाएँ लेकिन मिट्टी में नहीं मिलता। उसी प्रकार प्रपंच अज्ञान के ही कारण बलवान हुआ है। इसलिये ज्ञान और अज्ञान इन दोनों का अभिमान छोड़ कर, जिस प्रकार काँटे से काँटा निकाला जाता है उसी प्रकार दोनों को दूर फेंक देना चाहिये क्योंकि यदि इन्हें बीच रास्ते पर फेंक दिया जाय तो ये कभी हमें ही बाधक हो सकते हैं। अहंकार के रूप में जितना भी कुछ है वह उतना ही बाधक है। इसलिये अहंकार अच्छा हो या बुरा हो ज्ञानीजन दोनों ही प्रकार के अभिमान को पूर्णरूप से छोड़ देते हैं। हे उद्धव! तुम्हें मेरे पद की प्राप्ति मेरी भक्ति करने से ही हुई है। अब अनेक प्रकार के साधनों की झंझट तथा शास्त्रों की चर्चा क्यों करते हो? सद्भक्ति से मेरा भजन करने से तुम ब्रह्मस्वरूप हो गये हो। इसलिये अब शास्त्र श्रवण के साथ सद्विद्याधिक साधनों का परित्याग कर दो। 'तस्मादुद्धव उत्सृज्य' इस श्लोक के त्याग का बीज यही है यह अपने अंत:करण की गुप्त बात मैंने तुम्हें स्पष्ट करके बतलायी। शिष्य के लिये गुरु का भजन यही सब साधनों में श्रेष्ठ साधन है। सचमुच उससे ही ब्रह्मसमाधान प्राप्त होता है। जो गुरुचरण का भक्तिभाव से भजन करता है वह सच्चिदानंद मन्दिर में वास करता है। मेरा यह भाषण पूरी तरह सच है। उसके सम्बन्ध में कोई विकल्प मन में नहीं रखना चाहिये। यह कह कर श्रीकृष्ण ने अपनी चारों बाहें पसारीं और उन हाथों से उद्धव को बड़े आनन्द से अपने पेट से लगा लिया। भगवान ने सद्भक्त को आलिंगन देने के कारण हृदय से हृदय मिल गया। तब अर्थात् ही कहना और सुनना ये दोनों क्रियाएँ बन्द हो गयीं और शब्दों ने ही शब्दों को खा लिया। चारों वाणियाँ बन्द हो गयीं, जीव अपना जीवत्व भी भूल गया और सद्भक्तों को केवल आनन्दघन के रूप में जो एकनाथरूपी जनार्दन है वह भी सन्तुष्ट हो गया। उसी सद्भक्ति का भावार्थ बारहवें अध्याय में स्पष्ट किया। उसका सारांश यही कि भक्तों को उनकी भक्ति से श्रीकृष्णनाथ सदा प्राप्त होते हैं। आत्मप्राप्ति होने का कारण केवल मुख्य भावार्थ ही है। भावार्थ के सिवा अन्य साधन व्यर्थ की परिक्रमा है।, जप, तप, यज्ञ अथवा दान भावार्थ के ही लिये किये जाते हैं। वह भावार्थ जिसने साध लिया उसका जन्म धन्य है। नरदेह की प्राप्ति धन्य है। साधुओं का संग धन्य है और जो भावार्थी भगवद्भक्ति में रंग गये वे अत्यन्त धन्य हैं। जो भगवन्मार्ग में रंग जाते हैं उनका चित्त विषयसुख को भूल जाता है। वह हंसगीत की कथा उद्धव श्रीकृष्ण से पूछेंगे। वह निरूपण अत्यन्त रसीला है तथा शुद्ध ब्रह्मज्ञान है। इसलिये श्रोतागण उधर ध्यान दें ऐसी विनती एकनाथरूपी जनार्दन कर रहे हैं।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे
श्रीकृष्ण उद्धव संवादे एकाकारटीकायां द्वादशोध्यायः ॥ १२ ॥
श्री कृष्णार्पणमस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तेरहवाँ अध्याय

हे ॐकारस्वरूप अनादि हंस! हे हंसरूप जगदीश! तुम्हें नमस्कार है। हे श्रेष्ठ परमेश्वर! हे परिपूर्ण, तुम परमहंस के भी सद्गुरु हो। विद्या-अविद्या, ज्ञान-अज्ञान, प्रकृति पुरुष आदि द्वैतभावना के बिना ही तुम्हारे दो पंख शोभायमान हो रहे हैं, शुद्ध सत्त्व से भी सुन्दर और उज्ज्वल तुम्हारा स्वरूप है। कहते हैं कि हंस शुभ्र वर्ण का होता है किन्तु तुम्हारा 'हंस रूप' विलक्षण है। जब सुवर्ण के कमल विकसित होते हैं तब अन्य हंस वहाँ क्रीड़ा करते हैं लेकिन तुम प्रेम से प्रफुल्लित हृदयकमल में क्रीड़ा करते हो। हंस का रहने का स्थान मानसरोवर है लेकिन तुम मानसविरहित (मन के सिवा) ही रहने वाले हो। हंस की उड़ान आकाश में रहती है लेकिन तुम चिदाकाश में उड़ान भरते हो। विवेकरूपी चोंच से तुम दूध और पानी सहज ही अलग कर लेते हो और असार का त्याग कर शुद्ध सार ग्रहण करते हो। तुम्हारे जैसे हंस के लिये चित्समुद्र के वैराग्यरूपी सीप में तैयार-मुक्तरूप मोतियों का चारा खिलाया जाता है। पृथ्वी का स्पर्श किये बिना तुम निराधार मार्ग से हंस की गति से प्रवास करते हो यह तुम्हारे प्रवास की कला अद्भुत है। जो स्वभाव में तुमसे भिन्न नहीं है ऐसी वाग्देवता को तुम परिचालित करते हो। तुम्हारे अंश के कारण ही उसे हंसवाहिनी कहा जाता है। तुम कहते हो तभी सरस्वती चलती है, तुम्हारे कहने से ही वेद बोलते हैं, जब तुम कहते हो तभी प्राण में स्पन्दन होता है और तुम्हारी वक्तृत्व शक्ति से ही सरस्वती बोलती है। सरस्वती वाणी की देवता है लेकिन तुम्हारे ही कारण उसे वाक्शक्ति प्राप्त हुई है उसी प्रकार जैसे बाँसुरी के स्वर मधुर रहते हैं किन्तु उसे बजाने वाला कोई और ही होता है। उसी प्रकार वाचा, वचन और वक्ता तुम ही हो, सरस्वती तुम ही हो और बोलने वाले भी तुम ही हो। इसलिये अपने हंसरूप की कथा तुम्हीं सहज ही बोलवा रहे हो। बड़े-बड़े कवियों को बोलने के लिये तुमने सरस्वती प्रकट की। उस हंसरूप की अपूर्वता से अभिनव बातें ही प्रकट होती हैं। तो तुम हंसरूपी श्रीजनार्दन सर्वभूतों में एकसमान हो। उसके श्रीचरण मस्तक पर धारण करने के कारण जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो गया। वह जब स्वयं ही भय के कारण भाग रहा था तब उसे भ्रम के पास छिपने के लिये जगह मिल गयी और उसने जन्म के बाद मरण को वहाँ रहने के लिये स्थान निश्चित कर दिया। इसलिये जो भ्रम में पड़ता है वह जन्म-मरण में फँस जाता है और एक बार भ्रम के चक्र में फँसने पर उससे छूटना कठिन है। वहाँ वह रहटमाला की तरह जन्म-मरण के यंत्र में फँस जाता है। एक के प्रहार से बचता है तो दूसरा सिर पर सवार हो जाता है। जन्म-मरण के संकट से बचने के लिये तुम्हारे 'सोहंहंसा' का स्मरण करना पड़ता है। जब कोई सावधानी से उसका स्मरण करता है तभी उसका भ्रम नष्ट होता है। तुम परमात्मा परमहंस हो। परब्रह्मस्वरूपी पूर्ण परमेश्वर हो। ब्रह्मदेव के पुत्र को उपदेश करने के लिये तुम हंस बने थे। उस हंसमुख का निरूपण सुनाने के लिये ही श्रीशुक्राचार्य वक्ता बने और उस भाषण का अर्थग्रहण कर ही परिक्षिति परम पावन हुए। उस हंस का हंसगीत श्रीकृष्ण उद्धव को सुना रहे हैं। इसलिये श्रोतागण इधर ध्यान दें जिससे उन्हें सहज ही आत्मबोध होगा। वही यह तेरहवाँ अध्याय भगवान अत्यन्त आस्थापूर्वक सुना रहे हैं। उसे सुनते ही उद्धव विषयों का नाश होते देख सकेगा। तेरहवें अध्याय में सत्त्वबुद्धि के कारण का निरूपण है तथा सद्विद्या के उद्धव का क्रमानुसार अत्यन्त सुलभ रीति से वर्णन किया गया है। उस हंस के इतिहास का योग भगवान स्वयं बतायेंगे और उसी में चित्र को विषयों का वियोग कैसे होता है वह भी सुलभ रीति से बताया जायगा। बारहवें अध्याय के अन्त में सद्गुरु की भक्ति कर विद्यारूपी शस्त्र प्राप्त कर जीवों में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वासना का ही छेद करने की बात कही गयी है। जीव का जीवत्त्व ही छेद देने पर सभी साधन छोड़ देने चाहिये, इसलिये उद्धव ने उस पर कोई उत्तर नहीं दिया। तब उद्धव के मन के विचार, उसके अंतःकरण में चलने वाले गूढ़ विचार आदि बातों को अच्छी तरह जानकर भगवान श्रीकृष्ण स्वयं से ही बातें करने लगे। तुम कहोगे कि त्रिगुण का सूत्र लगने के कारण जीव में जीवंत्व आता है, तो जब तक देह में तीन गुण हैं तब तक सद्विद्या उत्पन्न ही नहीं होगी। नारियल के मुँह पर का ढक्कन जब तक नहीं खोला जाता तब तक उसके अन्दर का पानी प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार जब तक गुण ही समाप्त नहीं होंगे तब तक विद्या कैसे उत्पन्न होगी? उद्धव की इसी शंका का समाधान श्रीकृष्ण तीन श्लोकों में करते हैं।

श्री भगवानुवाच

सत्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि॥ १॥

सत्त्व, रज, तम आदि जो गुण हैं वे सचमुच मायारूपी हैं यह ध्यान में रखो। इन सब बातों का निरूपण मैंने बारहवें अध्याय में किया ही हुआ है। अब जो सच्चिदानन्द है वह आत्मा से भिन्न नहीं है। लेकिन सभी गुण वैसे नहीं हैं। वह प्रकृति के ही कार्य होने के कारण प्राकृत हैं। जो सत् है वही चित् है और जो चित् है वही आनन्द है लेकिन आत्मस्वरूप में तीन प्रकार के भेद नहीं होते। वह एकमेव सच्चिदानंद स्वरूप ही है। जिस प्रकार श्वेत, मुलायम और मीठी इन तीन गुणों से युक्त चीनी एक ही है, उसी प्रकार सच्चिदानंद यह अविकृत वस्तु है तथा आकाररूप में भी एक है। प्रकृति ही गुणों को उत्पन्न करने वाली है और उन गुणों के कारण ही बलवान हुई है। इसलिये हे उद्धव! गुणों की और आत्मा की संगति कल्पांत में भी कभी नहीं होती। अब विद्या साध्य करने का ढंग भगवान स्वयं ही बताते हैं। गुण से ही गुणों का नाश कर सद्विद्या प्राप्त करनी चाहिये यह बात ध्यान में रखो। जब प्रेम से सत्त्व की वृद्धि होकर रज और तम पूरी तरह झड़ जाते हैं तभी सद्विद्या हाथ लगती है और आत्मस्वरूप का बोध होने पर सत्त्व की वृद्धि भी रुक जाती है। सर्प जिसे काटता है उसे विष खाने पर आराम मिलता है लेकिन वही विष यदि गलत दिन खा लिया जाय तो वह आत्मघात का कारण बन जाता है। उसी प्रकार रज और तम का लोप होकर सत्त्व की वृद्धि होती है लेकिन वही सत्त्व जब बाधक हो जाता है तब बहुत खराब रहता है। उस बाधा के बारे में तुम्हें आगे स्पष्ट करके बताऊँगा। सभी कर्मों से तथा कार्यों से मैं अलिप्त हूँ। मैं ही ज्ञाता हूँ, मैं ही अत्यन्त सुखी हूँ ऐसी कल्पना कर ही सत्त्व ने गुण से गुणों के कार्य में उलझा दिया है। इस प्रकार जो सत्त्वगुण बढ़ता है उसका शमन आत्मतत्त्व से ही किया जाना चाहिये। उसका सम्पूर्ण निर्दलन करने से ही समाधान प्राप्त होता है। उद्धव! तुम कहोगे कि जब तीनों गुण समान ही हैं तो फिर केवल सत्त्व की ही वृद्धि क्यों होती है? इसका उत्तर यह है कि गुण ही गुणों की रखवाली करते हैं। जब तमोगुण बढ़ता है तो उसे ज्ञान-ध्यान अच्छा नहीं लगता, त्याग अच्छा नहीं लगता और चंदनादि सुखविलास अच्छा नहीं लगता। निद्रा तथा जोरदार कलह अच्छा लगता है। जब रजोगुण बढ़ता है तो ज्ञान का निरूपण सुनते हुए भी उसका मन भोग के प्रति आसक्त रहता है। उसे सदा विषय भोग का ही ध्यान लगा रहता है। दृष्टि में धन की लालसा भरी हो तो कोई पैर से पादत्राण भी निकाल ले तो उसे गुस्सा नहीं आता। यह रजोगुण की विशेषता है। रजोगुणी मनुष्य स्त्री पुत्रों के प्रति अत्यन्त लालची होता है। सत्त्वगुण बढ़ने पर वह स्त्रियादि भोगों के प्रति उदासीन हो जाता है। वह निरन्तर भगवद्चिंतन करता है। क्रोध, लोभ अथवा मोह का लक्षण सत्त्व के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

काल में उत्पन्न नहीं होता। किन्तु अकेले सत्त्वगुण की ही वृद्धि कैसे हो? क्योंकि गुण ही गुणों की रक्षा करते हैं। सत्त्वगुण के पीछे-पीछे तमोगुण रहता है, आगे परिपूर्ण रजोगुण रहता है और उन दोनों के बीच सत्त्वगुण फँसा रहता है। तब वह कैसे बढ़ेगा? वह तो पूरी तरह फँसा रहता है। ऐसी शंका मन में आकर तुम सोचोगे कि सत्त्वगुण कैसे बढ़ेगा? तो उसी सत्त्ववृद्धि का लक्षण बताता हूँ, सुनो।

सत्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते॥ २॥

इन श्लोकों का निरूपण करते समय प्रथम उत्तरार्ध का व्याख्यान सुनाता हूँ। उसमें सत्त्ववृद्धि का कारण सात्त्विक वस्तुओं का ही सेवन बताया गया है। सात्त्विक पदार्थ ही सेवन करने से सत्त्व की ही वृद्धि होती है और सत्त्ववृद्धि से ही आचरण करने के कारण जीवों में भी पवित्रता आती है। सत्त्व के उत्कर्ष का लक्षण है धर्मनिष्ठा एवं स्वधर्म का आचरण। उसी प्रकार वहाँ की वासनाओं का बन्धन वह इहलोक तथा परलोक में भी नहीं चाहता। अंतःकरण शुद्ध हो जाने पर सत्त्वगुण असीम बढ़ जाता है और पुरुषों में मेरी भक्ति का लक्षण धर्म उत्पन्न होता है। सत्त्व से धर्म की प्रवृत्ति बढ़ने पर गुरुभजन के प्रति प्रेम स्थापित होता है। अथवा जहाँ मेरी सात्त्विक मूर्ति रहती है, वहीं भक्ति का विकास होता है। कायिक, वाचिक एवं मानसिक कर्म वही मुझे सहज ही अर्पण करता है। मेरे सिवा किसी और की भक्ति उनमें उत्पन्न ही नहीं होती। तब स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगता है कि गुरु और भगवान भिन्न नहीं हैं। वही अत्यन्त महान सत्त्व का लक्षण है। यह धर्म पूर्ण सात्त्विक ही है।

धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते॥ ३॥

ऐसे सात्त्विक धर्मों की वृद्धि होने पर, जिन सत्त्वों में मुमुक्षुओं का विश्रामस्थल पुरुषोत्तम प्रकट होता है, उस सर्वोत्तम सत्त्व की वृद्धि होती है। इस प्रकार सत्त्ववृत्ति में जो धर्म बढ़ता है वही तत्काल अधर्म का नाश करता है क्योंकि अधर्म के मूल रजोगुण और तमोगुण हैं। उनका नाम भी वह नहीं रहने देता। सात्त्विक पदार्थों के सेवन से सत्त्व की वृद्धि होती है। उस सत्त्ववृद्धि के कारण सद्विद्या प्राप्त होती है। कृपानिधि श्रीकृष्ण ने सद्विद्या प्राप्ति का यह साधन बतलाया। अब सात्त्विक पदार्थों के सेवन के सम्बन्ध में जो बताया है वे सात्त्विक पदार्थ क्या हैं? उनका निरूपण भी इन लक्षणों में करता हूँ।

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥ ४॥

गुणवृद्धि का कारण आगम अर्थात् शास्त्र है यह ध्यान में रखो। आपका अर्थ है जल और मनपसन्द स्थान है देश। अब प्रजा का लक्षण सुनो। प्रजा का अर्थ है तीन प्रकार के लोग। जिसकी जैसी संगत होती है वैसा लक्षण उसे प्राप्त होता है। काल का अर्थ है दिन के भाग। कर्म का अर्थ है वह क्रिया जो शरीर करता है। जन्म का अर्थ है अच्छे प्रकार की दीक्षा। मंत्र का लक्षण अपनी रुचि के अनुसार। कर्त्ता को जिसमें आदरभाव दिखायी देता है वह है संस्कार। इसके दस लक्षण हैं। अब गुणवृद्धि सम्बन्धी विचार सुनो। यहाँ प्रस्तुत सत्त्ववृद्धि के साधकों के लिये निवृत्तिशास्त्र (वेदांत शास्त्र) प्रमुख है। वेदांत के उपनिषद शास्त्र का मतितार्थ ग्रहण करना चाहिये। आपका अर्थ है जल की पवित्रता। गोदावरी, भागीरथी आदि जो पवित्र नदियाँ हैं उनका एक छींटा भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अकस्मात् शरीर पर गिर जाय तो पाप नि:शेष हो जाता है अथवा जिसके लिये ब्रह्मादिक देवताओं की भी लार टपकती रहती है उस मेरी प्रतिमा का चरणामृत अथवा शालिग्राम शिला का तीर्थ भी सभी पापों का विनाश करता है। जिससे सारे तीर्थ पावन होते हैं वह ब्राह्मणों का चरणतीर्थ स्वयं नारायण शिरसावंद्य करते हैं और ब्राह्मणों के चरण अपने वक्ष:स्थल पर धारण करते हैं। पानी कहीं का भी क्यों न हो? जो पानी सद्गुरु के चरणों से लगा है वह सकल तीर्थों से भी श्रेष्ठ है। वह सेवन करते ही तत्काल उद्धार करता है।·सत्त्ववृद्धि का कारण उदक (जल) है। वह इस तीर्थ से पुण्य पावन होता है और उसका सेवन करने से सत्त्ववृद्धि का स्वरूप अपने आप प्रकट होता है। प्रजा का अर्थ है श्रेष्ठ लोग। साधु तथा बैरागी पुरुषों की सेवा करनी चाहिये, क्योंकि इससे जड़ जीवों का उद्धार होता है। सत्त्ववृद्धि का प्रमुख कारण सत्संगति है, यह समझ लो। इस सत्संगति का वर्णन बारहवें अध्याय में हुआ है। अब देश का अर्थ है नैमिषारण्यादि पुण्यभूमि अथवा सत्पुरुषों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के लिये स्थापित किया हुआ सिद्धिस्थान। वह स्थान निर्जन, एकान्त तथा ऐसा हो जहाँ बैठने से तत्काल सत्त्व को अधिक से अधिक बल प्राप्त होता है। एकांत में आसन लगा कर बैठने का अभ्यास पूर्ण हो जाय और चिद्धन अर्थात् परब्रह्म प्राप्त करने के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाय तो यह सत्त्वगुण अपने आप बढ़ता है। उसी प्रकार साधकों के लिये उत्तम समय है बाह्य मुहूर्त—भोर। यही समय पूरी तरह योग्य और अनिवार्य है। अथवा जिस समय मन उद्वेगरहित तथा हर्षयुक्त हो वह काल भी उपयुक्त है। प्रेमपूर्ण अंत:करण से कीर्तन श्रवण करने में जो काल व्यतीत होता है, अथवा जयंती आदि अवसरों पर महापूजा करने में, एकादशी को जागरण करने में जो काल व्यतीत होता है, वही समय की उत्तम सार्थकता है। हरिकीर्तन में गाने में अथवा नाचने में जो समय व्यतीत होता है उस काल की महिमा का वर्णन मैं भी नहीं कर पाऊँगा। अभिमानरहित होकर कीर्तन करना, निर्लोभ से गाना और नाचना इसमें जो समय व्यतीत होता है उस काल को मैं श्रीकृष्ण भी प्रणाम करता हूँ। उसकी महिमा का वर्णन कौन करे? जो कर्म आशारहित हो, फलरहित हो अथवा निष्काम कर्म हो उसी को कर्म कहना चाहिये अथवा जो क्रिया उपकार के लिये की जाती है वही वास्तव में सात्त्विक कर्म है। गुरु से दीक्षा ग्रहण करने में पुरुष को मानों एक नया जन्म ही मिलता है, इसे स्मरण रखो। उद्धव! गुरु ही माँ-बाप हैं। उसका भी लक्षण सुनो। सचमुच जन्म लेने वाले बालक को भी पाँच प्रकार के पिता होते हैं। एक जन्म देनेवाला, दूसरा उपनयन करने वाला और तीसरा अन्न खिलाकर पोषण करने वाला। जो भय से छुड़ाता है, जो बन्धन से मुक्त करता है और जो देह को मरने से बचाता है वह भी शास्त्रों के अनुसार पिता ही है। इसके अलावा एक पाँचवाँ पिता भी है। वह पंचमहाभूतों का विनाश करता है, वह मृयु से छुड़ाता है और गर्भवास के दु:ख का निवारण करता है जिनके चरणों का दर्शन करने से संसार बन्धन पीड़ा नहीं दे सकता वह सद्गुरु पिता है। वह भाग्य के बिना नहीं मिलता। जन्म लेने वाले बालक के लिये माता और पिता अलग-अलग रहते हैं। बाप वीर्य प्रदान करता है और उस वीर्य को धारण कर उससे होने वाले गर्भ का पोषण करने का कार्य माँ का होता है। सद्गुरु उस प्रकार का पिता नहीं है। अपना वीर्य प्रदान किये बिना और योनिद्वार से जन्म दिये बिना वह स्वयं माँ और बाप बनता है। उदर से बाहर आने के बाद माँ के हृदय में पुत्रस्नेह उमड़ पड़ता है। लेकिन जो बाहर है उसे पेट में डालकर गुरुमाता सच्ची आमीयता से महान बन गयी है। इसलिये शिष्य के लिये सद्गुरु ही सचमुच माता-पिता हैं। वही अपनी ममता से उसका पोषण करता है और अभिन्न भाव के कारण गुरु शिष्य में एकत्व उत्पन्न होता है। इससे पहले जिन चार पिताओं का वर्णन किया उन सबको सौतेला बाप समझो। माता और पिता जब अलग-अलग हैं तो वे सगे कैसे हुए? इसलिये जो दयालु सद्गुरु है वही सच्चे शिष्य का सगा पिता है। इसीलिये उन दोनों में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

थोड़ा भी विकल्प उत्पन्न नहीं होता। उस सद्गुरु से ही शैवी अथवा वैष्णवी दीक्षा प्राप्त होती है अथवा वह गुरु आत्मज्ञान से चैतन्यघन अथवा निर्गुण का उपदेश करता है। अब दीक्षा का लक्षण सुनो। जो चारों प्रकार के पुरुषार्थ और चारों मुक्ति प्रदान करती है और अविद्या की स्थिति को पूर्णतया विलुप्त करती है उसी का नाम वात्सव में दीक्षा है। इस प्रकार हे उद्धव! दीक्षा रूप जन्म की कथा वास्तव में दीक्षा है। इस प्रकार हे उद्धव! दीक्षा रूप जन्म की कथा तुम्हें यथातथ्य बतलायी। अब ध्याननिष्ठ नाम से जो सात्त्विकता होती है उसके सम्बन्ध में सुनो। वास्तव में जिसका शरीर सत्त्वोपाधिक और जिसका स्वरूप ज्ञानमय होता है वही श्रीविष्णु इन सात्विकों का ध्येय है। उसका ध्यान करें। अथवा जो गौ के दुग्ध की तरह शुभ्र अथवा कर्पूर की तरह गौर वर्ण है उस पंचमुखी श्रीशंकर का भवसागर के उस पार जाने के लिये ध्यान करना चाहिये। उस मूर्ति का ध्यान करने से ध्येय, ध्यान और ध्याता यह सारा नष्ट हो जाता है और अंत:करण में ज्ञानस्वरूप स्थापित हो जाता है। सात्विकता का ध्यान यही है। जैसी दीक्षा वैसा ही ध्यान यही आगम शास्त्र का सिद्धान्त है और ज्ञानस्वरूप तक पहुँचना यही उस ध्यान की परिणति है। जो ज्ञान का भण्डार है वही सद्गुरु का स्वरूप है। निरन्तर उसी का अनुसंधान कर ध्यान करना चाहिये। पंचभूतात्मक देह का साँचा बना कर उसमें ब्रह्मरूपी रस उड़ेलने से सुन्दर गुरुस्वरूप तैयार होता है। इसलिये दिन-रात उसी का ध्यान करना चाहिये। हे उद्धव! यही सात्त्विकों का ध्यान है यह स्मरण रखो। अब मंत्रों का ग्रहण किस प्रकार होता है इसका भी निरूपण सुनो। जो सभी मंत्रों की माँ है, जो ब्राह्मण को तत्काल द्विजता प्रदान करती है उस गायत्री के मंत्र को ग्रहण करने से ब्राह्मणों को ब्राह्मण होने का अधिकार प्राप्त होता है। जो सभी मंत्रों का राजा है, जो ब्राह्मणों के हिस्से में आयी है, जिसके भय से मुझ श्रीकृष्ण को भी ब्राह्मणों की पूजा करनी पड़ती है, वह गायत्री ब्राह्मणों को सहज ही प्राप्त हुई है। लोभ के कारण उसकी उपेक्षा कर ब्राह्मण दरिद्र हो गये हैं। जो ब्राह्मण गायत्री पर निष्ठा रखता है उसके चरणों का मैं वंदन करता हूँ। मंत्रों में गायत्री मंत्र श्रेष्ठ है ऐसा वेदों का प्रामाणिक मत है। गायत्री मंत्र का प्रवेश हुए बिना अन्य मंत्रों का वेद में प्रवेश सम्भव ही नहीं था। मुख्यतय: सारे मंत्र गायत्री के पास एकजुट होकर निवास कर रहे हैं। यदि गायत्री मंत्र का सम्बन्ध न हो तो ब्राह्मणों के मुख में वेद प्रवेश कर ही नहीं सकते। फिर दूसरे मंत्रों की बात क्या करें? सारांश वेदों के लिये गायत्री वंदनीय है। गायत्री मंत्र का एकमात्र गोपनीय तथ्य ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही है। वह मंत्र ब्राह्मणों को ही सुलभ है। लेकिन वे भी उसका मर्म भूल गये। इस प्रकार गायत्री मंत्र पूर्ण रूप से ब्रह्मस्वरूप है और सभी सिद्धियों को उत्पन्न करने वाला है। शैव अथवा वैष्णव मंत्रों को ग्रहण करने पर भी गायत्री मंत्र से ही तत्काल सत्त्वशुद्धि होती है। सत्त्व की शुद्धि हो जाने के बाद सहस्रों शैव मंत्र अथवा वैष्णव मंत्रों की प्राप्ति होती है और उस सत्त्वशुद्धि से ही साधकों को तत्काल आत्मदृष्टि प्राप्त होती है। हे उद्धव! मंत्रग्रहण करने का यह सही ढंग है। अब संस्कार के बारे में सुनो। मन के संकल्प और विकल्प तोड़ने का प्रयत्न जो उत्कट इच्छा और लगन से करता है उसमें वैसे तो संकप उत्पन्न ही नहीं होता और अगर हुआ भी तो उसे वह वहीं कुचल देता है। वह सदा विचार दृष्टि से ही देखता रहता है इसलिये वह मन से भी स्वतंत्र रहता है। परमात्मा निष्ठा के कारण वह मन को नियंत्रण में रखता है, उसे इधर-उधर भटकने नहीं देता। मन को कुशलतापूर्वक स्मरण में ही फँसाये रखता है। वैराग्य के बल पर वह मन का दमन करता है और उसी के भय से हरि का चिन्तन करता है। जिस प्रकार दासी स्वामी की किसी भी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करती, उसी प्रकार वह अपने मन को ईश्वरनाम स्मरण के अधीन कर देता है। इन्द्रिय अनेक प्रकार के पदार्थों को देखते रहते हैं लेकिन मन किसी अन्य विषय को नहीं देखता। वह जागृत अवस्था में तथा स्वप्न में भी स्वाभाविक रूप से हरि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का स्मरण करता रहता है। मन जब इस प्रकार सुसंस्कारित हो जाता है तो वह प्रत्येक क्षण हरि का ही चिन्तन करता है। श्वासोश्वास चलते समय भी 'परब्रह्म मैं ही हूँ' का ध्यान लगा रहता है। सहज ही भगवान के नामस्मरण का आदर करने को आत्मसंस्कार कहते हैं। आत्मशुद्धि का जो प्रमुख कारण है उसे दस लक्षणों के साथ बतलाया। साधक भी उसका सेवन करें इसलिये मैंने भी उसका अधिक स्पष्टीकरण किया। अब जिसके कारण तमोगुण जोर से बढ़ता है उसके भी दस लक्षण हैं। उसका पूरी तरह त्याग करना चाहिये। उसका शास्त्र आभिचारिक है। वह मार्ग वेदों द्वारा निषिद्ध माना गया है। उसमें दारू, मद्य, ताड़ी आदि का अनिवार्य रूप से सेवन किया जाता है। जो इहलोक और परलोक में भ्रष्ट हुए रहते हैं, पाखंडी तथा बहुरूपिया होते हैं और मुण्डन किये रहते हैं उनसे इनकी संगति रहती है और जहाँ वेदविधियों का विरोध होता है, द्वेष, जुआ अथवा परस्त्री जैसे दुर्व्यसन हों वहीं इनकी बैठक होती है और उनका समय मध्यरात्रि का रहता है। उस समय उस कर्म का विधि चलता है। उस कर्म का प्रारम्भ जारण, मारण, मोहन, स्तंभन, उच्चाटन अथवा वशीकरण रहता है। ये सब तामस कर्म हैं। जन्म का अर्थ है दीक्षाग्रहण। इसलिये प्रेतभूत पिशाच विद्या से प्रेतभूतों की आराधना करने से तामसों को भी प्रेत का ही जन्म प्राप्त होता है। जिसमें तामस गुण प्रमुख रूप से रहता है वह पुरुष क्रोधयुक्त होकर निरन्तर शत्रु की ही टोह में रहता है और उसका विनाश करने के लिये प्रवृत्त रहता है। उसके मंत्र तामसी होते हैं और देवता गूँगी, मैली (गन्दी), उच्छिष्ट चांडालिन अथवा प्रेतों की देवता कंकाली होती है और उनकी मंत्रयोजना भी वैसी ही रहती है। पत्थर और मिट्टी से बना घर मेरा है, यह जमीन मेरी है यही लगन रहती है। नींद में, स्वप्न में भी दीवारें उठाता रहता है, इतनी घर के प्रति आसक्ति रहती है। मकान बनाने की क्षमता भले ही न हो लेकिन पत्थर मिट्टी आदि का संग्रह करता रहता है। किसी चिड़िया को भी वहाँ नहीं आने देता। जिस देह के लिये घर बनाया जाता है उस देह को भी वह असह्य कष्ट देता रहता है। तामस संस्कारों के योग से घर की आसक्ति के कारण वह लगभग पागल हुआ रहता है। घर के लिये वह मरने तक प्रयास करता रहता है। यही उसका तामस संस्कार है और उसका संसार है सिर्फ मिट्टी। जिसके कारण तमोगुण बढ़ता है उनके ये दस लक्षण हैं। अब राजस का स्वरूप सुनो। उसका स्वरूप इससे अलग रहता है। सत्त्वगुण को स्वीकार करना चाहिये और तमोगुण का त्याग करना चाहिये। अब आगे से काटने वाले और पीछे से लात मारने वाले रजोगुण के बारे में सुनो। जरा सुनो, चतुर और छिनाल औरत अपने पति को प्रसन्न रखती है और फिर उसे धोखा देकर व्यभिचार के लिये बाहर जाती है। उसी प्रकार यह रजोगुण है। जिस प्रकार कोई अड़ियल टट्टू देखने में बहुत सुन्दर रहता है लेकिन बीच रास्ते में अड़ जाता है और पैर आगे नहीं बढ़ाता बल्कि पीछे हटने लगता है, उसी प्रकार रजोगुण की स्थिति है। वहाँ कल्पांत में भी त्याग की सम्भावना नहीं है। ऐसा मनुष्य केवल दांभिक भावना से ही धर्म करता है और मन में काम के प्रति आसक्ति रहती है। साथ में चलने वाला चोर सर्वस्व लूटने के लिये चाकर बनकर साथ-साथ दौड़ता रहता है। वही स्थिति रजोगुण की है। वह भी इच्छा का संसार बढ़ाता रहता है। इसलिये मनुष्य काम की आसक्ति से धर्म करता है, किये हुए कर्म का निश्चयपूर्वक उपभोग करता है और इस प्रकार स्वयं ही जन्म-मरण के भँवर में फँस जाता है। कल्पांत में भी उससे छूट नहीं पाता। सात्त्विक लोग मेरी भक्ति से तर जाते हैं, तामस लोग मेरी विरोध भक्ति से तर जाते हैं। किन्तु राजस लोगों की जन्म-मरण की यात्रा रजोगुण के कारण कभी समाप्त नहीं हो पाती। रजोगुण की बाढ़ जिसके कारण प्रबल होती है वे दस लक्षण तुम्हें बताता हूँ। काम्य कल्पना पूरी तरह छोड़ देने के लिये यह निरूपण भी सुनो। राजस लोगों का शास्त्र केवल प्रवृत्ति पर आधृत है। वह केवल वासनामय होता है। जिससे इहलोक में और परलोक में सुख मिले ऐसी ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चीजों के प्रति राजस व्यक्ति के मन में अत्यन्त आदरभाव रहता है। आप का अर्थ है केवल पानी। लेकिन यदि उसमें इलायची और खस की सुगन्ध हो उसमें कपूर पड़ा हो और वह शीतल हो तो वह राजस व्यक्ति को अत्यन्त प्रिय होगा। वह किसकी संगत करता है यह भी सुनो। राजा सरीखे लोग, सभापति, व्यवहार चतुर, लोगों का मनोरंजन करने वाले तथा ऐसी ही प्रवृत्ति के लोग उसे अच्छे लगते हैं। राजदरबार में अथवा सभा में, चौपाल में अथवा जहाँ बड़े व्यापारी लेन-देन करते हैं ऐसी दुकान में अथवा जहाँ मण्डप और बंदनवार लगे हों ऐसे स्थान पर वह बड़े सम्मानपूर्वक जाकर बैठता है। जब घर में समय नहीं बीतता तो शहर के किसी अड्डे पर जाकर बैठता है। अन्यथा शतरंज खेलने के लिये बड़े चाव से बैठ जाता है। अब रजोगुण का समय सुनो। सूर्योदय होने के बाद का समय या शाम का समय राजसी है। यह समय उसे बहुत प्रिय है। राजस लोगों के प्रत्येक कार्य में लालच भरा रहता है। धनधान्य प्राप्त करने के लिये वे धर्म करते हैं। पशु पुत्र हों यह उनकी सदा की वासना होतीहै। इच्छारहित बात उनके स्वप्न में भी नहीं आती। राजसों की इच्छा प्रचण्ड रहती है। काम की आसक्ति के कारण वे दीक्षा लेते हैं, उनका जन्म उसी के लिये होता है। उन्हें निरन्तर स्त्रियों की ही इच्छा लगी रहती है। मंत्र लेते समय भी मन में कोई न कोई अभिलाषा अवश्य रहती है। जिससे मेरा सम्मान होगा, मेरी प्रतिष्ठा बढ़ेगी और जिससे गुण अलौकिक प्रतीत होगा ऐसा मंत्र वह अत्यन्त आदरपूर्वक ग्रहण करता है। उसका संस्कार तो अत्यन्त राजसी होता है। उसमें शारीरिक भोग के ही विलास होते हैं। बहुमूल्य सुगन्ध, साफ-सुथरे वस्त्र उसे हमेशा अच्छे लगते हैं। उद्देश्य यही होता है कि मेरा लौकिक बढ़े और मुझे मंच पर आदर का स्थान मिले बड़े-बड़े लोग मुझे प्रणाम करें और भरी सभा में मेरा सम्मान करें। हे उद्धव! रजोगुण के जो दस लक्षण हैं उनका यही स्वरूप है। इसीलिये राजस लोग जन्म-मरण के जंजाल से पूरी तरह कभी नहीं छूट पाते। सात्त्विक पुरुष विवेक पर निष्ठा रखकर त्याग करता है, तामस व्यक्ति कनक-कांता के लोभ में त्याग नहीं कर पाता। इन तीन गुणों का लक्षण मैंने अनेक प्रकार से तुम्हें बताया। अब इन तीनों का साधारण स्वरूप भी तुम्हें बताता हूँ।

तत्तत्सात्त्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसंतत्तद् राजसं तदुपेक्षितम्॥ ५॥

जिनकी बुद्धि विचारों से परिपक्व हुई है ऐसे बुजुर्ग जो आचरण करते हैं जिसकी लोग आदरपूर्वक स्तुति करते हैं वे सचमुच सात्त्विक कार्य हैं ऐसा मेरा निश्चित मत है। विचारकों के उपदेशानुसार लोग जिन बातों की निन्दा करते हैं, वह सब तमोगुण की पीड़ा है, ऐसा मेरा विचार है। जिसकी कोई स्तुति नहीं करता, निन्दा भी नहीं करता, मन से उपेक्षा करते हैं वे कार्य सचमुच राजस हैं इसे ध्यान में रखो। उसकी बाधा अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार विष मिलाया हुआ अन्न खाने में मधुर लगता है किन्तु उसमें मृत्यु छिपी होती है उसी प्रकार यह राजस गुण है। उसका बन्धन बड़ा विचित्र होता है। राजस को उपदेश करते-करते वेद भी हार गये। उसे उपदेश करने में ब्रह्मदेव भी थक गये। स्वयं मैं भी उसे उपदेश नहीं कर पाता। इसी लिये विचारकों ने रजोगुण की उपेक्षा कर उसे फेंक दिया है। इसीलिये साधक को सात्त्विक का ही सेवन करना चाहिये। उस सात्त्विक सेवन का सम्पूर्ण गुण मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो।

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम्॥ ६॥

सात्त्विक पदार्थों का सेवन करने से सचमुच सत्त्वगुण की वृद्धि होती है और पुरुषों में सत्त्वगुण की वृद्धि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होते ही उनकी प्रवृत्ति अपने आप ही धर्म की ओर होती है। धर्मप्रवृत्ति से मेरा भजन होता है और मेरी भक्ति का उल्हास बढ़ते ही मैं भक्तों पर जब प्रसन्न हो उठता हूँ उस समय ज्ञान भी अपने आप ही प्रकट होता है। 'तत्वमसि' आदि जो वाक्य हैं उनका यही अर्थ है कि गुरु के द्वार से आकर ज्ञान की प्राप्ति होती है। तो फिर तुम कहोगे कि फिर सत्त्वशुद्धि से किस हेतु से धर्मभक्ति करनी चाहिये? तो उसका विचार भी सुनो। सत्त्वशुद्धि के बिना यदि श्रवण किया जाय तो वह बाजार के कोलाहल की तरह होता है। उससे कभी भी आत्मस्वरूप की पहचान नहीं हो सकेगी। अन्धा बालक जिसके गर्भ से जन्म लेता है उसका स्तनपान करता रहता है लेकिन माँ कैसी होती है उसे दिखायी ही नहीं देती। वैसी ही स्थिति उस उपदेश की रहती है। प्रत्येक इन्द्रिय को सजीवता प्रदान कर भगवान सभी का पालन-पोषण करता रहता है लेकिन विषय में अन्धे लोग उसे नहीं देख पाते। उनकी चित्त की शुद्धि न होने के कारण उन्हें कुछ भी नहीं दिखायी देता। बकरी के गले में चमड़ा लटकता रहता है उसे झूठ ही 'स्तन' कहते हैं, उसी प्रकार सत्त्व की शुद्धि हुए बिना उपदेश भी व्यर्थ है। बहते जल पर अक्षर लिखने से वे पानी की सतह पर अंकित नहीं हो पाते, उसी प्रकार आत्मज्ञान भी सत्त्वशुद्धि के बिना स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो पाता। पूर्णरूप से सत्त्वशुद्ध हुए बिना जिस प्रकार धर्मबुद्धि प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार ग्रहण में जिस प्रकार चन्द्रमा नहीं दिखाई देता उसी प्रकार आत्मज्ञान भी सिद्ध नहीं होता। हरिकथा श्रवण करने से जिसका कंठ सूख जाता है, शरीर पर रोमांच उभर आते हैं, पसीना छूटने लगता है, रुलाई आने लगती है, लेकिन एक भी पैसा खर्च करना होता है तो प्राण निकलने लगते हैं ऐसा जिसका आचरण होता है उसमें भी ब्रह्मज्ञान प्रकट नहीं होगा। जब तक हृदय से लोभ नहीं छूटता तब तक सच्चा ज्ञान कैसे प्राप्त हो? जब सत्त्वशुद्धि और धर्म ये दोनों स्पष्ट दिखायी देने लगेंगे तभी वह आत्मज्ञान की प्रबल प्रेरणा से सही मार्ग पर लगेगा। उस मार्ग पर चलते रहने पर भी यदि मेरी भक्ति साथ में हो तभी वह चोरों से बच पायेगा और झट मेरे पास आएगा। उस भक्ति की संगत न हो तो आगे का राजमार्ग भी अपरिचित होने लगता है। तब काम-क्रोध विनाश करने के लिए प्रवृत्त हो उठते हैं और विकल्परूपी भँवर डुबा देते हैं। अरे! भाग्य के बिना मेरी भक्ति प्राणियों का संग नहीं करतीं। मेरी भक्ति की संगत से मार्ग चलने पर किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होता। मेरी भक्ति के साथ बड़े-बड़े वीर तथा प्रसिद्ध नौ रणबाँकुरे होते हैं। वे युद्ध के लिये सदा तैयार होकर शत्रु का सामना करने के लिये तैयार रहते हैं। आत्मज्ञान के योग से वे महान योद्धा बने हुए हैं। इसलिये मेरी भक्ति के बिना हजारों प्रकार से श्रवण, मनन करने पर भी मेरी प्राप्ति नहीं होती। भजन से ही मेरी पूर्ण प्राप्ति होती है। अहो! सभी प्राणिमात्र के प्रति भगवान की ही भावना रखना यही मेरी श्रेष्ठ भक्ति है। वह स्वयं ही जब सहचरी हो जाती है तो काम, क्रोध, मोह, पीड़ा नहीं दे सकते। बड़े जतन से उलटी गागर समुद्र में डुबोने से उसमें एक बूँद जल भी नहीं घुस पाता। वही बात महावाक्य की है। इसलिये अत्यन्त आदर और धर्मशील बुद्धि से मेरा भजन करने से मैं प्रसन्न होता हूँ और मेरे प्रसाद से ही ज्ञान प्रकाशित होता है। हे उद्धव! ऐसा न कर यदि केवल अर्थ और स्वार्थ पर लोभदृष्टि रख कर मेरी सूखी भक्ति की जाय तो उससे मैं लक्ष्मीपति प्रसन्न नहीं होता। जो धन, मन, शरीर, वाणी घिस कर मेरा भजन करता है उसे ही जिस प्रकार चन्द्र किरणों से चकोर प्रसन्न होता है उसी प्रकार मैं प्रसन्न होता हूँ। वत्स के लिये गाय जिस प्रकार स्नेहयुक्त होकर गोरस देती है, उसी प्रकार अत्यन्त सन्तोष से मैं भी प्रसन्न होता हूँ। मेरे उस प्रसाद से ही मेरा ज्ञान भक्तों में प्रकट होता है। स्त्री यदि सद्गुणी, सुन्दर और प्रतिव्रता और लाडली हो तो पति उसे बिना माँगे सब कुछ दे देता है, उसी प्रकार मैं अपने भक्तों पर प्रसन्न होता हूँ। मेरे ही प्रसाद से जो ज्ञान प्रकट होता है उसे ही 'श्रुति' और 'स्मृति' कहते हैं यह जान लो और सहज ही जिस प्रकार अविद्या का नाश होता है उसे 'अपोहन'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहते हैं। गुणों से देह उत्पन्न होता है और देह से ज्ञान उत्पन्न होता है, लेकिन उसी ज्ञान से गुणों का नाश होता है। तुम कहोगे, लेकिन क्या देह का नाश नहीं होता? लेकिन तुम्हारी यह बात गलत है। क्या पक्षी स्वयं अपने पंख तोड़ता है या नारियल नारियल को फोड़ता है? क्या व्याघ्र स्वयं ही अपने मांस को चखता है। यह जो कभी न घटने वाली बात होगी तभी देह के ज्ञान से गुणों का और देह का विनाश होगा। यदि तुम्हारे मन में इस तरह का विकल्प आ रहा हो तो उसका भी निराकरण करता हूँ।

वेणुसंघर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद् वनम्।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः॥ ७॥

संयोग से बाँस के जंगल में तेज हवा में बाँस एक दूसरे के घर्षण के कारण चिनगारी उत्पन्न होती है और पूरा जंगल जल जाता है। जिस टुकड़े से अग्नि उत्पन्न होती है वह टुकड़ा भी जलकर स्वाहा हो जाता है। जंगल में एक सीक भी शेष नहीं रह पाती और वह स्वयं भी राख होकर बुझ जाता है। उसी प्रकार वैराग्य के अभ्यासरूपी वायु से त्रिगुणों का घर्षण होते ही वहाँ ज्ञानरूपी अग्नि उत्पन्न होता है जिससे अविद्यारूप जंगल जल जाता है। वह हरिगुरु की कृपा से खौलता है, वृत्ति के रूप से प्रज्ज्वलित होता है और दोनों देहों से लगे गुणों को जलाने में प्रवृत्त होता है। तब आशा और तृष्णा के झुण्ड जल जाते हैं, काम-लोभरूपी सियार जल जाते हैं, क्रोधरूप व्याघ्र की होली हो जाती है और मदरूपी हाथी भी जलने लगता है। स्नेह के कँटीले पौधे जल जाते हैं, असत्यरूप बैर के काँटे जल जाते हैं, मोहरूप अजगर तो तत्काल ही जल जाता है और अंततः भयानक काल भी जल जाता है। इतने में अहंकार रूप सुअर उठता है, कितना भी दौड़ाने पर भी वह नहीं मिलता। लेकिन वह विकराल सुअर भी जल जाता है। ज्वालाग्नि चारों ओर फैल जाता है, बचने के लिये अणुमात्र स्थान भी नहीं रहता। इस प्रकार अहंकाररूपी जंगली सुअर भागते-भागते जल जाता है और पूर्ण रूप से मर जाता है। अग्नि की करनी बड़ी विचित्र है। वह स्वयं अपना भी दहन कर लेता है। इतना ही नहीं बल्कि वह दाहकशक्ति को भी जलाकर अपने स्वस्वरूप में जाकर स्थिर हो जाता है। यह निरूपण सुनकर उद्धव को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा, लोगों पर यह कैसी संकट की घड़ी आयी है? ऐसा होते हुए, उसे छोड़ लोग विषय पर ही लुब्ध होते हैं और मरते रहते हैं। सात्त्विक सेवन से सत्त्व की वृद्धि होती है और अलभ्य सिद्धि का लाभ होता है। लेकिन उस सिद्धि को छोड़कर लोग विषय में ही रममाण होते हैं। इन लोगों में कितना अनर्थ मचा हुआ है। मन में इस प्रकार की शंका उत्पन्न होने के कारण वह बड़ी जिज्ञासा से श्रीकृष्ण से पूछने लगा।

उद्धव उवाच

विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम।
तदापि भुञ्जते कृष्ण तत्कथं श्वखराजवत्॥ ८॥

उद्धव ने कहा, "हे मुकुन्द! सर्वज्ञ गोविन्द! सुनो। विषय का संकट सर्वत्र बाधा उत्पन्न करता है यह सदा सबको ज्ञात हो चुका है। जो विषयाधीन होता है वह सर्वत्र, सदा दीन-हीन ही बना रहता है। यह सब देखने जानने पर भी उन्हें विषयों के प्रति कितनी आसक्ति है। लोग श्वान, गधा तथा बकरे की तरह विषय भोग करने के लिये निर्लज्ज हो जाते हैं। अपने हित का कार्य न करके विषय की चाहत में ही क्यों नाचते रहते हैं? कुतिया क्रोध से बिफरती रहती है फिर भी कुत्ता उसके पीछे-पीछे लगा रहता है और दुम हिलाकर उसे सूँघता रहता है। वह लोगों की लज्जा भी नहीं करता। अन्धा, रोगग्रस्त, शरीर से पीप गलता हुआ, गले में चिन्तारूपी मटके का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किनारा फँसा हुआ, फिर भी वह कुतिया के पीछे कामासक्ति से लगा रहता है। कुतिया गुस्से में उस पर चिल्लाती रहती है फिर भी कुत्ते को वह भला ही लगता है। उसके सारे प्राण कुतिया के पूँछ में लगे रहते हैं इसलिये वह उसका पीछा करता रहता है। शरीर से शरीर सटते ही कुतिया उस पर चिल्लाती है और उसके पीछे दौड़ती है फिर भी वह उसकी पूँछ नहीं छोड़ता। उसकी कामेच्छा बढ़ती रहती है। इतनी यातनाओं के बाद यदि भोग मिला भी तो उस भोग में वह लड़खड़ा कर गिर पड़ता है। चारों ओर से लोग उसे दुतकारने लगते हैं और उसकी उपेक्षा करते हैं। निन्दा के पत्थर शरीर पर निरन्तर बरसते रहते हैं। मूर्ख लोग भी उस पर थूकते हैं। पुरुष की भी वैसी ही अवस्था होती है फिर भी उसे काम ही अच्छा लगता है। श्वान का जुग जल्दी ही छूटता है किन्तु मनुष्य का जुग कल्पांत में भी नहीं छूटता। स्त्री के लोभ में अत्यन्त लंपट होने के कारण वह अनेक प्रकार के संकट सहता रहता है। अब गधे का भी हाल सुनो। गधी को दूर से देखते ही गधा चिल्लाता हुआ उसकी ओर दौड़ता है। उसे जरा भी लज्जा नहीं होती। गधी आगे-आगे भागती रहती है और गधा लालच के कारण उसके पीछे-पीछे दौड़ता रहता है। वह उसके मुँह पर दुलत्ती चलाती है लेकिन यह आगे ही बढ़ता जाता है। वह छाती पर दुलत्ती चलाती है लेकिन वह उससे प्रेम ही करता है। इस प्रकार स्त्रियों के प्रति गधे जैसा आचरण करते रहते हैं। अथवा पुरुषों की गति बकरे जैसी ही होती है। उसे मारने के लिये कसाई के पास लाया जाता है, फिर भी उसका ध्यान बकरियों में ही लगा रहता है। अपनी ही जात बिरादरीवालों को मरता देखता रहता है लेकिन उस दुःख से उसे पश्चात्ताप नहीं होता। मृत्यु के बिलकुल पास पहुँचने पर भी वे लोभ के कारण विषयसुखों की ही इच्छा करते रहते हैं। मृत्यु की अन्तिम सीढ़ी बुढ़ापा सिर पर आ टपकता है फिर भी वह विषय की ही ओर भागता रहता है। मृत्यु का स्मरण भी नहीं करता। कसाई बकरा काटने के लिये ले आता है, वह अपने साथियों को कटते देखता रहता है लेकिन उसकी परवाह न कर खुशी-खुशी बकरियों के साथ रममाण होने के लिये छटपटाता रहता है। बकरा, कुत्ता और गधा ये विषयी अवश्य हैं लेकिन वे केवल ऋतुकाल में ही विषयभोग के लिये तैयार रहते हैं। लेकिन पुरुष हमेशा कामातुर रहता है। कुतिया गर्भवती रहती है उस समय कुत्ता भी संभोग के लिये तैयार नहीं रहता। लेकिन पुरुष गर्भवती स्त्री के साथ भी संभोग करता है। गधा गधी के साथ लिपटता जरूर है लेकिन वह उसे मोतियों के अलंकार नहीं पहनाता लेकिन मनुष्य को स्त्री की चाह इतनी अधिक होती है कि वह उसके हर लाड़ पूरे करता है। उसकी वेणी के लिये फूलों के गजरे लाता है, उसके कुंकुम तिलक पर रत्न की आभा सजाता है और नाक में मोतियों की नथ पहनाता है। यह मनुष्य जन्म की चाह है। प्रसूति का समय निकट आता है और पेट फूला रहता है फिर भी कामांध और विवेकहीन दुष्ट ऐसी स्त्रियों के साथ रममाण होते रहते हैं। अस्थि, मांस, विष्टा, मूत्र इत्यादिसे भरी होने पर भी लोग जानबूझ कर इतनी गन्दगी के प्रति क्यों कामासक्त होते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर श्रीकृष्ण तीन श्लोकों में दे रहे हैं। वे कहते हैं, उद्धव! ध्यान देकर कामासक्ति के सम्बन्ध में विचार सुनो।

श्री भगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा ह्रदि।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिक मनः॥ ९॥

जो मोह मद से उन्मत्त विवेकहीन पुरुष होते हैं उनमें देहात्मवाद के कारण रजोगुण उत्पन्न होकर उससे अभिमान उफनता है। जिस प्रकार मनुष्य मद्य प्राशन कर उन्मत्त हो जाने पर अपना हित भूल जाता है और फिर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनेक प्रकार के अनर्थ उत्पन्न कर आत्मघात करने के लिये भी प्रवृत्त हो जाता है उसी प्रकार रजोगुण के कारण लंपट होने वाला पुरुष शुद्ध, बुद्ध तथा नित्यमुक्त होने में ही सच्चा कल्याण है यह भूलकर कामासक्त हो जाता है। अभिमान रजोगुण में रंग जाने पर दुःखरूपी भीषण रजोगुण अपार बढ़ जाता है और उससे मन विकार के वशीभूत हो जाता है।

रजोयुक्तस्य मनसः संकल्पः सविकल्पकः।
ततः कामो गुणध्यानाद् दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः॥ १०॥

मन जब रजोगुण से भर जाता है, उस समय प्रचण्ड-संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं और एकान्त में आसन डालकर ध्यानस्थ बैठने पर भी स्त्रियों का ही चिन्तन होता रहता है। रजोगुण से ही कामासक्ति उत्पन्न होती है। दुष्ट वासना उत्पन्न होकर मन भी दुष्ट हो जाता है। इससे चित्त में काम के सिवा कोई दूसरी स्फूर्ति उत्पन्न ही नहीं होती। जन में, वन में, एकान्त में, जागृति में, सुषुप्ती में, स्वप्न में, ध्यान में, मन में अथवा चिन्तन में स्त्रियों के अतिरिक्त और किसी का स्मरण नहीं होता। सारा ध्यान स्त्री की कामेच्छा की ओर लगा रहता है। उसके हावभाव, उसके मनोहर विलास, उसका सुन्दर लावण्य, और उसका सुरस रस इसमें ही मन लिप्त रहता है। रतिसुख, तथा स्त्री की क्रीड़ा का महत्त्व बढ़ाकर उससे काम जिस प्रकार बढ़ जाता है उस पर किसी का बस नहीं चलता। धन, धान्य, पुत्र आदि का सुख मिले, इहलोक तथा परलोक का सुख प्राप्त हो, ऐसी रजोगुण की उत्कट इच्छा रहती है।

करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः।
दुःखोदर्काणि सम्पश्यन् रजोवेगविमौहितः॥ ११॥

जब रजोगुण का आवेश उत्पन्न होता है, उस समय कामरूप ग्रह अद्‌भुत ढंग से बिफरता है और जो पुरुष काम से ग्रस्त होता है वह सदा काम का ही दास बन जाता है। जिसके मन में विचार नहीं है वह काम का जर खरीद गुलाम बनकर रहता है। काम उसे जैसे नचाता है उसी के अनुसार वह नाचता रहता है। काम का दास हो जाने पर उसका दुःख प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है, सकाम कर्म करना ही उसे अनिवार्य हो जाता है और वह अत्यन्त अहंकारी हो जाता है। रजोगुण के कारण वह मोह में लिप्त रहता है इसलिये वह इन्द्रियों पर विजय न प्राप्त करने वाला तथा अयोग्य बना रहता है। वह जन्म-मरण के अधीन रह कर तदनुसार सारे कर्म करता है। रजोगुण की पीड़ा अत्यन्त भयंकर है। उसने सारे लोगों को विषयांध कर दिया है। उद्धव! रज पर लुब्ध होने वाले लोग अत्यन्त मूर्ख होते हैं, यह प्रसिद्ध ही है। रजोगुण से बद्ध होने पर महामोह का प्रवेश होता है तब भ्रम की आँधी चलती है और तमोगुण चारों ओर फैलता है। उद्धव! प्राणियों की बुद्धि सचमुच ऐसी होती है इसे ध्यान में रखो। इसीलिये वे काम का सेवन करते हैं। विषयों से उन्हें विरक्ति नहीं होती। अब शायद तुम सोचोगे कि तब तो तरने का कोई उपाय ही नहीं रहा और प्राणियों को सद्‌गति भी मिलने से रही। यह विषयासक्ति अनिवार्य है। जीव का तो अविद्या और विषय से सम्बन्ध रहता है। उनकी पीड़ा बहुत बड़ी होती है। अविद्या का सम्बन्ध अनादिसिद्ध है। इसके कारण अनेक प्रकार की कल्पनाएँ उठती हैं। अंतःकरण भी अनादि है और उसकी पूर्णता भी क्रमानुसार होती रहती है। इससे विषयबुद्धि भी दृढ़ हो जाती है और त्याग बिलकुल नहीं होता। अंतःकरण सत्त्व से उत्पन्न होता है यह सत्य है किन्तु यह कार्य माया का है इसे ध्यान में रखो। सुखभोग की आदत से जहाँ रजोगुण उफन उठेगा तो उसे कौन रोक पायेगा? जो विचारी पुरुष होते हैं वे भी विषय के अधीन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हुए रहते हैं। इसलिये इस लोक में विषय का त्याग नहीं हो पाता। उद्धव! तुम्हारी शंका यही थी न? तो उसका भी उपाय सुनो। जो विचारशील लोग हैं उनके मन में विषय वासना उत्पन्न ही नहीं होती। लेकिन इस पर भी यदि कभी ऐसा हुआ तो उन्हें अभ्यास करना चाहिये।

रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः।
अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषदृष्टिर्न सज्जते॥ १२॥

रज और तम ये गुण यदि बुद्धि पर अपना प्रभाव जमाने में सफल हो जाएँ तो ज्ञाता को आलस छोड़ कर अपने मन को नियंत्रण में रखना चाहिये। स्त्री का शरीर हड्डियों और मांस का बना विष्टामूत्र का भण्डार है और उसके सम्बन्ध में विचार करने पर भी घृणा हो आती है। उसका भोग तो नरक की यातना के समान है। इस प्रकार स्त्री भोग के दोष बता देने से मन विषयों से तत्काल दूर कर नियमों के नियंत्रण में रखना चाहिये। ऐसा करने से भी मन नियमों के बन्धन में नहीं बँध पाता। अभ्यास करने वालों को इसमें बड़ी कठिनाई होती है। अर्थात् साधारण लोग तो इसमें असमर्थ ही होते हैं। तो भाई! ध्यान से सुनो। तो जिससे मन नियंत्रित हो सके ऐसा मनोनिग्रह का लक्षण और साधन बताता हूँ।

अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः।
अनिर्विण्णोयथाकालं जितश्वासो जितासनः॥ १३॥

आलस और निद्रा का त्याग कर जो सावधान चित्त से ब्रह्मसाधना करता है, वही सचमुच मेरे चित्स्वरूप के अभ्यास में लग जाता है। इसमें पहला काम है आसन स्थिर करने का अभ्यास। मूलबंध व्यवस्थित नियमानुसार करने में आसन स्थिर होता है। आसनजय साध्य होते ही वह सहज ही योगमार्ग पर लग जाता है और अधिक अभ्यास करने पर प्राण और अपान की स्थिति भी सामान्य होने लगती है। विषय मन के अधीन रहते हैं, मन वायु के वश में रहता है इसलिये अभ्यास से वायु को ही वश में कर लेने से मन अपने आप स्थिर हो जाता है। इस प्रकार जो धीरे-धीरे अभ्यास कर समय को सार्थक करता है वह विरक्त भले ही न हो लेकिन महान सामर्थ्यवान बनकर परमार्थ के प्रति अत्यन्त व्याकुल रहता है। हरिचिंतन में मन को एकाग्र करने से प्राण और अपान ये दोनों वायु एकरूप हो जाते हैं। यही वायु की परिपूर्ण विजय है। उसे साधने से योगसाधन सहज ही साध्य हो जाता है। तब प्राणापान की समजोड़ी छः चक्र के परदे फाड़ देती है। तब चित्त विषयों को छोड़ देता है और विषय भी चित्त को छोड़ देते हैं। इस प्रकार इस अभ्यास के मार्ग से वासनायुक्त इच्छा का सम्बन्ध ही टूट जाता है। इसी मार्ग से मैंने सनकादिकों को आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त किया।

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतोमन आकृष्यमय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा॥ १४॥

देखो। इसी उपदेश से मेरे शिष्य सनकादिक आदि ने अपने अभ्यास के सामर्थ्य से अलौकिक आत्मज्ञान का सुख प्राप्त किया। ऐसा वह कौन-सा उपदेश है? वह चित्त और विषय के सम्बन्ध को तोड़ने के बारे में है। यही बात उन्हें बताकर मैंने उन्हें आत्मज्ञान के अभ्यास की ओर लगाया। मन जहाँ भी कहीं जाये वहाँ परब्रह्म ही भरा हुआ है यही भावना धारण करने की आदत लग जाने के कारण सनकादिक ब्रह्मस्वरूप हो गये। चित्त का विषयों से वियोग कराना यही योग सनकादिकों ने साध्य किया। उन्हें इसका उपदेश करने के लिये मैं श्रीकृष्ण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही उपदेशक बना। उद्धव ने यह श्रवण करते ही मन में विचार करना शुरू किया कि मैं तो श्रीकृष्ण को छोड़कर कभी रहा नहीं, फिर इन्होंने सनकादिकों को उपदेश कब किया? सनकादिक तो बहुत पहले ही ब्रह्मस्वरूप हो चुके हैं और कृष्ण तो इस काल के देवकी का बेटा है। उसको यह गुरुत्त्व कैसे प्राप्त हुआ?

उद्धव उवाच

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव।
योगमादिष्टवानेतद्रूपमिच्छामि वेदितुम्॥ १५॥

यही बात मन में लाकर उद्धव ने पूछा, "हे श्रीकृष्ण! तुमने सनकादिक को कब उपदेश किया? क्या इस समय मैं तुम्हारे पास नहीं था? भगवान! तुमने इसी रूप में उन्हें उपदेश किया था या किसी अन्य रूप में? यह बात जानने की मेरी इच्छा है। वह कौन सा काल था? समय क्या था और उन्होंने प्रश्न किस प्रकार किया था? आप मुझे पूरी तरह सुनाइये।" उद्धव का यह प्रश्न सुनकर श्रीकृष्ण भावविह्वल हो गये और अपनी हंसा की कथा स्वयं ही सुनाने लगे।

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः।
पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीं गतिम्॥ १६॥

महाप्रसिद्ध सनतकुमार ब्रह्मदेव के मानसपुत्र हैं। उन्होंने सत्यलोक में एक अत्यन्त गहन प्रश्न पूछा था। वह प्रश्न यह था कि योग की गति अत्यन्त सूक्ष्म है और आत्मस्वरूप की स्थिति समझना अत्यन्त कठिन है। वह किस प्रकार समझ में आयेगी? ऐसा विकट प्रश्न उन्होंने अपने पिता से पूछा।

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः॥ १७॥

सनकादिक ने पूछा, चित्त स्वभाव धर्म के अनुसार सदा विषयों में आसक्त रहता है इसलिये वह हमेशा विषयों में ही उलझा रहता है। उसी प्रकार विषय भी चित्त में प्रवेश कर वासना के रूप में उससे चिपके रहते हैं। इसलिये वे वहाँ से निकल नहीं सकते। फल और काल इन दोनों के न रहने पर भी आम मधुर ही होते हैं। उसी प्रकार विषय जब एक बार चित्त में प्रवेश कर जाते हैं तो वहाँ से कभी नहीं निकल पाते। विवाहिता स्त्री अपने मैके जाती है लेकिन वह मन से दूर नहीं जाती, उसी प्रकार विषय भी चित्त से चिपक कर बैठा रहता है। इसलिये चित्त और विषय का परस्पर बिछोह मुमुक्षुओं के लिये कैसे संभव है? इसका कोई उपाय हो तो स्वामी सविस्तार बतायें।

श्रीभगवानुवाच

एवं पृष्टो महादेवः स्वयम्भूर्भूतभावनः।
ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः॥ १८॥

जिसे अग्रपूजा का सम्मान प्राप्त है, समस्त देवताओं में जिसकी महिमा श्रेष्ठ है उस ब्रह्मदेव को श्रेष्ठ कहने का कारण उसकी महानता ही है। जो स्वयं चराचर सृष्टि का निर्माण करता है, जो वेदों का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निवासस्थान है, उस ब्रह्मदेव को उसके श्रेष्ठपुत्र ने यह अत्यन्त गहन प्रश्न पूछा। लेकिन उस प्रश्न का यथोचित उत्तर किस प्रकार दिया जाय यह ब्रह्मदेव की समझ में नहीं आया। कर्म के योग से उसकी बुद्धि मन्द हो गयी थी। ज्ञानोपदेश किस प्रकार किया जाय यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। प्रश्न तो अत्यन्त गहन था। ब्रह्मदेव मानों पागल से हो गये। तब वे मेरा चिन्तन करने लगे। सत्यलोक में सबके सामने सनकादिक ने जो प्रश्न किया वह मेरी समझ में नहीं आया यह भी वे नहीं कह पा रहे थे और न उसका उचित उत्तर ही दे पा रहे थे। इस प्रकार ब्रह्मदेव के सामने बहुत बड़ा संकट उत्पन्न हो गया। उन्होंने मुझ ज्ञानश्रेष्ठ का चिन्तन किया।

स मामचिन्तयद् देवः प्रश्नपारतितीर्षया।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा॥ १९॥

पुत्रों का अज्ञान दूर करने के लिये और उनके प्रश्न का उत्तर जानने के लिये ब्रह्मदेव मेरा स्मरण करने लगे, तो मेरा हृदय भी व्यथित हो उठा। ब्रह्मदेव मेरा ही बेटा है। उसकी दृष्टि पर कर्म की जड़ता से अज्ञान का परदा आ गया था उसे तत्काल दूर करने के लिये मैं हंस बना। वर्ण अथवा व्यक्ति को जो स्पर्श भी नहीं करता वह मैं श्वेत वर्ण हूँ तथा स्वयं प्रकाश हूँ। ब्रह्मदेव के पुत्रों को उपदेश करने के लिये ही मैं स्वयं राजहंस बना। ब्रह्मदेव सृष्टि निर्माण कार्य में जुटा हुआ था इसलिये कर्म से उसकी बुद्धि जड़ हो गयी और वह आत्मज्ञान की सिद्धि भूल गया। मैं कर्म का अधिकारी हूँ यह जब कोई कहता है तभी वह देहधारी हो जाता है। परमार्थ के नगर में वह कभी बाह्य स्वरूप से प्रवेश नहीं करेगा। 'न कर्मणा न प्रजया'—ब्रह्मप्राप्ति कभी कर्म से नहीं होती और न ही पुत्र के द्वारा होती है, यह वेदोक्ति है। इस प्रकार श्रुति कर्म का निषेध कर उसका त्याग कराती है। उसी कर्म से ब्रह्मप्राप्ति होगी वह कहने वाले लोग ज्ञानी होते हुए भी अज्ञानी हैं। मैंने ब्रह्मदेव को उपदेश किया ही था लेकिन वह कर्म से जड़ हो गया। कर्म से वह केवल कर्मठ हो गया है, उसे मुक्ति कैसे प्राप्त हो? त्रिभुवन में अदृष्ट का सबसे बड़ा ज्ञाता होते हुए भी ब्रह्मदेव जब कर्म की जड़ता से विषयी बना तो दूसरों की क्या बात की जाय? इसमें बड़े-बड़े ज्ञानी भी फँस गये। पुत्रों के प्रश्न का उत्तर देने में ब्रह्मदेव का ज्ञान भी उज्ज्वल होगा इसलिये मैंने भी सत्यलोक में प्रवेश किया। प्रश्न करने वाले सनकादिक और वक्ता ब्रह्मदेव लेकिन जब दोनों ही संकट में फँसे तो मैं वहाँ अवतीर्ण हुआ। दूध को खराब न होने देते हुए हंस जिस प्रकार दूध और पानी अलग-अलग कर देता है उसी प्रकार सार और असार को चुनने वाला मैं ज्ञान से चतुर राजहंस हूँ। संचित पुण्य के सिवा अथवा दैवी विमान से स्वयं प्रवास किये बिना किसी का सत्यलोक में प्रवेश सम्भव नहीं है। लेकिन मैं पाप-पुण्य से परे हूँ। मेरे लिये पाप-पुण्य की आवश्यकता नहीं है। फिर भी मैं पंखों से या पैरों से चलकर कहीं भी, कभी भी जा सकता हूँ। उस सत्यलोक में मैं हंसरूप में आया। मुझे देखकर सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ।

दृष्टा मां त उपव्रज्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुःको भवानिति॥ २०॥

केवल ब्रह्मस्वरूप मेरी श्रेष्ठ मूर्ति है, मुझे हंसरूप में आते देख देवतागण मेरे स्वागत में खड़े हो गये और मुझे साष्टांग दण्डवत किया। ब्रह्मलोक में वेद जहाँ मूर्तिमंत होते हैं वहाँ पुण्य भी मूर्तिमंत रहता है, सत्यलोक में सत्य मूर्तिमंत रहता है और तप आदि भी वहाँ मूर्तिमंत रहते हैं। उन सबकी उपस्थिति में 'तुम कौन?' ऐसा प्रश्न

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदि ब्रह्मदेव मुझसे पूछते तो इसमें उनकी अज्ञानता प्रकट होती इसलिये वह मौन ही रहा और ब्रह्मदेव को आगे कर उन सनकादिकों ने मुझसे पूछा, 'आप कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ?'

इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्वजिज्ञासुभिस्तदा।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे॥ २१॥

उन्होंने ब्रह्मदेव से जो प्रश्न किया था उसका अर्थ मेरी समझ में आ सके इसलिये उन्होंने पूछा, ''आप कौन हैं ?'' वे अत्यन्त चतुर और जिज्ञासु थे। तिस पर स्थूलदेह, लिंगदेह और कारणदेह इसके अतिरिक्त जो भी वस्तु है वह चैतन्यस्वरूप है यह बतलाने के लिये मैंने उस प्रश्न का खण्डन तीन श्लोकों में किया। उनके प्रश्नों का खण्डन कर मैंने नित्यानित्य विवेक का ज्ञान उन्हें प्रदान किया। उसी निरूपण को तुम सुनो। उद्धव! मैं तुम्हें सनकादिकों के ही समान मानता हूँ। इसलिये उन्हें जो ज्ञान दिया वह तुम्हें भी दूँगा सुनो। वह ज्ञान अत्यन्त श्रेष्ठ होते हुए अत्यन्त प्राचीन है। इसलिये ध्यानपूर्वक सुनो। यह सुनकर उद्धव ने मन के कर्णों का विस्तार कर दिया। स्थूलदेह और सूक्ष्मदेह को पीछे छोड़ उद्धव सर्वांग से कर्णरूप हो गया। इसलिये श्रीकृष्ण ने स्वयं ही उसे गुप्त ज्ञान दिया। जैसे मन्दिर में रत्नों की खान मिले, उसमें पारस मिले और उस पारस से अमृत की धारा फूट पड़े, उसी प्रकार उद्धव का भाग्योदय हुआ। श्रीमद्भागवत की कथा सुनाने के लिये श्रीकृष्ण जैसा वक्ता मिला और हंसगीत की कथा श्रीकृष्ण बड़े चाव से सुनाने लगा। अहो! सनकादिकों का हिस्सा श्रीकृष्ण स्वयं ही उद्धव के हाथ में दे रहे थे, ऐसे भाग्य का किन शब्दों में वर्णन किया जाय ? वक्ता स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप हो, वह भी ब्रह्मकथा का ही उपदेश करेगा। तब सहज ही परब्रह्म गुरु बन गये। उद्धव कैसा भाग्यवान था ? इसलिये आत्मभाग्य से भाग्यवान तथा संसार में प्रसिद्ध एक उद्धव ही है। जिसके लिये स्वयं ज्ञानसमर्थ जगन्नाथ प्रसन्न हुआ।

हंस उवाच

वस्तुतो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः॥ २२॥

परमात्मा सर्वत्र एक ही है। उसमें 'मैं' और 'तुम' का सन्देह नहीं है। 'तुम कौन' यह जो प्रश्न है वह केवल शब्दों का अपव्यय है। आपने जो प्रश्न किया उसका उत्तर देने के लिये वक्ता के पास शब्द ही नहीं है। वास्तव में 'मैं' और 'तुम' है ही नहीं इसलिये आपका प्रश्न मिथ्या है। नाम, रूप, वर्ण, व्यक्ति यह सब कुछ भी नहीं है। 'अपना' और 'पराया' जैसी कोई जाति नहीं है। इसलिये हे विप्र! आपके भाषण में सत्यत्त्व हो ही नहीं सकता। चारों पुरुषार्थ पूर्ण करने वालों में ब्राह्मण विख्यात है। लेकिन विप्र हो! आपके लिये ज्ञान का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अगर अनेकत्व हो तभी ऐसा प्रश्न सम्भव होगा। आत्मा के लिये ऐसा प्रश्न नहीं किया जा सकता। आत्मा के लिये ऐसा प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता। देह के लिये वह लागू ही नहीं होता।

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भोह्यनर्थकः॥ २३॥

क्योंकि ब्रह्मदेव से लेकर मशक तक देह के रूप में जो कुछ भी है वह पंचभूतात्मक है। इसलिये 'तुम कौन' कहने में कोई अलग बात नहीं दिखायी देती। कड़ा, कुंडल, मुकुट, माला, अँगूठियाँ, कमरपट्टा अथवा अन्य अलंकार देखने पर उसमें सुवर्ण के अतिरिक्त अन्य कुछ दिखायी नहीं देता। अथवा गाजर, मटका, सुराही,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

खिलौने, हौज या टंकी में मृत्तिका से भिन्न कुछ भी नहीं होता। उसी प्रकार सभी देहों में देहरूप में पंचमहाभूत एक समान ही होते हैं। इसलिये 'तुम कौन' यह अलग से पूछने का कोई अर्थ नहीं है। ब्रह्म ब्रह्मरूप में एकसमान है और प्राणी प्राणित्व से समान है। इसलिये यहाँ प्रश्नोत्तरी की भाषा करना और 'तुम कौन' यह पूछना अनर्थ ही है। अथवा कोई स्वयं अपने से ही 'तुम कौन' पूछता है तो वह अत्यन्त भ्रम में उलझा हुआ है। वह आत्मज्ञान ही भूल गया। तुम्हारे प्रश्न के अर्थ का विचार करने पर इतना 'अनर्थ' दिखायी देता है। उसमें परमार्थ का नाम ही नहीं है इसलिये 'तुम कौन' यह आपका प्रश्न व्यर्थ है। देह को 'तुम कौन' यह प्रश्न आत्मा जब स्वयं ही करता है तब उसके आत्मत्व पर अवश्य ही पागलपन सवार हुआ है और वह भ्रम में पड़ा हुआ है यह सिद्ध होगा। रस्सी सर्प नहीं होती। यह आभास केवल भ्रम के कारण होता है। उस सर्प से यदि 'तुम कौन' यह प्रश्न पूछा जाय तो रस्सी ही कहेगी कि यह झूठ है। उद्धव! उस समय मैंने उनके प्रश्न का खण्डन इस प्रकार किया। उस भाषण से उनके बीच भेदभाव भी स्पष्ट करके बताया। प्रश्न का खण्डन करने के बहाने ही, कैसे इन्द्रिय और कैसे प्राणी? जीव और शिव में भेद नहीं है यह भी सुझाया। इससे भी जो गहन, परम कारण से अभिन्न, ऐसे आत्मज्ञान के बारे में भी बताया। उद्धव! ध्यान देकर सुनो।

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥ २४॥

देखो। मेरे सिवा संसार में तिलमात्र की भी खाली जगह नहीं है। अतः व्याप्य और व्यापक ये दोनों सहज ही अभिन्न हैं। जो मन में संकल्प रूप में आता है, उसे शब्द पण्डित भिन्न कहते हैं किन्तु मेरे स्वरूप का जो भँवर है वही मन है यह अभिन्नत्व की पहचान उनकी समझ में नहीं आती। मन को कितनी ही सावधानी से देखने का प्रयत्न करो लेकिन वह दिखायी नहीं देता, परब्रह्म भी उसी प्रकार अदृष्य है। इसलिये दोनों समान रूप से चैतन्य स्वरूप हैं। सीप का रंग रुपहला लगता है लेकिन वह सच नहीं रहता। उसी प्रकार मेरे स्वरूप में मन केवल कल्पनामय अर्थात् मिथ्या लगता है। अब शब्द की महानता का विचार करें तो वह स्वरूप से ज्ञानमय ही है। ज्ञान के अर्थ के बिना भाषण केशमात्र भी हो ही नहीं सकता। वक्ता, वाच्य और वचन ये तीनों मैं ही हूँ इसे ध्यान में रखो। शब्द का उच्चार करने वाला संसार में मेरे सिवा और कौन है? मैं वेदों का वेद हूँ। मैं ही सचमुच ओंकार स्वरूप हूँ। मुख्य वाणी की वाणी मैं हूँ। शब्द का स्थान मेरे सिवा और कहीं नहीं है। दृष्टि में जो दृष्यत्व है वही प्रमुख ज्ञान है। आत्मदृष्टि से चैतन्यस्वरूप पूर्णब्रह्म भी वही है। आँख मैं ही, देखने वाला भी मैं ही हूँ; दृष्य मैं ही हूँ और द्रष्टा भी मैं ही हूँ। मेरे सिवा समस्त त्रिभुवन में देखने की शक्ति कहीं नहीं है। आँखों का वास्तविक चक्षु मैं हूँ, सर्वांग दर्शन योग्य सोज्वल मैं ही हूँ, मेरे सिवा दर्शन की कला किसी को सम्भव नहीं है। मैं ही शब्दों की शब्दाविता हूँ, कर्णों से सुनने वाला मैं ही हूँ इस ऐक्यभावना से देखा जाय तो जो शब्द की निःशब्दता है, वही परब्रह्म है। कान, भाषण और श्रोता मैं हूँ, शब्दों का अर्थ जानने वाला मैं हूँ और कान हैं वह सुनने वाला भी मेरे सिवा कोई नहीं है। नाक मैं हूँ, सुगन्ध मैं हूँ, सुवास जानने वाला मैं ही हूँ। सुवास का रहने का स्थान मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। रसज्ञता की दृष्टि से जिह्वा उत्तम है लेकिन वह केवल चमड़ी है। उस बेचारी को काट डालने से वह स्वाद या अस्वाद नहीं जानती। रस मैं हूँ, रसना मैं हूँ और रस सेवन करने वाला भी मैं हूँ। मेरे सिवा रस का स्वाद जानने वाला रसिक कोई नहीं है। इन्द्रियों की जो अन्य प्रवृत्तियाँ हैं वे भी सचमुच मद्रूप ही हैं यह ध्यान में रखो। सभी की अंतरात्मा में आत्मस्वरूप में रहने वाला मैं ही हूँ और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्रियाशक्ति भी मैं ही हूँ। जो भ्रम में पड़े रहते हैं वे इस पंचमहाभूतात्मक देह को मुझसे अलग मानते हैं। मेरे जैसे सर्वव्यापी को छोड़कर वह अलग कहाँ रह सकता है? जिस प्रकार पानी में पानी की लहरें पानी के ही स्वरूप में मजे में क्रीड़ा करती रहती हैं, उसी प्रकार मेरे स्वरूप में अनेक देह मत्स्वरूप में ही पूर्णरूप से रहते हैं या कभी घृत जम कर उसकी पुतली बन जाय तो वह घृत से अलग नहीं हो जाती। उसी प्रकार मुझमें ये जीव हैं। जल में जल के ही अनेक आकार भासित होते हैं उसी प्रकार मुझमें ही यह चराचर उत्पन्न होकर सचमुच मेरे स्वरूप में अभिन्न ही है। सूत में एक तंतु दूसरे से सूत से ही जुड़ा रहता है किन्तु उन्हें अलग-अलग तन्तु ही कहते हैं, उसी प्रकार मुझमें पूरे जगत का आभास होता है। यदि तंतु ही देखने लगें तो वस्त्र दिखायी नहीं देता उसी प्रकार आत्मा को देखने लगें तो संसार अदृष्य हो जाता है। इस प्रकार ऐक्यतत्वदृष्टि से देखने पर सर्वत्र परब्रह्म दिखायी देता है। ऐसे ऐक्यभाव से मैं ही एक सर्वात्मा और सर्वात्मक हूँ यह विचार निश्चयपूर्वक बुद्धि से जान लेना चाहिये। सर्वत्र मैं ही हूँ यह दृढ़ निश्चय कर लेने पर फिर अन्य साधनों का कोई काम नहीं है। वह अपने स्थान पर नित्य मुक्त होता है। सर्वत्र व्याप्त आत्मा चैतन्यस्वरूप है यह आत्मज्ञान सुलभ है। उद्धव! मैंने यही बताकर उनके भेद का खण्डन किया। सनकादिकों का जो प्रश्न ब्रह्मदेव को भी संकट में डालने वाला था उसका इस प्रकार विवरण देकर मैंने ज्ञान प्रदान किया।

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयंगुणाश्चेतो मदात्मनः॥ २५॥

आपने ब्रह्मदेव से जो यह पूछा कि "चित्त में विषय प्रवेश करें और चित्त विषय में प्रवेश करें तो फिर उन्हें अलग नहीं किया जा सकता और विषयत्याग किये बिना तो ब्रह्मज्ञान कभी नहीं होता।" तो वह त्याग भी कैसे किया जाता है इसका लक्षण पूरी तरह बताता हूँ, सुनो। जरा देखो! चित्त और विषय यह कोई जीव का आत्मस्वरूप नहीं है। ये दोनों उपाधि के कारण प्रवाहरूप में देह से लगे हुए हैं। कर्तृत्व रूप से और भोक्तृत्व रूप से अंतःकरण विषयी हो जाता है। इससे दोनों देहों का कारण जो अहंकार है वह उबल उठता है। वह विषयों को वश में कर चित्त को जब लुभाता है तो उससे जीव और मन का तादात्म्य अत्यन्त दृढ़ हो जाता है। अगर चित्त ही जीव का स्वरूप होता तो वह विषय पर लुब्ध नहीं हुआ होता। ये दोनों उपाधियाँ केवल अभिमान के कारण बढ़ती हैं। जिस प्रकार पुरुष अपने वास्तविक देह को भूलकर स्वप्न के देह पर ही अधिक आसक्त रहता है, उसी प्रकार यहाँ जीव की भी स्थिति हुई है। नित्य, शुद्ध, मुक्त और ज्ञानरूप यह जीव का स्वरूप है। अभिमान ने उसे यह मिथ्या बन्धन लगा दिया है। इसलिये अभिमान छोड़ देना चाहिये सभी सारे बन्धन टूटते हैं। अभिमान छूटने के लिये मेरा भजन करना चाहिये। लेकिन वैराग्य के बिना मेरी भक्ति भी व्यर्थ है। जब वैराग्य के साथ मेरी भक्ति उत्पन्न होती है तभी जीव को मेरे स्वरूप की प्राप्ति होती है। हृदय में विषय का जरा भी अस्तित्व न हो और सभी प्राणियों में भगवान के प्रति आदरभाव हो, यही वैराग्ययुक्त भक्ति है। वह प्राप्त होने पर ही मेरे स्वरूप में जीव का प्रवेश होगा। सच पूछो तो जीव मत्स्वरूप ही है। लेकिन देहाभिमान उसका पोषण करता रहता है। इसलिये सदासर्वदा प्राणी मात्र में मेरी भावना होने से अपने आप ही मत्स्वरूप प्राप्त होता है। जीव को मत्स्वरूप प्राप्त होते ही विषय और चित्त इन दोनों का सहज ही त्याग हो जाता है क्योंकि वे दोनों ही मिथ्या हैं। बिना त्याग किये ही यह त्याग सम्भव होता है। हे पुत्र! तुमने चित्त और विषय के त्याग के बारे में पूछा यह बहुत उत्तम हुआ। मैंने तुम्हें उसके बारे में बतलाया। यह ज्ञानमार्ग अत्यन्त शुद्ध है। अब आप कहेंगे कि जब इन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दोनों का ही भास मिथ्या है, फिर भी जीव को इनका इतना बन्धन है तो उसका कारण भी कुछ वैसा ही होगा। आकाशपुष्पों की माला किसने धारण की है? मृगजल में जहाज को डूबते किसने देखा है? उसी प्रकार सच को झूठ की कभी बाधा नहीं हो सकती ऐसी तुम कल्पना कर सकते हो। तो सावधान होकर सुनो। मैं वह निरूपण करता हूँ जिससे जीव का झूठा बन्धन दृढ़ हो गया है।

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्चचित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥ २६॥

इस अनादि संसार में विषयों का नित्य सेवन करने से, वे चित्त में स्वामी बन कर बैठ जाते हैं। चित्त को विषयों से अत्यन्त प्रेम होता ही है। इससे विषयासक्ति बढ़ती है और वे एक बार विषय में घुसते ही वापस नहीं लौटते। एक बार बुद्धि को विषयों का ध्यान लग जाय और चित्त में विषयों का चिन्तन शुरु हो जाय तो फिर मन विषयों के ही लिये छटपटाने लगता है। इससे विषयाभिमान पैदा होता है। विषयों में अभिमान उफनने पर दोनों देहों को दृढ़ बन्धन प्राप्त होता है। जीव के लिये वही अत्यन्त कठित, महाभयंकर और दुर्धर हो जाता है। तब वह अपने देह के विकारों को अपना ही मानने लगता है। अन्धा मैं हूँ, विकलांग मैं हूँ, कोढ़ी मैं हूँ, सुन्दर मैं और ज्ञाता भी मैं ही। देह को ही मैं मान कर बड़े भोलेपन से आत्मस्वरूप भूल जाता है। जीव का जो यह मिथ्याबन्धन है वही सच है इस बात का उसे अभिमान होता है। शतरंज का खेल ही झूठ का है इसलिये उसमें जय और पराजय दोनों ही निष्फल हैं। लेकिन खेलने वाले में उस खेल का अभिमान बहुत बढ़ता है। उसी प्रकार जीव को भी देह का बल होता है। उस खेल के हाथी घोड़ा क्या मूलतः जीवित रहते हैं? और उन्हें मारने पर क्या खिलाड़ी परस्पर झगड़ा करते हैं? उसी प्रकार जीवों को भी जन्म-जन्म के फेरे हैं। जीव का यह बन्धन नष्ट करने के लिये देहाभिमान का बिलकुल त्याग करना चाहिये। अभिमान का त्याग करने पर सहज ही मद्रूपता प्राप्त होती है। जीव मेरा स्वरूप साध्य कर ले तो विषय और चित्त इनका सहज ही त्याग सम्भव हो जाता है क्योंकि मेरे स्वरूप में अहंता और विषय को स्थान ही नहीं है। जिस प्रकार शतरंज की बाजी समाप्त होने पर राजा, प्रधान आदि सब लकड़ी के खिलौने बन जाते हैं उसी प्रकार अहंकार नष्ट होते ही प्रपंच भी अपने मिथ्यत्व के कारण उड़ जाता है। स्वप्न में देखी स्त्रियाँ, बच्चे, इष्टमित्र, धन और अपना देह इन सब का अभिमान नींद खुलने पर अपने स्वप्नदेह की तरह मिथ्या मालूम होता है। उसी प्रकार मेरा स्वरूप प्राप्त होने पर देह किसलिये? अहंता कैसी? विषय और चित्त की तो बात ही छोड़िये, तीन गुणों का भी कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। जो जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में अवस्थारूप होकर रहता है, वह जीव अवस्थाहीन होकर परमात्मा में कैसे मिल जाता है? यदि मन में ऐसी कोई कल्पना आ रही है, तो वह व्यर्थ है क्योंकि जीव को कोई अवस्था ही नहीं होती। वह उन तीनों गुणों का स्वभाव धर्म होता है और उनसे उत्पन्न होने वाली वृत्ति बुद्धि की होती है।

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चतः॥ २७॥

तीन गुणों की तीन वृत्तियाँ होती हैं। जागृति सत्त्वगुण की होती है, रजोगुण से स्वप्नावस्था प्राप्त होती है और सुषुप्ति तम की होती है। देखो! ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धि में जड़ी रहती हैं। उनका जीव से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जीव साक्षी रूप में स्वतंत्र रहता है। यदि जीव के साथ अवस्था जुड़ जाय तब वह उस अवस्था में डूब जायगा। तब वह तीनों अवस्थाओं का साक्षी भी नहीं रह पाएगा। इसलिये उन अवस्थाओं की स्थिति सुनो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जागृति में स्वप्न नहीं होता इसलिये स्वप्न जागृति को नहीं जानता इसे स्मरण रखो। सुषुप्ति जागृति और स्वप्न इन दोनों को नहीं जानती इसलिये उन दोनों को सुषुप्ति का ज्ञान नहीं होता। यदि जीव को अवस्थाओं का अभिमानी कहें तो जीव के साथ यह भी नहीं घटता। विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये तीनों तीन अवस्थाओं के अभिमानी हैं। जो जिस अवस्था का अभिमानी होता है वह उस अवस्था के साथ तद्रूप हो जाता है। लेकिन 'जीव' तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर साक्षित्व के कारण स्वतंत्र रहता है अत: वह अवस्थाभिमानी नहीं है। यहाँ 'जीव' वह है जो देह से स्वतंत्र, गुणों से निराला तीनों अवस्थाओं से अलग, केवल द्रष्टा, साक्षी और सचमुच जो जानता है। जीव को यदि अवस्थाभिमानी न कहें तो फिर तीनों अवस्थाएँ कौन भोगता है ? मैं सोया, मैंने जिया, मैंने स्वप्नावस्था देखी यह प्रत्यक्ष अनुभव स्वयं जीव ही करता है। यदि इसे जीव का स्वभाव ही कहें तो उसका अभिप्राय बताता हूँ।

अहंकारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम्।
विद्वान् निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेद्॥ २८॥

जो आराम से झूले पर बैठा रहता है वह स्वयं हिले बिना भी उस झूले के हिलने से आनन्द से झूलता रहता है और अपनी इच्छा से झूले के साथ हिलता रहता है। वह जब जोर-जोर से झूलता रहता है उस समय वास्तव में झूला ही हिलता रहता है और बैठने वाला अपने स्थान पर स्थिर रहता है। जीव की वैसी ही स्थिति है। जिस प्रकार वह स्वप्न का घर, स्त्रियाँ आदि को अपना ही मानता है उसी प्रकार अहंममता के अभिमान के कारण वह तीनों अवस्थाएँ मैं ही भोग रहा हूँ यह मानता है। लोहे का काम करते समय, अग्नि के साथ तादात्म्य होने के कारण लोहे पर किये हुए प्रहार अग्नि पर किये गये मालूम होते हैं। अग्नि की संगतिसे ही लोहे का काम पूर्ण होता है या पूर्ण नहीं होता लेकिन अग्नि न बनता है न बिगड़ता है। इसी प्रकार जीव भी यहीं रहता है। जिस प्रकार अग्नि के बिना लोहे का सामान नहीं बनता उसी प्रकार आत्मा के संयोग के बिना बुद्धि जड़ है। आत्मा के बिना वह कभी भी कोई भी क्रिया नहीं कर सकती। लोहे की सलाख बनाकर भी अग्नि उसका निर्माण कर्त्ता नहीं होती। उसी प्रकार कर्म करवा कर भी जीव अकर्त्ता ही होता है। फिर भी वृत्ति के साथ तादात्म्य होने के कारण वह 'कर्त्ता मैं हूँ' यही मानता है। जीव ने अपने प्रकाश से वृत्ति को प्रकाशित किया है और यह वृत्ति ही जीव को अपने स्वभाव के अनुसार विविध अवस्थाएँ देती रहती हैं। सूर्य के कारण ही जल प्रकाशित होता है, उस जल ने ही सूर्य का प्रतिबिम्ब निर्मित किया है और उस पानी के कलकल निनाद की तरह अथवा चंचलता के अनुसार या स्थिरता के अनुसार सूर्य का प्रतिबिम्ब पानी के कम्पन्न के अनुसार थरथर काँपता है अथवा स्थिर रहता है। सूर्य का निवास ऊपर आकाश में है, पानी उसे नीचे ले आता है। उसी प्रकार वृत्ति भी अपने नामलौकिक के अनुसार मुक्तों को भी बन्धन में डालती है। आत्मा से वृत्ति प्रकाशित होती है लेकिन उसी वृत्ति के कारण आत्मा में जीवभाव आता है, उस जीवभाव के कारण जीव में देह की ममता उत्पन्न होती है और इसी कारण वह प्राप्त सुख-दु:ख का उपभोग करता है। सारांश, वृत्ति की संगत से ही विषयों की आसक्ति बढ़ती है और वास्तव में इसी कारण से जीव को संसार बन्धन प्राप्त होता है। इस प्रकार गुण और चित्त की विषयासक्ति से जीव को भले ही बन्धन प्राप्त हो जाय, फिर भी वैराग्य भाव से तथा गुरु की कृपा से विषयवृत्ति को नियंत्रित करना चाहिये। अब गुरुकृपा की बात सुनो। मैं जो निरन्तर तीनों अवस्थाओं में ज्ञानस्वरूप तथा गुणों से अलिप्त हूँ, उसे गुरुकृपा आत्मज्ञान के योग से अभ्यास की ओर प्रवृत्त करती है। अभ्यास की बात तो विचित्र ही है। वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आत्मज्ञान से, उपदेश के रूप में विषयवृत्ति के आगे-पीछे अपना ज्ञानस्वरूप दृष्टि को दिखलाता रहता है। मैं तो सदा ज्ञानस्वरूप ही हूँ। मैं सब में सर्वत्र हूँ। इसलिये गुरु, शिष्य को मुझ में आत्महित ही दिखलाता है। अरे! साड़ी को सूत से अलग करने का प्रयत्न करने पर वह कृति ही नष्ट हो जाती है क्योंकि उसमें भीतर-बाहर सूत ही रहता है। उसी प्रकार साधकों में विषयों का जो भान रहता है वह भी मेरे स्वरूप से भिन्न नहीं है क्योंकि सारे ज्ञान का स्वरूप मैं ही हूँ। उसमें नाम, रूप, वर्ण आदि का भेद नहीं है अथवा कर्म, कर्त्ता अथवा कर्म सम्बन्धी विवाद भी नहीं है। ऊँकार के साथ सारे वेद जिसमें डूबे, ऐसा शुद्ध केवल एक मैं ही हूँ। जहाँ से भ्रम के साथ भ्रान्ति का पलायन हो गया, क्रिया के साथ प्रवृत्ति टूट कर गिर पड़ी, निवृत्ति तो लज्जा से ही अदृष्य हो गयी और वृत्ति स्वस्वरूप में एकरूप होकर रह गयी। सूर्य उदय होने पर वह अन्धकार को पूर्णरूप से निगल लेता है, जुगनूँ को तो मार ही डालता है और नक्षत्रों को तत्काल नष्ट कर देता है। उसी प्रकार मेरे स्वरूप की प्रवृत्ति और निवृत्ति लज्जा से नष्ट हो जाती हैं और आत्मानन्द से नित्य तृप्ति रहती है। मेरे इस स्वरूप का आनन्द जब साधकों को प्राप्त हो जाता है, तो चित्त भी विषयों का त्याग करता है और विषय भी चित्त को छोड़ देता है। जो फल डाल पर पकते हैं वे पकने के समय डाल से अलग हो जाते हैं। डाल भी उस फल को नहीं रखती। दही मथ कर निकाले हुए मक्खन को यदि पुनः मट्ठे में डाल दिया जाय तो वह मट्ठे से अलग ही रहता है। उसी प्रकार चित्त भी विषयों से अलग रहता है। मेरा स्वरूप प्राप्त हो जाने पर यदि दैव जबर्दस्ती उसे विषयोपभोग देने लगे तो भी उसके चित्त में विषयवासना उत्पन्न नहीं होती क्योंकि वह स्वाभाविक रूप से अलग ही रहता है। इस प्रकार मेरा योग साधने पर अपने आप ही चित्त और विषय का उत्तम रीति से वियोग होता है। इसका सरल उपाय बताता हूँ। जरा देखो। इसमें भी शायद आपको शंका होगी कि सर्वत्र एक ही स्वरूप व्याप्त है और वह शुद्ध है। वहाँ बाध्य कैसा और बाधक कैसा? अर्थात् उस समय साधक किस चीज की साधना करते हैं? लेकिन ऐसे समय भी अहंता ही बाधक होती है। उसका भी लक्षण बताता हूँ, ध्यान से सुनो।

यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद्गुणचेतसाम्॥ २९॥

जहाँ क्षणभर की भी बस्ती होती है उस स्थान का भी मनुष्य को अभिमान चढ़ता है। अभिमान का उसे इतना व्यसन रहता है। उसका यह कौतुक प्रत्यक्ष ही देखने लायक है। जरा सा भी अहंकार उत्पन्न हो जाय तो बुद्धि पवित्र मनुष्य को भी मायाग्रस्त कर देती है। देह की संगति से वह अहंकार प्रबल होते ही तत्काल कुछ न कुछ विपरीत परिणाम कर देता है। अहंकार जब उफनता है तो वह आनन्द को ढँक देता है। इससे परमात्मस्फूर्ति का स्फुरण नष्ट होता है, जीव की विषयासक्ति बढ़ती है और वे स्त्री के विषय के अधीन हो जाते हैं। उनके चित्त में सदा विषयों की ही चिन्ता रहती है। ऐसा मनुष्य भूल जाता है कि मैं स्वयं ही परिपूर्ण हूँ और धन के लिये असहाय हो उठता है। अपने मर्यादित देहाकार का ही उसे अभिमान हो जाता है। इससे कर्माकर्म के आघात होकर अनेक प्रकार की नरक यातनाएँ होती हैं और जन्म-मरण के भँवर में पड़ कर वह महान दुःख से व्याकुल हो जाता है। उन दुःख यातनाओं को भोगते समय जिसके मन को कष्ट होता है और उससे गृहस्थी की वेदना नहीं सही जाती उसे देहाभिमान छोड़ देना चाहिये। लेकिन संकट यही है कि यह देहाभिमान नहीं छूटता। इसीलिये साधकों को साधनों का संकट सहना अनिवार्य हो जाता है। लेकिन वह जो भी साधन करता है उसमें साधनाभिमान उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार लुटेरे सब कुछ लूट लेते हैं, उसी प्रकार साधनों में अहंकार विघ्न

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रूप हो जाता है। अब साधकों के साधन सुनो। वह इस प्रकार है कि वेदोक्त स्वधर्माचरण करना, पूर्ण वैराग्य रखना और अत्यन्त प्रेम से मेरा भजन करना। देहाभिमान को तत्काल दूर करने के लिये मेरा अखण्ड नामस्मरण करते रहना चाहिये। गायन, नृत्य आदि से युक्त होकर हरि का कीर्तन करना चाहिये और समस्त प्राणिमात्र के प्रति समान मत्स्वरूप भावना रखें। समस्त भूत मत्स्वरूप हैं इस भावना से सदासर्वदा देखने से ज्ञानस्वरूप और सर्वव्यापी मुझ में चित्त प्रवेश करता है। मैं निरन्तर तीनों अवस्थाओं में रहता हूँ। तीनों अवस्थाओं को मैं प्रकाशित करता हूँ। लेकिन तीनों अवस्थाओं से भिन्न जो मैं हूँ वह सचमुच ज्ञानस्वरूप हूँ। तीन गुणों से परे, चौथा हुए बिना भी चौथा मैं सचमुच ज्ञानस्वरूप हूँ। ऐसे मुझमें जो अपना चित्त रखता है वह ऐसा करते ही मत्स्वरूप हो जाता है। सांसारिक चिन्ताएँ दूर होकर विषयावस्था समाप्त हो जाती है। उस समय चित्त, चिन्ता और चिन्तन, विषयवासना व अभिमान इन सबका विनाश होकर स्वानंदघन मैं स्वयं ही प्रकट होता हूँ। द्वैत की भावना टूटे बिना जो स्वयं को ज्ञानी समझता है और वृक्ष ज्ञान का अभिमान करता है वह भी अज्ञानी ही है।

यावन्नार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा॥ ३०॥

अनेक वर्ण, अनेक व्यक्ति, विविध गोत्र, विभिन्न जातियाँ, अधम व उत्तम विधि के प्रकार इन सबसे चित्त में दृढ़तर भेद उत्पन्न हो जाते हैं। मैं काला, गोरा, साँवला, उत्तम ज्ञान से श्रेष्ठ मैं, उत्तम पवित्र कृति मेरी, मेरा कुल श्रेष्ठ और मैं उत्तम कुलवान इस प्रकार का भेद मन में उत्पन्न होने पर अद्वैत बताने वाली श्रुति देखकर या शास्त्रार्थ की युक्ति सुनकर भी जिन साधकों के मन से भेद की निवृत्ति नहीं होगी उसका ज्ञानाभिमान व्यर्थ है। उसका कर्माचरण व्यर्थ है। जागृत अवस्था में होने पर भी उसे सोया हुआ समझना चाहिये। उसमें जागृत अवस्था है ही नहीं। तब देहाभिमान दृढ़ होता है उस समय उसने मानो धतूरे का सेवन किया रहता है और वह अत्यन्त भ्रमजाल में फँस कर मानो अविद्यारूपी प्रदीर्घ सपना देखता रहता है। नींद में कहे गये शब्दों का जैसे कोई अर्थ नहीं निकलता उसी प्रकार केवल पठन करने से परमार्थ प्राप्त नहीं होता। इतना ही नहीं बल्कि श्रुति शास्त्रों का वास्तविक अर्थ भी उनकी समझ में नहीं आता। नित्य वेदाध्ययन करते हैं, अरण, ब्राह्मण, सूत्र, निरुक्त का पाठ करते हैं लेकिन यदि कामक्रोध की निवृत्ति नहीं होती तो उस पठन से परमार्थ की प्राप्ति कभी नहीं होगी। मन में देहाभिमान रखकर और भेद दृष्टि रखकर सहस्र वेदशास्त्र का पठन करने से भी परमार्थ की प्राप्ति कभी नहीं होगी। जो स्वप्न में ही जागता है और स्वप्न में ही वेदशास्त्र पढ़ता है उसे जाग्रत कहने पर भी वह सोया हुआ है। उसी प्रकार शास्त्रज्ञों का व्यवहार रहता है। देहाभिमान के साथ सभी भेद भावनाओं का जब तक विलय नहीं होता तब तक आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि भेद ही सबसे बड़ा बन्धन है। सनकादिकों की ही शंका ध्यान में रखकर, सबकी समझ में ठीक से आ सके ऐसी भाषा में वेदों का अर्थ भगवान अच्छी तरह समझाने लगे। स्वयं ही सारा भेद प्रकट कर तुम्हारा वेद जोर-जोर से गर्जना कर रहा है। भेद का प्रतिपादन तो वेद ने ही किया है और वेद का कथन तो असत्य नहीं होता। वेद का वचन सत्य ही है और उसे मान्य करना चाहिये यह तुम्हारा ही कथन है तो उस वेद को असत्य कैसे कहा जाय? वेदाज्ञा सबमें श्रेष्ठ है। वेद ने ही क्रिया और कर्म का प्रतिपादन किया है। सारे वर्णाश्रम अपना स्वधर्म वेद के ही बल पर चलाते हैं। वेद को जो झूठा कहेगा वही वास्तव में वेद बाह्य है यह तुमने ही कहा है। उस वेद को झूठा कैसे मानूँ? यदि ऐसी शंका हो तो उसके सम्बन्ध में मैं ही तुम्हें वेद वचनों के भिन्न-भिन्न भागों का विचार सुनाता हूँ। अविद्यात्म भेद जिसमें प्रबल हुआ रहता है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसी के लिये मैंने वेद का यह नियम लगाया है। किन्तु जो भक्त मेरे स्वरूप में एक हो जाता है उसके आगे वेदवचन लाचार हो जाते हैं। वेद तीन गुणों से व्याप्त है और अभेद भजन के कारण भक्त निर्गुण बन जाता है अतः उसे मेरी आज्ञा के कारण वेद का बन्धन नहीं रह जाता। राजा का प्रिय चाकर हो तो पहरेदार उसे नहीं रोकता अथवा किसी दासी को राजा की गोद में बैठने का अधिकार प्राप्त हो तो बड़े-बड़े प्रधान भी उसे सम्मान देते हैं। माँ भी अपनी कन्या को सिखाती है कि दूसरों के सामने पति से भी लज्जा करनी चाहिये लेकिन एकान्त में लज्जा छोड़ देनी चाहिये। भेदों की भेदभावना जब तक प्रबल रहती है तब तक वेदों के वचन का उल्लंघन नहीं हो सकता। लेकिन मेरे अभेद भावना धारण करने वाले जो भक्त हैं उनके लिये कोई भी नियम बाधक नहीं होता। जिस प्रकार सूर्योदय के आगे चन्द्रमा का तेज फीका रहता है उसी प्रकार आशा अविद्या रूप में बाधक होती है। उसे नष्ट कर देने पर वेदों की बाधा नहीं होती।

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावनां तत्कृता भिदा।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा॥ ३१॥

जो गुरुकृपा से ज्ञानसम्पन्न होता है, उसे देह की भावना बाधक नहीं होती। उसके लिये प्रपंच का दर्शन मिथ्या होता है और कर्म करने पर भी उसे कर्त्ता नहीं होना पड़ता। वर्ण और आश्रम अज्ञान की ही उपज हैं इसलिये उसमें का क्रियाकर्म भी अज्ञानात्मक ही रहता है इसलिये उस वर्णाश्रम का वेदोक्त धर्म अज्ञानी के ही मन में अविद्या का भ्रम उत्पन्न करता है। किन्तु ज्ञानसम्पन्न भक्तों में वह अविद्या बिलकुल नहीं होती। फिर उनमें वेद विधान को स्थान कहाँ? आम के वृक्ष पर जब तक फल लगे रहते हैं तभी तक उनकी रखवाली की जरूरत पड़ती है लेकिन एक बार फल हाथ में आ जाए तो रखवाली निष्फल सिद्ध होती है। उसी प्रकार जब तक अज्ञान का बन्धन है तभी तक वेदों का विधान है। वह अज्ञान ही जब नष्ट हो जाता है तब वेदविधान वह स्थान छोड़ देते हैं। अज्ञान नष्ट होकर जब देह आचरण करता है तो देह का देहत्व से कोई हेतु नहीं होता। लेकिन आप कहेंगे कि ऐसा कुछ होगा ही नहीं। तो उसके सम्बन्ध में भी बताता हूँ। सुनो। स्वप्न में देहादिक प्रपंच का भान स्वप्न में ही सच होता है। कुछ संस्कारों से स्वप्न आने पर भी नींद खुलने पर वह सब व्यर्थ लगने लगता है। किसी व्यक्ति को यदि स्वप्न में राजपाट मिल जाय या वह बाघ के मुँह में पड़ जाय अथवा उसे धन का लाभ हो कर अमूल्य रत्न मिल जाए तो वहाँ का सुख, दुःख अथवा हर्ष नींद खुलने पर नहीं होता। उसी प्रकार ज्ञानी को भी आत्मज्ञान के कारण अज्ञानात्मक कुछ भी बाधक नहीं होता। देह में रहकर भी विदेह स्थिति धारण करने के जो ज्ञानदायक उपाय हैं, उस भेद का नाश करने के लिये भगवान स्वयं बता रहे हैं।

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान् भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः॥ ३२॥

तीनों अवस्थाओं में देह में आत्मा एक ही रहता है। वही देह में विदेही होकर सबका साक्षी है। मैं बच्चा था, फिर युवा हुआ और अब वृद्ध हो गया हूँ। इस प्रकार उम्र की साक्ष्य हम स्वयं देखते रहते हैं। जागृत अवस्था में वह अनेक प्रकार के सुखोपभोग अनेक प्रकार से भोगता है और उन्हीं का स्वप्न में अपने हृदय में अच्छे ढंग से विस्तार करता है। जागृति में भोग का जो संस्कार घटता है उसी का स्वप्न में विस्तार होता है। स्वप्न में मनोमय विश्व उत्पन्न कर अपने हृदय में उसी का विस्तार बढ़ाता है। हाथी, घोड़ा, गधा, पुरुष, पर्वत, नगर, बड़ी-बड़ी नदियाँ, समुद्र आदि वासनाओं को स्वप्न में देखता है। वही सुषुप्ति में, न जागृति न स्वप्न ही ऐसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्थिति में अंतःकरण को भी लीन कर अहंकार विहीन होकर रहता है। विश्वाभिमानी पुरुष देह को ही 'मैं' और विषय को 'मेरा' समझने की प्रवृत्ति का रहता है। उस वृत्ति से वह जागृति में निरन्तर देखता रहता है। जो तैजस अभिमानी होता है वह अज्ञानवृत्ति का होता है इसलिये वह स्वप्नस्थिति देखता रहता है। ज्ञान का अभिमानी मूढ़ प्रवृत्ति का होता है इसलिये वह सुषुप्ति अवस्था देखता है। अब आप कहेंगे कि एक ही आत्मा इन तीन अवस्थाओं में हो यह सम्भव नहीं है और तीनों अवस्थाओं को देखने वाले तीनों अभिमानी भिन्न होंगे यह कहें तो अन्त में एक ही आत्मा शेष रहता है। ऐसा क्यों होता है? तो सुनो। पहला जो मैं जागने वाला हूँ उसने स्वप्नावस्था देखी और वही मैं सुख से सोया भी था। इससे स्पष्ट है कि ये तीनों अवस्थायें मैं स्वयं जानता हूँ। जिसने जो अवस्था देखी ही नहीं है वह उस अवस्था को कैसे बता सकता है? यही कारण है कि तीन अवस्थाओं में आत्मा एक ही है। जागृति में इन्द्रियों में देखने का सामर्थ्य होता है, स्वप्न में तो देखने वाला मन होता है और सुषुप्ति में पूरी तरह मूढ़ अज्ञान ही होता है। वह आत्मा को कैसे देखेगा? हे ब्राह्मण! इस शंका का उत्तर भी शान्त चित्त से सुनें। मन और इन्द्रिय जड़ ही हैं। उनमें देखने का सामर्थ्य कहाँ से आयेगा? जो मन को चलाता है, जो इन्द्रियों का प्रकाशक है, जो सुषुप्ति का द्योतक है, वह साक्षी रूप में रहने वाला आत्मा ही है। अब अगर यह कहें कि सुषुप्ति में आत्मा होता ही नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि, मैं आनन्दपूर्वक सोया था यह अनुभव किसे होता है? तो प्राकृतिक कार्यों से अलग, देहादि अवस्थाओं को प्रकाशित करने वाला तथा गुण और इन्द्रियों का नियंता वही वास्तव में आत्मा है। इन्द्रियाँ आत्मा नहीं होती यह नियम है क्योंकि उनका कर्म केवल एकदेशी होता है और आत्मा तो सर्वकर्ता, सर्वोत्तम होते हुए सदा निष्कर्म है। मन आत्मा नहीं है, इसका मर्म सुनो। संकल्प और विकल्प यह मन का कर्म है और आत्मा निर्विकल्प, निरुपम होते हुए संसार का विश्रामस्थल है। जो सुषुप्ति भोग का साक्षी, त्रिभुवन में देखना ही जिसका स्वरूप है, ऐसा जो अद्वितीय आत्मा है वह मैं ही हूँ इसे निश्चयपूर्वक ध्यान में रखो। इस युक्ति से जो एक परमात्मा को साध्य कर लेता है वही साधकों के काम आता है और उसी के सामर्थ्य से योग भी साध्य होता है।

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्व्यवस्था मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्णज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम्॥ ३३॥

जो-जो युक्तियाँ मैंने तुम्हें बतायी हैं और जो श्रुति शास्त्रसम्मत भी हैं उन पर विचार कर परमार्थ के मार्ग के संकटों को सुलझाना चाहिये। संसार के बन्धनों का कारण गुणावस्था है जिनसे मन व्याप्त है। जिसे मेरा ही आच्छादन है ऐसी जो माया है वही मूल कारण है। जिस प्रकार आँख का पानी जम कर उसी का परदा बन जाता है और जो आँख को ढँक देता है, उसी प्रकार मेरी माया मेरे ही कारण प्रबल हुई है और उसने मुझे ही ढंक दिया है अथवा जिस प्रकार पूर्णिमा को अत्यन्त निर्मल पूर्णचन्द्र का उदय होते हुए उस पर पृथ्वी की छाया पड़ती है और चन्द्रमा पर काला दाग दिखायी देने लगता है। पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच का अन्तर काफी है अर्थात् चन्द्रमा का दाग झूठा है लेकिन लोग उसे सच मानते हैं। उसी प्रकार माया मेरे पास है, उसने मुझे स्पर्श भी नहीं किया है फिर भी लोग मिथ्याभास के कारण ही उसके भुलावे में आ जाते हैं। इसीलिये मिथ्या गुणों की अवस्था अपने माथे पर ढोते हैं। इसी कारण विषयभोग की अवस्था वासनामुक्त होकर बढ़ती है। इस प्रकार उभय देह बन्धन जीव से व्यर्थ ही चिपके हुए हैं। इसलिये उसे तोड़ने के लिये मेरी युक्ति पर विचार करना चाहिये। मुक्ति का केवल अनुमान ही करते रहने से अनुमानिक ज्ञान होता है। उससे अविद्या का बन्धन नहीं टूटता। इसलिये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

साधु संतों की सेवा करनी चाहिये। साधुओं में भी परिपूर्ण साधुत्त्व केवल सद्गुरु के ही पास है इसलिये उनके चरणों की सेवा करनी चाहिये। उस सेवा से संसार बन्धन टूटता है क्योंकि सद्गुरु ही सच्चे साधु और सज्जन पुरुष रहते हैं। उस साधु के सरस वचन श्रुति का ही उपदेश करते हैं जिससे ज्ञानरूपी खड्ग की प्राप्ति होती है और उसे बुद्धि के हाथ में दिया जा सकता है। उसी शस्त्र को फिर वैराग्य और नैराश्यरूपी सील पर घिस कर उसे प्रखर बनाना चाहिये और उसे धैर्य की मुठिया लगाकर अंत:करण में सावधानी से रखना चाहिए। उस शस्त्र से स्वयं को एकजुट करना चाहिये और फिर लक्ष्य साधकर देहाभिमान को छाँट देना चाहिये जो सभी संशयों का गड्ढा है, जिससे देहदु:ख उत्पन्न होता है, जिसके कारण सदा विषयों का व्यसन लगता है, जो काम और क्रोध का पोषण करता है, जो तीनों गुण बढ़ाता है, जो शुद्ध आत्मा में जीवत्त्व लाता है, जिसके कारण जीव को जन्म-मरण भोगना पड़ता है, जो सभी अनर्थों का दाता है, ममता जिसकी लाडली बेटी है, ऐसा यह अभिमान है। मायारूपी माँ ही ममता को बढ़ाती है और उसी के सामर्थ्य पर यह इतना अहंकारी हो जाता है। इसलिये वीर को समरभूमि में तेज धार वाला शस्त्र लेकर, धैर्यपूर्वक खड़े होकर इतने जोर से प्रहार करना चाहिये कि एक ही घाव में माया, ममता और अभिमान इन तीनों के एक साथ टुकड़े हो जाएँ। भोज्य, भोग और भोक्ता, कर्म, कार्य और कर्त्ता, ध्येय, ध्यान और ध्याता इस त्रिगुट को ही काट डालना चाहिये। 'मैं हूँ', 'मैं कौन' अथवा 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस आत्मीयता का अहंभाव भी काट डालने से साधकों को मेरे पद के पास स्थान प्राप्त होगा। इस प्रकार वे स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। अब आप कहेंगे कि यह तो केवल शब्दज्ञान का व्यवहार है। जोर शोर से बातें करने से अहंकार कैसे नष्ट होगा? यदि शब्दों से ही अभिमान नष्ट होता तो बड़े-बड़े विद्वान अभिमान में क्यों चूर हो जाते? अभिमान अगर सामने दिखायी देता तो दौड़ कर उसे काट डालते। लेकिन वह तो अतर्क्य है। अत: शब्दों से तो अभिमान नष्ट नहीं होगा। उसी प्रकार आत्मानुभव का जो साक्षात्कार होता है वह कोई शब्दों का खेल नहीं है। तो ऐसी शंका का समाधान सुनो। जो सदा सावधान रहकर अनन्य भाव से मेरा भजन करता है अथवा मेरी ही भावना से जो सद्गुरु के पवित्र चरणों की सेवा करता है, मुझमें और सद्गुरु के कल्पांत में भी कोई भेद नहीं है इस अभेदभाव से जो मेरा भजन करते हैं उन्हें सहज ही ज्ञान प्राप्त होता है। स्वाभाविक रूप से मेरे भजन में मग्न रहने के कारण उन्हें ज्ञानरूप खड्ग की प्राप्ति होती है। जिस शस्त्र की धार से काल का हृदय भी काँप उठता है वह शस्त्र ही अपने आप उसके हाथ लग जाता है। उस शस्त्र के भय से ही माया, ममता और अभिमान जीव को छोड़ कर पूरी तरह भाग जाते हैं। अहंममता तथा अविद्या पर पूरी तरह प्रहार करने के लिये तैयार हो जाइये तो वे स्वयं ही भय के कारण भाग जाते हैं और अहंममता तथा अविद्या का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। उत्तम भक्तिभाव से मेरा जो भजन करना चाहिये उसे करने से इतना ज्ञान प्राप्त होता है। अब मन में ऐसी शंका आएगी कि यह भजन कहाँ किया जाय? तुम्हारा स्वरूप अतर्क्य, अत्यन्त सूक्ष्म और निर्गुण है। अत: तुम्हारा भजन करने के लिये कौन-सा स्थान उपयुक्त है यही समझ में नहीं आता। अगर मन में ऐसी कल्पना आती है तो उसका उत्तर ध्यानपूर्वक सुनो। सहस्त्रों पर्वतों को पार किये बिना, गुफाओं में गये बिना, कहीं दूर जाने का परिश्रम किये बिना, जहाँ मेरी सदा सर्वदा भेंट होती है, जहाँ मैं पुरुषोत्तम रहता हूँ, वह भजन स्थान निरूपम है। मुझे प्राप्त करने के लिये वह भक्तों का अत्यन्त सुलभ विश्राम स्थल है। सर्वसुखों का विश्रामस्थल जो आत्माराम है वह अपने हृदय में सदा समभाव से रहता है। वहीं उसका प्रेम से भजन करना चाहिये। ब्रह्मदेव से लेकर मक्खी तक सबके हृदय में एक मैं ही हूँ यह जो जानता है वही भाग्यवान है। मेरी प्राप्ति के लिये यही भजन उत्तम है। जो मेरे हृदयस्थ तेज से मन-बुद्धि से आचरण करते हैं, जिस मेरे स्फुरण स्फूर्ति से ज्ञान पैरों पर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लोटता है, उस मुझ हृदयस्थ के प्रति जो भजन तत्पर नहीं होता वह बाह्य उपायों से थक कर अनेक प्रकार के संकटों में पड़ जाता है। ऐसे लोगों में भी कोई तो ऐसा भाग्यवान पुरुष होता है और वही मुझ हृदयस्थ का विचार कर निश्चयपूर्वक मेरे भजन में लग जाता है। मुझ हृदयस्थ का भजन करने से, जिस ज्ञान से अधःपतन नहीं होता, ऐसा मेरा पूर्ण वैराग्ययुक्त आत्मज्ञान वह प्राप्त करता है। उस ज्ञान के भय से ही अभिमान भाग जाता है। वह ज्ञान मैं उन्हें देता हूँ जो सदा सर्वदा मुझ हृदयस्थ का भजन करते हैं। जिस ज्ञान की सिद्धि से समस्त व्याधियाँ दूर हो जाती हैं और सारे संशय भी भाग जाते हैं उस ज्ञान से भक्त आत्मपद प्राप्त करते हैं। इसलिये मैंने बड़े आग्रह से कहा कि बलशाली वीरों को तेज शस्त्र से सन्देह को काट देना चाहिये। इस पर मन में यह विचार आयेगा कि यदि सचमुच संसार प्राप्त हो जाय तो उसका शस्त्र से किस प्रकार छेदन करना चाहिये? तो जो भी संसार है वह सब भ्रांति है यही बात श्रीकृष्ण अगले श्लोक में बता रहे हैं।

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः॥ ३४॥

देह से लेकर अहंकार तक जिस पिण्ड-ब्रह्माण्ड का आभास होता है वह सब मन का ही विलास है। संसार मिथ्या ही होता है। जिस प्रकार सुषुप्तावस्था में स्वप्न में मन स्वयं सारे त्रिभुवन को देखता है, उसी प्रकार अविद्या यह लम्बा संसाररूपी स्वप्न का निर्माण करती है। जो एक स्वरूप का रहता है और दूसरे स्वरूप में दिखायी देता है, उसे आभास कहते हैं। सीप में चाँदी का आभास होता है, रस्सी को बड़ा सर्प कहते हैं। अथवा जहाँ केवल सूर्यकिरण होते हैं वहाँ लोग मृगजल देखते हैं, उसी प्रकार जो केवल शुद्ध परब्रह्म है उसे लोग भ्रम के कारण संसार कहते हैं। लेकिन इस आरोप का कारण स्वयं मैं हूँ। मशाल को गति से घुमाने से वह अग्नि का कंगन मालूम् होता है, वह केवल अग्नि के तेज के आभास के कारण। उस अग्निचक्र का विस्तार करने पर अग्नि सत्य होता है और कंगन मिथ्या रहता है। उसी प्रकार संसार के सम्बन्ध में विचार करें तो ब्रह्म सत्य है और संसार मिथ्या। उस संसार के आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक आदि सब मशाल की तरह होते हैं। वे तीन गुणों से उत्पन्न माया का ही परिणाम है। मशाल के परिभ्रमण के आभास के कारण और उसकी घूमने की गति के कारण वह मशाल चक्र की तरह दिखायी देती है। वह क्षणभर के लिये ही दिखाई देती है और क्षणभर में अदृश्य हो जाती है। उसी प्रकार यह संसार है। जब तक परिभ्रमण तीव्रगति से होता है तब तक मशाल का कंगन दिखायी देता है। परिभ्रमण समाप्त होने पर कंगन का स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार जब तक भ्रम रहता है तब तक संसार सत्य मालूम होता है। वह भ्रम समाप्त होने पर संसार दिखायी भी नहीं देता। मैं ही देह हूँ, स्त्री और बच्चे मेरे हैं यही भ्रम का मुख्य सूत्र है। उसका नाश किये बिना ही क्षुद्र लोग मुक्त होने का अहंकार करते हैं। इस प्रकार यह संसार मायामय है यह निश्चित है और उसकी आसक्ति त्याग कर शान्ति किस प्रकार प्राप्त की जाय उसका प्रकार बताते हैं।

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्णस्तूष्णीं भवेन्निजसखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्थितवस्तुबुद्धया त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥ ३५॥

भजन से अभ्यास से दृष्टि भी सहज ही पवित्र होती है और संसारात्मक त्रिपुटी भी मिथ्या है इस बात का दृढ़ निश्चय अंतःकरण में होता है। उस समय संसारात्मक त्रिपुटी को छोड़ दृष्टि शांत करने पर जिस प्रकार अलंकार सुवर्ण के रूप में दिखायी देते हैं उसी प्रकार मेरी हृदयस्थ के साथ भेंट होती है। तब दृष्य, द्रष्टा और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दर्शन इस त्रिपुटी का भान छोड़ कर वही धारणा और वही ध्यान है यह मानकर उसमें समाधान मानना चाहिये। वही स्वयं को साध्य हो इसलिये सारी आशाओं को त्याग देना चाहिये, वाणी से मौन धारण करना चाहिये, देह के व्यापार पर नियंत्रण रखना चाहिये, वेदशास्त्रों को दूर रखें, वाद-विवाद से दूर रहें और जिससे आशा का मूल समूल नष्ट हो जाये इस प्रकार भगवान की दृढ़ धारणा करें। काया, वाचा और मन को अपने काबू में रखें। आत्मस्वरूप के लक्ष्य से विचलित नहीं होना चाहिये। सदा आत्मस्वरूप में ही लीन रहना चाहिये। उस स्वरूप के सुख में लीन होने पर देह का देहपन भी याद नहीं रहता। अहंकार के साथ-साथ मन भी लुप्त हो जाता है और परिपूर्ण स्वानंद की धारा बहने लगती है। वहाँ न कोई सामने है न कोई पीछे है। एकलापन भी नहीं है और न दूजापन ही है। वहाँ भगवान और भक्त यह भेदभाव भी शेष नहीं रह जाता। सुख के सुख से वह सुखस्वरूप होकर रहता है। सुखस्वरूप वैसे अकेला मैं ही हूँ, अलगपन से रहना मैं नहीं जानता इस आत्मानुभव में वह मग्न रहता है। मेरे भक्तों को इतना लाभ होता है। आप शायद इससे यह कहें कि तुम रात-दिन कष्टवत् पड़े रहते होगे लेकिन उसके साथ वैसा भी नहीं घटता। वह हेतु को छोड़ देह में विचरण करता रहता है। प्रारब्ध के बल से वह आहार, निद्रा आदि दैहिक कर्म स्वाभाविक रूप से करते हुए भी देहबुद्धि को स्पर्श नहीं करता। कुम्हार डंडा भले ही हटा ले लेकिन उसका चाक पहले की सी गति से ही चलता रहता है। उसी प्रकार प्रारब्ध के संस्कार के अनुसार देह कर्म के अनुसार आचरण करता रहता है अथवा कुम्हार के चाक पर जब मक्खी बैठती है तो वह बिना हिले ही चाक के साथ घूमती रहती है। इसलिये उसके भी करोड़ों फेरे हो गये ऐसा कहते हैं। उसी प्रकार मुक्त को भी देहकर्म होते रहते हैं। इस प्रकार देहकर्म में आचरण करने वाला कभी नहीं कहता कि मैं कर्त्ता हूँ। जिस प्रकार वायु के स्वभाव के कारण गिरे हुए पत्ते को भी चपलता प्राप्त होती है उसी प्रकार कर्म पूर्व संस्कार के अनुसार चलते रहते हैं अथवा जिस प्रकार पुरुष के साथ छाया रहती है किन्तु पुरुष उस छाया में नहीं रहता उसी प्रकार ज्ञाता के साथ भी देह रहता है किन्तु वह देह के दोष से मलिन नहीं हो जाता। यदि हम अपनी ही छाया में बैठें तो वह छाया ही भाग जाती है। उसी प्रकार मेरे भक्त जब माया को देखते हैं तो माया उन्हें देखते ही भाग जाती है अथवा मोतियों की कोई माला भ्रम में साँप की तरह दिखायी देती है लेकिन वह भ्रम दूर हो जाने पर, उसे गले में पहनने पर साँप का भय नहीं रहता। उसी प्रकार अधम योनी हो या उत्तम योनी हो, लोगों में वंद्य हो या निंद्य हो, उस देह को 'मैं' कहने में शंका नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि देह ही मिथ्या है। इस प्रकार ज्ञानसम्पन्न होने के कारण देह का भान मिथ्या है यह जानने के कारण ही देह के कर्म में आचरण करते हुए भी उन्हें देह का देहपन बाध्य नहीं करता। उस देह के अवयवों को तोड़ने पर अथवा बाघ आदि जानवरों द्वारा उसके फाड़े जाने पर अथवा अग्नि में उसे जलाने पर भी उसके देह को अहंता का भान नहीं रहता। सूली पर अपनी छाया देखने पर जिस प्रकार कोई बेचैन नहीं होता, उसी प्रकार देह की होली जलने पर भी ज्ञाता आत्मज्ञान के कारण भयभीत नहीं होता। अब शायद आप यह कहेंगे कि देह के साथ रहते हुए देह की अहंता किस प्रकार बाधक नहीं होती? अपनी स्वाभाविक नमकीनी छोड़कर यदि नमक व्यवहार करने लगे तो वह कैसे बच पायेगा? हींग अपनी गन्ध छोड़कर सुगन्धित कैसे रह पायेगा? केला अपना सारा पानी त्याग कर केले के रूप में कैसे रहेगा? मैं शुद्ध नहीं करूँगा कह कर यदि कोई लड़ाई में घुस पड़े तो क्या वह मस्तक पर होने वाले प्रहार से बच पायेगा? उसी प्रकार देह की संगत में आचरण करते समय देह की अहंता हमें छोड़ नहीं पायेगी। इस शंका का उत्तर भी ध्यानपूर्वक सुनें। ज्ञाता को देह का भान बाधक नहीं होता। उस देह के प्रति जो अभिमान जागता है वह भुने हुए बीज की तरह होता है। भुने हुए बीज से भूख का निवारण हो सकता है लेकिन उसे बोने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पर उसमें से अंकुर नहीं निकल पायेगा इसे ध्यान में रखिये। चित्र में बाघ दिखायी देता है लेकिन उसमें पीड़ा करने का सामर्थ्य नहीं होता। उसी प्रकार भुना हुआ अभिमान यदि शेष बचा भी हो तो वह ज्ञाता को बाधक नहीं होता। चित्र के बाघ में जिस प्रकार बाघ की हिंस्त्रता नहीं होती, उसी प्रकार मुक्तों के देह में भी देह के गुण नहीं होते। चैतन्यघन आत्माराम जब हृदय में दृढ़ हो कर बैठ जाता है तो उसी के स्वरूप में वृत्ति निमग्न हो जाती है। तब दिखायी देने वाला भान भी भुना हुआ होने के कारण उसका प्रभाव भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जब स्मृति का लय हो जाता है तो ज्ञाता किस प्रकार आचरण करते हैं उसका यथातथ्य वर्णन श्रीकृष्ण आत्मबोध से बता रहे हैं। सब कर्मों में आचरण करते हुए देह का देहपन याद नहीं रहता, यह समाधि का लक्षण श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं।

देहंच नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ ३६॥

वह जिस देह से मेरा भजन कर मेरे शुद्ध स्वरूप को पहुँचता है, उस देह को ही वह भूल जाता है और उस देह को वह अपनत्व की दृष्टि से नहीं देखता। जिस प्रकार कोई किराये के घोड़े को अपने घर तक ले आता है लेकिन कार्य पूरा हो जाने के बाद वह कहाँ चला गया इसका उसे स्मरण भी नहीं होता अथवा कोई स्त्री मैके से ससुराल आते समय किसी विश्वस्त मजदूर को साथ लेती है लेकिन रात को अंत:पुर में पति के साथ सोने के बाद वह उस मजदूर को भूल जाती है अथवा जिस प्रकार दैवयोग से पालकी में बैठने वाला व्यक्ति अपने फटे-पुराने पादत्राणों को भूल जाता है अथवा जिस प्रकार कोई स्त्री बहुत दिनों के बाद पति का सान्निध्य प्राप्त होने पर लाज-लज्जा भूल जाती है वैसी ही उसके देह की अवस्था होती है। लेकिन दाम्पत्य की उस सुखकारी भेंट में यदि कोई पराया व्यक्ति वहाँ आ जाता है तो उनमें लज्जा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार द्वैत दृष्टि से देखने पर ही देह का भान होता है। लेकिन मुझसे एकता का बल प्राप्त होने पर देह कैसा? इस प्रकार मेरे स्वरूप तक पहुँचकर आत्मानंद से भरे उस साधक को अपने देह का विस्मरण होकर आनन्द से सुखरूपता प्राप्त होती है। फिर शरीर उठा है या बैठा है, चल रहा है या स्थिर है, जाग रहा है या सो रहा है इन बातों का स्मरण ही बन्द हो जाता है। वह तृप्त है या भूख से व्याकुल है, वह जाड़े से ठिठुर रहा है या गरमी से तप रहा है, उसने जल का प्राशन किया है या उसे प्यास लगी है या वह यों ही शान्त बैठा हुआ है, इसका भी उसे स्मरण नहीं होता। वह यहाँ है या वहाँ है, वह गूँगा है या बोलता है। यह था या नहीं था? इन बातों का स्मरण करने का वह प्रयास नहीं करता। यह छूत या अछूत है? स्वच्छ है या मलिन है? यह आँखवाला है या अन्धा है? या शरीर से यह विकलांग है? यह आया या गया? यह मूल रूप में था या कोई इसे ले आया है? इसने जन्म लिया या मर गया? या स्थिर होकर रह गया? इसका भी उसे स्मरण नहीं होता। यह बाल है या युवा है। यह मोटा है या पतला है? यह हल्का है या भारी है? इसका उसे पूरी तरह स्मरण नहीं होता। यह खाट पर लेटा है या धरती पर है, यह अच्छी जगह है या खराब जगह? यह है या नहीं है इसकी भी उसे याद नहीं रहती। यह मंत्र में है या तंत्र में है। तीर्थ में है या क्षेत्र में है। यह विष्ठा में है या मूत्र में है? या किसी पवित्र स्थान पर है? इसका भी उसे स्मरण नहीं होता। यह जन में है या वन में है? या निर्गुण में है? जप में है या ध्यान में है? इसका भी वह मन में स्मरण नहीं करता। यह सज्जनों में है या दुर्जनों में? यह किसी कारागृह में है या विमान में है? यह घर में है या श्मशान में है? क्या कोई इसे देख रहा है? यह घर में है श्मशान में है? क्या कोई इसे देख रहा है? इसका भी उसे स्मरण नहीं होता। यह हाथी में है या घोड़े में है? या स्त्रियों के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संभोग में है? यह गधे में है या सर्प में है? या यह शरीर में ही है? यह स्वयं उसे याद नहीं रहता। यह काशी में है या कैकट देश में है? यह नरक में है या वैकुण्ठ में है? यह घर में है या गिरिकंदरा में है? अथवा यह एकान्त में ध्यानमग्न है? यह भी उसे स्मरण नहीं आता? इसकी लोगों ने पूजा की है या इसे छला है? उसे पकड़ा है या मारा है? यह देह में एकरूप हुआ या इसका क्या हुआ? उसे यह स्मरण नहीं आता। मैं शेष पर सोया हुआ हूँ या किसी भिखारी के घर में हूँ। क्या मैं सूली पर बैठा हुआ हूँ। इसका भी उसे शायद स्मरण नहीं होता। ऐसे ज्ञाताओं की निरभिमानता मैं सचमुच नहीं बता सकता। जो मेरे ही पद पर पहुँच गये उनका चरित्र बताना सम्भव नहीं है। जहाँ वेद भी मौन हो जाते हैं, स्वर और वर्ण के साथ वाणी भी डूब जाती है उन महान संतों का गुणवर्णन मुझसे नहीं किया जाता। ज्ञाताओं की यह स्थिति देखकर शायद आप मन में यह विचार करें कि उनमें जड़त्व और मूढ़त्त्व आ गया है। उनमें किसी भी प्रकार की स्फूर्ति नहीं उपजती। जिस प्रकार शुद्ध पाषाण रहता है, वैसा ही उनका अंत:करण हो जाता है क्योंकि उनमें किसी भी बात का स्फुरण नहीं होता। फिर ज्ञातापन कैसा होता है? यदि आपकी ऐसी शंका हो तो उसका निराकरण भी ध्यान देकर सुनें। ज्ञान और अज्ञान की भूमिकायें लोगों के लिये सचमुच अतर्क्य हैं। जो शुद्ध ज्ञान होता है और जो जड़ मूढ़ अज्ञान होता है उन दोनों की अवस्था एक जैसी होती है। उनकी पहचान भी मैं जानता हूँ। घनघोर अँधेरा छाया हुआ हो, उसमें काजल का पर्वत हो और इसे दो भागों में विभाजित करने के लिये कोई अन्धा आये वैसी ही स्थिति अज्ञान के आचरण की है। वेदांतशास्त्र के अच्छे से अच्छे ग्रन्थ लाकर उनका संशोधन कार्य अन्धे अथवा गूँगे के हाथ सौंपा जाय तो वह न तो देख सकता है, सुन सकता है और न बोल ही सकता है। जड़त्व के कारण अज्ञान की भी वैसी ही स्थिति हो जाती है। अब सज्ञान की स्थिति सुनिये। उन्हें आत्मसाक्षात्कार का अनुभव होने के कारण वे देह में भी विदेह की तरह रहते हैं। जिस प्रकार रत्न और ओला एक जैसे दिखायी देते हैं किन्तु लोग काफी धन देकर हीरा खरीदते हैं और ओला कोई मुफ्त में भी नहीं लेना चाहता। जिस प्रकार अनाज का दाना और उसका छिलका दोनों साथ-साथ बढ़ते हैं उसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान पास-पास ही होने के कारण दोनों एक जैसे दिखायी देते हैं। जिस प्रकार असली सिक्का और नकली सिक्का देखने में एक जैसा होता है और पारखी व्यक्ति ठीक पहचान कर असली सिक्का लेता है और मूर्ख व्यक्ति फँस जाता है उसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान का बाजार एक ही जगह लग गया है ऐसा लगता है। यदि जरा भी रास्ता चूका तो भीषण पाखण्ड माथे पर गिरेगा। उसी प्रकार जो मेरी भक्ति के लिये आते हैं वह मेरे प्रति विश्वास के कारण स्थिर हो जाते हैं, उन्हें मैं अपना शुद्ध और सच्चा स्वरूप प्रदान करता हूँ। मेरे नाम के प्रति विश्वास के कारण ही प्रह्लाद ने सारे द्वंद्व दुतकार दिये। ऐसा भक्त न भी चाहे तो मुक्ति उसके पीछे खड़ी रहती है और विश्वास के कारण ही मेरे स्वरूप से भेंट होती है। जिस प्रकार पानी में मिलने पर नमक अपना स्वरूप खो देता है उसी प्रकार जो मेरे स्वरूप तक पहुँचते हैं वे मेरी भक्ति के साथ मद्रूप ही होते हैं। उनका स्वतंत्र स्वरूप शेष नहीं रहता। फिर नमक को अपना स्मरण नहीं रह जाता, वह स्वयं समुद्र बन जाता है; उसी प्रकार ज्ञानी भी मद्रूप हो जाते हैं। इस प्रकार मेरे स्वरूप तक पहुँच कर जो देहाभिमान को भूल जाते हैं वे सबके साथ ज्ञानमय होकर आनन्दरस में लीन रहते हैं। जिस प्रकार रस्सी में सर्प का आभास होता है और कुछ देर के बाद वह आभासरूप सर्प नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मुक्तों को देहभावना का आभास होता है। अत: 'मैं' और 'तुम' का स्मरण कराने वाला कौन है? अंत:करण का ही विस्मरण हो जाने के कारण वह स्वयं ही अपने को भूल जाता है। फिर कैसा स्वर्ग और कैसा नरक? अच्छा किस बात का और बुरा किस चीज का? चौदह लोक कैसे? केवल ब्रह्मस्वरूप ही शेष रहता है। वहाँ पवित्र

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कैसा और अपवित्र कैसा? तीर्थ कैसा और क्षेत्र कैसा? वेद कैसा और शास्त्र कैसा? ब्रह्म तो स्वतंत्र और अद्वय ही है। वहाँ उत्पत्ति कैसी और विनाश कैसा? बैकुण्ठ कैसा और कैलास कैसा? ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर भी कैसे? एक अविनाशी ब्रह्म ही शेष रहता है। वहाँ किसका बोध और कैसी बुद्धि? वहाँ तो वास्तव में देवत्व भी नष्ट हो जाता है। मोक्षसिद्धि भी लज्जा से विनष्ट हो जाती है। वही क्षीरसागर का शेषशायी भी कैसा? वहाँ तो मेरा भगवान स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। ॐकार का मस्तक भी डूब जाता है। इतना सायुज्यस्वरूप उन्हें प्राप्त होता है। इसलिये देह बचा भी तो क्या और आया भी तो क्या इसका उन्हें स्फुरण भी नहीं होता। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। अविद्या यह कारण है और देह उसका कार्य है। वह अविद्या ही जब नष्ट हो जाती है तो कारण के बिना कार्य रहे यह सम्भव नहीं है ऐसा आप कहेंगे। वृक्ष यदि जड़ के साथ गिर पड़े तो भी उसकी आर्दता तत्काल समाप्त नहीं होती। पत्ते, फूल, फल आदि आर्द रहते ही हैं। उसे सूखने में काफी समय लगता है। उसी प्रकार अविद्या का नाश भले ही हो जाय लेकिन भोगरूप दैव के रूप में जो शेष रहता है उसके कारण ज्ञानी पुरुष कर्म करता है। वह अपने देह में ही विदेह के रूप में रहता है। अब शायद आप यह कहें कि देह को बड़े प्रेम से बड़ा करते हैं, उसका बड़े लाड़-प्यार से पोषण करते हैं और निरन्तर सुरक्षा करने पर भी उसका पतन होता है यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। जिसका देह उसके स्वाधीन न हो उसका तत्काल पतन होना चाहिये। फिर भी वह बचता क्यों है? ऐसी भी कल्पना मन में आ सकती है। जिसका वह देह है वही जब उसे नहीं पूछता तो फिर वह देहकर्म किस लिये करेगा? यदि आपकी ऐसी शंका हो तो उसका भी उत्तर दूँगा। ध्यान देकर श्रवण करें। देह की उत्पत्ति स्थिति और लय यह पुरुष के वश में नहीं रहती। दैव ही उसे चलाता है इसलिये दैव योग से ही देह का कर्म होता रहता है। उठना या बैठना देह को दैवयोग के कारण ही प्राप्त होता है। लेना-देना भी दैवयोग से होता है और खाना-पीना भी दैवयोग से होता है। देह को स्वदेश या परदेस दैव ही ले जाता है। देह को स्वर्ग या नरक के भोग दैव के कारण ही भोगने पड़ते हैं। यश, लाभ, हानि अथवा मृत्यु यह सब देह को दैव के कारण ही प्राप्त होते हैं किन्तु मृत्यु यह सब देह को दैव के कारण ही प्राप्त होते हैं किन्तु जो ज्ञानसम्पन्न रहता है वह जिस प्रकार घट में दिखाई पड़ने वाला चन्द्रमा घट से अलग रहता है उसी प्रकार वह देह से अलग रहता है। जिस प्रकार पुरुष के पास छाया रहती है उसी प्रकार ज्ञाता के सान्निध्य के लिये देह रहता है। वह देह अपने कर्म भोगने के लिये दैव के अधीन रहता है। छाया मुझसे ही उत्पन्न होती है और मेरे ही सान्निध्य में बढ़ती है फिर भी वह मेरी ही है इसका कभी किसी को गर्व नहीं होता। उसी प्रकार ज्ञाता के पास देह रहता है फिर भी वह अभिमानपूर्वक 'यह मेरा' है नहीं कह सकता। छाया सदा निकट ही रहती है लेकिन वह कहाँ रहती है और कहाँ नहीं रहती यह वह जिसकी है वह भी उससे नहीं पूछता। उसी प्रकार ज्ञाता का देह के सम्बन्ध में आचरण रहता है। छाया विष्ठा पर भी पड़ती है और पालकी में भी चढ़ती है लेकिन इसके कारण उस पुरुष को किसी भी प्रकार का सुख या दुःख नहीं होता। उसी प्रकार ज्ञाता को भी देहभोग का सुख-दुःख नहीं होता। लेकिन उसे इस प्रकार अपने देह का विस्मरण कैसे होता है? उसका कारण भी दृष्टांत देकर बताता हूँ। जो पैसा देकर दारू पीता है वह उस दारू के नशे में नाचने, गाने लगता है। वास्तव में देहधारी होते हुए भी वह अपने देह को भूल जाता है। शरीर पर वस्त्र है या नहीं इसका भी उसे भान नहीं रहता और यह तो ब्रह्मरस का पान कर परमानन्द से तृप्त हुआ रहता है। अतः उस नशे की धुंध में उसे देह का भी स्मरण नहीं होता। सारांश, देह का पालन अथवा पोषण, जन्म अथवा मृत्यु यह सब दैवयोग से ही होता रहता है। हंस ने अपने भाषण में इसी बात का प्रतिपादन किया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देहोऽपि दवैवशगः खलु कर्म यावत् स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥ ३७॥

देह का जो भी आचरण है वह दैवयोग से ही होता है इसे ध्यान में रखो। अज्ञान में देहाभिमान रहता है जो ज्ञाताओं में कभी नहीं होता। जिस प्रकार पूर्वसंचित कर्म रहता है, उसी प्रकार यहाँ देह उत्पन्न होता है। वह सभी इन्द्रियों और प्राणों के साथ अगर दैवयोग से ही आचरण करता है तो आप कहेंगे कि दैवयोग से यदि वह देह में है तो इससे देह का अहंकार अवश्य बढ़ना चाहिये। जिस प्रकार साथ-साथ चलने वाले राही परस्पर संकट भोगते रहते हैं, लवण के मिश्रण से जल भी खारा हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञाता भी देह की संगत से देहाभिमानी हो जायेगा। जिस प्रकार लोहे की संगत से अग्नि को भी हथौड़े के घाव सहन करने पड़ते हैं उसी प्रकार देह की संगति से ज्ञाता भी सुख-दुःख भोगते हैं। इस प्रकार की कल्पना आप मन में कर सकते हैं किन्तु यह बात ज्ञाताओं पर लागू नहीं होती क्योंकि वे सारा अहंभाव त्याग कर चिदानंद में ही समाधिस्त रहते हैं। 'अधिरूढ समाधियोग' इस आशय का स्पष्ट पद है। इसका अर्थ है कि उसने आत्मज्ञान से अत्यन्त निर्दोष समाधि प्राप्त कर ली है। वह समाधि कैसी रहती है? उसमें रहने वाला पुरुष क्या काष्ट की तरह तटस्थ रहता है या निरा पागल हो जाता है या ज्ञानसम्पन्न रहता है? उस समाधि के सम्पूर्ण लक्षण बताता हूँ, सुनो। उसके योग से ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति को देह में रहते हुए भी देह के बन्धन में नहीं फँसना पड़ता। 'केवल तटस्थ होकर रहने का ही नाम समाधि है' यह बात यदि ज्ञाता ही कहने लगें तो समझ लो उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी क्योंकि वास्तव में वह समाधि नहीं है। ऐसी स्थिति में वृत्ति मूर्च्छना की अवस्था में रहती है। सदा अभिमानरहित रहना इसी का नाम अखण्ड समाधि है। लेकिन काष्ट की तरह होकर रहने का नाम समाधि कदापि नहीं है। तटस्थता को ही जो समाधि मानते हैं उन्हें वास्तव में सच्चे स्वरूप का ज्ञान नहीं है और निश्चय का भी ज्ञान नहीं है। उनकी बातों में केवल अनुमान रहता है। किसी भयंकर आघात से बेसुध होकर मनुष्य में लकड़ी की सी तटस्थता आ जाती है। तो क्या उसे समाधि कहा जाय? पुरस्कार की आशा से बहुरुपिया अपना स्वांग रचते समय कभी अपनी सांस रोक कर तटस्थता लाने का प्रयत्न करता है। लेकिन वह कोई समाधि नहीं है क्योंकि जब तक अंतःकरण में वासना शेष है तब तक समाधि कैसे लगेगी? वह बहुरुपिया होश में आते ही कहता है, "आप उदारश्रेष्ठ हैं अतः मुझे योग्य पुरस्कार दें।" सारे संकल्पों का जो चरम बिन्दु है उसी का नाम निर्विकल्प समाधि है। सभी शास्त्रों ने इसे प्रतिपादित किया है। बकरी के पास साँप आता है तो वह भी सभी वृत्तियों से शून्य होकर तटस्थ हो जाती है। लेकिन वह समाधि नहीं है। सहसा कोई दिव्य स्वरूप देखने पर आश्चर्य के कारण तटस्थता प्राप्त होती है। ऐसे प्रसंग में सचमुच वृत्ति रहती ही है ऐसा समझना चाहिये। उसी प्रकार पहली ही बार आँखों को आत्मस्वरूप दिखायी देने पर इतना अधिक आश्चर्य होता है कि सँभाले नहीं सँभलता। लेकिन उस आश्चर्य को पेट में दबाने पर जो स्थिति उत्पन्न होती है, उसी का नाम है, 'समाधि'! कल्पना जहाँ पूरी तरह नष्ट हो जाती है वहाँ विस्मय का स्फुरण कैसे होगा? वहाँ अतिसूक्ष्म कल्पना भी नष्ट हो जाती है, इसलिये आश्चर्य भी नष्ट हो जाता है। जिसे सचमुच ब्रह्म की ही प्राप्ति हो जाती है, उसमें देह का ही स्फुरण नहीं होता और उस समय वह तटस्थ खड़ा है या चल रहा है यह भी दूसरों को ही देखना पड़ता है। इस प्रकार जहाँ देह ही मिथ्या होता है वहाँ उसके लक्षण कौन देखेगा? मृगजल के स्नान से ज्ञाता को जितना संतोष प्राप्त होगा उतना ही यह भी सम्भव है। मिथ्या देह को तटस्थता प्राप्त हो जाय उसी को समाधि की अवस्था समझा जाय इस लक्षण को सच मानकर बड़े-बड़े ज्ञानी भी फँस गये हैं। स्वप्न में ज्ञानी बने मनुष्य को तटस्थ स्थिति प्राप्त हुई और वह स्वप्न देखने वाले

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उस व्यक्ति को वह सच भी मालूम हुई तो भी जागृति में आने पर वह उसी अवस्था में नहीं आता अथवा स्वप्नावस्था में रहने वाले व्यक्तियों को समाधि में बड़ा सम्मान प्राप्त हो जाय लेकिन वह सम्मान उसे जागृत अवस्था में नहीं प्राप्त होगा। वास्तव में वह सो गया है यही समझना चाहिये। उसी प्रकार तटस्थता को समाधि कहना ही अविद्या है। वह अविद्या स्वप्न और मूर्छा का स्वरूप है। वह आत्मस्वरूप ज्ञान में जागृत नहीं हुआ है यही समझना चाहिये। जागृत होकर जब वह स्वप्न की ओर देखता है तो उसे झूठा ही मानता है। क्या उसमें उसका देह भी सत्य था? अमर वह सत्य है तो फिर उसमें तटस्थता आ सकती है ऐसा प्रश्न उसके मन में आता है। जो सचमुच जागृत होने के बाद उस स्वप्न के देह को अपनी कल्पना से तटस्थता देने का प्रयास करता है उसे तब लज्जा होने लगती है। उसे इसमें इससे अधिक महत्त्व नहीं मालूम होता। वह जागृत होने पर जिस स्वप्न का वर्णन करता है वह असत्य रहता है। वह उसे स्पर्श भी नहीं करता। उसी प्रकार जिसे सचमुच परब्रह्म की ही प्राप्ति होती है वह भी देह की स्थिति में लिप्त नहीं होता। तो फिर उसका देह किसके बल से क्रियाएँ करता है? वह शेष प्रारब्ध की गति से क्रियाशील रहता है। अग्निपात्र का अग्नि भले ही बुझ जाय लेकिन जमीन में उसकी उष्णता कायम रहती है। कपूर भले ही जल जाय लेकिन उस स्थान पर उसका सुवास कायम रहता है। पालने को झुलाने वाला आदमी भले ही थक जाय लेकिन पालना अपनी पूर्व गति के कारण चलता रहता है। उसी प्रकार अविद्या का नाश होने पर भी प्रारब्ध तो शेष रहता ही है। उसी शेष प्रारब्ध से मुक्तों का देह चलता रहता है। शरीर के ही कारण छाया हिलती है किन्तु शरीर छाया से भिन्न ही रहता है। इस प्रकार मुक्तों का देह मिथ्या होता है और वह प्रारब्ध के सहारे व्यवहार रहता है। पुरुष के साथ जो छाया रहती है वह किसी कारण से नहीं बल्कि सहज ही रहती है। उसी प्रकार ज्ञाता के साथ देह भी मिथ्या रहता है। जिस प्रकार जमीन पर पड़ा हुआ पत्ता हवा के योग से हिलता है, उसी प्रकार देह भी पूर्व कर्म के अनुसार व्यवहार करता है। लेकिन ज्ञाता देहकर्म के स्पर्श से मलिन नहीं होता। भले ही वह प्रारब्ध के अधीन रह कर पूरे संसार के साथ बातें करता रहे अथवा मौन साध कर आनन्दपूर्वक गिरि कंदराओं में पड़ा रहे। भले ही वह सारे कर्म करे अथवा भ्रम के कारण पागल हो जाये लेकिन वह प्रारब्ध के कारण प्राप्त स्थिति के अनुसार आचरण करता रहता है। वह पालकी में रहे अथवा हाथी के गंडस्थल पर विराजमान हो या विष्टामूंत्र में पड़ा रहे वह उसे स्थिति प्रारब्ध के कारण ही मानता है। जिसमें बाध्य और बाधकता समाप्त हो जाती है, अहंकार की अविद्या समाप्त हो जाती है, उसकी उस स्थिति को ही 'स्वभावसिद्ध समाधि' के नाम से जाना जाता है। सभी सिद्धान्तों का यही सारांश है। जिसे इस प्रकार की प्राकृतिक समाधि अवस्था प्राप्त होती है वही सारे भोग भोग कर अभोक्ता बना रहता है और सारे कर्म करके भी अकर्ता बना रहता है। वह क्रिया और कारण के संयोग से विषयोपभोग में लिप्त दिखायी देता है लेकिन इससे उसकी समाधि अवस्था भंग नहीं होती। भोगों का भोग करते हुए भी वह अलिप्त ही रहता है। उसकी स्त्री उसे मेरा पति कहती है, पुत्र उसे मेरा पिता कहता है शिष्य उसे 'मेरा सच्चा गुरु' कहता है। किन्तु वह इन सारे सम्बन्धों से दूर रहते हुए भी उन सब में विचरण करता रहता है। अथवा जिस प्रकार लकड़ी से ही अग्नि उत्पन्न होती है, लकड़ी में ही रहती है लेकिन यदि कोई कहे कि लकड़ियाँ उसे अपने अधीन रखती हैं तो वह उनके नियंत्रण में नहीं रहतीं अथवा जो फूँकने से ही प्रकाश देने लगता है, जो फूँकने से ही उत्पन्न होता है वही दीपक फूँक से बचने पर सुरक्षित स्थान पर दीपक के रूप में टिक पायेगा। उसी प्रकार कर्म से उत्पत्ति होती है, कर्म से ही परब्रह्मप्राप्ति होती है लेकिन महान योगी उस कर्म में भो निष्कर्म स्थिति में व्यवहार करते रहते हैं। वह लोगों में भले ही गृहस्थ दिखायी दे अथवा जंगल में पागलों की तरह नाचता फिरे या एकांत में शान्त पड़ा रहे लेकिन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। सिंहासन पर बैठने से उसे जो राजत्व प्राप्त होता है वह बगीचे में खेलते समय भी कायम रहता है और शिकार खेलते समय शिकार का पीछा करते हुए भी बना रहता है। राजा जंगल में भी जाकर रहे तो भी उसके राजभोग वहाँ पहुँच जाते हैं। वहाँ राजा की सत्ता समाप्त हो जाती है यह कोई मूर्ख भी स्वीकार नहीं करेगा। उसी प्रकार योगी स्वस्वरूप पर पहुँच कर प्रारब्ध की अवस्था के अनुसार अनेक प्रकार के कर्म करते हुए दिखायी देते हैं लेकिन इससे उनकी आत्मस्वरूप स्थिति नहीं बिगड़ती। समाधि लगना या समाधि टूटने का अनुभव केवल अधूरे ज्ञानी को ही होता है। परिपूर्ण ज्ञानी के ये लक्षण नहीं होते। क्योंकि जो परिपूर्ण होते हैं उनमें आत्मस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता। समाधि और समाधि विसर्जन का सुख सामने आने में भी शरमाता है। अर्जुन को समाधि लगायी और तत्काल उसे घोर युद्ध में झोंक दिया। दयानिधि श्रीकृष्ण ने उसे कभी तटस्थ (क्रियाशून्य) रखा ही नहीं। इसलिये परिपूर्णत्त्व से आत्मस्वरूप में रममाण होते होते, समाधि लगाना और उसका विसर्जन करना यह परिश्रम तटस्थता को भी सर्वथा निगल कर सच्ची समाधि लग पाती है। इस प्रकार जब तक प्रारब्ध चाहता है तब तक मुक्त का देह इस प्रकार आचरण करता रहता है। लेकिन उसे अहंता की ममता पहले जैसी पीड़ा नहीं देती। जिस प्रकार स्वप्न में देह को प्राप्त अवस्थाओं को पुरुष जागृत होने पर अपने माथे पर नहीं लेता उसी प्रकार समाधि में रहने वाला व्यक्ति देह के कर्म अपने माथे पर नहीं लेता। यही श्रेष्ठ ब्रह्मस्वरूप स्थिति है। अनेक प्रकार के स्पष्टीकरण देकर मैंने तुम्हें अपने गुह्यज्ञान सम्पत्ति का निरूपण सुनाया। सनकादिकों ने पूछा था, 'तुम कौन?' उन्हें बताने के लिये तथा उनका विश्वास दृढ़ करने की दृष्टि से मैंने अपने आत्मस्वरूप का निरूपण किया।

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत् सांख्ययोगयोः।
जानीत माऽऽगतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया॥ ३८॥

इस प्रकार अत्यन्त गुह्य, श्रेष्ठों में श्रेष्ठ उपनिषद का भण्डार तथा योगियों के योगमार्ग का रहस्य मैंने तुम्हें बताया। जिस ज्ञान के लिये मुमुक्षु लोग अत्यन्त कष्ट सह कर सहस्रों साधन करते हैं और जिसके लिये योगी गिरि कन्दराओं में रहकर आसन मुद्रा आदि करते हैं, जिसके आगे वेदशास्त्रों की सारी युक्तियाँ असमर्थ सिद्ध हुई वह आत्मज्ञान मैंने यथार्थ रूप में तुम्हें बताया। इतना ज्ञान देने वाला ज्ञानवक्ता मैं कौन हूँ? यह बिल्कुल मालूम नहीं होगा। तो समस्त यज्ञों का यज्ञभोक्ता जो विष्णु है वह मैं हूँ इसे ध्यान में रखिये। मेरे यहाँ आने का कारण यही है कि आपने ब्रह्मदेव से जो प्रश्न किया था उस ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने के लिये मैं यहाँ स्वयं आया हूँ। जिस उपदेश में वर्णाश्रमधर्म की पद्धति छोड़े बगैर मेरा दर्शन होता है, वह बात भी ध्वनित की गयी है। ब्राह्मण धर्म छोड़ कर, फिर सन्यासग्रहण करना चाहिये ये दोनों धर्म देह के ही हैं। किन्तु उपदेश के अनुसार मुख्य रूप से देह ही मिथ्या रहता है। उपदेश को ही प्रमाण मानकर सनकादिकों ने अभी तक ब्राह्मण धर्म नहीं छोड़ा फिर भी उन्हें मेरा गुह्य ज्ञान प्राप्त हुआ और सचमुच उसी उपदेश से नारद भी ब्राह्मण के ही रूप में रहते हैं और आत्मानंद में निमग्न होकर नाचते गाते ब्रह्मानन्द में डोलते रहते हैं। अपना वही चैतन्यधनस्वरूप वे स्वयं अपनी महिमा प्रकट करने के लिये वर्णन कर रहे हैं।

अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च॥ ३९॥

सांख्य नाम का श्रेष्ठ ज्ञान, अष्टांगादि साधनों से सिद्ध होने वाला योग अथवा सत्य का सत्यत्त्व वही मेरा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सच्चा स्वरूप है। देखो! जिस सत्य में संत सद्धर्म से आचरण करते हैं अथवा इच्छारहित जो वाणी होती है वह भी मुझसे भिन्न नहीं हो सकती। तेज की वह प्रगल्भता मेरे ही कारण प्रकाशित हुई है। अथवा लक्ष्मी को जो ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है वह सचमुच मेरे ही कारण से है। साधु लोग कीर्ति को जो सम्मान देते हैं वह मेरे कीर्तन के कारण ही प्राप्त होती है। मेरे सिवा उस कीर्ति को कोई स्वीकार नहीं करेगा। निग्रहता मेरे ही प्रभाव से सब से निग्रह कराती है। मेरे सामर्थ्य से वे अदम्य का भी नमन करते हैं। ध्येय और ध्यान; अथवा साध्य और साधन; इन सब के लिये आश्रय का स्थान मैं ही हूँ। मेरे सिवा उन्हें कार्य की प्रेरणा कैसे मिलेगी? आप अत्यन्त श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, आप मेरे लिये भी पूज्य हैं इसलिये मेरा शुद्ध आत्मज्ञान आपको स्पष्ट रूप से बताया।

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरयेक्षकमू।
सहृदं पियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः॥ ४०॥

वास्तव में मैं इच्छारहित तथा निर्गुण हूँ। मेरे गुणों की कल्पना से मेरी भक्ति कर वे मुझे सुहृद, आत्मा, प्रिय आदि लक्षण लगाते हैं। समता और निःसंगता आदि गुणों की अवस्थाएँ भी मुझे लगाते हैं। जरा देखो! क्या कभी अन्धकार अपनी पराक्रमी सेना लेकर सूर्य का मुकाबला करने के लिये खड़ा हुआ है? फिर भी वह जिस प्रकार सूर्य को अन्धकार का विनाश कह कर महिमा मण्डित करता है या क्या कभी किसी ने घर में आकाश को भरने का प्रयास किया है? फिर भी घर के ही कारण आकाश को घटाकाश यह नाम प्राप्त हुआ है। चन्द्रमा घर को स्पर्श नहीं करता सदा आकाश में ही रहता है फिर भी घर चन्द्रमा को घटचन्द्र बनाता है और मूर्ख उसी को सच मान लेते हैं। फिर भी, मैं निर्गुण होते हुए वे मेरे गुणों की कल्पना से भजन कर मुझे सुहृद, आत्मा, असंग आदि विशेषणों से अलंकृत करते हैं। मैं गुणों को स्पर्श भी नहीं करता फिर भी वे मुझे लीलाधारी कहते हैं। इस प्रकार गुण ही गुणों के पास रहते हैं, मुझ पर केवल आरोप लगता है। अतः मैं न लेने वाला हूँ, न देनेवाला हूँ। मैं न कर्ता हूँ न करवाने वाला। मेरा यह स्वभावधर्म है। अन्य अवस्था गुणों की है। इस प्रकार ज्ञान और विज्ञान का जो पहले से चला आ रहा विलक्षण स्वरूप है उसका उपसंहार अब श्रीकृष्ण स्वयं कर रहे हैं।

इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः।
समाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः॥ ४१॥

आत्मज्ञानी, अत्यन्त कुशल, मुमुक्षुओं में अत्यन्त श्रेष्ठ सनकादिक सन्देहयुक्त हो गये थे। मैंने उन्हें इस प्रकार निःसन्देह किया वे सदा सावधान, शुद्ध, मेरे भजन के प्रति प्रेमभाव रखने वाले, निरन्तर मत्स्वरूप में रहकर मनन करने वाले और उपदेश सुनने से कभी न ऊबने वाले थे। मेरा यह उपदेश सुनते ही वे तत्काल मेरे गले लग गये और तत्काल मत्स्वरूप हो गये। ऐसे वे ब्रह्मपुत्र संसार में अत्यन्त धन्य हैं। मेरे उपदेश के कारण उन्होंने दृश्य, द्रष्टा और दर्शन इस त्रिपुटी का शून्य कर डाला और वे पूर्णरूप से ब्रह्मस्वरूप हो गये। उन्हें अत्यन्त समाधान प्राप्त हुआ और उन्होंने गद्य-पद्य में मेरा स्तवन कर मेरी पूजा प्रारम्भ कर दी।

तैरहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षिभिः।
प्रत्येयाय स्वकं धांम पश्यतः परमेष्ठिनः॥ ४२॥

यद्यपि उनकी पूज्यता और पूजकता ये वृत्तियाँ नष्ट हो गयी थीं फिर भी उन्होंने गुरु की पूजा की। द्वैत का भ्रम त्याग कर उन्होंने परम भक्तिभाव से मेरी पूजा का प्रारम्भ किया। शिष्य भले ही ब्रह्मस्वरूप हो जाय लेकिन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

फिर भी उसे गुरु तो पूज्य है ही। सद्गुरु सचमुच ही परिपूर्ण ब्रह्म है यह बात सनकादिकों ने भी मान ली। जिनके शब्दों रो सब ब्रह्मस्वरूप होकर रहता है उन पूज्य सद्गुरु के चरणों का वर्णन मैं किन शब्दों में करूँ? परब्रह्म जिसे प्राप्त होता है वही सद्गुरु की पूज्यता जानता है? इतरों की समझ में वह बात नहीं आती। शब्दों से बताने पर वह केवल अनुमान मात्र होता है। अस्तु! वे सब सनकादिक मेरी यथासांग पूजा कर बार-बार मेरा स्तवन करने लगे और नम्रतापूर्वक मेरे चरणों पर गिर गये। मेरे भजन में वे सब एकदिल से तल्लीन हो गये मेरी भक्ति से वे अत्यन्त भक्तियुक्त हो गये तो मुझ निरन्तर पूर्णकाम को भी उनकी पूजा से सन्तोष प्राप्त हुआ। फिर उन्होंने प्रदक्षिणा की और मेरे चरणों को नमस्कार किया। मेरे भाषण के गहन अर्थ से उन ब्राह्मणों को अत्यन्त सन्तोष प्राप्त हुआ। ब्रह्मदेव यह सब देख रहे थे और सनकादिक वहीं खड़े थे तभी उनके सामने मैंने निजधाम के लिये प्रस्थान किया। उद्धव! इस प्रकार सनकादिक मेरे शिष्य बन गये हैं इसे ध्यान में रखो। वही अलौकिक इतिहास मैंने तुम्हें संक्षेप में बताया। योगियों में अत्यन्त श्रेष्ठ, भक्तों में अत्यन्त श्रेष्ठ ज्ञाताओं में अत्यन्त अधिकारी पुरुष सनकादिक मेरे सर्वोत्तम शिष्य हैं। 'हंसगीत निरूपण' नाम से प्रसिद्ध जो पुरातन ब्रह्मज्ञान था वह श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर उद्धव को सुनाया। भागवत धर्म का आचरण करते हुए यह पुरातन ब्रह्मकथा एकनाथ को एकादशस्कंध का अवलोकन करते समय साज हाथ लगी। हंस के मुख से निकले वे ज्ञानरत्न जो सनकादिकों को अलंकारों के रूप में प्राप्त हुए उनसे श्रीकृष्ण ने उद्धव का श्रृंगार किया और उनमें से जो बचे उन्हें श्रीगुरु जनार्दन ने मुझे सौंपा। लेकिन यह बात सत्य नहीं है क्योंकि सनकादिक व उद्धव को हुए अनेक दिन व्यतीत हो गये। इसलिये यह व्यर्थ की बकवास है ऐसा शायद आप कहेंगे लेकिन भगवान ने शंखासुर का कृतयुग में संहार किया था किन्तु जो भाग्यवान है उसे आज भी वहाँ दाहिने शंख प्राप्त होते हैं। रामचन्द्रजी ने बहुत पहले अयोध्या में बहुत बड़ा यज्ञ किया था लेकिन उस स्थान पर आज भी यज्ञद्रव्यों का बचा हुआ भाग मिलता है। उसी प्रकार यहाँ भागवत में जनार्दन गुरु की कृपा से सनकादिकों के ज्ञानरत्न से बचे हुए ज्ञान की प्राप्ति मुझे एकादशस्कंध के अर्थ के रूप में प्राप्त हुई। पीछे हो या आगे लेकिन सर्वत्र परब्रह्म ही भरा हुआ है। यही एकादश स्कंध का विचार है। इसी कारण से सनकादिक और उद्धव के ज्ञानरत्न का अवशेष हमें भी प्राप्त हुआ। जब तक आज्ञा प्राप्त न हो तब तक समर्थ जन भी गया में श्राद्ध कर्म नहीं कर सकते हैं लेकिन उसी पद पर यदि कोई मक्खी बैठी हो तो उसका निवारण कोई नहीं कर सकता। उसी प्रकार अनेक प्रकार के शास्त्रों का विचार कर थक जाने पर बड़े-बड़े साधकों को भी जिस ज्ञानशेष की प्राप्ति नहीं होती वह हमें इस एकादशस्कंध से हुई। हंस, कृष्ण और जनार्दन ये नाम भले ही भिन्न हों लेकिन स्वरूप एक है। उसी ने यह बोधरूपी अंजन डाल कर यह प्राचीन निधि दिखा दी। वहाँ मैं एक एकनाथ देखने वाला और वह एक मुझे दिखलाने वाला यह बोध और यह बोधकता भी नहीं रहती। क्योंकि देखने वाला और दिखलाने वाला एक ही है। दर्पण सामने लाने पर उसमें चेहरा दिखाई देता है और दूर हटाने पर अदृश्य हो जाता है। लेकिन वह चेहरा न कहीं आता है न जाता है। वह स्वभावतः जहाँ है वहीं रहता है। देखने वाला यह नहीं कहता कि दर्पण के साथ चेहरा भी चला गया क्योंकि वह जानता है कि चेहरा जहाँ था वहीं है। उसी प्रकार अज्ञान से जो गया वह ज्ञान होने पर वापस आये ऐसा परब्रह्म में नहीं होता। परब्रह्म स्वाभाविक रूप से वैसा ही है। उसी प्रकार देखने वाला और दिखानेवाला ये दोनों चले जाते हैं और वहाँ मेरा जो मूलत्त्व था वही जनार्दन ने मुझे दिखाया। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से सूर्य के ही कारण सूर्य दिखायी देता है, उसी प्रकार मेरे आत्मप्रकाश से मैं ही स्वयं को देखता हूँ। ऐसे स्थान पर नया ज्ञान और नया पुराना ज्ञान कैसा? दीर्घकाल से रखे हुए सुवर्ण को सड़ा हुआ कौन कहेगा? कल का ही सूर्य आज

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उदित हुआ उसे बासी कौन कहेगा? आज का अग्नि यदि शुद्ध है तो क्या कल का अशुद्ध रहा? उसी प्रकार सनकादिकों का ज्ञान मराठी भाषा में लाने के लिये यदि कोई दोष देता है तो वह स्वयं दोषी होगा। सुवर्ण का कुत्ता बनाया जाय तो वह कीमत में कम नहीं होगा उसी प्रकार सनकादिकों का ज्ञान लोक भाषा में लाने से वह हीन नहीं होगा। जैसे गुड़ का करैला बनाने से वह कडुवा नहीं होता उसी प्रकार हंसगीत मराठी में लाने से उसका अर्थ बदल नहीं जाता। मुकुट के सुवर्ण का जो मूल्य रहता है वही मूल्य सुवर्ण के श्वान का भी होता है। ग्राहक दोनों का समान मूल्य देता है। उसी प्रकार जो आत्मानुभवी होंगे वही इस ग्रन्थ का सम्मान करेंगे और जो आत्मानुभवी नहीं होंगे वे इसकी निन्दा करेंगे। हमारे लिये दोनों ही ब्रह्मस्वरूप हैं। आत्मानुभव का यही सच्चा अनुभव जनार्दन ने हमें दिलाया है। एका जनार्दन की शरण जाते ही जिस प्रकार नमक समुद्र में मिलाने पर स्वयं समुद्र रूप हो जाता है, उसी प्रकार एका और जनार्दन एक हो गये यह कौन कहेगा? आँख का देखने का अपना धर्म होता है जो स्वयं उसकी आँखों को मालूम रहता है। आँखों का समर्थ दर्शन, आँख ही स्वयं जानती है। आँखों से दर्पण दिखायी देता है तो आँख को ही आँख दिखायी देती है। उसी प्रकार यह ज्ञान है। जिसे दृष्टि हो वही दृष्य देखे। अपना अकेलापन छोड़कर एकनाथ जनार्दन की शरण में आया यहीं हंसगीत का निरूपण समाप्त हुआ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादश स्कंधे टीकायां
श्रीकृष्ण उद्धव संवादे हंसगीत निरूपण नाम त्रयोदशोध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चौदहवाँ अध्याय

हे स्वामी! सद्गुरु! मेरा तुम्हें प्रणाम! तुम स्वयं ही क्षीरसागर हो। तुम्हारे ज्ञानरूप चन्द्रमा का उदय होने से प्रत्येक जीव प्रसन्न हो उठता है। जिस चन्द्रमा के सितारों ने हृदयाकाश को प्रकाशित कर घनघोर अज्ञानरूपी अन्धकार के ताप दूर किये, जिस चन्द्रमा के चन्द्रकिरण तृषाकांत चकोरों के लिये स्वानंदामृत का स्राव कर उन्हें सहज ही तृप्त करते हैं, अविद्यारूपी अँधेरे में अन्धकाररूपी बन्धनों से जीवों के जो देहरूपी कमल कुम्हलाये रहते हैं वे जिसके किरणरूपी ज्ञान से आनन्द से मुदित होते हैं, जिस चन्द्रमा का दर्शन होने से जीव के अंत:करण में आनन्द होता है और जो अहंकार रूपी चन्द्रकान्त मणियों का तत्काल विलय कर देता है। पूर्णिमा के दिन पुत्र (शिष्य) के पूर्णत्त्व से पूर्ण वृद्धि हुई यह देखकर क्षीरसागर में ज्वार आता है फिर भी उसके गुरूगौरव की मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता। अद्वयानुभव के कारण अंत:करण में आत्मानन्द बढ़ता ही रहता है। सद्गुरुरूप क्षीरसागर अत्यन्त गहरा है। उसकी ओर आदरपूर्वक देखने से उस पर हिलोरें मारने वाली वेदांतरूपी लहरों में शब्दरूपी ज्ञानरत्न दृष्टिगोचर होते हैं। उसमें विश्वासरूपी मंदराचल पर्वत तथा वैराग्यरूपी वासुकी के रूप में मथनी को बाँधने वाली डोर, इनकी सहायता से निजधैर्यरूपी देव-दानव समसमान भाव से क्षीरसागर का मंथन करने के लिये तत्पर रहते हैं। उस मंथन की पहली ही खेप में लय, विक्षेप आदि कालकूट उत्पन्न हुए और विवेकरूपी महादेव ने आत्मदृष्टि से उन्हें अपने ही गले में निगल लिया। फिर अभ्यास की पुनरावृत्ति से सारे कर्मों को विश्राम मिला उस समय श्रीकृष्ण जिसके वश हुआ, वह आत्मशान्ति रूपी लक्ष्मी प्रकट हुई। फिर वहाँ ब्रह्मरस और भ्रमरस इन दोनों से भरा हुआ अमृत कलश जो देव-दानवों को समान रूप से प्रिय है, वह धीरे-धीरे उस मंथन से बाहर निकला। उसी का बँटवारा करने के लिये श्रीहरि ने मोहिनी रूप लिया और अहंकाररूपी राहु का शिरच्छेद कर देवताओं को तृप्त किया। वह वृत्तिरूप मोहिनी तत्काल रूप बदल कर नारायण स्वरूप हो गयी। पहले की देहबुद्धि उसमें नहीं रही। क्षीरसागर का वह नारायण आज भी स्वयं समाधिरूप शेषशयन कर सुखपूर्वक अत्यन्त संतुष्ट होकर अभी तक लेटा हुआ है। इस प्रकार सद्गुरु ज्ञानरूपी समुद्र है। नारायण आदि अनेक अवतार सचमुच जिसके कारण उत्पन्न होते हैं, ऐसे उस सद्गुरु का अंत वेदों की भी समझ में नहीं आता। जिसके सुन्दर ज्ञानरूपी रत्न शंकर और विष्णु के गले में तथा मुकुट पर शोभा बढ़ाते हैं और जिसका वेदपाठों ने तथा महान कवियों ने वर्णन किया है ऐसे अत्यन्त गम्भीर सुखसागर! जनार्दन! अनंत, रूप धारण करने वाले तथा जिसका अन्त मालूम नहीं हो पाता ऐसे देवता। तुम्हारे परे की वस्तु को कौन जानता है? विचार की दृष्टि से भी वह नहीं दिखायी देता, वेद भी उसके स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकते तो मेरी मराठी उसका वर्णन करने में किस प्रकार समर्थ होगी? देखो! सार्वभौम राजा के मस्तक पर कोई नहीं बैठ सकता। लेकिन मक्खी को वहाँ बैठने में कोई कठिनाई नहीं होती। अथवा रानी के स्तन कौन देख सकता है? लेकिन उसका बालक बड़े प्रेम से स्तनपान करता है। उसी प्रकार मेरी यह मराठी भाषा भी जनार्दन कृपा के सामर्थ्य से आत्मज्ञान के गले लग कर ब्रह्म की भी बातें कर रही है। अस्तु आकाश घट के अन्दर और बाहर व्याप्त रहता है उसी प्रकार शब्दातीत परब्रह्म शब्दों में ही रहता है। इसलिये प्रस्तुत प्रसंग में व्यर्थ के शब्द घुसाने के लिये स्थान ही नहीं बचा है। बालक बोलना नहीं जानता इसलिये उसका पिता स्वयं बातें कर उससे बातें कराता रहता है। इस बात को भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसी प्रकार समझना चाहिये क्योंकि मेरी वाणी को स्वर देने वाला जनार्दन है। उस जनार्दन की कृपादृष्टि से भागवत देशी भाषा में सुना रहा हूँ। सहस्त्रों ग्रन्थों का अध्ययन करने के उपरान्त भी उनमें भागवत का ज्ञान दृष्टिगोचर नहीं होता। वही यह श्रीमद्भागवत है। उसमें का 'हंसगीत' नाम का जो ज्ञान है उसे जनार्दन की कृपा से देशी भाषा में सुनाया। एकनिष्ठा से मेरी भक्ति करने से ज्ञानरूप खड्ग की प्राप्ति होती है और उसी शस्त्र से संसार की आसक्ति को छेद कर मेरे भक्तों को सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। मेरे भजन से ही मोक्ष प्राप्त होता है यह बात उद्धव ने भगवान से सुन रखी थी। उसने मन में विचार किया कि भगवान भजन को ही मोक्ष का साधन बताते हैं लेकिन ज्ञानी लोग मोक्ष प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न साधन बताते हैं। तो इन दोनों प्रकारों में मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन क्या है ? वही शंकायुक्त प्रश्न उद्धव ने स्वयं ही श्रीकृष्ण से पूछा।

उद्धव उवाच

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता॥ १॥

उद्धव ने कहा, हे श्रीकृष्ण! मोक्षमार्ग के कितने साधन हैं ? वेद वाले तो अनेक साधन बताते हैं। क्या वे साधन समान योग्यता के हैं कि उसमें एक श्रेष्ठ और एक गौण है ? आपने तो मुक्ति के लिये भक्ति का ही कारण बताया था।

भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः।
निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः॥ २॥

भक्त अन्य साधनों की आशा ही नहीं करते। सारे संगों का त्याग करते हैं क्योंकि जिसके योग से तत्काल आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है ऐसी भक्ति ही मोक्षमार्ग में प्रमुख है। मेरे स्वरूप पर ध्यान रखकर फल की आशा छोड़ मेरा भजन करना यही मोक्ष का मुख्य साधन है यह बात भगवान ने स्वयं ही कही थी। भगवान ने तो भक्ति को ही मुख्य साधन बताया था अतः अन्य साधनों से आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है या नहीं यह ईश्वर स्वयं ही बतायें। इसी प्रश्न का विचार कर भगवान श्रीकृष्ण विवरण के साथ कहने लगे। उन्होंने कहा—ज्ञाता का स्वभाव त्रिगुणात्मक होने के कारण वह अपनी रुचि के अनुसार साधन स्वीकार करता है। जिस गुण में उसकी रुचि होती है उसी साधन को वह ठीक मानता है। ज्ञान का अभिमान करने वाले इस प्रकार अनेक साधनों की बातें करते रहते हैं। उद्धव! यही परम्परा अनेक दिनों से चली आने के कारण अब मलिन हो गयी है। उसके फल क्षुद्र होते हैं फिर भी उसी ज्ञान को वे सच्चा मानते हैं। उसका स्पष्ट रूप से श्रवण करो। चौदहवें अध्याय का प्रतिपादन करते समय श्रीकृष्ण विस्तारपूर्वक इस विषय का निरूपण करेंगे कि ध्यानयोगस्थिति तथा समाधि से युक्त जो भक्ति है वही सभी साधनों में प्रमुख है। अन्य साधनों में फल की इच्छा रहती है इसलिये वे तुच्छ हैं। इसे श्रीकृष्ण सात श्लोकों में, अपनी वाणी में सुना रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयाऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥ ३॥

मेरी वेदवाणी स्पष्ट है। ज्ञानरूपी प्रकाश से वह अत्यन्त उज्ज्वल हो गयी है। प्रलयकाल में जब सत्यलोक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जल कर भस्म हो गया तभी वह नष्ट हो गयी। उस प्रलय में जब ब्रह्मदेव का नाश हो गया तब सच्ची वेदवाणी सुनाने वाला कोई शेष न रहा। वह पूरी की पूरी डूब गयी। कल्प के प्रारम्भ में वही वेदवाणी मैंने ब्रह्मदेव के सामने प्रकट की। उसमें मैंने मेरी भक्ति का वर्णन यथार्थ रीति से किया है। वाणी का अनुसंधान जो मेरे स्वरूप में ही सन्तोष प्राप्त करता है ऐसा वह आत्मज्ञान मैंने ब्रह्मदेव को सुनाया।

तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः॥ ४॥

उस समस्त वेद का विचार कर ब्रह्मदेव ने पहले मनु को उपदेश दिया, फिर उस मनु से ही सात ऋषियों ने सम्पूर्ण वेद प्राप्त किया। ब्रह्मदेव ने दक्षादि प्रजापतियों को भी उसी रीति से उपदेश किया। फिर उनसे और कितने लोगों को वह ज्ञान सम्पत्ति प्राप्त हुई उनकी संख्या बताना सम्भव नहीं है। सप्तऋषियों के नाम पूछोगे तो वे हैं—भृगु, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह और ऋतु ये सच्चे ऋषि हैं।

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः॥ ५॥

किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षःकिम्पुरुषादयः।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः॥ ६॥

उन अत्यन्त महान ऋषीश्वरों ने पुत्र, पौत्र, नर, किन्नर, देव, दानव, सिद्ध, विद्याधर, चारण, गुह्यक, गन्धर्व, राक्षस, किंदेव और किंपुरुष आदि अनेकों को उपदेश किया। इतना ही नहीं, अपितु नाग-सर्पादि-तामस योनियों में भी वह उपदेश परम्परा से प्राप्त हुआ। मुँह के आकार से जो मनुष्य की तरह दिखायी देते हैं किन्तु बाकी शरीर पशु जैसा होता है ऐसे जो बड़े-बड़े भालू होते हैं उन्हें किंनर कहते हैं और मुँह पुरुष जैसा लेकिन शेष शरीर चौपायों का ऐसे जो राम के सेवक वे हैं वानर, उन्हें किंपुरुष कहते हैं। पसीना, दुर्गन्ध तथा मलरहित जिनके बड़े-बड़े भव्य शरीर दिखाई देते हैं और जो मनुष्य तथा देवताओं की तरह दिखायी देते हैं, उन्हें 'किंदेव' कहते हैं। ऐसे नाना प्रकार के व्यक्ति रज, तम अथवा सत्त्वप्रकृति के अनुसार उपदेश प्राप्त होने के कारण अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ज्ञान देते रहते हैं।

याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि॥ ७॥

जिस गुण की प्रकृति होती है, उसी गुण का स्वभाव होता है। जैसा गुण होता है, वैसी ही वासना होती है। समस्त प्राणिमात्र में जो कम या अधिक भेदभाव उत्पन्न हुआ है वह उस वासना के ही कारण हुआ है। देवत्व, मानवता अथवा कीटक योनि ये सब वासना के ही प्रकार हैं। वह वासना ही अपनी रुचि के अनुसार प्राणियों में अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न करती है। जिनकी जैसी प्रकृति होती है, उसके अनुसार वे वेद का वैसा ही अर्थ ग्रहण करते हैं। शिष्यों को वे उसी परम्परा से उपदेश देते हैं। वेद का विचित्र अर्थ लगाना और उसे ही सच मानकर चलना, गलत साथ करना, गलत साधन रखना तथा विचित्र उपदेश करना यह सब प्रकृति के गुणों का मतभेद है।

एवं प्रकृतिवैचित्र्याद् भिद्यन्ते मतयोनृणाम्।
पारम्पर्येण केषांञ्चि पाखण्डमतयोऽपरे॥ ८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार हमारी प्रकृति अनेक प्रकार के मतों से पुष्ट हुई है यह ध्यान में रखो। वह मतवाद पूर्णतय: ठीक है यह बात जब मन में धँस जाती है तो वही चित्त में घर कर जाती है। स्वप्न मिथ्या रहता है फिर भी सोये हुए मनुष्य को वही सच मालूम होता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न मतों की बातों को वे सच ही मान लेते हैं। यह वेदवेत्ताओं की बात हुई। किन्तु जिनका वेदों पर अधिकार नहीं है उन्हें उपदेश परम्परा से चले आ रहे भिन्न-भिन्न मत ही सच मालूम होते हैं। किसी की विचारशैली वेदों के विरुद्ध रहती है। वे अपने मत के अनुसार पाखण्ड मत की ही स्थापना करते हैं और वही शिष्यों के मन में भर देते हैं।

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ।
श्रयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि॥ ९॥

उद्धव! विभिन्न प्रकार की वासनाएँ गुणों के अनुसार बनी रहती हैं। इससे पुरुषों की प्रकृति भी भिन्न-भिन्न हो जाती है। लेकिन इन सबको उत्पन्न करने के पीछे मेरी माया ही है यह निश्चित रूप से जान लो। मेरी ही माया से श्रेष्ठ लोग भी मोहित हुए हैं, लोगों का विवेक नष्ट हुआ है और उन्हें मोक्षमार्ग का विस्मरण होकर वे विषय लंपटता की ओर उन्मुख हुए हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धव! सुनो। इस प्रकार लोगों की निष्ठा भ्रष्ट हो जाने के कारण मोक्ष का द्वार चूक जाता है और वे गलत साधकों के प्रयासों की बात करते रहते हैं। वे अनेक प्रकार के साधनों की चतुराई जो अपने-अपने मतवाद का प्रतिपादन करती हैं उनका उल्लेख भी श्रीकृष्ण डेढ़ श्लोकों में करते हैं।

धर्ममेके यशश्चान्ये कार्म सत्यं दमं शमम्।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम्।
केचिद्यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान्॥ १०॥

अब इस सम्बन्ध में मीमांसकों का मत है कि काम्यकर्म को निषिद्ध मान कर उसे हटा कर शेष कर्म मुख्य साधन हैं जिनसे मोक्ष प्राप्त होता है। काव्य, नाटक तथा अलंकार शास्त्र के रचयिता कवित्त्व को ही प्रमुख साधन मानते हैं। विभिन्न प्रकार की कविताएँ, पद्य और उनकी रचना पद्धति से प्राप्त कीर्ति से ही मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा उनका मानना है। महान कवियों का मत है कि हमारी काव्यकीर्ति के कारण ही हमें सहज ही मोक्ष प्राप्त होगा। श्रेष्ठ कवियों में इस प्रकार का पागलपन होता है। वात्स्यायन आदि कामशास्त्रियों का अभिप्राय इसके विपरीत दिखायी देता है। काम के सुखोपभोग से मोक्ष प्राप्त होगा ऐसा उनका मानना है, इसलिये वे सदा कामसेवन करने के लिये कहते हैं। सांख्य योग के मतावलम्बियों का कहना है कि सत्य, शम, दम आदि जो सम्पत्ति है, वही मोक्ष का साधन है। उनका यही निश्चय है। नीतिशास्त्रियों के अनुसार सार्वभौम राज्य प्राप्त हो जाय तो वही मोक्ष है। उसमें साम, दान आदि साधन हैं। किसी का मत है कि चुटिया और यज्ञोपवीत का त्याग करने मात्र से ही मोक्ष का मार्ग प्राप्त हो जाता है। वे उसी मार्ग को अत्यन्त उत्तम समझते हैं। जो देहात्मवादी हैं उनका योगमार्ग यही है कि इच्छा के अनुसार मिलने वाले भोगों को भोगना चाहिये। कैसा स्वर्ग और कैसा नर्क! मरने के बाद कौन जन्म लेता है? किसी के लिये अश्वमेध, राजसूय यज्ञ यही मोक्षमार्ग होता है। मूर्ति की यथाविधि उपासना करना, उसकी विधिपूर्वक पूजा करना इसी को कुछ लोग मोक्षमार्ग का साधन समझते हैं। कुछ लोगों का मत है अनेक प्रकार के कष्ट सह कर शरीर का शोषण कर तप करना, यही मोक्ष का सबसे सरल मार्ग है। कुछ लोग कहते हैं कि दान करना यही मोक्ष प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है। याज्ञिकों के अनुसार व्रतों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का पालन करके रहना यही मोक्ष का साधन है। कुछ लोगों की विचार शैली के अनुसार व्रत, नियम आदि का अवश्य पालन करना चाहिये। इस प्रकार अपने-अपने मतों के अनुसार प्रयास कर लोग अनेक प्रकार के साधनों का महत्त्व प्रतिपादित करते रहते हैं। लेकिन इन सभी प्रकार के साधनों का विचार करने पर ज्ञात होता है कि ये सब नाशवान हैं। यही बात कृपामूर्ति श्रीकृष्ण उद्धव को बता रहे हैं।

आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः॥ ११॥

फल की आशा और देह का अभिमान त्याग कर जो अपने साधन मुझे अर्पण नहीं करते, उनके साधनों का फल दुःखस्वरूप होता है यह स्मरण रखो। वे बार-बार जन्म-मरण देते हैं। उन साधनों को जो साध्य करते हैं वे सब नाशवान और क्षणिक होते हैं। उस लोक का जो सुख होता है वह शक्कर में मिले हुए विष की तरह होता है। उसमें मिठास रहती है किन्तु उसमें मृत्यु अटल रहती है। उसके अनुसार उस लोक का आनन्द भी क्षुद्र और शोक का कारण होता है। जो अपने ही कर्म से मलिन हो गये उन्हें सुख किस बात का होगा? उसमें निरन्तर बढ़ता जाने वालो दुःख ही रहता है और अद्यतम नरक की प्राप्ति ही उसका अन्तिम परिणाम होता है। जो मन भोगों के प्रति आसक्त होता है उसे सदा विषयों की ही चिन्ता लगी रहती है। उन विषयों की आसक्ति के कारण ही तमोगुण की वृद्धि होकर वह अधःपतन की ओर जाता है। लेकिन इन्हीं साधनों से जो प्रेमपूर्वक मेरी भक्ति करेगा, उस भक्ति का स्वरूप श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं।

मय्यपितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतःस्याद् विषयात्मनाम्॥ १२॥

भक्ति से प्राप्त होने वाले आत्मसुख का महत्त्व बताने के लिये ही भगवान ने उद्धव को सम्बोधित करते हुए कहा, "उद्धव! भक्तिसुख का पात्र होने वाले भाग्यवान सचमुच तुम ही हो। इसे भक्तिसुख का भाग्य प्राप्त हुआ है इसलिये इसे 'सभ्य' कहना उचित है ऐसा भगवान के मन में आया और 'हे सभ्या!' जैसा सम्मानसूचक सम्बोधन देकर भगवान भक्ति सुख का वर्णन करने लगे। मेरे स्वरूप को प्राप्त करने के लिये इहलोक की भोगासक्ति से वैसे ही दूर करना होगा जिस प्रकार रजस्वला स्त्री पति को स्पर्श नहीं करती और उससे दूर रहती है। मेरा ही अनुसंधान साध्य कर लेने से उसकी वासना परलोक का स्पर्श ही नहीं करती। वह ब्रह्मलोक का भी धिःकार करती है फिर औरों की क्या बात है? ऐसी निरपेक्षता से मेरा भजन करते-करते जब अंतःकरण में प्रेम उत्पन्न होने लगता है तो मैं उनमें अपने आप ही आत्मस्वरूप में प्रकट हो जाता हूँ। वास्तव में यहाँ 'मैं प्रकट होता हूँ' यह कहना भी व्यर्थ है क्योंकि मैं सदा हृदय में ही वास करता रहता हूँ। जब चित्तवृत्ति निर्विकल्प हो जाती है तभी मैं दिखायी देता हूँ। बादल दूर हटते ही उसके पीछे छिपा हुआ सूर्य भी दिखायी देने लगता है उसी प्रकार विषयावस्था दूर होते ही मैं भी प्रकट हो जाता हूँ। उसी प्रकार भक्तों के भावार्थ तथा भक्ति सामर्थ्य से जब मैं प्रकट होता हूँ तो भक्त के मन में विषय की बात ही नहीं आती। विषयावस्था छोड़कर जब चित्त मत्स्वरूप की ओर लग जाता है तो भक्तों को अपने आप ही मत्स्वरूप प्राप्त होता है। लौह का स्पर्श पारस से भले ही एक ओर से ही हो लेकिन पूरा लौह सुवर्ण बन जाता है। उसी प्रकार जब मेरे भक्त मेरे ही ध्यान में लीन हो जाते हैं तो उनका सर्वांग ही ज्ञानमय हो जाता है। उस समय भक्तों को जो सहज सुख प्राप्त होता है उसे नापने का क्या मापदण्ड हो सकता है? जिस आत्मसुख की प्राप्ति के लिये शंकर ने श्मशान में रहना स्वीकार कर लिया वह सुख ब्रह्मदेव को कैसे प्राप्त होगा? इसीलिये उसे मैंने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बताया। भक्त जब मेरे सुख का उपभोग करते हैं तो देहादि जन्म दुःख भूल जाते हैं। वे भूख-प्यास भी भूल जाते हैं। आत्मसुख से वे ओतप्रोत हो जाते हैं। ऐसे आत्मसुख का माधुर्य भला विषय लंपट लोगों को कैसे मिल पाएगा? लाखों रुपया खर्च करने पर भी उन्हें उस सुख की एक कौड़ी प्राप्त नहीं होगी। धन, धान्य, पुत्र, सगे-सम्बन्धी आदि सर्वस्व देने पर भी उस सुख का कण भी उन्हें प्राप्त नहीं होता। इतना ही नहीं बल्कि जब सत्यलोक में रहने वाले लोगों को भी वह सुख नहीं प्राप्त होता तो औरों की क्या कथा है? फिर ब्रह्मदेव को भी वह सुख कैसे मिलेगा? मुझ आत्मा को सुख की प्राप्ति होने से सारे इन्द्रिय सुखस्वरूप हो जाते हैं। उस सुखस्थिति का एक सहस्त्रांश भी स्वर्गादि लोक के लोग नहीं प्राप्त कर सकते। अपने निष्काम, निर्लोभ तथा गर्वहीन भजन करने वाले निर्मत्सरी तथा निरभिमानी भक्तों को मैं अपना पूर्ण सुख देता हूँ इसे ध्यान में रखो। सचमुच देश और काल की सीमा से परे मेरे अगाध आत्मसुख पर मेरे भक्तों का वास रहता है।

अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः॥ १३॥

अब दारिद्रय की बात सुनिये। उसके पास न मठ है न पर्णकुटी (झोपड़ी) है, चारों ओर की गाँठें खुली हैं लेकिन उनके ही पास मेरा आत्मसुख मिलने जाता है। जो अत्यन्त महान दमनशील, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा एक मन मिलाकर ग्यारह का जो निर्दलन करता है वह तत्काल आत्मसुख के सिंहासन पर आसीन होता है। भिन्न-भिन्न प्राणियों में भेदभाव होते हुए भी जिसे उनमें एकरूपता ही दिखायी देती है वह पूर्णरूप से निजसुख के माथे पर क्रीड़ा करता है।जिस प्रकार साँप की केंचुली को लात मार कर उसके मस्तक पर प्रहार करने से वह फन नहीं उठाता उसी प्रकार धन, स्त्री, घर, पुत्र द्वारा छल किये जाने पर भी उसके अंतःकरण में क्रोध, जिसके देह में पूर्णरूप से विलीन हो गये हैं और जिनमें शान्ति पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है उनके चरणों पर मेरा आत्मसुख सदा लोटता रहता है। वह उस सुख का उपभोग भले ही न करे लेकिन वह उसके आगे-पीछे तथा सर्वांग से बिलकुल चिपका रहता है। प्रयत्न करने पर भी वह उससे दूर नहीं होता। वह जिस दिशा की ओर देखता है, वह दिग्मण्डल सुख से भर जाता है। वह जहाँ खड़ा रहता है वहाँ परिपूर्ण महासुख भर जाता है। उसके चरण जहाँ पड़ते हैं वहाँ आत्मसुख की खान ही खुल जाती है। वह विशेष प्रसंग में जिसकी ओर देखता है उधर आत्मानंद रूप से परमानन्द ही बढ़ने लगते हैं। वह संयोग से जिससे मिलता है उसका सुख का दिन शुरू हो जाता है। उसके पैर लगते ही, सुख से सुरम्य आत्मसुख का ही लाभ होता है। वहाँ उसका श्वासोच्छवास चलता है, अथवा आँखों का निमिषोन्मेश का व्यापार चलता है वहीं मेरे आत्मसुख का निवास होता है। वह समस्त सुखों का मण्डप है अथवा वह आत्मसुख का केन्द्र है। वह सर्वांग से सुखस्वरूप ही रहता है। समभावना के सुख से वह अंतर्बाह्य सुखस्वरूप ही रहता है। उसके सुख की परिपूर्णता ही भक्त की सुखसम्पन्नता है। जिसका वर्णन अगले श्लोक में भगवान स्वयं ही यथार्थ रीति से करते हैं।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥ १४॥

मुझमें ही अपना चित्त अर्पित किये हुए जो मेरे भक्त होते हैं वे मेरे सुख से ही हमेशा सुखी रहते हैं। वे सभी प्रकार के अर्थ के प्रति आसक्तिरहित रहते हैं। मेरे प्रति सदैव भक्ति रखना तथा मन में इहलोक-परलोक का लोभ रखना इसका नाम भक्ति नहीं है, उद्धव! वह केवल कामासक्ति है इसे निश्चित रूप से जान लो। सप्तद्वीपों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के साथ समुद्र से घिरी हुई सारी पृथ्वी का साम्राज्य स्वयं ही सामने आ जाय तो मेरे भक्त उस पर थूकते हैं। नरक में पड़े हुए चने सुअर को भले ही अच्छे लगें लेकिन बुद्धिमानों को उसे देखकर घिन लगती है। उसी प्रकार मेरे भक्तों ने सार्वभौम राज्य का भी त्याग किया रहता है। रसातल आदि सभी पातालों में अमृतादिक सभी भोग प्राप्त होने पर भी मेरे भक्त उन पर लात मारते हैं। मुँह में रखे हुए अमृतफल को फेंक कर कोई बुद्धिमान पुरुष घास का गोला नहीं खायेगा। उसी प्रकार मेरा सौख्यलाभ छोड़कर मेरे भक्त रसातलादिक सुख भोगों की ओर नहीं जाते। जहाँ देवतागण, महान पुरुष तथा नाग भी वन्दन करते हैं वह श्रेष्ठ अमरावती प्राप्त होने के बाद मेरे भक्त उसका उसी प्रकार त्याग करते हैं जिस प्रकार लोग कस्तूरी मिलने पर मिट्टी फेंक देते हैं अथवा मेरी भक्ति से सुखसम्पन्न होने वाले मेरे भक्तगण इन्द्रादिक देवताओं को वंद्य ब्रह्मलोक को भी तुच्छ मानते हैं। मट्ठा और दूध आँखों को सफेद ही दिखायी देता है लेकिन ज्ञाता दूध ही होठों से लगाते हैं और मट्ठा रख देते हैं। उसी प्रकार जो मूर्ख है वही सत्यलोक और भक्ति के सुख को एक समान कहेंगे। लेकिन मेरे जो भक्त भक्ति से शुद्ध रहते हैं वे सत्यलोक का धि:कार ही करते हैं अथवा इन्द्र पद, ब्रह्मलोक, पाताललोक के ऐष आराम, अमृतपान ये सब एक साथ प्राप्त कराने के लिये सारी सिद्धियाँ तैयार हो जाएँ या जिन महासिद्धियों को प्राप्त करने में योगी सारी विधियाँ करके थक जाते हैं वे भी यदि सामने खड़ी हो जाएँ तो भी सद्बुद्धिवाले भक्त उनका स्पर्श नहीं करते। उद्धव! मेरे भक्त उन अणिमादिक सिद्धियों पर लात मार कर मेरे भक्तिमार्ग पर लग गये हैं। इन सिद्धियों की कथा का क्या वर्णन करें? किन्तु सलोकता, निकटता अथवा मेरा स्वरूप देने वाली सायुज्यता भी यदि उन्हें दी जाय तो भी मेरे भक्त सलोकतादि मुक्ति कभी ग्रहण नहीं करते। जिसके आगे काल की सत्ता भी नहीं चलती, जिसमें जन्म-मरण के फेरे नहीं होते, वह सायुज्यता मुक्ति भी मेरे भक्त स्वीकार नहीं करते। पहले अलगाव स्वीकारे और फिर सायुज्यमुक्ति से एक हो जायें यही बात असंगत है। इसलिये मेरे भक्त सायुज्य मुक्ति कभी स्वीकार नहीं करते। भक्ति के सुख से ही उनकी वृत्ति प्रसन्न रहती है इसलिये उन्हें मेरी भक्ति ही अच्छी लगती है। चारों मुक्तियाँ चरणों पर गिर पड़े, फिर भी मेरे भक्त उन्हें स्वीकार नहीं करते। लोकों में नहीं समाते। मेरे सिवा चारों मुक्तियों से जो सुख प्राप्त होता है उसे मेरे भक्त कभी ग्रहण नहीं करते क्योंकि वे मेरी अभेद भक्ति से सराबोर रहते हैं। मेरे सिवा जो भी कोई सुख रहता है उसे वे तुच्छ समझ कर छोड़ देते हैं। मेरे भक्तों को मेरे भजन में ही अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। अब शायद तुम यह सोचोगे कि भक्त निरे पागल हैं, उन्हें तुम्हारे भजनों में ही आनन्द प्राप्त होता है। परन्तु तुम्हें उनके प्रति चाह या गहरी प्रीति नहीं होगी। किलनी को भैंस अच्छी लगती है लेकिन भैंस किलनी को नहीं चाहती, उसी प्रकार भक्तों को तुमसे प्रेम हो लेकिन तुम्हें उनसे प्रेम न हो। भज्य, भजन और भजनेवाला यह त्रिकुट ही मूलत: अविद्या से उत्पन्न है अर्थात् मिथ्या है अत: ऐसे अविद्यायुक्त भजनमार्ग में तुम्हें रुचि न हो। जिस प्रकार स्वप्न मिले निमंत्रण पर कोई जागृत होने पर भोजन करने नहीं जाता उसी प्रकार अविद्यायुक्त मिथ्या भजन से तुम प्रेम करो यह संभव नहीं है। इस शंका का सारांश जानकर भगवान कहते हैं कि यदि भजन में भक्त की भक्ति शुद्ध हो तो वहाँ मुझे भी अत्यन्त प्रेम रहता है। मुझसे जो जैसा व्यवहार करता है, उससे मैं भी वैसा ही व्यवहार करता हूँ। भक्त को मेरे प्रति अनन्य भक्ति रहती है इसलिये मैं भी उस पर अनन्य भक्ति रखता हूँ।

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीनैवात्मा च यथा भवान्॥ १५॥

मेरे भक्तों का मुझ पर कितना प्रेम है यह मैं श्रीकृष्ण ही जानता हूँ। उस प्रीति की उपमा देने के लिये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

त्रिभुवन में कोई वस्तु नहीं है। मेरी भक्ति से जो मुझसे अनन्य हो जाता है, तभी उसका अज्ञान समाप्त हो जाता है। ऐसे भक्तों की मुझसे जो प्रीति होती है वह कितनी है यह कैसे बताऊँ? ब्रह्मदेव तो मेरा पुत्र ही है। उसके सारे लाड़-प्यार मैं करता हूँ। लेकिन भक्तों की वैसी प्रबल प्रेमलहर वहाँ नहीं उठती। मैंने ब्रह्मदेव को कर्मयोग दिया और भक्तों को निष्कर्मता दी। इसीलिये ब्रह्मदेव की प्रार्थना पर भी मैं वहाँ नहीं गया और ग्वालों के घर का भात खाया। ब्रह्मदेव को नीचा दिखा कर मैं तो बछड़ा और ग्वाल बना। सारांश, मेरे भक्तों जैसी प्रीति मुझे ब्रह्मदेव के प्रति भी नहीं है। ब्रह्मदेव की बात तो है ही, बलराम तो मेरा बड़ा भाई है लेकिन भक्तों जैसी प्रीति सचमुच उससे भी नहीं है। कौरवों से जा मिले बलराम को नीचा दिखा कर मेरे भक्त पाण्डवों का मैंने संरक्षण किया। जब भीष्म ने प्रतिज्ञा की तो समरभूमि में मैंने ही पीछे हट कर भक्तशिरोमणि धनुर्धारी अर्जुन को तुम्हारे सामने बचाया। लक्ष्मी मेरी पटरानी है लेकिन उसे मैंने अपने चरणों के पास सेवा करने बिठाया और भक्तों में अग्रगण्य गोपियों और ग्वालिनों को कन्धे पर बिठाया। जो लक्ष्मी का पूर्णरूप से तिरस्कार करते हैं वही मेरे लिये प्रीति से पूज्य हैं। जो मुझसे लक्ष्मी की माँग करते हैं उन्हें न लक्ष्मी ही मिलती है न लक्ष्मीपति ही। सचमुच लक्ष्मी की उपेक्षा करने वाले भक्त ही मुझे अच्छे लगते हैं। शंकर मेरा प्रिय है। लेकिन उससे भी अधिक प्रीति मुझे ऐसे भक्तों से होती है। जिस महादेव के गुण से मुझे भी अपने शरीर पर साँवला रंग धारण करना पड़ा और जिस महादेव के कहने से मुझे दूसरी बार मोहिनी का रूप धारण करना पड़ा उस मोहिनी के दर्शन में ही मैंने शंकर को तत्काल मोहित किया और रुक्मांगद को आधे क्षण में ही उस मोहिनी से बचाया। इस प्रकार मेरे भक्तों की अपेक्षा शंकर भी मुझे अधिक प्रिय नहीं है। त्रिभुवन में भक्तों के सिवा मुझे कुछ भी प्रिय नहीं है। वेदशास्त्रों में मेरी अत्यन्त पवित्र चतुर्भुज मूर्ति का वर्णन है। लेकिन वही मैं अपने हृदय पर मेरे भक्त के पैरों के चिह्न (भृगुपदचिह्न) धारण करता हूँ। मुझे अपने देह से भी प्रीति नहीं है, इसीलिये मैं बड़े आनन्द से ग्वाला बना और जंगल पर्वतों में गायें चराता रहा। इतना ही नहीं बल्कि भक्तों की घोड़ियों को भी नहलाया। मैं स्वेच्छा से परिपूर्ण हूँ फिर भी प्रेमिल भक्तों के लिये सदा सकाम रहता हूँ। प्रेमिल भक्तों की परम भक्ति देखते ही मैं आत्माराम वहाँ कूद पड़ता हूँ। प्रेमिल भक्त को देखते ही मैं उसे अपने साथ ले आता हूँ और अगर ऐसा न हो सके तो मैं उसे परमोत्व सुख अर्पण करता हूँ और अगर वह भक्त मेरे पास न आये तो मैं उसका चाकर बनकर रहता हूँ। बड़प्पन की मानमर्यादा छोड़ मैं अपने भक्तों की जूठन तक उठाता हूँ। भक्त कार्य के लिये उसके संकट में मैं अपने प्राण तक न्योछावर कर देता हूँ। हे उद्धव! तुम्हारे जैसे भक्त के लिये मैं अपने देह की भी उपेक्षा करता हूँ। वे भक्त मुझे दिन-रात अच्छे लगते हैं। वे जीवभाव से मेरे लाडले हैं। प्रेम से मेरा भजन करने के कारण वे भक्त मुझे पूज्य बन गये हैं। उन भक्तों के लक्षण श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निवैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥ १६॥

एकनिष्ठा से मेरा भजन करने से मन मेरे ही स्वरूप पर जम जाता है और समस्त वासनायें नष्ट होकर वृत्ति शून्य हो जाती हैं। बिना किसी प्रकार का परिश्रम किये, किसी से याचना किये बिना, अपने आप मिला हुआ धन हाथ से लेने में निरपेक्षता नष्ट होती है। फिर धन देखकर जो झुका उसे लालच ने झुका ही दिया। इसलिये ऐसे धन की भी उपेक्षा कर जो वहाँ से चला गया वही मुझे पूर्णरूप से वन्दनीय है। रास्ते में पैसा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पड़ा हुआ और उसे अपना कहने वाला कोई न हो उसे भी यदि कोई अपने हाथ से उठाता है तो उससे निरिच्छता नष्ट होती है। इच्छाशून्य स्थिति का नाम ही निरपेक्षता है। अब उस समय जो मननशीलता प्राप्त होती है, उसे यथार्थ रूप से बताता हूँ। वेदशास्त्रार्थ ने मेरे जिस स्वरूप को प्रामाणिक माना है वह मेरा अत्यन्त शुद्ध स्वरूप है, यह जान लो। उस स्वरूप के प्रति धारणा रखना इसी को मनन कहते हैं। उस स्वरूप का विचार करते-करते मन ही स्वस्वरूपाकार हो जाता है। अर्थात् बिना धारणा के ही मनन होता है और बिना किये ही स्मरण होता है। इसी का नाम है सच्ची मननशील स्थिति। इसे पूर्णरूप से सच मान लो। अब इसके आगे शान्ति का स्वरूप बताता हूँ। सुनो। काम, क्रोध और लोभ का समूल उन्मूलन हुए बिना ही देह में जो स्थिरता उत्पन्न होती है, वह यहाँ शान्ति नहीं हो सकती। मन में मत्स्य पर लक्ष स्थिर कर बगुला ध्यानस्थ होकर बैठता है लेकिन उसके अंत:करण में लोभ होने के कारण उसे शान्ति कौन कहेगा? देह को देह का भी भान न रहना, काम, क्रोध और लोभ का विलय हो जाना, ऐसी शान्ति किसी भाग्यवान को ही प्राप्त होती है। इसी का नाम है, मुख्य शान्ति। हे उद्धव! मैं भी ऐसी ही शान्ति को मानता हूँ। अब इसके बाद तुम्हें समता का रूप बताता हूँ, सुनो। समस्त प्राणि विविध प्रकार के हैं और उनके नाम भी अलग-अलग हैं। यह सारा संसार ही विचित्र आकारों के कारण विषम बना हुआ है। लेकिन उन सब में परब्रह्म समान रूप से भरा हुआ है। उठा-पटक में श्रम न कर, बिना तोड़-फोड़ किये, मेरे भक्तों को भक्ति के योग से ही सर्वत्र समानता दिखायी देती है। मेरी भक्ति से समानता प्राप्त होते ही प्राणियों में भेद बुद्धि ही नष्ट हो जाती है। वह सहज ही भेदभाव रहित हो जाता है। उसे सहज ही निर्वैरता प्राप्त होती है। जब तक द्वैत का भान रहता है, तभी तक विरोध के लिये कोई कारण होता है। जब सर्वत्र एक ही व्याप्त है तो फिर बैरी कौन होगा? क्या कभी आकाश आकाश से झगड़ा कर सकता है? या चन्द्र चन्द्र से ही लड़े? या वायु वायु को ही रोकेगा? या जीभ ही जीभ के दो टुकड़े करेगी? भेद नष्ट होने का ही अर्थ है बैररहित होना। निरपेक्षता और मेरा मनन, शान्ति और समदृष्टि तथा बैर रहित होना ये पाँच लक्षण मुख्य हैं। इन पाँच लक्षणों में से एक निरपेक्षता भी हाथ लग जाय तो सायुज्यता मुक्ति पैर छूती है और ब्रह्मस्वरूप मन में स्थिर हो जाता है। निरपेक्ष मनुष्य का मन स्थिर रहता है। जो निरपेक्ष है वह बैररहित है इसे समझ लो। जो निरपेक्ष है वही परिपूर्ण शान्त रहता है। इसलिये मैं भी निरपेक्ष की ही सेवा करता हूँ। गिरि-कन्दराओं में गये बिना, विकट साधन सहन किये बिना यदि ये पाँच साधन हाथ में आ जाएँ तो उनसे ही विश्व का उद्धार होगा। ऐसे भक्तों का दर्शन होने से लोग तर जायेंगे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। उनका केवल नामस्मरण करने से ही जड़ जीवों का उद्धार होगा। ये पाँच लक्षण प्राप्त होने पर मेरे भक्तों को मुझसे भी अधिक पवित्रता प्राप्त होती है। मैं भी उनकी चरणधूलि का वन्दन करता हूँ। समुद्र का पानी जब मेघ बनता है तभी उसमें माधुर्य आता है और वह सारे संसार को शीतल करता है और अकाल का संकट दूर करता है। वही जल यदि समुद्र में रह जाय तो उसका कोई उपयोग नहीं होता। उसी प्रकार मेरे भक्तों को मुझसे भी अधिक पवित्रता प्राप्त होती है। यदि केले का पेड़ खाने लगे तो उसमें कोई स्वाद नहीं होता लेकिन उसके केले अत्यन्त सुस्वादु होते हैं। उसी प्रकार मुझसे भी अधिक मेरे भक्तों में पवित्रता बढ़ जाती है। मुझमें जो पवित्रता आयी है वह मेरे भक्तों के कारण ही है। इसीलिये मैं अपने भक्तों के पीछे-पीछे उनके चरणों की धूल का वन्दन करने के लिये दौड़ता रहता हूँ। मेरे चरणों का तीर्थ साक्षात शंकर भी अपने मस्तक पर धारण करते हैं। सारांश मेरे भक्तों का जो सुख है वह सुख की दृष्टि से अलौकिक है। वह सुख और कोई नहीं जानता और उसका वर्णन करने में वाणी भी असमर्थ है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निष्किंचना मय्यनुरक्तचेतसः शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत् तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥ १७॥

जिनके पास मेरे सिवा फूटी कौड़ी भी नहीं है, वे मेरे सिवा इस संसार में किसी और को देखते ही नहीं हैं। इस प्रकार मेरा भजन करने से जाति, कुल और देह का अभिमान सहज ही नष्ट हो जाता है। इसी का नाम है 'अकिंचन' और मेरे स्वरूप में मन तल्लीन रहता है इसलिये वहाँ आत्मशांति भी पूर्ण रूप से वास करती है। ऐसी आत्मशांति में जब भक्ति परिणत हो जाती है समस्त प्राणिमात्र में उसे मेरे सिवा दूसरा स्वरूप दिखायी ही नहीं देता। जिधर-जिधर भी जीव देखता है वहाँ वह स्वयं को मद्रूप हुआ देखता है। उस पूर्व परिचित आनन्द से वह स्वाभाविक रूप से प्रेम करने लगता है। इस मद्रूपस्थिति से जीव मात्र पर अनन्य प्रीति होती है। इस प्रकार मेरी ही भावना से मेरी भक्ति करने का नाम है 'महंत स्थिति'। इस प्रकार सर्वत्र मेरी भावना रखने वाला जब मेरा भक्त हो जाता है तो उसमें होने वाले सभी कामादिक दोषों का लोप हो जाता है। सूर्य जब पूर्व दिशा में आता है तो सभी नक्षत्र समुदाय लुप्त हो जाता है उसी प्रकार भक्ति के उदयकाल में कामादिकों की होली जलती है। काम की निवृत्ति होने पर सहज ही निर्विषय स्थिति प्राप्त होती है और तब मेरे सुख का सुखलाभ होकर वे उस सुख में निमग्न रहते हैं। देश, काल अथवा वेदों को भी जिस सुख की थाह नहीं लगती, उस सुख के सुखदायी वैभव का मेरे भक्त सदा उपभोग करते हैं। जिस सुख का लाभ होने से चित्त की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, उस सुख से सारे अवयव आनन्दमय हो जाते हैं। मेरे भक्तों को सुख की इतनी अधिक प्राप्ति होती है। मोक्ष सुख में भी इस सुख का माधुर्य नहीं है। सचमुच हरिभक्त धन्य हैं। ऐसे सुख के लिये साधक लोग जी जान से प्रयत्नशील रहते हैं। तपादि साधनों के चक्कर में शरीर को यातना देते हैं। विषयों पर अंकुश लगाते हैं। कोई योगयाग करते हैं, कोई शास्त्रों का अभ्यास करते हैं, कोई सब कुछ त्याग कर देते हैं, कोई घर और पत्नी का संग छोड़ देते हैं, कोई फलों का आहार करते हैं तो कोई निराहार रहते हैं, कोई नग्न स्थिति में रहते हैं, कोई ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं, कोई गिरिकन्दराओं में रहते हैं, कोई पर्वत की चोटी पर जाकर बैठते हैं, कोई पर्वत की गुफा में बैठते हैं। कुछ लोग जटाएँ बढ़ाते हैं तो कोई जटाओं में गाँठ बाँधकर उनका जूड़ा बनाते हैं। कोई अपने नाखून बढ़ाते हैं, कोई हठयोग का साधन करते हैं तो कोई उन्मत्त पिशाच की तरह स्वैराचार करते हैं। कुछ लाल रंग के कपड़े पहन कर खुले सिर रहते हैं तो कोई शरीर पर चिथड़े पहनते हैं। कोई तीर्थयात्रा कर शरीर को कृश बनाते हैं तो कोई मौन धारण कर गूँगे बने रहते हैं। कुछ लोग शरीर में भभूत लगाते हैं तो कोई लगातार बक्‌बक् करते रहते हैं। किसी को पानी का ही पागलपन रहता है। कुछ दर्भ तथा मृत्तिका में ही लीन रहते हैं। ऐसी अनेक पद्धतियाँ हैं जिनमें साधक कितने जर्जर होते हैं इसकी कोई गिनती ही नहीं है। लेकिन सचमुच मेरे भजन का लाभ इनमें से किसी को भी नहीं होता। उस सुख के दर्शन उन्हें स्वप्न में भी नहीं होते इतने वे उस सुख से वंचित हो जाते हैं। चन्द्रमा के किरणों से निकलने वाला अमृत जिस प्रकार कौओं को दुर्लभ रहता है, उसी प्रकार मेरा सच्चा आत्मसुख अभक्तों को सचमुच प्राप्त नहीं होता। गोथन में लगी किलनी को रक्त ही अच्छा लगता है। बेचारा नजदीक के ही दुग्ध का सेवन नहीं कर सकता। उसी प्रकार मेरी भक्ति छोड़कर अनेक प्रकार के साधनों से जो व्यर्थ ही कष्ट भोगते हैं, उन्हें हे उद्धव! मेरे आत्मसुख की प्राप्ति नहीं होती। जिन्होंने मेरे भजन की प्रीति से भक्ति की पौध को सींचा उन्हें ही सचमुच मेरे आत्मसुख की प्राप्ति हुई। मेरे उस आत्मसुख में बासीपन की बात ही नहीं है। कल्पांत में भी कोई उससे नहीं ऊबेगा और वहाँ इन्द्रियों की कोई बाधा भी नहीं है। देखो! विषयों का सुख इन्द्रियों के अधीन होता है। किन्तु पवित्र भक्तिसुख किसी के अधीन नहीं होता और जो भाग्यवान है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उन्हीं को वह प्राप्त होता है। देखो! जिस सुख का उपभोग लेते समय देही भी विदेही हो जाता है, वह सुख मेरे भक्तों में प्रकट होते ही वह कभी कम नहीं होता। इस प्रकार के ये उत्तम भक्त जब सुखी हो जाते हैं तो इसमें आश्चर्य कैसा? लेकिन जो केवल विषयी थे, उन्हें भी मेरे भजन से सुख की प्राप्ति हुई। सौभाग्य से सत्संग प्राप्त हुआ हो और मन में आस्तिक बुद्धि उत्पन्न होकर मेरे प्रति अनन्यभाव उत्पन्न हुआ तो मेरी थोड़ी-सी भक्ति से भी विषयों की निवृत्ति होती है।

बाध्यानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥ १८॥

मेरे प्रति एकनिष्ठ प्रेम रखने वाले तथा प्रेमयुक्त भजन करने वालों को विषयों की बाधा सतायेगी, यह विचित्र बात क्या सम्भव है? प्रेम से मेरी भक्ति करने पर विषय वासनायें जल जाती हैं। वहाँ विषयों के प्रति रुचि जगेगी इसे कौन स्वीकार करेगा? दर्पण को चूर्ण से साफ करने पर वह निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार भक्ति के योग से विषय धुल जाते हैं। अतः ऐसे स्थान पर विषय की आसक्ति बढ़ेगी यह बात ही बचकानी और क्षुद्र है। जो पूर्णतयः विषयासक्त रहता है तथा प्रपंचयुक्त होकर संसार में मग्न रहता है वह भी अगर प्रसंगवश भक्त हो गया तो विरक्त होता है। उसके बारे में भी सुनो। मन को भक्ति अच्छी लगे और विषयों की इच्छा भी नष्ट नहीं हुई है ऐसे संकट में फँस जाने पर मेरी भक्ति का ही आश्रय करना चाहिये। विषयासक्ति को गौण समझना चाहिये। उसे विषयासक्ति से भी विरक्ति हो सकती है। उसका उपाय बताता हूँ, सुनो। नमक से पानी मिल जाने पर वह उसे तत्काल घोल कर अदृष्य कर देता है उसी प्रकार भक्ति जब बहुत अधिक बढ़ जाती है तो वह विषयों का जाल तोड़ देती है। इस प्रकार भजन के अभ्यास से विषयों से बिछोह हो जाता है तथा आत्मसुख का लाभ होकर आत्मानंद से मुलाकात होती है। मुझे विषय से निवृत्ति चाहिये लेकिन उसके लिये मैंने भक्ति नहीं की, तो किस प्रकार मुझे विषयों से विरक्ति मिलेगी? इसका उत्तर श्रीकृष्ण दे रहे हैं। दीपक से आग भड़के तो वह घर को तथा शहर को भी जला देगी। वैसा ही प्रकार है यह।

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥ १९॥

दीप जलाने के लिये आग जलाई तो एक चिनगारी जंगल के फूस में लग गयी जिससे आग जलाने वाले के न चाहने पर भी एक के बाद एक झोपड़े, घर, गाँव, शहर, मन्दिर तथा पर्वत शिखर सभी जलकर भस्म हो जाते हैं। उसी प्रकार मेरी जरा सी भी भक्ति अगर श्रद्धापूर्वक मन में प्रवेश करे तो संचित तथा नित्य होने वाले पापों की राशियाँ पूरी तरह भस्म हो जाती हैं। पूर्व पापों का मल चित्त को अत्यन्त कस कर चिपका रहता है जिससे चित्त अत्यन्त चंचल होकर सदा विषयों के लिये व्याकुल रहता है। उसे यदि मेरी भक्ति का थोड़ा-सा अंश भी मिल गया तो उतने से ही पूर्व पातकों का संग्रह नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार दीपक के स्पर्श से कपूर तत्काल पूरी तरह नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वह भस्म हो जाता है। चित्त इस प्रकार निर्मल हो जाने पर वहाँ सदा ब्रह्म प्रकट हो जाता है। फिर वह चित्त विषयासक्त नहीं होता। इच्छा न करने पर भी वह अपने आप विरक्त हो जाता है। भक्ति के अंशमात्र की इतनी बड़ी महिमा है। हे भक्तोत्तम उद्धव! मेरी सम्पूर्ण भक्ति की महिमा कौन जान पायेगा? वेदशास्त्रों के लिये भी वह अतर्क्य है। मेरी भक्ति अलक्ष्य होने के कारण वह दिखायी नहीं देती। अतर्क्य होने के कारण शास्त्रमीमांसा द्वारा भी उसके सम्बन्ध में तर्क नहीं हो सकता। अगाध होने के कारण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अथक साधनों के बाद भी उसका आकलन नहीं होता। मेरी भक्ति की थाह स्वयं मुझे भी नहीं लग पाती। इसीलिये मैं भक्तों का आज्ञाधारक बन कर रहता हूँ। उनके शब्दों का जरा भी उल्लंघन नहीं करता। भक्तों की महिमा अगाध है इसलिये मैं भी उनकी सेवा करता हूँ। भक्त ने मारी हुई लात मैंने अपने हृदय पर धारण की। भक्तों के चरणों की धूलि मैं माथे पर लगाता हूँ। भक्त कहलाना बहुत अच्छा लगता है लेकिन भजन का स्वरूप अत्यन्त विकट है। भक्ति का रहस्य अत्यन्त गूढ़ है। श्रुति शास्त्रों के भी वह ठीक से समझ में नहीं आता। कंजूस व्यक्ति कितनी ही दूर क्यों न जाये लेकिन घर में रखी हुई निधि को वह अपने मन में सुरक्षित रखता है। उसी प्रकार वह सदा सर्वदा मेरी प्रीति अपने अंत:करण में सुरक्षित रखता है या बहुत दिन के बाद जब किसी स्त्री को गर्भ रह जाता है तो वह सुन्दरी जिस प्रकार आनन्दपूर्वक उसका पालन पोषण करती है उसी प्रकार जब हृदय में मेरे प्रति प्रेम जगता है अथवा बाँझ स्त्री जब गर्भवती होती है उसी प्रकार उसके मन में मेरे प्रेम का उत्सव मनाने की इच्छा होती है और अंत:करण से प्रेमविह्वल होकर पहले से भी अधिक उत्कर्ष से उल्हास बढ़ता जाता है। अथवा भाग्यवान जामाता घर आने पर जिस प्रकार सास उसका स्वागत करने में किसी बात की कमी नहीं रहने देती, अथवा बीज जितनी अधिक पैदावार देता है उतना ही किसान का उल्हास बढ़ता है, अथवा गुणवान, सुन्दर और श्रीमान पति के घर से जाने पर उसकी पत्नी उसके लिये छटपटाती है, उसी प्रकार मेरे लिये उसके मन में बेचैनी बढ़ने लगती है। उद्धव! इसी का नाम है मेरे प्रति सच्ची भक्ति। जिस भक्ति के भुलावे में मैं लक्ष्मीकांत भक्तों के हाथ में हूँ। मेरे लिये चाह बढ़ने से प्रीति उत्पन्न होती है। उद्धव को सीने से लगाकर भगवान उससे बताने लगे कि जिसके पास मैं सदा रहता हूँ वह मेरी भक्ति ऐसी रहती है। संसार सागर को पार करने के लिये भक्ति यही एक प्रमुख साधन है। मोक्ष भी उसके चरणों पर लोटता है फिर अन्य साधनों की क्या बिसात है? देखो! पूरे त्रिलोक में मैं अविजीत हूँ। लेकिन भक्तों के सामर्थ्य ने मुझे जीत कर भक्ति के बल पर मुझे अपना सेवक बना लिया है। इसीलिये सभी विजयों में श्रेष्ठ एक मेरी भक्ति ही है। उसकी भी कथा सुनो। तुम्हें विस्तारपूर्वक बताता हूँ।

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥ २०॥

नित्य क्या है और अनित्य क्या है इसका ज्ञान देने वाला सांख्यशास्त्र अथवा नित्य-नैमित्तिक कर्म अपना सर्व अष्टांगिक योग भी मेरी प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं है अथवा जिसे 'स्वाध्याय' कहते हैं वह वेदाध्ययन अथवा वायु, जल तथा पके हुए पत्ते खाकर किया जाने वाला तप अथवा संन्यास ग्रहण आदि त्याग ये सब मेरी भक्ति के बिना दुर्बल हैं। जिस प्रकार बिना नाक का सौन्दर्य अथवा मस्तक बिना सारे अवयव अथवा पति बिना सुहागन ये सब जिस प्रकार व्यर्थ हैं उसी प्रकार मेरी भक्ति के बिना सभी साधन दुर्बल हैं। उन सब में मुझ तक पहुँचने का सामर्थ्य नहीं है। लेकिन मेरी भक्ति वैसी नहीं है। वह मेरे प्रेम की अधिकाधिक वृद्धि कर तत्काल मेरी प्राप्ति कराती है। अन्य किसी के अधीन नहीं होती। जिस समय मेरी भक्ति उत्पन्न होती है तभी मेरी प्राप्ति होती है। यह बात श्रीकृष्ण उद्धव को बार-बार, प्रसन्नतापूर्वक बताने लगे। हे उद्धव! जिस प्रकार रत्न के साथ उसका तेज होता है, अरुण के साथ जैसे सूर्य होता है उसी प्रकार भक्ति के पास मैं लक्ष्मीपति खड़ा रहता हूँ। वह भक्ति जिसके मन में लग गयी उसी समय मैं उसके हाथ लग जाता हूँ। अन्य कितने ही साधन कोई क्यों न प्राप्त कर ले लेकिन भक्ति के बिना मैं नहीं प्राप्त हो सकता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भक्त्याहमेकयाग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥ २१॥

अन्य साधन तथा युक्तियाँ दूर कर मेरी श्रद्धायुक्त भक्ति करने से मेरा लाभ होता है। मन में किसी भी प्रकार का विकल्प लाये बिना, किसी भी प्रकार की शंका न कर समस्त प्राणिमात्र के प्रति भगवद्स्वरूप की भावना रखना यही भक्ति का मुख्य लक्षण है। इसी का नाम है भजनभाव। सभी प्रकार की सम्पत्ति के प्रति उदासीन होकर जब मेरे भजन में आनन्द आने लगे, जितनी मोक्ष की इच्छा नहीं की उससे अधिक मेरे भजन पर विश्वास किया तो फिर तरने या न तरने का प्रश्न ही कहाँ उठता है। मेरे भजन ने विधि निषेध के सभी वादों को निरस्त कर दिया। इतने विश्वास से जिनकी भावना भक्ति के अलावा अन्य उपाय स्वीकार नहीं करती उसके ही जीवन से हमारा जीवन चलता है। वह हमारा आत्मा ही है। ज्ञानियों का आत्मा मैं, भक्तों का प्रिय परमात्मा मैं, शास्त्रों में जिस पुरुषोत्तम का वर्णन करते हैं वह मैं दौड़ कर उनकी आगवानी करने जाता हूँ। मुझे अनन्य भक्ति पसन्द है इसलिये मैं उनके ही अधीन रहता हूँ। उनके ही कारण पूरे त्रैलोक्य में मेरी ख्याति है। उनके ही कारण मुझे महत्त्व प्राप्त हुआ है। उनके ही कारण मुझे अलंकार धारण करने को मिलते हैं तथा पहनने के लिये परिधान मिलते हैं। उनके ही बल पर मैं सर्वत्र विचरण करता रहता हूँ। मेरी गाँठ में कुछ भी नहीं है। भक्तों ने अपना सर्वस्व खर्च कर, विविध प्रकार के उपचारों से मुझे महत्त्व प्रदान किया है। मैं नेत्रहीन था उन्होंने मुझे आँखें दीं, मुझे कान नहीं थे जो उन्होंने मुझे दिये, मैं मुखविहीन था तो उन्होंने मुझे मुख दिया, उनकी ही वाणी से मैं बोलने लगा। उनके ही कारण मेरा आना-जाना होता है। उनके ही कारण मैं हाथों में तथा पैरों में अलंकार धारण करता हूँ। उनके ही कारण मुझे निश्चित स्थान प्राप्त हुआ है। उनके ही कारण मुझे सामर्थ्य प्राप्त हुआ है। मेरा नाम और रूप उन्होंने ही बनाया, मुझे उनके गुणों से ही पवित्रता प्राप्त हुई है। वैकुण्ठ में मेरा स्थान मेरे भक्तों ने ही अटल बना दिया है। इस प्रकार मेरे भक्तों को मैं भक्ति के ही कारण वशीभूत हुआ हूँ इसलिये रात-दिन मैं उनके साथ खड़ा रहता हूँ। जन्मरहित होते हुए मैं उनके लिये जन्म लेता हूँ, कर्मशून्य होते हुए मैं उनके ही लिये कर्म करता हूँ। उनके ही कहने से मैं महान पापियों का नाममात्र से उद्धार करता हूँ। वाल्मीकि इस संसार में महान पापी था लेकिन नारदजी के कहने से मैंने उसे नामजप की पवित्रता के कारण पूजनीय बना दिया। मुझ पर भक्ति का इतना अधिकार है। भक्ति के अलावा मैं किसी के भी हाथ नहीं आता। भक्तों के उपकार से मैं बिलकुल झुक गया हूँ क्योंकि उसके उपकार को चुकाया नहीं जा सकता। इसलिये मैं पूरी तरह उनके अधीन रहता हूँ। उनके उपकार का बदला चुकाने के लिये मेरी गाँठ में कुछ नहीं रहता। अब जो कुछ थोड़ा-बहुत मैंने उन्हें दिया है वह भी तुम्हें धीरे से बता देता हूँ। भक्त मेरे ही कारण सनाथ हुए हैं। मेरे ही कारण वे कृतकृत्य हुए हैं। मेरे ही आनन्द से वे सर्वदा तृप्त हुए हैं और आत्मज्ञान से अभिभूत हो गये हैं। मेरे ही बल पर वे सारी दुनिया पर भारी हैं। वे प्रहार किये बिना ही सृष्टि को छेद देते हैं। मेरे सामर्थ्य के कारण ही कलिकाल उनके सामने नहीं आ सकता। मेरे ही कारण वे त्रैलोक्य में किसी की चिन्ता नहीं करते। मेरे ही कारण वे देह में विदेह की भाँति रहते हैं। मेरे ही बल पर उन्होंने प्रलयकाल को निगल लिया है। मेरे ही बल से उन्होंने जन्म-मरण को नष्ट कर दिया है। मेरा भजन कर वे सनातन ब्रह्मस्वरूप हो गये। लेकिन यह सब भी उन्हें मैंने नहीं दिया। वे अपने भजन सामर्थ्य से ही वह सब मुझसे ले गये। उनके आगे मेरी कुछ भी नहीं चलती। मेरा सर्वस्व मेरे भक्त मुझसे लूट कर ले गये हैं। उन भक्तों ने भजनसामर्थ्य से मुझ अजेय को भी जीत लिया है और मुझे अपने वश में कर लिया है। मेरा जो आत्मपद भले ही मेरे भक्तों के हाथ में आ गया हो लेकिन उसे मेरे ही अधिकार में रख कर वे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भक्तिमार्ग से चिपक कर रह रहे हैं। मेरी उस भक्ति की पवित्रता सुन कर तुम्हें आश्चर्य होगा लेकिन उसे बताने में मुझे कोई सन्देह नहीं है। उस भक्ति की सच्ची महिमा सुनो। दांभिक लौकिक छोड़ कर जो शुद्ध भाव से मेरा भजन करने लगा वह जाति से भले ही चांडाल क्यों न हो फिर भी वह मुझे अत्यन्त पूज्य है। अमंगल रीछ अथवा वानर अथवा छाछ पीने वाले तथा जंगलों में भटकने वाले ग्वालों के लड़कों को भी मैंने पूज्य माना। जो जाति से भले ही निम्न था किन्तु भक्तिभाव के कारण महत्त्वपूर्ण हो गया। वह मत्स्वरूप तक पहुँच गया और त्रैलोक्य में पूज्य हो गया। 'विप्रात द्विषडगुणयुता' इस श्लोक का सारांश यही है। जो ब्राह्मण मेरे भजनमार्ग से विन्मुख हुआ उस ब्राह्मण की पवित्रता जल गयी समझो। उसकी अपेक्षा मेरे भजन में भजननिष्ठ होने वाला चाण्डाल ही श्रेष्ठ है। उसका महान कविश्रेष्ठ तथा ज्ञाता भी वन्दन करते हैं। विदुर वास्तव में दासीपुत्र था। लेकिन अपनी भक्ति के कारण वह भगवान का प्रिय बना। इसलिये परमार्थ साधने के लिये भाव ही मुख्य है। जाति का अभिमान उपयोगी नहीं रहता। सचमुच मुझे पाने के लिये मेरी भक्ति ही श्रेष्ठ है। इसीलिये मैंने सबसे पहले वनचरों का (वानर, रीछ आदि) उद्धार किया। पक्षियों अत्यन्त निन्द्य गिद्ध जटायु का मैंने उद्धार किया। मैंने धर्मव्याध नामक अंत्यज का उद्धार किया। क्योंकि मेरे प्रति उसकी विशुद्ध भक्ति थी। कोई किसी भी जाति में क्यों न उत्पन्न हुआ हो, लेकिन जिसे मेरी भावार्थपूर्ण भक्ति प्राप्त होती है वही पवित्रता की मूर्ति है यह समझ लो। मेरे भजन से ही मेरी प्राप्ति होती है। मेरी भक्ति को छोड़ अनेक साधनों का प्रयोग करने अथवा वाद-विवाद करने से मेरी प्राप्ति नहीं होती। यही तथ्य श्रीकृष्ण बताते हैं।

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥ २२॥

मेरी भक्ति के बिना कोई भी कर्म अथवा आचरण करना केवल भ्रम है यह समझ लो। इससे मेरी प्राप्ति का मार्ग चूक जाता है और उस धर्म का परिणाम अधर्म में होता है अथवा मेरी भक्ति के बिना सत्य भाषण करना भी किसी जन्मांध की तरह ही है क्योंकि उसमें पग-पग पर प्रमाद होता है और वह स्वयं यह नहीं देखता कि वह पतन की ओर जा रहा है। भक्ति के बिना दया का महत्त्व उसी प्रकार है जिस प्रकार पुरुष के बिना उसकी सुन्दर स्त्री का जो विधवा होने के कारण धार्मिक कृत्यों से वंचित रहती है। मेरी भक्ति के बिना विद्या अविद्या ही है यह जान लो। जिस प्रकार कौआ चन्द्रमा को नहीं पहचानता उसी प्रकार वे मेरे आत्मबोध को नहीं पहचानते। गधा चन्दन का बोझ ढोता है लेकिन चन्दन के गंध का रहस्य वह नहीं जानता। उसी प्रकार मेरी भक्ति के बिना विद्या और शास्त्र पढ़ना भार ढोने की तरह है। मेरी भक्ति के बिना शरीर शोषण का जो तप मनुष्य करता है वह मानों पूर्वसंचित के अनुसार पाप ही भोगता है क्योंकि तप की वह क्रिया सत्त्वस्वरूप नहीं होती। मेरी भक्ति के बिना किया हुआ साधन उस कीड़े की तरह है जो अपने चारों ओर खोल बनाकर उसके भीतर रहता है क्योंकि भक्ति के बिना जो भी क्रिया की जाती है वह स्वयं के लिये ही बन्धनकारी होती है। सारांश, मेरी भक्ति के बिना किया हुआ सभी कार्य अप्रामाणिक है। अब उसी भक्ति का शुद्ध स्वरूप भगवान बता रहे हैं।

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥ २३॥

स्वेच्छा से हरि की कथा श्रवण करने से अथवा नाना प्रकार के चरित्रों के बारे में सुनने से अथवा हृदय में निरन्तर मेरे ही स्वरूप का विचार करने से चित्त में परिवर्तन होता है। इससे मेरी भक्ति उत्पन्न होती है। वे मेरे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भजनों के माध्यम से जोर-शोर से मेरा नाम गाते हैं, बड़े भक्ति भाव से रंग जाते हैं जिससे मन में भक्ति का स्रोत फूट पड़ता है। अंत:करण में सुख उत्पन्न होने पर बाहर रोमांच उभर आते हैं। उस आत्मानुभव के सुख की माधुरी प्रेमाश्रु के रूप में नेत्रों से बहने लगती है। मेरी भक्ति की चाह से 'अहं' और सोहं की अभिमान की कड़ी टूटती है और विषय की आसक्ति समाप्त हो जाती है। उस क्षण का यही लक्षण है कि शरीर रोमांचित हो उठता है, नेत्रों से आनंदाश्रु बहने लगते हैं और हृदय परिपूर्ण आनन्द से भर जाता है। दोनों नेत्र विस्तृत होकर उनमें का तेज चमकने लगता है और वे सदा प्रसन्न दिखायी देते हैं। देह का भान नहीं रहता और मन भगवान में रम जाता है। इस प्रकार यदि मेरे प्रति भक्ति उत्पन्न नहीं होगी तो फिर विषय से विरक्ति कैसे होगी? और विरक्ति उत्पन्न हुए बिना उद्धव! सचमुच मेरी प्राप्ति नहीं होती। मेरी शुद्ध भक्ति जिसे पूर्ण रूप से प्राप्त हुई उसके लक्षणों का वर्णन और उसकी पवित्रता के बारे में सुनो। जो मेरी भक्ति करता है वह तत्काल पवित्र हो जाता है। इतना ही नहीं बल्कि वह तो त्रैलोक्य को भी पवित्र करता है ऐसा श्रीकृष्ण ने गरज कर कहा।

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥ २४॥

शरीर पर रोमांच उभर आते हैं, पसीने की बूँदें चमकने लगती हैं, चैतन्य से चित्त द्रवित हो उठता है और उससे वाणी भी सद्गदित हो उठती है। अंत:करण में आनन्द भर जाते ही दृष्टि अधोन्मीलित हो जाती है, जीव की शिव से भेंट होती है, ध्येय, ध्याता और ध्यान का त्रिकुट नष्ट हो जाता है। आँखों से अश्रु की वर्षा होने लगती है, गला भर आता है, शरीर पर नियंत्रण नहीं रह पाता और वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। वह जोर-जोर से आक्रोश करता है और रोने लगता है। बार, बार फफक-फफक कर रोने लगता है। रोते-रोते बीच में ही जोर-जोर से हँसने लगता है। जिस प्रकार भूत-बाधा होने से आदमी पागल हो जाता है, उसी प्रकार उसकी अवस्था हो जाती है। वह रोना और हँसना नहीं छोड़ता और उसमें ही ऐसी आश्चर्यजनक चाह उत्पन्न होती है कि आत्मस्वरूप से प्रेम हो जाने के कारण वह उसी अर्थ को लेकर बार-बार गाने लगता है। 'मेरा' और 'तेरा' भूलकर, लोकलाज छोड़ कर, अत्यंत हर्ष से, प्रेम की चाह के कारण शंकामुक्त होकर नाचने लगता है। उसके भी लक्षण बताता हूँ, सुनो। कोई बालक भटक कर जब माँ से बिछड़ जाता है, वह माँ को खोजने लगता है लेकिन वह कहीं नहीं मिलती और जब वह मिलती है तो बालक फुक्का फाड़ कर रोने लगता है और माँ उसे अपने कलेजे से लगा लेती है। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों का भ्रांतिनगर में बिछोह हो जाता है, एक बार उनका मिलन होते ही जीव बिलख-बिलख कर रोने लगता है। अनेक दिनों के पश्चात भेंट होने के कारण दोनों ऐक्यभाव से गले मिलते हैं, उस आनन्द से गला भर आता है और रुलाई आ जाती है। भगवान अनेक प्रकार से नाटकीय है। वह मायावी होने के कारण किसी को मिल नहीं पाता। वह घर में ही मिल जाता है और आश्चर्य से, तटस्थ होकर देखता रहता है। भगवान सदा पास में ही रहता है। उसके लिये पागल होकर लोग उसे देश-परदेश में ढूँढ़ते रहते हैं। यह देखकर उसे हँसी आ जाती है। भगवान सबके लिये अजेय है लेकिन उस भगवान को मैंने जीत लिया और अपने हृदय में रख लिया इस आनन्द से वह नाचने लगता है। दूजेपन की बात समाप्त कर मैंने भगवान को जीत लिया और संसार में यशस्वी हुआ इस आनन्द से वह नाचने-गाने लगता है। देखने पर दूसरा कोई दिखायी नहीं देता इसलिये वह लाज करना भी छोड़ देता है और संसार में निर्लज्ज बन जाता है। उसकी निर्लज्जता का यह कारण है। इस प्रकार मेरे भक्त भक्तियुक्त होकर आत्मानंद से नाचते-गाते

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रहते हैं। उनके उस आनन्द से त्रैलोक्य पवित्र हो जाता है। जिनके चरणों का दर्शन होते ही जड़ जीवों का उद्धार होता है, उनके चरणों की धूल लगने पर भी पशु और पाषाण का उद्धार होता है। कीर्तन के महाघोष ने संसार के सारे दुःख नष्ट कर दिये, सारा ब्रह्माण्ड आनन्द से भर जाने के कारण वह अत्यन्त सुख से ओत-प्रोत रहता है। किसी ने दर्शन से तारा, किसी ने स्पर्श से तारा तो किसी ने उपदेश से तारा। कोई कीर्तन से तरे तो कोई नामस्मरण से तर गये। उद्धव! इस प्रकार उन्होंने जगत का उद्धार किया। जीव अविद्यायुक्त होने के कारण मलिन रहता है। उसे शुद्ध होने के लिये मेरी भक्ति ही मुख्य साधन है, यह ध्यान में रखो। यही बात श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं।

यथाग्निना हेम मलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥ २५॥

मिलावटी सोना मलिन हो जाता है। उसे पानी से कितनी ही बार धोने पर भी उसमें शुद्धता नहीं आती। लेकिन उसी सुवर्ण का पत्ता बनाकर उसे अग्नि में तपाने से उसका मैल जल जाता है और वह शुद्ध होकर पहले जैसा चमकने लगता है। उसी प्रकार अविद्या और सकाम कर्म से जो मलिन हुआ रहता है उसके चित्त की शुद्धि करने के लिये मेरी भक्ति यही एक उपाय है। उसी के योग से जीव के मल का क्षालन होता है। अंतःकरण पर जैसे-जैसे भक्ति का पुट चढ़ता है वैसे-वैसे अविद्या के बन्धन ढीले होते जाते हैं, माया का मूल ही नष्ट हो जाता है और जीव आत्मपद को प्राप्त कर लेता है। अविद्या का बन्धन टूट जाने पर उस ज्ञानस्वरूप तथा शुद्ध जीव को पूर्ण बोध होता है और उस आत्मबोध के कारण उसे अत्यन्त आनन्द होता है। जीव को जो अविद्या प्राप्त है उसकी निवृत्ति ज्ञान से होगी। तो फिर वहाँ भक्ति की क्या आवश्यकता है ऐसी शंका तुम करोगे। तो मेरी भक्ति के बिना ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता इसी अर्थ का निरूपण श्रीकृष्ण स्वयं कर रहे हैं।

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥ २६॥

मेरा वेदशास्त्रों ने बनाया स्वरूप, मेरे नाना प्रकार के चरित्र और मेरी पवित्र कथाओं का श्रवण, मनन अथवा कीर्तन आदि से चित्त का क्षालन कर जो भी मेरी भक्ति करता है उसकी अविज्ञा की निवृत्ति होती है और श्रुति को तथा वेदान्त को भी मेरे अतर्क्य स्वरूप की प्राप्ति होती है। जो अत्यन्त सूक्ष्म और निर्गुण रहता है वह अलक्ष्य होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता इतना गहन होता है, वही स्वरूप जीव को प्राप्त होता है और मेरे भजन से उसका समाधान होता है। जिसकी आँखों में अंजन लगा रहता है वह पृथ्वी के अन्दर का खजाना भी देख सकता है, उसी प्रकार मेरे भजन से ज्ञान प्राप्त कर जीव ज्ञानस्वरूप हो जाता है। उद्धव! यह एक बात ध्यान में रखो कि यहाँ अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। जिसके चित्त में जैसा भाव रहता है वैसा ही फल उसे प्राप्त होता है।

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥ २७॥

जो विषयों का ही ध्यान करता है वह विषयों में ही मग्न रहता है। जो सदा मेरा ही चिन्तन करता है, वह ज्ञानस्वरूप मैं ही बन जाता हूँ। पत्नी मैके जाती है उस समय उसका ध्यान करते ही मन में उसकी मूर्ति साकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो उठती है। इतना ही नहीं बल्कि अपने हावभाव तथा नेत्र कटाक्ष से वह पुरुष को सकाम कर देती है। जो सामने नहीं है उस स्त्री का ध्यान करने से वह जब साक्षात प्रकट हुई मालूम होती है और मैं तो स्वतः सिद्ध हृदय में रहता हूँ, अतः मेरा चिन्तन करने से सहज ही मद्रूपता प्राप्त होगी। प्यार से होने वाला मेरा चिन्तन, चित्त, चिन्ता तथा चिन्तन क्रिया ये सब नष्ट होकर वह पुरुष स्वयं ही ज्ञानरूप हो जाता है। इसी का नाम है मद्रूपता। अरे! मुझे प्राप्त करने का मुख्य साधन यही है। मेरा ध्यान और मेरा भजन करने से मत्स्वरूपता प्राप्त होती है। मेरे सिवा और जो भी ध्यान किया जाता है वह सब जीव के लिये दृढ़ बन्धन होता है। इसलिये विषय का ध्यान छोड़ कर मेरा ही चिन्तन करते रहना चाहिये।

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम्।
हित्वा मयि समाध्यत्स्व मनो मद्भावभावितम्॥ २८॥

जो सत्य दिखायी देता है किन्तु नाशवान रहता है, उसे 'असत' कहते हैं। जो 'भ्रमरूप' होकर केवल भासमान रहता है उसी प्रकार जो इस लोक में तथा परलोक में अपने सौन्दर्य से मन को लुभाता है और अविचार के बल से मन को मोहित करता है; इसलिये अनेक जीव अनेक प्रकार के प्रयास कर दुःखी हो रहे हैं। बड़े कष्ट से साधना कर स्वर्गभोग का स्थान प्राप्त किया लेकिन वह भी स्वप्न के मनोरथों की तरह नश्वर ही रहता है। इसलिये विषयों का ध्यान करने के बजाय मेरा भजन करना चाहिये और मन को मेरी ही भावना रखने के लिये जागृत करना चाहिये। सावधान चित्त से मेरा भजन करते समय तथा चित्त को एकाग्र कर मेरा ध्यान करते समय उसमें जो बाधाएँ आती हैं उनका त्याग किस तरह किया जाय इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण बताते हैं।

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्त्येन्मामतन्द्रितः॥ २९॥

जो मेरी प्राप्ति के लिये अत्यन्त व्याकुल हुआ हो उसे स्त्री संग का विचार ही छोड़ देना चाहिये। उसे मुझ भगवंत का चिन्तन करना चाहिये तथा एकान्त में रहना चाहिये। स्त्री की संगति की अपेक्षा स्त्री लंपट पुरुषों की संगत अधिक घातक तथा हानिकारक है। उनसे भेंट नहीं करनी चाहिये उनसे बात नहीं करनी चाहिये, उन्हें दूर से भी नहीं देखना चाहिये। जो साधक है उसे काया, वाचा, मनसा स्त्री तथा स्त्रैण इन दोनों की संगत छोड़ देनी चाहिये और मन में उन्हें पुनः देखने की इच्छा न हो इसलिये अंतःकरण को दृढ़ करना चाहिये। फिर किसी एकान्त, निर्जन स्थान में, प्रशस्त एवं पवित्र स्थान पर आसन लगा कर मेरा चिन्तन करना चाहिये। आलस त्याग कर वृत्ति को सावधान रखना चाहिये और फिर मन को एकाग्र कर मेरा ध्यान करना चाहिये। किन्तु मेरे साधकों के लिये स्त्री और स्त्रीलंपट पुरुष ये दो बड़ी बाधायें हैं, जो मेरे ध्यान का विध्वंस कर विघ्नरूप से मेरी प्राप्ति के आड़े आती हैं।

न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥ ३०॥

अविद्या के अनन्त कोटि समुदाय स्त्रीसंग में भरे रहते हैं। स्त्री को मात्र देखने भर से अधर्म की ज्वाला भड़क उठती है। जो महामोहों की राशि है, जो प्रज्ज्वलित कामाग्नि का ईंधन है, जो जीव का बहुत बड़ा भुलावा है और जो अधःपतन का मुक्त द्वार है, वही स्त्री है। मदन के वे प्रखर बाण, माया का वह यंत्र और नरक का जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अंधतम कुण्ड है, वही स्त्री है। उसकी संगति से ज्ञानशक्ति भी अन्धी हो जाती है, वह अनेक प्रकार की आसक्ति बढ़ाती है और जिसके संयोग से स्वार्थ की भी विस्मृति होती है। उसके लिये अनेक प्रकार का संसार करना पड़ता है, जिसके लिये असह्य गर्भवास सहन करना पड़ता है, जिसके लिये जीव के लिये वज्रपाश जैसे विषय विलास भोगने पड़ते हैं। जो निरन्तर दुःख और शोक सहकर नरक की यातना सहती है उस साक्षात माँ को शत्रु समझ कर उसके लिये पत्नी सगी हो जाती है। जो मातृप्रेम में दुराव उत्पन्न करती है, जो बन्धु प्रेम को बिगाड़ती है, जो निरन्तर अपने नखरे में पुरुष को बाँधे रखती है, वह अधर्मरूपी जंगल में छोड़ देती है। उसके नेत्रकटाश अत्यन्त प्रखर होते हैं जो एक बार पुरुष के अंतःकरण में घुसने पर उस पर अपनी मोहिनी फैलाते हैं और जिसका विष कभी नहीं उतरता। इतना कष्ट स्त्री की संगति के कारण होता है। इसलिये जो मेरी प्राप्ति की इच्छा करता है उसे स्त्री की आसक्ति छोड़ देनी चाहिये। हृदय में उसके प्रति लोभ ही नहीं रहना चाहिये। मन में उसका स्मरण होते ही वह ज्ञान-ध्यान स्थिति का विध्वंस करती है। हृदय में उसका लोभ नहीं रखना चाहिये। स्त्रियों की संगति से इतनी अधिक बाधा होती है और स्त्री-लंपट पुरुषों की बाधा तो इससे अधिक होती है। स्त्री की संगति से प्राप्त होने वाले मोहमद से शायद पुरुष छूट पाये किन्तु स्त्री लंपट पुरुष की संगति से जो बाधा रहती है वह तो अपार है। चुडाल स्त्री की संगति से राजा शिखिध्वज तर गया अथवा मदालसा की संगति से कुवलयाश्व राजा तर गया। लीला नामक स्त्री ने भक्ति की साधना से सरस्वती को प्रसन्न किया जिससे उसके पति का उद्धार हुआ यह सब वसिष्ठ मुनि ने अपने ग्रन्थ में लिखा ही है। इस प्रकार स्त्रियों की संगति से पुरुषों के उद्धार की बातें सुनते हैं। किन्तु स्त्री लंपट पुरुष की संगति से उद्धार होने का कोई मार्ग नहीं है। जो स्त्री का अंकित होकर रहता है, जो स्त्री के लिये स्वयं को प्राणों सहित बेच देता है, जो स्त्री का गुलाम बनता है और उसके कहने के अनुसार आचरण करता है, जो आकाश में संचार करने वाली कुलदेवता की तरह स्त्री की पूजा करता है और जो उसकी ही सेवा करने के लिये नाना प्रकार के उपचार करने के लिये तत्पर रहता है, वह किसी सम्बन्धी का छल करने का निश्चय करती है तो वह उस व्यक्ति पर श्वान की तरह भूँकता है और जब वह स्त्री उसे दुत्कार देती है तो वह दुम दबा कर भागता है। अच्छे और सुस्वादु पकवान वह स्वयं नहीं खाता और स्त्री के हाथ में उन्हें देकर अपनी सत्ता समाप्त कर देता है। मानों कोई कार्य उसकी इच्छा के विरुद्ध हो जाय तो ब्रह्माण्ड ही उलट जायेगा। मानों उसकी बात व्यर्थ हो जाने पर सुख ही उलट जायेगा। मानों उसकी बात व्यर्थ हो जाने पर सुख का क्षीर सागर सूख जायेगा। देवी की, कुलदेवी की पूजा न करना, माँ-बाप के साथ छल करना, गुरु को भी फँसाना तथा अपना सर्वस्व स्त्री को अर्पण करना। सारांश वह मदारी के बन्दर की तरह पत्नी के चारों ओर नाचता रहता है। ऐसे स्त्री लंपट पुरुष का साथ होने पर साधक को सुख कहाँ से प्राप्त होगा? जिसके मुख से स्त्री सम्बन्धी बातें सुनकर ही ज्ञाताओं के मन में कामवासना उत्पन्न होती है और जो तत्काल कामवासना उत्पन्न कर स्त्रियों के मोहजाल में फँसाता है ऐसे स्त्रीलंपट की संगत से साधक को सुख की प्राप्ति कैसे हो पायेगी? वह उसे अधःपतन की ओर ले जाकर नरक में अवश्य डाल देगा। इसीलिये स्त्री लंपट पुरुष की कथा या वार्ता भी कान से नहीं सुननी चाहिये। उसकी वायु से भी बचना चाहिये। उससे मिलना नहीं चाहिये, उससे बात नहीं करनी चाहिये, उसे देखना भी नहीं चाहिये अथवा उसके पीछे-पीछे भी नहीं जाना चाहिये। जिस मार्ग पर वह जा रहा हो उस मार्ग का भी त्याग करना चाहिये। स्त्री और स्त्रैण की संगत से जितना दुःख प्राप्त होता है उतना दुःख त्रिभुवन में भी कहीं दिखायी नहीं देता। स्त्री की इच्छा के वश होकर रहना इसी का नाम है स्त्री लंपटता। स्त्री के अधीन रहना अत्यन्त निंद्य होने के कारण परमार्थ में अत्यन्त बाधक होता है। हमारे हृदय में जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कामासक्ति है वही स्त्री संग की प्राप्ति के लिये कारणीभूत है। अगर वहीं विरक्ति उत्पन्न हो जाय तो फिर स्त्री की प्राप्ति कौन पूछता है? भगवान ने भाव विह्वल होकर उद्धव से यह बात कहीं। वह सुनकर उद्धव ने भी अंतःकरण में विचार किया। जिससे प्रबल विरक्ति उत्पन्न होती है, विषयासक्ति की बाधा भी नहीं होती उस ध्यान के सम्बन्ध में उसने भगवान से पूछा। वैसा ध्यान लगने से स्त्री-पुरुष का भान ही नहीं रहता और जीव में ज्ञानजन्य संतोष उत्पन्न होकर जो संतोष प्राप्त होता है उसके सम्बन्ध में उसने भगवान से प्रश्न किया।

उद्धव उवाच

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम्।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि॥ ३१॥

उद्धव ने कहा, "हे कमलनयन! हे जगज्जीवन! मुमुक्षु जन तुम्हारा जो ध्यान करते हैं उसका लक्षण मुझे बताओ। वह ध्यान सगुण होता है या निर्गुण? उसका स्वरूप कैसा रहता है? वर्ण कैसा रहता है? सब कुछ यथासांग बताने की कृपा करो। जिसमें निमग्न होने पर वहाँ से मन हटता ही नहीं है, उसका माधुर्य इतना होता है कि वह तुम्हें भी अच्छा लगता है, ऐसे ध्यान के बारे में मुझे बताइये।" उद्धव का यह प्रश्न सुनकर भगवान उत्तम ध्यान के लक्षण के रूप में आसन और प्राणायाम का ही निरूपण करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः॥ ३२॥

अब आसन का लक्षण सुनो। पाषाण का आसन करने से व्याधि उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। केवल जमीन पर बैठना तो और भी कठिन और दुःखदायी है। लकड़ी का आसन बनाने से मन भी सूखी लकड़ी की तरह शुष्क एवं निर्दयी बनता है। तृण का आसन बनायें तो जिस प्रकार उसमें चित्र विचित्र अंकुर निकले रहते हैं उसी प्रकार मन में भी अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं। वृक्ष के पत्तों का आसन बनायें तो चित्त सदैव हिचकोले ही खाता रहता है। जारण, मारण अथवा स्तम्भन करना हो तो काले आसन का प्रयोग करना चाहिये। ज्ञानार्जन के लिये मृगचर्म उपयुक्त है। व्याघ्रचर्म का आसन मोक्षसिद्धि के लिये फलदायी है। श्वेत कम्बल का आसन बनाने से मोक्ष आदि अनेक प्रकार की सिद्धियाँ साधकों को प्राप्त होती हैं। जमीन निर्मल तथा समतल हो और वहाँ किसी के उपद्रव की सम्भावना न हो ऐसे स्थान पर आगे कहे गये ढंग से उत्तम लक्षणों से युक्त आसन तैयार करना चाहिये। कुशा, वस्त्र, कम्बल, चर्म आदि से तैयार किये गये आसन का प्रयोग करना चाहिये। वह अत्यधिक ऊँचा या नीचा नहीं होना चाहिये। चारों ओर से एक जैसा होना चाहिये। आसन ऊँचा होने पर वह डगमगाने लगता है और नीचा होने पर उसमें भूमिदोष की सम्भावना होती है। इसलिये आसन समतल तथा एक जैसा होना चाहिये। वह कोमल तथा मुलायम होना चाहिये। फिर शुद्ध मुद्रा के साथ वज्रासन अथवा कमलासन लगाना चाहिये अथवा जिसमें आनन्द प्राप्त हो ऐसा सहजासन लगाना चाहिये और फिर मेरुदण्ड को सीधा रखना चाहिये, शरीर को बिलकुल सीधा रखना चाहिये और मूलाधारादि जो तीन बंध हैं उन्हें ठीक तरह से साधना चाहिये। ऐसा आसन लगाने पर उस आसन पर दोनों हाथों के फैले हुए पंजे दोनों जाँघों पर उलट कर रखने से बहुत सुन्दर लगते हैं। फिर नाक का ऊपरी हिस्सा दूर रख केवल नाक के अग्रभाग पर दृष्टि केन्द्रित करनी चाहिये। उसी स्थान पर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अग्निचक्र होता है जिसमें योग का श्रेष्ठ साधन होता है। इस प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास करते रहने से योगाभ्यास तथा योगसामर्थ्य से, उस समय ध्यान के बाद होने वाले चित्तस्थैर्य के संयोग से नेत्र अधोन्मीलित हो जाते हैं। भेद से तत्काल अभेद में दृष्टि स्थिर हो जाने पर वह अन्य पदार्थों को न देखकर नासाग्रि में दृढ़ हो जाती है। किन्तु आसन की जय, तीनों बंधों की प्राप्ति तथा दृष्टि की स्थिरता साधक को किस रीति से प्राप्त होगी? उद्धव! तुम्हारे मन में यदि ऐसी शंका आती है तो उस अभ्यास का प्रकार भी मैं तुम्हें यथार्थ रीति से बताता हूँ।

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः॥ ३३॥

अभ्यास का पहला लक्षण है प्राण का भाग शुद्ध करना। पूरक, कुंभक तथा रेचक यही प्राण और अपान वायु को शुद्ध करते हैं। जिह्वा तथा लिंग के स्वैराचार पर जो काबू पा सकता है वही यह प्राणायाम कर सकता है। अन्य कोई कितना भी परिश्रम क्यों न करे लेकिन उससे वह नहीं सधेगा। प्राण का शुद्धिकरण किस प्रकार किया जाता है, सुनो। पूरक, कुंभक तथा रेचक करने के बाद तत्काल रेचक, पूरक और कुंभक इन दोनों का अभ्यास करना चाहिये। पहले ईडा (बायां नथुना) से वायु भीतर खींच लेनी चाहिये, फिर उसे वैसे ही रख कर बाद में वैसे ही बाहर छोड़ना चाहिये। यह एक लक्षण है अथवा दायें नथुना से वायु भीतर खींचनी चाहिये और उसी से बाहर छोड़नी चाहिये। यह प्राणायाम का दूसरा लक्ष्ण है ऐसा ज्ञाता बताते हैं किन्तु जो लक्षण सभी को स्वीकार है उसके अनुसार बायें नथुने से वायु भीतर खींचनी चाहिये, कुम्भक से उसे भीतर रोक कर रखना चाहिये और फिर दाहिने नथुने से उसे बाहर छोड़ना चाहिये अथवा दाहिने नथुने से वायु भीतर लेनी चाहिये, उसे कुम्भक से रोक कर रखना चाहिये और फिर उसे बायें नथुने से बाहर छोड़ना चाहिये। लेकिन यह योगाभ्यास के विरुद्ध है। इसलिये उसमें फेरबदल नहीं करना चाहिये और क्रम नहीं बदलना चाहिये। किसी भी प्रकार की जल्दबाजी न कर शान्त चित्त से धीरे-धीरे अभ्यास करना चाहिये। इसमें यदि जल्दबाजी की तो प्राण संकट में पड़ जायेंगे। चींटी पर्वत पर चढ़ना शुरु करती है और चढ़ती जाती है, नीचे नहीं गिरती है लेकिन यदि उत्तम घोड़ा भी चढ़ने लगे तो काफी परिश्रम के बाद भी वह चढ़ नहीं पायेगा। उसी प्रकार इस योगाभ्यास में ज्ञान और बुद्धिमानी काम नहीं आती। बुद्धिमानी का अहंकार करने वाले का अधःपतन ही होता है। वह उस मार्ग पर आगे नहीं चल पाता। उद्धव! उस चींटी की ही तरह जो धीरे-धीरे योगमार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है वही सचमुच ओंकार के मस्तक पर चढ़ता है इसे ध्यान में रखो। पक्का अभ्यास हो जाने पर, जिस प्रकार समरांगण में शूर योद्धा बिना किसी रुकावट के चलता है, उसी प्रकार साधक की इच्छा के अनुसार प्राणवायु चलता है। अभ्यास गाढ़ा होने के कारण यदि प्राण उबल रहा हो तो वह प्राण और अपान का भेद ही तोड़ देता है और चक्र के परदे फाड़ देता है। यहाँ मेरा भजन दो प्रकार का होता है। पहला योगमुक्त और निर्गुण का रहता है और दूसरा ओंकार के अभ्यास से सगुण करते रहते हैं। उसका भी लक्षण सुनो। अब प्राणायाम के भेद सुनो। इसमें सगभ प्राणायाम तथा अगर्भ प्राणायाम ये दो प्रकार हैं। सगर्भ प्राणायाम शास्त्रोक्त मार्ग से शुद्ध है और सगुणध्यानादिकों से सम्बन्धित, दूसरा अगर्भ प्राणायाम है।

हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं बिसोर्णवत्।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयैत् स्वरम्॥ ३४॥

ओंकार का दीर्घ उच्चार यदि वाणी नहीं कर पाती है तो वही ओंकार हृदय में निरन्तर चलता रहता है। वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

घंटानाद की तरह अखण्ड चलता रहता है। कमलनाल के सूक्ष्म तंतु की तरह मूल से ब्रह्मरन्ध्र के अन्त तक प्राणायाम से प्रणव का आभास होता है। वहाँ अत्यन्त दीर्घ स्वर में नाद होता है इसलिये अत्यन्त सूक्ष्म रीति से प्रणव का भास होता है। उसे प्राणायाम से स्थिर, अखण्ड रूप तथा नादयुक्त करना चाहिये।

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत्।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥ ३५॥

इस प्रकार स्वर, वर्ण और मात्रा इनसे भी निराला अत्यन्त श्रेष्ठ तथा अदृश्य ऐसा जो (ॐकार) है उसे कितने ही पुरुष अभ्यास के सामर्थ्य से स्वयं इन्द्रियों को वृत्तिगोचर कर लेते हैं। उस उच्चार का चमत्कार आश्चर्यजनक है। वह ऊर्ध्वमुख होकर अखण्ड अस्तित्व में रहता है। उसी झंकारयुक्त तथा नादमय प्रणव को अभ्यास के योग से स्थिर करते हैं। इस प्रकार आलस्य का त्याग कर प्रणव का त्रिकाल अभ्यास करते समय धीरे-धीरे दस आवृत्तियाँ करनें से, जिस प्रकार कोई महासाध्वी पतिव्रता अपने पति के वचन का जरा भी उल्लंघन नहीं करती, उसी प्रकार एक माह पूरा होने के भीतर ही यह प्राणजप साध्य होता है। इस अभ्यास में सतत दक्ष रहने पर वह पुरुष योगाभ्यास का रहस्य सहज ही प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार प्राणनिरोध साध्य होने से भजन की स्थिति भी दो प्रकार की होती है। पहली शास्त्रोक्त विधि से सगुणोपासना तथा दूसरी योगाभ्यास से निर्गुणोपासना। लेकिन दोनों का समाधान निर्गुण में ही मिलता है, यह ध्यान में रखो। इन दोनों का उपलक्षण श्रीकृष्ण संक्षेप में बताते हैं। अरे! ॐकार का स्मरण ही जहाँ नष्ट होता है और यदि स्मरण किया ही तो स्वर के साथ प्राण ही प्रणव में भर जाता है और फिर अखण्ड आकार से उल्हास पाने वाला प्रणव ही स्फुरण करता रहता है। जहाँ से अक्षरों का उद्‌गम होता है और बोलने के बाद शब्द जिसमें समाविष्ट होते हैं और फिर जो स्फूर्ति शेष रहती है, उसी को सचमुच प्रणव कहते हैं। उस प्रणव के ही आधार पर छहों चक्र जीतने पर प्रणव आगे बढ़कर निश्चयपूर्वक चलने लगता है। तब कुण्डलिनी शक्ति के जोर और वैराग्य की प्रबलता के कारण वह सुषुम्ना नाड़ी (इडा और पिंगला के बीच सुषुम्ना नाड़ी है) के द्वार का मार्ग तत्परता से पार कर पश्चिम मार्ग के पहले स्थान को प्राप्त कर लेता है। उस समय दशनादों के घोष से विजय का निशान लहराने लगता है। तब आगे चलने का जो योगमार्ग है वह अपने आप ही आगे आता है। वहाँ औटपीठ और गोल्हार अत्यन्त आनन्द और उत्साह से दोनों चक्रों का मार्ग जीतकर तत्परता से आगे बढ़ने लगते हैं। पीछे का विस्मरण हो जाता है, विकल्प का भी नाश हो जाता है और जीने की कला प्राप्त हो जाती है। वहाँ सहस्रदल कमलों से छूटी धारायें नीचे की ओर आती रहती हैं और सीधे स्वानंदजीवन (जीवनकला के निकट) के पास आती हैं। वहाँ का जल आनन्दपूर्वक सेवन करने से संतप्त हुई जमीन हरी हो जाती है, इन्द्रियों की बेचैनी शान्त हो जाती है और गुणों की त्रिवेणी डूब जाती है। तब भ्रमर गुफा के अन्दर जीव और शिव की एकान्त में भेंट होती है। उससे जीवत्व के प्रान्त और वृत्ति इन दोनों का नाश होता है। यहाँ आत्मस्वरूप से ऐक्य हो जाने के कारण शिव और शक्ति का उत्कृष्ट तालमेल हो जाता है और परमानन्द से शरीर सौष्ठव बढ़ जाता है और सुख का उपभोग ही शेष रह जाता है। उस समय उद्देश्य, बोलना, दृष्टांत अथवा वेदवाद आदि की बातें समाप्त हो जाती हैं। 'मैं' और 'तू' का अन्त होता है और अकेला एकान्त शेष रह जाता है। लेकिन यह कहनेवाला भी कोई नहीं रहता इसे ध्यान में रखो। इस प्रकार जो मेरे योगसामर्थ्य से बलवान हुए उन्हें ही मेरा आत्मसुख प्राप्त हुआ। लेकिन योगमार्ग का यह रास्ता अत्यन्त कठिन है और उसमें कष्ट भी अनेक हैं। इसलिये इसमें योग की प्राप्ति एकआध को ही होती है। मेरा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भक्तिमार्ग वैसा नहीं है और उसमें विघ्नों की तो बात ही नहीं है। भक्तों को यही स्थान प्राप्त होता है। उसका भी प्रकार सुनो। अब इस पर आप कहेंगे कि "योग कहाँ से मोल लिया? मूल पद का अर्थ छूट गया है और यह व्यर्थ की बकवास है।" क्योंकि इसी श्लोक में भगवान ने कहा है 'मासादर्वाक' (एक माह के अन्दर ही) प्राणायाम साध्य होता है। इसमें ध्वनितार्थ से योगाभ्यास को बताया गया है। इसीलिये मैंने उसे स्पष्ट किया। जहाँ प्राणापान पर विजय प्राप्त होती है, वहीं यह महायोग साध्य होता है। यह योग शास्त्रों में वर्णित है। इसीलिये मैंने उसे शास्त्रीय रीति से स्पष्ट किया। अहो! प्राणापान का निग्रह हो जाने पर, साधक की योग्यता के अनुसार सगुण अथवा निर्गुण उपासना के योग से उसके अनुकूल पद की सहज प्राप्ति होती है। एक बार प्राणापान पर विजय प्राप्त हो जाय और सगुणोपासना पूर्ण हो जाय तो उस योग से किस प्रकार निर्गुण की भी प्राप्ति होती है यह श्रीकृष्ण उद्धव से बता रहे हैं। तुम्हारा ध्यान किस प्रकार का है? यह प्रश्न उद्धव ने किया इसलिये सगुण ध्यान का निरूपण कर तत्काल निर्गुण स्वरूप की सिद्धता करके दिखा दी। मछली पकड़ने के लिये जिस प्रकार आमिष का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार चित्त को पकड़ कर रखने के लिये सगुण मूर्ति की योजना की जाती है। उसी मूर्ति का सगुण स्वरूप श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं।

हृत्पुण्डरीकमन्तः स्थमूर्ध्वनालमधोमुखम्।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम्॥ ३६॥

केले के फूल की तरह हृदय में अष्टदलात्मक कमल होता है। उसका मुँह नीचे की ओर तथा डंठल ऊपर की ओर होता है और वह बिलकुल कोमल होता है। इसीलिये प्राणायाम के सामर्थ्य से हृदयकमल को ऊर्ध्वमुख कर पूर्ण एकाग्रता से ध्यान करते हुए अष्टदल कमल को विकसित करना चाहिये। वहाँ अधोभाग में मुख और नीचे डंठल इस प्रकार हृदय कमल की स्थिति का ध्यान करने के बाद उसकी आठों पंखुड़ियाँ प्रफुल्लित हुई है ऐसी धारणा बना कर मन में स्थिर करना चाहिये।

कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम्।
वह्निमध्ये स्मरेद् रूपं ममैतद् ध्यानमङ्गलम्॥ ३७॥

फिर उसकी कर्णिका में सोलह कलाओं से युक्त चन्द्रमण्डल है ऐसी कल्पना कर उसका ध्यान करना चाहिये और उसके भीतर बारह कलाओं से युक्त देदीप्यमान सूर्यमण्डल है ऐसी कल्पना करनी चाहिये। उसके भी अन्दर इसे कलाओं से युक्त धधकता अग्निमण्डल है ऐसी कल्पना कर अग्निमण्डल में मेरी अत्यन्त मंगलमय दिव्य मूर्ति है ऐसा ध्यान करना चाहिये।

समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम्।
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम्॥ ३८॥

समानकर्णाविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम्।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम्॥ ३९॥

उद्धव! अब मेरी मूर्ति का ध्यान कैसा रहना चाहिये इसे ध्यानपूर्वक सुनो। यह कहकर श्रीकृष्ण अपनी मूर्ति का ध्यान स्वयं ही बताने लगे। न बहुत ऊँची न बहुत नाटी, सभी अवयव समान प्रमाण में, बैठक भी समतल, सुडौल और पुष्ट शरीर इन लक्षणों से युक्त मूर्ति का चिन्तन करना चाहिये। मूर्ति हमारी तरफ मुँह करके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

खड़ी है ऐसा ध्यान करना चाहिये। उस मूर्ति का मुखकमल प्रसन्न और अत्यन्त रमणीय होना चाहिये। वह इस प्रकार हो कि मूर्ति का मुँह देखते ही हृदय में आनन्द भर जाय। कमल की विशाल पंखुड़ियों की तरह कान तक पहुँचने वाले विशाल नेत्र हों। काजल से रेखांकित काली और धनुष्याकृति भौंहें हों। साँवले ललाट पर पीला चन्दन हो और उस पर कस्तूरी के दो टीके हों तथा उस पर कुकुमांकित अक्षत लगी हों। नाक और ललाट भव्य होना चाहिये। ललाट के दोनों ओर की ऊँचाइयाँ तेजःपुंज हो। मुँह नाजुक तथा कोमल हो और होंठ मूँगे के समान लाल हों और द्वितीया के चन्द्रमा की कला की तरह अत्यन्त सुन्दर ठुड्डी हो। भक्त चकोर को जैसे चन्द्रमा होता है वैसा ही मनोहर और सुकुमार मुख हो। मुख में हीरे के समान तेजस्वी अथवा अनार के दाने जैसे तेजयुक्त दंतपंक्ति हो। दोनों ओर समान और सुन्दर कान हों और उसमें मत्स्याकृति कुण्डल लटकते हों। गालों में मनोहर हास्य खिलता हो और कण्ठ की आकृति शंख जैसी हो। गले में तीस लड़वाली कंठी हो और उसमें कौस्तुभमणि शोभायमान हो। उसके तेज के प्रकाश का वर्णन कौन कर सकता है? उस तेज के सामने सूर्य भी फीका लगेगा। स्वाभाविक रूप से ही भुजंग जैसे दीखने वाले अजानबाहु चार हाथ, विशाल वक्षःस्थल हो और उस पर श्रीवत्स का चिह्न हो। हृदय पर दोनों ओर श्रीवत्स और श्रीनिकेतन; उदर गहरा हो और उस पर तीन पंक्तियाँ हों, दामोदर चिह्न उसमें प्रकट हो रहा हो। बिजली की चमक जैसा चमकीला, सुवर्ण की आभावाला पीला पीताम्बर परिधान की हुई घनश्याम की सुशोभित मूर्ति! जिस प्रकार आकाश में चाँदनी छिटकने पर नीले रंग पर शुभ्र वर्ण की आभा चमकती है उसी प्रकार श्यामवर्ण अंग पर शुभ्र चन्दन का उबटन होने से श्रीहरि की शोभा अप्रतिम दिखाई देती है।

शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम्॥ ४०॥

द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम्॥ ४१॥

कौस्तुभमणि से युक्त कंठ, पैरों तक लटकने वाली वनमाला कमर में परिधान की हुई रत्नों से जड़ित मेखला और उसमें लगे हुए झुनझुन करने वाले घुँघरू। कर में कंकण और बाहुओं में अंगद, शंख, चक्र, पद्म, गदा आदि आयुध हों और उँगलियों में नाना प्रकार की रत्नजड़ित मुद्रिकाएँ हों। गहरी और निर्मल नाभि जिसमें से बालक ब्रह्मा का जन्म हुआ और जो त्रैलोक्यरूपी कमल का भी मूल स्थान है, वह श्रीहरि का नाभिकमल है। उसके सुडौल, सुन्दर तथा स्वयंभू चरण मणिरत्नों के खम्भों की तरह शोभा दे रहे हैं। हरि के शरीर में वे चरण अत्यन्त शोभा प्रदान करते हैं और उस श्रीहरि के चरणों पर ध्वज, वज्र, अंकुरा, यवांकित ऊर्ध्व रेखा, पद्म, चक्र आदि शुभ चिह्न होने के कारण वे अत्यन्त सुन्दर दिखायी देते हैं। इंद्रनील मणि कांति का त्रिकोण बना हो, इस प्रकार मनोहर, पारदर्शी, श्यामवर्ण और कोमल सुकुमार तलुवों की आरक्त आभा है। तलुवों के नीचे आरक्त आभा और पैरों के ऊपर साँवली छटा है जिससे संध्या में नीले आकाश पर लाल छटा का आभास होता है। नभोमण्डल में चन्द्र की रेखा सुशोभित हो रही हो, इस प्रकार उँगलियों के सीरे पर नख शोभा दे रहे हैं। पिण्डलियाँ भी उसी प्रकार कोमल तथा मनोरम और जंघायें भी अत्यन्त सुन्दर हैं। सिंहों को अपनी कमर पर गर्व था किन्तु श्रीहरि की कमर देखते ही वे जंगल में भाग गये। अभी भी वे जंगल में ही निवास कर रहे हैं। लज्जावश वे किसी को मुँह नहीं दिखाते और श्रीहरि की कमर देखने को मिल सके इसलिये वे मेखला पर चित्र

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बन गये हैं। चरणों में नुपूरों का गजर, हाथ में कंकणों की झंकार, मस्तक पर विपुल केश-संभार और पुष्पों से गुंफित वे सुन्दर केश! जिस मूर्ति की ओर ध्यान लगते ही भूख-प्यास का भी विस्मरण होता है और एक बार ध्यान की पकड़ में आ जाये तो सुख का दिन उदित होता है। सुन्दर श्यामवर्ण से युक्त सर्वांग हो, मुद्रा अत्यंत श्रेष्ठ, उदार और गम्भीर हो मुखकमल सुन्दर और सुप्रसन्न हो और ऐसी मूर्ति का ध्यान किया जाय।

सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत्।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥ ४२॥

तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥ ४३॥

शायद नेत्रों के कटाक्ष भी चुभें, चन्द्रकिरण भी चुभें ऐसी सुकुमार मूर्ति का ध्यान करना चाहिये ध्यान पर भक्ति जमने के लिये मूर्ति जितनी कोमल हो उतना ही अच्छा। इन्द्रियजल विषयों पर लुब्ध रहने वाले मन को काबू में रखकर बुद्धिमान लोग एकनिष्ठा से मेरा ही ध्यान करते रहते हैं। इस प्रकार विषयों पर नियंत्रण कर अखण्ड मेरा ध्यान करने से हम स्वयं मत्स्वरूप हो जायेंगे इस प्रकार ध्यान लगाना चाहिये। चिन्तन करते समय यदि मन विचलित होने लगे तो विचारों से तथा बुद्धि के सामर्थ्य से सन्देह रहित होकर मेरा स्मरण करने से धारणा किये बिना ही ध्यान मन में बैठ जाता है। धारणा भले ही टूट जाय लेकिन ध्यान की छाप नहीं मिटती। मन मूर्ति में ही रहता है और वही सर्वांग में जम जाता है। प्रत्येक अंग और उपांग पर ध्यान के बहाने जो चित्त केन्द्रित हो जाता है उसे नियंत्रित कर केवल एकाग्र हास्यवसन पर केन्द्रित करना चाहिये। मूर्ति का सांगोपांग ध्यान छोड़ कर श्रीहरि के स्वानंदघन हास्यवदन का ही चिन्तन करना चाहिये। "तुम्हारा ध्यान किस प्रकार का होना चाहिये?" ऐसा उद्धव का प्रश्न था। उसका इस प्रकार उत्तर देकर आत्मस्वरूप के लक्षण भी भगवान बताते हैं। ध्यान में जो हास्यमुख आयेगा, उसमें मुख को छोड़ कर केवल हास्य का ही ध्यान करना चाहिये। फिर उस हास्य का भी ध्यान छोड़कर उस हास्य में जो गहरा आनन्द भरा हुआ है उसमें ही अपने मन को लीन करना चाहिये और उसमें ही सावधान होकर निष्ठा रखनी चाहिये। उस आनन्द से अपना मन आनन्दयुक्त होने पर साधकों को भी निश्चित रूप से आत्मानंद की प्राप्ति होगी

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ ४४॥

उस आनन्दपद की प्राप्ति होने पर सर्वत्र चिदाकाश ही दिखायी देने लगता है। उस चिदाकाश में सावधान होकर चित्त को एकाग्र करना चाहिये। फिर चिदाकाश, चित्त और चिन्तन ये ध्यान के तीनों भेद भूल कर परमानन्द से परिपूर्ण और भेदशून्य चित्स्वरूप आत्मा जो मैं हूँ, उसमें ही अपनी वृत्ति निमग्न करनी चाहिये। तब चिदाकाश का ज्ञान, अथवा ज्ञेय, दाता और ज्ञान इनमें से किसी की भी स्फूर्ति शेष नहीं रह जाती।

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि।
विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम्॥ ४५॥

इस प्रकार साधकों की आत्मवृत्ति मेरे स्वरूप में एकरूप हो जाने पर जब वे मत्स्वरूप हो जाते हैं तब 'मैं'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पन की जो स्फूर्ति प्रकट होती रहती है वह भी अद्वैत में विलीन हो जाती है। इस प्रकार उस समय 'मैं' और 'तू' का आभास भी नि:शेष हो जाता है और मेरा परमानन्दात्मक आत्मसौख्य ही अद्वैत स्वरूप से भर जाता है। जिस प्रकार एक ज्योति जब दूसरी ज्योति मिलती है तो दोनों का मिला कर एक ही तेज हो जाता है, उसी प्रकार जीव और चैतन्य इन दोनों की स्फूर्ति अद्वैतसुख का लाभ होने से एकरूप हो जाती है। सहस्रों दीपकों में तेल और बातियाँ डालकर जलाने से अलग-अलग सहस्र दीप जलते हैं लेकिन उन दीपकों में तेज एक ही होता है उसी प्रकार अद्वैत में जीव ज्ञानरूप ही है। देह और इन्द्रियों की उपाधि के कारण जीव में निरालेपन का आभास होता है लेकिन अद्वैत का बोध होते ही ऐक्य भाव के कारण जीव आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है। तब एक परमसुख ही शेष रहता है यह कहने वाला भी कोई नहीं रहता। एक अकेला आत्मसुख भर जाता है। जिस प्रकार शक्कर से ही शक्कर खा कर देखनी चाहिये या पानी को ही पानी में स्नान करना चाहिये या जिस प्रकार निश्चित रूप से सुगन्ध आने के लिये घृत को ही घृत में प्रवेश करना चाहिये, उसी प्रकार मेरी ध्यान की स्थिति साधकों के लिये अत्यन्त लाभकारी है। यही बात श्रीकृष्ण उद्धव को बताते हैं।

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः॥ ४६॥

इस प्रकार तीव्र ध्यानस्थिति से समाधि तक यथाविधि ध्यान करने पर साधक को तत्काल मेरी प्राप्ति होती है। मेरा यह ध्यान अत्यन्त उत्तम है। वह अगर सदा सर्वदा के लिये मन में अंकित हो जाय तो वह अधिभूत, अधिदैव और अध्याय यह तीन प्रकार का भ्रम रहने ही नहीं देता। विषय सेवन करने वाला, विषय और विषय का संभ्रम, ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञानोपक्रम; कर्म, कर्त्ता और क्रिया का भ्रम, इनका नामरूप भी शेष नहीं रहने देता। उसी प्रकार ध्येय, ध्याता और ध्यान; दृश्य, द्रष्टा और दर्शन; मन, मननकर्त्ता और मनन इनका भान समूल नष्ट कर देता है। देव, देवी और देवता, भज्य, भजन और भजन करने वाला; लक्ष्य, लक्षण और लक्षिता इनका पता ही नहीं चल पाता। इससे योग्यता के साथ महायोग, अथवा समाधि सुख का सुखोपभोग अथवा जीव और शिव का आत्मैक्य, यह बात भी शेष नहीं रह जाती। फिर बोध कैसा? बोधकर्ता किसका? बद्धता किसकी? और मुक्तता भी किसकी? ब्रह्मा का नाम इस बात का भी पूरी तरह विलय हो जाता है। सत्, चित् और आनन्द इन शब्दों का उच्चार, वह भी मुझे माया के ही कारण है। उसे भी स्पष्ट रूप से बताता हूँ, सुनो। असत् (मिथ्या) की व्याप्ति हटाने के लिये श्रुति मुझे सत् कहती है। जड़ की मिथ्या स्थिति दिखाने के लिये मुझे ज्ञानस्वरूप कहते हैं। उसी प्रकार दु:ख के साथ मेरा सम्बन्ध न आये इसलिये मुझे 'परमानंद' कहते हैं। इस प्रकार मुझे 'सच्चिदानंद' कहना यह भी विद्या की दृष्टि से विपरीत बोध ही है। जहाँ असत् जरा भी नहीं है वहाँ 'सत्' कहना कैसे सम्भव होगा? जहाँ अज्ञान ही नहीं है वहाँ 'ज्ञानमय' भी कौन कहेगा? जब दु:ख का अंश भी नहीं रहता वहाँ सुख किसे कहा जाय? इसलिये मेरे लिये नामरूप रखना पूर्णत: असंगत है। त्रिपुटी का भान पूरी तरह नष्ट होना इसी का नाम 'तीव्र ध्यान' है। उसी में मेरा भजन कर साधक आत्मानंद के पात्र बनते हैं। इस प्रकार मेरी इस ध्यानपद्धति से बड़े चमत्कार से संसार का विलय होता है और उद्धव! आत्मस्वरूप के निश्चय से मेरा शुद्धस्वरूप ही शेष रह जाता है। उस स्वरूप में न सुख है, न दु:ख है। सत् और असत् का उल्लेख भी नहीं है। अथवा वहाँ ज्ञान और अज्ञान इन कल्पनाओं की बाधा भी नहीं है। उसमें नाम, रूप, गुण 'मैं तू' की पहचान, विद्या-अविद्या का भान इनमें से कुछ भी नहीं है। सर्वत्र आनन्दघन आत्मस्वरूप ही व्याप्त रहता है। इस प्रकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भगवान ने अनेक प्रकार की युक्तियों से उद्धव को भक्तिसुख के झूले पर झुलाया और बोले, मेरी यह भक्ति अंत:करण में अंकित होने पर सभी सिद्धियों का लाभ होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। भक्ति से सुख स्वरूपी दुग्ध निकाल कर और उसका मंथन कर जो सार निकला उसे उन्होंने उद्धव को प्रदान किया। यह चौदहवाँ अध्याय है। इसमें भगवान ने स्वमुख से कहा, ''अहो! मैं केवल भक्ति के वश में हूँ। अन्य सभी उपाय गौण हैं।'' समस्त योगों का योगसंग्रह स्थान, वेदान्त का प्रमुख भण्डार और सारी सिद्धियों का परम रहस्य यही वास्तव में हरि की सच्ची भक्ति है। आत्मभाग्य का सच्चा लाभ, महत्सुख का सच्चा प्रेम और सभी बातों का माधुर्य यही श्रीहरि की एकनिष्ट भक्ति है। भक्तिपूर्वक भजन करने से चांडाल भी पावन हो गये। जिसने अपना मन भक्ति पर न्योछावर कर दिया, उसके अधीन भगवान सदासर्वदा रहता है। एकनाथ ने भी मुक्ति की उपेक्षा कर जनार्दन के प्रति एकनिष्ठ भक्ति समर्पित की है, इसलिये उसके ही प्रसाद से भगवद्प्राप्ति रात-दिन खिलौने की तरह वश हुई है। वह भले ही उस भगवत्प्राप्ति को स्वीकार न करे लेकिन वह स्वयं ही घर में घुस आती है। ऐसी गुरुभक्ति के कारण भगवान सर्वांग से खो गया है। जो भगवत्प्राप्ति चाहता हो उसे मेरी भक्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। जो निरन्तर श्रीहरि का स्मरण करता है, उसके पास भगवान निरन्तर खड़े रहते हैं। सकल भजन में जिसकी वाणी 'राम' इस दो अक्षर के नाम की गर्जना करती रहती है, वह इस चराचर में धन्य है। एकनाथ जनार्दन की शरण में जाकर नामस्मरण करते ही जन्म-मरण पीछे लौट गये और महासिद्धियाँ आँगन की दासी के रूप में खटने लगीं।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे एकाकारटीकायां
श्रीकृष्णोद्धव संवादे भक्तिरहस्यावधारण नाम चर्तुदशोध्याय: ॥ १४ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पन्द्रहवाँ अध्याय

ॐकार स्वरूप श्री जनार्दन को मेरा नमस्कार। तुम्हारे पवित्र चरण सभी सिद्धियों का मूलस्थान है, सभी निधियों में श्रेष्ठ निधि है और चारों पुरुषार्थ प्रदान करने वाले हैं। जमीन में रखी हुई निधि दिखायी दे इसलिये लोग आँखों में अंजन डालते हैं लेकिन उससे आँखें ही खराब हो जाती हैं और निधि दिखायी नहीं देती। लेकिन तुम्हारे चरणों में वह बात नहीं है। तुम्हारे चरणों की रज का वन्दन करने से सारी कालिमा दूर हो जाती है और निधि का पूर्ण रूप से दर्शन हो जाता है। अंजन डाल कर निधि निकालने जाओ तो वहाँ भी विघ्न उपस्थित हो जाता है। बलि देकर निधि प्राप्त करने जाओ तो वह भी नश्वर ही रहता है। लेकिन तुम्हारे चरणों की वह बात नहीं है। उनका सहज स्मरण करने से भी नित्य, सिद्ध, अव्यय आत्मस्वरूप का खजाना हाथ लगता है। यही निधि साध्य कर सनकादिक भाग्यशाली बन गये। नारद की उदारता की प्रशंसा भी इसी कारण से होती है। प्रह्लाद को सुरक्षा प्रदान करने वाला वज्रकवच भी इसी कारण प्राप्त हुआ। शुक वामदेव आदि को भी इसी कारण महत्त्व प्राप्त हुआ है। व्यास वाल्मीकि ने हरिभक्ति का जो इतना बड़ा व्यवहार किया उसका कारण यही था कि वे इसी पूँजी पर बलवान हुए थे और इसीलिये उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। उन्होंने ही निर्माण की हुई पुराण आदि पूँजी के आधार पर छोटे-बड़े लोग अपनी दरिद्रता मिटा कर सुख से जीवनयापन कर रहे हैं। उस सद्गुरु के पवित्र चरण श्रेष्ठ निधियों की भी निधि है। एका उस जनार्दन की शरण में है यही हमारी परिपूर्ण पूँजी है। उसी पूँजी से प्रस्तुत श्रीभागवत की प्राप्ति हुई है। उसी में श्रीकृष्ण उद्धव को ज्ञान का रहस्य बता रहे हैं। उन दोनों की यह बात एकान्त में हुई थी लेकिन वह सारे संसार में प्रसिद्ध हो गयी। राजा परीक्षित ने लोगों पर यह बहुत बड़ा उपकार किया है। उसी श्रद्धा के वश शुक्राचार्य शीघ्रता से आये और उन्होंने यह गुह्यज्ञान स्पष्ट करके दिखलाया। शुक्राचार्यजी की यह महिमा विस्मयकारी है। यह गुह्यज्ञान केवल कान में न बताकर केवल श्रवण से ही संसार बन्धन तोड़कर उन्होंने परीक्षित का उद्धार किया। श्रवणमाधुर्य को इतने प्रभावशाली ढंग से प्रसिद्ध किया फिर भी अभागे दाँत भींच कर बैठे रहते हैं और बन्द कान खोल नहीं पाते। यदि प्रेमपूर्वक भगवत्कथा का सार उनके कान में डालने का प्रयत्न करो तो कथा का सार बाहर ही गिर जाता है, कान में एक बूँद भी नहीं जा पाता। इसीलिये विषय के लिये रोता रहता है। वह अपने अंत:करण में कथामृत की एक घूँट भी नहीं जाने देता। किन्तु कथा कहने वाला वक्ता भी वैसा ही रोता रहता है, वह भी अपने अंत:करण में एक घूँट नहीं जाने देता। जैसे ईख के रस का घाना ईख कां रस निकालता रहता है और रस से बर्तन भरता जाता है, नीरस चीपड़े करकराते रहते हैं वही स्थिति वक्ता के मुख की होती है। कथामृत की जो माधुरी है उसे सिवाए सद्गुरु के दूसरा कौन चख सकता है? इसीलिये जिसने यह माधुर्य चखाया है उसी जनार्दन की शरण में मैं आया हूँ। लेकिन इस माधुर्य का स्वरूप बड़ा विचित्र है, क्योंकि इस माधुर्य को चखते समय सद्गुरु स्वयं माधुर्य बनकर उसका स्वाद चखाता है। बालक के हाथ में फल देने पर उसे कैसे खाया जाता है इसे बालक नहीं जानता। इसलिये उसका बाप स्वयं फल खाकर उसका रस बच्चे के मुँह में डाल कर उसे माधुर्य का स्वाद चखाता है। बच्चे के मुँह को वह स्वाद लग जाने पर वह स्वयं दिन रात वह फल चखता रहता है। उसी प्रकार हमें भी जनार्दन ने श्रीभागवत की माधुरी बता दी। वह माधुरी अब मुँह में इतनी अधिक लग गयी है कि उसमें एक विशेष प्रकार का मजा आता है। वह मजा इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकार है कि अब भले ही मैं उस माधुर्य को छोड़ दूँ लेकिन वह माधुर्य मुझे नहीं छोड़ता। उस माधुरी ने मुझे निगल लिया है। इससे मेरा 'मैं पन' भी उस माधुरी में समा गया है। वह मिठास इतनी अधिक बढ़ गयी है कि उसने मेरे भीतर या बाहर कोई स्थान रीता नहीं रहने दिया है। यह शुक्राचार्य के मुख का श्रेष्ठ फल है। माधुर्य से वह अत्यन्त रसाल बन गया है। ऊपर की छाल और भीतर की गुठली छोड़कर सारा माधुर्य फल के रूप में एकत्र हो गया है। उस श्री भागवत का माधुर्य अर्थात् भक्ति का स्वाद श्रीकृष्ण ने प्रेमपूर्वक उद्धव के माध्यम से बार-बार चखाया है। मेरा भजन करते समय, मेरी मूर्ति का ध्यान करते समय समाधि तक का सारा साधन श्रीकृष्ण ने उद्धव को बतलाया। श्रीकृष्ण के मुख के चौदहवें अध्याय के वे शब्द श्रवण कर उद्धव को ऐसा विलक्षण आनन्द हुआ और मेरा स्वार्थ मेरे हाथ लगा ऐसा उसे लगा। मेरा ध्यान सदासर्वदा श्रीकृष्ण मूर्ति की ओर लगा हुआ है। उसी से समाधि का समाधान होता है। अब आगे कौन-सा प्रश्न पूछूँ? चौदहवाँ अध्याय सुनकर उद्धव के मन का यही दृढ़ निश्चय हुआ। यह देखकर भगवान ने स्वयं अभिप्राय सुझाया। दृढ़ विश्वास से मेरा भजन और ध्यान करने से आगे सिद्धि का विघ्न उपस्थित होता है। उस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं। पन्द्रहवें अध्याय में ऐसा निरूपित किया गया है कि भक्तों द्वारा मेरा भजन करने से सिद्धियाँ अवश्य उत्पन्न होती हैं किन्तु वे विघ्नकारक होती हैं इसलिये भगवान उनका त्याग करने के लिये कहते हैं।

श्री भगवानुवाच

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥ १॥

जिसने प्राणापान सिद्ध कर लिया, जिसका इन्द्रियों पर नियंत्रण हो गया और जिसके मन में मेरी भक्ति के प्रति उल्हास उत्पन्न होकर दिन-रात चित्त मेरे प्रति लग गया उसके प्रति अनेक सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं और वह जब भी जिस चीज की भी इच्छा करता है, उसकी वह इच्छा पूर्ण होती है इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह सुनते ही उद्धव के मन में चमत्कार हुआ और उसने मन ही मन कहा कि उन सिद्धियों की साद्यंत कथा अब श्रीकृष्ण से पूछी जाय।

उद्धव उवाच

कया धारणया कास्वित् कथंस्वित् सिद्धिरच्युत।
कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धि दो भवान्॥ २॥

कौन-सी धारणा करने से कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है? उसे पूरे विधि-विधान के साथ बतायें। हे कृपानिधि! उन सिद्धियों की संख्या क्या है इसका भी निवेदन करें क्योंकि हे अच्युत! इन सारी सिद्धियों के बारे में जानने वाले सचमुच एक तुम ही हो और योगियों को सिद्धि प्रदान करने वाले हो। इसलिये कृपया मुझे उनके सम्बन्ध में बतायें।

श्रीभगवानुवाच

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणा योगपारगैः।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः॥ ३॥

तब योगवेत्ता, योगसम्पन्न एवं महासिद्ध श्रीकृष्ण बोले—सिद्धियाँ अठारह हैं तथा उन्हें धारण करने की विधियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। उनमें आठ सिद्धियाँ अत्यन्त श्रेष्ठ और प्रसिद्ध हैं और जो मेरे स्वरूप में स्थिर होता है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसे ही वे प्राप्त होती हैं। दूसरों को वे कभी भी प्राप्त नहीं होतीं। मन, वाणी अथवा कर्म से जो देह का देहपन भूल कर मेरे ही स्वरूप में युक्त होकर ज्ञानस्वरूप होता है उसके पास ये सिद्धियाँ हाथ जोड़कर खड़ी रहती हैं लेकिन वह उधर भूल कर भी नहीं देखता। अब यदि शेष इस सिद्धियों के बारे में पूछो तो वे सत्त्वगुण से सम्पन्न होने के कारण साधक के शुद्धसत्व अत्यन्त सहजता से मेरे स्वरूप में रात-दिन विचरण करती रहती हैं उन आठ महासिद्धियों की कथा अब तुम्हें सुनाऊँगा।

अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमोशिता॥ ४॥

गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः॥ ५॥

अणिमा, महिमा और लघिमा ये तीनों सिद्धियाँ देहसिद्धि के योग से प्राप्त होती हैं। इन्द्रियों सहित उन विषयों की प्राप्ति चौथी महासिद्धि होती है। परलोक के अदृष्य विषयों का ज्ञान अर्थात् प्राकाश्य श्रुतदृष्टता पाँचवीं महासिद्धि है और शक्ति की प्रेरणा करने वाली असंग ईशिता सचमुच छठी महासिद्धि है। जिसमें मेरे ही धर्म प्राप्त होते हैं उसे सिद्धान्ती लोक 'वशिता' इस नाम से जानते हैं। यह सातवीं महासिद्धि है। त्रैलोक्य में जो भी अनुपम भोग हैं वे उत्तम भोग बिना परिश्रम किये केवल इच्छा करने मात्र से सुगम हो जाते हैं। 'यत्कामस्तहवस्यति' अर्थात् इच्छित सुख की प्राप्ति अथवा त्रैलोक्य की भोगसंपत्ति अकस्मात् एक ही समय प्राप्त होना यही प्रसिद्ध आठवीं सिद्धि है। इन आठ महासिद्धियों का समुदाय स्वाभाविक रूप से मेरे पास रहता है। साधक प्रयास करके जब थक जाता है तो उनमें से एकआध सिद्धि उसे प्राप्त होती है। तो ये महासिद्धियों के रूप हैं। अब जो अन्य दस सिद्धियाँ हैं उनके सम्बन्ध में भी हे उद्धव! तुम्हें साद्यंत बताता हूँ।

अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम्।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम्॥ ६॥

स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्।
यथासंकल्पसंसिद्धिराज्ञाऽप्रतिहतागतिः॥ ७॥

क्षुधा, तृष्णा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु ये छः उर्मियाँ देह को जरा भी पीड़ा नहीं देतीं यह पहली 'अनुर्मि सिद्धि' है। एक ही जगह बैठ कर दूर का भाषण सुनायी पड़ना यह 'दूरश्रवण' नामक दूसरी अद्भुत सिद्धि है। त्रैलोक्य में कहीं भी होने वाली हलचल मनुष्य एक स्थान पर बैठ कर देख सके यह तीसरी सिद्धि का चमत्कार है। उसका नाम है दूरदर्शन कला। 'मनोजय' सिद्धि में मनुष्य जिधर की कल्पना करता है उधर मनोवेग से शरीर जा सकता है। यह चौथी सिद्धि है। 'कायरूप' सिद्धि ऐसी है कि इसमें मनुष्य जिस स्वरूप की इच्छा करता है उसे तत्काल धारण कर लेता है। यह सचमुच पाँचवीं 'कामनासिद्धि' है। अपना शरीर दूर रखकर मनुष्य दूसरे के शरीर में प्रवेश करता है वह 'परकाया प्रवेश' सिद्धि है। यह छठीं उत्तम सिद्धि है। काल के वश में न रहकर अपनी ही इच्छा से मरना यह सातवीं सिद्धि है। उसका नाम है 'स्वच्छंद महना'। स्वर्ग के देवताओं की क्रीड़ा का दर्शन करना तथा शरीर में वैसी क्रीड़ाएँ करने का सामर्थ्य होना यह आठवीं सिद्धि है। निश्चित किया हुआ उद्देश्य सिद्ध होना नौवीं सिद्धि है। जिसकी आज्ञा राजा भी शिरसावंद्य समझता है और जो कहीं भी आ जा सकता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है, जिसकी आज्ञा और गमन पर कहीं भी प्रतिबन्ध नहीं है यह दसवीं सिद्धि का लक्षण है। अब इनसे भी क्षुद्र सिद्धियों के लक्षण बताता हूँ।

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥ ८ ॥

क्षुद्र सिद्धियाँ पाँच प्रकार की हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान का जो ज्ञान होता है वह पहली सिद्धि है यह जान लो। सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मृदु और अत्यन्त कठोर इन छंदों के वशीभूत न होना यह दूसरी सिद्धि का लक्षण है। दूसरे का स्वप्न बतलाना, दूसरे के मन की बात जानना इसे तीसरी सिद्धि कहते हैं। अब चौथी का लक्षण सुनो। अग्नि, वायु, उदक, शस्त्र, विष तथा विष आदि का प्रभाव न होने देना यह चौथी सिद्धि है। किसी से हार न मानना सदा विजयी होना, कहीं भी अकेले ही विजय प्राप्त करना यह पाँचवीं सिद्धि है।

एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः।
यया धारणया यास्याद् यथा वा स्यान्निबोध मे॥ ९ ॥

इस प्रकार मैंने सिद्धियों का स्वरूप उनके उद्देश्यों के साथ तुम्हें बतलाया। अब किस धारणा से और किस स्थिति से कौन सी सिद्धि प्राप्त होती है यह भी सुनो। अष्ट महासिद्धियों की धारणा, दस सिद्धियों के गुण और पाँच क्षुद्र सिद्धियों के लक्षण साध्य करने के लिये श्रीकृष्ण उपयुक्त साधनों का वर्णन करते हैं।

भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम॥ १० ॥

देखो। अष्टमहासिद्धि स्वाभाविक रूप से मुझ में ही होती हैं किन्तु उन्हें साध्य करना कठिन है। लेकिन जो उन्हें साध्य करना चाहता है उन्हें साधन बताते हैं। मैं अणु रेणु से भी अधिक सूक्ष्म हूँ। मैं प्रत्येक जीव के हृदय में रहता हूँ। वहाँ जो भी हो उसे मन को अणुमात्र सूक्ष्म बनाकर मुझमें स्थिर रखना चाहिये और वे अणुरेणु जो सदा मेरे ही स्वरूप का ध्यान करेंगे उसका देह भी अणु की तरह ही होता है और जिस प्रकार कीटक भ्रमर में रहता है उसी प्रकार उसे 'अणिमां' सिद्धि प्राप्त होती है। जिस पदार्थ में छिद्र है उसमें से भी वह निकल जाता है। संसार की आँखों में समाता है किन्तु किसी की आँखों को चुभता नहीं है। ऐसी स्थिति आ जाए तो समझ लो कि 'अघिमा' सिद्धि प्राप्त हो गयी।

महत्यात्मन्मयि परे यथासंस्थं मनो दधत्।
महिमानमवाप्नोति भूतानां च पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥

मेरा स्वरूप अनंत और अपार है। महत्त्व से भी अधिक बड़ा है और सच तो यह है कि महतत्त्व का भी वास्तविक नियंता जो ईश्वर है वह मैं ही हूँ। उस सिद्धि को साध्य करने के लिये जो पुरुष मेरा ध्यान भी अपरंपार-विशाल है यह मानकर धारणा करेगा उसका शरीर भी उसी प्रकार विशाल होगा। इसलिये इस सिद्धि का महातम भी बहुत बड़ा है। देखो! रुई के तंतु भी सूक्ष्म होते हैं फिर भी उससे हमारी इच्छा के अनुरूप बड़ा वस्त्र तैयार होता है। उसी प्रकार जो मेरे ध्यान की कल्पना भी विशाल समझ कर करता है उसे मेरी महासिद्धि ही प्राप्त होती है। उसके भार की कल्पना करें तो समस्त पर्वतों के साथ धरा भी कम पड़ेगी। सिद्धि के कारण वह इतनी ऊँचाई प्राप्त करता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रञ्जयन्।
कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात्॥ १२॥

वायु आदि प्राण की तरह सूक्ष्म तत्त्व हैं, जिनसे कालसूत्र का मापन किया जाता है वह परमाणुस्वरूप भगवान ही है। जो सदा एकनिष्ठा से उसी का ध्यान करेगा, उस परमाणुस्वरूप ध्यान की ऐसी महिमा है कि उसके कारण देह को हलकापन प्राप्त होता है। वह मशक पर चढ़ कर आकाश में भ्रमण करता है। अणिमादिक जो तीनों धारणायें हैं वे इस देह की ही सिद्धियाँ हैं, यह ध्यान में रखो। वे ही इस देह में सूक्ष्मता, जड़ता और हलकापन आदि लक्षण उत्पन्न करती हैं। हे बुद्धिमान उद्धव! अब जो शेष पाँच महासिद्धियाँ हैं उनकी धारणा विधियाँ भी बताता हूँ। सुनो।

धारयन् मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम्।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राग्नोति मन्मनाः॥ १३॥

मूल रूप से जो अहंकार रहता है जिससे इन्द्रियों के समस्त विकार उत्पन्न होते हैं और इन्द्रियों का आश्रय भूत, उन्हें चेतना प्रदान करने वाला, ऐसा देवाधिदेव ईश्वर जो मैं हूँ उसका ध्यान करने से इन्द्रिय के अधिष्ठान में जो देवता होते हैं उनसे एकात्मता होकर उसमें इन्द्रियप्रकाशक धर्म का उदय होता है। इस कारण से इन्द्रियों के जो व्यापार चलते रहते हैं वे सब वह स्वयं वर्हा प्रकट होकर देखता रहता है। इन्द्रियप्राप्ति की सिद्धि का इतना वैभव वह साध्य कर लेता है। इससे जिन-जिन इन्द्रियों का व्यापार वहाँ चलता रहता है वह सब उसने ही किया है ऐसा उसे प्रतीत होता है। उसे 'इन्द्रियप्राप्ति' नामक सिद्धि कहते हैं।

महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम्।
प्राकम्यं पारमेष्ठ्यमे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः॥ १४॥

यह जो महत्तत्व है उसे ही माया का प्रथम स्फुरण समझ लो। इसी को 'सूत्रप्रधान क्रिया' कहते हैं। उसमें मैं स्वयं जन्मरहित होते हुए भी उस सूत्र का सूत्रात्मा बन गया हूँ। मेरे उस स्वरूप का जो सावधान चित्त से ध्यान करता है उसे उस सूत्र के प्रकाश के प्रवाह से ब्रह्माण्ड और हिरण्यगर्भ भी प्रकाशमान हो जाते हैं, वह प्रकाशकता ही वश में हो जाती है। इस प्रकार के निदिध्यास से वह सूत्रात्मा को देखता रहता है। उस निदिध्यास में ही वह कोटि ब्रह्माण्डों का निर्माण कर सकता है। इतनी उत्तम प्रकाश सिद्धि साधकों को मेरे सिवा प्राप्त नहीं होती।

विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत् कालविकग्रहे।
स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रक्षेत्रज्ञचोदनाम्॥ १५॥

माया आदि त्रिगुणों का नियंता, कलिकाल का आकलन करने वाला, उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करने वाला और जो सचमुच अंतःकरण में वास करता है उस विष्णु का अर्थात् मेरा जो निरन्तर ध्यान करता है उसे ईशत्व प्राप्त होने के कारण अदृष्य वस्तुओं को देखने का सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है। शतरंज का मिथ्या खेल खेलने वाला मोहरों की गति अच्छी तरह जान लेता है उसी प्रकार संसार का अनुभव मिथ्या होते हुए भी वह जीवों की हलचल स्वयं समझ सकता है। वह जीव आदि शरीर की प्रेरणा स्वयं कर सकता है। इस प्रकार अंतर्यामी नारायण का ध्यान करने से इतनी सिद्धि प्राप्त होती है इसे ध्यान में रखो। वह अपने प्रताप के सामर्थ्य से मशक से पर्वत के टुकड़े करवा देता है। किसी दुर्बल के हाथों सृष्टि का विनाश करवा कर पुनः उसकी रचना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करवा सकता है अथवा मूशक के हाथों इन्द्र का विनाश करा सकता है। इस प्रकार वह किसी को मरवा देता है, किसी को पुनः जीवित करता है और अचेतन को भी सचेतन कर देता है। इस प्रकार का ईशत्व (ईश्वरत्व) प्राप्त होना यह इस सिद्धि का माहात्म्य है।

नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते।
मनो मय्यादधद् योगी मद्धर्मा वशितामियात्॥ १६॥

जीव, शिव और प्रकृति इससे परे जो चौथी स्थिति है जिसे ज्ञानी लोग 'नारायण' कहते हैं, उसी प्रकार जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इनसे भिन्न जो तुरीयावस्था है उसे भी ज्ञानी 'नारायण' ही कहते हैं। दृष्य, द्रष्टा और दर्शन इनसे परे जो चौथा पुरुष है उसे भी लोग स्वानुभव से 'नारायण' ही कहते हैं। जो वस्तु त्रिपुटी के अन्दर होते हुए भी त्रिपुटी से भिन्न है और जो त्रिपुटी से अलिप्त रहने वाला है वह मैं सुप्रसिद्ध नारायण हूँ। यश, श्री, वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य और औदार्य ये छह गुण जिसमें पूर्ण रूप से निवास करते हैं वह नारायण भगवान मैं हूँ। नारायणरूपी मेरा ध्यान करने से मेरी 'वशिता' नामक सिद्धि प्राप्त होती है। सारे कर्मों में रहते हुए वह अलिप्त रहता है और सारे भोग भोग कर भी अभोक्ता रहता है।

निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः।
परमानंदमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते॥ १७॥

सत्त्वगुण चित्त की देवता है, इन्द्रियाँ रजोगुण हैं और विषय केवल तमोगुण है जो परमानन्द को आवृत्त कर देते हैं। ये ही तीन गुण परमानन्द पर आवरण बन कर छा गये हैं। उन्हें छोड़कर मेरे निर्गुण और परिपूर्ण ब्रह्म का जो ध्यान करता है उसे परमानन्द की ऐसी प्राप्ति होती है जिसमें समस्त इच्छाओं का लोप हो जाता है। परमानन्द की प्राप्ति होने पर सारी इच्छाएँ लुप्त हो जाती हैं। सूर्योदय होते ही जिस प्रकार चन्द्रमा के साथ सभी नक्षत्र लुप्त हो जाते हैं उसी प्रकार परमानन्द के उदर में इच्छाओं की शशियाँ लुप्त हो जाती हैं। उस समय इन्द्रिय सुख की बातें लजा कर वहीं विलुप्त हो जाती हैं। हे उद्धव! सुनो। परमानन्द प्राप्ति के बिना कैसी भी युक्तियाँ क्यों न की जाएँ लेकिन उससे काम की निवृत्ति कभी नहीं होगी। इन अष्टमहासिद्धियों की धारणा मैंने तुम्हें बता दी। इन सिद्धियों को साध्य करने का सामर्थ्य देवता, मनुष्य आदि के पास नहीं है। इस प्रकार इन आठ महासिद्धियों की धारणाविधि मैंने तुम्हें बता दी। अब गुणहेतु का प्रबोध सावधानी से सुनो।

श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि।
धारयञ्छ्वेततां याति षड्ऊर्मिरहितो नरः॥ १८॥

रजतम कार्यों से दूर होकर सत्त्वगुण का अभिमानी मैं श्रीहरि उसकी जो विश्वव्यापकता से धारणा करेगा वह मेरे ही सत्त्व से सम्पन्न होकर षड्ऊर्मिरहित होगा और उसे शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, तृषा आदि स्पर्श नहीं करेंगे।

मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा घोषमुद्वहन्।
तत्रोपलब्ध्वा भूतानां हंसो वाचः शृणोत्यसौ॥ १९॥

नाद के साथ शब्दों का माहात्म्य विश्रांति के लिये आकाश में अवश्य आना ही चाहिये। उस आकाश का भी आत्मा मैं हूँ। आकाश का वास भी मुझमें ही है। हे उद्धव! सचमुच ही मैं नाद के साथ प्राणों का भी प्राण, वाणी की भी वाणी, सरस्वती का जीवन हूँ यह जान लो। मेरा जो दृढ़तापूर्वक ध्यान अपने हृदय में करेगा वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वयं विचित्र वाचाओं का श्रवण करेगा। अंतकरण में मेरी सनाद धारणा करने से संसार की गुप्त बातें भी उसके कर्णपटल पर आती हैं। उस समय दूरश्रवण सिद्धि साद्य होती है।

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि।
मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक्॥ २०॥

मैं ही सूर्य हूँ यह जान कर जो आँखों में मेरा ध्यान करता है तब आँख ही मद्रूप होकर स्वयं सूर्यस्वरूप हो जाती है। इस प्रकार नेत्र, सूर्य और मैं इन तीनों की एकात्मता होते ही वह स्वयं वहाँ सूक्ष्म द्रष्टा बन जाता है और सारे संसार को देखने लगता है। अपने ही स्थान पर बैठकर वह चौदह लोकों का दर्शन एक ही समय ले सकता है। यही 'दूरदर्शन' सिद्धि है।

मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनु वायुना।
मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः॥ २१॥

मन अत्यन्त गतिमान है। उस मन का भी मन मैं हूँ यह ध्यान में रखो। उस मन को प्राणायाम के साथ ध्यानधारणा द्वारा मुझमें एकरूप करना चाहिये उस ध्यान धारणा के प्रभाव से देह को मनोवेग से इधर-उधर गमन करने की शक्ति प्राप्त होती है। संकल्प से ही जिधर मन जाता है वहाँ देह का भी गमन होता है। यही मनोजव सिद्धि है यह जान लो। उसकी ध्यान धारणा का ढंग इस प्रकार है।

यदा मन उपादाय यद् यद् रूपं बुभूषति।
तत्तद् भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः॥ २२॥

पहले मनोजवसिद्धि की धारणा कर बाद में मेरी धारणा करनी चाहिये। उस भावना में मेरा अतर्क्य सामर्थ्य है। वह भी मेरे शरीर में है, इसकी जो कल्पना करता है उसे मेरी अनेक रूप धारण करने की तथा बाद में उन्हें विसर्जन करने की सत्ता प्राप्त होती है। इस प्रकार मेरी ध्यान धारणा करने से मेरा सामर्थ्य उसके मन को प्राप्त होता है। फिर वह जिस स्वरूप की कल्पना करता है उसे वह स्वयं प्राप्त कर लेता है। देव, मनुष्य अथवा नाग इनमें से जिसका भी स्वरूप धारण करने का संकल्प करता है, वह रूप उसे तत्काल प्राप्त हो जाता है। यह मेरी कामरूपसिद्धि है।

परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत्।
पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षऽड्घ्रिवत्॥ २३॥

परकाया प्रवेश करते समय देह के सभी प्राणों को नियंत्रित कर जिस देह में प्रवेश करना हो उसमें अपनी भावना धारण करनी चाहिये। उस समय लिंगदेह में जीव और प्राण की एकात्मता होकर देहांतर की अहंता बाह्यवायु के मार्ग से मिल जाती है। वह इस देह का अभिमान छोड़कर उसमें जाकर मिलते ही उस देह में प्रवेश कर 'मैं' कह कर उठ खड़ी होती है। जिस प्रकार भ्रमर वायु के वेग से एक कमल से दूसरे कमल में प्रवेश करता है उसी प्रकार जीव भी अपना शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। अब मेरे स्वरूप की ध्यानधारणा कैसी होती है, उसका भी श्रवण करो। मेरे स्वरूप का दृढ़ ध्यान करने से पूरे शरीर में तू ही है ऐसा आभास होता है। अपने पहले देह को छोड़े बिना दूसरे देह में इस प्रकार प्रवेश होता है। अब अपनी ही इच्छा से किस प्रकार देह का त्याग किया जाय इसके लक्षण नारायण ने अगले श्लोक में निरूपित किये हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पाष्ण्यार्ऽऽपीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्धसु।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम्॥ २४॥

देहत्याग करने के लिये योगमार्ग से प्राण धारण करना यही स्वच्छंद मृत्यु का लक्षण है। इसके लिये प्राणों का ब्रह्मरंध्रतक जो मार्गक्रमण कराना है उसकी योगधारणा सुनो। गुह्यद्वार के स्थान पर बायें पैर की एडी जोर से दबाकर बैठाओ और इस प्रकार गुह्यद्वार बन्द कर अपानवायु का अधोगमन बन्द कर दो। हृदय में विचरण करने वाले प्राण का सदा ऊर्ध्वगमन होता है उसे प्राणायाम से नियंत्रित कर अधोमुख करो। इस प्रकार अपानवायु का नीचे जाना बन्द होकर वह ऊपर चढ़ कर स्वाधिष्ठान चक्र तक पहुँचेगा और प्राण भी अधोमुख होकर नीचे आते-आते उसी चक्र तक पहुँचेगा। वहाँ प्राण अपान का समाधान होकर उनका ऐक्य हो जाता है और उन दोनों का मिलन होने से वे दोनों एकरूप होकर ही आगे के मार्ग का उल्लंघन करते हैं। अपान का अधोमार्ग भी छूट जाता है, प्राण हृदय से गले की ओर जाता रहता है वह भी नहीं जा पाता और दोनों सुषुम्ना का द्वार खोलकर उसके बिल में से सीधे ऊपर जाने लगते हैं। इस प्रकार सुषुम्ना को जीत कर वे आगे घुस कर मार्ग में आने वाले छहों चक्रों के परदों को दूर कर काकीमुख का द्वार खोलकर उसमें से ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाते हैं। लेकिन वहाँ ठीक तरह से पहुँच जाने पर वर्तमान देह को छोड़कर जिस देह को धारण करने की उसकी इच्छा रहती है वह देह योगी को प्राप्त होता है। वैकुण्ठ, कैलास अथवा अमरावती जाने की अथवा सार्वभौम चक्रवर्ती होने की जो इच्छा उसके मन में होती है उस स्थिति को वह तत्काल प्राप्त कर लेता है। यदि वह ब्रह्मस्वरूप की इच्छा करेगा तो पूर्वदेह का मोह छोड़ कर शुद्ध ब्रह्म के ध्यान में निमग्न हो जायगा और स्वतः सिद्ध ब्रह्म हो जायगा। इस प्रकार प्राण धारण कर जो प्राण छोड़ता है वही उसका स्वच्छंद मृत्यु का लक्षण है। कलिकाल भी उसके अधीन रहता है।

विहरिष्यन् सुराक्रीडे मत्स्थ सत्त्वं विभावयेत्।
विमानेनोपतिष्ठंति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः॥ २५॥

अथवा यदि देवताओं के दिव्य उपभोगों में योगी का चित्र आसक्त हुआ हो तो उसे उन उपभोगों को प्राप्त करने के लिए मेरे सत्व की ही धारणा करनी चाहिये। जिस सत्व के योग से मैंने स्वर्ग में देवताओं की स्थापना की है उस सत्त्वगुण की धारणा वह अपने हृदय में करता है। यदि वह देवांगनाओं की कामना करता है तो उसे स्वर्ग के देवताओं का सम्मान भी प्राप्त होता है। वह विमान में बैठकर अप्सराओं के साथ पर्याप्त कामविलास करता है।

यथा संकल्पयेद् बुद्ध्या यदा वा मत्परः पुमान्।
मयि सत्ये मनो युञ्जंस्तथा तत् समुपाश्नुते॥ २६॥

संकल्पमात्र से सारे कार्य करने वाले मुझ सत्य संकल्प भगवान में जो अत्यन्त विश्वासपूर्वक अपना चित्त स्थिर करता है वह जब भी, जहाँ भी, जिस भी काम में और जिस स्थिति में भी जो इच्छा मन में करेगा उसके वे सारे मनोरथ सफल होते हैं। जो ध्यानधारणा से मुझ सत्यसंकल्प भगवान को हृदय में स्थापित करेगा वह मन में जो भी इच्छा करेगा उसे वह प्राप्त करेगा।

यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान्।
कुतश्चिन्न विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम॥ २७॥

अथवा सबका नियंता तथा स्वतंत्र मेरा ध्यान करने से योगी को मत्स्वरूप ही प्राप्त होता है। सचमुच का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भगवान मैं हूँ यह जिसने मान लिया उसकी आज्ञा को श्रेष्ठ देवता भी शिरसांवद्य मानते हैं। अर्थात् पशु-पक्षी भी उस आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेंगे। जिस प्रकार मेरी आज्ञा सब पर चलती है उसी प्रकार उसकी आज्ञा भी पूरे चराचर पर चलती है। उसकी आज्ञा का कोई रत्तीभर भी उल्लंघन नहीं करता। ऐसी वास्तविक 'आज्ञासिद्धि' उसे प्राप्त होती है। अब जो पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ हैं उसके बारे में भी तुम्हें बताता हूँ।

मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य योगिनो धारणाविदः।
तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्युपबृंहिता॥ २८॥

संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय सचमुच मेरे ही अधीन है। मेरा भजन करने से अंत:करण अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। शुद्ध हुए उस अंत:करण में भूत, भविष्य और वर्तमान तथा सांसारिक जन्मभोग और मृत्यु आदि का त्रिकालज्ञान होने की सिद्धि प्राप्त होती है।

अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः।
मद्योगश्रान्तचित्तस्य यादसामुदकं यथा॥ २९॥

चित्त जब अत्यन्त प्रयास करता है तब कहीं मेरा उससे संयोग होता है। चित्त का मेरे साथ योग होने पर शरीर भी योगयुक्त हो जाता है और उस शरीर को बड़े-बड़े द्वंद्वों से भी बाधा नहीं होती। उसे शीत अथवा ऊष्मा, मुलायम अथवा कठोर की बाधा नहीं होती। देह में अग्नि का स्पर्श होने पर भी वह नहीं जलता। जिस प्रकार जलचर जल में निश्चिंत होकर विचरण करते हैं उसी प्रकार वह भी अग्नि में विश्राम करता रहता है। उसे 'अद्वंद्वता' नाम की यह सिद्धि प्राप्त होती है। इसी सिद्धि की धारणा से 'प्रतिष्ठभं' नामक सिद्धि उत्पन्न होती है। सारी बाधाओं से मुक्त करने का व्रत जिसने लिया है उस 'प्रतिष्ठभं' नामक़ सिद्धि का लक्षण सुनो। उसे बाहर के वायु के झंझावात से कभी पीड़ा नहीं होती। वह प्राणों को भी जीत कर उसे दासी बना लेता है। डंठल निकाले हुए फूलों की शय्या पर जैसे कोई शयन करता है उसी प्रकार वह धधकते अंगारों पर सोता है। उसे उस अग्नि से पीड़ा नहीं होती। जाड़े के दिनों में सिद्ध को ठंडे पानी में डुबोने से भी वह बाहर निकलने के लिये नहीं छटपटाता। जिस प्रकार मछली जल में खेलती है उसी प्रकार वह मौज से क्रीड़ा करता रहता है अथवा ग्रीष्मऋतु में तपती धूप में यदि सिद्ध को रख दिया जाय तो जिस प्रकार सूर्यकिरणों से कमल प्रफुल्लित होता है उसी प्रकार धूप लगने से वह अधिक ताजा हो जाता है। सूर्य के ताप से उसे जरा भी बाधा नहीं होती। उसी प्रकार सिद्ध को शस्त्र के घाव से भी पीड़ा नहीं होती। शस्त्र यदि आकाश पर घाव करने का प्रयास करे तो वह प्रयास व्यर्थ जाता है उसी प्रकार सिद्ध को शस्त्र के प्रहार से घाव नहीं लगता। सिद्ध को विष देने पर वह विष भी उसे बाधक नहीं होता। जिस प्रकार विष के कीड़े उसमें सुख से रहते हैं उसी प्रकार वह भी उसमें सुख से रहता है। छाया पर्वत के नीचे दबी होने पर भी उसे उससे कष्ट नहीं होता उसी प्रकार अग्नि, सूर्य, विष, जल अथवा वायु इनमें से किसी से भी सिद्ध को बाधा नहीं होती। सिद्धियों की ये बातें सुनकर मन भले ही उल्लसित हो जाय लेकिन मुझे प्राप्त करने में ये सिद्धियाँ सचमुच ही बाधक हैं। मेरा स्वरूप शुद्ध होते हुए अद्वैत है। उसमें सिद्धि के जो मनोरथ हैं वे केवल लोकरंजन के लिये हैं। सिद्धियों में परमार्थ नहीं है। पिछले श्लोक के अन्त में 'परचिताभिज्ञता' नामक एक सिद्धि का उल्लेख ध्वनितार्थ में हुआ है, उसका भी लक्षण सुनो। उसी श्लोक में बतलाया गया है कि भगवान का ध्यान करते समय प्रकृति का नियंत्रण करने वाला और सबका साक्षी वह स्वयं बन जाता है। ऐसे ईश्वर का ध्यान करने से चित्त की चालकता ही उसे प्राप्त हो जाती है। तब चित्त की भिज्ञता (ज्ञान) उसे सहज

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही प्राप्त हो जाती है। तब चित्त की भिज्ञता (ज्ञान) उसे सहज ही प्राप्त हो जाती है। जिस समय जीव की स्वप्नावस्था वह साक्षी होकर देखता रहता है उस समय उसके मन में जो भी संकल्प चलता रहता है उसे वह जानता रहता है। उसके अंत:करण में चल रही गुप्त चाह के सम्बन्ध में भी वह सहजता से बात कर सकता है। इस सिद्धि का लाभ उसे तत्काल प्राप्त होता है।

मद्विभूतीरभिध्यायन् श्रीवत्सास्त्रविभूषिता:।
ध्वजातपत्रव्यजनै: स भवेदपराजित:॥ ३०॥

'अपराज' सिद्धि प्राप्त करनी हो तो मेरी मूर्ति का ध्यान करें। जिसका नाम लेकर बड़े-बड़े देवतागण भी निश्चित रूप से विजय प्राप्त करते हैं—चतुर्भुज, मेघ जैसा श्यामवर्ण, शंख, चक्र, गदा, पद्म, छत्र, चामर, अबदागीर, ध्वज पर उत्तम गरुड़ शोभायमान रत्नजड़ित डंडे की खनकार से पंखा झल रहा है, पैरों में पैंजनियाँ बज रही हं और असंख्य शत्रु पैरों तले शरणागत आये हुए हैं। मेरी ऐसी मूर्ति का ध्यान जो दक्षतापूर्वक करेगा वह सर्वत्र विजयी होगा और मेरे प्रताप से वह कहीं भी पराजित नहीं होगा। देखो! मेरे ही ध्यान से वह बिना किसी की सहायता लिये अकेले ही विजय प्राप्त करता है। केवल इतनी निष्ठा से ही यह सिद्धि प्राप्त होती है। मुझ जैसे अजीत को जो अपने हृदय में धारण करता है वह सर्वत्र अजेय रहता है। इतना कह कर भगवान ने सिद्धियों के वर्णन का उपसंहार किया।

उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुने:।
सिद्धय: पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषत:॥ ३१॥

मैंने जिन-जिन योगधारणाओं के सम्बन्ध में बताया उनका उन भावनाओं के साथ जो भजन करेगा, उसे उन सिद्धियों की प्राप्ति पूर्वकथित लक्षणों के अनुसार होगी। अथवा चित्त में अनेक स्वरूपों का ध्यान करने से उन-उन धारणाओं के अनुसार हे उद्धव! उसे भी अनेक सिद्धियों की प्राप्ति होगी। इस प्रकार जिससे एक ही धारणा से अनेक धारणाओं की सिद्धि प्राप्त हो ऐसी धारणा के बारे में तुम्हें बताता हूँ।

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुने:।
मद्धारणां धारयत: का सा सिद्धि: सुदुर्लभा॥ ३२॥

पाँच-पाँच इन्द्रियों की जो जोड़ी है, उसे शमदम के बल से जीत कर, वैराग्य की पताका फहरा कर प्राण अपान पर विजय प्राप्त की और विवेक के बल से वृत्ती को संयत रख कर सदा मेरा भजन करने से मन को भी जीता जाता है। इस प्रकार साधक को अपने मन में धारणा कर रात दिन केवल मेरा ध्यान करने से समस्त सिद्धियाँ उसकी दासी बन जाती हैं। सारे उपाय छोड़कर केवल मेरा ही ध्यान करने से उस साधक के पास किस चीज की कमी होगी? और सिद्धियों की दुर्लभता भी कहाँ रह जाती है? मेरा भजन करने से साधक को सिद्धियाँ अवश्य प्राप्त होती हैं किन्तु उनका उपभोग करना उचित नहीं है। यही बात श्रीकृष्ण बताते हैं।

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतव:॥ ३३॥

मेरी प्राप्ति शीघ्र हो जाती है। लेकिन उस समय यदि सिद्धि पर मन आ जाय तो मेरी प्राप्ति में बाधा उपस्थित होगी। जिसकी विषयभोग में आसक्ति होती है वही सिद्धि का लोभ करता है। लेकिन जिसे मेरी प्राप्ति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में रुचि रहती है वह ऋद्धि-सिद्धि की कामना नहीं करता। जिसे लोगों में मान-सम्मान पाने में बड़प्पन मालूम होता है वही सिद्धियों के लिये प्रयास करता है। जिसे मेरी प्राप्ति की ही चाह रहती है वह सिद्धि के पीछे नहीं भागता। काशी जाते समय कोई किसी वेश्या के घर ठहर जाता है और उसके भोग विलास पर लुब्ध होकर अपना सारा धन उसे अर्पण कर देता है। अब जब तक प्राण है तब तक इसे नहीं छोड़ूँगा ऐसा निश्चय कर वह उस वेश्या का लंपट हो जाता है। जब तक उसके पास धन है तब तक वह वेश्या उसके आगे-पीछे करती रहती है लेकिन जब उसके पास एक कौड़ी भी नहीं रह जाती तब उसे घर से निकाल देती है। अगर इतने पर भी वह घर नहीं छोड़ता तो वह स्वयं उसे छोड़कर चली जाती है। उसी प्रकार महासिद्धियों की स्थिति है। सारे पापों का क्षालन करने, सारे कुलों का उद्धार करने के लिये काशी जाना तो दूर रहा, उलटे कामलोलुप होने के कारण वेश्या के हाथों सारी कमाई भी चली गयी। सिद्धियों की कथा भी वैसी ही है। वे मेरी प्राप्ति में बाधक होती हैं और साधक को मेरे ध्यान, ज्ञान और वैराग्य से वंचित कर उसे कंगाल बना देती हैं। मेरी प्राप्ति के पास ही उनकी लूट-खसोट जारी रहती है। उसे सुखोपभोग का लालच देकर छलने के लिए उसके मन में मोह उत्पन्न करती हैं। मेरी प्राप्ति में विलम्ब होने का यही कारण रहता है। हे उद्धव! मेरा स्वरूप अद्वैत है और उसमें सिद्धि के जो अनेक रूप दिखायी देते हैं वह सचमुच माया का भुलावा है। मेरी प्राप्ति में सिद्धियों का विघ्न आड़े आता है इसलिये मैंने सभी सिद्धियों का स्वरूप तुम्हें सविस्तार बताया। मेरा ध्यान कर उसमें मन की एकाग्रता होने पर यदि साधक सुखोपभोगों के चक्कर में फँस गया तो सिद्धियाँ उसे लूट लेती हैं।

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः।
योगेनाप्नोति ताः सर्वानान्यैर्योगगतिं व्रजेत्॥ ३४॥

जन्म, औषधि, मंत्र, तप आदि से भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं अथवा योगाभ्यास करते समय प्राणापान साध्य होने पर भी सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। कुछ को जन्म से ही सारी सिद्धियाँ प्राप्त रहती हैं तो कोई दिव्य वनस्पतियों की सहायता से सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं। कुछ लोग तप आदि महान साधनों से सिद्धि प्राप्त करते हैं तो कुछ उन्हें मंत्रों द्वारा साध्य करते हैं। सर्प को वायु भक्षण, मत्स्य के लिये जल में तैरना, पक्षी के लिये आकाश में उड़ना ये सिद्धियाँ जन्म से ही प्राप्त रहती हैं। हंस पानी और दूध को अलग करता है, कोकिला मधुर स्वर में गायन करती है, चकोर चंद्रामृत का सेवन करता है ये सिद्धियाँ भी उन्हें जन्म से ही प्राप्त रहती हैं। इस प्रकार जन्म से ही जो सिद्धियाँ प्राकृतिक रूप में प्राप्त होती रहती हैं उनके सम्बन्ध में तुम्हें भली-भाँति बतलाया। अब कुछ दिव्योषधियों का सेवन करने से भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनके सम्बन्ध में बताता हूँ, सुनो। श्वेत मदार के पेड़ के नीचे गजानन की पूजा कर अंगार की चतुर्थी का व्रत करने से सारी विद्याओं का ज्ञान हो जाता है और धनधान्य की समृद्धि होती है। अजान वृक्ष की पहचान यही है कि उसके फल कुत्ते के मुँह जैसे होते हैं। उस वृक्ष का दूध पीने को मिल जाय तो वह व्यक्ति अजर-अमर हो जाता है। नीम का सेवन करने से विष का प्रभाव नहीं होता। पाताल गरुड़ी नामक वृक्ष विशेष का मुख प्राशन करने से कोई शारीरिक पीड़ा नहीं होती। पूतिका वृक्ष का मूल तो महाशक्ति का पुतला है। उसे साध्य करने पर साधक तत्काल अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करने लगता है। इस प्रकार औषधियाँ भी अनेक हैं और सिद्धियाँ भी अनंत हैं। लेकिन उन्हें साध्य करना भी बहुत कठिन है। हे बुद्धिमान उद्धव! तपादि सिद्धियों का विधि कैसा होता है यह भी सुनो। कृच्छ, पराक, चांद्रायण आदि व्रत करना, पर्जन्य की धाराओं में बैठना, पानी में खड़े रहना, धूम्रपानादि साधन आदि जो भी तप हैं,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उनकी मन में भावना कर जैसा आचरण किया जाता है उसके अनुसार उसे सिद्धि प्राप्त होती है। अब मंत्रसिद्धि का लक्षण सुनो। एक रात प्रेत पर बैठ कर अनुष्ठान करने से प्रेतदेवता पूर्णरूप से प्रसन्न हो जाते हैं जिससे भूत, भविष्य, वर्तमान आदि सभी ज्ञान की प्राप्ति होती है यह ध्यान में रखो। सूर्यमंत्र का अनुष्ठान करने से दूरदर्शन सिद्धि प्राप्त होती है। जैसा मंत्र और इच्छा रहती है उसी के अनुसार उसे सिद्धि प्राप्त होती है। किन्तु इन सारी सिद्धियों की समृद्धि एक योगधारणा में ही होती है। दृढ़ आसन लगा कर प्राणापान में ऐक्य साध कर जो योगधारणा करेगा उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। मैंने तुम्हें सिद्धियों के सम्बन्ध में यह बताया ही है कि प्राणापान सम होने पर तथा योगधारणा सिद्ध हो जाने पर सारी सिद्धियाँ प्रकट होती हैं अथवा प्राणापान को सम किये बिना, योगधारणा भी किये बिना, मुझ अकेले को हृदय में रखने से सारी सिद्धियाँ दासी हो जाती हैं। यदि सचमुच ही मुझे प्राप्त करना है, तो मेरा अकेले का स्मरण करने से, मुझ अकेले का ध्यान करने से चारों मुक्तियाँ अपने आप दासी बन जाती हैं। अनेक प्रकार की सिद्धियों का विचार करते रहें तो मेरी सलोकता, सामिप्य अथवा स्वरूपता प्राप्त नहीं होती, फिर सायुज्यता की क्या बात करें? मेरे जो अत्यन्त शुद्ध भक्त हैं वे मुक्ति को भी धता बता देते हैं। वे मेरी भक्ति में ही सदा सन्तुष्ट रहते हैं और वही मुझे पूज्य हैं। सभी सिद्धियों का ईश्वर मैं हूँ, लेकिन मैं भी उनकी पूजा करने लगता हूँ। इसलिये वहाँ जो सिद्धियों का मेला लगा रहता है वह अपना साज-सामान उठा कर भागने लगता है। सभी सिद्धियों के साथ मैं भगवान भक्तों के पास रहता हूँ। यही बात श्लोक के रूप में श्रीकृष्ण उद्धव को बता रहे हैं।

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः।
अहंयोगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम्॥ ३५॥

मैं सारी सिद्धियों का जन्मस्थान हूँ। मेरे ही कारण सिद्धियों को महत्त्व प्राप्त हुआ और मुझमें ही सारी सिद्धियों का अन्त होता है। इस तरह मैं उनका स्वामी हूँ। जीवात्मा की जो एकता है उस योग का सच्चा स्वामी मैं हूँ और जिसमें जीवात्मा की वार्ता व्यर्थ है उस ज्ञान का स्वामी भी मैं हूँ। ज्ञानोपदेश करने वाले जो साधु हैं उनका स्वामी भी मैं हूँ यह प्रसिद्ध ही है। ज्ञानीजनों को मेरे ही उपदेश से ज्ञान का स्पष्ट बोध होता है। वेद उपनिषद्भाग से उपदेश करता है। मैं गोविंद उस वेद का भी स्वामी हूँ। मेरे बिना उस वेद के उच्चार से एक शब्द का भी उच्चार नहीं हो सकता। धर्म का अर्थ है ज्ञान का साधन। उसका स्वामी भी मैं हूँ इसे ध्यान में रखो। भीतर और बाहर पूर्णतयः रहने वाला ज्ञानमय सर्वात्मा मैं हूँ। सर्वात्मा होकर मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ। उद्धव! भीतर और बाहर पूर्णत्व से भरा हुआ मैं ही हूँ! यह स्थिति मुझमें अपने आप ही किस प्रकार रह गयी है उसे ध्यान से सुनो।

अहमात्माऽऽन्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम्।
यथा भूतानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा॥ ३६॥

जीवों के जीव में मेरा ही वास है और जीव भी मुझमें खुशी से रह गये हैं। मेरा स्वरूप गुण और माया से बिलकुल भिन्न तथा असीम है। जिस प्रकार घट आकाश में ही रहता है और उसके भीतर-बाहर आकाश ही रहता है उसी प्रकार प्रत्येक जीव के भीतर और बाहर परिपूर्ण भरा हुआ श्रीकृष्ण मैं ही हूँ। समस्त भौतिक वस्तुओं को जिस प्रकार पंचमहाभूत भीतर और बाहर से घेरते हैं, उसी प्रकार मैं श्रीकृष्ण ने भी सारे संसार को भीतर और बाहर से घेर रखा है। लहरों को जैसे पानी और गुड़ को माधुर्य घेरे रहता है उसी प्रकार इस अनंत कोटि ब्रह्माण्डों को भी मैंने परिपूर्णता से व्याप रखा है। मुझ जैसे परिपूर्ण की प्राप्ति का प्रसंग निकट आता है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तभी भोगविलास और सम्पत्ति के प्रयास सिद्धियों को नग्न कर देते हैं। राजा के साथ जिसका मेलजोल रहता है उसे रिश्वत लेना सरल रहता है लेकिन सम्भवत: इसी में उनकी मृत्यु हो जाती है। उसी प्रकार साधक के लिये सिद्धि घातक ही है। इस अध्याय के विषय का प्रतिपादन करने का यही कारण है कि उद्धव! मेरी प्राप्ति में सिद्धि ही सबसे बड़ा विघ्न है। एकाग्र भजन से मेरी प्राप्ति का प्रसंग निकट आते ही सिद्धियाँ आ जाती हैं और उन भोगों की आसक्ति से साधकों को भुलावा देकर उन्हें कंगाल बना देती हैं। जो मेरे आत्मसुख के विषय में नहीं जानते वे मूर्ख रहते हैं, उन्हें अत्यन्त विषय वासना के कारण इस सिद्धि का अत्यन्त कौतुक मालूम होता है। वेश्या के जैसे हावभाव रहते हैं वैसे ही सिद्धि का वैभव होता है। उस सबका त्याग करने के लिये भगवान ने इस अध्याय का निरूपण किया। जिसे मेरा आत्मसुख प्राप्त होता है वह इन सिद्धियों को तुच्छ मानता है। वे जन्म-मरण की चिन्ता भी नहीं करते। उनके अंत:करण में मेरे प्रति परिपूर्ण आनन्द भरा रहता है। सद्गुरु चरणों की सेवा करने से सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म ही भर जाता है। फिर सिद्धियों को कौन पूछे? यह बात हरिभक्त जानते हैं। हरिभक्ति पर भक्त बिक जाता है, भजन से अहंभाव नष्ट होता है, ऐसे समय सिद्धियों के उपयोग की कल्पना भी मन में नहीं आती। भुक्ति, मुक्ति, ऋद्धि, सिद्धि ये सब सद्गुरु के चरणों में ही हैं। जो मंदबुद्धि यह बात नहीं जानते वे अनेक प्रकार की सिद्धियों की इच्छा करते हैं। निरपेक्षता यही सचमुच सभी सिद्धियों का साधन है इसे पक्का ध्यान में रखो। निरपेक्ष व्यक्ति के आँगन में सभी सिद्धियाँ सेवारत रहती हैं जिनके मन में सिद्धियों की इच्छा रहती है उन्हें सिद्धियाँ सीधे मुँह देखती भी नहीं और निरपेक्ष व्यक्ति के चरणों की धूल को वे शिरसावंद्य करती हैं। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से भी अधिक निरपेक्षता ही श्रेष्ठ है। यह निरपेक्षता हाथ लगने पर सायुज्यता मुक्ति भी चरणों पर गिर पड़ती है। निरपेक्षता के पास ही सारी सिद्धियाँ रहती हैं, सारे विधि रहते हैं और समृद्धि वहाँ दिन-रात चरणों का वन्दन करती रहती है। जहाँ निरपेक्षता होती है वहीं योगक्षेम रहता है और वहीं सद्भाव रहता है और निरपेक्षता के पास ही भगवान का स्वरूप खड़ा रहता है। निरपेक्षता के पास ही वेदान्त होता है, निरपेक्षता के पास ही सच्चा योग होता है, निरपेक्षता ही स्वानंद का उपभोग है और निरपेक्ष को ही भगवान प्राप्त होते हैं। एका (एकनाथ) ने जनार्दन की शरण में जाकर उनके पवित्र चरणों का वंदन करते ही उसे सदा बढ़ती रहने वाली निरपेक्षता प्राप्त हुई इसलिये वह सदा आनन्द से परिपूर्ण रहता है। हमें स्वानंद का आत्मबोध हुआ यह केवल सद्गुरु चरणों का प्रसाद है। श्रीगुरुचरणों में ही महासुख का लीलाविलास तथा आनन्द का मूल बीज होता है। गुरुचरणों की भक्ति करने से अनायास ही चारों मुक्ति प्राप्त हो जाती हैं। इसीलिये विरक्ति गुरुभक्त की आत्मशांति के साथ सेवा करने लगती है। एका जनार्दन की शरण में गया इसलिये उनकी कृपा से श्रीमद्भागवत के निरूपण का पन्द्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

इति श्रीमद्भागवते एकादशस्कंधे श्रीकृष्ण उद्धव संवादे
एकाकार टीकायां सिद्धि निरूपण स्तोत्र नाम पंचदशोध्याय: ॥ १५ ॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सोलहवाँ अध्याय

ओंकारस्वरूप सद्गुरु श्रीमूर्ति को मेरा नमस्कार। हे श्रीगुरुराया! यह सारा चराचर तुम्हारा ही स्वरूप है। विश्व की आत्मा तुम हो, विश्व का स्फुरण भी तुम ही हो और निराकार तथा साकार मूर्ति तुम ही हो। तुम्हारे रूप की महिमा शास्त्रज्ञों की समझ से परे है। उसके वर्णन के प्रति श्रुति मौन है और वर्णन करने में शब्दों ने भी हार मान ली है। तुम्हारे स्वरूप के बारे में कोई दृष्टांत भी नहीं दिया जा सकता। तुम्हारे सादृश जो भी खोजने की कोशिश करें वह तुम्हारा ही स्वरूप रहता है। तुम्हारे प्रभाव की यह विशेषता है कि वहाँ दूजेपन की जड़ ही कट जाती है। फिर चारों ओर जब एक ही बात हो तो उसमें दूसरे प्रकार का दृष्टांत कहाँ मिलेगा? तुम्हारी महिमा अगाध है तो तुम्हारा ध्यान भी कैसे किया जाय? उद्देश्य, शब्द और दृष्टांत ये जिसके वर्णन के क्षेत्र में ही नहीं आते वह श्रीमद्भागवत का अर्थ तुम ओवी के रूप में कहलाते हो। वह मेरे मराठी के आर्त बोल लेकिन सद्गुरु ने उन्हें गहन बना दिया है। उसमें प्रेम की जो आर्द्रता है वह केवल गुरुभक्त ही जानते हैं। जिनकी गुरुचरणों पर भक्ति नहीं है उन्होंने भले ही वेदशास्त्र का पठन किया हो शास्त्रव्युत्पत्ति का अध्ययन किया हो लेकिन उनमें विरक्ति कैसे उत्पन्न होगी? वे भले ही कोटि प्रयास क्यों न करें लेकिन उनसे उन्हें समाधान नहीं होगा। किन्तु सद्गुरु की कृपादृष्टि होने पर गुरुभक्तों को ब्रह्मत्व से ही पुष्टि प्राप्त होती है। हे सद्गुरु जनार्दन! आप समस्त संसार के अधिष्ठान हैं। स्वाभाविक ऐक्य रूप से आप स्वयं ही समस्त प्राणिमात्र की आत्मा हैं। जिनसे सारे प्राणिमात्र से ऐक्य होता है, जिन्हें सद्गुरु की भक्ति प्राप्त होती है वही इस श्रीमहाभागवत के अर्थ को जान सकता है। सद्गुरु की पूर्ण कृपा होने पर शास्त्र की व्युत्पत्ति सीखने का कष्ट किये बिना ही उत्तम भावार्थी भक्त भागवत का अर्थ सहज ही जान सकता है। अंत:करण में एकनिष्ठ भक्ति उत्पन्न होते ही उस भक्ति के योग से देवाधिदेव प्रकट होते हैं। तभी भागवत का वास्तविक रहस्य मन पर अंकित होता है। इसलिये गुरुभक्ति करने से भागवत का अर्थ अच्छी तरह समझ में आता है। फिर काव्य आदि अथवा व्युत्पत्ति आदि उपायों की क्या आवश्यकता है? शास्त्रज्ञान भी क्यों किया जाय? और व्यर्थ का ध्यान भी क्यों धारण किया जाय? साधकों के लिये सद्गुरु के चरण यही चलता-फिरता पूर्ण ब्रह्म है। गुरुभजन के बिना शिष्य का समाधान नहीं होता क्योंकि उससे श्रेष्ठ साधन है ही नहीं। उसी सद्गुरुकृपा के अभ्यास से ग्यारहवें स्कंध के पूर्वार्ध का ज्ञान देशी भाषा में यथामति आत्मबोध से वर्णन किया। ईख पेरने से उसका रस निकलता है। उसे यदि वैसे ही रख दिया जाय तो वह अधिक समय तक नहीं टिकता। उसे आँच पर पका कर उसका गुड़ बनाकर रखना पड़ता है। गुड़ भी अधिक समय तक रखने पर पसीजने लगता है इसलिये उसकी शक्कर बनाकर रखना पड़ता है। चतुर लोग उस चीनी को भी स्वच्छ और सूखी ताड़ मिश्री बनाकर रखते हैं। श्री भागवत की भी वैसी ही कथा है। सर्वप्रथम श्रीनारायण ने ही इसका वर्णन किया जिसका श्रीव्यास ने दस लक्षणों में वर्णन किया। शुक्राचार्यजी के मुख से उस दस लक्षणयुक्त कथा का वर्णन होने से उसमें और भी मिठास आ गयी। उसमें से कठिन शब्दों को स्पष्ट कर श्रीधर ने उस पर उत्तम टीका प्रस्तुत की। उसी श्रीहरि टीका को 'भावार्थ दीपिका' कहते हैं। उसी भावार्थ का निरूपण मैंने देशी भाषा में किया। मूल वक्ता नारायण ही है और उस पर व्यास, शुक तथा श्रीधर ने व्याख्यान प्रस्तुत किया है। उनमें मूल भाष्य की मिठास पर ध्यान देते हुए एकाजनार्दन इस काव्य का कर्त्ता बन गया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीनारायण ने मूल बीज ब्रह्मदेव में स्थापित किया जो नारदरूपी भावभूमि में सशक्त रूप से अंकुरित हुआ। उसी के दश लक्षण-भागवतरूपी बालों का श्रीव्यास ने संकलन किया और शुक्राचार्य ने परीक्षित के लिये बालों में से दाने मलकर एकत्र किये और उसकी राशियाँ बनायीं। उन दानों को शास्त्र रीति से आत्मबुद्धि के सूप में पछोर कर श्रीधर ने उनमें से बड़े-बड़े दाने छाँट लिये। फिर एका जनार्दन ने उनके उत्तम पकवान तैयार कर मराठी शब्दरूपों से उन्हें भक्तजनों को परोसा। जो आत्मभक्त होंगे वही उसका माधुर्य जान पायेंगे। श्रोताओं के ध्यान देने से और जनार्दन की कृपा के कारण एका जनार्दन ने देशी भाषा में यह पूर्वार्ध पूर्ण किया। उसका क्रम इस प्रकार है—पहले अध्याय में वैराग्य की उत्पत्ति का प्रसंग लाते हुए श्रीकृष्ण ने अपने कुल का क्षय करने के लिये ब्राह्मणों के शाप रूप से प्रारम्भ किया। दूसरे अध्याय से चौथे अध्याय तक नारदजी ने वसुदेव के घर जाकर निमिजायंती के प्रश्नोत्तर के रूप में पंचाध्याई समाप्त की। छठवें अध्याय में श्रीकृष्णमूर्ति का दर्शन करने के लिये देवताओं की भीड़ उमड़ती है। वे श्रीकृष्ण को निजधाम चलने की प्रार्थना करते हैं। सुरश्रेष्ठों की विनती सुनकर और द्वारका पर छायी विपत्ति को सुनकर उद्धव श्रीकृष्ण से मुझे भी निजधाम ले चलने की प्रार्थना करते हैं। उसके प्रश्नों के उत्तर में श्रीकृष्ण ने सातवें अध्याय में ज्ञानमय तथा त्यागयुक्त छोटा-सा भाषण किया। उस समय त्यागसंग्रह के लक्षण के प्रसंग में यदू और अवधूत के संवाद रूप में चौबीस गुरुओं का परिच्छेद आठवें और नौवें अध्याय में पूरा किया। श्रद्धा किस प्रकार रखनी चाहिये और ज्ञान पर किस तरह विश्वास करना चाहिये इस सम्बन्ध में बताकर उसमें अनेक मतों का समावेश करने की दृष्टि से श्रीकृष्ण ने दसवें अध्याय में ज्ञान का चमत्कार समझाया। ग्यारहवें अध्याय में बद्ध-मुक्त का अन्तर बताकर साधु का लक्षण और भक्ति का पूर्ण स्वरूप स्पष्ट किया। भागवत के बारहवें अध्याय में भगवान ने अत्यन्त गूढ़ ज्ञान प्रकट किया है। उसका रहस्य स्पष्ट करने में बड़े-बड़े ज्ञाता भी सन्देह में पड़ जाते हैं। बारहवें अध्याय की चाभी केवल युक्ति-प्रयुक्ति से समझ में नहीं आयेगी किन्तु जनार्दन की कृपारूप माँ साथ में थी इसलिये उसने ग्रन्थ का मार्ग दिखाया। उस बारहवें अध्याय में सत्संग की अगाध महिमा, कर्म का कर्त्ता कौन, त्यागबुद्धि यही कर्म का लक्षण है आदि विषय हैं। उस बारहवें अध्याय का श्रवण करने से चित्त पर ज्ञान का संस्कार होता है। लेकिन उसमें विषय-वासना बाधक होती है जिससे साधकों को पीड़ा होती है। गुणभेदों का लक्षण, और उससे होनेवाली विषय की आसक्ति, सत्वशुद्धि के प्रकार आदि का निरूपण तेरहवें अध्याय में किया। फिर उसी प्रसंग में विषयों का और चित्त का समन्वय कैसे होता है और उसे कैसे सुलझाया जाता है यह समझने के लिये उत्तम निर्णयात्मक हंसगीत का कथन किया। हंसगीत में जो ज्ञान दिया गया है और समाधि तक जो समाधान किया गया है उसे साधने का मार्ग भगवान ने स्वयं चौदहवें अध्याय में निरूपित किया है। साधनों में भक्ति ही श्रेष्ठ है, सगुण स्वरूप ही मेरी निर्गुण मूर्ति है तथा योगयुक्त ध्यानास्थिति कैसी होती है इसके सम्बन्ध में भी श्रीकृष्ण ने चौदहवें अध्याय में बतलाया है। सिद्धियों के लिये ध्यानधारणा करने के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। उनके बारे में भी श्रीकृष्ण ने उद्धव को बताया और ईश्वर प्राप्ति में सिद्धियाँ किस प्रकार बाधक हैं इस बारे में उन्होंने पन्द्रहवें अध्याय में बतलाया है। इस प्रकार पन्द्रह अध्यायों में पूर्वार्ध का अत्यन्त निर्मल निरूपण हुआ। अब उत्तरार्ध शेष है उसके सम्बन्ध की कथा के बारे में सुनिये। सोलहवें अध्याय में भगवान की विभूति का निरूपण है तथा अठारहवें अध्याय में वर्णाश्रम कर्म की जानकारी तथा विधान प्रकारों का निरूपण है। उन्नीसवाँ अध्याय गहन है। उसमें ज्ञान माहात्म्य है तथा उद्धव के प्रश्नों का ज्ञानात्मक उत्तर दिया गया है। उस ज्ञान का योग, अज्ञान, ज्ञान तथा मध्यावस्था इन तीन प्रकारों से श्रीकृष्ण ने बीसवें अध्याय में बतलाया है। आगे उद्धव ने गुणदोषों की अवस्था जब वेदों के मत्थे रख

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दी तो उस वेदवाद का सच्चा सात्त्विक निरूपण इक्कीसवें अध्याय में किया। उसी वेदवाद निरूपण के प्रसंग में तत्त्वों की कुल संख्या कितनी है यह प्रश्न सामने आया। तब श्रीकृष्ण ने उस तत्वसंख्या का यथार्थ निरूपण किया। सभी तत्त्वों का विवेचन, प्रकृति और पुरुष का लक्षण तथा जन्म-मरण आदि का निरूपण बाईसवें अध्याय में किया। दूसरों के अपराध सह कर स्वयं निर्द्वंद्व रहना चाहिये इस आशय का भिक्षुगीत संवाद तेईसवें अध्याय में स्पष्ट किया गया है। अद्वैत में स्थिर होने के लिये चौबीसवें अध्याय में सांख्यशास्त्र का वर्णन है। निर्गुण से ही गुणों की उत्पत्ति होती है और गुणों का क्षय होने पर निर्गुण ही शेष रहता है। प्रारम्भ में निर्गुण रहता है और अन्त में भी निर्गुण ही रहता है। इस बीच मिथ्या ही गुणों का आभास होता है। ऐसे इस अद्वैत प्राप्ति के लिये सांख्यशास्त्र का निरूपण किया। वे मिथ्या गुण प्रवृत्तियुक्त होते हैं, उन तीन गुणों का परस्पर सम्बन्ध रहता है और निर्गुण के सम्बन्ध से किस प्रकार आत्मनिष्ठा कायम रखी जाय इसे पचीसवें अध्याय में बताया गया है। छब्बीसवें अध्याय में अनुताप की असीम शक्ति प्रदर्शित करने के लिये पुरुरवा ने कामपाश में फँस कर उर्वशी का उपभोग करते हुए भी किस प्रकार विरक्ति प्राप्त की इसका वर्णन है। भजन की विधि, मूर्ति का लक्षण, वैदिक, तांत्रिक तथा मिश्र भजन क्या होता है इस उद्धव के प्रश्न का निरूपण सत्ताईसवें अध्याय में है। बड़े-बड़े योगियों का योगमंजर, गहन ज्ञान से परिपूर्ण, आत्मसुख का निचोड़ ऐसा अट्ठाईसवाँ अध्याय केवल ज्ञानविषयों से भरा हुआ है। उसी अध्याय में 'संसार असम्भवनीय है' ऐसा गहन प्रश्न उद्धव ने किया था, उसका उत्तर भगवान ने दिया है। ग्यारहवें स्कंध का कलश तथा भक्तिप्रेम का अत्यन्त मनोहर स्वरूप ऐसा अत्यन्त रसाल और भक्तियुक्त ज्ञानोपदेश उन्नीसवें अध्याय में है। उसके अगले दो अध्यायों में स्त्रीपुत्रादि सारे कुल का संहार प्रत्यक्ष अपनी आँखों के सामने होते हुए भी ज्ञान से समर्थ व्यक्ति का चित्त नहीं डगमगाता यह बात श्रीकृष्ण ने ही प्रत्यक्ष दिखला दी है। ब्राह्मणों का शाप अत्यन्त कठोर होता है। उस शाप ने श्रीकृष्ण को भी पीड़ा पहुँचायी फिर औरों की क्या बिसात? ब्रह्मशाप से सारे कुल का भी विनाश होता है। ब्राह्मण का क्रोध अत्यन्त सामर्थ्यवान होता है, उसने सारे समुद्र को मूत्रमय कर दिया। ब्राह्मण के क्षोभ से एक क्षण में शिव का भी लिंगपात हुआ। इसलिये चाहे सज्ञान हो या अज्ञान हो उसे ब्राह्मण से वैर नहीं करना चाहिये। यही दिखलाने के लिये श्रीकृष्ण ने प्रसिद्ध कुलक्षय का दिग्दर्शन किया। जिसने श्रीकृष्ण के देह पर प्रहार किया उस व्याध को भी श्रीकृष्ण ने जीवन से मुक्त किया। यहाँ तक यह दिखा दिया कि ज्ञाता किस प्रकार देहातीत और क्षमाशील होता है। उन्नीसवें अध्याय तक श्रीकृष्ण ने ज्ञान का उपदेश किया। उसके अगले दो अध्यायों में अपनी ही विदेह स्थिति के बारे में बतलाया। राम अयोध्या आकर गये और कृष्ण ने भी अपना देह त्याग दिया, इन बातों से उन्होंने भावी मुमुक्षुओं को तरने के लिये देहाभिमान के मिथ्या होने का महत्त्व स्थापित किया। पन्द्रहवें अध्याय तक इस स्कन्ध के पूर्वार्ध का समापन हुआ। उनमें अत्यन्त पवित्र बातों का कथन हुआ है, साथ ही सूत्र के रूप में उत्तरार्ध के प्रत्येक अध्याय का तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से बतला दिया है। सद्गुरु जनार्दन सहायता के लिये हैं अतः श्रोतागण ध्यान दें। अगले उत्तरार्ध का व्याख्यान भी जनार्दन एकनाथ के मुख से कहलवायेंगे। वसन्त के आगमन के साथ वृक्षों पर फूल और फलों की बहार आ जाती है। उसी प्रकार जनार्दन के कृपाकटाक्ष के कारण कविता के शब्द भी पुष्पित पल्लवित होते हैं। जिस प्रकार आकाश में सूर्य का उदय होते ही नये कमल खिल उठते हैं उसी प्रकार जनार्दन की कृपा से कविता में नूतनता का विकास होता है। हाथ में मुरली लेकर श्रीकृष्ण ने सारे संसार को समाहित कर दिया उसी प्रकार मुझे कवीश्वर बनाकर मेरा हाथ थामा और सब कुछ जनार्दन ही बोल रहे हैं। उस जनार्दन की कृपा साक्षात् क्षीर सागर की तरह है। उसके कृपा की कोई सीमा नहीं है। उस जनार्दन की कृपा से उत्तरार्ध में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अर्थसिद्धि बुद्धि का प्रवेश हो रहा है। पिछली कथा में पन्द्रहवें अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण ने बताया था कि मेरी प्राप्ति में सिद्धियाँ बाधक होती हैं। अर्थात् सिद्धियों पर से ध्यान हटा कर मेरे स्वरूप में मन लगाना चाहिये। श्रीकृष्ण का यह भाषण सुनकर उद्धव ने प्रश्न किया। ''हे श्रीकृष्णनाथ! समर्थ, मेरी एक विनती सुनो। तुम अपनी समस्त विभूतियों के बारे में मुझे बताओ।''

उद्धव उवाच

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम्।
सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः॥ १॥

भूत और भौतिक का कारण तुम हो, जन्म, स्थिति और लय तुम्हारे ही कारण होते हैं, फिर भी तुम अकर्ता हो इसीलिये तुम परब्रह्म हो। इस पर तुम कहोगे कि प्राणियों की उत्पत्ति स्थिति और लय प्रकृति ही करती है। लेकिन वह प्रकृति अर्थात् माया तुम्हारे ही अधीन है। तुम्हारे ही कारण प्रकृति में चालन की क्षमता आती है। इसलिये प्रकृति परतंत्र है। तुम परमात्मा स्वतंत्र हो। तुम अनादि, अव्यय और अथाह हो। वेदों को भी तुम्हारी थाह नहीं लगती। प्रकृति पर तुम्हारा आवरण है। तुम स्वयं जीव का स्वरूप हो लेकिन जीव नहीं हो। जीव जितना अज्ञान से युक्त है और तुम सचमुच ही ज्ञान और अज्ञान से बिलकुल परे हो, इसीलिये तुम अविनाशी और अपरोक्ष साक्षात परब्रह्म हो। तो तुम कैसे अपरोक्ष हो? इसका कारण यह है कि तुम सबमें सर्वत्र अंतर्बाह्य व्याप्त हो और तिस पर भी तुम अतर्क्य हो। उसके सम्बन्ध में सुनो।

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः।
उपासते त्वां भगवन् याथातथ्येन ब्राह्मणाः॥ २॥

मछली से लेकर हिरण्यगर्भ तक समस्त प्राणियों में निरन्तर अंतर्बाह्य व्याप्त रहने वाले तुम्हें ब्राह्मण वेद के अर्थ से निश्चित रूप से जानते हैं अथवा जो उपनिषदों का यथार्थ रहस्य जानकर तुम्हारे प्रति भजनयुक्त रहते हैं, वे तुम्हें निश्चित अर्थ में सर्वव्यापी सर्वात्मा जानते हैं। उस सर्वात्मा का पार जानना चाहे तो तुम अचिंत्य और अनन्त ऐश्वर्यमुक्त हो। जो साधारण लोग तुम्हें नहीं जानते उनके विचार सुनो। इनका मन बिका होता है, वे कामेन्द्रियों के दास बन जाते हैं वे केवल जिह्वा का पोषण करते हैं और निद्रा के घरजमाई बन जाते हैं। ऐसे लोगों को तुम्हारे स्वयंसिद्ध तथा सर्वव्यापी स्वरूप की कल्पना भी नहीं होती। हमारे शरीर में ही आत्मस्वरूप है इसकी उन्हें कल्पना ही नहीं होती। वे सदा विषयों में लिप्त रहते हैं। विषयों के प्रति उनका अंत:करण चंचल बना रहता है। उन्हें सगुण स्वरूप का ध्यान नहीं होता और मन निर्गुण स्वरूप में प्रवेश ही नहीं करता। ऐसे अज्ञानी लोग किस प्रकार तर पायेंगे? इसलिये शास्त्रों की खोजबीन करने तथा ध्यानधारणा के झंझट में न पड़ उन्हें केवल भजन करना पड़े ऐसे प्रकार के उत्तम उपाय जो आपके पास हों उन्हें बतायें।

येषु येषु च भावेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः।
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद् वदस्व मे॥ ३॥

तुम्हारी जिन विभूतियों की संतों ने दृढ़ भावना से भक्ति कर उपासना की और तुम्हारे स्वरूप तक पहुँचे, वे सारी विभूतियाँ उनके स्वरूप, उनकी भक्ति और उनसे कौन-सी गति प्राप्त होती है इसके सम्बन्ध में मुझे निश्चयपूर्वक बतायें। इस पर यदि तुम सभी वस्तुओं में अपनी विभूतियों को ढूँढ़ने के लिये कहोगे तो हे श्रीकृष्ण! तुम अतर्क्य हो। वह सब हमारे ध्यान में नहीं आयेगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गूढ़श्चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावन।
न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते॥ ४॥

समस्त प्राणिमात्र के हृदय में तुम ही हो। लेकिन हृदय में होते हुए भी तुम गुप्त हो। देह ही मैं हूँ इस भ्रम में सारे प्राणी तुम्हें नहीं देख पाते। हे देवराया! उस देहभ्रम का मूल कारण तुम्हारी माया है। लेकिन तुम्हारी कृपा होने पर उस माया का भी अपने गुणों के साथ विलय हो जाता है और फिर सर्वत्र सभी स्थानों पर समस्त प्राणिमात्र के देह में भी अंतर्बाह्य तुम्हारा ही स्वरूप अभिव्यक्त होता है। इतना तुम्हारी कृपा का फल है। लेकिन वह कृपा किन गुणों से प्राप्त होती है। इसलिये हे गोविन्द! तुम्हारी कृपा प्राप्त करने के लिये तुम्हारी विभूतियों की उपासना करनी चाहिये। इसीलिये कृपया अपनी समग्र विभूतियों के बारे में बतायें ऐसी विनती बार-बार कर रहा हूँ।

याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां विभूतयो दिक्षु महाविभूते।
तां मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम्॥ ५॥

हे श्रीकृष्ण! स्वर्ग, मृत्युलोक और पाताल तथा दसों दिशाओं में फैली हुई तुम्हारी समस्त विभूतियों के बारे में मुझे बतायें। कहते हुए उद्धव ने साक्षात दण्डवत किया और जहाँ से सारे तीर्थों का उद्गम होता है ऐसे श्रीकृष्ण के चरणों पर मस्तक रख कर वन्दन किया। उद्धव का प्रश्न सुनकर श्रीकृष्ण अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और क्या उत्तर दिया? बोले, तुम्हारा यह प्रश्न शत्रुरूपी हाथियों के झुण्ड का सिंह, गाण्डीव धारण कर महान पराक्रम करने वाला मेरा सखा और लाडला, इतना ही नहीं मेरा प्राण, जिसके रथ पर बैठ कर मैं घोड़ों की लगाम थामता हूँ, जिसे कुरुक्षेत्र के समरांगण में दोनों सेनाओं के बीच मैंने उपदेश किया उस नरावतार अर्जुन ने भी ऐसा ही प्रश्न किया था। उद्धव के प्रश्न पर सन्तुष्ट होकर श्रीकृष्ण ने क्या कहा?

श्रीभगवानुवाच

एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै॥ ६॥

पहले जब दुर्योधन ने मेरा तिरस्कार कर घनघोर युद्ध की शुरुआत की थी, उस समय अर्जुन ने मुझसे यही प्रश्न पूछा था। शत्रुओं का निर्दलन करने में अत्यन्त पराक्रमी, धैर्यवान, वीर, ज्ञानसम्पन्न तथा प्रश्न करने वालों में अत्यन्त चतुर अर्जुन मेरी आत्मा ही है। उस अर्जुन ने कुरुक्षेत्र में घातक युद्ध में अपने ही लोगों का वध होगा इस भय से मुझसे यही प्रश्न किया था।

ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम्।
ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः॥ ७॥

स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः।
अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्धनि॥ ८॥

उसने कहा, केवल राज्यलोभ के लिये गुरु, गोत्रज, चाचा आदि का वध करना मेरी दृष्टि से अत्यन्त निंद्य है। इसलिये भले ही प्राण चले जाए लेकिन मुझे युद्ध नहीं करना है। लौकिक धर्मप्रवृत्ति के कारण 'मैं मारने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाला और ये मरने वाले' इस प्रकार की मोह की भ्रान्ति अर्जुन के मन में उत्पन्न हुई। राज्यसुख का लालच कर उसके लिये अपने रिश्तेदारों का निंद्य कर्म करना मुझे शुद्ध अधर्म लगता है। इसमें धर्म के स्वधर्म की हानि होगी। प्रतिदिन जिसके चरणों का तीर्थ लेना चाहिये, जिनकी उच्चासन पर बिठा कर पूजा करनी चाहिये उन्हें प्रखर बाणों से घायल कर उन स्वजनों के रक्त में लिपटी हुई पृथ्वी का उपयोग कैसे किया जाय? जब हमारे ही बन्धु बान्धवों का रक्त इस पृथ्वी पर बहेगा तभी हम राजकर्ता बनेंगे। यह कर्म अत्यन्त भयंकर है। वह मुझसे नहीं होगा। जो अपने कुल में सत्पुत्रों के फलने-फूलने की कामना करें उनके ही हृदय में बाणों से प्रहार करें? क्या इसी प्रकार हम अपने पूर्वजों के उपकार का बदला चुकायें। जिनका हमें श्राद्ध और तर्पण करना चाहिये उनके ही प्राण हम अपने बाणों से बींध कर ले लें? इस प्रकार तो हम अपने पितरों का अच्छा उद्धार करेंगे। उससे हमारे धर्म का विनाश होगा। इस युद्ध में मरने पर स्वर्ग प्राप्त होगा और विजयी होने पर राज्य प्राप्त होगा। लेकिन हे श्रीकृष्ण! ये दोनों ही नश्वर हैं। फिर किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये युद्ध किया जाय? इस उदासीन प्रवृत्ति से धनुषबाण त्याग कर शोकाकुल अर्जुन उस समरांगण में म्लान देह से खड़ा रहा। उस समय उस महान वीरसिंह का मैंने अनेक युक्तियों से समाधान किया। उसकी कथा सुनो। हे अर्जुन देह नश्वर होने के साथ मलमूत्र का केवल भण्डारगृह है। कितना ही उपचार करने पर भी वह मरणाधीन तथा क्षणिक है और जीव स्वयंसिद्ध तथा नित्य होकर निर्मल है। उसे जन्म नहीं, उसे विनाश नहीं, वह अचल, अच्छेद्य, अभेद्य तथा निर्मल है। वह मूल में ही जड़ है। हे अर्जुन! अब इसका सच्चा अर्थ समझो। देह तुम्हारे प्रयत्न से बचने वाला नहीं है और जीव तुम्हारे मारने से मरने वाला नहीं है। उसकी हत्या का पाप लगेगा यह तुम्हारा सोचना केवल अहंभाव है। यदि तुमने इन सब का निर्माण किया होता, तो तुम उन्हें मार सकते थे। लेकिन बात वैसी नहीं है। इसलिये मैं इन्हें मारूँगा यह कहने में तुम अभिमान में लिपटे हुए हो ऐसा भास होता है। जो देह का निर्माता होता है वही उसका संहारक होता है। तुम न निर्माणकर्त्ता हो और न मारने वाले ही हो, फिर व्यर्थ ही अहंता कष्ट क्यों भोगते हो? यदि तुम इस अहंता का त्याग नहीं करोगे तो सभी हत्याओं की राशि तुम्हारे पास आयेगी और उसके लिये अर्जुन तुम दोषी होगे। हे अर्जुन! सुनो। देहादि कर्मों की अहंता जो अपने माथे पर लेता है वह तीनों लोकों में पूरी तरह दोषी होता है। अब यदि तुम स्वधर्म के बारे में पूछ रहे हो तो क्षत्रिय का क्षात्रधर्म सुनो। उस क्षात्रधर्म के अनुसार यदि समरांगण में पितापुत्र एक दूसरे का वध करें तो इसमें क्षत्रियों को दोष नहीं है। युद्ध तो क्षात्रधर्म का एक तीर्थ ही है। समरांगण में जिसकी मृत्यु होती है वह निजमुक्त ही होता है। यह जो तुम्हें तुम्हारे भाग्य से प्राप्त हुआ है उसे तुम अनिष्ट मानते हो। कर्तृत्व मानना यह दोष अहंता के मत्थे है। उस देहअहंता का जो स्पर्श नहीं करता वही कर्म करके भी अकर्ता तथा भोग भोगते हुए भी अभोक्ता है। वही संग में रह कर भी निःसंग है। वह अकेला ही पूरा संसार है। जो खरा निरभिमानी होता है वह समरांगण का सच्चा वीर है। हे अर्जुन! तुम यदि अभिमान छोड़ दो तो मेरे ही समकक्ष हो जाओगे। फिर किसी पाप की वार्ता भी तुम्हें स्पर्श नहीं करेगी। अब वह अहंता कैसे जाये? तो निश्चय करके मुझ पर ध्यान केन्द्रित कर स्वधर्म कर्म का आचरण करने से चित्त की शुद्धि होगी और चित्त शुद्ध होते ही वह मेरे भक्तिमार्ग पर लग जाता है। भजन के योग से मेरे भक्त तत्काल मुझसे समरस हो पाते हैं। हे अर्जुन! अभिमान छोड़ने के सम्बन्ध में यदि तुम मेरी बात नहीं मानोगे तो जन्म-मरण के भूषण जो सारे दोष हैं वह तुम्हें भोगने होंगे इसे ध्यान में रखो। तुम जो नित्यमुक्त हो, अजन्मा हो, अविनाशी हो यह तुम्हारी सद्बुद्धि विलय को प्राप्त होगी और फिर देखना। निरन्तर जन्म-मरण का भोग भोगते रहोगे। इसलिये 'करना' और 'न करना' इन दोनों को प्रकृति के सुपुर्द कर तुम काया, वाचा, मनसा मेरी शरण में आओगे तो मैं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तुम्हें किसी भी कर्म का स्पर्श नहीं होने दूँगा। इसलिये, हे अर्जुन! 'मरने वाला' और 'मारने वाला' इन दोनों भावनाओं को छोड़कर तुम समरांगण में वीरता दिखलाओ तभी मैं तुम्हारा उद्धार करूँगा। हे अर्जुन! तुम कर्म करने वाले हो और मैं तुम्हारा उद्धार करने वाला, इस प्रकार का भेदभाव मेरे शरणागतों में नहीं होता। पहले मुझ अनन्त की शरण में आना और फिर जीव के नाते अलग रहना यह गुड़ में पत्थर की तरह जीने की तरह है। वह अनन्यभाव से शरण आना नहीं है। नदी समुद्र की शरण में जाती है तो समुद्र होकर ही रहती है। वह फिर वापस लौटना भूल जाती है क्योंकि वह समुद्र के साथ एकरूप जो हो जाती है। गंगा एक बार समुद्र स्वरूप होने पर कोई प्रवाह उसे पीछे की ओर नहीं खींचता। उसी प्रकार अंतर्वाह्य आत्मस्वरूप के साथ तद्रूप होकर मेरा भक्त दिन-रात निरन्तर मेरी शरण में आया रहता है। दीपक यदि अग्नि से मिलने जाता है तो वह भी अग्नि ही बन जाता है। उसी प्रकार हे अर्जुन! जो मेरी शरण में आया वह मत्स्वरूप होकर रह गया। हे अर्जुन! अब मुक्तों के लक्षण सुनो। ये जो प्राणिमात्रों के आकार देख रहे हो वे सब मुझ श्रीकृष्ण के ही हैं इस श्रद्धा से जो देखता है उसे ही ब्रह्मस्वरूप का साम्राज्य प्राप्त होता है। मेरे आत्मस्वरूप में संसार यही सबसे बड़ा भ्रम है। तब 'मैं मारनेवाला' और 'ये मरने वाले' इस बात को कौन स्वीकार करेगा? जहाँ मृगजल नहीं होता वहाँ तो सूखा ही रहता है लेकिन जहाँ मृगजल का आभास होता है वहाँ क्या आर्दता रहती है? उसी प्रकार संसार को रूप-नाम देकर कल्पना की जाती है लेकिन वास्तव में वहाँ रूप-नाम का अभाव होता है और केवल शुद्ध ब्रह्म ही रहता है ऐसा जिसका दृढ़ विश्वास रहता है वह देह में विचरण करते हुए भी चलता-फिरता ब्रह्म ही रहता है। देह को जड़त्व के कारण कर्म की बाधा नहीं होती और आत्मा धर्म-अधर्म को स्पर्श नहीं करता। यह मर्म जिसने जान लिया वह देह में विचरण करते हुए भी चलता-फिरता ब्रह्म है। देह में रहते हुए भी वह विदेही है। मैंने अपना यह गुह्य ज्ञान अर्जुन को बतलाया। इस प्रकार मैंने अनेक युक्तियों से उस युद्ध में अर्जुन को उपदेश दिया। तब उसने भी तुम्हारी ही तरह मुझसे विनती कर मेरी विभूतियों के बारे में पूछा था। उस समय मैंने अर्जुन को जो बतलाया वह तुम्हें भी बतलाऊँगा। इस प्रकार उद्धव को आश्वासन देकर वे उसे अपनी विभूतियाँ बताने लगे। उद्धव मैं स्वयं भी अपनी विभूतियों की गणना नहीं कर सकता। मैं त्रैलोक्य की ही अन्तरात्मा हूँ, मेरी विभूतियों की गणना कौन करेगा?

अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः॥ ९॥

मैं सर्वसमर्थ हूँ तथा प्रत्येक जीव के हृदय में हृदयस्थ होकर रहता हूँ। मेरे पास जीव जो कुछ भी माँगता है उसके लिये मैं कभी भी ना नहीं कहता। प्रभु होने के नाते प्रत्येक वस्तु की पूर्ति करता हूँ। जीव संकट के समय मुझसे जो कुछ माँगता है उसे मैं अत्यन्त असीम मात्रा में देता हूँ। इसीलिये मुझे ईश्वर कहते हैं। मैं आत्मा के रूप में हृदय में वास करता हूँ इस बात का जिन्हें विश्वास नहीं है वे मृगजल की बाढ़ में नौका के साथ बह गये ऐसा समझ लो। उसमें नौका बाँधने का कष्ट व्यर्थ हो जाता है। उसी प्रकार कठिन साधन साध कर वे साधनों के साथ डूब जाते हैं। मुझे प्राप्त करने का सबसे बड़ा रहस्य यही है कि मैं परब्रह्म हृदय में ही रहता हूँ। यही जिसका नित्यकर्म है वही मेरी श्रेष्ठ विभूति है। मैं समस्त प्राणिमात्र के हृदय में रहने वाला, मैं सबका सुहृद और सम्बन्धी, भी ईश्वरी सत्ता का नियामक और मैं ही प्राणिमात्र का शासक हूँ। इस प्रकार समस्त प्राणिमात्र का स्वामी मैं हूँ, यह जो सारे प्राणी हैं वे भी मैं हूँ, प्राणिमात्र की जन्मभूमि का उत्पत्ति स्थान मैं हूँ और उत्पत्ति आदि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्रियाओं में कर्त्ता मैं हूँ। किसान की तरह मैं निर्माण करने वाला और पालन करने वाला तथा संहार करने वाला हूँ। भिन्न-भिन्न गुणों के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये अवतार लेने वाला एक मैं ही हूँ। श्रीकृष्ण ने कहा, कर्म की क्रियाशक्ति भी मैं ही हूँ। ये साधारण स्वरूप बतलाये। अब विशेष विभूतियों के बारे में सुनो।

अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहम्।
गुणानां चाप्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः॥ १०॥

लक्ष्मीपति बोले, गतिशील में जो गति होती है वह गति मैं हूँ। हे उद्धव! सचमुच गति की मूल गति मैं हूँ, यह जान लो। चेतना से ही सबको गति प्राप्त होती है। चेतना से ही इन्द्रियों की प्रकृति होती है। अर्थात् गति की गति एक मैं ही हूँ। सभी गतियों में श्रेष्ठ गति है प्राणियों को मुक्ति प्राप्त होना। लेकिन उस मुक्ति को भी मेरे ही कारण मुक्ति प्राप्त होती है। सारांश गतियों की भी गति एक मैं हूँ। देवताओं और मानवों को एक सीमा में रखने वाली एक काल की सत्ता है। लेकिन सचमुच उस काल को भी मर्यादा में रखने वाला महाकाल मैं हूँ। हे भक्तिराज! तीनों गुणों की साम्यावस्था मैं हूँ। अकृत्रिम गुण का जो स्वभावधर्म है, वह भी सचमुच मैं ही हूँ यह जान लो।

गुणिनामप्यहं सूत्रं महतां च महानहम्।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः॥ ११॥

हे उद्धव! मैं स्वयं को गुणी कहता हूँ क्योंकि मुझ में क्रिया का प्रथम सूत्र प्रधान रहता है। माया का पहला कार्य मैं हूँ इसलिये सभी गुणों से युक्त मैं ही हूँ। संसार में आकाश सबसे महान है। लेकिन वह भी मुझसे लुकाछिपि खेलता है। मेरे महत्तत्त्व के चमत्कार की ठीक-ठीक कल्पना मुझे ही निश्चित रूप से नहीं होती। नारायण बोले, ज्ञान प्रधान जो महतत्त्व है वह मैं हूँ। सूक्ष्म में ब्रह्मदेव आदि भी जिसका आकलन नहीं कर पाते वह जीव मैं हूँ। अजेय वस्तुओं में मन मैं हूँ। उस मन को जीतने के लिये मेरे सिवाय किसी में पूर्ण सामर्थ्य नहीं है। मेरा स्मरण करने से मन स्थिर होता है और मुझे भूलने से मन विचलित होता है। वेदशास्त्र के बल पर मन का आकलन नहीं होता। मैं ही मन हूँ। मेरा चिन्तन करने में उसका विलय हो जाता है और मुझे भूलने से वह इधर-उधर भटकने लगता है।

हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत्।
अक्षराणामकारोऽस्मि पदानिच्छन्दसामहम्॥ १२॥

गोविन्द ने कहा कि वेदों का अध्ययन करने वाला प्रसिद्ध जो ब्रह्मदेव है वह मैं हूँ। मेरे ही कारण वेदों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। वेदों के सम्बन्ध के विचार भी मैं ही हूँ। ओंकार के अतिरिक्त जितने भी मंत्र हैं वे सब बच्चों की कहानियों की तरह निष्फल हैं। मैं श्रीकृष्ण ही मंत्र का ओंकार है। उसके ही कारण सारे मंत्र पावन हो गये। अकार, उकार और मकार इनका अर्थ, मात्रा के साथ जो उच्चार है वही त्रिवर्णात्मक ओंकार है। इसके ही कारण मंत्र पावन होते हैं। किसी भी अक्षर के उच्चार के लिये अकार आवश्यक होता है। उद्धव! वह अकार भी मैं श्रीकृष्ण ही हूँ इसे निश्चयपूर्वक समझ लो। श्रीकृष्ण ने कहा, छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ इसलिये ब्रह्मवृंद उस गायत्री मंत्र का सेवन करते हैं। श्रीकृष्ण बोले, सभी छन्दों में प्रमुख जो गायत्री छंद है वह तथा सभी द्वंद्वों में जो निर्द्वंद्व है, वह मैं हूँ। उस गायत्री मंत्र के ही कारण ब्रह्मवृंद मुझे पूजनीय बन गये हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट्।
आदित्यानामहं विष्णू रुद्राणां नीललोहितः॥ १३॥

देवताओं में इन्द्र मैं हूँ, वसुओं में अग्नि मैं हूँ, आदित्यों में वामन मैं हूँ और रुद्रों में नीललोहित मैं हूँ।

ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः।
देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्धान्यस्मि धेनुषु॥ १४॥

मैंने ब्रह्मदेव को शाप देकर उसे पूजा के अयोग्य कर दिया। शंकर का नैवेद्य भक्षण करने के लिये निषिद्ध कर दिया, भृगु ने विष्णु के हृदय पर लात से मारा और उस लात के चिह्न के रूप श्रीवत्सचिह्न ने भृगु के माहात्म्य का वर्णन किया। श्रीकृष्ण बोले, ब्रह्मर्षि में पूज्य हुआ वह भृगुऋषि मैं हूँ और मनु के रूप में मैं स्वयं श्रेष्ठ राजर्षि बन गया हूँ। श्रीकृष्ण बोले, देवर्षियों में नारदमुनि मैं ही हूँ। कामधेनु भी मेरा अत्यन्त पवित्र और प्रसिद्ध स्वरूप है।

सिद्धेश्वराणां कपिलः सुपर्णोऽहं पतत्रिणाम्।
प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितृणामहमर्यमा॥ १५॥

श्रीकृष्ण बोले, सिद्धों में मुनिश्रेष्ठ कपिल मैं हूँ। पक्षियों में गरुड़ के रूप में रहने वाला पक्षीराजा मैं हूँ। कृष्ण ने कहा, प्रजापति में मुख्य दक्ष मैं हूँ और पितृगण में श्रेष्ठ अर्थमा तो मेरा ही स्वरूप है।

मां विद्ध्युद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम्।
सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्षसाम्॥ १६॥

श्रीकृष्ण ने कहा, भक्ति के सामर्थ्य से दैत्यों में अत्यन्त महान प्रह्लाद मैं हूँ। उसी प्रकार नक्षत्रों का और औषधियों का स्वामी जो चन्द्रमा है वह भी मेरा ही स्वरूप है। यक्ष राक्षसों में श्रेष्ठ कुबेर भी भी मेरा ही स्वरूप है। उसके विश्वास पर श्रीकृष्ण का भण्डार सदा उसके पास रहता है।

ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम्।
तपतां द्युमतां सूर्यं मनुष्याणां च भूपतिम्॥ १७॥

श्रीकृष्ण ने कहा, गजेन्द्रों में जो ऐरावत है वह मैं हूँ, जलचरों का राजा जो वरुण है वह मेरा ही स्वरूप है। श्रीकृष्ण बोले, अपनी प्रभा से निरन्तर प्रकाश देने वाला, संसार को प्रकाशित कर देदीप्यमान लगने वाला तथा अपने तेज से अत्यन्त प्रखर दिखायी देने वाला सूर्य मैं हूँ। मनुष्यों में जो पृथ्वी का उपभोग करता है, सारी भूमि जिसके हाथ में रहती है, जिसे राजा कहते हैं वह मेरा ही स्वरूप है।

उच्चैः श्रवास्तुरङ्गाणां धातूनामस्मि काञ्चनम्।
यमः संयमतां चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ १८॥

नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृगेन्द्रः शृङ्गिदंष्ट्रिणाम्।
आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ॥ १९॥

श्रीकृष्ण बोले, सारे अश्वों में श्रेष्ठ जो उच्चैःश्रवा है वह मैं हूँ और जिसके लिये सारा त्रैलोक्य प्रयत्नशील रहता है वह सुवर्ण धातु मैं हूँ। श्रीहरि कहते हैं, नागों में जो अनंत यह नाम धारण करता है वह नाग मैं हूँ। नाखून, दाढ़ें तथा सींग धारण करने वाले जो चौपाये हैं उनमें सिंह मैं हूँ। नारायण ने कहा, चारों आश्रमों में जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संन्यास है वह मैं हूँ। वर्णों में श्रेष्ठ तथा चलता फिरता जो ब्रह्म है वह ब्राह्मण मैं हूँ।

तीर्थानां स्त्रोतसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम्।
आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम्॥ २०॥

श्रीरंग बोले, पवित्र नदियों में गंगोदक मैं हूँ। सरोवरों में श्रेष्ठ जो समुद्र है वह पूर्णरूप से मैं हूँ, ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा। शास्त्रों में धनुष नामक जो शस्त्र है, वह मैं हूँ और जिसने त्रिपुरों का संहार किया, वह त्रिपुरशत्रु धनुर्धर मैं हूँ।

धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः।
वनस्पतीनामश्वत्थ ओषधीनामहं यवः॥ २१॥

श्रीकृष्ण ने कहा, त्रिभुवन का निवास स्थान जो महामेरु है वह मैं हूँ। चढ़कर जाने में कठिन जो हिमालय पर्वत है वह भी मैं हूँ ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा। वृक्षों में पीपल मैं हूँ। औषधियों में प्रसिद्ध जो यव है वह मैं हूँ ऐसा श्रीकृष्ण ने उत्साह से कहा।

पुरोधसां वसिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः।
स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यां भगवानजः॥ २२॥

भगवान बोले, श्रीराम का पुरोहित बनकर नाम कमाने वाले वसिष्ठ मुनि मैं हूँ और वेद वेत्ताओं में अग्रगण्य श्रेष्ठ देवगुरु बृहस्पति भी मैं हूँ। श्रीकृष्ण बोले, सेनापतियों में श्रेष्ठ जो स्कन्द (कार्तिकस्वामी) है वह मैं हूँ। स्वधर्मप्रवर्तकों में अग्रगण्य तथा ब्राह्मणों में अत्यन्त पूजनीय ब्रह्मा मैं हूँ।

यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं व्रतानामविहिंसनम्।
वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः॥ २३॥

और फिर सर्वज्ञ हरि बोले, जिसमें कारण देवता, ऋषि, पितर तथा अन्य प्राणिमात्र और सारा विश्व सन्तुष्ट होता है वह यज्ञ का ब्रह्मयज्ञ मैं हूँ। श्रीकृष्ण ने कहा, किसी भी प्राणिमात्र को जिससे दुःख हो ऐसा भाषण नहीं करना चाहिये ऐसा तो अहिंसाव्रत है वह मैं स्वयं हूँ। किसी को वायु से पवित्रता आती है, किसी को अग्नि से पावित्र्य आता है, कोई जल से पवित्र होता है तो कोई भाषा से ही पवित्र होता है। कोई बुद्धि से ही पवित्र होते हैं किन्तु इन सब में पवित्रता नाम की जो वस्तु है वह मेरा ही स्वरूप है। पावन को भी पावन करने वाला एक मैं हूँ ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा। संसार मेरे ही नाम से पवित्र होता है यह सभी मानते हैं। मेरा यह स्वरूप पुनीतों से भी अधिक पवित्र है।

योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम्।
आन्वीक्षिकी कौशलानां विकल्पः ख्यातिवादिनाम्॥ २४॥

गोविन्द कहते हैं, जिसके कारण साधकों के अंतःकरण में परमानन्द उत्पन्न होता है और सन्तोष की अनुभूति होती है इस प्रकार का जो योग 'आत्मनिरोध' के नाम से प्रसिद्ध है वह मैं हूँ और हे उद्धव! मुख्य रूप से विवेक को साथ लेकर नीति, न्याय से जो विजयी होने की कामना करता है उस नीति की भी नीति मैं हूँ। गोपाल कहते हैं, केवल आत्मानात्मा का विचार करने वाली जो अध्यात्म विद्या है वह विद्या मैं हूँ। मेरे ही कारण विवेक की वृद्धि होती है। श्रीकृष्ण बोले, जिसमें विकल्प का अन्त ही नहीं है ऐसे वादों में अखण्ड चलने वाला

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाद मैं हूँ। अन्य कौन से विकल्प हैं, वह भी सुनो। हे उद्धव! आख्याति, अन्यधाख्याति, सत्ख्याति तथा अनिर्वचनीय ऐसे जो प्रख्यात हैं वे वाद मैं हूँ।

स्त्रीणां तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः।
नारायणो मुनीनां च कुमारी ब्रह्मचारिणाम्॥ २५॥

जनार्दन बोले, शतरूपा और मनु ये दोनों मैं ही हूँ। सदासर्वदा बदरिकाश्रम में रहने वाले मुनियों में नारायण मैं हूँ। श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं, सचमुच हे उद्धव! निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर रहने वाले सनत्कुमार भी मेरा ही स्वरूप हैं यह जान लो।

धर्माणामस्मि संन्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः।
गुह्यानां सूनृतं मौनं मिथुनानामजस्त्वहम्॥ २६॥

समस्त प्राणिमात्र को अभयदान देने की परम्परा चलते रखना, सारे प्राणियों में आत्माराम मैं हूँ, यह समझना यही संन्यास का मुख्य धर्म है। पुरुषोत्तम कहते हैं कि वह धर्म स्वयं मैं हूँ। काया, वाचा अथवा मन से किसी भी प्राणी को दुःख न देना यही संन्यासधर्म कहलाता है। गोविन्द बोले वह संन्यासधर्म मैं हूँ। अंतःकरण में शुद्ध बोध हुए बिना, ओंठ भींचकर द्वंद्व सहन करना इसे क्षमा नहीं कहते। क्षमा का स्वरूप सुनो। पुरुषोत्तम कहते हैं, अंतःकरण में सचमुच परब्रह्म अंकित होकर जो बाह्य रूप में प्राणिमात्र से समान भाव से आचरण करता है वही वृत्ति क्षमा है। वह क्षमा मैं हूँ। जिसके पास क्षमा रहती है उसे द्वंद्व की पीड़ा नहीं सहनी होती। सारे संसार में असत्यवादी मनुष्य ही पापी है। असत्य में करोड़ों पाप भरे रहते हैं। असत्य की बात झूठी होती है। उस पर कोई ध्यान नहीं देता। बहिर्मुखता को असत्य ही जानो व इस लोक में या परलोक में भी खोटे सिक्के की तरह है। जिसने मन से उसका त्याग किया उसका मैं श्रीकृष्ण भी वन्दन करता हूँ। सत्य भाषण करना अथवा मनःपूर्वक मौन धारण करना यही गुह्य में सबसे बड़ा गुह्य है। श्रीकृष्ण ने कहा कि वह गुह्य मैं हूँ। सत्य पर प्रेम रखना यही मेरा आत्मगुह्य है। ब्रह्मदेव का देह मनु और शतरूपा के रूप में विभाजित हुआ। नारायण कहते हैं, वह एकनिष्ठा से मनुष्यसृष्टि उत्पन्न करने वाला जोड़ा मैं ही हूँ।

संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित्॥ २७॥

श्रीकृष्ण कहते हैं, एक पल की भी गलती किये बिना निरन्तर सावधान रहने वाला संवत्सर काल मैं ही हूँ। त्रसरेणु से संवत्सर तक लव, निमिष, दिन आदि की कालगणना मैं संकर्षण सावधानी से करता हूँ। कृष्ण कहते हैं, मधु-माधव इन दो महीनों का जो वसन्त ऋतु है वह मैं हूँ। सारे महीनों में अनाज को परिपक्व स्थिति में लाने वाला सुहाना मार्गशीर्ष माह मैं हूँ। पंचांग में जिसकी गणना नहीं हो सकती, नक्षत्रों में होते हुए भी जो सर्वथा गुप्त है, अदृश्य होते हुए भी जो ज्ञानी लोगों को मिल जाता है, वह अभिजित नक्षत्र मैं हूँ, ऐसा श्रीकृष्ण करते हैं।

अहं युगानां च कृतं धीराणां देवलोऽसितः।
द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान्॥ २८॥

श्रीरंग कहते हैं, जिस युग में सभी धर्म व्यवस्थित ढंग से चलते हैं, अधर्म का जरा भी अंश नहीं होता, वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कृतयुग मैं हूँ। अच्युत बोले, उद्धव! धैर्य में आत्मधैर्य बड़ा विचित्र है। इस प्रकार के धैर्यवान जो असित और देवल हैं वह मैं हूँ। हृषीवंशी कहते हैं, वेदों का विभाग करने वाले राजहंस, जिन्होंने वेदों का चयन कर उन्हें ब्राह्मणों को सौंपा वे द्वैपायन व्यास मैं हूँ। लक्ष्मीपति कहते हैं, जो कवि हैं उनमें सचमुच परमार्थज्ञानी उशना (शुक्राचार्य) कवि मैं हूँ। जो साक्षात आत्मस्वरूप ज्ञान हैं ऐसे शुक्राचार्य मैं हूँ।

वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम्।
किम्पुरुषाणां हनुमान् विद्याध्राणां सुदर्शनः॥ २९॥

षड्गुण ऐश्वर्य से भाग्यवान, पूर्णरूप से भगवत्स्वरूप तथा वासुदेव नाम से प्रसिद्ध श्रीकृष्णरूप से मैं ही यहाँ उपस्थित हूँ और हे उद्धव! भगवद्भक्तों में अत्यन्त श्रेष्ठ जो तुम हो, वह मैं ही हूँ, यह ध्यान में रखो। श्रीकृष्ण के मुख से यह बात सुनते ही उद्धव ने श्रीकृष्ण के चरणों का वन्दन किया। उद्धव ने नमस्कार करते ही श्रीकृष्ण ने उसे आलिंगन में बाँध लिया। उस समय पूरा त्रैलोक्य आनन्द से भर गया। आत्मानंद का मेघ श्रीकृष्ण इससे प्रसन्न हुआ। उद्धव और श्रीकृष्ण दोनों एकरूप हो गये। 'जो मैं हूँ' 'वही तुम हो' यह वचन श्रीकृष्ण ने सत्य करके दिखलाया। दोनों के दो भाव मिटकर उद्धव श्रीकृष्ण बन गया और श्रीकृष्ण उद्धव रूप में रंग गये। वह देख उद्धव आश्चर्यचकित हो गया और श्रीकृष्ण का प्रिय भक्त होने के गर्व से क्षणभर के लिये फूल गया। वानरों में हनुमान मैं हूँ ऐसा जब श्रीकृष्ण ने कहा तो उद्धव का अभिमान नष्ट हुआ और वह मन ही मन झेंप गया क्योंकि जब वानर और जानवर भी कृष्ण के मुझ से अधिक प्रिय भक्त बन गये तो हरिभक्तों का अंत कहाँ है यह जानना कठिन है। फिर मुझ जैसे दास की क्या बिसात है? इस प्रकार मन में विचार कर उसने श्रीकृष्ण को नमस्कार किया और कहा, कृपया अपनी सभी विभूतियों के बारे में मुझे बताइये। इस पर श्रीकृष्ण ने हँसकर क्या कहा? वे बोले, ऐसा सुदर्शन विद्याधर तो सचमुच मेरी ही विभूति है।

रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसाम्।
कुशोऽस्मि दर्भजातीनां गव्यमाज्यं हविःष्वहम्॥ ३०॥

श्रीरंग कहते हैं, रत्नों में जो पद्मराग होता है वह मैं हूँ। श्रीहरि बोले, मनोहर वस्तुओं में अत्यन्त निर्दोष जो कमान की कली होती है वह मैं हूँ। श्रीहरि कहते हैं दस प्रकार के दर्भों में जो कुशदर्भ होता है, वह मैं हूँ और श्रीहरि ने स्वयं बताया कि सकल होमद्रव्यों में जो गोघृत होता है, वह मैं हूँ।

व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः।
तितिक्षास्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३१॥

लक्ष्मीपति बोले, हे उद्धव! व्यवसाय तथा उद्योग करने वालों को साधन के रूप में दान में दी जाने वाली अपार सम्पत्ति मैं हूँ। कपट की कपटयुक्ति जिससे अतर्क्य छल किया जा सकता है वह मायामय मूर्ति मैं श्रीकृष्ण ही हूँ। परब्रह्म में जीवत्व की कल्पना तथा जीव की ब्रह्मस्वरूप से एकता इस सारे कपट का सूत्रधार भी मैं हूँ। यह कपट देवताओं की समझ से भी परे है। ब्रह्मदेव और शंकर स्वयं को माया का नियंता समझते हैं लेकिन उसी शंकर को मैंने मोहिनीदर्शन से फँसाया और ब्रह्मदेव को गौ के बछड़े चुराने में फँसाया। इसीलिये ठगों में महाठग मैं हूँ। लक्ष्मीपति कहते हैं, सहनशीलों में जो सहनशक्ति होती है, वह मैं हूँ। श्रीपति आगे बतलाते हैं, सात्त्विक पुरुष की जो मूल की सत्ववृत्ति होती है, वह मैं ही हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ओजः सहो बलवतां कर्माहं विद्धि सात्वताम्।
सात्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा॥ ३२॥

बलवान में जो अत्यन्त प्रबल मनोबल, शरीरबल और धैर्यबल होता है और जिसके कारण वह कभी विचलित नहीं होता वह धैर्यबल भी मैं श्रीकृष्ण ही हूँ। पुरुषोत्तम बोले, जिसके कारण मेरे प्रति अपार प्रेम उत्पन्न होता है वह भक्तों की कामना नष्ट करने वाला भजनकर्म मैं ही हूँ। भक्तिपूर्वक पूजाविधि के लिये जिन नौ प्रकार की मूर्तियों का विधान किया गया है उनमें मुझ वासुदेव की मूर्ति पहली है। अब नौ मूर्तियों की उपपत्ति सुनो। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, हयग्रीव, नारायण, वराह, वामन और नरसिंह ये नौ प्रकार की मूर्तियों के स्वरूप हैं। उसमें की पहली मूर्ति मैं हूँ। उद्धव! शेष जो आठ मूर्तियाँ हैं वे सचमुच मेरी ही विभूति है। हयग्रीव वेद की मूर्ति है। श्री व्यास ने उसकी भक्ति की इसलिये उन्हें 'वेदव्यास' की उपाधि प्राप्त हुई और त्रिभुवन में उनकी कीर्ति की सुगन्ध फैली। नारायण यह मत्स्वरूपी मूर्ति है। ब्रह्मदेव ने उसकी भक्ति कर चतुःश्लोकों से ज्ञान प्राप्त करने के कारण वह ब्रह्मपद तक पहुँचा। श्वेत वराह यह सबमें श्रेष्ठ मूर्ति है। पृथ्वी ने उसकी पूर्ण भक्ति की इसलिये उस दयासागर ने उसका उद्धार कर उसे अप्रतिम शान्ति प्रदान की। वामन भी मेरी ही मूर्ति है। देवताओं ने उसका पूर्ण रूप से भजन किया इसलिये उन देवताओं का छल समाप्त करने के लिये वामन ने बली को बाँध दिया और देवताओं को उनका अधिकार प्रदान कर उनका सम्मान किया। नरहरि एक दिव्य मूर्ति है। प्रह्लाद ने उस मूर्ति की निष्ठा से भक्ति की और मैं समस्त विश्व की आत्मा हूँ और प्राणिमात्र में विद्यमान हूँ यह बात उसने लोगों के मन में दृढ़ कर दी। संकर्षण अर्थात् बलराम यह मूर्ति भी श्रेष्ठ है। ब्रह्मदेव की आज्ञा से रैवतक पर्वत ने उसकी भक्ति की और अपनी कन्या रेवती उसे अर्पण कर वह आत्मानंद के अनुभव से तृप्त हो गया। प्रद्युम्न यह मूर्ति कामस्वरूप है अतः नाना प्रकार की इच्छा करने वाले कामीजनों ने उसकी भक्ति कर जो माँगा उनके मनोरथ उसने पूरे किये। अनिरुद्ध भी मेरा अत्यन्त जीवश्च-कंठश्च है। शिव की आज्ञा से उषा ने उसकी भक्ति की और उसने बाणासुर का उद्धार किया। नारद की आज्ञा से चित्ररेखा ने उसकी सहायता की। पूर्णरूप से ब्रह्मस्वरूप आदिमूर्ति जो वासुदेव है वह मैं ही हूँ। मैंने सहज ही कितनों का उद्धार किया। उनकी गणना करना कठिन है। मेरे प्रति वह भक्ति उद्धव में तथा अर्जुन में विद्यमान है। हे उद्धव! इस प्रकार नौ प्रकार की भक्ति, नौ प्रकार की मूर्ति और उनकी भक्ति का ढंग मैंने यथार्थ रूप से तुम्हें बताया।

विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम्।
भूधराणामहं स्थैर्य गन्धमात्रमहं भुवः॥ ३३॥

जिसका गायन अत्यन्त अपूर्व है विश्वावसु नामक गन्धर्व मैं हूँ, ऐसा माधव ने कहा। रुक्मिणीपति आगे कहते हैं अपने मनोहर नृत्य से तथा अपने स्वभाव से अंतर्बाह्य सुन्दर दिखायी देनेवाली 'पूर्वचित्ती' नाम की अप्सरा मैं हूँ। नारायण कहते हैं, पृथ्वी में जो स्थैर्य है, वह मैं हूँ। पृथ्वी में गन्ध के रूप में जो है वह भी स्वयं मैं हूँ।

अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः।
प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः॥ ३४॥

श्रीनिवास कहते हैं, उदक में जो उत्तम रस है वह मैं ही हूँ और हे उद्धव! तेजस्वी प्राणियों में जो प्रकाश है वह स्वयंज्योति मैं हूँ। चन्द्रमा, सूर्य और तारों में जो तेज है वह मेरा ही है और आकाश से भी लिप्त न होने वाला अनाहत ध्वनि मैं ही हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः।
भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसंक्रमः॥ ३५॥

श्रीकृष्ण कहते हैं, ब्राह्मण भजन में बलि का श्रेष्ठत्व है। निश्चित रूप से वह बलि मैं ही हूँ। ब्राह्मण भजन के सामर्थ्य ने मुझे बली के द्वार का द्वारपाल बनाया है। नारायण कहते हैं पाण्डवों में सामर्थ्य से परिपूर्ण नरावतार जो अर्जुन है वह मैं ही हूँ। इसीलिये वह मेरा प्राण ही है। श्रीपति कहते हैं, उद्धव! प्राणिमात्र की उत्पत्ति, स्थिति मैं ही हूँ, और उन प्राणियों की संहारगति भी मैं ही हूँ।

गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षणम्।
आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम्॥ ३६॥

समझ लो कि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दोनों का वास्तविक इन्द्रिय मैं हूँ। उनकी क्रिया मेरे ही कारण प्रकट होती है। 'गति-ग्रहण-गमन', मलमूत्र विसर्जन करना, देखना, स्पर्श करना, घ्राण, सुनना, चखना ये सारी क्रियायें मेरे ही कारण होती हैं। इन्द्रियों का यह चलन मेरे बिना नहीं हो सकता। उनका भी सम्पूर्ण लक्षण तुम्हें बताता हूँ। मन का भी महामन मैं हूँ। नयनों का भी नयन मैं हूँ। स्पर्शों का स्पर्श मैं हूँ और जिह्वा की मूलजिह्वा मैं हूँ। नाक का मूल मैं हूँ, कान का आद्यकान मैं हूँ, ग्रहण का निजग्रहण मैं हूँ और गति की भी गति मैं हूँ, यह जान लो। हे उद्धव! आनन्द का आनन्द मैं हूँ, बुद्धि का भी प्रबोध मैं हूँ और सारे इन्द्रियों का जो विषय स्वाद है वह मुकुन्द मैं हूँ। वाणी की व्यापक वाणी मैं हूँ, परावाणी का प्रेरक भी मैं हूँ और सारे इन्द्रियों का स्वामी भी मैं हूँ, इसीलिये मुझे 'हृषीकेश' यह नाम दिया गया है।

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान्।
विकारःपुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम्॥ ३७॥

मूल तत्त्वों की संख्या पचीस है। उनमें तीन गुण मिला दें तो वह संख्या अट्ठाईस होती है, उनके बारे में तुम्हें विस्तृत रूप से बताता हूँ। अहंकार, महतत्त्व, पृथ्वी (गंध), वायु (स्पर्श), आकाश (शब्द), उदक (रस) और तेज (तेज) ये पंचतन्मात्रा मिलकर एक स्थूल प्रकृति तैयार होती है और पंचमहाभूत तथा ग्यारह इन्द्रिय मिलकर विकारों की संख्या सोलह है। इसमें प्रकृति और पुरुष मिलाने से तत्त्वों की संख्या पच्चीस हो जाती है। प्रकृति में गुणों का वास होता है। यह तत्त्वों का तत्त्वविलास है। गुण विकारयुक्त प्रकृति और तत्त्वसंख्या का निश्चय इनके बारे में तुम्हें जो विचार बतलाये वही मेरा परात्परस्वरूप है।

अहमेतत्प्रसंख्यानं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः।
मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना।
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित्॥ ३८॥

इस प्रकार पचीस तत्त्वों का ज्ञान मैं ही हूँ। भगवान बोले, इन तत्त्वों को गिनने का जो ज्ञान है, वह स्वयं मैं हूँ। भगवान आगे बताते हैं, इसे जानने का लक्षण भी स्वयं मैं ही हूँ। जीव और ईश्वर, गुणी और गुणावतार, क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) ये सब निश्चित रूप से मैं हूँ। मेरे सिवा एक अणु भी कोई वस्तु स्वतंत्र नहीं है। सर्वत्र मैं ही सर्वात्मा हूँ और चिन्मात्र भी मैं हूँ। हे उद्धव! यहाँ मेरे सिवा अलग कुछ भी शेष नहीं रह गया है और सामान्य देह में मैं ही हूँ, यह जान लो। हे उद्धव! शायद तुम कहोगे कि इसका संक्षेपण न किया जाय तो यहाँ विस्तार नहीं किया जा सकता। उसका कारण बताता हूँ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया।
न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः॥ ३९॥

कालरूप से मैं पृथ्वी के परमाणुओं की भी गणना कर सकता हूँ, किन्तु मेरी विभूतियों की संख्या की गणना मैं भी नहीं कर सकता। मैंने अनन्त ब्रह्माण्डों का निर्माण किया है। उन्हें मैं नहीं गिन सकता, फिर मेरी सारी विभूतियाँ कौन वाचाल गिन सकता है? मैं सर्वत्र नारायण हूँ, मेरी विभूतियाँ गिनने की शक्ति मुझमें नहीं है फिर उनका वर्णन कैसे करें? हे उद्धव! मनुष्य में मेरी विभूति किस रूप में रहती है, उसके सम्बन्ध में बताता हूँ, सुनो।

तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र समेऽशकः॥ ४०॥

जिसकी प्रतापशक्ति (ओजस्विता) अत्यन्त प्रबल है, जिसके पास लक्ष्मी निरन्तर वास करती है, जिसके ऐश्वर्य की कोई सीमा नहीं है, स्वधर्म में जिसकी बहुत कीर्ति है, जिसके वैभव का सामर्थ्य इतना है कि वह सम्पूर्ण त्रैलोक्य को अपनी आज्ञा में रखता है और जिसकी दान देने की तो कोई सीमा ही नहीं है, जिसका भाग्य निरन्तर बहता ही रहता दिखाई देता है, जिसका सामर्थ्य अत्यन्त विलक्षण है और जिसकी बात का कोई उत्तर नहीं दे सकता, जिसके भाग्य की शालीनता सभी लोगों के नेत्रों को मनोहारी लगती है, जिसे सहनशीलता के प्रति लगाव, निंद्यकर्म के प्रति लज्जा होती है और व्यावहारिकता की जो साक्षात मूर्ति है, ऐसे लक्षण जिसमें होते हैं वह मेरी विभूति है, यह जान लो। इतना ही क्यों, इनमें से एक भी लक्षण जिसमें हो वह भी मेरी विभूति है यह जान लो।

एतास्ते कीर्तिताः सर्वाः संक्षेपेण विभूतयः।
मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते॥ ४१॥

संक्षेप में ही जिन विभूतियों के सम्बन्ध में तुम्हें बताया उन्हें हे उद्धव! मनोविकारों के अनुभव के रूप में ही जानना चाहिये। साधकों की साधनस्थिति को देखते हुए मेरी विभूतियों को सत्य ही जानना चाहिये। परमार्थदृष्टि से विचार करने पर उन्हें काल्पनिक समझना चाहिये। वास्तव में मेरा स्वरूप अद्वैत है यह ध्यान में रखो। मुझे नाम नहीं है, रूप नहीं है, गुण नहीं है और वर्ण भी नहीं है। अतः नाना प्रकार की विभूतियों का यदि लक्षण बताना हो तो वह मिथ्या ही होगा।

वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने॥ ४२॥

मेरा स्वरूप नित्य निर्विकार होने के कारण मन को, बुद्धि को अथवा वाचा को भी उसकी थाह नहीं लग पाती, फिर बेचारी इन्द्रियाँ क्या पार पायेंगी? प्राण को भी इस स्वरूप का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। इसलिये शमदम के अनुक्रम से मन, बुद्धि, वाणी और इन्द्रियों का संयम करो और प्राणधर्म के अनुसार प्राण का नियंत्रण करो जिससे तुम आत्मस्वरूप तक पहुँचोगे। अब यदि मन, बुद्धि, वाचा आदि इन्द्रियों का नियमन करने का मर्म नहीं जानता ऐसा कहोगे तो उसका अनुक्रम भी सुलभ रीति से बताता हूँ। वाणी का संयम मेरे नाम से करें, मन का नियमन ध्यान सामर्थ्य से करें, प्राण का नियमन प्राणत्याग से करें और इन्द्रियों का नियमन दम से अर्थात् संयम से करें और बुद्धि का नियमन आत्मविचार से करें, जीव का नियमन परमात्मसुख से करें। इतना करने पर तुम सहज ही, निश्चित रूप से मत्स्वरूप हो जाओगे। एक बार मत्स्वरूप होने पर संसार दिखायी ही नहीं पड़ेगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जन्म-मरण की वार्ता समाप्त होगी और आने-जाने का क्रम समाप्त होगा। मैंने बतायी हुई नियम पद्धति के अनुसार नियमन करने की बात जिसकी समझ में नहीं आती वह कोटि-कोटि दुःख भोगता है। उसका भी वर्णन करता हूँ।

यो वै वाङ् मनसी सम्यगसंयच्छन् धिया यतिः।
तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत्॥ ४३॥

मैंने बताये हुए नियमों के अनुसार जो मन, बुद्धि और इन्द्रियों का निष्ठापूर्वक नियमन नहीं करता उसके साधन व्यर्थ हो जाते हैं। कच्ची मिट्टी के बर्तन का पानी जिस प्रकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार उसका व्रत, तप, दान, योग, याग, शब्दज्ञान ये सब व्यर्थ हो जाते हैं। जिस प्रकार राख में होम करने से अथवा अमंगल स्थिति में कर्मों का आचरण करे या कुपात्र को दान दें वैसी ही स्थिति साधनों की होती है। ऊसर पर बीज डालने से अथवा भिखारी ब्राह्मण को भोजन का निमंत्रण दे अथवा बाँस को इच्छायें होने लगे उसी प्रकार उन साधनों की स्थिति समझनी चाहिये। इस प्रकार हे उद्धव! यदि मन में यदि विधिपूर्वक नियम का पालन न किया जाय तो सारे साधन देखते-देखते व्यर्थ हो जाते हैं। इसलिये मन आदि इन्द्रियों की जो वृत्ति है उसका नियमन करना चाहिये ऐसा स्वयं श्रीकृष्ण उद्धव को बताते हैं।

तस्मान्मनोवचः प्राणान् नियच्छेन्मत्परायणः।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते॥ ४४॥

देखो! मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा प्राण इनका नियमन अवश्य करना चाहिये, इसे ध्यान में रखो। इस प्रकार वृत्ति को सावधान रखते हुए जो मेरा भजन करता है उसकी विषय वासनायें जल जाती हैं और मेरे भक्तिमार्ग पर चलने से निर्विकल्प शान्ति उत्पन्न होती है। भक्तिमार्ग पर चलने से सारे साधन लज्जित हो जाते हैं। भक्ति के कारण ही मैं लक्ष्मीपति प्रकट होकर मेरे भक्तों की संसार से निवृत्ति करता हूँ। यदि मेरे भक्तों को सांसारिक बाधा होती है तो मुझ भगवान को ही उससे लज्जा होती है। मैं निजभक्तों को कष्ट में नहीं रहने देता। प्रह्लाद का छल होते ही मैं नरसिंह रूप में शुष्क काष्ठ में प्रकट हुआ और गजेन्द्र के लिये वैकुण्ठ छोड़कर दौड़ पड़ा। कौरव द्रौपदी का छल कर रहे थे अतः मैंने तत्काल उनके मुँह में कालिख पोत दी। अग्नि ने गोपालों को पीड़ा दी उस समय मैं वह दावाग्नि पी गया। इन्द्र गोकुल को कष्ट दे रहा था, उस समय मैंने गोवर्धन पर्वत हाथ पर उठा लिया। उसी प्रकार गोपियों का मनोरथ पूरा करने के लिये मैं श्रीपति कामी बन गया। अर्जुन की प्रतिज्ञा पूर्ण हो इसलिये मैंने दिन में ही सूर्य को छिपा दिया और जयद्रथ को मारने का पराक्रम करा कर अर्जुन को बचाया। अम्बरीष का गर्भवास मैंने आनन्दपूर्वक झेला। मैं श्रीकृष्ण कभी भी अपने भक्तों को नीचा नहीं देखने देता। भक्तों के चरणों की धूल मैं श्रीपति अपने हृदय पर धारण करता हूँ। इतना ही नहीं, भक्ति के कारण मैंने भालू और बन्दरों को भी अपने पास बिठाया। इसीलिये हे उद्धव! मैं तुम्हें बार-बार कहता हूँ कि मेरी भक्ति करनी चाहिये। मेरा भजन करने से भक्त सहज ही मद्भाव प्राप्त करता है। मेरी ही भावना मन में धारण कर भजन करने से मैं अनन्त उसके हाथ आ जाता हूँ और बाद में उसका सेवक बन जाता हूँ। इतना प्यार है मुझे भक्ति से। यहाँ मेरी भक्ति से सुलभ अन्य कोई साधन ही नहीं है यह जानकर ही मैंने तुम्हें भक्तिमार्ग पर लगाया है। सद्भक्ति प्राप्त हो जाने पर संसार बिचारा क्या है? मेरे भक्त चारों मुक्तियों को दूर हटाकर आत्मसुख का उपभोग करते हैं। मेरे भक्तों की महिमा अत्यन्त अतर्क्य और गहन है। इतना कहकर श्रीकृष्ण उद्धव को प्यार से सहलाने लगे। श्रीकृष्ण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के हाथ के स्पर्श से उद्धव को जाने क्या हुआ? कुछ ऐसा ही हुआ जैसे अभी-अभी ब्यायी हुई गौ का बछड़ा माँ के दूध से आह्लादित होता है। जिस प्रकार चकोर चन्द्रमा के किरणों से अंतर्बाह्य तृप्त रहता है अथवा मेघ को देखकर मोर आनन्द से नाचने लगता है, उसी प्रकार उद्धव भी आत्मानंद में पूरी तरह रंग गया और यह भूल गया कि मैं भगवान का भक्त हूँ और श्रीकृष्ण भी भूल गये कि वे भगवान हैं। इस प्रकार वे दोनों जब एकरूप होकर मस्त हो गये थे, तभी वहाँ परमानन्द की पताका स्वानंद से फहराने लगी। इस भक्तिसुख का माधुर्य जिसके भाग्य में है वही जाने। भजनरूपी व्यवसाय में उद्धव को श्रीकृष्ण का लाभ हुआ। एकनाथ जनार्दन की शरण में गया इसीलिये भजनसुख का रहस्य और भक्तों के अंत:करण का रहस्य अकेले उसकी समझ में आया। भक्तों के प्राण उस परमात्मा ने गोकुल में ग्वाला बनकर तथा ग्वालों के साथ हिल-मिल कर गोपियों और गोपालों का उद्धार किया। यदि केवल उनके ही खेल-खेल कर बालगोपालों का उद्धार किया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। लेकिन उसकी अपूर्व कला और उदार लीला तो कुछ और ही है। उसे सुनिये। पर्वत, पाषाण, तृण, भृंग, मत्स्य, मृग, मगर, उसी प्रकार व्याघ्र, वनचर, सर्प आदि विषैले प्राणी, कबूतर, मोर आदि गोकुल के प्राणियों का उस कृपालु एवं सर्वसमर्थ श्रीकृष्ण ने स्वयं अपनी लीला से ही उद्धार किया। पिता के वचन के बहाने, सीता के वियोग के कारण श्रीरामचन्द्र ने रीछ, बन्दर और राक्षसों का भी उद्धार किया। अब इससे भी बड़ी लीला सुनिये। अयोध्या से लेकर लंका के बीच के मार्ग में जो भी वृक्ष, वनस्पति, ढोके, पत्थर, पर्वत, घास जैसी तुच्छ वनस्पति और कृमि कीटक थे उन सबका श्रीरामचन्द्र ने अपनी लीला से ही उद्धार किया। इस प्रकार वह जनार्दन नाना प्रकार के अवतार लेकर जब सभी का उद्धार करता रहता है तो उसने एक एकनाथ को पावन कर दिया, इसमें आश्चर्य क्यों माना जाय? लेकिन उसने एक बड़ा आश्चर्य किया कि मुझ जैसे मूढ़ के मुँह से श्रीमद्भागवत के शब्द देशी भाषा में बुलवाये। इसका मुझे भी बहुत बड़ा आश्चर्य है। जिसकी ऐसी कृपा है उस जनार्दन की ही शरण में यह एकनाथ है। उसके ही चरणों का स्मरण कर यह सोलहवाँ अध्याय वह पूर्ण करता है।

इति श्री भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे श्रीकृष्णार्जुन संवादे
एकाकार टीकायां विभूतियोग नाम षोडशोध्यायः ॥ १६ ॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु। श्री विट्ठलार्पणमस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सत्रहवाँ अध्याय

हे ओंकारस्वरूप सद्गुरु! तुम्हें मेरा नमस्कार है। तुम महामेरु स्वरूप हो। सूक्ष्म स्वरूप में तुम पर्वत हो यह प्रतीत होने पर भी चैतन्यरूप में तुम अत्यन्त महान हो तथा सभी का आधार हो। वैकुण्ठ, कैलाश आदि तुम्हारे आत्मज्ञान के अत्यन्त उच्च शिखर हैं। वहाँ ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर तुम्हारे ही सहारे वास करते हैं। यह त्रैलोक्य और सारे लोक तुम्हारे ही आधार पर टिके हुए हैं। समस्त प्राणिमात्र की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त में विलय तुम्हारे में ही होता है। देवता, दैत्य, छोटे, बड़े, सौम्य, क्रूर आदि विविध प्रकार के भूत धारण करके भी तुम्हारा स्वरूप निर्विकार है। उसमें विवेक का खेत है तथा चिद्रत्न की खानें हैं। उसका एक टुकड़ा भी हाथ लग जाय तो साधारण आदमी बड़ा व्यापारी बन जायगा। उस पर्वत पर उगी औषधियों का तो बड़ा चमत्कार है। उनका सेवन करने से वे उन्हें अजर-अमर कर देती हैं। उस पर ज्ञान गंगा के सोते भी निरन्तर बहते रहते हैं। जो देवताओं तथा मनुष्यों का विश्राम स्थल है, जो ब्रह्मचर्यादि सभी आश्रमों का आश्रम है, जो क्रियाकर्मों का नैष्कर्म्य है और जो जीवों का निजधाम है, जो भजन का क्षेत्र, भक्तों के जीवन का बगीचा है, जो पसन्द की भी पसन्द है और जो आत्मानुभव से माधुर्य का भी माधुर्य है ऐसा वह सद्गुरु रूप महामेरु जो कठोरता के बिना ही सबका आधार है, जिसके कारण साधकों का जीवन भी सुखमय हो जाता है, उन साधकों का समाधान, शिष्यों के लिये तो आत्मानंद रूप मेघ, मुमुक्षुरूप चातकों का जीवन ऐसा जो जनार्दन स्वामी है वह प्रसन्न हो उठा। उसके चरणों के कृपाप्रसाद से श्रीमद्भागवत के एकादशस्कंध का बड़े आनन्द से वर्णन किया। उसमें उद्धव ने श्रीकृष्ण से विभूतियों के बारे में पूछा। उनका वर्णन सोलहवें अध्याय में लक्ष्मीपति ने भजनप्रीत्यर्थ यथार्थ रीति से किया। उस विभूतिवर्णन की विशेष बात यह है कि उसमें श्रीकृष्ण ने कहा कि भक्तों का जो कर्म है, वह मैं आत्माराम ही हूँ। उसमें एक शंका उत्पन्न हुई कि निरन्तर कर्म करते हुए कितने ही लोग केवल कर्मठ हो गये हैं, जिनकी कोई गिनती नहीं है। तो कर्म से कैसे मुक्ति मिलती है? इच्छा से कर्म करते समय कर्म में कर्त्तव्यता का अभिमान न हो और कर्म से मोक्ष प्राप्ति हो ऐसा उपाय स्वयं पूछे। क्योंकि लक्ष्मीपति ने स्वयं ही बताया कि सात्त्विक जो कर्म करते हैं वह कर्म ही मेरी विभूति है। यह बात सोलहवें अध्याय के अन्त में बतायी गयी है। स्वयं होकर स्वकर्म का आचरण करने से वह कर्म ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है वह जो कर्मक्रिया का मर्म है उसे सरल ढंग से बताने के लिये भगवान से कहें। उद्धव के मन में यही उद्देश्य था इसलिये इस शंका का समाधान करने के लिये व भगवान से वर्णाश्रम की तथा स्वधर्म की पृष्ठभूमि ही पूछने लगा।

उद्धव उवाच

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषा द्विपदामपि॥ १॥

उद्धव ने कहा, हे भक्तों के भगवान! तुम्हारी आत्मविभूति का श्रवण करते हुए मेरे मन में आया कि स्वधर्म से किस प्रकार भक्ति का उदय होगा। तुम तो कल्प के प्रारम्भ से ही अत्यन्त सहृदयता से कहते आ रहे हो कि स्वधर्म कर्म से ही भक्ति प्राप्त होती है और इस सम्बन्ध में तुमने वर्णाश्रम का उत्कृष्ट प्रतिपादन किया है। सभी मनुष्यों को उत्तम गति और भगवद्भक्ति स्वधर्म से प्राप्त होती है इसका तुमने ही यथार्थ और निश्चित निरूपण किया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत्।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तत् समाख्यातुमर्हसि॥ २॥

हे कमलनयन अच्युत! सुनो। जिस स्वधर्म का आचरण करने से तुम्हारी भक्ति स्वाभाविक ढंग से भक्तों को प्राप्त होती है उस कर्णकौशल्य का लक्षण, हे कमलनयन! माधव! कृपामूर्ति! मुझसे निवेदन करें। हे लक्ष्मीपति! शायद तुम यह कहोगे कि मैंने कल्प के प्रारम्भ में स्वधर्म की यह स्थिति किसे बतायी? तो इस सम्बन्ध में मेरी विनती सुनो।

पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो।
यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव॥ ३॥

जिसकी बाहों का प्रताप अद्भुत रहता है, जो विश्व का मर्यादा का धर्मसेतु व्यवस्थित रूप से रखना जानता है उसे 'महाबाहु' कहते हैं। स्वधर्म कर्म का प्रकाशक अनादि वक्ता एक तुम ही हो और वर्णाश्रम का विचार ब्रह्मदेव से कथन करने वाले उपदेशक भी तुम ही हो। तेरहवें अध्याय में तुमने हंस रूप में स्वधर्म का निश्चित विचार विस्तारपूर्वक बताया और उसमें से ही आत्मज्ञान का रहस्य ढूँढ़कर मुझे उत्तम ढंग से बतलाया। लेकिन तुमने हंसरूप से स्वयं ही जो स्वधर्म बतलाया उसमें के स्वधर्म का लक्षण और उसका निरूपण मेरी समझ में नहीं आया। इसलिये सनत्कुमार ने तुम्हारे मुख से जिस आश्रमधर्म का भक्तिपूर्वक श्रवण किया, उसे मुझे बतायें। अब तुम यदि यह कहोगे कि परम्परा से सनत्कुमार द्वारा ही धर्म का प्रसार हुआ है अतः उसको समझ कर तुम उसका रहस्य जान लो। किन्तु हे श्रीकृष्ण! मुझसे यह नहीं होगा।

स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन।
न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः॥ ४॥

काम, क्रोध, लोभ, अभिमान आदि षड्रिपु भक्तों के बहुत बड़े बैरी हैं, उनका तुम संहार करते हो इसीलिये तुम्हें अरिमर्दन कहते हैं। भक्तों के लिये शत्रु का नाश करने वाला तुम्हारे बिना त्रिभुवन में कोई नहीं है इसलिये मैं अनन्य भाव से तुम्हारी शरण आया हूँ। कल्प के प्रारम्भ में तुमने सनकादिकों को उपदेश किया, उस उपदेश को अब काफी लम्बा समय व्यतीत हो गया है इसलिये अब किसी के पास वह धर्म नहीं रह गया है। आज के युग में लोग स्वधर्म में तत्पर नहीं रहते। स्वधर्म का विचार भूल कर वे कामासक्ति तथा उदरपूर्ति में ही सादर लिप्त रहते हैं। इसलिये जिससे यथार्थ धर्म अंतःकरण पर अंकित हो सके ऐसा उपदेशक ही नहीं रह गया है। इसलिये हे वैकुण्ठाधिपति! स्वधर्म की निष्ठा के बारे में मुझे तुम ही बताओ।

वक्ता कर्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि।
सभायामपि वैरिञ्चयां यत्र मूर्तिधराः कलाः॥ ५॥

कर्त्रावित्रा प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन।
त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति॥ ६॥

हे श्रीकृष्ण! इस संसार में जिसका ज्ञान मात्रा से आच्छादित नहीं है, ऐसा धर्मोपदेश तुम्हारे सिवा और कोई नहीं दे सकता है। कुछ लोग शास्त्रवचन की मीमांसा कर कर्मों का प्रतिपादन करते हैं लेकिन उन कर्मों का आचरण किस प्रकार किया जाय यह उनकी भी समझ में नहीं आता। इसीलिये हे भगवन्! धर्म का कर्ता, धर्म

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का वक्ता और धर्म का विस्तार कर उसका संरक्षण करने वाला तुम्हारे सिवा कोई और नहीं हो सकता। यदि इस लोक में भी देखें तो तुम्हारे जैसा सर्वज्ञ कोई नहीं है, इतना ही नहीं यदि विस्तार में देखें तो तुम्हारे जैसा उपदेशक त्रैलोक्य में भी नहीं है। यदि सत्यलोक में देखें तो वहाँ चारों वेद, षड्दर्शन, इतिहास, स्मृति, पुराण ये साक्षात खड़े दिखायी देते हैं। लेकिन वहाँ भी सनकादिकों के प्रश्नों का उत्तर ब्रह्मदेव नहीं दे पाये। तब तुमने हंस रूप में वहाँ आकर उनका समाधान किया। ब्रह्मदेव की सभा में भी तुम्हारे जैसा वक्ता नहीं है। तुम मूर्तिमंत ब्रह्म हो और केवल भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये ही इस लोक में तुम्हारा अवतार हुआ है। तुमने सभी कर्मधर्म की स्थापना कर उसके अनुसार आचरण भी कर दिखाया है। तुम्हारे निजधाम जाने पर फिर स्वधर्म का उपदेश कौन करेगा? सारांश, हे श्रीकृष्ण! भक्ति से युक्त स्वधर्म का रहस्य यथार्थ रीति से प्रतिपादित करने का सामर्थ्य तुम्हारे सिवा किसी अन्य में नहीं है। तुम जगज्जीवन भक्तों के सहायक हो, भक्तों के अभिमानरूपी मदमत्त हाथी का मद शान्त करने वाले हो इसीलिये तुम्हें 'मधुसूदन' कहते हैं। ऐसी प्रार्थना कर उद्धव आगे बोलने लगा।

तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः।
यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो॥ ७॥

तुम सर्वज्ञ होते हुए ज्ञान की मूर्ति हो। अतः मनुष्य के कर्मों की गति तथा वर्णाश्रम धर्म का रहस्य मुझे यथार्थ रूप में बतायें। उसी प्रकार वर्णबाह्य लोगों का कर्म तथा उनका जो विहित धर्म है उसके बारे में भी बतायें। इस प्रकार उद्धव ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की, तब मेघश्याम श्रीकृष्ण प्रसन्न हुआ सभी लोगों के हित की दृष्टि से उद्धव ने किया प्रश्न सुनकर योगेश्वर शुक्राचार्य भी आनन्द से अभिभूत हो गये। उन्होंने परीक्षित से कहा, उद्धव की बुद्धि धन्य है क्योंकि उसने श्रीकृष्ण की प्रार्थना कर सारे संसार पर उपकार कर दिया है।

श्रीशुक उवाच

इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान् हरिः।
प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान्॥ ८॥

शुक्राचार्य बोले, हे परीक्षित! सावधान चित्त से सुनो। उस उद्धव का प्रश्न सचमुच ही धन्यवाद के योग्य है। उसने स्वकर्म से ही मुक्ति के बारे में पूछा है। जो सारे सेवकों में अत्यन्त प्रिय और श्रीकृष्ण को अच्छा लगा, जिसके बिना श्रीकृष्ण का मन कहीं नहीं लगता था, अपनी गुप्त बात श्रीकृष्ण उसको ही बताता था, उसके प्रश्न का उत्तर देने में रमावल्लभ ने एक क्षण का भी विलम्ब नहीं किया। ब्रह्मदेव आदि को भी जो दुर्लभ है वह परमात्मा उद्धव को बिलकुल सुलभ हो गया था। इसलिये सेवकों में प्रमुख स्थान इस संसार में उद्धव को प्राप्त हुआ था इसलिये उसी ने भगवान की प्रार्थना कर, स्वकर्म से मुक्ति का उपाय क्या है यह प्रश्न पूछा था। श्रीकृष्ण ने भी केवल उद्धव के लिये स्वधर्म से मोक्ष का मार्ग बताया। चातक का स्वर सुनते ही जिस प्रकार मेघ गर्जन-सर्जन करके जल की वृष्टि करता है अथवा बछड़े का स्वर सुन कर गाय रंभाने लगती है, उसी प्रकार उद्धव का भाषण सुनकर श्रीकृष्ण ने आत्मगर्जना की और प्रसन्न होकर कहने लगे।

श्रीभगवानुवाच

धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम्।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे॥ ९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिस प्रकार एकमेव पुत्र रहने पर माँ उसकी कोई बात अधूरी नहीं छोड़ती उसी प्रकार उद्धव श्रीकृष्ण का लाडला था इसीलिये वह उसका भाषण व्यर्थ नहीं जाने देना चाहता था। श्रीहरि आनन्द से बोले, उद्धव! तुम्हारी वाणी धन्य है। तुमने सबके लिये मोक्षमार्ग का यह सोपान ही तैयार कर दिया। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर यह है कि जो भी वर्णाश्रमी पुरुष हैं, उनके लिये स्वधर्म ही मोक्षदायी है। उद्धव! कल्प के प्रारम्भ से प्रवृत्त हुई स्वधर्म संस्था की पुरातन युग से चली आ रही कथा तुम्हें सुनाता हूँ। ध्यान देकर सुनो।

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः॥ १०॥

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः॥ ११॥

कृतयुग में स्थिति यह थी कि तब चार वर्ण नहीं थे, अनेक शास्त्रों का वेदाध्ययन अथवा कर्माचरण भी नहीं था। उस समय सभी लोग 'सोहं हंसा' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ इसका निरन्तर ध्यान करते थे। इसलिये उस काल में 'हंस' यही सबका वर्ण था। उस समय 'ओंकार' रूप से ही वेदपठन होता था और तप, दया, सत्य तथा शुद्धता इन चार पैरों से वृषभरूपी धर्म मैं ही था। उस समय अधर्म का नाम भी नहीं था, यह जान लो। उस समय सत्त्वगुण श्रेष्ठ था। इसलिये सब लोग सत्य पर ही चलते थे। सभी लोग धर्मपरायण थे। कपट का उस समय जन्म ही नहीं हुआ था। उस काल के धर्मनिष्ठ लोगों के अंतःकरण में पराया धन और परायी स्त्री की अभिलाषा स्पर्श भी नहीं करती थी। उस काल के धर्मनिष्ठ लोगों की आत्मस्वरूप निष्ठा 'परब्रह्म मैं हूँ' में रहती थी। यही मेरा श्रेष्ठ भजन है और इसी को 'तपोनिष्ठा' कहते हैं। उस समय 'स्वर्ग' और 'नरक' की वार्ता ही नहीं थी। अधर्म करने की बात स्वप्न में भी नहीं आती थी। इस प्रकार सारी प्रजा स्वधर्माचरण से ही कृतकृत्य हो जाती थी। इसीलिये उसे 'कृतयुग' कहते हैं।

त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः॥ १२॥

हे उद्धव! इस कलियुग में तुम्हारे भाग्य पर मुझे आश्चर्य हाता है। कृतयोग के लोगों की अपेक्षा तुम पर मुझे अधिक विश्वास है। त्रेतायुग में कर्म प्रकट हुआ। मैं विराटस्वरूप पुरुषोत्तम हूँ, मेरे श्वासोच्छवास से तीन वेद उत्पन्न हुए और उन वेदों का विस्तार हुआ। तब तीन प्रकार की विद्या, उनके अनेक भेद, अनेक मंत्र और अनेक छन्द तथा ऋग्वेद आदि मिलाकर तीनों वेदों का अपनी-अपनी शाखाओं के रूप में उदय हुआ। उन वेदों से त्रिमेखला युक्त तीन यज्ञ उत्पन्न हुए। वे मद्रूप ही हैं। उस यज्ञ में अध्वर्यु उद्गाता का विशिष्ट कर्म होने लगा। इस प्रकार का जो यज्ञकर्म है वह भी मद्रूप ही है। उनमें अधिकार का मर्म अर्थात् वर्णाश्रम का वर्णन अगले दो श्लोकों में श्रीकृष्ण बतला रहे हैं।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥ १३॥

विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण का जन्म हुआ, बाहुओं से क्षत्रिय और जाँघों से वैश्य। शूद्रों का जन्म पैरों से हुआ, इसे ध्यान में रखो। इस प्रकार चारों वर्ण उत्पन्न हुए। वे अपने धर्म के अनुसार आचरण करें यही उनका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मुख्य लक्षण है। इस प्रकार विराट पुरुष से चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई है। अब चारों वर्णों की स्थिति बताता हूँ। उसे सुनो।

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थानाद् वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः॥ १४॥

मेरा कटि के नीचे का प्रदेश गृहस्थाश्रम का है। ब्रह्मचर्य मेरे हृदयस्थान में है और वानप्रस्थ की महिमा मैं वक्षस्थल पर धारण करता हूँ। चतुर्थाश्रम, जिसे 'संन्यास' कहते हैं, वह वास्तव में मेरे मस्तक पर रहता है।

वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः॥ १५॥

जैसा जन्म और स्थान रहता है उसके ही अनुसार उस वर्णाश्रम के गुण भी होते हैं। स्थान यदि उत्तम हो तो गुण भी उत्तम होते हैं और स्थान क्षुद्र होने पर गुण भी क्षुद्र होते हैं। सत्त्वगुण प्रधान होने पर ब्राह्मण की उत्पत्ति होती है; सत्त्व और रज के मिश्रण से क्षत्रिय उत्पन्न होते हैं; रज और तम के मिश्रण से वैश्य उत्पन्न होते हैं और शूद्र तो केवल तमोगुणनिष्ट होते हैं। ब्राह्मण आदि चारों वर्ण तथा उनके स्वभाव का लक्षण श्रीकृष्ण अगले श्लोक में बताते हैं।

शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः॥ १६॥

श्रीकृष्ण उद्धव से बोले, ब्राह्मण के स्वभाव के दस लक्षण होते हैं, उसका वर्णन मैं तुम्हें बताता हूँ, ध्यान देकर सुनो। मन आदि ज्ञानेन्द्रिय की जो वृत्तियाँ वे सदा बाह्य दृष्टि से ही विचरण करती रहती हैं। उन्हें विवेक से नियंत्रित कर आत्मस्वरूप में स्थिर होना चाहिये। अब इस प्रकार की वृत्ति को नियंत्रित करना कृष्णसर्प के मुँह को दबाने जैसा है। जब तक वह सर्प अपने को छुड़ाने का प्रयत्न कर रहा है तब तक उसका मुँह दबा कर रखना चाहिये। इस प्रकार वैराग्य के सामर्थ्य से और गुरुवचन के विश्वास से आत्मस्वरूप में ऐक्य होने तक अंतर्वृत्ती को रोक कर रखना चाहिये। गुरुवचन को ही प्रमुख मान कर उसमें ही बुद्धि को निमग्न रखना और मन को भी तल्लीन रखना इसी का नाम 'शम' है। ब्राह्मण की प्रकृति में यह गुण स्वभावसिद्ध ही होता है। उसी गुण का नाम 'शम' है। अब 'दम' का निरूपण सुनो। विषय प्रकृति बलवान होती है और कर्मेन्द्रियों का विद्रोह भीषण होता है; इसलिये शास्त्रविधि से उसका मुँह बन्द कर उसे भड़कने नहीं देना चाहिये। वेदविधि के द्वारा केवल देह के निर्वाह भर के लिये इन्द्रियों का पोषण करना यही 'दमगुण' है। उसमें 'शम' मुख्य राजा है और 'दम' उसकी प्रजा है ऐसा समझना चाहिये। अब तीसरा जो 'तपोनियम' है, उसे भी सुनो। शम से ज्ञानेन्द्रियों को शान्ति और दम से कर्मेन्द्रियों को शान्ति प्राप्त होती है। इसके उपरान्त अर्थात् शमदम के बाद वेदों के अनुसार कर्म करना यह ज्ञान भी प्रशंसनीय है। व्रत आदि के द्वारा शरीर का शोषण करने का नाम तप है लेकिन वह भाग्य के अनुसार होता है। वास्तव में हृदय में श्रीहरि के सत्स्वरूप का चिंतन करना यही सारे तपों में श्रेष्ठ तप है। जो स्वधर्म का आचरण करते हुए अंतःकरण में हरि का विस्मरण नहीं करता, जो दिन-रात मन में आत्मस्वरूप निश्चय के सम्बन्ध में ही विचार करता रहता है, अथवा जिस प्रकार लोभी सदा धन की ही चिन्ता करता है अथवा युवा स्त्री युवक का ही चिन्तन करती रहती है उसी प्रकार जिसका मन सदा आत्मस्वरूप का ही विचार करता रहता है उसी को 'तपोनिष्ठ' कहते हैं। यह तप सभी तपों में श्रेष्ठ है। ब्राह्मण स्वभाव के इस श्रेष्ठ गुण को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही 'उज्ज्वल तप' कहते हैं। अब 'शौच' का अर्थात् पवित्रता का विचार सुनो। वह दो प्रकार का है—अंत:करण में ज्ञान का निश्चय तथा बाहर वेदोक्त आचरण। शरीर पर जो बाह्य मैल होता है उसका क्षालन वेदविधान के अनुसार मृत्तिका और जल आदि से करना चाहिये और आत्मनिष्ठा से अंत:करण के मैल धो डालने चाहिये। उद्धव! इस प्रकार अंतर्बाह्य निर्मलता प्राप्त करना यही शौच का मुख्य लक्षण है। अब संतोष का भी सम्पूर्ण लक्षण बताता हूँ, सुनो। पुत्र का जन्म होता है तो आनन्द होता है लेकिन उसके जाते ही दु:ख होने लगता है, धन प्राप्त होने पर आनन्द होता है और उसके जाते ही तत्काल दु:ख होता है। लेकिन जिस सुख की प्राप्ति होते ही कोटि दु:ख नष्ट हो जाते हैं उसी का नाम सच्चा और शाश्वत सुख है। इसके अतिरिक्त अन्य बकवास व्यर्थ है। मेरी भक्ति से अंत:करण में जो स्वाभाविक सुख प्राप्त होता है वह सम्पत्ति अथवा विपत्ति आने पर भी सर्वत्र समभाव होने के कारण संतोष ही उत्पन्न करती है। इन शब्दों में कहीं-कहीं पाठभेद दिखायी देता है। बड़े-बड़े विद्वान 'संतोष' की जगह 'तितिक्षा' शब्द का प्रयोग करते हैं। उसका भी अर्थ सुनो। उसका रहस्य यह है कि ठंडक तथा धूप, मृदु तथा कठोर इनमें से कोई भी यदि शरीर पर प्रहार करे तो उसका मन विचलित नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस द्वंद्व में उसकी मद्भावना रहती है। संतोष अथवा तितिक्षा इस शब्द का निरूपण इस श्लोक के पाँचवे शब्द का लक्षण है। इतना कह कर श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा, अब शान्ति का निरूपण सुनो। मन में मेरा निजबोध होने पर अंत:करण के कामक्रोध नष्ट हो जाते हैं। कोई अपराध करता है तो उसके प्रति उनकी कोई विपरीत भावना नहीं होती। बल्कि इसके विपरीत वह अपकार करने वाले के प्रति उपकारी होता है। उसके अंत:करण में विकार उत्पन्न ही नहीं होता, वही सच्ची शान्ति है। इस प्रकार की सर्वकाल परिपूर्ण शान्ति होना ब्राह्मण का छठाँ लक्षण है। अब 'आर्जव' का लक्षण सुनो। बिलकुल अंत:करण की पहचान ही बता देता हूँ। देखो, भले ही माँ कुरूप हो लेकिन उसकी ममता में कुरुपता नहीं होती अथवा यदि सुवर्ण का नाग बनाया जाय तो सुवर्ण नाग नहीं बन जाता। उसी प्रकार कुटिल से कुटिलता से व्यवहार करना चाहिये यह बताने पर भी जिसके मन में कुटिलता नहीं आती वही सचमुच 'आर्जव' अर्थात् सरल है। गौ के लिये मीठा तथा बाघ के लिये कड़ुवा यह भेद गंगोदक में नहीं होता। वही बात आर्जव की है। वह ऐक्यभाव से कुटिल के साथ मधुर ही रहता है। इसी का नाम आर्जव है और यह ब्राह्मण का सातवाँ अद्‌भुत लक्षण है। अब देवाधिदेव निजभक्ति का लक्षण बताते हैं। अरण्य, उद्यान और गंगाजल इन सबके लिये जिस प्रकार पृथ्वी का ही आधार है, उसी प्रकार हे उद्धव! सारे लक्षणों का उत्पत्तिस्थान मेरी भक्ति ही है यह जान लो। सभी तरह का अनाज उत्पन्न होने के लिये जिस प्रकार आधारभूत भूमि ही होती है, उसी प्रकार सभी लक्षणों की उत्पत्ति भक्ति में से होती है। उस भक्ति का लक्षण सुनो। विषय का स्वार्थ छोड़कर जो जीव प्राण मुझसे भक्ति करता है, वही मेरा भक्त है। भक्त कहलाकर धनार्जन करना यही भक्ति का सबसे बड़ा विघ्न है। उद्धव! धन के लोभी को शुद्ध अभक्त समझना चाहिये। जिसके अंत:करण में मेरी भक्ति नहीं है लेकिन जो मेरी भक्ति का पाखण्ड रचता है वह अन्धे गरुड़ की तरह आकाश में उड़ान भरता है लेकिन बैठने का स्थान वह नहीं जान पाता। जो मेरी भक्ति करता है उसमें मैं जाति या कुल नहीं देखता। मैं भक्तों को भक्ति से ही तत्काल वश होता हूँ। जहाँ भक्तिभाव से मेरे प्रति प्रेम होता है वहाँ मैं तत्काल कूद पड़ता हूँ। जिसने मेरी भक्ति की पताका फहरायी वही मेरी भक्ति का माधुर्य जानता है। जो भी सामने दिखायी दे वह सब ईश्वर है, ऐसा जिसका भक्तिभाव है वही एक मेरा लाडला है। हे उद्धव! उसकी ही भक्ति पर हम जीवित हैं। मेरा जीव प्राण वही है। उस पर मैं सब कुछ निछावर कर देता हूँ। ब्यायी हुई गाय जिस प्रकार अपने बच्चे के वश में रहती है उसी प्रकार मैं भी उसके अधीन रहता हूँ। सारांश, हे उद्धव! भावुकता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की असीम अवस्था का ही नाम है, मेरी भक्ति। अब दया का स्वरूप सुनो। बच्चा संकट में पड़ा देख जिस प्रकार माँ दुःख असह्य होकर तत्काल सहायता के लिये उठ खड़ी होती है उसी प्रकार किसी दीन दुखी को देख कर उसके मन में दया उपजती है और एक बार दया उत्पन्न होने पर अपना और पराया कौन पूछता है? भीषण बाढ़ में डूबने वाले को दयालु व्यक्ति उसकी जाति नहीं पूछता, पहले बाढ़ में कूद कर उसकी जान बचाता है। इसी का नाम है सच्ची दया। दीन पर दया करने के लिये वह आग में भी कूद पड़ता है, उसका मैं वंदन करता हूँ। संसार में दयालु पुरुष धन्य है। ऐसी दया के गुण से वह मुझ अनन्त को जीव प्राण के साथ खरीद लेता है। इसलिये मैं दयावान मनुष्य के घर किसी भी प्रकार का काम करता हूँ। दयालु पुरुष के ऊपर कोई संकट आता है तो उसका निस्तारण मैं करता हूँ। उद्धव! जो दीनजन का विचार करता है, जो सचमुच दीनदयालु रहता है, वह केवल मेरा ही भण्डार है। वह मेरे सुख का सार है। इसका नाम 'दया' है यह ध्यान में रखो। यही वह नववाँ लक्षण है। अब तुम्हें सत्य का सम्पूर्ण लक्षण बताता हूँ। सत्य का सत्य यही है कि जिसे जागृत, स्वप्न अथवा सुषुप्तावस्था में भी असत्य स्पर्श नहीं करता, वही परिपक्व सत्य है। इस प्रकार का सत्य जब अंतःकरण में पूरी तरह पहुँचता है तो वाणी भी सत्य होती है और दृष्टि भी सत्य हो जाती है। अंतःकरण के सत्य से सारी सृष्टि ही सत्यमय हो जाती है और असत्य शेष नहीं रह जाता। यह दसवाँ लक्षण है। यही ब्राह्मण का स्वभावसिद्ध कर्माचरण है। ब्राह्मण प्रकृति के क्षेत्र में इन दस लक्षणों की उत्पत्ति होती रहती है। उद्धव! ब्राह्मणों की यह स्थिति जन्मजात, सहज और अकृत्रिम होती है। इन दस लक्षणों से परिपूर्ण होने के कारण ब्राह्मण सभी वर्णों में श्रेष्ठ और वन्दनीय हैं। हे उद्धव! अब क्षत्रियों की प्रकृति के जो गुण हैं उनका निरूपण सुनो।

तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः॥ १७॥

उद्धव! ब्राह्मणप्रकृति के उत्तमोत्तम दस गुण मैंने तुम्हें बताये। अब क्षात्रवृत्ति के दस गुण तुम्हें बताता हूँ, सुनो। तेज अर्थात् प्रताप का सामर्थ्य; मानों भूतल पर का सूर्य हो। उसके प्रताप से सारे राजा निस्तेज हो जाते हैं। क्षात्रधर्म का जो पहला गुण है उसका नाम है तेज! अब क्षत्रिय के बल का चमत्कार सुनाता हूँ। उसके शरीर सामर्थ्य का ऐसा चमत्कार होता है कि वह अकेला ही लाखों मनुष्यों पर टूट पड़ता है और मस्तक टूट जाने पर केवल धड़ से शत्रु का मस्तक तोड़ता है। वह जब समरांगण में प्रवेश करता है तो यह नहीं देखता कि मेरा वहाँ कोई सहायक है या नहीं। जंगली हाथियों के झुण्ड में जिस प्रकार सिंह घुस कर उनका संहार करता है उसी प्रकार शत्रु की सेना में घुसकर वह बड़े-बड़े वीरों का सफाया करता है। सारा आकाश भले ही राक्षसों से भर जाय, सारी पृथ्वी पर असुर फैल जाएँ बलवान शत्रुओं से वह भले ही घिर जाय फिर भी उसकी धैर्य बुद्धि में कमी नहीं आती। आकाश भले ही धरती पर गिर पड़ने के लिये गड़गड़ाये, पृथ्वी उलट-पुलट होना चाहे लेकिन उसके धैर्य का बाल बाँका नहीं होता। प्रलयकाल भले ही सामने दिखाई देने लगे लेकिन उसके मन में कोई भय नहीं होता। इस प्रकार का जो स्वभावसिद्ध अटल धैर्य है उसी का नाम 'धृति' है। वह चौरासी प्रकार के दण्डायुध चलाने में प्रवीण होता है और उसकी शस्त्रार्थ धारणाशक्ति भी उत्तम होती है, धर्म के अनुसार युद्ध करने में वह निष्णात होता है, इसी का नाम क्षत्रियों की 'धृति' है। अब यदि यह पूछोगे कि शत्रु का शौर्य कैसा होता है तो वह ऐसा है कि वह शत्रु का नाम भी नहीं रहने देता, उसे कहीं शत्रु दिखाई ही नहीं देता। इसी का नाम है 'शौर्य'! उनकी शौर्य की वृत्ति धर्मयुद्ध की रहती है। इसीलिये उसे विजयश्री प्राप्त होती है। जो सावधान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं है और नि:शस्त्र है, उस पर वह आक्रमण नहीं करता, जो महाशूर होते हैं वे भागने वाले शत्रु पर भी प्रहार नहीं करते। रणभूमि में शत्रु से सामना होने पर पीछे वे हटने का नाम नहीं लेते, अकेले ही हजारों वीरों का सफाया कर देते हैं। स्वधर्म के अनुसार यही सच्ची वीरता है। सबसे बड़ा शत्रु मृत्यु है। उसके जैसा शत्रु अन्य कोई नहीं है। वह उसी का विनाश कर देता है। उसकी वीरता का वर्णन देवदानव भी करते हैं। इस प्रकार अपने शौर्य से सारी पृथ्वी को 'शत्रुरहित' कर देना यही 'शौर्य' है और यही क्षत्रिय धर्म के अनुसार क्षत्रियों का चौथा गुण है। भले ही मस्तक पर शस्त्रों का प्रहार हो अथवा बाण शरीर में पूरी तरह घुस जाएँ लेकिन वह रणभूमि में पीछे नहीं हटता यही क्षत्रियों की 'सहिष्णुता' है। हाथियों के झुण्ड सामने आ जाएँ, बड़े-बड़े वीर जोश में सामना करने आ जाएँ लेकिन वह वीर शिरोमणि उनका वह आवेग सहन करता है। इसी का नाम है सच्ची सहिष्णुता। समुद्र की लहरों के प्रहार से जिस प्रकार महापर्वत पीछे नहीं हटता, उसी प्रकार जो शत्रु की सेना के प्रहार से रणभूमि से पीछे नहीं हटता अथवा यश अपयश, सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद क्षत्रिय के चित्त को बाधा नहीं पहुँचाते। इसी को सम्पूर्ण सहिष्णुता कहते हैं। इसी को 'तितिक्षा' भी कहते हैं। यह क्षत्रियों का पाँचवाँ लक्षण है। अब क्षत्रियों का औदार्य का गुण अर्थात् दातृत्व शक्ति के बारे में भी सुनो। क्षत्रियों के लिये धन तृणसमान होता है इसलिये वे याचकों का मन तृप्त होने तक उसे दान देते रहते हैं। देश, काल, सत्पात्र देखकर सम्मानपूर्वक तथा मन में किसी भी प्रकार का संकोच न लाकर विधिपूर्वक दान देना। चन्द्र एक बार चकोर को देख भर ले फिर वह उसे अमृत देने में जिस प्रकार नहीं सकुचाता उसी प्रकार इसकी वृत्ति याचक के प्रति रहती है। क्षत्रिय उससे कभी पीछे नहीं हटता। इस प्रकार स्वाभाविक रूप में दान देना यही क्षत्रियों का स्वाभाविक गुण है। इसी का नाम है 'औदार्य'। यह क्षत्रियों का छठां लक्षण है। क्षत्रियों का परमार्थ प्राप्ति का उपाय है स्वधर्मनिष्ठा। उसके अनुसार जो भी प्रयास किया जाता है उसे 'उद्यम' कहते हैं। अपने प्राण तक देकर गोब्राह्मण की रक्षा करना, स्वधर्म से प्रजा का पालन करना और किसी को भी कष्ट न देकर पृथ्वी की रक्षा करना, इसी का नाम 'उद्यम' है, इसे ध्यान में रखो। यही क्षत्रियों का सातवाँ लक्षण है। अब उनके धर्म के 'स्थैर्य' नामक गुण का भी लक्षण सुनो। गोब्राह्मणों की रक्षा करते समय तथा स्वधर्म से प्रजा का पालन करते समय उनका मन थक नहीं जाता। यही क्षत्रियों की स्थिरता है। स्वधर्म के प्रति यह 'स्थिरत्व' ही क्षत्रियों का आठवाँ लक्षण है। अब उनका ब्राह्मण भक्ति का लक्षण बताता हूँ, सुनो। क्षत्रियों को परमार्थ प्राप्ति के लिये ब्राह्मण 'गुरु' है। उस ब्राह्मण का ब्रह्मभाव से भजन करना चाहिये। ब्राह्मण के प्रति ब्रह्मभावना रखकर, यथाविधि उनका सम्मान कर जो प्रतिदिन भक्तिभाव से ब्राह्मण का पूजन करेगा उसमें मेरे ही प्रति भावना होगी, वह ब्राह्मणों को संतोष प्रदान करेगा। उद्धव! यह मेरी आत्मा है। उसने मुझ श्रीकृष्ण की ही पूजा की ऐसा समझ लो। क्षत्रिय सम्मान के साथ ब्राह्मणों की पूजा करते हैं, इसीलिये उन्हें ऐश्वर्य प्राप्त होता है। ब्राह्मण ब्राह्मणों का ही द्वेष करते हैं इसलिये वे दारिद्रय का दु:ख भोगते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण का भजन करने से मैं परब्रह्म उसके अधीन हो जाता हूँ। उसका ऐश्वर्य का चिह्न यही दसवाँ लक्षण है। ब्राह्मण का भजन न करें तो ऐश्वर्य नहीं प्राप्त होगा; मैंने ब्राह्मण के पैर अपने पेट से लगा लिये इसीलिये षड्गुण ऐश्वर्य सम्पन्न हो गया हूँ। ब्राह्मण भजन के मार्ग पर लगने पर ब्रह्मसायुज्य पैरों का स्पर्श करता है फिर भी ब्राह्मण भजन के लिये भक्त उसे स्वीकार नहीं करते। ब्राह्मण भजन करने से अपने आप ही मेरी सत्ता उनके पास आती है। इसलिये सचमुच ही उसकी आज्ञा देवदानव भी शिरसावंद्य करते हैं। उसकी आज्ञा के भय से अकाल भी नहीं पड़ता। न्याय से प्रजा का पालन और धर्म का संरक्षण भी उसके ही कारण होता है। इसी अत्यन्त उत्कृष्ट स्वधर्म के योग से भरत, पुरुरवा, जनक आदि ऐश्वर्य

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के ऊँचे स्थान तक पहुँच गये। इस प्रकार ब्राह्मण की सेवा बड़ी अलौकिक है। इस प्रकार क्षत्रियों के दस लक्षण तुम्हें बतलाये। इसके मुख्य रूप से ब्राह्मण भजन ही सबके लिये श्रेयस्कर है। वैश्यों की प्रकृति के स्वाभाविक पाँच लक्षण हैं जिन्हें यथार्थ रीति से श्रवण करो।

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः॥ १८॥

वैश्यों के स्वभाव में द्रव्यलोभ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कितने ही करोड़ का मालिक क्यों न हो जाय लेकिन उसकी इच्छा तृप्त होना जानती ही नहीं। 'आस्तिकता' केवल द्रव्यसंग्रह की ही होती है। अधिक धन कमाऊँगा इस विश्वास के साथ एक द्वीप से दूसरे द्वीप तक माल ले जाता है। वेदशास्त्र पर अत्यधिक विश्वास यही मुख्य रूप से वैश्य की 'आस्तिकता' है। वेद ने जो भी स्वधर्म बतलाया है उसके प्रति जरा भी उदासीन न रहना। वैश्य का स्वधर्माचरण होता है, दान देना। प्राणांत के समय भी दान देने की प्रक्रिया अखण्ड चलती रहती है। परलोक प्राप्ति का प्रमुख साधन है 'ब्राह्मण की सेवा'। ब्राह्मण की आज्ञा परम प्रमाण। उससे भी विशेष है गुरु की सेवा। वेदशास्त्रों में भी 'सद्गुरु ही परब्रह्म' है, ऐसा प्रमाण है। ब्राह्मण भी तद्रूप ही हैं यह मानकर उनकी सेवा के लिये प्राण भी दे देना। बड़े-बड़े लोगों में सम्मान प्राप्त हो अथवा समाज में प्रतिष्ठा बढ़े, इस प्रकार का दंभ वैश्यों को स्पर्श नहीं करता। कपट छोड़कर, लोभ और दंभ का त्याग कर ब्राह्मण की सेवा में प्राण भी खर्च कर देना यही वैश्यों का लक्षण है। इससे ही वैश्य जाति को परमार्थ की प्राप्ति होती है। सारांश वैश्य की ऐसी स्वाभाविक प्रकृति होती है। हे उद्धव! शूद्र की प्रकृति के भी तीन प्रकार के कर्म होते हैं उन्हें भी तुम्हें निश्चय करके बताता हूँ, सुनो।

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया।
तत्र लब्धेन संतोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः॥ १९॥

शूद्र जाति का स्वधर्म यही है कि वह मनःपूर्वक ब्राह्मण की सेवा करे, उनकी सेवा निष्कपट भाव से करने से, उनकी ही कृपा से उनकी उपजीविका चलती है। जहाँ घास और पानी हो वहाँ गृहस्थों की गायें ले जाये, जंगली जानवर उन पर आक्रमण करें तो प्राण देकर भी उनकी रक्षा करे। गोरक्षा में प्राण देने पर उत्तम गति प्राप्त होती है। जिसे गौ के प्रति दयाभाव रहता है, उसका मैं श्रीकृष्ण सदा सहायक होता हूँ। ब्राह्मण की चाकरी तथा जानवरों की देखभाल का काम न मिले तो शूद्र उपजीविका चलाने के लिये मन्दिर में समार्जन करे। निष्कपट भाव से श्रीहरि का आँगन झाड़ू पोंछा लगाकर लीप कर स्वच्छ रखे और वहाँ जो प्राप्ति हो उस पर निर्वाह करे। वहाँ जब भी, जो भी मिले उससे अपना निर्वाह करे। यही शूद्र के स्वभाव की स्वधर्म कर्म स्थिति है। ब्राह्मण के घर अग्निहोत्र आदि कर्म होते हैं और शूद्र इन श्रेष्ठ ब्राह्मणों को प्रणाम करते हैं। इससे दोनों के ही धर्म का निर्वाह होता है। गृहस्थाश्रम धर्म है तीनों आश्रमों को आश्रय देना, साथ ही तीनों आश्रमों के लोगों को अन्न-वस्त्र देकर उनका संरक्षण करना। ब्रह्मचर्याश्रम का आचरण है गुरु की सेवा करना तथा वेदाध्ययन करते हुए जीवन-यापन करना। उसे दान देने का अधिकार नहीं होता। ब्रह्मचारी को जो कुछ भी प्राप्त हो वह उसे गुरु को अर्पण करना चाहिये। गुरु के सिवा यदि वह किसी अन्य को दानधर्म करेगा तो वह अधर्म होगा। वानप्रस्थाश्रम में विशेषरूप से तप ही प्रमुख है। वेदोक्तविधि के अनुसार उसे अग्नि की सेवा करनी चाहिये। संन्यासी, ब्रह्मचारी अथवा दीन-दुःखी आश्रम में आयें तो उन्हें यथाशक्ति अन्न देना चाहिये। यही वानप्रस्थ का आश्रमधर्म है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संन्यासी के लिये अहिंसा ही प्रमुख है। ज्ञान परिपाक से पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है। जहाँ परिपथ न हो वहाँ जाकर भिक्षा माँगना यही चतुर्थाश्रम का मुख्य धर्म है। अब इस वर्णाश्रम के बाहर के जो अंत्यज आदि लोग हैं उनके स्वभाव का लक्षण भी भगवान बताते हैं।

अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्तेवसायिनाम्॥ २०॥

इस श्लोक के आठ गुण त्यागने का जिसका मन नहीं होता वह भी अंत्यज की ही तरह है। स्वभाव का यह लक्षण अत्यन्त निंदनीय है। जिसे स्नान, संध्या, स्वच्छता तथा अपना कर्तव्यकर्म अच्छा नहीं लगता, उसके अन्तर में कृष्ण सर्प की तरह अपार विकल्प भरे रहते हैं। धतूरे का फल देखने में गोलमटोल होता है किन्तु उसके अन्दर नशा और बाहर काँटे होते हैं। उसी प्रकार जो अंतर्बाह्य खरा है उसी का नाम है 'अशौच' अर्थात् अमंगलता। शरीर श्वेत कुष्ट से भरा हुआ, नाक भी दिखाई न दे, मुँहफट अनर्गल पति की निंदा करने वाली स्त्री जिस प्रकार अंतर्बाह्य अमंगल होती है वैसा ही अमंगल। इस प्रकार स्वभावतः ही जिसमें 'अशौचता' या अमंगलता होती है वही अंत्यज का पहला गुण है। उसी प्रकार जिसके स्वभाव में दिन-रात नटखटपन नाचता रहता है, वह अपने झूठे स्वभाव के कारण माँ, बाप तथा गुरु को भी ठगता है। होली के मौसम में जिस प्रकार कोई रामकृष्ण नहीं कहता बल्कि आनंदोल्हास से जननेन्द्रिय दर्शक वीभत्स शब्दों का ही उच्चार करते हैं, उसी प्रकार जिसे जागृति में, स्वप्न में अथवा सुषुप्तावस्था में असत्य ही अच्छा लगता है उसे प्रकृति स्वभाव के अनुसार 'अंत्यज' ही समझना चाहिये। गाड़ कर रखी हुई माँ-बाप की दौलत भी एक बार देखने पर वह उसे खोदकर निकालने से बाज नहीं आता वह बार-बार विश्वास दिलाकर गुरु की गठरी भी गायब कर देता है। कोई धनवान मिल जाय तो नीचता के अनेक उपाय लगाकर अथवा बलात्कार से उसका सब कुछ लूट लेता है। इस प्रकार दूसरे का माल हड़प करने के लिये चाहे जैसा अधर्म करने में जिसकी आसक्ति रहती है उसे 'चोरी' कहते हैं। स्वधर्म कर्म पर जिसके मन में स्वभावतः ही विश्वास नहीं होता, जो वेद, शास्त्र, पुराण आदि को बकवास समझता है, इसी का नाम है 'नास्तिकता'। उसमें स्वभाव से ही आस्तिक बुद्धि का अभाव रहता है। गाँठ में, लाखों की दौलत होते हुए भी उसके मुँह में सदा 'नास्तिकता' ही भरी रहती है, परिवारजनों को भी विपत्तियों के संकट में झोंकता है, यही अंत्यज का स्वभाव है। बिना कारण झगड़ा-टंटा, दूसरों का छल तथा हमेशा दाँत कटकटाते रहना यह अंत्यज का जातिस्वभाव है। उसके पेट में सदा विद्रोह भड़कता रहता है, ऊपर से मीठी बातें करता है, दृष्टि हमेशा क्रूर तथा पेट में द्वेष की आग भड़कती रहती है। कोई जीवनभर उपकार करे लेकिन जरा सी बात पर उसका नाश करने का गुप्त संकल्प मन में धरता है। उपकार करने वाले पर अंत्यज प्राणांत भी अपकार नहीं करता लेकिन उस प्रकार का द्वेष मन में रखता है जिसे 'शुष्कविग्रह' कहते हैं। जो इष्ट मित्रों में फूट डालता है, बड़ों-बड़ों को संकट में डालता है, अमंगलता तथा नास्तिकता तो शिखर पर रहती है, ऐसे पुरुष को 'अतिविग्रही' कहना चाहिये। अपना रत्तीभर लाभ न होते हुए भी दूसरे के कार्य का नाश करना, ऐसे व्यक्ति को 'शुष्कविग्रही' कहते हैं। उद्धव! जिसका ऐसा स्वभाव हो उससे अंत्यज भी डरते हैं। अब उसकी छलांग कितनी लम्बी होती है, सुनो। कनक और कांता के लोभ की पराकाष्ठा रहती है। मन को क्षणभर के लिये भी शान्ति नहीं रहती। स्त्री भोग की इच्छा के सम्बन्ध में तो पूछिये मत। बस, वह स्त्री हो इतना पर्याप्त है, फिर सेव्यासेव्य का विचार मन को छूता भी नहीं। उसी प्रकार धन, फिर वह किसी भी मार्ग से क्यों न मिले। अनुचित मार्ग से इच्छा की पूर्ति करना यही उसके स्वभाव की प्रवृत्ति होती है। उद्धव! ऐसे जो हैं वे अंत्यज स्वभाव के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं। देखो! जो ऐसे कामी या लोभी होते हैं उनके अंत:करण में सदा क्रोध की आग भड़कती रहती है। इच्छा पूरी नहीं हो रही है यह देख उसका गुस्सा प्रलयांत भड़क उठता है। शरीर क्रोध के अधीन होने के कारण शान्ति तो क्षण भर के लिये भी नहीं मिलती, वृत्ति से सदा जलाभुना हुआ, ऐसा नीच स्वभाव होता है। प्राप्त सुख से सन्तुष्ट न होना, जो सुने उस सुख के लिये निरन्तर मन में आस धर के रहना यह स्वभाव भी अत्यन्त नीच है। इन जिन आठ गुणों के बारे में तुम्हें बताया वह किसी भी वर्ण वाले का स्वभाव क्यों न हो, उसमें अंत्यज भाव है यह निश्चित रूप से जान लो। ये जो सारे दुर्गुण बतलाये उनमें से कोई भी एक नरक देने के लिये प्रसिद्ध है। फिर जहाँ आठों गुण मिल जाय तो फिर उनसे कैसे छुटकारा मिले? इन गुणों का त्याग करने के लिये ही मैंने तुम्हें उनके लक्षण बताये। अरे! इन गुणों को जो स्वीकार करते हैं वह नरक जाते हैं और जो उनका त्याग करते हैं वे मेरे पद तक पहुँचते हैं। अब जिससे मेरे पद की प्राप्ति हो और किसी भी वर्ण को उत्तम गति प्राप्त हो ऐसे गुणों के लक्षण हे उद्धव! तुम्हें बताता हूँ। जो सारे लक्षणों का सार है, समस्त गुह्य गुणों का भण्डार है और जिसके योग से संसार से मुक्त हुआ जा सकता है उसे सुन लो। जो सारे वर्णों का सहजधर्म है, जिसके योग से परब्रह्म की प्राप्ति होती है, जिसके योग से मन का भ्रम दूर होता है, वे उत्तम गुण सुनो।

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥ २१॥

जिससे दूसरे को सुख प्राप्त हो ऐसे उपाय करना जिससे मुझे सुख प्राप्त हो। उसी गुण को मैं श्रीकृष्ण वन्दनीय मानता हूँ। उसी प्रकार किसी को कष्ट न देना, परपीड़ा न देना, दूसरे को दु:ख न देना इस योग से भी हे उद्धव! मुझे सुख प्राप्त होता है यह जान लो। दु:ख न देकर सुख देना इसी को 'अहिंसा' कहते हैं जो पहला गुण है। अब दूसरा गुण 'सत्य' है जिसके लक्षण सुनो। सत्य इस प्रकार का होता है—जिसका मन और वाणी, जागृति स्वप्न अथवा सुषुप्तावस्था में असत्य का जरा भी स्पर्श नहीं करते, निन्दा और नरस्तुति तथा झूठ बोलना जिसे नहीं आता, वाणी को जो पवित्र रखता है उसे 'सत्य' कहते हैं। अधर्म से एक कौड़ी से लेकर एक करोड़ लाभ का भी वह विचार नहीं करता, दूसरे की कानी कौड़ी को भी वह स्पर्श नहीं करता, चोरी करने का अथवा किसी की आँख बचाकर उसकी वस्तु ले लेना या बिना पूछे वस्तु ले लेना ऐसा विचार उसके मन में नहीं आता। अन्याय से प्राप्त किये धन को वह स्वप्न में भी स्पर्श नहीं करता। उद्धव! यह अचौर्य का लक्षण है। यही तीसरा गुण है। स्वधर्म से हाथ में धन आ जाय इतना भी धनलोभ जिसमें नहीं होता, कामिनी-काम की वार्ता भी जिसके कानों तक नहीं पहुँचती, परस्त्री को जो माता के समान मानता है, इतना ही नहीं अपनी स्त्री के प्रति भी जिसका मन आसक्त नहीं होता, गृहस्थाश्रम में रहने के लिये ही स्त्री का पालन करना उद्धव! इसी का नाम है 'अकामता' अथवा अनिच्छा। यही चौथा लक्षण है। अब अक्रोध का लक्षण सुनो। जहाँ काम का जोर नहीं रहता वहाँ क्रोध का भी कुछ नहीं चलता। जिस प्रकार आकाश को शस्त्र नहीं चुभता अथवा बीज कितना भी अच्छा हो लेकिन जमीन के सिवा वह अन्यत्र कहीं अंकुरित नहीं होता उसी प्रकार काम के बिना क्रोध कभी नहीं बढ़ता। जिस प्रकार गर्भवती स्त्री की मृत्यु के बाद गर्भ की भी मृत्यु हो जाती है उसी प्रकार काम के साथ क्रोध की भी समाप्ति हो जाती है, मस्तक कट जाने पर जिस प्रकार हाथ-पैर की क्रिया बन्द हो जाती है उसी प्रकार काम समाप्त होने पर क्रोध भी समाप्त हो जाता है और जहाँ काम-क्रोध ही न हो, वहाँ लोभ किस बात का होगा? जिसके जड़ में मिट्टी न हो वह वृक्ष कभी नहीं बढ़ेगा। सर का मुण्डन कराने से जिस प्रकार वहाँ जूँ नहीं रह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सकती उसी प्रकार काम और क्रोध के जाने पर लोभ को रहने का ठिकाना ही नहीं मिलता। पति की मृत्यु जिस प्रकार स्त्री का सौभाग्य ले जाती है उसी प्रकार कामक्रोध के बिना लोभ के लिये कोई ठिकाना नहीं रह जाता। इसी का नाम है 'निलोभता'। सचमुच क्रोध और लोभ को बढ़ाने वाला काम ही है। जहाँ काम का कार्य अधूरा रह जाता है वहीं क्रोध का तेज बढ़ता है और जब काम के मनोरथ पूर्ण होते हैं तो लोभ का विद्रोह नाचने लगता है। जिस प्रकार दीपक की लौ तेज और काजल को एक साथ बढ़ाती है, उसी प्रकार क्रोध और लोभ का बड़प्पन सदा काम के पास ही रहता है। जाड़े की ठंडक के साथ जिस प्रकार पसीना और ज्वर रहता है उसी प्रकार काम भी सदा क्रोध और लोभ से युक्त रहता है। जहाँ काम का कोई मूल्य नहीं है वहाँ सहज ही क्रोध और लोभ का त्याग होता है। स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं, यही उपाय सबसे उत्तम है। अब प्राणिमात्र का हित कैसे साधा जा सकता है, यह भी बताता हूँ। जितना अपना सामर्थ्य हो उसके अनुसार प्राणिमात्र का हित करते रहना चाहिये। उन्हें जिस वस्तु की जब-जब आवश्यकता हो उसे देते रहना चाहिये। अंत:करण की ममता से अन्न, वस्त्र, दान आदि देकर प्राणिमात्र के प्रति प्रिय आचरण करते रहना चाहिये। यह सभी का स्वधर्म है इसे ध्यान में रखो। प्राणिमात्र का ऐसा प्रिय करना चाहिये जिससे उसका हित हो। जो प्रिय उसके हित के लिये बाधक हो उसे कभी नहीं करना चाहिये। प्राणिमात्र का प्रिय और हित करने वाला संसार में जो भी पुरुष हो उसके घर में भगवान सदा कल्याण ही करता है। वह प्राणिमात्र का प्रिय और हित कर रहा होता है तभी मैं श्रीकृष्ण उसके संकटों की होली जला देता हूँ। जो सद्भाव से सचमुच प्राणियों का हित करते रहने के कारण समस्त प्राणिमात्र में प्रिय रहता है उसका संसार मैं सबके अंत:करण में रहने वाला परमात्मा सुखमय बना देता हूँ। अहिंसा आदि जो सात गुण इस श्लोक में बताये गये हैं वह सभी का स्वधर्म है। सभी आश्रमों और सभी वर्णों के लिये मुख्य रूप से यही धर्म है। अब हे उद्धव! अब मैं तुम्हें आश्रमों के धर्म के बारे में बताता हूँ। उसमें पहला धर्म है, ब्रह्मचर्य, सुनो। ब्रह्मचर्य के दो प्रकार हैं, एक का नाम है पूर्ण 'नैष्ठिक्य' तथा दूसरा है 'उपकुर्वाण'। अब उन दोनों के लक्षण सुनो। उपनयन के बाद वेदाध्ययन होने के बाद जो परमार्थ को लक्ष्य बनाकर गृहस्थाश्रम की ओर नहीं देखता उसी का नाम है 'नैष्ठिक्य' ब्रह्मचर्य। दूसरा, वेदशास्त्र आदि का पठन पूर्ण कर गुरुदक्षिणा दे कर ब्रह्मचर्य व्रत की समाप्ति कर तदुपरान्त यथाविधि स्त्री का पाणिग्रहण करना इसे 'उपकुर्वाण' कहते हैं।

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः।
वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः॥ २२॥

मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान् दधत्॥ २३॥

स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे च वाग्यतः।
नच्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि॥ २४॥

गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, अन्नप्राशन ये सारे कर्म चौल तक पहले भी होते थे। उसके बाद उपनयन तथा गुरु द्वारा गायत्री मंत्रोपदेश होने के बाद उसका दूसरा 'सावित्र' जन्म होता है जिसे 'व्रतबंध' कहते हैं। इस प्रकार गायत्री मंत्र से तीनों वर्ण के दो जन्म हो जाते हैं। यह ब्रह्मचर्याश्रम है। यह व्रतधारण केवल वेदाध्ययन के लिये होता है। इसलिये वेदाध्ययन करने के निश्चय से ब्रह्मचारी गुरु के घर रहता है। वहाँ उसका व्रत किस प्रकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चलता है, सुनो। कमरबंध, जनेऊ, कृष्णाजिन, पलाश का दण्ड तथा पानी लाने के लिये कमण्डल रखना चाहिये। केशवपन नहीं कराना चाहिये, तैलाभ्यंगस्नान नहीं करना चाहिये, दंतधावन नहीं करना चाहिये और केश में कंघी नहीं लगानी चाहिये। नाखून नहीं निकालने चाहिये, काँख तथा गुप्त स्थान के केश नहीं काटने चाहिये। धोबी द्वारा धोकर लाये कपड़े नहीं पहनने चाहिये। प्रातःकाल और दोपहर में बहते पानी के जलाशय में स्नान करना चाहिये। श्वेत आसन पर सफेद वस्त्र बिछाना चाहिये और जप के लिये रुद्राक्ष की अथवा कमल के बीज की माला रखनी चाहिये। कुश आदि के साथ पवित्र दर्भ हाथ में रखने चाहिये। अब मौन के सम्बन्ध में भी बताता हूँ। उसे भी सुनो। मलमूत्रविसर्जन तथा स्नान करते समय तथा जप, होम, भजन और दोनों समय की संध्या करते समय नियमतः मौनव्रत धारण करना चाहिये। अभ्यंग स्नान न करने से तथा बालों में कंघी का प्रयोग नहीं करने से केशों में स्वयमेव जटाओं का निर्माण हो जाता है। यह नियमतः किया जाने वाला व्रत ब्रह्मचारी के लिये बताया गया है। इनका पालन करते हुए गुरु की सेवा करनी चाहिये। गुरु जब कहे तभी वेदपाठन करना चाहिये। उसकी आज्ञा शिरसावंद्य कर निष्कपट भाव से गुरु की सेवा करनी चाहिये। जल्दी-जल्दी पाठ नहीं पढ़ाता इसलिये एक गुरु को छोड़कर दूसरे के पास जाने में महादोष है। गुरु को दया आये इसलिये दिन-रात उसकी सेवा करनी चाहिये। उस दया से वही दिन-रात पढ़ा सकेगा। गुरुचरण पर भक्ति रखकर वेदशास्त्र का पठन करें तथा परमार्थ बुद्धि से वेद का तत्वार्थ सम्पादित करना चाहिये।

रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम्।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत्॥ २५॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। ब्रह्मचारी को जानबूझ कर वीर्य त्याग नहीं करना चाहिये। यही ब्रह्मचर्य का प्रमुख व्रत है। स्वप्न में वीर्यपतन हो जाय तो शास्त्रोक्त पद्धति से स्नान करना चाहिये और फिर प्रायश्चित्त के लिये गायत्री का स्मरण करना चाहिये। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी को जानबूझ कर वीर्य त्याग करने का अधिकार नहीं है। ऐसा जो करेगा उसका आश्रमधर्म डूब जायेगा। स्वप्न में वीर्यपतन हो जाय तो मृत्तिका लगा कर अभ्यंग स्नान करना चाहिये और फिर प्रायश्चित्त के लिये विधिपूर्वक जाप करना चाहिये।

अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुराञ्छुचिः।
समाहित उपासीत संध्ये च यतवाग् जपन्॥ २६॥

जो गायत्रीमंत्र देता है वह आचार्य है। माता और पिता भी गुरु ही हैं। अग्नि, सूर्य आदि समस्त देवतागण तथा गौ, ब्राह्मण और ज्येष्ठ लोग, इन सबकी उपासना करने के लिये बाह्य शुद्धि और अन्तर का समाधान चाहिये। गुरुचरणों की शरण में रहकर माता, पितरों की आज्ञा का पालन करना चाहिये। अग्नि में हवन करे, इन्द्रादि देवताओं की स्तुति करें, ब्राह्मणों को निरन्तर पूज्य मानें तथा सूर्य को अर्घ्य प्रदान करे। पिता को साष्टांग दण्डवत करे, गौ के शरीर को सहलाये, सायं प्रातः संध्या में मौन रखे। मध्याह्न संध्या में मौन आवश्यक नहीं है। सद्गुरु की बात तो बहुत बड़ी है; गुरुतत्त्व सब में श्रेष्ठ तथा सर्ववंद्य है, उसका प्रताप प्रसिद्ध है ऐसा स्वयं श्रीकृष्ण बताते हैं।

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कहिंचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत् सर्वदेवमयो गुरुः॥ २७॥

अंतर्यामी ईश्वर, विश्वात्मा, विश्वम्भर, अनंत और अपार मैं, वही शिष्य का श्रीगुरु है। जिसे गुरुनाम कहते हैं वह सचमुच भगवान ही है। भजन का भक्तिभाव देखकर शिष्य का मनोरथ मैं ही पूर्ण करता हूँ। जिस सद्गुरु

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के अंगुष्ट में ब्रह्मादिक अगणित देवताओं की भीड़ रहती है, जिसका नाम वैकुण्ठ और कैलाश में भी पूजनीय है, जिसका नाम सुनते ही यम और काल थरथर काँपते हैं और ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर तीनों हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं, उसी प्रकार जो सारे वेदों का रहस्य है, वही सद्गुरु का स्वरूप है, यही शिष्य की निश्चित धारणा होनी चाहिये। उसे साधारण मनुष्य समझ कर कभी उसका अनादर नहीं करना चाहिये। गुरु की निन्दा मुँह से निकले तो समझ लो सर्वस्व नाश हो गया। यदि कोई निकट सम्बन्धी एकांत में सद्गुरु की निन्दा करने आये तो जिस प्रकार धर्म परिवर्तन करने वाले का बहिष्कार किया जाता है, उसी प्रकार उसका त्याग करना चाहिये। यदि यह सम्भव न हो तो स्वयं वहाँ से भाग जाये। यदि वह स्वयं ही सद्गुरु की निन्दा की बात करता है तो समझ लो सब कुछ डूब गया, परमार्थ मिट्टी में मिल गया। ऐसे गुरु के प्रति पत्र, पुष्प, अन्न, धन इस सम्बन्ध में कभी प्रवंचना न करे ऐसा स्वयं श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत्।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः॥ २८॥

प्रातःकाल, दोपहर और सायंकाल अन्न, द्रव्य, पुष्प, फल आदि जो भी भिक्षा में प्राप्त हो उसे गुरु को देकर उनके सामने हाथ जोड़कर खड़ा रहे। यदि गुरु आज्ञा दें तो उसमें से केवल उदर निर्वाह लायक अन्न लेकर ग्रहण करें। ब्रह्मचारी को अन्न के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिये। सुबह और शाम भोजन करना ब्रह्मचारी के लिये विहित है। गुरु की आज्ञा से जितना भी अन्न मिले उससे क्षुधाशान्ति करनी चाहिये। उसे कभी अच्छा या खराब नहीं कहना चाहिये। जिह्वा का लाड़ नहीं करना चाहिये। विषय विस्तार नहीं बढ़ाना चाहिये। देह का निर्वाह हो इतना ही पर्याप्त है, ऐसी शिष्य की इच्छा होनी चाहिये। भोजन करते समय कुछ माँगना नहीं चाहिये, उसके लिये मौन रहना चाहिये। अधिक अन्न खाने से वह गुरुसेवा में प्रतिबंध होता है। अधिक अन्न खाने से निद्रा और आलस होता है और बहुत कम खाने से शरीर अपंग हो जाता है। गुरु सेवा के लिये वृत्ति सावधान रखनी चाहिये। इसके लिये शिष्य का भोजन मर्यादित होना चाहिये। गुरु की सेवा के लिये शरीर सुदृढ़ रखना चाहिये। गुरुसेवा का यह लक्षण स्वयं जनार्दन बता रहे हैं।

शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत् नीचवत्।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः॥ २९॥

गुरुसेवा में तिलमात्र का भी अन्तर न करते हुए सदा उल्हास से तत्पर रहना चाहिये। गुरु यदि किसी वाहन पर आरूढ़ हों तो स्वयं उनके साथ-साथ उत्साह से चलना चाहिये। वे यदि पैदल चल रहे हों तो उनका सामान हाथ में लेकर उनके पीछे-पीछे चलना चाहिये। उनका मन देखकर उन्हें पानी, पान आदि देना चाहिये, वह जहाँ बैठने वाले हों वहाँ आसन बिछाना चाहिये और उनके पैर दबाने चाहिये। सद्गुरु जब आसन पर बैठ जाएँ तो न उनके बहुत निकट बैठना चाहिये और न बहुत दूर ही बैठना चाहिये। हमेशा उनके दृष्टिपथ में रहें। हाथ जोड़कर सामने खड़े रहें। गुरु संकेत दें वह काम करना चाहिये। गुरु बिस्तर पर सोये हों उस समय उनके पास नहीं रहना चाहिये। रात को यदि वे बुलायें तो सुनायी पड़े इतने अन्तर पर रहें। सेवा करने वाला एक मैं ही हूँ ऐसा अभिमान करने से सारी सेवा व्यर्थ हो जायेगी। सेवा करते समय सारे सेवकों में मैं केवल रंकों में भी रंक हूँ यही भाव रखना चाहिये। उसी प्रकार सेवा का कोई क्षुद्र काम करने में लज्जा नहीं करनी चाहिये। मन में किसी भी प्रकार का आलस न धर गुरुजनों के प्रति सदा उल्लास का भाव रखना चाहिये।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एवंवृत्ता गुरुकुले वसेद् भोगविवर्जितः।
विद्या समाप्यते यावद् बिभ्रद् व्रतमखण्डितम्॥ ३०॥

सारे सुखोपभोग त्याग कर गुरु के घर रह कर वहाँ गुरु की सेवा के व्रत से ही वह सबका प्रिय बन जाता है। इस प्रकार गुरुसेवा कर तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर, वेदशास्त्र में प्रवीण होकर सारा अध्ययन समाप्त हो जाता है और सारी विद्या जब पूर्ण हो जाती है तो नैष्ठिक और उपकुर्वाण व्रत का पालन कैसे किया जाय यह श्रीकृष्ण अगले श्लोक में बता रहे हैं।

यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन् ब्रह्मविष्टपम्।
गुरवे विन्यसेद् देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः॥ ३१॥

ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते समय जो उसी आश्रम को निरन्तर चलते रखने का निश्चय करता है व वेदों में लिखे अनुसार सत्यलोक से वैकुण्ठ तक मेरी प्राप्ति की इच्छा करता है। उसे स्वयं जीवनपर्यंत गुरुभजन व्यवस्थित होने के लिये सारा देह ही गुरुचरण में अर्पित करना चाहिये। रोज नये प्रेम से गुरु का भजन करना चाहिये। गुरुचरणों में आत्मभावना रखने से उसी की लगन लग जाती है। ऐसा पुरुष पहले से रखा हुआ ब्रह्मचर्यव्रत आगे चालू रखता है और उसी को दृढ़ करता है। वही 'नैष्ठिक' ब्रह्मचारी बनता है और गुरुभजन पर ही निश्चय रखता है। वह मानसम्मान की इच्छा नहीं करता, विषय से प्रेम नहीं रखता, संसार से मोह नहीं रखता; अपने व्रत में दृढ़तापूर्वक लगा रहता है। ऐसे व्रत का पालन कर जो महान व्रतधारी बनता है, उसकी गुरुजनों पर वैसी ही निष्ठा जमती है और वह सद्गुरु के साथ स्वाध्यायपूर्वक वेदांतरहस्य का ही विचार करता रहता है। 'स्व' का अर्थ है आत्मा यह ध्यान में रखो। उसी का नित्य अनुसंधान करना, इसी को ज्ञानीजन 'स्वाध्याय' कहते हैं। इस प्रकार के साधक के लिये सर्वत्र ब्रह्म की ही भावना रखना उचित होता है। यही बात श्रीकृष्ण अपने मुख से अगले श्लोक में बता रहे हैं।

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्।
अपृथग्धीरुपासीय ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः॥ ३२॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने से शरीर पर ब्रह्मतेज चढ़ता है। सद्गुरु के भजन से तथा आत्मवृत्ति से वह निष्पाप हो जाता है। उसे अग्नि, गुरु, स्वयं तथा समस्त प्राणिमात्र में अभिन्न ब्रह्मभावना धारण कर निरन्तर वही अनुसन्धान करते रहना चाहिये। ऐसा करने से जब भी कोई दृष्य पदार्थ उसकी दृष्टि के सामने आता है उसे वह शुद्ध ब्रह्मरूप ही लगता है। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप होकर सद्भाव के साथ वह मेरी उपासना करता रहता है। सारांश नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत वानप्रस्थ तथा संन्यासियों जैसा ही होता है। इसमें आचरण का जो प्रमुख धर्म है उसका मर्म है त्याग।

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम्।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत्॥ ३३॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी, संन्यासी तथा वन में रहने वाले वानप्रस्थ इन्हें मुख्य रूप से स्त्रियों की ओर नहीं देखना चाहिये, यही उनका मुख्य धर्म है। यदि स्त्री दिखायी पड़े तो तत्काल अपनी झोपड़ी छोड़कर भाग जाना चाहिये। फिर उससे बात करना कैसे सम्भव होगा? इन तीनों को स्वप्न में भी स्त्री का स्पर्श नहीं करना चाहिये। करने से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मदन उनका वीर्यस्खलन करा देगा। उन स्त्रियों से हास्यविनोद करने से धर्म का मूल बीज ही नष्ट हो जायेगा। इसलिये शुद्ध ज्ञानी लोग स्त्रीगुणों का वर्णन नहीं करते। स्त्रियों के हावभाव देखना, उनसे एकान्त करना, गुह्य बातें करना, अनेक प्रकार के विनोद करना, शरीर से घर्षण करना, हँसी-मज़ाक अथवा शृंगारिक भाषण करना, इतना भी यदि हो जाय तो वहाँ काम का आघात पड़ेगा और स्वधर्म डूब जायेगा तथा धैर्य का जो मूलतत्त्व है उसका विनाश होगा। गृहस्थ की भी यदि परस्त्री से व्यवहार करने की यही प्रवृत्ति हो तो वह भी संकट में पड़ेगा। स्त्री अग्नि के कुण्ड की तरह है और पुरुष घृत के घट की तरह है। अग्नि का सम्पर्क होते ही घृत पिघलने लगता है। उसी प्रकार वृद्धावस्था में भी स्त्रियों के साथ एकान्त करने पर तथा हँसी मजाक की बातें करने से उस पर भी काम का प्रहार हो सकता है। इसलिये स्त्रियों की संगत टालनी चाहिये, यही परमार्थ का प्रमुख भाग है, यही बात श्रीकृष्ण ने अपने मुख से उद्धव को बतलायी। पराशर सरीखा महंत भी मत्स्योदरी से रममाण हुआ। इससे स्त्री का एकान्त पुरुष के लिये अनर्थ का कारण है यह निश्चित रूप से समझना चाहिये। पशु-पक्षी आदि मैथुन कर रहे हों तो उन्हें जानबूझ कर नहीं देखना चाहिये। देखने से काम उद्दीप्त होता है। मत्स्य का मैथुन आँखों से देखने के कारण काम की ज्वाला भड़क उठी और ऋषिश्रेष्ठ सौभर ने मैथुन के लिये करोड़ों तप नष्ट कर दिये। इसलिये काम का दर्शन या काम का स्मरण भी पुरुष के लिये बाधक है। इसलिये काम का स्मरण भी नहीं करना चाहिये। हृदय में काम का संचार ही न हो ऐसा आचरण रखना चाहिये। श्रीकृष्ण कहते हैं, सभी प्राणिमात्र मत्स्वरूप हैं यह मानना चाहिये। यही महत्व की बात है।

शौचमाचमनं स्नानं संध्योपासनमार्जवम्।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासम्भाष्यवर्जनम्॥ ३४॥

शौच, आचमन, स्नान, संध्या, तर्पण, पूजा, अर्चा, जपादि अनुष्ठान, भक्ति से करना चाहिये तथा तीर्थसेवन आदि करना चाहिये। अधर्म का अथवा अकर्म का जरा भी स्पर्श नहीं होने देना चाहिये, संकटकाल होने पर भी अभक्ष्य का सेवन नहीं करना चाहिये। जो व्रतस्थ हो उसे रजस्वला अथवा निंद्य लोगों से भाषण नहीं करना चाहिये। निंदा अथवा स्तुति इस सम्बन्ध में मौन रखना चाहिये। श्रीकृष्ण कहते हैं, उद्धव! अब सभी आश्रमों के स्वधर्म नियमों का क्या लक्षण होता है, उसे अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।

सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनावाक्कायसंयमः॥ ३५॥

हे यदुकुलदीपक सूज्ञ उद्धव! सुनो। सभी वर्णाश्रम धर्म लक्षणों की निष्ठा एक ही है। वह यही है कि काया, वाचा तथा मन से अपना संयमन कर समस्त प्राणिमात्रों के प्रति ब्रह्मस्वरूप की अखण्ड भावना रखनी चाहिये। श्रीहरि कहते हैं, इस प्रकार समस्त प्राणिभाग पर मत्स्वरूप की दृढ़ भावना अंकित होने पर ऐसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी को मोक्षफल की प्राप्ति होती है।

एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
मद्भक्तस्तीव्रतपसादग्धकर्माशयोऽमलः॥ ३६॥

इस प्रकार जो ब्रह्मचारी इस कठोर व्रत का पालन करता है, सभी प्राणियों के प्रति मेरी ही भावना रखता है और वह भावना अंतःकरण में निरन्तर रखता है तथा इस प्रकार मेरे भजन करने के कारण उसकी वासनायें

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कर्मबीज के साथ जल जाती हैं। उसी समय मेरी पूर्ण भक्ति भक्त के अंत:करण में भर जाती है। बिना किसी उपाय या प्रयास के, सहज स्थिति से उसमें मेरे प्रति भक्ति उत्पन्न होती है। उस समय वह जिस दृष्य व्यक्ति को देखता है उसमें चिद्रूप मैं ही हूँ ऐसा उसे प्रतीत होता है। ऐसी भक्ति होने पर वह आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी इन पंक्तियों से ऊपर उठ कर चिन्मात्रैक चौथी भक्ति प्राप्त करता है। सचमुच जिस भक्ति के कारण चारों मुक्तियाँ पैरों पर लोटती हैं, वह स्वानंद मेरे भक्तों की देह में पूर्णतय: उल्हास प्राप्त करता है। उस समय उन्हें मुक्तता प्राप्त करने का स्मरण भी नहीं होता। अथवा 'मेरा बन्धन समाप्त हो गया' यह भी उसे याद नहीं रहता। सारांश, मेरे भजनसुख में ही वह सारे सुख और दु:ख भूल जाता है और मेरी भक्ति के आनन्द में स्वानंद सुख में सन्तुष्ट रहता है। इस प्रकार का 'नैष्ठिक' ब्रह्मचारी अपने स्वधर्म से मत्स्वरूप तक पहुँचता है। अस्तु! अब दूसरी स्थिति अर्थात् 'उपकुर्वाण' ब्रह्मचर्य के बारे में तुझे बताता हूँ। सुनो।

अथानन्तरमावेक्ष्यन् यथा जिज्ञासितागमः।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद् गुर्वनुमोदितः॥ ३७॥

सारा अध्ययन पूर्ण होने पर, वेदशास्त्र में निपुण हो जाने के बाद यदि विषयोपभोग की इच्छा हो तो उसे गुरु की आज्ञा लेकर व्रत का विसर्जन करना चाहिये। विषयोपभोग की इच्छा अथवा अनिच्छा—जैसी उसकी प्रवृत्ति हो उसका अच्छी तरह विचार कर, जैसा शिष्य का अधिकार होता है, उसके अनुसार गुरु आज्ञा देते हैं। जिसे गृहस्थाश्रम की इच्छा हो उसे गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा देकर ब्रह्मचर्य व्रत की समाप्ति करनी चाहिये। समापवर्त्तन करने के लिये गुरु की आज्ञा लेकर मंगल स्नान करना चाहिये और तब व्रतबंध का विसर्जन करना चाहिये। यहाँ श्रीकृष्ण अधिकार भेद का वर्णन कर रहे हैं। वैराग्य के सम्बन्ध में प्राप्त होने वाले उसी अधिकार का अगले श्लोक में वर्णन करता हूँ।

गृहं वनं वोपविशेत् प्रव्रजेद् वा द्विजोत्तमः।
आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेत्॥ ३८॥

जिसमें जरा भी वैराग्य नहीं है, अंत:करण में स्त्री के उपभोग की चाह है उसे दूसरा अर्थात् गृहस्थाश्रम स्वीकार करना चाहिये अथवा जिसे स्त्रीकाम तो अच्छा नहीं लगता किन्तु थोड़ा बहुत विवेक वैराग्य रहता है; स्त्री सुख की विशेष चाह नहीं होती लेकिन विवेक-वैराग्यपूर्ण नहीं होता, ऐसी स्थिति हो तो उसे तत्काल वानप्रस्थ की ओर प्रस्थान करना चाहिये। जो विवेक के तेज से देदीप्यमान हो, जिसके पास सदा वैराग्य जागृत रहता हो, जो किसी भी विषय में बिलकुल विरक्त हो उसके लिये ही संन्यास आश्रम उपयुक्त है। जो जन्मत: ब्राह्मण हो उसी को द्विजोत्तम कहना चाहिये। उसी के लिये चतुर्थाश्रम बताया गया है। वैश्य और क्षत्रियों के लिये चतुर्थाश्रम का नियम नहीं बताया गया है। क्षत्रिय यदि संन्यास लें तो उन्हें तीर्थाटन पर जाना चाहिये, दण्ड-कमण्डल का विधान उनके लिये नहीं है। ब्राह्मण को यदि ब्रह्मचर्याश्रम में ही प्रखर वैराग्य उत्पन्न हो जाय तो उसे तत्काल संन्यास लेना चाहिये। विवाह के समय यदि भार्या के सामने पीढ़े पर बैठते ही वैराग्य उत्पन्न हो जाय तो तत्काल संन्यास ले लेना चाहिये ऐसा श्रेष्ठ लोगों का कहना है। संन्यास ग्रहण के लिये जिसका वैराग्य पूरी तरह परिपक्व नहीं है, उसे संन्यास ग्रहण की योग्यता ही नहीं है ऐसा समझना चाहिये। जिसे विषयोपभोग का सुख अच्छा नहीं लगता उसी को संन्यास का अधिकार है। जिसे विषय विकार से जरा भी बाधा नहीं होती, वही सचमुच संन्यासी है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते समय यदि वैराग्य हाथ न लग रहा हो तो उसे गृहस्थ बनकर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वधर्म का आचरण करना चाहिये। उसमें स्वधर्म के अनुरूप विषय सेवन कर वास्तविक विरक्तता साधे। यदि उनमें भी वैराग्य न उत्पन्न हो तो वानप्रस्थ स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाते हुए वैराग्य सम्पादित कर फिर संन्यास ग्रहण करना चाहिये। लेकिन बिना किसी आश्रम के किसी को रहने का अधिकार नहीं है। पूर्वाश्रम छोड़कर जो कोई दूसरे आश्रम में जाता है उसे उसके अगले आश्रम में जाने का अधिकार है। लेकिन पुनः पिछले आश्रम में लौटने का विधि शास्त्र में नहीं है। जो मेरा भक्त तत्परता से मेरे भजन में लग जाता है उसके लिये इन आश्रमों का नियम नहीं है। हे उद्धव! वह मेरे भजन से ही कृतकृत्य होता है यह जान लो। सद्भाव से मेरी भक्ति करने से विवेक युक्त वैराग्य की योग्यता प्राप्त होती है, मेरी पूर्ण सत्ता ही उसके हाथ लग जाती है, इसमें वह सायुज्यतामुक्ति देने पर भी उसे ग्रहण नहीं करता। ऐसे जो मेरे श्रेष्ठ भक्त हैं उन्हें आश्रम का नियम लागू नहीं है। उनका सारा स्वधर्म मैं ही हूँ ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा। उस श्रीपति ने पुनः कहा, हे उद्धव! अब तुम्हें गृहस्थ के स्वधर्म का भी वर्णन करता हूँ, सुनो।

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम्।
यवीयसीं तु वयसा तां सवर्णामनु क्रमात्॥ ३९॥

समापवर्त्तन करने के बाद व्रतबंध का भी विसर्जन करे और गुरु की आज्ञा लेकर विवाह कर ले। भार्या अपने ही वर्ण की हो, अन्य तीन वर्णों की न हो। यदि अपने ही गोत्र की हो तो उसे वर्ज्य कर अपने ही वेदशाखा की जाति की लड़की से विवाह करना चाहिये। जिसके माता और पिता दोनों पवित्र कुल के हों ऐसी दस लक्षणों से युक्त अनिंद्य तथा जिसका कन्यादान करने में माता-पिता को आनन्द हो रहा हो वही उपयुक्त सम्बन्ध समझना चाहिये। जन्मपत्रिका के अनुसार जो उम्र में पति से बड़ी है या समवयस्क है तो उन दोनों कन्याओं को त्याज्य समझना चाहिये। जो लड़की पति से पाँच-सात वर्षों से छोटी हो उसी के साथ स्वधर्म के अनुसार विवाह करना चाहिये। वही भार्या उत्तम है। कन्या आठ से लेकर दस वर्ष तक की हो उसी का पाणिग्रहण करना चाहिये। इससे अधिक उम्र की लड़की 'वृषली' होती है ऐसा शास्त्रों ने निश्चित किया है। उसी प्रकार गर्भ धारण के लिये आठ वर्ष से नीचे की भार्या अयोग्य है ऐसा शास्त्रों में लिखा है। ऐसे लक्षणों की जिसे बाधा नहीं है ऐसी पवित्र कन्या देखकर उससे विवाह करें। अब शास्त्र के अविरुद्ध शुद्ध आश्रमधर्म कैसा होता है, सुनो।

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम्।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम्॥ ४०॥

ब्राह्मण को करने के लिये यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, प्रतिग्रह और दान ये छः कर्म हैं। तीन वर्ण द्विजन्मा हैं फिर भी वैश्य और क्षत्रिय को यजन, दान और अध्ययन इन तीन कर्मों का ही अधिकार है। किन्तु जो जन्म से ब्राह्मण हैं उन्हें ही षट्कर्म का अधिकार है। इनमें से तीन अर्थात् यजन, अध्यापन और दान ये कर्म करने से उन्हें परमार्थ की प्राप्ति होती है और शेष तीन कर्मों से उपजीविका चलती है। कौन से कर्म उपजीविका के लिये उपयोगी हैं और किन कर्मों से परमार्थ की प्राप्ति होती है इन कर्मों का भेद तुम्हें बताता हूँ, सुनो। 'यजन' अर्थात् यज्ञ करना, 'अध्ययन' अर्थात् वेद पठन करना और 'दान' अर्थात् दूसरों को धनधान्य देना ये तीन कर्म परमार्थ का लाभ कराने वाले हैं। स्वयं गुरुत्व अर्थात् पौरोहित्य स्वीकार कर दूसरे से यज्ञ करवाना उसे 'याजन', दूसरे को वेद पढ़ाना इसे अध्यापन और स्वयं दान देने को 'प्रतिग्रह' कहते हैं। अच्छे शिष्य मिल जाएँ तो इन तीन कर्मों के योग से उपजीविका चलती है और गुरु बनने पर गुरुपूजा का सम्मान मिलता है जिससे जीविका भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चलती है। क्षत्रिय और वैश्य भी द्विजन्मा हैं लेकिन उन्हें गुरु होने का अधिकार नहीं है। इसलिये इन तीनों कर्मों का निषेध ही किया गया है। अब ब्राह्मण का लक्षण स्वयं श्रीकृष्ण बताते हैं कि हे उद्धव! उनके साधारण, श्रेष्ठ और अत्यन्त श्रेष्ठ ये तीन भेद हैं।

प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम्।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक् तयोः॥ ४१॥

स्वधर्मनिष्ठ ब्राह्मण के पास तप, तेज, धैर्य और यश का संग्रह रहता है लेकिन प्रतिग्रह इन सबके विनाश के लिये कारणीभूत होता है। स्वधर्मनिष्ठ ब्राह्मण होते हुए जो प्रतिग्रह स्वीकार करता है उसे 'साधारण' ब्राह्मण समझना चाहिये। यह एक प्रकार के ब्राह्मण का लक्षण है। जो ब्राह्मण प्रतिग्रह स्वीकार नहीं करता उसे याजन और अध्यापन कर स्वधर्म से ही धन उपार्जन करना चाहिये और अपनी जीविका चलानी चाहिये। धन की आशा मन में रख कर किसी से यज्ञ नहीं करवाना चाहिये तथा वेदाध्ययन कर शिष्य से द्रव्य की इच्छा नहीं करनी चाहिये। जो वेदाध्ययन करा कर शिष्य से बिलकुल धन नहीं लेता, ऐसे वैराग्य से परिपूर्ण व्यक्ति ही 'शुद्ध ब्राह्मण' है। उसका जीविकावर्तन भी बताता हूँ, सुनो। उसे 'शिल' वृत्ती से अथवा 'उंछ' वृत्ती से अपना उदर निर्वाह करना चाहिये। उसका भी यथार्थ लक्षण बताता हूँ। कटाई के बाद खेत में जो बाल या दाने बचे रहते हैं उस पर चरितार्थ चलाना, इसे शिलवृत्ति कहते हैं। अब 'उंछवृत्ति' का लक्षण सुनो। बाजार में कुछ ऐसे धान्य के दाने मिलते हैं जिनका कोई मालिक नहीं होता। उन्हें इकट्ठा कर उस पर निर्वाह करना, इसी का नाम है 'उंछवृत्ति'। यही ब्राह्मण की अत्यन्त पवित्र स्थिति है। इसलिये श्रीकृष्ण ने इसके बारे में भी उद्धव को बताया।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रत्यानन्तसुखाय च॥ ४२॥

सभी वर्णों में उत्तम वर्ण ब्राह्मण का है। ब्राह्मण का देह भगवान ने किसी क्षुद्र काम के लिये नहीं बनाया है। पशु-पक्षी आदि योनियों में काम के सिवा और कुछ नहीं होता। वही अगर ब्राह्मण के देह में हो तो फिर उसकी विशेषता ही क्या है? स्वधर्म का अनुष्ठान करना यही ब्राह्मण के देह का कर्त्तव्य है। कृच्छ्रचांद्राण आदि तप उसे मेरे लिये ही करने चाहिये। मुझ अनंत को मन में धारण कर तथा पूर्ण वैराग्ययुक्त होकर जो ब्राह्मण तपादि साधनों में अपने देह को निरन्तर कष्ट देते हैं उन्हें देह के पतन के बाद मेरे अनंत सुख की प्राप्ति होती है। उस समय स्वर्गसुख आदि का ऐश्वर्य तत्काल लुप्त हो जाता है। जिस सुख की आनन्दमय स्थिति में संसार की स्फूर्ति भी शेष नहीं रहती, जहाँ पुनः जन्म लेने का भय नष्ट हो जाता है, ऐसे सुख की प्राप्ति उन ब्राह्मणों को होती है। कृच्छ्रादि साधनों के आश्रय से ब्राह्मणों को जिस ब्रह्मसुख की प्राप्ति होती है, शिलोछं वृत्ति की साधना करने वालों को उसी सुख का वैभव प्राप्त होता है।

शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन् नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम्॥ ४३॥

जो ब्राह्मण शिल अथवा उंछवृत्ति धारण कर अपनी चित्तवृत्ति को सन्तुष्ट रखते हैं तथा विषय वैराग्य से मुझे प्राप्त कर लेते हैं तथा अतिथि का मद्भाव से पूजन करते हैं, अतिथि के आने पर उसे प्राणांत होने पर भी पराङ्मुख नहीं होने देते, समय पर अपनी भूख-प्यास का ख्याल न कर अतिथि को आवश्यक अन्न देते हैं, तथा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार अत्यन्त आदरपूर्वक और सम्मान से यथाशक्ति अन्नदान करते हैं, उन पर मैं जनार्दन सन्तुष्ट होता हूँ। अभिमान छोड़कर सभी प्राणिमात्रों के प्रति नम्रता का भाव रखना, यही 'महद्धर्म' है और यही धर्म का शुद्ध लक्षण है। इस प्रकार का धर्माचरण कर्ता के लिये भूषणास्पद होता है। इस धर्म में दोष देने के लिये जरा सी भी जगह नहीं रहती। इसी का नाम है, 'अति शुद्धाचरण'। चित्तवृत्ति मुझ में रंग जाने के कारण घर संसार की आसक्ति जो प्रायः भूल ही जाता है उसे गृहस्थाश्रम में ही मेरी प्राप्ति होती है, आत्मज्ञान यही उसकी सुख सम्पत्ति हो जाती है। जो निर्धन हैं, उन्हें इस प्रकार गृहस्थाश्रम में ही मेरी प्राप्ति होती है। अब जो साधन है उन्हें मेरी प्राप्ति कैसे होती है, वह तुम्हें बताता हूँ, सुनो। धनी होते हुए यदि वह ज्ञानी है तो उसे बिना अधिक साधन किये ही मेरी प्राप्ति करना अत्यन्त सुलभ है, सुनो।

समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम्।
तानुद्धरिष्ये नचिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात्॥ ४४॥

ब्राह्मण वैसे भी पूज्य है ही, तिस पर यदि वह मेरा भक्त हो तो मेरे भजन से अत्यन्त सम्पन्न और मद्भावना से पूर्ण तथा परिपक्व अवस्था में पहुँचा हो; उसी प्रकार कभी किसी से कुछ नहीं माँगने का मेरे भक्त का जो निश्चय रहता है, उसे पीड़ा देने वाली क्षुधादि व्यथाओं का जो निवारण करता है; उसे अन्न, धन, वस्त्र, पात्र, नमक आदि देता है तथा अपना धन देकर जो मेरे भक्त का संरक्षण करता है, उसे देते समय जो उसका तिरस्कार नहीं करता और किसी प्रकार का उपकार करने की भावना मन में न लाकर अत्यन्त सम्मान और नम्रता से मेरे भक्त का संरक्षण करता है, माँ जिस वात्सल्य से अपने बच्चे को खिलाती है उसी प्रकार वह अपना स्वार्थ छोड़कर मेरे भक्त का संरक्षण करता है, उसे मैं अपने भक्त को भी पीछे छोड़कर अपने मस्तक पर धारण करता हूँ और फिर उसे वैकुण्ठ ही क्या उससे भी ऊपर ले जाता हूँ। जिसे मैं अपने मस्तक पर धारण करता हूँ उसे कौन सी वस्तु दुर्लभ होगी? उद्धव! मेरे भक्तों का जो संरक्षण करता है, उसका उद्धारक मैं हूँ। मेरे भक्तों के संकट जो स्वयं होकर दूर करेगा, उसे मैं तत्काल संसार सागर पार कराता हूँ। उद्धव! जिस प्रकार नौका धनवान को समुद्र पार कराती है, उसी प्रकार मेरे भक्तों की रक्षा करने वालों का मैं संसार से उद्धार करता हूँ। इस प्रकार जो धनवान पुरुष मेरे भक्त का संरक्षण करता है, उसका देवकी वसुदेव की शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं उसका उद्धार करता हूँ। सबके संकट का निवारण राजा को स्वयं करना चाहिये, उस राजधर्म का लक्षण श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं।

सर्वाः समुद्धरेद् राजा पितेव व्यसनात् प्रजाः।
आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान्॥ ४५॥

दीन, दुर्बल ब्राह्मण और अयाचित भक्त हों तो उनकी खोज कर राजा को उनका संकट में संरक्षण करना चाहिये। अपने बच्चे पर संकट आने पर जिस प्रकार पिता उसके संरक्षण के लिये कमर कस लेता है, उसी प्रकार राजा को भी आस्थापूर्वक अपनी प्रजा का संकटों से संरक्षण करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। प्रजा का संरक्षण कर उस पर आयी हुई आपत्ति का निवारण स्वयं करना राजा का स्वधर्म है। हाथी दलदल में फँस जाय तो भी वह अपने ही बल से बाहर निकलता है और दलदल में फँसी हुई हथिनी तथा उसके कितने घावों को बाहर निकालता है इसकी तो कोई गिनती ही नहीं है। उसी प्रकार पृथ्वीपति राजा को अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिये, साथ ही अपने संकटों का सामना भी अपनी ही शक्ति से करना चाहिये। ऐसे स्वधर्माचरण से जो राजा सम्मानपूर्वक व्यवहार करता है उसे उस स्वधर्माचरण से कैसी फलप्राप्ति होती है उसके बारे में श्रीपति स्वयं बता रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा।
विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते॥ ४६॥

इस प्रकार जो राजा इस लोक में राज्य प्राप्त होने पर अधर्म का नाश कर स्वधर्म स्थिति से आचरण करता है, उसे स्वर्ग प्राप्त होता है। ज्ञानी लोग 'राज्य का अन्त नरक' इस उक्ति से करते हैं, लेकिन उस नरकभोग को टाल कर अनेक राजा स्वर्ग गये हैं। वे स्वर्गलोक में सूर्यप्रथा जैसे देदीप्यमान विमान में बैठकर इन्द्र का सा सुख भोगते हैं। गृहस्थाश्रम अत्यन्त कठिन है। उसमें स्वधर्माचरण करते समय अनेक बार बिकट प्रसंग आते हैं। उस समय के आपात धर्म बताता हूँ, सुनो।

सीदन् विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत्।
खड्गेन वाऽऽपदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथंचन॥ ४७॥

ब्राह्मणों को यदि स्वधर्म में पीड़ा का अनुभव होता हो तो उन्हें वैश्यवृत्ति स्वीकार करनी चाहिये। उन्हें क्षात्रधर्म स्वीकार कर हिंसा आदि दोष नहीं करने चाहिये क्योंकि वे अत्यन्त खराब हैं। ब्राह्मण के लिए हिंसाकर्म अधर्म है लेकिन यदि कोई विकल्प न हो तो उसे अवश्य क्षत्रिय धर्म स्वीकार करना चाहिये। वैश्य का व्यवसाय स्वीकार करने पर उसे तिल्ली, राई तथा रुई, नमक, तेल, घृत आदि पदार्थ नहीं बेचने चाहिये। उन्हें बेचने में महादोष है। इन सारे दोषों से बचकर वणिक् का व्यवसाय करना चाहिये। खाने का पान और वस्त्र निर्दोष हैं। इस प्रकार वणिक् का व्यवसाय करना चाहिये। इस प्रकार वणिक् का व्यवसाय करने पर भी निर्वाह न होता हो तो उसे हाथ में शस्त्र लेकर क्षात्रवृत्ति स्वीकार करनी चाहिये। उसमें हिचकिचाना नहीं चाहिये। समरभूमि से वापस नहीं लौटना चाहिये। स्वामिकार्य के योग में देहत्याग के लिये तत्पर रहना चाहिये। इस प्रकार क्षत्रियवृत्ति से ब्राह्मण को अपनी आपत्ति दूर करनी चाहिये, लेकिन प्राण जाने पर भी श्वान की वृत्ति के अनुसार नीच की सेवा नहीं करनी चाहिये। अब यदि स्वधर्म के अनुसार चलने पर भी क्षत्रिय पर आपदा आ जाये तो इसे कैसा आचरण करना चाहिये इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण स्वयं उद्धव से सविस्तार बता रहे हैं।

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगयया ऽऽपदि।
चरेद् वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथंचन॥ ४८॥

क्षत्रिय पर भी यदि संकट आ जाय तो वह पहले कहे अनुसार वणिक् का व्यवसाय करे; अथवा जंगल में शिकार कर अपना संकट दूर करे। इतना करने पर भी दारिद्रय न जाय तो ब्राह्मण की तरह भिक्षा माँगे, लेकिन प्राण जाने पर भी नीच की सेवा न करे। अब यदि वैश्य को स्वधर्म के अनुसार चलने पर दरिद्र दशा प्राप्त हो जाय तो उसे किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये उस पर कृपा की मूर्ति श्रीकृष्ण उद्धव को बता रहे हैं।

शूद्रवृत्तिं भजेद् वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम्।
कृच्छ्रान्मुक्तोन गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा॥ ४९॥

वैश्य पर यदि संकट आ जाये तो उसे शूद्र वृत्ति स्वीकार करनी चाहिये, अर्थात् निष्कपट होकर तीन वर्णों की सेवा करनी चाहिये। उद्धव! वैश्य पर यदि संकट आ पड़े तो उसे कभी भी ब्राह्मण का अथवा क्षत्रिय का व्यवसाय नहीं करना चाहिये। वैश्य पर कितनी भी आपत्ति आये लेकिन उसे नीच की सेवा नहीं ही करनी चाहिये।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शूद्र पर यदि संकट आये तो उसे कुत्ते की तरह नीच सेवा नहीं करनी चाहिये। वह हाथ से चटाई बुन कर उपजीविका कमाये। डोर या छीकें बेचकर धनार्जन करे अथवा सिलबट्टा वा दीपक बेचे। नहीं तो पेट भरने के लिये सिर पर माल ढोये। आपातकाल में चारों वर्णों को अपना-अपना निर्वाह कैसे करना चाहिये इसके बारे में तुम्हें बतलाया। फिर भी जहाँ तक हो सके स्ववृत्ति नहीं छोड़नी चाहिये। आपत्काल में, दूसरा कोई उपाय न होने के कारण जो धंधा शुरू किया हो उसे आपत्काल समाप्त होते ही छोड़ देना चाहिये और फिर से अपने स्वधर्म के अनुसार चलना चाहिये। अब गृहस्थ का जो विहित कर्म है, उसके आवश्यक धर्म तथा उसमें भी ब्रह्मार्पण करने का मर्म भगवान स्वयं बता रहे हैं।

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोवयम्।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत्॥ ५०॥

स्वाध्याय का अर्थ है वेदाध्ययन करना, वेदों में कहे अनुसार ब्रह्मयज्ञ करना, स्वधा अर्थात् पितरों को तर्पण करना और स्वाहा अर्थात् देवाधिदेवों को हवि देना। बलिदान की तरह दान करना चाहिये जिससे भूतगण तृप्त होते हैं। मनुष्यों को अन्नोदक का दान करना चाहिये। ये पंचमहायज्ञ ही ब्राह्मण का नित्यकर्म हैं। इसी का नाम है ब्रह्मकर्म। अब जिसके द्वारा ब्रह्मार्पण होता है, उस अर्पण की पहचान तुम्हें पूर्ण रूपसे बताता हूँ। इसमें यदि कर्म करने वाला मैं हूँ यह भावना चित्त से निकाल दी जाय तथा प्राणिमात्र भगवत्स्वरूप है यह भावना धारण की जाय तो वह कर्म सहज ही ब्रह्मार्पण हो जाता है। कर्म का अभिमान छोड़ने पर वह कर्म ब्रह्मार्पण ही होता है। उद्धव! संकल्प के बिना कर्म के ब्रह्मार्पण होने की यह पहचान है। मेरे द्वारा यह कर्म हुआ और उसे मैं कृष्णार्पण किया ऐसा संकल्प करने पर उसका कर्तृत्व अपने माथे पर लगता है और जो स्वयं को कर्म का कर्त्ता कहता है वही भोक्ता भी बन जाता है। इसलिये हे उद्धव! अहंता ही मुख्य रूप से बाधक है। जिसमें अहंता होती है उसमें निजबद्धता भी होती है; और जो निरभिमानी और निर्मम होता है उसके साथ निजमुक्तता भी रहती है। इसलिये अभिमान त्याग कर पंचमहायज्ञ करते रहना चाहिये। गृहस्थ उसे रोज ही करता रहता है इसलिये उसका कर्म सहज ही ब्रह्मार्पण होता है। जिस रीति से गृहस्थ का नित्यकर्म भगवान को अर्पण होता है उसका मैंने यथार्थ रीति से वर्णन किया। अब यज्ञ आदि की कथा सुनाता हूँ, सुनो। जिसके पास कम से कम बारह हजार रुपये हों और जिसे वेद के सम्पूर्ण यज्ञ का ज्ञान है वह यज्ञ करने का अधिकारी बनता है।

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।
धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून्॥ ५१॥

व्यापार में अधर्म से प्राप्त किया अथवा निषिद्ध दान में मिला हुआ अथवा दूसरों का छल करके लाया हुआ अथवा दूसरे की गरज से लाभ उठाकर लाया हुआ, या किसी ने जलभुन कर दिया हुआ अथवा शिष्य को संकट में डालकर लाया हुआ धन यज्ञ करने के लिये अयोग्य है। ईश्वर की इच्छा से जो सहज प्राप्त हुआ हो अथवा जो शुद्ध प्रवृत्ति से, अर्थात् ब्राह्मण के घर पौरोहित्य कर, सदाचरण से प्राप्त किया हो या सुखमय उपायों से प्राप्त हुआ हो ऐसे धन को खर्च करना उचित है। परिवारजनों को भूखा रख, सारा धन यज्ञ में खर्च नहीं करना चाहिये क्योंकि उससे भी अधर्म ही होता है अथवा जिसके आसरे चरितार्थ चलता है जैसे खेत आदि, उसे बेच कर यज्ञ नहीं करना चाहिये। जो यश प्राप्त करने के लिये यज्ञ करते हैं, वे भी मन्दबुद्धि होते हैं। कर्म का अहंकार न कर पवित्र मार्ग से धन उपार्जन कर यज्ञ करना चाहिये। यही गृहस्थ के स्वधर्म का लक्षण है। मन की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विषय कामना त्याग कर, घरबार की आसक्ति छोड़कर गृहस्थ को निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करना चाहिये यही स्वयं श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येदृष्टमपि दृष्टवत्॥ ५२॥

घर की परिस्थिति घरबार, पत्नी और बच्चों के कारण भले ही सम्पन्न हो जाय लेकिन उसमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये; परमात्म युक्ति के साधनों से चित्तवृत्ति को सावधान रखें। कल्पना, प्रमाद का संग छोड़ तथा स्त्रियों से बच कर, उत्कृष्ट ईश्वर निष्ठा रख कर वृत्ति को अभंग रखे। उद्धव! गृहस्थ के परिवार में विषय की स्थिति का विचार करके देखो तो उसका परिणाम अशाश्वत ही होता है यह जान लो। इसी प्रकार जो परिणाम इस लोक का है वही स्वर्गलोक का होता है। दोनों ही नश्वर और मायिक होने के कारण मिथ्या हैं। स्त्री, बच्चे और सम्पत्ति ये सब स्वप्न की ही तरह क्षणभंगुर हैं। इसके सम्बन्ध में श्रीकृष्ण स्वयं निरूपण करते हैं।

पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा॥ ५३॥

जिस प्रकार पथिक क्षण भर के लिये वृक्ष के नीचे एकत्र होते हैं, उसी प्रकार पत्नी, पुत्र व आप्तजन इन सबका समागम भी क्षणिक ही है। जब दो नदियों के प्रवाह एक स्थान पर मिलते हैं तो उनके साथ बह कर आने वाली लकड़ियाँ भी संगम पर एकत्र होती हैं, उसी प्रकार इष्टमित्र भी एक जगह एकत्र होते हैं और बड़ी लहर आते ही जिस प्रकार वे लकड़ियाँ चारों दिशाओं में बिखर जाती हैं उसी प्रकार इष्ट मित्रों की भी स्थिति होती है। जीव जिस योनि में जन्म लेता है उसी योनि के सम्बन्धी भी मिलते हैं। संसार में ऐसे अनंत जन्म हुए रहते हैं अतः उन सारे जन्मों के सम्बन्धियों की संख्या भी अगणित है। किन्तु जिस प्रकार इस स्वप्न के पदार्थ दूसरे स्वप्न में नहीं दिखायी देते, उसी प्रकार इस जन्म के सम्बन्धी दूसरे जन्म के सम्बन्धियों को नहीं पहचानते। इस प्रकार जो पत्नी, बच्चे, भाई तथा सम्बन्धी इन रिश्तों को माया समझ कर, वे केवल काल्पनिक हैं, यह मान कर चलते हैं, वे सचमुच धन्य हैं।

इत्थं परिमृशन् मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन्।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः॥ ५४॥

जिसके मन में ऐसा विवेक आता है, उसे मोह और माया की कभी बाधा नहीं होती। वह घर में अतिथि की तरह रह कर अलिप्त रहता है। इस प्रकार जिसने मान, मोह और ममता का त्याग किया है, जो घर में रहकर भी उदासीन, इच्छाहीन और निर्लोभ रहता है उसे अहंता की बाधा नहीं होती। निर्मोह और निरभिमान होने का मुख्य कारण गुरु का भजन है। उससे गुरुभक्तों को वैराग्य, विवेक और ज्ञान सहज ढंग से प्राप्त होता है। हे उद्धव! ऐसे वैराग्य विवेक से रहने पर गृहस्थ को घर में रहकर ही निजमुक्ति प्राप्त होती है। अब अन्य आश्रमों के आचार विचार, भक्ति, विरक्ति तथा शान्ति आदि आश्रम विभाग के अनुसार बता रहे हैं।

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान्।
तिष्ठेद् वनं वोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत्॥ ५५॥

जो व्यक्ति घर में रहकर आश्रम धर्म का पालन करते हुए मेरी भक्ति करता है उस भक्त को अन्य आश्रमों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की आवश्यकता ही नहीं होती। समय हो या असमय हो उसके मन में भजन का विकल्प आता ही नहीं है। ऐसी जिस गृहस्थ की स्थिति होगी, उसे निरन्तर गृहस्थाश्रम में ही रहना चाहिये। जिसे कर्म की अत्यन्त आसक्ति है किन्तु विषय के प्रति आसक्ति नहीं है, साथ ही चित्त में ज्ञानयुक्त शान्ति नहीं है, उसे वानप्रस्थ आश्रम का अधिकारी समझना चाहिये और जिसे विरक्ति, शान्ति और ज्ञान करकमल की तरह उपलब्ध है वही सचमुच संन्यासग्रहण का अधिकारी है। पुत्र संतति प्राप्त होने पर भार्या को पुत्र को सौंप कर स्वयं संन्यास ग्रहण करना चाहिये। श्रुति भी इसकी संस्तुति करती है। गृहस्थाश्रम में जिसे भक्ति अच्छी नहीं लगती, अगणित संतति होने पर भी जो विरक्त नहीं होता और जो वानप्रस्थ आश्रम में भी प्रवेश नहीं करता, जिसका विषय से मोह नहीं छूटा है और जो निष्कर्म संन्यासी नहीं बनता उसके निंद्यकर्म के बारे में पुरुषोत्तम स्वयं बता रहे हैं।

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते॥ ५६॥

जिसे घर गृहस्थी से विशेष आसक्ति है; जिसका पुत्र प्रेम, धन प्रेम तथा स्त्री प्रेम प्रबल है, जो विकारों का नितांत लंपट तथा धन का अत्यन्त लोभी है, जो विकारों का अंकित है, जो अहंकार का पोषण करता है, जो स्त्री पर जी जान से बिक गया है वह अज्ञान की गहरी गर्त में गिरता है। जो आशा के भ्रम से इन्द्रियों का दास बनता है, वह जीव भाव से बद्धता का गुलाम बनता है। उस बद्धता का रूप और उस मूर्ख की बकवास स्वयं श्रीकृष्ण उद्धव को बतला रहे हैं।

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः॥ ५७॥

वह कहता है, मेरे माँ-बाप वृद्ध हैं, पत्नी छोटी है और बच्चे नन्हे-मुन्ने हैं; इनसे मैं दूर रहा तो वे तत्काल मर जायेंगे। इस प्रकार अपनी मृत्यु से भी भयंकर अनेक कल्पनाएँ कर वह परिवार की चिन्ता करता है। कभी असमय ही यदि मेरी मृत्यु हो गयी तो मेरे ये बच्चे और पत्नी क्या करेंगे? यह कहकर वह रोने लगता है। माँ-बाप की बात छोड़ो लेकिन पत्नी तो फुक्का फाड़ कर रोयेगी, बच्चे रो-रोकर गला खराब कर लेंगे, यह सोच कर अपना सिर पीट लेता है। मेरे मरने पर दुःख के मारे ये कैसे जीवित रह पायेंगे? क्या इस प्रकार वह जीवित रह पायेंगे? इस प्रकार वह जीवित अवस्था में ही उनकी चिन्ता करने लगता है। इसीलिये वह मूढ़ है। इस प्रकार जहाँ मूर्खता की अपार बाढ़ आती है, वहाँ विपरीत अर्थ में विवेक का जहाज डूब जाता है।

एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम्।
अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः॥ ५८॥

इस प्रकार गृहस्थी में आसक्त, विषयों के प्रति सदा अतृप्त, स्त्री बच्चों की अखण्ड चिन्ता करने वाला तथा अंतःकरण में मोह से ग्रस्त, उसकी बुद्धि मोह की मोहकता से मूढ़ हो जाती है और ऐसी स्थिति में जिसकी मृत्यु हो जाती है वह अंधतम नामक नरक में जाता है। उस अज्ञानतम शक्ति से ज्ञान अन्धा हो जाता है। जहाँ सूर्य की आँखें भी फूट जाँय ऐसे गहरे अंधतम नरक में वह तामसी लोटपोट होता रहता है। अरेरे! ऐसे मूढ़मति और नितांत मंदबुद्धि जीव कल्पान्त में भी जहाँ से मुक्तता नहीं होगी, ऐसे 'अंधतम' नामक नरक में जाते हैं और मोह के पीछे नश्वर विषय के चक्कर में अनंत सुख के अवसर चूक कर कोटि-कोटि दुःख भोगते रहते हैं। इसलिये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मनुष्य देह प्राप्त करने पर भगवद्भजन कर जन्म-मरण से बचना चाहिये और अपना उद्धार स्वयं ही करना चाहिये। जीव को जिस-जिस योनी में जन्म लेना पड़ता है उस-उस योनी में विषय की आसक्ति है ही। वही विषयासक्ति यदि मनुष्य देह में रखें तो फिर परमार्थ प्राप्ति किस देह में की जाय? जिसके नित्यकर्म में ही परब्रह्म की प्राप्ति नितांत सुगम और सहज ढंग से होती है, उस ब्राह्मण जन्म को पाने के बाद फिर किस बात की कमी है? वे यदि प्रतिदिन संध्या वन्दन करें तो उनके पातकों की तीन-त्रिकाल निवृत्ति होती है। सभी सारों का मूर्तिमंत सार गायत्री मंत्र जिसके हाथ में रहता है, वेद भी उनके मुखापेक्षी होते हैं। इतनी उनकी महानता होती है। ब्राह्मणों के हृदय में वेदरूप में स्वयं नारायण विराजते हैं। इसलिये ब्राह्मण त्रैलोक्य में धन्य हैं। जिन ब्राह्मणों को बड़े-बड़े देवतागण भी शिरसा वंदन करते हैं और जिस ब्राह्मण का चरण साक्षात नारायण भी अपने हृदय पर धारण करते हैं, उनकी योग्यता का क्या वर्णन किया जाय? संध्या करते रहने के कारण रत्ती भर भी पातक नहीं रह जाता इसलिये ब्राह्मण पुण्यमूर्ति हैं ऐसा स्वयं रमापति ने कहा है। 'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः' इस वचन से भगवान ब्राह्मण का ही वर्णन करते हैं। इस गीता वचन से उपर्युक्त वचन की ही पुष्टि होती है। ब्राह्मण होकर यदि भगवद्भजन भी हो तो समझो सारा भाग्य एक स्थान पर एकत्र हो गया। उसके लिये अप्राप्य क्या होगा? क्योंकि उसकी इच्छा का पालन करने के लिये साक्षात भगवान तत्पर रहते हैं। अहो! ब्राह्मण लकड़ी अथवा पत्थर की जिस प्रतिमा की प्रतिष्ठा करें वहाँ भगवान प्रकट होते हैं। ब्राह्मण में इतनी सद्भावना और सहज सामर्थ्य होता है। ऐसा होते हुए यदि ब्राह्मण का जन्म लेकर वह क्षुद्र विषय का कर्म करता रहे तो उसके हाथ से पुरुषोत्तम चले जाते हैं। वह ब्राह्मण 'अंधतम' नरक में जाता है। इसलिये एका जनार्दन की सबसे प्रार्थना है कि मनुष्य देह प्राप्त होने पर भगवद्भक्ति कर निजात्मस्वरूप की प्राप्ति अवश्य कर ले।

इति श्री भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे श्रीकृष्णा उद्धव संवादे
ब्रह्मचर्य गृहस्थ कर्म धर्म निरूपणे एकाकार टीकायां द्वादशोध्यायः ॥ १७ ॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अट्ठारहवाँ अध्याय

हे कर्मप्रकाशक! हे ब्रह्मविद्योपदेश विवेक! हे कर्मधर्म प्रतिपालक! हे जगन्नायक! हे ॐकारस्वरूप गुरुवर्य! तुम्हें मेरा नमस्कार है। हे गोविन्द! वर्णाश्रम की मर्यादा के तुम आधार हो। वेदानुवाद का कारण तुम ही हो और विवाद का और संवाद का मूल भी तुम ही हो। तुम शब्दसृष्टि के देदीप्यमान सूर्य हो; तुम वेद के गूढ़ार्थ के प्रकाशक हो, तुम एक होते हुए अनेक हो गये हो; व्याप्य और व्यापक भी तुम्ही हो। विधि और विधान तुम्हीं हो, वाचाल भी तुम्हीं हो और मौन भी तुम्हीं हो; हे गुरुराजा! एका और जनार्दन ये दोनों भी पूर्ण रूप से तुम्ही हो। इसलिये श्रीभागवत की कविता तुम्हीं हो और अर्थ भी तुम्हीं हो। अर्थज्ञान भी तुम्हीं हो और हमलोगों से बात कराने वाले भी तुम्हीं हो। जिस प्रकार अपना ही शब्द प्रतिध्वनि के रूप में उत्तर देता है, उसी प्रकार मेरे मुख से कवित्त्व बोलने वाले तुम्हीं हो। श्रीभागवत में कृपामूर्ति श्रीकृष्ण ही वक्ता है। उसने वर्णाश्रम की उत्पत्ति यथार्थ ढंग से बता दी है। सत्रहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने ब्रह्मचर्य धर्म सुगम ढंग से बतलाया और गृहस्थ के स्वधर्म का तथा नित्य कर्म का निरूपण किया। अब अठारहवें अध्याय में वानप्रस्थाश्रम का लक्षण तथा संन्यास धर्म का निरूपण भी श्रीकृष्ण स्वयं कर रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः॥ १॥

अब क्रम के अनुसार वानप्रस्थ का निरूपण आता है। उसे वन में जाने के लिये जीवन के विभाग ही कारण हैं। श्रुति में पुरुष के जीवन की मर्यादा सौ वर्ष बतायी गयी है; उसमें के दो भाग बीत कर तीसरा भाग शुरू होने पर अर्थात् छासठवाँ लगने पर वन में जाने की तैयारी करनी चाहिये। वन जाने के पूर्व पत्नी को पुत्र के सुपुर्द कर देना चाहिये और स्वयं वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करने के लिये वन में जाना चाहिये। महान साध्वी सती तथा पतिव्रता स्त्री जो पति को ईश्वरस्वरूप मानकर आचरण करती है तथा पति वानप्रस्थाश्रम में जाने के लिये तैयार होता है तो वह पुत्र के साथ रहने के लिये तैयार नहीं होती। पति की सेवा से वंचित होना उसे कल्पांत की तरह लगता है, ऐसे पति के चरणों की दासी को अपने साथ वन में ले जाना चाहिये। उसे आश्रम में स्त्रीकाम से विरत रहकर वही व्रत दृढ़ होकर आगे चलाना चाहिये। जिसने वानप्रस्थ स्वीकार कर लिया उसे मन में शान्ति धारण करनी चाहिये, कामक्रोध को स्पर्श नहीं करना चाहिये। यह व्रत उसके लिये आवश्यक है।

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत्।
व सीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च॥ २॥

वन में ऋतु के अनुसार जो कंदमूल और फल उपलब्ध हों उनमें से अत्यन्त निर्मल और पवित्र फल चुन कर उन पर निर्वाह करना चाहिये। वनवास में हों तब तक वल्कल, व्याघांबर अथवा मृगचर्म आदि वस्त्र ही परिधान करें अथवा केवल तृण पहनें या पेड़ के पत्तों का वस्त्र बनायें। अब वानप्रस्थ आश्रम में कौन-सा व्रत करना चाहिये उसके बारे में भी सुनो। उन व्रतों का निरूपण स्वयं नारायण कर रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयाद् दतः।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः॥ ३॥

जो मस्तक पर आते हैं, वे 'केश', जो मुख पर आते हैं वे 'श्मश्रु' और जो बगल तथा गुह्यभाग में आते हैं वे 'रोम' इन सबको नहीं काटना चाहिये। मस्तक का कभी वपन नहीं करना चाहिये। श्मश्रु अथवा गुह्य स्थान के बाल, नाखून नहीं काटने चाहिये। दाँत भी साफ नहीं करने चाहिये। स्नान अवश्य तीन बार करना चाहिये लेकिन उसी तरह जैसे मूसल को पानी में डुबोकर निकाला जाता है। शरीर पर का मल नहीं धोना चाहिये। वानप्रस्थ का यही बड़ा व्रत है। सदा जमीन पर सोना चाहिये। नीचे घास भी नहीं बिछानी चाहिये। इस प्रकार वानप्रस्थ का दृढ़ व्रत धारण कर तप करना चाहिये। उस तप के लक्षण सुनो।

ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन् वर्षास्वासारषाड् जले।
आकण्ठमग्नः शिशरे एवंवृत्तस्तपश्चरेत्॥ ४॥

गर्मी में पंचाग्निसाधन करना चाहिये। चारों दिशाओं में चार अग्निकुण्ड प्रज्ज्वलित करने चाहिये ताकि ऐसा लगे जैसे मध्याह्न का सूर्य आकाश पर चमक रहा है। इसे 'पंचाग्नि साधन' कहते हैं। बरसात में ऊँचे स्थान पर मचान बनाकर मूसलाधार बारिश में उस पर बैठना चाहिये। यह वर्षाकाल का तप है। जाड़े के दिन हों तो रात को गले तक पानी में डूब कर बैठना चाहिये। यही वानप्रस्थ का तपाचरण है। तप की यह क्रिया वानप्रस्थ के लिये प्रतिवर्ष के लिये है। अब उम्र के हिसाब से कौन से पदार्थ खाने चाहिये इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण बताते हैं।

अग्निपक्वं समश्नीयात् कालपक्वमथापि वा।
उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा॥ ५॥

आग पर पकाये हुए (या आग में भुने हुए कंदमूल) अथवा मौसम के अनुसार पके हुए फल तपस्वी को उदरनिर्वाह के लिये उपयुक्त हैं। दाँत मजबूत हों तो वह सभी प्रकार के फल खाये और अगर सभी दाँत गिर गये हों तो उन्हें ओखली में कूट कर खाये। वन में यदि ऊखल प्राप्त न हो तो पत्थर से कूच कर खाना चाहिये। स्वाद का विचार न कर केवल भूख निवारण का ही उद्देश्य होना चाहिये।

स्वयं संचिनुयात् सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम्।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाऽऽहृतम्॥ ६॥

फलों के मौसम में वे काफी मिलते हैं इसलिये भविष्य के लिये उनका संग्रह नहीं करना चाहिये। यही वानप्रस्थ का व्रत है। एक दिन पहले खाये हुए फल यदि बच जाएँ तो उन्हें फेंक देना चाहिये। शास्त्रों में उन्हें खाने के लिये निषिद्ध माना गया है। प्रतिदिन खाने के लिये ताजा फल लाने चाहिये। बासी फल खाना वानप्रस्थ के लिये निषिद्ध है यह जान लो। उसी प्रकार किसी दूसरे द्वारा लाये गये फल भी खाने के योग्य नहीं हैं। अपने ही परिश्रम से स्वयं लाये हुए फल ही आहार के लिये योग्य हैं। देश, काल और वर्तमान आदि का पूर्ण ज्ञान होने पर भी किसी प्रकार का संग्रह नहीं करना चाहिये। भाग्य पर विश्वास करके रहना चाहिये। दूसरे ने दिया हुआ दान कभी भी नहीं लेना चाहिये। इस प्रकार का प्रतिग्रह लेने से वानप्रस्थ व्रत भंग होता है।

वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत् कालचोदितान्।
न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी॥ ७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो वानप्रस्थ स्त्री के साथ वन में जाता है उसे अग्निहोत्र का पालन करना चाहिये। इसके लिये उसे वन में रहकर भी सारे वेदोक्त कर्म करने चाहिये। वन में रहने पर जिस मौसम में जो फल मिलें, उनसे ही चरु और पुरोडाश कर उनसे ही यथोक्त मंत्र से, मुझ यज्ञपुरुष के लिये यज्ञ करें। श्रौतकर्मविधान के अनुसार वानप्रस्थ में यज्ञ के लिये पशुवध नहीं करना चाहिये। उसे वन के फलों से ही यज्ञ करना चाहिये।

अग्निहोत्रं च दर्शश्च पूर्णमासश्च पूर्ववत्।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः॥ ८॥

पहले जिस प्रकार के अग्निहोत्र आदि कर्म गृहस्थ अपने घर में करता था, उसी प्रकार उसे वानप्रस्थाश्रम में वेदाज्ञा के अनुसार करने चाहिये। वैदिक क्रिया तथा शास्त्र का आधार लेकर यज्ञ करते रहना चाहिये। उसी प्रकार वेद की आज्ञा के अनुसार दर्श, पूर्णमास तथा चातुर्मासयाग आदि कार्य भी निष्काम भाव से करने चाहिये। वन में रहने वाले ऐसे तेजस्वी और तपस्वी मुनीश्वर को क्या फल मिलता है, श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं।

एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसंततः।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैतिमाम्॥ ९॥

इस प्रकार वेद में कहे अनुसार आस्ति भाव से तथा आदरपूर्वक निरन्तर तप का आचरण करते देह का केवल अस्थिपंजर रह जाता है। शरीर का ढाँचा भले ही सूख गया हो त्वचा से शिरायें ढकी रहती हों लेकिन उसका सामर्थ्य बहुत बड़ा होता है। तपोनिष्ठा से वह कभी पीछे नहीं रहता। इस प्रकार जीवनपर्यन्त तप करते रहने के कारण वह अंतर्बाह्य निष्पाप हो जाता है और उसे सत्यज्ञान प्राप्त होकर वह मेरे निजस्वरूप तक पहुँचता है। वासना भले ही थोड़ी शेष रहती हो लेकिन सूक्ष्मरूप से उसका प्रतिबन्ध तो होता ही है क्योंकि तप के अभिमान से देह अहंता भी अणुमात्र रहती ही है। लेकिन जिसमें फल की आशा नहीं रहती वह देहधारी मृत्यु के बाद पहले ऋषिलोक पहुँचता है और फिर मेरे पास आता है। जो ऋषिलोक जाता है वह क्रमिक मुक्ति के मार्ग पर लग जाता है और उसी क्रम में वह मेरे पास आता है। इस प्रकार वानप्रस्थ का उद्धार होता है।

यस्त्वेतत् कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत्।
कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद् बालिशः कोऽपरस्तः॥ १०॥

इस प्रकार जो वानप्रस्थ अत्यन्त कष्ट सहकर तथा तपादिक साधनों का संकट सहन कर फल की आशा का त्याग करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है। जिसके योग से सत्यलोकादि मंगल मोक्षफल हाथ में आता है उन निर्मल तपादिसाधनों का उपयोग केवल कामनापूर्ति के लिये करते हैं। जिस प्रकार कोई चिन्तामणि के बदले खपरैल का टुकड़ा माँगे अथवा पारस पत्थर के बदले काली कलूटी ईंट माँगे उसी प्रकार जो मनुष्यों में ब्राह्मण का जन्म लेकर तप करते हैं, लेकिन कामोपभोग की इच्छा कर तप व्यर्थ कर देते हैं, वे मूर्ख हैं। वानप्रस्थ का अगला लक्षण शास्त्रसम्मत तथा यथार्थ रूप में सम्पूर्ण बताता हूँ। जो वानप्रस्थ तपादि साधनों से अत्यन्त क्षीण हो गया हो, फिर भी वैराग्य और ज्ञान उत्पन्न नहीं होता; पचास वर्ष गृहस्थाश्रम में रह कर चौबीस वर्ष वानप्रस्थाश्रम किया फिर भी वैराग्ययुक्त ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ; जीवन के तीन भाग इस प्रकार खर्च हो गये और चौथा भाग शेष रहते-रहते वह शरीर से क्षीण और जर्जर हो जाता है। इस प्रकार शरीर क्षीण हो जाय और उसमें यदि थोड़ा-सा भी वैराग्य उत्पन्न हो जाय, तो संन्यास ग्रहण कर यथाशक्ति कर्म करते रहना चाहिये। अब वानप्रस्थ लेकर भी जिसे जरा भी वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, उसका अधिकार श्रीकृष्ण बताते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत्॥ ११॥

देह में जरा भी वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ, बैठे-बैठे वृद्धावस्था आ धमकी, स्वधर्म पर चलने की भी शक्ति नहीं रही, सारा शरीर काँपने लगा, ऐसी स्थिति में यदि वानप्रस्थी वन में हो तो वह आत्मस्वरूप में अग्नि का समारोप कर, मन में मेरा दृढ़ ध्यान लगा कर अग्नि में प्रवेश करे। अब यदि वानप्रस्थाश्रमी वन में रहकर अत्यन्त विरक्त हो जाय तो वह कैसा आचरण करे इस बारे में भगवान स्वयं बता रहे हैं।

यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु।
विरागो जायते सम्यङ्न्यस्ताग्निः प्रवजेत्ततः॥ १२॥

वानप्रस्थाश्रम में योग्य अनुष्ठान होकर अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हो जाय और इन्द्रलोक, चन्द्रलोक तथा सत्यलोक भी उसे नरक जैसे मालूम पड़ने लगे; सारांश, जिसमें इतना असीम वैराग्य उत्पन्न हो जाय उसे विधुक्त ढंग से अपनी विहिताग्नि का विसर्जन करना चाहिये तथा सर्वस्व का त्याग कर संन्यास ग्रहण करना चाहिये। संन्यासग्रहण का वह कल्याणकारी प्रकार यथाशास्त्र तथा सम्प्रदाय के अनुसार श्रीकृष्ण यथार्थ रीति से बता रहे हैं।

इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे।
अग्नीन् स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत्॥ १३॥

यथाविधि आठ श्राद्ध कर तथा प्रजापत्य नाम की इष्टि कर मुझ भगवन का यजन कर ऋत्विज को सर्वस्व का दान करें। मुख्य रूप से मूर्त्त जो अग्नि है उसकी अपने हृदय में स्थापना कर, आशा पूर्ण रूप से छोड़कर संन्यास दीक्षा ग्रहण कर इच्छारहित हो जाना चाहिए। संन्यास ग्रहण करते समय अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं, उन सबको ठुकरा कर संन्यास ग्रहण करना चाहिये।

विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिणः।
विघ्नान् कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात् परम्॥ १४॥

ब्राह्मण जब संन्यास लेने लगता है तो समस्त देवतागण अनेक स्त्रियों का रूप लेकर विघ्न उत्पन्न करने लगते हैं। इसका कारण यह है कि देवताओं का पशु जो मनुष्य है, वह हमेशा देवताओं को बली देता रहता है तथा उनके अधीन होकर रहता है। अगर वह संन्यास ले ले तो वह हमें देवताओं को भविष्य में बलि नहीं देगा, इतना ही नहीं बल्कि हमारे सिर पर पैर रखकर ब्रह्मपद भी ले लेगा। यह सोच कर देवतागण सदा उसके लिये विघ्न उपस्थित करते रहते हैं। ऐसी अवस्था में वैराग्य के बल पर विघ्नों को लात मार कर समस्त देवताओं को एक ओर हटा कर संन्यास ग्रहण करना चाहिये। ऐसे वैराग्य से सम्पन्न तथा विवेकज्ञान से अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुष विधि से संन्यास लेकर पूज्य बन जाता है। इस प्रकार संन्यास ग्रहण करने के बाद उसे विधिपूर्वक कैसा आचरण करना चाहिये इस बारे में नारायण संन्यासी का स्वधर्म लक्षण स्वयं बता रहे हैं।

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम्।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किं चिदनापदि॥ १५॥

प्राणिमात्र को अभयदान देने के लिये संकल्पपूर्वक प्रेमोच्चार करने के बाद उसका देहमात्र दिखाई देता है। शेष सभी चीजों का उसने पहले से ही त्याग किया रहता है। जो गुरुवाक्य श्रवण के बाद सहज ब्रह्मस्वरूप हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जाता है और देहबुद्धि का घेरा उड़ जाता है तथा कर्म का बन्धन भी टूट जाता है, उससे शास्त्रविधि के अनुसार आचरण करने की बात भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि हाथ में मक्खन आ जाने पर खाली मट्ठा कौन मथता रहता है? कपूर अग्नि में मिलने पर वह पुनः लौट कर नहीं आयेगा। इस प्रकार गुरुवाक्य श्रवण से जो ब्रह्मरूप हो गया उस पर विधि निषेध का कोई नियंत्रण नहीं रह जाता। लेकिन यदि सचमुच गुरुवाक्य से उसकी ऐसी अवस्था न हुई तो वो उसका आचरण सुनो। गुरुवाक्य का मनन करते समय यदि नग्न रहने में लज्जा आती हो तो लिंग को ढँकने के लिये कौपीन का प्रयोग करें और यदि उससे निर्वाह होता न लग रहा हो तो किसी योग्य कपड़े के टुकड़े का प्रयोग करना चाहिये। जब तक दण्ड और कमण्डल रहता है तब तक कौपीन भी अंगवस्त्र के साथ रहता है और जब दण्ड का त्याग हो जाता है तो उस समय उसके साथ कपड़े का भी त्याग होता है। संन्यासी यदि विपत्ति में हो अथवा किसी रोग से ग्रस्त हो या वृद्धावस्था के कारण देह जर्जर हो गया हो तो उसे जो वह माँगे दिया जाय। गुरुवाक्य का श्रवण-मनन कर जो साधना करता है उस साधक का लक्षण श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं।

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ १६॥

भूमि पर दृष्टि रखकर, पवित्र जमीन देखकर जो आत्मवृत्ति का अनुसंधान कर हंसगति से चलता है, कहीं राह में जीव दिखायी दे तो प्राण जाने पर भी आगे नहीं बढ़ता, उस जीव को एक ओर हटाकर ही पैर अत्यन्त निर्मल स्थान पर रखता है। गंगाजल वैसे भी पवित्र है लेकिन उसे भी वस्त्र से छानकर वे उसे निर्मल बनाकर पीता है। जिसकी वाचा के द्वार पर एकत्र असत्यरूपी कचरा वैराग्यरूपी अग्नि से जलाकर वहाँ सत्य का कल्पवृक्ष लगाता है। उस कल्पवृक्ष के वचनरूपी फल अत्यन्त रसीले तथा परिपक्व, मधुर रस से सने हुए, अत्यन्त निर्मल तथा मधुर रहते हैं। उसे श्रवण से चखने पर अत्यन्त मधुर, श्रोताओं की इच्छा तृप्त करने वाली तथा जीव की इच्छा पूर्ण करने वाली होती है। 'सत्यपूत' अर्थात् सत्य से पावन होने वाली वाणी यही है। संन्यासी का स्वाभाविक ध्यान अर्थात् 'नारायण' मैं ही हूँ। इस भावना को दृढ़ कर मन पवित्र करना चाहिये। मन को पवित्र कर पृथ्वी का पर्यटन करना चाहिये, सर्वत्र आत्मस्वरूप देखना यही मन की पवित्रता है। संन्यासी के धर्म का मुख्य लक्षण यही है कि अंतःकरण पवित्र कर सर्वत्र नारायण स्वरूप की ही भावना धारण की जाय। उद्धव! इसी का नाम मन की पवित्रता है। त्रिदंड संन्यासी का क्या लक्षण होता है, यह भी सुनो।

मौनानिहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम्।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः॥ १७॥

मौन या सत्यभाषण अथवा श्रीराम का नामस्मरण अथवा ओंकार का उच्चार, इसी का नाम है वाग्दण्ड। शरीर की जो भी कुछ हलचल है वह सब प्राण की शक्ति से होती है। उस प्राण का प्राणायाम से निरोध करें। प्राणायाम से प्राणों को जीत कर अपने नियंत्रण में रखो। इसका नाम है 'देहदण्ड'। अब मनोदण्ड का लक्षण सुनो। संकल्प और विकल्प यही मन की चपलता है। उसका छेदन करने के लिये ब्रह्मस्वरूप का अनुसंधान करें। मेरा रूप सर्वव्यापी है, उस पर दृढ़ भावना से चित्त धारण करने से संकल्प-विकल्प के कारण मन जिधर भी जाता है वहाँ मेरा स्वरूप रहता ही है। इस प्रकार मन को सावधान रखने तथा ब्रह्मस्वरूप का अनुसन्धान लगने से संकल्प-विकल्प अपने आप ही क्षीण हो जाते हैं। काया, वाचा और मन इस त्रिदण्ड का सारा लक्षण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मैंने तुम्हें बताया। इसी के योग से सच्चा संन्यास प्राप्त होता है। ये तीनों दण्ड न हों तो केवल बाँस का दण्ड लेने से संन्यास प्राप्त नहीं होता। केवल दंभ के लिये संन्यास लेना शुद्ध देह की विडम्बना है। अब संन्यासी का स्वधर्मयुक्त आहार विहार, आचार-विचार, आना-जाना आदि कैसा हो इसके बारे में श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं।

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्जयंश्चरेत्।
सप्तागारान्संक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता॥ १८॥

पहले संन्यासियों को चारों वर्णों में भिक्षा थी। लेकिन कलियुग में ब्राह्मणों में ही चार वर्ण हो गये। जिस वृत्ति के योग से ब्राह्मण का उदरनिर्वाह होता है, वही उस ब्राह्मण का वर्ण होता है। इसलिये उसे भी सुनो। जीविका के प्रकार बताता हूँ। ब्राह्मण की उपजीविका की मुख्य वृत्ति है शिल उंछ अथवा कोरान्न; उसी प्रकार अयाचित, अध्यापन अथवा याजन ये भी उपजीविका के साधन हैं। जो उपजीविका के लिये हाथ में शस्त्र लेकर शूरवृत्ति से अपना निर्वाह करता है उसे ब्राह्मणों में 'क्षत्रिय' समझा जाय। जो नित्य वणिक का व्यवसाय कर अपनी उपजीविका चलाता है वह सचमुच ब्राह्मणों में वैश्य है और जो शूद्र की वृत्ति पर ही सदा अपनी उपजीविका कमाता है वह अपने कर्म के कारण शूद्र है। जब 'उत्तम' ब्राह्मण से भिक्षा नहीं मिलती तब क्षत्रिय वृत्ति से रहने वाले ब्राह्मण से भिक्षा लेनी चाहिये। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों ब्राह्मणों में भिक्षा न मिलती हो तो शूद्रवृत्ति पर निर्वाह करने वाले ब्राह्मण के घर भिक्षा माँगने का अधिकार है। उन ब्राह्मणों में भी जो निंद्य हो, अपराधी या बहिष्कृत हों तो उनकी भिक्षा को हाथ नहीं लगाना चाहिये। यही भिक्षा का धर्म है। भिक्षा लेनी है उसे नियमपूर्वक लें। किसी को पता न लगने दे कि मैं भिक्षा लेने आ रहा हूँ। गिन कर सात घर से ही भिक्षा लेनी चाहिये और उसमें जो मिले उसमें सन्तुष्ट रहना चाहिये। अब सात घरों में जो भिक्षा मिलेगी, उस भिक्षा का स्मृतिशास्त्र में विहित धर्म क्या है उसे श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं।

बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः।
विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम्॥ १९॥

मिली हुई भिक्षा हाथ में लेकर गाँव के बाहर नदी के तट पर अथवा सरोवर के किनारे जाएँ और आचमन करें। भिक्षा माँग कर लाये हुए अन्न का बारह प्रणव मंत्रों से अभिमंत्रण करें। मंत्रोदक से प्रोक्षण करने पर वह अन्न पवित्र होता है। फिर उस अन्न के चार भाग करें। ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य और जीवमल इस प्रकार उसके चार अधिकारी हुए। उन्हें वह कैसे अर्पण किया जाय, सुनो। विष्णु प्रीत्यर्थ जो भाग निकाला हो उसे पानी में डालें और जीवों के लिये जो भाग निकाला हो उसे ठीक ढंग से जमीन पर रखना चाहिये। जो दो भाग रह गये उसे सेवन करने का संन्यासी को अधिकार है। या अगर उतने में कोई गरीब माँगने आ जाय तो भूतदया की दृष्टि से उसे तत्काल अन्न देना चाहिये। लेकिन मैं एक अन्नदाता हूँ ऐसी वृत्ति मन में नहीं उठने देनी चाहिये। दाता का अभिमान होते ही वह संन्यासव्रत में अधर्म ही समझना चाहिये। कोई गरीब रोज ही अन्न माँगने आता है इसलिये उसके लिये मधुकरी में अधिक अन्न नहीं माँगना चाहिये। मधुकरी का अन्न भक्षण करते समय यदि अन्न बच जाए तो उसे फेंकने में दोष लगता है। इसलिये उसका पूरा भक्षण करना चाहिये। लेकिन संन्यासधर्म में सदा लघु आहार ही करना चाहिये। अधिक भोजन करने से अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। निद्रा और आलस्य का अत्यधिक कष्ट होता है। अब जिसके लिये संन्यासधर्म ग्रहण किया जाता है, वह संन्यासी का मुख्य धर्म है जिससे आत्मपद की प्राप्ति होती है उसके बारे में श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः॥ २०॥

सदासर्वदा शरीर में परिपूर्ण वैराग्य, वह किसी मित्र या सखा की इच्छा नहीं करता। मन से निःसंग होकर पृथ्वी पर आनन्दपूर्वक विचरण करता रहता है। इन्द्रियों को चित्त के पग से बाँध कर चित्त को चैतन्य में स्थिर करता है। इससे उसे सर्वत्र चिन्मय स्वरूप ही दिखायी देने लगता है। देह में देहत्व का स्मरण नहीं होता। आत्मस्थिति का उद्यम ऐसा ही होता है, इससे उसे आत्मक्रीड़ा में ही आराम मिलता है। अब आत्मसुख का उत्साह और श्रेष्ठ अनुभव कैसा होता है, उसे सुनो। आत्मस्थिति से निजात्मयुक्त होने के कारण वह आत्मानंद में ही निमग्न रहता है तथा सर्वत्र ऐक्यभाव से डोलते रहकर वह समरस से भर जाता है। ऐसे समत्वसुख का लाभ मिल सके इसलिये वह सदा एकान्त में ही अकेला रहता है। यही बात श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः।
आत्मानं चिन्त्येदेकमभेदेन मया मुनिः॥ २१॥

पवित्र और निर्जन, विस्तृत तथा एकान्त स्थान देखकर वह सद्भक्ति से सदासर्वदा मेरा ध्यान करे। ऐसे साधक को संसार दुःख में लीन हुए लोगों का साथ छोड़ कर निरन्तर एकान्त में ही रममाण होकर रहना चाहिये क्योंकि मद्भावयुक्त रहने से साधकों को आत्मसुख की प्राप्ति होती है और जिसे आत्मसुख की प्राप्ति हुई वह अनन्यभाव से मेरी शरण में आता है। उसे इस संसार में मेरे सिवा अन्य किसी बात में अर्थ ही नहीं दिखायी देता। इस प्रकार मेरा अनन्य ध्यान करने से साधक 'मैं' और 'तू' का दूजापन भूल जाता है। भेदभाव नष्ट हो जाने के कारण वह चैतन्यधन मत्स्वरूप होकर ही रहता है। मेरे उस स्वरूप की ऐसी स्थिति रहती है कि आत्मदृष्टि से देखने पर 'न मैं हूँ', 'न वह है' ऐसी स्थिति हो जाती है। इसी स्थिति को अभेद प्राप्ति कहते हैं। जब तक द्वैतभावना रहती है, तब तक साधक को संसारमय की बाधा रहती है। एक बार अभेद भावना प्राप्त होने पर साधक निर्भय हो जाता है क्योंकि अभेद भावना जहाँ रहती है वहाँ बन्ध और मोक्ष की बात ही नहीं रह जाती। अब जहाँ बन्ध और मोक्ष की गर्जना चलती रहती है उसके बारे में श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया।
बंध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः॥ २२॥

ऐक्यस्वरूप पर पहुँच कर एकात्मा प्राप्त होने के बाद बंध मोक्ष की ओर देखने पर वे दोनों मायिक और मिथ्या लगने लगते हैं। बन्ध और मोक्ष ये दोनों मनुष्य की प्रवृत्ति में ही होते हैं। इन दोनों में भेद यही है कि इन्द्रियों की विषयासक्ति का नाम 'दृढ़बन्धन' है और हे उद्धव! काया, वाचा तथा मन से विषयों की शुद्ध विरक्ति यही वास्तव में मुक्ति है। इसीलिये जिसे सचमुच ही मुक्ति की इच्छा है उसे विषयों की निवृत्ति करनी चाहिये। कृपामूर्ति श्रीकृष्ण मुख्य रूप से इसी का उपाय बता रहे हैं।

तस्मान्नियस्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः।
विरक्तः क्षुल्लकामभ्यो लब्ध्वाऽऽत्मनि सुखं महत्॥ २३॥

इस दृष्टि से विचार करें तो जिस विषयासक्ति से दृढ़तर बन्धन प्राप्त होता है; उन विषयों का ही यदि त्याग करें तो 'मुक्ति' सहज सिद्ध है। लेकिन वह विरक्ति हमें कैसे प्राप्त हो? इसके लिये साधक को ऐसा प्रयत्न

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करना चाहिये जिससे वैराग्य उत्पन्न हो। अंत:करण में वासना दृढ़मूल रहती है; उसमें विषयरूप शाखायें फूटती हैं जो काफी संख्या में बढ़ती है, इसलिये उस वासना को ही समूल नष्ट करने के लिये कठोर वैराग्य की साधना करनी चाहिये। स्वधर्म कर्म करके वह मुझे अर्पण करना चाहिये, यही वैराग्य प्राप्ति का मुख्य साधन है। कर्म करके उसका कर्त्तापन छोड़ देना इसी का नाम मदर्पण है। मदर्पण बुद्धि से कर्म करने पर मुझसे प्रेम उत्पन्न होता है। चित्त में मेरा ही नाम, मेरी ही कीर्ति और मेरा ही चिन्तन होने लगता है। इस प्रकार मेरे प्रति प्रेम का उदय होने पर वैराग्य उत्पन्न होता है और इस प्रकार विषयों से विरक्ति होकर धीरे-धीरे मेरे सुख की प्राप्ति होती है। मेरे सुख के कारण मेरा भजन बढ़ने लगता है और सर्वत्र मेरी ब्रह्मत्व से पूर्ण भावना अंकित होती है। इसलिये सर्वत्र एक ब्रह्म ही भरा हुआ है ऐसी भावना धारण कर, ब्रह्मसुख पर दृष्टि रखकर जब तक मन वानसारहित न हो जाय तब तक पर्यटन करते रहना चाहिये।

पुरग्रामव्रजान् सार्थान् भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत्।
पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम्॥ २४॥

अच्छे-अच्छे पुण्यक्षेत्रों में जाकर पृथ्वी पर्यटन करना चाहिये। पवित्र कुरुक्षेत्र, अत्यन्त पवित्र सात पुरी (अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवंतिका, जगन्नाथपुरी तथा द्वारका) पुष्कर, प्रयागराज आदि तीर्थ, कृतमाला, पयस्विनी, पुण्यस्वरूप ताम्रपर्णी, गोदावरी, नर्मदा, त्रिवेणी, परमपवित्र गोमती; कृष्णा, वेण्या, तुंगभद्रा, तापी, पयोष्णी, चंद्रभागा, यमुना, भागीरथी, नीरा अथवा गंगा समुद्र से जहाँ मिलती है, वह संगम। ऋष्यमूक, श्रीशैल, व्यंकटाद्रि (व्यंकटगिरी) मूलपीठ का सह्याद्रि अथवा गौतमी के तट का ब्रह्मगिरी आदि की यात्रा करने से सारे पातकों का संहार होता है। इसलिये मुनिश्रेष्ठों को वह यात्रा अवश्य करनी चाहिये। दण्डकारण्य नाम का बड़ा अरण्य, नैमिषारण्य, आनन्दवन (काशी के निकट) आदि वनों में संन्यासी को अवश्य जाना चाहिये। च्यवन, कपिल तथा न्यास के आश्रम, गौतम और वामन के उत्तम आश्रम, उसी प्रकार सारे श्रम का परिहार करने वाली बदरिकाश्रम की यात्रा, ऐसे जो पवित्र स्थल हैं वहाँ संन्यासी को अवश्य जाना चाहिये। अब मार्ग में भिक्षा के लिये कहाँ जायें इसके सम्बन्ध में भी बताता हूँ। जहाँ उत्तम से उत्तम बाजार और रास्ते होते हैं, उसे ज्ञानी लोग 'पुर' अथवा शहर कहते हैं। जिस गाँव में बड़ी-बड़ी सड़कें और बाजार न हों उसे 'ग्राम' कहते हैं। वहाँ जाकर भिक्षा का रोज का व्रत पूरा करना चाहिये। गौ तथा ग्वाले जहाँ रहते हैं उसे 'व्रज' अर्थात् 'ग्वालों का बाड़ा' कहते हैं। उसी प्रकार 'साय' अर्थात् 'प्याऊ' जहाँ हो वहाँ अथवा यात्रिक जनसमूह में भिक्षा के लिये घूमते रहना चाहिये। इसी बात का निरूपण स्वयं श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत्।
संसिध्यत्याश्वसम्मोहः शुद्धसत्वः शिलान्धसा॥ २५॥

अंत:करण शुद्ध करने के लिये वानप्रस्थाश्रम में जो पुरुष हो, उसके द्वार पर भिक्षा के लिये बड़े आदर के साथ खड़े हो जाना चाहिये। सात्विक के अन्न का सेवन करने से साधक के शरीर में भी प्रत्येक ग्रास के साथ शुद्ध सात्विकता उत्पन्न होती है। ऐसे शुद्ध अन्न की महिमा है। इसके लिये वानप्रस्थ का द्वार देखकर वहाँ बार-बार जाना चाहिये। इससे साधकों की निरन्तर शुद्धि होती है। शुद्ध भिक्षा मिलने पर वृत्ति भी सत्त्वशुद्ध होती है और इससे वासना भी नि:शेष होकर आत्मशांति प्रकट होती है। नि:शेष वासना समाप्त होने पर उसे सत्यवत्व से संसार दिखायी ही नहीं देता। फिर विषय वासना कहाँ रहेगी? उस समय अर्थात् ही वैराग्य उत्पन्न होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नैतद्वस्तुतद्या पश्येद्दृश्यमानं विनश्यति।
असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षितात्॥ २६॥

इस लोक में जो भी कुछ दिखायी देता है, उसका नाश होता है यह सबको दिखाई देता है लेकिन विषय के वश में रह कर तथा उसमें लिप्त होकर लोग कैसे छलावे में पड़े रहते हैं। इसके लिये शुद्ध भिक्षा की प्राप्ति से जिसकी वृत्ति शुद्ध सत्त्वात्मक हो गयी है उसे सत्यत्त्व के कारण विषय दिखायी ही नहीं देते, फिर विषयासक्ति कैसे होगी? इस प्रकार विषय का मिथ्या होने का जिसे भान होता है, उसका मन विषयासक्त नहीं होता। इसलिये संसार के अथवा स्वर्ग के साधनों को वह स्पर्श ही नहीं करता। इस प्रकार जो विषय से विरक्त रहता है, उसी का चित्त परमार्थ की ओर लगा रहता है और वह निजबोध से परमार्थयुक्त होकर संसार में अनासक्त होकर विचरण करता रहता है। उसके निजबोध का लक्षण अथवा प्रपंच का मिथ्यापन तथा आत्मस्वरूप से आने वाले समाधान के बारे में श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक् प्राणसंहतम्।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत् स्मरेत्॥ २७॥

मन, वाणी और प्राण इनके प्रवाह में अहंकार ने उत्पन्न किये हुए देह तथा अन्य संसार आत्मा को मिथ्या और मायावी है ऐसा ही भास होता है। रस्सी में सर्प का भास सीप में चाँदी का आभास तथा धूप में मृगजल का जिस प्रकार भास होता है, उसी प्रकार चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप में संसार का भास होता है। स्वप्न की बातें जिस प्रकार मालूम होती है वैसा ही यह चराचर दिखायी देता है और इस प्रकार यह सारा मिथ्या है ऐसा विश्वास होने पर स्मरण के सम्बन्ध में कोई आदर नहीं रह जाता। जो अच्छी तरह जग जाता है उसका मन स्वप्न के सुख की इच्छा नहीं करता; उसी प्रकार स्वस्वरूप में जिसका मन स्थिर हो जाता है वह किसी भी प्रपंच की वस्तु का स्मरण नहीं करता। इस प्रकार 'त्रिदंडी' और 'बहूदक' यह संन्यासियों का कर्म तुम्हें सुगम करके बतलाया। अब 'हंस' और 'परमहंस' के धर्म भी तुम्हें क्रमानुसार बताता हूँ। संन्यास भी चार प्रकार का है यह ध्यान में रखो। एक 'हंस' और दूसरा 'परमहंस', तीसरा 'बहूदक' तथा चौथा जो पहले से भिन्न है, वह 'कुटीचक' कहलाता है। कर्म का त्याग कर जो संन्यासी बना लेकिन मन में न ध्यान है, न ज्ञान है और अन्न के लिये अपने गाँव में ही रहता है, उसे 'कुटीचक' कहते हैं। कुटीचक में संन्यासी वार्धक्य में 'अग्निहोत्र' और स्त्री का त्याग करता है किन्तु शिखासूत्र नहीं त्यागता इसलिये उसे गायत्री मंत्र का अधिकार रहता है। नित्य पुत्र के ही घर भिक्षा लेता है, उसके ही घर में पर्णकुटी बाँधता है और मठी छोड़कर दूर कहीं नहीं जाता इसलिये उसका नाम 'कटीचक' है। शिखासूत्र का त्याग कर, त्रिदण्डी ग्रहण कर, केवल कर्माचरण करता है; लेकिन ज्ञान बिलकुल नहीं होता। न निस्सीम वैराग्य रहता है; ज्ञान पर निष्ठा भी अच्छी नहीं रहती लेकिन वह अत्यन्त कर्मठ रहता है। वही 'बहूदकां' में श्रेष्ठ माना जाता है और वैराग्य के निश्चय से ज्ञानसाधना का विचार करने वाला; शिखासूत्र तथा कर्म का त्याग कर आत्मचिन्तन पर ही जिसकी श्रद्धा रहती है उसे 'विविदश' संन्यास कहते हैं और जो इस प्रकार दृढ़ निष्ठा से आचरण करता है, उसे 'हंस' कहते हैं। कुछ लोग इन्हें 'परमहंस' भी कहते हैं। अब 'परमहंस' का लक्षण सुनो। वह ज्ञाननिष्ठा से परिपूर्ण रहता है इसलिये उसके द्वार पर 'शान्ति' भी चाकरी करती है। वह तीनों गुणों को मिथ्या मानता है। कर्म की बात वह मिथ्या ही मानता है और वह स्वयं निष्कर्म ही है यह वह जानता है। उसी प्रकार कर्म, क्रिया और कर्त्तव्यता यह प्रारब्ध के अनुसार प्रकृति पर ही निर्भर है। ऐसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्थिति में जो समाधान में रहता है उसे 'परमहंस' कहते हैं। उसे मठ, मठी आदि की आवश्यकता नहीं होती। वह नित्य उदास तथा निराश्रय में रहता है। अब हे उद्धव! उस हंस-परमहंस के धर्म तथा उसके मर्म का सुगमता से वर्णन करता हूँ, सुनो। इतना कह कर श्रीकृष्ण स्वयं कहने लगे।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥ २८॥

जिसे विषय की वार्ता भी अच्छी नहीं लगती, ज्ञानप्राप्ति के लिये जो उद्यत रहता है, ऐसे अत्यन्त विरक्त को 'संन्यासी' कहते हैं। वह ज्ञाननिष्ठा से अत्यन्त सम्पन्न रहता है, उसका सदा मन स्वरूप में लीन रहता है। उसका आत्मस्वरूप का अनुसन्धान कभी नहीं टूटता। यह हंस भी परमहंस की ही तरह है। भगवद्भक्ति करते-करते उसकी सारी इच्छाओं की शान्ति हो जाती है। उसके मन में मोक्ष की भी इच्छा नहीं रहती। वही संन्यास पद्धति सबसे उत्तम है। जो ज्ञाननिष्ठ मेरे भक्त होंगे, उन्हें दंडादिक आश्रमधर्म का अंतःकरण से त्याग करना चाहिये और केवल बाह्य चिह्न लोकशिक्षा के लिये रखने चाहिये। इसी बात का निरूपण श्रीकृष्ण आगे करने वाले हैं। फिलहाल त्याग के लक्षण सुनो, ऐसा श्रीहरि ने कहा। वह आश्रमधर्म, सभी करता है लेकिन विधि का दास बनकर नहीं रहता। जल में प्रतिबिम्ब भले ही काँप रहा हो लेकिन बाहर का बिम्ब नहीं काँपता। उसके अनुसार स्वधर्म कर्म कर्तव्यता का पालन वह करता है लेकिन उसकी कर्मठता नहीं स्वीकारता। अपने सभी कर्मों में वह अपनी कर्मातीतता अच्छी तरह जानता है। इस प्रकार वह स्वधर्म कर्म करता है लेकिन विधि का भय मन में नहीं रखता। विधिनिषेध को पैरों तले रौंद कर वह बिना किसी उद्देश्य के कर्म करता है। अपने आश्रमकर्म को स्पर्श नहीं करता और दण्डादि चिह्न भी हाथ में नहीं रखता। ऐसे सर्वस्व त्याग का लक्षण श्रीकृष्ण आगे बताने वाले हैं। केवल लोकाचार के लिये वह दण्डादि चिह्न हाथ में धारण करता है और अंतःकरण में निष्काम रहता है। उसी का लक्षण श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद् विद्वान् गोचर्या नैगमश्चरेत्॥ २९॥

उसमें शुद्ध विवेकज्ञान रहता है, लेकिन वह बालक की तरह व्यवहार करता है। देहाभिमान त्याग कर मान अथवा अपमान जो भी प्राप्त हो उसे सुख के साथ सहन करता है। वह अपने नैष्कर्म्य में अत्यन्त प्रवीण रहता है; लेकिन कर्मठ की तरह वह सारे कर्मों का आचरण करता है, कहीं किसी बात की कमी दीखने नहीं देता। धर्म का और अधर्म का लक्षण वह अच्छी तरह जानता है, सभी बातों में वह ज्ञानसम्पन्न रहता है, लेकिन यदि कोई प्रश्न करे तो उसका समाधान नहीं करता। किसी अज्ञानी की तरह वह कुछ तो बकता रहता है। प्रश्न का समाधान करने पर कहीं लोग मेरा मान-सम्मान न करें, इसलिये जानबूझ कर मतवाले की तरह बोलता रहता है। वेद का अर्थ तथा निहित शास्त्रों का अर्थ वह जानता रहता है लेकिन लोगों में उसका प्रदर्शन नहीं करता है। इतना ही नहीं, अपितु लोग उसे मूर्ख कहें इसके लिये वह अपनी पशुतुल्यता प्रदर्शित करता है। वह वेदवाद-संवाद-विवाद कुछ नहीं करता, व्यर्थ का वितंडावाद भी नहीं करता। यही बात स्वयं श्रीकृष्ण स्पष्ट करके बताते हैं।

वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः।
शुष्कवाद विवादे न कंचित् पक्षं समाश्रयेत्॥ ३०॥

निजात्म बोध में पक्का होने के कारण वह मीमांसकों का अभिप्राय, कर्मकाण्डों का शास्त्रार्थ अथवा कर्म

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सम्बन्धी नानाप्रकार के विवाद वह नहीं करता। जिसे आत्मानंद का अनुभव होता है, वह तर्कशास्त्र के अनुसार तर्क, वितर्क अथवा कुतर्क प्रारम्भ कर विवाद नहीं करता। प्रख्यात वितंडवादी जो मुँह से ब्रह्मज्ञान की गर्जना करते हैं और मन में विषयवासना भरी रहती है वही वास्तव में पाखंडी है। सचमुच ब्रह्म का अनुभव न रहते हुए जो पुरुष अपना आचार त्याग देता है, वह शुद्ध पाखण्डी, अपना पेट भरने वाला तथा दुष्ट स्वरूप का मनुष्य है। जिसकी वाणी में वाद-विवाद का मैल नहीं है वही आत्मज्ञान से निर्मल रहता है। 'शुष्कवाद' अर्थात् निरर्थक बकवास से भी वाद उत्पन्न होता है जो आत्मज्ञानी होता है वह ऐसे वाद-विवाद की बातें देखना भी नहीं चाहता। फिर वह स्वयं ऐसे विवादों में उलझे यह तो सम्भव ही नहीं है। शास्त्रार्थ चल रहा हो और युक्ति-प्रयुक्ति से पक्ष, विपक्ष पर साधार बहस चल रही हो तो भी वह किसी का पक्ष नहीं लेता। सच्चाई वह जानता है, लेकिन मुँह से कुछ नहीं कहता। श्रुतिस्मृति के विरोध में चल रहा वितंडावाद वह देखता रहता है और सही पक्ष क्या है, यह भी वह जानता है, फिर भी वह किसी के भी समर्थन में नहीं बोलता। वाद-विवाद में बोलने से किसी के मन पर आघात होगा या अपने ही अंत:करण में क्रोध उत्पन्न होगा इसलिये वह एक भी शब्द नहीं बोलता।

नोद्विजेत जनाद् धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचनं।
देहमुद्दिश्य पशुवद् वैरं कुर्यान्न केनचित्॥ ३१॥

जो ज्ञाता है वह लोगों के प्रति मन में उद्वेग नहीं रखता। कोई निन्दा करता है, कोई तिरस्कार करता है, कोई अपमान करता है, फिर भी वह आत्मस्थिति से उसे स्वयं सहन करता है। लोग जो भी उपद्रव देते हैं उसे वह इस प्रकार सहन करता है। प्राणिमात्र में एक ही आत्मा भरा हुआ है, ऐसी उसकी भावना होने के कारण उसे उसका दु:ख नहीं होता। अपने ही अवयव से कोई प्रमाद हो जाने पर जिस प्रकार चित्त में उद्वेग नहीं होता, उसी प्रकार समस्त प्राणियों में एकात्मा की ही भावना होने के कारण वह उससे दु:खी नहीं होता। उसी प्रकार उसके संसर्ग से प्राणिमात्र को उद्वेग नहीं होता, उल्टे जीवमात्र को सुख ही होता है। समस्त प्राणियों में भगवान का वास होने के कारण कहीं उसे कष्ट न हो इसलिये हाथ-पैर हिलाते समय वह काफी सावधान रहता है। जोर से पुकारने से कहीं भगवान चौंक पड़ेंगे या जप की माला जोर से घुमाने से कहीं भगवान के सिर पर चोट लगेगी इसलिये हाथ-पैर की चेष्टाओं को निजात्मनिष्ठा से नियंत्रित कर वह प्राणी को भी धक्का नहीं लगने देता। भूतात्मा सभी भूतों में भरा हुआ है यह जानकर वह जोर से भाषण भी नहीं करता फिर वितंडवाद में वह मुँह किस तरह खोलेगा? अपने प्राणों पर भी संकट क्यों न आये लेकिन उससे किसी का अपमान नहीं होता। कोई भी जीव क्यों न हो लेकिन उसका अपमान नहीं करना है, क्योंकि समस्त प्राणिमात्र में श्रीहरि ही विराजमान हैं यह उसे दिखायी देता है। ज्ञाता को जनता से कोई उद्वेग नहीं होता और ज्ञाता से जनता को भी कभी उद्वेग नहीं होता। जिसकी ऐसी आत्मस्थिति रहती है वह किसी से बैर नहीं करता। इसी अर्थ का भाषण श्रीकृष्ण सुना रहे हैं।

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च॥ ३२॥

केवल पशु जैसे देह का अहंकार कर वह किसी से बैर नहीं करता। उसके बारे में भी सुनो। ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रकृति से परे रहता है, वही सारे प्राणियों का आत्मा है और मुझमें भी वही रहता है, यही सोच कर वह एकात्मा का निर्वाह करता है। सचमुच, जब मेरा ही आत्मस्वरूप प्राणिमात्र में भरा हुआ है तो उसे अपना कौन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और पराया कौन? और बैर भी किससे करना? सभी प्राणियों में एक ही आत्मा किस तरह है इसी बात का दृष्टांत भगवान श्रीकृष्ण दे रहे हैं और उद्धव श्रोता बनकर अत्यन्त सावधान चित्त से श्रवण कर रहा है।

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित्।
लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम्॥ ३३॥

हजारों गागरों में पानी भरा हो लेकिन उसमें एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब रहता है; उसी प्रकार समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा भरी हुई है। प्राणियों की आकृतियाँ भिन्न-भिन्न दिखायी देती हैं, लेकिन परम कारण से वे अभिन्न हैं। जिस प्रकार अलंकारों के सुवर्ण में भेद नहीं होता अथवा मिट्टी के गोकुल (नंद, यशोदा, कृष्ण आदि) बनाएँ तो निराले आकारों में भी वे पूजा के योग्य होते हैं, उन सबमें मिट्टी ही भरी होती है। उसी प्रकार भगवान में भी प्राणियों का भास होता है अथवा सूत को बुनकर वस्त्र बनाने पर उससे साफा, दुपट्टा, साड़ी आदि बनते हैं। उसी प्रकार यहाँ ब्रह्म ही संसार के रूप प्रतिभासित होता है। इस प्रकार चाहे साकार हो या निराकार हो, दोनों ब्रह्म ही है। जिसके ज्ञान का यह निश्चय होता है उसका आहार सुनो। जिस समय खाने को कुछ नहीं मिलता उस समय भी वह दु:खी नहीं होता। वह अन्न के लिये बेचैन नहीं होता। उसका मनोनिग्रह इतना शक्तिशाली होता हैं। उत्तम आहार मिलने पर उसे हर्ष भी नहीं होता क्योंकि वह मानता है कि सारी बातें मनुष्य के कर्म पर निर्भर है। सारांश मिलना या न मिलना ईश्वर के अधीन है इसलिये उसका सुख या दु:ख उसके मन को स्पर्श नहीं करता। प्राणी को जब लाभ भी भाग्य के अनुसार ही मिलता है, तो फिर वह भिक्षा के लिये क्यों घूमता है? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं।

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम्।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद् विज्ञाय विमुच्यते॥ ३४॥

आश्रमधर्म का पालन करने के लिये भिक्षा के लिये अवश्य घूमना चाहिये। संन्यासी के धर्म के लिये मधुकरी अत्यन्त योग्य है। साधकों को भी आहार के लिये अवश्य घूमना पड़ता है क्योंकि आहार के बिना उनका चित्त चंचल होने लगता है। उन्हें रस की आसक्ति छोड़कर भिक्षा का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि आहार के बिना उनका मन सभी अर्थों में क्षीण होने लगता है। आहार के बिना साधकों से श्रवण-मनन नहीं हो सकता। ध्यान-चिन्तन नहीं होता इसलिये अनुसंधान भी नहीं टिकता। संन्यासी का यदि ध्यान न लगे तो उसके आश्रमधर्म का जहाज डूबने लगता है। इसलिये अपने ही हित के लिये उसे भिक्षा के लिये जाना पड़ता है। भिक्षा मिलेगी ऐसी आशा न कर केवल परमार्थ साधने के लिये भिक्षा का ही शौक रखना चाहिये। आहार सेवन करने से साधक को साधन की प्राप्ति होती है, साधन मिलने से ज्ञानप्राप्ति होती है और ज्ञानप्राप्ति से मोक्ष का लाभ होता है। मिष्टान्न की तो कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिये। फिर भीख किसकी माँगनी चाहिये? इसी बात का उत्तर श्रीकृष्ण दे रहे हैं।

यदृच्छयोपपन्नामद्याच्छ्रेष्ठमुताऽपरम्।
तथां वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः॥ ३५॥

रूखा-सूखा या मीठा, जैसा भी सुगमता से मिले, उससे ही प्राण धारण करना चाहिये। जिह्वा की लालच छोड़ देनी चाहिये। निद्रा अथवा आलस्य अपना प्रभाव न दिखाये इस प्रकार का प्राणधारण करें। आसन अथवा ध्यान ठीक तरह से लगे इस ढंग से खायें, इसे मुक्ताहार कहते हैं। पेड़ की छाल अथवा मृगचर्म, नया या पुराना वस्त्र जो भी सुगमता से मिले उसे आनन्दपूर्वक ओढ़ें। कथरी अथवा मुलायम बिस्तर, पुआल या जमीन जो भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुगमता से मिले, उस पर मुनि शयन करते हैं। मैं एक भोक्ता अथवा शयनकर्ता हूँ, यह अहंकार उसमें नहीं रहता। स्नान आदि कार्यों में भी वह निरभिमानी होता है। श्रीकृष्ण बताते हैं।

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्।
अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानीं यथाहं लीलयेश्वरः॥ ३६॥

आचमन, स्नान अथवा प्रातःविधि करते समय वह शास्त्रविधि का दास बनकर नहीं रहता क्योंकि उसका कर्माभिमान ही टूट जाता है। सारांश, जैसे मैं अवतारी हूँ, उसी प्रकार वह भी रहता है। जिस प्रकार मैं अलिप्त होकर सारे कर्म करता हूँ उसी प्रकार योगी भी करता है। जिसके अंतःकरण में विधि का भय नहीं होता वह कभी कर्म करने के लिये नहीं उठता। इसी बात का रहस्य श्रीकृष्ण विस्तार से बता रहे हैं।

न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता।
आदेहान्तात् क्वचित् ख्यातिस्ततः सम्पद्यते मया॥ ३७॥

मेरा दर्शन हो जाने के कारण, कर्म करना अथवा कर्म न करना यह संदेह ही मिट जाता है और संकल्प का प्राण ही निकल जाता है। मुझ परमात्मा को देखते ही संकल्प मन में ही विलीन हो जाता है, लिंगदेह की गाँठ खुल जाती है और भेद की त्रिपुटी का लोप हो जाता है। जिसको भेद का ही भान नहीं होता, उसके देह का पालन-पोषण, स्नान, पान, खाना, भोजन, बैठना-उठना, आना-जाना भी कैसे होगा? जिसने विकल्प के भ्रम को जीत लिया और अद्वैतस्वरूप में मिल गया, उसके देह की स्थिति और चलन प्रारब्ध के ही हाथ में रहता है। वृक्ष समूल उखड़ कर गिर भी जाय, तो भी उसमें आर्द्रता तो रहती ही है। पान खाकर निगल भी लें तो भी उसकी लाली होठों पर रहती ही है। कन्यादान करने के बाद दामाद कन्या को बिदा कराकर ले भी गया लेकिन मान-सम्मान तो रहता है और मरने तक रूठना और मनाना समाप्त नहीं होता। उसके अनुसार अभिमान के कारण मैं जबर्दस्ती कर्मकर्ता बनता हूँ, वह अहंता ज्ञान के बल से समाप्त होती है। फिर भी शरीर प्रारब्ध से चलता है। कुम्हार डंडा और बर्तन लेकर जाता है लेकिन पहिया (चाक) घूमता ही रहता है। उसी प्रकार अभिमान नष्ट होने पर भी प्रारब्ध से देह चलता ही रहता है। उस देह का पालन-पोषण देह ही करता है इसे ध्यान में रखो। ज्ञाता को सचमुच ही प्रपंच का भान ही नहीं रहता। जिस प्रकार देह के पास मिथ्यारूप छाया रहती है, उसी प्रकार ज्ञाता को देह दिखायी पड़ता है। इसीलिये उसे 'देह मैं ही हूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। छाया पालकी में बैठे या विष्ठा पर पड़ी हो, लेकिन उस छाया के अभिमान से पुरुष को उसका कोई सुख या दुःख नहीं होता। उसके अनुसार देह का मान-सम्मान ज्ञानी की स्थिति में बिलकुल बाधक नहीं होता। प्रारब्ध को क्षय होने पर उन्हें विदेह मोक्ष प्राप्त होता है। पानी की लहर जिस प्रकार समुद्र के जल में मिल जाती है उसी प्रकार ज्ञाता मुझमें ही विदेह अवस्था में समरस हो जाता है। जब तक उद्गम-संगम प्रवाह रहता है तब तक नदी के नामरूप की ख्याति रहती है लेकिन प्रलय होने पर वह समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार ज्ञाता मुझमें एकरूप हो जाते हैं। उद्धव! ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त किये हुए संन्यासी कैसे रहते हैं और उनकी स्वधर्म की रीति कैसी होती है इसके बारे में तुम्हें बतलाया। अब मुमुक्षु संन्यासी कैसा होता है, सुनो।

दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्।
अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत्॥ ३८॥

चोटी से मूल तक, जिसके फल उत्तरोत्तर दुःखदायी होते हैं, ऐसे अत्यंक बाधक विषयजाल के प्रति वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनासक्त रहता है; मेरी प्राप्ति के लिये जिसका चित्त सदा उत्सुक रहता है; जो स्वधर्म कर्म पर ही चलता है और वेदशास्त्रों का विचार करता है; ऐहिक तथा पारलौकिक सुख से जिसका चित्त त्रस्त रहता है, ऐसा जो नित्य विरक्त तथा विख्यात मुमुक्षु हो, वह जो ब्रह्मज्ञान साधने के लिये साधनों में मन लगाए और यदि उसका स्वधर्म कर्म विपरीत हो जाय तो उन दोषों के कारण ही उसकी हानि होती है। इसलिये उसे विधिपूर्वक कर्मों का त्याग कर संन्यास ग्रहण कर सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये जिससे उसे श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होगी। लेकिन कई लोग केवल भावार्थी होते हैं। वे स्वधर्म कर्म के प्रकार नहीं जानते। उन्हें शास्त्रश्रवण की भी जानकारी नहीं होती। लेकिन मेरे प्रति उनका प्रेम असीम रहता है। उसे भी संन्यास ग्रहण कर गुरु की शरण में जाना चाहिये। उसे भी गुरुकृपा से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। जिसे गुरु बनायें वह परोक्षापरोक्ष ज्ञान में पारंगत होना चाहिये। अब उसकी सेवा का भावार्थ स्वयं श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

तावत् परिचरेद् भक्तः श्रद्धावाननसूयकः।
यावद् ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः॥ ३९॥

गुरु के प्रति, वह अचल, निर्मल, परा से परे का परमेश्वर, परब्रह्म और ईश्वर है ऐसा विश्वास रखना चाहिये। इस दृढ़ विश्वास की आदत से गुरुचरणों के प्रति अपूर्व लगाव उत्पन्न हो कर भजन में नित नया और अधिकाधिक माधुर्य आने लगता है। इस प्रकार भजन में रुचि उत्पन्न होने पर अंतःकरण में अत्यन्त श्रद्धा उफन आती है, गुरु की आज्ञा का वह रत्तीभर भी उल्लंघन नहीं करता और आलस को झटकार देता है। गुरुवचन के श्रवण के बहाने विकल्प की जड़ काट देता है और संकल्प को सूली पर चढ़ाकर अभिमान का विनाश करता है। उस समय ईर्षा किस तरह सिर उठाएगी? वह भय के मारे वहीं समाप्त हो जाती है। इस प्रकार गुरु के प्रति अत्यन्त श्रद्धा उत्पन्न होती है; वह परब्रह्म दृष्टि से ही गुरु को देखता है। जो निर्गुण और निराकार है वही साक्षात मेरा गुरु है। नित्य और निर्विकल्प जो समाधिसुख है वह मेरे गुरु के चरणों का तीर्थ है। गुरु को इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप से देखने पर शिष्य को भी ब्रह्मस्वरूप की ही पुष्टि प्राप्त होती है। वह सारी सृष्टि को ही ब्रह्मरूप में देखने लगता है और आत्मा की एकता से गुरुचरणों पर गिर जाता है। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप से ऐक्य होने पर भी गुरु की सेवा करनी ही पड़ती है। ब्रह्म से ऐक्य होने पर भी अखण्डत्व के कारण सेवा नहीं टूटती। कर्पूर पानी में डालने पर स्वयं पिघल जाता है लेकिन साथ ही वह जल को भी सुगन्धित कर देता है। उसी प्रकार अहंभाव नष्ट होने पर भी वह सर्वदा गुरुचरणों की सेवा करता रहता है। ऐसी अवस्था प्राप्त न कर केवल मस्तक का मुण्डन करा कर स्वयं को बड़ा संन्यासी कहलाना अनुचित है ऐसा श्रीकृष्ण कहते हैं। संन्यास लेकर जो ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर लेता उसका श्रीकृष्ण धिःकार करते हैं और दोष लगाते हैं।

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीव ति॥ ४०॥
सुरानात्मानमात्मस्थं निहनुते मां च धर्महा।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते॥ ४१॥

कुछ लोग देह में वैराग्य की भावना हुए बिना ही, विषयों के प्रति विरक्ति न होते हुए भी, दूसरों की देखादेखी, केवल अन्न के लिये संन्यास ग्रहण करते हैं। संन्यास लेने के पूर्व अंतःकरण में जो भी वैराग्य था, वह भी संन्यास लेने के बाद तुरन्त चला जाता है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय और छठवाँ मन यही छः शत्रु हैं। उनका निर्मूलन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किये बिना संन्यास लेना केवल विडम्बना है। वैराग्य के अभाव में मन लालची रहता है और बुद्धि विषयलंपट हो जाती है। न ज्ञान, न ध्यान और न साधन केवल उदरभरण के लिये हाथ में दण्ड ले लेते हैं। इसमें अनुताप तो कभी होने से रहा, श्रवण मनन भी कभी नहीं होगा। आदरपूर्वक कभी साधन भी नहीं करते, ऐसे को कभी ब्रह्मज्ञान नहीं होगा, उसका संन्यास व्यर्थ, उसका दण्ड व्यर्थ, उसका मुंडन व्यर्थ, उसके भगवे वस्त्र भी व्यर्थ रहते हैं। वह केवल विदूषक का स्वांग है। संन्यास लेने के बाद काम में उफान आता है, क्रोध और लोभ की आग भड़क उठती है और मन में चौगुना अभिमान उत्पन्न हो जाता है। अधिकाधिक आसक्त होना, सदैव गाँव के लोगों के बारे में उलटी-सीधी और गन्दी बातें करना। दण्ड और कौपीन का उपयोग केवल पाखण्ड के लिये करना। दण्ड ग्रहण करने के लिए ऐसा पुरुष अधिकारी ही नहीं है। संन्यास के बहाने वह अपनी हानि कर लेता है। वह यज्ञ के अधिकारी देवताओं को उलझाता है, स्वधा के अधिकारी पितृगण को उलझाता है, ऋषि और भूतगण को भी उलझन में डाल देता है क्योंकि उसके हाथ से किसी भी वस्तु का बलिदान तो होता ही नहीं है। जीवरूप में मैं परमात्मा स्वयं हृदय में वास करता हूँ लेकिन वह मुझे भी ठगता है। इसलिये जीवों के उद्धार के लिये जो संन्यास ग्रहण किया जाता है वह केवल बन्धन का कारण बन जाता है। संन्यास ग्रहण यह दृढ़ साधन होने के कारण क्यों है? इसका निरूपण स्वयं श्रीकृष्ण करते हैं। कुछ लोग कहेंगे, यह कुछ विचित्र-सा लगता है। वास्तव में यह पहले के श्लोकों के तीन चरणों के अर्थ का ही निरूपण है। श्रोतागण ध्यान देकर सुनें।

संन्यास ग्रहण कर वह ज्ञान, ध्यान आदि साधन नहीं करता, ओंकार का जप भी नहीं करता और विषय के प्रति वैराग्य भी नहीं रखता इसलिये स्त्रियों की अभिलाषा कर वह धन एकत्र करता है और गोदान आदि ग्रहण कर अर्चन अथवा यजन-याजन कराता है। मठाधिपति होने के नाते धनधान्य का लोभ बढ़ाता है और नाना प्रकार के कष्ट सहते हुए, जीवात्मा की हानि होती है। इस प्रकार अधर्म करते रहने से जीव को दृढ़ बन्धन अवश्य प्राप्त होता है और जिस नरदेह के योग से इहलोक और परलोक साधा जाता है उस नरदेह से यह वंचित हो जाता है। चौरासी लाख योनियों के जब असंख्य फेरे होते हैं तब कहीं भाग्यवान लोगों को नरदेह प्राप्त होता है। इस प्रकार उस नरदेह को प्राप्त कर यदि स्वयं ही उसे डुबो दिया और अधर्माचरण किया तो उस संन्यासी को नरक की ही प्राप्ति होगी। अरे! जिसका नाम 'चौथा आश्रम' है और जिसे भगवान भी शिरसावंदन करते हैं, उसमें भी यदि कोई अधर्म करे तो नरक ही जाना पड़ेगा। जिस नरक में करोड़ों वर्ष भी बीत जाएँ तो पता न चले ऐसे नरक में वे डूब जाते हैं। जब प्रमुख चतुर्थाश्रम की यह स्थिति है तो अन्य आश्रमों की क्या बात की जाय? इसलिये श्रीकृष्ण स्वयं उस आश्रमधर्म का उपाय बताते हैं।

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम्॥ ४२॥

संन्यासी के लिये शान्ति प्रमुख है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों का निग्रह होना चाहिये। अहिंसा तो उसका स्वधर्म है। संन्यासी का श्रेष्ठ धर्म यही है। तपप्रधान मंत्रहोम वानप्रस्थ का स्वधर्म है, और तीनों आश्रमस्थों को आश्रय देकर सुख पहुँचाना यह गृहस्थ का कर्त्तव्य है। अग्निहोत्र गृहस्थ के लिये प्रमुख है। उसे संन्यासी को तथा ब्रह्मचारी को अन्न देना चाहिये और प्राणिमात्र का संरक्षण करना चाहिये। उसका मार्ग भी सुन लो। गृहस्थ याचक को यथाशक्ति भोजन, वस्त्र पात्र, रुपया-पैसा, रहने के लिये तृणपर्ण की झोपड़ियाँ बनवा दें और गरीबों की रक्षा करे। अब ब्रह्मचारी का स्वधर्म है श्रद्धापूर्वक गुरु की सेवा करना। उद्धव! इस प्रकार आश्रमधर्म के ये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रमुख लक्षण हैं। गृहस्थाश्रम के लिये जो धर्म बताया गया है उसे अन्य आश्रमधर्मी न करें। किन्तु अन्य आश्रम के कुछ धर्म गृहस्थाश्रम वाले करें तो कोई हर्ज़ नहीं है।

ब्रहमचर्यं तपः शौचं संतोषो भूतसौहृदम्।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम्॥ ४३॥

गृहस्थ को निष्पाप होने के लिये आवश्यक जप और तप करना चाहिये और अंतःशुद्धि तथा बाह्यशुद्धि इन दो शुद्धियों को अवश्य साधना चाहिये। मन की छटपटाहट को छोड़, जितना मिले उतने ही में संतोष मानना चाहिये। सब का सुहृद समझ कर परोपकार करने की इच्छा रखनी चाहिये। गृहस्थाश्रम में भी ब्रह्मचर्य का यही लक्षण है कि केवल ऋतुकाल में स्वस्त्री से रममाण हो। मुख्यरूप से मेरा भजन करना यह सभी का स्वधर्म है। सभी वर्णों को और सभी आश्रमों को यही स्वधर्म है कि विषयों की आसक्ति छोड़ मेरा भजन करें। स्वधर्म से मेरी भक्ति करने पर भक्तों को क्या प्राप्त होता है वह श्रीकृष्ण उद्धव को बता रहे हैं।

इति मां यः स्वधर्मेण भजन्नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढ़ाम्॥ ४४॥

एकनिष्ठा से तथा स्वधर्म से मेरी भक्ति करने से समस्त भूतों में मेरी भावना दृढ़ होती है। सभी प्राणियों में मेरी भावना पैदा होने पर, जिसके पैरों पर चारों मुक्तियाँ गिरती हैं वह मेरी चौथी भक्ति प्रकट होती है। असीम एकनिष्ठा से जिसे मुझसे प्रीति होती है उसे मेरी 'परमभक्ति' प्राप्त होती है और वह उससे और मेरे परमधाम से कल्पांत में च्युत नहीं होता।

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम्।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः॥ ४५॥

उद्धव! पूर्ण सच्चिदानंद स्थिति में, मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ। उसी का नाम मेरी 'परमभक्ति' जान लो। जिस अवस्था में संसार का स्वरूप उलटा दिखायी देने लगता है, दृश्य भी विचित्र दिखायी देता है और सर्वकाल पूर्ण स्वानंद का अनुभव होता है वह मेरी 'चौथी भक्ति' है। उद्धव! जहाँ देवता और भक्त एक हो जाते हैं, ऐक्यस्वरूप में ही भजन होता है, वही मेरी 'परमभक्ति' है। उसके प्रकट होते ही प्रलयांत में भी पतन नहीं है क्योंकि स्वरूप स्थिति में साम्य के कारण साधक मत्स्वरूप को ही पहुँच जाते हैं। उस स्वरूप का लक्षण श्रीनारायण बताते हैं। उत्पत्ति-स्थिति और लय का कारण वह चिदात्मा है जो सबका नियंता ईश्वर है जो विश्वात्मा और विश्वंभर है, जो उपनिषदों का सार है जो महेश्वर है, उस पद तक भक्तगण मेरी 'परमभक्ति' करके पहुँचते हैं। यही बात श्रीकृष्ण स्वानंद से उद्धव को बताते हैं।

इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो नचिरात् समुपैति माम्॥ ४६॥

इस पद तक साधक स्वधर्म स्थिति से आचरण कर पहुँचते हैं। उसी स्वधर्म का कार्यकरण भगवान यथार्थ रीति से बताते हैं। स्वधर्म का अनुष्ठान करने से रज और तम का विनाश होता है और अंतःकरण शुद्ध सत्त्वयुक्त होने पर वहाँ मेरा ज्ञान प्रकाशित होता है और मेरा ज्ञान प्रकाशित होने पर मेरे भजनं का भी विस्तार होता है और भजन का विकास होने पर मन संकल्प-विकल्प का त्याग कर देता है। विकल्प का त्याग होने पर विरक्ति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उभरने लगती है और समस्त प्राणिमात्र में परमात्मा का ही भास होने लगता है और इस प्रकार परमशक्ति का विकास होता है। परमभक्ति का विकास होने पर मेरे भक्त को मत्स्वरूप की प्राप्ति होती है। उसी स्वरूप का लक्षण श्रीकृष्ण यथार्थ रीति से यथाक्रम बताते हैं। परमात्मा परमज्योति, परब्रह्म पंरतप्ती, परात्परप्रकृति, जिसे वेद 'परावर' कहते हैं, वही अज, अव्यय, अक्षर, अरूप, अनाम, अगोचर, अलवृक्ष्य, अतर्क्य, अपार और अनंतस्वरूप, इस क्रम में निज स्वरूप निज प्राप्ति भक्तों को स्वधर्म स्थिति में प्राप्त होती है, 'नेति', 'नेति' कह कर श्रुति भी वहाँ से लौट जाती हैं। (ऐसी स्वरूप स्थिति में भक्त पहुँच जाते हैं) इस प्रकार मत्स्वरूप होने पर संसार की बाड टूट जाती है, नामरूप की बात खत्म हो जाती है और मत्स्वरूप से समरस हो जाने के कारण वे अनायास 'मैं' ही बन जाते हैं। पूर्व में 'मैं' था और अब 'शिव' हो गया हूँ। इसका भी स्मरण नहीं रहता। इस प्रकार का अनुभव मेरे भक्तों को होता है। संसार का अस्तित्व ही जब समाप्त हो जाता है तो फिर उसकी पुनरावृत्ति कैसे होगी? सारांश, स्वधर्म करने से ही मेरी प्राप्ति होती है, इसे ध्यान में रखो। अब स्वयं श्रीकृष्ण ही उस स्वधर्म की महिमा का वर्णन कर रहे हैं। कृपया ध्यान देकर श्रवण करें।

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः।
स एवं मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः॥ ४७॥

अत्यन्त प्राचीन काल से चलता आ रहा स्वधर्माचार, जो सचमुच मोक्ष दिलाने वाला है, उसके आचरण से सकाम लोग स्वर्गादि लोकों की कामना करते हैं। लेकिन वह स्वर्ग मिलने पर भी वहाँ से मृत्युलोक में जन्म लेना ही पड़ता है। इस प्रकार मेरी भक्ति न कर लोग सकाम होकर स्वधर्म नष्ट कर देते हैं। ब्राह्मण को यदि दान में हाथी मिला तो उसे खिलायेगा कौन इसलिये वह किसी को दे देता है और पोथियाँ ढोने के लिये बूढ़ा बैल खरीदते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण स्वधर्म की उपेक्षा करते हैं और स्वर्ग में भीख के दाने इकट्ठा करने जाते हैं। कोई घर में कामधेनु बाँध दे तो उसका पोषण नहीं कर सकते यह कह कर मट्ठे के बदले में उसे किसी को दे देते हैं। लेकिन इसमें कितनी हानि हुई इसे वे नहीं जानते हैं। उसी प्रकार मैंनें ब्राह्मणों को अलग गायत्री मंत्र दिया था जिसकी उपेक्षा कर वे जाने कौन से मंत्र जपते हैं और क्षूद्रों का सा व्यवहार करते हैं। वे सौर, शाक्त, गाणपत्त्य आदि अनेक प्रकार की दीक्षा लेते हैं लेकिन गायत्री का अनुष्ठान नहीं करते। गायत्री का अनुष्ठान तो नहीं ही करते, लेकिन उसके विपरीत काम करते हैं। पैसों के लिये ये ब्राह्मण गायत्री मंत्र का सारा श्रेय दूसरों को बेच देते हैं। गायत्री मंत्र घर में होते हुए उसका भावार्थ ग्रहण नहीं करते और मूर्खों के द्वार पर भिक्षा माँगते फिरते हैं। शस्त्रात्रों से भरे हुए रथ पर यदि कायर आदमी को बैठा दिया जाय तो वह रथ छोड़कर भाग जाने में ही सुख का अनुभव करता है क्योंकि उसमें युद्ध करने का सामर्थ्य ही नहीं होता। उसी प्रकार मैं वेदरूप में नारायण ब्राह्मणों के हृदय में वास करते हुए भी, उसकी महिमा न जानकर वेदों का किया हुआ पारायण बेच देते हैं। स्वर्गफल की कामना कर अनेक प्रचण्ड यज्ञों का आयोजन करते हैं। सारांश, वे सकाम कल्पनायें स्वधर्म को डुबो देती हैं। जिस वेद में कर्म का फल बताया गया है, वह वेद केवल मिथ्या ही नहीं है, बल्कि उस वेद में सचमुच क्या प्रतिपादित किया गया है उसे बिना जाने व्यर्थ की बकवास करते रहते हैं। बालक दवा खा ले इसलिये माँ उसे चीनी की चुटकी देती है लेकिन वह मुख्य उद्देश्य नहीं होता। उसका मुख्य उद्देश्य होता है पेट का रोग दूर करना। उसी प्रकार वेद में जो फल बताया गया है उसका उद्देश्य स्वधर्म में रुचि उत्पन्न करना है क्योंकि स्वधर्म से चित्त का मैल दूर होता है। लेकिन स्वधर्म छोड़कर सकाम कर्म करने पर उसमें भी बिना कष्ट

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किये क्षुद्र मनोरथ भी पूर्ण नहीं होता। जिस धन को देकर अमृत प्राप्त होता है, उसकी जगह मद्य खरीदने से अधर्म होता है, मद बढ़ता है, पागलपन की हलचल करता है जिससे सारा संसार उस पर थूकता है। अपने पति से रममाण होने पर पतिव्रता को परलोक प्राप्त होता है लेकिन यदि वह परपुरुष से रममाण होती है तो वह पतन की ओर जाती है। जिह्वा अगर दुरुक्ती बोलती है तो यम मस्तक पर प्रहार करता है लेकिन यदि वह जिह्वा 'राम राम' कहे तो हरिभक्तों से यम भी काँपता है। उसी प्रकार उत्तम जन्म लेकर सकाम कर्म करने से अत्यन्त दुःख भोगना पड़ता है और बार-बार जन्म-मृत्यु भोगनी पड़ती है। लेकिन वही देह यदि स्वधर्माचरण करे तो सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं और जन्म-मरण के फेरे चुक जाते हैं। लेकिन यह मर्म कितने ही लोगों की समझ में नहीं आता। स्वधर्म से भगवान की भक्ति सम्भव है यही इसका गूढ़ रहस्य है। उद्धव! यही बात मैं तुम्हें यथार्थ ढंग से बताऊँगा। स्वधर्म पर आचरण करना अनिवार्य है, लेकिन उसमें फल की आशा छोड़नी चाहिये। इसमें संकल्प न करने पर भी वह मुझे अर्पण होता है। अरे! यदि घर के मटके में मोतियों का ढेर मिल जाय तो फिर तामवर्णी नदी का समुद्र से मिलन स्थल खोजने की क्या आवश्यकता है? यदि अपने ही घर के वृक्ष कल्पवृक्ष की तरह फल देने लगे तो अमरावती जाने की क्या आवश्यकता है? अथवा सद्गुरु का तीर्थ लेने पर पवित्रता प्राप्त होती है तो फिर इधर-उधर के सैकड़ों तीर्थों की ओर दौड़ने की क्या आवश्यकता है? अथवा यदि ईश्वर भावना से पिता की पूजा करने से मोक्ष प्राप्त होता है तो फिर ज्ञाता लोग देवी-देवताओं को क्यों भजें? उसी प्रकार स्वकर्म करते समय ही निष्कर्मता प्राप्त होती है परन्तु उसी स्वधर्म में फल की इच्छा रखने पर प्राणी अपने वास्तविक स्वार्थ से भटक जाते हैं। निर्विकल्प मन से स्वधर्मचरण करने का ही नाम है 'मेरा शुद्ध भजन'। उसी भजन से प्रसन्न होकर मैं अपने भक्तों को विवेकयुक्त वैराग्य और ज्ञान देता हूँ। उसी ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है। चित्त शुद्ध होता है तो मेरी 'परमभक्ति' उत्पन्न होती है और हे उद्धव! उसी भक्ति से भक्तों को मेरे श्रेष्ठ स्वरूप की प्राप्ति होती है। इसलिये निष्काम स्वधर्माचरण ही मेरा उत्तम भजन है। उस भजन से ही जो भक्तों में उत्तम होते हैं वे स्वयं पुरुषोत्तम होकर रहते हैं। इस प्रकार, स्वधर्म में ही हमें मुक्ति प्राप्त होती है यही बात तुम्हें विस्तार से बतायी।

एतत्तेऽभिहितं साधो भवान् पृच्छति यच्च माम्।
यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात् परम्॥ ४८॥

उद्धव! तुमने पूछा था कि स्वधर्म से मुक्ति कैसे प्राप्त होती है? और मैंने उत्तर दिया था, भक्ति से। स्वधर्म हाथ में आते ही स्वकर्म का तत्काल विनाश होता है और संसार का सारा भ्रम दूर होता है। इस प्रकार स्वधर्म से परमपद की प्राप्ति होती है। मुझे प्राप्त करना हो तो स्वस्वकर्म अर्थात् स्वधर्म का निष्काम भाव से आचरण करना चाहिये। यह मर्म जिसकी समझ में आ गया, समझ लो पुरुषोत्तम उसके वश हुआ। स्वस्वधर्म जैसे पारस पत्थर निर्विकल्प ढंग से प्राप्त होने पर उसे दृष्य पदार्थों में लगाते ही वे सारे पदार्थ चिन्मात्र सुवर्ण अर्थात् ब्रह्ममय ही हो जाते हैं। स्वधर्म जैसे सूर्य का निष्कामता से अंतःकरण में उदय होते ही वह अज्ञानरूपी रात्रि को नष्ट कर सदासर्वदा स्वप्रकाश से ही विचरण करता है। स्वधर्म का अमृत जो निष्काम भाव से सेवन कर पाते हैं उन्हे मैं जन्म-मरण के जाल में फँसने ही नहीं देता। लेकिन जो स्वधर्म से विमुख हो जाते हैं उन्हें मेरी प्राप्ति नहीं होती। वे मूर्ख सकाम होने के कारण करोड़ों जन्म तक असह्य दुःख भोगते रहते हैं। स्वधर्म से स्वकर्म करते समय यदि निष्काम होने का मर्म मालूम हो जाय तो वे जन्म-मरण के जाल से बच कर परब्रह्मस्वरूप तक पहुँचते हैं। इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकार संसार में स्वधर्म तारने वाला ही होता है। स्वधर्मरूप नौका पर बैठकर मेरे कितने ही भक्त संसार सागर पार कर गये। लेकिन 'पार कर गये' यह कहना भी गलत है क्योंकि मेरी प्राप्ति की इच्छा से स्वधर्म का आचरण करने पर संसार सागर बिलकुल सूख जाता है और मुझ परमात्मा से उनकी सामने ही भेंट होती है। निष्काम भाव से होने वाले स्वधर्माचरण का इतना माहात्म्य है। भगवान को भी वह अत्यन्त प्रिय होने के कारण उन्होंने अनेक प्रकार से यह बात उद्धव को समझायी। भागवत भक्तिप्रधान है, उसकी भक्ति स्वधर्मयुक्त है। इस स्वधर्म भजन से ही समस्त श्रेष्ठ भक्तों का उद्धार हो गया। उस स्वधर्म कर्म का रहस्य और आत्मभजन भक्ति का भावार्थ श्रीकृष्ण ने उद्धव को ग्यारहवें स्कन्ध में बतलाया। उस ग्यारहवें स्कन्ध की बातें मानों स्वधर्म कर्म की कसौटी है। श्री जनार्दन की कृपादृष्टि से ही एकनाथ ने मराठी भाषा में टीका लिखी। यह काम जनार्दनजी ने ही किया और काव्य में मेरा नाम लिख दिया और अन्त में इस निरूपण से तो उन्होंने 'मैं' और 'तू' का भेद ही समाप्त कर दिया। विषय का विषयपन ही नष्ट कर दिया, भेद का भान उड़ा दिया और जीव-शिव का भाव समाप्त कर दिया। जनार्दनरूप पिता ने हमारे लिये परब्रह्म खिलौना बना दिया। इसलिये उसके कारण जो-जो क्रियाएँ होती हैं वे सब अपने आप स्वधर्म से ही घटती हैं। स्वभावतः स्वधर्म से कर्म निष्कर्म होता है और संसार ही परब्रह्म हो जाता है। जनार्दन की यही बहुत बड़ी कृपा है। इसलिये एकपन छोड़ कर एका जनार्दन की शरण में गया। इसलिये उनकी ही कृपा से स्वधर्म कर्म का निरूपण सम्पूर्ण हुआ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत महापुराण के एकादश स्कन्ध के श्रीकृष्णोद्धव संवाद का एकनाथकृत टीका का 'वानप्रस्थ संन्यास धर्म निरूपण' नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ तत्सत्-श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

इति श्री भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे श्रीकृष्णार्जुन संवादे
एकाकार टीकायां वानप्रस्थ संन्यास निरूपण नाम अष्टादशोध्यायः ॥ १८ ॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उन्नीसवाँ अध्याय

हे ओंकाररूप सद्गुरु! हे त्र्यंबक! हे ब्रह्मगिरि पर वास करने वाले! हे त्रिगुण, त्रिपुट का भेद करने वाले! हे कामांतक गिरिजेश! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हारा अनुहत शब्दरूप डमरू का गजर चारों ओर सुनाई पड़ता है और निरन्तर वेदानुवाद से वह कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीन विभागों में गरजता रहता है। तुम्हारे हाथ में जो खड्गसम शस्त्र है वह जीवों का संहार करता है और अनंग का अंग जलाकर ही स्वस्वरूप प्राप्ति करा देता है। हे त्रिनयन त्रिंबकलिंग। चित्प्रकाशगर्भा शंकर! तुमसे ही (गोदावरी रूप) चिद्गंगा का प्रवाह बहता रहता है जो अपनी पवित्रता से सारे संसार को पावन कर देता है। दो नेत्र तो स्पष्ट दिखाई ही देते हैं और तीसरा ज्ञाननेत्र गुप्त है। इसलिये बिना नेत्र के ही दिखाई देने वाले तुम त्रिलोचन हो। तुम अपने शरीर पर, बोधरूपी चन्द्र धारण करते हो, इसलिये तुम 'चन्द्रशेखर' हो और वास्तव में चन्द्रसूर्यादि सारा चराचर तुम्हारे ही कारण प्रकाशित हेाता है। 'भव' की बड़ी ख्याति है किन्तु तुम्हारी चिच्छक्ति भवानी ही उस भव को प्रकाशित करती है। विष्णु तुम हो, ब्रह्मदेव तुम हो और अन्त में संहार करने वाले रुद्र भी तुम ही हो। हे प्रलयकाल के प्रलयरुद्र! हे चित्समुद्र शिवरूपा सद्गुरो! नामरूप का आकार मोड़कर तुम सारे जीवों को एकरूप कर देते हो। हे गुरुराया! शिव-शिव कह कर निजभाव से तुम्हारे पैरों में लगते ही तुम्हारे निजरूप दिखाने से गुरु शिष्य भाव विलीन हो जाता है। वह निजस्वरूप एक बार दिखायी दे जाय तो फिर जीव किस बात का? और सृष्टि भी कैसी? तीन गुणों के साथ त्रिपुटी ही समाप्त हो जाती है और स्वानंद से भेंट होती है। उस स्वानंद के उद्गार सँभाले नहीं सँभलते। उस स्वानंद का सार ही है ग्यारहवाँ स्कन्ध। उसमें भी अत्यन्त गहन स्वानंदसुख का निरूपण जिसमें किया गया है वह है उन्नीसवाँ अध्याय। वह शास्त्रप्रमाणों से भी सिद्ध है। वह निरूपण सुनाते ही परमानन्द उफन उठता है। इसलिये एका जनार्दन से विनती करता है कि श्रोतागण मेरी ओर ध्यान दें। सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में, स्वधर्म कर्म से ही ब्रह्मप्राप्ति होती है इसलिये वर्णाश्रम के सारे प्रकार उद्धव को बताये। अब उन्नीसवें अध्याय में जिस ज्ञान से आत्मज्ञान साध्य किया हो, उसका त्याग लक्षण स्वयं श्रीकृष्ण बता रहे हैं। जीवन्मुक्त के लिये कर्म-कर्त्तव्यता-कारण नहीं होता, इसलिये उद्धव के 'यम', आदि प्रश्नों का उत्तर श्रीकृष्ण ही देंगे। शास्त्रयुक्त, पांडित्य का ज्ञान अथवा उसने किया हुआ प्रपंच का मिथ्यत्व निरूपण वह सब आनुमानिक तथा किताबी ज्ञान है। उसमें जरा भी तथ्य नहीं है। हमें पूर्व की ओर जाना है यह एक शुद्ध स्मरण है किन्तु दिशा भूल जाने पर वह पश्चिम को ही पूर्व मानते लगता है; उसी प्रकार शब्दिक शास्त्रज्ञान है। बोलते कुछ और हैं, करते कुछ और हैं इसलिये साधक का कभी समाधान नहीं होता। वही दिशामूल समाप्त हो जाय तो जिस प्रकार वह पूर्व पूर्व की ही ओर जाने लगता है उसी प्रकार अनुभव ज्ञान प्राप्त होने पर साधक को परमानन्द का नाम प्राप्त होता है। वह जिस वेदान्त का श्रवण करता है, वह स्वयं ही होता रहता है। ऐसा होना यही आनुभविक ज्ञान का सच्चा और शुद्ध लक्षण है यह ध्यान में रखो। ऐसा आनुभविक ज्ञान प्राप्त होने तक श्रवण और मनन नहीं छोड़ना चाहिये। इतना ही नहीं, 'प्रत्यगावृत्ती' साधन अर्थात् आत्मानुसंधान का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। अपरोघ ज्ञान प्राप्त होने पर प्रपंच का भान मिथ्या लगने लगता है। विषयों पर पानी पड़ जाता है और कल्पना पिघल जाती है। जो पुरुष यह करे उसे ही ज्ञान साधन का त्याग करना चाहिये। यही सारा निरूपण भगवान कर रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीभगवानुवाच

यो विद्याश्रुतसम्पन्न आत्मवान् नानुमानिकः।
मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत्॥ १॥

(भगवान कहते हैं) वेदशास्त्रों में जो पारंगत; श्रवण मनन के अभ्यास से युक्त तथा जिन्हें स्वानुभव से ब्रह्मविद्या साध्य है; लेकिन वह अनुभव ऐसा है जिसमें रस्सी को सर्प समझने का भ्रम अपने आप ही नष्ट हो जाता है उसी प्रकार उसका भवभ्रम दूर हो जाता है; स्वांग करने वाले राजा-रानी जिस प्रकार प्रेम की झूठी क्रीड़ा का ही अभिनय करते हैं उसी प्रकार प्रकृति पुरुष दोनों ही मिथ्या हैं यह वह जानता है। दीवार पर अनेक प्रकार के चित्रविचित्र चित्र बनाये जाते हैं लेकिन जिस प्रकार वह वास्तव में एक दीवार ही रहती है, उसी प्रकार समस्त चराचर एकरूप है यह वह जानता है; अथवा स्वप्न में अनेक प्रकार के कर्म दिखायी देने पर भी जागृति में उसका कोई बन्धन नहीं होता, उसी प्रकार मैं यह जीव और प्राण हूँ और मैं यह कर्म करता हूँ यह सब मिथ्या है यह जो जानता है; ऐसी स्थिति को कहते हैं, 'शुद्ध आत्मप्राप्ति' इसी को वास्तव में 'निजानुभव' कहते हैं। हे सात्वतकुल के भक्तशिरोमणि! उसकी एक और भी पहचान है। वह यह कि वहाँ विषयोपभोग के बिना ही स्वानंद रहता है। इस प्रकार के अनुभव के बिना जो शब्दिक ज्ञान होता है उसे केवल 'आनुमानिक' ज्ञान ही समझो, उद्धव! जिसके अनुभव में अनुमान का प्रवेश नहीं है, जो निरन्तर अपरोक्ष साक्षात्कार में ही विचरण करता रहता है, ऐसे पुरुष को ज्ञान का साधन और वृत्तिरूप ज्ञान का ज्ञाग करना चाहिये। वैसे भी इसका अपने आप त्याग हो जाता है जिस प्रकार सूर्योदय होते ही चन्द्रमा के साथ नक्षत्रों का तेज भी नष्ट हो जाता है, मारुति को आते देख नवचंडी (अहिरावण की देवी) भागने लगती है फिर अन्य भूतों की क्या बात की जाय? उनके सामने खड़े होने का भी साहस नहीं होता। उसी प्रकार मेरे साक्षात्कार से उसे वास्तव में कोई बाध्यता ही नहीं रह जाती। फिर उसकी निवृत्ति के बाद ज्ञान कैसे बचा रह पायेगा? मेरे अनुभव में बन्ध और मोक्ष दोनों मिथ्या हैं। उद्धव! वहाँ साधन ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है। परमात्मास्वरूप में बंध और मोक्ष दोनों ही मायास्वरूप हैं। इसलिये वहाँ ज्ञान और ध्यान का त्याग न करने पर भी त्याग हो ही जाता है। लेकिन ज्ञान का और ध्यान का त्याग होने पर भी ज्ञानी को मेरी नितांत प्रीति रहती है। वही प्रीति का लक्षण स्वयं श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च संमतः।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः॥ २॥

मुझ अद्वयानंदस्थिति रूप के प्रति ज्ञानी जनों में काफी प्रीति रहती है। उद्धव! उस प्रीति का लक्षण सुनो। ज्ञानीजनों को प्रिय मैं स्वयंभू परमात्मा, ज्ञानियों का परम लाभ, उनकी जीवच्च कंठश्च निधि, ऐसा मैं पद्मनाभ हूँ। ज्ञानियों का उत्तम स्वर्ग मेरे सिवा कोई है ही नहीं। उसी प्रकार ज्ञानियों का मोक्षभाग वह भी मैं निजात्मा श्रीरंग हूँ। मैं परमात्मा नारायण ही ज्ञानियों का स्वधर्मसाधन हूँ अर्थात् ज्ञानियों को मेरे सिवा कुछ और दिखाई ही नहीं देता। ज्ञानियों के लिये मेरे सिवा स्वर्गसुख या मोक्षसुख रह ही नहीं जाता। वे अपने शुद्ध भक्तिभाव से मेरे सर्वव्यापी चिदात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। ज्ञानियों का अर्थ, स्वार्थ, परमार्थ सब कुछ एक मैं पुरुषोत्तम ही हूँ। इसलिये आद्य, अव्यय तथा अनंत ये मेरे निजसुख उन्हें प्राप्त होते रहते हैं। ज्ञाताओं को मुझसे प्रीति रहती है, इसलिये वे भी मुझे प्रिय हैं। यही बात श्रीकृष्ण स्वयं उद्धव को बता रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्॥ ३॥

ज्ञान और विज्ञान की सम्पदा प्राप्त किये बिना मेरी प्राप्ति अर्थात् स्वस्वरूपस्थिति कभी भी किसी को प्राप्त नहीं हो सकती। गुरुमुख से शास्त्रशुद्ध श्रवण करने से जो प्राप्त होता है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं; और उसके प्रत्यक्षानुभव को 'विज्ञान' कहते हैं। उसका भी लक्षण सुनो। स्वयं तैयार की हुई रसोई जब तक चख कर नहीं देखी जाती तब तक वह कड़वी है, मधुर है या नमक अधिक है यह ठीक से नहीं मालूम होता। इस स्थिति को ज्ञाता लोग 'ज्ञान' कहते हैं और उसके रस की माधुरी स्वयं चख कर देखने से जो स्थिति प्राप्त होती है उसे 'विज्ञान' कहते हैं। सारांश, मेरे सर्वोत्तम पद की प्राप्ति के लिये 'ज्ञानविज्ञान' की सम्पत्ति ही कारणीभूत है। इस प्रकार जो मेरा वास्तविक स्वरूप जानते हैं उनसे मुझे अनन्य प्रीति होती है। वेद, शास्त्र अथवा युक्ति से मेरा स्वरूप नहीं जाना जा सकता। उसका जिसे आकलन होता है उसके सिवा मुझे कुछ प्रिय नहीं है। उसका लक्षण यही है कि उसके प्रत्येक पग पर मैं अपना देह आगे करता हूँ। इतना ही नहीं, बल्कि मैं उस पर अपना सब कुछ न्योछावर करता हूँ। उसे जिस वस्तु की आवश्यकता पड़ती है उसे मैं बिना माँगे ही दे देता हूँ और उसमें यदि कोई बाधा आती हो तो स्वयं उसे दूर करता हूँ। उसे सांसारिक आँधी का कहीं कोई कष्ट न हो इसलिये मैं स्वयं उसका सामना करता हूँ। इतना मैं उस पर आसक्त हो उठता हूँ। ज्ञानी जिस ज्ञान से मुझे प्रिय हैं, उस ज्ञान की पवित्र कीर्ति यथार्थ ढंग से भगवान आत्मज्ञानपूर्वक उद्धव को बता रहे हैं।

तपस्तीर्थे जपो दानं पवित्राणीतराणि च।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता॥ ४॥

सारे साधनों से जो शुद्धि नहीं होती, वह निश्चय ही ज्ञान के एक अंश से होती है। हे बुद्धिवान उद्धव! इस ज्ञानशुद्धि की महिमा सुनो। पंचाग्नि साधन से तप किया अथवा गंगा, त्रिवेणी आदि तीर्थों के दर्शन किये, अनेक मंत्रों का जप किया अथवा गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण आदि का दान किया; अथवा और भी अन्य पवित्र 'स्वधर्मकर्मादि' आचार किये, अथवा 'योगं', 'अग्निहोत्र', नाना प्रकार के 'यज्ञ' आदि अत्यन्त शुद्ध और पावन करने वाले जो कर्म किये वे तपादिक साधन हैं उनकी शुद्धि महान है, लेकिन उनकी पवित्रता ज्ञान के अल्पांश भी नहीं है। आधे क्षण की ज्ञाननिष्ठा से जो पवित्रता प्राप्त होती है उसे तपादि साधन नाना साधनों से कल्पांत में भी प्राप्त नहीं कर पायेंगे। ऐसा जो पवित्र ज्ञान है उसे मुख्य रूप से धारण कर मेरा भजन करें यही बात श्रीकृष्ण निरूपित करते हैं।

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः॥ ५॥

इसलिये हे उद्धव! ऐसा जो ज्ञान का पवित्र प्रवाह है, उसमें निजभाव को प्रक्षालित कर, जीव परमात्मस्वरूप ही है यह पहचान लें। जीव और परमात्मा दोनों एक हैं यह जानना 'ज्ञान' है और ऐक्यभाव से परमात्मसुख का भोग करना 'विज्ञान' है। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न होकर मेरा भजन करें। उद्धव! मेरे उस भजन के लक्षण सुनो। यह यत्र-तत्र जो कुछ भी देखता है वहाँ उसे मेरे सिवा कुछ भी नहीं दिखायी देता। फिर वह उन-उन स्थानों पर अनन्य भाव से भजन करने लगता है। अहोरात्र चलने वाले मेरे ऐसे भजन में कभी खण्ड नहीं पड़ता। जागृति हो, स्वप्न हो अथवा सुषुप्ति हो मेरे भजन में बाधा नहीं आती। मुझे भूल कर वह जहाँ भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जाता है, वहाँ वह मुझे ही देखता है। इस प्रकार ऐसा नहीं कि विस्मरण को ही मृत्यु आती है; अपितु स्मरण भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जो ज्ञानविज्ञानसम्पन्न लोग हैं उन्हें मेरे सिवा कुछ भी दिखायी नहीं देता। उसी प्रकार अनन्य भजन करने का ही नाम 'शुद्धभक्ति' है यह जान लो। पूर्व में भी बड़े-बड़े मुनिवर्यों ने इसी प्रकार मेरी एकनिष्ठ भक्ति कर मुझे प्राप्त किया। उसके बारे में भी बताता हूँ।

ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्टवाऽऽत्मानमात्मनि।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन्॥ ६॥

ज्ञानधन से अत्यन्त सम्पन्न तथा विज्ञान से परम पवित्र ऐसे जो ब्रह्मस्वरूप ब्राह्मण हैं वे यज्ञ के द्वारा मेरा यजन करते हैं। वे अपने हृदय मन्दिर में (अथवा यज्ञमण्डप में) विकल्परूपी जमीन खोद कर श्रद्धा के आकार से काम, दम और विरक्ति ये तीन कुण्ड तैयार करते हैं। उसमें क्षर और अक्षर (जीव और शिव) इन दो अरणियों (अग्नि उत्पन्न करने वाली लकड़ियाँ) को लेकर गुरुमन्त्र से मंथन कर निकाला हुआ निर्धूम, सूक्ष्म अग्नि उस कुण्ड में डाल कर उसे प्रज्ज्वलित करते हैं। शुद्धसत्त्वरूपी घृत में रजतमादि होमद्रव्य मिलाकर, युक्ति के मंत्रों से, वैराग्यरूपी स्त्रुदा से (लकड़ी की करछुल) उसमें आहुति देते हैं। तदुपरान्त विद्यारूप तीक्ष अस्त्र हाथ में ले कर, संकल्परूपी पशु को मार कर यज्ञ के स्वामी अनन्त को उस निजबोध से सन्तुष्ट करते हैं। उसमें पूर्णाहुति के लिये जीवभाव की आहुति देने से यज्ञभोक्ता अर्थात् मैं नारायण सन्तुष्ट होता हूँ। इस प्रकार मेरा यजन कर अनेक मुनीश्वर जन्म-मरण के चक्र से छूट कर मेरे स्वरूप तक पहुँच गये। बड़े-बड़े ऋषियों ने जो सिद्धि प्राप्त कर ली वही उद्धव को भी प्राप्त हो सके इसलिये कृपासागर श्रीकृष्ण उसे प्रपंच का निषेध कर वस्ततत्त्व का निरूपण कर रहे हैं।

त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधि विकारो मायान्तराऽऽपतति नाद्यपवर्गयोर्यत्।
जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्युराद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये॥ ७॥

'मैं उद्धव हूँ' यह कहते समय तुम सचमुच कौन हो? तो तुम्हें तुम्हारे स्वरूप की कथा सुनाता हूँ। जन्म, स्थिति और मृत्यु इन तीन विकारों का कारण त्रिगुण हैं और उनकी अधिष्ठात्री माया है; लेकिन उसे तुमसे ही गति मिलती है। माया आदि से लेकर सभी कार्यों में अंतर्बाह्य तुम्हारा ही आश्रय है। तुम्हारे ही कारण उन्हें चपलता अर्थात् चलन वलन (हिलना डोलना) प्राप्त हुआ है। तुम उनसे भिन्न चिदात्मा हो। मेरे कारण गुणकर्मों में चलनता आयी यह कहें तो प्रपंच में सत्य आयी; वास्तव में यह सारा संसार मायामय है तथा मृगजल का आभास है। जो भी कुछ दिखाई देता है वह सब मिथ्या है, सत्य नहीं है। प्रपंच का सारा भान तो मृगजल की तरह है। तुम जन्म-मरण से अलग हो, त्रिगुणों को स्पर्श न करने वाले तथा सचमुच ही प्रपंच से अलिप्त हो। कैसे? तो सुनो। प्रपंच से अलिप्त रहने का तरीका यही है। उस युक्ति की परम प्रतीति यही है कि उत्पत्ति, स्थिति और लय इनमें प्रपंच का वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है। उत्पत्ति से पूर्व प्रपंच नहीं होता; और अन्त में भी कुछ शेष दिखायी नहीं देता। बीच के काल में जिसका भास होता है वह भी मायामय होने के कारण मिथ्या है। प्रपंच के, अर्थात् सृष्टि के पूर्व परब्रह्म ही रहता है, अंतकाल में भी निरूपम वही शेष रहता है और सृष्टि के स्थितिकाल में भी ब्रह्म ही रहता है, भ्रमिष्ट लोगों को अवश्य ही संसार का मिथ्या भ्रम होता है। सूर्य के पहले भी मृगजल का अस्तित्व नहीं होता और अस्त के बाद भी शेष नहीं रहता; बीच के काल में भी जो आभास होता है उसमें भी पानी का अंशमात्र भी नहीं होता। रज्जु सर्प भी पहले रस्सी के ही रूप में रहता है और अन्त में भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रस्सी के ही रूप में शेष रहता है। बीच के अन्तराल में जब सर्प का भास होता है तब भी वही रस्सी ही रहता है। हे उद्धव! इस प्रकार आदि और अन्त का विचार करें तो ब्रह्म ही सत्य है, प्रपंच (संसार) मिथ्या है और वेदशास्त्र भी इससे सहमत हैं। इस प्रकार इस प्रपंच में कितना भी परिवर्तन हुआ और जन्म-मरण के करोड़ों चक्र चलते रहे तो भी हे उद्धव! उनसे तुम्हारा सम्पर्क ही नहीं होगा। क्योंकि तुम प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों तीरों से नित्यमुक्त ही हो। उद्धव! निर्गुण, निःसंग, निर्विकार, अज, अव्यय, अक्षर, अनंत और अपार जो ब्रह्म है, वही सचमुच तुम हो। भगवान का यह भाषण सुनकर उद्धव ने मन में गाँठ बाँध ली। हर्ष उसके मन में समा नहीं रहा था। उसे अपने लिये यह सृष्टि छोटी मालूम होने लगी। 'तुम ब्रह्म हो' ऐसा श्रीकृष्ण ने कहते ही उद्धव खुशी से नाचने लगा। यह देख कर श्रीकृष्ण को समाधान हुआ। श्रीकृष्ण अपने मुख से 'तुम पूर्ण ब्रह्म हो' ऐसा कहते हैं, इससे वह स्वयं धन्य समझने लगा। मेरा जैसा भाग्यवान और कौन है? ऐसा विचार मन में आकर उद्धव ने श्रीकृष्ण के चरणों का वन्दन किया। 'तुम स्वयं ही परब्रह्म हो' इसका अर्थ वह श्रीकृष्ण से पूछने लगा।

उद्धव उवाच

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैतद् वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम्।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम्॥ ८॥

(उद्धव बोले) हे विष्ववसेना! हे विश्वेश्वर! विश्वमूर्ते! विश्वंकर श्रीकृष्ण! जिसके योग से महासाक्षात्कार हो ऐसा निश्चित ज्ञान मुझे बतायें। जो केवल ज्ञान देते रहते हैं उन्हें मैं निरा मूर्ख ही समझता हूँ। इसलिये जिससे जीव का बन्धन टूट जाये ऐसी प्रखर वैराग्ययुक्ति मुझे बतायें। क्योंकि ज्ञान के बिना वैराग्य अन्धा रहता है। वह शिलाओं से टकरा कर गिर पड़ता है और वैराग्य के बिना लंगड़ा होता है। उसे युक्ति मालूम रहती है लेकिन उसका पुरुषार्थ काम नहीं करता। इसलिये विवेक और वैराग्य ये दोनों यदि हृदय मन्दिर में प्रवेश करें तभी विषयावस्था छोड़कर जीव 'ब्रह्म मैं ही हूँ' यही समझ कर विचरण करने लगता है। ज्ञान को जब तक विज्ञान का साथ नहीं मिलता तब तक जीवत्व का विनाश नहीं होता। इसलिये जो जीव और शिव दोनों का ही निवारण करे ऐसा विज्ञान मुझे बतायें। जिसमें असंभावना का दोष रत्ती मात्र भी नहीं रहता, उसी को 'शुद्ध ज्ञान' कहते हैं और जिसमें 'विपरीत भावना' बिलकुल नहीं रहती उसी को ज्ञाता लोग विपुल कहते हैं। ऐसा अत्यन्त शुद्ध और विपुल ज्ञान, उससे युक्त वैराग्य और विज्ञान और उसमें भी श्रेष्ठ तुम्हारा जो भजन हो वह कृपया मुझे बतायें। हे कृपामूर्ति श्रीकृष्ण! ज्ञान-विज्ञान-वैराग्य सहित तुम्हारी प्राचीन भक्ति के बारे में भी मुझे निश्चित रूप से बतायें। तुम्हारी श्रेष्ठ भक्ति की खोज बड़े-बड़े साधु महात्मा भी कर रहे हैं और जीव प्राण लेकर धरना देकर बैठे हैं। उस भक्ति के बारे में मुझे बतायें। तुम्हारी उत्तम भक्ति करने से त्रिविध तापों का भी क्षय होता है और मुक्ति प्राप्त होती है। इसलिये उद्धव विनती कर रहा है।

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे संतप्यमानस्य भवाध्वनीश।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रिद्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात्॥ ९॥

जो त्रिविध ताप से दग्ध रहते हैं, कामक्रोध जिन्हें जर्जर कर देते हैं; आशा और तृष्णा में जो डूबे रहते हैं और जन्म-मरण में लिप्त रहते हैं; संसार के अत्यन्त विकट मार्ग पर जो दुःख के साथ भी नहीं चल पाते, ऐसी यातना भोगने वाले पुरुष के लिये हरि के पदकमल में ही आश्रय है। तुम्हारे चरण कमल के सिवा शरण जाने के लिये कोई अन्य स्थान ही दिखायी नहीं देता इसलिये काया, वाचा और मन से मैं भक्तिभाव से तुम्हारी ही शरण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आया हूँ। छत्र केवल एक ही ताप दूर करता है लेकिन तुम्हारे चरण का छत्र कुछ विशेष ही है। वह त्रिविध तापों के साथ सारा संताप दूर कर संसार को पापरहित कर देता है। कोई अपने ही मन से तुम्हारी शरण में आया। कोई बैर करके ही तुम में विलीन हो गया, किसी ने भावार्थ से तुम्हारा भजन किया तो किसी ने भयभीत होकर तुम्हारा स्मरण किया; कुछ तुम्हारे कुल के होने के कारण तुम्हारे सुहृद बन गये, कुछ स्नेह के कारण तुमसे प्रेमबद्ध हो गये, कुछ काम तंत्र से अंग-संग कर तर गये तो कोई आज्ञाधारी सेवक बन कर रहे। सारांश, अनेक प्रकारों से विचित्र ढंग से जिन्होंने तुम्हारे चरण छत्र का आश्रय लिया, उनके सामने संसार भय नहीं टिक सकता। भक्त हो, बैरी हो अथवा अपना हो उन सबको ही तुम अपना निजपद देते हो। तुम्हारी उदारता महान है। तुम सबके स्वानंद बोध हो। होम हवन करके अग्नि को जो भी अर्पण किया जाता है, उसे अग्नि अपने जैसा कर देता है, यदि गलती से भी उसमें कुछ गिर जाय तो उसकी भी वही गति होती है। इस प्रकार, हे श्रीकृष्ण! किसी कारण से भी जो तुम्हारे पास आते हैं, उनकी सांसारिक पीड़ा दूर कर उन्हें समत्व से तुम अपने पद तक पहुँचाते हो। तुम्हारा चरणरूप छत्र त्रिविधि तापों का निवारण कर सदा सर्वदा परमामृत की वर्षा कर रहा है। इसीलिये मैं उनकी शरण में हूँ। जिस संसार के भय से मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ उस भवभय का स्वरूप उद्धव स्वयं ही बता रहे हैं।

दष्टं जनं सम्पतितं बिलेऽस्मिन् कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम्।
समुद्धरैनं कृपयाऽऽपवर्ग्यैर्वचोभिरासिञ्च महानुभाव॥ १०॥

लोग संसाररूपी गुफा में फँस कर गृहदारारूप कुएँ में गिर गये हैं। उसमें भी कालरूपी सर्प ने काट लिया है। वे वेदनायें तो और भी भयानक हैं। उस कालरूप सर्प का विष क्षण-प्रतिक्षण शरीर में चढ़ रहा है; फिर भी लोग अभिमान के भुलावे में विषयसुख की इच्छा करते ही हैं। कालसर्प का प्रताप कुछ विचित्र ही है। उसने विष जैसे कडुए विषय को भी मधुर बना दिया है और अत्यन्त मधुर परमार्थ को जीव भाव से कडुआ बना दिया है। विषय विष से भी ज्यादा भयंकर हैं। विष एक ही बार मारक होता है किन्तु विषय बार-बार वार करते रहते हैं। कालसर्प ने लोगों पर इतनी अधिक मोहिनी डाल रखी है। विषय एक शुद्ध विष है। मूर्ख लोग ही उसकी ओर मोहित होते हैं और विषयों की तृष्णा बढ़ाते हैं। ऐसे जो दुःख में डूबे हुए लोग हैं उनका उद्धार करें। इस पर आप शायद यह कहेंगे कि जब वे साधन करेंगे तब मैं उनका उद्धार करूँगा। किन्तु हे स्वामिन! जब तक आपकी कृपा नहीं होती, तब तक साधन भी व्यर्थ हो जाते हैं। हे श्रीकृष्ण! तुम्हारी कृपा हो जाय तो संसार की व्यथा स्पर्श भी नहीं करेगी। हे कृपानिधि! हे अनंता, कृष्णनाथा! मेरी विनती सुनें। तुम्हारी मोक्षफल रूपी जो कथाएँ हैं, उस कथामृत का सिंचन कर सबका उद्धार करें। तुम्हारे मुख से कथामृत का एक बिन्दु भी प्राप्त हुआ तो वह संसार सर्प का विष उतार कर स्वानंद-सुख उत्पन्न करता है। अब आपका आग्रह सभी लोगों का उद्धार करने के प्रति क्यों है? लोग मेरी जैसी विनती नहीं करते हैं। ऐसी कल्पना यदि आपके मन में आ रही हो तो मेरा यह कहना है कि जैसे कोई अन्धा व्यक्ति यदि अन्धे कुएँ में पड़ा दिखाई दे तो देखने वाले को उसको बाहर निकाल कर अच्छे मार्ग पर लगाना चाहिये, उसी प्रकार ज्ञानांध लोग दुःख में डूबते रहते हैं, उनका उद्धार करें ऐसी मेरी आपसे प्रार्थना है। अब यह पूछोगे कि ये लोग अन्धे कैसे हो गये? तो उन्हें संसाररूपी सर्प ने ग्रस लिया है इसलिये वे आत्मसुख भूल कर विषयसुख के मोह में फँस गये हैं। श्रीकृष्ण! सचमुच आप ऐसे दीनजनों का उद्धार करें। इतना कह कर उसने श्रीकृष्ण के चरण पर मस्तक रख दिया और प्रार्थना की। भक्त की ऐसी विनती सुनकर भक्तों का प्रभु प्रसन्न हो उठा। वह अब उसे एक उत्तम सभा का ज्ञान देगा। उस सभा में मुख्य रूप से श्रीकृष्ण, देवर्षि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और ब्रह्मर्षि तथा तपोराशि और ज्ञाननिधि आदि राजर्षि एकत्र थे। उस सभा में ज्ञान का विषय श्रीकृष्णनाथ उद्धव को बताएंगे। तो श्रोतागण कृपया ध्यान दें, ऐसी एकाजनार्दन विनती करता है। ज्ञान और वह भी पुरातन। उसका वक्ता कौन है ? तो स्वयं भगवान हैं। इसलिये श्रोता उद्धव ध्यान देकर श्रीकृष्ण की बातें सुनने लगा।

श्रीभगवानुवाच

इत्थमेतत् पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम्।
अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम्॥ ११॥

(भगवान बोले) जिस प्रकार तुमने मुझसे ज्ञान पूछा था, उसी प्रकार भीष्माचार्य जब शर पंजरी पर पड़े अन्त समय काट रहे थे, उस समय धर्मराज ने भी उनसे यही प्रश्न किया था। अब धर्मराज की महानता सुनो। संसार में उसका कोई शत्रु नहीं था। वह निश्चयात्मक और सत्य बोलनेवाला था। ऋषी के मंत्र से उसका जन्म हुआ था। पाण्डवों का संहार करने के लिये स्वयं वज्रदेही होने के उद्देश्य से दुर्योधन ने धर्मराज से उपाय पूछा था लेकिन धर्मराज झूठ नहीं बोला। ऐसे ईर्षाहीन और परमपवित्र राज युधिष्ठिर ने अत्यन्त आदरपूर्वक महाशूरवीर भीष्माचार्य से विनती की जो दृढ़निश्चयी होते हुए अत्यन्त धार्मिक था, स्वधर्म का नियम से पालन करने वाला था जो आजीवन ब्रह्मचर्य से रहा और बड़े-बड़े योद्धाओं को भी जो वन्दनीय था, गुरुत्व की मर्यादा को भग्न कर जिसने परशुराम से युद्ध किया; लेकिन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिये जिसने काशीराज की लड़की का अंगीकार नहीं किया। धनुर्विद्या में परशुराम उसका गुरु था, प्रतिज्ञा कर जब उसे समरभूमि में जीता तो उसने सन्तुष्ट होकर अपना गोत्रदान किया। इतना ही नहीं, अपितु परशुराम और भी अधिक प्रसन्न हो उठे और बोले कि मेरे ब्रह्मचर्य व्रत का ऐसा निश्चय है कि हे भीष्म! तुम्हें काम की कभी बाधा नहीं होगी (अपने बाप को संतोष प्रदान करने के लिये उसने उसे अपना यौवन प्रदान किया और स्वयं वार्धक्य स्वीकार कर शंतनू को सुखी किया) तब पिता ने भी उसे आशीर्वाद दिया कि "हे बुद्धिमान् भीष्म! सुनो। वार्धक्य में शक्ति क्षीण होने की विपत्ति तुम पर नहीं आयेगी।" इसलिये जैसे-जैसे उस पर वार्धक्य की छाया पड़ने लगी वैसे-वैसे उसका प्रताप बढ़ता ही चला गया। काल की शक्ति रूक गयी। वह भीष्म को क्षीण नहीं कर सका। इसलिये उसने अपने पैरों में काल, काम और परशुराम इन तीनों में ही चिह्न बाँध लिये। 'धर्मनिष्ठों में श्रेष्ठ' था इसलिये भीष्म को धर्मभृतांवर यह नाम शोभा दे रहा था। जिसकी प्रतिज्ञा से कृष्ण को भी हार माननी पड़ी और उन्हें शस्त्र उठाना पड़ा। उसकी प्रतिज्ञा की ऐसी योग्यता थी। भजन मर्यादा तोड़े बिना गोविन्द से युद्ध किया और मुकुन्द से वचन भंग कराकर उनके चरणविन्द में पड़ गया। फिर प्रण पूरा कर उसने शस्त्रास्त्र फेंक दिये और मर्मस्थल पर शत्रु के घाव लगने पर भी पुनः शस्त्र नहीं उठाया। बाणों ने मर्मस्थल फोड़ने पर अत्यन्त व्याकुल होने पर भीष्म ने स्वयं निश्चय किया और देहत्याग के लिये सिद्ध हो गया। लेकिन उस समय दक्षिणायन चल रहा है यह सुनकर उसने काल को दूर कर दिया और अपने शरीर की रक्षा की ओर फिर अपने निश्चय के अनुसार उसने शरपंजर पर शयन किया और बड़े-बड़े ऋषिसमुदाय के परिवार में धर्मराज ने उससे प्रश्न किया। हम सबके सामने युधिष्ठिर ने जो कथा पूछी, वही प्राचीन कथा तुम्हें सुनाता हूँ।

निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः।
श्रुत्वा धर्मान् बहून् पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत॥ १२॥

मैं श्रीकृष्ण दोनों में सन्धि कराने गया था किन्तु दुर्योधन ने उसे नहीं माना। व्यास ने भी जब उसका निषेध

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किया तो वह युद्ध के लिये तैयार हो गया। सारांश दैवयोग से कौरव पाण्डवों के युद्ध में दुर्योधनादि बैरी परिवार सहित मारे गये। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद धर्मराज राजसिंहासन पर बैठा, तब उसके अंत:करण में विचार उठा कि "पृथ्वी पर महापातकी एक मैं ही हूँ।" मैंने उसे राज्य पर बिठाया तो वह बोला, मैंने अनेक ब्राह्मण गुरुओं को मारा, कर्ण दु:खासन को मैंने मारा, और राजा दुर्योधन भी मेरे हाथों मारा गया। यहाँ वास्तव में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकर्त्ता एक ईश्वर ही होते हुए, धर्मराज इन सबका 'कर्त्ता मैं हूँ' ऐसे कहने लगा। देहाभिमान के कारण वह अत्यन्त पश्चात्ताप से स्वयं को अपने ही कुलगोत्र का विनाश करने वाला महापातकी कहने लगा। तब उसका समाधान करने के लिये मैं भीष्मनिर्वाह का मौका पाकर उसे उनके पास ले गया और उससे प्रश्न पुछवाये धर्म ने किये हुए प्रश्न अब सुनो। उसने 'राजधर्म' पूछा; 'दानधर्म' पूछा; आपद्धर्म पूछा और मुख्य रूप से सबसे उत्तम 'मोक्ष धर्म' भी पूछा। वही अब सुनो।

तानहं तेऽमिधास्यामि देवव्रतमुखाच्छ्रुतान्।
ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान्॥ १३॥

भीष्म के मुख से निकले वे अति उत्तम मोक्षधर्म मैंने श्रवण किये। उनके योग से संसार का भ्रम दूर होता है और सारा कर्म दग्ध हो जाता है। ज्ञान, विज्ञान, श्रद्धा, भक्ति, अनित्य की नश्वरता तथा वैराग्यस्थिति आदि के सम्बन्ध में भीष्म ने धर्म को बताया। वही मैं तुम्हें यथार्थ रीति से बताता हूँ। भीष्म को 'देवव्रत' कहते हैं। इसका कारण वह भगवान पर चित्त रखकर, निश्चयपूर्वक आत्मानुसंधान धारण कर, स्वस्थ अंत:करण से शरपंजर पर लेटा हुआ था। उसने मोक्षधर्म बतलाया। उसमें मुख्य रूप से प्रथम 'ज्ञान' बतलाया। वही उत्तम ज्ञान पुरुषोत्तम सुना रहे हैं, श्रवण करें।

नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम्॥ १४॥

प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, पंचतन्मात्रा अर्थात् पाँच सूक्ष्म भूत और अहंकार आदि मिलाकर तत्त्वों की संख्या नौ है। कुछ लोगों के अनुसार वह 'ग्यारह' है, अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन और पाँच अर्थात् पंचमहाभूत होते हैं और 'तीन' अर्थात् सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण होते हैं। इन सब तत्त्वों की संख्या मिलाने पर 'अट्ठाईस' होती है। ये सारे तत्त्व सभी प्राणिमात्र में समसमान भाव से विचरण करते रहते हैं। ब्रह्मदेव से लेकर स्थावर तक में ये सारे तत्त्व समान रूप में भरे हुए हैं। उसी प्रकार इनमें 'जीवचैतन्य' भी समसमान रूप में ही प्रतिबिम्बित हुआ है और यही सबका नाम, रूप और अभिमान प्रकाशित करता है। जलाशय में, कुएँ में अथवा समुद्र में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब एक जैसा ही होता है, उसी प्रकार ब्रह्मदेव से लेकर मक्खी तक सबके शरीर में जीव भी एक समान ही होता है। प्राणिमात्र में चैतन्य समसमान होने के कारण सबका आत्मा एक है यह समझना यही 'शुद्ध ज्ञान' है और मेरा भी यही मत है। अब विज्ञान का भी लक्षण तुम्हें बताता हूँ। इसे श्रीकृष्ण आधे श्लोक में वर्णन कर रहे हैं। पहले से ही देखते रहने के अनुसार व्यापक परब्रह्म से देहादिक सारे तत्त्व भरे हुए हैं यह वह निश्चित रूप से देखता है। जिस प्रकार घटादिकों में आकाश ही व्याप्त रहता है, उसी प्रकार सारे संसार में चिदाभास ही व्याप्त है। ऐसा शुद्ध ज्ञान ज्ञेयप्राप्ति का कारण होता है और ज्ञेय प्राप्त होते ही वह ज्ञान वृत्ति के साथ लुप्त हो जाता है। (यही विज्ञान है) वह केवल ज्ञान से ही जाना जाता है इसलिये उसे 'ज्ञेय' कहते हैं। और ज्ञेय प्राप्त होते ही जिस प्रकार सूर्य के तेज से जुगनू शरमा जाता है उसी प्रकार वह ज्ञान भी लज्जित हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उठता है। नमक पानी में मिलने पर उसका स्वभाव ही नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञेय प्राप्त होने के बाद ज्ञान का ज्ञातापन ही समाप्त हो जाता है। ज्ञेय की यथार्थ प्राप्ति होने के बाद, स्वरूप में केवल चिन्मात्रता ही रह जाती है, फिर व्याप्य-व्यापक अथवा साधक-बाधक जैसी बात नहीं रह जाती। सूर्योदय होने के बाद जिस प्रकार चन्द्रमा नक्षत्रों के साथ लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञेय की प्राप्ति के आगे सारे संसार के साथ ज्ञानसम्पत्ति का भी लोप हो जाता है। इस प्रकार का साङ्ग अपरोक्ष ज्ञान जब तक नहीं हो जाता तब तक वह प्रपंच के स्वरूप और संसार को आत्मा से भिन्न समझता है और केवल ब्रह्मज्ञान की बकवास करता है। ऐसा जो शाब्दिक ब्रह्मज्ञान है वह भी त्रिगुणात्मक ही रहता है और परब्रह्म तो निराकार और निर्गुण है, उसे न जन्म है न मरण। जितना भी कुछ त्रिगुणात्मक है वह सब नाशवान है। इसी विषय पर नाशवान और साकार का निरूपण अब श्रीकृष्ण स्वयं कर रहे हैं।

एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत्।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम्॥ १५॥

यदि नाशवान न होता तो सगुण को सत्य ही मानते। यहाँ तीन गुण हैं जिन्हें उत्पत्ति, स्थिति और लय है। रजोगुण से उत्पत्ति, सत्त्वगुण से स्थिति और तमोगुण से अन्त में नाश होता है। यह गुणों की वृत्ति का स्वभाव ही है। इन गुणों में परब्रह्म रहता ही है; उसी के योग से कार्य प्रकाशित होता है; लेकिन वह वस्तु जन्ममरणादि दोषों से अलिप्त रहती है और अविनाशी ही रहती है जो वस्तु तीनों गुणों पर आश्रित नहीं होती, जिसके योग से ही गुणों के कर्म चलते हैं, वह तीन गुणों से बिल्कुल अलग है। यही बात श्रीकृष्ण बताते हैं।

आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात्।
पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत्॥ १६॥

गुणों के पूर्व, मध्य और अन्त में, उसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय के समय जो अविनाशी रूप से विद्यमान रहता है, वही 'संत' अर्थात् शाश्वत है ऐसा मैं समझता हूँ। वह 'संततत्त्व' ऐसा है जिसके आधार पर संसार टिका हुआ है और जो संसार में अंतर्बाह्य भरा हुआ है और जिसके कारण संसार प्रकाशित होता है। यह संसार ही है जो उत्पन्न होता है और इसका लय होता है; लेकिन वह तत्त्व कायम ही रहता है। ऐसी जो आत्मवस्तु है, वही सच है, यह तुम जान लो। जिस प्रकार घट और मठ होते हैं और चले जाते हैं, लेकिन आकाश वैसे ही रहता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और लय होने पर भी परब्रह्म उसी अवस्था में एकत्र रहता है। अलंकार बनाने से पूर्व का सुवर्ण, अलंकार तैयार होने पर भी सुवर्ण के ही रूप में रहता है अथवा अलंकार टूटने पर भी सुवर्ण ही रहता है। उसी प्रकार चराचर को व्यापने वाला परब्रह्म अखण्ड ही रहता है। कैसा भी आकार या विकास हो लेकिन इससे परब्रह्म को कोई विकार नहीं होता। इस प्रकार अखण्ड रहने वाली जो परब्रह्म रूप वस्तु है, उसके चार प्रमाण हैं। उनके आधार पर उस वस्तु को जानें और प्रपंच को मिथ्या समझें।

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते॥ १७॥

यत्र-तत्र-सर्वत्र एक अद्वैत परब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं है। उस परब्रह्म में यह प्रपंच मिथ्या आभास ही है। इसका प्रमाण वेदों में भी है। देह की क्षणभंगुरता हम साक्षात देखते ही हैं। यही प्रपंच की अधिकता का दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण है। मार्कण्डेय और भुशुंडी ने कोटि-कोटि कल्पांत के समय प्रपंच को शख होते अपनी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आँखों से है। बड़े-बड़े लोगों के मुख से हमने अनेक बार यह सुना है जो प्रपंच की नश्वरता का तीसरा ऐतिहासिक प्रमाण है। शास्त्र प्रमाण तथा अनुमान से भी प्रपंच का भास मिथ्या ही है। वह मृगजल की तरह दिखाई देता है। उसमें वास्तविकता नहीं है। रस्सी वास्तव में रस्सी के ही रूप में रहती है लेकिन भ्रम से वह अनेक आकारों में दिखायी देती है। यह लकड़ी है या साँप है या मोतियों की लड़ी है? या पानी की धारा बह रही है? कुछ भी समझ में नहीं आता। उसी प्रकार परब्रह्म एक है तथा चैतन्यधन है। उसके सम्बन्ध में भ्रम से अनेक प्रकार के विवाद शुरु हो जाते हैं। कोई शून्य कहता है, कोई सगुण कहता है। कर्मधर्माचरण को भी मिथ्या कहा जाता है। इस प्रकार अनुमान-प्रमाण के आधार पर भी प्रपंचभास मिथ्या ही दिखायी देता है। उद्धव! वेदांत का सच्चा और प्रामाणिक मत यही है। तंतु के बिना वस्त्र अलग से दिखायी नहीं देता, उसी प्रकार प्रपंच भी ब्रह्म से अलग सत्यरूप में नहीं है। प्रपंच का मिथ्यापन श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य तथा अनुमान इन चार प्रमाणों से सिद्ध होता है इसलिये इस प्रपंच की विषयासक्ति को त्याग कर वैराग्य धारण करना चाहिये। इसी विषय का निरूपण स्वयं श्रीकृष्ण कर रहे हैं। विषयों का चिन्तन मिथ्या है तथा इस लोक में परलोक में भी अमंगल ही है।

कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्चादमङ्गलम्।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥ १८॥

यज्ञ याग आदि कर्मसाधनों से जो लोक प्राप्त होता है, वह नश्वर रहता है, इसे ध्यान में रखो। ब्रह्मलोक आदि जो लोक हैं वे सारे नश्वर होने के कारण अमंगल ही हैं। उस लोक में जिस सुख की बात होती है वह विष मिलाकर तैयार किये गये अन्न की तरह होती है। विषयुक्त अन्न खाते समय मधुर लगता है लेकिन अन्त में मृत्यु होती है। प्रकार स्वर्ग में रहने वाले का भी अन्त में अध:पतन होता है। यह लोक जैसा यहाँ दिखायी देता है, वैसा ही स्वर्ग भोग वहाँ भी दिखायी देता है। दोनों ही नाशवान हैं। कुत्ता काला हो या सफेद हो अमंगलता में दोनों ही एक जैसे हैं। उसी प्रकार नश्वरता की दृष्टि से इहलोक और परलोक दोनों समान हैं। इसीलिये हे उद्धव! इहलोक अथवा परलोक के सुखोपभोग के सम्बन्ध में हमेशा विरक्ति ही धारण करनी चाहिये। इसी का नाम वैराग्य है। अब तुमने अपने पहले प्रश्न में मेरी भक्ति के सम्बन्ध में पूछा था, उसी को मैं तुम्हें अपने मत के अनुसार बता रहा हूँ।

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्॥ १९॥

भक्ति के माहात्म्य के सम्बन्ध में मैं तुम्हें पूर्व में बता ही चुका हूँ। उस भक्ति पर तुम्हारा अत्यन्त प्रेम होने के कारण मैं तुम्हें उसे पुनः बता रहा हूँ। हे पुण्यमूर्ति उद्धव! सुनो! जिसे मेरी भक्ति की चाह होती है वह सारे त्रिभुवन में मुझे प्रिय रहता है क्योंकि मेरे भजन से ही मेरे भक्तों को परमपद की प्राप्ति होती है। उस भक्ति का लक्षण, भगवान प्रारम्भ से ही बता रहे हैं। इसलिये श्रोतागण सावधान होकर सुनें।

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥ २०॥

अमृत जैसी मेरी कथाओं का श्रवण करने से अमृत भी फीका लगता है और तत्काल भक्तिमार्ग की चाह उत्पन्न होती है। देवतागण अमृतपान करते हैं लेकिन वे भी अन्त में मर जाते हैं, लेकिन जो मेरे कथामृत का सेवन करते हैं वे कलिकाल को भी समाप्त कर देते हैं। कथासारामृत सेवन करने से वे अत्यन्त उन्मत्त हो जाते हैं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और मृत्यु को ही मारने लगते हैं। इससे उनके भय से ही सारा संसार भागने लगता है। मेरे कथामृतसार को प्राशन करने से उनका अंत:करण मेरी भक्ति में रंग जाता है। वे अत्यन्त उल्हास से मेरे गुण और चरित्र का गायन करते हैं। मेरा नाम, मेरे पद, अद्वैत बोध से, नानाप्रकार के छन्दों में, कीर्तनों में आनन्दपूर्वक गाते हैं और परमानन्द में डोलते रहते हैं। बड़े समारोह में अत्यन्त प्रेमपूर्वक नामसंकीर्तन का गजर करते रहते हैं और नामघोष के साथ तालियाँ बजाते हैं जिससे महापापों की होली जल जाती है। कीर्तन की ऐसी चाह उत्पन्न होने पर शास्त्रविधियुक्त प्रायश्चितों का कहीं ठौर नहीं रह जाता, तीर्थ लाचार हो जाते हैं और जप-तप के संकट नष्ट हो जाते हैं। कीर्तन का गजर सुनकर यमलोक का व्यापार रुक जाता है। उन्हें कोई काम न रहने के कारण वे खाली हाथ घूमते रहते हैं। शमधर्म अपने अस्त्र छिपा कर रखता है। कीर्तन की चाह देखकर भगवान दौड़ा-दौड़ा आता है, वैकुण्ठ से वह कूद कर आता है। इस प्रकार जो कीर्तन का नित्य निरन्तर गजर करता है, उसके अधीन मैं श्रीकृष्ण हो जाता हूँ। कीर्तन का मुझे वास्तव में इतना सम्मोहन होता है। कीर्तन की ही तरह वह मेरे गरुड़ध्वज की पूजा भी बड़े आदर से करता है। सुगन्धित पुष्पादिक सामग्री से देवता की पूजा करता है। इस प्रकार अत्यन्त निष्ठा से मेरी पूजा कर मेरा स्तुतिस्तोत्र भी गाता रहता है। आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देता।

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥ २१॥

वह अपने इन्द्रियों की योजना पूजाविधान की ओर करता है; 'वाणी' हरिकीर्तन को अर्पण करता है; 'हृदय' मेरे ध्यान में मग्न रखता है और 'अष्टांग' नमस्कार की ओर लगाता है। इस प्रकार वह अंतर्बाह्य अपनी इच्छा से मुझ पर ही समर्पित रहता है लेकिन मेरे भक्तों को देखते ही वह आनन्द में मेरे पास आना ही भूल जाता है। मेरे भक्त बड़े भाग्य से ही मेरे घर आते हैं। उस दिन को दीपावली या दशहरा की तरह समझना चाहिये। लड़की जिस प्रकार ससुराल से मायके आती है, उसी प्रकार यहाँ सारे तीर्थ दौड़ते हुए आते हैं। भक्तपूजा की शोभा देखने के लिये सनकादिकों के भी झुण्ड आते हैं। नारद, प्रह्लाद आदि भक्तों की टोलियाँ दौड़ती हुई आती हैं। उस स्थान पर असंख्य सिद्ध एकत्र होते हैं। बड़े-बड़े देवताओं की तो बाढ़ आ जाती है। महात्माओं के झुण्ड इकट्ठा होते हैं और पितर दौड़ते-हाँफते चले आते हैं। वेदों का तो वहाँ प्रवेश ही नहीं हो पाता; विधि विधान लजाकर पीछे मुड़ जाते हैं। इस प्रकार मेरे भक्त की पूजा के कौतुक से द्वार पर भीड़ उमड़ पड़ती है। बड़े उत्कर्ष से मेरे भक्त की पूजा देखकर मैं कृष्ण भी मोहित हो जाता हूँ फिर औरों की क्या बात की जाय? भक्तपूजा का ऐसा माहात्म्य है। मेरी पूजा को भी पीछे छोड़कर जो मेरे भक्त की प्रेम से पूजा करता है तो उसे मुझ श्रीकृष्ण के सकल लोकों के साथ सपरिवार पूजा करने का श्रेय प्राप्त होता है क्योंकि मेरी मूर्तियाँ अचेतन व्यक्ति तथा भक्त मेरी चलती बोलती मूर्तियाँ हैं। उनकी यथाविधि पूजा करने से मुझ भगवान को संतोष प्राप्त होता है। जो मद्भाव मेरे भक्त के प्रति रखते हैं वही भाव सारे भूतों के प्रति रखना चाहिये क्योंकि भूताकृति अलग होने पर भी सब में आत्मास्थिति एक जैसी होती है। देह का केशवपन करने से वह विधवा हो जाती है लेकिन आत्मा विधवा नहीं होती। दहकते अंगारे विभिन्न आकारों में दिखायी देते हैं लेकिन उनमें अग्नि एक ही होता है। उसी प्रकार सारे प्राणि मत्स्वरूप ही हैं। दीवार पर बने हुए चित्रों में अनेक आकृतियाँ दिखायी देती हैं लेकिन जिस प्रकार उनमें दीवार एक ही रहती है, उसी प्रकार मैं चिदात्मा समस्त प्राणिमात्र में भरा हुआ हूँ इसे निश्चित समझना चाहिये। दूसरी बात यह है कि दूजेपन का अहंकार त्याग कर समस्त प्राणिमात्र में मेरी भावना रखना यही मेरी सबसे श्रेष्ठ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पूजा है और मुझे वह अत्यन्त प्रिय है। इस प्रकार जो मेरी पूजा करता है वह मेरा अत्यन्त चहेता होता है, मैं सर्वांग से उसके घर में काम करता हूँ क्योंकि उसका मुझ पर स्वामित्व रहता है। उसकी प्रत्येक कृति मेरा भजन ही रहता है। यही बात श्रीकृष्ण उद्धव को बता रहे हैं।

मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥ २२॥

लौकिक कर्म हो अथवा अन्य कोई भी शरीर कर्म हो उस कर्म द्वारा मेरी भक्ति उत्पन्न होती है। उद्धव! मेरे भजन का स्वरूप बड़ा निराला है। वह भक्त बाहर चबूतरे पर बैठकर गपसड़ाका भी करे लेकिन उसमें मेरा कीर्तन उत्पन्न होता है। उसकी रसाल वाणी मेरे गुण के गायन की गर्जना करती है। वह जो स्वधर्म कर्म क्रिया करता है, वह भी मुझे ही अर्पण करता है। मेरे सिवा अन्य कुछ भी करना उसकी समझ में नहीं आता है। उसके सारे इन्द्रियों के कर्म में मेरी भक्ति अपने आप उत्पन्न होती है। मेरे नाम के सिवा अथवा मेरे गुणानुवाद के सिवा उसकी वाणी को और कुछ भी मालूम नहीं होता। उसे जो कुछ अच्छा लगता है वह सब वह मुझे ही अर्पण करता है और अन्त में वह अपना मन भी मुझे अर्पण करता है। अब मन किस प्रकार मेरे स्वरूप में अर्पण होता है, इसका निरूपण श्रीकृष्ण स्वयं कर रहे हैं।

मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः॥ २३॥

मैं जो परमात्मा हूँ, वही सच्चा स्वार्थ है, ऐसा निश्चय कर, अपना परमार्थ साधने के लिये लोग धन-धान्य आदि सर्वस्व खर्च करते हैं। परमार्थ पूरी तरह साधने के लिये मन में सच्चा वैराग्य होना आवश्यक होता है इसलिये मुझ श्रीकृष्ण से मिलने के लिये वे सारे सुखोपभोग का त्याग करते हैं। छत्र, चामर, हाथी, घोड़े आदि सारा वैभव छोड़कर रंक बन जाते हैं। मुझ तक यदि पहुँचना है तो प्रखर वैराग्य चाहिये। मेरा निजसुख प्राप्त करने के लिये पत्नी, बच्चे, धनधान्य आदि का झट त्याग कर देते हैं। उन्हें इतना अधिक अनुताप होता है। चाह कर मेरा भजन करने से वे भोग को भूलने लगते हैं। सच्चा भक्त मेरी प्राप्ति के लिये एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देता। मुझे प्राप्त करने के उद्देश्य से ही श्रौत स्मार्त कर्म करता है। अग्निहोत्र, यज्ञयाग, बड़े-बड़े व्रत वह मेरे लिये करता रहता है। मेरा चिद्रूप प्राप्त करने के लिये गायत्री आदि मंत्रों का जाप करता है। दुर्धर तप भी मत्स्वरूप की प्राप्ति के लिये करते हैं। मैं विश्वंभर सर्वव्यापी और सर्वतोमुखी होने के कारण वह गरीबों को अन्नदान करता है, उससे मैं सुखी होता हूँ। हृदय में मैं स्वतः सिद्ध ही रहता हूँ, मेरा आवाहन कर वह भोजन करता है और वह भी मुझे ही अर्पण करता है। प्रत्येक ग्रास के साथ हरि का स्मरण करने से वह अन्न पूर्ण ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार मेरे भक्त स्वयं ही अपने सारे कर्म मुझे अर्पण करते हैं। इस प्रकार जो सदासर्वदा अपने सारे कर्म कृष्णार्पण करता है, उसका मन भी मुझे ही अर्पण होता है। उसी का निरूपण भगवान करते हैं।

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥ २४॥

लोहे को तैयार कर, उस पर उत्तम मुलम्मा लगाया जाय तो उसका दर्पण बन जाता है। उसी प्रकार सारे कर्म मुझे अर्पण करने से मन भी शुद्ध हो जाता है। सोने को जितना तपाया जाय उतना उसका तेज बढ़ता है; वस्त्र जितना अधिक धोया जाता है उतना अधिक वह स्वच्छ होता है। उसी प्रकार सारे कर्म मुझे अर्पण करने से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मन भी निर्मल होता है और मन शुद्ध होते ही वह मेरे स्वरूप में अर्पण होने लगता है। नदियों में बाढ़ का पानी मिलने से वे समुद्र में जाकर मिलती हैं, उसी प्रकार मन निर्मल होते ही वह मेरे स्वरूप में आकर मिलता है। मेरे स्वरूप में मन जब स्थिर होता है, उस समय आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी ये तीनों प्रकार समाप्त हो जाते हैं और चौथा प्रकार 'भक्ति' उत्पन्न होती है। भक्ति ही मेरी पूँजी है। उसमें दूसरी, तीसरी या चौथी समझना साधकों का भ्रम है। मेरी अनेक भक्तियाँ नहीं हैं। वही एक मेरी श्रेष्ठ भक्ति इस साधन से प्राप्त होती है; ब्रह्मदेव, शंकर, सनकादिक आदि इसी भक्ति के कारण मेरे भक्त कहलाते हैं। अहंकार पूरी तरह नष्ट होने पर सारे प्राणि आत्मस्वरूप दिखायी देने लगते हैं। उद्धव! मेरे स्वरूप की जो 'सहजास्थिति' है वही मेरी श्रेष्ठ भक्ति है। इस श्रेष्ठ भक्ति का यदि एक अंश भी प्राप्त हो जाय तो आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी सज्ञान होकर विचरण करने लगते हैं। वे सच्चे साधक बन कर अपना स्वार्थ साधते हैं। यही भक्ति आर्त के मन में परमार्थ के विषय में आर्तता उत्पन्न करती है। मन में भगवत्प्राप्ति की तीव्र व्यथा उत्पन्न होना, यही परमार्थ की 'आर्त्तता' है। जो भगवान की प्राप्ति के लिए चट्टान पर से कूदने में भी नहीं डरता और जलती आग में भी प्रवेश करना चाहता है उसको ही वास्तव में 'आर्त' कहते हैं। आर्त की स्थिति ऐसी होती है; किन्तु जिज्ञासु ऐसे साहस का निवारण करता है। वह कहता है, मनुष्यदेह ब्रह्मप्राप्ति का साधन है। आत्महत्या से उसका विनाश नहीं करना चाहिये। पूर्व के भक्तों ने किस प्रकार भगवद्भक्ति सम्पादित की, वह रीति जानने के लिये जो जीवप्राण हो उस युक्ति पर चलता है उसका ही नाम है 'जिज्ञासु'। मुझे जानने की जो इच्छा है उसी का नाम है 'जिज्ञासा'। वही मेरे स्वरूप को प्रकाशित करती है। इसीलिये मैं उन्हें 'जिज्ञासु' कहता हूँ। परब्रह्म तक पहुँचने के लिये जिस युक्ति का प्रयोग होता है, उसी का नाम है 'शुद्ध जिज्ञासा'। वेदशास्त्र के अर्थज्ञान सम्बन्ध से जो प्रयास किया जाता है उसे लौकिक जिज्ञासा कहते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक अर्थ में मुझे माँगना या मुझे ही खोजना, इसे 'शुद्ध अर्थार्थी' कहते हैं, यह ध्यान में रखो। अर्थ की अर्थात् द्रव्य की इच्छा करनेवाले को जो अर्थार्थी कहते हैं वे उस शब्द का गलत अर्थ लगाते हैं। संसार में अनेक अर्थ अथवा वस्तु दिखाई देती हैं, उनका विचार कर जो परमार्थ की ओर दृष्टि लगाता है, उसी को 'अर्थार्थी' कहते हैं। उसमें भी मेरी भक्ति प्रकाशित होती है। इस प्रकार आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी इनमें मेरी 'सहजभक्ति' प्रकाशित होती है। भक्त अपनी कल्पना भ्रान्ति से मेरी भक्ति के चार प्रकार मानते हैं। लेकिन वह गलत है। मेरी जो निजभक्ति है वह 'एकमेव' है। ऐसी मेरी निजभक्ति कैसे प्राप्त की जाती है, आत्मनिवेदन की स्थिति कैसी होती है, उसे हे उद्धव! मैंने तुम्हें स्पष्ट रूप से बतला दिया है। जिन भक्तों के हाथ में मेरी इस भक्ति का सार सचमुच आ जाता है, उनके सारे व्यापार मद्रूप हो जाते हैं। वह जिधर ध्यान देते हुए बैठ जाता है वह दिशा मैं ही बन जाता हूँ। वह जिधर अपने कदम बढ़ाता है, वहाँ की धरती भी मैं ही बन जाता हूँ। वह भोजन करने बैठता है तो मैं षडरस बन जाता हूँ और प्राशन करने के लिये जल भी मैं ही बन जाता हूँ। वह निजपदों से चलने लगता है तो मैं निजबोध से सामने का दृश्य समुदाय नष्ट कर देता हूँ और शान्ति पहले से ही पाँवड़े बिछाये पग-पग पर उसकी नजर उतारती जाती है। शम-दम हाथ जोड़े आज्ञाधारी सेवक की तरह हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। ऋद्धि-सिद्धि घर में दासी की तरह खटती रहती हैं और विवेक तो उसके घर के रोज के चाकर की तरह काम करता रहता है। उसका बैठने का स्थान मैं ही बन जाता हूँ। वह शान्ति से सो सके इसलिये मैं ही उसके लिये समाधि का बिस्तर तैयार कर देता हूँ। वह जिन शब्दों का उच्चार करता है उसमें निःशब्द ब्रह्म ही शब्द रूप में प्रकट होता है। इसलिये सुनने वालों को भी उससे समाधान होता है। वह सहज ही कुछ बोलने लगता है तो उस बोल के साथ मेरे गुणानुवाद प्रकट होते हैं। इसलिये उसकी बातें सुनते समय स्वाभाविक रूप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

से ही श्रोतागण उसके गले में बाहें डाल देते हैं। वह परावाणी के ऊपर चढ़ते समय बैकुण्ठ और कैलास की सीढ़ियाँ बनाता है और उस उन्मनी अवस्था को दूर भगाकर सुखशय्या पर शयन करता है। चारों मुक्ति एकत्र होकर उसके घर पानी भरती हैं। मैं श्रीकृष्ण भी लक्ष्मी के साथ उसके घर में काम करता हूँ। फिर औरों की महत्ता की बात क्या करें? सहसा उसके मुख से किसी के लिए 'तुम्हारा उद्धार हो गया' यह सुनते ही मैं हृषीकेश उसे अपने मस्तक पर बिठाया हूँ और उसके वचन के कारण उसे निजधाम पहुँचाता हूँ। जिन्हें मेरी सहजभक्ति प्राप्त हो जाती है उसके लाड़ मैं इस प्रकार पूरे करता हूँ। उद्धव! और क्या-क्या बताऊँ? समझ लो कि मैं देह हूँ और वह आत्मा है। वह मेरा जीव, मेरा प्राण रहता है। यह बात केवल निजभक्तों की ही मालूम रहती है। वह जब सहजभक्ति में विचरण करता है, उस समय मैं भगवान हूँ और वह मेरा भक्त रहता है। अन्यथा मैं पूर्णतयः उसके भीतर और वह मेरे भीतर होता है। इस प्रकार हम दोनों एकरूप से निरन्तर रहते हैं। नाम से भले ही दोनों बाहर हों। जो मेरे साथ एकरूपता के लिये आये वे 'मैं' ही बनकर रह गये; लेकिन जो इस प्रकार मुझे भजते हैं उन्हें मैं 'भक्त' समझता हूँ। उद्धव! एकरूपता से भी अधिक मधुर मेरी भक्ति है; इसी निरूपण की तुम्हें चाह थी यह जानकर ही तुम्हें यह स्पष्ट करके बताया। मेरे ऐसे भक्तों को दूसरा कोई लाभ शेष ही नहीं रह जाता। मैं श्रीहरि उनके निजभाव से ही पूर्णतयः सन्तुष्ट होता हूँ। भागवतशास्त्र भक्तिप्रधान है। उसके निजभक्ति का सार मैंने तुमसे आदरपूर्वक निवेदन किया। तुम्हारी पसन्द के बहाने मैंने अपनी अत्यन्त गुप्त वस्तु 'भक्ति' तुम्हें मिष्ठान्न के रूप में प्रस्तुत की है। जिस ढंग से मैंने तुम्हें बताया उसी ढंग से मेरी श्रेष्ठ भक्ति का आचरण करना चाहिये। ऐसा कहते हुए भगवान ने उद्धव को प्रेम से उठाया। पीताम्बर पीछे सँवारा, शंख चक्र फेंक दिया और उद्धव को उठा लिया। फिर भी भगवान का प्रेम कम होने का नाम नहीं ले रहा था। दो हाथ कम पड़ रहे थे इसलिये उन्होंने चारों हाथ फैलाये और उद्धव को प्रेम से गले लगा लिया। हृदय से हृदय मिल गया। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपना सर्वस्व उद्धव के हृदय में उड़ेल दिया। श्रीहरि अवाप्त काम और इच्छारहित थे, लेकिन उसे भी भक्ति की चाह थी। उद्धव उसे इतना प्यारा लगा कि उसने स्वानंद से उसके सारे लाड़ पूरे किये। उद्धव से उनकी इतनी प्रीति थी कि वे आलिंगन में बँधे उद्धव को छोड़ना ही भूल गये और देखो। कृष्ण के हृदय से हृदय मिल जाने के कारण उद्धव भी अपने आप को भूल गया। इस प्रकार दोनों आनन्द और चाव से निष्काम प्रेम में डूब गये। उद्धव तो भक्तिसुख की समृद्धि में डूब ही गया। कृष्ण ने अपना सर्वस्व उद्धव के हृदय में उड़ेल दिया लेकिन उद्धव को इसकी जानकारी नहीं होने दी। श्रीहरि का यह बहुत बड़ा चमत्कार था क्योंकि (भगवान कहते हैं) उद्धव को यदि मेरे हृदय की यह बात मालूम हुई तो वह मेरे पास ऐक्य के लिये आयेगा; फिर आगे की सरस कथा किसे सुनाई जाय? उद्धव के साथ निरन्तर प्रेम से बोलना अच्छा लगता है। इसका कारण यह है कि वैसा कोई अन्य श्रोता नहीं मिल पाता। भक्तिसुख की महत्ता बताने का शौख मैं किसके सामने पूरा करूँगा इसलिये उद्धव की आड़ में प्रेम छिपा दिया। सूर्य से किरणों निकलती है उसी प्रकार उसके आलिंगन का बन्धन छूटा और कृष्ण और उद्धव अलग हो गये। फिर भी उनकी अभिन्नता नहीं टूटी। अस्तु! (टीकाकार श्री एकनाथ कहते हैं) अगली कथा का सन्दर्भ और श्लोक का सम्बन्ध छूट गया, इसलिये श्रोतागण अन्यथा न सोचें। मूल अर्थ का विचार करें। मूल पद संक्षेप में है। उसका मैंने केवल विस्तार किया है। इसे व्यर्थ की बकवास न समझें। इस पर श्रोतागण बोले, कैसा आश्चर्य है। मूल में पद अत्यन्त गूढ़ था, तिस पर तुमने श्रीहरि के मन से भक्ति सारामृत निकाल लिया। तुम्हारे हृदय में श्रीकृष्णनाथ प्रकट होकर, अपना हृद्गत ग्रन्थ में तुम्हारे द्वारा कहलवा रहे हैं, यह हमने अच्छी तरह जान लिया है। यह भक्तिसारामृत श्रवण करते ही चित्त में चैतन्य जगने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लगता है। तुम ग्रन्थ का अर्थ यथार्थ ढंग से बता रहे हो। संतों का यह भाषण सुनकर एकाजनार्दन को हर्ष हुआ और उसने श्रीचरणों में मस्तक रख दिया। अब आगे का निरूपण सुनें। श्रीकृष्ण अपनी भक्ति को आदरपूर्वक दृढ़ करने के लिये अपने निरूपण की पुनरावृत्ति कर रहे हैं।

यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम्।
धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते॥ २५॥

अपना अंत:करण मुझे अर्पण कर देने से मेरी भक्ति उल्हास के साथ बढ़ती है, इस सम्बन्ध में मैं पहले ही बता चुका हूँ। अब मन को मेरे स्वरूप में अर्पण करने का एक सरल उपाय बताता हूँ, सुनो। मेरा नामस्मरण करने से पापों का विनाश होता है। मन की कोई कामना रख नामस्मरण करने से वह नाम ही उस कामना को पूर्ण करता है और बिना इच्छा किये नामस्मरण करने से समस्त पालकों का विनाश करता है और पाप भस्म हो जाने पर रज और तम को जीत कर अपने आप ही धर्मपरायण तथा धार्मिक सत्त्वगुण बढ़ने लगता है। सत्वगुण के कारण वैराग्य हमेशा के लिये अटल हो जाता है। वैराग्य के कारण विषय का निर्मूलन हेाता है जिससे आत्मज्ञान प्रकट होता है। विवेक के साथ ज्ञान बढ़ने से स्वरूप का अनुसंधान होता है और शान्ति का समाधान बढ़ता जाता है, उस समय मन मुझे अर्पण होता है। मन मेरे प्रति अर्पण होने पर निजभक्ति प्रकट होती है। उसका सारा निरूपण मैंने पिछले श्लोक में किया ही है। निजभक्ति पूर्णरूप से प्राप्त होने पर अष्टमहासिद्धि स्वयं होकर उसके आँगन में खड़ी हो जाती हैं। उन सिद्धियों की ओर वह आँख उठा कर भी नहीं देखता। उसके लिये अप्राप्य कोई भी वस्तु नहीं रहती। मेरे भक्तों का मुझसे ऐक्य होने के बाद उन्हें मेरी पूरी सत्ता प्राप्त होती है। मेरी ऐसी भक्ति को न प्राप्त कर तथा आत्मस्थिति का लाभ न उठाकर, विषयासक्ति से व्यवहार करने पर बहुत बड़े अनर्थ का सामना करना पड़ता है।

यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम्॥ २६॥

जो वेदशास्त्र को नहीं मानता, परमार्थ पर जो विश्वास नहीं करता; जो घर, स्त्री, बच्चे और सम्पत्ति पर आसक्त होकर विषयों पर ही लुब्ध रहता है, उसमें विषय की अधिकता से रजोगुण अत्यन्त क्षुब्ध हो उठता है और उसका चित्त ज्ञान के प्रति अन्धा हो जाता है। ज्ञान का अर्थ उसे विपरीत ही दिखायी देने लगता है। जो लोग उसे विषयोपभोग के अनेक उपाय सुझाते हैं, उसे वह बड़ा 'ज्ञानी' मानता है और जो छलवाद की युक्ति से मुँह बन्द करता है, उसे पण्डित कहते हैं। जिसके पीछे बहुत बड़ा प्रपंच रहता है, उसे 'भाग्यवान' समझते हैं और जो नाना उपभोगों से अपने शरीर का पोषण करता है उसे 'पुण्यवान' पुरुष मानते हैं। परमार्थ विषयों में अनुतापी रहता है उसे बड़ा 'दु:खी' कहते हैं; जो अनेक प्रकार के विषयों का पोषण करता है उसे बहुत बड़ा 'सुखी' मानते हैं। जिसके शाप से मनुष्य की मृत्यु होती है, उसे 'सिद्ध' मानते हैं। जिसके आचार में दंभ होता है, उसे बड़ा 'पवित्र' मानते हैं और स्त्रियों को तथा शूद्रों को मंत्र देता है उसे बहुत बड़ा 'ज्ञाता' कहते हैं। जो अनुतापी और वैराग्यशील होता है, उसे 'भाग्यहीन' कहते हैं और जो सबके समक्ष विषयों का उपभोग करता है उसे 'राजयोगी' मानते हैं। जो स्वयं धन का अभिलाषी होता है वह धन खर्च करने वाले को 'मूर्ख' कहता है और खर्च न करने वाले को 'विचारी' तथा 'धर्मज्ञ' मानता है। जिसकी गाँठ में काफी द्रव्य रहता है, वह सबको अत्यन्त 'पूज्य', 'पवित्र' तथा 'ज्ञानी' लगता है। ऐसा विपरीत ज्ञान उन्हें होने लगता है। वह स्वयं सर्वात्मा और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सर्वेश है यह बिलकुल भूलकर वह अपने को अधर्मी, अकर्मी, दीनदुबला तथा अज्ञानी मानने लगता है। ऐसी स्थिति में मेरी भक्ति कैसे उत्पन्न होगी? और मेरी प्राप्ति भी कैसे होगी? इस प्रकार संसार के भवसागर में फँस कर कितने लोग चक्कर खा रहे हैं, उनकी कोई गिनती नहीं है। परमात्मा को प्राप्त करने के चार उपाय हैं और वे चारों अत्यन्त गुप्त हैं। अंत:करण के वात्सल्य के कारण श्रीकृष्ण उद्धव को वे उपाय बताते हैं। धर्म की प्रमुख भूमिका है भजन, उससे उत्पन्न होता है ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। ये चार उपाय मेरी प्राप्ति के लिये आवश्यक हैं। उनके सम्बन्ध में बताता हूँ, सुनो।

धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम्।
गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः॥ २७॥

उद्धव! अब मैं असली मर्म तथा गुह्य में गुह्य बात तुम्हें बताता हूँ। मेरी प्रेमयुक्त भक्ति वही सबसे अच्छा धर्म है, यह जान लो और ऐक्य से एकात्मता का जो साक्षात बोध होता है और फिर कभी भेद उत्पन्न नहीं होता, उसी का नाम है, 'शुद्धज्ञान' ऐसा परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ने कहा। धनधान्य का ढेर सामने पड़ा हो या उर्वशी सेज पर आयी हो लेकिन जिसे वह सब तुच्छ मालूम होता है उसे ही हम 'वैराग्य' कहते हैं। हे बुद्धिमान उद्धव! सुनो! मेरी अष्ट महासिद्धि हैं जो मुझसे कभी दूर नहीं होती, वे अटल हैं। मेरी श्रेष्ठ भक्ति के निश्चय से जो एकात्मता प्राप्त कर मेरी पदवी पा लेता है, उसके घर में मेरी सिद्धियाँ दासी बनकर रहती हैं। सिद्धि उसकी सेवा करती हैं इसमें आश्चर्य की क्या बात है? मैं लक्ष्मी के साथ भक्तों की भक्ति करता हूँ। 'ऐश्वर्य' का प्रमुख लक्षण है, स्वयं भगवान की योग्यता प्राप्त कर भगवद्-ऐश्वर्य से अत्यन्त सम्पन्न होना। यह मेरे गुप्त भण्डार की चाभी है। उसे लेकर आत्मानंद का कमरा खोलो और अपनी सुखसिद्धि का उपभोग करो। श्लोक के चार शब्दों का ऐसा गहन प्रतिपादन सुनकर उद्धव को बड़ा आश्चर्य हुआ। 'धर्म' आदि को लेकर चार शब्दों का अर्थ भगवान ने विचित्र-सा बताया, उसी प्रकार अब यम आदि का अर्थ भी भगवान से पूछा जाय ताकि श्रीकृष्ण उसका गुप्त अर्थ बताएंगे, यह बात मन में लाकर ही परमार्थ को पूर्णरूप से जानने के लिये उद्धव स्वयं ही यम आदि के प्रश्न पूछ रहा हो। पाँच श्लोकों में उसने गहन ज्ञान के पैंतीस प्रश्न पूछे हैं। उनके उत्तर सुनने पर 'जीव' और 'शिव' दोनों का समाधान होगा। पहले श्लोक में छह प्रश्न हैं; दूसरे में नौ हैं तथा तीसरे और चौथे में आठ-आठ हैं और पाँचवें में चार प्रश्न हैं।

उद्धव उवाच

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन।
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो॥ २८॥

अहंकाररूपी शत्रु का विनाश करने वाले श्रीकृष्ण! 'यम' और 'नियम' के कितने प्रकार हैं? 'शम' और 'दम' किसे कहते हैं? उसी प्रकार, 'तितिक्षा' और 'धृति' कैसी रहती है?

किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते।
कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा॥ २९॥

यहाँ 'दान' क्या है और 'तप' क्या है? 'शौर्य' क्या है और 'सत्य' कैसा रहता है? उसी प्रकार जिसे 'ऋत' कहते हैं उसका यथार्थ ढंग से वर्णन करें। इसी प्रकार 'त्याग' क्या है? पुरुष के लिये इष्ट धन कौन सा होता है? 'यज्ञ' किसे कहते हैं? और उसमें 'दक्षिणा' क्या होती है?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पुंसः किं स्विद् बलं श्रीमन् भगो लाभश्च केशव।
का विद्या ह्रीः पराका श्रीः किं सुखं दुःखमेव च॥ ३०॥

पुरुष के पास 'बल' की कौन-सी शक्ति होती है? किस स्थिति को 'दया' कहते हैं? उसी प्रकार हे कृपामूर्ति श्रीकृष्ण 'लाभ' क्या है, इसे भी बतायें। यहाँ 'सुख' कौन-सा है और कैसा है? इसे भी कृपापूर्वक बतायें। उसी प्रकार सुख के साथ जो 'दुःख' हेाता है उसका स्वरूप भी कथन करें।

कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित् को बन्धुरुत किं गृहम्॥ ३१॥

'पण्डित' का क्या लक्षण है? किस गुण के कारण मूर्ख कहते हैं? 'सुमार्ग' कौन-सा होता है? उसी प्रकार 'दुर्मार्ग' का भी निरूपण करें। 'स्वर्ग' किसे कहते हैं? 'नरक' को कैसे पहचानें? 'सखा', 'बन्धु' किसे कहा जाय? और मेरा 'घर' कौन सा है?

क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः।
एतान् प्रश्नान् मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते॥ ३२॥

'सम्पन्न' हम किसे कहें? 'दरिद्र' को कैसे पहचाना जाय? 'कंजूस' किसे कहा जाय? 'ईश्वर' को कैसे पहचाना जाय? ये मेरे प्रश्न हैं। जो लौकिक अर्थ से भिन्न और परमार्थ के लिये साधन बन सके ऐसा अर्थ स्पष्ट करके बतलायें। लौकिक दृष्टि से जो विरुद्ध होता है उसे ही 'विपरीत' कहते हैं। इसलिये उन सबका मतितार्थ परिमार्थ के सन्दर्भ में बताएँ। संतमूर्ति ज्ञान से सम्पन्न रहते हैं लेकिन तुम उनके भी स्वामी हो। इसीलिये शास्त्रार्थ से लोग तुम्हें 'सत्पत्ति' कहते हैं। हे श्रीपते! परमार्थ प्राप्ति के लिये मुझे मेरे प्रश्नों का यथार्थ दृष्टि से उत्तर दें, ऐसी विनती उद्धव ने श्रीकृष्ण से की। भक्त की यह विनती सुन कर नारायण के मन में कृपा उपजी। अतः उसके परमार्थपरक प्रश्नों का उत्तर श्रीकृष्ण 'यम' और 'नियम' का विशद निरूपण करेंगे और जो शेष अत्युत्तम प्रश्न है उनका उत्तर अध्याय के अन्त में देंगे।

श्रीभगवानुवाच

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमा भयम्॥ ३३॥

पहले श्लोक में यम के बारह लक्षणों का वर्णन है। प्रश्न के अनुसार श्रीकृष्ण उसका उत्तर दे रहे हैं। आगे अनेक प्रश्न हैं अतः यम नियमों का उत्तर श्रीकृष्ण संक्षेप में दे रहे हैं। काया, वाचा अथवा मन से किसी को पीड़ा न हो, इसका नाम है 'अहिंसा'। और जो यथार्थ हों उसका वर्णन करना ही 'सत्य' है। अब 'अचौर्य' का भी लक्षण सुनो। अपने हाथ से चोरी न करना, इतना ही नहीं बल्कि किसी के धन के बारे में मन में भी इच्छा न करना यही 'अस्तेय' अर्थात् चोरी न करने का लक्षण है। लोग यात्रा पर जाते हैं उस समय जिस प्रकार साथ में एकत्र लोगों के प्रति आसक्ति नहीं होती, उसी प्रकार घर-बार होते हुए भी जिसकी उसके प्रति आसक्ति नहीं होती। स्फटिक को जिस रंग पर रख दिया जाय, उसी रंग का वह दिखायी देता है लेकिन भीतर से वह निर्विकार ही रहता है। उसी रूप में जो शरीर में रहता है उसे 'असंगता' कहते हैं। निंद्यकर्म से जिसे मन से ही घृणा रहती है और लोकजीवन में निंद्यकर्मों से लज्जित होना, इसी का नाम 'लज्जा' है। इहलोक में जिसे संग्रह करना

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मालूम ही नहीं रहता क्योंकि देह प्रारब्ध के अधीन है यह वह जानता है, उसी प्रकार स्वर्ग के सुखोपभोग के लिये वह पुण्य का भी संचय नहीं करता; क्योंकि जिस पुण्य से स्वर्गभोग प्राप्त होते हैं उसी पुण्य का क्षय होते ही पुनः जन्म लेना पड़ता है; इसलिये पुण्य सम्पत्ति का क्षय होगा इसलिये मेरे भक्त संग्रह नहीं करते। इसी का नाम है 'असंचय' अर्थात् संग्रह न करना। अब 'आस्तिक्य' का लक्षण यह है कि सर्वत्र सब जगह मेरा ब्रह्मस्वरूप ही व्याप्त है, यह देखना। ब्रह्म का अभाव वह कहीं नहीं देखता। 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ है कि आश्रम के अनुसार शास्त्रों में जो आचार बताया गया है उसे निश्चयपूर्वक पालन करना। झूठ और अनुचित भाषण न करने का ही अर्थ है, 'मौन'। नित्य वेदपठन, गायत्री स्मरण अथवा भगवान का नामस्मरण करना चाहिये (यह भी मौन ही है) वृत्ति आत्मस्वरूप में, स्वधर्म में अथवा साधु की संगत में स्थिर होने का अर्थ है 'स्थिरता'। कोई देह का वन्दन करे अथवा मारे लेकिन दोनों ही समय क्षमा एक जैसी। देह का भोग प्रारब्ध पर निर्भर है, वह विचार कर वह सदा क्षमाशील रहता है। अभय को पहचानने का ढंग है कि जो-जो पराया दिखाई देता है, उसे अपना ही समझना। आत्मा भी एक है और पंचमहाभूत भी एक ही है। यदि देखा जाय तो इसके सिवा कुछ भी नहीं है। इसकी प्रतीति होते ही भय का महादुःख समाप्त हो जाता है। इसी का नाम है 'अभय'। दूजेपन की बात ही समाप्त होने पर संसार में दवा के लायक भी भय नहीं मिलता। इस प्रकार अभय के आनन्द की पुष्टि आत्मदृष्टि से हो जाती है। इन्हीं का नाम है बारह यम! उद्धव! इनका रहस्य तुम्हें बतलाया। अब जिसे 'नियम' कहते हैं उसके नियम भी सुगम दृष्टि से बताता हूँ। सुनो।

शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ ३४॥

'शौच' अर्थात् स्वच्छता का प्रकार ऐसा है। विचारों से अंतःकरण की शुद्धि करें और बाह्य शौच अर्थात् शुद्धि वेदाज्ञा के अनुसार मृत्तिका और जल से करें। अब 'जप' का विचार सुनो। जिसे जैसा अधिकार प्राप्त हो उसके अनुसार मंत्र का जप करें अथवा अलग से किये गुरु का नाम अथवा गुरु ने दिया हुआ मंत्र जपें। 'वेदघोष' ब्राह्मण का जप है और 'ओंकार' संन्यासी का जप है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन जातियों को 'द्विजन्मा' कहते हैं। उन्हें आगमोक्त मंत्र का जप करना चाहिये। नाममंत्र तो सभी के लिये लागू है। अब जिससे अंतःकरण की शुद्धि होती है, वह तप का प्रमुख प्रकार है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने धर्म का आदरपूर्वक आचरण करना चाहिये। शरीर शोषण को 'तप' कहना मूर्खों का प्रयास है। हृदय में सत्त्वरूप श्रीहरि का चिन्तन करना ही सबसे श्रेष्ठ तप है। अब 'होम' के बारे में सुनो। 'अग्नि' देवता का मुख है। इसके लिये पंचमहायज्ञ, अग्निहोत्र आदि करना 'होम' कहलाता है। उद्धव! मेरे भजन की अत्यन्त चाह रखना अथवा धर्म के प्रति प्रेम रखना इसी का नाम मूर्तिमंत 'श्रद्धा' है। समय पर अन्न अथवा धन न होने पर भी सत्कार से समाधान करता है, दीन-दुखियों के चरणों का वन्दन कर मधुर भाषण से उन्हें सन्तुष्ट करता है। जो सचमुच ही दीन है उसे देखकर उसे अत्यन्त नम्र होकर यथाशक्ति द्रव्य अर्पण करना, इसी का नाम 'आतिथ्य' है। अंतःकरण की सच्ची आकुलता से, प्रेम से लोकसमाज के साथ बड़े समारोह से मुझ भगवान की विधिपूर्वक पूज़ा करना, अथवा ब्राह्मणों का समुदाय एकत्र कर उनकी षोढशोपचार पूजा करने से मुझ श्रीहरि को सन्तोष प्राप्त होता है, क्योंकि ब्राह्मणों की पूजा अत्यन्त पवित्र वस्तु है। उसी प्रकार अंतःकरण शुद्ध करने के लिये तीर्थयात्रा पर जाते रहना चाहिये। तीर्थयात्रा में श्रद्धा रखने का ही नाम है 'तीर्थाटन'। पग-पग पर मेरे नाम की जय-जयकार तथा मेरा गुणानुवाद

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करते हुए, इच्छामुक्त होकर यात्रा करने का ही नाम है 'तीर्थयात्रा' । जिस प्रकार पर्वत परोपकार के ही लिये खनिज पदार्थ तथा वनस्पतियों का भार वहन करते हैं, उसी प्रकार केवल परोपकार के लिये निरन्तर कर्म कर सदासर्वकाल उपकार करते रहना चाहिये। चन्द्र की किरणें जिस प्रकार स्पर्श होते ही शान्ति प्रदान करती हैं, उसी प्रकार उसका आचरण उपकार से ही जन-जन को सुखी करता है। दैव से जो कुछ प्राप्त होगा, उसने पर ही वह संतोष कर समय व्यतीत करता है। मन में समविषम भाव ही उत्पन्न नहीं होता। इसी का नाम है 'यदृच्छा लाभ संतुष्ट' अर्थात् प्राप्त स्थिति में सन्तुष्ट रहना। काया, वाचा, मन और धन गुरु को अर्पण कर जो गुरु की शरण में जाता है, उसके संसार का बन्धन नष्ट हो जाता है। इसी का नाम है 'गुरुसेवा'। शौच के दो गुण तथा जप आदि दूसरे दस लक्षण मिला कर बारह 'नियम' हैं। इस प्रकार स्वयं श्रीकृष्ण ने वर्णन किया।

एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।
पुंसामुसासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि॥ ३५॥

इस प्रकार दो श्लोकों में यमनियमों का अच्छी तरह निरूपण किया। प्रत्येक के बारह-बारह लक्षण बतलाये। इसी को शास्त्रार्थ में 'परमगुह्य' कहते हैं। इनकी उपासना यदि कोई पुरुष कामना के साथ करेगा तो यही यम और नियम कामधेनु की तरह उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण करेंगे। अथवा इन यम-नियमों की निष्काम उपासना करने से उस पुरुष को मेरे स्वरूप की सहज प्राप्ति होगी। अब हे उद्धव! तुम्हारे शमदमादिक जो प्रश्न हैं, जिनके कारण ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है वह गुह्य निरूपण तुम्हें भी बताता हूँ, सुनो। श्रीकृष्ण उन प्रश्नों का उत्तर देंगे। उनका श्रवण करने से तत्काल ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होगी। बालक की भूख शान्त करने के लिये उसकी माँ अपने हाथ से उसे खिलाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी उद्धव को ब्रह्मज्ञान दे रहे हैं। जो रस पिता को अच्छा लगता है वह उसे अपने बच्चे को भी पिलाता है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण उद्धव को ब्रह्मरस पिला रहे हैं। वैसे भी माँ को बालक से अत्यन्त प्रेम रहता है, तिस पर यदि बालक स्तन में मुँह ही लगा दे, फिर क्या पूछना? उस आनन्द के कारण उसके स्तन में दूध फूट पड़ता है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण स्वयं ही ब्रह्मज्ञान देने को तत्पर, जिस पर उद्धव ने प्रश्न पूछे उससे उन्हें परम सन्तोष हुआ। पहले से ही पर्जन्य वृष्टि होने लगे, तिस पर हवा और विद्युत का भी सहयोग मिल जाय, फिर क्या पूछना? उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान देने के लिये तत्पर भगवान को उद्धव के प्रश्न का बहाना मिल गया। इससे श्रीकृष्ण स्वानंद से प्रसन्न हो गये और अब वे उसे पूर्ण ब्रह्म ही सौंप रहे हैं। मुफ्त में मिलने वाले नमक के टुकड़ों के ऐवज में यदि चिन्तामणि हाथ में आ जाये, या ईंट देकर पारस मिल जाय तो उसे जो स्वीकार नहीं करेगा, वह अपने ही लाभ से वंचित हो जायगा। उसी प्रकार उद्धव के थोड़े से प्रश्नों से उसे पूर्ण ब्रह्म प्राप्त हो रहा है। इसलिये एकाजनार्दन विनती करता है कि श्रोतागण मेरी ओर ध्यान दें। उद्धव के चौंतीस प्रश्न थे। उनमें से यम और नियम के सम्बन्ध में बतलाया। शेष बत्तीस प्रश्न रह गये, उनके बारे में भी विचार सुनिये। प्रश्नों में दया के सम्बन्ध में उत्तर श्रीकृष्ण ने नहीं बताया। लेकिन उसके ऐवज में उन्होंने ध्वनितार्थ से 'षड्गुणैश्वर्य' सूचित किया है। दया के लिये सम्पूर्ण भाग्य बताने के कारण श्रीकृष्ण आगे बताएँगे। सारांश, अब इकतीस प्रश्न बच गये। इसमें श्रीकृष्ण एक अधिक बतायेंगे, वह 'कर्मस्वसंगम' अर्थात् शौच है। कार्यकारण सम्बन्ध आने के कारण ही यह बताना पड़ा। इस पर ये सारे तैंतीस प्रश्न हुए। उनके बारे में श्रीकृष्ण व्याख्या देंगे। इस प्रकार वे उद्धव को हथेली पर 'ब्रह्मज्ञान' परोसेंगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रिय संयमः।
तितिक्षा दुःखसम्मर्षो जिह्वोपस्थ जयोधृतिः॥ ३६॥

विवेकयुक्त बुद्धि असार छोड़ कर सार को ही ग्रहण करती है। ऐसी बुद्धि मन की विभिन्न वृत्तियों को सँभालते हुए, जिस पर नमक समुद्र से मिल जाता है उसी प्रकार सारी वृत्तियों के साथ परमात्मा से मिल जाती है। समुद्र में नमक घुलते ही वह समुद्रस्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार आत्मस्वरूप से मिलकर बुद्धि भी चैतन्यधन हो जाती है। इस प्रकार बुद्धि के शान्त स्वरूप होने का शंभ कहना चाहिये। लेकिन इससे पहले दम करना आवश्यक है। शत्रु का दमन करना इस अर्थ में यहाँ 'दम' नहीं है, बल्कि इसका अर्थ इन्द्रियों के दमन से है। उसका भी लक्षण बताता हूँ, सुनो। जिससे 'शम' को सहायता मिले ऐसे ढंग से इन्द्रियों को अपने वश में रखना शास्त्रीय विधि के अतिरिक्त उन्हें किसी प्रकार का भोग नहीं देना, रातदिन वैराग्य से उन पर नियंत्रण रखना इसी का नाम 'दम' है। अब 'तितिक्षा' का भी लक्षण बताता हूँ, सुनो। कोई बड़ा सुख प्राप्त होने पर वह उसका जिस उल्हास से उपभोग करता है, उसी उल्हास से दुःख भी सहन करता है। चाहे प्रकाश हो या अन्धकार, आकाश उसे जिस समभाव से उठाता है उसी प्रकार वह अविचल भाव से सुख-दुःख सहन करता है। गुलेल से फेंका हुआ कंकड़ लगने पर दुःख होता है किन्तु वही कंकड़ यदि सुवर्ण का हो तो दुःख की जगह सुख की अनुभूति होती है। उसी प्रकार द्वंद्व का असली स्वरूप सद्रूप है यह जान लेने पर द्वंद्व चिद्रूप हो जाते हैं। यही तितिक्षा का मुख्य स्वरूप है। देह का अहंकार छोड़कर सुख-दुःख से परे स्वयं को देखना, यही 'तितिक्षा' है। स्वप्न का दारिद्रय और वैभव दोनों ही जागृतावस्था में मिथ्या होते हैं, उसी प्रकार स्वयं को सुख-दुःख से परे देखना इसी का नाम 'तितिक्षा' है। जिह्वा ओर जननेन्द्रिय को नियंत्रण में रखें, यही यथार्थ में 'धृति' है। विद्या की धारणा 'धृति' नहीं होती। कृष्ण सर्प को जिस प्रकार मुट्ठी में दबाकर रखना चाहिये, उसी प्रकार इन दोनों इन्द्रियों को नियंत्रण में रखना चाहिये। जरा भी ढीला छोड़ने पर वह पलट कर पकड़नेवाले पर वार करते हैं। जो लोक कनक कांता पर आसक्त रहते हैं वहाँ धृति नहीं रहती। किन्तु जो द्रव्य और स्त्रियों के प्रति अनासक्त रहते हैं वहाँ यह धृति दासी की तरह पड़ी रहती है।

दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम्।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम्॥ ३७॥

किसी प्राणी को दुःख न देना इसी का अर्थ है उन्हें सुख देना। सब को सुख देना यही 'महादान' है। प्राणिमात्र के दुःखों का निवारण कर उन्हें सुख देना यही सबसे उत्तम दान है। हे उद्धव! जन्म-मरण का दुःख दूर कर आत्मसुख का लाभ कराना, इसी का नाम 'अलौकिक दान' है। इसी का नाम तुम 'परम दान' समझो। अब 'तप' का लक्षण सुनो। सारी कामनाओं का त्याग कर तप करना, यही अत्युत्तम तप है। अंतःकरण में यदि कामरूप अग्नि हो तो उसे तप शोभा नहीं देता। मन में वासना रखकर जो जंगल में तप करने जाता है वह वहाँ स्त्री का ही ध्यान करने लगता है। मन में कामवासना होने के कारण वह तप ही उसके लिये बाधक होता है। काम की वासना का पूरी तरह त्याग करने पर ही तप हो पाता है। अखण्ड मेरा ही स्मरण होता रहता है। इसी का नाम है विशुद्ध तपःसिद्धि। अनुतापपूर्वक मेरे स्वरूप में चित्र लगाना ही 'शुद्धतप' है। अथवा मेरे चित्स्वरूप का हृदय में चिन्तन करना यही 'श्रेष्ठतप' है। अब 'शौर्य' के बारे में सुनो। समरभूमि में शक्तिशाली शत्रु को मारकर जो उसकी सेना पर विजय प्राप्त करता है, ऐसा शूरवीर यहाँ उपयोगी नहीं है। तो जो जीवभाव प्राणी में प्रवाहरूप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में लगा हुआ है उसे जो महावीर जीत लेता है उसे ही सच्चा शूरवीर समझना चाहिये। ''मैं सदा सदाचरण ही कर रहा हूँ, नि:सन्देह ज्ञानी हूँ, मेरी पवित्र ब्राह्मण देह है'' यही जीव का जीवभाव है। देह के माथे पर वर्णाश्रम, आश्रम के माथे पर कर्म, उस कर्म पर जिसे अत्यन्त अभिमान है, उसे अपार देहभ्रम रहता है। इसलिये जीवस्वभाव को जीत कर, चिदानंद के राज्य पर बैठकर, अपने आत्मरूप स्वराज्य वैभव का सुख भोगना यही 'शौर्य' का बड़प्पन है। अब जिसे 'सत्य' कहते हैं उसके बारे में भी तुम्हें निश्चित रूप से बताता हूँ। उद्धव! सदासर्वदा सर्वत्र समब्रह्म देखना, यही 'परम सत्य' है। 'परब्रह्म' को सर्वत्र समान रूप से भरा न देख उसे विषम अर्थात् भिन्न-भिन्न देखना, यही अत्यन्त दुर्गम 'असत्य' है और ब्रह्म सर्वव्यापी तथा सर्वत्र सम है। ऐसा समझना 'सत्य' है। सारांश केवल सत्यभाषण ही निज सत्य नहीं है। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण और भी निरूपण कर रहे हैं।

ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता।
कर्मस्वसंगमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते॥ ३८॥

कितने ही लोग 'ऋत' को ही सत्य कहते हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से देखने पर वह सच है। किन्तु निवृत्ति की दृष्टि से सम ब्रह्म को 'सत्य' कहना ही उचित है। श्रोताओं का दु:ख सम्बन्ध रहित हित करने वाली सत्यवाणी को ही वास्तव में 'ऋत' कहना चाहिये। जिस प्रकार चित्त में देखने पर भिन्नता दिखायी देती है लेकिन वह दीवार जिस पर चित्र बना रहता है, वह सदा सम ही रहती है उसी प्रकार संसार विषम अर्थात् भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ने पर भी ज्ञाताओं को निजबोध के कारण सर्वत्र समब्रह्म ही दिखायी देता है। इसी का नाम 'सत्य' है यह ध्यान में रखो। उद्धव ने जो प्रश्न किये थे उसमें 'शौच' के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं था, लेकिन भगवान स्वयं होकर उसका निरूपण कर रहे हैं। अंत:करण की यदि शुद्धि न हो तो त्याग अथवा संन्यास सम्भव नहीं है। इसलिये अंत:करण की शुद्धि के लिये पूर्ण शौच अर्थात् निर्मल स्वरूप का जो स्वधर्माचरण है उसका निरूपण श्रीकृष्ण कर रहे हैं। अंत:करण में कर्मों का मैल रहता है उसका क्षालन स्वधर्म से करना चाहिये। कर्म से ही कर्म का निर्दलन कर स्वयं निष्कर्म हो जाना चाहिये। स्वधर्म से फल की आशा छोड़ने से कर्म के बन्धन टूट जाते हैं। इसलिये फल के प्रति निराश होकर अंत:करण की शुद्धि कर लेनी चाहिये। नैराश्य वृत्ती से स्वधर्माचरण करने से अंत:करण के मलों का क्षालन हो जाता है। इसी का नाम शौच है। अंत:करण की ऐसी शुद्धता ही संन्यासग्रहण की भूमिका की नींव है। इसीलिये प्रश्न न करने पर भी श्रीकृष्ण ने उसका निरूपण किया। सारे संकल्पों का त्याग करना ही उत्तम 'संन्यास' है। ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा। वे इसे उत्कृष्ट त्याग भी कहते हैं। मैं ही देह हूँ ऐसी कल्पना मन में रहती है इसलिये संकल्प-विकल्प के कारण मन में नित्य नयी छटपटाहट होती रहती है। बाह्य आडम्बरों में दण्ड, कमण्डल, भगवा वस्त्र यह साज तो मात्र लौकिकता है।

धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः।
दक्षिणा ज्ञानसंदेशः प्राणायामः परं बलम्॥ ३९॥

धन धान्य, गायें-भैंसें आदि प्राणी का लाभकारी धन नहीं है, मोक्ष के मार्ग में सबल धर्म ही हितकारी धर्म है। घर में जो धन गाड़ कर रखा जाता है वह घर में ही रह जाता है लेकिन धर्म साथ में रहने वाला धर्म है। वह अपने साथ किसी प्रकार का बन्धन नहीं रखता। धार्मिक व्यक्ति जैसा कंजूस मैंने कहीं नहीं देखा। क्योंकि मरने पर पर भी वह स्त्री-पुत्रों को ठग कर सारा धन साथ ही ले जाता है। उन्होंने अपना धन धर्मार्थ खर्च कर मुझ नारायण को उसका भण्डारी बना दिया है। इसलिये उन्हें जब भी जिस वस्तु की आवश्यकता पड़ती है वह मैं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसे स्वयं ही देता रहता हूँ। इसलिये धर्म ही इष्ट धन है। यही मेरा यथार्थ वचन है। अब 'यज्ञ' का अर्थ सुनो। उसे भी समझाता हूँ। अग्नि मेरा मुख है और यज्ञ का भोक्ता मैं नारायण हूँ, यह जान लो। अधिक क्या कहूँ, सारा यज्ञ ही मैं श्रीकृष्ण हूँ। इसका वेद में भी प्रमाण है। उसमें ब्राह्मण मेरा स्वरूप है। यज्ञ दीक्षा लिये हुए जो दीक्षित ब्राह्मण हैं उन्होंने भक्तिभाव से मेरा यजन कर मेरा पूर्ण सुख प्राप्त कर लिया है। लेकिन जो अधर्म से धन एकत्र कर, अविधि से केवल ढोंग के लिये यज्ञ करते हैं और वह याग मेरे मुँह में पड़ते हुए भी स्वयं कोरे के कोरे रह जाते हैं। विधि से वे पशु का वध अवश्य करते हैं लेकिन उस अवदान से मैं सन्तुष्ट नहीं होता। दंभ के कारण वे अवश्य कुंभीपाक महारौरव नरक में जाते हैं। समस्त प्राणिमात्र के मुख में जो कुछ अर्पण करना चाहिये वह मुझ यज्ञपुरुष को ही पहुँचता है लेकिन यह दीक्षारहस्य यज्ञकर्ताओं को न मालूम होने के कारण हिंसादोष के कारण नरक में जाते हैं। जो मेरे भक्ति भाव की दीक्षा लेकर, सारा विश्व ही मेरा मुख है यह सोचकर प्राणिमात्र के मुख में अवदान करते हैं, उनका यज्ञ मैं अर्थात् मैं नारायण हूँ। अब 'दक्षिणा' का भी अर्थ समझ लो। यज्ञ का कोई मोल नहीं है। उसमें ज्ञान यही अमूल्य दक्षिणा है। वह प्राप्त होते ही याज्ञिक को 'महासुख' प्राप्त होता है। ज्ञानस्वरूप दक्षिणा मिलने पर याज्ञिक लोग अत्यन्त सम्पन्न होकर रहते हैं। वह धन कल्पांत में भी खर्च नहीं होता। इससे जीव और शिव दोनों का ही समाधान होता है। सबमें प्राण अत्यन्त प्रबल है प्राण से ही सबको बल प्राप्त होता है। प्राण के ही कारण मन चपल बनता है। प्राण के स्पंदन से ही वह अत्यन्त चपल हुआ है। प्राण इतना बलवान है और मन निरन्तर प्राण के ही अधीन रहता है। ऐसे प्राण को जीतना, इसी का नाम 'बलवंत' है। प्राण को बिना जीते, केवल हाथी का पैर पकड़ कर उसे फेंक देना अथवा एक घाव में सिंह को चकनाचूर कर देना यह किसी शूर के बल का प्रमाण नहीं है क्योंकि जीव और मन दोनों प्राण के ही अधीन रहते हैं। उस प्राण का दमन कर वह स्वयं उसे अपने नियंत्रण में रखता है, इसी का नाम है 'अतिबल' अर्थात् अपार सामर्थ्य! जब प्राणायाम अच्छी तरह सध जाता है तो बड़ा देवता भागा-भागा उससे मिलने आता है और जब एक बार आ जाता है तो आलिंगन नहीं छोड़ता। प्राणायाम करने वाला संसार में इतना बलिष्ट हो जाता है।

भगो मे ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः।
विद्याऽऽत्मनि भिदावाधो जुगुप्साह्रीरकर्मसु॥ ४०॥

उद्धव ने 'दया' किसे कहते हैं, यह प्रश्न पूछा था उसका उत्तर न देकर श्रीकृष्ण 'महद्भाग्य' का ही निरूपण करने लगे। इसका कारण यही है कि भाग्य के बिना दया व्यर्थ है। इसलिये श्रीकृष्ण भाग्य का ही लक्षण बताते हैं। तुम कहोगे कि एकआध कंजूस भी भाग्यवान रहता है, लेकिन वह भाग्यवान होते हुए भी अभागा है। इसलिये जो दया का ही पोषण करता है, उसका ही भाग्य उत्तम है। उस उत्तम भाग्य का सम्पूर्ण लक्षण तुम्हें बताता हूँ। उस भाग्य की उत्कृष्टता रहस्यपूर्वक बताता हूँ, सुनो। 'ज्ञान' और 'पूर्ण वैराग्य', 'लक्ष्मी' और 'औदार्य', 'ऐश्वर्य' और 'यश' ये छह गुण ही 'महाभाग्य' है। ये षड्गुण ही मेरा भाग्य है। ऐसा भाग्य जिसे सौभाग्य से प्राप्त होता है, वही दया का विधिपूर्वक पोषण कर सकता है। इन छह गुणों से जो परिपूर्ण रहता है, वही 'दीनदयालु' है। वही दानसम्मान करना जानता है और दारिद्र्य भी दूर कर सकता है। ऐसे भाग्यवान से भेंट होने के लिये भी वैसा ही भाग्य चाहिये। सारांश मेरे जैसा भाग्य संसार में किसी को नहीं मिलेगा इस ऐश्वर्य से जो सम्पन्न रहता है, वही 'दया' का मायका है। वही उसका लाड़-प्यार करता है और उसके ही कारण दया समर्थ हो उठती है। इसीलिये भाग्य की बात बतायी। जिसके अंतःकरण में भूतदया है वह संसार में कभी अभागा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं रहेगा। अब 'लाभ' क्या होता है? यह प्रश्न भी तुमने पूछा है। उसका भी लक्षण सुनो। मेरी जो उत्तम भक्ति है, वही सम्पूर्ण 'लाभ' है। मेरी उत्तम भक्ति करने से चारों मुक्तियाँ चरणों पर गिर पड़ती हैं। बड़े-बड़े देवतागण भी दण्डवत करते हैं। भक्ति से मुख्य रूप से मुझ लक्ष्मीपति का लाभ होता है। यह लाभ प्राप्त न कर धन आदि का होने वाला लाभ नरक गति देनेवाला तथा हानि प्रदान करने वाला है। इसलिये सबसे श्रेष्ठ लाभ मेरी भक्ति ही है। क्योंकि उसके द्वारा मुझ श्रीपति का लाभ होता है। अब 'विद्या' के बारे में स्पष्टीकरण सुनो। उसे मैं यथार्थ रूप से बताता हूँ। वासना से दृढ़ सम्बन्ध जोड़कर जो आत्मा को जीवरूप प्रदान करती है तथा अभेद में भेद उत्पन्न करती है उसे 'अविद्या बाधा' कहते हैं। देह के माथे वर्णाश्रम और आश्रम के माथे कर्म और उस कर्म के प्रबल अभिमान के कारण 'मैं ही देह हूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। यही 'जीवधर्म' है। जो जीव की बाधा नष्ट कर उसे चिदानंद स्वरूप प्राप्त कराती है, उसी का नाम शुद्ध 'आत्मविद्या' है। बाकी सब एकझार 'अविद्या' ही हैं। जो अविद्या को नष्ट करती है, वही 'शुद्धविद्या' कहलाती है। अन्य शास्त्र आदि जो चौदह विद्या हैं वे पल्लव निकली हुई अविद्या ही हैं। जीव की बाधा जिसके योग से नष्ट होती है, उसी को शुद्ध 'आत्मविद्या' कहते हैं; अब 'ह्री' अर्थात् 'लज्जा' का स्वरूप सुनो। निंद्य कर्म के प्रति लज्जा का अनुभव होना यही वास्तव में लज्जा है। केवल इन्द्रियों को ढँकने को ही 'लज्जा' कौन कहेगा? तो जीवप्राण भी चला जाय तो भी अकर्म नहीं करना, यही वास्तव में 'लज्जा' है।

श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित्॥ ४१॥

चौदह भुवनों के साम्राज्य वैभव के साथ यदि लक्ष्मी प्राप्त हो जाय तो भी जो उसकी ओर नहीं देखता, उसकी जो यह निरपेक्षता है, वही उत्कृष्ट 'श्री' है। श्रीमंत को मैं श्रीकृष्ण भी प्रणाम करता हूँ, फिर इतरों की क्या बात की जाय? जिसे लक्ष्मी की भी आकांक्षा नहीं है वह निरन्तर मेरे मस्तक पर ही रहता है। उसकी अपेक्षा लाडला मुझे कोई नहीं है। उद्धव! सुख और महादुःख इन दोनों को समाप्त कर जो 'स्वाभाविक' आनन्द प्रकट होता है उसी का नाम है 'सुख'। जहाँ दूसरे की आवश्यकता नहीं पड़ती, इन्द्रियों की कमी नहीं पड़ती और विषयों की भी आवश्यकता नहीं होती; ऐसी स्थिति में हृदय में जो आनन्द उत्पन्न होता है, उसका नाम है, 'निजात्मसुख'। इस आत्मसुख को भूलकर विषय की इच्छा करना इसी का नाम है 'महादुःख' जिसका सेवन शुद्ध मूर्ख ही करते हैं। रोज-रोज भी यदि विषय प्राप्त हो जायँ तो भी इच्छा की तृप्ति नहीं होती। विषय की इच्छा ही मनुष्य को दुःख के भँवर में डालती है। जो बंध और मोक्ष को जानता है, 'अनुमान' नहीं करता वही 'पण्डित' है। ऐसी अवस्था न प्राप्त कर केवल वेदशास्त्रों का अध्ययन कर 'सज्ञान' होना ऐसा विद्वत्ता का अभिमान यहाँ काम नहीं करता। तो जिसे सच्ची 'शान्ति' और वास्तविक समाधान प्राप्त हुआ है, 'बंध' और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान है, वही 'महापण्डित' है ऐसा श्रीकृष्ण कहते हैं।

मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः।
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः॥ ४२॥

वेदशास्त्र न जानने वाले को लोग मूर्ख कहते हैं लेकिन यहाँ मूर्ख का वह अर्थ नहीं है। तो जो केवल देहाभिमानी होता है उसे ही 'मूर्ख' समझा जाता है। जो नष्ट होने वाले देह को ही 'मैं' समझ लेता है और हर्षित होता है तथा देह के अभिमान से नरक भोगता है उससे अधिक मूर्ख कौन है? अशौच से ही देह की उत्पत्ति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होती है; अशौच से ही देह की वृद्धि होती है और अशौच में ही देह का निधन होता है। इस प्रकार देह के पास ही अशौच की बस्ती होती है। ऐसे इस देह का स्वरूप देखें तो अस्थि, चर्म, विष्ठा और मूत्र। ऐसे ही देह को जो 'मैं' कहकर अभिमान करता है वह वास्तव में 'मूर्ख' है। देह के इसी अभिमान का नाम 'मूर्खता' है। मेरे वेदमार्ग पर चलना ही 'सन्मार्ग' है। जिसका चित्तभ्रंश हुआ है वही गुरु और परमात्मा की निन्दा करता है। जो वेदशास्त्र नहीं मानता वही गलत रास्ते पर गिर पड़ता है। जो ईर्षावश गुरु में दोष देखता है, जो सुहृद और सम्बन्धियों से अशिष्ट व्यवहार करता है जो माता-पिता का धि:कार करता है उसका नाम है 'चित्तविक्षेपा'। जो दूसरों का दोष गिनता है, जो दूसरों की निन्दा करता है, जो स्त्री की बात पर विश्वास करता है उसे चित्तभ्रंश का विकार हुआ है यह मान लो। जो सन्मार्ग से भटक कर अधर्म अथवा अकर्म में पड़ता है उसे भी हे उद्धव! चित्तभंश हुआ समझ लो। मैं सचमुच परब्रह्म हूँ यह मानना ही उत्तम 'वेदमार्ग' है। यह न जानकर लालच से व्यवहार करना ही बड़ा 'असन्मार्ग' है। अब स्वर्ग का अर्थ जिससे आत्मसुख की प्राप्ति होती है ऐसे सत्त्वगुण से इन्द्रलोक पहुँचने का नाम स्वर्ग नहीं है क्योंकि इस प्रकार इन्द्रलोक पहुँचने वाले वापस लौट आते हैं लेकिन जो शुद्धसत्त्व में मिल जाते हैं और निजसुख तक पहुँच जाते हैं ऐसे उस सत्त्वगुण को 'स्वर्ग' समझना चाहिये। अब तुम्हें नरक का लक्षण बताता हूँ।

नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे।
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते॥ ४३॥

काम, क्रोध और लोभ का जो उद्रेक होता है, उससे महामोह खौल उठता है, वह ज्ञान के साथ-साथ विवेक को भी डुबो देता है; उस समय अकेला तमोगुण ही बढ़ता रहता है। अरुणोदय के समय चारों ओर धुँधलका ही छाया रहता है, गहरा अँधेरा रहता है और सूर्य चन्द्रमा दोनों ही दिखाई न देने के कारण दिन है या रात है यह भी मालूम नहीं होता। इस प्रकार मन में अंधतम वृत्ति बढ़ती जाती है और क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है इसका भान नहीं रहता। इस प्रकार तमोगुण का जो उद्रेक होता है, उसी का नाम 'महानरक' है। यमयातना के दु:ख को नरक नहीं कहना चाहिये क्योंकि यमयातना से पाप झड़ जात॑ है। यमलोक के नरक उसके सामने तुच्छ हैं। महामोह के नरक को ही महानरक समझना चाहिये। काम, क्रोध और लोभ ये तीनों ही नरक देने वाले हैं, उसमें महामोह भी मिल जाय तो 'अंधतम' बनता है। इतना समुदाय जब एकसाथ मिलता है तो उसे 'तमउन्नाह' कहते हैं। ऐसी स्थिति जिस पुरुष की हो जाय उसे 'नरकरूप' ही समझना चाहिये जो घोर नरक में जाता है उसका वहाँ से उद्धार हो जाता है; लेकिन जिसे 'तमउन्नाह' प्राप्त होता है उसका महाकल्पांत में भी उद्धार नहीं होता। ऐसे 'तमउन्नाह' की ख्याति सुनकर उद्धव का मन ऊब गया और वह मन ही मन विचार करने लगा कि ऐसी तमोवृत्ति में डूबने वाले जीवों का कौन उद्धार करेगा? उद्धव के मन की बात जानकर देवाधिदेव बोले, ऐसे डूबने वाले लोगों का सखा जो गुरु है, वह उद्धार करता है। अब, ऐसा गुरु कौन है? तो नित्य जिसका पैर छूते हैं, जो चिन्मात्र ब्रह्मरूप प्राप्त कराता है, उसी को 'गुरु' कहते हैं। सचमुच, उस गुरु की योग्यता ब्रह्मा से भी अधिक है क्योंकि ब्रह्मा केवल 'यह ब्रह्म है' इतने का ही प्रतिपादन करता है अन्यथा ब्रह्म की बात कौन पूछता है? जो अज है, अव्यय है; उसी प्रकार अनंत, अच्छेद्य और अपरिमित है, ऐसे ब्रह्मा की महिमा संसार में सद्गुरुओं ने ही प्रस्तुत की है। इसे सद्गुरु की कीर्ति श्रवण करने से जड़जीवों का उद्धार होता है। 'गुरु' नाम की बहुत ख्याति है। उसे सुनकर यम और काल भी काँप उठते हैं। उस सद्गुरु की महिमा ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

डूबते का उद्धार करती है और जन्म-मरण का बन्धन समाप्त कर शिष्य को समाधान देता है। शिष्य का आप्त, सखा, बन्धु सभी सद्गुरु होते हैं यह प्रसिद्ध है। वही नरक से बचा कर परमानंद सुख प्रदान करने वाला है। अब तुम्हें 'गृह' का लक्षण बताता हूँ। मंजिलें, अट्टालिकायें, बंगले ये सब घर नहीं हैं। बल्कि मनुष्य देह यही गृहाश्रम है, उसमें ही मैं पुरुषोत्तम विशेष रूप से रहता हूँ। उस गृह के स्वधर्म कर्म करने से आत्माराम सन्तुष्ट होता है। जिस नरदेह की प्राप्ति की इच्छा इन्द्रादि देवता भी करते हैं और वेद भी जिस देह की कीर्ति का वर्णन करते हैं, उस नरदेह में ही मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिये जिसे अपना 'घर' कहते हैं उसे नरशरीर समझना चाहिये। अब आढ्यता (घमण्ड) का भी विचार सुनो। जो ज्ञानगुण से अत्यन्त सम्पन्न रहता है, जो धन कल्पांत में भी समाप्त नहीं होता, उसी को 'आढ्य' अर्थात् श्रीमान कहना चाहिये क्योंकि और सभी धन नश्वर है। नश्वर धन की घमण्ड निश्चित रूप से अधःपात का कारण बनती है, किन्तु ज्ञानधन की सम्पन्नता से परब्रह्म की प्राप्ति होती है।

दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः॥ ४४॥

अब दरिद्र का लक्षण सुनो। करोड़ों की सम्पत्ति पास में होने पर भी जिसका मन तृप्त नहीं होता उसी का नाम है 'दरिद्र'। किन्तु जिसकी गाँठ में एक कौड़ी भी नहीं है किन्तु मन में संतोष है, वही संसार में 'सम्पन्न' है, यह जान लो। पास में धन होते हुए भी जो पेट भर नहीं खाता, सदा सर्वदा मन में लालच भरी रहती है, इसी का नाम है 'दरिद्रलक्षण'। अब इसके बाद कृपण (कंजूस) किसे कहते हैं, यह भी सुनो। जिस प्रकार राजा को उसके सेवक बाँध कर रखें, उसी प्रकार वह इन्द्रियों के वश में रहता है। अपने स्वरूप का विचार करें तो सबके राजा हम स्वयं हैं। यह भूलकर वह दीन होकर इन्द्रियों के अधीन हो जाता है। वास्तव में मन आत्मा का चाकर होता है और इन्द्रियाँ मन की चाकरी करती हैं किन्तु यह उनका भी दासानुदास बनता है। इस प्रकार इन्द्रियों के अधीन होने के कारण 'कृपणत्व' दीनता आती है। अपने चाकरों के चाकर जो इन्द्रिय हैं, उनकी यह पूजा करता रहता है। इस प्रकार इन्द्रियों को महत्त्व देने से शरीर में 'कृपणता' आती है। अब हे उद्धव! ईश्वरत्व का वास्तविक लक्षण बताता हूँ। उद्धव! जिसे कनक और कामिनी अच्छी नहीं लगती, वही सचमुच त्रिभुवन का 'ईश्वर' है। मेरी यह बात त्रिवार सत्य है। तुमने जितने प्रश्न पूछे थे उतने ही गुण जिसके पास होते हैं, लेकिन जो उनसे अलिप्त रहता है, उसी प्रकार 'ईश्वर' यह नाम शोभा देता है। लेकिन उद्धव! कनक और कामिनी से जिसे मन से आसक्ति रहती है, वह संसार का 'अनीश्वर' है इसे निश्चयपूर्वक जान लो। इस प्रकार शमादि प्रश्नों का उत्तर मैंने बतलाया। उनके विपरीत जो लक्षण हैं, अर्थात् अशमादिक गुणों का होना, यही 'अनीश्वरत्व' है, यह जान लो।

एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः।
किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः॥ ४५॥

उद्धव! मैंने तुम्हारे सारे प्रश्नों का विस्तारपूर्वक उत्तर दिया। जिससे ब्रह्मस्वरूप प्राप्त हो सके, ऐसा ही व्याख्यान दिया। संसार में गुणदोषों की संख्या असंख्य है। कहने से कम नहीं होगी। गुणदोषों का विवेचन करना अत्यन्त कठिन है। इसलिये मौन रहना ही अच्छा है क्योंकि गुणदोषों को न कानों से सुनना चाहिये, न आँखों से देखना चाहिये और न मुँह से कहना चाहिये। गुणदोषों के बारे में मन में भी नहीं सोचना चाहिये। अब ब्रह्मज्ञान के लक्षण का निरूपण बहुत अधिक नहीं है। उसे श्रीकृष्ण आधे ही श्लोक में बता रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥ ४६ ॥

सर्वत्र एक परिपूर्ण ब्रह्म ही है। इसमें दोष कौन से और गुण कौन हैं ? अविद्या क्षुब्ध होती है, तभी गुणदोष बढ़ते हैं। इसलिये जो गुणदोषों को देखने लगता है, समझ लो उसकी अविद्या क्षुब्ध हो गयी और जो गुणदोष नहीं देखते, वह समझ लो ब्रह्मसम्पन्न हो गया। दूसरों के गुणदोष देखना यही सबसे बड़ा दोष है और गुणदोष न देखना यही सबसे अच्छा गुण है। ब्रह्मा में कोई गुणदोष नहीं है यह सर्वथैव सत्य है। अर्थात् जो गुणदोष देखता है उसमें ब्रह्मत्व नहीं है। यह सहज सिद्ध है। जो गुणदोष देखने लगते हैं, उनका ब्रह्मत्व किस तरह लुप्त होता है ? क्या वह उनसे रूठ कर चला जाता है ? जिस समय राहु रविबिंब को ग्रसता है, उस समय दिन में भी नक्षत्र दिखायी पड़ते हैं। उसी प्रकार अविद्या जब ब्रह्मत्व को ग्रस लेती है, तो गुणदोष दिखायी पड़ने लगते हैं। श्रीकृष्ण आदरपूर्वक कहते हैं कि जीव को किसी का भी गुणदोष नहीं देखना चाहिये। संसार में चौरासी लाख योनी हैं उनमें से यदि मनुष्य योनि के ही गुणदोष न देखो तो उतने से ही तुम नित्यमुक्त हो जाओगे। अब शायद तुम यह कहोगे कि स्वधर्माचरण करते समय गुणदोष तो देखने ही चाहिये। लेकिन उद्धव! यह बात बिलकुल गलत है क्योंकि स्वधर्माचरण की प्रकृति बिलकुल भिन्न है। अपने दोषों को नष्ट करने के लिये ही स्वधर्माचरण किया जाता है और वही अगर गुणदोष देखने लगे तो वह नंगी दौड़ जैसा होगा। धान पैदा करने के लिये खेत में पत्ते आदि जलाकर जमीन को तैयार करते हैं, यदि उसके बदले फसल को ही जला दें तो किसान को मिट्टी ही खानी पड़ेगी। दोषों का क्षालन करने के लिये ही वेदों ने धर्म की प्रवृत्ति बतायी है; यदि उस स्वधर्म से दोष ही देखने लगे तो वह अपने हितों से ही वंचित हो जायेगा। स्त्री पुरुष स्वांग बनाकर अनेक प्रकार के हावभाव दिखलाते हैं, अनेक प्रकार की श्रृंगारिक बातें करते हैं, लेकिन वह भाव वे अपने मन से नहीं करते। उसी वृष्टि से स्वधर्म का आचरण करना चाहिये। बिना गुण-दोष देखे, बिना स्वधर्म की मर्यादा छोड़े स्वधर्म का आचरण करना चाहिये, यही स्वधर्म कर्म का प्रमुख लक्षण है। ऐसे स्वधर्माचरण से कर्म के मैल धुल जाते हैं। ऐसे स्वधर्माचरण से कर्म के मैल धुल जाते हैं। गुणदोष की बात छोड़ने पर ही साधकों को निजात्मपद की प्राप्ति होती है। गुणदोष देह में होते हैं लेकिन आत्मा तो नित्य विदेही ही रहती है। सिद्ध को तो वे दिखायी ही नहीं देते। तिस पर भी यदि उसे गुणदोष दिखायी देने लगे तो दोनों की खैर नहीं। इससे साधक की हानि होती है और उसकी सिद्धि तत्काल नष्ट हो जाती है। इस प्रकार उद्धव! गुणदोषों का यह संकट दोनों ओर एक जैसा है। सारा संसार गुणदोषों से भरा हुआ है लेकिन हमें उधर ध्यान ही नहीं देना चाहिये। यही बात श्रीकृष्ण ने अत्यन्त भावुक होकर उद्धव को बतलायी। यदि गुणदोषों को देखना इतना निषिद्ध है तो फिर श्रीकृष्ण ने वेदमुख से इतना स्पष्ट क्यों बताया है ? ऐसा प्रश्न उद्धव आगे कहने वाला है। उस पर व्यास का निरूपण सुनकर जीव और शिव दोनों को ही शान्ति मिलेगी। इसमें श्रीकृष्ण सकाम-भक्ति और निष्काम भक्ति के अधिकार विषद करेंगे। वह कथा अत्यंत अद्भुत है। अतः संत उधर ध्यान दें और श्रोता सावधान हो जाएँ। ऐसी विनती एकाजनार्दन कर रहा है। अगला निरूपण रस से सराबोर है।

इति श्री भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे एकाकार टीकायां
भगवदुद्धव संवादे एकोनविंश अध्यायः ॥ १९ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बीसवाँ अध्याय

हे ओंकारस्वरूप चित्समुद्र, सद्गुरुराया! तुम्हें मेरा प्रणाम! मुक्तरूपी मोतियों को तुझमें ही आश्रय प्राप्त होता है और ज्ञानवैराग्यरूपी सीप के रूप में तुम उसे भाग्यवान पुरुषों को देते हो। तुम्हारा आवास तो असीम है। उसमें नाना प्रकार के चिद्रत्न भरे हुए हैं। निजबोधरूपी चन्द्रमा को देखते ही तुम में ज्वार आता है जिसमें स्वानंद में उफान आने पर भी तुम गुरुमर्यादा का उल्लंघन नहीं करते हो। स्वानंद की लहरें निरन्तर तुम्हारी सतह पर उछलती रहती हैं। ब्रह्मविद्या एक बहुत बड़ा बन्दरगाह है जिसमें निजभक्ति नाम का बहुत बड़ा जहाज है। उसे चलाने वाले नाविक तुम हो। तुम्हीं उस पर प्रेम की पाल लगाते हो और भक्त, संत और ज्ञानसम्पन्न लोगों को उस पार लगाते हो। उनका बार-बार आना-जाना सचमुच हीं रुक जाता है। किसी किनारे पर लाकर भवसागर में विचरण कराते हो। उसे महाकल्पांत में भी डूबने की बाधा नहीं आती। जो भक्तिरस में डूबता है उसे शेषशायी के पास पहुँचा देते हो, किसी को अटल स्थान पर पहुँचा देते हो जहाँ से ब्रह्मादिक देवता भी नहीं हिला सकते। तुम्हारे सागरपन का गुण ऐसा है कि किसी को तिलमात्र के लिये भी विजातीय नहीं रहने देते हो। तुम्हारी यह शक्ति बड़ी अद्भुत है। यह जब प्रलय काल में भी ऊपर चढ़ता जाता है, उस समय संसार नाम का गाँव भी डूब जाता है। यह वैकुण्ठ, कैलास के भी ऊपर चढ़ता जाता है। आगे, पीछे सर्वत्र यही दिखायी देता है। ऐसे इस सद्गुरुरूपी समुद्रोदक में एकनाथ एकता से खो गया। उसमें गिरते ही जनार्दन ने उसका अंगीकार किया। उस जनार्दन ने ही स्वयं एकादश स्कन्ध पर यह भाष्य तैयार किया। उसने अभंग में एकनाथ का नाम देकर लोगों को उसके कवित्व से परिचय कराया। जनार्दन को एकत्व प्रिय है। मैं एका उनसे मिलने के कारण, निजात्मभाव से दोनों में एकत्व स्थापित हुआ और उन्होंने अपने निजसुख का मुझे उपभोग कराया। निजसुख की कथा वह स्वयं कहता है और श्रोता भी वह स्वयं ही बनता है। फिर उसके अर्थ का समाधान भी वह स्वयं ही करता है। इस प्रकार उस जनार्दन ने यह एकादश स्कन्ध सुलभ करा दिया। उन्नीसवें अध्याय के अन्त में गुण-दोषों की कुछ बातें उद्धव को बतायी थीं। वह यह कि गुणदोष देखने को सबसे बड़ा 'दोष' मानना चाहिये और गुणदोष न देखना सबसे बड़ा गुण मानना चाहिये। यह बात मुझ श्रीकृष्ण को स्वीकार है। भगवान का यह भाषण सुनकर उद्धव को बड़ा चमत्कार लगा। उसने कहा, घर-घर में गुणदोषों का विचार क्या लोगों ने किया है? आपने स्वयं ही वेदमुख से गुणदोषों का लक्षण बताया है। आपकी वेद की बातें कैसे अस्वीकार कर दी जाएँ? विधिनिषेध लक्षण का विचार करने पर वह वेद का ही वचन मालूम होता है? ऐसा होते हुए श्रीकृष्ण उसका निषेध क्यों करते हैं? यही प्रश्न उद्धव स्वयं पूछ रहे हैं। बीसवें अध्याय में गुणदोष लक्षण बताने के लिये भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीन भिन्न-भिन्न अधिकारों के बारे में भगवान बतायेंगे। उद्धव ने कहा, हे श्रीकृष्ण! तुमने स्वयं ही वेद के रूप में गुणदोषों का विवेचन किया है। उसी को हम प्रमाण मान कर चल रहे हैं। यह विधि और निषेध, तुम्हें वेद स्वयं ही स्पष्ट कर रहे हैं। वह वेदानुवाद में तुम्हें स्पष्ट करके बताता हूँ। सुनो।

उद्धव उवाच

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते।
अवेक्षतेऽरविन्दाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम्॥ १॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उद्धव ने कहा, हे कमलनयन श्रीकृष्ण! वेद की आज्ञा तुम्हारी आज्ञा है यह प्रसिद्ध है। उसमें ही विधि निषेध लक्षण यह गुण और दोष है ऐसा बताया गया है। तुम्हारे ही वेद के जो विधि हैं, इसीलिये बुद्धि गुणदोषों में दृढ़ हो गयी। हे कृपानिधि! वही मैं स्पष्ट कर दिखाता हूँ, श्रवण करो।

वर्णाश्रमविकल्पं च प्रतिलोमानुलोमजम्।
द्रव्यदेशवयःकालान् स्वर्गं नरकमेव च॥ २॥

आप की ही जो वेदवाणी है, वही गुणदोषों की खान है। उसी ने उत्तम, मध्यम और अधम ऐसे विभाग बनाकर वर्णाश्रम का भेद दिखाया है। धन भी कौन सयोग्य है और कौन-सा अयोग्य है, यह भेद भी वेदों ने ही बताया है। उसी प्रकार पवित्र स्थल कौन-सा है और अपवित्र कौन सा, उचित काल कौन-सा है और अनुचित काल कौन-सा यह भी उसी ने बताया है। पूर्ववय में मन स्थिर रहता है, यौवन में वह कामलोलुप होता है और वार्धक्य में वही अत्यन्त कुश्चित। इस प्रकार तुम्हारे वेद ने ही गुणदोष उत्पन्न किये हैं। भगवन्! देखिये। तुम्हारा ही वेद स्वर्ग और नरक की बात करता है और उसके लिये कर्म की आवश्यकता बता कर साधक-बाधक कर्मों का भी वर्णन करता है। वर्णाश्रम में भी 'प्रतिलोमज', 'अनुलोमज' आदि नाना प्रकार के भेदों को नचाता है। उच्चवर्ण की स्त्री यदि हीनवर्ण से गर्भ धारण करे तो उसकी संतति को 'प्रतिलोमज' कहा जाता है। ऐसी संततियाँ सूत, वैदेह तथा मागध इस नाम से प्रसिद्ध हुई हैं और हीन जाति की स्त्री को उच्चवर्ण का गर्भ रहने पर जो संतति उत्पन्न होती है, उसे शास्त्रों के विद्वान 'अनुलोमज' इस नाम से पुकारते हैं। अंबष्ट, मूर्धावसिक्त, पारशव तथा सात्वत आदि नाम से जो प्रसिद्ध हैं उन्हें 'अनुलोमज' समझना चाहिये। इस प्रकार जो नाना प्रकार के भेद हैं, उनमें 'विधि-अविधि' का प्रकार भी वेदों का ही बताया हुआ है। इसलिये तुम्हारा वेद ही गुण-दोषों का मायका है।

गुणदोषभिदा दृष्टिमन्तरेण वचस्तव।
निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम्॥ ३॥

ये गुण हैं और ये दोष हैं, यह कहने पर दोनों में बैर हो जाता है और वे गुण दोष स्पष्ट करने वाला तुम्हारा वेद ही है। वेदवाणी ने ही यह बैर लगाकर गुणदोषों का झगड़ा खड़ा किया है तब वेदवचन से प्राणी को मोक्ष कैसे मिलेगा? भगवन् आपने स्वयं गुणदोषों की ओर न देखने के लिये कहा है और तुम ही वेद को प्रमाण बताते हो उन्हें सच माना जाय तो गुण-दोषों को देखना पड़ेगा। अर्थात् तुम्हारा भाषण सुनने से दोनों ओर से अड़चन उत्पन्न होती है। तुम्हारे ऐसे भाषण से बड़े-बड़े ज्ञानी भी संभ्रम में पड़ जाते हैं, फिर औरों की क्या बात की जाय? मेरे भाषण और वेदवचन दोनों को ही प्रामाणिक कहते हो तो फिर गुणदोष दर्शन में दोनों में मतभेद क्यों है? यदि हाथ से वेद का विधान न हो पाये और वेदार्थ का ज्ञान भी न हो सके तो मोक्ष प्राप्ति नहीं होती, इसीलिये तुम वेद को प्रमाण मानते हो। लेकिन उस मोक्ष को प्राप्त करने में क्या कठिनाई है? यदि सारे कर्म ही छोड़ दिये जाएँ तो मोक्ष बिना माँगे, स्वयं घर तक चल कर आयेगा। अब शायद तुम यह कहोगे कि यदि वेद का अर्थ समझ में न आये तो कर्म करने पर या कर्म का त्याग करने पर भी मोक्ष की कभी प्राप्ति नहीं होगी। रस्सी को ही यदि सर्प समझ लिया जाय तो हजारों मंत्रों का जप करने अथवा बाजों का शोर करने से वह केशमात्र भी वहाँ से नहीं हिलेगा। लेकिन यदि ठीक से देखा जाय तो वह सर्प अदृश्य हो जाता है। उसी प्रकार वेदवचनों का योग्य विचार करने से संसार का भय नष्ट हो जाता है। भवभय के निर्मूलन का ही अर्थ है 'मोक्ष'! वह वेदार्थ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ज्ञान के बिना हाथ नहीं लगेगा। वेद में बताये गये कर्म त्याग का विधि किये बिना यदि उन्मत्त होकर कर्म का त्याग कर दिया जाय तो मोक्ष तो मिलने से रहा, उलटे पाखण्ड ही हाथ लगेगा। इसलिये वेदों में बतायी गयी विधि के ही अनुसार कर्मत्याग करने से वेद का बन्धन नहीं पड़ेगा ऐसा यदि तुम कहोगे तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि गुरुवाक्य श्रवण करने के लिये संन्यास लेना पड़ता है उस श्रवण का भी विधि विधान है। गुरुमुख से महावाक्य श्रवण करना यह भी वेदार्थ है। (आशंका) अब देव तथा पितरों के लिये यदि यज्ञ करें तो शायद वे भी प्रसन्न होकर मोक्ष प्रदान करें; लेकिन वह भी वेद के बिना सम्भव नहीं है। स्वाहाकार से देवता तृप्त होते हैं और स्वधाकार से पितर तृप्त होते हैं। सारांश, वेदविधि के बिना देवता अथवा पितर कोई भी प्रसन्न नहीं होगा।

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि॥ ४॥

मिथ्यारूप यह स्थावर और जंगम संसार, तथा देवता मनुष्य और पितर इन सबका दर्शन वेद ही कराता है, और वे पूज्य तथा महान हैं यह भी प्रतिपादित करता है। लेकिन उनमें भी परस्पर अत्यन्त विरुद्ध, उत्तम, मध्यम और कनिष्ट इस प्रकार के तीन भेद करने का प्रयास भी वेदों का ही है। इस प्रकार गुण-दोषों के लक्षणों का विस्तार भी तुमने ही किया है। तुम्हारे ऐसे उल्टे-सीधे भाषण से तुम्हारी बातों में ही विरोध उत्पन्न होता है और इसी कारण गुण-दोषों का प्रकार बढ़कर उसकी बाधा का तत्काल अनुभव होता है। उसमें एक स्वर्ग, एक नरक, यह मोक्ष, यह मोक्ष, यह बन्धन जैसे वेदवचन सुनाकर तुमने ही लोगों को भ्रमित करके रखा है। पहले लोगों के मन में गुण दोषों की बात ही नहीं थी लेकिन तुम्हारे वेदवचन के कारण गुणदोषों में दृष्टि दृढ़ हो गयी। सारांश, तुम्हारे इस भाषण से लोगों का नुकसान ही हुआ है। दारुण नरक भोगने के लिये तुम्हारी यह भ्रमित करने वाली वेदोक्ति ही कारण है।

गुणदोषभिदा दृष्टिर्निगमात्ते न हि स्वतः।
निगमेनापवादश्च भिदाया इति ह भ्रमः॥ ५॥

सारांश अनेक गुणदोषों की दृष्टि की सृष्टि तुम्हारे वेदों ने ही की है। अन्यथा लोगों के मन में गुणदोषों की बात बिलकुल नहीं थी। तुम्हारी वेदाज्ञा के अनुसार ही ये गुणदोष उत्पन्न होने के कारण वे अब जोरजबर्दस्ती से भी उनके चित्त से निकल नहीं पायेंगे। वेद अनादि हैं तथा प्रामाणिक हैं यह तुम्हारा ही वेदवचन है। इसलिये अब गुणदोष न देखने का तुम्हारा भाषण स्वीकार्य नहीं है। इसलिये हे कृपामूर्ति, यह भ्रम समाप्त कर दो। उद्धव का यह भाषण सुनकर श्रीकृष्ण ने क्या कहा? उद्धव की यह विनती सुनकर, तीन योगों की उपपत्ति अर्थात् अधिकार भेद के अनुसार वेदार्थ की प्राप्ति कैसे होती है, यह स्वयं श्रीकृष्ण बताने लगे।

श्रीभगवानुवाच

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ ६॥

मेघगर्जना हो रही हो ऐसी गम्भीर वाणी में भगवान बोले, मेरी पूर्ण कृपा के बिना मेरी वेदवाणी समझ में नहीं आती। वेदशास्त्र में कितने ही निष्णात क्यों न हो जाए लेकिन बिना मेरे प्रसाद के वेद का अर्थ समझ में नहीं आयेगा। ब्रह्मदेव चार मुख से वेद पढ़ता है लेकिन जब उसे भी वेदार्थ का सच्चा रहस्य समझ में नहीं आता,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तो फिर औरों की क्या बात की जाय? यदि ब्रह्मदेव को वेद का अर्थ मालूम हुआ होता तो शंखासुर वेद क्यों ले गये होते? ब्रह्मदेव को यदि वेदार्थ का मर्म समझ में आया होता तो वह सरस्वती की अभिलाषा न करता। अब तुम्हें मेरे वेद का निर्धार भी बता देता हूँ। उद्धव! अच्छी तरह ध्यान देकर श्रवण करो। वेद का विचार इस प्रकार है। मेरा वेद व्यर्थ की बकबक करना नहीं जानता। ज्ञान, भक्ति और कर्म यही तीन काण्ड वेदों ने बताये हैं। मेरे वेदों की जो वाणी है वह इन्हीं तीन योगों का प्रतिपादन करती है। इसलिये उद्धव! मोक्ष प्राप्त करने के लिये अन्य कोई उपाय नहीं हैं यह ध्यान में रखो। तो ये तीन योग कौन से हैं? उनके अधिकार के कौन-कौन से विभाग हैं? यदि तुम ठीक प्रकार से पूछ रहे हो तो तुम्हें सविस्तार बताता हूँ।

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥ ७॥

जो अंत:करण से ब्रह्मलोक के भोगों से विरक्त रहते हैं, जो विधिपूर्वक तथा संकल्पयुक्त संन्यास लेकर कर्म का त्याग करते हैं, ऐसे अधिकारियों के लिये मैंने 'ज्ञानयोग' प्रकट किया है। उस आत्मज्ञान के साधन से मेरी मद्रूपता प्रकट होती है। अब इस लोक में जो केवल अविरक्त है, विषय के लिये कामासक्त हुए रहते हैं, उनके लिये मैंने कर्मयोग प्रकट किया है। इस प्रकार मैंने श्रेष्ठ और कनिष्ठ इन दोनों के बारे में स्पष्ट रूप से बताया। अब उत्कृष्ट और अलौकिक तीसरा अधिकारी है, उसके बारे में सुनो।

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥ ८॥

हरि की कथा सभी सुनते हैं, लेकिन मेरे प्रति उनके मन में श्रद्धा कभी नहीं उत्पन्न होती; लेकिन किसी को कथा श्रवण से ही विलक्षण श्रद्धा उत्पन्न होती है। उस श्रद्धा का लक्षण सुनो। वह जो भी श्रवण करता रहता है उसका अनुसंधान उसके हृदय में चलता रहता है। इससे उसका मनन भी उत्साहयुक्त प्रेम से होने लगता है। कथा प्रेम इतना विचित्र है कि उससे मन में हर्ष उफनने लगता है और हृदय में स्वानंद की पताका फहराने लगती है। श्रवण करने में उसकी इतनी अधिक रुचि रहती है। उसके कारण विषय दोषयुक्त दिखायी देने लगते हैं। इसमें मुख्य रूप से स्त्री और धन यही अधिक बाधक हैं। इसलिये जिह्वा और जननेन्द्रिय पर नियन्त्रण रखना है, इसका स्मरण रात-दिन मन में रहना चाहिये। घाव में यदि बाण का फल घुसा हो तो उसे खींच कर निकाले बिना घाव अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार विषयों के दोष भोग कर ही विषय कभी नष्ट नहीं होंगे। मृत्यु को सामने देखकर मनुष्य जिस प्रकार थर-थर काँपने लगता है, उसी प्रकार विषयभोग देखकर वह (सच्चा साधक) थर-थर काँपने लगता है। इस प्रकार वह विषयों के दोष निरन्तर देखता रहता है, लेकिन उनका त्याग करने का सामर्थ्य भी उसमें नहीं होता। सेवक राजा को बन्दीगृह में डाल दें और भले ही वे उसे स्त्री, चन्दन आदि विलास दें लेकिन वे उसे विषसमान लगते हैं। उन भोगों में वह उद्विग्न ही रहता है। सारांश, भोग भोगते समय वह अपने छुटकारे की बाट जोहता रहता है। इसी प्रकार यह भी दिन-रात विषयों का भोग करते हुए ऊब जाता है। इस प्रकार जो विषयासक्त भी नहीं है और सचमुच विरक्त भी नहीं है, ऐसी मध्यम स्थिति के व्यक्ति के ही लिये मैंने वेदमुख से भक्तिमार्ग दिखाया है। ऐसे लोग जब मेरी भक्ति करते हैं तो उन्हें मेरे स्वरूप पर प्रेम उपजता है और अपने आप विरक्ति प्राप्त होती है। ऐसी मेरी भक्ति सिद्धि देने वाली है। मैंने स्वयं वेद में जो कहा है वे ये तीन योग ही हैं। इन तीन योगों के योग से ही वेदवाणी का ज्ञान, कर्म तथा उपासना ये तीन विभाग बन गये हैं। इसमें किसी को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गुणदोष दिखायी देते हैं, किसी को दोनों ही नहीं दिखायी देता, इसमें मध्यम रीति में कौन रहता है, उसके भी लक्षण सुनो। जो विषय के प्रति आसक्त रहता है वही कर्म मार्ग का अधिकारी है। उसका गुणदोषों से छुटकारा नहीं होता। यही बात श्रीकृष्ण अगले अध्याय में बताने वाले हैं। लेकिन जो सचमुच ही विरक्त होकर ज्ञान का अधिकारी है, वह गुणदोषों से विलकुल विरत रहता है और उसे सारे संसार में तिलमात्र के लिये भी गुणदोष नहीं दिखायी देता। संसार पूर्ण ब्रह्मरूप है। उसमें गुण किसके कहें और दोष किसके? जो ऐसे सम्पन्न हैं उन्हें दोष दिखाई ही नहीं देते। जो अत्यन्त आसक्त नहीं हैं और अत्यन्त विरक्त भी नहीं हैं ऐसे मेरे भक्त पहले गुणदोष देखते हैं; किन्तु बाद में विवेक से उन्हें छोड़ देते हैं। मैं परमात्मा प्रत्येक प्राणी में आत्मस्वरूप में विद्यमान हूँ। उनमें गुणदोष नहीं देखने चाहिये। ऐसे जो भजननिष्ठ राजहंस होते हैं वे गुणदोष देखना छोड़ देते हैं। मैंने वेदार्थ में जिन गुणदोषों को बताया है, वे केवल दोषों का त्याग करने के लिये। दूसरों के दोष देखने की बात वेद में नहीं है। वेदार्थ का श्रवण इस प्रकार करना चाहिये कि दोषों का त्याग कर केवल गुण ग्रहण किये जाएँ। जो दूसरों के दोष देखता है वह उसके पाप का भागी होता है। जो दूसरों के दोषों का वर्णन करता है, वह उसी दोष से नरक जाता है। अब श्रीकृष्ण कर्म का अधिकार बता रहे हैं। उस पर विचार कर कर्म का आदर करें।

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥ ९॥

जब तक सच्ची विरक्ति उत्पन्न न हो जाय तब तक कर्म करें। एक बार विरक्ति प्राप्त होने पर स्वर्ग और संसार दोनों ही त्याज्य हो जाते हैं। वमन किये हुए मिष्टान्न पर जिस प्रकार जिह्वा की पुनः वासना नहीं होती; उसी प्रकार जब सचमुच ही विषयवासना के प्रति मन में घृणा उत्पन्न होती है, तब उस सम्बन्ध के विचार समूल बन्द हो जाते हैं अथवा संयोग से मेरी कथा सुनने के प्रति आदर उत्पन्न होता है। मेरी कथा श्रवण करते समय प्रेम से अंतःकरण भर उठता है, घरबार का विस्मरण होता है, तब कर्मत्याग की बाधा नहीं होती। मेरी कथा का श्रवण चलता है, तभी हृदय में मेरा स्मरण भी चलता है। ऐसी अवस्था में बाधा दोष नहीं रहता। मेरी कथा श्रवण करते समय करते समय करोड़ों कर्मों का लोप भले ही हो जाय लेकिन कर्मलोप के दोष की बाधा नहीं होती। मेरी कथा का ऐसा प्रभाव है।

(संमति श्लोक) मत्कर्म कुर्वतां पुंसां कर्मलोपो भवेद्यदि।
तत्कर्म तेषां कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः॥ १॥

मेरी प्रेमपूर्वक भक्ति करते समय जब मेरे भक्तों के नित्यकर्म रह जाते हैं, तब उनके वे कर्म तैंतीस करोड़ ऋषि महंत पूर्ण करते रहते हैं। मेरी कथा की ऐसी महिमा है। मेरा पूजन और कीर्तन चल रहा हो, उस समय विघ्नों की वहाँ आने की क्या हिम्मत है? उन्हें मुँह दिखाने का भी साहस नहीं होता अथवा जब कोई पुरुष पूर्ण विरक्त हो जाता है अथवा मेरी सेवा में तत्पर हो जाता है, उस समय उसके स्थान पर बेचारा कर्म दास बन कर रहता है, ऐसा स्वयं श्रीकृष्ण बताते हैं। उद्धव! स्वधर्म के अनुसार कर्म करने से मेरी प्राप्ति होती है। उसके सम्बन्ध में भी तुम्हें यथार्थ रूप से बताता हूँ, सुनो।

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यत्र समाचरेत्॥ १०॥

उद्धव! गृहस्थाश्रम में स्वधर्मानुरूप ही रहें, अन्य मार्ग पर नहीं चलें तो यहीं निश्चित रूप से विरक्ति प्राप्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होती है। अब अन्य मार्ग का क्या अर्थ है? उसका भी लक्षण बताता हूँ। पराया धन और परायी स्त्री की आसक्ति तथा परनिंदा में रुचि, इसी को उद्धव! 'नरक का मार्ग' कहते हैं। स्वर्ग सुख की बात सुनकर जो उसके लिये मन बना लेता है और उसके अनुकूल कर्म करता है उसे अचूक स्वर्गभाग प्राप्त होता है। ये दोनों 'अन्यगति' अर्थात् विपरीत स्थितियाँ हैं। इनसे वृत्ति हटाकर यज्ञादिक कर्मों से मेरा यजन करने से, नित्यनैमित्तिक कर्मों से ही वैराग्यस्थिति अर्थात् नैराश्य प्राप्त होता है। तब स्वर्ग में भी नहीं रहना पड़ता अथवा नरक में भी नहीं जाना होता। इहलोक में ही विरक्तता प्राप्त होती है। यही बात श्रीकृष्ण बताते हैं।

अस्मिंल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥ ११॥

इस लोक में विचरण करते समय, इस प्रकार स्वधर्माचरण करते रहने से पुण्य और पाप इन दोनों का ही क्षालन हो जाता है तथा वह निर्मलत्व से अत्यन्त पवित्र हो जाता है। तब संसार का भान नष्ट होकर उसे मेरा 'शुद्ध ज्ञान' अथवा मेरा सप्रेम भजन अर्थात् 'पराभक्ति' प्राप्त होती है। ऐसी भक्ति में मैं सदा भक्त के अधीन होकर रहता हूँ। तब ज्ञान मोक्ष के साथ ही स्वयं भक्त के चरणों पर आकर गिरता है। अब इस ज्ञान का परिणाम सुनो। वह संसार को 'महादुःख' तथा मोक्ष को 'परमसुख' कहता है। परन्तु मेरा भक्त इन दोनों को नहीं मानता। प्रेम से मेरा भजन करते समय संसार भय का स्मरण ही नहीं होता। उधर मोक्ष को कौन पूछता है? मेरे भक्तों को भक्ति का ही पूर्ण उल्हास रहता है। जिसे 'महादुःख' कहते हैं वह भक्तों के लिये भगवद्रूप ही होता है; उसी प्रकार जिसे महासुख कहते हैं वह भी उनके लिये भगवद्रूप ही रहता है। इस प्रकार मेरा भक्त मेरे भजन में सुख और दुःख दोनों को भूलता है। मुझ भगवन्त के सिवा उसे दुनिया में दूसरा कुछ दिखायी ही नहीं देता। लेकिन मेरी यह पूर्ण भक्ति कहीं से लाकर नहीं आती। मैं जब प्रसन्न रहता हूँ, तभी संयोग से वह प्राप्त होती है। अब तुम सोचोगे कि मैं किससे प्रसन्न होता हूँ तो मैं बताता हूँ कि मेरे प्रसन्न होने के लिये नरदेह ही एक कारण है।

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयुं तदसाधकम्॥ १२॥

जिन्हें स्वर्गभोग से अत्यन्त प्रेम है, उन्होंने अमरत्व की पताका फहरायी है और स्वर्ग के बन्दीखाने में पड़े हुए हैं, वे भी बड़ी चाह से नरदेह की इच्छा करते हैं। उसी प्रकार जिन्होंने भयंकर नरक यातनाएँ भोगी हैं, वे प्राणी भी बड़ी चाह से नरदेह की इच्छा करते हैं। नरदेह अत्यन्त पवित्र वस्तु है तथा भक्ति और ज्ञान का वह आश्रय स्थान है। जिसके योग से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, वह नरदेह धन्य है। इस नरदेह के कारण ही जन्म-मरण का बन्धन समाप्त हो जाता है, जीव को समाधान प्राप्त होता है और स्वयं स्वानंदघन हो जाता है। जिस नरदेह की संगति से अविद्या की निवृत्ति होती है और भगवत्पद की प्राप्ति होती है, उस नरदेह की यह कीर्ति प्रसिद्ध ही है। सभी प्राणी नरदेह की इच्छा करते हैं। साक्षात् ब्रह्मदेव भी नरदेह की इच्छा करते हैं। नरदेह इतना श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें भक्ति और ज्ञान की प्राप्ति होती है; लेकिन भक्तिज्ञान से मनुष्य देह नहीं प्राप्त होता।

न नरः स्वर्गतिं कांक्षेन्नारकी वा विचक्षणः।
नेमं लोकं च कांक्षेत देहावेशात् प्रमाद्यति॥ १३॥

नरदेह की प्राप्ति होने पर भी, अधर्म का आचरण करने पर नरक में ही जाना पड़ता है तथा पुण्य संग्रह करने पर निश्चित रूप से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्वर्ग मिलने पर पुनर्जन्म के चक्कर में फँसना होता है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और नरक में तो असह्य दु:ख भोगना होता है। इसीलिये इन दोनों की प्रीति छोड़कर नरदेह से प्रीति करना चाहते हैं। मनुष्य देह की चाह भी देहबुद्धि ही है। इसके कारण काम-क्रोध की युति बनती है। क्षण-क्षण पर असंख्य प्रमाद होते हैं। इसलिये स्वर्ग, नरक अथवा मृत्युलोक इन तीनों की ही प्रीति छोड़कर ज्ञान अथवा भक्ति ही प्राप्त करनी चाहिये। ज्ञान सम्पादन करने के लिये विशेष कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। प्रेम से मेरा भजन करने से ज्ञान दूर भगाने पर भी घर में ही घुसता है। गेहूँ का भण्डार मिलने पर उससे मनचाहे पकवान बनाये जा सकते हैं। उसी प्रकार मेरी भक्ति प्राप्त होते ही ज्ञानसम्पत्ति घर में प्रवेश करती है। हाथ में पैसा होने पर सभी चीजें घर बैठे आ जाती हैं, उसी प्रकार मेरी भक्ति साध्य करने से भुक्ति और मुक्ति दोनों दासी बनकर रहती हैं। इस पर शायद तुम यह कहोगे कि मेरी भक्ति करने पर छल करने के लिये विघ्न भी आयेंगे। तो मैं तुम्हें बताता हूँ कि हाथ में सुदर्शन लेकर मैं अपने भक्तों का रात-दिन संरक्षण करता हूँ। पक्षी के बहाने नामस्मरण करने पर मैंने वेश्या का भी उद्धार किया है। विघ्न के दाँत तोड़ कर मैंने उस व्यभिचारिणी का भी उद्धार किया। इसलिये नरदेह प्राप्त होने पर जो मेरा भजन करता है, वही इस संसार में धन्य कहलाता है। मनोभाव से मेरी भक्ति करने पर मैं श्रीकृष्ण उस भाविक का उद्धार करता हूँ और जो ज्ञानाभिमान में रहते हैं उन्हें मैं यम के सुपुर्द करता हूँ। मेरी भक्ति अथवा ज्ञान सम्पादन करते समय जिन्हें ज्ञानाभिमान होता है, उन्हें मैं अपने हाथों दोषों के सुपुर्द करता हूँ। अब उद्धव! तुम यह कहोगे कि उन्हें यम के सुपुर्द क्यों करता हूँ? तो वह इसीलिये कि वह उन महादोषी जनों को यातना देकर उन्हें ज्ञानाभिमान से मुक्त करता है। इसलिये देहाभिमान छोड़कर भक्तिभाव से मेरा भजन कर पूर्व के ज्ञानसम्पन्न साधु नरदेह से ही मुझ तक आ पहुँचे हैं।

एतद् विद्वान् पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम्॥ १४॥

देह तो केवल अस्थि, चर्म और मलमूत्र से ही बना है और अत्यन्त अमंगल है किन्तु उससे परिपूर्ण और निश्चल ब्रह्म का निर्मल फल प्राप्त होता है। पूर्व के ज्ञानसम्पन्न लोगों ने नरदेह का कारण ध्यान में रखकर देहाभिमान छोड़ा और वे ब्रह्मसुख तक पहुँच गये। देह निंद्य है इसलिये उसे छोड़ दिया जाय तो हाथ से इतना बड़ा लाभ छूट जाता है; यदि उसे वन्दनीय मान कर उसका पोषण करें तो निश्चय ही रौरव नरक प्राप्त होता है। इसलिये देह का न तिरस्कार ही करें और न विशेष आदर ही करें। हाँ, उससे परमार्थ साध लेना चाहिये। उद्धव! उसे कैसे साध्य किया जाय इसका गुप्त रहस्य तुम्हें बताता हूँ। ध्यान देकर श्रवण करो। जिस देह के कारण संसार का भाव बढ़ता है, उसी देह के कारण संसार का ही अभाव हो जाता है, हाँ अन्धकार का अवश्य त्याग करना चाहिये। पूर्व के ज्ञानसम्पन्न साधु देहाभिमान छोड़ने के लिये नित्य जागरूक रहकर मत्स्वरूप प्राप्त कर ब्रह्मस्वरूप हो गये। ''नरदेह से ब्रह्मप्राप्ति होती है तो फिर पहले विषयभोगों का उपभोग कर फिर ब्रह्मप्राप्ति करूँगा'' ऐसा शायद तुम कहोगे। लेकिन ऐसा विश्वास मन में रखने से अपना ही नुकसान होगा। क्योंकि, देह के ही साथ मृत्यु पीछा करती रहती है। हरिहर भी उसे नहीं टाल सकते। सारांश, देह की मृत्यु अटल है। वह कब आयेगी, मालूम नहीं होगा। इसलिये उसके आने से पहले अपना स्वार्थ साध लेना चाहिये। अपने देह पर यदि हम लुब्ध हो गये तो यम अचानक उस पर हमला करता है और उसमें हमारा स्वार्थ डूब जाता है। इस सम्बन्ध का निर्णय श्रीकृष्ण बताते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम्।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः॥ १५॥

किसी वृक्ष की चोटी पर कोई पक्षी घोंसला बना कर रहता है और कोई निर्दय व्यक्ति उस वृक्ष की जड़ काटने लगता है। यदि वह पक्षी यह देखकर अपने घोंसले से पलायन करता है तभी उसका कल्याण होता है। यदि वह वहीं रह गया तो उसकी मृत्यु निश्चित है। उस वृक्ष की ही तरह देह का मरण भी अटल है, उसमें जीव रहता है तो उसे भयंकर दुःख भोगना पड़ता है, वह कभी नहीं टलता।

अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वाऽऽयुर्भयवेपथुः।
मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति॥ १६॥

रात-दिन आयु कम होती रहती है। कलिकाल का वेग तो भयंकर रहता है। यह एक नित्य नया रोग शरीर में लगा हुआ है। काल कालमान के अनुसार आयु का क्षय करता रहता है। इसी में आयुष्य का विनाश होता है, यह ध्यान में रखकर और नरदेह का कभी भी पतन होगा यह जानकर जो घरबार के प्रति उदासीन होता है वह देह की क्षणभंगुरता जानकर देहाभिमान छोड़कर भक्तिज्ञान प्राप्त करने के प्रति अत्यन्त जागृत रहता है। यदि देहाभिमान नहीं छोड़ा तो मृत्यु कभी भी शरीर पर आक्रमण करेगा इस भय से उसका शरीर काँप उठता है और वह पूर्ण वैराग्य धारण करता है। वैराग्ययुक्त भक्ति करने से देहाभिमान की निवृत्ति होती है। तब ज्ञान सम्पत्ति घर में प्रवेश करती है और चारों मुक्तियाँ चरणों पर गिर पड़ती हैं। इस प्रकार निजात्मप्राप्ति होने पर प्रवृत्ति अपने आप रुक जाती है और निवृत्ति की भी निवृत्ति हो जाती है और फिर संसार की अपने आप शान्ति हो जाती है। इस प्रकार नरदेह प्राप्त कर अनेक लोगों ने आत्मानंदसुख प्राप्त किया। ऐसा होते हुए मूर्ख लोग अपना सुख नहीं साधते, उसकी श्रीकृष्ण निंदा कर रहे हैं।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥ १७॥

चौरासी लाख जीवयोनी हैं। इसमें मनुष्य देह के सिवा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का कोई अधिकारी नहीं है। नरदेह से मेरी प्राप्ति होती है इसलिये देह को 'आद्य' कहा गया है। इसकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। बड़े भाग्य से नरदेह प्राप्त होता है। सुदृढ़ अर्थात् सभी अवयवों से युक्त, कहीं कोई व्यंग्य नहीं, न बहरा, न अन्धा, न पंगु, न गूँगा, इस प्रकार सर्वांग से सम्पूर्ण और यह सब भरतखण्ड में प्राप्त होना, अत्यन्त भाग्य का लक्षण है और तिस पर यदि अंतःकरण में परमार्थ के बारे में विवेक है तो मैं परमात्मा उसका आज्ञाधारक बन जाता हूँ। जब स्वयं मैं ही उसका आज्ञाधारक हूँ तो बाकी देवताओं और मनुष्यों की क्या बिसात है? लेकिन यह नरदेह पुनः प्राप्त नहीं होगा। पुण्य और पाप का पलड़ा जब बराबर रहता है तभी नरदेह प्राप्त होता है, यह ध्यान में रखो। ऐसा नरदेह ही पुनः मिलेगा यह नाप कर कोई कर्माचरण नहीं कर सकता। पुण्य अधिक हो जाय तो स्वर्ग भोगना आवश्यक हो जाता है और पापों का पलड़ा भारी हो जाय तो नरक भोगना पड़ता है। इस प्रकार कर्म की गति अत्यन्त गहन है। उसमें काकतालीय न्याय से ही संसाररूपी भवसागर पार करने के लिये नरदेहरूपी जहाज अपने भाग्य से मिलता है। 'सुलभ' अर्थात् अविकल, और 'सुकल्प' अर्थात् विचारशील को उस पार ले जाने वाला नाविक केवल गुरु ही है। गुरु मंत्र कान में देता है इसलिये उसे 'कर्णधार' कहते हैं। भक्तों का उद्धार कान पकड़कर करने के कारण गुरु सभी दृष्टियों से 'कर्णधार' है। संसाररूपी सागर में नरदेह ही जहाज

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। वहाँ सद्गुरु ही नाविक है। जहाज को उस पार पहुँचाने के लिये मैं श्रीहरि अनुकूल बहने वाली वायु हूँ। गुरु कर्णधार की कुशलता का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? भँवरे, प्रपात, पानी की तेज धारा, विकल्प के कल्लोल आदि से बचाकर वह अपनी नौका को आगे बढ़ाता है। विवेक का पतवार लगाकर कर्माकर्म का जल प्रवाह काटा जाता है और भजनरूप मस्तूल के बल पर नौका धीरे-धीरे आगे बढ़ती जाती है। कामक्रोध की बड़ी-बड़ी मछलियाँ चारे की खोज में छिपी बैठी रहती हैं, उस पर शान्ति का जाल डालकर वह अपना जहाज बड़ी कुशलता से आगे बढ़ाता रहता है। राह में सारुप्य की गोदी आती है, तो वहाँ नाव में गजर होने लगता है। अनाहत के ध्वज फहराते हैं, जय-जयकार की गर्जना होने लगती है। सलोकता के बाजार में जाने पर जहाज कहीं उलट न जाय अथवा समीप के मार्ग पर ले जाने पर कहीं दोनों ओर से डगमगा न उठे इसलिये जहाज को सरूपता की गोदी में ही स्थिर किया जाय ऐसा विचार मन में आता है लेकिन वहाँ बहुत भीड़ रहती है इसलिये सारी बातों का विचार कर जहाज को सायुज्य गोदी में ले जाते हैं। वहाँ धार्मिक लोगों की निर्मल धर्मपेठ (बाजार) ही लगी रहती है। न शोरगुल है न झगड़ा-टंटा है। सभी सामान निर्मल है। जो माल चाहे एकसाथ ले सकते हैं। ऐसा यह नरदेह का दुर्लभ जहाज है तथा श्रीगुरुरूप से मैं ही उसका कर्णधार अर्थात् नाविक हूँ। इस जहाज के सहारे जो भवसागर को पार नहीं करेगा, उस पुरुष को आत्मघाती समझना चाहिये। यदि आगे जाकर नरक यातना भोगने के लिये ही यह देह विषयों में खर्च किया तो वह अपने ही हाथ से सीने में शस्त्र घुसेड़ने जैसी बात होगी। उस पार जाना आवश्यक है इसलिये नौका तोड़कर उस पर चना भूज कर खाये अथवा बुद्धिमान लोग जाड़े के भय से ओढ़ना जला कर उस आग से तापें, उसी प्रकार यहाँ होता है। लोग व्यर्थ ही नरदेह को खो देते हैं। आगे दुःख के दुर्धर पर्वत आ जाते हैं। सचमुच, सभी योनियों में विषयासक्ति सभी को लगी है। नरदेह में भी विषय सम्बन्ध से वैसी ही स्थिति रही तो उसके मुँह में मिट्टी ही पड़ेगी। ऐसा श्रेष्ठ नरशरीर प्राप्त होने पर भी जो संसार के उस पार नहीं जायेगा, वह उद्धव! सचमुच आत्मघाती पुरुष ही होगा। सहस्रों ब्रह्महत्या अथवा गोहत्या करने पर भी शास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान है, लेकिन जो आत्महत्या कर लेता है उसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं होता क्योंकि जो आत्महत्या करके मरता है, वह तत्काल नरक में जाता है, फिर प्रायश्चित्त करने के लिये बचा कौन? और शास्त्रार्थ भी किसे बताया जाय? अमृत बेच कर यदि कोई माड पिये, उसी प्रकार नरदेह प्राप्त कर विषयभोग में लिप्त रहे तो जीव का सच्चा स्वार्थ डूबकर वह अपनी हानि कर लेता है। उत्तम शरीर प्राप्त कर विषयासक्ति के कारण अनेक लोग डूबते हैं, ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा। लेकिन ये मूर्खों की बातें रहने दो। अब वेदार्थ के अनुसार चलकर, अपने हित पर दृष्टि रखकर सावधान रहने वाले उत्तम लोगों की पद्धति सुनो। जो स्वभाव से ही अत्यन्त विरक्त रहते हैं उन्हें कौन-सा कर्त्तव्य करना चाहिये? किस वस्तु का त्याग करें? यही बात भगवान बताते हैं।

यदाऽऽरम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रितः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः॥ १८॥

जो कर्म के आरम्भ में ही विरक्त रहता है, फल की आशा जिसके चित्त को स्पर्श नहीं करती; मोक्ष मिलने की इच्छा का जिसे स्मरण नहीं होता, वैराग्य की दृष्टि कठोर होने के कारण जो इन्द्रियों को विषय की बात भी नहीं करने देता, इतना कठोर मनोनिग्रह होता है उसका। वह धारणा निग्रह दृढ़ रखता है। श्रवण और मनन कर मेरे स्वरूप का अनुसन्धान करता है। अखण्ड मेरा ही ध्यान करता है। मन को तिलभर के लिये भी ढलने नहीं देता। धारण के बल से आत्मस्वरूप में मन स्थिर रखता है, जरा भी नहीं ढलने देता। निजबोध से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसे निश्चल रखता है। लेकिन मन आत्मस्वरूप में किस प्रकार निश्चल होता है? उसका उपाय भी श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम्।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत्॥ १९॥

आत्मस्वरूप में ही ध्यान केन्द्रित कर बैठने से यदि मन स्थिर न रह पाये, अपने चंचल स्वभाव के कारण वह अपना गुण न छोड़े, अथवा साधक आलस्य के कारण विकल हो जाय या विषयों के सुख का स्मरण करने लगे, तो उससे मन अपने चंचल स्वभाव के कारण स्वरूप में से पलायित हो जाता है। ऐसी अवस्था में अपना आसन अटल कर, स्वयं सावधान होकर सद्गुरु के चरणों का स्मरण कर मन को स्वरूप में ही रखना चाहिये। मन को यदि विषयदान न दिया जाय तो वह हठ से कुछ अधिक ही क्षुब्ध हो जाता है। ऐसे समय स्वरूपानुसंधान न छोड़, उसे विधिपूर्वक दाना पानी देते रहना चाहिये। (आशंका) सर्प को अमृत पिलाने से वह विष ही हो जाता है; उसी प्रकार मन को भी विषयसुख देने से वह पहले से भी अधिक क्षुब्ध हो उठेगा। इसलिये मन को ऐसे विषयभोग देने चाहिये जिसके योग से वह स्वतंत्र रहे। इसी अर्थ का निरूपण स्वयं श्रीकृष्ण अगले श्लोक में बताते हैं।

मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः।
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत्॥ २०॥

मन को स्वतंत्र न छोड़, स्वरूपानुसंधान न छोड़ अन्न, पानी और निद्रा ये विषय मन को देना अपने हित में रहता है। साधक भले ही साधन के द्वारा इन्द्रियों को और प्राणों को जीत ले लेकिन मन को उसे स्वतंत्र नहीं छोड़ना चाहिये। उसे स्वरूप में ही स्थिर रखना चाहिये। जो मन पर विश्वास करता है उसे कामक्रोध कहीं का नहीं छोड़ते; संकल्पविकल्प उसे लूट लेते हैं और महामोह ग्रस लेता है। मन का बल बहुत बड़ा है यह ध्यान में रखकर उसके पैर में विवेक की सिकड़ी बाँध देनी चाहिये। मन और विवेक इन दोनों का ऐक्य होते ही बुद्धि सत्त्वगुण से युक्त होकर विषय की जड़ ही उखाड़ देती है और विकारयुक्त उपाधि तोड़ देती है। मन जिधर-जिधर भागने का प्रयास करता है, उधर-उधर विवेक उसका पीछा करता रहता है और फिर वह सात्त्विक बुद्धि के सहारे मन के पैर ही तोड़ देता है। इस प्रकार मन का बल टूट जाने पर जिस प्रकार पानी का प्रवाह नदी के जल में ही रहता है, उसी प्रकार मन भी स्थिर रहता है। इस प्रकार जब मन स्वयं ही स्वरूप में शान्त हो जाता है, तभी योग श्रेष्ठ होने के कारण उसके योग से जीव और शिव दोनों का ही समाधान होता है। जीव और परमात्मा में ऐक्य स्थापित करना यही वास्तव में 'श्रेष्ठ योग' है। इसी बात का निरूपण श्रीकृष्ण अश्व के दृष्टांत से करते हैं।

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन् दम्यस्येवार्वतो मुहुः॥ २१॥

अश्व पर जीन चढ़ाये बिना घुड़सवार जिस प्रकार घोड़े को अपने हुक्म से वश में करता है, उसके पृष्ठ भाग पर चाबुक मारता है, जहाँ पैर सँभाल कर चलता है तो वह उसे पुचकारता है। लेकिन जहाँ उसका पैर गलत पड़ता है वहाँ उसके मर्म पर चाबुक मारता है। यदि अश्व हठ के कारण अपनी आदत नहीं छोड़ता तो वह उसे थोड़ी छूट दे देता है लेकिन उसे पूरी तरह खुला नहीं छोड़ता और न उसे पीड़ा ही देता है। इस प्रकार वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अश्व को अपने वश में करता है। अपने वश में रखने की मालिक की इच्छा अश्व जानता है और घोड़े का मन एक होने पर घोड़ा भी बिना लगाम के मालिक की आज्ञा से काम करने लगता है। अड़ना, उछलना-कूदना वह छोड़ देता है और मालिक की मर्जी से उसकी इच्छा के अनुसार नाचने लगता है। इसी प्रकार मन का भी निमंत्रण करना चाहिये। मुख्यतः हमें अपने मन पर विजय प्राप्त करनी चाहिये, यही परमयोग का साधन है। यही मैंने तुम्हें पिछले श्लोक में बताया है। 'नृदेहमाद्यं' इस श्लोक के अन्त में कर्मवैराग्य के द्वारा मुक्ति मिलने की बात कही थी। अब इस श्लोक में, उत्तम गति अभ्यास से ही प्राप्त होती है यह बताया है। लेकिन मुख्यरूप से सांख्ययोग से ही मेरी प्राप्ति होती है, यही बात मैं तुम्हें बताने वाला हूँ। उसका सारांश यही है कि संसार की स्फूर्ति मिथ्या है और ब्रह्मसाक्षात्कार ही सत्य है। यह निरूपण गहन ज्ञानात्मक है। फिर भी वह गुह्यज्ञान मैं तुम्हें बताऊँगा। वह त्रिगुण में विद्यमान होते हुए भी गुणकार्य से अलिप्त रहता है। मैं तुम्हें गुह्यज्ञान बताऊँगा यह सुनकर उद्धव स्वयं कान बन गया और श्रवण करने के लिये अत्यन्त सावधान होकर बैठ गया। उद्धव की यह आतुरता देखकर व्याकुल चित्तरूपी चकोर को तृप्त करने वाला चन्द्रमा तथा आत्मज्ञानरूपी गुणों के समुद्र यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने क्या कहा?

सांख्येन सर्वभावानां पतिलोमानुलोमतः।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत् प्रसीदति॥ २२॥

सृष्टि के प्रारम्भ में जो अलिप्त रहता है और सृष्टि की स्थिति में महतत्त्वादिकों से लेकर देह तक व्याप्त रहने वाला जो तत्त्व होता है, वह ब्रह्म है। सृष्टि की विशेष स्थिति में गुणकार्य को वही प्रकाशित करता है, अन्त में गुणकार्य को ग्रस लेता है और अवशेष भी वही रहता है। अलंकार बनवाने से पहले भी वह सुवर्ण रहता है, अलंकार बनवाने पर भी उसका सुवर्ण वाला गुण कम नहीं होता और अलंकार तुड़वाने पर भी सुवर्ण को कोई भय नहीं है। बादल आने के पहले आकाश शुद्ध रहता है और बादलों के भीतर, बाहर भी आकाश ही रहता है। उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इनके अन्त में परब्रह्म अलिप्त स्थिति में एकत्र रहता है। उद्धव! उससे सम्बन्धित विचार भी तुम्हें सुनाऊँगा। कुम्हार जो भी बर्तन तैयार करता है उसमें मृत्तिका व्याप्त रहती है, उसी प्रकार जो-जो तत्त्व उत्पन्न होता है, वह सब परब्रह्म से व्याप्त रहता है। समुद्र में जो लहर उत्पन्न होती है, उसमें भीतर-बाहर जल ही रहता है, उसी प्रकार महतत्त्व से देह तक भीतर-बाहर केवल चित्तस्वरूप ही रहता है अथवा जो भी पदार्थ उत्पन्न होता है, वह निश्चय ही आकाश से ही व्याप्त रहता है, उसी प्रकार जो भी तत्त्व उत्पन्न होता है, वह चैतन्यरूप से ही व्याप्त रहता है। इस प्रकार परब्रह्म से अलग कुछ भी नहीं दिखायी देता। उसी प्रकार पृथ्वी से प्रकृति तक लय देखें तो जिस प्रकार जल का प्रवाह जल में ही रहता है, उसी प्रकार सारे तत्त्वों की लय भी उस चित्स्वरूप में ही रहती है। प्रकृति आदि तत्त्व प्रबल होते हैं जो विकार के कारण विलीन हो जाते हैं। परन्तु परब्रह्म वस्तु अलिप्त अवस्था में उसी प्रकार विद्यमान रहती है। उद्धव! सारांश यही है कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होने पर भी परब्रह्म अविनाशी होते हुए अलिप्त ही रहता है। वह नित्य शुद्ध-बद्ध-मुक्त स्वभाव का ही रहता है इसे ध्यान में रखो। जहाँ ऐसा परब्रह्म है वहाँ संसार की कल्पना ही मिथ्या है। जिस प्रकार भ्रमित मनुष्य रस्सी को सर्प समझ कर व्यर्थ ही काँप उठता है, उस सर्प को बाहर फेंक कर रस्सी को शुद्ध नहीं कर लेता, उसी प्रकार चारों ओर परमानन्द ही भरा हुआ है ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा। ऐसी वस्तु जहाँ है वहाँ मन भी अपना मन भूल जाता है और इसी साधन से साधक भी पूरी तरह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। अब यह श्रेष्ठ किन्तु कठिन साधन जिससे नहीं होगा, उसका मन निश्चल होने के लिये भगवन् एक अन्य साधन बताते हैं।

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया॥ २३॥

जन्म-मरण के भयंकर भँवर में गोते लगाते हुए साधक वैराग्य से अत्यन्त संतप्त होता है इसलिये विष मिलाये हुए पकवान की तरह उसे विषय में विरक्ति प्राप्त होती है। खुशबूदार अमृतफल हो और उस पर सर्प जहर उगल दे, उसी प्रकार सभी विषयों में उसे अत्यन्त बाधा दिखाई देती है। ऐसे विवेक से जो विवेकशील हुआ है; साथ ही श्रद्धायुक्त गुरुभक्त, गुरु ने बताया हुआ अर्थ जो हृदय से नहीं भूलता, गुरु के उपदेश को सदा हृदय में धारण करता है और मन में जिस अर्थ का विचार किया है उसी अर्थ का पुनः पुनः मनन करता है। प्रत्यगात्मा का अखण्ड चिन्तन करने से मन संकल्प विकल्प छोड़ देता है। फिर वह स्वयं देहाभिमान छोड़ कर स्वयं ब्रह्मसम्पन्न हो जाता है। ऐसे ब्रह्मसम्पन्न होने पर मन स्वरूप में लीन हो जाता है। इस एक उपाय को भी ध्यान में रखो। लेकिन यदि यह भी न हो सके तो एक और उपाय बताता हूँ, सुनो।

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया।
ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः॥ २४॥

सारे विषय भोग छोड़कर यमनियमों के साथ योगमार्ग का आश्रय करें। अच्छी तरह आसन पर बैठकर (गुदस्थान की ओर के) 'मूलाधार' चक्र पर दृष्टि केन्द्रित कर मुद्रा साधें। उस समय अपानवायु ऊर्ध्वमुख से (लिंगस्थान की ओर के) 'स्वाधिष्ठान' चक्र तक पहुँचने तक बढ़ता जाता है और प्राणवायु प्राणायाम से अटक कर पुनः नाभिस्थान की ओर लौट जाता है। तब प्राण और अपान ये दोनों जब सम हो जाते हैं तो स्वयं वायु शरीर का मलक्षालन कर पिण्ड ब्रह्माण्ड की शुद्धि करती है। कफ और पित्त दोनों को खाकर नाड़ी का शोधन कराती है। पुराने मल संचित रहते हैं, उन्हें भी तत्काल नष्ट कर डालता है। वायु का सामर्थ्य बहुत अधिक और विलक्षण है। वह पिण्डों के और ब्रह्माण्ड के सारे मल साफ कर निर्मल कर देता है। इतनी पवित्रता केवल इस महायोग से होती है। लेकिन उस समय अनेक रोग प्रकट हो जाते हैं। बड़े-बड़े विघ्न आ जाते हैं। नाना विकल्प मन में उभरते हैं और सिद्धियों को लूटना चाहते हैं। उद्धव! इतने विघ्न सिर पर आ जाए तो साधक यदि धैर्य नहीं खोता, तभी प्राणापान सम होगा यह ध्यान में रखो। प्राणापान का मिलन होने पर 'कुण्डलिनी' शक्ति जागृत होती है और वह उन प्राणापान को लेकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है। वह असाधारण आदि शक्ति पश्चिम का बड़ा घाट (मेरुदण्ड) चढ़ने लगती है। वहाँ के षडचक्रों का कोलाहल समाप्त कर वायु पहले से ही उसका मार्ग समतल कर देती है। उस मार्ग से जब कुण्डलिनी जाने लगती है तो आधिव्याधि की लहरें बंद हो जाती हैं। विकल्प की राहें बन्द हो जाती हैं और बड़े-बड़े विघ्नों की झड़ी भी बाधा नहीं पहुँचाती। उल्हाट शक्ति की बाट लाँघ कर आगे बढ़ने पर ब्रह्मरन्ध्र का द्वार खुलता है और सहस्रदल कमलों में से अत्यन्त शुद्ध और मधुर चन्द्रामृत के झरने बहने लगते हैं। कुण्डलिनी बाला उसका प्राशन कर, सन्तोष से गरल निकाल देती है। इससे शरीर पर तेज उभरने लगता है जिससे देहभाव बदलने लगता है। कला शरीराकार में उलीची जाने के कारण उसका शरीर अत्यन्त सोज्ज्वल दिखायी देने लगता है इतना कि वह ब्रह्मरस का पुतला प्रतीत होने लगता है या कि जैसे ब्रह्मसुख की कली खिली हो। उसके अवयवों का क्या वर्णन किया जाय? जीव का जीवन खिल जाए

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

या ब्रह्मविद्या पर फल लग जाए अथवा चैतन्य को अंकुर फूटे इस प्रकार अवयव शोभित होने लगते हैं। देह के सूक्ष्मत्व के कारण वह संसार की आँखों में समा जाता है और जीव में सचांर कर वह अपने स्वभाव के अनुसार विचरण कर सकता है। वह वायु की सीढ़ी बनाकर सुख से गगन पर विचरण करता है। इसी को सिद्ध पुरुष 'परम खेचरी' मुद्रा कहते हैं। उसके शरीर की दीप्ति से सूर्य भी जुगनू की तरह दिखायी देने लगता है। अमरपति इन्द्र चन्द्र भी उसके चरणामृत की इच्छा करते हैं। वह औट पीठ गोल्हार लाँघ कर, भ्रमरगुंफा के अन्त तक जाकर, सोहंहंस का पीठ भेद कर परमात्मा के रूप में प्रकट होकर बैठ जाता है। इस अभ्यास के कारण यह योग बहुत कठिन है। बहुत कम लोग ही इसे साध पाते हैं। यह मार्ग अत्यन्त कठिन है ऐसा स्वयं श्रीकृष्ण भी कहते हैं। अगर यह मार्ग उन्हें स्वीकार्य होता तो वे दूसरा साधन बताते ही नहीं। मूल श्लोक देखने से सज्जन लोग समझ जायेंगे। सुनने में यह अच्छा लगता है लेकिन करते समय कलेजा फट जाता है। कोई साधु कितना ही हठ क्यों न करे लेकिन उससे यह साधन नहीं सधता। बड़े-बड़े देवतागण और साधु भी इसमें फँस गये हैं। इस कठिन साधन को छोड़िये। तुम्हें मैं एक दूसरा साधन बताता हूँ। वह है 'आन्विक्षीकि' विद्या! इसमें 'त्वंपद-शोधन' का विवेक है। पंचभूतात्मक तत्त्वों का गोलक तत्पद से भिन्न है। वह सर्वव्यापक से बच कर कहीं एक देशी बन कर रहा है। अनादि माया के प्रवाह के कारण तन्मात्रारूप विषय की संगत से, मन के संकल्प के बिना उसने अपने को भिन्न माना है। भेद मन ने माना है, इसलिये उसे ही अभेद का उपदेश करें। इसी अर्थ का विवेक स्वयं श्रीकृष्ण विशद करके बताते हैं। शरीर पंचभूतात्मक है यह सत्य है लेकिन उसमें की 'पृथ्वी' पानी में घुल जाती है। पृथ्वी में 'गंध' जल में भर कर पृथ्वी ही निःशेष हो जाती है। जल के 'जलरस' का जब 'अग्नि' शोषण कर लेता है, तब जल का ह्रास होता है। इससे तेजतत्त्व निःशेष हो जाता है। लेकिन 'वायु' का प्रताप उस 'तेज' और उसके कारण 'रूप' को ग्रस लेता है। वायु का झोंका लगते ही तेज का स्वरूप भी मलिन हो जाता है। इस वायु का 'स्पर्श गुण' जब गगन ले जाता है तो वायु का भी भान नहीं रहता। 'वायु' आकाश में लीन हो जाता है और केवल आकाश ही शेष रहता है। अकेले आकाश का कोई रूप ही नहीं रहता। वह गुणकार्यों के साथ अहंकार में प्रवेश करता है, अहंकार माया में प्रवेश करता है और माया परमेश्वर में लीन होने पर मिथ्या हो जाती है। रात अपनी प्रौढ़ता से अन्धकार फैलाती है तब सहस्रों नक्षत्र और जुगनूं अपने-अपने तेज से आकाश में चमकने लगते हैं। लेकिन वह रात जब सूर्य के सामने आती है तो अपने कार्य के साथ अदृश्य हो जाती है। आगे पीछे देखने पर कोई भी नहीं दिखाई देता। उसी प्रकार परमेश्वर के सामने माया अपने कार्यकारण के साथ लुप्त हो जाती है। मिथ्या ही होने के कारण उसका कोई स्वरूप शेष नहीं रह जाता है। उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता। माया प्रतिबिम्बित चैतन्य को 'जीव' यह नाम प्राप्त होता है। जब माया ही नष्ट हो जाती है तो जीवत्व भी नष्ट हो जाता है। जीवशिव का भान नहीं रहता। मन का अपनापन उड़ जाता है, चारों ओर चैतन्य ही भर जाता है और साधनों को अत्यन्त समाधान होता है। इस प्रकार त्वंपद का शोधन करने से तत्पद में समाधान होता है। इसका नाम 'आन्वीक्षिकी विद्या' है। यह विवेकी लोगों को ही साध्य होती है। अब न योगसाधन की आवश्यकता है और न त्वंपद के शोधन की। मैं तुम्हें इससे भी सुलभ अन्य साधन बताता हूँ। इसमें कष्ट तो बहुत कम है लेकिन योग का सारा फल जुड़ता है। त्वंपद शोधन उसके आगे लाचार होकर बैठ जाता है। वह क्या है? वह है मेरी भक्ति। मेरी रामकृष्णादि जो मूर्तियाँ हैं उनकी अत्यन्त प्रेमपूर्वक पूजा करने से मैं श्रीपति अत्यन्त सन्तुष्ट होता हूँ। मेरा गुणानुवाद सुनें, मेरा कीर्तन करें, मेरा नामस्मरण करें, मेरा ही ध्यान, मेरा ही भजन इस प्रकार सदासर्वदा मेरा ही चिन्तन करते रहें। अंतःकरण में सदा मेरा ही ध्यान, मुख से मेरा ही नाम और मेरा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही स्तवन, कान में मेरी ही कथा और मेरा ही कीर्तन और हाथों से सदासर्वदा मेरा ही पूजन। पैरों से प्रदक्षिणा करें अथवा यात्रा पर जायें। अष्टांगों ने सर्वकाल मुझे ही नमन करें। इस प्रकार अनन्य भाव से मेरा भजन कर, मेरी ही भक्ति में लीन रहना। इस प्रकार जो मेरी भक्ति में निमग्न रहते हैं, उनका मैं चक्रपाणी दास बन जाता हूँ। त्रिभुवन में उसके सिवा मैं किसी को नहीं चाहता। इस प्रकार मेरा भजन करने पर योग आदि का स्मरण भी आवश्यक नहीं है। उद्धव! मैं श्रीकृष्ण भक्ति के सिवा और किसी भी वस्तु से प्राप्त नहीं हो सकता। अस्तु! संयोग से यदि योगयों के हाथ से पाप हो जाय तो उसे कर्मप्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं है। यही बात श्रीकृष्ण बताते हैं।

यदि कुर्यात् प्रमादेन, योगी कर्म विगर्हितम्।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन॥ २५॥

भक्त से हाथ से निंद्य कर्म होता नहीं है क्योंकि उसके आगे-पीछे उसकी सुरक्षा के लिये मैं रहता हूँ। तब वह निंद्यकर्म योग के जिम्मे आता है। योग में कभी गलती से ऐसा घट जाता है। इस प्रकार गलती से जो पातक होता है उसके लिये उसे अत्यन्त पश्चात्ताप होता है। जिस प्रकार अग्नि से सर्प डरता है उसी प्रकार वह पातक से डरता रहता है। सिंह पर मधुमक्खी बैठने पर वह जिस प्रकार अंग झाड़ता है, उसी प्रकार योगी भी पातक को देखकर अनुताप करता रहता है। ऐसे समय उसे सावधान होकर योगबल से ही सारे पातकों का क्षालन करना चाहिये। यही योगी का प्रायश्चित्त है। यदि इस योगस्थिति को छोड़ वह देह में गोबर माटी लगाने दौड़े तो वह निश्चय ही लुट जायेगा। इससे पापों का क्षालन नहीं होगा। यदि हृदय में अनुताप नहीं हुआ है और शास्त्रों के वचन के अनुसार यदि दिखावे के लिये गोबर माटी लगाता है तो उससे पापों की निवृत्ति नहीं होगी। आधा क्षण भी मेरा ध्यान करने से करोड़ों पातक भस्म हो जाते हैं फिर औरों की क्या कथा की जाय? ऐसा स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं। जिसका अधिकार मुझे ध्यान करने के लिये उपयुक्त है उसे दूसरा कोई प्रायश्चित्त करने के लिये कहने से कहने वाले को ही दोष लगेगा। इसलिये यहाँ मुख्य रूप से अधिकार ही प्रमाण है। इसी विषय का निरूपण स्वयं श्रीकृष्ण करते हैं।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया॥ २६॥

मनुष्य की स्वभाव से ही विषय में प्रवृत्ति रहती है। उसकी निवृत्ति करने के लिये ही मेरी वेदोक्ति प्रकट हुई है। विषयों का एकाएक त्याग करने में लोग असमर्थ रहते हैं, उन्हें विषय छोड़ने के लिये ही वेद उसके गुणदोष दिखा देता है। यह माँ है, यह बहन है इनसे व्यभिचार नहीं करना चाहिये यह बात यदि वेद ने नहीं बतायी होती तो विषयों के सम्बन्ध में चाहे जैसा व्यवहार हुआ होता। जब तक समाज में स्त्री-पुरुष हैं, तब तक कामसंचार तो होगा ही इसलिये मैंने यदि वेदोक्ति से नियम न बना दिये होते तो भीषण व्यभिचार मच गया होता। इसलिये और सारी स्त्रियों को छोड़कर अन्य वर्णों को छोड़कर आठ वर्ष की अपनी ही जाति की स्त्री को विवाह योग्य समझना चाहिये। अग्नि और ब्राह्मण की साक्षि में वेदोक्त रीति से पाणिग्रहण करें तथा अन्य स्त्रियों की आन लेकर यथाविधि स्वपत्नी से ही रममाण हों। इस प्रकार सभी लोगों को स्त्रीभोगों के प्रति अत्यन्त आसक्त देखकर वेदोक्ति ने स्वदारागमन को ही सबसे योग्य निश्चित कर पुरुष को एकनिष्ठ बना दिया

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। इस प्रकार अन्न सम्पर्क किससे करना चाहिये, कैसे करना चाहिये, इसका नियम भी वेद ने बना दिया है। अन्यथा वेदों के बिना समाज में वर्णसंकरों की ही बाढ़ आ जाती है। उस वर्णसंकर को बचाने के लिये व विषयप्रवृत्ति टालने के लिये ही वेदों ने वर्णाश्रम का प्रकार बतलाया। उद्धव! विषयों की प्रवृत्ति ही 'अविद्याबाधा' है और विषयों की निवृत्ति ही 'मुक्ति' है। वेद ने विषयों की प्रवृत्ति के लिये ही कर्मप्रवृत्ति का मार्ग बतलाया। वर्णाश्रम के आचार की स्थिति भी विषयासक्ति नष्ट करने वाली है। नित्त नैमित्तिक कर्मतंत्र तथा गुणदोषों के नाना प्रकारों का वेदों ने जो साधिकार वर्णन किया है वह इसीलिये कि मनुष्य में विरक्ति उत्पन्न हो। स्वकर्म से चित्तशुद्धि होती है और उससे सच्चा वैराग्य प्राप्त होता है और वह विषयेच्छा का नाश कर रज-तम पर भी नियंत्रण रखता है। तब केवल सत्त्वगुण ही शेष रहता है जिससे गुरुभजन की लगन उत्पन्न होती है और ज्ञान विज्ञान घर में आता है। पूर्ण भगवद्भक्ति करें तभी गुरुभजन का अधिकार प्राप्त होता है। सद्गुरु की महिमा का क्या वर्णन किया जाय? गुरु का आज्ञाकारी हूँ। गुरु जिस पर अनुग्रह करता है उसका मैं भगवंत उद्धार करता हूँ। बड़े प्रेम से उसे मस्तक पर बिठाकर अपने ऐश्वर्य पर बैठाता हूँ। गुरु जिसका परमेश्वर, परमात्मा है ऐसा जिसे विश्वास है, उसका मैं संसार का जगदीश अंकित होकर रहता हूँ। जब मैं स्वयं ही अंकित हो जाता हूँ तो समाधि के साथ ज्ञान-विज्ञान भी गुरुभक्तों के घर में आ जाते हैं। उनके सामने सिद्धियों की क्या बिसात है? उस गुरु की अवहेलना कर जो मेरा भजन करेगा, उसने समझ लो मेरे पकवान में विष मिला दिया। मुँह में ग्रास और कपाल पर टोला ऐसी ही गति होती है, उस भजन की। स्वयं डूब कर वह अपना ही बैरी हो जाता है। विषयों का त्याग कर अपने अधिकार बल से ही लोग तर जाएँ इसलिए वेद ने गुरु का इतना महात्म्य बताया है। इसलिये जिसका जो अधिकार हो उसका उसे जरा भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये। लोग स्वकर्म करें इसलिये वेदों ने भी वही निश्चय दुहराया है। तो फिर कर्म ही पावन करने वाला है ऐसा तुम कहोगे तो वैसा भी कभी नहीं होता। अपने अधिकार के सिवा कर्माचरण करना भी अत्यन्त घातक है। संन्यासी यदि गृहस्थ धर्म का पालन करे तो वही उसके लिए पाप का कारण होता है। गृहस्थ करतल भिक्षा माँगे तो वही उसके लिये अधर्म हो जाता है। हित के लिये औषधि लेने में यदि अनुपात गलत हो जाय तो वही उलट कर दु:ख देता है और शायद मृत्यु का भी कारण बनता है। उसी प्रकार अधिकार न होते हुए यदि कर्म किया जाय तो वही बाधक होता है। यह मर्म जानकर ही वेद ने प्रत्येक के लिये सुगम धर्म निश्चित कर दिये हैं। अपने अधिकार के अनुसार अपने धर्म पर निष्ठा रखना यही पुरुष का सबसे बड़ा गुण है। इसी योग से गुणकर्म का मैल घुलकर वह विष्णु को प्रिय होता है। इसलिये वेद ने जो गुण बताया है उसी को हमें स्वीकार करना चाहिये और वेदों ने जिसमें दोष दिखाया है उसे पूरी तरह छोड़ देना चाहिये। यही गुणदोषों का लक्षण है। वेदानुरोध से इसका विचार करते समय बड़े-बड़े ज्ञानी भी उलझन में पड़ जाते हैं क्योंकि वेद का अर्थ मेरी कृपा के बिना समझ में नहीं आता। निषिद्ध का त्याग कराकर वेद विषय का साथ छुड़वाता है। यह मर्म जानकर जो बुद्धिमान है वह सर्वसंग परित्याग कर महायोगी बन जाता है। उद्धव! जिसके लिये बड़े-बड़े देवता, मनुष्य, ऋषि और तपस्वी भी कष्ट करते हैं वह वेदतत्त्वसार मैंने तुम्हें बताया। मेरी कृपा के बिना यह किसी के हाथ नहीं आता लेकिन तुम्हारे हित के लिये मैंने तुम्हें यह बताया है। गुणदोष का विवेचन करना यह भी एक दोष है यह जो मैंने तुम्हें बताया था उसका भी स्पष्ट विवेचन मैंने तुम्हें बताया। दूसरे के गुणदोष देखना मेरा वेद वचन बिलकुल नहीं है, लेकिन दोष त्याग कर केवल गुण ग्रहण करना यही वेद का उद्देश्य है। लेकिन यह भी मेरी कृपा के बिना सम्भव नहीं होता। दूसरों के गुण दोष

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

न देख स्वयं ब्रह्मसम्पन्न हो यह परिपूर्ण कृपा हम कैसे प्राप्त करें? तो उसी का निरूपण भगवान कृपा करके कर रहे हैं। उद्धव! मेरी कृपा का आश्रयस्थान मेरी भक्ति है।

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान्कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥ २७॥

मेरी कथा श्रवण करने से संसार का बन्धन टूट जाता है, ऐसा जिसका विश्वास होता है, पानी में डूब कर प्राण जाते समय यदि मन में हरिकथा का स्मरण होगा तो जन्म-मरण का फेरा चुक जायेगा ऐसा जो कहता है, इतनी जिसकी मेरी कथा पर भक्ति रहती है, इतना जिसका भाव दृढ़ रहता है उसमें अनिवार विरक्ति उत्पन्न होती है। उसे कर्म की प्रवृत्ति नहीं रुचती और विषय की आसक्ति भी अच्छी नहीं लगती। उसे गृहस्थी की गल्प कथाएँ अच्छी नहीं लगतीं, लौकिक संसार से भी प्रेम नहीं होता; लेकिन सब कुछ छोड़ देने का साहस भी नहीं होता। यदि ऐसा है तो उसे एकनिष्ठा से और प्रेम से भजन ही करते रहना चाहिये। इसी से सम्बन्धित निरूपण श्रीकृष्ण सुनाते हैं।

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्काश्च गर्हयन्॥ २८॥

सब कुछ छोड़ देने का सामर्थ्य जिसमें नहीं होता, उसे जब विषयोपभोग लेने का प्रसंग आता है तो वह इस प्रकार उपभोग लेता है, जैसे उसे सूली पर चढ़ाने के लिये सजाया गया है। सूली पर चढ़ाये जाने वाले मनुष्य को यदि अच्छे केले दिये जाएँ या होठों को घी शक्कर चढ़ाई जाये तो उसे सूली का भय सताने लगता है। उसी प्रकार विषय का उपभोग लेते समय उसे अत्यन्त भयंकर नरक दिखाई देता है और वह कहता है, मुझे नारायण, मधुसूदन, माधव क्यों भूल गया? हे कृपालु कृष्ण! मैं विषयरूपी बन्दीगृह में पड़ा हूँ, आप गरुड़ पर बैठकर शीघ्र आइये और मुझे छुड़ाइये। मैं विषयरूपी नरक के विशाल जबड़ों में फँस गया हूँ, इसलिये आप जिस प्रकार गजेन्द्र के लिये कूद कर आये थे उसी प्रकार मेरे लिये भी कूद कर आइये। हे गोविन्द! दौड़ कर आओ और मुझे बचाओ। मेरी विषय बाधा दूर करो। हे मुकुन्द! गदा लेकर शीघ्र दौड़ते हुए आओ। मेरी उपेक्षा मत करो। गोविन्द तुम अटके हुए के सहायक हो तथा भक्त कार्य के पोषक हो। मैं विषयसागर में डूब रहा हूँ, अतः शीघ्र मेरा उद्धार करो। मैं विषय सागर में डूब गया हूँ, कामलोभ की लहरों में हिचकोले खा रहा हूँ, क्रोध ने तो मेरी पूरी तरह से दुर्दशा कर दी है और अभिमानरूपी सुरसा ने मुझे निगल लिया है। हे श्रीहरि! तुम दीनदयाल हो। अपनी बात तुम सच करके दिखाओ। निजबोध के हाथ से थाम कर मुझ दीन का उद्धार करो। विषय की यह बाधा बहुत कठिन है। श्रीहरि मेरे पास क्यों नहीं आते? इस प्रकार आक्रोश कर वह श्रीहरि का स्मरण करता है। विषय की यह पकड़ नहीं छूटती। काम की दाढ़ में फँस गया हूँ। किसी भी तरह इस पकड़ से नहीं छूट पाता। इसलिये हे श्रीकृष्ण! शीघ्र आओ। उद्धव इस प्रकार मेरे भक्त की पुकार मैं एक क्षण के लिये भी सहन नहीं कर सकता। इस प्रकार जब स्वाभाविक रूप से पूरी तरह अनुपात होता है, तभी मेरी कृपा होती है। उद्धव! जहाँ सच्चा अनुताप नहीं है वहाँ मेरी कृपा कभी नहीं होती। देह में अनिवार अनुताप होना यही मेरी कृपा का लक्षण है। सचमुच, मेरी कृपा के बिना मेरी भक्ति उत्पन्न नहीं होती। जिसे मेरी कृपा प्राप्त होती है, वही मेरी अनन्य भक्ति करता है। मेरी कृपा का यही लक्षण है कि प्राप्त विषयों का भोग करते समय मेरे भजन में खण्ड नहीं पड़ता। इसी का नाम है मेरी 'पूर्ण कृपा'। मेरा ऐसा कृपापात्र भक्त बढ़ते प्रेम के साथ मेरी नित नयी भक्ति करता है। मेरी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रीति के लिये वह अपना घरबार, स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति और धन धान्य खर्च कर देता है। अपने प्राण तक देने से वह पीछे नहीं हटता। इस प्रकार सदासर्वदा उसका अनन्य भजन चलता रहता है। मेरे भजन पर उनका कुछ विशेष ही प्रेम रहता है। वह दिन-रात मेरा स्मरण करना नहीं छोड़ता। उसे विस्मरण ही नहीं होता। उससे क्या फल प्राप्त होता है, उसे श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥ २९॥

मेरी निज भक्ति के बारे में मैंने पहले तुम्हें जो बताया था, उसी पद्धति से वे भक्त अत्यन्त प्रेम से मेरा यजन करते हैं। क्षण-क्षण, पल-पल बिना भूले, मेरा स्मरण करते एकनिष्ठा से मेरा भजन कर स्वयं को मदार्पण कर 'मैं' बन जाते हैं। दिन प्रतिदिन प्रतियोगिता की तरह उसका प्रेम बढ़ता ही जाता है। नित्य नया स्वाद मिलने के कारण प्रेम से, बार-बार वही भजन करते रहते हैं। भजन की पुनरावृत्ति से वह कभी नहीं ऊबता, बल्कि हर्ष होने के कारण भजन में उसे उल्हास ही होता है। मुझे अपने हृदय में बिठा कर भजन से मनःपूर्वक प्रेम हो तो जिस प्रकार सूर्य के सामना जुगनू निस्तेज होता है उसी प्रकार सारी इच्छायें निस्तेज हो जाती हैं। सिंह को देखने पर मदमस्त हाथी जिस प्रकार बेतहाशा भाग खड़ा होता है, उसी प्रकार मैं परमात्मा के प्रकट होते ही हृदय से सारी विषयेच्छाएँ भाग जाती हैं। लेकिन 'मैं प्रकट हुआ' यह कहना शायद ठीक नहीं होगा क्योंकि मेरे बिना जब कोई स्थान है ही नहीं तो 'मैं प्रकट हुआ' यह कौन कहेगा? क्योंकि उद्धव! मैं सचमुच ही सदा हृदय में ही रहता हूँ। भक्तों की भ्रान्ति दूर होते ही मैं स्वाभाविक रूप से प्रकट ही हूँ, यह ध्यान में रखो। भक्त मेरी भक्ति कर अपनी भ्रान्ति दूर कर देते हैं। तब मैं श्रीकृष्ण स्वयंभू वहाँ प्रकट ही हूँ। मेरे हृदय में प्रकट होते ही भक्तों को अलभ्य लाभ प्राप्त होता है और संसाररूपी संकट दूर होता है। उसी बात को सविस्तार बता रहा हूँ।

भिद्यंते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥ ३०॥

उद्धव! मैं जिससे हृदय से मिलता हूँ, तो कहीं एक स्थान पर एकत्र नहीं रहता बल्कि सर्वात्मा सर्वरूपों में ही प्रकट होता हूँ। मेरा स्वरूप लघुकाय नहीं है। इस प्रकार जब मैं प्रकट होता हूँ तो संसार दिखायी ही नहीं देता। गुणों के साथ भेद का त्रिकुट विलीन हो जाता है और भवभय तत्काल भाग जाता है। सूर्य के किरण निकलते ही घृत का कड़ापन समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार मुझ नारायण के प्रकट होते ही लिंगदेह नष्ट हो जाता है। हवा के झोंके से जिस प्रकार चारों ओर का धुँधलका उड़ जाता है, उसी प्रकार मेरे स्वप्रकाश के सामने वासना का जाल समूल नष्ट हो जाता है। वासना का समूल उच्चाटन होते ही, जीवप्राण के साथ संशय नष्ट हो जाता है। तब जिस प्रकार सूर्य के सामने अँधेरा नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कर्म का भी क्षय हो जाता है। उसी प्रकार अपने कार्य के साथ गुणों का भी नाश हो जाता है, अज्ञान के साथ अविद्या नष्ट होती है, शिवत्व के साथ जीव का नाश होता है और चिद्चिद् ग्रन्थि के साथ अहंकार का भी नाश होता है। तब 'सोहं हंस' का क्षालन अपने आप हो जाता है यह ध्यान में रखो। जन्म-मरण भय से ही भाग जाता है और संसारबाधा समाप्त हो जाती है। इस प्रकार भक्त गण भक्तियोग से मेरा भजन करते हैं और ऐसे निजभजन से ही समाधान पाते हैं। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान और कर्मयोग इन तीनों योगों के भेद मैंने तुम्हें बताये। मेरी प्राप्ति का यही सबसे उत्तम मार्ग है। इसमें विशेष रूप से मेरी भक्ति ही श्रेष्ठ है। वह किसी की सहायता की अथवा किसी साथी की अपेक्षा नहीं करती।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वह स्वयं अपने सामर्थ्य से मुझे प्राप्त करा देती है। यदि मेरा भजन न करें तो मेरा ज्ञान कभी भी उत्पन्न नहीं होगा। कर्म यदि मुझे अर्पण न किया जाय, तब वही अकर्म हो जाता है। इसलिये जो मुख्य रूप से आत्मज्ञान है वह मेरे भजन की ही अपेक्षा करता है। कर्म तो बेचारा रंक है, वह बेचारा मेरे भजन के बिना सामने आ ही नहीं सकता। सारांश, ज्ञान और कर्म परमार्थ में भक्ति के कारण ही श्रेष्ठत्व तक पहुँचते हैं। उस भक्ति का सच्चा महात्म्य अब तुम्हें बताता हूँ, सुनो।

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥ ३१॥

कर्माचरण करना नहीं जानता, वैराग्यज्ञान प्राप्त नहीं किया, फिर भी मेरे स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित कर भक्तिभाव से मेरा भजन किया तो ज्ञानकर्मादिक ही नहीं अपितु वैराग्य भी, भक्ति के चरणों में शरण आकर दण्डवत करता है। शरण आना कौन बड़ी बात है? वे तो उसकी कोख से जन्म लेते हैं और फिर प्यार से उसे आलिंगन देकर उससे आत्मानन्द की सुन्दर माधुरी माँगते हैं। सारांश, भक्ति ज्ञान, वैराग्य और कर्म इन तीनों को अपनी गोद में खिलाती है और परमानन्द पूर्णरूप से पिला कर उसका स्वयं पालन करती है। मेरी वह भक्ति साध्य होते ही ज्ञान आदि सेवक बन जाते हैं। इसी से सम्बन्धित निरूपण श्रीकृष्ण सुनाते हैं।

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥ ३२॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वाञ्छति॥ ३३॥

स्वधर्म कर्म करने से जो प्राप्त होता है, प्रखर तप करने से जो साध्य होता है; अथवा सांख्यज्ञान से जो वस्तु हाथ लगती है; उसी प्रकार विषयत्याग से जो प्राप्त होता है, अष्टांग योग से जो साध्य होता है, वायु, जल, पान आदि के सेवन से जो फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार वेदाध्ययन से जो मिलता है; सत्य भाषण से जो साध्य होता है, अनेक साधनों से जो प्राप्त होता है, वह सारा मेरे एक भजन से मिलता है। इतने साधनों के कष्ट सहे बिना, गिरिकन्दराओं को खोजे बिना, यदि एक मेरी भक्ति साध्य हो जाय तो ये सारे फल स्वयं आपके द्वार पर खड़े हो जाते हैं। अब उद्धव! तुम कहोगे कि तुम्हारी ऐसी भक्ति कौन सी है? तो ब्रह्मभावना से किया गया गुरु का भजन, उसी भक्ति का यह पूर्ण प्रताप है। साधकों को गुरुभजन से श्रेष्ठ दूसरा कोई लाभ ही नहीं है। मैं साक्षात भगवान गुरु की भक्ति करता हूँ। मैं भी सद्गुरु की कृपा से इतनी ऊँचाई तक पहुँचा हूँ। तो सद्गुरु की इस महानता को कौन-सी उपमा दी जाय? जो कोई गुरु को ही परब्रह्म मानकर अभेद भावना से भक्ति करता है उन्हें अकस्मात यदि किसी चीज की इच्छा होती है तो मैं उन्हें स्वर्ग, मोक्ष, वैकुण्ठ आदि सब कुछ देता हूँ। यह कहना भी कम ही है। उनके भजन के प्रेम से मैं मोहित हो जाता हूँ और उनके आगे-पीछे सदा सर्वकाल खड़े रहकर उनकी रक्षा करता हूँ। लेकिन मेरे भक्त अत्यन्त निःस्पृह होते हैं। वे कभी कुछ माँगे यह सम्भव ही नहीं है। उनका निरूपण भी मैं तुम्हें अत्यन्त कुशलता से सुनाऊँगा, ध्यान देकर सुनना।

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥ ३४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कुछ भी ग्रहण नहीं करना, ऐसा शुद्ध बोध जिसके मन पर अंकित हो गया, ऐसा जो वास्तविक रूप से निरपेक्ष रहता है वही मुझे मान्य सच्चा साधु है। जिसमें निरपेक्षता होती है उसी के चरणों का धैर्य वन्दन करता है जो अधीर होता है उसमें निरपेक्षता रहती ही नहीं है। कोटि-कोटि जन्म लेने के बाद ही यह ज्ञान प्राप्त होता है और इसके बाद ही निरपेक्षता प्राप्त होती है। निरपेक्षता के अतिरिक्त श्रेष्ठ अन्य कोई साधन है ही नहीं। ऐसी निरपेक्षता प्राप्त होने पर ही मेरे भजन के प्रति प्रेम उमड़ता है। फिर उसे मेरी चौथी भक्ति, जिसे वेद में एकान्तभक्ति कहते हैं, साध्य होती है। एकान्तभक्ति की बात सुनो। इसमें भगवान का और भक्त का एकांत होता है। भक्त भगवान में प्रवेश करता है और भगवान भक्त में सबाह्य प्रवेश करता है। इस प्रकार अभेदभाव का जो मेरा भजन है, वही 'एकान्तभक्ति' है, जिसमें भक्त को संसार में मुझसे अलग कुछ दिखायी ही नहीं देता। उसे मैं श्रीकृष्ण चारों पुरुषार्थों के साथ मुक्ति प्रदान करता हूँ। लेकिन वे उन्हें दूर से भी नहीं देखते। फिर हाथ पकड़ने की बात ही क्यों की जाय? और ये भी अपने मुख से कुछ माँगे यह कल्पान्त में भी सम्भव नहीं है। मेरी एकान्त भक्ति छोड़कर मेरे भक्त कभी भी मोक्ष नहीं लेते। मोक्ष न लेने का क्या कारण है? श्रुतिशास्त्र की भी समझ में न आने वाला यह दुरूह भाव देवाधिदेव श्रीकृष्ण सारांश स्वरूप में बता रहे हैं।

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्॥ ३५॥

जो नितान्त निरपेक्ष रहता है, वह महापुरुष मुझे पूज्य लगता है। उसकी दृष्टि में 'मोक्ष' भूसे की तरह लगता है। ऐसा नैराश्य त्रैलोक्य में भी धन्य है। निरपेक्षता का महत्त्व सुनो। ऐसे पुरुष को चारों पुरुषार्थ व्यर्थ मालूम होते हैं। वैकुण्ठ, कैलाश आदि को जो श्रेष्ठ स्थान समझते हैं, वह तो उनका रोज का रास्ता है। निरपेक्ष पुरुष के पास तो भगवान भी चल कर आते हैं। फिर रिद्धि-सिद्धि की क्या बात है? साक्षात कलिकाल भी द्वार के पास खड़ा रहता है। स्वयं महादेव भी उस पर न्योछावर रहता है और मैं भी लक्ष्मी के साथ उसका अंकित होकर रहता हूँ, यह ध्यान में रखो। मेरा जो निरपेक्ष भक्त है वह मेरी ही तरह समर्थ रहता है। लेकिन यह बात भी पूर्णरूप से औपचारिक है क्योंकि वह चिद्रूपत्व से सचमुच मैं ही रहता हूँ। मैं परमात्मा परमानन्दस्वरूप हूँ, इसलिये भक्त भी मेरे भजन से शुद्ध स्वानंदस्वरूप ही बनता हे। दोनों अभेदरूप से स्वानंद कंद तथा सच्चिदानन्द स्वरूप ही हैं। मेरी भक्ति से सम्पन्न मेरे भक्त गुणदोष नहीं देखते। उसी से सम्बन्धित निरूपण स्वयं श्रीकृष्ण कर रहे हैं।

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्॥ ३६॥

जो विषमभेद नहीं देखते, जिन्हें समत्त्व का निजबोध हुआ है, उसे ही शुद्ध 'साधु' कहते हैं। उसे ही मेरे भजन से परमानन्द का लाभ होता है। समस्त प्राणिमात्र में एक मैं 'परमात्मा' ही भरा हुआ हूँ ऐसा जिसे अनुभव हुआ है उसे 'द्वैत' की प्रतीति नहीं होती। जिसकी ऐसी भजनस्थिति रहती है उसे ही 'एकान्तभक्ति' कहते हैं। निरन्तर सर्वत्र समभाव रखकर जो एकाग्र मन से मेरे भजन में अत्यन्त तत्पर रहते हैं, वे प्रकृति के परे जाकर सचमुच मत्स्वरूप होते हैं। इस प्रकार जो मद्भाव से परिपूर्ण रहते हैं वे गुणदोष नहीं देखते। मैंने अपना यह लक्षण तुम्हें पहले ही बता दिया है, उद्धव! यदि शर्करा की खाल उतारी जा सके, कर्पूर का छिलका उतर सके, रत्नों के तेज का यदि काजल बन सके, तभी मेरे भक्त सृष्टि में गुणदोष देखेंगे। जिससे अवगुण लिया जाय वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अवगुण भी मुख्य रूप से मैं ही हूँ और जिसका गुण लिया जाय वह मद्रूप ही हूँ। इस प्रकार भक्त शिरोमणि मत्स्वरूप से ही सारी सृष्टि को देखता है। गुणदोष उसे कहीं दिखायी ही नहीं देते। गुणदोष न देखे जाएँ यही सभी साधनों में प्रमुख साधन है। इससे सम्बन्धित निरूपण आदरपूर्वक श्रीकृष्ण सुना रहे हैं।

एवमेतान् मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः।
क्षेमं विदन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः ॥ ३७॥

उद्धव! इस प्रकार मैंने वेदवाणी से स्वयं भक्ति, ज्ञान और कर्मयोग के द्वारा लोगों को उपदेश दिया है। कर्म से ही कर्म को नष्ट किया जाय, यही कर्मयोग का रहस्य है और स्वधर्म कर्म से मेरी प्राप्ति होती है यह भी मैं तुम्हें बता चुका हूँ। उसी प्रकार नित्य क्या है और अनित्य क्या है इसका विचार कर जो अनित्य है उसे समाप्त करना ज्ञानयोगी का लक्षण है यह सब भी मैंने तुम्हें बतलाया। उसी प्रकार मेरी भक्ति करने से सारे फल पैरों पर आकर गिरते हैं और भक्तों ने अनायास मेरी प्राप्ति होती है यह भी मैंने तुम्हें बताया। अधिकार भेद के अनुसार त्रिकाण्ड के तीन प्रकार के वेदमार्ग भी मुझे प्राप्त करने के उत्तम साधन हैं। इसलिये वह भाग भी मैंने तुम्हें स्पष्ट करके बतलाया। मैंने बताये वेदमार्ग का जो अनुष्ठान करेगा, उसे उसकी रुचि के अनुसार सगुण अथवा निर्गुण स्वरूप की प्राप्ति होती है। इसमें जो सगुण साक्षात्कार होता है वह पंचरात्रागम का मत है। वे लोग वैकुण्ठ को ही प्रमुख मानते हैं। यह उनका निश्चित मत है। सात आवरणों के बाहर और मायावरण के भीतर श्रीहरि ने वैकुण्ठ की रचना की है, ऐसा वेदान्त में कहा गया है। उसमें आगमशास्त्र के मतानुसार 'माया' भगवान की लीला है ऐसा कहा जाता है। भगवान ने अपनी लीला से वैकुण्ठ की रचना की है इसलिये उसका नाश नहीं है जहाँ लीला मात्र से इच्छित देह धारण कर मेघकांतियुक्त साक्षात पुरुषोत्तम रहते हैं, वहाँ गुण, काल कर्म अथवा माया आदि का भ्रम नहीं रहता। इस प्रकार जन्म और मरणरहित वैकुण्ठ अक्षयी और नित्य ही रहता है। उद्धव! जो वहाँ पहुँचते हैं वे नित्यमुक्त होते हैं, ऐसा आगम का मत है। उद्धव! मंत्रों के योग से अपने आराध्य देवता को प्रसन्न किया जा सकता है ऐसा वेद विद्वानों का कथन है। वह भी तुम्हें प्रसंगानुसार बता दिया। उसी प्रकार हे उद्धव! भावार्थ भक्ति ही प्रसन्नता की पहचान है, यह मैंने तुम्हें पहले अच्छी तरह बता ही दिया है। लेकिन वेदान्त शास्त्रज्ञों का इस सम्बन्ध में यह मत है कि प्रचण्ड प्रलय का आघात वैकुण्ठ कैलासादि सारे लोकों को अर्थात् जितने साकार है उन सबको नष्ट कर देता है। उस समय जितना कुछ गुणातीत रहता है, वही शेष रहता है। उद्धव! वही वास्तव में सदा, सर्वकाल नित्य रहने वाला 'पूर्णब्रह्म' है। जहाँ काल भी नहीं है और कर्म भी नहीं है, जहाँ गुण भी नहीं है और धर्म भी नहीं है, माया भी जहाँ विश्राम करती है, उद्धव! वही परब्रह्म है। मेरा स्थान वैकुण्ठ है; वहाँ 'सगुण-सायुज्य' का लाभ होता है; किन्तु निरन्तर परिपूर्ण ब्रह्म यही 'पूर्ण सायुज्यता' है। ऐसा पूर्ण परब्रह्मस्वरूप प्राप्त करने के लिये साधकों को सुरक्षित मार्ग कौन-सा है? तो वेदों में बतायी गयी मेरी भक्ति यही सबसे सुगम और उत्तम मार्ग है। दूसरे मार्ग से जाने पर कामलोभ आदि विघ्न आते हैं अथवा ज्ञानाभिमान गड्ढे में गिर जाता है और वेदोक्त कर्मत्याग का दोष अवश्य ही अपने पल्ले पड़ता है। ऐसा भक्तिमार्ग में नहीं है। उसमें नवविधाभक्तिरूप नौ साथी साथ में रहते हैं। मद्भावयुक्त भक्ति के कारण हर पग पर विश्राम मिलता है। इसमें मुख्य साधन यही है कि प्राण जाने पर भी गुणदोष न देखें। उसी समय परिपूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति होती है। जहाँ भय, भ्रान्ति आदि कुछ भी नहीं है; जहाँ दिन और रात नहीं है, जहाँ जीव और शिव का भेद नहीं है; उसी ब्रह्म को मेरे भक्त प्राप्त करते हैं। जहाँ रूप नहीं है, नाम नहीं है, जहाँ काल नहीं है, कर्म नहीं है;

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जहाँ जन्म नहीं है और मरण भी नहीं है, उस परब्रह्म तक वे पहुँचते हैं। जहाँ ध्येय नहीं, ध्यान नहीं, जहाँ ज्ञेय नहीं है, ज्ञान नहीं है; जहाँ 'मैं' और 'तू' का वाद नहीं है उसी परिपूर्ण ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। जिसे माँ नहीं और बाप भी नहीं; जो देव भी नहीं है और देवता भी नहीं है; जो एक भी नहीं है और अनेक भी नहीं है, उस परब्रह्म तक ही वे सचमुच पहुँचते हैं। जिसमें वर्ण नहीं है और आश्रम भी नहीं है; जिसमें क्रिया नहीं है और कर्म भी नहीं है और जिसमें माया का भ्रम भी नहीं है; उस ब्रह्म तक वे पहुँचते हैं। जो गुण-अवगुण से परे होता है; जो लक्ष्यलक्षण रहित होता; जो सदा-स्वानंद से परिपूर्ण रहता है वह ब्रह्म मेरे भक्तों को प्राप्त होता है उद्धव! पूर्ण कृपा को वह ज्वार मैं देवाधिदेव नहीं सँवार सका। तभी यह एकादश स्कन्ध का विश्राम मैंने तुम्हें दिया है। उद्धव! जहाँ अहंभाव का नाश होता है; माया शून्य हो जाती है, वहीं एकादश स्कन्ध का विश्राम मैंने तुम्हें दिया है। जहाँ देवभक्तों का पूर्णरूप से मिश्रण हो जाता है वह एकादशस्कंध का यह विश्राम मैंने तुम्हें दिया है। स्वानंद यदि प्राप्त करना है तो वह कष्ट सहकर प्राप्त करना होता है। उस स्वानंद की तैयार निधि मैंने एकादश स्कन्ध के रूप में तुम्हें सौंपी है। इस प्रकार स्वानंद निर्भर होकर श्रीकृष्ण ने बीसवें अध्याय की कथा उद्धव को आनन्दपूर्वक सुनायी। अब स्वानंद सुख की बाढ़ जो इक्कीसवाँ अध्याय है, वह तुम्हें सुनाता हूँ। वेदों में वर्णित शुद्ध-अशुद्ध का लक्षण यही अगले अध्याय का निरूपण है। इसलिये एकाजनार्दन विनती करता है कि श्रोतागण मेरी ओर ध्यान दें।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादश स्कंधे भगवदुद्धव संवादे
एकाकार टीकायां वेदत्रयी विभाग योगनाम विंशति तमोध्यायः ॥ २० ॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इक्कीसवाँ अध्याय

हे ओंकाररूप सद्गुरु! हे वैकुण्ठनाथ! तुम्हें मेरा नमस्कार है। तुम सदासर्वदा स्वानंद वैकुण्ठ में ही वास करते हो! हे अनंत! हे अव्यय! तुम्हारे सच्चे ऐश्वर्य का अंत ही नहीं लगता। तुम्हारा निजबोध का गरुड़ तुम्हारे सामने हाथ जोड़कर खड़ा रहता है। उसके पंख हिलाने भर से प्रचण्ड भववृक्ष भरभराकर गिर पड़ता है। तुम्हारे हाथ का स्वानुभाव का चक्र प्रखर तेज से लपलपाता रहता है, उसे अभेद भावना की धार लगी हुई है। इसलिये उसकी मार अत्यन्त प्रचण्ड होती है। तुम्हारा पाञ्चजन्य तो कितना अगाध है। वह निःशब्द में भी भयंकर शब्द उत्पन्न करता है। वेदवाणी से शुद्ध गर्जना करता रहता है। वही तुम्हारा प्रसिद्ध शंख है। सदासर्वदा आत्मतेज से चमकने वाली गदा तुम्हारे हाथ में सर्वकाल शोभा देती रहती है। तुम्हारी वह गदा इतनी प्रबल है कि अभिमान को कुचल देती है। देखने में अत्यन्त मनोहर, जिसे देखते ही आनन्द में उबाल आ जाता है और जिससे परमानन्दरूपी सुगन्ध निकलती रहती है ऐसा लीला कमल तुम हाथ में उछालते रहते हो। समसमान रहने वाले जीव और शिव इन दोनों को जय और विजय ये नाम देकर उन्हें द्वार की सुरक्षा के लिए रखा गया है। उसी प्रकार तुम्हारी अवियोगिनी सुकुमार निजशक्ति अत्यन्त सुन्दर लक्ष्मी रूप में आदर के साथ तुम्हारी चरण सेवा करती रहती है। तुम्हारे लोक में रहने वाले जितने भी जन हैं वे सब तुम्हारी ही तरह हैं। वहाँ न मानापमान है, न देहाभिमान है। वहाँ काल का भी प्रवेश नहीं है; कर्म की कुछ नहीं चलती है; वहाँ क्षुधा-तृषा का अंत होता है; वहाँ तुम्हारे भक्त निजानंद से सदा तृप्त रहते हैं। तुम्हारे कृपाकटाक्ष के कारण अलक्ष्य वस्तु भी बिना ध्यान किये ध्यान में आ जाती है। तुम्हारे चरण सेवा की अपेक्षा से तुम भक्तों का निरपेक्षता से आचरण कराते हो। समता के सिंहासन पर एकता की गद्दी बिछी रहती है। उस पर तुम्हारा पूर्णता का स्वाभाविक सहजासन रहता है। तन्मयता का छत्र, सन्तोष का छत्र, तथा ज्ञान-विज्ञान ये दो चँवर सदा तुम पर झलते रहते हैं। वहाँ चार वेद तुम्हारे चारण हैं। वे जोर-जोर से तुम्हारी कीर्ति का बखान करते हैं और अट्ठारह पुराण ये बंदी भार के रूप में तुम्हारी उत्तम वंशावली का वर्णन करते हैं। वहाँ तुम्हारी सभा में छः जन (षट्शास्त्र) वाद-विवाद करते तथा उपमाओं की रचना करते रहते हैं। युक्तिपूर्वक अपने विचारों का खण्डन-मण्डन कर अपने ज्ञान का प्रदर्शन करते रहते हैं। कोई भावार्थी बिना कुछ बोले ही तुम्हारी स्तुति करते हैं। ऐसी स्तुति से संतुष्ट होकर तुम उन्हें अपने पद पर बिठाते हो। तुम ऐसे सद्गुरु महाविष्णु हो, जो चिद्रूप से सम और सहिष्णु है। जो तेज से देदीप्यमान है, वही जन में एकरूप जनार्दन है। जन में एक जनार्दन ही भरा हुआ है। उसमें एकरूप से एकनाथ एकरूप हो गया। इसलिये उसने एकपन को भी ग्रस लिया। ऐसा महाबोध उसे प्राप्त हुआ। उस महाबोध का अंजन हाथ के बिना ही आँखों में डाल देते हैं। इससे पूरे शरीर में ही आँखें फूट निकलती हैं और दृष्टि सर्वव्यापक हो जाती है। लेकिन सर्वत्र जन को देखने पर वहाँ एक जनार्दन ही दिखायी देता है। ऐसी परिपूर्ण कृपा कर उसने एकपन भी समाप्त कर दिया। इस प्रकार भगवान ने प्रसन्न होकर मेरे हाथों से श्रीमद्भागवत का अर्थ यथार्थ रीति से करवाया और वह भी देशी भाषा में। श्रीमद्भागवत पर संस्कृत में अनेक टीकायें हैं, फिर भी उन्हें इसमें न जाने क्या बात अच्छी लगी कि उन्होंने प्राकृत और सुगम अर्थ करवाया। मेरा कर्तृत्त्व और अकर्तृत्व उस जनार्दन ने छीन लिया। अब ग्रंथार्थ के निरूपण की बातें भी वही कर रहा है। उसने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपने गौरव के लिये प्रेमादर से वेद के विभाग जिसमें बताये वह एकादश स्कंध का बीसवाँ अध्याय उद्धव को उत्तम रीति से बताया। इससे भक्त और ज्ञानी इन दोनों को वेदार्थ की पहचान हुई; लेकिन कर्मठ ये गुण दोष देखने के कारण सन्देह में पड़ गये। उस सन्देह का निवारण करने के लिये इक्कीसवें अध्याय का निरूपण कर गुणदोषों का लक्षण श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं। गुणदोषों का प्रकार बताकर श्रीकृष्ण विषय का त्याग करने के लिये विस्तृत उपायों का निरूपण कर रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच

य एतान्मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान्।
क्षुद्रान्कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तःसंसरन्ति ते॥ १॥

भक्ति, ज्ञान और कर्मयोग ये तीन विभाग जो मैंने बताये, वे शुद्ध वेदमार्ग हैं। उन्हें छोड़कर जो भी लोग विषयसुख की इच्छा करते हैं, देह का सम्बन्ध क्षणभंगुर है यह पूरी तरह भूल कर सांसारिक तथा स्वर्ग के सुखोपभोग प्राप्त करने के लिये लोभी सकाम कर्म की जल्दीबाजी करते हैं। चंचल प्राण की संगत से काल देह को ग्रसता ही रहता है। ऐसा होते हुए मूर्ख लोग इस लोक के अनेक प्रकार के विषयोपभोगों में तथा उसके प्रयासों में ही सुख मानते हैं। कामभोगों का भोग करते समय काल जीवन को ग्रसता रहता है यह समझ ही नहीं पाते; जन्म-मरण के फेरे में दुःख के आवेग सहते रहते हैं। काम्यकर्म और नित्यकर्म आचरण करते समय एक जैसे लगते हैं, फिर उनके फल में उसका विषमत्त्व अर्थात् अच्छे और बुरे परिणाम क्यों होते हैं? तो यह कर्मवैचित्र्य की बात संकल्प के कारण ही होती है। इसी अर्थ का निरूपण श्रीकृष्ण बताते हैं।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥ २॥

वैसे विचार किया जाय तो सारे कर्म एक जैसे ही हैं। लेकिन उनके अधिकार भिन्न-भिन्न होते हैं। उनके ही कारण सुख और दुःख भोगना पड़ता है। भोजन करना मुँह का काम है वह यदि नाक से करने लगे तो सुख के स्थान पर भयंकर दुःख का सामना करना पड़ेगा। पैरों से चलने का काम यदि सिर से करें तो रास्ता तो कटेगा नहीं लेकिन अनेक कष्ट भोगने पड़ेंगे। उसी प्रकार अधिकार के अनुसार जो कर्म निश्चय ही सुखमय है, वही कर्म अनधिकार से करने पर दुःसह-दुःख भोगना पड़ेगा। हाथी के हौदे से गधे का गौरव नहीं बढ़ेगा, वह तो उसके बोझ से मर ही जायेगा। उसी प्रकार अनधिकार किये हुए कर्म की गति है। मेघ निर्मल जल की ही वृष्टि करता है, लेकिन जिस प्रकार बिजली कड़कती है उसी प्रकार फल मिलता है। किसी प्रदेश में केवल भाँग तैयार होती है, तो दूसरे प्रदेश में केले उत्पन्न होते हैं। दूध कितना ही उत्तम क्यों न हो वह ज्वर के रोगी को कड़ुवा लगेगा लेकिन स्वस्थ व्यक्ति को मधुर लगेगा और पीने से स्वास्थ्य बनता है। उसी प्रकार इच्छा रखकर किया हुआ कर्म अत्यन्त बाधक सिद्ध होता है। वही कर्म निष्काम बुद्धि से करने पर मोक्षप्राप्ति का साधन बनता है। अपने अधिकार के अनुसार कर्माचरण करना यही यहाँ पर प्रमुख गुण है और अनधिकार किया हुआ कर्म यहाँ अवगुण अर्थात् महादोष है। इस प्रकार कर्माचरण गुण और दोष उत्पन्न करता है और शास्त्र के ज्ञाता इसी गुणदोष का लक्षण बताते हैं। यही गुणदोष लक्षण शुद्ध-अशुद्ध का कारण है। इसी अर्थ का निवेदन भगवान करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शुद्धयशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थेगुणदोषौ शुभशुभौ॥ ३॥

पंचमहाभूत एक समान हैं। उसी प्रकार परब्रह्म भी सर्वत्र समसमान ही है। वहाँ गुणदोष मिथ्या है। लेकिन वे उपर्युक्त उद्देश्य से ही प्रमाणभूत हुए हैं। श्रुती या स्मृति के बताने से पहले सभी प्राणियों में आविद्यक विषय प्रवृत्ति स्वाभाविक ही रहती है। ऐसी विषयवासना प्राकृतिक होने के कारण, उसकी निवृत्ति के लिये ही अनेक प्रकार के गुणदोष बताये गये हैं। विषय की बाधा दूर करने के लिये एक शुद्ध और एक अशुद्ध, उधर का शुभ और इधर का अशुभ, यह वेदवाणी के रूप में मैंने ही बता दिया है। विषयों की निवृत्ति की स्तुति वेदरूप में मैंने ही की है। मन में घृणा उत्पन्न करने के लिये विषय वृत्ति की निन्दा भी मैंने ही की है। कर्म प्रवृत्ति चलते समय विषयों की निवृत्ति होती रहे ऐसा उपाय मैंने वेद के द्वारा कर रखा है वही तुम्हें बताता हूँ, सुनो।

धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थंमिति चानघ।
दर्शितोऽयं मयाऽचारो धर्ममुद्धहतां धुरम्॥ ४॥

उद्धव! तुम सचमुच ही निष्पाप हो इसलिये तुम्हारी बुद्धि भी शुद्ध है। इसलिये धर्मादि व्यवहार सिद्धि या विधि भी तुम्हें बताता हूँ। धर्माचरण करते समय भी प्रवृत्ति धर्म अप्रमाण है। निवृत्ति धर्म ही अत्यन्त शुद्ध है। यही स्वधर्म के गुणदोष हैं। विषय की आसक्ति से जो भी व्यवहार किया जाता है, वह अशुद्ध ही है और उपकार की दृष्टि जो व्यवहार करे वह देवताओं को तथा मनुष्यों को भी वंद्य होता है। अदृष्टदाता ईश्वर है, यह बात बड़े-बड़े पुरुष भी भूल जाते हैं और नीचों के द्वार-द्वार घूमते हैं। वह अमंगल यात्रा है किन्तु स्वयं आलस त्याग कर कीर्तन आदि का श्रवण करना अथवा तीर्थयात्रा करना साधुओं का दर्शन करना, अथवा पूजा के लिये मन्दिर जाना अथवा अनाथ का दाहसंस्कार करना आदि से अगणित पुण्य का लाभ होता है। इतना ही नहीं बल्कि इससे पग-पग पर कोटि-कोटि यज्ञों का फल उत्पन्न होता है। जिसके योग से संसार पार किया जा सके उसी का नाम है पवित्र यात्रा। यही वेद में बताये अनुसार यात्रा पर जाना और यही गुणदोषों का विचार है। राजा अपने जूते ब्राह्मण के सिर पर रखे तो उसका दोष ब्राह्मण को नहीं लगता बल्कि राजा स्वयं ही दोषी होता है। उसी प्रकार आपातकाल आने पर यदि उपवास करने पड़े तो नीच का अनाज लेकर प्राण बचाने में कोई दोष नहीं है। लेकिन यदि वही नीच का दान आपातकाल न होने की स्थिति में लिया जाय तो महादोष लगता है। यह भी वेद में हीं बताया गया है। प्रसिद्ध मनु-पराशर आदि शुद्ध कर्मधर्म प्रवर्तकों ने अनेक प्रकार से गुणदोष और शुद्ध-अशुद्ध की चर्चा की है। वही गुणदोषों के विभाग और शुद्धाशुद्ध विषय सम्बन्धी निरूपण स्वतः नारायण तीन श्लोकों में कर रहे हैं।

भुम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पच्च धातवः।
आब्रह्मस्थावरादीनां शारीराआत्मसंयुताः॥ ५॥

वेदेन नामरूपाणि विषमाणिसमेष्वपि।
धातुषूद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये॥ ६॥

ब्रह्मदेव से लेकर स्थावरजंगम तक सभी प्राणियों में पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश ये पंचमहाभूत समसमान ही हैं। जिसे नाम और रूप नहीं है, गुण नहीं है और कर्म भी नहीं है, ऐसे सम ब्रह्म के लिये मेरे वेद

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ने लोकल्याण के लिये नामरूप के भेद बना रखे हैं। नीचे पृथ्वी और ऊपर आकाश ये दोनों एक से दिखाई देते हैं किन्तु विभिन्न देशों में जाने में सुविधा हो इसलिये दस दिशाओं की कल्पना की गयी है। उसके अनुसार नाम, रूप और वर्णाश्रम यह मेरे वेद ने सम और विषम जो उत्पन्न कर रखा है, वह स्वधर्म कर्म की सिद्धि के ही लिये है। इसी द्वार से मैंने पुरुषों के हित के लिये उत्तम लक्षणों से युक्त धर्मार्थकाम मोक्ष साधनों के नियम अथवा नियंत्रण वेदाज्ञा के रूप में किया है। रूप, नाम, आश्रम, वर्ण इनके सम्बन्ध में यदि नियम नहीं बनाये गये होते तो व्यवहार चल ही न पाता। फिर मोक्षसाधन कैसे होता? इस प्रकार वेद ने व्यवहार चला कर उसी में परमार्थ विचारों का चमत्कार भी दिखा दिया है, लेकिन जो भाग्यवान होगा उसी को वह दिखायी देगा। कर्म पर यदि अधिक जोर दिया जाय तो पुरुष कर्मठ होकर रह जायेगा, उससे परमार्थ सिद्ध नहीं होगा; उलटे उसे विधिनिषेध का कष्ट भोगना पड़ेगा और यदि स्वधर्म कर्म को बिलकुल छोड़ दिया जाय तो पाखण्ड अपना प्रभाव दिखाएगा। इससे मोक्ष हाथ न लगकर अपने हितों की ही हानि होगी। इसलिये स्वधर्म का आचरण करते समय, लगे हाथ मोक्षलाभ भी प्राप्त हो ऐसी वेदार्थ की योग्यता जिसकी समझ में आयेगी, वही ज्ञाता बुद्धिमान है। लेकिन यह वेद के अर्थ रहस्य सहसा किसी के हाथ नहीं लगता। इसीलिये परमार्थ मार्ग दिखलाने वाला गुरु चाहिये। उस सद्गुरु की पूर्ण कृपा होगी तो वेद का रहस्य हाथ लगेगा। गुरुकृपा के बिना आप जो भी साधन करें वे सब साधकों का अहित ही करते हैं। इसलिये मेरा वेद संसार का गुरु है। उसने वस्तुतः व्यवहार दिखाया है, जन-जन का उद्धार करने के लिये स्वधर्म कर्म को नियमबद्ध किया है। इस प्रकार मेरा वेद जनहितकारी है। वह नाना प्रकार के गुण-दोष दिखाकर लोगों को विषयों से बाहर निकालता है। इस प्रकार वेद सारे संसार का उपकारी है।

देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम।
गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम्॥ ७॥

उद्धव भक्तों में अत्युत्तम तथा साधु लक्षणों के अनुसार साधु की ही तरह होने के कारण श्रीकृष्ण उसे अत्यन्त प्रेम से 'सत्तम' अर्थात् साधुश्रेष्ठ कहकर बुलाने लगे। उद्धव! इस संसार में चाहे जो मनुष्य, मनचाहा कर्माचरण न करे इसलिये वेदों ने वर्णाश्रम का नियम बना दिया है। जहाँ कर्मतंत्र नहीं करना चाहिये ऐसे अपवित्र देश, अपवित्र काल और वस्तु की पवित्रता-अपवित्रतता का विचार भी तुम्हें सुनाऊँगा।

अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत्।
कृष्णसारोऽप्यसौवीरकीकटासंस्कृतेरिणम्॥ ८॥

पृथ्वी पर किसी स्थान पर मेघवृष्टि नहीं होती लेकिन वहाँ के खेत हरे-भरे दिखायी देते हैं। उस जमीन को 'तराई' कहते हैं। उसी पृथ्वी पर कहीं पथरीली जमीन रहती है वहाँ मूसलाधार पानी बरसने पर भी उस जमीन में अंकुर नहीं फूटता। उसी प्रकार देश की शुद्धि-अशुद्धि के सम्बन्ध में भी तुम्हें सविस्तार बताता हूँ। जहाँ कर्म से कार्यसिद्धि नहीं होती, वहाँ कर्म बिलकुल नहीं करना चाहिये। जहाँ कृष्णमृग नहीं होता उस भूमि को अपवित्र समझना चाहिये। वहाँ कभी भी कर्म करने का प्रयास नहीं करना चाहिये। उसी प्रकार जहाँ ब्राह्मण न हो वह देश अपवित्र है अथवा जहाँ निषिद्ध कर्म करने वाले ब्राह्मण हों वह भूमि भी अपवित्र है। उसी प्रकार जहाँ ब्राह्मणों के प्रति भक्ति नहीं है, बल्कि उनकी निन्दा कर उनकी अवहेलना भी करते हैं वह देश भी कर्म करने के लिये सचमुच अपवित्र है, यह ध्यान में रखो। किसी देश में कृष्णमृग रहते हैं, किन्तु भगवद्भक्ति नहीं होती, वह देश भी कर्म के लिये निश्चित रूप से अपवित्र है यह जान लो। कीकट, कलिंग और मागध ये देश भक्तिहीन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रसिद्ध हैं। वे देश अशुद्ध होने के कारण वहाँ भी शुद्ध स्वधर्म नहीं होता। जहाँ उपलेप समार्जन न होता तो हो ऐसे घर की जमीन को भी अशुद्ध ही समझना चाहिये; अथवा जहाँ वेद बाह्य दुर्जन हों, वह भी स्थान अपवित्र है। जो जमीन पथरीली होती है, वह भी सदा पथरीली हो होती है। अब काल के तंत्र की पवित्रता-अपवित्रता के बारे में बताता हूँ।

कर्मण्यो गुणवान् कालो द्रव्यतः स्वत एव वा।
यतो निवर्तते कर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः॥ ९॥

जिस काल में देश, काल, द्रव्य और पात्र ये सामग्री सुलभता से मिले वही काल अत्यन्त पवित्र है तथा शास्त्र सम्मत है। ग्रहण, कपिलाषष्टि आदि पर्वों के रूप में जो काल आता है वह परम पवित्र है। उसी प्रकार जब संतजन घर आयें उस काल को अत्यन्त पवित्र समझना चाहिये अथवा अकस्मात संपत्ति प्राप्त हो जाय या मन में धर्म करने का विचार आ जाय तो उस काल को वेद 'पुण्यकाल' के रूप में स्वीकार करते हैं। सच्चा पल काल पुरुष को जन्म में एक ही बार प्राप्त होता है। वह है माता-पिता का अंतराल। धर्म का वह अत्यन्त पवित्र काल समझना चाहिये। ऐसे समय श्रद्धापूर्वक धर्म करने से अक्षय पवित्रता प्राप्त होती है। अब तुम्हें काल की स्वाभाविक पवित्रता के बारे में बताता हूँ। वह काल सभी दृष्टियों से उपकारी तथा साधक के निज स्वार्थ को साधनेवाला है। सचमुच 'ब्राह्म मुहूर्त' अर्थात् सूर्योदयसे पूर्व पाँच घटिकाएँ, यह काल स्वाभाविक रूप से पवित्र है; वह काल साधक के हित का होता है और दिन पर दिन उसके हित की वृद्धि ही करता है। अब कर्म के लिये अयोग्य काल भी बताता हूँ। ऐसे समय स्वाभाविक तौर पर ही कर्म नहीं करना चाहिये क्योंकि वह काल निषिद्ध होने के कारण कर्म करने में महादोष लगता है। जिस स्थान पर कल न हो, स्थल अथवा विहीत धन उपलब्ध न हो, वह काल सचमुच कर्म करने के लिये योग्य नहीं है, यह ध्यान में रखो। जिस काल में सूतक लगा हो अथवा राष्ट्र पर संकट आया हो अथवा जिस समय देह परतंत्र हो गया हो, वह काल भी कर्म करने योग्य नहीं है ऐसा बताया गया है। जिस काल में सूखा पड़ा हो, ज्वर का जोर चल रहा हो वह काल दूषित हो जाता है, जिस काल में चोरों का बोलबाला हो, वह काल भी कर्म करने के लिये योग्य नहीं है। जिस समय गुस्सा आया हो, अथवा तमोगुण उफान पर हो, निद्रा और आलस्य ने कब्जा जमा रखा हो, वह काल भी कर्म करने के लिये योग्य नहीं है। अकस्मात सुख सम्पदा प्राप्त हुई हो अथवा कभी न सुनी हुई बात सुनने में आयी हो अथवा सज्जनों की मर्यादा भंग हुई हो, तो वह काल कर्म करने योग्य कभी नहीं है। राह चलते समय यदि कोई संकट आ जाये और प्राणों पर आ जाय तो वह काल भी कर्म करने योग्य नहीं है। जिस समय धन की लालसा प्रबल हो उठती है, जिस समय प्राणों की अत्यधिक चिन्ता लगी रहती है, मन जब विकल्प से भर जाता है उस समय भी कर्म करना उचित नहीं है। इस प्रकार कर्म करने के लिये कौन-सा काल अनुचित है यह तुम्हें अच्छी तरह बता दिया। अब धन की शुद्धता अशुद्धता का भी विस्तार से वर्णन करता हूँ।

द्रवस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येध वचनेन च।
संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाथवा॥ १०॥

पुरुष गोमूत्र प्राशन करे तो उसमें तत्काल पवित्रता आती है, लेकिन वही ताँबे के बर्तन में लेने से अपवित्रता आती है। पुरुष जलप्रोक्षण करे तो फूलों को पवित्रता आती है। अग्नि की सेवा करने से ब्राह्मण को पवित्रता आती है लेकिन वही ब्राह्मण यदि अग्नि से जलता है तो अग्नि अपवित्र हो जाती है। दर्भ पर पिण्ड

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रखने से वह पवित्र होता है लेकिन पिण्ड का स्पर्श होने से दर्भ अपवित्र हो जाता है। श्रुती के अनुसार धर्मशास्त्र वस्तु की शुद्धि-अशुद्धि इस प्रकार बताता है जो वस्तु संदेहास्पद रहती है उसकी शुद्धि के लिये ब्राह्मण वचन पर्याप्त रहता है क्योंकि ब्राह्मण वचन हरिहर को भी मान्य है। घृत के संस्कार से अन्न शुद्ध होता है; होम के संस्कार से नवधान्य शुद्ध होता है; और अग्नि के संस्कार से नमक शुद्ध होता है ऐसा शास्त्र कहते हैं। 'रा' अक्षर के आगे 'म' जोड़कर उच्चार करने से पातकों का भार कम होकर वह पुरुष शुद्धात्म हो जाता है। उसी 'म'कार के आगे 'ध्य' अक्षर लगाने से और उसका उच्चार करने से घोर पाप सिर पर लगता है और उससे वह पुरुष बन्धन में पड़ जाता है। रजस्वला चौथे दिन शुद्ध होती है, मेघोदक चौथे दिन शुद्ध होता है। वृद्धि अथवा सूतक दस दिन के बाद निवृत्त होता है। इसी रीति से काल की शुद्धता है। पिछले दिन का अन्न अगले दिन दूषित होता है और जिसमें बासीपन आ गया, वह अन्न भी अशुद्ध रहता है। लेकिन घी में तली हुई चीज की बात वैसी नहीं है। वह बहुत दिन तक शुद्ध रहता है। जिसमें खटास आ जाती है, वह तत्काल ही अपवित्र होता है। एकत्र किये हुए पानी को यदि चांडाल स्पर्श करे तो वह बिलकुल अपवित्र हो जाता है। उसे बिलकुल स्पर्श नहीं करना चाहिये। लेकिन वही पानी यदि सोते के जलाशय का हो, तो चांडाल के स्पर्श से वह अपवित्र नहीं होता। वह नित्य निर्मल और पवित्र ही रहता है। थोड़ा खाना बना हो और उसे कुत्ता और कौआ छू ले तो पूरा खाना ही फेंक देना चाहिये, क्योंकि वह अन्न अपवित्र होता है। यदि वही खाना सहस्र भोजन का हो तो जितने भाग में कुत्ता या कौआ स्पर्श किया हो और जिस-जिस स्थानपर उसका मुँह लगा हो उतना भाग निकाल कर फेंक दिया जाना चाहिये। शेष अन्न को ग्रहण करने में दोष नहीं है।

शक्त्याशक्त्याथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने।
अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः॥ ११॥

चन्द्रग्रहण अथवा सूर्यग्रहण लगने पर स्वस्थ्य आदमी स्नान न करे तो उसे दोष लगता है; किन्तु बालक, वृद्ध और रोगी यदि स्नान न करे तो उसे कोई दोष नहीं है। पुत्र जन्म पर, जितने भाई उन सबको दस दिन का अशौच अवश्य है। किन्तु दूसरे देश में रहने पर यदि अशौच बाधा समाप्त होने के बाद पुत्र जन्म का समाचार मिले तो अशौच पालने की आवश्यकता नहीं है। बीते दिन यदि किसी के भाई की मृत्यु होती है तो उसके गोत्रजों को सूतक लगता है। लेकिन अगले दिन अगर कोई और मरता है तो पहले सूतक में ही दूसरा सूतक मिट जाता है। जिसने विष लिया हो वह यदि साँप से कटवा ले तो उसके विष से पहला विष समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार सूतक से ही सूतक नष्ट होता है। हम जानकर जो पाप या पुण्य करते हैं, उसका फल भोगना ही पड़ता है। लेकिन बुद्धि को जिसका पता नहीं होता, वह अनजाने में होने के कारण वह बाधक नहीं होता। हमारे अंतःकरण को आत्मज्ञान पवित्र करता है, यही विवेकयुक्त वैराग्य की 'बुद्धि की शुद्धि' है। जो धनी है उसके लिये पुराना वस्त्र परिधान करना अपवित्र है। सीया हुआ कपड़ा भी उसके लिये अपवित्र है। किन्तु गरीब के लिये वही अत्यन्त पवित्र है। वेद का रहस्य अत्यन्त गहन है। स्मृतिकारों ने उसे विशद कर दिया है। भोजन में किसी को साथ न लेना धनी आदमी के लिये अशुद्ध अन्न है लेकिन गरीब के लिये अकेले बैठ कर भोजन करना अत्यन्त पवित्र है ऐसा वेद ने ही कहा है। पंचमहायज्ञ किये बिना अन्न ग्रहण करना पाप भक्षण करने जैसा है। अतिथि को विन्मुख भेज दिया जाय तो सारे पुण्य पर पानी फिर जाता है। अपने गाँव में रहने पर सारे आचार करें, दूसरे देश में जाने पर केवल आधे का ही निर्वाह करें। किसी शहर में या नगर में जाने पर केवल एक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चौथाई आचारों का ही पालन करें और मार्ग में साथियों के अनुसार कर्म करें। देशकाल और परिस्थिति का विचार करके ही यह मर्यादा धर्मशास्त्र ने लगा रखी है। इससे भिन्न आचरण करने पर कर्ता को सर्वथा दोष ही लगेगा। शरीर में कर्म करने का सामर्थ्य होते हुए जो कर्म नहीं करता उसे बहुत बड़ा दोष लगता है, उसी प्रकार शरीर रोग से ग्रस्त है तिस पर भी कर्म करने वाला दोषी होता है। अब तक वस्तुओं की शुद्धि और अशुद्धि की विधियों के बारे में बतलाया। उसी का प्रतिपादन पुनः वेदोक्त धर्मशास्त्र के अनुसार करते हैं।

धान्यदार्वस्थिततन्तूनां रसतैजसचर्मणाम्।
कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः॥ १२॥

शूद्र ने दान किया हुआ अन्न एक रात्रि में शुद्ध होता है। स्त्रुक, स्त्रुवा आदि जो लकड़ी के पात्र हैं, वे पानी से धोने पर शुद्ध हो जाते हैं। बाघ के नख और हस्तिदंत जब तक गीले हैं, तब तक अशुद्ध रहते हैं। वही सूख जाने पर अत्यन्त पवित्र हो जाते हैं। रेशम का धागा मूलतया शुद्ध ही होता है। उनके तंतु वायु से शुद्ध होते हैं और कपास के वस्त्र के तंतु धोने से शुद्ध होते हैं। गाय का दूध कांसे के बर्तन में अथवा मटकी में रखने से पवित्र होता है, वही ताँबे के बर्तन में रखने से अपवित्र होता है। इमली आदि खट्टे पदार्थ से ताँबा शुद्ध होता है और नमक से खट्टे पदार्थ शुद्ध होते हैं। घृत अग्नि संस्कार से शुद्ध होता है, अग्नि ब्राह्मण के मंत्रों से पवित्र होता है; ब्राह्मण स्वधर्म के आचरण से पवित्र होता है, और धर्माचरण वेद विधि से पवित्र होता है। वह गुरुमुख से पवित्र होता है, गुरु आत्मानंद से पवित्र होता है, आत्मा (जीव) गुरु चरणोदक से पवित्र होता है, और उदक ब्राह्मणों के चरण से पवित्र होता है। लीपने से धरती पवित्र होती है, मिट्टी से जल पवित्र होता है, तेल से चमड़ा पवित्र होता है और चमड़े के पात्र में रखने से तेल पवित्र होता है। व्याघ्रचर्म, कृष्णाजिन आदि चर्म मूलतया पवित्र होते हैं। अग्निसंस्कार से सुवर्ण सहज ही पवित्र होता है। इस प्रकार परस्पर पदार्थों से परस्पर पवित्रता के आने की बात स्मृति शास्त्रों में बतायी गयी है। अब मल से लिप्त होने पर, किस प्रकार उसमें पवित्रता आती है, सुनो।

अमेध्यलिप्तं यद् येन गन्धं लेपं व्यपोहति।
भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते॥ १३॥

बर्तन, चौकी अथवा किसी भी प्रकार का आसन अमंगल पदार्थ से लिप्त होने पर, जब तक उसकी दुर्गंध न जाय तब तक धोने से उसे पवित्रता आती है। शरीर में नाभि के नीचे अमंगल लेप लगा हो तो उसे स्थान की दुर्गन्ध पूरी तरह समाप्त होने तक धोने से उस पुरुष में पवित्रता आती है। नाभि के ऊपर अकस्मात अमंगल पदार्थ का लेप लग जाय, तो मृत्तिकास्नान करने से वह पुरुष पवित्र होता है। मल धोने से तत्काल चला जाता है; लेकिन उसकी महक जाने तक शरीर पहले जैसा नहीं हो जाता। इसी का नाम है 'मलनिष्कृति' बाह्य पदार्थों की मल निवृत्ति के लिये ही वेद ने इतना बताने का श्रम लिया। अब कर्त्ता की पवित्रता के संबंध में उपाय बताता हूँ, सुनो।

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः।
मत्स्मृत्या चात्मनः शौटं शुद्धः कर्माचरेद् द्विजः॥ १४॥

गर्भाधान से अन्नप्राशन संस्कार होते हैं वह बाल्यावस्था है। चौल संस्कार कुमारावस्था है और उपनयन संस्कार से ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है। कर्माधिकार प्राप्त करने के लिये स्नान करें; द्रव्यशुद्धि के लिये दान करें,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वैराग्य के लिये तप करें और आलस्य जाने के लिये कर्म करें। मेरे भजन के प्रति दृढ़ बुद्धि रखना इसी का नाम है 'वीर्यशुद्धि' और मेरे अविरत स्मरण से 'चित्त शुद्धि' निश्चय रूप से प्राप्त होती है। जो बुद्धिमान ब्राह्मण हों, उन्हें इस प्रकार अंतर्बाह्य शुद्ध होना चाहिये। इसके लिये वेद ने अपने-अपने कर्म बताये हैं।

मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धर्मदर्पणम्।
धर्म मम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः॥ १५॥

मंत्रार्थ ज्ञान से मंत्र शुद्धि होती है, ब्रह्मार्पण से कर्म शुद्धि होती है; कर्ता की शुद्धि के लिये वेद ने छः लक्षण बताये हैं। देश, काल, द्रव्यसंग्रह, मंत्र, कर्म और निरोगी कर्त्ता ये छह अवस्थाएँ शुद्ध हों तो स्वधर्म फलदायी होता है। अनाथ, दीन लोगों के पास संकट के समय जो द्रव्य पहुँचता है, अथवा मेरे भक्त के पास जाता है, वही वास्तव में 'द्रव्य की पवित्रता' है। स्वयं कष्ट से अर्जित किया हुआ धन धर्मशास्त्र के अनुसार शुद्ध है, लेकिन धन के लालच में प्राण अटका हुआ हो तो वह सारा धन अशुद्ध है। इसी को धन की शुद्धता कहते हैं। अब मंत्र की पवित्रता सुनो। जिस मंत्र से मंत्र की सिद्धता होती है, वही मंत्र सर्वथा शुद्ध है। जिस मंत्र के लेने से देह में अभिमान बढ़ता है, अथवा जिसमें जारण-मारण उच्चाटन आदि रहता है वह मंत्र अपवित्र हैं। इस प्रकार 'मंत्रशुद्धि' बतायी। अब कर्म का लक्षण सुनो। तो जिस कर्म के योग से कर्म का बन्धन टूटता है वह कर्माचरण अत्यन्त शुद्ध है। कर्माचरण करते समय जिसमें देहाभिमान खौलता है और कर्ता का बन्धन अधिक दृढ़ होता है, वह कर्म अपवित्र है। जिस कर्म से कर्म का निवारण होता है, वही कर्म वास्तव में शुद्ध है और उद्धव! जहाँ सर्वदा अविनाश समबुद्धि रहती है; वह देश पुण्यवान है। यदि सुक्षेत्र में वास करे किन्तु वहाँ दूसरों के गुणदोष दिखायी देने लगे तो वह देश भी तामस है। उसके योग से कर्त्ता का अचूक नाश होता है। अन्य क्षेत्रों में दोष देखने से उनका उत्तम क्षेत्र में विनाश होता है; किन्तु उत्तम क्षेत्र में ही दोष देखने पर वे कल्पांत में भी जीव को नहीं छोड़ते। जहाँ ऐक्य भाव का निर्माण होता है उस देश को निर्मल समझना चाहिये और चित्त को सुप्रसन्न करने की जो बेला है वही साधक का पुण्यकाल समझना चाहिये। 'ब्राह्ममुहूर्त' का अर्थ है, भोर की बेला। यह समय स्वाभाविक रूप से पवित्र है। उसमें भी यदि चित्तक्षोभ हो तो वह काल भी अपवित्र समझना चाहिये। अब जो कर्म कर्ता है उसकी कर्म की अहंता यदि नष्ट हो जाय, तभी वह कर्म स्वाभाविक रहता है। यही कर्ता की पवित्रता है। उसमें यदि कोई 'मैं कर्ता' कहे तो वह बद्ध हो जाता है। देहाभिमान के कारण कर्ता अपवित्र होता है। इस प्रकार धर्माधर्म के छह प्रकार हैं। यही वेदार्थ तत्त्व का सार है। इसी धर्म से पुरुष मुक्त होता है और अधर्म से अपवित्र होकर बन्धन में फँसता है। इस प्रकार गुणदोषों का लक्षण बहुत गहन है। उसमें बड़े-बड़े ज्ञानी, चतुर पण्डित भी भ्रम में पड़ जाते हैं।

कश्चिद्गुणोऽपिदोषः स्यादि दोषोऽपि विधिना गुणः।
गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते॥ १६॥

किसी के एक गुण को उत्तम कहा जाय तो वह घूम-फिर कर दोष सिद्ध होता है। इस प्रकार कर्म ही कर्म में भयंकर दोष उत्पन्न करता है। कर्म में आचमन करना प्रमुख है, क्योंकि यही कर्मशुद्धि का मूल है। लेकिन वही दक्षिण की ओर मुँह करके किया जाय तो उसमें बहुत बड़ा दोष उत्पन्न होता है। जिस औषधि से कान का दर्द ठीक होता हो वह औषधि यदि मुँह में डाल ली जाय तो प्राणांतिक अवस्था होती है। आचमन करते समय उड़दी का दाना जिसमें डूब सके इतना जल लिया जाय तो उससे पुरुष पवित्र होता है; लेकिन वही अधिक मात्रा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में लेने से मद्यपान का दोष लगता है। कटहल खानें में मीठा लगता है, लेकिन अधिक खाने पर पेट में दर्द उठ ब्रह्माण्ड फटने जैसा कष्ट होता है। सूर्य की पूजा करने से पुण्य लगता है लेकिन यदि कहीं बेल का पत्ता चढ़ा दिया तो पुण्य की बात दूर उलटे पाप ही लगता है। ऐसे कर्म में ही कर्म का विधि निषेध प्रकार रहता है। कभी-कभी गुण ही दोष बन जाता है, तो कभी-कभी दोनों ही से ढेरसारा पुण्य प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, जिस रास्ते पर चोर हों वहाँ प्रातःकाल स्नानकरने वाले ब्राह्मण को वह कर्म न करने दे और उसे कहीं दूर ले जाएँ तो वह दोष ही है किन्तु गुण सिद्ध होता है। अग्निहोत्र करना गृहस्थ का गुण है, लेकिन यदि वह कोई संन्यासी करे तो वह दोष होता है। वेदमंत्र का पठन ब्राह्मण का विहीत गुण है लेकिन वह शूद्र के लिये दोषकारक होता है। विषय से निवृत्ति प्राप्त करने के लिये गुणदोषों के सुगम नियम बनाये गये हैं। वेद का मर्म न समझने के कारण इसमें भ्रमिष्ट लोगों को विषय का भ्रम होता है। जब तक भ्रान्ति रहती है तब तक कर्मप्रवृत्ति रहती है। अँधेरी रात में ही जुगनू चमकते हैं, उसी प्रकार अज्ञान स्थिति में ही गुणदोषों का महत्त्व होता है। गुणदोषों में पतन यह अवश्य ही किसी दिन माथे पर गिरता है। इसी अर्थ का निरूपण भगवान कर रहे हैं।

समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम्।
औत्पत्तिकोगुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः॥ १७॥

महार, भील, मछुआरे अपने कर्म से ही पतित हुए हैं। ऐसे पतितों को मद्यपान आदि दोषों से अधिक पतन नहीं है। नील में डुबाये हुए काले कपड़े को काजल और अधिक क्या काला करेगा? अथवा अन्धकार क़ो स्याही लगाने से वह और क्या अधिक मैला होगा? उसी प्रकार जो स्वयं ही चांडाल कुल में पैदा हुआ है उस पर किसकी छूत का असर पड़ सकता है? काजल को और अधिक काला करने की शक्ति कीट में नहीं होती। निर्जीव को विष देने से उसे क्या दुःख होगा? उसी प्रकार पतित के लिये पातक कभी बाधक नहीं होता। जो नीचे ही सोया है उसे गिरने का क्या भय? उसी प्रकार जिस पर देहाभिमान का असर होता है, वह नीच से भी अधिक नीच बन जाता है। रजतमादि गुणों की संगत से जो विषयलंपट हो जाता है, उसे कामभोग बुद्धि नयी नहीं लगती। जो धतूरे का बीज खाकर बकने-झकने लगता है और नाचने-गाने लगता है, उसकी गाँठ से धन चोरी हो जाय तो उसकी उसे परवाह ही नहीं होती। उसी प्रकार जो देहाभिमान के कारण उन्मत्त हो जाता है, अत्यन्त काम लोलुपता के कारण जो कामासक्त हो जाता है, उसे अपने स्वार्थ की होने वाली हानि समझ में नहीं आती। जिस पर विष का असर होता है उसे सुअर की विष्टा खिलाते हैं, उसी प्रकार विषयालोलुप पापी लोगों के लिये मैंने स्वपत्नीनिष्ठा की मर्यादा बना दी है। क्योंकि जिस पर विष का प्रभाव रहता है, उसे उस समय सुअर की विष्ठा औषधि के रूप में देनी चाहिये ऐसा ज्ञानी लोगों का कहना है। उसी प्रकार जब तक स्त्री और पुरुष हैं, तब तक विषयलंपट का स्वेच्छाचार वेद ने सपत्नी निष्ठा की सीमा बाँध दी है। फिर भी वेद की आज्ञा के अनुसार, कहीं लोग अपनी स्त्री के साथ दिन-रात गमन न करें इसलिये उन्होंने प्रतिबन्ध लगाया कि केवल ऋतुकाल में ही गमन करना चाहिये। उसमें भी यदि पुत्र का जन्म हो जाय तो 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इस वाक्य से वेद ने स्त्रीकाम से परावृत्त किया है। विष का प्रभाव पूरी तरह समाप्त होने पर वह सुअर की विष्ठा हाथ में भी नहीं लेता, उसी प्रकार अंतःकरण में विरक्ति उत्पन्न होने पर वे स्वस्त्री का भी त्याग करते हैं। इस प्रकार विषय की निवृत्ति ही वेद में बतायी गयी है। वह वेदोक्ति गुणदोष दिखाकर विषय पर से आसक्ति हटा देती है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः॥ १८॥

विषय से निवृत्ति हो, यही मेरे वेद का उद्देश्य है, इसलिये विषय छोड़ने के लिये ही गुणदोष दिखाने का उपाय बताया है। प्राणी अकस्मात् ही सारे विषयों का त्याग नहीं कर पाते इसलिये निषेध रूप में उसकी निंदा कर धीरे-धीरे विषय छूट सकें ऐसी योजना की गयी है। जैसे-जैसे विषय से निवृत्ति होती है वैसे-वैसे आत्मसुख की प्राप्ति होती जाती है। पूर्ण विरक्ति होने पर साधक मत्स्वरूप हो जाता है। मत्स्वरूप की प्राप्ति में विषयासक्ति ही बाधक होती है। उसकी निवृत्ति होने पर, साधक मत्स्वरूप हो जाता है और जब मेरे स्वरूप की प्राप्ति होती है तब अहंकार पूरी तरह नष्ट हो जाता है। फिर शोक मोह शान्त होकर, अविद्या भी सचमुच नष्ट होती है। अविद्या का नाश होते ही भयंकर जन्मभाव नष्ट हो जाता है। तब मृत्यु की ही मृत्यु हो जाती है और जीव का जीवत्व समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार सूर्योदय होते ही अँधेरे के साथ रात्रि के लिये भी कोई स्थान नहीं रह जाता, उसी प्रकार अविद्या जीव के साथ समाप्त होते ही, संसार भय को स्थान ही नहीं रह जाता। दृष्टि स्थिर होने पर जिस प्रकार मृगजल की बाढ़ नहीं रह जाती, उसी प्रकार भवभय के साथ सारा संसार ही मिथ्या हो जाता है। वेदोक्त स्वधर्माचरण प्राणियों के कल्याण के ही लिये है और विषय त्याग के लिये गुणदोषों का निरूपण किया गया है। जिन्हें वेद का अर्थ समझ में नहीं आता वे उसे प्रवृत्तिपरक कहते हैं लेकिन वास्तव में वेद ने विषयों के प्रति आसक्ति नष्ट करने वाली विरक्ति ही बताई है। वेदों के अनुसार स्वधर्म स्थिति से रहने पर विषयों के प्रति विरक्ति उत्पन्न होती है और प्राणी मोक्ष प्राप्त करते हैं, यही मेरी वेदोक्ति है। वेद की आज्ञा का पालन न कर केवल विषयों के प्रति आसक्ति रखने से प्राणी अत्यन्त दुःख के भागी होते हैं। प्रवृत्ति जितनी भी है, वह अनर्थकारी ही है। इसी अर्थ का निरूपण श्रीभगवान चार श्लोकों में उद्धव को बताये हैं।

विषयेषु गुणाध्यासात् पुंसः सङ्गस्ततो भवेत्।
सङ्गात्तत्र भवेत् कामः, कामादेव कलिर्नृणाम्॥ १९॥

कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्तते।
तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम्॥ २०॥

जिसका मन सदा विषय के माधुर्य का ही स्मरण करता रहता है, उसमें अत्यन्त प्रबल विषयासक्ति उत्पन्न होती है। विषयासक्ति बढ़ते ही निर्लज्ज काम खौल उठता है और उसके लिये वह अत्यन्त संकट के दुर्गम प्रसंग सहन करता है। किन्तु विषयप्राप्ति के जो भी उपाय सोचते हैं वे पग-पग पर हानिकारक ही सिद्ध होते हैं। जब तक विषयवासना की पूर्णता नहीं होती तब तक बहुत प्रबल कलह मचा रहता है। जहाँ वितंडा की अति हो जाती है वहाँ उस कलह में सहायता करने वाला विरुद्ध और दुर्धर क्रोध तैश में आ जाता है। इससे बुद्धि का ज्ञान तत्काल नष्ट हो जाता है। तब महामोह विवेक को ग्रस लेता है। विवेक का भान लुप्त होते ही चेतना भी आश्चर्यचकित हो उठती है और फिर कार्य और अकार्य का भेद भी विस्मृत हो जाता है।

तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च॥ २१॥

विवेकशून्य हो कर मूढ़ हो जाने पर फिर न विषय ही रह जाता है और न परमार्थ ही। सन्मार्ग का मार्ग

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नहीं दिखायी देता, इसलिये पग-पग पर आत्मघात होता रहता है। जड़-मूढ़ होकर वह बेसुध की तरह स्तब्ध हो जाता है और अज्ञान के कारण मन मसोसता रहता है। इस प्रकार न ठीक तरह से सजीव और न ठीक तरह से निर्जीव, इस प्रकार मूढ़ होकर रहता है, और प्राप्त लाभ से वंचित होकर व्यर्थ का अनर्थ भोगता है।

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम्।
वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन्॥ २२॥

इस प्रकार विषय की आसक्ति के कारण जब तमोगुण वृत्ती को ग्रस लेता है तब किसी भी बात का स्मरण नहीं रहता। मैं कौन हूँ, इसका भी स्मरण नहीं रहता। दारू पीने पर जिस प्रकार मनुष्य बदहवास हो जाता है और उसके स्मरण का विस्मरण होकर मन में भ्रम उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मनुष्य भ्रम के जाल में फँसा हुआ है। अथवा विषमज्वर में मनुष्य चाहे जैसी बातें करने लगता है, उसे अपना और पराया भी याद नहीं रहता, व्यर्थ की बकवास करता रहता है। चित्त भ्रमित होने के कारण उसे किसी भी बात का ठीक से स्मरण नहीं होता। इस प्रकार प्राणी संकट भोगता रहता है अथवा शरीर में भूतसंचार होने पर वह हुँः हुंः करता रहता है और भ्रम के कारण स्वयं को श्वान समझ कर भूँकने लगता है। इसी प्रकार सोया हुआ व्यक्ति अपना अस्तित्व भूलकर जैसे स्वप्न में घबरा रहा हो और कह रहा हो, मैं रण में फँस गया हूँ, वैसे ही ये सारे प्राणी मोह में फँसे हुए हैं। ऐसी झूठी भूलभुलैया में फँस कर प्राणी काम के मोह में व्याप्त हो गये हैं। जड़मूढ़ होकर अंतःकरण में पागल हो गये हैं। बकरी के नाक में कीड़ा घुस जाये तो वह घबरा कर खें-खें करके अपनी व्यथा प्रकट करती है। उसी प्रकार दुःख के आवेश में प्राणी विह्वल हो जाते हैं और सन्मार्ग न मालूम होने के कारण मोहमद में भूलकर मूक होकर विह्वल होते रहते हैं। अहंकार के बल से शरीर में वायु भर जाती है और वही बाधक होकर वे पिछले रास्ते से चलकर गहरे कुएँ में गिर पड़ते हैं। तेली का बैल जिस प्रकार आँख पर बँधी पट्टी के साथ चलता जाता है, उसका रास्ता कभी खत्म नहीं होता। जल्दी-जल्दी अपने चारों ओर घूमता जाता है लेकिन उस घूमने का कोई अंत नहीं होता। घान का चक्कर लगाते-लगाते उसे चक्कर आने लगता है। उसी प्रकार विषय निरन्तर चलने वाला संसारचक्र है। किन्तु विधि की माया समझ में नहीं आती। सर्प पगलाता है तो जिस प्रकार भागता फिरता है, उसी प्रकार सारे विषय भागते रहते हैं। अमावस्या के अन्धकार की तरह वह जड़ मूढ़ और स्तब्ध हो जाता है। उसे अपने और पराये का भान नहीं रहता। सारे संसार में अन्धकार फैल जाता है। लोहार के भाते की तरह साँसे अवश्य चलती रहती हैं। जिस प्रकार वृक्ष तटस्थ खड़े रहते हैं, उसी प्रकार वे भी न ठीक से जीवित, न ठीक तरह से मरी हुई स्थिति में खड़े रहते हैं। अब तुम कहोगे कि सकाम कर्म करने वाले को स्वर्ग की प्राप्ति होती है ऐसा वेद में बताया गया है, लेकिन यह भी लालची लोगों का ही कहना है। तुम्हें बताता हूँ, सुनो।

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम्।
श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम्॥ २३॥

मूर्ख लोग निष्काम कर्म कभी नहीं करते, इसलिये उन्हें फलश्रुति दिखला कर स्वकर्म के लिये प्रवृत्त किया है। सकाम कर्म करने की और निष्काम कर्म करने की प्रक्रिया एक जैसी ही होती है लेकिन दोनों के फल का उद्देश्य अलग-अलग होता है। स्वाती का जल सीप में गिरता है तो मोती बन जाता है लेकिन वही जल यदि सर्प प्राशन करे तो वह विष बन जाता है। उसी प्रकार निष्काम कर्म मुक्ति दिलाता है तो सकाम कर्म दृढ़बन्धन में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

फँसाता है। वेद ने स्वर्ग का जो फल बताया है वह मुख्य नहीं है। जिस प्रकार वैद्य बच्चे को दवा खाने के लिये गुड़ का लालच दिखाता है, उसी प्रकार यह स्वर्ग भी एक लालच ही है। औषधि खाने से क्षयरोग दूर हो जाता है, लेकिन बच्चा गुड़ चाटता रहता है। उसी प्रकार वेद का हृद्गत यह है कि स्वर्गफल की आशा दिला कर मूर्खों को मुक्त करने के लिये स्वधर्माचरण कराना। तुम कहोगे, कर्मवादी लोग वेद को प्रवृत्तिपरक कहते हैं, उसी वेद को निवृत्तिपरक कैसे माना जाय? इसका उत्तर यह है कि श्रुति का अर्थ यदि प्रवृत्तिपरक होता तो वेद अनर्थकारी सिद्ध होता है। इसलिये उस प्रवृत्ति को ही दोष देकर श्रीकृष्ण वेद का अर्थ निवृत्तिपरक है इसका स्पष्टीकरण करते हैं।

उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च।
आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु॥ २४॥

न तानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि।
कथं युन्ज्यात् पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः॥ २५॥

जन्म लेते ही प्राणिमात्र को अपना देह अच्छा लगने लगता है। 'मैं ही देह हूँ' यह मानकर वह जीवभाव से विषय पर लुब्ध रहता है। विषय की आसक्ति के कारण मन में स्त्री पुत्रों के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। स्वजनों पर और धन पर अत्यन्त प्रेम जागृत होता है। वह स्वाभाविक स्थिति अनिवार्य रहती है। जिसके कारण अधोगति को जाना पड़ता है, वह कामासक्ति प्राणियों को नैसर्गिक ही रहती है। वही विषय की प्रवृत्ति यदि वेद विधिपूर्वक बताये तो वह वेदवाणी सबको डुबोने वाली अर्थात् महाअनर्थकारी होगी। मरने वाले को चाबुक की मार दी जाय, डूबने वाले के मस्तक पर पत्थर मारा जाय अथवा अन्धे को कुएँ में ढकेला जाय, उसी प्रकार वेद भी अनर्थकारक होगा। वेद ही यदि विषयों में लिप्त करने लगे तो प्राणियों को और कौन छुड़ाएगा? राजा ही अगर सर्वस्व लूट ले तो गरीबों को कौन मुक्त करेगा? वेद का अर्थ समझे बिना जो स्वयं ही विषयासक्त हो जाता है, वह श्रुति के अर्थ को प्रवृत्तिपरक ही मानता है और इसीलिये वह मूर्खों के लिये अनर्थकारी होता है। ग्रहण के समय पुत्र ने पिता से कहा, सुबह बनी हुई खीर खा लें। तिस पर बाप ने कहा, ग्रहण छूटने पर हम हमारे घर में बना ताजा खाना ही खाएंगे। वैसा ही मेरा वेद कहता है। निषेध मुख से प्रवृत्ति दिखा दी है। सारांश, विषय की निवृत्ति यही वेद का मनोगत है। विषयों में डूबने वालों के लिये ही मेरी वेदवाणी है, जो उनका उद्धार करती है। वह सकाम नहीं है। किन्तु जो मंदबुद्धि के लोग हैं, वे पूर्णतयः विषयांध होते हैं। वही लोग वेद के सकाम होने की रट लगाते हैं। उनकी दुर्बुद्धि के बारे में श्रीकृष्ण बताते हैं।

एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि॥ २६॥

सकाम लोग फल की इच्छा छोड़कर स्वधर्माचरण कभी नहीं करते, इसलिये स्वधर्म की ओर प्रवृत्ति होने के लिये वेद ने फलश्रुति बतायी है। नमक जब समुद्र से मिलने जाता है तो उसका खारापन समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार स्वधर्म की ओर प्रवृत्ति होने पर उसकी सकामता रहती ही नहीं। दो बातियों को मिलाकर यदि एक बाती कर दी जाय तो जिस प्रकार उनमें कोई भेद नहीं दिखायी देता, कपूर अग्नि में मिल जाने पर वह भी अग्नि ही हो जाता है, उसी प्रकार स्वधर्म कर्म का आचरण करने पर अपने आप ही निष्कर्मता प्रकट होती है। कर्माकर्म

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बाँस का जंगल है, उसमें स्वधर्म का घर्षण होनेपर चित्तशुद्धि की चिनगारी निकलती है जो उस कर्माकर्म को जलाकर भस्म कर देती है। कामना के साथ कर्म करने से भी, स्वधर्म जब फलेच्छा को नष्ट करता है, तब सकाम और निष्काम दोनों ही कर्मों को स्वधर्म भस्म कर देता है। दो लकड़ियाँ जब एक-दूसरे पर रगड़ती हैं तो उससे अग्नि उत्पन्न होता है और वह दोनों लकड़ियों को जलाकर अपनी ही दीप्ति से प्रकट होता है। उसी प्रकार मेरी वेदवाणी है जो स्वकर्म से ही कर्म का बन्धन तोड़ देती है। यह मर्म न जानने से विषयांध पुरुष फल की आशा से जकड़ा रहता है। वेद ने स्वकर्म प्रवृत्ति में रुचि उत्पन्न करने के लिये स्वर्गादिक अनेक फल बताये हैं लेकिन जो उनके ही फेर में पड़ता है वह अपने लाभ से वंचित हो जाता है। खेत को बड़ी मेहनत से तैयार कर उसमें चना बोया, लेकिन वह हरा था तभी उसे उखाड़ कर उसकी सब्जी बना ली। अब इसे लाभ समझें या हानि? उसी प्रकार सकाम के फल की स्थिति है। जोनरी के हरे बाल खाने में बहुत मीठे लगते हैं; लेकिन उसके लिये यदि पूरा खेत ही उखाड़ दिया जाय तो लाभ होगा या हानि होगी? उसी प्रकार जो लोग सकाम बुद्धि से उन्मत्त होते हैं, जो फल की आशा से लुब्ध होते हैं, वे किस प्रकार स्वधर्म के लाभ से वंचित रह जाते हैं, यही तुम्हें बताता हूँ। खेत में बोने के लिये लाये गये चने को यदि कोई भट्टी में भून कर खा जाय उसे बुद्धिमान कहा जाय या मूर्ख? उसी प्रकार वह सकाम का फल भोगता है। घोड़ा बेचकर कोई जीन खरीद ले, मक्खन देकर छाछ माँगे, भात फेंक कर माँड़ पिये उसी प्रकार सकाम का फल भोगता है। जो ऐसे सकाम और मूर्ख होते हैं वे स्वधर्म की सिद्धि से वंचित रह जाते हैं। इसीलिये भगवान उन्हें कुबुद्धि कहते हैं। उस कुबुद्धि के भी लक्षण भगवान बताते हैं।

कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः।
अग्निमुग्धा धूमतान्ता स्वंलोकं न विदन्ति ते॥ २७॥

सकाम की तृष्णा कभी पूरी नहीं होती। काम की इच्छा से उसकी स्थिति सदा दयनीय रहती है, इसलिये उसे 'कृपण' कहते हैं। बगुला जिस प्रकार पानी में मछली के लिये ध्यान करके बैठता है, उसी प्रकार सकाम मनुष्य फल की इच्छा से लुब्ध होकर अनुष्ठान करता रहता है। पर-पुरुष के पास जाना सुलभ हो, इसलिये जिस प्रकार व्यभिचारिणी अपने पति के आगे-पीछे करती रहती है, उसी प्रकार वह भी मन में फल की इच्छा कर स्वधर्म का आचरण करता रहता है। अज्ञान बालक जिस प्रकार फूल को ही फल समझता है, उसी प्रकार वह भी मूर्खता के कारण स्वर्ग के सुख को अक्षय समझ बैठता है। उस स्वर्गसुख की प्राप्ति के लिये कर्म यथाविधि होंगे या नहीं इसका भी उसे सन्देह होता है, जिससे उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। सकाम सदा दीन ही रहता है; उस दीनता के कारण वह अत्यन्त कृपण और लालची हो जाता है। लोभ के कारण उसके ज्ञान को महामोह ग्रस लेता है। मोह जब क्षुब्ध होता है तो वह विवेक के साथ-साथ ज्ञान को भी निगल लेता है। उस समय बुद्धि में अंतर्बाह्य तमोगुण ही उफनने लगता है। तमोगुण से जब बुद्धि भर जाती है तो धुँधलके की सी स्थिति हो जाती है। अन्धे की संगत से कोई अँधेरी रात में ज़ंगल में खो जाये उसी प्रकार सकाम पुरुष की स्थिति हो जाती है। विवेक की संगति टूटने पर अन्धी वृत्ति अत्यन्त प्रसन्न हो उठती है। अज्ञान बालक की तरह वह पूरी तरह मुग्ध हो उठता है, फिर कर्म क्या है और उसका फल क्या है यह उसकी समझ में नहीं आता। संसार में मेरी क्या स्थिति है? आगे मेरी गति क्या होगी? देह में धूम्रवृत्ति होने के कारण उसे कुछ स्मरण नहीं होता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः।
उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः॥ २८॥

तुमने वेद के रहस्य का मर्म पूछा था, इसलिये उसकी गुह्य बातें मैंने तुम्हें बतायीं। वेद के ये विभाग सुनकर उद्धव को अत्यन्त आनन्द हुआ। इससे सन्तुष्ट होकर श्रीकृष्ण ने उद्धव को, 'हे अंग' कहकर सम्बोधित किया। जो सकाम होते हैं उनकी काम पर आसक्ति होने के कारण, वे सबके हृदय में रहने वाले मुझ परमात्मा को नहीं पहचानते। मैं हृदय में अवश्य रहता हूँ लेकिन इतने से मैं एकदेशी नहीं हो जाता। जिस प्रकार समुद्र लहरों के रूप में प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार मैं जगदाकार के रूप में प्रतीत होता हूँ। अलंकार का रूप लेने पर भी जैसे वह शुद्ध सुवर्ण ही होता है, उसी प्रकार मैं श्रीकृष्ण संसार के आकार की परिपूर्णता से पूर्ण ही हूँ। नाम, रूप अथवा अनेक वर्ण अथवा यह संसार इस प्रकार का जो बोध है वह मेरे ही ज्ञानप्रकाश के कारण होता है। फिर भी नामरूप अथवा जातिभेद आदि का मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है। आकाश भले ही जल में डूबा हुआ दिखायी दे लेकिन वह जल से गीला नहीं होता। उसी प्रकार मैं भी संसार के आकार का होते हुए भी उसके दोषों से अलिप्त रहता हूँ। मेरे जैसा विश्वात्मा और विश्वंभर, विश्वमूर्ति और विश्वेश्वर होते हुए भी शिस्नोदर परायण अज्ञानी लोग मुझे नहीं पहचानते। जिसकी आँखों के आगे अँधेरा छाया रहता है अथवा जो भयानक गुफा में फँस जाता उसे अगला या पिछला कुछ नहीं दिखायी देता और वह अकस्मात गड्ढे में गिर पड़ता है। उसी प्रकार मोह ममता की भ्रान्ति से, अज्ञानरूपी निद्रा में अंतर्बाह्य व्याप्त होकर मैं निकट होते हुए भी वे मुझे नहीं देखते और अज्ञान की विशाल गर्त में जा गिरते हैं। मेरे वेद का अर्थ न समझने के कारण जो पूरी तरह कामासक्त हो जाते हैं वे मैं निकट में रहते हुए भी मुझे नहीं पहचानते और अपना अधःपतन करा लेते हैं। तो मैं निकट किस प्रकार हूँ यह पूछोगे तो ज्ञान का प्रकाश देने वाला मैं सबके हृदय में रात दिन वास करता हूँ। मेरे वेद का वास्तविक अर्थ कामासक्तों की समझ में नहीं आता। उसी सम्बन्ध में स्वयं श्रीकृष्ण स्पष्टीकरण दे रहे हैं।

ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः।
हिंसायां यदि रागः स्याद् यज्ञ एव न चोदना॥ २९॥

मेरे वेद का भाव अगम्य है। उसका गूढ़ार्थ न समझने के कारण सकाम पुरुष बड़े उत्साह से स्वर्ग को ही सत्य मान लेते हैं। वेद ने स्वर्ग का उल्लेख केवल रुचि उत्पन्न करने के लिये किया है; लेकिन वही उसका वास्तविक अर्थ समझ कर कामालुब्ध लोग अनेक प्रकार के स्वर्गादिक साधनों का प्रयोग बड़े उत्साह से करने लगते हैं। उसमें स्वयं मांस भक्षण करने के लिये यज्ञ का बहाना करते हैं। उनकी दृढ़ प्रवृत्ति अपनी इच्छा पूरी होने के प्रति ही होने के कारण अविधि से ही पशु की हत्या करते हैं। ऐसे लोगों की हत्या तो उन्होंने मारे हुए पशु ही करते हैं। हाथ में लपलपाती तलवारें लेकर, बदला लेने के लिये वे यम के द्वार पर खड़े रहते हैं। उन्हें स्वर्गसुख कैसा? पेटभर मांस खाने के लिये स्वेच्छा से पशु मारने पर नियंत्रण लगाने के लिये वेद ने केवल यज्ञ के लिये पशु का हनन करने की अनुमति दी है। उसमें भी देश, काल, वर्तमान, मंत्र, विधि, विधान और सारे द्रव्य शुद्ध हों ऐसा भी प्रतिबन्ध लगा दिया है और कर्ता भी सशक्त हो, ज्ञानसम्पन्न और श्रीमान हो क्योंकि मुट्ठी के प्रहार से पशु को मारते समय यदि 'में' 'में' ऐसा शब्द पशु ने निकाला तो उसका प्रायश्चित्त करना पड़ता है। वेद में अनेक कठिन प्रायश्चित्त बताये गये हैं। फिर भी महामूर्ख सकाम लोग पशु मारने के लिये तत्पर रहते हैं। इस प्रकार पशु को मारने के बाद अपने हिस्से में जितना आये उतना ही मांस भक्षण करना चाहिये। वह भी इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तरह खाना चाहिये कि दाँत न लगे। इस प्रकार अपना हिस्सा खाते समय यदि कोई स्वाद लेता है तो उसे भी प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा ऐसा निर्देश भी वेद ने दिया है। सारांश, मांसभक्षण करने की वेद की आज्ञा नहीं है, बल्कि मांसभक्षण की निवृत्ति करने के लिये ही यज्ञ का विधान लगा दिया है। अपनी इच्छा से पशु न मारें इसलिये यज्ञ में पशु मारने का नियम बना दिया गया है और मांसभक्षण न करें इसलिये यज्ञ के भाग को निश्चित कर दिया है। लेकिन वेद का यह नियम भी मूर्खों की लालच पर नियंत्रण करने के लिये है। वास्तव में, पशु हिंसा करना और मांस भक्षण भी न करना यही वेद का सच्चा गुह्य है।

हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः॥ ३०॥

वेदोक्त विधि की परवाह न कर जो लोग पशु हत्या का खेल खेलते हैं, वे अविधि से पशु वध कर याज्ञिक होने की शेखी बघारते हैं। अविधि से प्राण लेकर उस पशु से यज्ञ करते हैं; और फिर निश्चिंत होकर पितृ-देव-भूतगण इन सबको हविर्भाग देते हैं। खोखला बीज यदि खेत में डालें तो फसल से हाथ धोना पड़ेगा। बीज तो नष्ट होगा ही सरकार का लगान अलग से देना पड़ेगा। अविधि से यज्ञ करने वालों की यही गति होती है। स्वर्ग तो स्वप्न में भी नहीं दिखायी देता, लेकिन यह नरदेह छूट जाता है और अन्त में यमयातना के दुःख भोगने पड़ते हैं। पशुओं को व्यर्थ ही दुःख देते हैं और स्वयं भी दुःखी होते हैं। इस प्रकार याज्ञिकों की गति विलक्षण हो जाती है। उसी के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण बताते हैं।

स्वप्नोपमममुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम्।
आशिषो हृदि संकल्प्य त्यजन्त्यर्थान् यथा वणिक्॥ ३१॥

स्वप्न दिखायी देता है और तत्काल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार संसार कल्पना में ही दिखायी देता है। कामना से पगलाये सकाम पुरुष स्वर्ग को सत्य समझ बैठते हैं। मृगजल बिलकुल मिथ्या है, उसके शीतल जल के लिये बालक हठ करे उसी प्रकार सकाम पुरुष स्वर्ग का हठ कर बैठते हैं। 'पीपल पर से मार्ग है' यह सुनकर जो उस वृक्ष पर चढ़ने लगता है और भ्रमजल में फँस जाता है, उसी प्रकार स्वर्ग का वैभव सुनकर सकाम की गति होती है। मनुष्य स्वधर्म के मार्ग पर चले इसलिये वेद स्वर्ग का एक गौण फल दिखलाता है; लेकिन सकाम पुरुष भ्रम में उसी स्वर्ग के पीछे दौड़ते हैं। 'पीपल पर से रास्ता है' सुनकर बुद्धिमान पुरुष उस मार्ग की ओर ध्यान देकर चलता है और पीपल की परिक्रमा कर आनन्दपूर्वक अपने गंतव्य स्थान तक पहुँचता है। इस प्रकार जो स्वधर्म के अनुष्ठान में स्वर्ग के फलों की उपेक्षा करता है, उसका चित्त शुद्ध होकर वह स्वयं ब्रह्मसमाधान प्राप्त करता है। उस स्वधर्म मार्ग को छोड़कर सकाम पुरुष सुनने में मधुर लगने वाले स्वर्गसुख के पीछे दौड़ पड़ते हैं। मृग घंटानाद के भुलावे में आ जाते हैं। उसी प्रकार कर्मभूमि में जन्म लेकर धन, धान्य आदि खर्च कर स्वर्ग सुख के मोह में अनायास प्राप्त हुए नरदेह को व्यर्थ ही खो देते हैं। जिस प्रकार कोई वणिक, दूसरे द्वीप में जाने से अधिक लाभ होगा यह सुनकर पुराना जहाज लेकर समुद्र में प्रवेश करता है और उन्मत्त खलासी के कहने पर टूटी-फूटी नौका के साथ समुद्र में डूब जाता है, वैसी ही गति सकामों की होती है। बेचारे स्वर्ग की इच्छा मन में दबाकर संसार सागर में डूब जाते हैं। स्वर्गसुख की इच्छा करने से स्वधर्मरूपी सारा धन डूब जाता है, चित्तशुद्धि का मूल ही नष्ट होकर नरदेहरूपी मूलधन भी नष्ट हो जाता है। इतनी हानि का कारण भगवान यह बताते हैं कि सकामता के मूल त्रिगुण हैं जिनके विशेष लक्षण वे बताते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजसत्क्तमोजुषः।
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न तथैव माम्॥ ३२॥

रज और तम जब बहुत अधिक बढ़ जाते हैं तो उसमें जब सत्त्व भी मिल जाता है तो रज की संगति से काम चित्त को क्षुब्ध कर देता है। चित्त में जब काम अत्यधिक उफनता है तो गुण के अनुसार विषय पर प्रेम होता है। तब वह निश्चित रूप से सकामी की ही संगत पकड़ता है। सकाम की संगति के कारण काम्यकर्म में ही आदर बढ़ने लगता है और वह स्वर्गभोग में तत्पर होकर देव, पितर, भूत, प्रथमगण आदि का यजन करता है। इस प्रकार वासनालुब्ध लोग मुझ सर्वात्मा, सर्वेश्वर के पास होते हुए भी मेरा अनादर कर अन्य देवताओं की ही उपासना करते हैं। अब शायद तुम यह कहोगे कि अन्य देवताओं के होने पर भी तुम तो हो ही, तो उनके साथ इस प्रकार का ऐक्यभाव नहीं रहता। सारा विनियोग भेद बुद्धि में ही होता है। अरे! इन्द्रादि देवों के द्वारा मैं ही प्रसन्न होता हूँ, लेकिन उनका सकाम मन स्वर्ग की ही इच्छा करने के कारण वे मेरा भजन नहीं करते। मन में वासना दृढ़ रहती है इसलिये स्वर्ग की पुनरावृत्ति के और भी फेरे हैं यह सुनकर उन्हें वह हित का ही लगता है। उसके बारे में भी सुनो।

इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रस्यामहे दिवि।
तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः॥ ३३॥

कर्मभूमि में जो मनुष्य रूप में जन्म लेते हैं, वे सहज ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं। ऐसा होते हुए भी वे कामना में फँस जाते हैं और स्वर्ग में दूसरे देवताओं का ही भजन करते हैं। स्वर्गभोग पर दृष्टि रख कर अनेक यज्ञयाग करते हैं और उतने से स्वर्ग के सुखोपभोग की आशा करते हैं। कालान्तर में पुण्य का क्षय होते ही उनका पतन होता है। वह भी उन्हें हितकर ही लगता है। पुण्यवान स्वर्गस्थ जीव होने के कारण हमने सुशील ब्राह्मण के कुल में जन्म लिया, ऐसा वे कहते हैं। वेदवेदांग का अध्ययन कर धनधान्य से समृद्ध होकर हम विख्यात गृहस्थ बन कर रहेंगे ऐसा उनका विश्वास रहता है। वेदार्थ का सच्चा अर्थ न जानने के कारण ये लोग काम्यकर्म को ही इति कर्तव्यता समझते हैं और गन्ना छोड़ कर उसका बाल (भुट्टा) माँगते फिरते हैं।

एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम्।
मानिनां चातिस्तब्धानां मद्वार्ताऽपि न रोचते॥ ३४॥

फल छोड़कर फूल खाना यही याज्ञिकों की स्थिति रहती है। वे स्वर्ग की इच्छा से जो उपाय करते हैं वही उनका अहित करते हैं। सारा संसार ही जहाँ काल्पनिक है वहाँ स्वर्ग का सुख ही सत्य कैसे होगा? किन्तु केवल सुनी हुई बातों को ही सच मानकर मूर्ख लोग स्वर्ग के सुख से मोहित हो जाते हैं। नपुंसक स्त्री सुख की कितनी ही इच्छा क्यों न करे लेकिन वह उसके साथ संग कैसे कर सकता है? जब बीजोत्पत्ति ही नहीं है तो काम का प्रयास किसलिये? व्यर्थ ही उठता है, फिर सोता है लेकिन उसे सच्चा स्त्रीसुख नहीं मिल पाता। उसी प्रकार स्वर्ग के सम्बन्ध में उनकी स्थिति होती है। गेहूँ की कोमल बाली स्वाद में भली लगती है लेकिन जिसे फसल की कल्पना रहती है वह बाली को नहीं उखाड़ता। पत्तों का स्वाद लेने से उसे गेहूँ की मिठास नहीं मिलती, ऐसा होते हुए यदि पत्ते ही उखाड़ लिये तो गेहूँ के नाम पर रोने की नौबत आयेगी। इस प्रकार वेद ने स्वर्ग का फल बताया है, वही स्वधर्म का कोमल मूल है। उसे तुरन्त तोड़कर खाने से मनुष्य मोक्षफल से वंचित हो जाता है। जो ज्ञानी इस बात को जानते हैं वे स्वर्ग का स्पर्श भी नहीं करते, लेकिन मूर्ख की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विषयतृष्णा रुकती नहीं है। वे लोग काम की आसक्ति से सकाम कर्म ही करते रहते हैं इसलिये वे जन्म-मरण के चक्र में फँसकर कल्पांत तक बाहर नहीं निकल पाते। साधु लोग उन्हें हित की बात बताते हैं लेकिन उसे वे स्वीकार नहीं करते। हम ज्ञाता हैं, वेद का अर्थ हम ही जानते हैं, ऐसा ज्ञानाभिमान होने के कारण वे अभिमान में फूले रहते हैं। मैं भगवान सृष्टि का नियंता हूँ ऐसा वेद ने स्पष्ट कहा है फिर भी यह बात वे नहीं मानते। निष्काम कर्म की बात करने से उनका मस्तिष्क खराब हो जाता है क्योंकि उनकी सकाम बुद्धि अत्यन्त दृढ़ हो जाती है। इस प्रकार वेद को प्रवृत्तिपरक मान कर सभी सकाम लोग भ्रम में फँस जाते हैं। इसलिये उस वेद का ब्रह्मपरक अर्थ स्वयं श्रीकृष्ण समझा रहे हैं।

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम चा प्रियम्॥ ३५॥

वेद स्वयं ही कर्मकाण्ड, उपासनाकांड और ज्ञानकांड के द्वारा चित्तशुद्धि के द्वार से जीव को ब्रह्मस्वरूप करता है। मछुआरा जिस प्रकार बंसी में मांस का टुकड़ा लगाकर मछली को जल के बाहर निकालता है उसी प्रकार वेद भी स्वर्गसुख का लालच देकर जीव को परमार्थ की ओर खींचता है। वेद ने परोक्ष में अर्थात् अस्पष्ट कहकर त्यागमुख से अन्योक्ति गाकर विषय के प्रति आसक्ति छुड़ायी है। वेदार्थ का यह गुह्य ज्ञान समझ कर जब जीव ब्रह्मस्वरूप होता है, तब कर्म और कर्त्ता मिथ्या हो जाते हैं। फिर आश्रम और वर्ण किसके? ध्येय, ध्याता और ध्यान किसका? वह परिपूर्णता से परब्रह्मस्वरूप ही हो जाने के कारण भज्य, भजक और भजन ये तीनों भी शेष नहीं रह जाते। फिर कर्मकर्माचरण किसका किया जाय? वेद किसका, वेदाध्ययन किसलिये और साधन किसका? क्योंकि जब वह पूर्णता से परिपूर्ण ब्रह्म हो जाता है तो दोष और गुण, पाप और पुण्य, जन्म और मृत्यु कैसे होगा? परिपूर्णत्त्व से सारा पूर्ण ब्रह्म ही भरा रहता है। वहाँ भेद किसका और ऐक्यभाव भी किसका? बंध किसका और मोक्ष किसका? उद्धव! सदा सर्वकाल परमानन्द ही भरा रहता है। यही वेद का सच्चा अर्थ है। किन्तु इस वेदार्थ का निरूपण मैं स्वयं ही प्रकट करूँ तो लोगों के हित पर पानी फिर जायेगा इसलिये मैंने उसे गुप्त रखा है। यह वेदार्थ का सार है और मेरे गुप्त ज्ञान का भण्डार है। तुम अधिकारी हो यह ध्यान में आने से ही मैंने तुम्हें यह बताया है। अगर यह गुह्यार्थ प्रकट कर दिया तो नष्ट और अनधिकारी लोग कर्ममार्ग का मार्ग छोड़कर कर्म और ब्रह्म दोनों से ही वंचित हो जायेंगे। ज्ञानसम्पन्न ऋषियों ने इसी बात को ध्यान में रखकर वेदार्थ बताने की शैली में मुख्य अर्थ को गुप्त रखकर परोक्षवाद अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग का ही प्रतिपादन किया है। उद्धव! सब लोगों के हित के लिये और उन्हें रास्ता दिखलाने के लिये यही उचित है ऐसा मुझे भी लगता है क्योंकि सबको प्रवृत्ति मार्ग ही अच्छा लगता है। लोगों को सही मार्ग दिखलाने के लिये, मैं अकर्त्ता होते हुए भी कर्म करता हूँ और लोक कल्याण के लिये वेद का जो प्रवृत्तिपरक विचार है उसका भी स्वयं पालन करता हूँ। उस वेद का स्वरूप अत्यन्त गहन, अतर्क्य, अलक्ष्य और अगम्य है, यह तुम जान लो। इसी अर्थ का निरूपण श्रीकृष्ण अगले श्लोक में कर रहे हैं।

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत्॥ ३६॥

मेरा वेदरूपी भाषण शब्दशः और अर्थशः अत्यन्त गहन है। इस सम्बन्ध में ब्रह्मदेवादिक देवता भी भ्रम में पड़ जाते हैं। समुद्र जिस प्रकार स्वयं तैर कर पार नहीं किया जा सकता उसी प्रकार अपनी ही बुद्धि से वेद का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अर्थ समझ में नहीं आता। इसीलिये अनेक ऋषियों ने अनेक युक्तियाँ लड़ायी हैं। लेकिन उससे वेद का वास्तविक अर्थ किसी के हाथ नहीं लगता क्योंकि वह शब्दशः और अर्थशः भी दुर्बोध है। उसके शब्दों का उच्चारण ही स्वरवर्ण की दृष्टि से किसी की समझ में ठीक से नहीं आ पाता, उसके अर्थ की बात क्या करें? वह मनुष्यों को ही नहीं, देवताओं के लिये भी अगम्य है। पहले जब इस वेद को किसी ने नहीं देखा था तब इसे पहले ब्रह्मदेव से कंठस्थ करवाया। लेकिन उनकी समझ में भी ठीक से न आने के कारण वह कर्म से कर्मठ ही बन गया। वह अत्यन्त सुन्दर कर्मक्रिया शंखासुर ने तत्काल चुरा ली, जिससे ब्रह्मदेव वेद की बात ही भूल गया और सृष्टि की उत्पत्ति का कार्य रुक गया। उस वेद का उद्धार करने के लिये मैंने शंखासुर का वध किया और वेद का पूरा भण्डार ब्रह्मदेव को सौंप दिया। लेकिन ब्रह्मदेव को उनका स्मरण नहीं हो पा रहा था। वह बेचारा पागल-सा हो गया। उस वेद विभाग के लिये ऋषियों ने अपने ज्ञान का उपयोग किया, उसकी शाखा उपशाखाओं का पदच्छेद करने के लिये रावण आगे आया। फिर भी उद्धव! मेरे वेद की सम्पूर्ण वार्ता तत्वतः किसी के भी हाथ नहीं लगी। वही वेदसंस्थापक श्रीहरि, मैंने लोगों को मर्यादा में रखने के लिये स्वयं श्रीव्यास का अवतार लेकर सत्यवती के गर्भ से जन्म लिया। वेद विभाग करने में वह राजहंस था इसीलिये उसे वेदव्यास कहते हैं। उसने वेदार्थ प्रकट कर उसके चार भाग किये। वेद अर्थ की दृष्टि से गूढ़ है किन्तु शब्द की दृष्टि से सरल है। वे शब्द अर्थात् वाणी के चार प्रकार हैं। उन्हें मैं स्पष्ट करके बताता हूँ। बाद का प्रथम स्फुरण जिसका सूक्ष्म प्राण घोष करवाता है, उसका नाम है 'परावाणी', वही ओंकार का प्रथम लक्षण है। वही नादयुक्त प्राण जब अंतःकारण में स्फुरण पाता है तो उसे 'पश्यंती वाणी' कहते हैं। उसमें विवेक लक्षण होता है और नाभि से नाभिस्वर से कंठ तक घूमने वाली वाणी को 'मध्यमा' कहते हैं। इसके उपरान्त अकार, उकार और मकार का स्वर वर्णयुक्त उच्चार जिससे 'ओंकार' प्रकट होता है, उसे 'वैखरी वाणी' कहते हैं। उस वैखरी वाणी में शाखोपशाखाओं में जो अनंत रूप से वेद भरा हुआ है, उसकी भी मर्यादा नहीं है। इस प्रकार वेद असीम है। उसके चार विभाग करने पर भी वह लोगों के लिये दुरूह ही रहा इसलिये 'उपवेद' के रूप में उसके और विभाग किये। फिर भी उनकी समझ में वेद नहीं आया। इसलिये श्री व्यास ने वेद के पदों को विशद किया और उनका अर्थ स्पष्ट किया। फिर भी वेद का वास्तविक अर्थ समझ में नहीं ही आता। उसका अर्थ लगाने के लिये सुमंत, जैमिनी, भाष्य भारत, वैलसूत्र आदि महान ऋषि भी थक गये, फिर भी वेद का अर्थ उनकी समझ में नहीं आया। सारांश, वेद का स्थूल और सूक्ष्म वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ जानने वाला मेरे सिवा और कोई नहीं है।

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना।
भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते॥ ३७॥

मैं जो स्वयं सबके अंतःकरण में 'भूमा' अर्थात् अपरिच्छिन्न रूप से अंतर्बाह्य व्याप्त, परिपूर्ण परब्रह्म मुझसे ही वेद अधिष्ठित है, इसी को 'उपवृंहित' कहते हैं। किन्तु अधिष्ठाता बादल में छिपे चन्द्रमा की तरह विकृत हुआ सा दिखाई देता है अथवा अग्नि जब काष्ठ में अधिष्ठित होता है तो उसे तत्काल आकार प्राप्त होता है, तब उस अग्नि को भी प्रबलता और शांतता ये हो विकारावस्थाएँ प्राप्त होती हैं। उसी प्रकार मैं अंतर्यामी नारायण विकारी नहीं होता। मैं ब्रह्मस्वरूप से परिपूर्ण तथा स्वयं विकारों का निर्दलन करने वाला हूँ। विकारों का कर्त्ता भी मैं और कर के अकर्त्ता भी मैं, मैं स्वयंभू ब्रह्मस्वरूप होने के कारण मुझे विकार होता ही नहीं है। ब्रह्म तो निधर्म है। वह विकार का कर्म कैसे करेगा? यदि तुम्हारे मन में इस प्रकार की कोई शंका है तो उसका उत्तर भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्पष्ट कर देता हूँ। मेरी अनंत शक्ति रूप जो योगमाया है, वह शंकर और ब्रह्मदेव को भी समझ में नहीं आती। उसी योग से मैं चिन्मूर्ति होते हुए भी उत्पत्ति, स्थिति और संहारकर्ता बनता हूँ। ऐसा योगमाया का स्वभाव है। सब कुछ करने पर भी मैं अकर्ता हूँ। इसलिये मुझे देश और काल का विकार स्पर्श नहीं करता। भेदभाव की बात सच होती तो मुझे विकारबाधा हुई होती; परन्तु मेरा निजस्वरूप देखने पर उसमें भेद की बात ही नहीं दिखायी देती। भ्रम से जिस प्रकार रस्सी के सर्प का भास होता है, उसी प्रकार मैं परमात्मा श्रीहरि सब कुछ करके भी निजरूप से अधिकारी ही रहता हूँ। घोषरूप में रहने वाला वह अत्यंत सूक्ष्म नाद, मैं स्वयं प्रणवरूप वेद प्राणिमात्र में स्वतः सिद्ध हूँ, लेकिन लोग सकामबुद्धि से वह नहीं जानते। सुअर जिस प्रकार कस्तूरी या कपूर छोड़कर विष्टा ही खाता है, उसी प्रकार सूक्ष्मवेद के अंतरंग की सकाम पुरुष उपेक्षा करते हैं। मैं निजानंद स्वरूप प्रत्येक प्राणी के हृदय में उपस्थित होते हुए भी, भ्रांतिमान लोग कामासक्ति के कारण नीचों की ड्योढ़ी के चक्कर लगाते हैं। लेकिन योगी लोग उस हृदयस्थ देवता का ध्यान लगाकर बैठते हैं उसका उन्हें ध्यास लगा रहता है, प्राणापान को सम कर वे निरन्तर नाद का अनुसंधान रखते हैं। मेरा वेदरहस्य जो गुप्त है वह प्रणवरूप से हृदय के अन्दर ही है, योगी सर्वकाल उसका अनुभव लेते हैं। उसका निश्चित स्वरूप बताता हूँ, सुनो। कमल के डंठल के नाजुक तंतु की तरह यह अत्यन्त सूक्ष्म नाद नाभि से ब्रह्मरन्ध्र तक जाता है और ओंकारस्वरूप में लक्षित होता है। इस प्रकार का, नाभि से ब्रह्मरंध्र तक ओंकार रूप से चलने वाले सूक्ष्म नादरूपी स्वर को महायोगी योगधारणा से अनुसंधान में रखते हैं। यही नाद दोनों हाथ कान पर रखने पर घूमता हुआ सा मालूम होता है। योगी लोग उसे 'अनाहतशब्द' कहते हैं। वेदांती लोग इसी को 'सूक्ष्मनाद' कहते हैं और हम इसे 'शुद्धवेद' कहते हैं। लेकिन यह नाम के अनुवाद की बात रहने दीजिये। ऐसे स्वयंसिद्ध वेद पर मनुष्य की श्रद्धा नहीं जमती इसलिये उस सूक्ष्मवेद को ही मैं लोककल्याण के लिये स्थूलरूप में लाया। स्थूलरूप में प्रकट हुआ यह वेद ही वेद का प्रसिद्ध मार्ग बन गया। इसे दृष्टांत से स्पष्ट करके बताता हूँ। ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा जिससे उद्धव की आत्मा को अत्यन्त संतोष हुआ। वह कहने लगा, श्रीकृष्ण मेरे लिये अत्यन्त सरस निरूपण कर रहे हैं। मुझसे प्रेम होने के कारण ही, केवल मेरा उद्धार करने के लिये श्रीकृष्ण निरूपण की बरसात कर उसमें अमृत से भी मधुर रस भर रहे हैं। उद्धव का यह भाषण सुनकर श्रीकृष्ण क्या बोले? उन्होंने कहा, उद्धव! उसी वेद को मैं अब निरूपण में सुना देता हूँ।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात्।
आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा॥ ३८॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः।

ऊर्णनाभि अर्थात् मकड़ी जिस तरह अपने मुँह से अत्यंत महीन तंतु निकालती है, उसी प्रकार निर्गुण में से ओंकार का धागा निकलता है। वह ओंकार अपने स्वभाव के अनुसार 'सप्राण' अर्थात् सचेतन होते ही 'हिरण्यगर्भ' संज्ञक होता है ऐसा वेद में बताया गया है। उद्धव! वही 'प्रभु' ऐश्वर्ययुक्त स्वामी है। उसकी शक्ति अचिंत्य, अनंत है और वही छंदोमय वेदमूर्ति है, यह जान लो। वास्तव में वह अविनाशी है तथा नित्य सुखमय एवं सुखमूर्ति है। उससे सप्राण नादाभिव्यक्ति है जो मनःशक्ति को जागृत करती है। यही जागृत मनःशक्ति स्पर्श-स्वर-वर्ण का निर्माण करती है। इसी को वेदवेत्ता पुरुष 'बृहती' कहते हैं क्योंकि इसका विस्तार असीम है। स्वर और वर्णों से युक्त वे मंत्र, हृदयाकाश में विचित्र ढंग से, हजारों शाखाओं में विस्तार पाते हैं। इस प्रकार वैखरी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाणी का अपार विस्तार हुआ है। स्वर और वर्ण आदि के उच्चार से वेदों की अधिष्ठान वैखरी वाणी कैसे उत्पन्न हुई, वह भी बताता हूँ, सुनो।

ओङ्काराद् व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तस्थभूषिताम्॥ ३९॥
विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः।
अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम्॥ ४०॥

अ-उ-म ये तीन मात्राएँ जब एकत्र होती हैं तो लोग उसे 'ओंकार' कहते हैं। यह ओंकार अलौकिक है तथा अत्यन्त सूक्ष्म रूप से देह में ही रहता है। उसी ओंकार को प्राण की संगति से जब मूलाधारादि चक्र में उर्ध्वगति प्रारम्भ होती है तब परा, पश्यंति, मध्यमा वाणी की अभिव्यक्ति होती है। परा वाणी के भीतर 'पश्यंति' श्रेष्ठ रूप में जन्म लेती है। उसके गर्भ से 'मध्यमा' का जन्म होता है। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरी से उत्पन्न होती हैं। उसी प्रकार वे क्षणभर के लिये भी एक-दूसरे को छोड़कर नहीं रहतीं। एक-दूसरे को साथ लेकर वे पहले एक चक्र, फिर दूसरा चक्र और तीसरा चक्र पार करते हुए ऊपर चढ़ती जाती हैं। 'मूलाधार' चक्र में 'परा' वाचा उत्पन्न होती है। 'स्वाधिष्ठान' चक्र में, पश्यंती का जन्म होता है और 'मणिपुर' चक्र से 'विशुद्धि' चक्र तक 'मध्यमा' का आवागमन चलता रहता है। वहाँ से मुख के द्वारा 'वैखरी' वाणी प्रकट होती है। तब वह स्वर वर्ण के उच्चार से अनेक मंत्ररूपों में गरजती रहती है। उन्हीं स्वरों में 'स्पर्श' वर्ण, 'असंख्य वर्ण' तथा 'ऊष्म' वर्ण के विभाग सुनो। केवल अ से अः ये स्वर, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग इस प्रकार पाँच वर्णों के पाँच पंचक अर्थात् पचीस अक्षरों को स्पर्शवर्ण कहते हैं। जिनकी सहायता से ही वर्णों का ठीक तरह उच्चार हो पाता है वे अकारादिक सोलह 'स्वर' हैं। य, र, ल, व को 'अंतस्थ' वर्ण कहते हैं और श, ष, स, ह इन चार वर्णों को शास्त्रकार 'ऊष्म' स्वर कहते हैं। अ-अः ये अनुस्वार तथा विसर्ग विभाग हैं। इसमें क्षकार वह केवल बावनवी मातृका है। इनमें और अतिरिक्त निरनुनासिक तथा सानुनासिक ये भेद शास्त्रज्ञ जानते ही हैं। इस प्रकार स्वर और वर्ण इनके यथाशास्त्र उच्चार से तथा वेदशास्त्रों के अर्थ प्रकार से लौकिक और वैदिक भाषा का विस्तार हुआ है। शब्दों की अनेक प्रकार की उत्पत्ति का प्रयोग कर शब्दों से ही शब्द का खण्डन करते हैं। इस प्रकार नाना प्रकार के शब्द कौशल्य से यह वैखरी वाणी विस्तार पायी है। वही चार-चार अक्षरों से बढ़कर उसी के अनेक छंद हो गये हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे चार अक्षरों के बढ़ने से नये-नये अनेक छंद साध कर वेद ने अपने ज्ञान का बोध प्रकट किया है। इसीलिये वह वैखरी वाणी अनंत और अपार है। शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टि से वह अत्यन्त कठिन है। मेरे शब्द ज्ञान की थाह सुरनरों को भी नहीं लग पाती। वैखरी की शक्ति अनंत है इसीलिये उसे 'वृहती' कहते हैं। इसके विस्तार की मर्यादा शंकर और ब्रह्मदेव भी नहीं जानते। स्वयं हिरण्यगर्भ के रूप में जीव, शिव और अंतर्यामी इन्हें मेरी वेदाज्ञा प्रकट करती है। उसी का नामकरण है 'वैखरी'। मैं वेदात्मा श्रीहरि इस प्रकार वेद का विस्तार करता हूँ। स्वयं ही उसका विस्तार कर उसकी मर्यादा समाप्त होने के समय उसका संहार भी मैं ही करता हूँ। पहले जो छंद बता दिये थे उनके निजलक्षण, वेद का कारण अर्थात् परमात्मा श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं।

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च।
त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद्विराट्॥ ४१॥

'गायत्री छंद' सभी छंदों का प्रमुख अधिष्ठान है। उस गायत्री छंद का लक्षण तुम्हें सविस्तार बताता हूँ। आठ-आठ अक्षरों के तीन चरण और गिनते समय जिसमें शुद्ध यति (विराम) आराम आता है, उसे गायत्री छंद

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहते हैं। वेदोक्ति का यही मुख्य बीज है। वेद का रहस्य, ब्रह्मज्ञान का दूसरा छोर और परमानंद का शुद्ध सारतत्त्व, वही गायत्री है। यह चैतन्य का जीवन तथा मेरे गुप्त का गुप्त धन है। जिसमें जीव-शिव का समाधान होता है, वही यह गायत्री छंद है। इस छंद का एक-एक अक्षर परब्रह्म का सार है और गायत्री सचमुच ही सच्चिदानन्द का भंडार है। गायत्री का अनुष्ठान कर विश्वामित्र क्षत्रिय से राजा बना। मैं कृष्ण भी उसका वंदन करता हूँ। रामावतार में वह मेरा भी गुरु था। इसलिये सारे छंदों में मुख्यत: गायत्री छंद ही श्रेष्ठ है। इसके पीछे लग कर ही अन्य छन्द पावन होते हैं। गायत्री छंद के अक्षरों में चार अक्षर मिलाने से उससे भी बड़ा 'उष्णिक' छंद उत्पन्न होता है। उष्णिक छंद में और चार अक्षर मिलाने से उससे भी बड़ा 'अनुष्टुप' छंद उत्पन्न होता है। उसमें और चार अक्षर मिलाने से उससे भी बड़ा 'बृहती' छंद होता है। इसी प्रकार 'पंक्ति-त्रिष्टुप-गजती-अत्यष्टि-अतिजगती' आदि छंद, चार-चार अक्षर अधिक जोड़ने से वेदवाणी विभाग के छंद बन जाते हैं। ऐसे चार-चार अक्षर अधिक लगाकर अनेक छंदों की पंक्ति तैयार होती है और वेदराज की राजधानी उस मंत्रध्वनि से गरजती रहती है। उनके अक्षरों की गिनती नहीं हो पाती, शाखाओं का पता नहीं चल पाता, अर्थज्ञान और शब्दज्ञान भी समझ में नहीं आता। इस प्रकार वेद का वैभव दुर्गम है।

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद वेद कश्चन्॥ ४२॥

कर्मकाण्ड के विधिनिषेध बताते समय वेद किस अर्थ से त्याग की निंदा करता है और साधक के हित में किस अर्थ का प्रतिपादन करता है; मंत्रकाण्ड ने सभी मंत्र मूर्ति का उल्लेख कर आयुधों के प्रकार, उपासना तथा उपास्य आदि भाग बताकर भक्ति किस लिये करवायी है? ज्ञानकाण्ड में सचमुच किस पदार्थ का निषेध किया है? और किस अर्थ का प्रतिपादन कर आत्मज्ञान का उपदेश किया है? इस प्रकार वेद का अटल मूल क्या है? अथवा विधिविधान के साथ मुख्य फल कौन-सा है? यह जानने लायक ज्ञान मनुष्य की बात दूर, लेकिन देवताओं को भी नहीं है। सचमुच, उस वेदार्थ को ठीक तरह से जानने वाला मैं ही एक सर्वज्ञ हूँ। मेरी कृपा के बिना यह अर्थ ब्रह्मदेव आदि के हाथ भी नहीं लगेगा। यह सुनकर उद्धव ने सोचा, वेद का सच्चा अर्थसार केवल भगवान को ही मालूम है और श्रीकृष्ण भक्त के प्रति कृपालु हैं अर्थात् वे शायद मुझ पर भी दया कर मुझे वह अर्थ बता दें। उद्धव के मन का उद्देश्य जानकर भगवान आगे खिसके और वेदार्थ का सारांश श्लोक रूप में सुनाने लगे।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिसिद्ध्य प्रसीदति॥ ४३॥

मेरे स्वरूप की प्राप्ति होने के लिये, मलिनचित्त लोगों की चित्तशुद्धि के लिये वेद ने स्वधर्म का प्रतिपादन किया है और निषेध बताकर विषयों का त्याग करवाया है। उसमें अग्निहोत्र आदि का विधान और यज्ञ का कर्माचरण चित्तशुद्धि के लिये अन्यन्त कारणीभूत है। उसके योग से प्रखर वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य उत्पन्न हो जाय और यहाँ की विषय निवृत्ति हो जाय तो साधक को सहजास्थिति से मेरी प्राप्ति होती है। अब जो विषयों की बाधकता समझते हैं किन्तु उनमें उनका त्याग करने का सामर्थ्य नहीं होता, ऐसे साधकों के लिये वेद ने मेरी भक्ति प्रकट की है। इसमें मंत्र-मूर्ति की उपासना, मेरे सगुण रूप का अनुष्ठान और एकनिष्ठा से भजन करने से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रजोगुण और तमोगुण का नाश होता है। फिर शुद्ध सत्त्ववृत्ति ही शेष रहती है। इससे श्रवण कीर्तन में प्रेम उपजता है और समस्त प्राणियों के प्रति मेरी ही भावना उत्पन्न होकर उससे मेरी चौथी भक्ति का लाभ होता है। मेरी चौथी भक्ति प्राप्त होने पर मेरे भक्तों को मुक्ति भी अच्छी नहीं लगती। अद्वैत भजन के आगे वे मोक्ष का भी धिःकार करते हैं। अद्वैत बोध से मेरा भजन करने पर अनंत, अपार और चिद्घन स्वरूप भक्तों के मैं वश में हो जाता हूँ और मेरे भक्तों को मद्रूप प्राप्त होता है। उस समय भज्य, भजक और भजन; पूज्य, पूजक और पूजन; साध्य, साधक और साधन यह सब वह स्वयं ही हो जाता है। मेरा ऐश्वर्य, सामर्थ्य और शक्ति मेरे भक्तों के हाथ में आती है। अद्वैतभजन के प्रेम से ही मेरे भक्तों को मेरे पद की प्राप्ति होती है। मैं देवता और वह भक्त यह बाह्य अंतर केवल नाम का ही रह जाता है। आंतरिक दृष्टि से देखा जाय तो दोनों निजात्मज्ञान के कारण सच्चिदानंद स्वरूप ही रहते हैं। उद्धव! उपासनाकांड यही है। इस प्रकार साधक मेरी भक्ति करके निश्चित रूप से मुझे ही प्राप्त करते हैं। माया प्रतिबिम्बित चैतन्य जिसका उल्लेख 'त्वं' इस पदार्थ से करते हैं, उसे अविद्या के कारण 'जीव' की संज्ञा प्राप्त होती है। स्वप्न में हम जिस प्रकार अपने अनेक रूप देखते हैं उसी प्रकार अविद्या के कारण आया हुआ यह जीवत्व एकदेशी है। जो मायाजन्य चैतन्य, जो योगजन्य होकर जगत की उत्पत्ति का कारण, जो सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सदा सर्वकाल ऐश्वर्य सम्पन्न, जो सभी कर्मों का कर्त्ता, किन्तु कर्ता होते हुए भी अकर्ता; और जिसमें स्वाभाविक रूप से स्वयंभू नित्यमुक्तता होती है; जिसकी नैसर्गिक अंकुठित सत्ता, तो सदा परमानंद से पूर्ण रहती है, जो ईश्वर होने के कारण सर्वसमर्थ है; वह (शिव) 'तत' पदार्थ का वाच्यार्थ है। उस जीव का अज्ञान छोड़ तथा शिव की सर्वज्ञता भी छोड़कर दोनों के बीच का सार (लक्ष्यार्थ तत्त्व) उसी से ऐक्य पाकर अपना हेतु सिद्ध करते हैं। विवाह के समय उम्र में कम पति अगर परदेश चला जाय और वही कुछ समय बाद अकस्मात परदेश में यौवन सम्पन्न दिखायी दिया तो उस समय की बाल्यदशा छोड़कर और आज की यौवनावस्था छोड़कर उसकी पत्नी उसके मूल स्वरूप को लक्ष्य कर जैसा व्यवहार करती है, उसी प्रकार हे उद्धव 'त्वंपद' और 'तत्पद' इन दोनों का वाक्-अर्थ छोड़ देना चाहिये और ऐक्यभाव से जो दिखायी दे, उसका लक्ष्यार्थ स्वीकार करें यह ज्ञानकाण्ड का इत्यर्थ है। जीव और शिव का ऐक्य साध कर मेरे चिद्स्वरूप में समाधान प्राप्त करें। यह बात वेद ने सम्पूर्ण ज्ञानकाण्ड में कही है। वेद के तीनों काण्ड आदि-मध्य-अंत मुझे ही लक्षित हैं। यही अर्थ ग्रन्थ के अंत में उपसंहार करते हुए श्रीकृष्ण बता रहे हैं। उद्धव! वेद का भाषण अर्थ की गम्भीरता के कारण अत्यन्त गहन है। उसके सम्बन्ध में अनेक ऋषियों ने काफी परिश्रम किया फिर सच्चा अर्थ उनकी समझ में नहीं आया। वही वेदार्थ का सार मैंने तुम्हें विस्तारपूर्वक बताया। भगवान का भाषण सुनकर उद्धव को आश्चर्य लगा और उसने मन ही मन कहा कि वेद का यह सार भगवान और क्यों नहीं बताते? बछड़े के मुँह लगाने से गाय के थन से दूध आते ही, दूध निकालने वाला बछड़े को दूध पीने से रोक देता है, उसी प्रकर यह अत्यन्त प्रिय विषय भगवान ने बीच ही में क्यों बन्द कर दिया? उद्धव मन ही मन छटपटाने लगा। चिड़िया के बच्चे चारा लेने के लिये जिस प्रकार चोंच फैलाकर माँ के सामने बैठ जाते हैं, उसी प्रकार उद्धव श्रीकृष्ण के सामने मुँह खोलकर बैठ गया। उद्धव का उद्देश्य ध्यान में आकर भगवान श्रीकृष्ण वेद का अर्थ संक्षेप में ग्रन्थ के अन्त में सारांश रूप में बता रहे हैं। अनेक शाखाओं में प्रसिद्ध त्रिकांडात्मक बढ़ा हुआ वेद, उसका बोध यही है कि मुझ अभेद परमात्मा का हाथ पकड़ कर श्रुति तीन कांडों में चल रही है। कर्म का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ; कर्मकर्त्ता और क्रियाशक्ति मैं ही हूँ; कर्म का फल देने वाला श्रीपति मैं ही हूँ, यही कर्मकाण्ड का इत्यर्थ है। मंत्रमूर्ति और मंत्रार्थ भी सचमुच मैं हूँ, पूज्य, पूज्यक और पूज्य यह सब मैं ही हूँ मेरे सिवा अन्य कुछ भी नहीं। देवता ही देवता की पूजा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करें; देवता बनकर ही देवता को भजें, यही वेद का मेरा रहस्य और यही आगमों ने भी बताया है। मैं ही देवता हूँ और भक्त भी मैं हूँ, पूजा का सारा साहित्य भी मैं ही हूँ, मेरी पूजा मैं ही करता हूँ। यही सम्पूर्ण उपासना है। वेद के उपासना काण्ड का मुख्य सार यही है। आगमशास्त्र का गुप्त भण्डार यही है, मेरे भक्तों का निवासस्थान यही वह उपासना है। 'ज्ञानकांड' तो अत्यन्त विचित्र है। उसमें वेद स्वयं ही अपना द्योतक बन जाता है। सारा संसार ही यदि काल्पनिक है तो वेद को 'नियामक' किस अर्थ में मानें? उजाड़ घर में यदि कोई, निर्जीव मेहमान आ जाय तो उसका आदरातिथ्य कौन करेगा? यही बात वेदाज्ञा की है। कठपुतली वाली गुड़िया के केश यदि मूँड़ दिये जायँ तो उसके सिर पर पुनः केश नहीं आयेंगे। उसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म में भी वेद को कोई स्थान नहीं है। मूल संसार ही जब मायिक है तो उसका वेद भी मद्रूप होगा। मृगजल में उदक तो रहता ही नहीं है, लेकिन उसमें गीलापन भी नहीं होता। जहाँ सारा कुछ अद्वैत ही है, वहाँ श्रोता और वक्ता कैसा? वहाँ वेदवार्त्ता कैसी? जहाँ दृश्य, द्रष्टा और दर्शन नहीं है, जहाँ ध्येय, ध्याता और ध्यान नहीं है; ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान नहीं है वहाँ वेदवचन भी किसका होगा? जहाँ भ्रम का साम्राज्य और भेदभाव की बात रहती है, वहीं वेद की बुद्धि और उपनिषदों का सुमधुर संगीत चलता है। भेद जब तक प्रबल है, तभी तक वेद का महात्म्य है; भेद जब अद्वैत में प्रवेश करता है तो वेद भी 'नेति नेति' कहता हुआ विलीन हो जाता है। पानी की धारा जिस प्रकार पानी में ही विलीन हो जाती है, उसी प्रकार वेद भी अद्वैत में विलीन हो जाता है। यही वास्तविक 'ज्ञानकांड' है। वह मैंने तुम्हें प्रेम से बताया। जिस अरणीकाष्ठ से अग्नि उत्पन्न होता है उसी अरणी को जलाकर वह शांत होता है। उसी प्रकार ज्ञानकांड निरूपण में वेद ने स्वयं को ही समाप्त कर दिया है। 'अद्वैतरूप ब्रह्म एक है' इस श्रुतिवाक्य से ही द्वैत मिथ्या हो जाता है। इतना कहकर वेद अदृश्य हो जाता है और ब्रह्म अपनी सम्पूर्णता में सदा जैसा है वैसा ही रहता है। निर्विकार शुद्ध ब्रह्म में 'मैं ब्रह्म' यह जो स्फूर्ति उत्पन्न होती है, वही ओंकार की उत्पत्ति होती है। उसे 'एकाक्षर ब्रह्म' कहते हैं। उसी ओंकार से स्वरवर्ण की उत्पत्ति हुई और श्रुति की बड़ी-बड़ी शाखाएँ उत्पन्न हो गयीं। वह सारा ब्रह्मरूप ही है। इस प्रकार सारे वेद परब्रह्मरूप हैं। जिस प्रकार सुवर्ण के अलंकार वास्तविक रूप में सुवर्ण ही रहते हैं, उसी प्रकार श्रुति शाखाओं से होने वाला वेद का विस्तार भी ओंकार स्वरूप में मद्रूप ही है। वेदों द्वारा प्रतिपादित पुरुषोत्तम, जो भक्तों की मनोकामना पूर्ण करने वाला कल्पतरु ही है ऐसा मेघश्याम, आत्माराम, श्रीकृष्ण ने कहा। तीनों कांडों का संबंध कहीं भी विरोध न होने वाला ही है। यही अत्यन्त शुद्ध वेद का अर्थ है। उसे मैंने विस्तारपूर्वक बताया। हे उद्धव! इससे अलग, वेद का कोई अर्थ नहीं है। वेद के इस अर्थ की पहचान हृदय में अंकित करने से जीव-शिव का समाधान होता है। श्रीकृष्ण की यह बात सुनकर उद्धव वेद के अर्थ में निमग्न हो गया। उसकी दोनों आँखें भर आयीं और मन आत्मानंद में डूब गया। चित्त चैतन्य में विलीन हो गया, हृदय द्रवित होने के कारण गला भर आया, स्वानंद का स्वाद मिलते ही देह रोमांचित हो उठा। शरीर से पसीना छूटने लगा और देह काँपने लगा। आँखों में आनंदाश्रु भर आये और वाचा मौन हो गयी। मूर्छा आने लगी लेकिन उसने अपने को सँभाल लिया। उसे स्मरण हो गया कि मन की यह लापरवाही ठीक नहीं है। कहीं ऐसा न हो कि भगवान निजधाम चले जाएँ। इस भय से उसने आँखें खोलीं। उसने देखा, सामने मेघ की तरह श्यामसुन्दर, मुकुट, कुण्डल और मेखला धारण किये हुए, पीताम्बर परिधान किये तथा गले में वनमाला धारण किये श्रीकृष्ण खड़े हैं। वह हृदय में चैतन्यघन का अनुभव कर रहा था। आँखें खोलते ही आनंदघन की मूर्ति उसी प्रकार सामने दिखायी देने लगी। वह कहने लगा कि श्रीकृष्ण चैतन्यघन है तथा चैतन्य की साकार मूर्ति है। सगुण और निर्गुण रूप में श्रीकृष्ण परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप है। उद्धव कितना भाग्यशाली है। क्योंकि सगुण और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निर्गुण इन दोनों स्वरूपों के वास्तविक सुख का वह अकेला अनुभव कर रहा था। यह केवल श्रीकृष्ण कृपा का माहात्म्य है। जब सद्गुरु की पूर्ण कृपा होती है, तब शिष्य की पसन्द ही उसका माप रहता है। वह यदि सगुण मूर्ति चाहता है तो गुरु वैसी ही मूर्ति देते हैं। मन में निर्गुण मूर्ति की इच्छा हो तो गुरु की कृपा उसे निर्गुण स्वरूप की स्थिति में साक्षात्कार कराती है अथवा जिसे सगुण और निर्गुण इन दोनों स्वरूपों का उपभोग करने की इच्छा हो तो उसकी दोनों इच्छायें पूरी करने का सामर्थ्य कृपालु गुरु में रहता है। सद्गुरु की महिमा अगाध है। वेद भी उसका बखान नहीं कर सकते। उनकी परिपूर्ण कृपा होने के बाद कौन-सी वस्तु दुर्लभ रह जाती है? श्रीकृष्ण की कृपा से उद्धव की वह दुर्लभता समाप्त हो गयी और सगुण और निर्गुण दोनों श्रीकृष्ण ही हैं, यह बात हृदय में अंकित हो गयी। श्रीकृष्ण की इस परिपूर्णता को जानकर, उसके चरण कमलों को लक्ष्य कर उद्धव ने उन्हें साष्टांग दण्डवत किया। तब साँवले कृष्ण ने अपनी चारों बाहें फैला कर उसे आलिंगन में आबद्ध कर लिया। उस आलिंगन का सुख अनुभवी ही जान सकता है। उस समय उद्धव को जो आनन्द हुआ उसका द्रष्टा एक श्रीकृष्ण ही था। कृष्ण ने कहा, उद्धव! मैंने वेदरहस्य का गुप्त खजाना, यह इक्कीसवाँ अध्याय तुम्हें बताया। इससे लिंगदेह का भाव टूटता है, जीव को जीवत्म का स्मरण नहीं होता वही इक्कीसवाँ अध्याय तुम्हें बताया जिससे देहभावना मिथ्या होकर नामरूप का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वेदार्थ सार का यह निरूपण मेरे विश्वात्मा का गुप्त निधान है। उद्धव! मैंने अपना समझ कर ही तुम्हें मेरे जीव की पहचान करायी। उद्धव! सहस्त्रों साधन करने पर भी, गुरुकृपा के बिना यह किसी के हाथ नहीं लगेगा। उस गुरुकृपा को साध्य करने के लिये ही हमें पूर्ण स्वधर्म के अनुसार आचरण करना चाहिये, शास्त्र श्रवण तथा वेदपठन भी उसी के लिये करना चाहिये और संतों का चरण स्पर्श करना चाहिये ताकि स्वामी जनार्दन प्रसन्न हो जाएँ। श्रीगुरु प्रसन्न होकर स्वयं ही भागवत का निरूपण करा रहे हैं इसलिये एकनाथ जनार्दन से विनती कर रहा है कि उनकी नित्य नूतन कृपा बनी रहे। अगले अध्याय में उद्धव प्रकृति-पुरुष का लक्षण तथा तत्त्वों की संख्या के सम्बन्ध में मधुर प्रश्न पूछेगा। उसका उत्तर देते समय जन्म-मरण के प्रकार के सम्बन्ध में भी श्रीकृष्ण बतायेंगे। उस कथा में गहन परमार्थ दिखायी देगा। उस कथा का श्रवण करते समय वैराग्य प्रखर हो उठेगा, ऐसे विस्तार से श्रीकृष्ण स्वयं निरूपण करेंगे। घटाकाश महाकाश में मिल जाता है, उसी प्रकार एकनाथ जनार्दन की शरण में आया है। उसके चरणों का वंदन करते समय अपने आप ही रसाल निरूपण की स्फूर्ति होती है। ॐ तत्सत्।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे भगवदुद्धव संवादे एकादश स्कंधे एकाकार टीकायां वेदत्रय विभाग निरूपण नाम का एकविंशतितमोध्यायः ॥ २१ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बाईसवाँ अध्याय

हे ओंकारस्वरूप, कठपुतली का खेल करने वाले सद्गुरु! तुम्हें नमस्कार है। चौरासी लाख पुतलियों को तुम पूर्वसंचित के अनुसार अपनी इच्छानुसार नचाते हो। हाथ की डोर तो नहीं देखने देते हो लेकिन पुतलियों को तो स्वयं ही नचाते हो। फिर भी तुम सर्वदा उनसे अलिप्त रहते हो। तुम्हारा यह कौशल कितना अपूर्व है। जिसका जैसा पूर्वकर्म रहता है उसके अनुसार वह नाचता रहता है। उसे नचाने की चेतनाशक्ति तुम्हारा हाथ न रहते हुए भी तुम्हारे हाथ में रहती है। भारी लौहखण्ड को जिस प्रकार चुम्बक अपनी शक्ति से वश में करता है, उसी प्रकार अपने सामर्थ्य से तुम भी समस्त प्राणिमात्र को नचाते हो। इस प्रकार ये जीव परतंत्र के अनुसार नाचते रहते हैं, लेकिन उनका अहंकार कितना प्रबल होता है। देह का आकार सत्य है यह मानकर वे स्वयं को स्वतंत्र ही कहते हैं। हम अत्यन्त ज्ञानसम्पन्न तथा कर्म करने में अत्यन्त कुशल हैं और बाकी सब मूर्ख हैं इस अभिमान को बढ़ाते हैं। इस प्रकार देहाभिमान के कारण अपना अकर्त्तापन भूलकर स्वप्नावस्था में हुई विषबाधा की तरह कर्मबन्धन में पड़ जाते हैं। स्वप्न में विष का प्रभाव हुआ था, वह अब बिलकुल उतर गया है, इस प्रकार बंध और मोक्ष को ये मूर्ख लोग सच मान लेते हैं। तुम्हारा यह कठपुतली का खेल मिथ्या होते हुए भी तुम उसे सत्य का आभास देते हो। तुम्हारी यह महिमा अपूर्व है। तुम्हारी अतर्क्य लीला का कोई तर्क सम्भव नहीं है। अचेतन में तुम चैतन्य का धर्म स्वयं दिखला देते हो, यह मर्म किसी को समझ में नहीं आता। तुम कर्म करके भी अकर्ता हो। तुम अकर्ता होते हुए कर्ता बनते हो और कर्ता होते हुए अकर्ता बनते हो। यह तुम्हारी कठपुतली की कला किसी की समझ में नहीं आती। तुम्हारी माया देखने जाओ तो वही माया देखने वाले को ग्रस लेती है। उसे भी छोड़ दें तो; तुम्हें ही देखने जाओ तो वह सत्तावस्था भी मायिक थी। तुम्हारा चरित्र अगम्य है इसलिये समझ में आना सम्भव नहीं है। अपने सूत्र को दृष्टि से ओझल रखकर तुम प्राणिमात्र को विचित्र ढंग से नचाते हो। तुम्हारे ही कारण संसार चल रहा है लेकिन मैंने कुछ किया है ऐसा तुम्हें नहीं लगता है। ऐसा तुम्हारा खेल है, वह कोई कैसे देखे? इस प्रकार खेल बढ़ाते हो और झट विकल्प से तोड़ भी देते हो। महतत्व में विकार भर देते हो। लेकिन इसके लिये भी तुम्हारे कर्त्तत्व की आवश्यकता नहीं होती। इसका मुख्य लक्षण तुम्हारी कृपा के बिना मालूम नहीं होता। तुम्हारी पूर्ण कृपा हो जाय तभी जन में जनार्दन प्रकट होता है और जब जन में जनार्दन प्रकट होता है तभी हम भी तद्रूप होते हैं। यही उसका मूलबीज है। वहाँ 'मैं' का 'तू' का भाव नहीं रहता। 'मैं' 'तू' के बिना जन में नित्यानंद रूपी जनार्दन प्रसिद्ध है; उसकी कृपा से ही श्रीमद्भागवत का ठीक तरह वर्णन हो रहा है। उसके इक्कीसवें अध्याय के अन्त में त्रिकांडात्मक वेद का लक्ष्यार्थ अर्थात् सर्वत्र एक ही ब्रह्म है और वह अद्वय एवं अविनाशी है यह बतलाया गया है। वेदवाणी के अनुसार भी ब्रह्म एक ही है और स्वानुभव से देखने पर भी वह वैसा ही दिखाई देता है। फिर भी बड़े-बड़े ऋषि और ज्ञाता तत्त्व अनेक हैं ऐसा क्यों कहते हैं? यही शंका मन में लाकर उद्धव ने प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया। लेकिन मन में एक ही भाव था कि श्रीकृष्ण शान्त न बैठें। यदि मैं कहूँ कि 'मैं ब्रह्मस्वरूप हो गया' तो श्रीकृष्ण यह सुनकर निजधाम को चले जायेंगे। इस उलझन में, उसने सन्देह न होते हुए भी प्रश्न किया। वह सुनकर श्रीकृष्ण को सुख और समाधान का अनुभव हुआ। इतने में श्रीकृष्ण के मन में एक निराली ही बात आयी कि उद्धव और मैं तो एक ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं, वियोग का दु:ख तो मिथ्या है, यह बात उद्धव की समझ में आने तक क्यों न उसके प्रश्नों का उत्तर दें? इस बाईसवें अध्याय में वे कुल तत्त्वों की संख्या बतायेंगे, उसी के साथ-साथ प्रकृति पुरुष का विचार और जन्ममरण का प्रकार भी बतायेंगे। आत्मा एक ही है या अनेक है यह मालूम हो, साथ ही तत्व संख्या भी ठीक से ज्ञात हो इसलिये उद्धव प्रश्न पूछ रहा है।

उद्धव उवाच

कति तत्त्वानि विश्वेश संख्यातान्यृषिभिः प्रभो।
नवैकादश पञ्च त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम॥ १॥

हे विश्वात्मका, विश्वेश्वरा, हे विश्वधारका, हे विश्वसाक्षी, हे विश्वाकारा, हे विश्वैकसुंदरा श्रीकृष्ण! तुम्हें 'विश्वात्मक' कहें तो जड़, मलिन एकदेशीयता और अज्ञानता का बोध होता है ऐसा तुम कहोगे, इसलिये तुम्हारा प्रभुत्व बताता हूँ। जड़-मलिन-अज्ञानता यह सब माया के ही कारण होता है, जिसके नियंता तुम ही हो। यही तुम्हारा अगाध प्रभुत्व है। इस प्रकार स्वामी श्रीकृष्ण का उत्तम ढंग से गौरव कर उद्धव ने अत्यन्त विनयपूर्वक तत्वसंख्या के विचार पूछे। उसने कहा, तपसामर्थ्य में महासमर्थ, भूत-भविष्य जानने वाले जो बड़े-बड़े ऋषिवर्य हैं उन्होंने निकाली हुई तत्त्वों की संख्या विचित्र-सी लगती है। वे उसके विविध प्रकार बताते हैं। उन्नीसवें अध्याय में आपने ही तत्वों के सम्बन्ध में विचार विस्तार से बताये हैं। उसमें आपने तत्वों की जो संख्या बतायी है वही मैं बताता हूँ। चौदहवें श्लोक के निरूपण में, हे श्रीकृष्ण! तत्वों की गणना कर आपने निश्चयपूर्वक वह संख्या अट्ठाईस बतायी। इस तत्वसंख्या के विचार में प्रकृति, पुरुष, महतत्त्व और अहंकार और श्रेष्ठ पंच महाभूत मिलाकर यह संख्या नौ हो गयी। इसके बाद इस इन्द्रिय, ग्यारहवाँ मन, पाँच विषय और तीनों गुण मिलाकर यह संख्या अट्ठाईस होती है ऐसा आप ही ने निरूपण किया था। हे लक्ष्मीपते! यही तुम्हारा मुख्य निरूपण था। अब बड़े-बड़े ऋषियों का युक्तिवाद भी तुम्हें बताता हूँ। उसका अर्थ भी आपको बताता हूँ। उसे आप ठीक तरह से सुन लें। ऐसा कह कर उद्धव स्वयं उनकी बातें बताने लगा। उसने कहा, आप ठीक तरह से श्रवण करें। मैं एक चमत्कार बताता हूँ। प्रकृतिपुरुष में ही एक विचित्र प्रकार है।

केचित् षड्विंशति प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम्।
सप्तैकै नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे॥ २॥

केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश।
एतावत्त्वं हि संख्यानामृषययो यद्विवक्षर्या॥ ३॥

इन तत्वों की संख्या में बहुत बड़ा मतभेद है तथा बड़े-बड़े ऋषियों के इस संबंध में विवाद चल रहे हैं। उन विवादों का सारांश भी मैं आपको स्पष्ट रूप से बताता हूँ। एक मत है कि ये तत्व छब्बीस हैं, दूसरा कहता है, चुप रहो। कुल मिलाकर सारे तत्त्व पच्चीस ही हैं। तीसरा कहता है, आप लोग यहाँ अपना हठ लेकर क्यों बैठे हैं? सारे तत्त्व सात ही निश्चित हुए हैं। एक कहता है, कैसा आश्चर्य! लोगों को बोलते हुए लाज नहीं लगती। यह बकवास व्यर्थ है। वास्तव में नौ तत्त्व ही निश्चित हुए हैं। उनमें से एक जन हँस कर कहता है, आजकल लोग बहुत बुद्धिमान हो गये हैं। व्यर्थ की बकवास करते हैं। तत्त्व कुल मिलाकर छः ही हैं। कुछ लोग कहते हैं, दूर हटिये, तत्वसंख्या का विचार आपकी समझ में नहीं आता। बड़े लोगों से पूछने पर वे तत्त्वों की संख्या सत्रह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही बताते हैं। एक कहता है विद्वत्ता के बल पर व्यर्थ की मगजमारी क्यों करते हैं? भगवान की लीला किसी की समझ में नहीं आती। सोलह ही तत्त्व हैं। कोई इस संख्या को तेरह तक ही पहुँचाते हैं। एक कहता है, अपना पांडित्य दूर रखिये, मूल तत्त्व चार ही हैं। दूसरा कहता है, सच पूछा जाय तो दो ही तत्त्व हैं। तीसरा कहता है, ये सब वाचाल हैं, इनके मुँह कौन लगे? वास्तव में तत्त्व एक ही है और उसी के अनेक विस्तार हुए हैं। इस प्रकार बड़े-बड़े ऋषियों ने सोच-विचार कर भिन्न-भिन्न मत प्रतिपादित किये हैं। ऐसी स्थिति में तुमने जो तत्त्वनिर्णय बताया उसे ही निश्चित रूप में कैसे स्वीकार किया जाय?

गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि॥ ३॥

तुम निजात्मरूपी परमेश्वर हो। तुम्हें जानने के लिये बड़े-बड़े ऋषियों ने नाना प्रकार के तर्क लड़ा कर तत्त्व विचार बताये हैं। आपने तो एक ही तत्त्व बताया था और बड़े-बड़े ऋषि बताते हैं कि तत्त्व अनेक हैं। मुझे इन तत्त्वों की निश्चित संख्या बताने के लिये आप ही योग्य हैं। इस प्रकार उद्धव ने श्रीकृष्ण से विनती की तो वह प्रसन्न हो गया। बड़े-बड़े ऋषियों ने जिन तत्त्वों के बारे में बताया है वे सब सच ही हैं। सर्वज्ञ ज्ञाता यह बात जानते हैं। इसी सम्बन्ध में श्रीकृष्ण बताते हैं।

श्री भगवानुवाच

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम्॥ ४॥

जिसका जैसा ज्ञान होता है उसी के अनुसार वह तत्त्व बताता रहता है। उद्धव! इसी दृष्टि से ब्राह्मण जो कहते हैं, उसे भी सत्य ही मानना चाहिये। 'अब जब सभी मत सच हैं तो अन्य मतों का खण्डन क्यों किया जाय?' ऐसा मत कहो, उद्धव! उसका हृद्गत मैं तुम्हें बताता हूँ। मेरी माया अघटित बातें कराती हैं। हरिहर को भी उसका आकलन नहीं हो पाता क्योंकि वह काल्पनिक सृष्टि का विस्तार कर त्रिभुवन पर अपनी मोहिनी डालती है। उस माया का हाथ पकड़ महर्षि अपने मत के अनुसार जो भी कुछ बोलते हैं, वह सब वहाँ सच ही होता है। जहाँ रस्सी सर्पाकार में दिखायी देती है, वहाँ उस साँप को सफेद, काला अथवा लाल कैसे कहा जाय? तो जिसे जैसा भ्रम होता है, वैसा वह उसे दिखायी देता है। इस प्रकार आत्मतत्त्व एक ही है और वह निर्गुण तथा निर्विकार है; किन्तु माया के कारण ब्राह्मण अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं। उनका वह मायात्मक भाषण मायामय ही रहता है। अपने मत की पुष्टि में वे तरह-तरह के वाद-विवाद करते हैं। वे विवाद किस प्रकार के होते हैं, वह भी तुम्हें बताता हूँ। इतना कहकर श्रीकृष्ण यथार्थ तत्त्वविचार स्वयं उद्धव को बताने लगे। अगले पाँच श्लोकों का निरूपण, उद्धव को श्रीकृष्ण ने विस्तार से बताया हुआ तत्त्वों का यथार्थ व्याख्यान है।

नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः॥ ५॥

मेरी माया की शक्ति अत्यन्त प्रबल है; उससे प्रचण्ड अभिमान उत्पन्न होता है। उसके कारण विद्वद्जन युक्ति-प्रयुक्ति से वाग्जाल की सृष्टि कर व्यर्थ का वितंडा करने लगते हैं। उनका शास्त्र श्रवणाभिमान प्रचण्ड रहता है। 'तुम्हारी बात असत्य है, जो मैं कहता हूँ वही सच है, मेरे पास ग्रंथाधार है (ऐसा वे कहते हैं)।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सत्त्वरजादि गुणोत्पत्ति के कारण मेरी माया की अनेक शक्तियाँ हैं इसलिये गुण क्षुब्ध हो जाते हैं तो हमारा ही मत सच है' ऐसे अभिमान से वे झगड़ा करने लगते हैं।

यासां व्यतिकरादासीद् विकल्पो गदतां पदम्।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनु शाम्यति॥ ६॥

गुणक्षोभ से होने वाला अभिमान भयानक विकल्प उत्पन्न करता है और अतिवाद कर उस विकल्प की युक्ति का खण्डन करता है। किन्तु इस गुणक्षोभ की बात छोड़ दी जाय तो रज का और तम का ह्रास होकर सत्त्ववृत्ति प्रकाशित होती है। उस समय शम और दम का उत्कर्ष होता है। उस शमदम का प्रभाव ही कुछ ऐसा होता है कि जिस प्रकार सूर्योदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विकल्प के साथ संकल्प और वाद-विवाद अपने आप ही बन्द हो जाते हैं। लेकिन जो सर्वज्ञ ज्ञाता होते हैं, वे नाना प्रकार के तत्त्वों के सम्बन्ध में नाना प्रकार के मतों का विचार कर उनका हृद्गत जान लेते हैं। वह भी तुम्हें बताता हूँ, सुनो।

परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ।
पौर्वापर्यप्रसंख्यानां यथा वक्तुर्विवक्षितम्॥ ७॥

हे प्रियोत्तम पुरुषश्रेष्ठ उद्धव! यथोचित ढंग से गुरु के पास शास्त्रपाठ लेकर आत्मनिष्ठा की साधना करते रहते हैं। तत्त्वों की गणना के सम्बन्ध में जो लेख हैं, उनमें से किसी के अधिक तथा किसी के कम हैं। तत्त्व एक से एक उत्पन्न होते हैं, इसे परस्पर का 'अनुप्रवेश' कहते हैं। उद्धव! एक तत्व से अनेक तत्त्व उत्पन्न होते हैं। कारणरूप से ही कार्य की स्थिति होती है। अन्त में जो जहाँ के होते हैं, वहीं वे प्रवेश करते हैं। तत्त्वों की उपपत्ति ऐसी है। तत्त्वों की जो पूर्वस्थिति होती है, वह कारण और जिससे वह उत्पन्न होता है वह कार्य होता है। तत्त्व का विचार करने वाले पुरुष कार्यकारण का लक्षण इसी प्रकार बताते हैं। इसमें जैसी वक्ता की इच्छा रहती है, उसी प्रकार उन तत्त्वों की संख्या होती है। कार्य और कारण को जो लोग एक ही मानते हैं, उनकी तत्त्वसंख्या कम रहती है। उद्धव! कार्य और कारण एक ही होने पर, गिनते समय उन्हें भिन्न-भिन्न मानते हैं इसलिये तत्त्वों की संख्या सहज ही अधिक हो जाती है। इस प्रकार कार्य और कारण को अलग-अलग गिनने से तत्त्वों की संख्या कम या अधिक होती है। इसी विषय का अधिक विश्लेषण और कार्यकारण के सम्बन्ध में अपना मत श्रीकृष्ण उद्धव को बता रहे हैं।

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः॥ ८॥

वायु आकाश से उत्पन्न हुआ है लेकिन वह आकाश छोड़कर कहीं नहीं गया है। वायु से अग्नि हुआ, उसमें आकाश और वायु दोनों का ही समावेश हो गया। अग्नि से पानी उत्पन्न हुआ, उसमें तीनों का ही समावेश हो गया। जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई, उसमें चारों का समावेश हो गया। इस प्रकार कार्य और कारण ये परस्पर अभिन्न अर्थात् एकरूप रहते हैं। उसी तरह जैसे अलंकार और सुवर्ण अलग दिखायी देने पर भी एक ही रहते हैं। तंतु और वस्त्र जिस प्रकार एकरूप दिखायी देते हैं, उसी प्रकार कार्यकारण भी परस्पर एकरूप दिखाई देते हैं। शक्कर का नारियल या केला बनाने से वे अपने शक्कर के मूल स्वरूप को नहीं छोड़ते। उसी प्रकार कारण का कार्य होने पर भी वे कारण रूप में एक ही रहते हैं। मिट्टी के लोंदे से विविध आकार के मटके बनाने पर भी उन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सब में मिट्टी ही अखण्ड रहती है। उसी प्रकार कारण में कार्य रहता है, कारण से ही कार्य प्रकट होता है। यह परस्परों का अनुप्रवेश है और उनमें एकरूपता हमेशा से ही है। एक कार्य और एक कारण ऐसा भिंन्न-भिन्न मानने पर तत्त्वसंख्या भी कम या अधिक होती है।

पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम्।
यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात्॥ ९॥

तत्त्वों की संख्या कम या अधिक होने में कहने वाले की इच्छा ही कारणीभूत होती है। जिसका जैसा ज्ञान रहता है, जिसे जिस इष्ट मत का अभिमान रहता है, उसके अनुसार वे महर्षि बातें करते रहते हैं। इसके लिये वह जिस मत के अनुसार बोलता है, वह उसके मत के अनुसार ठीक ही रहता है। यह बात मैं सर्वज्ञ श्रीहरि जानता हूँ। इसलिये उनकी बात भी मैं जानता हूँ। अब हे उद्धव! ऋषियों ने जो छब्बीस तत्त्व चुने हैं, उनके बारे में मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो।

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत्॥ १०॥

उसमें प्रकृति, पुरुष महतत्त्व तथा अहंकार और पंच महाभूत, पाँच विषयों के साथ ग्यारह इन्द्रिय; इस प्रकार कुल मिलाकर पच्चीस तत्त्व होते हैं। उसमें यदि जीव को ईश्वर से भिन्न मानें तो ये तत्त्व छब्बीस हो जाते हैं। अनादिकाल से जो अविद्या चलती आ रही है, वही जीव के भिन्नत्त्व का कारण है। इसीलिये उसे देहाभिमान होता है और कर्म का बन्धन दृढ़ हो जाता है। कर्त्तापन के अहंकार से हरकतें करता रहता है, इसलिये पाप-पुण्य का भागी बनता है। विषय का लोभ बढ़ाते-बढ़ाते आत्मस्वरूप को ही भूल जाता हे। बद्धता का बन्धन लग जाने से कर्मपाश नहीं तोड़ पाता। इसलिये उसके उद्धार के लिये ज्ञानदाता सर्वज्ञ ईश्वर की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु "गुरु से यदि ज्ञानप्राप्ति होती है तो इसमें ईश्वर का आभार मानने की क्या आवश्यकता है?" यदि ऐसा कहोगे तो तुम्हें बता दूँ कि ईश्वर के बिना सद्गुरु से भी भेंट नहीं होती। उसी प्रकार सद्गुरु की प्राप्ति होने पर भी, ईश्वर कृपा के बिना उसकी भक्ति सम्भव नहीं होती। सद्गुरु ही ईश्वरमूर्ति है यह बात वेदशास्त्रों को भी मान्य है। गुरु और ईश्वर में जो भिन्नता करता है वह समझो डूब ही गया। सारांश, ईश्वर के अनुग्रह से ही जीव ज्ञानसम्पन्न होता है और हे उद्धव! गुरु ज्ञान का जो स्वरूप बताता है वह ईश्वर की कृपा के बिना मन में अंकित नहीं होता, इसे ध्यान में रखो। जीव नियम्य और ईश्वर नियामक है। जीव अज्ञानी और ईश्वर ज्ञानदाता है। जीव एकदेशीय होने के कारण मर्यादित है और ईश्वर सर्वदा सर्वव्यापक है। जीव हीन, दीन और अज्ञान है, ईश्वर सर्वसमर्थ और सर्वज्ञ है। जीव को कर्म का दृढ़ बन्धन है और ईश्वर कर्म से परे है। इसी कारण से ईश्वर कृपा से जीव को ज्ञान प्राप्त होता है और इसीलिये जीव ईश्वर से भिन्न है। अब शायद तुम यह कहोगे कि कर्माचरण करने से जीव को ज्ञान प्राप्त होगा, लेकिन वैसा कभी नहीं होगा क्योंकि कर्म में जड़ता है। इसीलिये उसमें बन्धन और अज्ञान है। उस कर्म में अत्यन्त बद्धता होती है, यह बात सज्ञान लोग जानते हैं। कर्म स्वभाव से ही जड़ अर्थात् अचेतन रहता है। उसे चेतना प्रदान करने वाला ईश्वर् होता है। इसलिये यदि उसे ईश्वर को अर्पण नहीं किया तो उस कर्म को ज्ञान कौन प्रदान करेगा? कर्म जड़ होने के कारण उसे सत्ता नहीं होती; कर्मक्रिया को जानने वाला ईश्वर होता है इसलिये उसका फल देने वाला और चेतना देने वाला भी ईश्वर ही होता है। ज्ञान ही ईश्वर है और उसी ने इस सृष्टि का विस्तार किया है। उसका संहार करने वाला भी ईश्वर है। जीव को मोक्ष

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अथवा स्वर्ग का फल देने वाला अथवा इहलोक में चलाने वाला सचमुच ईश्वर ही है। इसलिये जीव और ईश्वर को भिन्न-भिन्न मानना अभीष्ट है इस उद्देश्य से ही ब्राह्मणों ने तत्त्वों की संख्या छब्बीस मानी है। अब उनके मतानुसार पच्चीस तत्त्वों का विवरण अर्थात् जीवेश्वर की ऐक्यता को मानना भी तुम्हें बताता हूँ।

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः॥ ११॥

सच पूछो तो जीवेश्वर की एकता सहज और स्वाभाविक है। इसमें अणुमात्र का भी भेद नहीं है, यह बिलकुल निश्चित है। सहज ही दर्पण में देखने पर एक व्यक्ति के दो रूप दिखायी देने लगते हैं लेकिन देखने वाला स्वयं द्विधा नहीं हो जाता। उसी प्रकार तुम जीव और शिव को समझो। अविद्या में प्रतिबिम्बित होने वाला जीव और उसका द्रष्टा सदाशिव है। लेकिन परस्पर एकता का जो उनका मूल स्वभाव है वह नहीं टूटता। दर्पण में जिस प्रकार हम रहते हैं, उसी प्रकार तुम जीव और शिव को समझो। अविद्या में प्रतिबिम्बित होने वाला जीव है और उसका द्रष्टा सदाशिव है। लेकिन परस्पर एकता का जो उनका मूल स्वभाव है वह नहीं टूटता। दर्पण में जिस प्रकार हम रहते हैं, उसी प्रकार जीव रूप में शिव ही रहता है। चैतन्य धर्म से वे दोनों एक जैसे होते हैं। उसका भी लक्षण सुनो। हम जैसी हलचल करते हैं, वैसी ही हलचल प्रतिबिम्ब में भी दिखायी पड़ती है। उसी प्रकार ईश्वर की सत्ता जीव के विचरण के लिये कारणीभूत होती है। जैसा हमारा स्वरूप रहता है, वैसा ही उसका प्रतिबिम्ब रहता है। उसी प्रकार जीव में भी परिपूर्ण ईश्वरत्व भरा हुआ है। जिस प्रकार राख से ढँकने पर भी वह अग्नि के रूप में ही रहता है, उसी प्रकार शिव में जीवत्म आने पर भी वह आत्मस्वरूप से अलग नहीं होता। (आशंका) जीव और शिव ये दोनों यदि एक हैं तो एक मलिन और दूसरा शुद्ध; एक सदोष, एक निर्दोष इस प्रकार भिन्न-भिन्न क्यों दिखायी देते हैं? (समाधान) किसी जलाशय में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखायी देता है तो उसमें प्रतिबिम्ब को जलाशय की गन्दगी भी लगी हुई दिखायी देती है। लेकिन ठीक तरह से देखने पर उस बिम्ब को कहीं भी गन्दगी लगी नहीं दिखायी देती, वह दोनों निर्मल ही रहते हैं। यदि गन्दगी जलाशय में है या दर्पण में है तो उसे अच्छी तरह झाड़-पोंछ कर साफ करना चाहिये। उसी प्रकार सदोष अथवा निर्दोष अविद्या ही है; जीव और शिव सदासर्वदा आत्मस्वरूप से निर्दोष ही रहते हैं। स्फटिक स्वच्छ ही रहता है लेकिन उसे जिस रंग पर रखो, उसी रंग का वह दिखायी देने लगता है। फिर भी वह रंग से अलिप्त ही रहता है। उसी प्रकार जीव स्वाभाविक रूप से अलिप्त ही है। जीव स्वभावतः चिद्स्वरूप है, लेकिन वह जिस गुण से संलग्न रहता है उसी गुण का दिखायी देने लगता है। गुणदोष अथवा पाप-पुण्य जीव से नहीं जुड़ते। मूलबिम्ब के सामर्थ्य से ही प्रतिबिम्ब में गुणों का मिथ्याभास होता है, उसी प्रकार जीव में और शिव में अभिन्नता अवश्य है। इस प्रकार जीव-शिव को एक मान लेने पर एक तत्त्व कम होकर पचीस तत्त्व शेष रहते हैं। (आशंका) अब जीव और शिव में एकता है यह जानना भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। यह एक नया तत्त्व उत्पन्न हो गया। इस ज्ञानतत्त्व को स्वीकार कर लेने से पच्चीस और छब्बीस ये दोनों ही संख्याएँ व्यर्थ हो जाती हैं। लेकिन ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि मूल श्लोक के अन्तिम चरण में (ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः) ज्ञान प्रकृति का गुण है, वह अलग नहीं है, ऐसा निरूपण है। गुण कर्मों के प्रयासों से ही यह प्रपंच अज्ञान से भर गया है और ज्ञान अज्ञान का सत्वांश है। जैसे काँटे से काँटा निकाला जाता है, उसी प्रकार ज्ञान से अज्ञान दूर करना चाहिये। शुद्ध होकर जो सत्वगुण निकलता है, उसे ही मुख्य ज्ञान कहते हैं। उसकी गिनती भी गुणों में ही होती है। उसे अलग तत्त्व नहीं कह सकते। ज्ञान

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदि अलग तत्त्व हुआ होता तो ये दोनों तत्त्व व्यर्थ हो जाते; लेकिन उनकी गिनती गुणों में होने के कारण वे दोनों मत निर्दोष हैं। उद्धव! अब मैं तुम्हें उन तीन गुणों की व्यवस्था बताता हूँ। गुण पूरी तरह अविद्यात्मक ही हैं।

प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।
सत्वं रजस्तम ईति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः॥ १२॥

उत्पत्ति, स्थिति और नाश यह कार्य त्रिगुणों का है। उन तीन गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। आत्मा निर्गुण अर्थात् गुणातीत है। अब तुम पूछोगे कि यदि परमात्मा गुणातीत है तो जीवात्मा गुणों से ग्रस्त है या नहीं? लेकिन यह बात भी गलत है। कैसे? बताता हूँ। चन्द्रमा मूलतः निश्चल रहता है। लेकिन वह बादलों के साथ द्रुतगति से भागता दिखायी देता है। उसी प्रकार गुणस्वभाव के कारण जीवात्मा भी वैसा ही कुछ दिखाई देता है। घट में पानी भरने से घटाकाश गीला नहीं होता, उसी प्रकार जीवात्मा भी गुणों में विचरण करते समय, गुणकर्मों से अलिप्त रहता है। लेकिन जीव 'मैं कर्त्ता हूँ' इस अहंकार के लिये प्रसिद्ध है। उसे 'कर्मातीत' कैसे कहा जाय? इसी का स्पष्टीकरण श्रीकृष्ण करते हैं।

सत्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च॥ १३॥

सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से कर्म होता है और तम में आलस्ययुक्त मोह और अज्ञान का वास रहता है। सत्त्वादिक जो तीनों गुण हैं वे केवल प्रकृति के हैं, इसीलिये वे स्वतंत्र नहीं हैं। काल गुणों का क्षोभक है। वह पुरुष का अवलोक अर्थात् ईक्षण या देखना है। पुरुष और काल इन दोनों में नाम का ही भेद है, स्वभावतः दोनों एक ही हैं और माया का स्वभावसिद्ध स्फुरण होकर जो पहला निर्माण कार्य होता है उसे 'महतत्त्व' कहते हैं और उसी का नाम 'प्रधान-सूत्र' भी है। इसीलिये उसे भी प्रकृति से भिन्नत्व नहीं आता ऐसा तत्व के विचारकों का मानना है। पहले बताये गये अट्ठाईस तत्व यह भगवान का भी मत है। इसी विषय का अगले ढाई श्लोकों में प्रतिपादन करते हैं।

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहंकारो नभोऽनिलः।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्वान्युक्तानि मे नव॥ १४॥

उन अट्ठाईस में प्रकृति, पुरुष, महतत्त्व, पंचमहाभूत और अहंकार ये नौ तत्त्व हैं। शेष का भी माहात्म्य सुनो।

श्रोत्रं त्वग् दर्शनं घ्राणा जिह्वेति ज्ञानशक्तयः।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिकर्माण्यङ्गोभयं मनः॥ १५॥

मुख्य ज्ञानेन्द्रिय पाँच, दूसरे पाँच कर्मेन्द्रिय है। कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियों के वश में होते हैं। उनका अपना चलन नहीं है। अन्धा आदमी अपने पैरों से चल सकता है, अन्धा आदमी लंगड़े आदमी को कन्धे पर बिठा ले तो उसे देखने वाले के अनुसार चलना पड़ता है। उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का समन्वय बना हुआ है। इसलिये श्रीकृष्ण ने ज्ञानेन्द्रिय को ही प्रमुखता दी है। लेकिन दोनों इन्द्रियों का चालक एक मन ही है। इसलिये श्रीकृष्ण ने इन्द्रिय ग्यारह बताये। उन इन्द्रियों के विषयों का निरूपण श्रीकृष्ण स्वयं ही कर रहे हैं। मुख्य विषय पाँच हैं तथा उनका साधन और क्रिया आदि भगवान बताते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपंचेत्यर्थजातयः।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः॥ १६॥

शब्द-स्पर्श-रूप-गंध ये पाँच विषय हैं (ये ज्ञानेन्द्रिय गम्य हैं)। गमन-भाषण आदि क्रियाचरण उस विषयों के साधन हैं। दृष्टि रूपविषय दिखलाती है; और पैर उसकी ओर दौड़ते हुए आते हैं। रस विषय और स्पर्शसुख लेने के लिये हाथ आगे बढ़ते हैं। कुल मिलाकर दोनों इन्द्रियों में विषय मुख्य रूप से पाँच ही हैं। उनकी संख्या अधिक नहीं ही होती ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा। नौ और ग्यारह तत्त्वों का लक्षण पूर्व में दो श्लोकों में बता ही दिया है। इन श्लोकों के अनुसार विषय पाँच ही हैं। केवल ज्ञानेन्द्रिय विषयों का उपभोग नहीं ले पाते अथवा केवल कर्मेन्द्रियों को भी वह नहीं मिल पाता। दोनों का संयोग होता है, तभी भोग सम्भव होता है। लेकिन विषय केवल पाँच हैं। इन्हीं पाँच विषयों ने चतुर्दश भुवनों को व्याप लिया है। इनका स्वाद चटख और प्राणघातक होते हुए भी उन्होंने सुरनरों का मन मोह लिया है। ठग लोग जिस प्रकार साथ रहकर मौका मिलते ही प्राण ले लेते हैं, उसी प्रकार विषयसंग जीव को बाँध कर नरक में डालता है। नरक में दुःख भोगते हैं लेकिन वहाँ भी विषयासक्ति पीछा नहीं छोड़ती। विषय जैसा विश्वासघाती त्रिभुवन में भी नहीं मिलेगा। वैसे ये विषय पाँच ही हैं, लेकिन वे महाभयंकर हैं। उनके कारण ब्रह्मदेव भी संकट में पड़ जाते हैं, फिर औरों की क्या बिसात है? विषयों का माधुर्य विष से भी भयंकर है। विष से एक ही बार मृत्यु आती है लेकिन विषय से बार-बार मृत्यु का आभास होता है। पुनः जन्म और पुनः मृत्यु, यह सब विषयों के कारण ही होता है। जन्म-मरणरूपी संसार का जोर विषय के अधीन ही है। जब विषयों का, अर्थात् विषयासक्ति का त्याग होता है तभी संसाररूपी रोग उखड़ कर गिर पड़ता है। जिसे विषयों के भोग अच्छे नहीं लगते, उसका मैं श्रीकृष्ण दास बनकर रहता हूँ। इस प्रकार ये पाँच विषय तुम्हें बतलाये। अब तीन गुणों के भी लक्षण बताता हूँ। उसे भी अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो। उत्पत्ति, स्थिति और लय त्रिगुणों के कारण ही होते हैं। इसलिये श्रीकृष्ण इन तीनों गुणों को स्वीकार करते हैं। ये तीनों गुण मिलाकर अट्ठाईस तत्त्व उन्होंने पूरे किये। उद्धव! यही श्रीकृष्ण के मत का सच्चा लक्षण है। त्रिगुणों के सिवा प्रकृति को भी सृष्टि करने की शक्ति नहीं है। गुणों के द्वार से ही उत्पत्ति, स्थिति और अन्त में संहार वह कार्य करती है। इसी अर्थ से कार्यकारण का लक्षण और यथार्थ विभाग श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं।

सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी।
सत्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते॥ १७॥

प्रकृति से ही समस्त विकार, त्रिगुणों की सारी लीलायें, सात कारण और सोलह कार्य उत्पन्न होते हैं। उनके विभागों के बारे में भी सुनो। महत्, अहंकार पंचमहाभूत ये सात 'कारण' हैं और पंचविषय युक्त ग्यारह इन्द्रियों को मिलाकर सोलह 'कार्य' समझने चाहिये। इस प्रकार की यह प्रवृत्ति रजोगुण को साथ लेकर कार्यकारण की युक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति करती है। उत्पन्न की हुई सृष्टि का सत्त्वगुण से पालन करती है लेकिन यदि पुरुष उसकी ओर न देखे तो प्रकृति से भी उत्पत्ति, स्थिति और संहार नहीं होता। उसके कारण भी सुनो। हाथ पैर हिलाये-डुलाये बिना जिस प्रकार कछुवी केवल अपनी दृष्टि से ही अपने बच्चों का पालन करती है, उसी प्रकार पुरुष की दृष्टि रहती है अथवा जिस प्रकार सूर्य की किरणों से सूर्यकांत मणि में से अग्नि निकलता है और उसके योग से ही ब्राह्मण अपने स्वधर्म कर्म से यज्ञ यागादिक बड़े-बड़े होम करते हैं। उद्धव! उसी प्रकार यह भी लक्षण है। इसी रीति से कार्य और कारण उत्पन्न होकर स्वधर्माचरण चलता है। प्रकृति के अनुसार चलते हुए

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्राह्मण अपना आचरण करते रहते हैं और इसी से उच्च और नीच कर्म की वृद्धि होती है। इस प्रकार पुरुष का ईक्षण प्राप्त कर प्रकृति ही उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने का सामर्थ्य प्राप्त करती है। परदे पर दीपक के प्रकाश की सहायता से दिखाये जाने वाले छायाचित्रण में विचित्र सैन्य दिखायी देने में जिस प्रकार दीपक ही कारणीभूत होता है, उसी प्रकार प्रकृति के कार्य में पुरुष का ईक्षण ही कारणीभूत होता है। संसार का आदिकारण प्रकृति है और प्रकृति पुरुष से प्रकाशित होती है इसलिये पुरुष महाकारण है। प्रकृति दृश्य और पुरुष अदृष्य है; यह विकारी है, वह अविकारी है; यह गुणयुक्त है और वह स्वयं स्वतःसिद्ध गुणातीत है। प्रकृति स्वभाव से चंचल और पुरुष अव्यय होने के कारण अचल है। प्रकृति औपाधिक होने के कारण बद्ध है; और पुरुष बन्धन से मुक्त है। प्रकृति स्वभावतः शून्य अर्थात् जड़ है और पुरुष केवल चैतन्यघन है। प्रकृति का अंत है और पुरुष अनंत है। प्रकृति आनन्दरहित होने के कारण, उसमें विषयों का छंद है; पुरुष पूर्णरूप से परमानन्द स्वरूप होने के कारण विषय का मूल ही छेदने में समर्थ है। इस प्रकार प्रकृति का और पुरुष का भिन्न-भिन्न रूप मैंने तुम्हें बताया। परमार्थ की मुख्य पहचान यही है कि पुरुष प्रकृति से भिन्न है। यही स्पष्ट करने के लिये नाना मतों के वाद-प्रतिवाद हुए हैं। उन मतों का शुद्ध प्रबोध तुम्हें बताता हूँ। सुनो।

व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात्॥ १८॥

पुरुष का ईक्षण प्राप्त होने पर प्रकृति के सामर्थ्य ने महतत्त्व-अहंकारादि पदार्थ एकत्र होकर ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की। पुरुष के अवलोकन से ही प्रकृति को वीर्य प्राप्ति होकर वह ब्रह्माण्ड को धारण करती है; इसीलिये उद्धव! इसे 'धातु' कहते हैं। यह मैंने तुम्हें साधारण लक्षण बताया; लेकिन अनेक प्रकार के मतवादी हैं, यह उसका विशेष लक्षण भी बतलाते हैं।

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्च खादयः।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः॥ १९॥

पचीस और छब्बीस तत्त्वों की संख्या का निरूपण मैंने तुम्हें पहले बतलाया है; अब सात तत्त्वों का लक्षण भी तुम्हें यथार्थ रीति से बताता हूँ। पंचमहाभूत, जीव और शिव यह सात तत्त्वों का स्वरूप है। प्राणों का और इन्द्रियों का समुदाय भी इनसे ही उत्पन्न होता है। महाभूत अचेतन हैं। उन्हें चेतना देने वाला जीव है। उसका भी परिपूर्ण द्रष्टा ईश्वर यह सातवाँ है। माया, महतत्त्व और अहंकार यहाँ हैं। इनसे ही सूक्ष्म कारण उत्पन्न होते हैं; और उनसे ही स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। कार्यों में कारण सबाह्य व्याप लेता है। मन इन्द्रियों का भी इसमें समावेश होता है। इस प्रकार इस मत ने पंचमहाभूत निश्चित किये हैं। उन सबको चेतना देने वाला जीव है और उन सबका नियंता सदाशिव है। उद्धव! इस प्रकार यह सात तत्त्वों का समुदाय स्पष्ट हो चुका है। अब छह तत्त्वों का जो पक्ष है उसका निरूपण करता हूँ। उस सम्बन्ध में ऋषियों का क्या कहना है वह भी बताता हूँ।

षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान्।
तैर्युक्त आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत्॥ २०॥

पंचमहाभूत का निर्माण कर पुरुष उसी में प्रवेश करता है, इसलिये उसे छठाँ तत्त्व कहते हैं। अब जिनके मतानुसार चार ही तत्त्व हैं, उनका भी चमत्कार सुनो। वह जिस प्रत्यक्ष साकार पदार्थ को देखता है, उसी को वह तत्त्व समझता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु॥ २१॥

अग्नि, जल और पृथ्वी आँखों को प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं वही सच्चे तत्त्व हैं; ऐसा वे मतवादी मानते हैं और इन स्थूलों को चेतना देने वाले आत्मा को वे चौथा मानते हैं। उन तीनों के बिना सृष्टि को कभी साकारता प्राप्त नहीं होगी। सृष्टि को मुख्य रूप से इनके ही कारण नाम, रूप, क्रिया और कारण प्राप्त होते हैं। इसलिये तीन ही भूत प्रामाणिक हैं, ऐसा उनका मानना है। इस प्रकार तीन भूत और आत्मा चौथा इस प्रकार चार तत्त्वों की व्यवस्था हो गयी। अब सत्रह तत्त्वों के प्रकार यथार्थ रीति से बताता हूँ, सुनो।

संख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च।
पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः॥ २२॥

पाँच विषय, पाँच महाभूत, पाँच इन्द्रिय और मन और आत्मा मिलाकर सत्रह तत्त्व निश्चित हुए हैं। उसी प्रकार आगे बताये जाने वाले सोलह तत्त्वों को भी ध्यान में रखो। वहीं तेरह तत्त्वों का लक्षण भी भगवान स्वयं बतायेंगे।

तद्वत् षोडशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते।
भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश॥ २३॥

सत्रह तत्त्वों का पूरा निरूपण तुम्हें बताया। उनमें मन और आत्मा एक ही हैं। उनका लक्षण सुनो। कथा सुनाते समय जिस प्रकार हाथ अपने आप हिलते हैं, उसी प्रकार मन की हलचल भी अपने आप होती रहती है। राजा सिंहासन पर बैठता है, तो राजा कहलाता है और जब वसंत ऋतु में क्रीडा के लिये उद्यत होता है तो क्या वह राजा नहीं रह जाता? समुद्र में जब ज्वार आता है तो उस समय भी वह समुद्र ही रहता है और उसका पानी जब शान्त रहता है, उस समय भी वह समुद्र ही रहता है। उसी प्रकार मन के रूप में वह चंचल हो अथवा आत्मस्वरूप से निश्चल हो तो भी दोनों में जो परमात्मा है उसका स्वरूप नहीं बदलता। इसलिये मन का जो स्वरूप है वह आत्मसाक्षात्कार के बिना किसी की समझ में नहीं आता। यही मन का प्रमुख लक्षण है। मन और आत्मा एक हो जाने के कारण, सत्रह में से एक कम हो जाने के कारण जो सोलह तत्त्व बचते हैं वही सच्चे तत्त्व हैं। उसी प्रकार पाँच इन्द्रिय, पाँच महाभूत और मन को मिलाकर ग्यारह और उसमें जीव और शिव को मिलाकर सारे तत्त्व तेरह निश्चित किये गये हैं। उद्धव! तत्त्वों के सम्बन्ध में और भी कई मत हैं। उनका निर्णय भी तुम्हें बताता हूँ।

एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च।
अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ॥ २४॥

जहाँ ग्यारह ही तत्त्व बताये गये हैं वहाँ पाँच इन्द्रिय, पाँच महाभूत और जीव, शिव तथा मन को एक ही रूप मान कर ग्यारह तत्त्व माने गये हैं। सुगन्ध, मृदुता और पीतवर्ण ये तीनों गुण चम्पा के फूल में एकत्र मिलते हैं या सुवास, मिठास और उत्तम रंग ये तीन गुण जिस प्रकार आम में एकत्र रहते हैं, अथवा जिस प्रकार सुवर्ण के मणि सुवर्ण की ही तार में गुँथे रहते हैं, उसी प्रकार जीव, शिव और मन ये तीनों एक रूप ही हैं। पाँच इन्द्रिय, पाँच महाभूत और जीव, शिव और मन मिलाकर एक, इस प्रकार ग्यारह तत्त्व इसी उद्देश्य से निश्चित

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किये गये हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार और अविकृति ये पंच महाभूत, इन नौ में सभी विकार समुदायों का अंतर्भाव होता है। उसी प्रकार, उद्धव! ऋषिवर्यों के तत्वसम्बन्धी विचारों के अनुसार यह संख्या नौ है। उसी प्रकार कुछ आत्मज्ञानी प्रकृति और पुरुष को दो ही तत्त्व मानते हैं क्योंकि इनके अतिरिक्त कोई तीसरा तत्त्व जन में या वन में कहीं दिखायी नहीं देता। इससे भी अधिक जिनका निश्चय दृढ़ है वे कहते हैं कि तत्त्व एक ही है। वही एक तत्त्व अनेक रूपों में भासित होता है। वास्तव में देखा जाय तो सब में एक ही तत्त्व भरा हुआ है। जिस प्रकार सुवर्ण के अलंकार में मूल सुवर्ण तो होता ही है, उसी प्रकार अनेक में ऐक्य रूप से सचमुच एक ही तत्त्व होता है। जिस प्रकार गन्ने की मिठास गुड़ और चीनी में बढ़ती मात्रा में रहती है, उसी प्रकार आत्म तत्त्व के सारे तत्व प्रकार हैं। उस आत्मतत्व को जानने के लिये श्रेष्ठ ऋषियों के अनेक मत हैं। उनमें से बहुत ही कम मैंने यहाँ बतलाये हैं अन्यथा ग्रन्थों में उनकी संख्या असंख्य है।

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम्।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमतत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम्॥ २५॥

लेकिन उनमें जो सर्वज्ञ और ज्ञानी होते हैं, वे मन में अनेक मतों का विचार कर तथा तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप ध्यान में रखकर उनके विभाग करना जानते हैं। आत्मतत्त्व जानने के लिये तत्त्वों का विचार करते समय तत्त्वों की संख्या कम या अधिक है यह कहने में दोष नहीं लगता है। वास्तव में देखा जाय तो विकारों के सम्बन्ध में ज्ञाता को बोलने लायक कुछ भी नहीं रहता क्योंकि विकार प्रकृति में रहते हैं। आत्मा शुद्ध अविकारी ही है। प्रकृति से आत्मा भिन्न है। इसलिये वह अविकारी ही है, यह ध्यान में रखो। सारे विकार प्रकृति में ही हैं, यही तत्त्वों का प्रमुख लक्षण है। इसलिये हे उद्धव! प्रकृति से पुरुष की भिन्नता जानने के लिये हमें तत्त्वों का विचार करना चाहिये। कृष्ण का यह भाषण सुनकर उद्धव को चमत्कार लगा और उसने विचार किया क्यों न प्रकृति और पुरुष की भिन्नता के बारे में भगवान से ही पूछा जाय?

उद्धव उवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ।
अन्योन्यापाश्रयात्कृष्ण दृश्यते नभिदा तयोः॥ २६॥

प्रकृति और पुरुष भिन्न-भिन्न क्यों हैं? यह गहन प्रश्न उद्धव ने भगवान से साढ़े तीन श्लोकों में पूछा। उद्धव मन में सोचने लगा कि यदि प्रकृति से पुरुष भिन्न है तो फिर इन दोनों से अलग श्रीकृष्ण दोनों का ही साक्षी है। इसलिये उसने कहा, हे श्रेष्ठ श्रीकृष्ण देवाधिदेव! लक्ष्मीपति! इसका अर्थ यह है कि प्रकृति और पुरुष के व्यापार अलग ढंग से देखने वाले तुम एक निराले ही साक्षी हो क्योंकि प्रकृति और पुरुष ये दोनों भिन्न ही हैं। एक जड़ है और एक चेतन है, यह मैं भी समझता हूँ। लेकिन वे अलग क्यों हैं, यह समझ में नहीं आता। जिस प्रकार लौह का तप्त गोला बिलकुल अग्नि का सा दिखायी देता है, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का समन्वय ऐक्य रूप में बिलकुल दृढ़ हुआ रहता है। जिस प्रकार बीज को पेट में रखकर कणरहित अनाज का छिलका बढ़ता रहता है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के साथ समरस हो जाती है। अथवा पेट में उत्तम गरी रख कर नीरस और कनेर करोंटी बड़ी होती है। उसी प्रकार पुरुष के बल पर प्रकृति भी बड़ी होकर विशाल सृष्टि उत्पन्न करती है। दाने के बिना जिस प्रकार छिलका बड़ा नहीं होता, उसी प्रकार पुरुष के बिना प्रकृति भी दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः प्रकृति-पुरुष की यह पहेली तुम्हारे सिवा कोई हल नहीं कर सकता। सीप के शरीर पर जिस प्रकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चाँदी की कांति है उसी प्रकार संसार में पुरुष के संग से प्रकृति का भी भास होता है। प्रखर सूर्य किरणों के योग से जिस प्रकार मृगजल की बड़ी नदी का भास होता है, उसी प्रकार पुरुष के योग से सचमुच प्रकृति का भास होता है। जिस प्रकार आकाश की नीलिमा आकाश से भिन्न नहीं दिखायी देती, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुषोत्तम में हमें भिन्नता नहीं दिखायी देती। देह का जो देहपन है वही प्रकृति की बाध्यता है। लेकिन इस देह से अलग पुरुष का भान दिखायी ही नहीं देता। 'मैं' के अनुभव को आत्मा कहते हैं, लेकिन वह स्फूर्ति भी देह के आकार के कारण होती है। हे गोविन्द! देह से अलग आत्मा की प्रतीति वास्तव में नहीं होती। हे गोविन्द! यदि आँखों के बिना दृष्टि सम्भव हो, बाती के बिना लौ जले तभी देह के बिना आत्मा का स्फुरण होगा। गोविन्द! जिह्वा के बिना यदि स्वाद मालूम हो सके, कान के बिना शब्द सुनायी दे, तभी देह के बिना आत्मा का बोध स्पष्ट हो सकेगा। हे गोविन्द! यदि कोटे के बिना कटहल मिले अथवा छिलके के बिना गन्ना बढ़े तभी देह के बिना आत्मा मिलेगा। ब्रह्मप्राप्ति का कारण नरदेह है, यह आत्मज्ञान का मर्म आपही ने बताया और अन्त में देह के बिना आत्मदर्शन होता है यह भी आपही प्रतिपादित करते हैं। आत्मा के बिना प्रकृति किसी भी प्रकार से व्यक्त स्वरूप में नहीं आती। स्वरूप के बिना छाया अलग किस प्रकार दिखायी देगी? मिठास से यदि शक्कर अलग की जा सके, सुगन्ध से कपूर अलग हो जाये तभी आत्मा के बिना प्रकृति दिखायी देगी। माधुर्य के बिना यदि ईख बढ़े, दाने के बिना छिलका बढ़े तभी आत्मा के बिना मूर्तिमंत माया भी व्यवस्थित ढंग से आकार प्राप्त करेगी। आत्मा का स्वरूप प्रकृति के लक्षणों से ही मालूम होता है और आत्मा ही प्रकृति को प्रकाशित करता है। इनका संयोग अनादि काल से चलता चला आ रहा है। फिर उनका बोध अलग-अलग कैसे होगा? प्रकृति से भिन्न आत्मा हमें कहीं नहीं दिखायी देता। इसी अर्थ की विनती उद्धव स्वयं कर रहा है।

प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथाऽऽत्मनि।
एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि।
छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणैः॥ २७॥

हे कमलनाभ! हे कमलवदन! हे कमलधाम! हे कमलधरा! हे कमलिनीनिवासा! हे कमलनयन श्रीकृष्ण! प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध अत्यन्त कठिन है। उनका स्पष्ट निर्णय योगियों की समझ में भी नहीं आता। इसी सन्देश का विराट वृक्ष हृदय में बढ़ रहा है। हृदय में संशय की जड़ें जमीं, जो प्रकृतिरूपी भूमि पर पड़ीं, उस पर विकल्प का पानी गिरा। उसके बल पर संशयरूपी वृक्ष बढ़ा और उसे अहंकाररूपी फल सर्वकाल लगने लगे। उस वृक्ष के फल खाये बिना इस जीव को कभी चैन नहीं पड़ता। इससे सन्देह अधिक बलवान होता है और चित्त को कभी विश्राम नहीं मिलता। अतः ऐसे वृक्ष को आप कृपया तोड़ डालें। ज्ञान के तीन प्रखर बाण छोड़कर तुम स्वयं उसकी जड़ें और पत्ते उखाड़ दो। हे गोविन्द! कितने ही योग साधन और याग किये, कितने ही शास्त्र पढ़े, अथवा धर्म कर्म के कितने ही प्रयास किये लेकिन इस वृक्ष का एक पत्ता भी नहीं टूटता यह बहुत बड़ा संकट है। उस वृक्ष को तोड़ते-तोड़ते ब्रह्मदेव भी सन्देह में पड़ गया, इसीलिये तुमने हंसगीत कहकर अपने सत्पुत्रों का उद्धार किया। जब साक्षात ब्रह्मदेव की यह दशा हुई तो औरों की क्या बिसात? इसलिये इस वृक्ष को तोड़ने वाला, तुम्हारे सिवा और कोई नहीं है। इसे यदि ऊपर से ही तोड़ा जाय तो वासना की जड़ें शेष रहती हैं और फिर वह पहले से भी अधिक जोश से बढ़कर उसका विस्तार बहुत ही बड़ा होता है। इसलिये इसका मूल गड्ढ़ा ही उखाड़ कर फेंकने वाले एक तुम ही हो। तुम्हारे सिवा कोई ज्ञाता इस सन्देह का नाश करने वाला नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। अब तुम कहोगे कि सन्देह का उद्धव तो हृदय में होता है और वहाँ तक शस्त्र भी नहीं पहुँचता तो मैं उसे कैसे छेद पाऊँगा? उसके बारे में भी बताता हूँ। तुम्हारे ही शब्दरूपी तेज से दीप्त तुम्हारा ज्ञानस्वरूप चक्र बड़ा अलौकिक है। हे श्रीकृष्ण! सन्देह का समूल छेदन करने वाला तुम्हारा एक वचन ही है। तुम्हारा भाषण ज्ञानस्वरूप होने के कारण तुम्हारे कृपावलोकन मात्र से ही सारे संदेह का निर्दलन हो जाता है। तो हे मुकुंद! तुम मुझे सन्देह की इस पीड़ा से मुक्त करो। उद्धव के इस भाषण पर गोपियों के आराध्य श्रीकृष्ण ने 'मैं ही हूँ।' ऐसा कहने का क्या कारण है? तो उसका उद्देश्य भी सुनो।

त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्रशक्तितः।
त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापरः॥ २८॥

तुम्हारी माया शक्ति अतर्क्य है। इसलिये वह आनन्द की जितनी भी ऊर्मियाँ आती हैं, उन्हें रोककर विषय की दृढ़तर आसक्ति लगा देती है। इससे जीव अज्ञानी हो जाते हैं। विषय का चिन्तन करते हुए जीव मन के अधीन होकर रह जाता है और वह मन उसे दुर्बल, दीन-हीन, कंजूस, जड़ और मूढ़ बना देता है। ऐसे सम्पूर्ण अज्ञानी जीव, केवल तुम्हारी कृपा से ही ज्ञानसम्पन्न हुए हैं। यह तुम्हारी ही परिपूर्ण कृपा है। हे श्रीकृष्ण! जब तुम्हारी पूर्ण कृपा होती है तो जीव तुम्हारे ही सामर्थ्य से माया का निर्दलन कर पूर्ण ब्रह्मत्व को प्राप्त करते हैं। अब शायद तुम यह कहोगे कि मेरी गाँठ में न ज्ञान है और न अज्ञान ही है। फिर भी तुम स्वयं ही पूर्ण ज्ञानदाता बन गये हो। उसके सम्बन्ध में सविस्तार सुनो। ब्रह्मदेव, सूर्य, सनत्कुमार, नारद, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि तथा प्रसंगानुसार अर्जुन को भी तुमने उपदेश किया है। तुम ऐसे ज्ञानदाता हो। तुम कहोगे कि संसार में ज्ञानसम्पन्न लोग अनेक हैं, उनसे पूछ कर ज्ञान प्राप्त किया जाय! लेकिन तुम्हारे सिवा माया पर नियंत्रण किसी और से नहीं होगा। माया की उत्पत्ति, स्थिति और माया के निर्द्वलन के बारे में जानने वाले त्रिभुवन में एक तुम ही हो। इसलिये हे श्रीपति! मुझ पर कृपा करो। इस प्रकार उद्धव ने विनती के रूप में श्रीकृष्ण से प्रार्थना की। अब श्रीकृष्ण उद्धव को प्रकृतिपुरुष के विभाग विशद करके बतायेंगे। सूर्य से जिस प्रकार मृगजल उत्पन्न होता है, अथवा आकाश से बादल उत्पन्न होता है, अथवा काँच की फर्श पर जल का भास होता है, उसी प्रकार पुरुष से यह महाबली प्रकृति उत्पन्न होती है। इस प्रकार श्रीकृष्ण स्वयं प्रकृति-पुरुष का निरूपण समूल बता रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः॥ २९॥

देखो! प्रकृति और पुरुष ये दोनों निरन्तर भिन्न ही हैं। जिस प्रकार दिन और रात में एक का लोप होने पर ही दूसरे का उदय होता है, दिन अस्त होते ही परिपूर्ण अन्धकार से युक्त रात्रि नक्षत्र और समस्त ग्रहों के साथ बड़े उत्साह से प्रकट होती है। उसी प्रकार पुरुष का भान लुप्त होते ही प्रकृति कार्यों के साथ सत्त्वादि गुण लेकर और ज्ञान-अज्ञान से परिपूर्ण होकर प्रबल होती है। इसमें प्रमुख रूप से देह का आकार ही प्रकृति का बड़ा किला है। उसमें देहरूप अहंकाररूपी योद्धा ही किलेदार है। वही प्रकृति का सखा और मित्र है। प्रकृति उसी पर सर्वाधिक विश्वास करती है। किले के ओर से लड़ने वाला वही एक है। वहाँ की सारी जिम्मेदारी वह अपने माथे पर लेता है। इसीलिये उस अभिमान ने ही स्वयं होकर प्रकृति को अभय देकर और विकारों की सारी सामग्री एकत्र कर महाभयानक किले पर अधिकार कर लिया है। हे नरपुंगव उद्धव! सुनो। अपनी प्रकृति की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भक्ति से यही अभिमान देहरूप किले में प्रबल होकर सरजोर बन जाता है। देहरूप किले में तीन गुण और अहंकारादि विकार की सामग्री भरी रहती है। यह वास्तविक प्रकृति है जो देहाकार दिखाई देने लगती है। आकाश में आभासित गंधर्व नगर में अट्टालिकाएँ, शिखर, जंगल, बाग आदि दिखायी देते हैं, उसी प्रकार प्रकृति स्वयं नाना रूपों में भासमान होती है। मृगजल की नदी दूर से बड़े प्रवाह के रूप में बहती दिखायी देती है, उसी प्रकार प्रकृति के नाना प्रकारों का आभास होता है। इस प्रकार प्रकृति का यह किला अत्यन्त भयंकर है और उसमें अहंकार कैसे-कैसे विकारों की सामग्री भर देता है, उसके सम्बन्ध में बताता हूँ।

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेकमथाधिदैवमधिभूतमन्यत्॥ ३०॥

मेरी माया ही स्वयं स्वरूप से त्रिगुणात्मक हो गयी है। लेकिन वे तीनों गुण, अभिमान ने अपने अधिकार में रखे हैं। उसी देहरूपी किले के सामने उन तीन गुणों की खाई खन कर तथा त्रिपुटी की सुव्यवस्थित रचना कर अभिमान भयानक मारकाट करता रहता है। उस क्ले की सुरक्षा त्रिपुटी करती है। उस त्रिपुटी का मूल स्वरूप भी अब मैं तुम्हें बताता हूँ। हे बुद्धिमान उद्धव! उस देहरूपी किले के तीन मार्ग हैं उसमें दो चोर रास्ते हैं और एक सरल रास्ता है। उन सभी रास्तों के बारे में मैं तुम्हें बताता हूँ। उस मार्ग में दस स्थानों पर सेना खड़ी रहती है और अन्त में युद्ध करने वाला सैनिक खड़ा निरीक्षण करता रहता है। वे मार्ग चारों ओर से अवरुद्ध रहते हैं और तीन मार्गों पर रक्षक रहते हैं। फिर ऐसी जगह अत्यन्त कष्ट से जाने की ज्ञानी को क्या आवश्यकता है? देहरूपी किले पर कठोर सामग्री की व्यवस्था है। कार्य, कारण और कर्त्तव्यता; कर्म, क्रिया और अहं यह कर्त्ता; ध्येय ध्यान और विषयों का ध्यान करने वाला; इस त्रिपुटी से यह किला बिलकुल सुदृढ़ है और उसमें भोग्य, भोग और भोक्ता; कर्म, कार्य और कर्त्ता; यह अभिमान प्रवृत्ति की सहमति से वहाँ अधिकार जमा कर बैठा हुआ है। वह चोरद्वार से देखता रहता है और काम क्रोध की खिड़की खोल कर एकाएक हमला बोल देता है। तब सारे लोग थरथर काँपने लगते हैं। उनकी दहशत से तपस्वी लोग इधर-उधर भागने लगते हैं। लंगोटी छोड़ कर दिगम्बर घूमने वालों को भी क्रोध थर-थर कँपा देता है। लोभरूपी तोपखाना शुरू होकर गोलों की आवाज होने लगती है, जिससे चारों ओर अज्ञान का धुआँ फैलने लगता है। महामोह के धुंध से दिशाएँ भर जाती हैं और कहीं कुछ दिखायी नहीं देता। इस किले के चारों ओर नौ बारादरी रहती हैं, उन्हें दाग कर विषय गोलाबारी करते रहते हैं। देहाभिमान का मुख्य चालक है, मन। उसकी मार महाभयंकर है। वह किसी भी तरह पीछे नहीं हटता और किले के बंदोबस्त अपने हाथ में रखता है। इसलिये जब शत्रु भी सीढ़ी चढ़कर शीघ्रता से आगे बढ़ते हैं तो उस दसवें द्वार का मार्ग भी किवाड़ लगाकर बन्द किया रहता है। इस प्रकार मन स्वयं ही इस देहरूपी किले की सुरक्षा करता है और उसका अंतर्बाह्य संरक्षण करने के लिये स्वयं ही नीड़ बनाता है। काम का हाथ पकड़ कर वही मन शत्रु से मुकाबला करता है और उसकी अगली पंक्ति के वीरों को धराशायी कर देता है। इस प्रकार मन की मार अत्यन्त कठिन है। उसने अपने त्रिविध ताप से लोगों को जर्जर कर हाय-हाय करने के लिये बाध्य कर दिया है। देवताओं से जो ताप होता है उसे आधिदैविक, मन से जो ताप होता है उसे आध्यात्मिक और पंचमहाभूतों से जो ताप होता है, वह भौतिक, इस प्रकार ताप तीन प्रकार के होते हैं। महाभूत सत्त्वगुण से अंत:करण, रजोगुण से इन्द्रिय तथा तमोगुण से विषयभाव की उत्पत्ति करते हैं, यह ध्यान में रखो। इसके अतिरिक्त इन तीन गुणों से नाना विकार उत्पन्न होते हैं, उसका कारण यह प्रकृति ही है। इस प्रकार इस किले पर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पूरी तैयारी है और इसी कारण यह प्रपंच इतना फला फूला है। संकल्परूप महापर्जन्य के जल से तथा वासनारूपी उदक से यहाँ की टंकियाँ भरी हुई हैं इसलिये किले में रहने वाले लोग यही पानी पीकर संसार के सुख-दुःख में विहार करते हैं। अब इस किले के नौ द्वारों में से किसमें आधिदैव, आधिभूत और अध्यात्म है वह भी बताता हूँ। किस द्वार में कौन-सा यंत्र रहता है, उसका चालक कौन रहता है, उसकी रचना कैसी है और उससे विषयों का प्रहार कैसे होता है, यह भी सुनो।

दृग्रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः॥ ३१॥

नेत्रेन्द्रिय एक बहुत बड़ी तोप है। वह स्त्रीस्वरूप की मार करती है और उस प्रहार से मर्मस्थान का भेद हो जाने के कारण कोटि-कोटि सुरनर घायल हो जाते हैं। नेत्र गोल इन्द्रिय शरीर में और इस इन्द्रिय की अधिष्ठात्री देवता सूर्य है इसलिये वह देखे हुए स्वरूप को अपने में अंकित करती है। वही सच्चा अध्यात्म है। नीला, पीला आदि जो स्वरूप का आभास दृष्टि को होता है, वह दृष्टि को दृष्य का भान होना ही वास्तविक अधिभूत है। अधिदैव सूर्य सिद्ध है, दृष्टि के सामने अधिभूत रखा हुआ है और शरीर में नेत्रगोल भी हैं, लेकिन यदि दृष्टि में अध्यात्म तेज न हो तो अंधत्व ही रहता है। अधिदैव और अधिभूत होते हुए भी जब तक दृष्टि में अध्यात्म तेज नहीं है, तब तक कुछ भी देखना सम्भव नहीं होता। वहाँ अंधत्व कायम ही रहता है। अथवा अध्यात्म और अधिभूत दोनों हों और अधिदैव रूपी सूर्य अस्त हो गया हो तो भी आँखों का देखना अंधकार में लुप्त हो जाता है। उस समय यदि बत्ती जलाकर प्रकाश भी किया जाय तो उसका प्रकाश सूर्य की तरह नहीं होता। चन्द्रोदय भी सूर्यपकाश की बराबरी नहीं कर सकता। सूर्य रात्रि को समाप्त कर दृष्टि की सहायता करता है इसीलिये सूर्य को अधिदैव कहते हैं। अध्यात्म और अधिभूत ये दोनों हों और अधिदैव सूर्य ही न हो, तो दृष्टि का कुछ बस नहीं चलता। अध्यात्म और अधिदैव ये दोनों हों और गुरु की पूर्ण कृपा हो और अधिभूत का दृष्य दर्शन बन्द होता है, तभी सचमुच ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ जो अपने दृश्य का दर्शन होता है, उससे देह ही सब कुछ है, यह देहबुद्धि दृढ़ हो जाती है। उस दृश्य का ही भान नष्ट करने से, देह के साथ संसार ही शून्य लगने लगता है। इस प्रकार अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत यह त्रिपुटी किसे कहते हैं यह तुम्हें उसके विभागों के साथ विस्तारपूर्वक बताया। इसमें त्रिपुटी का अर्थ स्वरूप अर्थात् दृश्य, द्रष्टा और दर्शन, कर्म, कर्त्ता और क्रिया का आचरण ध्येय, ध्यान और ध्यातृत्त्व से है। इन्हें त्रिपुटी कहने का अर्थ यही है कि ये एक-दूसरे से सापेक्ष हैं। इसलिये अब उनकी परस्पर अपेक्षाओं के लक्षण भी बताता हूँ। नाना प्रकार के सुखोपभोग होते हैं और उन्हें देखने के लिये दृष्टि भी सक्षम रहती है। लेकिन वह सूर्य के बिना व्यर्थ ही रहती है। ऐसा यह परस्पर सम्बन्ध है। सूर्य हो किन्तु आँख न हो तो भी दिखायी नहीं देता या आँख हो और सूर्य न हो तो भी कुछ भी नहीं दिखायी देता या सूर्य और दृष्टि दोनों हो किन्तु देखने के लिये कुछ न हो तो भी दोनों का सामर्थ्य व्यर्थ हो जाता है। सूर्य स्वरूप को व्यक्त करता है और अपने किरणों से दृष्टि में प्रवेश कर नाना प्रकार के आभास दिखलाता है। इसलिये यह देखने का कार्य एक-दूसरे पर निर्भर है। लेकिन इतना होते हुए भी सूर्य अलिप्त होकर आकाश मण्डल में रहता है। उसी प्रकार इस विश्वस्वरूप को व्यक्त करने वाला चिदात्मा सचमुच अलिप्त ही रहता है। वह इस जगत में भरा हुआ है तथा जगत के हृदय में रहता है। यह सारा संसार उत्पन्न हो या उसका लय हो जाय लेकिन वह वैसा ही रहता है। जिस प्रकार आकाश में हजारों घटाकाश निर्माण होने पर भी उन घटों में आकाश प्रत्यक्ष रूप से दिखायी ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देता है। वे घट ही रहते हैं और समाप्त हो जाते हैं, लेकिन जैसा रहना चाहिये, वैसा ही रहता है। उसी प्रकार चित्स्वरूप, परमात्मा श्रीपति उत्पत्ति, स्थिति और लय इन अवस्थाओं में अलिप्त ही रहता है। वह परमात्मा आदि का अनादि है, बुद्धि की अनादि बुद्धि है और वास्तव में सिद्धि की अनादि सिद्धि भी वही परमात्मा है। प्रकाश का प्रकाशक यही है, सूर्य का आदिसूर्य भी यही है; और त्रिपुटी का द्योतक भी यही परमात्मा है और वह अलिप्त है। विवेक का भी विवेक यह है, सुख का सुखदायक भी यही है, बुद्धि का बोधक और प्रकाश का प्रकाशक भी यही परमात्मा है। ज्ञानाभिमान से उसे जानने के लिये गये वेद भी लज्जित हो गये, स्मृति और पुराण तो पगला गये। शास्त्र पठन से वाद-विवाद करने पर भी वह समझ में नहीं आता। देव, देवी और देवता; भोग्य, भोग और भोक्ता; इस प्रकार नानाप्रकार की त्रिपुटी की जो त्रिगुणता उत्पन्न होती है, वह यह प्रकृति ही कराती है। यह परमात्मा आदि, अव्यक्त और अतर्क्य है तथा प्रकृति से भिन्न है। उसे जानने के लिये दूसरों के विचार उपयोगी नहीं है। इसे इसके ही सामर्थ्य से हृदय में देखना चाहिये, इसके ही योग से इसे परिपूर्णत्त्व से पहचानना चाहिये, इसका ही हाथ पकड़ कर इसे प्राप्त करना चाहिये और वह भी उसकी ही कृपा से प्राप्त होता है। यह स्वयं ही स्वप्रकाशित है। इसके ही प्रकाश से इसे देखें और इसके ही योग से इसके स्वरूप में मिल जायें। अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत आदि का वर्णन नेत्र द्वारा यहाँ बतलाया, उसी प्रकार अन्य इन्द्रियों में भी उनकी व्याप्ति किस प्रकार होती है, इसका वर्णन देव संक्षेप में करेंगे।

एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षुर्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम्।
योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः॥ ३१॥(अ)

प्रकृति से महतत्त्वादि द्वारा अनेक विकार फैलते हैं, और गुणों का क्षोभ होने के कारण वे विकार पूर्ण रूप से उफन कर त्रिपुटी के स्वरूप में आडम्बर फैलाते हैं। जिस प्रकार सूर्य के योग से नेत्रादि इन्द्रियों के व्यापार चलते हैं उसी प्रकार कर्ण, त्वचा, जिह्वा और नाक आदि ज्ञानेन्द्रिय पंचक का कार्य त्रिपुटी के रूप में घटता रहता है। इसमें जो दूसरे पाँच कमेर्न्द्रिय हैं, वे ज्ञानेन्द्रिय के अधीन होते हैं। हाथ, पैर, गुहा, शिस्न और पाँचवीं वाणी इन्हें ज्ञानेन्द्रिय प्रेरणा देते हैं, तभी वे कर्मेन्द्रिय क्रिया करने लगते हैं। इस प्रकार ये दो पंचक मिलाकर दस इन्द्रिय होते हैं, इसे ध्यान में रखो। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन्हें ही चित्तचतुष्टय चमत्कार कहते हैं। वास्तव में ये एक ही हैं किन्तु उनका प्रकार भिन्न-भिन्न है। जिसका जैसा व्यापार है, वैसा उसका नाम है। उद्धव! केवल देह के आकार के कारण ही जो 'मैं' की भावना आती है, वह प्रबल अहंकार है। गहन संकल्प और विकल्प, यही मन है। पूर्व में किये भोगों का स्मरण ही चित्त का स्वरूप है। कोई दृढ़ निश्चय हो जाना यही 'बुद्धि' है। गुणक्षोभ का यह लक्षण ही भोग के साधन से भोग्य बन जाता है। लेकिन भोक्ता उससे अलग होता है। उसका भी लक्षण सुनो। जहाँ त्वचा को विषयों का स्पर्श होता है, वहाँ वायु अधिदैव है। लेकिन परमात्मा उससे भिन्न होता है। ज्ञानस्वरूप होने के कारण वह अविकारी ही होता है। रसनेन्द्रिय अत्यन्त श्रेष्ठ है और रस उसका विषय है। उसका अधिदैवत स्वयं वरुण है। लेकिन आनन्द से परिपूर्ण आत्मा उस रस से अलग ही है। श्रवणेन्द्रिय का विषय शब्द है। वहाँ दिशा अधिदैव है यह प्रसिद्ध ही है। किन्तु शब्द में मूल आत्मा निःशब्द ही रहता है और वह अविकृत रहता है। नेत्रेन्द्रिय का लक्षण पहले ही बता दिया है। ज्ञानेन्द्रियों की स्थिति इस प्रकार है। इसी रीति से त्रिपुटी बनती है। इसमें चित्त नाम का जो इन्द्रिय है उसे चिंतन का विषय प्राप्त है। वहाँ वासुदेव अधिदैव है। लेकिन आत्मा चित्त से अलग है। मन यह एक अत्यन्त चंचल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इन्द्रिय है और संकल्प उसका शक्तिशाली विषय है और वहाँ निर्मल चन्द्रमा अधिदैव है। लेकिन आत्मा मन से निराला ही है। 'अहंकार' यह इन्द्रिय अत्यन्त बलवान है। 'मैं' का भाव यही उसका विषय है। रुद्र उसका अधिदैव है। किन्तु परमात्मा अहंकार से बिलकुल भिन्न है। बुद्धिरूप इन्द्रिय अत्यन्त ज्ञानसम्पन्न है। 'जानना' यही उसका विषय है। वहाँ ब्रह्मदेव 'अधिदैव' है लेकिन ज्ञानरूप आत्मा बुद्धि से बिलकुल अलग ही है। अब तक कारण के साथ चित्तचतुष्टय और उसकी त्रिपुटी के बारे में बताया। अब कर्मेन्द्रियों का भी लक्षण बताऊँगा, सुनो। वाणी के इन्द्रिय में भाषण यह विषय रहता है। वहाँ अग्नि अधिदैव रहता है। उसमें शक्ति सरस्वती का निवास रहता है। लेकिन आत्मा महामौन रह कर उससे अलिप्त ही रहता है। हस्तेन्द्रिय का विषय है, 'ग्रहण'। उसका अधिदैव इन्द्रिय है। वहाँ क्रियाशक्ति रहती है। लेकिन अपने अक्रियत्व से, वहाँ भी आत्मा अलिप्त ही रहता है। पैर नामक इन्द्रिय का विषय गति है और उसका अधिदैव उपेन्द्र है। उसमें गमनशक्ति का वास है। लेकिन निश्चलत्व के कारण आत्मा वहाँ भी अलिप्त ही रहता है। गुदेन्द्रिय का विषय मलोत्सर्ग है। वहाँ अधिदैव निऋति है। उसमें क्षरशक्ति है लेकिन वहाँ भी आत्मा अलिप्त ही रहता है। शिस्नेन्द्रिय का विषय है, रति। वहाँ प्रजापति अधिदैव है और वहाँ आनन्दशक्ति का निवास रहता है। किन्तु परमानन्द के योग के कारण आत्मा वहाँ भी अलिप्त ही रहता है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के योग से कर्म का आचरण घटता है। यही चित्तचतुष्टय का लक्षण है। गुणक्षोभ का भी वही कारण होने के कारण वह सारा मायिक है। गुणक्षोभ का प्रमुख मूल वही है। वही प्रकृति के विकार से जड़रूप होता है और आत्मा अविकारी और निर्मल होने के कारण प्रकृति से अलिप्त ही रहता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पैत्रिक भूमि के साथ सभी साहित्य बड़े अभिमान से घर में सम्पादन करता है, फिर भी उससे अलिप्त ही रहता है, उसी प्रकार इन तीन गुणों के क्षोभ से अभिमान नाना प्रकार के विकारों का जंगल कायम करता है, किन्तु आत्मारूप वसंत निराला ही रहता है। उसी का निरूपण श्रीकृष्ण कर रहे हैं।

अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतुर्वैकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च॥ ३२॥
आत्मा परिज्ञानमयो विवादो ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः।

सचमुच 'मैं' और 'मेरा' इस लगन के कारण ही जीव के पीछे संसार लगा हुआ है। उस अहंकार की निवृत्ति से ही जीव को संसार से छुटकारा मिलेगा। लेकिन यह असह्य अहंकार कहाँ से उत्पन्न हुआ? इसका भी उत्तर देता हूँ। स्वस्वरूप को भूलकर मन में जिस दृढ़ अहं का स्फुरण होता है, वही अहंकार है। विकार से तीन गुणों का क्षोभ वही करता है। जागृति का विस्मरण ही स्वप्न सृष्टि का विस्तार है और स्वरूप से विमुख होने वाला अहंकार ही त्रिगुणात्मक संसार है। विकार के योग से तीन गुण क्षुब्ध होते हैं। विस्मरण मोह का लक्षण है। उस विकार के तीन गुण विकृत हो गये इसलिये अब उसके भाग सुनो। मूल रूप में जिसे 'वैकारिक' कहा है वही सात्त्विक अहंकार है। वही चित्तचतुष्टय का द्योतक तथा अधिदैवों का प्रकाशक है। सत्त्व से मन उत्पन्न होता है और मन से प्रचण्ड विकार उत्पन्न होते हैं। इसीलिये सत्वगुण को भी विकृत गुण ही कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियक और कर्मेन्द्रिय पंचक ये दोनों मिलकर दशेन्द्रिय होते हैं। उन्हें रजोगुण प्रकाशित करता है, इसलिये उस रजोगुण को 'इन्द्रिय सम्बन्धी' कहते हैं। अब इसमें तामस नाम का जो गुण है वह आकाशादि सूक्ष्म पंचतत्त्व जो महाभूतों को आच्छादित करते हैं, उन्हें विषयों के साथ उत्पन्न करता है। इस प्रकार महाभूत और पाँच विषय इनको तमोगुण प्रकाशित करता है इसलिये उसे आदरपूर्वक भूतादि (भूतों से पहले का) कहते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार तीन गुणों के विकार से और काम्य कर्म के संस्कार से, अहंकार से प्रबल होकर वह अनेक कारणों से संसार में परिभ्रमण करता है। लेकिन प्रकृति के इस विकार से आत्मा अत्यन्त भिन्न है। मृगजल उत्पन्न कर जिस प्रकार सूर्य आकाश में अलिप्त रहता है, सर्प का आकार प्रकट कर स्वयं डोर जिस प्रकार सर्प का स्पर्श भी नहीं करती, उसी प्रकार परमात्मा भी संसार उत्पन्न कर स्वयं नि:संग और निर्विकार ही रहता है। जिस प्रकार स्फटिक जिस रंग पर रखो उसी रंग का दिखायी देगा लेकिन वह स्वयं उन रंगों से अलग सफेद ही होता है, उसी प्रकार गुणों के सम्पर्क से जीवात्मा भी बद्ध दिखायी देता है, फिर भी वह नितांत शुद्ध ही है। लेकिन यह ज्ञान न होने के कारण भिन्न-भिन्न मत के लोग व्यर्थ का विवाद करते रहते हैं। कोई कहता है, आत्मा देहधारी है, कोई उसे विदेही कहता है और कोई उसे स्पष्ट नकार देता है। कोई कहता है, आत्मा सगुण है, कोई कहता है वह निर्गुण है तो कोई कहता है कि वह परमात्मा सगुण और निर्गुण दोनों है। कोई द्वैत को प्रतिपादित करता है, तो कोई अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। कोई कहता है, ये दोनों असंबद्ध हैं और हमारे मत के अनुसार देहात्मवाद ही सही है। कोई कहता है यह सभी गलत है। यहाँ जो प्रपंच दिखायी देता है, वही सच है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। इन सबका विचार करने पर ये सभी अज्ञानमूलक मालूम होते हैं क्योंकि आत्मा पूरी तरह ज्ञानस्वरूप और सभी भेदों का निवारण करने वाला है। 'आत्मा परिज्ञानमय:' अर्थात् आत्मा प्राणस्वरूप है यही मूल श्लोक है, इसलिये अज्ञान का भेद ही नहीं रह जाता। आत्मा शुद्ध, बुद्ध और ज्ञानरूप है, यही सिद्ध होता है। जिस प्रकार नक्षत्र आदि के साथ रात्रि को समाप्त कर सूर्य प्रकट होता है, उसी प्रकार भेदों के साथ कार्य का भी लोप कर ज्ञानसूर्य ज्ञानरूपी किरणों से प्रकट होता है। तब माया भी गुणों के साथ नष्ट हो जाती है, वाद-विवाद भी तमाम भेदों के साथ मिट जाता है, अज्ञान समूल नष्ट हो जाता है और चारों ओर सच्चिदानन्द भर जाता है। आत्मा सच्चिदानन्द से परिपूर्ण होने के कारण उसके आगे सारा अज्ञान व्यर्थ हो जाता है। अज्ञान को नष्ट करने का वह सबसे अच्छा साधन है। विवेक अथवा सांख्य दर्शन व्यर्थ है, ऐसा लगता है। उसी विषय का निरूपण आधे श्लोक में श्रीकृष्ण स्वयं कर रहे हैं।

व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात्॥ ३३॥

मूलत: अज्ञान मिथ्या होता है, इसलिये विषय का भान भी अज्ञानजन्य ही है। लेकिन यही देखकर लोग भ्रम में पड़ जाते हैं अत: उन्हें स्वस्वरूप का विस्मरण हो जाता है। मैं साक्षात परमात्मा उनके हृदय में अत्यन्त निकट होते हुए भी, उनकी बुद्धि मुझसे पराङ्मुख होती है और इसीलिये उनमें विषयासक्ति उत्पन्न होकर घरबार, पत्नी-बच्चे, देह आदि में ही रुचि होने लगती है। स्वस्वरूप का विस्मरण ही विषय का चिन्तन बढ़ाता है और उसी देहाभिमान के कारण जीवों को अनिवार्य जन्म-मरण प्राप्त होता है। उस देहाभिमान का नाश करने के लिये ही मैंने वैराग्य युक्त ज्ञानध्यान का साधन करने का ढंग बताया क्योंकि वही समूल अज्ञान का विनाशक है। जब तक शरीर में देहाभिमान है, तब तक साधन भी आवश्यक ही है। अज्ञान का पूरी तरह क्षालन होने पर, साधन व्यर्थ हो जाता है, यह मैं भी मानता हूँ। यह वह अज्ञान है जो शुद्ध स्वरूप में जीव का भाव उत्पन्न करता है। वही जीव में अनिवार्य जीवन-मरण का चक्र लगा देता है। हे उद्धव! आत्मस्वरूप का विस्मरण हो देह में जो अहंता उत्पन्न होती है वही दृढ़ अज्ञान है। वही देहाभिमान है। अज्ञान यह नाम गौण ही है। वास्तव में देहाभिमान ही मुख्य है। भगवान का यह भाषण सुनकर उद्धव चौंक उठा। इसलिये वह उसी अर्थ का प्रश्न भगवान से स्वयं ही पूछने लगा। वह प्रश्न इस प्रकार था कि देहाभिमान किस तरह जन्म-मरण का भोग लगाता है?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उद्धव उवाच

त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो।
उच्चावचान् यथा देहान् गृह्णन्ति विसृजन्ति च॥ ३४॥

आकाश सर्वत्र सन्मुख ही होता है, कभी भी विन्मुख नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा भी अंतर्बाह्य परिपूर्ण ही है। फिर उसकी वृत्ति विन्मुख कैसे होगी? जब आकाश को जाल में बाँधना सम्भव होगा, तभी अकर्त्ता को कर्त्ता का बन्धन लगेगा। वंध्या का गर्भधारण करना जिस प्रकार मिथ्या है, उसी प्रकार मुक्त के लिये जन्म-मरण का बन्धन झूठ है। आत्मा के सिवा जब कुछ भी खाली नहीं बचा तो फिर इस देह से उस देह में जाना कैसे सम्भव है? यदि पृथ्वी रूठ कर आश्रय देना बन्द कर दे, अथवा आकाश ही कहीं दूर चला जाय, तभी एक देह का आत्मा दूसरे देह में प्रवेश कर सकेगा। चिऊँटी यदि सात समुद्र निगल सके तभी आत्मा को ऊँच-नीच योनियों का भोग भोगना पड़ेगा। अर्थात्, यह असंभव है। यह बात अतर्क्य है। उसके संशोधन पर तर्क काम नहीं करता। योगी भी भ्रम में पड़ गये।

तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः।
न ह्येतत् प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः॥ ३५॥

हे श्रीकृष्ण! तुम्हारी लीला अगाध है। वह किसी की समझ में नहीं आती। जिनका चित्त माया के भुलावे में है, उन्हें तुम्हारी स्थिति का पता नहीं है। आत्मा केवल अद्वितीय, अविनाशी है, उसमें तुम उत्पत्ति, स्थिति और नाश दिखाकर मिथ्या संसार का भास उत्पन्न करते हो। तुम्हारी यह लीला अतर्क्य है। उसके सम्बन्ध में तर्क नहीं चलता। इसमें वेद की मति गुंग हो गयी, उपनिषद पगला गये, पुराण मूक होकर बैठ गये। इन सबने सारे प्रयास कर डाले लेकिन उसमें उनकी गति काम न आयी। तुम्हारे संबंध में ज्ञान तुम्हारी कृपा के बिना नहीं होगा। इसलिये हरि की कृपा को जो पात्र नहीं है ऐसे जड़-मूढ़ लोगों का संसार का बन्धन नहीं टूटता। तुम्हारी योगमाया की करनी अतर्क्य है। उसने बछड़ों को चुराते ब्रह्मदेव को भी भुलावे में रखा। मोहनी को देखकर शंकर भी भुलावे में आ गये। इसीलिये गोविन्द की कीर्ति सारे त्रिभुवन में फैली हुई है। इसलिये आप कृपया मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें कि एक देह से दूसरे देह में जीव कैसे प्रवेश करता है? और जीव को जन्म-मरण भी कैसे आता है? उद्धव का यह प्रश्न सुनकर श्रीकृष्ण हँस दिये और बोले, अरे! यह सब मायिक है, केवल मनोमय कल्पना का खेल है।

श्रीभगवानुवाच

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकंप्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते॥ ३६॥

ग्यारह इन्द्रिय और पंचमहाभूत मिलकर सोलह कलाओं का लिंगदेह बनता है और अनेक विषयों की कल्पना करने वाला मन ही उसमें प्रधान रहता है। इसमें लिंगदेह ही मन है और उस मन के अधीन इन्द्रिय रहते हैं। मन से ही देह चलता रहता है। उसमें देहाभिमान रहता है, वह भी मन के साथ ही रहता है। मन जिसे छोड़कर चला जाता है, वहाँ देहाभिमान खड़ा भी नहीं रहता। मन के योग से ही अभिमान देह का बोझ ढोता रहता है। मन जब विषयासक्त होकर शुभाशुभ कर्माचरण करता है, उस समय जीव कर्माधीन होकर दूसरे देह में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रवेश करता रहता है। आत्मा देह से बिलकुल भिन्न और अलिप्त रहता है लेकिन देह के साथ रहने का आभास कराता है। उसका यह कौशल अद्‌भुत है। उसका भी लक्षण सुनो। घट जिधर-जिधर जाता है, उधर-उधर उसके साथ घटाकाश भी जाता दिखायी देता है लेकिन वास्तव में आकाश नहीं हिलता। उसी प्रकार इस आत्मा का जाना है। घट में अमृत भरा हो या मलमूत्र, फिर भी उन दोनों से आकाश अलिप्त ही रहता है, उसी प्रकार देह में रहने वाला आत्मा सुख-दुःख से अलग ही रहता है। घट पर पत्थर मारकर उसके टुकड़े-टुकड़े भी कर दें लेकिन आकाश पर एक खरोंच भी नहीं आती। उसी प्रकार नश्वरों में आत्मा सचमुच अनश्वर रहता है। घट जब फूट कर नष्ट हो जाता है, उस समय भी आकाश स्वयंसिद्ध आकाश में ही रहता है। नया घर बनने पर आकाश उसे भी व्याप लेता है। उसी प्रकार यह देह अशाश्वत है और आत्मा अखण्डता से परिपूर्ण है। उसे न दूसरे देह में प्रवेश करना है और न जन्म-मरण का भोग भोगना है। जीव का एक देह से दूसरे देह में प्रवेश करना यह क्रिया वासना मन के माध्यम से करती है। वह मन जीव के साथ दूसरे देह में कैसे जाता है, उसे सुनो।

ध्यायन्मनोऽबुविषयान् दृष्टान् वानुश्रुतानथ।
उद्यत् सीदत् कर्मतन्वं स्मृतिस्तदनुशाम्यति॥ ३७॥

मन सदा देखी हुई और सुनी हुई बातों का ध्यान करता रहता है। मन का यह ध्यान बहुत कठिन और भयंकर होता है। इसलिये उसे और कुछ भी नहीं सूझता। अंतकाल में मन किसी चहेती वस्तु के ध्यान में मग्न हो जाता है और तब वह तदाकार हो जाता है। वह सर्वभाव से उसमें मिल जाता है। जब पहला भोग समाप्त हो जाता है तो मन सहज ही पहले देह का अभिमान भूल जाता है और अगले देह का ही एकाग्र होकर ध्यान करता रहता है। विषयवासना पर लुब्ध हुआ मन, अपने कर्मानुसार प्राण के साथ दूसरे देह में संचार करता है। पहले जो देह छोड़ दिया है, उसका चित्त को जरा भी स्मरण नहीं होता और मैंने नया देह धारण कर लिया है इसका भी मन को स्मरण नहीं होता।

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत् स्मरेत् पुनः।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः॥ ३८॥

जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः॥ ३९॥

मन विषयलोलुपता से जिस स्वरूप का चिन्तन करता है, उसमें ही वह स्वयं पूर्वदेह की स्मृति भूलकर तद्रूप बन कर रहता है। वह पूर्वदेह को कैसे भूलता है? तो जिस प्रकार आयु बढ़ने पर, प्रौढ़ होने पर हम अपना बचपन भूल जाते हैं, उसी प्रकार वह भी अपने पूर्वदेह को भूल जाता है। इस प्रकार का सम्पूर्ण विस्मरण, यही देह का मरण है। उस विस्मरण के साथ ही चेतना प्राणों के साथ चली जाती है। चेतना जब प्राणों के साथ चली जाती है तब देह को प्रेत की अवस्था प्राप्त होती है। उद्धव! इसी का नाम मृत्यु है। अब जन्म की बात सुनो। मृत्यु के समय स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से जैसा ध्यान रहता है, उसी के तद्रूप वह होता है और उसे वैसा ही जन्म प्राप्त होता है। भरत को अनुष्ठान करते समय स्नेह से मृग का ध्यान आ गया तो वह स्वयं मृग बन गया क्योंकि उसके ध्यान के अनुरूप मन का जन्म हुआ। कीटकी भय से भृंग का ध्यान कर रही थी अतः वह तद्रूप हो गयी। पौण्ड्रक ने द्वेष से श्रीकृष्ण का ध्यान किया अतः उसे तद्रूपता प्राप्त हुई। इससे मन को जिस विषय का ध्यान लगा रहता है, वैसी ही गति उसे प्राप्त होती है। संसार का विस्तार हमने स्वयं किया रहता है अतः

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अंतकाल में वह सब प्रेम से प्रिय विषय बन जाता है। लेकिन इसमें भी जहाँ विशेष रूप से ध्यान बसता है उसी स्वरूप का जन्म पुरुष प्राप्त करता है। फिर उस चिंतन के सामर्थ्य के अनुसार जैसे आकार का देह प्राप्त होता है, वैसे ही देह का अभिमान उत्पन्न होता है और 'यह सारा देह मैं ही हूँ' ऐसा वह समझता है। इसमें मन और अभिमान इनका स्वरूप देखें तो वह एक ही रहता है लेकिन उनके कार्य भिन्न-भिन्न रहते हैं। चित्त चतुष्टय का यह स्वरूप ज्ञानी लोग एकात्मता से जानते रहते हैं। उस देह का बुरा या भला ईश्वर की कृपानुसार होता रहता है। लेकिन वह देह का ही अभिमान लेकर नाचता रहता है। इसी का नाम है, पुरुष का जन्म। लेकिन यह देह पहले का नहीं है, यह दूसरा देह है इसका भी उसे स्मरण नहीं रहता। इसलिये वह यहाँ भी पहले का ही देहाभिमान लेकर बैठ जाता है। इसी अर्थ का दृष्टांत श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं। जिस प्रकार स्वप्न में अथवा मनोराज्य में अपने देह का भान नहीं रहता, कोई भिखारी अपने ही घर में सोया रहता है और वह स्वप्न में इन्द्र बन जाता है, ऐरावत पर बैठ कर उर्वशी जैसी अप्सराओं के साथ रहता है। मेरा पहले का भिखारी का देह गया और यह देवता का देह प्राप्त हो गया इसका उसे स्वप्न में भी स्मरण नहीं रहता। उसी प्रकार लोगों के जन्म की स्थिति है। कोई मजदूर मन्दिर में घी की गगरी ले जाते समय मन में मनोराज्य करता रहता है कि मैं घोड़े पर सवार हूँ, और उसी स्वकल्पित कल्पना तरंगों में ही मन ही मन उल्हसित होता रहता है। इतने में मनोराज्य में घोड़े ने ऊँची छलांग लगायी यह सोच कर वह स्वयं ही कूद जाता है। उसके पास की घी की गगरी गिर कर चूर-चूर हो जाती है और लोग जब पूछने लगते हैं, यह क्या हुआ? वह उस मनोराज्य में ही कहता है, "मेरे घोड़े ने जोर की छलांग लगायी।" लेकिन घी की गगरी गिर जाने के कारण, उस अपराध के लिये उसे बंदीगृह में जाना पड़ता है लेकिन मन के ध्यान के कारण उसे उसका भान ही नहीं रहता। यहाँ तक का उसका विस्मरण ही देह की मृत्यु है और मन का तीव्र ध्यान ही प्राणी का जन्म है। सारांश आत्मा का जन्म या मरण केवल भ्रम का लक्षण है। उसी अर्थ का निरूपण श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं।

स्वप्नं मनोरथ चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ।
तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वं चानुपश्यति॥ ४०॥

स्वप्न में पुरुष देहभान भूलकर स्वप्न की गृहस्थी का विस्तार अपने अभिमान के साथ बढ़ाता है। जागृत अवस्था का देह उधर रह गया और यहाँ मुझे स्वप्नदेह प्राप्त हुआ है, इस प्रकार पहले के और अभी के देहों का उस पुरुष को स्मरण नहीं होता। जागृति और स्वप्न इन दोनों स्थितियों में देहों को देखने वाला उनमें से कोई भिन्न ही होता है, उसी प्रकार जीव जन्म और मृत्यु इन अवस्थाओं से भिन्न है। अर्थात् जीव को जन्म और मृत्यु इनमें से कुछ भी नहीं है। सारांश जन्म और मृत्यु केवल देह के लिये ही हैं। आत्मा नित्य मुक्त और शाश्वत है तथा स्वप्न के मनोरथों के तरंगों की तरह संसार अनेक प्रकार से विस्तृत है। देह को उत्पत्ति, स्थिति और लय होने का कारण मन ही है। इसलिये संसार मन की कल्पना है। यही बात श्रीकृष्ण बताते हैं।

इन्द्रियायनसुष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि।
बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृत् यथा॥ ४१॥

सारा संसार मन की ही कल्पना है। इन्द्रियों के समस्त व्यवहार मन के कारण ही होते हैं और कर्म की कसौटी के अनुसार मन ने ही इस त्रिपुटी को बढ़ाया है। अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत ये तीन प्रकार भी मन ने ही किये हैं। सचमुच, आत्मवस्तु अखण्ड होते हुए भी उसमें तीन प्रकार की कल्पना का आभास होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कुम्हार जब मटकी बनाता है, उस समय आकाश भी उसी के आकार का दिखायी देने लगता है, सच पूछो तो आकाश पूरी तरह निर्विकार है लेकिन मटकी के कारण वह भी विकृत हुआ दिखायी देता है। उसी प्रकार आत्मा अविकृत, नित्य और शुद्ध ही है। उसे मन तीन प्रकार की कल्पनाओं और नाना प्रकार की त्रिपुटी से अनेक प्रकार का भेद उत्पन्न करता है। वह भेद कैसे बढ़ता है, सुनो। कार्य, कर्म और कर्त्ता, ध्येय, ध्यान और ध्याता; ज्ञान और ज्ञाता; ये तीन त्रिपुटी मन द्वारा ही कल्पित है। 'अहं' का अर्थ मैं 'कोहं' अर्थात् मैं कौन यह आशंका और 'सोहं' अर्थात् मैं ही हूँ, यह भेद; अथवा 'त्वं' अर्थात् जीव, 'तत्' अर्थात् ब्रह्म और 'अस्ति' अर्थात् तू है, ये पद; अथवा सत, चित् और आनन्द ये सारे सम्बन्ध मायिक हैं। असत् अर्थात् मिथ्या जो माया है, उसे दूर करने के लिये वेदवाणी भी सत् का प्रतिपादन करती है और जड़ का विलय होने के लिये आत्मवस्तु को ही चैतन्यतत्त्व कहते हैं। दु:ख का निर्मूलन करने के लिये परब्रह्म को ही परमानन्द कहते हैं। इसलिये सच्चिदानंद भी मायिक ही सिद्ध होता है। असत् मिथ्या होने के कारण मायिक है। वैसा तत्त्व यथास्थान कौन रख पायेगा? जहाँ जड़ के लिये ही स्थान नहीं है वहाँ चैतन्य का तत्त्व किस प्रकार हाथ लगेगा? जहाँ दु:ख का बिलकुल सम्बन्ध नहीं है, वहाँ कोई आनन्द किसे कहेगा? इसलिये परब्रह्म के स्थान पर सच्चिदानन्द का सम्बन्ध लगाना भी मायिक है। जहाँ संसार का आभास होता है, वह त्रिगुणों की त्रिपुटी का ही खेल है। इसलिये वह सब भी मायिक और मन का किया हुआ है। आत्मा नित्य, मुक्त, शुद्ध और ज्ञानस्वरूप है। उसमें जो तीन प्रकार का भेद दिखायी देता है वह मन द्वारा किया हुआ गुण सम्बन्धी भेद है। इसलिये स्पष्ट ही वह मायामय है। कोई पुरुष अग्निहोत्री है तथा सदाचारी है। लेकिन उसकी स्त्री यदि व्यभिचारी है तो उसका पति दोषी है, ऐसा लोग कहते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा के भेद की बात है अर्थात् आत्मा वास्तव में अलिप्त रहता है और गुणों के दोष उस पर आरोपित रहते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में अकेला व्यक्ति सारा संसार बन जाता है, लेकिन वह सारा चमत्कार वास्तव में निद्रा के कारण होता है, उसी प्रकार का भेद का मायिक प्रकार ब्रह्मा में भी है। जड़ और अजड़ यह देह के भेद; अथवा अलग से किया हुआ जीव का भेद; यह स्वप्न की तरह माया का आभास है। आत्मा, नित्य, शुद्ध और अद्वितीय है। इस प्रकार माया द्वारा किये गये भेद पर जिसकी निष्ठा है, ऐसे लोगों को वैराग्य प्राप्त करने के लिये काल ने जन्म-मरण का फेरा लगा दिया। उसी का वर्णन श्रीकृष्ण करते हैं।

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते॥ ४२॥

उन्होंने कहा, हे उद्धव! सुनो। स्थावर जंगम आदि जो भी देहस्वरूप हैं, उन्हें काल के प्रभाव से नित्य नया जन्म-मृत्यु का जंजाल लगा हुआ है। काल अपनी सूक्ष्म गति से सारे संसार को ग्रस लेता है। शरीर से चिपके हुए वे जन्म-मृत्यु जीव को माया के मोह के कारण समझ में नहीं आते। माँ अपने बेटे के अवयव खुले होते हुए भी उसे नग्न अवस्था में लाड़-प्यार करती है लेकिन वही माँ बेटा बड़ा होने पर उससे शरमाती है। वह बाल्यावस्था काल ले गया और यह नयी प्रौढ़ावस्था प्राप्त होने पर माँ बेटे से शरमाने लगी। यह सारा परिवर्तन काल ने ही किया है। यह सूक्ष्म काल इस प्रकार प्राणिमात्र को नित्य नया विनाश और नित्य नया जन्म देता रहता है। लेकिन भ्रम से भ्रांत हुए प्राणी इस जन्म-मृत्यु का मार्ग नहीं जानते। जीवन की जिस अवस्था का भाग काल ले जाता है, उसके साथ ही देह भी जाता है। आगे नयी उम्र आते ही काल उसे नया शरीर देता है ऐसा समझना चाहिये। काल ने किया हुआ उद्धव और विनाश नित्य नया दिखाई देता है। इसलिये देह तीन प्रकारों से युक्त है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यह हम स्वयं देख सकते हैं। काल की गति अतर्क्य है, इससे प्राणियों को जीवन-मरण प्राप्त होता है। उस अत्यन्त काल गति के सम्बन्ध में ही श्रीकृष्ण दृष्टांत देकर बताते हैं।

यथार्चिषां स्त्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः॥ ४३॥

दीपक की ज्वाला क्षण-प्रतिक्षण नयी उत्पन्न होती रहती है, किन्तु वे नयी उत्पन्न होते समय या पुरानी नष्ट होते समय आँखों को दिखायी नहीं देतीं। यमुना के जल का प्रवाह लहरों के द्वारा तीव्र गति से बहता रहता है लेकिन उस प्रवाह का जल प्रत्येक क्षण नया हो रहा है, यह किसी को दिखायी नहीं देता। फल, वृक्ष का डंठल छोड़े किना कडुआ, कसैला, खट्टा या मीठा भी होता है। काल की अदृश्य सत्ता अतर्क्य है। वही काल देह के साथ नित्य नया कैसे उत्पन्न होता है? इसका उत्तर यह है कि वह बाल्य, युवा और वार्धक्य ये देह की अवस्थाएँ बदलता रहता है। इसके सिवा मूढ़, चतुर, निर्बल ऐसी नयी-नयी अवस्थाएँ पूर्व की अवस्था को नष्ट कर उत्पन्न होती है। उस समय 'जो पहला था वही सचमुच' मैं हूँ यह स्मरण किस कारण से होता है? ऐसी कल्पना भी तुम्हारे मन में आ सकती है। इसलिये श्रीकृष्ण इस विषय का निरूपण करते समय अखण्ड स्फूर्ति का रहस्य बता रहे हैं।

सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत् स्त्रोतसां तदिदं जलम्।
सोऽयं पुमानिति मृषा भीर्धीर्मृषायुषाम्॥ ४४॥

उद्धव! दीपक की ज्वाला भले ही नयी उत्पन्न होती हो और पुरानी नष्ट हो, लेकिन उनमें का अग्नि पहले की ही तरह एक जैसा होता है, इसीलिये उसे दीया कहते हैं। अथवा जल के प्रवाह में बड़ी-बड़ी लहरें बह कर आती हैं, फिर भी पानी अखण्ड एक ही रहता है। इसीलिये सब लोग उसे पानी कहते हैं। उसी प्रकार उद्धव! देह में भी उम्र के अनुसार निरनिराली अवस्थाएँ आती हैं और जाती हैं, फिर भी आत्मा अखण्ड सर्वव्यापी ही रहता है। इसी कारण से 'वही मैं' वाली स्फूर्ति का स्फुरण होता है। तुम कहोगे कि मैं के 'अहं के कारण यह अहंकार उत्पन्न हुआ है', तो उसका उत्तर यह है कि वह भी अज्ञान के कारण जड़-मूढ़ ही है। उसका दृढ़ प्रकाशक आत्मा ही है। इसलिये वही हमेशा परब्रह्म स्वरूप से स्फुरण प्राप्त करता है। किन्तु यह जो जन्म-मरण है, वह देह के ही लिये होता है। आत्मा अपने सर्वव्यापित्त्व के कारण परिपूर्ण ही है। देह ही आत्मा है और वही मैं हूँ, ऐसा जो कहते हैं, वह भी मिथ्या है। विषयों की कार्यसिद्धि होना अथवा देह में 'मैं' का अहं होना यह भी सचमुच मिथ्या ही है। उसी कारण मनुष्य संसार बन्धन में उलझ जाता है। कर्मभूमि में अनायास ही नरदेह की प्राप्ति होने पर, जो लोग विषयसुख में लिप्त होकर रह जाते हैं, उनका यह कार्य अमृत के बदले माँड पीने, रत्नों के बदले अनाज के छिलके खरीदने, पर्वत त्याग कर कीट पाने, और ईंट के बदले हाथी बेचने जैसा है। आँखें फोड़ कर कोई उसमें काजल लगा ले, अथवा नाक काट कर होली खेलने जैसा है। इस प्रकार वे नरदेह की विडम्बना करते हैं और जीवन का सत्यानाश कर लेते हैं। लाखों की सम्पत्ति खर्च करने पर भी जीवन का एक क्षण भी वापस नहीं मिलेगा ऐसा जीवन जो लोग विषयों के लिए खर्च कर देते हैं वे कर्मदरिद्री और नितांत मूढ़ हैं। देह स्वयं ही काल्पनिक है। इसलिये उसका अभिमान भी काल्पनिक है। वही यह देहबुद्धि की 'अहंता', संसार को दृढ़ बन्धन लगा देता है। यदि उस 'मैं पन'को ही छोड़ दें तो फिर कैसा जन्म और कैसा मृत्यु? जब संसार ही नहीं रहेगा तो फिर संसार बन्धन कैसा? देखो! बगुले का भय मिथ्या रहता है लेकिन जैसे बालक उसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सच मान लेता है, उसी प्रकार देह भी मिथ्या और काल्पनिक है। लेकिन अज्ञानी लोग उसी को सच मानते हैं। जो देह और बुद्धि दोनों को ही मिथ्या मानता है, उसे भविष्य में जन्मसिद्धि की क्या चिन्ता है? क्योंकि मिथ्यारूपी पदार्थों की वृद्धि होती ही नहीं है। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण बताते हैं।

मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान्।
म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः॥ ४५॥

देहात्मवाद से देहाभिमान उत्पन्न होता है, जिससे लोगों में गूढ़ वासनाबीज उत्पन्न होता है और अपनी वासनाओं के संकल्प से ही मनुष्य स्वयं मिथ्या जन्म-मरण को ही सत्य मानने लगता है। उस देहाभिमान के कारण ही क्रिया चरण करने वाला कर्मकर्त्ता मैं हूँ यह मान कर निष्कर्म को कर्मबन्धन है और अमर को जन्म-मरण है, यह मान लेता है। गड्ढे में एकत्र पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, इसलिये वहीं सूर्य का जन्म हुआ और पानी जब सूख जाता है तो सूर्य का जीवन समाप्त हो गया, ऐसा बालक कहता है। उसी प्रकार अजन्मा को जन्म-कर्म है ऐसा मानना केवल माया का भ्रम है। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण सरल दृष्टांत देते हैं। वास्तव में अग्नि अजन्मा होने के कारण अव्यक्त है, लेकिन वह लकड़ी में ही उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है। वह उस लकड़ी के आकार का ही दिखायी देता है। इसलिये लकड़ी समाप्त होने पर अग्नि नष्ट हो गया ऐसा कहते हैं। उस लकड़ी की ही तरह यहाँ जन्म और विनाश ये दोनों देह के ही लिये हैं। दृष्टांत के अग्नि की ही तरह आत्मा नित्य और अविनाशी है। उस देह की नौ अवस्थाएँ होती हैं, जिनका वर्णन श्रीकृष्ण स्वयं करते हैं।

निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम्।
वयोमध्यं जरामृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव॥ ४६॥

देह की नौ अवस्थाएँ हैं, उनकी भी स्थिति सुनो। उन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का विस्तार भी सुनो। पिता के देह में शुक्ररूप प्राप्त कर माता के उदर में प्रवेश करने को 'निषेक' कहते हैं। यही उस देह की पहली अवस्था है। फिर माता के उदर में रक्तमुक्त संचित होकर, पिण्ड बनता है और धीरे-धीरे बड़ा होकर उसे 'गर्भ' का स्वरूप आता है। यह देह की दूसरी अवस्था है। फिर प्रसूति वायु के आघात से पेट से बाहर आना, इसे 'जन्म' कहते हैं। यह देह की तीसरी अवस्था है, यह अच्छी तरह जान लो। स्तनपान ही सबसे अच्छा लगता है, माता ही सबसे श्रेष्ठ तथा रोने में ही सारा बल दिखायी देता है यह देह की चौथी 'बाल्यावस्था' है। केवल अज्ञान के कारण मलमूत्र में लोटता है, सारे इन्द्रियों की शक्ति गुप्त रहती है, विचार करने की बिलकुल शक्ति नहीं रहती, मधुर, कोमल, तुतला कर बोलता यह पंचवार्षिक 'बाल्यावस्था' है। फिर इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती जाती है, किन्तु शरीर में विषय का स्वार्थ नहीं होता, खेल पर ही मन आसक्त रहता है, यह उस देह की पाँचवीं 'कुमारावस्था' है। इसके बाद 'युवावस्था' उसमें इन्द्रियों में परिपूर्ण शक्ति आती है और मन में बुद्धिमान होने का अभिमान हिलोरें मारने लगता है। उस समय मन में स्त्री की वासना उत्पन्न होने लगती है, धन का लोभ बढ़ने लगता है, घर-बार से प्रेम होने लगता है और समाज में नाम रूप की कीर्ति बढ़ने लगती है। सम्पत्ति के मद से मन में अहंकार भरा रहता है, बाल-बच्चों में ही मन रमता है। बढ़ती आशा के कारण अधिक से अधिक भोग भोगने की चाह होती है; और काम क्रोध का बड़ा-सा चक्र चारों ओर घूमता रहता है। कोई अपमान करता है तो वह सहन नहीं होता। कोई 'तू' कहता है तो तैश में उठ कर खड़ा हो जाता है। ऐसी अनर्थकारी 'यौवनावस्था' देह की छठवीं अवस्था है। पन्द्रह से पचीस वर्ष तक पूर्ण यौवन का जोर रहता है। उसमें नाना प्रकार के विकारों से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

व्याप्त हुआ मन पर्याप्त देहाभिमान एकत्र कर लेता है। फिर चालीस से साठ वर्ष तक देह की उतरती कला पूर्ण होकर शरीर पर झुर्रियाँ आने लगती हैं और काल उन इन्द्रियों की शक्ति नष्ट करने लगता है। जब काल शरीर को क्षीण करना प्रारम्भ करता है, वह देह की सातवीं 'उत्तरावस्था' है। इस अवस्था का हाथ पकड़ कर आने वाली 'वार्धक्यावस्था' बड़े-बड़े शूरवीरों को भी विचलित कर देती है। इन्द्रियों के सुख विलास के व्यापार और उत्तममोत्तम आहार शरीर को सहन नहीं होते। उस जरा ने शरीर की रचना अस्तव्यस्त कर दी होती है। दाँत टूट कर वहाँ गड्ढे बन जाते हैं, भय से केश सफेद हो जाते हैं और मस्तक काँपने लगता है। वार्धक्य शरीर को बिलकुल क्षीण कर देता है, फिर भी विषयों की इच्छा प्रबल रहती है। चिन्ता अपार और भयंकर! आशा तो पूर्ण नहीं होती। आँखों का तेज जाता रहता है, कानों से सुनायी नहीं पड़ता, मुँह से लार गिरने लगती है, फिर भी वह देहाभिमान को बढ़ाता ही रहता है। समय आने पर मानसिक और शारीरिक रोग प्रकट होने लगते हैं, महामोह से बुद्धि भ्रमित हो जाती है और विचार करने की शक्ति तो बिलकुल नष्ट हो जाती है। चलते समय पैर आपस में लड़खड़ाने लगते हैं और सहारे के लिये लाठी लेनी पड़ती है। जीभ भारी हो जाती हे और शब्द स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ते। होंठ चूहे की तरह हिलते रहते हैं। आँखों से कीचड़ निकलता है, मुँह में लार भर जाती है, नाक से निकलने वाला मल होठों पर बहने लगता है। मुख का चुम्बन भी कोई नहीं माँगता क्योंकि वह देने वाली स्त्री थूक देख कर दूर भाग जाती है। खाँसी के कारण क्षण भर के लिये विश्राम नहीं मिलता, साँस फूलती है और खाँसी का दौर चलता रहता है। शरीर काँपता रहता है, फिर भी देहाभिमान कम नहीं रहता। 'कल के बच्चे' कहकर वह लोगों को पुरानी बातें सुनाने बैठ जाता है। अपानवायु का वाद्य तो निरन्तर बजने लगता है। इस प्रकार जीवित अवस्था में ही जीव का उपहास करने वाली वह 'जरा' इस देह की आठवीं अवस्था है। जिस प्रकार सुई के पीछे धागा रहता है, उसी प्रकार 'जरा' के साथ 'मरण' लगा हुआ है। जरा जब शरीर को क्षीण करता है तो मृत्यु का झंडा लहराने लगता है। देह की नाड़ियाँ पोली होने लगती हैं, आवाज लड़खड़ाने लगती है, फिर देह का आकर्षण रहता ही है। स्त्री और बच्चों की चाहत पहले से अधिक बढ़ने लगती है। मेरे बाद ये अनाथ हो जायेंगे, इन्हें कौन सँभालेगा? इस विचार से वह बच्चों को गले लगा कर फुक्का फाड़ कर रोने लगता है। धन का लोभ तो बहुत कठिन है। अन्तकाल में भी वह स्वयं खर्च नहीं करता। औरों को दूर रखकर, केवल अपने ही विश्वासपात्र लोगों को अपने खजाने की जानकारी देता है। वासना का चमत्कार आश्चर्यजनक है। देह का विस्मरण कर जिस बात का सर्वाधिक स्मरण होता है, उसी वस्तु से वह तद्रूप हो जाता है। इस देह की सम्पूर्ण स्मृति तत्काल नष्ट हो जाती है, और चेतना के साथ प्राण निकल जाता है। इसी का नाम है देह की मृत्यु। यह नौवीं अवस्था है। इस प्रकार गर्भ से लेकर मृत्यु तक देह की नौ अवस्थाएँ हैं। जो विकारी होता है उसी को देह की अवस्थाएँ होती हैं। आत्मा अविकारी होने के कारण अलिप्त ही रहता है। अब तुम कहोगे कि देह तो जड़ है, उसमें विकार कैसे होता है? सूर्य स्वयं होकर किसी को नहीं जगाता। उसके उदय होते ही लोग अपने आप जग जाते हैं। इसलिये इन लोगों का क्रिया कर्म सूर्य के शरीर को स्पर्श नहीं करता। उसी प्रकार विकार प्रकट कर आत्मा अलिप्त ही रहता है। सूर्य किरण निकलते ही जिस प्रकार सूर्यकान्त मणि अपने शरीर से अग्नि उत्पन्न करने लगता है, फिर उस अग्नि से यज्ञकार्य भी होते हैं और आग भी लगती है, किन्तु उस कर्म से सूर्य अलग ही रहता है। उसी प्रकार चैतन्य के प्रकाश से मन शुभ-अशुभ कर्म करता रहता है। लेकिन चैतन्यपूर्ण आत्मा उस मनोविकार से अलिप्त ही रहता है। इसलिये ये सारे विकार मन के ही किये हुए हैं। कर्माकर्म भी मन ने ही किये हैं, यह जान लो। जन्म-मरण भी मन की ही क्रिया है और स्वर्ग या नरक में जाना यह भी मन की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही क्रिया है। लक्ष्यालक्ष्य भी मन ने ही किया है और बंध तथा मोक्ष भी मन ने ही किये हैं। यही निरूपण साक्षात श्रीकृष्ण कर रहे हैं।

एता मनोरथमयीर्ह्यन्यस्योच्चावचास्तनूः।
गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित् कश्चिज्जहाति च॥ ४७॥

अभिमान से युक्त मन, संस्कार विकार का आभास कराता है और स्वर्ग और नरक में जाना यह भी देहाभिमान के कारण होता है। इससे आत्मा स्वभावतः भिन्न है। वह ज्ञानमय तथा ज्ञानस्वरूप है। उसे मन स्पर्श भी नहीं कर सकता और शुद्ध तत्त्व में अभिमान भी नहीं रहता। मन और अभिमान को माया ही उत्पन्न करती है, अभिमान ने ही गुणों को उत्पन्न किया है और उन गुणों ने मायात्मक विकार सामग्री के साथ यह देह तैयार किया है। देह के पास जिस प्रकार छाया रहती है, उसी प्रकार आत्मस्वरूप में मिथ्यारूप माया रहती है। ऐसे आत्मस्वरूप में जन्म-मरण के साथ इस देह के प्रवेश के लिये स्थान ही नहीं है। आत्मा शुद्ध और देह मलिन है। उसी प्रकार देह जड़ तथा आत्मा चैतन्यस्वरूप है। आत्मा अजन्मा, अव्यय और परिपूर्ण है। जन्म-मरण केवल देह को है। तीन गुण, तीन अवस्था, कार्य, कर्म, मैं कर्त्ता यह अभिमान, ये सब देहाभिमान के विकार हैं। आत्मा सर्वथा अलिप्त ही है। इस प्रकार आत्मा स्वभाव से ही चैतन्यस्वरूप होने के कारण, विकारों से भिन्न ही है। अब तुम कहोगे कि 'जीव को ही देहाभिमान है', तो उसके बारे में भी सुनो। जीव माया के गुणों से अलिप्त रहता है। स्फटिक जिस रंग पर रखिये, उस रंग का वह दिखायी देता है। लेकिन स्फटिक मूलतः शुद्ध होने के कारण वह उस रंग से भिन्न रहता है। उसी प्रकार सत्त्वादि गुणों में खेलते हुए भी जीव सचमुच अलिप्त ही रहता है। स्फटिक को काजल पर रखो तो वह काला दिखाई देता है किन्तु वह कालेपन से भिन्न रहता है। उसी प्रकार तमोगुण से जीव मलिन दिखाई दे, फिर भी वह तमोगुण से अलग रहता है। उसी स्फटिक को यदि लाल रंग पर रख दिया जाय तो उसकी प्रभा लाल दिखायी देती है, लेकिन फिर भी वह लाल रंग से अलग रहता है। जीव रजोगुण में रहकर भले ही राजसी लीलाएँ करे फिर भी वह सब भोग कर जीवात्मा अलग ही रहता है। श्वेत रंग पर स्फटिक रखने से उसका रंग श्वेत दिखायी देता है लेकिन वह श्वेत रंग से बिलकुल अलग रहता है। उसी प्रकार जीवात्मा सत्वगुण में रहने पर बड़ा ज्ञानसम्पन्न दिखायी देता है, लेकिन वह गुण और ज्ञान से अलग रहता है। इस प्रकार जीव तीन गुणों से किस प्रकार अलिप्त रहता है, यह तुम्हें बताया। अब वह देह में रहते हुए भी किस प्रकार युक्त रहता है, यह बताता हूँ। जिस प्रकार घट में रहने वाला पानी चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब घट में लाता है, उसी प्रकार जीवत्व शुद्ध आत्मा को देह में देहाभिमान के रूप में देखता है। घट निश्चल हो तो बिम्ब भी निश्चल रहता है। घट हिलता है तो बिम्ब भी हिलता है। उसी प्रकार ये सारी अवस्थाएँ देह की हैं लेकिन जीवात्मा उसे अपनी ही मानता रहता है। घर में काजल घोलने से पूरा पानी काला हो जाता है लेकिन उसके अन्दर के बिम्ब को अथवा प्रतिबिम्ब को कालिख नहीं लगती। उसी प्रकार देह के सुख-दुःख की अथवा पाप पुण्य की बात जीव के अथवा आत्मा के माथे पर नहीं आती। अहंकार के कारण देह ही वह सब कुछ भोगता रहता है। इस घड़े का पानी उस घड़े में भर दें तो उसमें भी चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखायी ही देता है। उसी प्रकार इस देह का जीव उस देह में चला जाता है, इसीलिये उसे जीवात्मा कहते हैं। चन्द्रमा आकाश में अलिप्त ही रहता है। वह मिथ्या ही प्रतिबिम्ब रूप में घट में भासमान होता है। उसी प्रकार आत्मतत्व परब्रह्मस्वरूप में स्थिर रहता है तथा देहात्मसंयोग से ही उसे जीव की चाह लगी रहती है। इस प्रकार देह धारण करने वाला जीव

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तीन गुणों से भिन्न होकर देहसंग से भी अलिप्त रहता है। इस प्रकार मैंने जीव और शिव का साद्यंत दर्शन करा दिया। लेकिन यह सब लोगों की समझ में न आने के कारण देहात्मवाद से वे भ्रांति में पड़े हैं। इससे अभिमान उन्हें स्वर्ग-नरक के चक्र में डालकर नाना प्रकार की योनियों का भ्रमण कराता है। द्विज देह से प्रारम्भ कर परमेष्ठी देह तक जाते हैं और सभी प्रकार के स्वर्गसुख को भोगते हैं। लेकिन जो पापी होता है वह अधोमुख होकर ब्राह्मण से नीचे की जाति में जन्म लेकर अनेक प्रकार की दु:ख योनियों को भोगता है। पाप और पुण्य का कर्माचरण ही जन्म-मरण बढ़ाता है। उसमें भी जन्म-मरण के चक्र को काटने वाला कोई विरला भाग्यवान होता है। जिन्होंने इच्छारहित रह कर पुण्य की राशियाँ बटोरी हैं, जिन्होंने स्वधर्म का जोड़ प्राप्त किया है, जिनके अंत:करण में प्राणिमात्र के प्रति दया रहती है और ब्राह्मण भजन में जिन्हें प्रेम रहता है, जो अहिंसा का मैका है, 'वसुधैव कुटुम्बकं' जिनका मन अद्वैतयुक्त है, जो सारासार राजहंस हैं और जो जीवन-मरण के चक्र से ऊब चुके हैं जो उपनिषदों का अर्थ चातक की तरह ग्रहण करते हैं जो जीव के उत्पादक का संशोधन करते हैं, जो आत्मतत्त्व के साधक हैं और जो सचमुच ही भावार्थी हैं, संतचरणों पर जिनकी पूर्ण भक्ति है और जो गुरुवचन पर बिक चुके हैं, वे मेरी कृपा से इसी देह में विदेहता प्राप्त करते हैं। वे ही आत्मज्ञान के योग से देह का बन्धन तोड़कर, जन्म-मरण के करोड़ों फेरे बचाकर सायुज्य की पताका लहराते हैं और उस पार पहुँचते हैं। जिस प्रकार मृगजल में डूबने का भय नहीं है, उसी प्रकार संसाररूपी भँवर उन्हें बचाकर निकल गये। लेकिन मुक्त पुरुष संसार में बहुत कम ही दिखायी देते हैं। सारा संसार ढूँढ़ने पर एकआध ही कोई दिखायी देता है। अस्तु! लेकिन यदि ऐसा कोई दिखायी दिया तो उसे पहचानेगा कौन? क्योंकि उद्धव! वहाँ भी आत्मा दिखायी नहीं देता। ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति यदि पास आकर मिला भी और उसका देह प्रपंच में व्यवहार करते दिखायी भी दिया तो भी उसके भीतर का आत्मा किसी को दिखायी नहीं देता। आत्मा आया-गया ऐसा कहते अवश्य हैं किन्तु उसका आना-जाना कोई देखता नहीं है। उसी की उत्पत्ति श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ।
न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः॥ ४८॥

पिता का आत्मा गया इसलिये पिता का देह नष्ट हो गया ऐसा कहते हैं लेकिन उसे जाते हुए कोई नहीं देखता। कोई कहता है, पुत्र का जन्म होते ही आत्मा का जन्म होता है। लेकिन पुत्रोत्सव मनाते समय उसके देह का ही गौरव किया दिखाई देता है। आत्मा दुर्गम ही रहता है, वह दिखायी नहीं देता। इसलिये इस संसार में आत्मा का आना-जाना वास्तव में नहीं होता। इस दृष्टांत से सिद्ध होता है कि जन्म और मरण देह के ही लिये है। आत्मा साक्षीरूप में अविनाशी ही है। इसी अर्थ का विवेचन श्रीकृष्ण विशद करके बता रहे हैं।

तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक्॥ ४९॥

पर्वत पर बीज की उत्पत्ति और वृद्धि होने के कारण पर्वत उस वृक्ष का साक्षी होता है। लेकिन उस वृक्ष को काटने से पर्वत को कोई दु:ख नहीं होता। उसी प्रकार द्रष्टा देह का साक्षी है। प्रत्येक देह को द्रष्टा साक्षी है किन्तु इस देह के धर्म द्रष्टा पर लागू नहीं होते। वह देह में रहते हुए भी विदेही ही रहता है। इसलिये उसे संसारबंधन का स्पर्श नहीं होता। लेकिन यह रहस्य न जानकर लोग इस संसार से जुड़े हुए हैं। यही बात स्वयं श्रीकृष्ण पाँच श्लोकों में वर्णन कर रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान्।
त्वेन स्पर्शसम्मूढः संसारं प्रतिपद्यते॥ ५०॥

कर्म, अकर्म अथवा कर्त्तापन आत्मा के लिये नहीं है। इस अर्थ का निरूपण पहले ही आ चुका है। आत्मा इनमें से किसी भी गुण का स्पर्श नहीं करता। देह में रहने वाला आत्मा देह से बिलकुल भिन्न रहता है क्योंकि पुरुष प्रकृति से भिन्न है। यह आत्मज्ञान जिसे नहीं होता वही व्यक्ति संसार में घरजमाई बन कर बैठ जाता है। उसने देहाभिमान से सामंजस्य स्थापित कर लिया है। विषय का सुख यही उसका पुरुषार्थ है, ऐसा दृढ़ निश्चय होने के कारण वही इस संसार में शुभाशुभ कर्म के योग से नाना योनि का भोग भोगने को बाध्य करता है। विषय सुख के अभिमान से देहाभिमान ही पुनः जन्म और पुनः मरण इस प्रकार नाना प्रकार की योनियों में फेरे लगाने को बाध्य करता है। लेकिन उन अनेक योनियों में गर्भवास का दुःख मूर्ख लोग देहाभिमान के कारण ही भोगते हैं। इसलिये उन नाना तत्त्वों का रूपक श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

सत्त्वसङ्गादृषीन् देवान् रजसासुरमानुषान्।
तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः॥ ५१॥

उद्धव! देहाभिमान के कारण इन तीन गुणों के कर्म घटते रहते हैं और उनके योग से तीन प्रकार के संसार पीछे लग जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—कृष्णार्पण किये बिना सात्त्विक कर्म करने से सत्त्वगुण क्षुब्ध होकर उत्तम देह में जन्म होता है और उस सत्त्वगुण का अत्यन्त उत्कर्ष होने पर देवर्षि, ब्रह्मर्षि होकर उस सत्वगुण की समसाम्य स्थिति से वे अजानबाहु तथा कल्प तक जीवित रहने वाले दीर्घायुषी हो जाते हैं। सत्त्वगुण युक्त कर्म घटने पर वे स्वर्ग के देवता बन कर रहते हैं और वहाँ का भोग भोगने के बाद पुण्य समाप्त होने पर उनका अधःपात हो जाता है और वे पुनः इस योनी में जन्म लेकर सत्त्वगुणसम्पन्न बन जाते हैं। राजस लोग रजोगुण का आश्रय लेकर राजसी कर्म का आचरण करते हैं और जब राजसगुण क्षुब्ध हो जाता है तो वह किस योनी में जन्म दिलाता है? तो जो लोग राजस कर्म ब्रह्मार्पण कर देते हैं, वे दैत्य जन्म लेकर भी भगवद्भक्त होते हैं और जो रजोगुण के उत्कर्ष से सुखोपभोग की इच्छा करते हैं, वे महायोद्धा असुर होते हैं। जो रजोगुण से ही स्वकर्माचरण करते हैं, वे उस कर्म के कारण ही ब्राह्मणजन्म पाते हैं और इसी रजोगुण के कम या अधिक परिमाण से चारों वर्णों का जन्म होता है। तामस की संगति से तामस कर्माचरण करने से तमोगुण क्षुब्ध होता है, जो भयंकर नीच योनी में जन्म दिलाता है और भूत, प्रेत, पिशाच, पक्षी, पाषाण आदि अनगिनत योनी के भोग भोगने को बाध्य करता है। (आशंका) कर्म वास्तव में त्रिगुणात्मक है, किन्तु कर्मफलों का भोक्ता ईश्वर है यह निश्चय वेदशास्त्रों के आधार पर आपने कर ही लिया। देह का साक्षी वह आत्मा निराला ही है, ऐसा सिद्धान्त आपने पिछले श्लोक में निश्चित किया था तो कर्मफलों का भोक्ता यदि कर्म से अलग है तो फिर वह कर्मों का फल कैसे भोगता है? इस प्रकार की आशंका से युक्त उद्धव का अंतःकरण जानकर श्रीकृष्ण इसी अर्थ का उत्तर विशद करके बता रहे हैं।

नृत्यतो गायतः पश्यन् यथेवानुकरोति तान्।
एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते॥ ५२॥

सभापति यदि कला-कौशल में निपुण हो और उसके सामने नृत्य और संगीत का कार्यकम हो रहा हो तो नाचने-गाने वाले के सुर पर वह भी ताल देने लगता है। अब यदि यह पूछोगे कि वह ताल कैसे देता है, तो प्रकृति केवल जड़ का अंश है और आत्मा ज्ञाता है। इसीलिये उसे भोक्ता कहते हैं। सभा में जो शांत बैठा रहता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है, वह भी नृत्यगायन के सुरों पर ठेका देता रहता है। इस प्रकार प्रकृति से अलग होते हुए भी पुरुष प्रकृति की लीला का अनुसरण करता है। (आशंका) प्रकृति का अनुकरण कर यदि आत्मा सचमुच नित्यमुक्तता नष्ट हो जायेगी क्योंकि जो कर्मफल का उपभोग करेगा, उसी पर कर्म का बन्धन लागू होगा और उस कर्म से आत्मा को भी जन्म-मरण लगा हुआ है, यह कहना पड़ेगा और यदि वैसा हुआ तो आत्मा नित्यमुक्त और विकारातीत है यह बात बहुत दूर चली गयी। अर्थात् आत्मा सांसारिक, गुणविकारी तथा बद्ध है। उद्धव! ऐसी शंका तुम करोगे। किन्तु आत्मा गुणकर्म से अलिप्त है यह बात श्रीकृष्ण और दृष्टांत देकर बताते हैं।

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः॥ ५३॥

जिस प्रकार कोई आदमी नदी के किनारे पर के वृक्ष को पानी में बहते हुए देखता है, उसी प्रकार माया के गुणों के संसर्ग से आत्मा में भी विकार का आभास होता है। जिसकी आँखों के आगे चक्कर आता है उसे सारी पृथ्वी के ही घूमने का आभास होता है। उसी प्रकार इस माया के विकारों का समुदाय भी आत्मा के लिये मिथ्या ही है। जो घोड़े पर बैठकर पानी के प्रवाह की ओर देखता है उसे स्वयं पानी में ही बहने का आभास होता है। इस प्रकार आत्मा नित्य और निर्विकार है और उसमें अनेक गुण हैं जो मायात्मक हैं। वे वास्तव में कल्पनामय होने पर भी, लोग उन्हें सच मान लेते हैं, ब्रह्मदेव से लेकर तृण तक जो असंख्य योनी हैं, वे विकारयुक्त हैं और उनमें कर्म, क्रिया, फल का भोग ये सारी बातें मन से ही उत्पन्न हुई हैं। भगवान की ये बातें सुनकर उद्धव को अतीव आनन्द हुआ और उस आनन्द के आवेग में वह भी वैसी ही लीलायें करने लगा। उद्धव के मन का ताप दूर करने के लिये सर्वज्ञ श्रीकृष्ण स्वयं ज्ञानोपदेश कर रहे थे। इसलिये जिससे उद्धव को आनन्द प्राप्त हो ऐसा ही निरूपण श्रीकृष्ण करते थे।

यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः॥ ५४॥

आत्मा नित्ययुक्त और अविकृत ही है। लगता है वह संकल्प से ही विकारी हो गया है। वास्तव में वह असंसारी ही है किन्तु मनोविकारों से ही उसे संसारी कहते हैं। इस प्रकार वहाँ दूसरा कोई न होने के कारण कथा वार्त्ता कुछ भी नहीं कहा जा सकता। श्रोता और वक्ता अलग-अलग हों तभी यह सम्भव है। अकेला आदमी चलते-चलते थक जाने पर स्वयं ही राजा बन जाता है और अपना मनोराज्य चलाता है और शत्रु के आने की कल्पना कर युद्ध के लिये तैयार होता है और उस युद्ध के लिये उसमें इतना अधिक स्फुरण होता है कि वह अपने ही स्थान पर उछलने-कूदने लगता है। इतने में पैर किसी वस्तु में फँस कर वह लड़खड़ा कर गिर पड़ता है। इस प्रकार वह मिथ्या भ्रम और भ्रान्ति में पड़ जाता है और चलते-चलते मृगजल से उस पार जाने के लिए उसमें कूद पड़ता है। आकाश में जब बड़े-बड़े बादल एकत्र हो जाते हैं तो उसमें बड़े-बड़े, महल और अट्टालिकाएँ दिखायी देने लगती हैं लेकिन जोर की हवा चलने पर वहाँ शून्याकार हो जाता है। इस प्रकार यह संसार ही काल्पनिक होने के कारण उसके सुख-दुःख भी मेरे भक्तों को मायिक मालूम होते हैं। दाशार्ह वंश में जन्म लेकर तुम उत्तम स्थिति तक पहुँचे हो। स्वप्न के सुखोपभोगों को जिस प्रकार हम स्वप्न में ही सच मानते हैं, उसी प्रकार संसार एक दीर्घ स्वप्न है, इसलिये वह केवल मिथ्या और मायिक है। जागृत होने पर जिस प्रकार स्वप्न मिथ्या मालूम होता है, उसी प्रकार निरहंकार में स्वप्न भी मिथ्या ही है। उद्धव! ब्रह्मज्ञान की यही प्रमुख

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बात है, जिसे ध्यान में रखो। सूर्य जिस प्रकार मृगजल की सृष्टि करता है, उसी प्रकार आत्मा संसार करता है। संसार केवल कल्पनामय है और आत्मा निर्विकार और ज्ञानरूप है। इस पर उद्धव! तुम शायद यह कहोगे कि जब संसार मिथ्या ही है तब साधन करने के फेर में क्यों पड़ें? बाँझ स्त्री के लड़के के विवाह के लिये जैसे कोई प्रयास नहीं करता या मृगजल पर बाँध बनाकर कोई नहर नहीं निकालता, उसी प्रकार यदि संसार बंधन मिथ्या है तो फिर श्रवण, मनन, चिंतन, विवेक, वैराग्य, ध्यान आदि का व्यर्थ प्रयास लोग क्यों करते हैं? उद्धव! देखा जाय तो बगुले का भय मिथ्या ही होता है, किन्तु बालक को यह सच ही लगता है। उसी प्रकार संसार के मिथ्या संकट से ही जीव को बन्धन प्राप्त होता है। इसी अर्थ का सिद्धान्त श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं क्योंकि संसार के सम्बन्ध में जो दुःख हैं, वे भ्रमिष्ट लोगों को भ्रम के ही कारण पीड़ा देते हैं।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ ५५॥

विचार किया जाय तो स्वप्न मिथ्या ही रहता है किन्तु उसमें के विषय सेवन से सुख-दुःख की अत्यन्त बाधा होती है। स्वप्न में पुत्र प्राप्ति होती है, अथवा राजा के हाथों सत्कार होता है लेकिन उसी आनन्द में स्वप्न देखने वाला मस्त होता रहता है अथवा स्वप्न में ही सारा धन चला गया इस दुःख से वह रोने लगता है। इसलिये, उद्धव! उसे यदि जागृत न किया जाय तो स्वप्न की सुख-दुःख की पीड़ा कभी समाप्त नहीं होती। जो लोग विषयासक्त होते हैं जिन्हें निरन्तर विषय का ही ध्यान रहता है, देहाभिमान जिन्हें सदा विषय में ही पिरोता रहता है, उनकी विषयासक्ति दूर करने के क्या उपाय हैं? इसी अर्थ का सिद्धान्त श्रीकृष्ण उद्धव को बता रहे हैं। यदि श्रवण और मनन न करें, विचारों का ज्ञान नहीं साधा, अथवा परिपूर्ण वैराग्य नहीं धारण किया तो संसार का भय समाप्त नहीं होता। लेकिन संसार मिथ्या है इतना कह भर देने से सुख-दुःख का भय समाप्त नहीं होता, जन्म-मरण का चक्र तथा अहंममता नहीं छूटती। ऐसे जो अज्ञानी लोग हैं, उन्हें अवश्य ही साधन करने चाहिये। विवेक से परिपूर्ण वैराग्य धारण करने से संसार का बंधन नष्ट होता है। इसलिये उद्धव! सभी साधनों का मूल और जिससे ब्रह्मज्ञान हाथ लगता है उस वैराग्य को पूर्ण रूप से साध्य करें। अब विरक्ति के मार्ग के बारे में सुनो। तो जिस प्रकार आग धधकती है, उसी प्रकार देह में वैराग्य दहकना चाहिये। तभी ब्रह्मप्राप्ति का अधिकार प्राप्त होता है। ऐसे जो पूर्ण मुमुक्षु लोग होते हैं और जिनकी कृपा से सद्गुरु थपथपा कर जागृत करते हैं, जो देहादिक के अभेद भाव से पुष्ट रहते हैं, माया के गुणों की त्रिपुटी जिन्हें मिथ्या लगती है, ब्रह्मावंद से सृष्टि भर जाती है, ऐसा अप्रत्याशित लाभ जिस वैराग्य विवेक से हाथ लगता है, उसी वैराग्य का वर्णन श्रीकृष्ण उद्धव से कर रहे हैं।

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्यवैकल्पिकं भ्रमम्॥ ५६॥

विषय की आसक्ति ही परमार्थ के लिये बाधक होती है। इसलिये विषय को ही त्याग दो और पुनः उसे स्पर्श न करो। वृत्ति आसक्त होने पर इन्द्रियों से चिपक जाती है और उसे अत्यन्त लुब्ध होने के कारण विषयों के भोग भोगने की इच्छा होती है। यही संसार का बड़ा रोग है। इसलिये उसका त्याग करना चाहिये। उत्तम पकवान हो लेकिन उसमें यदि विष पड़ा हो तो उसका एक ग्रास खाते ही प्राण निकल जाता है। लेकिन विष से प्राण एक ही बार जाता है और विषय बार-बार प्राण लेते रहते हैं। अब तुम कहोगे कि प्रारब्ध के अनुसार भोग आते हैं,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

फिर उनका त्याग कैसे होगा? और विषय त्याग का उपाय खोजने से वैराग्य कैसे प्राप्त होगा? प्रारब्ध से ही विषयभोग आते हैं और वही साधक को दुःख देते हैं। दावानल में फँसे हिरन जिस प्रकार झुलस जाते हैं उसी प्रकार उन्हें भी वह स्थिति भोगनी पड़ती है। बाघ के मुँह में गाय पड़ जाय, उसी प्रकार जब विषयों का भोग करने वाला छटपटाता है तभी उस अनुताप से वैराग्य उत्पन्न होता है। सच्चा वैराग्य उत्पन्न होने पर सद्गुरु की कृपा हाथ लगती है और गुरुकृपा के प्रभाव से ही द्वंद्व के साथ सारा संसार समाप्त हो जाता है। गुरुकृपा प्राप्त होने पर चारों ओर परब्रह्म ही दिखायी देने लगता है। फिर वहाँ कर्म कैसा और जन्म-मरण भी कैसा? संसार भ्रम का नाम पता ही नहीं रह जाता। उस समय दीपक की सहायता से देखने पर भी संसार नहीं दिखाई देता जिस प्रकार भ्रम नष्ट हो जाने के बाद रस्सी का सर्प नहीं दिखायी देता, अथवा लट्टू जब तक घूमता रहता है तब तक वह सीधा ही दिखायी देता है, उसी प्रकार जब तक भ्रम का साम्राज्य रहता है, तब तक संसार सत्य ही मालूम होता है। बिलकुल परिपूर्ण जो भ्रम है उसी का नाम संसार है। वैसे, परब्रह्म तो शुद्ध ही है। वहाँ जन्म भी नहीं है और कर्म भी नहीं है। इस प्रकार का ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो भी जाय तो भी चाक से मटका निकाल लेने पर जिस प्रकार चाक घूमता ही रहता है, उसी प्रकार प्रारब्ध का भोग भोगना ही पड़ता है। वृक्ष को समूल उखाड़ा जा सकता है लेकिन उसकी आर्द्रता को उखाड़ नहीं सकते। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होने पर भी प्रारब्ध उसे नहीं छोड़ता। उस प्रारब्ध के अनुसार यदि विषयभोग आ भी जाएँ तो उसका प्रतिकार करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। उसे शान्तिपूर्वक सहन करना चाहिये। जो विवेक सम्पन्न और क्षमाशील साधु होते हैं, वे विषयभोग आने पर देह में परिपूर्ण शान्ति रख कर आनन्दपूर्वक आचरण करते हैं। उसी शान्ति का लक्षण श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं। शान्ति से हमारा जो कल्याण होता है, जिसके कारण जीव को समाधान प्राप्त होता है, उसका सुमधुर निरूपण श्रीकृष्ण दो श्लोकों में कर रहे हैं।

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथवा।
ताडितः संन्निबद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः॥ ५७॥

निष्ठितो मूत्रितो वाग्भैर्बहुधैवं प्रकम्पितः।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत्॥ ५८॥

देहाभिमान रखने वाले जो तामसी, दुष्ट और दुर्जन होते हैं, वे यदि साधुओं का छल करते हैं तो साधु शान्त होने के कारण कभी क्रोध के अधीन नहीं होते हैं। जो ज्ञानसम्पन्न होते हैं, वे छोटे-मोटे उपद्रव में क्रुद्ध नहीं होते। अत्यधिक छल होने पर भी वे अति कोपायमान नहीं होते। कायिक, वाचिक और मानसिक आदि तीन प्रकार की पीड़ायें हैं। किन्तु साधु पुरुष अपनी अटल शान्तवृत्ति के कारण अपने विवेक से सब कुछ सहन करते हैं। साधु यदि युक्तिपूर्वक सरल ढंग से भाषण करता है लोग उस पर आक्षेप लेकर उसका उपहास करते हैं, उसे झटक कर उसकी भर्त्सना करते हैं, इतना ही नहीं, अपितु भरी सभा में उसका अपमान करते हैं। शब्दों का ही छल कर उसे दुष्ट, दुर्जन, दुःशील, अपवित्र और अमंगल चांडाल कहते हैं। ऐसे दुर्जन कितना ही दुष्ट भाषण क्यों न करें, लेकिन अपनी शांत वृत्ति से वह सब सहन करता है। उस शान्ति के उत्पन्न होने के कारण और विवेक के स्वरूप के बारे में सुनो। दूसरे की जीभ और होंठ जो हिलते हैं वे मेरे शरीर पर प्रहार नहीं करते, ऐसी उसकी समझ होने के कारण उसके मन में क्रोध आता ही नहीं है। उसकी शान्ति भी नहीं ढलती। सभा में मान के साथ उसकी पूजा की अथवा आसन के नीचे गिरा दिया, उसे लतियाया, उसका अपमान कर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एक ओर ढकेल दिया तो वह कहता है कि जहाँ ले जाकर सम्मान के साथ मेरी पूजा करते हैं, वहाँ भी पृथ्वी ही रहती है और अपमान करके जहाँ ढकेल देते हैं, वहाँ भी वही पृथ्वी रहती है। ऐसी स्थिति में मान हो या अपमान हो, वह तो मन की कल्पना ही है। ऐसा विचार कर सज्जन पुरुष शान्त वृत्ति के कारण किसी का द्वेष नहीं करता। अनेक प्रकार की युक्ति-प्रयुक्तियों से साधु को लोभ के पीछे लगाकर लोग उसे फँसाते हैं और उसका धन छीनकर, उलटे उसकी भर्त्सना करते हैं। उनकी निन्दा करने से मुझे दोष लगेगा इसलिये उसके मन में क्रोध नहीं आता और उसकी पूर्ण शान्ति में अन्तर नहीं पड़ता। साधु यह समझ लेता है कि 'अर्थ है वहाँ अनर्थ' है यह तो शास्त्रवचन है फिर उस अनर्थ से जो साधु को निवृत्त करता है, उसका द्वेष करते हैं वे लोग मूर्ख हैं। अज्ञानी लोग सद्गुणों पर दोषारोपण करते हैं, निन्दा करते हैं, इसमें ही हमारा हित है ऐसा समझते हैं। वही सचमुच मेरे तारनहार हैं। माता के हाथ तो केवल बाहर का मल धोते हैं लेकिन ये तो मेरे बाप के समान हैं क्योंकि ये मेरा भीतर का और बाहर का मल भी अपने जिह्वाग्र से धो देते हैं। ऐसे लोगों का छल करने से तो मेरा ही अहित होगा। ऐसा विचार कर वह साधु के गुण अथवा दोषों का उच्चार नहीं करता। इसीलिये उसके शरीर की शान्ति बढ़ जाती है। जिससे आजीविका चलती है, वह धन, अथवा जमीन छल या जबर्दस्ती से कोई छीन लेता है, तो भी साधु को क्रोध नहीं आता। इस लोक में लाभ होना या न होना केवल दैव के अधीन है, उन्हें देने वाला और लेने वाला वही है यह कह कर वह किसी का द्वेष नहीं करता और शान्ति का गुण नहीं छोड़ता। दुष्ट लोग साधु की जमीन-जायदाद से ही संतोष नहीं करते। वह बहुत बड़ा अन्यायी है, यह कह कर उसे बाँधते हैं, उसके मुँह पर थूकते हैं और जो अत्यन्त दुष्ट होते हैं वे उसके सिर पर मूतते हैं। कोई मारता है, कोई गिराता है, कोई अनेक प्रकार का छल करता है लेकिन सज्जन पुरुष में विवेक होने के कारण उसके मन की शान्ति नहीं ढलती। थूक और मूत दोनों देह से ही निकलते हैं और देह पर ही पड़ते हैं, उस पर गुस्सा क्यों किया जाय? साधु को कोई पकड़ता है या मारता है तो वह कहता है, "देखो! देह पंचमहाभूतों से ही उत्पन्न हुआ है अर्थात्, मारने वाला और मार खानेवाला दोनों एक ही हैं। तो कौन किसके लिये दुःख करे? ऐसे विचारों से जिसे शान्ति प्राप्त होती है, उसके पास चारों युक्तियाँ दासी बन कर रहती हैं। मैं श्रीकृष्ण भी उसका चाकर बनता हूँ। इससे अधिक और क्या लाभ होगा? उसमें भी जो मोक्षार्थी है उसे सभी प्रकार से शान्ति का पालन करना चाहिये। वही दुःखरूपी समुद्र से सुरक्षित उस पार पहुँचायेगा। वैराग्य, योग, ज्ञान अथवा ध्यान इनका जो फल है, वही शान्ति है। उस शान्ति को पूर्ण रूप से साध कर ही साधु अपना उद्धार कर लेते हैं। इसलिये उद्धव! शीत-ऊष्ण, सुख-दुःख आदि द्वंद्वों में जो कठोरता है उसे सहन कर परिपूर्ण शान्ति साधनी चाहिये और पूर्ण ब्रह्मस्वरूप तक पहुँचना चाहिये। पूर्णब्रह्म तक पहुँचने के बाद जन्म-मरण की बात ही समाप्त हो जाती है और परमानन्द के गले लगते ही संसारभय नष्ट हो जाता है। श्रीकृष्ण का यह भाषण सुनकर उद्धव आश्चर्यचकित हो गया। उसने कहा, यह जो अभी सुख दुःखादि द्वंद्वों की पीड़ा सुनी वह मुझे सहन नहीं होगी। ऐसी शान्ति की बातें हमने कभी सुनी भी नहीं है, देखने की कौन कहे? ऐसी शान्ति जिसके अंतःकरण में होगी, ऐसा पुरुष सारी पृथ्वी में भी नहीं होगा। हे कृष्णा! जो न कभी देखी और न सुनी ऐसी शान्ति तुम कहाँ से ले आये? तुम्हारा यह भाषण सुनकर मेरी बुद्धि तो भय से कुंठित हो गयी है। ऐसी शान्ति जिसे प्राप्त हुई है ऐसा कोई न पहले कोई हुआ है और आगे भी नहीं होगा। भगवान ने जो निग्रह बतलाया वह हमारे लिये असाध्य है जिन द्वंद्वों का तुमने वर्णन किया है वे योगियों के सहने लायक भी नहीं हैं। फिर हम कैसे सहन करेंगे? यही बात भगवान से पूछ रहे हैं।"

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उद्धव उवाच

यथैवमनुबुध्येयं वद नो वदतां वर।
सुदुःसहमिमं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रमम्॥ ५९॥

विदुषामपि विश्वात्मन् प्रकृतिर्हि बलीयसी।
ऋते त्वर्द्धर्मनिरतान् शान्तांस्ते चरणालयान्॥ ६०॥

जो लोग वेदशास्त्र का अर्थ पूर्णरूप से जान कर उसे बता सकते हैं वही सच्चे वक्ता हैं। उन वक्ताओं में तुम श्रेष्ठ हो। क्योंकि वेदों का प्रमुख वक्ता तुम ही हो। तुम्हारी ही युक्ति ले कर शास्त्र तुम्हारा वर्णन करते हैं, लेकिन परोक्षवाद से वे भी कुंठित हो जाते हैं। वेद तो 'वह नहीं, वह नहीं' कह कर पीछे हट जाते हैं। वह तुम्हारे ही मुखसे तुम्हारे ही ज्ञान की उक्ति, हे कृपामूर्ति! तुम्हारी कृपा से सुनने को मिलती है। मैं अपने कानों का भाग्य किन शब्दों में व्यक्त करूँ? जो सुनते हैं, वे धन्य हैं। इस प्रकार अनेक युक्तियों से उद्धव ने श्रीकृष्ण की प्रार्थना और अत्यन्त प्रेम से हाथ जोड़ कर विनती की। भगवान ने जो भाषण दिया वह अत्यन्त गहन है। यह भाषण अत्यन्त पवित्र है। लेकिन मेरे अंतःकरण में उसका बोध नहीं होता क्योंकि दूसरों के अपराध कौन सहन करेगा? यह कर्म अत्यन्त कठिन और मानव स्वभाव के विरुद्ध है। इसलिये इस महान उपदेश पर आचरण करना नितांत कठिन है क्योंकि कोई द्वंद्व किस उपाय से सहन कर सकता है? यदि कोई बड़ा आदमी कभी-कभार कोई अपराध करता है तो करोड़ लोगों में से कोई तो उसका अपराध सहन करेगा। लेकिन किसी नीच द्वारा किया गया छल कोई, कभी सहन नहीं करेगा। जिसका मुँह कभी न देखना पड़े उसे नमस्कार करना भी उचित नहीं है, फिर उसकी लात कौन सहन करेगा? जिसके शरीर में प्राण जरा भी शेष न हो वही ऐसा अपमान सहन करेगा। लेकिन जो जीवित है वह इसे कभी स्वीकार नहीं करेगा। लेकिन जो सचमुच ज्ञानी होते हैं वे भी अपनी किसी आज्ञा का उल्लंघन सहन नहीं करते, फिर अपमान कौन सहन करेगा? कपिल महामुनि को भी क्रोध हुआ था इसलिये उन्होंने सगरों को शाप देकर उन्हें भस्म कर दिया। नारद ने कुबेर के लड़के को शाप देकर वृक्ष बनाकर छोड़ा। दुर्वासा की कथा तो बहुत लम्बी है। शृंगी ऋषि के अंतःकरण में क्रोध हुआ और उसने पिता के गले में मृतसर्प डालने वाले परीक्षित को शाप दिया। सनकादिक वस्तुतः शान्त थे लेकिन वैकुण्ठ पहुँचने पर जयविजय ने उनका रास्ता रोका इसलिये उन्होंने क्रोध में आकर जय विजय को शाप दिया। जब ज्ञानसम्पन्न लोगों की यह स्थिति है, तो औरों की क्या स्थिति होगी? गोविन्द दूसरों का अपराध सहन करने की शक्ति त्रिभुवन में भी दुर्लभ है। प्रकृति अपने गुणों से प्रबल हुई है। वह जरा से कारण से भी गुणों को तत्काल क्षुब्ध करती है। जो पूर्ण साधु और सज्जन होते हैं, उन्हें भी क्रोध विकल कर देता है। जिसे तुम्हारी परिपूर्ण भक्ति प्राप्त होती है जिसे तुम्हारी कृपा का पूर्ण लाभ होता है, तुम्हारे चरणों में जो अत्यन्त लीन रहता है, उसे ही ऐसी शान्ति प्राप्त होती है। तुम तो त्रिभुवन में विश्वात्मा हो। तुम्हारे सामने मैं कोई बात चुरा कर नहीं रख सकता। मैं सच कहता हूँ कि यह दूजाभाव और द्वंद्व मैं सहन नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण, यह तुम भी जानते हो। शान्ति अत्यन्त पवित्र वस्तु है और क्रोध नितान्त निन्दनीय है इसका प्रतिपादन बुद्धिमान लोग भी करते हैं किन्तु उन्हें भी द्वंद्व सहन नहीं होते। द्वंद्व वास्तव में दुःसह ही हैं। इसलिये हे कृपामूर्ति! द्वंद्व सहन करने का उपाय मुझे बताइये। अन्य साधनों को साध्य किया जा सकता है लेकिन यह सहिष्णुता मेरे मन को नहीं भाती। इसीलिये मुझे भी वैसी शान्ति प्राप्त हो ऐसी मुझ पर कृपा कीजिये। शान्ति के योग से प्राप्त होने वाले कल्याण का मुझे लाभ हो ऐसी पूर्ण कृपा मुझ पर करें।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहकर उद्धव ने भक्तिभाव में श्रीकृष्ण के चरण पकड़ लिये। उद्धव की विनती सुनकर श्रीकृष्ण को बहुत सन्तोष हुआ और चातक की तृषा के लिये मेघ जिस प्रकार गर्जना कर त्रिभुवन को पर्यन्यवृष्टि से तृप्त करता है, उसी प्रकार भक्त की विनती सुनते ही प्रफुल्लित होने वाला श्रीकृष्ण उद्धव के अंत:करण पर शान्ति का ठप्पा कैसे लगायेंगे ? उदार, सुन्दर और गुण गम्भीर शार्ङ्गधर अब शान्ति का भण्डार खुला कर स्वयं उद्धव के प्रश्न का उत्तर देंगे। श्रीकृष्ण की वर्णन करने की पद्धति आश्चर्यजनक होगी। युक्ति और चातुर्य के वैभव की वर्षा ही होगी। जिससे शान्ति गले लग जाय ऐसी अपूर्व युक्ति वह बतायेगा। श्रीकृष्ण के मुख से ज्ञानपूर्ण शब्द सुनकर शान्ति स्वयं ही साक्षात प्रकट होती है। इसलिये ऐसा भाषण सुनने के लिये उद्धव भी सावधान होकर बैठ गया। जिस प्रकार हाथी को पकड़ने के लिये शेर सावधान होकर बैठता है उसी प्रकार शान्ति का लाभ लेने के लिये उद्धव भी तैयार होकर बैठ गया। उसी 'भिक्षुगीता' का निरूपण श्रीकृष्ण अगले अध्याय में करेंगे और जिससे अंत:करण में परिपूर्ण शान्ति अंकित हो सके ऐसे लक्षण बतायेंगे। जिन्हें परमार्थ की इच्छा हो, उन्हें अन्य साधनों के द्वार छोड़ कर इस शान्ति साधन पर ही दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिये। अब श्रीकृष्ण शान्ति का विस्तार वर्णन करेंगे इसलिये उद्धव भी ध्यान लगाकर बैठेगा। इसलिये जनार्दनरूपी एकनाथ भी श्रोताओं से विनती करते हैं कि वे भी मेरी ओर ध्यान दें।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादश स्कंधे एकाकार टीकायां
श्रीकृष्ण उद्धव संवादे द्वाविंशतितमोध्याय: ॥ २२ ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तेईसवाँ अध्याय

हे ओंकाररूप, विश्वरूपा सद्गुरु! तुम्हें नमस्कार है। तुम ज्ञानस्वरूप हो और विश्व के भीतर-बाहर केवल तुम ही हो। तुम्हारे स्वरूप का यदि विचार किया जाय तो तुम निर्गुण होते हुए अव्यय हो। यह जो साक्षात् चराचर है, वह तुम्हारे निर्गुण स्वरूप के अवयव हैं। जीव और शिव तुम्हारी तुम्हारी माया है। अद्वैत यही तुम्हारा सच्चा वैभव है। घृत की गुड़िया साकार दिखायी देती है लेकिन केवल घृत के रूप में ही उसे देखने पर वह निराकार ही है। उसी प्रकार तुम अविनाशी और अविकारी होकर संसार के आकार में भासित होते हो। संसार का यह जो रूप दिखायी देता है वह तुम्हारा ही स्वरूप है और तुम्हारे अंग को देखा जाय तो तुम अनंग हो। लेकिन उस अनंग का (अर्थात् काम का) तुझमें स्पर्श भी नहीं है। जो कुछ दृष्टि को दिखायी देता है, वह तुम नहीं हो। जो नहीं दिखायी देता वह तुम हो। होना न होना तुम्हारे पास नहीं है। तुम संसार के ऐसे जगद्गुरु हो। शब्द तुमसे दूर है। लेकिन शब्द के अन्तर्बाह्य तुम ही हो। चराचर में बोलने वाले तुम हो और वेदशास्त्रों का वक्ता भी तुम ही हो। ईख की मधुरता निकलती है। ईख के भीतर-बाहर मधुरता ही रहती है लेकिन मधुरता में ईख नहीं होती। तुम्हारा और वेद का नाता वैसा ही है। वेदों के वक्ता तुम ही हो और वेदों में तुम्हारा ही प्रतिपादन किया हुआ है। गुरुराया! तुम निःशब्द में ही रहते हो, इसलिये अंत में वेदों को भी तुम्हारा आकलन नहीं हो पाता। जिस प्रकार अनाहत ध्वनि निःशब्द होकर प्रत्येक ध्वनि से मिला हुआ रहता है लेकिन वही अनाहत (वाद्य पर बिना आघात किये होने वाला ध्वनि) बजा सके ऐसा कोई वाद्ययंत्र संसार में नहीं है। उसी प्रकार तुम समस्त वेदों के वक्ता हो, सारे शास्त्रों को युक्ति बताने वाले हो लेकिन वेदशास्त्रों से सम्मत तुम्हारा वर्णन नहीं किया जा सकता। इसलिये यदि तुम्हें निःशब्द कहा जाय तो निःशब्द और सशब्द यह कहना भी मायिक ही है। सारांश, तुम्हारा स्वरूप समझ में नहीं आता। लेकिन इस प्रकार तुम ज्ञाता हो यह सिद्ध करने जाओ तो फिर अज्ञान शेष ही नहीं रहता। फिर, जहाँ अज्ञान है ही नहीं, वहाँ ज्ञाता कौन है और ज्ञातापन किस चीज का है? जहाँ शादी लायक लड़की ही नहीं है, वहाँ उसके लिये दूल्हा खोजने के लिये कौन कहेगा? तुम ज्ञानी हो और अज्ञानी भी नहीं हो। तुम बोलने वाले भी नहीं हो और न बोलने वाले भी नहीं हो। तुम अनेक भी नहीं हो और एक भी नहीं हो। तुम्हारे अतर्क्य स्वरूप के सम्बन्ध में कोई तर्क ही नहीं चलता। तुम शब्दातीत हो, विकारातीत हो, तुम निर्गुण हो, तुम निरहंकार हो यह कहने में भी विचार करना पड़ता है। क्योंकि जगदाकार और जगदात्मा तो तुम ही हो। सारे जगत के आकार में तुम प्रसिद्ध हो, अतः किसका द्वंद्व किसे बाधा पहुँचायेगा? जब दूसरा कोई है ही नहीं तो फिर दूसरे के अपराध किसे विरुद्ध मालूम होंगे? हे सद्गुरुनाथा! इस प्रकार तुम्हारे चरणों में द्वंद्वों की एकात्मता हो जाने के कारण ही ऐक्य भावना से, अपनी ही कथा श्री भागवत सुनाते हो। उसी भागवत के बाईसवें अध्याय के अन्त में, उद्धव ने आपसे शान्ति कैसे प्राप्त होगी और ये द्वंद्व कैसे टूटेंगे इसका उपाय पूछा था। जिसके योग से ब्रह्मज्ञान की इच्छा पूर्ण हो ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उद्धव ने पूछा था। श्री शुक्राचार्यजी को तो वह बहुत अच्छा लगा और इससे राजा परीक्षित की इच्छा भी पूर्ण हुई। उद्धव का यह प्रश्न सुनकर शुक्राचार्य आनन्द से डोलने लगे। वे परीक्षित से बोले, राजा! सावधान हो जाओ। उद्धव पर श्रीभगवान प्रसन्न हो उठे हैं। ब्रह्मज्ञान की अन्तिम स्थिति मुख्यरूप से शान्ति ही है। इसलिये शान्ति और निवृत्ति का ही निरूपण वह अब चार अध्याय में करेंगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हे राजा परीक्षित! वही मैं तुम्हें बताता हूँ। हे पाण्डव कुलदीपक! हे कौरव कुल तिलक! सुनो। तुम आत्मसुख के साधक हो इसलिये शान्ति के सच्चे अधिकारी तुम ही हो। ब्रह्मप्राप्ति साध्य करने के लिये तुम जलपान भी छोड़कर भगवत्कथा श्रवण के लिये बैठे हो। इसलिये हे राजा! श्रीकृष्ण की बतायी हुई शान्ति और निवृत्ति के बारे में सुनो। तेईसवें अध्याय का विषय इस प्रकार है कि दुर्जन यदि मन को क्षुब्ध करे तो उस मन को पूर्ण क्षमा करने का उपाय श्रीकृष्ण बतायेंगे। भिक्षुगीत का संरक्षण ही मनोजय का लक्षण है और प्रकृति पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाय इसका निरूपण चौबीसवें अध्याय में हुआ है। तीन प्रकार के तीन गुण बताकर उसमें स्वयं को निर्गुण बताकर, गुणजय का उत्तम निरूपण पच्चीसवें अध्याय में किया है। अब इसमें जो छब्बीसवाँ अध्याय है वह ज्वलंत विरक्ति का है। उसमें ऐलगीत सुनाकर स्त्रियादिक सारे विषयों का त्याग करने को कहा गया है। गुण, विषय, प्रकृति और मन इन चारों का समाधान श्रीकृष्ण अपने मुख से चार अध्यायों में बतायेंगे। इस प्रकार राजा परीक्षित को सावधान कर श्री शुक्रयोगीन्द्र कथा का निरूपण करने लगे।

वादरायणिरुवाच

स एवमाशंसित उद्धवेन भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः।
सभाजयन् भृत्यवचो मुकुन्दस्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः॥ १॥

शुक्राचार्य बोले, हे परीक्षित! उद्धव की यह विनती सुनकर, उसके भाषण से श्रीकृष्ण को संतोष हुआ और वह उद्धव को आगे उपदेश करने लगा। करोड़ों जन्मों के बाद ही अन्त में ब्राह्मण के उत्तम कुल में जन्म प्राप्त होता है। वह महापुण्य का फल है। लेकिन यदि हरिभक्ति न हो तो वह भी निष्फल है। आम का एकआध वृक्ष सदा फलद्रूप होने वाला होता है लेकिन यदि उस पर विष की बेल उग आये तो वह भी निष्फल सिद्ध होता है। उसी प्रकार उत्तम लोग भी भजन के बिना व्यर्थ हो जाते हैं। लेकिन उद्धव की बात वैसी नहीं थी। वह यादवों के उत्तम वंश में जन्म लेकर भी, श्रेष्ठता प्राप्त कर भी सम्पत्ति के मद में नहीं भूला। हे महाराजा! राज्य-वैभव प्राप्त होने पर भी जो भगवद्गीता को नहीं छोड़ता उसे ही भगवद्भक्तों में श्रेष्ठत्व का लाभ अवश्य मिलता है। सद्गुण वाली, सुन्दर और पतिव्रता स्त्री अनुकूल मिलने पर भी जो भक्तिमार्ग नहीं छोड़ता वही है श्रेष्ठ भगवद्भक्त! उद्धव तो इन गुणों से परिपूर्ण था। विचारों से तो वह अत्यन्त विरक्त था और श्रीकृष्ण के चरणों में तो अत्यन्त अनुरक्त था। इसीलिये उद्धव ही श्रेष्ठ भगवद्भक्त है। उम्र से और सम्पत्ति से जो वरिष्ठता आती है, उसे गौण समझना चाहिये क्योंकि भगवद्भक्ति ही सब में श्रेष्ठ है। उसे वैभव से उद्धव परिपूर्ण था। वह श्रीकृष्ण का अत्यन्त विश्वस्त था। श्रीकृष्ण जिसके साथ अंतरंग थे, जिसे गुह्यज्ञान बताते थे उसके भाग्य का किस प्रकार वर्णन किया जाय? साक्षात परब्रह्म ही उद्धव के हाथ लग गया था। इतना ही नहीं, अपितु परब्रह्मरूपी श्रीकृष्ण उसके कहने के अनुसार चलता था। इसलिये सच्चा भाग्यशाली तो वही है। इस प्रकार उद्धव के भाग्य का वर्णन करते-करते शुक्राचार्य भाव विह्वल हो गये। उसके अंत:करण में आनन्द की ऐसी बाढ़ आ गयी कि वह तटस्थ हो कर बैठ गया। यह देखकर राजा परीक्षित को भी आश्चर्य लगा। उसने मन ही मन कहा, जिसके भाग्य का वर्णन कर श्रीशुक्राचार्य भी भाव विह्वल हो गये, वह उद्धव वास्तव में भाग्यवान है। मेरे लिये भी वह सभी प्रकार से पूज्य है। इतने में शुक्राचार्य ने राजा से कहा, राजा! उस उद्धव का भाग्य सचमुच अत्यन्त अलौकिक है। उसने विनती करते ही श्रीकृष्ण सन्तुष्ट हो गया। उद्धव को शान्ति की ही इच्छा थी और वही, प्रश्न श्रीकृष्ण को भी बहुत अच्छा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लगा इसलिये उसका हेतु पूरा करने के लिये वह उसका विस्तृत निरूपण करेगा। सचमुच, उस श्रेष्ठ शान्ति के अधिकारी एक तुम ही हो, ऐसा कह कर श्रीकृष्ण उद्धव को प्रेमपूर्वक सुनाने लगे।

श्री भगवानुवाच

बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः।
दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः॥ २॥

उद्धव! तुमने जो कुछ भी कहा उसे मैं सच ही मानता हूँ। दुर्जनों द्वारा अपमानित होने पर उसे सहन करने लायक शान्ति किसी में भी नहीं होती। देव भी जिसकी पादुकाएँ मस्तक पर धारण करते हैं, मुख्य इन्द्र भी जिसका चरण स्पर्श करते हैं, अष्ट महासिद्धि जिसकी बनकर रह गयी हैं और ब्रह्मज्ञान जिसका अंकित होकर रह गया है ऐसे देवों के गुरु बृहस्पति के तुम शिष्य हो, साक्षात् विवेकमूर्ति हो। इसलिये शान्ति साध्य करने के उपाय तुम्हारी समझ में आ सकेंगे। उद्धव को शान्ति का रहस्य समझ में आ जाय इसलिये श्रीकृष्ण ने उसे गौरवान्वित किया और उसके ही भाषण का अनुमोदन करते हुए श्रीकृष्ण शुद्ध शान्ति का स्वरूप बताने लगे। निन्दा, अवज्ञा, उपहास आदि मार्गों से दुर्जनों द्वारा किया गया अपमान जो सहन करेगा, वह साक्षात् ईश्वर ही है, यह ध्यान में रखो। वह आत्मज्ञान से पूरी तरह मद्रूप ही हो जाता है। प्राणिमात्र में आत्मस्वरूप देखने की बात जिसे स्वीकार है, वह दुर्जनों के आघात को भी आनन्दपूर्वक सहन करता है। जो स्वयं ही सारा जगत बनकर रहता है उसे कितना ही उपद्रव क्यों न हो लेकिन क्रोध का उबाल नहीं आता। वह जरा भी उद्विग्न हुए बिना वे उपद्रव आनन्दपूर्वक सहन करता है। अपना ही एक हाथ शरीर पर कहीं लग जाय तो जिस प्रकार हमारे मुख से क्रोध या द्वेष का शब्द नहीं निकलता, उसी प्रकार चराचर को जो आत्मस्वरूप से ही देखता है, उसके घर में शान्ति स्वयमेव प्रवेश करती है। उद्धव! जिसे ऐसा आत्मज्ञान हुआ है, उसे ही साधु समझा जाय। वही दूसरे का अपराध सहन करता है। वही एक शान्ति के योग से पवित्र हुआ रहता है। यह आत्मज्ञान जिसकी समझ में नहीं आता ऐसे जो अन्य ज्ञानसम्पन्न विद्वान हैं, वे भी द्वंद्व सहन नहीं कर सकते, यह भी तुम्हें कह देता हूँ।

न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः॥ ३॥

लोहे के अत्यन्त प्रखर बाण होते हैं, जिनके प्रहार से प्राण विह्वल हो जाते हैं लेकिन दुर्जनों के वाग्बाण शरीर में उससे भी अधिक गहरे धँस जाते हैं। लोहे के बाण शरीर पर जिस स्थान पर लगते हैं उसने ही अवयव के जख्मी होने से मनुष्य विह्वल हो उठता है लेकिन वाग्बाण का सामर्थ्य उससे अधिक है। उनके प्रहार से पूर्वज भी जख्मी होते हैं। लोहे के बाण का घाव पेड़-पौधों के पत्तों से ठीक हो जाता है लेकिन वाग्बाण का दर्द जीवनपर्यन्त कष्ट देता है। दूसरों का मर्म निकालने के लिये विषैली भावना से सने हुए निन्दा के वाग्बाण जब शरीर में घुसते ही अंतःकरण को चीर देते हैं तो शरीर में जैसे आग लग जाती है। ऐसे दुर्जनों के वचन और अपमान का औद्धत्य सहन करने की शान्ति साधारण व्यक्ति में नहीं होती। इस प्रकार उद्धव का मनोगत ध्यान में रखकर श्रीकृष्णनाथ शान्ति का निर्णय सुना रहे हैं। पूर्व में जिस शान्ति का वर्णन किया था, उसे शीघ्र साध्य करो, ऐसा श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा। लेकिन उसे वह व्यर्थ लगेगा और उसके मन में संकोच होगा क्योंकि शान्ति असाध्य है ऐसा उद्धव के मन में था। इसे ध्यान में रखकर श्रीकृष्ण भिक्षुगीत (एक संन्यासी द्वारा गाये हुए विचार) उसके सम्पूर्ण इतिहास के साथ बता रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः॥ ४॥

शान्ति भंग होकर क्षोभ से उत्पन्न होने वाले चित्त के मैल को तत्काल नष्ट करने के लिये योग्य जो इतिहास गंगा है, वही अत्यन्त निर्मल और कृष्णोक्ति है। श्रीकृष्णमुखरूपी ब्रह्मगिरी पर्वत पर श्रीभागवतरूपी औदुंबर के नीचे शान्ति गोदावरी का उद्‌गम हुआ, इसीलिये वह मूल से ही अत्यन्त निर्मल है। वही गुप्त प्रवाह से उद्धव गंगाद्वार पर व्यासमुख से प्रकट हुई और वही शुक्राचार्य के मुखरूपी कुशावर्त्त में पवित्रता से सहसा प्रकट हुई। उस पवित्र प्रवाह के साथ श्रद्धा, धृति और भक्ति इस क्रम में अरुणा, वरुणा और सरस्वती ये नदियाँ यहाँ मिलकर उनका संगम हुआ है। इसलिये शान्तिरूपी गंगा में बाढ़ आकर वह अत्यन्त उत्कर्ष से बहती चली जा रही है। उसमें जो श्रवणार्थी डुबकी लगाते हैं वे अपनी ही क्षमा से पवित्र हो जाते हैं। वह शान्तिरूपी अत्यन्त प्रसिद्ध गंगा उद्धव को पुनीत करने के लिये श्रीकृष्ण ने भिक्षुगीत वर्णन से प्रकट की है।

केनचिद् भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः।
स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम्॥ ५॥

उद्धव! एक संन्यासी था। उसे दुर्जनों ने अत्यन्त कष्ट दिया तो वह कहता था कि उनके उपद्रवों से मेरे दुष्कर्मों का क्षय होगा। इसी आनन्द से वह अपने मन में दुर्जनों के प्रति क्षमाशील हो गया। हमारे शरीर का मल कोई निकाल कर साफ कर रहा है इस पर जो क्रोध करता है वह मूर्ख और आत्मघाती है। जिन्हें लोग दुर्जन कहते हैं उनके बारे में वह संन्यासी कहता है कि "ये मेरे स्वजन हैं क्योंकि मेरे दोषों का नाश इनके ही धर्म के कारण होता है।" कोई उसके सामने उसकी निन्दा करता है तो वह मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हो उठता है। वह कहता है, श्रीकृष्ण मुझ पर प्रसन्न हो गया क्योंकि मेरे पापों का नाश अपने आप ही हो रहा है। सचमुच, इन विचारों से वह शान्ति को कभी ढलने नहीं देता। अपने धैर्य की चोटी पर खड़े होकर उसने जो गाथा गायी उसे सुनो। श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा, उद्धव! ध्यान देकर सुनो। जो नितांत लोभी था वह किस प्रकार विरक्त हो गया उसकी कथा सुनो।

अवन्तिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया।
वार्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः॥ ६॥

मालव देश की अवंती नामक नगरी में एक ब्राह्मण रहता था। वह अपने घर के ओसारे में बैठता था। खेती और व्यापार से वह अपनी आजीविका चलाता था। उसके घर धन-धान्य की विपुलता थी। लेकिन बुद्धि से कंजूस होने के कारण वह भरपेट खाता भी नहीं था। मोटा अनाज, वह भी अपर्याप्त। अर्थात् उसके बाल-बच्चे, नौकर-चाकर भी पेटभर भोजन नहीं करते थे। वह कभी भी नित्य-नैमित्तिक कर्म नहीं करता था। धर्मकृत्य की जानकारी तो उसे स्वप्न में भी नहीं थी। देव, ब्राह्मण और अतिथि उसके घर से विमुख ही लौटते थे। कहीं किसी दिन एक आध कौड़ी की प्राप्ति होने वाली हो और उसी दिन माँ-बाप का श्राद्ध हो तो वह उसे छोड़कर, लाभ के लिये महार के घर भी जाता था। छुआछूत का भय तो मन में आता ही नहीं था। धनलोभ के आगे वह ऊँच-नीच की बात ही भूल जाता था। हाथ में पैसा आ रहा है यह देख कर वह हीन के हाथ का अन्न भी ग्रहण कर लेता था। द्रव्य लोभ के आगे पाप अथवा महादोष की बात मन में भी नहीं लाता था। कौड़ी के लोभ ने उसे इतना मूर्ख बना दिया था कि जिससे वह नरक अथवा अधःपतन की बात ही भूल गया था। इस प्रकार वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

क्रियानष्ट ब्राह्मण दुष्कर्म करता रहता था। वह महाठग, अत्यन्त कपटी, नीच और धन का लोभी था। इसके धन लोभ में कोई रुकावट आती तो वह क्रोध से उबल उठता और गोहत्या, ब्रह्महत्या करने तक के लिये भी तत्पर हो उठता था। धनलोभ के पीछे क्रोध की बस्ती रहती है—धन के पीछे पाप भी रहते हैं। धन के लोभ पर ही जिसका मन रहता है उस वृत्ति का नाम है कृपणता। जिसने धन का ढेर इकट्ठा कर लिया हो उसे यदि खर्च करने की नौबत आये तो उसके प्राण निकलने लगते हैं। बन्दर के गाल में जब तक चना छिपा हुआ है, तब तक वह उसे हाथ नहीं लगाने देता, उसी प्रकार धन खर्च करने में ही कृपण की मृत्यु है।

ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः।
शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः॥ ७॥

घर का थोड़ा भात खर्च होगा, इसलिये वैश्वदेव भी नहीं करता, फिर अतिथि की कब और कौन पूजा करेगा? इतने पर भी यदि कोई अतिथि आ ही जाय तो उसके साथ वह ऐसा भाषण करेगा कि जिससे उसके प्राण ही निकल जायें। फिर उसके पास दाना-पानी कौन माँगेगा? उसका घर देखकर ब्रह्मचारी उदास हो जाते। संन्यासियों ने तो, जिस प्रकार राजहंस गोबर की आशा छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उसके घर की आशा छोड़ दी थी। भिखारियों ने तो उसका द्वार वर्जित कर दिया था। अतिथि उसके द्वार से आगे निकल जाते थे। कोई मेहमान आता तो वह कहीं और आसरा लेता। पितर तो उससे हमेशा के लिये निराश हो गये थे। चूहे भी घर छोड़ कर चले गये। कौवे, चिड़िया और चींटियों ने भी दूसरे घर में अपनी व्यवस्था कर ली थी। जो स्वयं भी पेटभर नहीं खाता था, तो दूसरों की क्या बात करें? पत्नी और बच्चे भी भूख के आगे तड़प उठते। कुलगुरु का सम्मान करना, नाते-रिश्तेदारों को खाने पर बुलाना या समधी और दामाद का सम्मान करने जैसी बातें धन का लोभी कभी नहीं करता। मौसम में पर्याप्त फल पैदा होते हैं लेकिन वे केवल बाजार में दिखाई देते हैं लेकिन चाहे प्राण भी क्यों न जाये वह उनमें से एक भी फल नहीं चखता। माँ का जो दूध पिया वही अंतिम था, उसके बाद उसने दूध वर्जित ही कर दिया। रस सचमुच रसना का मायका है लेकिन रस के बिना वह बहुत दुःखी है क्योंकि उसका द्रव्यलोभ अत्यन्त निष्ठुर था। उसकी जीभ कितना भी प्रयास क्यों न करे लेकिन वह उससे रस की भेंट नहीं होने देता था। शरीर पर जो कपड़े पहनता वह भी अत्यन्त मैले-कुचैले और जगह-जगह फटे होते थे। मस्तक तो सदा गन्दा ही रहता था। मुँह से बास आती थी लेकिन कभी पान नहीं खाता था। दीपावली, दशहरा जैसा कोई त्योहार आता तो घर में पुरानी जोनरी ले आता। बाल-बच्चों को भी खाने-पीने से वंचित रखता था। इसी का नाम है सच्चा कृपण। इस प्रकार उस द्रव्यलोभी को धर्महीन हुआ देख तथा उसका कृपण व्यवहार देखकर उसके स्वजन भी उसे छोड़ कर चले गये। यही बात श्रीकृष्ण बताते हैं।

दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः।
दारादुहितरो भृत्या षिषण्णा नाचरन् प्रियम्॥ ८॥

स्वधर्माचरण में जिसका जरा भी मन नहीं है, जो दानधर्म बिलकुल बन्द कर देता है, जिसे केवल धन का लोभ रहता है, उसे 'दुःशील' कहते हैं। अन्न वस्त्र के लिये जो अपने परिवारजनों को और स्वयं को कष्ट सहने के लिये बाध्य करता है उसका नाम है 'कृपण'। ऐसे कृपण मनुष्य का साथ पहले उसकी स्त्री छोड़ती है और फिर इष्ट मित्र, नौकर-चाकर और पुत्र भी उसके विरुद्ध हो जाते हैं। अपने सगे-सम्बन्धी भी विरोध करने लगते हैं और धन के बँटवारे को लेकर विवाद और गृहकलह प्रारम्भ हो जाता है। पास में अकूत धन होते हुए भी वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लड़कियों को मैके नहीं बुलाता। तीज-त्योहार मनाना आदि नहीं करता इसलिये लड़कियाँ भी उसे शाप देती हैं। भाई तो सदा यही मनाते हैं कि एक बार यह मर जाये तो उसके नाम से मिठाई खायें। सब लोग उसके बुरे की ही कामना करते हैं। जिसके धन को धर्म का संरक्षण नहीं प्राप्त होता उसका धन थोड़े ही समय में क्षयग्रस्त हो जाता है। यही बात श्रीकृष्ण बताते हैं।

तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः।
धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः॥ ९॥

न खाता है, न भोजन करता है और न धन को स्पर्श ही करता है, इस प्रकार जैसे कोष के पास भूत बैठता है, उसी प्रकार यह भी अपने यक्षवित्त की किसी ग्रह की तरह रक्षा करता है। ऐसे धर्मेच्छा विरहित, केवल भूत की तरह धन की रक्षा करने वाला द्रव्यलोभी को 'यक्ष वित्त' कहते हैं। धन उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय लगता है। शरीर का सुखोपभोग नहीं करता इसलिये इहलोक शून्य हो जाता है और स्वधर्म कर्म, पंचमहायज्ञ नहीं करता इसलिये परलोक भी शून्य हो जाता है। यज्ञ का हविर्भाग लेने वाले पाँच लोग रहते हैं, उन्हें उनका हिस्सा नहीं मिलता इसलिये वे पाँचों क्षुब्ध होकर उसके द्रव्यनाश के लिये उद्यत हो जाते हैं। श्रेष्ठ ब्राह्मण जन्म लेकर जो धन के लोभ में स्वधर्म से भ्रष्ट होता है वह दोनों लोकों से च्युत होता है और कृपणता के कारण कष्ट अवश्य भोगता है। अत्यन्त कष्ट कर काफी धन प्राप्त करने पर भी अधर्म से उसका नाश होता है। उसके बारे में भी श्रीकृष्ण बताते हैं।

तदवध्यानविस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य भूरिद।
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः॥ १०॥

पंचमहायज्ञ के जो देवता हैं, उनकी वह पूर्ण उपेक्षा करता है। इसलिये द्रव्यलाभ का मूल जो पुण्य है, उसका देवता ने ही क्षय कर दिया ऐसा समझ लो। द्रव्य प्राप्ति का पुण्यरूप सूर्य ही जब अस्त हो जाता है, तो द्रव्यक्षय का ही अन्धकार छाने लगता है। जहाँ प्रयास से सम्पत्ति एकत्र की जाती है, वहाँ जब अधर्मरूप अँधेरी रात आती है तो पाँचों यज्ञमूर्ति क्षुब्ध होकर पाँच प्रकार के महानाश होते हैं। जो परिवार को भी सुख नहीं देता अथवा स्वयं भी सुखों का उपभोग नहीं करता, जो धर्म पर धन नहीं खर्च करता, उस पर ये पाँचों हिस्सेदार नाराज हो जाते हैं। भाई, चोर, राजा, अग्नि और अधर्म से शरीर में रोग होता है और इन पाँच रूपों में वे पाँच हिस्सेदार धन का विनाश करने के लिये प्रवृत्त हो जाते हैं। जहाँ श्रद्धा से ब्राह्मण की पूजा नहीं होती जहाँ उचित लौकिक कर्म नहीं होता, जहाँ वेदों में कहे अनुसार दानादि धर्म नहीं होते, वहाँ निश्चित रूप से धन का नाश होता है। जहाँ बड़ों का सम्मान नहीं होता, जहाँ पंचमहायज्ञ नहीं होते, जहाँ गुरु से ही अहंकार किया जाता है वहाँ उद्धव! धन का नाश तो होना ही है यह ध्यान में रखो। जो निरन्तर दूसरों का द्वेष करते हैं, जो दूसरे की निन्दा करते हैं, सम्पत्ति के अहंकार से मदोन्मत्त होते हैं, वहाँ हे उद्धव! धन का क्षय तो होना ही है। श्रीकृष्ण भक्तों के प्रति पूर्ण दयालु होने के कारण वे धन के क्षय का लक्षण ग्रन्थों के आधार पर बता रहे हैं।

ज्ञातयो जगृहुः किंचित् किंचिद् दस्यव उद्धव।
दैवतः कालतः किंचिद् ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात्॥ ११॥

पत्नी और लड़कों ने मिलकर काफी धन गायब कर दिया। भाईयों ने जबर्दस्ती से अपना हिस्सा ले लिया। चोरों ने सेंध मारकर भण्डार लूट लिया। घर में आग लग जाने से अनगिनत वस्तुएँ जल गयीं। खेत में, फसल में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रोग लगने से सारा सत्यानाश हो गया। व्यापार भी जहाँ का तहाँ डूब गया। जो विश्वासपात्र थे उन्होंने ही चीजें हड़प लीं और नगदी कागज पुर्जे खो गये। बर्तन में रखा हुआ कपूर उड़ जाता है, समुद्र में जाने वाला जहाज डूब जाता है; उसी प्रकार व्यापार में सहयोगियों पर भी आपदा आयी और चारों ओर से विनाश हो गया। ठग आये और एकान्त में खोटे सिक्के दे गये और ब्याज के लालच में इसने अपनी सम्पत्ति उसे दे दी। तभी लड़ाई शुरू हुई और अफरातफरी में कुदाल से पूरा मकान खन डाला गया और उसमें जो भी धन छिपाकर रखा था उसे लोग टोकरी भर-भर कर ले गये। जहाँ बीज रखा था वहाँ पानी घुस गया और बीज सड़ गये। किसी जबर्दस्त ने खेत भी छीन लिये। इस प्रकार वह कंगाल हो गया। गाय-भैंस के बाड़े में रोग फैल गया और कितने ही जानवर मर गये, जो लोग माँगकर घोड़े ले गये थे वे सभी युद्ध में मारे गये। जो लोग जमीन में धन गाड़कर रखते हैं, उनके भाग्य में मिट्टी ही आती है। कितना ही गुप्त धन जमीन स्वयं ही निगल लेती है क्योंकि जब भाग्य पलट जाता है तो जहाँ धन रखा था वह स्थान ही भूल जाता है। अधर्म से प्रारब्ध का नाश हुआ और देह पर भी निस्तेजता आ गयी। वह देखने में ब्राह्मण भी नहीं लगता था। कोई उससे जाति पूछता तो वह अपने को ब्राह्मण बताता था लेकिन किसी को उसकी बात पर विश्वास नहीं होता था क्योंकि उसके ब्रह्मतेज का ही अस्त हो गया था। इस प्रकार उसका धन भी पूरी तरह नष्ट हो गया और उसका ब्राह्मण होने का तेज भी समाप्त हो गया। तब वह निस्तेज चेहरा लिये, दुःख से खिन्न होकर हाय-हाय करने लगा।

स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामवर्जितः।
उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम्॥ १२॥

खेत गये तो खेती चली गयी, परचक्र में घर चला गया, सारा धन चला गया, एक कौड़ी भी नहीं बची। यह दशा केवल अधर्म के कारण हुई। स्वधर्म नहीं किया, दान नहीं दिया, आवश्यक सुख का भी उपभोग नहीं किया इसलिये उस धन के लोभी का धन स्वप्न में भिखारी होने वाले की तरह धूल में मिल गया। भाग्य फिरने से उस अभागे पुरुष की क्या स्थिति हो गयी। स्त्री और बच्चे दूर हो गये और उन्होंने उसे घर से बाहर कर दिया और सुनो। धन के लोभी के इष्टमित्र पहले से ही नहीं होते और भाइयों को भी उससे क्या सुख था? इसलिये उन्होंने उसकी उपेक्षा कर उसे त्याग दिया। लोग सरेआम मुँह पर ही उसका निन्दा करने लगे। विधवा, बच्चे उसके मुँह पर थूकने लगे। खाने के लिये तो कुछ भी नहीं रहा। कोई भीख भी नहीं दे रहा था। जहाँ कहीं भी वह भीख माँगने जाता तो लोग कहते, यह कलमुँहा यहाँ क्यों आया? धन के लोभ में वह किस प्रकार पागल था। ईश्वर ने उसे पूरा कंगाल बना दिया। इन शब्दों में लोग उसकी भर्त्सना करने लगे और वह तो शुद्ध भिखारी बन गया और चिन्ता सागर में डूबने-उतराने लगा।

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत्॥ १३॥

धनलोभी का धन भले ही चला जाय लेकिन उसकी याद नहीं जाती। धन की याद आते ही उसका मन उद्विग्न हो जाता है और असह्य दुःख से वह छटपटाने लगता है। सर्प के मस्तक में काँटा घुस जाय या सँपोले की पूँछ कट जाय अथवा मछली को पानी से बाहर किया जाय तो वह जिस असह्य दुःख से छटपटाती है, उसी प्रकार पूर्व के धन का स्मरण होते ही वह मन ही मन सुबकने लगता है। आँखों से अविरल आँसुओं की बरसात होने लगती है और हर क्षण वह मूर्च्छित होकर गिरने लगता है। धरती पर लोटने लगता है और चीखने लगता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कहता है, "हाय रे मेरा भाग्य! आखिर, मुझे भिखारी बना दिया। हे दुष्ट ब्रह्मदेव! मेरे भाग्य में यह क्या लिख दिया? मुझे कहीं ठौर नहीं और क्या किया जाय यह भी समझ में नहीं आता।" इस प्रकार जो बड़ा दुःख सामने आ गया है, उसके विचार से वह महादुःखी होकर रोने लगता है। "यह दुःख तो कम है लेकिन मुझे आगे बहुत बड़ा दुःख भोगना है। यम जब निर्दयता से मुझे प्रताड़ित करेगा, उस समय मुझे वहाँ कौन छुड़ाएगा? मैंने कभी दानधर्म नहीं किया, नारायण का स्मरण भी नहीं किया, इसलिये मेरे भाग्य में नरक ही आयेगा वहाँ मुझे कौन छुड़ायेगा? मैंने पंचमहायज्ञ नहीं किये, अतिथियों को अन्न नहीं दिया, पितरों का तर्पण नहीं किया, अब मेरे दुःखों का निवारण कौन करेगा? मैंने ब्राह्मण की पूजा नहीं की, परमेश्वर का भजन नहीं किया, भगवद्भक्तों की चरणधूलि का वंदन नहीं किया, अब मेरे दुःखों का नाश कौन करेगा? सदा अकर्म करने के कारण मैं अघोर नरक में डूब रहा हूँ। हे श्रीहरि! दौड़कर मेरे पास आओ और मेरा उद्धार करो। हे कृष्ण! हे माधव, हे मुरारी! हे अच्युत! हे अनंत! हे श्रीहरि! हे गरुड़ध्वज! हे गोवर्धनधारी! मुझ गरीब का उद्धार करो। तुमने प्रह्लाद की रक्षा की, अम्बरीष को गर्भवास से मुक्त किया, उदर में परीक्षित का संरक्षण किया, उसी प्रकार मुझ गरीब का उद्धार करो। तुमने अहिल्या को तारा, पातकी अजामिल का उद्धार किया और गजेन्द्र को संकट से बचाया, उतनी ही शीघ्रता से मुझे उबारो। सारे पापों की खान, उस वेश्या को भी तुमने नामस्मरण से मुक्त किया। हे चक्रपाणि! उतने ही चातुर्य से मुझ दुष्ट का भी उद्धार करो। इस धनेच्छा को आग लगे जिसके कारण मेरा जन्म व्यर्थ गया। मुझ जैसे अधम ने राम का नाम भी नहीं लिया जिसके लिये धन की आवश्यकता नहीं होती। रामनाम के प्रभाव से महान पापों की राशियाँ जल जाती हैं। फिर भी मैं मुख से राम का नाम नहीं लेता।" इस प्रकार जब वह अपने अपराधों का स्मरण कर पश्चात्ताप कर रहा था, तभी उसके अंतःकरण में तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसी का वर्णन श्रीकृष्ण कर रहे हैं।

स चाहेदमहो कष्टं वृथाऽऽत्मा मेऽनुतापितः।
न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः॥ १४॥

वह ब्राह्मण हाथ मल कर कहता है—"हाय! ब्राह्मण देह तो मोक्ष प्राप्ति का ही साधन है। वह प्राप्त होने पर भी मैं कैसा कंगाल रह गया और धन लोभ के कारण व्यर्थ नष्ट हो गया। जिस देह के योग से मोक्ष का सुख मिलता है उसी देह को मैंने दुःख दिया। मैं धन का लोभी अत्यन्त मूर्ख आदमी हूँ। मुझ जैसा मूर्ख और कोई नहीं होगा। धर्म के नाम पर धन न खर्च कर मैंने बड़े प्रयास से धन जमा कर रखा, और उस धन की तो ऐसी अवस्था हुई कि उसने मुझे दुःख का फल दिया। द्रव्य लोभ का आश्चर्य बड़ा विलक्षण है। उसके आगे न इहलोक है न परलोक है। जो सुलभ मोक्षसुख था, उससे भी हाथ धो बैठा। वह लोभ मुझे नरक तक पहुँचा गया। जहाँ नरक में कल्प तक डूबने पर भी ठौर नहीं मिलता वहाँ यह धनलोक जीव को ले जाता है। वही मैंने इस नरदेह में पाया। जो ब्राह्मणदेह में जन्म लेता है, वह तीनों लोकों में पूज्य होता है। मोक्ष उसके चरणों पर होता है। ऐसा ब्राह्मणदेह का मैंने दुर्भाग्य से नाश कर दिया। लोभ से मैंने जिस धन का संग्रह किया, वह सब तो नष्ट हुआ ही लेकिन उसने मुझे अत्यन्त दुःखी किया और मुझे घोर नरक में डाल दिया। धीरे-धीरे जीवन बीतता गया और मैं पश्चात्ताप से संतप्त हो गया। धन लोभ में मेरे सारे प्रयास व्यर्थ गये लेकिन विवेक के साथ मुझमें अत्यन्त पवित्र वैराग्य उत्पन्न हुआ। द्रव्यलोभी व्यक्ति दुःख का भण्डार ही है।" जो धन के बन्धन में रहता है, वह पापी है। इस प्रकार वह अपने ही मुँह से अपनी निन्दा करने लगा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रायेणार्थ कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च॥ १५॥

सम्भवत: जो धन के लोभी होते हैं, उन्हें इहलोक का सुख रहता ही नहीं है क्योंकि उस धन का संरक्षण करने में ही उन्हें अत्यधिक दु:ख होता है और वह धन चले जाने पर मरणान्त दु:ख ही आ जाता है। धन अर्जित करने में नितांत कष्ट होते हैं, उसे सँभालने में कलह हो जाते हैं और उस धन का नाश होने पर सीना फट जाता है। इहलोक में इस प्रकार का दु:ख होता है और अधर्म होता है इसलिये परलोक भी दूर हो जाता है। इसलिये मरते समय धन के लोभी को नरक का सामना करना पड़ता है। जो धर्म नहीं करता और स्वयं भी कुछ नहीं खाता और जो मुझ जैसा कृपण हो जाता है उसे सर्वाधिक दु:ख होता है। जहाँ लोभ की बस्ती रहती है वहाँ स्वप्न में भी सुख का निवास नहीं होता। देखो! लोभ अत्यन्त निंद्य है। वह ब्राह्मण ही अपने मुख से यह कह रहा है।

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाध्या ये गुणिनां गुणा:।
लोभ: स्वल्पोऽपि तान् हन्तिश्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥ १६॥

समरभूमि में आगे का योद्धा धराशायी होने पर जो योद्धा स्वयं आगे बढ़कर शत्रु का सामना करता है और शत्रु के घेरे में फँसे राजा को कन्धे पर डाल कर ले आता है, ऐसा यश प्राप्त करने के बाद यदि उसके अंत:करण में उस वीरता के बदले कुछ पुरस्कार का लोभ होता है तो इससे उसका अपयश होता है और सारा संसार उसकी मूर्खता का उपहास करता है क्योंकि राजा उसके कुछ कहे बिना ही उसे अपने समकक्ष लाने का विचार करता रहता है। राजा के इस विचार में इस लोभ के कारण रुकावट आ गयी और उस लोभ के कारण उसकी मूर्खता प्रस्थापित हो गयी। स्वयं कन्यादान करने से सारा कुल पवित्र हो जाता है लेकिन यदि उस कन्या के ऐवज में उसने धन लिया तो उस धन के लोभी का अध:पतन हो जाता है। इस प्रकार लोभ दान में भी लांछनास्पद है। वेदशास्त्रों का अध्ययन कर जो बड़े ज्ञान सम्पन्न हो गये उनका भी धन के लोभ के कारण बहुत छल होता है क्योंकि उनमें ज्ञान का दृढ़ अभिमान रहता है। देह की सत्यता सिद्ध करने के लिये पण्डितों में विवाद शुरू हो जाता है और उनमें विरोध होने पर वे छलवादी भाषण करने लगते हैं। इस प्रकार ज्ञाता भी लोभ के चक्कर में आ जाते हैं। विचारसम्पन्न एवं ज्ञानसम्पन्न पण्डित को भी लोभ निन्दा का पात्र बना देता है फिर औरों की क्या बिसात? लोभ पवित्र मनुष्य को भी अपवित्र बना देता है। जहाँ लोभ रहता है वहीं निंदा का बसेरा रहता है। वही प्रसिद्ध दृष्टांत इस ब्राह्मण ने स्पष्ट करके बतलाया। कन्या कुलवान हो, सुशील हो, सुकुमार हो, स्वरूप से सर्वांग मनोहर हो और फिर यदि उसके नाक पर कोढ़ का हलका-सा भी दाग हो तो इतनी सुन्दर होने पर भी वह निंद्य है। उसी प्रकार मन में जरा सी भी लोभ की बस्ती हो तो वह सारे गुण, औदार्य, यश, कीर्ति आदि सबका नाश करती है। इसलिये लोभ जैसा अपयश देने वाला, त्रिभुवन में और कोई नहीं है। धन के लोभ के कारण सदा एक-दूसरे में विरोध रहता है। धन का लोभ इष्टमित्रों में भी दूरी उत्पन्न करता है। इतना बाधक और ऐसा अमंगल दूसरा कोई भी नहीं है।

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥ १७॥

पहले धन प्राप्त करने के लिये प्रयास करो, फिर उसे बढ़ाने के लिये परिश्रम करो और इतना करके वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

धन कितना ही क्यों न बढ़ जाए लेकिन लोभ उसे 'अब बस' कहने के लिये नहीं कहता। धन के लिये जिस मनोयोग से लोग परिश्रम करते हैं, वैसा ही प्रयास यदि कोई परमार्थ के लिये करे तो सचमुच ब्रह्म उसके हाथ का खिलौना बन जाएगा। इतने कष्ट से धन का सम्पादन किया किन्तु उसे सँभालने में कितनी चिन्ता लगी रहती है। इसके कारण दिन-रात प्राणों का भी भय लगा रहता है। चाहे स्त्री हो, पुत्र हो या माता-पिता हों लेकिन किसी पर विश्वास नहीं करता। धन के सम्बन्ध में वह अपने से अधिक किसी पर भी विश्वास नहीं करता। अपने प्राणों की चिन्ता न कर चोर से अपने धन की रक्षा करता है। धन की रक्षा के सम्बन्ध में जब उसे चिन्ता होती है तो जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में वह उसी चिन्ता को एकाग्र करके बैठ जाता है। ऐसी एकाग्रता यदि उसने भगवद्भजन में लगायी होती तो एक क्षण में भगवान उसके वश में हो गया होता। शादी में योग्य-अयोग्य कोई खर्च हो जाय या खाने-पीने में अधिक खर्च हो जाय तो वह घबरा उठता है। इस प्रकार धन का खर्च होने से उसे कष्ट होता है। धन के लोभी इस प्रकार धन के पागलपन में बँध जाते हैं। धन प्राप्त करने में प्रयास करने पड़ते हैं। उसे सुरक्षित रखने की चिन्ता लगी रहती है और वह खर्च हो जाने पर भ्रम की स्थिति हो जाती है। देखो! पहले, मध्य में और अन्त में भी धन पूरी तरह नुकसान देह है। उसका रत्तीभर भी सुख नहीं है। मेरा यही अनुभव है। प्रयास, कष्ट और चिन्ता इनके साथ-साथ भ्रम भी इस धन के पास भटकता रहता है। इसलिये धन में जितना अर्थ है उतना ही अनर्थ भी है। इसी बात का वर्णन वह ब्राह्मण स्वयं करने लगा।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥ १८॥

अर्थ सभी दृष्टियों से अनर्थकारी ही है। मेरा यह कहना त्रिवार सत्य है। पृथ्वी पर जो भी अनर्थ हैं, वे सब अर्थ से ही उत्पन्न होते हैं। उनकी संख्या असंख्य और अनंत है। फिर भी अर्थ से उत्पन्न होने वाले पन्द्रह अनर्थ यहाँ संक्षेप में बताऊँगा। पहला अर्थ यह है कि अर्थ के पास चोरी रहती है। जिसके पास धन नहीं है, उसे चोरों से भय नहीं है। जिसके हाथ में पैसा नहीं है, उससे चोर ही भय खाते हैं। कहीं यह कुछ माँग न ले इस भय से उससे छिप कर बैठते हैं। किसी का धन या वस्तु उसकी आँख बचाकर अचानक ले जाना, या जादू के नाम धोखा देना, भोलेपन का लाभ उठाना या जंगल में सर्वस्व लूट लेना, या रास्ते में पड़ा हुआ धन उठाना और वह किसका है यह जानने पर भी उसे न देना, यह भी चोरी का लक्षण है। सुवर्ण चुराने वाले को नरक प्राप्ति होती है यह जानने वाले भी सुवर्ण की चोरी करते हैं। फिर औरों की क्या बात की जाय? सारांश, धन की बात आते ही चोरी जो रहेगी ही। संसार में चोरी करना पाप है। उसे कोई अपने द्वार तक लाना नहीं चाहता, इसलिये वह सुवर्ण के पास रहती है। धन देखते ही संन्यासी के मन में भी विकल्प आता है। सारांश, धन से होने वाले पहले अनर्थ का लक्षण यह है कि धन के पास चोरी रहती है और धन हिंसा का स्थान क्यों है, यह भी सुनो। धन के लिये कई बार मारपीट होती है। पुत्र, पौत्र भी धन के लिये अपने बड़ों को मारते हैं। सम्बन्धों का विचार न कर लोग धन के लिये एक-दूसरे के प्राण ले लेते हैं। धन के लोभ का यह चमत्कार है कि उस लोभ से कन्या भी पिता को विष खिलाती है। पितृघात का उसे दुःख नहीं होता, धन का लोभ इतना निष्ठुर है। धन का लोभी व्यक्ति अपने माँ-बाप को छोड़ देता है। अपनी पत्नी को लेकर अलग रहता है लेकिन वहाँ भी धन का लोभ रहता ही है। धनलोभ का प्रभाव इतना विचित्र है कि पुत्र पिता को जान से मारता है। द्रव्यलोभ महाकठिन है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो माँ नौ महीने अपने उदर में रखती है, सदा नरकमूत्र का कष्ट सहती है, उस माँ की भी उसके पुत्र धन के लिये हत्या कर देते हैं। इस द्रव्यलोभ का प्रहार बड़ा विचित्र है। उसका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ? माँ भी अपनी कोख़ से जन्म को मार डालती है। सारांश, यह जो सारी हिंसा है, वह धन से होने वाले अनर्थ का दूसरा लक्षण है। अब द्रव्य असत्य का कारण कैसे बनता है, उसका निरूपण स्वयं कर रहे हैं। असत्य धन के ही पेट से जन्मा है और वह धन के बल पर ही संसार में इतना प्रबल हो गया है। द्रव्य के साथ ही असत्य उत्पन्न होता है। असत्य का और द्रव्य का हमेशा का साथ है। वह द्रव्य जिसके पास होता है अथवा जिसे द्रव्य की अपेक्षा रहती है, उसके पास असत्य सपरिवार रहता है। द्रव्य, असत्य की पैतृक सम्पत्ति है। असत्य को द्रव्य का बहुत बड़ा सहारा रहता है। वह बाप से भी झूठ बोलता है। द्रव्य के लोभ से माँ को भी फँसाता है क्योंकि सत्य द्रव्य के पास रहता ही नहीं है। धन के लोभ से साधारण लोग क्रय, विक्रय करते समय तो झूठ बोलते ही हैं, लेकिन वेदशास्त्र सम्पन्न और विद्वान लोग भी द्रव्य के लिये झूठ बोलते हैं। जिसने वेद पूरा पढ़ा भी नहीं है, वह मनुष्य धन के लालच में नीच व्यक्ति के घर अपने को चारों शास्त्रों में पारंगत पण्डित बताकर, जो वास्तव में पण्डित हैं उनका छल करता है। जो परमार्थी हैं वे अपने को विरक्त कहते हैं लेकिन वहाँ भी असत्य का ही बसेरा रहता है। वहाँ भी लोग द्रव्यप्राप्ति के लिये झूठी सिद्धि का ढोंग करते हैं। द्रव्य के पास असत्य का बड़ा महत्त्व होता है। भक्तिभाव से जिसे सद्गुरु माना है उसे ही वह अकेले में नास्तिकता के विचार प्रतिपादित करता है। लेकिन जिसके पास धन नहीं है या जिसे धन की कल्पना ही नहीं है उसे कल्पांत में भी असत्य स्पर्श नहीं कर सकता। अब द्रव्य के पास दंभ (ढोंग) रहता है, उसका भी वर्णन सुनो। अंत:करण में परमार्थ न होते हुए भी, केवल द्रव्यलोभ के कारण स्वयं को हरिभक्त कहते हैं। इसी का नाम है भजन का ढोंग। द्रव्य प्राप्त करने के लिये टीका, माला, मुद्रा आदि धारण कर उपदेश देने का ही नाम है दीक्षा का ढोंग। कोई गुरु किसी बड़े सज्जन व्यक्ति को उपदेश करने में आदर अनुभव करता है तो कोई गुरुपूजा के लिये इतना धन लगेगा ऐसा करार कर उसे मंत्र देता है, वह ढोंगी है। जिनसे द्रव्य प्राप्ति होती है, ऐसे धनी शिष्य अच्छे लगते हैं और जो गरीब शिष्य होते हैं, उनका वह धि:कार करता है। यह भी गुरु का नाम लेकर ढोंग ही करना है। तन, मन, धन गुरु को ही अर्पण करना चाहिये, ऐसा शिष्य को उपदेश देकर जो गुरु स्वयं धन का संग्रह करता है, वह गुरु के नाम पर ढोंग ही है। जो गुरु स्वयं ही धन का लोभी है, वह शिष्य को कैसे तारेगा? द्रव्यलोभ चीज ही ऐसी है कि जो गुरु को ढोंगी बनाती है जो बदमाश शिष्य व्यक्ति गुरु का धन लूटने के लिये अपनी गरीबी का बहाना कर उपदेश लेने जाता है, वह शिष्य भी ढोंगी और शठ है। गुरु के उपदेश से जिसे ज्ञान प्राप्त होता है, उस अहंकार से जो गुरु को क्षुद्र मानने लगता है और उसका उपहास करता है, वह भी ढोंग का ही लक्षण है। 'ब्रह्मरूप' की सच्ची प्राप्ति होने पर 'अहं ब्रह्म' 'मैं ही ब्रह्मस्वरूप हूँ', यह स्फूर्ति भी सहन नहीं होती। फिर वहाँ 'मैं ज्ञाता हूँ' यह कहना भी कपट की बात है। वह अलंकारण के गुप्त दंभ से ही उत्पन्न होती है। जीव का स्थान देह के मध्यभाग में है, जहाँ दंभ का अधिष्ठान रहता है। मन उसमें सहायक होकर ज्ञान का अभिमान उत्पन्न करता है। इस दंभ का जितना कौतुक किया जाता है, वह आश्चर्यजनक है। जो स्वयं को अग्निहोत्री और याज्ञिक कह कर घूमते हैं, वे ही भिक्षा माँग कर निर्वाह करते हैं। इस प्रकार द्रव्यलोभ में वेदपाठ करने वाले भी फँस गये हैं। परमार्थ की पोथी छोड़ कर जो नाना प्रकार से ब्रह्मज्ञान पढ़ाते हैं, वे ज्ञाता भी दंभ के कारण द्रव्य की आसक्ति तथा धनलोभ में फँसे हुए हैं। मंत्र-तंत्र की कथा का क्या वर्णन करें? मुख्य जो गायत्री मंत्र है उसका भी ब्राह्मण विक्रय करते हैं और स्वयं को स्वधर्म निष्ठा के कारण पावन कहते हैं। उन्हें ढोंगी समझो। ढोंग के कारण संन्यासी भी चक्कर में आ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जाते हैं क्योंकि उन्हें भी लौकिक व्यवहार का पालन करना पड़ता है। जिस उद्देश्य से उन्होंने मस्तक का मुण्डन किया है, उस (ब्रह्मचिंतन) को वे भूल ही जाते हैं। मिष्ठान्न तथा सुस्वादु भोजन और मानसम्मान को ध्यान में रखकर संन्यासी स्नान आदि की पवित्रता का पालन करते हैं किन्तु अपने मन को शुद्ध कर ही नहीं पाते। दांभिकता के चलते वाद-विवाद युक्त व्याख्यान भी देते हैं। दूसरे का द्रव्य और अन्न प्राप्त करने के लिये अथवा अपने देह की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये झूठी सात्विकता का प्रदर्शन करते हैं। अर्थ के कारण होने वाले चौथे अनर्थ दंभ का यह लक्षण है। द्रव्य के पास काम भी बस्ती करके रहता है। वह अत्यन्त प्रबल होने के कारण उसे जीतना बहुत कठिन है। जहाँ द्रव्य रहता है, वहाँ उसके साथ अत्यन्त कष्टकारी कामासक्ति रहती है। जब पास में द्रव्य नहीं रहता तब अपेक्षाकाम (द्रव्य प्राप्त करने की इच्छा) रहता है, वह अंतर्बाह्य अत्यन्त कष्ट देता है और अनेक दुःसह भोग भोगने के लिये बाध्य करता है। द्रव्य प्राप्त होने पर उन्मादकाम (मदोन्मत्तता) आता है और वह मनचाही स्त्री से समागम कराकर नाना प्रकार के अधर्म उत्पन्न करता है। धनी लोगों से ऐसे प्रकार के निंद्य कर्म होते हैं। काम द्रव्य के पास बिलकुल चिपका रहता है इसलिये वह सदा धनवानों का छल करता रहता है। जहाँ द्रव्य रहता है वहाँ काम उफनता रहता है और रात-दिन विषय की इच्छा जोर मारती रहती है। इस प्रकार द्रव्य से होने वाला पाँचवाँ अनर्थ उद्दाम काम है जो सदा द्रव्य के पास रहता है। जहाँ काम हो वहाँ क्रोध का अपनी फौज के साथ रहना आवश्यक बात है। इच्छित वस्तु प्राप्त होने के मार्ग में कोई अड़चन हो तो वहाँ क्रोध कूद पड़ता है। वह पगलाकर ऐसा तांडव करता है कि तपों की राशियाँ स्वाहा हो जाती हैं। जप, तप, नियम, धर्म आदि कर जो भी अलभ्य साधन किया रहता है वह सब क्रोध एक बार बिफरने पर क्षणार्ध में स्वाहा हो जाता है। धन का उल्लेख करने की देर है कि तत्काल प्रचण्ड क्रोध उत्पन्न हो जाता है जो जान की नौबत ले आता है। इस प्रकार द्रव्य के साथ यह अतिक्रोध रहता है। द्रव्य प्राप्ति में कोई प्रतिबन्ध लग जाय या द्रव्य खर्च करने की बात आ जाय तो उस समय क्रोध संतप्त हो जाता है और उन्मत्त होकर बैर रखता है। द्रव्य के पास प्रबल क्रोध रहता है यही छठवाँ अनर्थ है। द्रव्य के पास अहंकार भी विचित्र परिस्थिति में रहता है। उसके बारे में भी बताता हूँ। द्रव्य के कारण जब मनुष्य अहंकार से फूल जाता है तो उसे अपना बाप भी नहीं दिखाई देता। माँ को भी बदनसीब कहता है। सिद्ध, साधक अथवा तपस्वी को देखकर उनका उपहास करता है और कहता है, "जो दरिद्र होते हैं, वही संन्यासी बन जाते हैं। हरि भजन करने वालों का मखौल उड़ाता है। वैसे भी अमीरी का बल, तिस पर यदि ज्ञान भी प्राप्त हो जाय तो फिर उसमें ऐसा अहंकार चढ़ जाता है मानों अजगर ने बच्चा निगल लिया हो। द्रव्य और ज्ञान के अहंकार का यह लक्षण ही है कि वह सद्गुरु से ही द्वेष करने लगता है, उसके भाषण की अवहेलना करता है और अन्त में उसका धिःकार कर उसकी अवहेलना करता है। वह गुरु के दोष देखता है, उसे मूर्ख सिद्ध करता है और स्वयं को ज्ञानी मानता है। वह सद्गुरु को भ्रान्त कहता है और जो उसका सम्मान करता है उससे वह द्वेष करता है। यह अहंकार कैसा विचित्र है। वह सबके गुणदोष ही देखता है। वह किसी गुण को सही नहीं मानता। दोष सुनते ही उसे वह सच मान लेता है। अहंकारी व्यक्ति सामने यदि कोई सात्त्विक पुरुष आता है तो उसे वह बिलकुल खराब मानता है और उस वृत्ति के मनुष्य को पागल और आर्ष मानता है। चक्कर आकर जमीन पर गिरने से भले ही सिर झुक जाय अन्यथा अहंकारी पुरुष किसी व्यक्ति को उसके सामने सिर झुकाने के योग्य नहीं समझता। फिर लोगों को सम्मान देने की बात कौन करे? और पिता की क्या प्रतिष्ठा है? धन का उसे इतना अधिक अहंकार रहता है कि सारे ब्रह्माण्ड में वह अपने को ही बड़ा आदमी मानता है। कोई गुरु की सेवा करने में ही एकनिष्ठ रहता है लेकिन उसे भी अपनी गुरु सेवा के बारे में अहंकार रहता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वही अहंकार उसके लिये बाधक होता है। इस प्रकार मनुष्य का अति अहंकार से उन्मत्त होना, द्रव्य के कारण होने वाला सातवाँ अनर्थ है। अब द्रव्य के पास मद रहता है, उसका भी सम्बन्ध ब्राह्मण बता रहा है। जिसकी आँखों में धन का नशा चढ़ता है वह खुली आँखों से ही अन्धा हो जाता है। वह शब्दों का उपदेश कानों से नहीं सुनता। हमेशा द्रव्य के ही नशे में रहता है। द्रव्य के मद से अहंता बढ़ती है, द्रव्य के मद से औद्धत्थ आता है और द्रव्य के मद से मनुष्य चाहे जैसे अधर्म करता रहता है। धन का मद अत्यन्त अमंगल है। वह चढ़ने पर उतरने में कष्टकारी हो जाता है। ऐसा मनुष्य योग्य-अयोग्य का विचार न कर विचित्र योनी में विहार करता रहता है। जो द्रव्य के मद के वश में होता है, किसी से नहीं डरता। जहाँ नहीं जाना चाहिये वहाँ स्वयं जाता है, जो नहीं खाना चाहिये वह खूब खाता है। जिसकी संगत नहीं करनी चाहिये, उसकी संगत करता है, जो कर्म नहीं करना चाहिये वह करता है, जो नहीं बोलना चाहिये वह बोलता है और लोगों में उन्मत्त बनकर आचरण करता है। स्वयं क्या कर रहा है, इसे नहीं देखता और दूसरों के दोष गिनाता है। बाप की बात भी नहीं सुनता। द्रव्य के मद ने उसे इतना पागल कर दिया होता है। जो सिखलाओ वह नहीं सुनता और जिसे नहीं करने के लिये कहा जाय वह अवश्य करता है। उसी प्रकार अपने मुँह से साधु की चाहे जैसी निन्दा करता रहता है। अपनी जाति का आचार भी नहीं करता। दोषपूर्ण आचरण और अनाचार नहीं मानता और बड़ों का विचार भी नहीं सुनता। यौवन के जोर से वैसे ही बलवान रहता है तिस पर धन का मद, इससे वह अत्यधिक उन्मत्त हो जाता है और सीधे रास्ते पर नहीं चलता। वह स्त्री की इच्छा से व्याकुल हो जाता है, कुल और शील का विचार ही नहीं करता, सुबह और शाम का विचार नहीं करता और गधे जैसा आचरण करने लगता है। परस्त्री की अभिलाषा कर दिन में ही उसके साथ रममाण होता है। विकेशा स्त्री का भी अंगीकार करता है। पाप से जरा भी नहीं डरता। मद्य का नशा शीघ्र उतर जाता है लेकिन धन का नशा उससे भी भयंकर है। मृत्यु आने पर भी वह नहीं उतरता। धन का नशा अत्यन्त अनर्थकारी है। यही आठवें अनर्थ का लक्षण है। अब द्रव्य के पास भेद भी किस पूर्णता के साथ रहता है, इसका वर्णन ब्राह्मण स्वयं कर रहा है। भेद द्रव्य की कोख से ही पैदा हुआ है। जहाँ धन रहता है वहाँ मानों भेद का ही शासन रहता है। वह धन के पास दिन-रात पहरा देता है। हाथ में काफी धन आने के बाद वह माँ से अलग रखता है, बाप को फँसाता है और पत्नी को भी मालूम नहीं होने देता। बाप के पास कितना धन है इसका अन्दाजा लड़के को भी नहीं होने पाता, फिर औरों की क्या बात की जाय? द्रव्य के पास जो भेद है वह संसार में अन्य कहीं भी नहीं होता। शस्त्र का प्रहार सहन कर भाई रणभूमि में अपने भाई की सहायता करता है लेकिन वही भाई जब प्राप्त द्रव्य को बाँटने लगते हैं तो भाई-भाई का नाता ही मानों भूल जाते हैं। मित्र अपने मित्र के लिये प्राण दे देता है लेकिन द्रव्य उसमें प्रवेश कर मैत्री को ही संशयास्पद बना देता है। ऐसे द्रव्य में भयंकर भेद है। जो धन गाँठ में बाँध कर रखा है उसे भी वह बार-बार देखता रहता है। इस प्रकार द्रव्य के पास भेद रहता है, वही नौवे अनर्थ का लक्षण है। द्रव्य के साथ कमाल का बैर भी रहता है। ब्राह्मण अपने अनुभव से उस बैर का लक्षण बता रहा है। द्रव्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र में विरोध उत्पन्न करता है। सगे भाइयों को भी बैरी बनाता है। अपने निकट के इष्ट मित्रों में भी द्रव्य लोभ कलह उत्पन्न करता है। प्राणों से भी प्रिय मित्रों को भी द्रव्यलोभ शत्रु बना देता है। द्रव्यलोभ अत्यन्त अमंगल और दुस्तर शत्रु है। भाई-भाई में कलह उत्पन्न हो जाने के कारण, धन के बँटवारे में उसे अधिक राशि नहीं मिलती इसलिये जो लोग न्यायपूर्वक बँटवारा करते हैं उनसे बैर करता है। जिस माँ के गर्भ से जन्म लिया, जिसका स्तनपान किया उसी माँ से धन के लोभ में बैर करता है। द्रव्य माँ को ही वैरन बना देता है। उसे घर से बाहर निकाल देता है और फिर कभी उसका मुँह नहीं देखता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिसके योग से सांसारिक बन्धन से मुक्त होता है और जिसके शब्दों के योग से पावन होता है उस सद्गुरु के साथ भी द्रव्यलोभ बातचीत बन्द करा देता है। उस द्रव्य के अभिमान का महत्त्व जरा देखिये। वह सद्गुरु में भी बैर उत्पन्न कर देता है। जो द्रव्य का अभिमानी है वह किसी के साथ भी निर्वैर नहीं रहता। यही निरूपण दसवें अनर्थ का लक्षण है। अब द्रव्य अविश्वासी कैसे होता है, सुनो। द्रव्य के अभिमान का ऐसा प्रताप है कि जिसके कारण पुत्र अपने पिता पर भी विश्वास नहीं करता। भाई के प्रति भी पूर्ण अविश्वास रहता है, फिर औरों के प्रति विश्वास की क्या बात की जाय? 'आत्मा वै पुत्रनामासि', पुत्र अपना आत्मा ही है, ऐसा श्रुतिवचन है। ऐसा पुत्र जो मेरे सर्वस्व का मालिक है, उस पर भी जो विश्वास नहीं करता ऐसा द्रव्यलोभ अत्यन्त अविश्वासी है। धर्म, अर्थ और काम में पूर्णरूप से साथ देने की जो शपथ विवाह के समय ली थी और जिसका विश्वास सम्पादन करने के लिये पूर्वजों की प्रतिष्ठा का विश्वास दिला कर जिससे विवाह किया था और जिसने अपना तन-मन अपने पति को ही अर्पण किया था, ऐसी धर्मपत्नी के साथ भी यह द्रव्यलोभ अविश्वास करता है। नौ महीना जो अपने उदर में सँभालती है, सदासर्वदा विष्ठामूत्र साफ करती है, उस माँ पर भी वह विश्वास नहीं करता। जिसे द्रव्य का अहंकार होता है वह सद्गुरु पर भी विश्वास नहीं करता। द्रव्य को सम्मान देने वाला मनुष्य पूर्ण अविश्वासी रहता है। अविश्वास का मुख्य कारण एक द्रव्य है और दूसरी स्त्री, इसे स्मरण रखो। इनमें जिसका मन लिप्त रहता है वह पूर्णरूप से अविश्वास से भरा रहता है। जो द्रव्य को ही सम्मान देने वाला तथा पत्नी के पीछे पागल रहता है उसके हृदय में रहने वाला आत्मा विन्मुख होता है। सद्गुरु भी उसकी उपेक्षा करते हैं। अविश्वास से ऐसा अनर्थ होता है। पुराणों में भी अविश्वास को सारे दोषों का मुकुटमणि कहा गया है। वह अविश्वास प्रकट होते ही तत्काल वृत्ति का नाश कर देता है। अविश्वास से जब अभिमान की भेंट होती है तो मुक्त की मुक्तता समाप्त होती है। फिर वह अविश्वास विकल्प की प्रेरणा से उसे उलटे देह के बन्धन में डालता है। अविश्वास जब चित्त में भरा हुआ है और उसी समय वह बड़े अभिमान से 'मैं ज्ञाता' हूँ, कहता है तब आस्तिवृत्ति देखते ही पलायन कर जाती है और चारों ओर नास्तिकता ही नास्तिकता दिखायी देती है। अविश्वास के आगमन के साथ ही सद्भाव सपरिवार भाग जाता है और सारे त्रिभुवन में सद्भाव का अभाव हो जाता है। फिर अविश्वास विकल्प के सहारे ही सारे व्यवहार चलाता है। अविश्वास के साथ विकल्प रात-दिन आनन्दपूर्वक रहता है और जहाँ अविश्वास को प्रवेश मिलता है, वहाँ विकल्प ही उसे लूट कर नष्ट कर देता है। यह अविश्वास एक बार मन में घर करते ही परमार्थ के राज्य को उजाड़ कर देता है और सद्गुरु के भी दोष दिखाता है। साक्षात ब्रह्मदेव का भी विश्वास नहीं करता। इसलिये सारे दोषों का राजा अविश्वास के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। वह स्वयं महासिद्धियों को पूरी तरह नष्ट कर देता है और जहाँ अविश्वास हमला करता है वहाँ से परमार्थ भाग गया ऐसा समझ लो। विकल्प का हमला होते ही, वह समय व्यर्थ ही हो जाता है। सिद्ध की सिद्धियाँ नष्ट हो गयीं, साधक तो बेचारे बड़ी सफाई से मारे गये और जो साधारण होश में थे वे भी जंगल की ओर भाग गये क्योंकि अविश्वास ने श्रद्धा का उद्यान ही नष्ट कर दिया। क्रोध यमनियमों के शहर ध्वस्त कर देता है और तपस्वी लोगों की होली जला देता है। मोहरूपी हाथी मोक्षरूपी फलों से लदी बेलों को उखाड़ देता है और शमदम का झोंपड़ा खन कर चौराहे पर फेंक देता है। विचारों के रास्ते सूने हो जाते हैं, उस रास्ते पर कोई पैर नहीं रखता। व्रत, उपवास आदि के जो नन्हे कोमल उपवन थे उन्हें विकल्प ने देखते-देखते जला कर स्वाहा कर दिया। ज्ञान के अभिमानी जब ऐसे अविश्वास से मिलने गये तो विकल्प ने उन्हें अभय देकर अपने पास रख लिया। ऐसे विकल्प के आगे परमार्थ की क्या हस्ती है? विकल्प का बल बड़ा होता है, वह तत्काल अनर्थ कर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

छोड़ता है। जो हृदय से ही अविश्वासी रहता है वह सदा गुणदोषों का ही विचार करता रहता है और सदा परमार्थ से द्वेष करता है। उसका यह स्वभाव ही है। इस प्रकार अविश्वासी पुरुष परमार्थ से दृढ़ बैर रखकर रहता है। इसलिए जो अंत:करण से अविश्वासी ही है, वह यदि हँस कर भी सामने आ जाय तो गरीब को उसके पास नहीं जाना चाहिये। सारे दोषों में प्रबल, सारे दोषों का राज्य जिसे प्राप्त है, वह यह 'अविश्वास' नाम का ग्यारहवाँ अनर्थ द्रव्य के साथ रहता है। यह अविश्वास ग्यारहों इन्द्रियों पर पूरी तरह अविश्वास करता है इसलिये उसे ग्यारहवाँ स्थान दिया गया है। इस अविश्वास को मन में स्थान रहता है। मुख्य रूप से स्पर्धा का स्थान, अर्थात् अधिक विद्या या अधिक धन! स्पर्धा का जन्मस्थान यही है। यहीं से वह आगे बढ़ती है। विद्या प्राप्त होने पर पण्डितों में एक-दूसरे की निन्दा शुरू हो जाती है, वह मुख्य गुरु से ही स्पर्धा करता है, यही विद्या का स्पर्धा लक्षण है। पास में द्रव्य हो तो स्पर्धा और भी जोर मारती है। वह कहता है "कुबेर दूसरे के धन से अमीर हुआ है। लेकिन मैं अपने सत्ता के बल पर ही धनी हुआ हूँ। मेरे धन के आगे गिनती में गंगा नदी के कंकड़ भी कम पड़ेंगे। मेरी सम्पत्ति के सामने भला कौन खड़ा रह पायेगा?" फिर जिन-जिन अमीरों को वहाँ देखता है उन सबकी वहाँ अप्रतिष्ठा कर देता है। इस प्रकार द्रव्य का आश्रय पा कर 'स्पर्धा' यह बारहवाँ अनर्थ उस द्रव्य में सदा रहता है। अब एक शब्द में ('व्यसनानि' इस पद में) तीन अर्थों का मेला एकत्र हुआ है, वह भी द्रव्य के पास ही रहता है। उसके भी विविध प्रकार सुनो। स्त्री, द्यूत और मद्यपान इन तीनों को द्रव्य बढ़ाता है। ये तीन अनर्थ अमीर व्यक्ति पर एक साथ घहराते हैं। निर्धन पुरुष को पत्नी भी पत्थर के समान समझती है। ऐसे पुरुष का मुँह देखकर उसकी स्त्री भी मुँह पर थूकती है। निर्धन पुरुष के घर में स्त्री-पुरुषों में सदा कलह रहता है। उसकी स्त्री अनेक प्रकार से उसकी भर्त्सना कर उस पुरुष को घर से बाहर निकाल देती है। धनवान पुरुष के पास उसकी स्त्री कैसे आगे-पीछे घूमती है? उसी प्रकार जैसे कुतिया भाकरी का टुकड़ा देखकर 'कूँकूँ' करते हुए दुम हिलाती है। लेकिन वह धन नष्ट होते ही वह स्त्री गुस्से में पति पर बरसती है, "मुझे आपकी बातें नहीं सुहातीं। दिन-रात बच्चों से परेशान रहती हूँ और रात को आप अपने पास खींचते हैं। मुझसे नहीं सहन होता। हाथ में फूटी कौड़ी भी नहीं है। क्या सुख रखा है, ऐसे जीने में?" इस प्रकार जोर-जोर से उसकी भर्त्सना कर पति को दूर ढकेल देती है। इस प्रकार निर्धन पुरुष को उसकी स्त्री भी अनुकूल नहीं होती, किन्तु अमीर व्यक्ति को स्त्री की पीड़ा दिन-रात होती रहती है। अमीर व्यक्ति को देखकर वेश्या उसके आगे-पीछे घूमती है। उसके हावभाव से लोग फँस जाते हैं। एक बार वेश्या से कामसंग होने के बाद उनमें निरन्तर काम-लिप्सा जगती है और उसके नशे में वे सेठ-साहुकार मद्यपान करने लगते हैं। जो मद्यपान से उन्मत्त हो जाता है, वह स्वेच्छा से जुआ खेलने लगता है। इस प्रकार ये तीनों अनर्थ द्रव्य के पास ही रहते हैं, इसे निश्चित जान लो। इस प्रकार द्रव्य के पन्द्रह अनर्थों का साद्यंत वर्णन किया। इस प्रकार अमीर व्यक्ति को धन के पास नाममात्र का भी सुख नहीं मिलता।

एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥ १९॥

सारांश, मूर्ख हो या पण्डित हो, जो भी धनसंचय करते हैं उनमें ये पन्द्रहों अनर्थ उत्पन्न होते हैं। पैसा अथवा द्रव्य केवल नाम के लिये 'अर्थ' है अन्यथा वह साक्षात अनर्थ है। इसलिये जो स्वहितेच्छु हरिभक्त हों, उन्हें निश्चित रूप से 'अर्थ' का त्याग करना चाहिये। जिस प्रकार मक्खी मकड़ी को नहीं सूँघती, या जैसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

खटमल तेल के पास नहीं जाता, अथवा दीमक अग्नि को नहीं लगती, उसी प्रकार वह द्रव्य को स्पर्श नहीं करता अथवा जिस प्रकार अग्नि में पड़ा लवण तड़तड़ कर बाहर आ जाता है, उसी प्रकार मोक्ष की इच्छा से जो अपना द्रव्य तत्काल फेंक देता है वही स्वहितेच्छु हरिभक्त है। बचनाग विष क्षण भर के लिये मधुर लगता है लेकिन उसका परिणाम मृत्यु ही होता है। उसी प्रकार अर्थ अनर्थ का कारण बनता है। इसलिये जो मोक्ष की आकांक्षा करता है उसे हाथ में धन नहीं लेना चाहिये। काया, वाचा तथा मन से सचमुच ही द्रव्य का त्याग करें। सारे भेद अर्थ के कारण उत्पन्न होते हैं यह पहले भी बताया गया है। किन्तु श्रीकृष्ण वही बात बार-बार स्पष्ट करके बताते हैं।

भिद्यन्ते भ्रातरो दारा पितरः सुहृदस्तथा।
एका स्निग्धाःकाकिणिना सद्यः सर्वेऽरयःकृताः॥ २०॥

एक कौड़ी भी इष्टमित्रों की मित्रता तोड़ देती है। भाइयों का स्नेह बिगाड़ती है और सहृदों का सौजन्य नष्ट करती है। पितापुत्र में जो विरोध, स्त्री पुत्र में जो कलह होता है उसका सम्बन्ध इस अर्थ से है, यह जान लो। वह इष्टमित्रों का प्रेम ही नष्ट करता है। 'काकिनी', यानी बीस कौड़ी लेकिन वह आप्तों का सम्बन्ध तोड़ देती हैं। इतना ही नहीं, उनमें से एक फूटी कौड़ी भी इष्टमित्रों में भेद उत्पन्न करती है।

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥ २१॥

द्रव्य का लोभी मनुष्य अल्प द्रव्य के लिये भी अंतःकरण का मित्रत्त्व छोड़कर क्रोध से संतप्त होकर एक-दूसरे से धोखा करते हैं। अर्थ मनुष्य को अनर्थ में डालकर उसका प्राणान्त भी कराता है। इस प्रकार अर्थ अपने स्वार्थ पर भी आघात करता है। जब तक मनुष्य जीवित है, तब तक यह द्रव्य अनर्थ करता है और मृत्यु के बाद नरक के द्वार पर ले जाता है। अब यह द्रव्य किस प्रकार उत्तम देह को नष्ट कर देता है, यह भी सुनो।

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥ २२॥

कोटि-कोटि जन्मों का पुण्य हो, तभी इस कर्मभूमि में (भरतखण्ड में) मनुष्यदेह प्राप्त होता है। उसमें भी सारे वर्णों में अग्रगण्य, सामर्थ्यवान् ब्राह्मण वर्ण में जन्म और ब्राह्मणों में भी उत्तम कुल में जन्म इस मृत्युलोक में प्राप्त करने के लिये देवता भी मृत्यु की कामना करते हैं। स्वर्ग के इन्द्रादि जो देवता हैं वे भी ऐसे जन्म की इच्छा करते हैं। सत्यलोक तक का अद्‌भुत ऐश्वर्य जिन्हें प्राप्त हुआ है वे भी इस जन्म की इच्छा करते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि दिन-रात उसकी उत्कंठा करते रहते हैं। ऐसे इस जन्म में यदि भगवद्‌भक्ति करें तो चारों मुक्तियाँ कदमों पर गिरती हैं इसलिये देवता भी ऐसे जन्म प्राप्ति की कामना करते हैं। ऐसा उत्तम जन्म प्राप्त होने पर भी, मैं त्रिभुवन में अत्यन्त अभागा रहा और अपने स्वार्थ की उपेक्षा कर द्रव्यलोभ में द्रव्य के ही मोह में फँस गया। द्रव्यलोभ से भ्रान्त होकर अथवा लोगों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये जो भगवद्भक्ति की उपेक्षा करता है, उसे दुर्गति प्राप्त होती है। वह दुर्गति कैसी? तो द्रव्यलोभियों को नरकवास प्राप्त होता है और वे चौरासी लाख योनियों में अत्यन्त दुःख से गर्भवास भोगते रहते हैं। जिस ब्राह्मण जन्म में स्वर्ग और मोक्ष सहज प्राप्त होते हैं, उसी अर्थ का रहस्य वह द्रव्यलोभी स्वयं बता रहा है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥ २३॥

अपने धर्म के अनुसार आचरण करने पर ब्राह्मण को स्वर्गप्राप्ति की इच्छा होती है। उस समय वह ब्राह्मण श्रेष्ठ इन्द्र चन्द्रादि का स्थान भी सरलता से प्राप्त कर सकता है। जिसके यज्ञकर्म से औरों को भी स्वर्गप्राप्ति होती है, ऐसा स्वर्ग ब्राह्मणों के हाथ की चीज होने के कारण वह सहज ही प्राप्त होता है। लोकेषणा, पुत्रेषणा और दारेषणा इन तीन ईषणाओं को छोड़ कर जिस ब्राह्मण से निष्काम स्वधर्माचरण होता है, उसके चरणों पर मोक्ष भी गिरता है और रात-दिन उसका आज्ञाधारी सेवक बनकर रहता है। वह जिस पर कृपा कर दे वे भी मोक्ष पद प्राप्त कर लें इतना सामर्थ्य उस ब्राह्मण के पास सहज ही होता है। स्वर्ग जिसके पैर के नीचे की सीढ़ी है, मोक्ष जिसका आज्ञाकारी सेवक है, ऐसे ब्राह्मणत्व की महत्ता होने पर भी द्रव्य के लोभी ब्राह्मणजन्म का नाश कर देते हैं। ब्राह्मण जन्म प्राप्त होने पर जन्म-मरण पूरी तरह समाप्त हो जाता है लेकिन द्रव्य के लोभ में द्रव्य प्राप्त कर मैं फँस गया। इस संसार में मनुष्य का जन्म दुर्लभ है तिस पर ब्राह्मण का जन्म तो और भी दुर्लभ है। लेकिन वह प्राप्त होने पर भी मैं स्वयं द्रव्य लोभ के कारण फँस गया। ब्राह्मण का देह प्राप्त कर द्रव्य के कारण बड़े-बड़े लोग भी नष्ट हो गये हैं। अर्थ सचमुच अनर्थ का घर है और वह दुर्धर दुःखों को अवश्य बढ़ाता है। द्रव्य अनर्थ का ही स्थान है, इसलिये उसका पूर्णरूप से त्याग करना चाहिये। इस प्रकार वैराग्य से पूरी तरह तपा हुआ वह ब्राह्मण स्वयं बताने लगा। (आशंका) दैवयोग से यदि सम्पत्ति प्राप्त हो तो क्या उसे धूरे पर फेंक दिया जाय? या पानी में डुबो दिया जाय? द्रव्य का त्याग कैसे किया जाय? उस द्रव्यत्याग का वर्णन वह ब्राह्मण स्वयं कर रहा है। जो धनसम्पन्न हों उन्हें ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये।

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः॥ २४॥

दैवयोग से यदि धन मिले तो पंचमहायज्ञ (भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और मनुष्ययज्ञ) करना चाहिये। उत्साहपूर्वक बड़े उत्सव के साथ भगवान का पूजन करना चाहिये। स्वयं पितृतर्पण करना चाहिये। प्रतिवर्ष छानबे श्राद्ध करने चाहिये। (अमावस्या १२, युगादितिथि ४, मन्वादितिथि १४, सूर्यसंक्रान्ति १२, वैधृति १२, व्यतिपात १२, महालय १५, अष्टैका ५, अन्वष्टका ५ तथा पुर्वेघ्यु ५ कुल ९६) स्वयं गया यात्रा कर पितरों का उद्धार करना चाहिये। जीवित बड़े लोगों को त्रिकाल नमस्कार करना चाहिये। उनका कभी अपमान नहीं करना चाहिये। उनका गौरव करना चाहिये। उन्हें उनकी इच्छानुसार भोजन देना चाहिये। यथाशक्ति धन देना चाहिये और उनकी सेवा कर उन्हें सुखी करना चाहिये। पिता साक्षात् नारायण स्वरूप है और माँ लक्ष्मीस्वरूप है। ऐसी भावना से जिसके हाथ से पितृ-मातृ सेवा घटती है वह एक सत्पुत्र है। जिसकी सेवा से पितर संतुष्ट होते हैं, वही सच्चा पितृतर्पण है और जीवित अवस्था में उनकी अवज्ञा करना अनाचार है। मृत्यु के बाद श्राद्ध करना तो केवल लोकाचार है। बड़ों के वचन पर जो विश्वास नहीं करता वह पाप की राशियाँ एकत्र कर रहा है, यह जान लो और जो पिता के वचन पर विश्वास करता है उसके पास मोक्ष भी सेवक बन कर रहता है। जीवित पितरों को और मृत पितरों को किस प्रकार तृप्त करना चाहिये, इसका रहस्य तुम्हें बताया। इसी का नाम है, पितृभजन! अब ऋषिपूजन कैसे किया जाता है, यह भी सुनो। सम्मान के साथ ब्राह्मण को लाकर श्रद्धापूर्वक उसके चरण धोये। उसके चरणों के तीर्थ का वन्दन कर उसका कुछ भाग प्राशन करें और कुछ का अपने शरीर पर अभिसिंचन करें।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

धूप, दीप आदि से यथासांग पूजा करें और उसकी रुचि का उत्तम अन्न उसे तृप्त होने तक खिलायें। उसे यथाशक्ति द्रव्य दें। इसी का नाम है ऋषिपूजन। ब्राह्मण स्वयं ही महर्षि है। ब्राह्मण के योग से सनत्कुमार तृप्त होकर ढकार देता है। भाई, सगे-सम्बन्धी, इष्टमित्र आदि की भयंकर दारिद्रय पीड़ा उन्हें द्रव्य देकर कम करें, यही मुख्य रूप से श्रेष्ठ धर्म है। अपने परिवार को पीड़ा देकर दूसरे को अन्न धन देना पूरी तरह अधर्म है। वह पुण्य शुद्ध नहीं है। अपने कुटुम्ब के सभी लोगों को पूरी तरह सुखी कर, फिर जो धन बचे उसे परोपकार में खर्च करना चाहिये। यदि कोई अतिथि आ जाय तो उसे अवश्य अन्न देना चाहिये। वह यदि विन्मुख होकर जायेगा तो अपना सारा पुण्य नष्ट हो जाता है। सभी दानों में अन्नदान श्रेष्ठ है। दीन-गरीबों को सम्मान कर उन्हें अत्यन्त भक्तिभाव से सुरुचि वाला भोजन देना चाहिये। जो कुटुम्ब को सुखी करता है, गरीबों को पेटभर भोजन कराता है, लेकिन स्वयं भूखा रहता है, यह भी अधर्म है। जैसे हम गरीबों को भोजन कराते हैं, उनमें खुद को भी एक गरीब समझ कर सबके साथ भोजन करें। पंक्ति प्रपंच (पंगत में खाना परोसने में भेदभाव करना) यह भी अन्नदान में आने वाली बाधा है। इसलिये सबके साथ ही भोजन करें। द्रव्य का उचित व्यय अनाथों के प्रेतसंस्कार में करें, गरीबों के उद्धार में करें अथवा अयाचित के घर भिजवा देना चाहिये। अन्धे, विकलांग, गूँगे, दीन, दुर्बल इनका जो स्वयं संरक्षण करता है उसका ही धन सार्थक होता है और उसका ही पुण्य शुद्ध समझना चाहिये। साधु और सज्जन की राह में आने वाले संकट को जो धनवान पुरुष नष्ट करता है, उसकी धर्मशीलता की पताका साक्षात वैकुण्ठ में लहराती है। दुर्बल भक्त का संरक्षण जो धनवान पुरुष करता है उससे भगवान सन्तुष्ट होता है और उस भक्त से पहले उसका उद्धार करता है। सद्गुरु के पवित्र चरण सभी मंगलों से परिपूर्ण और सभी कल्याणों में कल्याणकारी हैं। वहाँ जिसका द्रव्य अर्पण होता है, उसके औदार्यधर्म की ध्वजा सत्यलोक में फहराती है और वैकुण्ठ तथा कैलास में सर्वत्र उसके यश की भेरी बजती रहती है। स्वधर्म से प्राप्त किया हुआ धन जो सद्गुरु को अर्पण करता है, वही कर्म करके भी निष्कर्मी है। परमपवित्र एक वही है जो अधिकाधिक भगवद्भक्ति से गुरु को अपनी सम्पत्ति अर्पण करता है उसे अंगीकार कर लक्ष्मीपति तो अपनी भक्ति से उसे देता है। जिसे एकनिष्ठ गुरुभक्ति प्राप्त होती है उसके द्वार पर चारों मुक्तियाँ दासी बनकर खड़ी रहती हैं। लक्ष्मीपति तो उससे दूर ही नहीं होते। जिसका शरीर, मन और धन पूरी तरह गुरुचरणों में अर्पित होता है, उसे संसारभय का स्मरण कल्पांत में भी नहीं होगा। भाग्य से जो सम्पत्ति मिली है, उसे इस प्रकार खर्च कर भाग्यवान पुरुष उस द्रव्य से निष्ठापूर्वक परमार्थ प्राप्त कर लेते हैं। जो इस प्रकार द्रव्य खर्च न कर स्वजाति और कुटुम्ब को पीड़ा देता है और स्वयं भी पेटभर नहीं खाता, उसका संग्रह किया हुआ धन 'यक्षधन' है। इस ढंग से अपने को कष्ट देकर जो 'यक्षधन' एकत्र किया रहता है, वह अधःपतन का कारण होता है और उस द्रव्यलोभी को भयंकर दुःख प्राप्त होता है। उस ब्राह्मण ने कहा, मैं भी इसी प्रकार 'यक्षधन' से कंगाल हो गया। हाथ आया हुआ लाभ व्यर्थ चला गया और हाय! मैं मोक्ष से वंचित रह गया। यक्षवित्त एकत्र कर मैंने अपना ही अहित किया। इस प्रकार दुःखी होकर वह बड़े कष्ट से अपना दुःख बताने लगा।

व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम्।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये॥ २५॥

स्वयं विलास का भोग न कर मैं वाणी और मन इन दोनों को कष्ट देकर उन्मत्त और अविचारी बन गया। द्रव्यप्राप्ति के लिये प्रयास करने में यौवन, बल और आयु निकल गयी। शरीर पूरी तरह क्षीण हो गया। फिर भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

द्रव्य की लालच कम नहीं होती। धन की वृद्धि करने में चिन्ता असीम बढ़ गयी। इससे मैं अपना हित भूल गया और द्रव्यलोभ में कंजूस बन गया। जिस द्रव्य से और जिस जन्म से विवेकशील लोग भूतदया और परोपकार कर संसार सागर तर गये, वहाँ मुझ अभागे का द्रव्य व्यर्थ गया, जीवन व्यर्थ हुआ, आयु व्यर्थ गयी और मेरा स्वार्थ डूब गया। आप शायद यह कहेंगे कि जब तक जान में जान है तब तक अपना स्वार्थ सिद्ध कर लिया जाय। लेकिन अब ऐसी स्थिति में वह भी नहीं हो पायेगा क्योंकि अब द्रव्य और सामर्थ्य दोनों ही नहीं रहे। अधर्म के कारण सारा धन नष्ट हो गया और वृद्धावस्था ने शक्ति छीन ली। अब मैं केवल जीर्ण-शीर्ण वृद्ध और अभागा होकर रह गया हूँ। हाय! पैसा प्राप्त करने में सब लोग फँस गये, यह बात कंजूस ब्राह्मण स्वयं बता रहा है।

कस्मात् संक्लिश्यते विद्वान् व्यर्थयार्थेहयासकृत्।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः॥ २६॥

ऐसे द्रव्यलोभ के सम्बन्ध में अज्ञानी लोगों की दशा का क्या वर्णन किया जाय? जो अर्थ को अनर्थकारी कहते हैं, वे भी द्रव्यलोभी हो जाते हैं इस भ्रम में जो ज्ञाता रहते हैं, वे भी द्रव्य प्राप्त करने के लिये अच्छे-बुरे प्रयास स्वयं करते रहते हैं इसे याद रखो। ज्ञाताओं के भ्रम के कारण, पूर्णरूप से ईश्वर की माया ही है। अघटित घटना जिसका लक्षण है उस माया के मोह में सज्ञान धनिक फँस गये। विद्वान लोक कृष्ण की माया में मुग्ध हो गये ऐसा कहोगे तो यह वस्तुस्थिति का वर्णन नहीं है। वास्तव में वे अपने सुख और विलास के लिये धन कमाते हैं। लेकिन जो लोग कहते हैं कि विषयोपभोग में सुख है, वे निहायत मूर्ख हैं। यही बात कंजूस ब्राह्मण बता रहे हैं।

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः॥ २७॥

हाय, हाय! जरा देखिये। सभी वर्णों में पूज्य वह ब्राह्मण भी माया के मोह में फँस जाता है। लेकिन जो देह नाना प्रकार के उपभोगों से सजाया जाता है, वही नश्वर है। जिस देह को नाना प्रकार के उपभोग लेने हैं उसे क्षयरोग हो जाता है और अधिक धन प्राप्त करना ही दारिद्रय का मार्ग है। द्रव्य अनायास मिलता है, इसलिये श्रीमान् गृहस्थ उसकी उपासना करता है। लेकिन अत्यन्त कष्ट से द्रव्य प्राप्त कर कामवासना का उपभोग लेने में क्या सचमुच सुख है? कामसुख स्त्री की संगत में लिया जाता है इसलिये वह स्त्री को पालता-पोसता है। लेकिन वह स्त्री नाना प्रकार से उसका छल करने लगती है और किसी तरह नहीं छूटती है। स्त्री, पुत्र, कामभोग आदि से देह को सुख दें तो वह देह ही मृत्यु की ओर अग्रसर है। उसका पीछा काल कर रहा है। हर पल काल आयु को कम करता रहता है। ऐसी स्थिति में सुख की मिठास भी क्या है? लेकिन द्रव्य की इच्छा ने ज्ञाताओं को भी पागल बना दिया। मेंढ़क साँप के मुँह में जा रहा है, फिर भी वह मछली खाता रहता है और इससे उसका साँप के मुँह से छुटकारा होता है, उसी प्रकार नाना प्रकार के भोग भोगने से मृत्यु पीछे नहीं हटता। यह सब जानकर भी ज्ञानी लोग द्रव्य के पीछे अन्धे हो जाते हैं। जो स्वयं कर्त्ता है, उसी के पीछे मृत्यु लगा हुआ है। उसका समाधान किस भोग से हो पायेगा? यह केवल माया का भ्रम है। उस भ्रम से बड़े-बड़े सिद्ध भी भ्रमित हो गये हैं। द्रव्य के योग ने यज्ञयाग कर स्वर्गलोक प्राप्त होगा, लेकिन वह स्वर्गभोग भी दुःखदायी है। कर्म से अज्ञानी बने हुए लोगों का उस भोग का क्षय होने के बाद अधःपतन होता है या, भोग भेजने के लिये सकाम कर्म करो तो पुनः मरण और पुनः जन्म यही अखण्ड भोगना पड़ता है। द्रव्यलोभी का यह बहुत बड़ा दुःख है, उसे सुख है ही नहीं। मैं भी ऐसा ही मूर्ख था। लेकिन सौभाग्य से मेरा द्रव्य चला गया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः।
येन नोतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः॥ २८॥

पहले मैं बहुत अभागा था लेकिन अब बहुत भाग्यवान हो गया हूँ। मुझ पर श्रीकृष्ण प्रसन्न हो गये, मुझे विवेक और वैराग्य प्राप्त हो गया। मैंने एकत्र किया हुआ धन ही मेरा एकमात्र अज्ञान था। उसे पूरी तरह नष्ट कर श्रीहरि ने मुझ पर बहुत बड़ी कृपा की है। वह भक्तों का अज्ञान हरण करता है इसीलिये उसका नाम श्रीहरि है। उसने ही मुझ पर पूर्ण कृपा कर मेरे अंतःकरण में विवेक उत्पन्न किया। वैराग्य विवेक के बिना अन्धा रहता है और विवेक वैराग्य के बिना लंगड़ा रहता है। मैंने अपने हृदय में ये दोनों एक ही साथ उत्पन्न किये। श्रीहरि ने कृपा की और द्रव्य के साथ मेरा अज्ञान हरण किया और वैराग्य और विवेक इन दोनों को मेरे हृदय मन्दिर में प्रकाशित किया। लेकिन कब, कहाँ और किस प्रसंग में श्रीहरि ऐसी कृपा करते हैं, यह किसी को नहीं मालूम होता। भक्तों का चित्त हरण करने के लिये श्रीहरि पहले उनका द्रव्य हरण करता है और द्रव्यनाश से उनका चित्त शुद्ध कर उन्हें विवेक युक्त वैराग्य प्रदान करता है। इस प्रकार के लेनदेन की कला ब्रह्मादिकों के लिये भी अतर्क्य है, ऐसा समझ लो। इसलिये वह भगवंत-पूर्ण भाग्यवान है। छह गुण उसके वश में रहते हैं। उसका स्वरूप अचिंत्य और अनंत है। लेकिन मेरे लिये वह कृपालु बन गया और मेरे लिये मेरे पाप द्रव्य के साथ नष्ट कर ज्ञानदीप जलाया। भगवान की कृपा हुई यह सच है, लेकिन मैंने यज्ञदेवताओं को फँसाया है, वे नाराज हो जाएँ तो मुझ पर आघात करेंगे ऐसा कहें तो वह कभी नहीं होगा। हाथ में देदीप्यमान चक्र धारण करने वाला श्रीहरि जिसका रखवाला है उसके पास विघ्न की हवा भी नहीं आ पायेगी। भगवान उसका वंदन करेंगे। भगवान ने ही प्रह्लाद को वन्दन कर नृसिम्ह को शान्त कराया। वह नरहरि ही जिसका रखवाला है, उसके पास विघ्न कैसे आयेगा। उसने कोटि-कोटि देवताओं को क्षणमात्र में बंदिवास से छुड़ाया है, उसके भक्त का बाल यज्ञादि देवतागण कैसे टेढ़ा कर पायेंगे? जो समस्त देवताओं का नियामक है जिसके चरण देवतागण भी वंदन करते हैं, वह भगवान ही जब सहायक है तो उसे विघ्नों की कोई पीड़ा नहीं होगी। जिसके बल से देवता इतने महान हुए हैं, देवता ही जिसके अवयव हैं, वह श्रीहरि ही जब प्रसन्न हो जाय तो किस विघ्न का वहाँ आना सम्भव है? श्रीहरि सर्वदेवस्वरूप ही हैं। इन्द्र और चन्द्र मेरे श्रीहरि ही हैं। मुझ दीन पर संसार में कोई विघ्न नहीं आयेगा। भगवान की इस कृपा का कारण यदि देखा जाय तो मैंने तो कोई साधन नहीं किया। समझ लो कि यह मेरा पूर्वजन्मों का ऋण भगवान के पास सुरक्षित था। पहले किस जन्म में, किस देश में, किस तीर्थक्षेत्र में, किस वंश में, मैंने सत्कर्म किया था कि जिसके योग से परमेश्वर मुझ पर प्रसन्न हुआ? या मुझे दुःखी देखकर कृपासागर श्रीहरि मुझ पर सन्तुष्ट हुए और मुझ पर कृपा की जिससे मैं विवेकसम्पन्न हो गया। जरा देखिये! मुझे दुःख हुआ जिससे मुझे आत्मसुख का लाभ हुआ। इस संसार सागर को पार करने के लिये वैराग्ययुक्त विवेक यही मजबूत जहाज है। इस प्रकार वह ब्राह्मण हर्ष से बोला—अब शेष जीवन में मैं एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने दूँगा। सुख-दुःखों का निर्मूलन कर डालूँगा।

सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात् सिद्ध आत्मनि॥ २९॥

संसारभय की किसे परवाह है? कोटि-कोटि जन्मों का बदला लूँगा। जो जीवन व्यर्थ गया है उसकी इसी देह से पूर्ति करूँगा। शरीर अवश्य वृद्ध हो गया है लेकिन मेरा अंतःकरण वृद्ध नहीं हुआ है। इसलिये इसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अंतःकरण से भगवान का चिन्तन कर संसार बन्धन तोड़ डालूँगा। अब शेष जीवन में कलिकाल के दाँत तोड़ डालूँगा। गर्भवास के दुःख की परत फाड़ कर मृत्यु को मार डालूँगा। जिस देह ने सच्चे, झूठे सभी कर्मों का आचरण किया, उस देह को ही यहाँ विदेह स्थिति की आत्मभावना से सुखा डालूँगा। आत्मज्ञान का प्रहार कर देह की बाड़ ही तोड़ डालूँगा और सुख-दुःख का बन्धन तोड़ कर सायुज्य की पताका पहराऊँगा। आज मैं वैराग्य और विवेक से युक्त होकर अपने स्वार्थ के प्रति सचेत हो गया हूँ। अब मैं जिस परमार्थ को भी साधने का प्रयास करूँगा, वह मुझे प्राप्त होगा। मेरा ही स्वार्थ सधेगा ऐसा कोई विशेष नियम नहीं है। तो जो भी कोई वैराग्य विवेक होगा उसे अपने आप ही परमार्थ प्राप्त होने वाला है। वैराग्य विवेक का यही लक्षण है कि देह, घर, स्त्रियाँ आदि वैभव के होते हुए उसका मन उनमें आसक्त नहीं होता। इसी का नाम है पूर्ण वैराग्य। अस्तु! मैंने जिस बात की शुरुआत की है उसे देव और देवी इनके साथ पूरे समुदाय के साथ देवाधिदेव मुझे सहायक हों ऐसी मैं प्रार्थना करता हूँ।

तत्र मामनुमोदेरन् देवास्त्रिभुवनेश्वरः।
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत्॥ ३०॥

इन्द्रियों में अधिष्ठित समस्त देवताएँ मुझे सहायक हों। परमार्थ सिद्धि तक पहुँचने में वे मेरे इन्द्रियों को विजय प्रदान करें। जो त्रिभुवनेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है वह भगवान यदि सहायक हो तो सारे देवता मुझे साध्य होंगे क्योंकि वे सारे श्रीहरि के स्वरूप में ही अंतर्भूत हैं। सारे देवताओं में श्रीहरि का ही स्वरूप है ऐसी भावना मन में रखकर मैं सारे देवताओं की सेवा करता हूँ। मुझ दीन का उद्धार करने में सहायक होकर वे मुझे भवसागर से तारें। इस पर आप शायद कहेंगे कि "तुम्हारे जीवन का अब अन्तिम काल आया है। तुम वयोवृद्ध हो गये हो। अब वृद्धावस्था में यह प्रयास करने का कष्ट क्यों कर रहे हो?" लेकिन ऐसा विचार मन में न आने दें। खटाङ्ग राजा का नाम प्रसिद्ध ही है। उसने क्षणमात्र में परमार्थ साधा। मेरी आयु तो उससे अधिक ही होगी। सारे देवता मुझे सहायक हों तो मैं क्षणमात्र में परमार्थ साध लूँगा। आज जैसा विवेक वैराग्य प्राप्त हुआ है, वही जब तक अटल रहेगा, तब तक दोबारा कलिकाल क्या करेगा? मैं तो संसार पर विजय प्राप्त कर लूँगा। यह पहले कैसा था? अब इसकी वृत्ति में परिवर्तन हो गया। वह विवेक वैराग्ययुक्त हो गया। श्रीकृष्ण यह बात आश्चर्यपूर्वक वर्णन करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन् शान्तोभिक्षुरभून्मुनिः॥ ३१॥

ऐसा वह अवंती का ब्राह्मण अत्यन्त कृपण था। लेकिन उसके हाथ से द्रव्य निकल जाते ही उसका स्वभाव बदल गया और उसे वैराग्यलक्षण प्राप्त हो गया। इसलिये मन में वैराग्य विवेक उत्पन्न होने पर उसे अपने आप ही ब्रह्मप्राप्ति होती है। आत्मस्वरूप की स्थिति साध्य करने के लिये श्रीकृष्ण उद्धव को बताते हैं। वह पहले अधम ब्राह्मण था। वह द्रव्यलोभी था तथा निंद्यकर्म करता था। लेकिन विवेक से वह परम वैरागशाली उत्तम ब्राह्मण बन गया। मैंने पहले किया हुआ निश्चय पूरी तरह साध्य करूँगा, ऐसे उल्हास से वह अपने परमार्थ का साधक बना। अपने दुःख का कारण मैं स्वयं ही बना। काम, लोभ और द्रव्य का अभिमान करने के कारण मुझे स्वयं ही अत्यन्त दुःख भोगना पड़ा। द्रव्य ही मुझे दुःख दे गया इसलिये द्रव्य ही दुःखों का घर है। पत्नी और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बच्चों का मोह मैंने ही किया था लेकिन देखो, उन्होंने ही मुझे घर से बाहर निकाला। जाति का अभिमान करूँ तो मैं अपने जाति भाइयों से भी दूर हो गया। मेरे सगे-सम्बन्धी भी मुझसे विमुख हो गये। इसलिये उनका भी लोभ मैं क्यों करूँ? पत्नी, बच्चे, सगे-संबंधी, धन आदि के लोभ का मुख्य कारण मुझे हुआ मेरा देहाभिमान ही है। उस देहाभिमान को ही मैं अब साष्टांग नमस्कार करता हूँ। पत्नी, बच्चे और द्रव्य को नमस्कार करता हूँ। जाति भाइयों और सगे-संबंधियों को नमस्कार करता हूँ। अब मेरा आप से कोई संबंध नहीं रहा। पानी और उसमें प्रतिबिम्बित होने वाला चन्द्रमा ये दोनों एक साथ रहते दिखायी देते हैं, लेकिन चन्द्रमा पानी से बिलकुल अलग रहता है। उसी प्रकार तुमसे अब मेरा कोई संबंध नहीं है। जिस प्रकार छाया दिन-रात लगी रहती है, फिर भी पदार्थ छाया से चिपक कर नहीं रहता, उसी प्रकार मेरा आपसे कोई संबंध नहीं है अथवा जिस प्रकार देह के पास यौवन आता है और उस यौवन से देह खिल उठता है, लेकिन अन्त में यौवन देह को छोड़कर चला जाता है, उसी प्रकार मैंने आपका त्याग किया है। वन में बसन्त ऋतु का प्रवेश होने पर वनश्री की शोभा निखर उठती है। लेकिन जब वसन्त अपना काल समाप्त होते ही वन को छोड़कर चला जाता है, उसी प्रकार मैं ममता का अहंकार छोड़ रहा हूँ। वैराग्य के साथ विवेक का सामर्थ्य आश्चर्यजनक है। उसने मुझसे कैसा अलौकिक त्याग कराया इससे मैंने देहाभिमान और ममता को तिलांजलि दे दी। जिस प्रकार पिता अपने भ्रष्ट पुत्र से सम्बन्ध विच्छेद कर देता है, उसी प्रकार देहाभिमान त्याग कर वह संन्यासी बन गया। फल जब पक जाता है तो वह अपने पूर्वदेह का त्याग करता है, डंठल भी फल को पकड़कर नहीं रखता और फल भी डंठल से चिपका नहीं रहता, उसीप्रकार यह अहंता के पास नहीं रहता और अहंता भी इसके पास नहीं आती। यह भी सद्भावना से देहाभिमान का स्पर्श नहीं करता। जिस प्रकार पानी में रहते हुए भी कमलपत्र उससे अलिप्त रहता है, उसी प्रकार देहाभिमान का स्पर्श किये बिना उसने विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण किया। अन्य संन्यासी होम करते हैं और क्रोध और काम को जलाने की बात करते हैं लेकिन अंत में तिल और घी का तो भस्म हो जाता है और काम-क्रोध जैसे के तैसे रह जाते हैं। इसका होम उस प्रकार का नहीं था। उसने विकल्प की वृत्तियाँ जला डाली थीं और अहंकार के साथ कामक्रोध की पूर्णाहुति कर दी थी। अपने मूल स्वभाव का होम कर वह त्रिदंडी स्वामी हो गया और गुरु से आज्ञा लेकर सुखपूर्वक विचरण करने लगा।

स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः।
भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत्॥ ३२॥

मन और प्राण को जीत कर, मानाभिमान छोड़कर परमानन्द से परिपूर्ण होकर वह पृथ्वी पर संचार करने लगा। देह की संगति जिसे नहीं भाती, उसे साथ में किसी को रखना कैसे अच्छा लगेगा? वह आत्मज्ञान से आत्मास्वरूप में मग्न होकर पृथ्वी पर अकेला ही घूम रहा था। निरन्तर अरण्य में रहता था। भिक्षा के लिये अवश्य गाँव में आता था और जहाँ बाजार लगता था ऐसी शहर या गाँव से जो भी भिक्षा मिलती थी, उसे ग्रहण करता था। मैं भिक्षा के लिये आने वाला हूँ, ऐसा कोई नियम वह नहीं बनाता था। गाँव में बिना किसी के देखे चला जाता था और हाथ में जो भी आ जाये उसमें संतोष मानता था। पाँच सात घरों में जाकर भिक्षा माँगने का उसने कोई नियम नहीं बनाया था। किसी भी बात का थोड़ा भी अहंकार उसके मन में नहीं था।

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः।
दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः॥ ३३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

शरीर पर का मल भी कभी साफ नहीं करता था। मूसल की तरह स्नान करता था इसलिये उसका रंग भी राख जैसा हो गया था। इसलिये उसे अवधूत कहते थे। इस प्रकार पृथ्वी पर संचार करते-करते वह अकस्मात अवंती नगरी में आया। तो अत्यन्त वृद्ध संन्यासी हुए अवधूत वेष में लोगों ने उसे देखा। संन्यास लेने के बाद एक बार मातृभूमि का दर्शन करने की पद्धति के बारे में बड़े-बड़े आचार्यों ने लिख रखा है। उसे देखते ही उस गाँव के लोग कहने लगे, "अरे! यह तो कदर्यु ब्राह्मण है। इसका धन चला गया इसलिये अब संन्यासी बन गया है।" यह सुनाते ही दुष्ट लोग उसके पास एकत्र होने लगे और उन्होंने एक-दूसरे को इशारा कर उसका छल प्रारम्भ कर दिया। लेकिन कष्ट सहकर भी उसके चित्त में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वह बिलकुल नाराज नहीं हुआ। वह इतना अधिक विवेकी और धैर्यवान हो गया था। लोगों ने उसे दिये हुए कष्टों का वर्णन और उसकी सहनशीलता के बारे में मैं तुम्हें अब बताऊँगा। ध्यान देकर सुनो। उसके तात्पर्य पर ध्यान देने से श्रोतागण विवेक से चतुर बनेंगे और जो इसके अर्थ पर भक्ति करेगा, उसी सच्ची शान्ति प्राप्त होगी। हे विवेकयुक्त चितचकोर के चंद्र! भगवद्भक्त के भाग्य से शुद्धस्वरूपा! हे शान्ति सौभाग्य के राजा! हे भाग्यवान उद्धव! सुनो। आत्मशान्ति प्राप्त करने के लिये कृष्ण उद्धव की पुकार करने लगे और उसे स्वस्थचित्त कर बोले, शान्ति का स्वरूप ऐसा है। कोई जीवन क्रम में बाधा लाये, सम्मान के बहाने अपमान करे तो भी जो नाराज नहीं होता, उसके ही पास शान्ति रहती है। उसके बारे में सुनो।

केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम्।
पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन॥ ३४॥

उन दुष्टों ने संन्यासी को घेर लिया और छलने के लिये उसके चरणों पर मस्तक रखने लगे। उद्देश्य यही था कि पैरों पर मस्तक रखकर नमस्कार करने लगे सब लोग उसे छू लेंगे। किसी ने कहा—"यह बूढ़ा संन्यासी है।" किसी ने कहा, "क्या उम्र है आपकी?" किसी ने पूछा, "आप किस सम्प्रदाय के हैं? किस गुरु ने आपका मुण्डन किया?" किसी ने इशारा किया, "यह किस गाँव का है, यह पूछिये।" कोई बोला, "अरे, यह पूछिये कि इसके पास कितना धन है?" किसी ने पूछा, "स्वामीजी! आप किस गाँव के हैं? आप व्यापारी हैं या उद्यमी हैं?" कोई बोला, "इसके पास थोड़ा पैसा है। अब यह द्रव्यहीन हो गया है। इसे कष्ट न दें। वह पूर्ण विरक्त संन्यासी है।" इस प्रकार उस पर नाना प्रकार की व्यंगोक्तियाँ कसने पर भी उस संन्यासी को जरा भी कष्ट नहीं हुआ। मुँह से एक भी शब्द निकालने के बजाय उसने मौन रखा। किसी ने कहा, "यह त्रिदण्डी संन्यासी मालूम होता है। उस त्रिदण्ड का कारण यह है कि यह पहले अत्यन्त धनसम्पन्न था, उसने सारा धन इस दण्ड में भरकर रखा होगा। यही त्रिदण्ड का रहस्य है।" किसी ने कहा, "देखिये, इसने कितनी बड़ी कथरी तैयार की है। उसमें ठूँस कर धन भरा हुआ है। उसके मुँह की ओर क्यों देख रहे हैं? इसने पूरा पाखण्ड मचा रखा है।" इस प्रकार जब उसकी निन्दा चल रही थी, तभी किसी ने उसका दण्ड छीन लिया। किसी ने कमण्डल गायब किया, तो किसी ने आसन पर हाथ साफ किया। एक ने रुद्राक्ष की माला गायब की और एक ने तो काषायवस्त्र ही छीन लिया। एक ने कहा, "यह मेरा कर्जदार है। अच्छा हुआ यहाँ मिल गया।" यह कहकर उसने उसकी कथरी में हाथ डाल और साथ ही लंगोटी भी ले ली। वे दुर्जन इस प्रकार उसका छल कर रहे थे तो भी उसका मन विचलित नहीं हुआ। उसका धैर्य क्षमा से परिपूर्ण था। उसने मन ही मन कहा, "आना और जाना दोनों प्रारब्ध के अधीन है।" इसलिये अपनी चीजें वापस माँगने के बजाए, वह संन्यासी आगे बढ़ गया। उसे जाता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देख उन दुष्टों का जो प्रमुख नेता था उसने संन्यासी को साष्टांग नमस्कार किया और अत्यन्त नम्र होकर उसकी विनती करने लगे। उन्होंने कहा, "हर हर! हमारे हाथ से बहुत बड़ा अपराध हुआ। ये दुष्ट लड़के उन्मत्त हो गये हैं। योग्य और अयोग्य का विचार ही नहीं करते। स्वामी महाराज! मन में किसी प्रकार का राग द्वेष न रखें। कृपया अपने वस्त्र वापस ले लें।" इस प्रकार उसके चरणों पर गिर कर उसका पुनः छल करने के लिये उसे वापस लाये।

प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः।

इस प्रकार संन्यासी को वापस लाकर उसके सामने सभ्यतापूर्वक दण्ड कमल लाकर रख दिया। कोई वस्त्र लाने लगा तो कोई उसे छीनकर भागने लगा। कोई बोला, "यह संन्यासी बूढ़ा है। इसे उसके वस्त्र वापस दीजिये।" तो कोई बोला, "इस बदमाश की पिटाई करने से हमें बहुत पुण्य लगने वाला है।" आखिर उसका तिरस्कार कर किसी ने उसे वस्त्र वापस नहीं किये। तब वह संन्यासी स्वस्थ्य अंतःकरण से वहाँ से चला गया। तभी किसी ने आकर उसे कपड़े वापस किये और जाने के लिये कहा। इतने में एक आदमी दौड़ता हुआ आया और उस संन्यासी के सिर पर जोर की चपत लगाकर तथा उसके कपड़े छीन कर चला गया। कोई बोला, "अब दे भी दो। उस बूढ़े को अधिक न सताओ।" बाद में वह संन्यासी स्वयं ही अपने वस्त्र वहाँ छोड़कर, स्नान संध्या तथा भिक्षा माँगने के लिये चला गया।

अन्नं च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे॥ ३५॥
मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि।
यतवाचं वचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत्॥ ३६॥

भिक्षा माँगने के बाद शास्त्रोक्त ढंग से उसके भाग करने के बाद, नदी के किनारे बैठ कर वह संन्यासी भोजन कर रहा था यह देखकर आवारा लोग वहाँ इकट्ठा हो गये और बोले, "अरे! यह तो संन्यासी नहीं है। हमारे गाँव में जो कृपण ब्राह्मण था, वह यही है। यह मुँह से 'हाँ' या 'ना' नहीं कहता। यह धोखाधड़ी की बात है। इसलिये जो इसके मुँह से बिना कुछ उगलवाये जायेगा वह इसकी ही दासी का पुत्र कहलायेगा।" ऐसी शपथ लेकर वे सब एकत्र होकर उसके पास आये। उनमें से एक ने कहा, "इसका मौन मैं क्षण भर में समाप्त कर दूँगा। मैं उसका उपाय जानता हूँ।" इतना कह कर उस दुष्ट और महापातकी मनुष्य ने भोजन कर रहे संन्यासी के मस्तक पर मूत दिया। फिर भी उस संन्यासी के मन में क्रोध नहीं हुआ। वह आत्मज्ञान से शांत रहा। भले ही मन में क्रोध आया हो, लेकिन वह मनुष्य शांतिरहित हो ही गया। वह क्रोध के शब्द नहीं बोल रहा इसका कारण यही है कि वह लोकलज्जा के लिये अथवा पेट के कारण डर गया। लेकिन वह संन्यासी वैसा नहीं था। अपनी लज्जा उसने धोकर नष्ट कर डाली थी। आत्मशान्ति का स्वरूप कैसा होता है? क्रोध मन में भी नहीं आता। भीतर एक और बाहर कुछ दूसरा इसी का नाम है 'दांभिकता'। लेकिन यह वैसा संन्यासी नहीं है। यह आत्मशांति से अंतर्बाह्य बिलकुल निर्मल था। तब वे आवारा किस्म के लोग कहने लगे, "अरे! यह सचमुच ही नहीं बोलता।" यह कहकर वे उसके सामने खड़े हो गये और उसके मुँह पर थूका। अत्यन्त दुःख देकर उसकी बहुत निंदा करने लगे। कोई लात मारने लगा, कोई मस्तक पर प्रहार करने लगा और कोई कहने लगा कि "यदि यह न बोले तो इसे छोड़िये मत।"

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमिति वादिनः।
बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद् बध्यतां बध्यतामिति॥ ३७॥

कोई दूर से वाग्बाण छोड़ने लगा। बोला, "इसके इस वेष का कारण हमने अच्छी तरह जान लिया है। इसके वेष का मर्म यही है कि यह एक बड़ा ठग, नीच और बड़ा ढोंगी है, भिक्षा माँगने के भेष में यह जासूस घर-घर घूम रहा है। इस चोर को पकड़िये।" इन निंदास्पद भाषण के साथ वे सब जोर-जोर से चिल्लाने लगे। कुछ लोग उसे नीचे गिरा कर रस्सी से बाँधने लगे।

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत् स्वजनोज्झितः॥ ३८॥

उसकी पहले की स्थिति जो जानते थे, वे उसका अपमान कर उसकी निन्दा करने लगे। वे बोले, "पहले यह कदर्यु नाम से प्रसिद्ध था और आज यह हमारे सामने संन्यासी का भेष बनाकर घूम रहा है। इसने शुभ-अशुभ कर्मों से द्रव्य एकत्र किया और अधर्म के कारण वह द्रव्य नष्ट हो गया। इसलिये स्वजनों ने इसे घर से बाहर निकाल दिया। इस पेट के लिये अन्न मिलना मुश्किल हो गया इसलिये यह कपटी भेष बदल कर संन्यासी बन गया है। हमारे सामने अपनी प्रतिष्ठा का प्रदर्शन करने में इसे लज्जा नहीं आती। पहले से ही यह धोखेबाज था और अब ढोंगी संन्यासी बन गया है। यह सोचता था कि ये लोग भोले-भाले हैं, इन्हें कुछ मालूम नहीं है। अब इस महाठग ने मौन धारण कर लिया है। जिस प्रकार बहुरुपिया स्वांग रचते हैं, उसी प्रकार यह उत्तम वेष में संन्यासी बनकर हमें धोखा देने आया है। इसे मारने से दोष नहीं लगेगा।"

अहो एष महासारो धृतिमान् गिरिराडिव।
मौनेन सधयत्यर्थं बकवद् दृढनिश्चयः॥ ३९॥

यह प्रबल ढोंगी है। अपना स्वांग अच्छी तरह निभाता है। जिस प्रकार तूफान में महामेरू अडिग रहता है, उसी प्रकार हमारे कष्ट देने से वह विचलित नहीं होता। अन्न और वस्त्र प्राप्त करने के लिये ही इसने धैर्य कायम रखा है। स्वार्थ पर दृष्टि रख कर ही इसने बगुले की तरह मौनव्रत धारण किया है। मछली निकलने के लिये जिस प्रकार बगुला मौन धारण करता है, उसी प्रकार इसका ध्यान अपने लक्ष्य पर रहता है। यह भोले भोले लोगों को लूटेगा। अब द्रव्यलोभ के लिये यह पुराने कष्टों का ख्याल नहीं करता। उसकी यह आदत अब दृढ़ हो गयी है। किसी ने कहा, "कैसा धैर्यवान है!" और इतना कहकर उसे लतियाने लगे। कोई उसके कान में सींक घुसेड़ने लगा और बोला, "अब देखें इसकी शान्ति।" फिर भी उसके मन में द्वेष नहीं उत्पन्न हुआ। उसकी शान्ति अटल थी। उसकी शान्ति की परीक्षा लेते-लेते वे दुष्ट लोग और भी अधिक क्रुद्ध हो गये और उसे नाना प्रकार के कष्ट देने लगे। श्रीकृष्ण यही वर्णन करते हैं।

इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति च।
तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम्॥ ४०॥

कोई उसकी खिल्ली उड़ाने लगा, कदर्यू को तो पूर्ण शान्ति प्राप्त हो गयी। किसी ने उसके नाक पर चूना लगाया, किसी ने तो उसके मुँह में काजल पोत दिया। कुछ तो और भी निर्लज्ज थे। वे उसके सामने पीठ करके खड़े हो गये और अपानवायु छोड़ने लगे। वह दुर्गन्ध उसके नाक और मुँह में भर गयी। फिर भी उसकी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आत्मरूप स्थिति के कारण उसके चित्त में जरा भी क्षोभ नहीं हुआ। क्रोध लाने का प्रयत्न करने पर भी जिस की शान्ति नहीं ढलती वही त्रिभुवन में संन्यासी है। सारांश, उसका मन क्षुब्ध नहीं हो रहा है यह देखकर दुष्ट लोग और भी अधिक तैश में आ गये। उन्होंने उस संन्यासी के गले में लोहे का सिक्कड़ बाँध दिया और उसे चौरस्ते पर ले आये। ''अरे! आप में से कोई तो इसे पहचानो। जो निंद्य कर्म किया करता था वही यह द्रव्यलोभी है। उसे हमने आज पकड़ लिया। यह अत्यन्त अधर्मी और ढोंगी है। जिस प्रकार मदारी बन्दर को बाँध कर रखता है उसी प्रकार उन्होंने संन्यासी को बाँध कर रखा था और फिर सब मिलकर उसे आगे-पीछे खींचने लगे। कोई पूर्व की ओर खींच रहा था तो कोई पश्चिम की ओर। इसमें सबको संतोष प्राप्त हो रहा है यह देखकर संन्यासी भी मन ही मन हँसने लगा। देह प्रारब्ध भोग रहा है। मेरा उससे क्या सम्बन्ध है? इस विवेक से वह क्षमा से परिपूर्ण हो गया था। वह किसी का मन दुखा नहीं रहा था। जिन्होंने कभी उसका सम्मान किया था उन भाईयों, रिश्ते नाते वालों के सामने वह अपमान सहन कर रहा था। उद्धव! जिसका मन लौकिक प्रतिष्ठा के कारण लज्जित होता है उसके मन में शान्ति नहीं रहती। जरा देखो! जिसे इतना कष्ट दिया उसके मन में क्रोध नहीं आया। उस संन्यास का हृद्गत देवाधिदेव स्वयं बता रहे हैं।''

एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकं च यत्।
भोक्तव्यमात्मना दिष्टं प्राप्त प्राप्तमबुध्यत॥ ४१॥

भिक्षु ने अपना विचार बतलाया। उसने कहा, सारे लोग तीन प्रकार के प्रारब्ध से बँधे हुए हैं। इसलिये उन्हें भोगना आवश्यक है। राजा और रंक भी उससे नहीं छूट पाते। पंचमहाभूतों से होने वाली पीड़ा 'भौतिक' होती है। देवताओं से होने वाली पीड़ा 'दैविक' होती है और देह में ही ज्वर आदि होने वाली पीड़ा 'दैहिक' होती है। इस प्रकार यह जो तीन प्रकार का दुःख है वह प्रारब्ध से उत्पन्न होता है। उसको भोगते समय जो कष्ट का अनुभव करता है वह मंदबुद्धि और मूर्ख है। प्रारब्ध से हमारे भाग्य में जो भोग आये हैं, वे हरिहर को वश में करने पर भी भोगने ही पड़ते हैं, उससे प्राणी बच नहीं पाता यह जानकर ही वह संन्यासी क्षमाशील हो गया था। श्रीकृष्ण पाण्डवों की सहायता कर रहा था, फिर भी उन्हें भोग भोगने ही पड़े। ऐसे में विष्णु और शंकर इन दोनों को वश में कर लेने पर भी, प्रारब्ध से कोई नहीं बच पाता।

परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः।
पातयद्भिःस्वधर्मस्थोधृतिमास्थायसात्त्विकीम्॥ ४२॥

दुष्ट लोगों के उपद्रव से भी वह संन्यासी शान्ति नहीं छोड़ रहा था। सात्त्विक धैर्य धारण करने के कारण उसकी धर्मस्थिति ढली ही नहीं। उस भिक्षु ने जिस गाथा का गायन किया, उसे मैं अब सुनाऊँगा। उद्धव! चित्त को अत्यन्त सावधान रखकर श्रवण करो। वह उपदेश मन में धारण करने से मन में द्वंद्व की समता दिखायी देने लगती है, आत्मशान्ति सहज प्रकट होती है और सायुज्ययुक्ति घर में प्रवेश करती है। जिसे श्रीकृष्ण ने स्वस्थचित्त किया उस उद्धव का भाग्य इस संसार में बहुत बड़ा था। श्रीकृष्ण ने कहा—भिक्षु ने स्वयं जो कहा, उसे सुनो।

द्विज उवाच

नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः।
मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्॥ ४३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वह भिक्षु बोला, सज्जन, दुर्जन और साधारण ये जो तीन प्रकार के लोग होते हैं, वे मेरे सुख या दुःख के लिये बिलकुल कारणीभूत नहीं होते। जितने भी प्रकार के लोग हैं वे सब पंचमहाभूतों से ही उत्पन्न हुए हैं। मेरा भी देह वैसा ही है। इसलिये सारे लोगों में और मुझमें एक प्रकार का ऐक्य है। सुख-दुःख केवल मन में ही उत्पन्न होता है। सुख-दुःख देने वाले देवता हैं, यदि ऐसा कहा जाय तो देवता मन की कल्पना हैं। अतः उनके सुख-दुःख का भी मुझ पर कोई प्रभाव नहीं होगा। देवता रूप हमारा मन ही है और उस मन ने ही समस्त देवताओं की कल्पना की है। अर्थात् देवता जब सुख-दुःख देते हैं तो इसका कारण मन ही रहता है। जैसा मन का सद्भाव होता है, वहीं उसी के अनुसार उस स्वरूप में देवी या देवता का आभास होता है। जहाँ मन में अश्रद्धा रहती है वहाँ देव भी नहीं दिखाई देता। इसलिये जो समस्त देवतागण हैं, वे मन से कल्पित ही हैं। अतः यदि उनसे सुख-दुःख की व्यथा होती है तो वह मन के कारण ही है, यह जान लो और यदि आत्मा का सुख या दुःख का कारण मान लें तो वह भी गलत है। आत्मा में द्वैत की भावना बिलकुल नहीं होती। मैं सुख-दुःख देने वाला हूँ और यह सुख-दुःख का भोक्ता है ऐसी भावना आत्मा में नहीं होती। जन्म के समय के क्रूर ग्रह सुख-दुःख का कारण है ऐसा यदि कहें तो वास्तव में हमारा मन ही सारे ग्रहों का ग्रह है। वह जन्म-मरण का भोग कराता है। ग्रहों की ग्रहदशा देह रहने तक होती है, लेकिन मन की ग्रहदशा उससे भी अधिक है। वह नाना प्रकार का भोग कराती है और जन्म जन्मान्तर में भी नहीं छोड़ती। दुष्ट ग्रह थोड़े ही समय के लिये पीड़ा देता है लेकिन मन की पीड़ा कोटि-कोटि जन्मों तक रहती है। दुष्ट ग्रह अपनी भोगदशा पूरी होने के बाद छोड़ देता है लेकिन मन कल्पांत में भी नहीं छोड़ता। मन यदि देहाभिमान धारणा न करे तो ग्रहों की पीड़ा की कौन चिन्ता करता है? इसलिये सुख-दुःख के लिये कारणीभूत होने वाला मन, यही एक महाग्रह है। अब हम अपने कर्म को ही दुखदायक नहीं कह सकते क्योंकि कर्म ही कर्मबन्धन से छुड़ाता है। वह दुःखदायक कैसे हो सकता है? अपना कर्म स्वाभाविक और पवित्र होने पर मन ही उसे सकाम बनाता है और उसे अनेक प्रकार के दुःख देकर उसे अनेक योनियों का भोग भोगने को बाध्य करता है। जब कर्म की क्रिया के सम्बन्ध में मन का संकल्प कर्म पर लागू नहीं होता तो सुख-दुःख कितने ही क्यों न हो, लेकिन अपना कर्म ही उनका नाश करता है। देह को सुख-दुःख का क्या ज्ञान होगा? आत्मा तो सुख-दुःख बिलकुल नहीं जानता। इसलिये सुख-दुःखों का खजाना बनाना और फिर उसे भोगना यह सब मन के आदेश से ही होता है। सुख-दुःख देने वाला काल है यह कहना भी सर्वथा सच नहीं है। मन का संकल्प जैसा संकेत देता है, उसी प्रकार काल की सत्ता चलती है। अजर-अमर रहते हुए यदि कोई अपने लिये मृत्यु की कल्पना कर ले तो काल उसके पीछे लग जाता है और क्षण-प्रतिक्षण उसकी आयु कम करता है। जैसे बिस्तर में कोई सुआ चुभो कर रख दे और रात को सोने पर वह शरीर में घुसते ही, साँप ने काटा इस भय से मर जाय। वास्तव में साँप ने उसे काटा ही नहीं था फिर उस पर विष का असर कैसे होगा? वह केवल शंका से ही मर गया। उसी प्रकार काल लोगों के पीछे लगा हुआ है। एक आदमी की पीठ में साँप ने काट लिया था। उसने अपने मित्र से पूछा, "मेरी पीठ में क्या घुस गया था?" उसने कहा, "कुछ नहीं। एक काँटा गड़ गया था, जिसे मैंने खींच कर निकाल दिया।" इससे उसे साँप की शंका ही नहीं हुई और विष की बाधा भी नहीं हुई। बहुत दिनों के बाद जब मित्र ने बताया कि उसे साँप ने ही काटा था और उसे पीठ पर साँप को काटने का निशान भी दिखाया तो पुरानी याद आते ही तत्काल विष का प्रभाव हो गया और उसने प्राण त्याग दिये। उसी प्रकार निर्विकल्प पुरुष को संकल्प की शंका होती है, उसी समय उसके विनाश के लिये काल तैयार हो जाता है। लेकिन जिसका मन निःसंकोच 'मैं अमर हूँ' कहता है, उसका घर काल छोड़ देता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। मन की शंका से ही काल प्रबल हो उठता है। जो स्वयं निर्विकल्प है, उसके पास काल कभी नहीं आता क्योंकि उसके पास नश्वर कुछ भी नहीं होता। अतः काल कहाँ जायेगा? इस प्रकार काल सुख-दुःख देने वाला नहीं है, इसे ध्यान में रखो। सुख-दुःख उत्पन्न करने वाला एक मन ही है, इसे निश्चित जान लो। संसार भी मनः कल्पित ही है यह समझ लो। मन ने ही जन्म-मरण की कल्पना की है। संसार चक्र में बार-बार जो परिक्रमा करनी पड़ती है वह भी मन के ही कारण। ये छह प्रकार ही सुख-दुःख का कारण है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। विचार करने पर यह भी असत्य मालूम होता है क्योंकि सुख-दुःख मन से ही उत्पन्न होते हैं। वह मन कितने आश्रयकारक ढंग से मोहित करने वाला है कि वह 'मैं' का भान उत्पन्न कर तथा शुद्ध ब्रह्मस्वरूप आत्मा की ओर प्रीति लगाकर सुख-दुःख भोगने को बाध्य करता है। आँख में छोटा-सा भी कण क्यों न चला जाय लेकिन वह बहुत कष्ट देता है। उसी प्रकार मन भी वासना के बहाने भयंकर सुख-दुःख देता है। अब शायद आप यह कहेंगे कि अविद्या ही सुख-दुःख देने वाली है। लेकिन अविद्या ब्रह्मस्वरूप होने के कारण, मन के सिवा सुख-दुःख कभी नहीं होगा। अविद्या ब्रह्मस्वरूप होने के कारण मन सुषुप्ति में लीन रहता है। उस समय तो सुख-दुःख रहता ही नहीं है। इसलिये किसी को वहाँ भोग दिखायी ही नहीं देता। मन जब निश्चित नहीं रहता तभी देह का सुख-दुःख हमें नहीं मालूम होता। यह अनुभव हमें स्वयं अपने देह में अनुभव करना चाहिये। इसलिये हमारे सुख-दुःख का कारण स्वयं हमारा मन ही है। उसी ने जन्म-मरण का चक्र मनुष्य के पीछे लगा दिया है और मन उसे उस चक्र में घुमाता रहता है। वह कैसे घुमाता है उसी का निरूपण भिक्षु स्वयं सुना रहा है।

मनो गुणान् वै सृजते बलीयस्ततस्च कर्माणि विलक्षणानि।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥ ४४॥

मन ही अपनी सत्ता से कल्पना कर अनेक प्रकार की वृत्ति उत्पन्न करता है। यही वृत्ति बाद में त्रिगुणात्मक हो जाती हैं और गुणों के प्रकारों के अनुसार उनकी वृत्ति बनती हैं। उन्हीं सत्त्व, रज, तमादि गुणों से देवता, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि योनि, मन से ही त्रिभुवन की सृष्टि उत्पन्न कर संसार सदन में विचरण करते हैं। उस मन का सामर्थ्य विचित्र है। वह एक क्षण में कोई व्यूह रचना करता है और दूसरे ही क्षण उसे गिरा देता है। मन ब्रह्मादि देवताओं पर भी अपनी मोहिनी चलाता है फिर औरों की क्या बिसात है? मन का प्रभाव इतना विचित्र है कि वह निर्गुण को गुणों के पाश में फँसाता है। उसे जीवन की तंद्रा में लगा कर संसार के चक्र में घूमने के लिये छोड़ देता है। विचार करने पर मालूम होता है कि मन, जड़, मूढ़ और अचेतन है। उसकी उत्पत्ति कैसे होगी? उसी का वर्णन श्रीकृष्ण कर रहे हैं।

अनीह आत्मा मनसा समीहता हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे।
मनः स्वलिङ्ग परिगृह्य कामान् जुषन् निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ॥ ४५॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप होने के कारण परिपूर्ण है। वह निःसंग, निर्विकार और निर्गुण है। उसे संसारबन्धन की बाधा नहीं होती। जो आत्मा स्वयं प्रकाश से ही प्रकाशित है, स्वतेज से ही सुशोभित है और जो आत्मा परिपूर्ण है, उसे क्रियाचरण कभी नहीं घटता। अपनी कल्पना से विचार करने से मन जड़ मालूम होता है, अतः उसे भी संसार घटना सम्भव नहीं है। अब, यह संसार का बन्धन किसे होता है, सुनिये। मन का कौशल आश्चर्यजनक है। वह शुद्ध आत्मा में 'मैं' का भाव उत्पन्न करता है और उसी ब्रह्म में जीवभाव लाकर स्वयं ही उसे सगुण स्वरूप में ले आता है। मन के संकल्प का सामर्थ्य इतना अधिक है कि वह शुद्ध ब्रह्म को अविद्यात्मक कर देता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है और त्रिगुणों की माला से स्वयं ही संसाररूपी जाल तैयार करता है। जिस प्रकार घट का पानी अलिप्त चन्द्रबिम्ब का अपने में आकलन कराता है, उसी प्रकार केवल मन के संकल्प ने ज्ञानस्वरूप आत्मा को अविद्यात्मक बनाया है। घट का पानी हिलने पर चन्द्रबिम्ब को भी कंपित करता है, उसी प्रकार मन के कारण शुद्ध ब्रह्म को जन्म-मरण और सुख-दुःख उत्पन्न हुए हैं। आत्मा स्वयंप्रकाश और ज्ञानस्वरूप है। मन जड़ है तथा कल्पनारूप है। लेकिन उसी को अपना स्वरूप मानकर यह जीवात्मा उसका पाप-पुण्य भोगता है। जीव का सच्चा आत्मीय, सुहृद और मित्र केवल परमात्मा है। वही मन का और जीव का नियामक तथा साक्षी के रूप में प्रेक्षक है। जो जीव अविद्या के रोग से स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है वही मेरा मित्र है। वही मन के भ्रम से भ्रमण कर मन से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख भोग रहा है। मन की एकात्मता विलक्षण है। इससे जीव भ्रम में पड़ जाता है और स्वयं निष्कर्म होते हुए भी कर्माकर्म भोगता है। वास्तव में देखा जाय तो जीव मन का नियंता है लेकिन वह मन से एकरूप होकर मन के व्यर्थ के सुख-दुःखों को सहन करता है। जिस प्रकार पड़ोस का रिश्तेदार यदि राजा का प्रधान हो तो वह राजा को ही अपनी मुट्ठी में रखता है और राजा गरीब हो जाता है और प्रधान की इच्छा से सुख-दुःख भोगता रहता है। वही स्थिति जीव की है। मन ने उसे सांसारिक बना दिया है इसलिये वह अनेक जन्म-मरण तथा दिन-रात अनेक सुख-दुःख भोगता रहता है। उस मन का यदि निग्रह न किया जाय तो जीव का दुःख भी नहीं टलेगा। मन की इच्छा से ही चलने पर सारे साधन व्यर्थ हो जाते हैं।

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो हि योगो मनसः समाधिः॥ ४६॥

मनोनिग्रह पर ध्यान न देकर यदि सर्वस्व का भी दान कर दिया जाय तो 'मैं ही एक दाता हूँ' यह अहंभाव उत्पन्न होता है और मन गर्व से उन्मत्त हो जाता है अथवा मनोनिग्रह को भूलकर वर्णाश्रम धर्म का आचरण किया जाय तो उससे मनोधर्म आनन्द से प्रबल हो उठता है और 'मेरा स्वकर्म ही अत्यन्त श्रेष्ठ है' ऐसा लगने लगता है। त्रिभुवन में एक मैं ही आचारसम्पन्न, मैं ही अपना स्वयं पाकी हूँ, इस प्रकार स्वधर्म का आचरण करने से मन और भी क्षुब्ध हो उठता है। मन पर नियंत्रण करने की बुद्धि न हो तो यम-नियम भी एक विकार ही है क्योंकि उसके कारण 'सच्चा साधक मैं ही हूँ' यही मनोधर्म बताता रहता है। वेदशास्त्र श्रवण करने से घमण्ड बढ़ जाता है, पांडित्य के प्रति अभिमान बढ़ने लगता है। फिर मन पर नियंत्रण कैसे होगा? अपना ही कर्म करने जाओ तो कर्णक्रिया अत्यन्त कठिन है। उस कर्मठता का ही भ्रम जब बढ़ता जाता है तो मन का नियमन कैसे होगा? कर्म केवल देह में है। आत्मा देह में होने पर भी विदेह स्थिति में है। कर्म से उसे कर्मबद्धता प्राप्त होती है, ऐसा कर्मठ लोग मूर्खतावश मानते हैं। असंख्य व्रत कर व्रतस्थ होते हुए वे उसके बदले धनधान्य की अपेक्षा करते हैं क्योंकि उनके मन में मनोनिग्रह नहीं होता। अच्छे-अच्छे व्रत भी इस प्रकार व्यर्थ हो जाते हैं। व्रत, दान, स्वधर्म आदि जो सब है उनके लिये मनोनिग्रह ही सबसे बड़ा फल है। उसके बिना सारे साधक दुर्बल और साधकों के लिये निष्फल हैं। दान आदि सात साधन ज्ञान के ही अन्तर्गत हैं, वे सभी साधन निष्फल हैं यह कैसे कह सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि यहाँ दानादिक जो साधन हैं, उन्हें इस लोक में और परलोक में फल आता है, लेकिन वह फल ही यहाँ निष्फल होता है और जन्म-मरण को बढ़ाता है। इसमें यदि साधक ज्ञानसम्पन्न हो तो वह फल की आशा पूरी तरह त्याग कर दान आदि स्वधर्म का आचरण करेगा और वह केवल उसकी चित्तशुद्धि के लिये उपयोगी होगा। लेकिन चित्तशुद्धि होने के लिये पहले भगवान की कृपा होनी चाहिये। सभी साधनों में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मेरी भक्ति प्रमुख है। उसमें भी नाम की विशेष कीर्ति है। नाम से चित्त की शुद्धि होती है और साधकों को स्वस्वरूप स्थिति प्राप्त होती है। नाम से श्रेष्ठ कोई साधन नहीं है। उद्धव! नाम से सचमुच ही संसार बन्धन टूटता है, इसे ध्यान में रखो। स्वस्वरूप में रहकर मन जब निश्चल हो जाता है, उस समय जहाँ साधन लज्जित हो जाता है, वहाँ दान आदि का साधन अपने आप ही व्यर्थ हो जाता है।

समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं दानदिभिः किं वद तस्य कृत्यम्।
असंयतं यस्य मनो विनश्यद् दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः॥ ४७॥

जिस पुरुष का मन अपने मूल स्वरूप में प्रविष्ट होता है, उसे दानादि साधनों की क्या आवश्यकता है? पूरी तरह लुप्त व्यक्ति के सामने यदि पंच पकवान परोसा गया हो तो जिस प्रकार वह उसकी ओर देखना भी नहीं चाहता उसी प्रकार जिसका मनोविकार नष्ट हो गया है उसके लिये साधन व्यर्थ है। बाढ़ में गंगा नदी पार करने के लिये कोई मनुष्य बड़े कष्ट से नौका तैयार करता है लेकिन बाढ़ जब पूरी तरह उतर जाती है तो वह नौका हटा देता है। उसी प्रकार काम, क्रोध आदि उर्मियों से जिसका मन निर्विकल्प में स्थिर हो गया है, उसे सचमुच दानादिक साधनों की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर लाखों मशालें भी उपयोगी नहीं होतीं, उसी प्रकार मन में निर्विकल्पता उत्पन्न होने पर कोटि-कोटि साधन निष्फल हो जाते हैं। इस प्रकार जिसका मन शान्त हो गया है, उसके लिये दानादि नाना प्रकार के साधन करने की आवश्यकता नहीं है। उसके विचारों का पूर्ण रूप से विलय हुआ रहता है। जिसका मन किसी भी प्रकार के नियमों का पालन नहीं करता, जिसका मन सदा विचारशून्य रहता है, जो विषयों के प्रति सदा आशक्त रहता है उसके लिये भी साधन व्यर्थ हैं। जिस प्रकार उन्मत्त हाथियों के झुण्ड के कारण सेना अनेक दिशाओं से भागने लगती है, उसी प्रकार विषयासक्त पुरुष के पास साधन व्यर्थ हो जाते हैं। जो मन से विषयासक्त है, वह साधनों का जरा भी आचरण नहीं करता क्योंकि यदि वह साधन करे भी तो उसके मन में विषयों की ही कल्पनाएँ रहती हैं। स्वयं साधना करते समय वासना जिस फल की इच्छा करती है वही फल उसे प्राप्त होता है और वह दानादि का नाश करती है। जिस प्रकार किसी बलशाली घोड़े पर कोई निर्बल पुरुष सवारी करे तो वह घोड़ा बेकाबू हो जाता है और क्षणभर के लिये भी शान्त नहीं रहता, उसी प्रकार जिसका मन अत्यन्त दुर्बल रहता है और पूरी तरह कामक्रोध से भरा रहता है, जो स्वयं ही मन का दास बना रहता है, जिसका मन सदा महामोह में ही डूबता उतराता रहता है, वह साधन क्या करेगा? वह कभी साधन करता भी है तो वह महामोह के कारण। इससे तमोगुण बढ़ता है, लेकिन मन पर नियंत्रण नहीं होता। मान लो, यदि श्रवणादि इन्द्रियों का नियमन कर साधन किया जाय तो उसके मन का आकलन नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियाँ मन के अधीन होती हैं।

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा मनश्च नान्यस्य वशं समेति।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् युञ्ज्याद् वशे त स हि देवदेवः॥ ४८॥

मन ने सबको अपने वश में किया है किन्तु मन किसी के वश में नहीं रहता। मन ने देवताओं का भी छल किया है, फिर इन्द्रियों के वह किस प्रकार वश में रहेगा? मन पर नियंत्रण करने वाला चन्द्र है। लेकिन मन ने उस चन्द्रमा को भी छला। मन ने ही चन्द्रमा को गुरु पत्नी से व्यभिचार करा कर उसे क्षयरोगी बनाया। ब्रह्मदेव बुद्धि का नियंता है। लेकिन मन ने उस ब्रह्मदेव की बुद्धि भी भ्रष्ट की इसलिये उसकी कन्या उसका निवारण कर रही थी, फिर भी ब्रह्मदेव ने अपनी उस लड़की की ही अभिलाषा की। अंतःकरण में वासुदेव का अधिष्ठान है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लेकिन उस वासुदेव को भी मन ने फँसाया। उसे वृन्दा का ध्यान लगाकर, मानों उसे श्मशान में गिरा दिया। रुद्र (महादेव) अहंकार का नियंता है लेकिन मन ने उसे भी फँसाया। उसने ऋषि पत्नी की अभिलाषा की तो महर्षि ने उसे शाप देकर उसका लिंगघात कराया। इस प्रकार देवतागण भी जिस मन को नहीं जीत सके उसे और कोई कैसे नियंत्रित कर सकता है? आप कहेंगे कि इन्द्रियाँ मन पर नियंत्रण करेंगी। लेकिन वे इन्द्रियाँ भी मन के अधीन होती हैं। जब इन्द्रियों को स्वतंत्र रख कर मन ही किसी विषय में एकाग्र रहता है, तब इन्द्रियों का सामर्थ्य सचमुच निष्फल हो जाता है। इन्द्रियाँ और विषय यदि एक हो जाएँ और उस समय मन की वृत्ति बदल जाय तो उन विषयों का भोग नहीं हो पाता क्योंकि इन्द्रियों में उपभोग की स्फूर्ति ही नहीं रह पाती। मन के धर्म आसक्ति रहित हो जाते हैं तो इन्द्रियों की इच्छा कुछ नहीं कर पाती। इन्द्रियों का पूरा समुदाय मन के अधीन होता है। इसलिये इन्द्रियों के द्वारा मन पर नियंत्रण कभी नहीं हो पाता। मन इन्द्रियों का राजा है। इन्द्रियाँ मन के बिना नहीं चल पातीं। पुरुष को भी मन ही अपने वश में करता है। मन प्रबल में प्रबलतम है। मन का दमन करने में बड़ों-बड़ों को भी साहस नहीं होता। काल अपने सामर्थ्य से सबका भक्षण करता है लेकिन मन का रोम भी वह नहीं उखाड़ पाता। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने में भी काल मन को काबू में नहीं रख पाता। मन शस्त्र से नहीं टूट सकता, पानी भी उसे नहीं घोल सकता; अग्नि भी उसे नहीं जला सकता है अथवा आकाश भी मन को शून्य नहीं कर सकता है। मन को कोई रोग नहीं लगता, कोई रोग उसे दुर्बल नहीं कर सकता, मन को काबू में रख सके ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं दिखायी देती। मन करोड़ों ब्रह्मदेव उत्पन्न करता है, मन ब्रह्माण्ड उत्पन्न करता है और उन्हें नष्ट कर देता है; मन अपनी कल्पना की उड़ान से सारे त्रैलोक्य को जबर्दस्ती नचाता है। मन कलिकाल को भी छलता है। मन प्रलयानल को भी निगल लेता है। मन बलाढ्यों में महाबली है। मन को काबू में रख सके ऐसा कोई नहीं है। मन देवताओं को भी असह्य है। मन भयंकरों में भी भयंकर है। मन ने हरिहर को भी नियंत्रण में रखा है। ऐसे इस मन के सामने कौन टिक पायेगा? मन के प्रहार को निवारण करना कठिन है। मन को जो जीत सके ऐसा पराक्रमी देवता, मानव, राक्षस कोई भी नहीं दिखायी देता। मन के साथ दो हाथ कर सके ऐसा बलवान पूरे त्रिभुवन में नहीं है। मन कलिकाल को भी अपने काबू में रखता है। प्रलयरुद्र दाँत लगाये बिना निगल लेता है। मन की महिमा ऐसी अगाध है इसलिये उसे 'देव' कहते हैं। जो भयंकर हैं उन्हें भी मन का भय लगता है, इसलिये उसे 'भीष्मदेव' कहते हैं। मन की स्थिति अत्यन्त बेकाबू है। उसे नियंत्रित करने की युक्ति और उसका मर्म तुम्हें सचमुच बताऊँगा, ध्यानपूर्वक श्रवण करें। जिस प्रकार हीरा से ही हीरा काटते हैं, उसी प्रकार मन से ही मन को नियंत्रित करना चाहिये। लेकिन जब स्वयं गुरु की ही कृपा होती है, तभी यह भी प्राप्त होता है। मन गुरु कृपा की क्रीतदासी है। मन सद्गुरु से सदा भयभीत रहता है। उसे गुरु के चरणों पर रखने से ही साधकों को संतोष होता है। यह मन का उत्तम गुण है कि यदि वह परमार्थ की ओर लग जाय तो चारों मुक्तियों को अपने पास दासी बनाकर रखता है और परब्रह्म हाथ में दे देता है। मन ही मन का प्रकाशक है, मन ही मन का साधक है, मन ही मन का बाधक है और मन ही मन के लिये घातक है। जिस प्रकार बाँस अपना जंगल बढ़ाता है और एक बाँस दूसरे से रगड़ने पर जो चिनगारी निकलती है उससे स्वयं ही अपने को जला डालता है। उसी प्रकार मन ही जब मन की मृत्यु की चिन्ता करता है तभी वह सद्गुरु की शरण में ले आता है और उसका वचन मानकर, अभिमान रहित होकर गुरुभजन कराता है। सद्गुरु की पूर्ण कृपा होने पर मन ही मन को संकेत देता है अपने सुख से सुखी होकर मन ही मन पर प्रसन्न होता है। जब मन ही मन पर प्रसन्न हो जाता है तो वृत्ति अभिमानरहित हो जाती है। मानों, मन स्वयं ही साधकों को निजसमाधान साध्य करा रहा हो। गुरुकृपा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का प्रसाद मिलने पर मन स्वयं ही मनोजय की पताका फहराता है और साक्षात साधक के हाथ में देता है। इस प्रकार साधक का मन स्वयं ही अपनी जय करा कर देता है और अन्त में सद्गुरु के आत्मज्ञान में मन स्वयं आत्मस्वरूप से पूर्णरूप से लीन हो जाता है। जिस प्रकार नमक का ठोंका समुद्र के जल में घुलमिलकर स्वयं समुद्र जैसा हो जाता है उसी प्रकार साधक भी अभिमानरहित होते ही 'मैं' 'तू' का अहंभाव नष्ट कर स्वयं पूर्णब्रह्म हो जाते हैं, यह ध्यान में रखो। फिर उसकी आत्मदृष्टि को सारी सृष्टि एक मैं ही दिखायी देने लगती है, द्वंद्व की त्रिपुटी नष्ट हो जाती है और सुख-दुःख का पीछा करना छूट जाता है। फिर कैसा सुख और कैसा दुख! कैसा बन्धन और कैसा मोक्ष? पण्डित कौन और मूर्ख कौन? चारों ओर केवल एक ब्रह्म ही दिखायी देता है। वहाँ कौन देवता है और कौन भक्त है? कौन शान्त है और कौन अशांत है? द्वैत-अद्वैत विलीन हो जाता है और केवल एक परब्रह्म ही सदा आनन्दरूप से रहता है। वहाँ क्रिया और कर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्म और अधर्म लज्जा से ही नष्ट हो जाते हैं, वहाँ कनिष्ट उत्तम और मध्यम भी कैसे? परिपूर्ण ब्रह्म ही सर्वत्र भर जाता है। फिर शास्त्र और वेद, बुद्धि और बोध का भेद समाप्त हो जाता है और केवल आनन्दस्वरूप परब्रह्म ही सर्वत्र भर जाता है। इस प्रकार मनोविजय से इस स्थिति को भाव पहुँचता है। स्वयं भगवान ने यह बताया इसलिये इसमें कोई सन्देह नहीं है। मनोजय की स्थिति ब्रह्मदेव आदि देवताओं को भी अगम्य है। ऐसी स्थिति में जो इसे स्वयं अपने आप प्राप्त कर लेता है, वह आत्मज्ञान से देवाधिदेव हो गया ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार जो अपने मन को जीत कर इस लोक में ही जनता से एकरूप हो गया वह त्रिभुवन में धन्य है। उसके कारण पृथ्वी पावन होती है। उसी ने पूर्वजों को तारा, सारे कुल का उद्धार किया। जिसने मन को जीत लिया, समझो कि उसने परब्रह्म को अपना बना लिया। मनोजय से जो अत्यन्त समर्थ हो जाते हैं, वहीं शान्ति सर्वस्व बिकती है। उन्हें आत्मबोध के कारण सुख-दुःख के भँवर बिना मिले निकल जाते हैं। स्वयं भिक्षु द्वारा किया गया यह भाषण भगवान श्रीकृष्ण ने अत्यन्त उल्हास से उद्धव को सुनाया और कहा, मनोजय त्रिभुवन में धन्य है। जिसने मन को जीत लिया उसने मुझे अपना दास बना लिया, मुझे खरीद लिया। मुझ आनन्दस्वरूप को उससे आनन्द प्राप्त होता है, मुझ नित्य तृप्त को उससे तृप्ति मिलती है। मुझ अनंत का उसी के पास निवास रहता है, उसके ही कारण मैं त्रिभुवन में बलवान हुआ। 'मैं' और 'वह' कहने का जो कौशल है वह भी हमसे परे है। यदि आप अपने अंतःकरण से विचार करें तो आत्मैक्य के साथ सचमुच मैं ही हूँ। मनोजय से इतना अधिकार प्राप्त होता है। जो मनोजय न कर इस लोक के साधारण शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण अहंकार से फूल जाते हैं उनकी भर्त्सना स्वयं भिक्षु कर रहे हैं।

तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेगमरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित्।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यैर्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः॥ ४९॥

बड़े-बड़े शक्तिशाली राजा शत्रु के रूप में आते हैं, उस समय साम, दाम आदि उपायों से उनका दमन होता है या उन्हें पराक्रम से जीता जा सकता है। लेकिन ये उपाय मन के सन्दर्भ में काम नहीं आते। किसी की मध्यस्थता की जाय तो मन किसी की सुनता ही नहीं। मन को विषयों का दान दिया जाय तो उससे भी मन तृप्त नहीं होता। इसके विपरीत वह और भी भयप्रद हो जाता है। उसे कौन सँभाल पायेगा? शमदम आदि उपाय उस पर चलते नहीं हैं, अतः ऐसे मन को मार ही डालने की सोचें तो उस पर कोई शस्त्र काम नहीं करता और मारने का विचार मन में नहीं आता। इस प्रकार यह मनरूपी शत्रु अजेय होने के कारण अत्यन्त कठिन हो गया है। वही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुख-दुःख की सामग्री से क्षण-प्रतिक्षण जन्म-मरण से मारता है। अन्य शत्रु यदि काबू से बाहर हो जाएँ तो कोई तत्काल भाग सकता है। पहाड़ पर के किले पर अपनी सुरक्षा की जा सकती है लेकिन मन से आगे भागने पर त्रिभुवन भी कम पड़ जाता है। जिस गुप्त स्थान पर छिपने का प्रयास करो वो मन वहाँ भी उपस्थित रहता है। काम-क्रोध आदि महान वीर मन के पराक्रमी सेनापति हैं और उनकी मार असह्य है। वे एक ही झटके में बड़े-बड़ों को धराशायी कर देते हैं। बाहर के शत्रु दूर देशों में रहते हैं। उन्हें हमारे पास आने में काफी समय लगता है। किन्तु मनोरूपी शत्रु हमारे पास ही सदा चिपका रहता है। आसन पर भोजन के समय, एकान्त में, जप करते समय अथवा ध्यान करते समय मन एकाएक कूद पड़ता है और शत्रु बनकर पूर्ण रूप से पराजित करता है। बाहर के शत्रु का दुःख बहुत कम होता है, लेकिन मन की पीड़ा विशाल रहती है। मन जन्म-मरण के आवर्त भोगने को बाध्य करता है। बाह्य शत्रु मरणाधीन होते हैं किन्तु मन मृत्यु में भी विघ्न लाता है। इस मनरूपी शत्रु पर यदि विजय न प्राप्त की जाय तो जीव का बड़ा दुःख नहीं टल पायेगा। मन की तीव्र गति को देवता या मनुष्य भी सहन नहीं कर सकते। कोई कितना भी परिश्रम क्यों न करे लेकिन वह मन को नहीं जीत सकता। इसीलिये मन अजेय हो गया है। ऐसे इस मन को न जीत कर जो अन्य बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर गर्व से फूल जाते हैं, उन्हें महामूर्ख ही समझो। मन से मन को जीतें यह पिछले श्लोक में यथार्थ रीति से बताया ही गया है। वही मनोजय का उपाय है। सारांश यदि इस प्रकार मन को शत्रु बना कर मन को जीतना सम्भव नहीं है तो मन से मैत्री कर मित्रभाव से ही मन को सुखी करना चाहिये। सामान्यतः मित्रों की मैत्री ऐसी होती है कि यदि एक-दूसरे पर उपकार करता है तो दूसरा भी उसका उपकार करता है, लेकिन वह सारी मैत्री विषयसुख की होती है और उचित प्रसंगों पर वे एक-दूसरे के घर जाते भी हैं। मन की मैत्री वैसी नहीं होती। वह किसी के उपकार किये बिना ही उस पर उपकार करता है और सारे दुःखों का निवारण कर सुखसागर में विचरण कराता है। सामान्यतः जिससे हमारी मित्रता रहती है उससे अपना दुःख कहने पर वे उसे पूरी तरह दूर नहीं कर पाता। वह कहता है, "मेरे लिये यह असाध्य है।" मन की मैत्री ऐसी नहीं होती। मन को स्थिर कर यदि उससे अपना दुःख कहा जाय तो वह जन्म-मरण की बड़ी पीड़ा भी दूर करता है। मृत्यु का भय मन में होते हुए भी उसे कनक और कांता से आसक्ति रहती है। स्त्रियाँ भर्त्सना करती हैं लेकिन निर्लज्ज को लज्जा नहीं होती। परस्त्री, परधन, परद्रोह और परनिन्दा की लत लग जाने पर वे व्यसन उसे क्षणभर के लिये भी खाली नहीं बैठने देते और भयंकर नरकवास का भोग करने को बाध्य करते हैं। क्षुधा के सामने तो जरा सा भी विलम्ब सम्भव नहीं है। द्वंद्व के दुःख तो एक के बाद एक आने शुरू हो जाते हैं। इन्द्रियों की वृत्ति तो सँभाले नहीं सँभलती। ऐसा मन से कहने पर मन स्वयं वैराग्य से बिफर उठता है और विवेक के सहारे दुःख का नाश करने के लिये तत्पर हो उठता है। यदि चोर को ही भंडारी बना दिया जाय तो वह स्वयं ही चोरों का निवारण करता है। उसी प्रकार, मन से मैत्री करने पर वह स्वयं ही दुर्गुणों का नाश कर देता है। हम अधर्म कृत्यों की ओर प्रवृत्त होने लगते हैं तो मन ही उसका निवारण करता है। मन स्वयं ही वाणी को असत्य न बोलने की शपथ दिलाता है। मन की मैत्री इतनी श्रेष्ठ है। कर्माकर्म को समूल नष्ट करने के लिये तथा चित्तशुद्धि का मर्म जानने के लिये वह रात-दिन हरिनाम का स्मरण करता है। 'श्रीराम जयराम' में से केवल 'राम' इन दो अक्षरों से ही महापातकों का नाश होता है। वह मन उस नाम को छोड़ कर एकक्षण का भी विश्राम नहीं करता। अखण्ड हरि का ही स्मरण करता है। उस समय वह असत्य का शिरच्छेद करता है, अधर्म की खाल उधेड़ता है, कल्पना के पैर तोड़ता है और आशा की उमंग समाप्त करता है। विकल्प का घर ही उजाड़ देता है प्रपंच के दाँत तोड़ देता है, अविश्वास के टुकड़े-टुकड़े कर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देता है और अन्त में मन विश्वास के टुकड़े-टुकड़े कर देता है और अन्त में वह मन विश्वास की पताका फहराता है। ऐसे परिपक्व विश्वास से सद्गुरु के चरणों पर शरीर, मन और धन आदि सर्वस्व अर्पण कर गुरुवचन पर विश्वास करता है। पूर्ण विश्वास का यही लक्षण है कि गुरु का उपदेश श्रवण करते ही, जिस प्रकार पारस के स्पर्श से लोहे का स्वरूप बदल कर वह सोना बन जाता है, उसी प्रकार उसका अंत:करण भी बदलता है। गुरु का उपदेश सुनाने के बाद समाप्त हो जाता है लेकिन मन का मनन समाप्त नहीं होता। भृंगी की लगन से रूप बदलने वाले कीट की तरह वह मन तद्रूप होता है। उस समय वह मन सौन्दर्यसम्पन्न स्त्री अथवा द्रव्य को विष्ठा के समान समझता है। निन्दा, द्वेष, मान, अभिमान आदि मन के दुर्गुणों को मन ही समाप्त कर देता है। मन की मित्रता धन्य है। पूरे विश्वास के साथ वह जन्म-मरण का संहार करता है और जीव को युवा और अमर कर डालता है। इस प्रकार मन से मैत्री करने से मन बहुत उपकार करता है और जीव का हाथ पकड़ कर उसे आत्मानंद सागर में गोता लगवाता है। उस समय मन का मनपन नष्ट हो जाता है, जीव का जीवपन पिघल जाता है, बन्ध-मोक्ष की दौड़ समाप्त हो जाती है और संसार का भय पूर्णरूप से समाप्त हो जाता है। ऐसी मन की स्थिति है। वह मन अपने वंश को स्वयं मार डालता है और मित्र पर उपकार करने के लिये स्वयं भी मर जाता है। मन मित्रता में धोखेबाजी नहीं क़रता। इस प्रकार सदा आदरपूर्वक वश में होने वाले मन के रहते क्षुद्र लोग साधारण मनुष्य से मैत्री करते हैं। मन से शत्रुता करके उसे या तो मार ही दे या फिर उससे मित्रता कर उसे अपनी ओर मोड़े और यह दोनों ही यदि सम्भव न हो तो मन को बिलकुल छोड़ देना चाहिये। मन के कहने पर न चलें, मन को साथ न रखें और जीवभाव से मन को बिलकुल स्पर्श न करें। मन जिसे सुख कहे उसे अवश्य छोड़ देना चाहिये और जिसे वह दु:ख कहे उसे भी पूरी तरह छोड़ देना चाहिये। इस प्रकार जो पुरुष अपने मन के प्रति उदासीन रहेगा वह मनरहित हो गया ऐसा समझना चाहिये। वहाँ अलौकिक शान्ति प्राप्त होती है। शत्रुत्त्व से मित्रता से अथवा उदासीन होकर जो मन को वश में नहीं करेगा और देहाभिमान लेकर बैठा रहेगा उसका संसारचक्र का भ्रमण नहीं टलेगा।

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा ममाहमित्यन्धधियो मनुष्या।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति॥ ५०॥

आत्मा विदेही है और ज्ञानस्वरूप है। ऐसा होते हुए भी मन अपने को देहधारी मानता है। उस देह के साथ ही 'मैं' और 'मेरा' यह भाव उत्पन्न होकर जन्म-मरण और सुख-दु:ख भोगने पड़ते हैं। आत्मा नित्यमुक्त और विदेही है। मन से एकरूप हो जाने के कारण वह मूलत: विदेही होते हुए भी स्वयं को देही कहता है और अन्त में देह के प्रति ही आत्मीय हो जाता है। मन कहता है कि 'मैं देह हूँ', इससे देहाभिमान प्रबल हो उठता है और वह आत्मा स्वयं ही देहरूप होकर उस देह के प्रति अपनत्व दिखाने लगता है। मैं सच्चिदानंद और परिपूर्ण हूँ यह अपना लक्षण आत्मा स्वयं भूल जाता है और मैं वैश्य, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण हूँ अथवा मैं ही एक मूर्ख अथवा ज्ञाता हूँ, ऐसा मानने लगता है। मैं दुबला, पतला, काना, कुब्जा हूँ, मैं अत्यन्त धीर और चतुर हूँ; आदि देह के मिथ्या गुण स्वयं से जोड़ कर वह स्वयं मानव देहधारी बन जाता है। कोई संन्यासी जिस प्रकार स्वप्न में अपने को अंत्यज वंश में जन्मा देखता है और ब्राह्मण को स्पर्श करने में डरता है, उसी प्रकार जीव की दशा हो जाती है। परमात्मा स्वयं भेदरहित होते हुए भी वह मैं, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा द्रव्य आदि मानता है और अपने इष्टमित्र, दुर्जन, उदासीन आदि जो त्रिविध भेद हैं उन्हें सच समझने लगता है। इस प्रकार देहात्मभाव सिद्ध होने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पर और भेदभाव सच हैं वह विश्वास होने पर जीव की अपनी आत्मबुद्धि अन्धी हो गयी ऐसा समझना चाहिये। जिस प्रकार स्वप्न की बातें मिथ्या होती हैं, उसी प्रकार मन का कल्पित संसार भी मिथ्या है। उसे सत्य मानने से देह का अन्धकार बढ़ता है। देहाभिमान प्रबल हो जाने पर पुनः जन्म और पुनः मरण इस प्रकार संसार चक्र का परिभ्रमण जीव को उसके ही भ्रम के कारण भोगना पड़ता है। जिस प्रकार केवल अग्नि को हथौड़े के घाव कभी नहीं लगते लेकिन लोहे की संगति से वह अपने शरीर पर हथौड़े का प्रहार सह लेता है, उसी प्रकार नित्यमुक्त और परिपूर्ण आत्मा जब देहाभिमान धारण करता है, तब उसमें जीवत्व आ जाता है और वह जन्म-मरण का दुःख भोगने लगता है। जिस प्रकार घानी का बैल आँखों में पट्टी बँधी होने के कारण अन्धेपन से गोल-गोल घूमता रहता है, उसी प्रकार मनुष्य भी अहंकार के कारण अन्धा होकर विराट संसार चक्र में घूमता रहता है। वहाँ जन्म-मरण का भोग भोगते हुए वह अत्यन्त दुःखी होता है किन्तु देहाभिमान नहीं छोड़ता। अन्त में वह अभिमान उसे अंधतम नरक में ढकेल देता है। ऐसा नरक जिसका दुःख अपार है और दुस्तर होने के कारण उसे पार भी नहीं किया जा सकता। जो अघोर भोग भोगने को बाध्य करता है वह संसार मन की कल्पना ही है। मन ही सुख-दुःख का कारण है यह बात आठवें श्लोक में भिक्षु ने स्वयं ही बतायी है। अब दुःखों का कारण लोग हैं, ऐसा जो कहा जाता है वह मिथ्या है यह भी वह बताता है।

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत् किमात्मनश्चात्र ह भौमयोस्तत्।
जिह्वा क्वचित् संदशति स्वदद्भिस्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत्॥ ५१॥

जिसे जननी के उदर में जन्म लेना पड़ता है उसे 'जन' कहते हैं। वे जन मेरे सुख-दुःख के लिये बिलकुल कारण नहीं होते। लोग लोगों को ही दुःख पीड़ा देते हैं, उसका आत्मा से क्या सम्बन्ध है? आत्मा देह से स्वतंत्र एवं शुद्ध है। उसे सुख-दुःख की बाधा नहीं होती। देह से देह को दुःख होता है ऐसा कहें, तो देह तो पंचभूतात्मक है। अतः उनमें परस्पर एकता है। अर्थात् उन्हें भी सुख-दुःख नहीं होगा। जल में जल उड़ेलने से जिस प्रकार जल को कोई कष्ट नहीं होता अथवा दीपक की ज्योति से ज्योति मिलाने पर दीपक को कोई कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार देह को (पार्थिव = पृथ्वी से उत्पन्न हुआ) देह से स्पर्श करने पर बिलकुल पीड़ा नहीं होती और आत्मा देह को स्पर्श भी नहीं करता इसलिये वह सुख-दुःख को भी स्पर्श नहीं करता। अब आप यह कहेंगे कि जो जीव देहाभिमानी है, उसी को सुख-दुःख होते हैं क्योंकि दुख का भोक्ता कोई और तो खोजने से भी नहीं मिलता। हमारी जीभ यदि दाँत के नीचे आ गयी तो उसका गुस्सा किस पर निकाला जाय? क्या वह क्रोध के आवेग में दाँत तोड़ता है या जीभ को काटकर फेंकता है? उसी प्रकार संसार में जब सर्वत्र एकता दिखायी दे रही है तो क्रोध करने का कोई कारण नहीं है। दूसरे का धक्का लगने से जो गिरता है वह धक्का देने वाले पर गुस्से में हाथ उठाता है, लेकिन जो स्वयं ही गिर कर जमीन पर लोटने लगता है, वह शरमा कर, किसी पर गुस्सा किये बिना चला जाता है। उसी प्रकार प्राणिमात्र मैं ही हूँ और भोग भोगनेवाला भी मैं ही हूँ; मेरा दुःख देने वाला भी मैं ही हूँ; संसार में ऐक्यरूप में मैं ही भरा हुआ हूँ। ऐसी स्थिति में क्रोध किस पर करें? इस प्रकार मेरे सुख-दुःख के लिये अन्य लोग कारण नहीं हैं। अब यदि उसके लिये देवताओं को कारण समझा जाय तो वैसा भी नहीं लगता।

दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत्।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचित् क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे॥ ५२॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अब जो लोग दूसरा ही कारण मानते हैं, वे कहते हैं कि देवताओं के कारण ही दुःख प्राप्ति होती है। किन्तु देवताओं का वास देह में ही होता है और आत्मा आत्मस्वरूप में रहकर विदेही ही रहता है। देह के इन्द्रियों के विकारों का नियंता देवता ही है। आत्मा अखण्ड अविकारी ही होता है। वह सुख-दुःख से अलिप्त रहता है। भूमि स्वाभाविक रूप से निर्विकार ही है। किन्तु उस पर बनी हुई दीवारें सविकार होती हैं। उसके अनुसार ब्रह्म नित्य और निर्विकार ही है। उसमें जो नियामक देवता हैं वे सविकार होने का आभास देते हैं। दीवार जब जमीन पर गिर पड़ती है तो भूमि उसे अपने में एकरूप करती है, उसी प्रकार निर्गुण और निर्विकार ब्रह्म में इन्द्रियों के नियामक देवता एक हो जाते हैं। हमारे देह में या दूसरों के देह में इन्द्रियों का नियंत्रण करने वाले देवता एक समान हैं। इसलिये इन्द्रियों का सुख-दुःख देवता स्वयं भोगते हैं। हाथ से मुँह पर मारने पर वहाँ क्रमानुसार इन्द्र और अग्नि यही नियामक देवता हैं, इसलिये एक तरह से इन्द्र ही अग्नि को मारता है। आत्मा अविकारी होने के कारण वह दुःख से अलिप्त ही है अथवा यदि मुँह हाथ को काट खाता है तो इसका यह अर्थ हुआ कि अग्नि ने इन्द्र को घायल कर दिया। आत्मा इन्द्रादि देवताओं से भिन्न होने के कारण उसे सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते। दूसरे के मुख से हमारे मुँह पर थूक गिरती है तो दोनों ही मुखों में अग्नि का ही वास होने के कारण कौन किस पर क्रोध करेगा? आत्मस्वरूप में दूसरा कोई नहीं होता। चाहे थूक हो या पेशाब हो दोनों देह से ही उत्पन्न हैं अर्थात् देह के ही बच्चे हैं। देह के ही होने के कारण वे देह पर ही लोटते हैं, तो कौन किस पर नाराज हो? अपने मुख से दूसरे के मुख को चुम्बन दे तो अग्नि ने ही अग्नि का चुम्बन लिया। उस आनन्द से कौन फूलेगा? क्योंकि आत्मस्वरूप में दूसरा कोई नहीं होता या अपनी देह से दूसरे की देह को आलिंगन दे तो उन दोनों के स्पर्श के बीच केवल वायु ही रहता है। उस आनन्द से प्रफुल्लित कौन होगा? क्योंकि वहाँ कोई 'दूजा' नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि देवताओं का समुदाय सुख-दुःख के लिये कारण नहीं है क्योंकि आत्मा में ही सभी देवताओं का बिना किसी भेदभाव के विलय होता है। देवताओं द्वारा देह को प्रताड़ित करने से देहाभिमानी को दुःख होगा ऐसा जो मानते हैं, वे मूर्ख हैं क्योंकि वैसा भी कभी घटता नहीं है। पुर अर्थात् देह, उस देह में जो निवास करता है, वह सभी की देह में एक ही पुरुष है। ऐसा होने पर किसके लिये कौन दुःख मनायेगा? तैश में आकर मारा गया अपना ही हाथ अपने ही शरीर पर नहीं लग जाय तो उस दुःख के जिम्मेदार हम ही होते हैं तथा क्रोध करने का कारण हम ही होते हैं। जब सर्वत्र अपना ही एकपन हो तो कौन किसका दुःख मानेगा और कौन किस पर गुस्सा करेगा? क्योंकि चारों ओर तो अपने आप ही अकेला है। उसी प्रकार मैं ही एक विश्वात्मा हूँ, मैं ही देवता हूँ, मैं ही जनता हूँ, फिर कौन किसे दुःख देता है? और मैं क्रोध करूँ भी तो किस पर? इस प्रकार मन में विचार करने पर, मन में विश्वास हो जाता है कि देवताओं से सुख या दुःख बिलकुल नहीं होता। आत्मा को सुख-दुःख का कारण माना जाय तो यह बात मुझे स्वीकार नहीं है क्योंकि आत्मा में कार्य का कारण और सुख-दुःख होते ही नहीं हैं।

आत्मा यदि स्यात् सुखदुःखहेतुः किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः।
न ह्यात्मनोऽन्यत् यदि तन्मृषा स्यात् क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम्॥ ५३॥

आत्मा तो केवल अकेला है, उसे सुख कैसा और दुःख कैसा? जो आत्मा को सुख-दुःख देने वाला कहते हैं, वे मूर्ख और अविचारी हैं। जिस प्रकार पतले घी को कोई आकार नहीं होता और रंग भी नहीं होता, लेकिन गाढ़ा होने पर उसके कण-कण में आकार और श्वेत वर्ण दिखायी देता है, और उन कणों के परस्पर मिलने से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उन्हें परस्पर कोई सुख या दुःख नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा एक ही होते हुए अनेक रूप धारण करता है। जल में जल की लहरें एक-दूसरे पर गिरती रहती हैं, फिर भी उनमें सुख-दुःख उत्पन्न नहीं होता। उसी प्रकार चराचर में परमात्मा का वास होता है। परमात्मा एक अकेला होते हुए अनेक रूप धारण करता है फिर भी उसमें विविधता नहीं है। फिर सुख और दुःख किसका होगा? आत्मा आनन्दस्वरूप होकर सर्वत्र एक ही है। उसमें अनेकत्व का जो आभास होता है वह मायामय होकर काल्पनिक है। वह मिथ्या होने के कारण स्वप्न की तरह है। मृगजल में जल ही दिखायी देता है लेकिन वह पूरी तरह शुष्क रहता है। उसी प्रकार यह जो संसार फैला हुआ दिखायी देता है वह मिथ्या है तथा समूल माया के कारण है। जहाँ मायामय मिथ्या भेद विभेद रहता है वहाँ एक अकेला परमात्मा ही रहता है। अर्थात्, तब सुख-दुःख नष्ट हो जाते हैं और गुस्सा होने की कोई व्यथा ही नहीं रह गयी है। जहाँ हमारे आत्मा के कारण ही सर्वत्र एकता है, वहाँ सुख-दुःख नहीं हैं यह ध्यान में रखो। जहाँ आत्मा को अपना ही अनुभव होता है वहाँ द्वैत का अभाव होता है और जब सुख-दुःख ही मिथ्या हो जाते हैं वहाँ क्रोध के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। इस आत्मस्वरूपता को न जान जो सुख-दुःख को वास्तविक मानते हैं, वे भले ही वेद शास्त्र के ज्ञाता क्यों न हों, लेकिन क्रोध उन्हें समाप्त कर देता है। जब समस्त प्राणिमात्र में आत्मभाव दिखायी देता है वहाँ कौन किसे दुःख देगा? और कौन किस पर नाराज होगा? क्योंकि सर्वत्र केवल एक आत्मस्वरूप ही रहता है। इस प्रकार वास्तव में आत्मा सुख-दुःख का प्रदाता नहीं है क्योंकि कोई कितना भी बड़ा मूर्ख क्यों न हो, लेकिन वह स्वयं को दुःख नहीं देता। अब इसमें से चौथे मत के अनुसार ग्रहों को दुःख का कारण मानें तो वह भी सच नहीं है। सुनो। तुम्हें निश्चित रूप से बताता हूँ।

ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत् किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै।
ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः॥५४॥

देह जननी के उदर में जन्म लेता है, इसलिये उस देह को 'जन' कहते हैं। उस जन्म के समय जो 'लग्न' रहता है, उस जन्म लग्न के लिये जन्मकाल से ही ग्रहों का परिभ्रमण शुरू हो जाता है। उसमें बारहवें, आठवें, जन्मस्थ आदि विभिन्न स्थानों पर जो शुभाशुभ ग्रह उपस्थित रहते हैं, वही सुख-दुःख के प्रणेता हैं। किन्तु आत्मा ग्रहों की गति से अलिप्त ही रहता है। आत्मा का जन्म ही नहीं होता फिर उसे ग्रह की व्यथा कैसे होगी? जहाँ खेत में बीज डाला ही नहीं गया है वहाँ चूहे क्या खायेंगे? जब घर ही नहीं बना है, तो उसकी छत कैसे जलेगी? उसी प्रकार जब आत्मा जन्म ही नहीं लेता तो उसे ग्रहों के शुभाशुभ फल कैसे लगेंगे? ग्रहों की ग्रहदशा देह के पास होती है और आत्मा देहभाव से अलिप्त ही रहता है। जिस प्रकार काक कैलास पर नहीं चढ़ता उसी प्रकार ग्रह भी आत्मा को स्पर्श नहीं करते। जिस प्रकार मक्खी अग्नि का स्वाद नहीं लेती अथवा चील चन्द्रमा पर झपट्टा नहीं मारती, उसी प्रकार आत्मा को व्यथा देने का सामर्थ्य ग्रहों के पास नहीं होता। आत्मा सभी का एक ही है अर्थात् ग्रहों का आत्मा भी वही है। ग्रह यदि अपने ही आत्मा को दुःख दें तो यही होगा कि ग्रहों ने स्वयं ही अपने को पीड़ा पहुँचायी है। देह, जड़, मूढ़ और अज्ञानी है। उस देह को सुख-दुःख का कोई ज्ञान नहीं होता। कोई स्वयं ही अपने को दुःख नहीं पहुँचाता। इसलिये आत्मा को ग्रहों की पीड़ा कल्पांत में भी नहीं हो सकती। ग्रहों में वैरभावना है ही। ग्रह ग्रहों को पीड़ा देते हैं। उस सम्बन्ध में भी विवेचन ध्यान से सुनें। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार शनि का मंगल और सूर्य से बैर है। गुरु और शुक्र एक-दूसरे के शत्रु हैं। उसी प्रकार बुध और चन्द्रमा में भी बड़ा बैर है। इन ग्रहों में कुछ की गति तीव्र रहती है तो कुछ मंद गति से चलते हैं। कुछ अत्यन्त तीव्र गति से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चलते हैं, तो कुछ वक्र गति से पीछे लौटते रहते हैं। कुछ दूसरे ग्रह मण्डल को भेदकर एक साथ आते हैं। परस्पर वैरी ग्रह जब एक राशि में एकत्र हो जाते हैं एक ही नक्षत्रचरण में साथ रहने लगते हैं, तो उसमें राहु सूर्य को ग्रस लेता है और सूर्य चन्द्र का लोप कराकर अमावस्या (काली रात) करा देता है। इस प्रकार ग्रह स्वयं ही परस्पर पीड़ा देते रहते हैं। किन्तु मैं आत्मस्वरूपी हूँ तथा उनसे भिन्न हूँ अतः मुझे उनके सुख-दुःख से कोई सरोकार नहीं है। अलंकार यदि तोड़ भी दिये जाएँ तो इससे सुवर्ण को कोई कष्ट नहीं होता। उसी प्रकार ग्रह यदि ग्रहों को पीड़ा देने लगें तो उसमें आत्मा को सुख या दुःख क्यों होगा? समरभूमि में युद्ध होता है तो उससे भूमि घायल नहीं होती। उसी प्रकार मैं आत्मस्वरूपी होने के कारण ग्रहपीड़ा से अलिप्त रहता हूँ। रजस्वला स्त्री धरती पर चलती रहती है उससे धरती को अस्पृश्यता की बाधा नहीं होती। उसी प्रकार ग्रह अन्य ग्रहों को पीड़ा पहुँचाते हैं, फिर भी मैं सुख-दुःख से अलिप्त हूँ। सारांश, ग्रहों के कारण जो भी सुख-दुःख देहों में उत्पन्न होता है, उससे मुझ आत्मा को कोई बाधा नहीं होती। जिसे सुख या दुःख का कोई अनुभव ही नहीं होता, उसे कभी क्रोध नहीं आता। इसीलिये ग्रहों के कारण कोई दुःख नहीं होता। अगर यह कहें कि सुख-दुःख देने वाला कर्म है तो इससे लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। लेकिन वास्तव में आत्मा केवल निष्कर्म है, उसे जड़ कर्म की बाधा कैसे होगी?

कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत् किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे।
देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं सुपर्णः क्रुध्येत कस्मै न हि कर्ममूलम्॥ ५५॥

कर्म जड़ होने के कारण अत्यन्त बाधक है और आत्मा ज्ञानस्वरूप होने के कारण अत्यन्त शुद्ध है। उसे कर्म का दोष बिलकुल नहीं लगता। सूर्य अगर अन्धकार में छिप कर बैठ सके, दावाग्नि को यदि घास में ही टोका जा सके, अथवा किलनी अपने मुख से दीपक का स्पर्श कर सके, चक्रवाक पर यदि घास का नियंत्रण हो सके, गड्ढे के कीचड़ से यदि चन्द्रमा पर लेप लगाया जा सके तो कर्म से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख का बन्धन आत्मा भी स्वीकार कर लेगा। आत्मा कर्माकर्म का संहार करता है और सुख-दुःख की होली जलाता है। वह कर्मफलों का उपभोग करता है, ऐसा मूर्ख लोग अवश्य मान सकते हैं। स्वप्न में प्राप्त संतति यदि जागृत अवस्था में किसी से भेंट कर सके तभी कर्म से प्राप्त होने वाले सुख-दुःख आत्मा के लिये भी बाधक होंगे। जिस प्रकार चींटी अग्नि पर नहीं चलती, उसी प्रकार आत्मा कर्म के फल में लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार आकाश में शस्त्र से छिद्र नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा भी कर्म के फल को स्पर्श नहीं करता। कर्म जो भी कुछ है वह सब अविद्यात्मक है और आत्मा विद्या-अविद्या से परे है तथा अत्यन्त निर्मल है। उसे कर्म का सुख-दुःख होता है, ऐसा मूर्ख लोग देह के मोह के कारण मानते हैं। कर्म नितांत जड़ है और आत्मा शुद्ध है। कर्म सीमित है तथा आत्मा अनंत है। कर्म अपनी कर्मठता के चलते नित्य बन्धनमुक्त है और आत्मा चिदानंदस्वरूप है। कर्म मिथ्या तथा मायिक है और आत्मा नित्य होकर अमायिक है। कर्म का ब्रह्म से परिचय नहीं है इसलिये जहाँ ब्रह्म है वहाँ कर्म नहीं रहता। रस्सी को सर्प मान लेने से, जब उसमें सर्प का अंश ही नहीं है तो उसके डसने से विष कैसे फैलेगा? उसी प्रकार स्वस्वरूप में कर्म मिथ्या ही है। वह आत्मा के लिये बाधक कैसे हो सकता है? बाँझ रानी का लाडला पोता जिस प्रकार राजसत्ता से संसार पर शासन करता है, उसी प्रकार कर्म के सुख-दुःख की कथाएँ कर्मठों में ही अधिक प्रचलित रहती हैं। सारांश, यहाँ कर्म ही मिथ्या है। वह सुख-दुःख कैसे देगा? यह निश्चित रूप से जान लेने पर कौन किस पर कोप करेगा? इस प्रकार कर्म सुख-दुःख तो नहीं ही देता, इसलिये सुख-दुःख काल देता है, ऐसा कहें तो वह भी ठीक नहीं है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत् किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात् क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम्॥ ५६॥

काल शीतकाल में ठंडक की पीड़ा देता है, गर्मियों में गर्मी से त्रस्त रहता है, वर्षाऋतु में जल बरसाता है और तीन-तीन मंजिल वाले मकानों को ध्वस्त कर देता है। सात-सात दिन तक लगातार अखण्ड वर्षा के कारण आँख भी खोलने नहीं देता। इसलिये सभी प्राणियों को पीड़ा होती है और खाद्यान्न की समस्या उत्पन्न हो जाती है। खाद्यान्न के अभाव के कारण पशु, पक्षी तथा प्राणी व्याकुल हो जाते हैं। उस समय कोई भी सुख-दुःख की बात नहीं करता क्योंकि उस समय काल ही दुःख देनेवाला होता है। भीषण गर्मी, भीषण सर्दी अथवा अत्यधिक वायु के साथ काल संसार को खाता रहता है। इसलिये संसार भी काल से थर-थर काँपता रहता है। काल के पराक्रम की बात सुनकर देवता भी तत्काल काँप उठते हैं। औरों की क्या बात की जाय? साक्षात् ब्रह्मदेव भी अंतःकरण में काल से भयभीत रहते हैं। अतिवृष्टि और अनावृष्टि के साथ काल अनेक प्रकार के संकटों से लोगों को पीड़ा देता है और अन्त में प्रलय कर देता है। ऐसा यह महाकाल सृष्टि को दुःख देने वाला है ऐसे बड़े-बड़े ज्ञानी लोग कहते हैं लेकिन वे अपने ज्ञानी होने के कारण ही मूर्ख बने रहते हैं क्योंकि काल ही ईश्वर है और वह सबके लिये सुखदायी है। ईश्वर से जो काल को अलग कहता है वह जड़, मूर्ख और अज्ञानी है। काल ही ईश्वर है, यह जान लो। वह विश्वात्मा है तथा पूर्णरूप से दयालु है। काल योग्य समय पर बारिश करता है तथा संतप्त हुए लोगों को सुखी करता है और धरती को गीली बनाकर उसे खेती करने के लिये बीज डालने लायक बनाता है। उस समय यदि शीतल हवा नहीं बहेगी तो बोया हुआ बीज जल कर राख हो जायेगा। इसलिये उस समय पानी बरसा कर अनाज फलद्रूप करता है। पका हुआ अनाज गीला रहता है और उसे उसी प्रकार संग्रह करना सम्भव नहीं है, इसलिये ग्रीष्म की गर्मी लाकर अनाज का गीलापन सोख लेता है। इस प्रकार प्राणियों के हित में जाड़ा, धूप, वर्षा आदि की योजना काल करता है। किन्तु देह स्वयं ही 'मैं' के भ्रम में होने के कारण वही उसे दुःखदायक मालूम होता है। पुराने वस्त्रों को बदलकर जो आस्थापूर्वक नये वस्त्र पहनाता है, उसी कल्याणकर्ता काल को मूर्ख लोग शत्रु कहते हैं। उसी प्रकार वृद्धावस्था से जर्जर होकर जो देह विगलित हो जाता है, उसे काल योग्य समय पर नष्ट कर देता है और तत्काल नया देह देता है। इस प्रकार काल लोगों पर उपकार करता है। पुराना लेकर जो बदले में नया देता है ऐसे उपकार कर्ता को देह के लोभ से लोभी बने लोग अपकार कर्ता कहते हैं। मनुष्य जिस भावना से जो भी दृढ़ वासना मन में रखता है, उसी के अनुरूप देह उसे कृपालु काल तत्काल देता है। पिता आनन्दपूर्वक पुत्र के पुराने वस्त्र उतार कर उसे पहनने के लिये नये वस्त्र देता है, उसी प्रकार प्रलयकाल संसार को भी नये-नये रूप देता है। काल प्रलयकाल में संसार के सभी पुराने देहों का विनाश कर, फिर उन सबको कृपापूर्वक नया देह देकर उनका गौरव करता है। इस प्रकार काल कृपालु है। मूर्ख लोग उसे बैरी कहते हैं। काल स्वयं ही संसार का वास्तविक आत्मा है। वह किसी को भी दुःख देकर छल नहीं करता। देखो! लोगों की देह पर ही भक्ति रहती है, इसलिये काल भी लोगों की भक्ति के अनुसार एक के बाद एक देह उत्पन्न करता है और इसीलिये यह जन्म-मरण का झगड़ा बढ़ता है। जो सचमुच ही विदेह भावना की ही इच्छा करता है, उसका अहंभाव काल नष्ट करता है और स्वयं आत्मानन्द से तृप्त कर जन्म-मरण का ठिकाना ही तोड़ देता है। जिसकी जैसी बुद्धि होती है, उसके ही अनुरूप काल उसे सिद्धि देता है। किन्तु काल सचमुच ही कृपालु है, यह बात देह के मोह से अन्धे हुए लोग नहीं जानते। संसार में काल ही हमारा आत्मा है। यह बात जो आत्मज्ञानी जानता है वहाँ कौन किसका दुःख मानेगा? क्योंकि दूसरा कोई होता ही नहीं है। यहाँ मैं दुःख देने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाला हूँ और दूसरी ओर कोई दुःख भोगने वाला है ऐसी द्वैत वाली बात ही नहीं है क्योंकि संसार का एकमेव आत्मा वह काल ही है। काल और हमारा आत्मा ये दोनों एक ही हैं। ऐसी स्थिति मे किसका सुख किसे होगा और कौन किसके लिये शोक मनायेगा? यहाँ द्वंद्व का दुःख ही नहीं रहता। जिस प्रकार मृगजल केवल नाममात्र का है, उसमें एक बूँद भी पानी नहीं है, उसी प्रकार आत्मस्वरूप में संसार का जो विस्तार है, वह केवल मन का भ्रम है। आत्मा एक ही होने के कारण उसमें कोई भेद नहीं है। वही 'काल' के नाम से प्रसिद्ध है। जीव उसी का अंश होने के कारण वह ज्ञानस्वरूप से शुद्ध है। इसलिये उसे काल आदि की बाधा नहीं है। क्या आग से अग्नि जलता है, या धूप से सूर्य जलता है? लहरों की उथल-पुथल से क्या समुद्र डूब जाता है? या काजल ने अन्धकार को और अधिक काला किया है? या हिमालय पर्वत बर्फ से काँपने लगता है? या घृत डालने से घृत टूटता है? यदि यह सब सम्भव हो तभी काल के प्रयास से आत्मा अनेक द्वंद्व भोगेगा? कोई स्वयं ही अपने ऊपर कोई आपत्ति नहीं लाता, उसी प्रकार काल भी आत्मा पर बाधा नहीं ला पाता। इस प्रकार जहाँ एकता के कारण अभेद रहता है, वहाँ काल की भी पीड़ा नहीं हो पाती। अभेद में द्वंद्व बिलकुल नहीं है, फिर कोप किस पर किया जाय? जीव-शिवरूप में केवल मैं ही हूँ। मैं ही आत्मा हूँ और मैं ही काल हूँ। द्वंद्व दुःखों का झमेला मिथ्या है। तब क्रोध किस पर करूँ? इस प्रकार विचार करने से काल सुख-दुःख देने वाला सिद्ध नहीं होता क्योंकि सुख-दुःखों की पीड़ा आत्मा को नहीं होती। 'नायंजनः' आदि श्लोकों में (अ २३ श्लोक ४३) सुख-दुःख के जो छः कारण बताये गये हैं, उन पर ठीक तरह से विचार करने पर वे आत्मा के लिये बाधक सिद्ध नहीं होते, यह ज्ञात होता है। इसके अलावा देशवास अथवा त्रिगुणों के गुण से बाधक बनकर आत्मा को पीड़ा देने वाला कोई दिखायी नहीं देता। आत्मा को किसी से कभी भी पीड़ा होने की सम्भावना नहीं है। लोगों को देह का अहंकार ही बाधक होता है। यही बात भिक्षु बता रहे हैं।

न केनचित् क्वापि कथंचनास्य द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्यादेवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः॥ ५७॥

आत्मा गुणों से भिन्न होते हुए शुद्ध है। वह माया से परे तथा आनन्दस्वरूप है। वह परिपूर्ण सच्चिदानंद है। उसमें द्वंद्व की बाधा नहीं है। आत्ममन्दिर में द्वंद्व प्रवेश करने लायक बाधक हो सके इस प्रकार का कर्म, कार्य अथवा क्रिया कैसी भी, कैसे भी और किसी से भी नहीं हो सकती। अभेद को द्वंद्व की बाधा नहीं होती, स्वानंद का दुःख से सम्बन्ध नहीं है, फिर परिपूर्ण के विरुद्ध कौन रहेगा? परमानन्द एक अकेला ही रहता है। (आशंका) आत्मा के द्वंद्व से संबंध नहीं होता और देह जड़ होने के कारण द्वंद्व नहीं जानता; तो फिर यह जो सुख-दुःख की अत्यन्त प्रसिद्ध पीड़ा है, वह किसे होती है? (उत्तर) सुख-दुःख का भोग भोगने के लिये और जन्म-मरण का भोग सहन करने का प्रमुख कारण देहाभिमान है। लेकिन उसका लक्षण भी समझ में नहीं आता। जिस प्रकार पति के साथ रहकर सुवासिनी स्त्री व्यभिचार करे और उससे उसे गर्भ रह जाय तो वह किसी की समझ में नहीं आता उसी प्रकार इस अभिमान का आश्चर्य है। वह ज्ञानस्वरूप से एकरूप होकर मिथ्या जीवत्व दिखाकर अपनी इच्छा से सुख-दुःख भोगता है। जिस प्रकार राजा के आश्रय में रहने वाला कपटी प्रधान राज्याधिकार के जोर पर अधर्म करता है, अनेक प्रकार से प्रजा का छल करता है, उसी प्रकार अहंकार भी शरीर में अपने मन की करता रहता है। अग्नि की संगति से लोहा स्वयं अग्नि की ही तरह हो जाता है, उसे हाथ में कौन पकड़ पायेगा? वह सबको आगे से झुलसा देता है। उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप का अहंकार जब देहात्मता के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

योग से पूरी तरह उफन कर सुख-दुःखादिक जन्म-मरण बढ़ाने लगता है तो उसे काबू में कौन ला पायेगा? स्वप्न का देह केवल मन का खेल है। उस देह में भी मनपन रहता है। उसी प्रकार इस देह को भी मन ही समझो। वह अभिमान के कारण कठिन और स्थूल बन गया है। इसे ध्यान में रखो कि कार्यकारण रूप में संसार ही मन का अभिमान है। वह भयंकर सुख-दुःख बढ़ा कर जन्म-मरण का दुःख स्वयं भोगता है। बार-बार वही भोग भोगते हुए कष्ट होता है लेकिन वह अपनी अहंता नहीं छोड़ता और देह का अपने ढंग से पोषण करता है। चाहे ब्रह्मप्रलय ही क्यों न हो जाय लेकिन देह की अहंता नष्ट नहीं होती, प्रलय में भी अभिमान नष्ट नहीं होता। वह सुख-दुःख भोगता रहता है। इस अभिमान में जीव की क्या स्थिति रहती है? वैसी ही, जिस प्रकार अड़हुल के फूल पर स्फटिक रखने से वह स्फटिक फूल के ही रंग का दिखायी देता है लेकिन उसके जैसा नहीं होता। आत्मस्वरूप में सुख-दुःख नहीं है। वह देह में स्पष्टरूप से दिखायी देता है। यह सुख-दुःख अविचार के कारण मनोरम लगता है और कल्पना जैसा भासित होता है। वह देह मेरा ही है इस अभिमान से उसे मस्तक पर धारण कर जन्म-मरण के चक्कर में फँस कर सुख-दुःख का स्वयं ही भोक्ता बनता है। इसी विचार से जो आत्मज्ञानी होते हैं, उनके मन पर गुरुपदेश का तत्त्वज्ञान पूरी तरह अंकित होने के कारण वे जन में या वन में कहीं भी देहाभिमानी नहीं रहते। इस प्रकार जो आत्मस्वरूप के अनुभव से बुद्धिमान हुए पुरुष रहते हैं उन्हें प्रारब्ध की गति से, प्राणिमात्रों से कैसे भी दुःख क्यों न प्राप्त हो लेकिन उनकी आत्मस्वरूप स्थिति अटल रहती है। उनमें प्राणिमात्र के प्रति न द्वेष उत्पन्न होता है और न उन पर क्रोध ही होता है। त्रिभुवन में वे स्वानंद में रहते हैं और निश्चिंत होकर द्वंद्वरहित रहते हैं। ऐसा पुरुष संकट देखकर भयभीत नहीं होता और किसी को पराया नहीं समझता। सभी आत्मस्वरूप होने के कारण वह सबके साथ अपनत्व का व्यवहार करता है। ज्ञाता सदा भेदभावरहित होता है। उसमें समविषम भाव और भेदभाव नहीं होता। वह किसी से डरता भी नहीं है और किसी से दुःख भी नहीं करता है। वह सदा सुख में और आत्मानंद में मगन रहता है। निन्दा हो या कष्ट हो वह बिना उद्विग्न हुए, सब कुछ सहन कर सुखी पुरुष की तरह व्यवहार करता है, यही सिद्ध का प्रमुख लक्षण है, और साधकों के लिये साधन भी वही है।

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठामध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव॥ ५८॥

देखो! मेरे पूर्व पुण्य के भाग्योदय से अद्वैत स्वरूप आत्मनिष्ठा मुझ में उत्पन्न हुई। उसी आत्मनिष्ठा के आश्रय से मैं द्वंद्वरहित होकर अनेक प्रकार के दुःख सहन कर रहा हूँ। भेदभाव से दूर रहकर सुख-दुःख सहन करने का गुण यही सिद्धों का स्वाभाविक लक्षण है। मेरा मुख्य रूप से यही साधन है। इसी के योग से मन पर विजय होती है। यही परमार्थ का श्रेष्ठ साधन है। महान ऋषियों की यही आत्मनिष्ठा है। विष्णु का मुख्य भजन यही है। इसी के योग से आत्मनिष्ठा साध्य होती है। इसके योग से द्वंद्व से होने वाले दुःख की बाधा नहीं होती। इसी के योग से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। यही आत्मविवेक हमें दुस्तर संसार से पार कराने वाला है। संसारसागर पार करना अत्यन्त कठिन है, उसे पार करने के लिए आत्मविवेक उत्तम नौका है। उसका सद्गुरु नाविक बनकर माया के उस किनारे पर पहुँचाता है। यह आत्मविवेक कैसे प्राप्त हो? उसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। आत्मभावना से एकाग्र होकर भगवान की शरण जायें। लौकिक की लज्जा त्याग कर तथा अभिमान का बोझ फेंक कर भगवान की शरण में जाना चाहिये, तभी आत्मविवेक प्राप्त होता है। जिस प्रकार नन्हा बालक माँ की अनन्य भाव से शरण जाता है, उसी प्रकार अनन्य भाव से दिन-रात श्रीहरि की शरण में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जायें। हरि की शरण में जाने से जन्म-मरण अपना मुँह भी नहीं दिखाते। जब हरि स्वयं ही अपने भक्तों की रक्षा करता है तो फिर द्वंद्व की पीड़ा कौन दे सकेगा? श्रीहरि पूर्णरूप से मोक्षदाता हैं। उसकी शरण में कैसे जायें? वह अनंतस्वरूप होते हुए भी स्वयं निर्गुण है। वहाँ कौन जायेगा? किन्तु हरि का स्वरूप अत्यन्त निर्गुण होते हुए भी, उसकी सगुण मूर्ति का चिन्तन करने से, यदि वही मूर्ति मन में बस जाय तो भी द्वंद्व से होने वाले सारे दुःखों का लय हो जाता है। यदि श्रीहरि की सम्पूर्ण मूर्ति मन में न बसती हो तो उनके चरणों का ही ध्यान करना चाहिये। इससे जन्म-मरण भाग जाता है और भेदभाव भी अपने ही भय से स्वयं भाग जाते हैं। अगर उनके चरणों का भी ध्यान सम्भव न हो तो केवल नाम-स्मरण करना चाहिये। उस नामस्मरण से यम और काल थर-थर काँपते हैं। जहाँ हरिनाम का नित्य घोष चलता है, वहाँ मरण का भी मरण हो जाता है। जन्म का मुँह काला पड़ जाता है और वह शरमा कर भाग जाता है। रामनाम के घोष के आगे भेदाभेद का दुःख ही कितना होता है? नाम माहात्म्य की गर्जना करते समय संसार का सारा भय ही उड़ जाता है। जिसकी वाणी निरन्तर नाम की गर्जना करती है, उसके शब्दों में श्रीहरि का वास रहता है। उसके घर ऋद्धि-सिद्धि पानी भरती हैं, मुक्ति उसकी दासी बनकर रहती है। स्वयं विकल्परहित, शुद्ध भक्तिभाव से सगुण ध्यान, निर्गुण चिंतन अथवा नामस्मरण आदि में से भक्त भक्ति भाव से जो भी स्वीकार करेगा, वह सब सद्भक्ति से परिपूर्ण होता है। भक्ति भाव से भगवान से प्रीति करने का नाम ही सच्ची भक्ति है। भक्तिभाव से ही श्रीहरि प्रसन्न होकर साधकों को आत्मशान्ति प्रदान करता है। उस आत्मशांति के साथ ही करोड़ों द्वंद्वों के दुःख समाप्त हो जाते हैं। सारी सृष्टि परमानन्द से भर जाती है और 'मैं', 'तू' दृष्टि को नहीं दिखायी देता। ऐसे अभेदभाव से श्रीहरि के चरणों की सेवा करने पर मैं स्वयं ही मुझे भवसागर से तारूँगा। लेकिन जो सचमुच ही श्रीहरि का भक्त हो जाता है उसका संसार ही नहीं होता। इस प्रकार भिक्षु ने जिस गाथा का वर्णन किया, वह भगवान को बहुत अच्छी लगी। उनका अंतःकरण आनन्द से भर आया और उन्होंने उद्धव का मस्तक सहलाया। ऐसी जो यह आत्मशान्ति है वह मेरे उद्धव को प्राप्त हो ऐसी भाव विह्वलता मन में उत्पन्न होकर श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा—

श्रीभगवानुवाच

निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम्।
निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मादकम्पितोऽर्मू मुनिराह गाथाम्॥ ५९॥

जिसके विश्वास से वेदों का निर्माण हुआ, जिसके चरणों से गंगा का उद्गम हुआ, जिसका नाम संसार का बन्धन तोड़ डालता है वह श्रीकृष्ण अपने मुख से उद्धव को बताने लगा। इसलिये उद्धव के भाग्य की प्रशंसा करनी चाहिये। श्रीकृष्ण उस पर सन्तुष्ट हुआ और उसने उसके शाश्वत निवास के लिये आत्मशांति का मन्दिर दिखलाया। उद्धव! अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो। जो धन का लोभी था उसका धन नष्ट होकर वह धननाश ही उस धन लोभी पर प्रसन्न हुआ और उसे विवेकसम्पन्न वैरागी बनाया। जो धन लोभी पूरा पेट खा भी नहीं रहा था, जिसका कोई नाम नहीं ले रहा था, उसे ही वैराग्य ने सर्वश्रेष्ठ बनाया। उसकी बात सदा मेरे मुख में रहती है। उसका नाम मेरे मुख में रहता है। उसकी कृति का स्वयं मैं ही वर्णन करता हूँ। जो विवेकसम्पन्न वैरागी रहता है वह मुझे अत्यन्त प्रिय रहता है। वैराग्य जैसा महान भाग्य संसार में और कोई नहीं है। उद्धव! जो सचमुच विवेक और वैराग्य से युक्त रहता है वह मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है। विवेक और वैराग्य से जो सम्पन्न हो जाता है, वह मेरा हो जाता है, ऐसा समझ लो। मैं उसकी बातों के वश में रहता हूँ और वह भी पूरी तरह मुझ पर समर्पित रहता है। लोभी का धन गया, धन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

के साथ मान अभिमान गया और उस अभिमान के ही साथ द्वंद्व के कारण होने वाला दुःख भी समाप्त हो गया। धन के जाते ही विरक्ति उत्पन्न हुई, जिससे वह नियमित एकनिष्ठ संन्यासी बन गया। भिक्षा के लिये भटकते समय दुष्ट लोगों ने अपने दुर्भाषणों से उसकी भर्त्सना की। अनेक प्रकार के विकारों से पीड़ित होने पर तथा नाना प्रकार के उपद्रवों के चलते भी वह अपने दृढ़ निश्चय से नहीं डिगा। स्वधर्म के धैर्य ने उसे पूर्णरूप से अभेदस्वरूप बना दिया था। संन्यासी का पूर्ण स्वधर्म यही है कि मैं देह से भिन्न नारायण स्वरूप हूँ। इस भाव ज्ञान से उसके देहाभिमान का त्याग किया रहता है इसीलिये वह आत्मस्वरूप से नहीं डिगता। जिस प्रकार छाया पर प्रहार करने से उस पुरुष को जरा भी भय नहीं होता, उसी प्रकार दुर्जन जब उसके देह को प्रताड़ित करते हैं तो उस निरहंकारी पुरुष को दुःख या भय नहीं होता। देह को नाना प्रकार की पीड़ा होने पर उसकी जो देहातीत स्थिति हुई थी, उसी की गाथा उस भिक्षु ने गाकर सुनायी और वही अब मैंने तुम्हें सुनायी। इसमें हमें जो सुख-दुःख का अनुभव होता है वह हमारा भ्रम ही है ऐसा समझो। इसी बात का निरूपण श्रीकृष्ण स्वयं कर रहे हैं।

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः॥ ६०॥

अविद्यात्मक जो हमारा अज्ञान है, उसमें मन के स्वरूप से मन ही उत्पन्न होता है और वही मन भेदभाव उत्पन्न कर सुख-दुःख भोगने को बाध्य करता है। आत्मा भेदरहित है। उसमें शत्रु, मित्र, उदासीन आदि भेद की मन ही कल्पना करता है और वह मन स्वयं चालित करता है। इस प्रकार भेदभाव में मन का उलझे रहना ही पुरुष का अज्ञान है। ऐसे भ्रमित पुरुष के लिये द्वंद्व दुःख के कारण संसार भयावह हो जाता है। मन ही सुख-दुःख का कारण है और संसार भी मन की ही कल्पना है, यह ध्यान में रखो। उस मन का निग्रह कैसे किया जाय इसका उपाय स्वयं श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावन् योगसंग्रहः॥ ६१॥

जिसे संसार का दुःख नष्ट करना हो, उसे मन का नियंत्रण करना चाहिये क्योंकि त्रिभुवन में मन जैसा दुःख देने वाला अन्य कोई नहीं है। मन अत्यन्त चंचल है, वह सहसा स्थिर नहीं हो पाता। इसलिये जिससे भेदभाव दूर हो सके ऐसा दिन-रात विचार करने का उसे अवसर देना चाहिये। मन कहीं विवेक को धोखा देकर भाग न जाये इसलिये इन दोनों के हाथों में बेड़ियाँ डाल कर इन्हें एक साथ रखना चाहिये ताकि यदि मन विकल्प उत्पन्न करने के लिये भागना चाहे तो वहाँ विकल्प को नष्ट करने के लिये विवेक तत्पर होकर खड़ा रहे और जहाँ मन अधर्म की ओर मुड़ना चाहे वहाँ विवेक उसे भगाने के लिये दौड़ कर आ जाये। मन यदि कामक्रोध के पास जाकर बैठता है तो विवेक उसके केश पकड़ कर उसे पीछे खींचता है। मन यदि निन्दा के पास जाता है तो विवेक उसे चपत मारता है मन विषय की ओर जाने की बात करता है तो विवेक उसके मस्तक में वैराग्य की लाठी से प्रहार करता है। मन कल्पना के पीछे भागने लगता है तो विवेक उसे उससे परावृत्त करता है। परस्त्री और पराया धन की इच्छा कर यदि मन उस ओर दौड़ने लगता है तो विवेक वहाँ जाकर भीषण युद्ध शुरु कर देता है। इस प्रकार मन और विवेक में झगड़ा प्रारम्भ होकर शिकायत सद्गुरु के सामने आती है। उनका न्याय करने के लिये वह उन दोनों को अद्वैत के बाड़े में बन्द कर देता है। उस स्थान को देखते ही मन का स्वभाव ही बदल जाता है और मन विवेक के साथ ऐक्य स्थापित कर लेता है। वहाँ मन भी अपना मनपन भूल जाता है और विवेक मन का आकलन करना भूल जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जीव का जीवत्व नष्ट हो जाता है और अद्वय के योग से सम्पूर्ण परब्रह्म ही बन जाता है। सुवर्ण के सर्पाकार अलंकार बनाने पर उस पर नाग के ही अनुरूप फन, पूँछ आदि सुशोभित रहते हैं, लेकिन यदि नाग के आकार का वह अलंकार तोड़ा न जाय तो सुवर्ण सुवर्ण के ही रूप में होने के कारण आग को उसका भान ही नहीं रहता। उसी प्रकार पूर्ण ब्रह्म जानकर संसार को तोड़े बिना ही जीव जीवत्व भूल जाता है और मन मनस्वरूप से वंचित हो उठता है। विवेक की ऐसी युक्ति से मन मेरे स्वरूप में प्रवेश करता है। जहाँ मन मनस्वरूप से उद्वेलित नहीं होता, उसी का नाम मनोनिग्रह है। हे चतुर चित्तचिंतामणि! हे विवेक चक्रवर्त्ति चूड़ामणि! हे भक्तशिरोमणि उद्धव! तुम मनोनिग्रह करने का प्रयास करो। श्रीकृष्ण मानों प्रेम से पागल हो गया था। उसने कहा—"अरे भई! तुम यहाँ आदरपूर्वक मनोनिग्रह करो। जो आदरपूर्वक मन का निग्रह कर मन से उत्पन्न होने वाले भेद का त्याग करता है, उसे, जिस प्रकार माँ अपने बच्चों को नहीं छोड़ती, उसी प्रकार शान्ति उसे नहीं छोड़ती। सच्ची आत्मशान्ति यदि मन में रचबस गयी हो तो उसे किसी प्रकार का भेदभाव पीड़ा नहीं पहुँचाता। जिसे बड़े-बड़े सिद्ध और योगी 'योगसंग्रह' कहते हैं, वह यही है। संसार की स्फूर्ति छोड़कर चित्स्वरूप की ओर वृत्ति मुड़ती है और जीव-शिव एकसाथ आते हैं, उसी का नाम है 'योगसंग्रह स्थिति'। ऐसे योगसंग्रह की शान्ति प्राप्त होने पर साधकों को द्वंद्व की बाधा नहीं होती। लेकिन अब इतना ही पर्याप्त है। सारांश जिस किसी को भी यह भिक्षुगीत की भक्ति प्राप्त होगी उसे द्वंद्वों से मुक्ति मिल जायेगी।"

य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः।
धारयञ्छ्रावयच्छृण्वन् द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते॥ ६२॥

शान्ति प्राप्त करने के लिये कोटि-कोटि साधन करने पर भी वह नहीं प्राप्त होती। किन्तु इस भिक्षुगीत का रहस्य मन में रखने से वह साधकों को अपने आप ही प्राप्त हो जाती है। वह योगनिष्ठा और ब्रह्मज्ञान ही भिक्षुगीत का निरुपण है जो ध्यानपूर्वक इस मन में रखता है, उसके पास शान्ति दासी बनकर रहती है। इस भिक्षुगीत का गूढार्थ जो शान्त चित्त से ध्यान में रखता है, उसे द्वंद्व की पीड़ा नहीं सताती और आत्मज्ञान से वह बिलकुल शान्त हो जाता है। भिक्षुगीत के रहस्य के अनुरूप चलने से समाधान होगा इसमें आश्चर्य करने की बात नहीं है। लेकिन जो केवल भक्तिपूर्वक इसका श्रवण करेगा, उसे भी द्वंद्व पीड़ा नहीं पहुँचाएंगे। पति अधिक समय तक दूसरे देश में गया हो तो उसका पत्र पत्नी जिस उत्कंठा से सुनती है, उसी एकाग्रता से भिक्षुगीत सुनना चाहिये। लड़का घर से भाग गया हो और उसका पता लगने का समाचार जब कोई उसकी माँ को देता है तो भाग जाने का कारण आदि सुनकर माँ मन ही मन छटपटाती है, विह्वल होती है। ऐसे समय उसके पास जो अन्य स्त्रियाँ होती हैं वे भी स्नेह से विह्वल हो उठती हैं किन्तु माँ के मन में जो छटपटाहट होती है वह अन्य स्त्रियों में नहीं होती। उसी प्रकार भिक्षुगीत का श्रवण करते समय जिसका मन द्रवित हो उठता है, जो सात्त्विक वृत्ति से परिपूर्ण हो जाता है, वह द्वंद्वों के चक्कर में नहीं फँसता। अस्तु! इस प्रकार आदरपूर्वक श्रवण सम्भव न भी हो तो भी इसका नित्य पठन करने से भिक्षुगीत के प्रभाव से द्वंद्व उसका स्पर्श भी नहीं करते। सिंह के शरीर के दर्प से ही मदोन्मत्त हाथी भागना शुरु करते हैं, उसी प्रकार भिक्षुगीत के पठन से द्वंद्वों में भगदड़ प्रारम्भ हो जाती है। मन में लोभरहित होकर, जो साधु-सन्तों के सान्निध्य में भिक्षुगीत सुनेगा, उसे द्वंद्व स्पर्श भी नहीं करेंगे। इस भिक्षुगीत का अर्थ अथवा इस भिक्षुगीत पाठ का श्रवण करने से यह भिक्षुगीत द्वंद्वों का निवारण करता है। यह मर्म श्रीकृष्ण को मालूम था। उसने उसे उद्धव के कल्याण के लिये बतलाया। जिस भिक्षु के गीत की फलश्रुति स्वयं श्रीकृष्ण अपने मुख से सुना रहे हों, उस भिक्षु के भाग्य का क्या वर्णन किया जाय? त्रिभुवन में वही एक धन्य पुरुष है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विवेक और वैराग्य को शरीर में धारण कर जो बड़े-बड़े द्वंद्वों को सहन करता है, वही भगवान को प्रिय बनता है, यह बात उन्होंने उद्धव को स्पष्ट कर दी। उद्धव ने समस्त संसार पर उपकार किया है क्योंकि उसके लिये श्रीकृष्ण ने अपना गुह्य और आध्यात्मिक ज्ञान का भण्डार खोलकर भिक्षुगीत का रहस्य प्रकट किया। उद्धव ने यदि शांति के बारे में न पूछा होता तो श्रीकृष्ण ने यह वर्णन क्यों किया होता? लेकिन श्रीकृष्ण को उद्धव से अत्यन्त प्रेम था इसलिये उसने उद्धव को अनेक प्रकार से उपदेश किया। इस उपाय से दीन-हीन भी संसार सागर पार कर लेते हैं। जगजीवन श्रीकृष्ण ने संसार का उद्धार करने के लिये ही उद्धव को उपदेश करने के बहाने ये बातें कहीं। श्रीकृष्ण ने ऐसा भिक्षुगीत सुनाया है जिसमें वेदशास्त्रों का तात्पर्य, उपनिषदों का सार और वार्त्तिक में निहित गूढ़ रहस्य है। इस भिक्षुगीत से जीव अपने आप ही आत्मा से तद्रूप हो जाता है। ऐसा यह गूढ़ज्ञान श्रीकृष्ण ने भक्तों की कृपा के लिये बतलाया। इसके योग से जीव का जीवत्व नष्ट होता है, शिव का शिवत्व विलीन हो जाता है, द्वंद्वों का पीड़ा देने का गुण नष्ट हो जाता है और आत्मानंद का भण्डार खुल जाता है। जहाँ वेद मौन रह गये, शब्द शास्त्र भी लजा गये ऐसा उत्कृष्ट वह भिक्षुगीत मुझ जैसे साधारण पुरुष ने सुनाया। जिस प्रकार राम ने डूबने वाले पत्थरों को तारा, उसी प्रकार मैं जड़, मूढ़ और अज्ञानी होते हुए भी जनार्दन की कृपा मुझसे ब्रह्मज्ञान कहलवा रही है। जो अहिल्या व्यभिचारिणी थी वह श्रीराम के चरणों में लगने के कारण, उसके नामस्मरण से पाप भी नष्ट हो जाते हैं। उसका नाम प्रातःस्मरणीय लोगों की श्रेणी में लिखा हुआ है। उसी प्रकार यह सद्गुरु की कृपा का प्रसाद है। मेरी प्राकृत जड़ और मूढ़ वाणी साधु और ज्ञाता स्वीकार कर सकें ऐसे भाषण आपने मुझसे कहलवाये। सरस्वती जिस पर प्रसन्न होती हैं, वह गूँगा होने पर भी वेदशास्त्र बोलता है उसी प्रकार जनार्दन मुझ पर प्रसन्न हुए और प्राकृत भाषा में भिक्षुगीत गवाया। जिसके हाथ में राजमुद्रा रहती है, उसे सब लोग सम्मान देते हैं। उसी प्रकार जनार्दन ने ही मेरी वाणी को श्रेष्ठ बनाया। बच्चे के तोतले बोल सुनकर माँ प्रसन्न होती है, उसी प्रकार मेरी संस्कारहीन वाणी भी संतजनों को प्रिय लगती है। मैं और मेरी अच्छी-बुरी बातें कौन-कौन स्वीकार करेगा? क्योंकि मेरा मैं पन लेकर स्वयं जनार्दन स्वामी ही यह ग्रन्थ लिखवा रहे हैं। वैसे ही यह भागवत है, तिस पर गूढार्थ से भरा हुआ एकादश स्कन्ध और उसमें भी यह भिक्षुगीत पूर्णरूप से निर्द्वंद्व करने वाला, अत्यन्त गूढ़ अर्थ से भरा हुआ है। उस भिक्षुगीत पर टीका लिखने वाला अकेला एक एकनाथ ही नहीं है क्योंकि वह एकपन नष्ट कर ग्रंथार्थ का निरूपण जनार्दन ने कराया। उसमें न एक है न अनेक है। उसमें द्वंद्वों की समता करने का कौशल है जिसके योग से ग्रन्थ का उत्तम स्वागत होता है। एका जनार्दन की शरण में है। जनार्दन से उसका ऐक्य हो गया है। ऐसे ऐक्यरूप से यह भिक्षुगीत समाप्त किया। मेरे गुरु का भी गुरु, वही योगियों का योगीश्वर इस भिक्षुगीत के अर्थ से सन्तुष्ट हुआ। उस अद्भुत आनन्द से उन्होंने मुझे आश्वासन दिया और मुझे अभय का आशीर्वाद देकर आनन्द से डोलने लगे। एका जनार्दन की शरण में है। श्रोतागण सावधान हो जाएँ। अगले अध्याय में श्रीकृष्ण प्रकृति-पुरुषों के लक्षण बतायेंगे। उस कथा का विचार मेरे अंतःकरण में घूम रहा है इसलिये मैं सुख-दुःख द्वंद्व से अलग हो गया हूँ। आत्मज्ञान के योग से मेरा आत्मा से ऐक्य हो गया है। संतसज्जनों को मैं दण्डवत् करता हूँ। श्रोताओं को भी दण्डवत् करता हूँ। अब एकनाथस्वरूप जनार्दन विनती करते हैं कि आगे का निरूपण अत्यन्त मधुर और रस से परिपूर्ण है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादश स्कंधे श्रीकृष्ण उद्धव संवादे एकाकार टीकायां भिक्षुगीत निरूपणं नाम त्रयोविंशतितमोध्यायः ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चौबीसवाँ अध्याय

हे ओंकारस्वरूप गुणातीत! तुम्हें नमस्कार है। हे व्यक्तिरहित! हे अव्यक्त! तुझमें द्वैत की बात ही नहीं है। तुम अद्वैत में ही रहने वाले हो। अद्वैत ही तुम्हारा अपना निवास है। वहाँ देवी-देवता आदि का भेदभाव नहीं है। वहाँ उदय-अस्त नहीं है, क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा को वहाँ कोई स्थान ही नहीं है। वहाँ शब्द के साथ वेद लीन हो गया। बुद्धि को ज्ञान मिथ्या लगने लगा। वहाँ रत्तीभर भी भेदभाव नहीं है। एक अद्वयानंद ही भरा हुआ है। ऐसे अद्वैत में प्रकृति पुरुषों की कहानी केवल अज्ञानी लोग ही ज्ञानी होने का ढोंग रचकर बड़ी चतुरता से सुनाते हैं क्योंकि वास्तव में जहाँ 'मैं' और 'तू' के लिये स्थान नहीं है, वहाँ प्रकृति और पुरुष के लिये स्थान कहाँ मिल पाएगा? जिसके गर्भ में आने की भी सम्भावना नहीं रहती, उसकी जन्मपत्रिका बनाकर सुनाते हैं। जिसका जन्म ही नहीं हुआ उसका श्राद्ध करना क्या उचित है? कोई बाँझ स्त्री के बेटे के विवाह समारोह में चलने के लिये कहे तो अज्ञानी को यह बात सच और ज्ञानी को मिथ्या लगती है, वही बात प्रकृति-पुरुषों की है। इस प्रकार जो मिथ्या है उसे सच बना दिया जाय और एक में ही अनेकता दिखाई जाय तो भी उसका एकपन नहीं टूटता। इस प्रकार एकपन से एक ही होने के कारण वह स्वयं ही अपनी पत्नी बना और पत्नी का पति भी खुद ही बना। यह विलक्षण प्रेम समझ से बाहर है। जिस प्रकार अर्धनारीश्वर की मूर्ति में जो पुरुष है वही स्त्री रहता है, उसी प्रकार संसार में प्रकृति और पुरुष एक साथ रहते हैं। वह पुरुष और उस पतिव्रता में एकात्मभाव से अत्यन्त प्रेम है। एक-दूसरे से अलग रहकर वे एक पग भी नहीं चल सकते। दोनों सदा एक साथ रहते हैं, दोनों का परिधान एक है, दोनों एक ही सत्ता के अधीन रहते हैं, दोनों एक ही जीव बन कर रहते हैं। दोनों एक ही चीज देखते हैं, एक ही चीज खाते हैं, दोनों की बातें एक-सी होती हैं और करना भी एक-सा ही होता है। दोनों का प्रेम कितना अलौकिक है। वे एक-दूसरे के बिना विष भी नहीं खा सकते। वे दूसरे के बिना पानी भी नहीं पीते। एक-दूसरे के बिना वे अन्धे ही रहते हैं। उसमें पत्नी का कर्तृत्व तो और भी विचित्र है। उस नपुंसक को यह पुरुषत्व प्रदान करती है और फिर यह सदा उसी के अधीन रहता है। फिर यह उसी की आँखों से देखता है, उसके ही मुख से बोलता हे, उसके ही कारण यह सुख-दुःख भोगता है, उसके ही कारण बन्ध मोक्ष का स्वाद चखता है। उसके ही कारण 'मैं ब्रह्म' कहलाता है, उसके कारण यह कर्माकर्म करता है और उसके ही कारण धर्माधर्म के परिणाम के अनुसार मरण और जन्म भोगता है। उसके ही कारण उसके हाथों पाप होता है, उसके ही कारण उसे पुण्य प्राप्त होता है, उसके ही कारण उसका महत्त्व बढ़ता है और उसके ही कारण उसका अधःपतन होता है। अब तक अपनी प्रकृति इस पुरुष ने बढ़ायी और प्रकृति ने भी पतिव्रत धर्म के अनुसार आचरण कर पति को अपने वश में रखा। इन दोनों का रिश्ता विचित्र है। ये दोनों सगे भाई-बहन थे अथवा वह बाप और वह उसकी कन्या थी और अधिक विचार करें तो वह उसका पुत्र होता है। इस प्रकार उन दोनों ने अगम्यागमन (जिन स्त्री-पुरुषों के लिये संभोग निषिद्ध है, उनसे संभोग करना) कर किसी तीसरे का सम्पर्क हुए बिना अनेक लोग उत्पन्न किये। इस प्रकार अव्यभिचार रूपी व्यभिचार कर संसार का आकार बढ़ाया है। वह शंकर आदि के लिये भी अतर्क्य, अगोचर और दुर्गम असाध्य है। यह अपनी ही शक्ति प्रकृति के साथ मिलकर शिवत्व के सारे सुख भोगता है। उसका कोई गाँव नहीं है, ठौर ठिकाना नहीं है, रूप, नाम, काल, समय नहीं है, फिर भी प्रकृति ने केवल अपने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गुणों से उसे प्रबल किया है। प्रकृति ने अपने गुणों से ही वर्ण, व्यक्ति, रूप, नाम आदि नाना प्रकार के वैभव से अपने पति को स्वरूप दिया। तब शिव ने अपना पूर्णत्व छोकर शिवत्व धारण किया और वह प्रकृति सुहागिन पतिव्रता रहकर रूप और नाम से शिव की पूजा करती है। उन दोनों के संगम से ही सारा संसार उत्पन्न हुआ है। लेकिन उसमें तीसरी कोई भी बात नहीं दिखायी देती, और भिन्नता दिखाने का प्रयत्न करने पर भी अनन्य भाव से स्थापित एकता भंग नहीं होती। सारा त्रिभुवन ढूँढ़ने पर भी तीसरी चीज नहीं दिखायी देती। प्रकृति और पुरुष से ही सारा संसार भरा हुआ है। दोनों में इतना प्रेम है कि वे अनन्य भाव से एक-दूसरे से चिपके रहते हैं। एक अणु में भी वे अपनी मालकियत के हक से रहते हैं। यदि पति न हो तो वह पतिव्रता पूरी तरह समाप्त ही हो जायेगी और पति स्त्री के बिना अस्तित्वहीन हो जायेगा। वह वास्तव में कुछ न होते हुए ही पति बन गया है। शिव सचमुच सदा नि:संग, बिना कोई कर्म किये ही रहता है। लेकिन उसकी स्त्री अपने प्रेमपाश से उसे वश में कर उसे अनेक प्रकार के सुख-दु:ख भोगने को विवश करती है। इस प्रकार प्रकृति ने अपने पति को गृहकर्म में उलझा दिया और फिर उस पर प्रपंच का अधिकार जताने लगी। प्रकृति पतिव्रता होती है तथा कभी पति से वंचना नहीं करती। वह अनेक कर्माकर्म में कष्ट सह कर भी अनेक प्रकार के सुख-दु:ख पति को देती है और आश्चर्य की बात तो यह है कि पत्नी जो कमाती है, वह पति खाता है। कारण यह है कि पत्नी के बिना उसे एक कौड़ी भी नहीं प्राप्त होती। प्रकृति पतिव्रताओं में बिल्कुल श्रेष्ठ है। उसने अपने गुणों से ही पति को वश में किया है। वह सुगृहिणी रात-दिन पति से वासना तंतुरूपी सेवई का सेवन कराती है। जब प्रकृति के भय से वह भी संसार सागर में जलक्रीड़ा करने लगता है, उस समय प्रकृति ही जबर्दस्ती से पुरुष को उसमें डुबाती है। कभी-कंभी पुरुष भी प्रकृति को डुबोता है। ऐसी प्रकृति की सोहबत में जब पुरुष के पीछे पंचमहाभूत लग जाते हैं, उस समय वह साकार होकर जन्म-मरण की डुबकी लगाता रहता है। ऐसी प्रकृति के भय से पुरुष पागल बन गया है और अपना मूलरूप भूल जाने के कारण प्रकृति ने उसे दीनहीन बना दिया है। इस प्रकार पूर्णत्व को भूलकर वह जीव और शिव का भेद स्वयं ही भोगने लगता है। उसे पुन: उसके मूलस्वरूप में लाने में गुरुराज ही पूर्णरूप से कुशल हैं। उसके वचन का इतना प्रभाव रहता है कि उसके एक ही शब्द पर जीव का जीवत्व समाप्त हो जाता है और शिव को शिव पद का स्थान मिलता है। उसका उपदेश भक्तिभाव से सुनने पर अहंकार तत्काल नष्ट हो जाता है, जन्म-मरण का फेरा टूटता है और संसार का भय दृष्टि को दिखायी भी नहीं देता। जिसकी कृपादृष्टि से जीव और शिव का बन्धन टूट जाता है माया मिथ्या होकर पूर्णरूप से उड़ जाती है और पूर्णत्व का भण्डार खुल जाता है। शिव अपना शिवत्व भूलकर जब दूर चला जाता है, तभी वह अपने मूलस्वरूप में आने के लिये जब गुरु से आज्ञा माँगता है तभी उसे उसका मूल शिवस्वरूप प्राप्त होता है। सद्गुरु की ऐसी महिमा है। उसका वर्णन मैं शब्दों में कैसे करूँ? लेकिन गौरव की वाणी से वर्णन करने के लिये मेरे मुख से साक्षात् गुरुराज ही बोलते हैं। अत: वर्णन करने का श्रेय मैं अपने माथे कैसे ले सकता हूँ? गुरु ने तो सारा अहंकार ही छीन लिया है अत: मैं कर्त्ता कैसे हो सकता हूँ? तिस पर ऐसे प्रसंग में यदि मैं अहंता स्वीकार भी करता हूँ तो मेरे 'मैपन' में गुरु का ही वास है। गुरु के सिवा कोई स्थान रिक्त नहीं है इसलिये 'मैंपन' के माथे पर गुरुराज ही हैं। मेरा जो 'मैंपन' है वह सद्गुरु स्वयं ही बन गये हैं। अत: हम दोनों का रूप एक ही हो गया है, केवल नाम अलग-अलग है। वैसे, एका और जनार्दन ये दोनों ऐक्य रूप से एक ही हैं। सर्वत्र जनार्दन ही है, लेकिन वही उपनाम से एकनाथ हो गया है और उसी के नाम से श्रीमद्भागवत का अर्थ देशी भाषा में बताया। अब तेईसवें अध्याय के अन्त में भगवान ने उद्धव से यह कहा था कि यदि हमें द्वंद्व भोग प्राप्त हों तो उन्हें शान्तिपूर्वक सहन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

करना चाहिये। जिनके मन में अटल शान्ति का वास होता है वे मुझ अजेय को भी जीत लेते हैं। वही वास्तव में परमार्थ साधक होते हैं ऐसा श्रीकृष्ण ने स्वमुख से कहा है। कृष्ण का वह भाषण सुनकर उद्धव का मन चौंक उठा। उसने सोचा कि भेदाभेद सहन करने का यह काम तो अत्यन्त कठिन है। वह मुझसे कैसे सध पायेगा? फिर, भेदाभेद सहन करने के लिये साधन क्या है, यह पूछने पर भगवान नाराज हो जायेंगे। इसलिये उद्धव संकोच के मारे मौन रह गया। भगवान ने उद्धव के मन का हेतु जान कर द्वंद्व को सहन करने का उपाय मूल से ही बताया। पुरुष अद्वयगुण से परिपूर्ण है तथा वह प्रकृति से भिन्न है यह आत्मज्ञान मन में जम जाने पर द्वंद्व की बाधा नहीं होती। इसलिये द्वंद्वों पर पूर्णरूप से विजय प्राप्त करने के लिये प्रकृति पुरुषों का विवेचन उद्धव के पूछे बिना ही श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं। श्रीकृष्ण भक्तों के अंत:करण की बात जानता है इसीलिये वह भक्तों का अंतरात्मा है। वह अपने भक्तों के कल्याण के लिये पूर्ण परमार्थ बता रहा है। भक्तों का मनोगत जानकर कृपालु श्रीकृष्ण उन भक्तों के हित के लिये कृपापूर्वक बता रहा है। संसार में उद्धव अपने भाग्य के कारण धन्य है क्योंकि त्रिभुवन का देवता श्रीकृष्ण स्वयं ही कृपा की वर्षा कर प्रकृतिपुरुष का रहस्य उसे बता रहा है। उद्धव ने अपनी शंका स्पष्ट न करने पर भी, श्रीकृष्ण उसका निरूपण सुनाने लगा। कृष्ण जिसे तारने की बात करते हैं, वह पहले ही तर गया ऐसा समझना चाहिये। सारे संसार का उद्धार करने के लिये श्रीकृष्ण कृपापूर्वक बोलने लगा। गौ बछड़े के प्यार के कारण जिस प्रकार पूरे घर को दूध देती है, उसी प्रकार पद्मनाभ कृष्ण ने उद्धव से प्रेम के कारण सारे संसार का उद्धार किया।

श्रीभगवानुवाच

अथते सम्प्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम्।
यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद वैकल्पिकं भ्रमम्॥ १॥

जो योगियों का योगीन्द्र है, ज्ञानियों का ज्ञानेन्द्र है, भक्तचित्तरूप चकोर का चन्द्र है, जो यदुवंश का यादवेन्द्र है, जो प्रकृति पुरुष से भिन्न है, उस श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा—उद्धव! द्वंद्व सहन करने के प्रकार का अत्यन्त गूढ विचार तुम्हें बताता हूँ, सुनो। जिस निरूपण को सुनते ही हम सुख-दु:ख से बिलकुल विलग हैं यह भाव उत्पन्न होता है, वह गुप्त ज्ञान सुनो। मैंने कपिलऋषि का अवतार लेकर अपनी माँ से (देवहुति को) प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध में सविस्तार बताकर उपदेश किया। वही पूर्व की बात सुनाऊँगा। इस बात को सुनने से मनुष्य स्वयं ही ज्ञानसम्पन्न हो जाता है। पुरुष से प्रकृति भिन्न है और सारा सुख-दु:ख उसी के पास है यह ध्यान में रखो। सुख-दु:ख केवल मायिक हैं यह ज्ञान जिसे हो गया वह उसी क्षण संसारभय का भ्रम त्याग देता है। जिस प्रकार मोतियों का हार सर्प का भ्रम दूर होने के बाद ही गले में डालते हैं और फिर सर्प के भय का कष्ट नहीं रह जाता, उसी प्रकार शिव और शक्ति का विचार मैं तुम्हें पूरी तरह बताता हूँ। ब्रह्म आनन्दरूप में केवल एक है। जिनके कारण उत्पन्न हुए द्वंद्वों के सुख-दु:ख त्रिभुवन में भी नहीं समा पाते, ऐसे प्रकृति और पुरुष कहाँ से आये? इसी अर्थ का निरूपण श्रीकृष्ण स्वयं कर रहे हैं। प्रकृति-पुरुषों का जन्म ही मुख्य रूप से सुख-दु:खों का कारण है।

आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे॥ २॥

जिस प्रकार सोये हुए पुरुष की छाया उसके शरीर के नीचे ही समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार सविकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

माया को निगल कर ब्रह्म फिर से एक अकेला बच रहता है। ब्रह्म अकेला रहकर भी परिपूर्ण है। लेकिन ऐसा कौन कहेगा? उसका न नाम है, न रूप है और न पूर्ण व्यक्तित्व ही है। पूर्ण ब्रह्म में ब्रह्मपन का स्फुरण नहीं होता। उसमें न युगों की संख्या है, न काल है, न समय है। दिनमान नहीं, घटिका और पल नहीं। शून्य से शून्यत्व का मण्डल भी नहीं है। ऐसा यह ब्रह्म केवल परिपूर्ण स्वरूप के कारण है। उसमें मैं ब्रह्म हूँ का जो स्फुरण होता है, वही माया का मुख्य लक्षण है। प्रकृति और पुरुष इन दोनों का जन्मस्थान वही है। वहीं से इन जुड़वाँ फलों की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार पेट में अनाज का दाना रख कर सत्त्वहीन छिलका स्वयं बढ़ता है, उसी प्रकार पुरुष के योग से यह प्रकृति पूर्णरूप से विकसित होती है। मिठास अन्दर रखकर कटहल के शरीर पर काँटे बढ़ते रहते हैं, उसी प्रकार पुरुष के योग से प्रकृति को बहुत अहंकार होता है। जिस प्रकार आँख का पानी जमकर आँख में ही परदा आ जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म में भी मायारूपी मैल एकत्र होकर वह शुद्ध ब्रह्म को भी मलिन कर देता है। आँख पर आया परदा दृष्टि को क्षीण करता है, उसी प्रकार माया आत्मानन्द के आड़े आती है। उसकी ही माया उस पर विकसित होकर पुरुष को पागल बना देती है। इस प्रकार कर्त्ता के बिना ही जिस कार्यकारण ने आकार लिया उसे कृतयुग कहने के लिये वेद तत्काल उद्यत हुआ। 'अ' कार, 'उ' कार तथा 'म' कार के साथ प्रकृति पुरुषों में वेद उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार अंकुरित बीज में पहले तीन पत्तों का उद्भव होता है, उसी प्रकार उस वेद का भावार्थ वही है कि ब्रह्म ही सत्य हैऔर माया मिथ्या है और यदि हम भेदाभेद का त्याग करें तो ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। विचारशील और कुशल लोग यह बात जानते हैं। इस प्रकार जो वेद के विचार से, अभेद भावना से योगी बनते हैं, वे कृतयुग से लेकर कलियुग तक विचरण करते समय सदा युगरहित ही रहते हैं। उन्हें युग का बन्धन नहीं होता। कृतयुगादि जो युगों की पंक्तियाँ हैं या चराचरादि जो नाना प्रकार के व्यक्ति हैं उन्हें प्रकृति ही उत्पन्न करती है। उस प्रकृति की उत्पत्ति श्रीकृष्ण बताते हैं।

तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम्।
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहत्॥ ३॥

जो परब्रह्म है, वह सर्वव्यापी है, जिसमें रूप और नाम का प्रवेश नहीं है, जो मन और बुद्धि को भी दुर्गम है और इन्द्रियों के लिये भी जो दुर्गम है, जो सचमुच ही सत्यस्वरूप है, जो परा से परे है और जो निर्विकार तत्त्व है, उस परब्रह्म में माया के चमत्कार तर्क से परे हैं। वह परब्रह्म में ही दृश्य और द्रष्टा का विकार उत्पन्न करती है, वही वास्तव में प्रकृति और पुरुष बन जाती है और इस प्रकार चराचर की वृद्धि करती है। जिस प्रकार स्वरूप के साथ ही छाया की मूर्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार ब्रह्म में माया की स्थिति है। उसी ने शिव-शक्ति को पुरुष और प्रकृति इस भेद से उत्पन्न किया है। ब्रह्माण्ड में जो ईश्वर का स्वरूप होता है वही पिण्ड में (देह में) जीव का रूप ले लेता है। इस प्रकार प्रकृति-पुरुष की यह जोड़ी माया ने ही दो प्रकार की बनायी है। ब्रह्म अच्छेद्य है, ऐसा वेद कहते हैं। उसे फाड़कर दो भाग कैसे किये? उसी प्रकार जैसे दर्पण में हमें अपना सुख अलग प्रकार का दिखायी देता है। उसी प्रकार हम यदि पूर्व की ओर मुँह करके खड़े हो जाएँ तो हमें दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब पूर्वाभिमुख नहीं दिखायी देता। वह हमारे सामने ही (पश्चिमाभिमुख) रहता है। यही माया का चमत्कार है अर्थात् पुरुष यदि पूर्व की ओर देख रहा है तो प्रतिबिम्ब पश्चिम की ओर रहता है। उसी प्रकार आत्मदृष्टि स्वरूप की ओर रहती है और जीवदृष्टि प्रपंच की ओर रहती है। इसलिये जीवस्वरूप के सम्मुख हो नहीं पाता। जीव ठीक विपरीत दिशा की ओर देखता रहता है। उसी प्रकार ब्रह्म में ब्रह्म का जो स्फुरण होता है

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वही मूल माया का स्वरूप है। वहाँ हम ईश्वर के स्वस्वरूप से ही अपने सामने सन्मुख होते हैं। वास्तव में जो शुद्ध और अद्वितीय ब्रह्म है, उसमें माया का सम्बन्ध मिथ्या है। किन्तु उस माया ने अभेद में भी भेद उत्पन्न कर शिव और शक्ति (पुरुष और प्रकृति) अलग-अलग बना दिये।

तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते॥ ४॥

उन दो भागों में प्रकृति का भाग विकारयुक्त है तथा पुरुष का भाग अविकारी है ऐसा श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं। वहाँ पुरुष स्वयं ही अपनी स्त्री बनता है और स्वयं ही उस स्त्री का पति बनता है। इस प्रकार एक में ही द्विधाभाव दिखा कर शिव और शक्ति ये दो भाग बना दिये। जिस प्रकार हमारा शरीर एक ही होने पर भी उसमें दायाँ और बायाँ ये दो भाग होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष ये भाग भी पूर्णरूप से मायिक हैं, ऐसा समझना चाहिये। अर्धनारीश्वर में जो पुरुष है, वही स्त्री रहता है। प्रकृति पुरुष का भी वही प्रकार है। अर्थात् उन दोनों का शरीर एक होकर, उनका आत्मा भी एक है। जब पुरुष का भाग छिपाती है तो प्रकृति को स्वेच्छा से नाचने देती है और जब प्रकृति का भाग छिपाती है तो पुरुष का स्वरूप स्पष्ट दिखायी देता है। प्रकृति और पुरुष के बीच का भिन्न भाग जब टूटता है तब न पुरुष रहता है, न प्रकृति। उस समय हमारा स्वस्वरूप ही प्रकट होता है। सारांश, स्त्री-पुरुष व्यक्ति यह भेद ही समूल व्यर्थ है। इस प्रकार प्रकृति मायिक होने के कारण मिथ्या है। उससे गुण उत्पन्न होते हैं और उन गुणों से संसार उत्पन्न होता है, ऐसा श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं।

तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च॥ ५॥

प्रकृति पूर्णतयः गुणमयी है उसे पुरुषदृष्टि प्राप्त होने पर तीनों गुण प्रकट करती है। श्रीकृष्ण यही बात अपने निरूपण में बताते हैं। सूर्य की दृष्टि पहुँचते ही कमल की कली अलग-अलग पंखुड़ियों से विकसित होती है लेकिन वे सारी पंखुड़िया उस कली में ही होती हैं, उसी प्रकार प्रकृति ईश्वर की दृष्टि मात्र से ही अपने गर्भ में गुणों को धारण कर गर्भिणी होती है और सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों को उत्पन्न करती है। जिस प्रकार बीज पानी से फूल कर द्विदलों को खोलता है और उसमें से तीन पत्तों का अंकुर बाहर आता है, उसी प्रकार मुझ परमात्मा ने स्वयं पुरुषत्व पाकर तथा प्रकृति को पूर्ण रूप से क्षुब्ध कर तीनों गुण प्रकट किये हैं। सूर्य की किरणों से जिस प्रकार सूर्यकांत पत्थर से अग्नि प्रकट होता है, उसी प्रकार पुरुष जब प्रकृति का उपभोग करता है तो वह तीनों गुण प्रकट करती है।

तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः।
ततो विकुर्वतो जातोऽहंकारो यो विमोहनः॥ ६॥

वे तीनों गुण भिन्न-भिन्न हैं किन्तु उस भिन्नता में भी वे एक साथ बढ़ते रहते हैं। उनके नाम हैं सूत्र, प्रधान और क्रिया। क्रियाशक्ति में जड़त्त्व होता है। उसमें जो चेतनात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है उसी का नाम महत्तत्त्व है। यह अलग नाम उसे इसी कारण प्राप्त हुआ है। महतत्त्व और प्रधान इन दोनों का स्वरूप एक ही है। वहाँ क्रिया और ज्ञान का स्फुरण होता है, इसीलिये दोनों के नाम भिन्न हैं। क्रियायुक्त जिस ज्ञान का स्फुरण होता है, वहीं अभिमान जागृत होता है और तीन गुणों से पूर्ण अहंकार वहाँ उत्पन्न होता है। अहंकार जब भीषण रूप से उफनता है तो वह शिव को शिवत्त्व का विस्मरण कराता है और देहात्मवाद का पूरी तरह भुलावा देकर जन्म-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मरण का भोग भोगने को बाध्य करता है। उस अहंकार की सम्मोहक शक्ति संसार के भ्रम से भ्रमित करती है। अहंकार से किस प्रकार विकार उत्पन्न होते हैं, उसके बारे में श्रीकृष्ण बताते हैं।

वैकारिकस्तैजश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत्।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिद्चिन्मयः॥ ७॥

अहंकार अत्यन्त असाध्य है। सत्त्वादि गुणों के अनुसार उसके तीन प्रकार हैं। गुण और अहंता यही बड़ा संसार है। गुणों का विकार ऐसा है कि पहले सात्त्विक अहंकार उत्पन्न होकर, वह अंत:करण को प्रकाशित करता है। वही अनेक देवताओं में विकार उत्पन्न करने वाला है, इसलिये उसे 'वैकारिक' कहते हैं। राजस अहंकार ज्ञानेन्द्रियों का तथा कर्मेन्द्रियों का प्रकाशक रहता है। राजस तेज का विलास उसे अच्छा लगता है इसलिये उसे 'तैजस' कहते हैं। तामस अहंकार का परिणाम यह होता है कि वह सूक्ष्म परमाणुरूप भूतों को उत्पन्न करता है। इसीलिये, हे उद्धव! उसे 'भूतादि' कहते हैं। अहंकार का प्रभाव विचित्र है। वह सचेतन को अचेतन (माया) से जोड़ता है और ज्ञान-अज्ञान से पक्का मेल कराकर बड़े प्रेम से अपना ब्याह रचाता है। जीव ज्ञानस्वरूप है, उसका जड़ देह के साथ ब्याह करा देता है। अभिमान ही 'ॐ पुण्याहं' कहकर उसे एक करने वाला ज्योतिषी है। जीव विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है तथा उसे हड्डियों के ढाँचे में जकड़ देता है। इस प्रकार अहंकार अत्यन्त उत्पाती है। वही सात्त्विक, राजस और तामस का चारों ओर विस्तार कर संसार की वृद्धि करता है।

अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च।
तैजसाद् देवता आसन्नेकादश च वैकृतात्॥ ८॥

विषय ही महाभूत हैं। तामसगुण ने उन पंचमहाभूतों का एक-दूसरे से मिले बिना अलग-अलग निर्माण किया है। वे पंचमहाभूत विषयों से उत्पन्न होते हैं। अब उनके ही बारे में बताता हूँ, सुनो। शब्द से आकाश उत्पन्न होता है, स्पर्श से वायु उत्पन्न होता है, रूप से तेज उत्पन्न होता है और रस से जल उत्पन्न होता है। गंध से कठोर पृथ्वी का जल में निर्माण हुआ है। इस प्रकार इनका निर्माण अलग-अलग होता दिखायी देने पर भी उनकी परस्पर एकता भंग नहीं होती। उसका कारण इस प्रकार है—नि:शब्द (परब्रह्म) से शब्द का निर्माण हुआ और उसने आकाश उत्पन्न किया। आकाश में सूक्ष्म स्पर्श उत्पन्न हुआ और उस स्पर्श ने वायु का निर्माण किया। इस प्रकार वायु में शब्द और स्पर्श इन दोनों का वास रहता है। उस वायु ने रूप उत्पन्न किया और उस रूप से तेज का उदय हुआ। उत्पन्न हुए उस तेज में शब्द, स्पर्श और रूप इन तीनों का वास रहता है। रूप से रस उत्पन्न हुआ और उस रस से जल का उद्भव हुआ। इस प्रकार जन्म लेनेवाले जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस का वास रहता है। इस प्रकार विषयों में विषय मिलकर एक साथ रहते हैं। जल में गंध उत्पन्न होता है और उस गन्ध से शुद्ध पृथ्वी का निर्माण होता है। ऐसी यह पृथ्वी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयों से युक्त है। ऐसे ये विषययुक्त विविध पंचमहाभूत जो पहले सूक्ष्म रीति से विलीन हुए रहते हैं, वे ही अब स्थूल रूप लेकर पंचमहाभूत के नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और कान आदि दस इन्द्रिय राजस अहंकार से अपने आप ही उत्पन्न होते हैं। सत्वाहंकार के विकारों से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आदि चित्तचातुष्टय का चमत्कार उत्पन्न होता है और प्रजापति-इंद्रादि ग्यारह देवतागण इन्द्रियों के अधिष्ठाता बन जाते हैं। वास्तव में महाभूत अत्यन्त जड़ हैं। इन्द्रियाँ उनकी प्रवर्त्तक हैं, अंत:करण उनका चालक है तथा देवता कर्म के प्रकाशक हैं। तीन प्रकार की अहंकार वृत्ति गुणक्षोभ से क्षोभक शक्ति बन जाती है। इस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड की रचना हुई है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मया संचोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः।
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥ ९ ॥

भूतों में एक-दूसरे के प्रति बैरभाव रहता है। जल, पृथ्वी को निगलने के लिये दौड़ता रहता है; तेज (अग्नि) निश्चित रूप से उस जल का विनाश करता है, तेज को वायु निगल लेता है, वायु को आकाश निगल जाता है। इस प्रकार भूतों में भी परस्पर प्रेम भाव नहीं होता। उसमें मैं अंतःकरणस्वरूप से स्वयं प्रवेश कर सभी भूतों को एकत्र लाकर उनकी मर्यादा की रक्षा करता हूँ। मैंने मर्यादा की सीमारेखा बना दी है इसलिये जल पृथ्वी को घुला नहीं सकता। तेज ही शोषण क्रिया का नख उदक को नहीं लगा पाता। उसी प्रकार वायु भी तेज को नहीं निगलता और वायु कितनी भी स्वेच्छावाटिका क्यों न करे लेकिन उसे आकाश कभी नहीं निगलता और न उसकी गति पर ही प्रतिबन्ध लगाता है। इस प्रकार इन सारे महाभूतों ने मिलकर मुझ महापुरुष के रहने के लिये इस ब्रह्माण्ड का निर्माण किया है। विशाल सप्त आवरणों के साथ विस्तीर्ण स्थान व्याप कर मयूर के अण्डे के आकार का ब्रह्माण्ड निर्मित किया है।

तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ।
मम नाभ्यामभूत् पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः ॥ १० ॥

इस प्रकार आज जो ब्रह्माण्ड अस्तित्व में है; उसमें स्वयंभू विश्वात्मा रहने वाला मैं नारायण अपनी लीला से देहधारी बन गया। मेरी उस नाभि में विश्व का आधारभूत नाभिकमल उत्पन्न हुआ और उसमें उत्तम 'आत्मभू' नामक ब्रह्मदेव का जन्म हुआ। वह उदर में गर्भस्थ रहकर योनिद्वार से इस संसार में नहीं आया था, बल्कि वह मेरे आत्मा से स्वयंभू ही उत्पन्न हुआ था। इसीलिये ब्रह्मदेव को 'आत्माभू' कहते हैं। ब्रह्माण्ड स्वयं ही विराट देह है और विग्रह उसका प्रमुख भाग है। इस प्रकार ब्रह्मदेव मेरे नाभिकमल से उत्पन्न हुआ है। सृष्टि का निर्माण करने के लिये पद्मनाभ के नाभिकमल में रजोगुण की प्रधानता बढ़ाकर ब्रह्मदेव ने स्वयं ही जन्म लिया।

सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात्।
लोकान् सपालान् विश्वात्मा भूर्भुवःस्वरिति त्रिधा॥ ११ ॥

इस प्रकार रजोगुण प्रधान ब्रह्मदेव, जन्म से लेकर नाभिकमल में बैठ गया लेकिन वह उसके जन्म का कारण जो मैं नारायण हूँ, उसे नहीं देख सका। वह स्वयं कमल में बैठा था, इसलिये कमल का मूल नहीं देख सका। वह रजोगुण में लीन था इसलिये उसे सर्वत्र एकरूप समुद्र का जल ही दिखायी देने लगा। उस कमल का मूल देखने के लिये उसने समुद्र में डुबकी ली और कितने ही दिन तक वह पानी में ही था फिर भी उसे कमल के मूल का पता नहीं चला। अन्त में वह पानी के भय से घबरा गया और पानी के बाहर आकर लम्बी साँस लेने लगा। फिर वह पुनः कमल पर आकर बैठ गया, लेकिन आगे क्या किया जाय, उसकी समझ में नहीं आ रहा था। वह बोला, "हे अच्युत! दौड़कर आ जाओ और मुझ पर प्रसन्न हो। मुझ पर संसार के प्रति आया अंधत्व दूर करो। तुम्हारे सिवा मेरा पूरी तरह संरक्षण करने वाला कोई नहीं है।" ब्रह्मदेव आखिर मेरी ही सृष्टि था। बेचारा रज से अन्धा हो गया था। वह जब नाभिकमल से ही चिपक कर बैठ गया तो मुझे तत्काल उस पर दया आ गयी। मुझ विश्वात्मा का ही वह पुत्र था लेकिन केवल जड़त्त्व के कारण स्तब्ध होकर रह गया। तब मैंने उस तपोनिष्ठ को सृष्टि का निर्माण करने का उपदेश दिया। महाकल्पादिक के प्रारम्भ में मैंने अपनी आकाशवाणी से 'तप तव' इन दो शब्दों से श्रेष्ठ ब्रह्मदेव को उपदेश दिया। मेरे उपदेश के अनुसार तप करने के कारण उसके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सत्त्वगुण में वृद्धि हुई और उसके पहले के उस सत्त्वगुण के कारण ही मैं साक्षात नारायण बन गया। ''त्रिकालाबाधित विश्वात्मा सचमुच तुम ही हो'' इस आशय के चतुःश्लोकी भागवत का मैंने उसे उपदेश किया। मेरे उपदेश से वह समबुद्धि होकर रह गया और इतने कल्प बीतने पर भी उसे मोह स्पर्श नहीं कर पाता। इस प्रकार कल्प के प्रारम्भ में ब्रह्मदेव ने जब समाधि धारण की तो उसे आत्मबुद्धि प्राप्त होकर उसने यह सारी उत्पत्ति करने का कार्य पूर्ण किया। देवता, राक्षस, मनुष्य, सर्प आदि के बस्ती वाले तीनों लोक, सात पाताल तथा विलक्षण सात गोपुरों का भी उन्होंने निर्माण किया। 'भूः' अर्थात् पाताल लोक, 'भुवः' अर्थात् मृत्युलोक और 'स्वः' अर्थात् स्वर्गलोक इन्हीं को मिलाकर त्रिभुवन कहा गया है। कुल मिलाकर चौदह लोक हैं और वहाँ रहने वाले लोकपालों का स्पष्ट वर्णन श्रीकृष्ण कर रहे हैं।

देवानामोक आसीत् स्वर्भूतानां च भुवः पदम्।
मत्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात् परम्॥ १२॥

अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत् प्रभुः।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्॥ १३॥

पिछले श्लोक के अन्त में भूः, भुवः, स्वः इस प्रकार तीन लोकों का श्रीकृष्ण ने स्पष्ट वर्णन किया है। उसी प्रकार अगले श्लोक में पाताल लोक का अर्थ बताया है और उसका मृत्युलोक से ऐक्य है इसका भी यथातथ्य निरूपण किया है। इन्द्रादि समस्त देवताओं के रहने के लिये स्वर्ग ही एक स्थान है। यक्ष, राक्षस, भूत और गन्धर्वों के रहने के लिय आकाश है और जहाँ से मोक्ष जा सकते हैं, परलोक जा सकते हैं, वह कर्मभूमि अथवा अतल सप्त पाताल के साथ पृथ्वी बड़े भाग्य से मनुष्य को रहने के लिये मिली है। सिद्ध पुरुष त्रैलोक्य के ऊपर रहते हैं। वह सिद्धों के रहने का सिद्धिस्थान है। अतल, वितल, सुतल, रसातल, महातल, तलातल और पाताल ये पृथ्वी के नीचे रहने वाले पाताल हैं। अब सप्त पाताल के अधिकारियों के भी नाम सुन लो। तो अतल में मयासुर का पुत्र बल रहता है। वह पराक्रम में प्रबल है। उसके पास राक्षसों का बड़ा समुदाय है। वितल में हाटकेश्वर है। कर्पूर की तरह गौरवर्ण जो उमाकांत है वही हाटकेश्वर है। वहाँ हाटक नाम की नदी बहती है जिसमें सुवर्ण की राशियाँ बहती हैं। सुतल में महान भगवद्भक्त बली राजा है और उसका द्वारपाल विष्णु है। प्रह्लाद भी उसके पास विष्णु भक्तों के साथ रहता है। शंकर ने त्रिपुरासुर का वध करने के उपरान्त रसातल में मयासुर की स्थापना की। वह मायावी तथा महान पराक्रमी वीर सपरिवार वहीं रहता है। विष धारण करने वाले क्रोध कद्रू कु पुत्र सर्प, वे सारे महातल में निवास करते हैं। तलातल में दानव रहते हैं, जिन्हें 'निवातकवची' वीर कहते हैं। (वे प्रह्लाद के भाई सन्हाद के पुत्र हैं) वहाँ का राजा नाग है जो उन्हें पूज्य है। उस स्थान की रचना अपूर्व है। सातवें पातल में नाग रहते हैं। जहाँ एक लाख नागों का समुदाय जिसकी सेवा में तत्पर है, ऐसे वासुकि आदि अनेक महान नाग पद्मनियों के साथ विलास करते रहते हैं। जिस प्रकार स्वर्ग में रंभा, उर्वशी आदि सुन्दर स्त्रियाँ हैं, उसी प्रकार पाताल में पद्मिनी नाम की स्त्रियाँ हैं। उनके सौन्दर्य का वर्णन परलोक में भी होता रहता है। उसके नीचे तीन सौ योजन नीचे सहस्रमुख का शेषनाग रहता है। उसके शरीर पर ही मैं भगवान शयन करता हूँ। इसके भी काफी नीचे अंधतामिस्रादि बड़े-बड़े नरक हैं। उससे भी नीचे कूर्म है तथा उसके नीचे आवरणोदक है। जिनका स्वर्ग का भोग क्षीण होने लगता है और केवल अधोभाग का ही भोग भोगने का पुण्य शेष रह जाता है उस पुण्य के क्रम से ही वे लोक सप्तपाताल में जन्म लेते हैं। जिसकी गाँठ में केवल पाप ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रहता है वह अनेक प्रकार के नरकों का भोग भोगता है। ऐसी यह सृष्टि त्रिलोकी ब्रह्मदेव की ही रचना है। हे उद्धव! जिसका मन इच्छारहित नहीं है, जिसने स्वप्न में भी विरक्ति का दर्शन नहीं किया है, उन्हें निश्चित रूप से त्रैलोक्य से ऊपर गति नहीं है। जो मेरी भक्ति नहीं करते, जो मेरी कीर्ति नहीं सुनते, जो संसारबन्धन को तोड़ने वाले मेरे रामनाम का उच्चार नहीं करते, उन्हें बार-बार स्वर्ग तथा नरक का भोग भोगना पड़ता है और वे बार-बार पाताल लोक तथा मृत्युलोक में अनेक प्रकार की योनि में जन्म लेकर दुःख भोगते हैं। जो इन तीन गुणों में लिप्त रहते हैं तथा सदैव लोभी बने रहते हैं, वे निरन्तर सकाम कर्म ही करते रहते हैं, उन्हें उनका त्रिगुणात्मक धर्म कभी त्रैलोक्य के बाहर नहीं जाने देता। यह पाताल का वर्णन हुआ अब स्वर्ग की रचना सुनो। फिर अन्य लोकों की रचना भी सुनाऊँगा। जहाँ तक सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश पहुँचता है वहीं तक पृथ्वी का महत्त्व है। लेकिन लोगों की बस्ती नीचे पाताल से लेकर ऊपर स्वर्गलोक तक अनेक लोकों में है ही। जहाँ पैरों से चलते हैं, वह भूलोक है। वहाँ से सूर्य तक भुवलोकों का विस्तार है। उस भुवलोक में यक्ष, रक्ष और गन्धर्वों की बस्ती है। भुवलोक से भी ऊपर सूर्यलोक का विस्तार होता है। पृथ्वी से लक्ष योजन दूर सूर्यलोक है, यह ध्यान में रखो। कालरूपी, सूत्रधार वायु निर्मित चक्र पर सूर्य, चन्द्रमा और तारागण इन्हें बड़े कौशल से सजाकर उन्हें गोल-गोल घुमाता रहता है। लेकिन उस काल पर भी मेरा नियंत्रण है। मेरे भय से ही क्षण, लव, निमिष आदि विभागों में आधिक्य या कमी नहीं आ पाती। इस कालचक्र की गति बड़ी आश्चर्यजनक है। एक महीने में सूर्य और चन्द्रमा एक साथ आते हैं। नक्षत्रचक्र में चन्द्रमा का एक परिभ्रमण पूर्ण होने के दो दिन के बाद कुल मिलाकर २९ दिन के बाद चन्द्र सूर्य के आड़े आता है। अमावस्या और प्रतिपदा के संधिकाल में जब चन्द्रमा अपने भ्रमण मार्ग में यथावकाश चलता रहता है उस समय उसका राशि अंशादि स्थान सूर्य के जितना ही होता है। सूर्य के तेज के कारण वह लोगों को दिखायी नहीं देता। इतनी-सी बात पर ज्योतिषी लोग उन दिन सजीव रहने वाले (आकाश पर उपस्थित) चन्द्रमा को मृत कह देते हैं और सब लोग उसे सच मान लेते हैं। सूर्य और चन्द्रमा अपने अलग-अलग रास्तों पर चलते हुए कभी एक-दूसरे से नहीं टकरायेंगे। किन्तु महीने के अन्त में (अमावस्या के दिन) उनकी गति से उनके बिम्ब लक्षान्तर पर समान दूरी पर आ जाते हैं। जो ग्रह अपनी गति से सूर्य के आड़े आता है (सूर्य के निकट होने के कारण नहीं दिखायी देता) उसके अस्त होने की सूचना ज्योतिषी देते हैं और लोगों को उनकी बात सच लगती है क्योंकि उस समय वह ग्रह दिखायी भी नहीं देता। वेदांत में जो दृष्टि सृष्टि का सिद्धान्त है वह ज्योतिषशास्त्र में भी सत्य है क्योंकि जो नहीं दिखायी देता उसका ज्योतिषी लोग अस्त मानते हैं और जो दिखायी देता है, उसकी पूजा करते हैं। ग्रहण लगने के बाद वह कुछ समय तक बादलों के पीछे रहता है, फिर भी यदि बादल न होते तो उन्हें ग्रहण दिखायी देता है। वे लोग उस काल को पर्वकाल मानते हैं लेकिन वही ग्रहण जिस देश में दृश्य आकाश में नहीं होता (चन्द्रग्रहण यदि दिन में हो जाय तो उस समय चन्द्र दृश्य आकाश में नहीं होता, उसी प्रकार रात्रि का सूर्यग्रहण भी दृश्य आकाश में नहीं होता) वहाँ के लोग ग्रहण लगा हो ऐसा मानते ही नहीं हैं। सूर्य और चन्द्र के एक ओर राहुकेतु की बस्ती है। वे राहु केतु जब सूर्यचन्द्र के बिम्ब के आड़े आते हैं तो उन्होंने सूर्य-चन्द्र को ग्रस लिया ऐसा कहा जाता है। वास्तव में यदि राहु सूर्य को निगलने का प्रयास करे तो उसका मुँह ही जल गया होता है। एक बिम्ब के आड़े दूसरा बिम्ब आता है, यही उस ग्रहण के सर्वग्रासों का सामान्य तत्त्व है। वास्तव में सूर्य अपने 'सूर्यमण्डल' में राजकाज करता है किन्तु सूर्यग्रहण के समय उसके सर्वग्रास का माहात्म्य ज्योतिषी घर-घर में बताता रहता है और वह ग्रहण देखकर साधारण जनता भी कोलाहल करने लगती है। सूर्य के खग्रास ग्रहण की बात सुनकर संसार में अपूर्व कोलाहल मच जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किन्तु वास्तव में सूर्य और राहु की भेंट भी नहीं होती और अन्त तक उनका परस्पर स्पर्श भी नहीं होता। ग्रहमण्डल भले ही तीव्र गति से पूर्व से पश्चिम की ओर जाता दिखायी दे लेकिन सूर्य चन्द्रादि की वास्तविक गति वैसी नहीं होती। वे अपनी मर्यादा के अनुसार ही चलते रहते हैं (नक्षत्रमण्डल के क्रम के अनुसार पश्चिम से पूर्व की ओर जाते रहते हैं। वास्तव में वे पूर्व से पश्चिम की ओर नहीं चलते लेकिन केवल वैसा आभास होता है। सूर्यलोक से लक्ष-लक्ष योजन ऊपर चन्द्रलोक है (तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और श्रीमद्भागवत की ऐसी कल्पना है)। चन्द्रलोक से लक्ष-लक्ष योजन की दूरी पर नक्षत्रलोक है। उसके ऊपर दो लक्ष योजन के अन्तर पर बुधलोक है। उसके ऊपर दो लक्ष योजन के अन्तर पर शुक्र लोक है। सारे दैत्य एक साथ मिलकर जिसकी नित्य शरण में आते हैं वही दैत्यों का गुरु शुक्राचार्य है। शुक्र लोक से ऊपर दो लक्ष योजन के अन्तर पर मंगल लोक आकाश में है। उससे ऊपर दो लाख योजन के अन्तर पर देवगुरु निवास करते हैं। इन्द्र, चन्द्र, वरुण, सूर्य आदि देवता आदरपूर्वक नित्य आकर जिनके चरणों का वन्दन करते हैं, उसी गुरु का वह बृहस्पति लोक है। उससे भी ऊपर दो लाख योजन के अन्तर पर सूर्यपुत्र शनि का वास है। उससे ऊपर एक लाख योजन के अन्तर पर सप्तऋषि का निवासस्थान है। जहाँ सप्तऋषियों का समुदाय रहता है, वहीं अरुंधती भी रहती है और उससे भी ऊपर इन्द्र के वैभव से सुशोभित अमरावती बसी हुई है। वहीं इन्द्र रहता है, ऐरावत पर आरोहण करता है, मरुद्गण जिसके सभासद हैं, देवतागण ही जिसकी सेना है, जहाँ उच्चैःश्रवा नामक अश्व है, कल्पतरु का मनोहर बगीचा है। कामधेनुओं के झुण्ड हैं और क्रीड़ा करने के लिये नंदनवन है। जहाँ की सीढ़ियाँ चिन्तामणि की बनी हुई हैं जहाँ रंभा-उर्वशी सरीखी विलासिनी स्त्रियाँ हैं, जहाँ अष्टनायिकायें नृत्यांगना बनकर रंगसभा में नृत्य प्रस्तुत करती हैं, ऐसे उस इन्द्र के वैभव से सजी हुई अमरावती का अधिपति इन्द्र है। यहीं स्वर्ग की सीमा समाप्त होती है। यही सचमुच त्रैलोक्य है। अब इस त्रैलोक्य के बाहर एक लाख योजन के अन्तर पर भक्तवत्सल श्रीहरि ने अपनी कृपा से ध्रुवमण्डल का निर्माण किया है। त्रैलोक्य में प्रलय ही क्यों न आ जाय लेकिन ध्रुव को कभी भी अपने स्थान से नहीं हटना पड़ता। वह सदा अटल रहता है। इसीलिये ध्रुवपद को अटल कहा जाता है। पृथ्वी से एक करोड़ योजन के अन्तर पर महर्लोक है, यह ध्यान में रखो। वहाँ कल्पांत तक की आयु के लोग रहते हैं। वही उनका वसतिस्थान है और देखो। वहाँ से एक कोटि योजन के अन्तर पर जनोलोक है। वहाँ जितेन्द्रिय तथा महोयोगी जैसे सनकादिक वास करते हैं। वहाँ से आगे जाने पर दो कोटि योजन के अन्तर पर तपोलोक है। तपस्वी वैराजदेव ही वहाँ के सच्चे निवासी हैं। वहाँ से ऊपर चार कोटि योजन के अन्तर पर जो प्रदेश है, वहाँ सत्यलोक है। वहाँ के अधिपति ब्रह्मदेव हैं। वहाँ चारों वेद मूर्तिमंत हैं, सुप्रसिद्ध सर्व धर्ममूर्तिमंत है। शुद्ध ब्रह्मचर्य मूर्तिमंत है और साक्षात तप भी मूर्तिमंत है। वहाँ गायत्री मूर्तिमंत रहती है, वाणी मूर्तिमंत रहती है, दया मूर्तिमंत रहती है और उस ब्रह्मदेव के घर में योग भी मूर्तिमंत रहता है। दक्षिणाग्नि, गार्हपरय तथा आहवनीय इस प्रकार जो तीन अग्नि वास्तव में एकरूप होते हुए भी भिन्न-भिन्न मालूम होते हैं, वे वहाँ मूर्तिमंत रहते हैं। सत्यलोक में सत्य मूर्तिमंत रहता है, वहाँ असत्य रहता ही नहीं है। वहाँ रहने वाले लोग कौन हैं, बताता हूँ। गायत्री मंत्र का जाप करने वाले, ब्राह्मणों का चरणतीर्थ प्राशन करने वाले और यज्ञयाग के निष्काम उपासक वहीं रहते हैं। जिन्होंने ब्राह्मणों का कार्य करते मृत्यु प्राप्त की, जिन्होंने गौरक्षा के लिये अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी जो परोपकार करते-करते दरिद्र बन गये, वही लोग सत्यलोक में गये हैं। जिन्होंने निष्काम बुद्धि से ब्राह्मणों की सेवा की, जिन्होंने निष्काम बुद्धि से ब्राह्मणों की पूजा की, जिन्होंने निष्काम बुद्धि से ब्राह्मणों को भोजन कराया, वे सत्यलोक पहुँच गये। जो दीनजनों पर उपकार करने के लिये कृपालु बने, संसार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बन्धनों से कष्ट पाने वाले लोगों को बन्धनमुक्त करने के लिये जो कृपालु बने, जो सत्य बोलने वाले तथा सात्त्विक प्रवृत्ति के होते हैं, वही सत्यलोक के निवासी हैं। जो परनिन्दा के प्रति मूक, परस्त्री के प्रति नपुंसक, पराये धन के प्रति उदासीन होते हैं, वही सत्यलोक के रहिवासी हैं। वहाँ का अधिपति ब्रह्मदेव है। उद्धव! इसके ऊपर ब्रह्मवेद की कोई सृष्टि नहीं है, इसे ध्यान में रखो। भोले शंकर ने ब्रह्माण्ड से अलग अपने कैलास का निर्माण किया है और मेघश्याम विष्णुने वैकुण्ठ का निर्माण किया है। ये लोक उन्होंने अपनी-अपनी लीला से ही तैयार किये हैं। ब्रह्माण्ड में परिवर्तन होते रहते हैं लेकिन उसकी आँच वैकुण्ठ और कैलास पर नहीं आती। वहाँ रहने का आनन्द विष्णुभक्त और शंकरभक्त अच्छी तरह जानते हैं। वहाँ न काल का प्रवेश हो पाता है, न कर्म का कर्मबन्धन है और न जन्म-मरण है। जो अनन्य भक्त हैं उन्हें ही यह स्थल प्राप्त होता है। वैकुण्ठ और कैलास की रचना का वर्णन करते समय मन का मनपन समाप्त हो जाता है। हे बुद्धिवान उद्धव! अब वहाँ के लोगों के लक्षण बताता हूँ, सुनो। ब्रह्माण्ड से बिलकुल बाहर और माया-आवरण के भीतर शिव ने कैलास तथा विष्णु ने वैकुण्ठ ये लोक अपनी लीला से निर्मित किये। समस्त जीवों को सुख प्रदान करने वाला, पार्वती का परमेश्वर, योगियों का योगेश्वर वह शंकर कैलास में रहता है। वह मस्तक पर जटा धारण करता है, मस्तक पर गंगा धारण करता है, पिनाक नाम का धनुष हाथ में धारण करता है, जिसका वर्ण पंचमुखी, कर्पूर अथवा गोरस की तरह शुभ्र है और जो अपने भक्तों को सदा अभय देता है और वरदायक है, अकार, उकार और मकार इन तीन मात्राओं के परे का है, जो त्रैलोक्य का नेत्र है, त्रिपुर का नाश करने वाला, त्रिविध तापों का शमन करने वाला और तीनों लोकों को सुखी करने वाला है। नागभूषण धारण करने के कारण उसकी शोभा विशेष रूप से खिल जाती है, जिसने रुदाक्ष और रुंडमाला धारण की है, जिसका कंठ नीलरत्न की तरह है, भस्म का लेप करने के कारण उसका शरीर धुएँ की तरह दिखाई दे रहा है। उसके हाथ में त्रिशूल और डमरू है, उसे तीन नेत्र हैं, उसके शरीर पर वस्त्र के नाम पर केवल व्याघ्रांबर है। उसके हाथ की जपमाला सदा रामनामजप में तत्पर रहती है। बली का पुत्र सहस्त्रबाहु बाणासुर, श्रृंगी, भृंगी, चंडी ये जिसके सेवक हैं, इसके अलावा साठ हजार रुद्रगण चमचमाते हँसिया और त्रिशूल लेकर सदा तैयार रहते हैं। गणपति, कार्तिक स्वामी, नंदी, पंचमुख, षण्मुख और जिसने दक्ष को शिक्षा दी थी वह वीर सेनापति वीरभद्र, भूत, प्रेत, पिशाच और बड़े-बड़े देवतागण यही जिसकी सेना है, ऐसा वह शंकर है और शेष सब उसके आज्ञाधारी हैं। वे सदा शिवनाम की गर्जना करते रहते हैं। शंभु, शिव,, शूली, शंकर, उमाकांत, कर्पूरगौर, भव, भर्ग, भवानीपति, कपर्दी, ईश्वर, महादेव अथवा 'हर हर शंकर' इस नामोच्चार के भय से ही कलिकाल दूर भाग जाता है। कैलास पर्वत सदा शिवनाम की ही गर्जना करता रहता है और वहाँ का राजकाज शंकर देखता है। जहाँ शिवनाम का उच्चार होता है, वहाँ शंकर आनन्दपूर्वक रहता है। वह ईश्वर भक्तों के प्रति अत्यन्त कृपालु है तथा सदा भोले भाव से भक्तों के वश में होने वाला है। तीन गुण यही मेरे भक्तों के शत्रु हैं इसलिये उन त्रिगुणों का संहार करने के लिये ही उसने हाथ में सदा त्रिशूल धारण किया हुआ है। वह अपने डमरू के घोष से पापों का पूरी तरह संहार करता है। कैलास पर्वत पर की घास, पेड़, पशु, पक्षी अथवा और जो भी कुछ है वे सब शंकर के आज्ञाधारक हैं। बल्कि यह कहें कि वे सब शंकर के ही रूप में वहाँ रहते हैं। इस प्रकार शंकर ने ब्रह्माण्ड के बाहर अपनी लीला से ही कैलास पर्वत निर्माण कर उसकी स्थापना की और वहाँ भवानी के साथ मिलकर राज्य का कारबार देखते हैं। अब तुम्हें वैकुण्ठ की भी स्थिति बताता हूँ। उसकी स्थिति ऐसी है कि उसे सुनते समय चित्तवृत्ति आनन्द स्फूर्ति से लबालब भर कर बाहर बहने लगती है। ऊख का रस निकाल कर उसकी शक्कर बनाते हैं और अत्यन्त कुशल लोग उसके विविध व्यंजन तैयार करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसी प्रकार भगवान ने अपने निवास के लिए सारे चैतन्य का रस निकाल कर तथा उसे गाढ़ा बनाकर उससे वैकुण्ठ की रचना की है। अपनी ही लीला से निर्मित सगुण, साकार, सुकुमार, अत्यन्त सुन्दर, घनश्याम, मनोहर तथा ज्ञानमय सुन्दर मूर्ति, शंख, चक्र, पद्म, गदा आदि चार आयुधों से युक्त चार भुजावाले सगुणस्वरूपी गोविन्द को देखकर होने वाले आनन्द से आँखें लुब्ध हो जाती हैं। मुकुट, कुण्डल, करधनी तथा पीत पीताम्बर परिधान किये हुए, गले में कौस्तुभ मणि शोभा दे रहा है, गले में पड़ी हुई वनमाला पैरों तक लटक रही है। चरणों से निकली हुई गंगा तो अत्यन्त पवित्र है जो सारे संसार को ही पवित्र कर देती है। यह देखकर शंकर ने गंगा को अपने मस्तक पर ही धारण किया। उस हरि के दोनों चरणों का वर्णन करने वेद भी मूक हो गये क्योंकि वह श्रीहरि का पद दुर्गम है। श्रीहरि के चरणों की महिमा अपार है। श्रीहरि का अत्यन्त सुन्दर मुख देखकर अमृत भी उसके आगे फीका मालूम होता है और आँखों को अप्रतिम सुख की अनुभूति होती है। जिसके मुख का क्षण भर के लिये अवलोकन करने से कोटि-कोटि जन्मों का दुःख समाप्त हो जाता है और उससे मुखचन्द्र देखने से सुख-दुःख के द्वंद्व की बाधा जरा भी पीड़ा नहीं दे सकती, बल्कि अधिक से अधिक परमानन्द ही प्राप्त होता है। ऐसा वह सारे जग का आत्मा आनन्द का मूल स्रोत है। जिसके किंचित दृष्टिक्षेप से तत्काल कितने ही ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है, जिसके प्रत्येक रोमरन्ध्र में करोड़ों ब्रह्माण्डों का वास रहता है। ऐसा वह श्रीहरि वैकुण्ठ में निवास करता है। जिसकी जरा सी कृपादृष्टि से अहंकार की गाँठ टूट जाती है और सृष्टि में अन्य कुछ दिखायी ही नहीं दे सकता। वह श्रीहरि वहाँ रहता है। जिस प्रभु का नामस्मरण ही जन्म-मरण को नष्ट कर देता है, कर्माकर्म को समूल नष्ट करता है, वह पुरुषोत्तम वैकुण्ठ में रह रहा है। उस वैकुण्ठ में सभी लोग चतुर्भुज हैं। सभी मेघ जैसे श्यामरंग के, पीताम्बर धारण करने वाले तथा सभी के हाथ में शंख-चक्र आदि शस्त्र रहते हैं। सबका स्वरूप एक जैसा, सब एक जैसे दिखायी देते हैं। जहाँ स्वयं सौन्दर्यशाली श्रीहरि रहते हैं, वहाँ कोई विद्रूप नहीं दिखायी देता। वहाँ आधिदैविक अथवा आधिभौतिक पीड़ा नहीं होती, विषय वार्ता की गन्ध नहीं होती। वहाँ स्त्री-पुरुषों की बुद्धि एक जैसी होती है। वहाँ भूख-प्यास का नाम नहीं है, काम-क्रोध नहीं है, सुख-दुःख के द्वंद्वों का दुःख नहीं है, जन्म-मरण तो बिलकुल नहीं है। लक्ष्मी एक बार दर्शन दे दे इसके लिये देवतागण सदा प्रयासरत रहते हैं लेकिन लक्ष्मी स्वयं वैकुण्ठ में सफाई के काम में लगी रहती है। उस वैकुण्ठ में दीनदयाल और उदार जगन्नाथ अपने भक्तों का उद्धार करने के लिये अपनी ही लीला से विचरण करते रहते हैं। मृत्यु के समय उसका नामस्मरण करने से ही करोड़ों जीवों का उद्धार हुआ है। वह प्रभु श्रीविष्णु दीनजनों पर कृपा दृष्टि रखते हुए वैकुण्ठ में निवास करता है। जिसकी जैसी भावना रहती है उसके अनुसार वह उसका मनोरथ पूर्ण करता है और पाँचवें पुरुषार्थ से प्रीति करता है। ऐसा वह श्रीहरि वैकुण्ठ में रहता है। अब तक विविध लोकों की गणना, समस्त ब्रह्माण्डों की संख्या, वैकुण्ठ और कैलाश की रचना के सम्बन्ध में बताया। भिन्न-भिन्न लोक बताये लेकिन उसे प्राप्त करने वाले लोग कौन हैं ऐसी कल्पना तुम करोगे इसलिये उसका भी निरूपण सुनो। महर्लोक, जनोलोक, तपोलोक, सत्यलोक और जिनकी रचना आश्चर्यजनक है ऐसे वैकुण्ठ को प्राप्त करने वाले लोग कौन हैं उसके बारे में यदुनायक श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः॥ १४॥

अपने अंतःकरण को स्थिर करने के लिये प्राणापान समान करने की कुशलता साध्य करने पर षडचक्रों को भेद कर आत्मस्वरूप में पहुँचे और यदि इसी बीच आयु समाप्त होकर मृत्यु आ जाय तो ऐसे योगी लोगों को

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

महर्लोक, जनोलोक आदि ऊपर के लोकों में जाने को मिलता है। जो गृहस्थाश्रम में रहकर ब्रह्मचारी रहता है, नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करता है, जो स्वप्न में भी स्त्री का स्पर्श नहीं करता जो सदा भिक्षा माँग कर खाता है, जो निरन्तर कठोर वैराग्य धारण करता है अथवा भिक्षा को भी स्पर्श नहीं करता और आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये सद्गुरु की सेवा करता है उसे उस प्रसंग में जो आत्मज्ञान होता है, उसी समय यदि उसे मृत्यु प्राप्त हो जाय तो ऐसा ब्रह्मचारी ऊपर महर्जनादि लोक में जाता है। जो गृहस्थाश्रम में ही तत्पर हैं जो अग्निसेवा के लिये अग्निहोत्र स्वीकार करते हैं, जो स्वधर्म से ही चित्त शुद्ध करते हैं और जो ब्राह्मणों की और देवताओं की सेवा करते हैं, जो भक्त होकर प्राणिमात्र पर दया करते हैं, जो सत्यभाषण करने वाले तथा सात्त्विक प्रवृत्ति के होते हैं, जो आत्मज्ञान साध्य करने वाले, गुरुभजन की प्रवंचना न करने वाले होते हैं, ऐसे लोगों को गुरुकृपा से आत्मज्ञान साध्य करने के बाद सनातन ब्रह्म की प्राप्ति होते समय यदि उनकी आयुसम्पत्ति समाप्त होकर उन्हें मृत्यु आ जाय तो उससे ब्रह्मप्राप्ति होने में अड़चन आ जाती है फिर भी वे ऊपर पहुँचते ही हैं और जिसकी जैसी विरक्ति और उपासना रहती है, उसके अनुसार वे महर्जनादि लोक में पहुँचते हैं। जो वन में रह कर वानप्रस्थाश्रम का आचरण करते हैं, जो वैराग्य के कारण अत्यन्त विरक्त रहते हैं, जो कंद-मूल खाकर ही तृप्त रहते हैं और जो सदा आश्रमधर्म का नियमपूर्वक पालन करते हैं, ऐसे साधक पर्जन्यकाल में पर्जन्यवृष्टि में बैठते हैं, जाड़े में पानी में बैठते हैं, गरमी में पंचाग्निसाधन करते हैं, इस प्रकार जो निष्ठापूर्वक तपश्चर्या करते हैं, जिन्हें शरीर के क्षीण होने का भय नहीं होता, आत्महित साधन की उत्कंठा से जो दारुण तप सहन करता है अथवा पूर्ण वैराग्य साध कर ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिये संन्यास लेने लगता है और तभी मृत्यु पास आ जाता है तो उसे अंतकाल के बाद ऊर्ध्वलोक गमन होता है और उसकी उपासना के अनुसार उसे महर्जनतपोलोक की प्राप्ति होती है। जो समूल संकल्पों का ही संन्यास करता है उसे लोकांतर सम्भव नहीं होता। वह मुक्त होता है। जिससे यह नहीं हो पाता और जो विधिपूर्वक संन्यासी होते हैं, जो अंतःकरण से अत्यन्त विरक्त रहते हें, स्वप्न में भी सुवर्ण या चाँदी का स्पर्श नहीं करते, जो सदा संन्यास धर्म में लीन रहते हैं और जो निरन्तर ओंकार का जप करते हैं, आश्रमविधि स्वीकार करने के बाद जो उससे ऊबते नहीं हैं, मृत्यु के समय जिसकी बुद्धि चंचल नहीं होती वह सत्यलोक में जाता है। ऐसे जो लोग सत्यलोक में जाते हैं लेकिन वहाँ के सुख विलास आदि भोगों से भी जिन्हें विरक्ति रहती है वे ब्रह्मदेव के साथ ही मुक्त होते हैं और शेष वापस आ जाते हैं। जिन्हें सत्यलोक के भोग भोगने में रुचि रहती है वे भी वहाँ से थक कर वापस आ जाते हैं, फिर औरों की गति के बारे में क्या कहा जाय? उन्हें जन्म और मरण छोड़ते ही नहीं हैं। जहाँ तक भोगासक्ति है वहाँ तक जन्म-मरण का कष्ट है ही। लेकिन जहाँ भोग की इच्छा समाप्त हो जाती है, वहाँ चारों मुक्ति दासी बनकर सेवा के लिये तत्पर रहती हैं, जिस लोक में उन्हें भोग से विरक्ति होती है, वहाँ से वे आगे बढ़ जाते हैं और जिस लोक में उनमें भोगासक्ति उत्पन्न होती है वहाँ से वे थक कर भूलोक में गिर पड़ते हैं। किन्तु मेरी भक्ति वैसी नहीं है। भक्तों को अन्य किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। उद्धव! मेरे भक्तों को निश्चय ही मेरी ही गति प्राप्त होती है जो मन में इच्छा रखकर मेरी सेवा करते हैं, उन्हें वासना का ही फल खाना पड़ता है लेकिन जिन्हें मेरे प्रति निष्काम भक्ति रहती है उन्हें मेरी अनन्य भक्ति ही प्राप्त होती है। सकाम भक्तों की वासना पूर्ण कर, मैं उन्हें सदा निष्काम करता रहता हूँ। मैं पुरुषोत्तम अपने भक्तों को मेरे निजधाम ले जाता हूँ। उद्धव! इसीलिये मैंने गोपियों की कामासक्ति को निष्काम स्थिति में ला कर उन्हें सचमुच ही सायुक्त मुक्ति दिलायी। मैंने गोपियों के साथ कामविलास किया या उन्हें पूर्ण रूप से कामयुक्त किया इसका विचार न कर मूर्ख लोक कृष्ण ने व्यभिचार किया ऐसा आरोप लगाते हैं। भक्तों को यदि सालोकता प्रिय

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हो तो मैं उन्हें रहने के लिये वैकुण्ठ में ले जाता हूँ। भक्त यदि सामिप्य चाहते हैं तो मैं उन्हें अपना प्रिय बनाता हूँ। जिस प्रकार तुमसे मन की बात करने में मुझे अच्छा लगता है, उसी प्रकार हे उद्धव! तुम मुझे जिस प्रकार अच्छे लगते हो, उसी प्रकार मैं उससे प्रीति करता हूँ। भक्ति यदि सरूप माँगे तो मैं उसे चतुर्भुज बनाता हूँ और शंख, चक्र आदि आयुध देकर उसे मेघ जैसा सुन्दर साँवला वर्ण देता हूँ। मुकुट, कुण्डल, करधनी पहनने के लिये पीला पीताम्बर, बाजूबंद, पैर में पायल और गले में मेरे ही जैसा कौस्तुभमणि। आकारस्वरूप, गुणलक्षण, वीर्य, शौर्य, पूर्ण गाम्भीर्य, रूप-लक्षण ठीक एक जैसे। लक्ष्मी यदि दोनों को एक साथ देख ले तो वह भी नहीं जान पायेगी कि इनमें भगवान कौन हैं? सेवकों का सेवाकर्म रुक जाता है क्योंकि वे सेवा करें तो किसकी? छत्रधारण करने वाला भी मन में विचार करता है कि मैं छत्र किसके ऊपर धारण करूँ? चँवरी हिलने वाला भी चँवर किस पर हिलाये? ब्रह्मादि देवतागण प्रणाम करने आते हैं, वे भी आश्चर्य करते हैं। दोनों में आदि देवता कौन हैं, यह उनकी भी समझ में नहीं आता। जिस प्रकार एक दीप से दूसरा दीप जलाने के बाद यह समझ में नहीं आता कि इनमें पहला दीप कौन-सा है, उसी पकार मेरी सरूपता प्राप्त होने के बाद दूसरे को वह भी नहीं पहचान पाता। जिस प्रकार दर्पण में एक-सा प्रतिबिम्ब देखने पर वही असली बिम्ब मालूम होता है, उसी प्रकार सरुपता की शोभा रहती है। दोनों का ठाठ एक जैसा। भगवान प्रसन्न होकर अपनी सारी सरुपता दे देता है लेकिन हृदय पर अंकित वह ब्राह्मण का चरण वह अविनाशी श्रीवत्सलांछन कदापि नहीं देता। विष्णु स्वयं ही कहते हैं, श्रीवत्सचरण देने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है। वह सामर्थ्य ब्राह्मणों के पैर में है। उन ब्राह्मणों के चरण हृदय में धारण करने से ही वह मिलेगा। सरुपता में भगवान और भक्त को पहचानने की यही निशानी है। जिसके हृदय पर श्रीवत्सलांछन रहता है, वही सबका स्वामी श्रीविष्णु है। इस प्रकार की सरुपता प्राप्त होने पर भी एक देवता है तथा दूसरा भक्त है, यह भेदभाव उनमें रहता ही है। भगवान और भक्त इनमें जब तक भेद है तब तक सरूपता करना भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि जब तक अद्वयज्ञान नहीं होता, तब तक परमानन्द उत्पन्न नहीं होता। इसलिये भिन्नत्व की बात न कर भक्त सायुज्यता ही माँगता है। उस निरूपण की कथा अत्यन्त मधुर है। वह कथा केवल मैं ही जानता हूँ। सायुज्य की जो मिठास है, वह केवल मैं ही जानता हूँ। उद्धव! उसे भी मैं तुम्हें विस्तारपूर्वक बताऊँगा। सरूपता से देह की समानता भले ही प्राप्त हो जाय लेकिन हृदय में मैं और तुम वाला भेदभाव रहता ही है। इसलिये ऐसी सरूपमुक्ति से भी ज्ञानी भक्त लुब्ध नहीं होते। मेरा स्वरूप प्राप्त कर मेरे भक्त मेरा स्वतः सिद्ध भजन करना छोड़, मेरे भक्त मन से भी भेद का स्पर्श नहीं करते। देवता के साथ भक्त भी अनादि सिद्ध हैं। वे मूलतया अभेदरूप हैं। ऐसा होते हुए जो जान-बूझ कर भेद मानता है उसे भक्तिहीन तथा मायिक समझना चाहिये। आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी ये सारे भेद मायिक भक्ति ने किये हुए हैं। किन्तु अभेदभाव से जो मेरा भजन करते हैं, उन्हें सायुज्यता-मुक्ति प्राप्त होती है। राजा और रंक जिन्हें एक जैसे हैं, उनका मन किसी को वंद्य और किसी को निंद्य नहीं मानता, जिनमें देहाभिमान नहीं होता, उन्हें सायुज्यता प्राप्त होती है। जिस प्रकार हमारी परछाई मिथ्या ही हमसे चिपकी रहती है, उसी प्रकार जो इस देहबुद्धि को मिथ्या समझता है, उसे ही सायुज्यता प्राप्त होती है। छाया हमारे ही साथ जन्म लेकर हमारे ही साथ बड़ी होती है, फिर भी उसके प्रति मेरी जैसी ममता किसी के मन में उत्पन्न नहीं होती। उसी प्रकार जिसे देह के दुःख की बाधा नहीं होती, उसे ही निश्चित रूप से सायुज्यता प्राप्त होती है। देह की विषयासक्ति भूलकर जो मन से अभेदभक्ति करता है, उसे ही हे उद्धव! सायुज्ययुक्ति प्राप्त होती है। अपनी देह में जिसमें 'मैं' पन उत्पन्न नहीं होता, किसी प्राणी में जो 'तू' के भाव से नहीं देखता उसे पूर्णरूप से सायुज्ययुक्ति प्राप्त होती है। उद्धव! जितना मेरे आत्मा का विस्तार है, उतनी ही उसे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आत्मप्रतीति होती है। इसलिये उसे सहज ही सायुक्त मुक्ति प्राप्त होती है। मेरा देह विष्णूस्वरूप है ऐसा देहाभिमान उसमें कदापि उत्पन्न नहीं होता। वह विष्णु के देह को और अपने देह को मिथ्या ही समझता है। इसलिए वह सरूपता की कामना नहीं करता। अपनी ही जगह यदि विचार किया जाय तो देह के रूप में जो भी कुछ है, वह सब मिथ्या है ऐसा लगता है। तो फिर सरूपता कहाँ रही? सायुज्यता प्राप्त होने के बाद ब्रह्म के सिवाय कोई रीता स्थान दिखाई ही नहीं देता। समस्त प्राणिमात्र में एकात्मता होना, इसी का नाम वास्तव में सायुज्यता है। अनेक प्रकार के रूपों से संसार भरा है, उसे वह अपना ही अंग समझता है, मैं ही अभंग सर्वात्मा हूँ, ऐसी जिसकी भावना होती है, उसी को पूर्ण सायुज्यता प्राप्त होती है। अंतर्बाह्य मैं ही व्याप्त हूँ, सभी स्थावर-जंगम में मैं अकेला ही व्याप्त हूँ, चराचर का आत्मा मैं ही हूँ, ऐसा जो मानता है, उसके घर में सायुज्यता चाकरी करती है। सर्वत्र मैं एक अकेला ही एकत्त्व से भरा हुआ हूँ, ऐसी जिसकी समझ रहती है, जिसका द्वैतभाव नष्ट हुआ रहता है वही सचमुच सायुज्यता प्राप्त करता है। सारांश, भावपूर्वक जो मेरे भक्त जिस किसी भी वस्तु की इच्छा करते हैं, उसकी आपूर्ति मैं श्रीपति करता हूँ। इस प्रकार भक्तों को चारों मुक्ति प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त भी मेरे और प्रिय भक्त हैं। अपनी भक्ति के प्रताप से वे अत्यन्त प्रतापी रहते हैं। उनके भजन का शौर्य विचित्र रहता है। वे निरन्तर इच्छारहित होकर मेरे भजन में ही मग्न रहते हैं। आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी इन बातों का विचार न कर वे निरन्तर इच्छारहित होकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं। वे सलोकता, समीपता और सरूपता बिलकुल स्वीकार नहीं करते और सायुज्यता भी नहीं माँगते। वे इच्छारहित होकर भगवान का भजन करते रहते हैं। इसी का नाम है सच्ची भक्ति। भजन के सामर्थ्य का एक बहुत बड़ा चमत्कार है। वह यह कि चाह से ही चाह उत्पन्न होती है और अधिक से अधिक उत्कर्ष से क्षण-प्रतिक्षण प्रेम की नयी माधुरी उत्पन्न होती है। सचमुच, मेरे प्रति रुचि के कारण वह अपना सर्वस्व मुझे अर्पण करता है, फिर भी उसके अंत:करण में कोई परिवर्तन नहीं होता। भक्तिभाव से वह भजन के प्रति इतना अधिक आश्वस्त रहता है। देवाधिदेव एक मैं हूँ, समस्त प्राणियों में मेरा आत्मा है, ऐसी जिसकी भावना हो जाती है, उसके मन में कोई कितने ही विकल्प, विकृति अथवा संशय उत्पन्न करने का प्रयत्न क्यों न करे लेकिन उनका प्रयास सार्थक नहीं होता। भक्ति की महत्ता आश्चर्यजनक है। वह भक्त सारे पुरुषों-स्त्रियों में मुझे ही देखता है। श्वान, शूकर आदि में मेरा ही रूप देखकर उनको प्रणाम करता है। उसके भजन की महत्ता आश्चर्यजनक है। ऐसे भक्त सायुज्यादि चारों मुक्ति मुझ पर न्योछावर कर देते हैं। इतनी असीम उनकी भक्ति रहती है। कितना ही बड़ा संकट क्यों न आ जाय लेकिन वे दूसरे के पास मिन्नत करने नहीं जाते। वे जानते हैं कि रामनाम के सामने वह विघ्न कुछ नहीं कर पायेगा। चाहे बिजली की गर्जना से आकाश नीचे गिरता सा मालूम पड़े अथवा पृथ्वी उलटने लगे, लेकिन वह श्रीहरि का नामस्मरण करता रहता है। ऐसी एकनिष्ठ प्रीति देखकर मैं लक्ष्मीपति उसके मोह में पड़ जाता हूँ और फिर कुल और जाति का विचार न कर उसके घर की ओर दौड़ पड़ता हूँ। ऐसे भक्त वैकुण्ठ की राह नहीं खोजते, वरन् उनके घर को ही मैं वैकुण्ठ बना देता हूँ। फिर वहाँ ज्ञान की भोर होती है, और संतों का समुदाय एकत्र होने लगता है। उपनिषद उनके पास आते हैं; स्वधर्म आनन्दपूर्वक उनके पास रहने के लिये आता है और नारद, सनकादिक आदि को उस घर से लगाव-सा हो जाता है। वे नाम के माहात्म्य का घोष करते हैं। बड़ी चाह से मेरी यशोगाथा का गान करते हैं। मेरे रामनाम के आगे सुख-दु:ख के द्वंद्वों की कष्टदायक स्थिति शेष ही नहीं रहती। मेरी ऐसी भक्ति देखकर आत्मशान्ति अत्यन्त प्रेम से उनके पास दौड़ती चली आती है और वहाँ आकर जब वह प्रसन्न हो जाती है तो जाने की बात ही भूल जाती है। जो भी दूषण उनका छल करने के लिये आते हैं,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वे सब उनके भूषण हो जाते हैं। इसी का नाम है मेरी भक्ति की प्रसन्नता। सायुज्यादि जो चार मुक्तियाँ हैं, वे सब वहाँ उनकी सेवा में उपस्थित रहती हैं, वे जहाँ विषय सेवन करने लगते हैं, वहाँ सायुज्य युक्ति ही उनकी सेवा करती है। ऋद्धि-सिद्धि उसके घर की दासी बन कर रहती हैं, फिर भी वह उनकी इच्छा नहीं करता। उसकी सारी दारोमदार मेरी भक्ति पर ही रहती है। निश्चयपूर्वक की हुई ऐसी भक्ति देखकर मैं भी उस पर अनन्य प्रीति करता हूँ। भक्त जहाँ मेरी बाट जोहते हैं, वहाँ मैं लक्ष्मीकांत स्वयं ही प्रकट होता हूँ। भक्त सहज ही जो बात करता है, वह बात मैं स्वयं ही बन जाता हूँ। उसकी बातों में अंतर्बाह्य मैं ही शब्दार्थरूप में रहता हूँ। वह मौज में कंकड़ से खेलने लगता है तो वह कंकड़ भी मुझे ही बनना पड़ता है। वह कृपालु होकर जिसकी ओर देखता है, उसके मजबूत सांसारिक बन्धन मैं तोड़ देता हूँ। वह जिधर दृष्टि घुमाता है, उधर मैं सुखों की सृष्टि बना देता हूँ। वह जिसका उद्धार करने के लिये कहे, उसे मैं अपने पद पर आसीन कर देता हूँ। उस पर जरा सा भी संकट आ जाय तो उसे समाप्त करने के लिये मैं दौड़ पड़ता हूँ। जो भी उसका नाम लेते हैं, उनका मैं पूर्णरूप से उद्धार करता हूँ। नन्हे बालक की चिन्ता जिस प्रकार उसकी माँ को होती है, उसी प्रकार मुझे भक्तों की चिन्ता रहती है। उनकी सेवाचाकरी करने में मैं जरा भी नहीं शरमाता। माँ जिस प्रकार अपने बच्चों का लाड़-प्यार करती है, उसी प्रकार मैं उनसे लाड़-प्यार करता हूँ। उनका प्रेम ही मुझे प्यारा लगता है। अन्य उपचारों की मुझे इच्छा ही नहीं है। मैं शरीर हूँ और वह मेरा आत्मा है। प्यारा भक्त ही हमें अच्छा लगता है। भक्ति की महिमा कितनी ही महान क्यों न हो लेकिन प्रिय व्यक्ति पर उसकी मात्रा का प्रभाव नहीं होता। प्रेमी के पास ही भक्ति की मर्यादा समाप्त होती है। शायद काल उसका संहार करेगा इसलिये उसके भीतर और बाहर मैं अपने शरीर का किला ही तैयार करता हूँ। प्रेमियों का मुझ पर इतना अधिक प्रेम है। ऐसी स्थिति में काल के ही भय से मैं अपने भक्तों को ब्रह्मस्वरूप के मार्ग पर लगाता हूँ और अत्यन्त ध्यानपूर्वक उन्हें अपने स्वरूप में पूर्णरूप से आत्मसुखी बनाकर रखता हूँ। ऐसे भक्तों का जो स्वाभाविक कृत्य है, वही मेरी प्रीति की पूजा है। वह जो देखता है, वही मेरा दर्शन है और वह जो कुछ बोलता है वही मेरा वास्तविक स्तोत्र है। वह स्वयं जो भोजन करता है, वही मेरे लिये नैवेद्य समर्पण है। उसकी निद्रा ही मेरी पूर्ण समाधि है। उसकी आँखों का खुलना बन्द होना मुझे बड़ा अच्छा लगता है। उसका श्वासोश्वास मुझे अत्यन्त सुख प्रदान करता है। भक्तों के शरीर की जो स्वाभाविक स्थिति रहती है उससे मैं लक्ष्मीपति अत्यन्त आनन्दित होता हूँ। ऐसे प्रेमी भक्त मुझे बहुत भाते हैं। मेरे भक्तों पर मेरी एकनिष्ठ प्रीति रहती है। जो भक्त चारों पुरुषार्थों का स्पर्श नहीं करते और चारों मुक्तियों को दूर कर प्रेम से मेरी ही भक्ति करते हैं, वे मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त करते हैं। गंगा समुद्र में मिलकर एकरूप से उसमें ऐसे मिल जाती है कि वह गंगा ऐक्य रूप से उसकी ही होकर उस पर लोटने लगती है। उसी प्रकार मेरा भक्त भक्ति के सामर्थ्य से मुझसे मिलकर मेरी भक्ति का सुख मुझमें ही भोगता है। युवा स्त्री यौवन के मद से सर्वांग से उस यौवन का उपभोग करती रहती है, उसी प्रकार भक्त मुझसे मिलकर मेरी भक्ति का वैभव भोगता रहता है अथवा सत्रहवीं कला का माधुर्य चन्द्रमा स्वयं ही जानता है, उसी प्रकार मैं बन कर मेरा भजन किस प्रकार किया जाय यह सज्ञानी भक्त जानते हैं। वैसे जाति, स्वभाव के अनुसार सभी स्थानों का जल एक जैसा होता है किन्तु वही जल गंगा, यमुना इन नामों से प्रयाग में एकत्र होता है और उस संगम पर लोगों का उद्धार करता है। उसी प्रकार मुझसे ऐक्य होने पर भाविक भक्त भी बड़ी योग्यता प्राप्त करता है। उसके अनुसार मेरे भक्त मुझसे मिलकर एकनिष्ठ होकर मेरा भजन करते हैं। ऐसे भजन से, मेरे साथ ऐक्य होने के कारण भाविक, सात्त्विक और अत्यन्त दीन लोगों का उद्धार होता है। पृथ्वी तो सम्पदा से भरी हुई है ही लेकिन भाग्यवान के बिना उस द्रव्य की प्राप्ति नहीं होती।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चारों पुरुषार्थों को छोड़कर जो चारों युक्तियों की उपेक्षा करते हैं और पाँचवें पुरुषार्थ की भक्ति करते हैं, वही उद्धव! मुझे प्रिय है। ऐसी ही भक्ति से मैं प्रेम करता हूँ। ऐसे ही भक्त मेरे लाडले रहते हैं। मुझ जैसे निरिच्छ को उनका कौतुक होता है। उनका प्रेम मधुर होता है। हम प्रेम के अतिथि और भाव के सेवक हैं। मुझ एकनिष्ठ की जीव प्राण से सर्वस्व सेवा करें। मेरा नाम आत्माराम है। मेरी सारी इच्छाएँ नष्ट हो चुकी हैं। फिर भी मैं अपने प्रिय भक्तों की इच्छा मन में रखता हूँ क्योंकि मेरे प्रति उनका प्रेम अत्यन्त मधुर है। फिर मैं अपने प्रिय भक्त को अपने साथ कर लेता हूँ और अन्त में उसे अपना ही सुख देता हूँ क्योंकि मुझे प्रेम से अत्यन्त प्रेम है। प्रेम मुझसे भी अधिक मूल्यवान है। मैं उसकी बराबरी नहीं कर सकता इसलिये यदि मैं अपना सुख उसे नहीं दे पाता तो मैं उसका ईमानदार सेवक बनकर रहता हूँ। प्रेम की सच्ची आत्मीयता और भावार्थ का लक्षण जानने वाला एक मैं श्रीकृष्ण ही हूँ। अन्य लोग इसे नहीं जानते। मुझे गोपियों के सान्निध्य में सुख मानने का क्या कारण था? लेकिन उनका प्रेम अत्यन्त निर्मल था, इसीलिये उद्धव! मेरे मन में उनके प्रति अतीव चाह उत्पन्न हो गयी। क्या कुब्जा सुन्दर थी? लेकिन मुझे उसके प्रेम की चाह थी। मैं वन में जाकर राधा की प्रार्थना करता था, वह क्या विषयासक्ति के लिये? गोपालों ने भी कितनी भक्ति की! क्या वे छूत थे या अछूत थे? लेकिन उनके जूठे कौर मैंने खाये और उनके प्रेम में डोलता रहा। क्या मैं पाण्डवों का ऋणी था? लेकिन उनके लिये मैंने अनेक कष्ट सहे। मैंने सुदामा के चरण छुए। क्या मैं उसके उपकारों का ऋणी था? क्या मेरे पास अन्न की कमी थी इसलिये यज्ञपत्नियों के पास अन्न माँगने गया था? मैं प्रेमभाव का भूखा हूँ इसलिये प्रेम का आतिथ्य लेने गया था। मुझे गोपियों ने रस्सी से बाँध रखा था, उस समय क्या मेरी शक्ति बन्धन में रहने के लिये क्षीण हो गयी थी? लेकिन उनके प्रेम से ही मेरा पोषण हो रहा था। किसी का एक कौड़ी का भी कर्जदार न होते हुए मैं अर्जुन के घोड़ों को नहलाता था। धर्म के घर की मैंने जूठन भी उठायी। इस प्रकार मुझे प्रेम की अत्यन्त चाह है। वह चाह मेरी लौकिक दृष्टि से लाज लज्जा भी नष्ट करती है और मैं अपने बड़े-बड़े काम भी भूल जाता हूँ। उनकी सेवा करने की मुझे इतनी लगन है। माँ सारे अलंकार पहनाकर बच्चे को अपने माथे पर बिठाती है। उसका लाड़ करती है और यदि इस बीच वह माँ पर थूकता है या पेशाब कर देता है तो उससे घृणा नहीं करती। उसी प्रकार मेरे प्यारे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, मैं श्रीकृष्ण अपने भक्तों का अंकित होकर रहता हूँ और प्रेमवश सदा उनके आगे-पीछे खड़ा रहता हूँ। उद्धव! मेरा यादवों का इतना बड़ा गोत्र है लेकिन केवल तुम ही मुझे इतने प्रिय लगते हो। इसका कारण यही है कि तुम्हें मेरे प्रति अद्‌भुत प्रेम है? भगवान का यह भाषण सुनकर उद्धव ने उनके पैर पकड़ लिये। भगवान को भी अंत:करण में अत्यन्त आनन्द हुआ और उन्होंने उद्धव को तत्काल आलिंगन दिया। हृदय में हृदय एकरूप हुआ, देह का देह से आलिंगन हुआ, मन से मन मिला, तो आत्मानंद आकंठ भरकर बहने लगा। देवता अपना देवत्त्व भूल गये और भक्त को अपना भक्तपन विस्मृत हो गया। दोनों का द्वैत नष्ट होकर वे आत्मानन्द में पूर्णरूप से मग्न हो गये। सेव्य और सेवक का भेद ही समाप्त हो गया। द्वैतभाव की दृष्टि ही बन्द हो गयी। आत्मा की एकता से भक्ति साम्राज्य के सिंहासन पर दोनों की भेंट हुई। स्थूलदेह, लिंगदेह और कारणदेह इन्हीं से देखा चौथा महाकारण, लेकिन उस समय उसका स्मरण किसे होता? इसलिये घना और परिपूर्ण आनन्दमय स्वरूप, जिसे न आदि है न अन्त है वह साक्षात् प्रकट हुआ किन्तु भगवान की परिपूर्णता का अद्‌भुत चमत्कार है। उसने वहाँ भी चमत्कार किया, उसने उद्धव को उसके अस्तित्व का भान नहीं जाने दिया क्योंकि उसने मन ही मन कहा कि मुझे ऐसा भक्त नहीं मिलेगा। अपने मन की बात कहने के लिये मुझे उद्धव के सिवा और कौन मिलेगा? मेरे मन में जो मधुर बातें हैं उन्हें मैं आहिस्ता-आहिस्ता किसे सुनाऊँगा? मेरे निजधाम

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जाने के बाद मेरा जो अपार आत्मज्ञान है, उसके लिये उद्धव एक अच्छा संग्रह का स्थान है। इसलिये उसने उद्धव का भान कायम रखा। उद्धव आत्मानंद में निमग्न हो गया था। उसे श्रीकृष्ण ने अपने हाथों से थपकी देकर होश में लाया। तब कहीं उसे अपने भक्त होने का विश्वास हुआ। उसने कहा, ''हे श्रीकृष्णनाथ! तुम्हारी जय हो। तुमने अभी जो आत्मसुख मुझे दिखाया वह निरन्तर कायम रह सके ऐसी कृपा कीजिये। तब श्रीकृष्ण ने कहा, ''उद्धव! यह मेरे गुप्त ज्ञान की गुप्त निधि है। इसी का नाम 'पाँचवां पुरुषार्थ' है। यह वेदशास्त्रों के लिये दुरूह और देवताओं के लिये दुर्गम है। जिसके कारण मैं पुरुषोत्तम लुब्ध हो जाता हूँ, वह यह भक्तप्रेम का रहस्य है। मुझे वश में करने का मर्म यही है कि अंत:करण में भक्तिप्रेम रखे जिससे चारों मुक्तियों का भ्रम नष्ट हो जाता है और पुरुषार्थ काम भी कम हो जाता है। जिसे मेरी सप्रेम भक्ति है, उसका नाम सुनते ही सारे विघ्न भाग जाते हैं उसे मेरी प्राप्ति के अलावा दूसरी गति प्राप्त कराना किसका सामर्थ्य है? जिसे मेरी अनन्यभक्ति होती है, उस पर मेरी पूर्ण कृपा रहती है। मेरे भक्तों को मेरे सिवाय अन्य कोई गति कल्पांत में भी नहीं हो सकती। भक्तों को यदि वेदविधि से अड़चन उत्पन्न करें तो वह वेद मेरे ही उच्छ्वास से उत्पन्न हुआ है। जो मेरे सकाम भक्त हैं वे भी फल भोगने के बाद निष्काम ही हो जाते हैं और वे भी मेरे ही निजधाम पर आते हैं क्योंकि भक्तों को अन्य कोई स्थान ही नहीं है। जिसके पास मेरी एकनिष्ठ भक्ति है उसके चरणों की सेवा स्वकर्म करता है। विधिनिदर्शक वेद उसके आँगन में खड़े रहते हैं। मेरे भक्त के लिये मेरे अलावा कोई स्थान नहीं है। जिसके अंत:करण में मेरे प्रति सप्रेम भक्ति नहीं है, उसे कर्म निश्चित रूप से बाधक होते हैं। उद्धव! जो अभक्त होते हैं उन्हें कर्म के ही कारण दूसरी गति प्राप्त होती है। जहाँ मेरी सच्ची भक्ति रहती है वहाँ कर्म की गति नहीं चलती। मेरे भक्तों को इसी कारण से मेरी प्राप्ति होती है। भक्तों के मन में समस्त प्राणिमात्र के प्रति जब मेरा ही भाव रहता है तो फिर उनके पास कर्मबन्धन के लिये स्थान ही कहाँ है? कर्म की गति उनके पास जाकर रुक जाती है। मेरे भक्तों को स्वयमेव ही मेरी प्राप्ति होती है। भक्त जमीन पर पैर रखता है लेकिन वह पैर मैंने रखा ऐसा मन में नहीं सोचता। सब कुछ करने वाला भगवान है इसी सत्य को मानता है, इसलिये वह कर्म के बन्धन से भी नहीं बँधता। भक्तों को मेरे सिवा और कहीं गति नहीं है क्योंकि मेरे भक्तों को मेरे ही प्रति एकनिष्ठ प्रीति रहती है। उन भक्तों के भावार्थ की बातें स्वयं श्रीकृष्ण ने ही स्पष्ट करके बतलायीं। 'न मे भक्त: प्रणश्यति' (गीता ९.३१) ऐसा श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा। वही श्रीकृष्ण का बाना है। वह भक्तों को दूसरी गति होने ही नहीं देता। भक्त को शाप देने की बात सुनकर भगवान उस भक्त का पक्ष लेकर तत्काल उठा और सुदर्शन पीछे लगाकर दुर्वासा को त्रस्त कर दिया। अकेले अंबरीष के लिये उसने दस गर्भवास भोगे, वह एकनिष्ठ भक्तों को कोई कमी नहीं होने देता। भक्त का रखवाला श्रीकृष्ण है, यही भक्ति रहस्य की प्रमुख बात है। एकनाथ जनार्दन की शरण में है क्योंकि भक्ति के लिये भावना ही प्रमुख साधन है। शुद्ध भाव के बिना जो भक्ति होती है, वह ढोंग है, ऐसा समझ लो। जिस प्रकार अनाज के न सीझने वाले दाने अपक्व रह जाते हैं, उसी प्रकार वह दंभयुक्त भक्ति अपक्व ही रहती है। 'भक्तियोगस्य मद्गति:' ऐसा मूल श्लोक का पद है। उसे अत्यन्त बढ़ा दिया है, ऐसा श्रोतागण न कहें। 'मद्गति' इस पद का अर्थ कितना है, कौन जाने? उसका रहस्य जाननेवाला पुरुष पृथ्वी पर विरला ही होगा। इसलिये श्रोतागण क्षमा करें। भक्ति मेरी माता है। जिसने प्रेम की धार पिला कर मुझे बड़ा किया और भगवद्जनों में मेरा महत्त्व बढ़ाया, उस भक्ति का महत्त्व यहाँ बहुत कम ही बताया गया है क्योंकि भगवद्भक्ति की महिमा मैं अज्ञानी कैसे जान सकता हूँ? मैंने जो वर्णन किया है वह बहुत ही कम है। इसलिये श्रोतागण मुझे क्षमा करें। भक्ति मेरी सगी माँ है। मैंने अपने तोतले बोलों से, प्रेमवश होकर केवल ग्रन्थों के आधार पर उसके गौरव का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वर्णन किया है। प्रेम की जाति कैसी होती है ? तो वह स्मरण का स्मरण नहीं होने देती। इसलिये उस प्रेम के मूल हेतु की विस्मृति होकर मुझसे भक्ति का रहस्य कहलवाया। जिस प्रकार माँ अपने बालक को बोलना सिखाती है, उसी प्रकार यहाँ भक्ति ने मुझे सवाक् बनाया। इसलिये मैं यहाँ दोष किसे दूँ? जो माँ के वात्सल्य लोभ को प्रकट करे वह मूर्ख है। बल्कि मैंने ही अज्ञानवश गलती की यही सच लगता है। उड़द का काला रंग अपनी जगह है, उसी प्रकार मैंने यहाँ जो गलती की है उसे गलती ही माना जाय। लेकिन इससे भी गुरुनाथ ने मना किया है क्योंकि गलती स्वीकार कर मैं कवि या कर्ता बनना चाहता हूँ, यही सिद्ध होता है। लेकिन गुरुनाथ को 'मैंपन' जरा भी नहीं भाता। कथा परिपूर्ण होने पर भी उस अभिमान से आत्मस्तुति कर मैं 'मैंपन' न लूँ यही लक्षण बताकर गुरु ने 'मैं' 'तू' पन नष्ट कराया। लेकिन यह भाषण देने वाला भी मैं नहीं ही हूँ। मैं कवि भी नहीं हूँ और ग्रन्थकर्त्ता भी नहीं हूँ। यह बात गुरु भी जानते हैं। इस पर श्रोताओं ने कहा, कैसा चमत्कार है! भक्तिसुख का सुखदायी रहस्य—भक्ति परमामृत समुद्र तुमने सचमुच प्रकट कर दिया। भागवत मुख्य रूप से भक्ति प्रधान है। भक्ति का जो सनातन सुख है, उसे पूर्णरूप से करतलामलकवत् खोल कर प्रकट कर दिया। तुमने यह बहुत बड़ा उपकार किया है। स्त्रियों और शूद्रों के उद्धार के लिये और संसार को भजनतत्पर बनाने के लिये तुमने भागवत का सारतत्त्व निकाल दिया है। भागवत का जो गुप्त अमृत है वही भक्तिसुख है, यह तुमने स्पष्ट कर दिया है। इससे समस्त संतगण प्रसन्न हो उठे और श्रोतागण तृप्त हो गये। श्रीकृष्ण ने ही प्रसन्न होकर तुम्हें अपनी भक्ति प्रदान की। इसीलिये तुमने भक्ति की कीर्ति का यथार्थ ढंग से वर्णन किया। तुम्हारी भक्ति का प्रत्येक शब्द ब्रह्मानन्द से भी अधिक गम्भीर है और उसमें भी प्रेम की आर्द्रता होने के कारण ज्ञानानंद का ज्वार आ जाता है। तुम जब आत्मभक्ति का वर्णन करते हो तो तुम्हारा अंत:करण प्रेमपूर्ण होकर बहने लगता है। ग्रन्थ की बात भूल कर तुम भक्ति के माहात्म्य का ही वर्णन कर रहे हो। अपनी ही इच्छा और उत्कंठा से भक्ति के माहात्म्य का वर्णन करते समय तुम्हें अगला-पिछला कुछ स्मरण नहीं रहता। तुम्हारा अवर्णनीय प्रेम हम जान चुके हैं। जैसे-जैसे भक्ति का निरूपण आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे तुम्हारा स्फुरण बढ़ने लगता है। भक्तिसुख का निरूपण होते समय श्रोता और वक्ता दोनों ही उसमें लोलुप हो गये हैं। अमृत प्राशन करते समय तृप्ति की बात कौन करेगा ? लेकिन अब स्फूर्ति को बीच ही मैं रोक कर ग्रन्थार्थ आगे बढ़ायें। संतों का यह वचन सुनकर एकनाथ ने उन्हें साष्टांग नमस्कार किया और कहा, ''अच्छा हुआ, आपने स्मरण दिलाया नहीं तो यह निरूपण समाप्त न होता।'' 'भक्तियोगस्य मद्भक्ति' इस पद का अर्थ बताते समय, जिस भक्ति से भगवत्प्राप्ति अत्यन्त सुलभ होती है, उसका निरूपण किया। यदि यह भगवद्भक्ति न की जाय तो त्रिगुणरूपी डोर से जीवों की अनेक पंक्तियाँ बँध जाती हैं और संसार में जन्म लेती हैं। उस स्थिति का वर्णन श्रीकृष्ण करते हैं।

मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत्।
गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति॥ १५॥

संसार को मुख्य रूप से धारण करने वाला मैं हूँ, ब्रह्मदेव के रूप में उत्पत्ति करने वाला मैं ही हूँ, विष्णु के रूप में पालन करने वाला मैं ही हूँ और रुद्ररूप से संहार करने वाला भी मैं ही हूँ। ये तीन गुण यही काल की सत्ता है, वही मैं सचमुच निजकाल हूँ तथा गुण के स्वरूप के अनुसार उत्पन्न करने वाला, पालन करने वाला तथा संहार करने वाला हूँ। लोगों का वासनाकर्म विचित्र है। वही कालसत्ता का आत्मसूत्र है। उसी से, यह गुणों से बद्ध चराचर संसार खड़ा है। जीव गुणकर्मों के योग से स्वर्ग प्राप्त करता है, और गुणकर्मों के कारण ही नरक में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पहुँचता है। अनेक प्रकार की योनियों के संकट उसे गुणकर्मों के ही कारण भोगने पड़ते हैं। वह बड़े आनन्द से स्वर्ग के सुखोपभोग भोग कर तथा महर्जन तपोलोक भोग कर आगे सत्यलोक तक प्रयाण करता है। इसी का नाम 'उन्मज्जन' है। पशु, पक्षी, स्थावर, वृक्ष, पाषाण, कीट आदि का जन्म लेते-लेते महानरक में अधःपतन होता है, इसी को 'निमज्जन' कहते हैं। ऊँचाई तक पहुँच कर नीचे गिरना, इस उलटफेर में जिन नानाप्रकार के जन्म-मरण का भोग भोगना पड़ता है वह प्रकृति पुरुषों का कार्य है। वही जीवबंधन भोगने को बाध्य करता है।

अणुर्बृहत् कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च॥ १६॥

अणु का अर्थ है अत्यन्त सूक्ष्म; बृहत् का अर्थ है अत्यन्त बड़ा; कृश का अर्थ है साधारण; और स्थूल का अर्थ है पूरी तरह जड़ अवयवों से युक्त, ऐसा जो भी दिखायी देता है, प्रसिद्ध होता है, वह सब प्रकृति और पुरुष के संयोग से बना है। जो दो पदार्थों के संयोग से बना है, जिसे संसार कहते हैं वह मूर्तिमंत प्रकृतिपुरुषमय ही है। तीसरा स्वरूप होता ही नहीं है। अब इन दोनों के अलावा जो अवयवरहित है, जहाँ से इन दोनों का भी उद्धव होता है, वही सर्वत्र सभी दृष्टियों से व्याप्त परब्रह्म देवाधिदेव बता रहे हैं।

यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः॥ १७॥

प्रकृतिपुरुष के साथ जो यह साकार चराचर दिखाई देता है, वह जिस प्रकार आदि और अन्त में नश्वर है, उसी प्रकार वह मध्य में भी नश्वर है। आभूषण बनाने के पहले जो सुवर्ण होता है वह अलंकार तोड़ने के बाद भी सुवर्ण ही रहता है और मध्य में भी वही शुद्ध सुवर्ण अलंकार के रूप में सुशोभित रहता है। मिट्टी का गोकुल बनाने से पहले मिट्टी ही रहती है, और गोकुल तोड़ने के बाद भी शुद्ध मिट्टी ही रहती है। वही मिट्टी गोकुल के रूप में भी मिट्टी ही रहती है। उसी प्रकार आदि, मध्य और अन्त में अविनाशी ब्रह्मतत्त्व ही रहता है। तीन गुणों के प्रभाव से विकृत जो यह साकार चराचर दिखायी देता है वह स्वप्न की बातों की ही तरह मायिक होता है। समस्त विकारों का कारण अविद्या ही है। उन विकारों की सत्यता स्थापित करने में अविद्या ही उजागर होने लगती है। यह मर्म ज्ञाता जानते हैं किन्तु अज्ञानी लोग इसे न जानकर अविद्या को ही सत्य मानते हैं। अविद्या अविद्यकत्त्व के कारण मिथ्या है और ब्रह्म अपने ब्रह्मत्व के कारण सदा सम्पन्न है। इसी बात का निरूपण स्वयं श्रीकृष्ण करते हैं।

यदुपादाय पूर्वंस्तु भावो विकुरुतेऽपरम्।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते॥ १८॥

जिस प्रकार निद्रा के योग से हम स्वप्न से एक से अनेक हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति को अंगीकार करने के कारण ब्रह्मा से अनेक लोग हो जाते हैं। जिस प्रकार तंतु से करोड़ों वस्त्र बनते हैं, फिर भी करोड़ों वस्त्रों में तंतु एक जैसा एक ही रहता है; वस्त्र का आदि, मध्य और अन्त देखने पर उसमें तंतु के अतिरिक्त और कोई भी दूसरी चीज नहीं दिखायी देती उसी प्रकार प्रकृति पुरुषादि सारे लोक परब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं। इसलिये वो आदि, मध्य और अन्त में एक परब्रह्मस्वरूप के ही हैं। उसमें द्वैत की बात ही नहीं रहती। तंतु वास्तविकता है किन्तु वस्त्र मायिक है। उसी प्रकार परब्रह्म सत्य और माया झूठी है। उद्धव! जो आदि, मध्य और अन्त में एक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रहता है वही शुद्ध सत्य है। जिस प्रकार लकड़ी की गुड़िया लकड़ी के ही अवयवों से शोभा देती है उसी प्रकार ब्रह्म ब्रह्मस्वरूप से एक ही है तथा संसार के रूप में शोभायमान होता है। जिस प्रकार देह एक होकर भी अनेक प्रकार के अवयवों के कारण भिन्न दिखायी देता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी एक ही होने पर भी वह अनेक स्वरूपों में भासित होता है। जिस प्रकार पानी में ही क्रीड़ा करते हुए पानी तरंगों की अनेक मालिकायें उत्पन्न करता है, उसी प्रकार परब्रह्म की लीला से ही संसार आदि वस्तु समुदाय प्रकट होता है। तरंगों के आदि, मध्य और अन्त में जिस प्रकार पानी के रूप में पानी ही रहता है, उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और लय में ब्रह्म ब्रह्मरूप से अविनाशी रहता है। इसलिये ब्रह्म सत्य है और प्रपंच मिथ्या है यह विचार साधकों के समझने के लिये कार्यकारणों में अभिन्नभाव है, ऐसा देवाधिदेव ने कहा। कार्य यदि कारण से अभिन्न (एकरूप) है तो फिर ब्रह्म में माया भिन्न कैसे हुई? इस शंका के समाधान के लिये ही ब्रह्म स्वयं ही जगद्रूप से परिपूर्ण सजा हुआ है, यह बता दिया है। ब्रह्म, माया और काल की गति अनादि है, ऐसा कहते हैं लेकिन वह भी तर्कसंगत नहीं है। इसी उद्देश्य से श्रीकृष्ण बताते हैं।

प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्॥ १९॥

माया कभी ब्रह्म से अलग नहीं दिखायी देती। वह ब्रह्म के ही आश्रय में बढ़कर गुणों का कार्य बढ़ाती है। माया का नियंता स्वयं परब्रह्म ही है अतः उसके पास पुरुषत्व है। माया उस पुरुष की अत्यन्त प्रिय है। इसीलिये उसे प्रकृति कहते हैं। ब्रह्म से पुरुष भिन्न है, यह कहना गलत है। ब्रह्म और पुरुष एक ही के नाम हैं। माया और प्रकृति ये जो दो नाम हैं, उन दोनों का अर्थ 'माया' ही समझना है। वह माया कुछ अलग ही प्रकार का अविद्यात्मक कार्य प्रकट करती है, इसलिये उसे 'अविद्या' कहते हैं। यह ध्यान में रखो की माया ब्रह्म की शक्ति है। लेकिन वह भी ब्रह्म से एकरूप हो चुकी है। वह क्षणार्ध के लिये भी उससे अलग नहीं रहती। वह सदा ब्रह्म में ही लीन रहती है। शूरों का शौर्य जिस प्रकार शूरों से अलग नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म में यह मायाशक्ति सदा एकरूप रहती है। माया ब्रह्म में ही रहती है लेकिन जब तक उसका क्षोभ नहीं होता तब तक वह दृष्टिगोचर नहीं होती। माया को क्षुब्ध करने वाला काल है। इस काल से ही लोगों की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म की सत्ता ही काल है। वह काल स्वयमेव प्रकृति को क्षुब्ध करता है और उत्पत्ति, स्थिति और लय का दर्शन कराता है। वह काल भी ब्रह्म से एकरूप है। जिस प्रकार राजा के लड़के को राजा ही वश में रख सकता है उसी प्रकार प्रकृति से जो काल जन्म लेता है उसे वह अपनी सत्ता से नष्ट करती है। वैचारिक दृष्टि से देखें तो काल और परमात्मा दोनों एकरूप हैं। इसीलिये प्रकृति, पुरुष और काल में एकरूपता रहती है। ब्रह्म, काल और माया का सम्बन्ध ऐसा है कि ये तीनों मूलरूप से ही एकरूप हैं। उनमें व्यावहारिक दृष्टि से जो भेद है, वह मिथ्यत्व के कारण असंबद्ध ही है। ब्रह्म एक ही है। प्रकृति और पुरुष के स्वरूप कालरूप से अलग मालूम होते हैं। यदि उन्हें अखण्डत्व से देखें तो मैं श्रीकृष्ण परमात्मा ही हूँ। उत्पत्ति से पूर्व पूर्ण ब्रह्म मैं हूँ, उत्पत्ति का आदिकारण जो ब्रह्म है वह मैं हूँ और स्थिति काल में ब्रह्मरूप में मैं ही हूँ। इस प्रकार मैं स्वयं ही एक में अनेक रूप दिखाता हूँ। अपनी ही लीला से सृष्टि के अन्त में, प्रलयके बाद मैं परिपूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता हूँ। इसी अर्थ का निरूपण श्रीकृष्ण स्वयं करते हैं।

सर्गः प्रवर्तते पौर्वापर्येण नित्यशः।
महान् गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम्॥ २०॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पिता, पुत्र इस परम्परा से संसार अत्यन्त विशाल बन गया है। यह बिलकुल अखण्ड निरन्तर रहने वाला तथा अत्यन्त असाध्य रूप में बढ़ा हुआ है। यह कैसे हुआ? उसके सम्बन्ध में भी श्रीकृष्ण बता रहे हैं। विषयों की आसक्ति से वृत्ति वासनानिष्ठ हो जाती है और वह देवभावना से अत्यन्त प्रेम से संसार का स्वरूप बढ़ाती है। जो देहाभिमान उफन रहा होता है, वह उस परब्रह्म में जीवत्व उत्पन्न करता है और नाना प्रकार की योनियों में जन्म-मरण मुख्य रूप से बढ़ाता रहता है। इस प्रकार ब्रह्मदेव की आयु तक ऐसे ही कायम रहता है और महाप्रलय के समय सृष्टि का संहार होता है। एक नित्य प्रलय चल रहा है और एक दैनंदिन प्रलय है। उसी प्रकार एक कर्मजन्य प्रलय होता रहता है और एक अन्य प्रलय होता है। लेकिन इन सारे प्रलयों से अधिक श्रेष्ठ ब्रह्मप्रलय है। वह सारी सृष्टि का संहार करता है और संसार में कुछ भी शेष नहीं रहने देता। ब्रह्मप्रलय में सृष्टि का विनाश करना और फिर नये कल्प के प्रारम्भ में सृष्टि की रचना के लिये ऊँच-नीच नाना प्रकार की योनियों के लिये तैयार करना, इसका क्या तात्पर्य है? ब्रह्म प्रलय में सृष्टि का विलय अवश्य होता हे लेकिन पूरी तरह विनाश नहीं होता। वासनारूप बीज कुछ शेष रह जाता है जो अविद्या के अंग में पूर्ण रूप से रच-बस गया होता है। उसी वासनारूप बीज से कल्प का प्रारम्भ होता है। ब्रह्मदेव के रूप में मैंने स्वयं ही मुझसे अनुग्रह कर वह सूक्ष्म कारण दिखलाने को बाध्य किया। जिस प्रकार वर्षाऋतु में नानाप्रकार की घास बढ़कर शरद ऋतु में अपने पूर्णत्व पर पहुँचती है और उसके ही बीजकण गर्मियों में पृथ्वी से मिल जाते हैं। वे चारों ओर बिखरे रहते हैं लेकिन किसी को दिखायी नहीं देते उसी प्रकार प्रलय के अन्त में संसार वासना बीज के रूप में अव्यक्त शेष रहता है। जिस प्रकार गर्मियों में इधर-उधर बिखरे हुए बीज वर्षाकाल में बारिश होते ही जोर से बढ़ते हैं और नाना प्रकार की घास पहले की ही तरह बढ़ती रहती है। उसी प्रकार उत्पत्ति काल में सूक्ष्म वासनारूप बीजांकुरों से अनेक योनियों में चराचर और स्थावर-जंगमात्मक संसार बढ़ता जाता है। ब्रह्मदेव के प्रलय में भी सृष्टि का पूर्ण रूप से विनाश नहीं होता। इसीलिये संसार अनंत है ऐसा वेदशास्त्रों ने प्रतिपादन किया है। लेकिन इस प्रकार संसार अनंत होते हुए भी इसका नि:शेष विनाश हो सकता है इसी अर्थ का श्लोक का शब्दार्थ श्रीकृष्ण ने सुनाया। 'ईक्षण' का अर्थ 'सद्गुरु की पूर्ण कृपादृष्टि' है। जिनके योग से ब्रह्मज्ञान प्रकट होता है, वही मेरा कृपावलोकन है। यदि ब्रह्मज्ञान पूर्ण प्रकट हो जाय तो संसार का अस्तित्व ही मानो समाप्त हो जाता है। फिर ब्रह्म ही ब्रह्मरूप से, पूर्ण स्वरूप से रहता है। 'मैं' 'तू' की बात समाप्त हो जाती है। फिर ध्रुव मण्डल की बात ही समाप्त हो जाती है। 'मैं' 'तू' पन खो जाता है, देवता, भक्त और भजन यह भेद नष्ट हो जाता है। सगुण भक्ति का भान उड़ जाता है और सदा सर्वदा ब्रह्म ही शेष रहता है। प्रपंच नाम की कोई बात भी मिथ्या लगने लगती है। या आगे कभी होगा ऐसा कल्पांत में भी नहीं घट सकता। यह अत्यन्त प्रलय का लक्षण है, वह भाग्य के बिना कभी समझ में नहीं आएगा। जिन्हें सचमुच ही सद्गुरुचरणों का लाभ हुआ है, वे भाग्यवान लोग ही उसे समझ सकते हैं। अत्यन्त प्रलय की गति सबकी समझ में नहीं आती क्योंकि, उद्धव! वह वास्तव में परमनिर्वाण की ही गति है। जिसका अहंकार समाप्त हो जाता है, उसकी कल्पना भी नि:शेष होती है और उसी को आत्मस्वरूप का बोध होने के कारण अत्यन्त प्रलय का लाभ होता है। देहावसान होते ही प्रलय हुआ यह कहना बिलकुल असत्य है। यदि आत्मनिष्ठा हो तो जीवित अवस्था में ही यह प्रलय प्राप्त हो सकता है। जीवित अवस्था में यह प्रलय हो जाय तो उसके कारण संसार का बीज ही जल जाता है। अब ब्रह्मप्रलय के सम्पूर्ण लक्षण बताता हूँ, सुनो। ब्रह्माण्ड प्रलय का जो क्रम है, उसमें अन्त में पूर्ण ब्रह्म शेष रहता ही है। उद्धव को जानने के लिये पुरुषोत्तम यह मर्म बतलाते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विराण्मयाऽऽसाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः।
पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह॥ २१॥

चौदह लोकों के साथ इस प्रचण्ड ब्रह्माण्ड की रचना काल ने कल्पना से की है। उसके अस्तित्व के समय से ही उसका पालन-पोषण कर उसके विनाश का प्रयत्न भी काल ही करता है। ऐसा वह काल कौन है? यदि तुम यह प्रश्न पूछते हो तो समझ लो कि उस काल का आत्मा मैं ही हूँ। उसी कालस्वरूप से मैं सृष्टि की ओर संहार की दृष्टि से देखता हूँ। पंचमहाभूतों के जो भिन्न-भिन्न विभाग हैं, उनकी रक्षा काल ने ही की है। उस सत्ता को जब मैं समेट लेता हूँ तो पंचमहाभूतों में अफरातफरी व्याप्त हो जाती है। जिस प्रकार उत्पत्ति का क्रम है, उसी प्रकार प्रलय का भी क्रम है। भूतों में ही भूतों का सहज विलय हो जाता है। यही बात श्रीकृष्ण बताते हैं।

अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते॥ २२॥

प्रलय की दृष्टि से देखें तो अनावृष्टि छा जाती है और सृष्टि में अन्न की कमी हो जाती है, अन्न क्षीण होने से शरीर भी क्षीण होता है। यहाँ 'अन्नमय प्राण' होता है यह वचन प्रत्यक्ष है ही। अन्न कम होने पर प्राणियों के प्राण भी निकल जाते हैं। अन्न की बाढ़ रुक जाने से वह स्वयं बीज रूप में ही रहता है। किन्तु उद्धव! वह तत्काल पृथ्वी में ही एकरूप हो जाता है। इतने में बारह सूर्यों का समुदाय सूर्यमण्डल में एकत्र होता है। वह पर्वत, पत्थर आदि को भी भस्म कर देता है और घास को भी शेष नहीं रहने देता। उसके कारण सप्त पाताल तप्त हो जाते हैं और शेष का मस्तक झुलसने लगता है। वह विषाग्नि की ज्वाला उगलने लगता है और उसकी ज्वाला भड़कने लगती है। शेष के मुख से निकली उस अग्नि से पृथ्वी पर की सभी वस्तुएँ जल जाती हैं। तत्काल सारा ब्रह्माण्ड जल जाता है और पृथ्वी पूरी तरह भस्म हो जाती है। उस समय पृथ्वी का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह केवल गन्धस्वरूप से शेष रहती है। फिर वह गन्ध भी पानी में घुल जाता है, यही बात श्रीकृष्ण बताते हैं।

अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते॥ २३॥

उस समय प्रलय मेघों के विराट समुदाय सूँड़ जैसे विशाल धाराओं से भयानक वृष्टि करते हैं। इस प्रकार सौ वर्ष तक अखण्ड वर्षा होने के कारण सात समुद्रों का समुदाय एकत्र होता है। चारों ओर जल ही जल एकत्र हो जाता है और उसमें पृथ्वी का बचा-खुचा अंश गन्ध में घुल जाता है। उस समय चारों ओर एकत्र जल प्रलय की सार्थकता को सिद्ध करता है। सांवर्तक मेघों की पहचान यह है कि वे प्रलयकाल में सभी समुद्र एकत्र करते हैं और पृथ्वी को उसमें घोलकर स्वयं भी घुल जाते हैं। उस समय अत्यन्त भीषण सांवर्त अग्नि क्षुब्ध होता है और वह सभी जगह का पानी सुखाकर केवल रस शेष रखता है। फिर रस के रूप में जो पानी शेष रहता है, वह भी तेज में विलीन हो जाता है और फिर वही तेज दसों दिशाओं में व्याप्त हो जाता है। उस सांवर्ताग्नि का क्या वर्णन किया जाय? वह केवल पृथ्वी के जल का शोषण कर शान्त नहीं बैठता, अपितु वह अपनी दाहक शक्ति को स्वयं जलाता है, जिसके कारण उसे सांवर्ताग्नि यह नाम प्राप्त हुआ है। इतना होने के बाद उसी काल के योग से जोर की हवा चलती है और वह उस तेज को सोख लेती है। उस तेज का पूरी तरह शोषण हो जाने के बाद, केवल रूप शेष रह जाता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे।
अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु॥ २४॥

तेज का जो रूप शेष रह जाता है उसका वायु शोषण कर उसे निराकार बना देता है, उस समय चारों ओर केवल वायु ही भर जाता है। फिर उस चारों ओर भरे हुए वायु को आकाश वहीं निगल लेता है, तब वायु स्पर्श के रूप में प्रवेश कर केवल स्पर्श के ही रूप में शेष रहता है। वायु के उस शेष बचे हुए स्पर्श स्वरूप का लय आकाश में तत्काल हो जाता है। फिर आकाश शब्द में प्रवेश करता है और वह शब्दतन्मात्र शेष रहता है। मुट्ठी बन्द करने पर जिस प्रकार पाँचों उँगलियाँ उसमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार दस इन्द्रियों का यह समुदाय जो राजसगुण से उत्पन्न होता है, वह अपने गुण में जाकर लुप्त हो जाता है।

योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे।
शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः॥ २५॥

जो वैकारिक सत्त्वगुण है, वह देवता तथा अंत:करण भी उत्पन्न करता है। वह भी प्रलय के स्वभाव धर्म के अनुसार स्वयं मन में प्रवेश करता है। मन सभी इन्द्रियों का राजा है। 'जीवत्व' और 'शिवत्व' भी मन की ही कल्पना है। श्लोक में वर्णित 'मनसीश्वर' शब्द से श्रीकृष्ण पूर्ण रूप से मन के ही विषय में बोल रहे हैं। मनोदेवता अंत:करण के साथ सत्वगुण में प्रविष्ट होती है। कार्य-विशेष का जो कारण होता है वहीं वे जाते हैं। फिर पहले से बचे हुए शब्दतन्मात्र, तामस में जाकर एकरूप होते हैं। उद्धव! वास्तव में कारण में ही कार्य का विलय होता है, इसे ध्यान में रखो। तीन गुणों से युक्त अहंकार एकत्र होकर अत्यन्त प्रबल हुआ रहता है। उसकी महत्ता भी सुन लो। संसार में वह महाकठिन है। वह शिव का महत्त्व बढ़ाता है। जीव को देहात्मा में उलझा देता है और अहंता से सारे संसार पर मोहिनी डालता है। उसके इस सामर्थ्य के कारण ही उसका महत्त्व है। ऐसा है अहंकार! वह यदि परमार्थ में सहायक बन जाय तो सोहंभाव (ब्रह्म मैं ही हूँ उस भावना के) के योग से तत्काल संसार का विनाश कर दे। चोर ही जब विश्वासपात्र मित्र बन जाता है तो वह चोर ही अन्य चोरों का निवारण करता है। उसी प्रकार जब अभिमान ही सहायक बनता है तो संसारभय की बाधा नहीं होती। उद्धव! इस प्रकार अभिमान सामर्थ्य सम्पन्न होने के कारण ही मैंने उसकी महत्ता का वर्णन किया। तीन गुणों से उत्पन्न यह गुणाभिमान, पूर्णरूप से एकत्र होकर महतत्त्व में विलीन होता है और उससे एकात्मता प्राप्त करता है।

स लीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः।
तेऽव्यक्तेसम्प्रलीयन्ते तत् काले लीयतेऽव्यये॥ २६॥

इस समय वह महतत्त्व भी कारणगुणों में लीन था और गुण साम्य के कारण सचमुच ही अव्यक्त में (मूल माया में) लीन था। उस समय जब समस्त आकार-विकार नष्ट हो जाते हैं, तब केवल बीज शेष रह जाता है। उसे ही 'अव्यक्त' कहते हैं। वट का न आकार है न विकार है, न अग्र है, न मूल है, न पत्र है न पुष्प है, अवशेष केवल बीज रहता है, उसी प्रकार यह संसार अव्यक्त में ही रहता है। वट का यह बीज आँखों को दिखायी भी नहीं देता। उसी प्रकार संसार का बीज भी अव्यक्त ही रहता है, वह जीव को सरलता से दिखायी नहीं देता। अनेक प्रकार के तृण के बीज गर्मी में काल जमींनदोज कर देता है, उसी प्रकार अव्यक्त रहने वाला संसार बीज भी काल से एकरूप हो जाता है। देखिये इसी को अव्यक्त का काल में विलय कहते हैं। काल को ही महाबाहु कहते हैं। उसका विलय पुरुष में होता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः॥ २७॥

पुरुष की क्षुब्धावस्था को ही वास्तव में काल कहते हैं। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ये तीनों अवस्थाएँ काल की ही हैं। ये तीनों अवस्थाएँ समाप्त होने पर काल का वहाँ कोई काम नहीं रहता। इसलिये वह स्वाभाविक व्यापार से ही जीव में एकरूप होता है। जो अचेतन को चेतना देने वाला है और जड़ को सजीव करने वाला है, उस पुरुष को इसी गुण के कारण 'जीव' कहा गया है।प्रकृति के योग से शुद्ध को ही जीव कहते हैं, उसे ही 'पुरुष' की संज्ञा देते हैं। यदि प्रकृति के बारे में विचार करें तो वह केवल मृगजल की तरह है। वह प्रत्यक्ष दिखायी देती है लेकिन उसमें 'सत्यता' बिलकुल नहीं है। मृगजल में जो गिरेगा, वहाँ जब 'पानी' है ही नहीं तो वह डूबेगा कैसे? उसी प्रकार प्रकृति के न होने पर 'जीवत्व' किससे जुड़ेगा? समुद्र की ओर देखें तो पानी में आकाश डूबा हुआ दिखायी देता है लेकिन उसे सच मानना मूर्खता है। उसी प्रकार रूप, नाम, गुण, कर्म यह सब माया का भ्रम है। उद्धव! प्रकृति के अस्तित्व काल में भी 'जीवत्व' सत्य नहीं है। उस सम्बन्ध की सत्यता भी पूर्णरूप से बताता हूँ। जब हम दर्पण में देखते हैं तो वहाँ हम स्वयं देखते हैं। लेकिन फिर भी हम अलग से हैं ही ऐसा हम समझते हैं। उसी प्रकार उद्धव! प्रकृति के अनुरोध से कर्म करते समय यद्यपि मैं उसके भीतर दिखायी देता हूँ, फिर भी मैं प्रकृति से भिन्न हूँ, यह ध्यान में रखो। आकाश पानी में डूबा हुआ दिखायी देता है फिर भी वह गीला नहीं होता। उसी प्रकार प्रकृति का कर्म मैं भले ही करूँ लेकिन उसमें मेरा अंग लिप्त नहीं होता। इस प्रकार विचार करने से प्रकृति का ही अभाव हो जाता है और उसके कारण 'जीव' और 'शिव' ये नाम भी व्यर्थ हो जाते हैं क्योंकि जो 'जीव' है वही परमात्मा है, इसे ध्यान में रखो। 'जीव' का 'जीवत्व' समाप्त होने पर सहज ही 'शिवत्व' भी समाप्त हो जाता है और दोनों ही आत्मस्वरूप से परिपूर्ण हो जाते हैं। जीव को आत्मस्वरूप का स्मरण होना इसी का नाम है जीव का परब्रह्म में विलीन हो जाना। वह परमात्मा अजन्मा, अव्यय, अविनाशी, अद्वय और अनन्त है। ब्रह्म में जब ब्रह्मस्वरूप में ही स्फुरण नहीं होता तो वहाँ 'मैं' और 'तू' कहेगा कौन? उद्धव! उस समय परिपूर्ण परमानन्द ही शेष रहता है। ऐसा परमानन्द कौन है! जो अज, अव्यय, आनन्दस्वरूप ऐसा जो श्रीकृष्ण मैं हूँ, वही परमानन्द स्वरूप है, यह जान लो। उस परमानन्द को मेरे सिवा कोई स्थान ही नहीं है। उद्धव! और जिस स्वानंद का नाम श्रीकृष्ण है, वही तुम्हारा भी स्वरूप है। उसमें 'मैं' या 'तू' वाला भाव नहीं है। केवल परमकारण ही शेष रहता है। उद्धव! तुम्हारे जीव का जो जीव है वह मैं श्रीकृष्ण ही हूँ। मुझमें और तुझमें कोई अलगाव नहीं है। इसीलिये जीव का परम कारण यह मेरी पहचान मैंने तुम्हें बतायी। मैं श्रीकृष्ण सारे संसार का आत्मा हूँ और मेरा पूर्ण आत्मा, उद्धव तुम हो। श्रीकृष्ण का यह भाषण सुनकर उद्धव भौंचक्का हो गया। कृष्ण मुझे अपना आत्मा कहता अवश्य है किन्तु कृष्ण की महिमा भी मैं नहीं जानता। पुरुषोत्तम की लीला अगाध है। वह हमारी समझ में कैसे आयेगी? व्यर्थ का ही उद्धवपन मुझमें आ गया है। लेकिन कृष्ण की दृष्टि से देखें तो मुझे मेरा 'मैं' पन नहीं दिखायी देता। मैं अपना उद्धवपन छोड़ दूँ तो कृष्ण सचमुच निजधाम को चले जायेंगे। वह दुःखद प्रेमावस्था मैं सहन नहीं कर पाऊँगा। उद्धव की यह स्थिति श्रीकृष्ण की समझ में आ गयी इसलिये उससे सम्बन्धित कथा वह सुनाने लगा।

एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः॥ २८॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकृति पुरुषों का विवेचन कर मैंने तुम्हें आदि, मध्य और अन्त इन तीनों अवस्थाओं का ऐक्य दिखला दिया। फिर उनमें व्यर्थ ही भिन्नता क्यों मानते हो? उत्पत्ति के पूर्व भी पूर्ण ब्रह्म ही रहता है। उत्पत्ति का कारण वही होता है और यह जो संसार आकार रूप में प्रकट हुआ है, वह भी ब्रह्मस्वरूप ही है, यह भी तुम्हें दिखा दिया है और प्रलय के अन्त में ब्रह्म जैसा का तैसा शेष रह जाता है, उस सम्बन्ध का अनुभव भी तुम्हें बता दिया। प्रकृति से पुरुष भिन्न है। प्रकृति को अलग से देखें तो वह मिथ्या है। प्रकृति पुरुष का यह ज्ञान जिसे हो जाता है उसे 'मैं' और 'तू' पन का आभास नहीं होता। जहाँ 'मैं' पन और 'तू' पन नहीं है, वहाँ विकल्प की कल्पना कौन करेगा? सृष्टि के आदि और अन्त में परब्रह्म परिपूर्ण है यह ज्ञान जिसे प्राप्त होता है, प्रकृति पुरुष का विचार और उनका वह सांख्य दर्शन जिसके मन में जागृत रहता है, उसके मन में हे उद्धव! कल्पांत में भी विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती। जिसके मन में प्रकृति पुरुषों का विचाररूपी सूर्य पूरी तरह उदित हो चुका है, वहाँ विकल्परूप अँधेरी रात कैसे रह पायेगी? जिसे प्रकृतिपुरुष का अत्युत्तम ज्ञान है, उसका मन विकल्प भूल ही जाता है। उसके अंतःकरण में ज्ञानरूपी सूर्य अज्ञानरात्रि पूर्ण रूप से नष्ट कर उदित होता है। जहाँ का अज्ञान ही नष्ट हो जाता है वहाँ विकल्प को स्थान कहाँ? इस प्रकार यह सांख्यतत्त्व विचार साधकों का बहुत उपकार करने वाला है। उद्धव! यह सार का भी सार, यह गुप्त ज्ञान का भण्डार, जो विचाररत्नों का समुद्र है, वही सच्चा सांख्यशास्त्र है।

एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया॥ २९॥

मैं विचारों का विचार हूँ मैं सूर्य का आदि सूर्य हूँ। मैं ज्ञानियों का ज्ञानरूपी मुकुटमणि हूँ, मेरी वह पूर्णावस्था, वही सांख्य मत है। मैं वेदों का आदिवेद, मैं उपदेश का आद्य उपदेश और मैं आनन्द का आत्मानंद हूँ। मेरा ज्ञानोपदेश ही सांख्यतत्त्वज्ञान है। उस श्रीकृष्ण ने आत्मज्ञान स्पष्ट कर सांख्ययोग के साधन से अव्यय होकर ब्रह्म भी दिखला दिया। जिस प्रकार हथेली पर गोल आँवला स्पष्ट रूप से दिखायी देता है, उसी प्रकार सांख्ययोग के साधन से साक्षात परब्रह्म तुम्हें तुम्हारी आँखों से दिखा दिया। जो आँखों से ब्रह्म देखने जाता है वह सर्वांग से ही देखने वाला (तन्मय) हो जाता है, यही सांख्ययोग की चाभी है। यह सांख्ययोग अनुक्रम अन्वय व्यतिरेक से विचार करके देखें तो ब्रह्म अखण्ड तथा अद्वय है यह रहस्य मालूम हो जाता है। उत्पत्ति, स्थिति अथवा प्रलय में ब्रह्म अखण्ड एवं स्वयं नित्य है, यही ज्ञान साधकों को सच्चे सांख्ययोग से प्राप्त होता है। जिन्हें ब्रह्मज्ञान का शौक रहता है उनका वह शौक सांख्ययोग पूरा करता है और लिंगदेह के विशाल और प्रबल वृक्ष को समूल गिरा देता है। लिंगदेह अत्यन्त कठिन अवश्य है, लेकिन जिस प्रकार अग्नि में घास गिर जाय, उसी प्रकार सांख्य योग के सामने वह भस्म हो जाता है। लिंगदेह नमक का एक प्रचण्ड पर्वत है तो सांख्य प्रलयकाल का तूफानी समुद्र है। वह समुद्र जब क्षुब्ध होता है तो अपने जल में उस पर्वत को घोल देता है और अपनी ही तरह सारा पानी एकाकार कर देता है। उद्धव! यह ज्ञानसागर जब क्षुब्ध होता है तो संशय के लिये कोई स्थान शेष नहीं रहता। हे उद्धव! जो ज्ञान सारे संशयों को काटता है, लिंगदेह का भेद करता है, वह सांख्ययोगज्ञान है इसे निश्चित रूप से जान लो। अनुलोम तथा प्रतिलोम का विवेचन करना कठिन मालूम होगा लेकिन यह विवेचन किये बिना ही सांख्य सुलभ ढंग से समझ में आ जाय ऐसी युक्ति बताता हूँ, सुनो। विभिन्न आकारों में दिखायी देने वाले भेद छोड़कर, समस्त प्राणिमात्र में भगवतस्वरूप ही भरा हुआ है, इस भाव से जो देखेगा उसे समूल

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सांख्य प्राप्त होगा। अथवा कर्माचरण जैसा भी हो रहा हो, उसे होने दीजिये। लेकिन मैं कर्ता हूँ, ऐसा मत कहो। इतना कर देने से ही तुम पूर्णब्रह्म हो जाओगे। इससे अधिक सुलभ मार्ग मुझे नहीं दिखायी देता। उद्धव! तुम्हारे आत्मकल्याण के लिये मैंने यह कहा। मेरा यही भाषण पूरी तरह मनन कर अपने कल्याण के लिये हम उसका आचरण अवश्य करें। देवाधिदेव की इन बातों पर उद्धव की भक्ति स्थिर हो गयी। जरा देखिये। निःशेष अहंता छोड़ देने से मनुष्य स्वयं ब्रह्म हो जाता है। सांख्यज्ञान का विचार करने से दिखायी देता है कि अहंकार ही संसार को डुबोता है। 'अहं' भाव के साथ ही जन्म-मरण रहता है। अहंभाव के पास भयंकर दुःख भी रहता है। इस प्रकार अहंभाव नितान्त कठिन है। उसे छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह स्वयं नहीं छूटता। लेकिन उसके इस उलझन का कारण क्या है, यह समझ में नहीं आता। यदि भगवान से पूछने जाओ तो उन्होंने सांख्यशास्त्र को स्पष्ट करके बतला दिया है। इसीलिये श्रीकृष्ण पचीसवें अध्याय में सगुण और निर्गुण इन दोनों प्रकारों से भेद का मधुर निरूपण करेंगे। वह कथा सुबोध, रसपूर्ण और मधुर है। जहाँ श्रीकृष्ण जैसा सुनानेवाला और उद्धव जैसा श्रोता हो, वहाँ स्वाद तो निरुपम होगा ही। उस स्वाद के माधुर्य का वर्णन करने के लिये श्रीकृष्ण समर्थ हैं और उस माधुरी का सेवन करने के लिये अत्यन्त ज्ञानसम्पन्न श्रोता उद्धव उपस्थित हैं। भगवान और भक्त के बीच संवाद का माधुर्य वेदशास्त्रों से भी नहीं प्राप्त होगा। करोड़ों ग्रन्थों का अवलोकन करने पर भी वह माधुर्य प्राप्त नहीं होगा। वह माधुर्य तभी प्राप्त होगा जब भाग्य से भावार्थ हाथ लग जाय क्योंकि भावार्थ की चाह से भगवान अपने अंतःकरण का माधुर्य भक्तों को देता है। सारांश, भगवान को भावार्थ के सिवा और कुछ भी प्रिय नहीं है। वह भाव ही जिनके पास नहीं है वे केवल मूर्ख और अज्ञानी हैं। जो बालक कंकड़ बिछा कर उन्हें भगवान कहते हैं, उन बालकों की भक्ति भी धन्य है और वहाँ भी विश्वास करने पर ईश्वर प्रकट होता है। बालक उपमन्यु जब दूध के लिये भावार्थ से भगवान से हठ करने लगा तो उन्होंने क्षीरसागर को ही कटोरी की तरह उसके मुँह से लगा दिया। सारांश, जो भाविक है वही भगवान का लाडला होता है और भगवान भी भाविकों का सेवक होता है। बिना भाव के भगवान कभी किसी से नहीं मिलता। इसलिये जहाँ भावार्थ होता है, वहीं सुख का लाभ होता है। जहाँ भावार्थ होता है, वहीं परमार्थ भी पूर्णरूप से प्राप्त होता है। इस प्रकार भावार्थ बढ़ाने से निर्गुण प्राप्ति की इच्छा भी तृप्त होती है। इसी अर्थ का वृत्तांत श्रीकृष्ण अगले अध्याय में सुनायेंगे। उस कथा के रसपूर्ण वर्णन के माधुर्य से लोग अमृत की मधुरता भी भूल जायेंगे। श्रीकृष्ण का कथामृत श्रोताओं के श्रवणरूपी मुख में पड़ेगा। एकनाथस्वरूपी जनार्दन को भी अत्यन्त हर्ष होगा और वह बड़े कौतुक से उसका व्याख्यान करेंगे। श्रीभागवत ने बड़े सम्मान के साथ श्रीकृष्ण कथा के विस्तार का उत्तम उपहार दिया है और परमार्थरूपी अलंकार से उसे सुशोभित किया है। उस उपहार के श्रवण के प्रति उत्पन्न सम्मान कर मैं अपने आप्त संत सज्जनों का गौरव करूँगा। जनार्दन ने एकनाथ पर इतनी कृपा की इसलिये वे अपना सामर्थ्य प्रकट कर रहे हैं। केवल सम्बन्धी सज्जनों का आदर किया और अन्य लोगों की उपेक्षा की हो ऐसी बात नहीं है। श्री भागवत का जो ध्यानपूर्वक श्रवण करेगा उसका गौरव परमार्थ से ही होगा। वास्तव में, भावार्थ ही गौरव है। उसे एकनाथस्वरूपी जनार्दन जानते हैं, इसलिये एकनाथ भी जनार्दन की शरण में जाकर स्वयं ही गौरवान्वित हो रहे हैं।

इति श्रीमद्भागवते एकादश स्कंधे श्री कृष्णोद्धव संवादे एकाकार टीकायां
प्रकृति पुरुष सांख्य योग नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥
श्री कृष्णार्पणमस्तु।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पच्चीसवाँ अध्याय

हे ओंकारस्वरूप निर्गुण देव! तुम्हें नमस्कार है यह कहंना चाहें तो गुण कहीं दिखायी नहीं पड़ता और गुण के बिना निर्गुणपन तो कभी नहीं आयेगा। इसलिये निर्गुणपन कभी नहीं होता। लेकिन सगुणपन भी तुम स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार तुम गुण अथवा अगुण को स्पर्श नहीं करते। इसलिये हे गुरुराया! तुम पूर्णतयः अगुणी हो। उसी प्रकार तुम अगुणी के विपरीत गुणी हो। लेकिन तुम त्रिगुण के गुणों का विनाश कर देते हो। संसार में पंचमहाभूतों से मुक्ति दिलानेवाला एक जनार्दन ही है। जिसके योग से दुष्टजनों का संहार होता है, जिसके योग से लिंगदेह का नाश होता है, जो जीव को जीव से ही जान से मारता है वह जनार्दन कृपालु कैसे होगा? लेकिन जनार्दन का कृपालुपन लोग बिलकुल नहीं जानते। न समझने का कारण यही है कि वे देहाभिमान नहीं छोड़ते। जननी के पेट से जन्म होता है इसलिये मनुष्य को 'जन' कहते हैं। उस 'जन' के जन्म का ही संहार करता है, इसलिये उसे जनार्दन कहते हैं। मृत्यु को ही मारकर आयु बढ़ाता है, जीव को मारकर उसे जीवन प्रदान करता है और देह में ही विदेह की स्थापना करता है ऐसी जनार्दन की कृपा है। जन जो भी इच्छा करता है, उसे जनार्दन पूरा करता है। जो पूर्ण समाधान चाहता है, उसका देहाभिमान नष्ट कर डालता है। लेकिन जनार्दन के सामने अहंकार आया ही कब था? अगर आ जाय तो वह हाथ में शस्त्र लेकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर देगा। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से अन्धकार के साथ रात्रि समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार जनार्दन के नाम के सामने अहंकार कब तक टिक पायेगा? गुरुनाम का घोष होते ही अहंकार पूर्णरूप से विलीन हो जाता है। फिर ऐसे गुरुनाम के सामने दुःखदायी संसार कब तक टिक पायेगा? इच्छा से जिसके नाम का स्मरण करें तो वह संसार का बाँध तोड़ डालता है, जीव का जीवबन्धन तोड़ देता है, उसके उस नाम का माधुर्य मोक्ष को भी लज्जित करता है। जिसका नाम मोक्ष से भी ऊँचा पद दिलाता है उसकी कृपा के बारे में मैं यहाँ क्या कहूँगा? लेकिन वह नामप्रताप भी जिसकी बराबरी नहीं कर सकता उस सद्गुरु की महिमा हमें किस प्रकार मालूम होगी? निरूपम को कौन-सी उपमा दी जाय? गुरु की कीर्ति अगाध और गहन है। उसके गुणों की गिनती करना चाहें तो वे अनंत हैं। वह स्वयं नित्य निर्गुण है। उससे हम क्या लें? यदि दौड़कर उसके पास जाना चाहें तो उसका न कोई गाँव है न कोई स्थान है। एक सद्भाव के अतिरिक्त उसका लाभ उठाने का अन्य कोई उपाय नहीं है। यदि सद्भाव से उसका नामस्मरण करें तो उस स्मरण के साथ ही गुरु प्रकट होता है और जिस प्रकार समुद्र स्वयमेव नमक से मिलने आया और इसलिये सागर को आलिंगन देने के साथ ही जिस प्रकार नमक का पानी हो जाता है, उसी प्रकार सद्गुरु की पूर्ण कृपा होने पर जन ही जनार्दनस्वरूप हो जाता है। उस समय जन, वन अथवा विजन में भिन्नता नहीं दिखायी देती। इसलिये जो जन है, वही जनार्दन है और जनार्दन ही सारे जन है। यह उपनिषद् का सारांश है और यही जनार्दन का सच्चा स्वरूप है। इसी अभेदभाव से यहाँ भगवान ने सांख्यशास्त्र बताया। वह यही है कि परब्रह्म उत्पत्ति, स्थिति और लय इनमें निरन्तर परिपूर्ण ही रहता है। यह सांख्यमत सुनकर उद्धव मन ही मन विचार करने लगा कि यदि अहंभाव ही संसार को बढ़ाता है तो क्यों न उसे छोड़ दिया जाय? लेकिन जो अहंकार अंतःकरण से चिपका हुआ है उसे छोड़ने जाओ तो वह जल्दी नहीं छूटता। यह बात यदि श्रीकृष्ण से पूछी जाय तो उसने इसीलिये सांख्य शास्त्र बताया है। समस्त प्राप्ति का रहस्य जो सांख्य है उसी का वर्णन

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भगवान ने किया है और उसी में अहंभाव छोड़ दिया जाय यह निश्चित किया है। सचमुच, मेरे सामर्थ्य से मेरा 'मैं'पन नहीं जाएगा और निर्लज्ज की तरह श्रीकृष्ण से कितनी बार पूछें? उद्धव के मन की यह चिन्ता श्रीकृष्ण ने जान ली। श्रीकृष्ण अपने भक्तों के प्रति अत्यन्त कृपालु होने के कारण वह अहंता नष्ट करने के उपाय बताने लगा। आज उद्धव का भाग्य पूर्णरूप से प्रकट हो गया। संसार में उद्धव ही अत्यन्त धन्यवाद का पात्र है। जिस पर श्रीकृष्ण प्रसन्न हो उठा उसे प्रश्न किये बिना ही अपना रहस्य बताने लगा। क्या बालक बताता है कि उसे भूख लगी है? और तब माँ उसे स्तनपान कराती है? नहीं। वह तो अपने अंत:करण की व्यथा से स्वयं ही दौड़कर उसके पास ज़ाती है और उसे स्तनपान कराने लगती है। लेकिन श्रीकृष्ण के मन में उद्धव के प्रति व्याकुलता उससे कई गुना अधिक थी। अपने भक्तों के भक्ति का महत्त्व मन में आते ही श्रीकृष्ण का अंत:करण व्याकुल हो उठता था। बच्चे को अपनी चिन्ता नहीं होती लेकिन माँ ही उसका हित करने की ओर प्रवृत्त होती है। उसी प्रकार उद्धव का हेतु पूर्ण करने के लिए श्रीकृष्ण व्याकुल थे। उद्धव में जो कोई कमी हो उसे पूरा करने के लिये श्रीकृष्ण तैयार थे। उसने उसे अपने निर्गुण का उपदेश किया। पचीसवें अध्याय में गुणों पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाय इसका लक्षण बताकर वह अपना निर्गुण भी दिखला देगा। यही एकनिष्ठा का निरूपण है। प्रकृति पुरुषों का बुद्धिपूर्वक विचार हो गया लेकिन जब तक गुणों पर विजय नहीं प्राप्त होती तब तक सुख-दु:ख और अहंभाव तो बढ़ेगा ही। तीनों गुणों से देह तैयार हुआ है। इसलिये देह में गुणों की विजय नहीं होती क्योंकि अपने ही मूल का उच्छेद करने के लिये कोई तैयार नहीं होता। डंडा वृक्ष में ही उत्पन्न होता है लेकिन वह कुल्हाड़ी के साथ मिलकर उससे वृक्ष का उच्छेद करवाता है। उसी प्रकार विवेक से सद्गुण मिलता है और तीनों गुणों का समूल उच्छेद कर डालता है। इससे मूल का निर्गुणत्व अपने आप प्रकट होता है। तब गुणों का छेदन भी मिथ्या ही है। तीनों गुण ही मिथ्या हैं और निर्गुणत्व ही नित्य और सत्य है। इसी अर्थ का निरूपण श्रीकृष्ण स्वमुख से कर रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच

गुणानामसमिश्राणां पुमान् येन यथा भवेत्।
तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः॥ १॥

जिसके चरणस्पर्श से सारी पृथ्वी पवित्र होती है; जिसके नाम से त्रैलोक्य का उद्धार होता है, जिसके गुणों की कीर्ति श्रवण करने से महापातकों का भी विनाश हो जाता है; जिनके मृदु, मधुर एवं विपुल नाम का उच्चार करने से परम संतोष होता है, वह पुरुषोत्तम परम प्रीति से उद्धव से बात करने लगा। सत्व, रज और तम ये तीनों गुण मिले बिना जब भिन्न-भिन्न रहते हैं उस समय पुरुष के पास जो भिन्न-भिन्न एक गुण होता है, उससे कौन-सा चिह्न दिखायी पड़ता है, उसे सुनें। मेरा यह भाषण जो नि:सन्देह, सावधान और निर्विकल्प होकर सुनेगा वह स्वयं ही परिपूर्ण पुरुषोत्तम हो जायेगा। मेरे स्वरूप के प्रति सद्भावना रखना यही पुरुष की उत्तम अवस्था होगी। मेरे भाषण पर विश्वास करने से पुरुषोत्तम स्वयं घर पर आते हैं। ऐसा यह उत्तम से उत्तम निरुपम और निर्गुण स्थान को यदि तुम मुझ पर विश्वास करो तो मैं तुम्हें सौंपता हूँ। उद्धव भक्ति भावार्थ में अत्यन्त श्रेष्ठ, वचन पर विश्वास करने में तो अग्रगण्य हैं इसलिये श्रीकृष्ण अपने मुख से उसे 'हे पुरुषश्रेष्ठ' कह कर बुलाने लगे। इस संसार में अनेक योनियाँ हैं। उनमें मनुष्य सबसे उत्तम है। उसमें भी सुदृढ़, अव्यंग, सम्पूर्ण अवयवों से युक्त तथा किसी भी प्रकार की कोई कमी न हो ऐसा देह होना चाहिये। ऐसे सारे देहों में पुरुष देह ही सबसे श्रेष्ठ है। उसमें भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विचारशील, वेदशास्त्र जानने वाला और मुमुक्षु जैसा पुरुष होना चाहिये और ऐसा पुरुष वेद, शास्त्र, विवेक आदि में सम्पन्न होकर मेरा भजन भी करता हो और अनन्य भाव से पूरी तरह मेरी शरण में आता हो तो ऐसे भक्तों पर मेरी पूर्ण कृपा रहती है। मेरी ही कृपा से वह मेरा ज्ञान प्राप्त कर मेरे भजन में रममाण रहता है। ऐसे गुणों के सम्बन्ध में विचार करने पर, ऐसा सर्वगुणसम्पन्न एक उद्धव ही दिखाई देता है। इसीलिये यदुकुलश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने 'पुरुषश्रेष्ठ' इस संबोधन से उद्धव पर पुरुषत्व का अभिषेक किया। इस प्रकार उद्धव को सम्बोधित कर, तीन गुणों का स्वभाव बताते समय श्रीकृष्ण पहले सत्वगुण का प्रतिपादन करने लगा। सत्वगुण के लक्षण अनेक हैं, किन्तु उनमें से केवल पन्द्रह ही श्रीकृष्ण ने बतलाये। वे लक्षण जो श्रीकृष्ण ने अपने निरूपण में सुनाये, उन्हें सुनें।

शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः ॥ २ ॥

बाह्य स्फूर्ति को छोड़ अपनी चित्तवृत्ति अखण्ड आत्मा में केन्द्रित करना इसी का नाम 'शम' है। बाह्य इन्द्रियों की चड़फड़ का शान्ति से ऐक्य कराकर विषय की इच्छा को काबू में रखना यही दम का सच्चा स्वरूप है। उद्धव! जितने आनन्द से हम सुख भोगते हैं, उतनी ही संतोषवृत्ति से दुःख भी सहन करना, इसी का नाम शुद्धसत्वात्मक तितिक्षा है। मैं कौन हूँ? कहाँ का हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? मैं निष्कर्म हूँ या कर्मबद्ध हूँ इस प्रकार आत्मविचार करने का नाम है ईक्षापरिपाक! जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों स्थितियों में भगवत्प्राप्ति के लिये अंतःकरण का कुढ़ना इसी का नाम 'तप' है। कोई चाह कर विष प्राशन नहीं करता, उसी प्रकार प्राणांत होने पर भी जो झूठ नहीं बोलता, सदा सत्य ही बोलता है, यही सात्विक का सत्य है। उद्धव! जो स्वयं स्वप्न में भी प्राणिमात्र पर निष्ठुर नहीं होता वही उसकी सच्ची परिपूर्ण भूतदया है, ऐसा समझ लो। मेरा हित किस बात में है? मैं कौन-सा धर्माचरण करता हूँ? ऐसा जो पूर्वस्मरण है, इसी का नाम स्मृति है। हे संसार के भक्तश्रेष्ठ उद्धव! अत्यधिक प्रयास किये बिना जो कुछ भी मिले, उतने से ही अंतःकरण में सुखी रहना, इसी का नाम आत्मतुष्टि है। उपजीविका के लिये अन्न आदि जो कुछ प्राप्त हुआ हो, उसमें से कुछ सत्पात्र को दान देना तथा सारी विषयममता छोड़कर रहना इसी का नाम है त्याग। अर्थ और स्वार्थ में इच्छा बढ़ती ही जाती है, धन मिलने पर तो वह और भी अधिक बढ़ती है। ऐसी इच्छा का यदि मन से ही त्याग कर दिया जाय तो इससे निस्पृहता बढ़ती है। जहाँ पूर्णरूप से सर्वलक्षणयुक्त निस्पृहता रहती है उसी का नाम दृढ़ वैराग्य है। यही परमार्थ का सच्चा भाग्य है और इसी के योग से श्रीहरि की प्राप्ति होती है। जो गुरु के वचन पर विश्वास करता है, जो अंतर्बाह्य उसके ही प्रति समर्पित रहता है, उसकी ही देवब्राह्मणों के प्रति भक्ति जड़ती है और उसके मन में पूर्ण श्रद्धा का वास रहता है। नरदेह में ही परब्रह्म की प्राप्ति होती है। ऐसा होते हुए भी जो उसके लिये सत्कर्म नहीं करता, विषय के लिये धर्म-अधर्म का जैसा भी मन चाहे वैसा आचरण करता है, उसकी यह कृति अत्यन्त निंद्य और लज्जास्पद है। जिससे हमें दुःख होता है वह दूसरे को न दे, बल्कि दुःख के स्थान पर सुख ही दे, यही दया मैं श्रीकृष्ण वंदनीय मानता हूँ। दूसरे को दुःख न देकर स्वयं सारे प्राणियों को सुख प्रदान करना, इसी का नाम पारमार्थिक दया है। इसीलिये इसका दूसरी बार उल्लेख किया। जिस प्रकार पहले चीनी खाने के बाद कोई घास खाये तो वह अच्छी नहीं लगती उसी प्रकार जो विषयों को गौण समझ कर ब्रह्मानंद में निमग्न हो जाता है, उसकी उस वृत्ति को आत्मनिवृत्ति कहते हैं। कोई भिखारी जब पालकी में बैठता है तो वह अपने पहले के फटे-पुराने वस्त्र उपेक्षा से फेंक देता है, उसी प्रकार वह विषयों की उपेक्षा कर ब्रह्मसुख को पकड़े रहता है। अन्न कण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का विकास भूसे में छिपा रहता है और भूसे के साथ ही वह पुष्ट होता रहता है। लेकिन उसी दाने को प्राप्त करने के लिये भूसे को छाँट देना पड़ता है। उसी प्रकार ब्रह्मसुख की ही तरह देह का भी मोह होता है, लेकिन वही ब्रह्मसुख जब हाथ तक पहुँचता है तो देह का विषयरूपी भूत खराब लगने लगता है। उसी प्रकार विषय प्रेम छोड़कर जिसे ब्रह्मसुख में सुखप्राप्ति होती है, उसे ही हे उद्धव! सच्ची 'आत्मनिवृत्ति' कहते हैं। इन पन्द्रह लक्षणों की स्थिति जिसमें रहती है, वही शुद्ध सत्त्व की मूर्ति है। अब 'आदि' शब्द से शोधित सत्त्व की सत्त्वृत्ती भी श्रीकृष्ण बताते हैं। समस्त प्राणिमात्र के प्रति भगवान की भावना रखकर उनके प्रति निष्कपट बुद्धि रखना इसी का नाम है सारे गुणों की अवस्था का छेदन करने वाली शुद्ध सात्त्विकता। इस प्रकार सात्त्विक के पास सत्त्वगुण पूर्णरूप से रहता है। अब रज का लक्षण स्वयं श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम्।
मदोत्साहो यशः प्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः॥ ३॥

काम का अर्थ है विषयों की हवस। जिस प्रकार काष्ट आदि से अग्नि बढ़ता है उसी प्रकार काम की इच्छा पूरी करते-करते काम की हवस भी बढ़ती जाती है। इसका नाम काम है। काम की जो क्रिया हे, वही पूर्ण ईर्षा है। सम्पादित विद्या का अत्यन्त गर्व होना ही मद का लक्षण है। अर्थप्राप्ति होने पर भी वासना की तृप्ति नहीं होती। ऐसी निरन्तर बढ़ती जाने वाली आसक्ति का ही वास्तविक नाम तृष्णा है। उद्धव! अत्यन्त अहंकार से जो स्तब्धता आती है, आँखों के सामने कोई दिखायी नहीं देता, इसी का नाम स्तंभावस्था है। पैसा प्राप्त करने के लिये इष्टदेवता की प्रार्थना करना और उसके पास प्रापंचिक सुख माँगना इसी का नाम आशा है। भिदा का अर्थ है, भेद। प्रपंच का भान होना और 'यह मेरा' और 'यह तेरा' इस भाषण का नाम भिदा है। राजस सुख की एक बात अद्‌भुत है। वह यह कि विषयसुख के जो सारे भोग हैं उसे ही लोग उत्तम सुख मानते हैं। वीर को युद्ध में वीरश्री का संचार होना अथवा साधारण मनुष्य का पुत्रप्राप्ति के कारण उत्साहित होना अथवा परिवारजनों के विवाह आदि समारोहों में इष्टमित्रों का उत्साहित होना, इसे 'महोत्साह' कहते हैं। शास्त्रवाद में विजयी होना अथवा युद्ध में शत्रु को पराजित करना और इससे लौकिक दृष्टि से प्रसिद्ध होना, इसी का नाम यश है। उद्धव! चारणों के माध्यम से अपनी यशगाथा का दिगंत में प्रसार करना इसी का नाम यशःप्रीति है। उद्धव! कविताबद्ध भाषण सुनकर, अथवा उपहास से विनोद चलता देख राजस को हँसी आ जाती है। वह 'हास्य' प्रसिद्ध ही है। वीर्य अर्थात् अत्यन्त प्रबल शरीर-सामर्थ्य का प्रदर्शन, इसी का नाम वीर्यशाली होना है। राजा के बल पर व्यापार करना, सीनाजोरी का व्यवहार करना, न्याय को छोड़ स्वार्थ साधना, इसी का नाम 'बलोध्यम्' अर्थात् सीनाजोरी है। जिसके पास ये सभी पन्द्रह लक्षण हों, उसे जीवभाव से 'राजस' समझना चाहिये। जो केवल अविचार की ही सम्पत्ति है, उसे 'तामस' की वृत्ति समझना चाहिये। सोलह लक्षणों में उसकी स्थिति बताता हूँ।

क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याच्ञा दम्भः क्लमः कलिः।
शोकमोहौ विषादार्ती निद्राऽऽशा भीरनुद्यमः॥ ४॥

क्रोध काम की परिपूर्ण तथा बढ़ी हुई स्थिति लोभ का अर्थ है कंजूसी। अमृत का अर्थ है मिथ्या भाषण। हिंसा का अर्थ है, दूसरे को पीड़ा पहुँचाना। याञ्चा का अर्थ है जी हुजुरी करना। दंभ का अर्थ है अतिसम्मान प्राप्त करने के लिये किया हुआ ढोंग। वलम का अर्थ है अत्यन्त परिश्रम के कारण आने वाली थकावट और बिना किसी कारण के झगड़ा-बखेड़ा करने का अर्थ है कलि। शोक का अर्थ है हाहाकार। मोह का अर्थ है भ्रम की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बाढ़। विषाद का अर्थ है ऐसे दुःख का संचार जिससे अंतःकरण को कष्ट हो। 'आर्ति' का अर्थ है, अत्यन्त संताप। निन्दा का अर्थ है मिथ्या आरोप लगाना। आशा का अर्थ है अत्यन्त लोभ। भी का अर्थ है भय से शरीर काँपना। अब निद्रा का मर्म सुनो। जो आलस्य का मायका है और जो असली लम्बी सुस्ती है, वही असीम तामसी निद्रा है। सारे उद्योग त्याग कर सुखी रहना इसी का नाम 'अनुद्यम' है। 'तम' इसी में सुखपूर्वक रहता है। इस तमोगुण की सोलह कलाएँ हैं। वे जिस व्यक्ति के शरीर में बसती हैं, वही उस तमोगुणी रात्रि का चन्द्रमा है। वह तामस पुरुष अविचार से अन्धा हुआ रहता है। सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से परिचित कराने के लिये उनका अलग-अलग वर्णन किया। अब उनके मिले-जुले लक्षण सुनो।

सत्त्वस्य रजश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः संनिपातमथो शृणु॥ ५॥

तीन गुणों की स्थिति तुम्हें बतायी। प्रत्येक की अनंत वृत्ति है। वे भी अनंत प्रकार की होती हैं। इसीलिये जीव को यहाँ गुणों की उलझन में फँसना पड़ता है। स्त्रियों के माथे पर केश एक-दूसरे में उलझे रहते हैं लेकिन वे स्वयं उन्हें नहीं छुड़ा पातीं, उसी प्रकार यह त्रिगुणों की उलझन जीव नहीं छुड़ा पाता। सहेलियाँ, माँ, बहनें एक साथ मिलकर तेल और कंघी लेकर उन उलझे बालों को छुड़ाने का प्रयत्न करती हैं, उसी प्रकार यह जीव त्रिगुणों की चोटी है। यदि जीव के सामर्थ्य से ही त्रिगुणों के विभाग होते तो वह जीव शुद्ध सत्त्व में रहकर, बाद में गुणातीत अवस्था में गया होता। लेकिन अपने ही इन गुणों को सुलझाना जीव के लिये संभव नहीं है इसलिये जो भाग्यवान हैं वे गुरुचरणों पर ही एकनिष्ठ भक्ति रखते हैं। जो संसार में भाग्य से भाग्यवान बनते हैं, सद्गुरु ही जिनकी वास्तविक माँ रहती है वे सद्गुरु विवेक वैराग्य की कंघी लेकर त्रिगुणों की चोटी सुलझाते हैं। जिनके गुणों की उलझन एक बार सुलझ जाती है वे फिर कभी उलझन पैदा न हो इसलिये गुणों का समूल मुंडन कर उन्हें संन्यासी बना देते हैं। कुछ का तो और ही चमत्कार होता है। उनके वैराग्य की स्थिति अत्यन्त प्रखर होती है। वे उलझन छुड़ाने के फेर में फँसते ही नहीं। वे समूल पूरा मुण्डन करा देते हैं। विवेकरूपी कंघी जब वैराग्यबल से चलने लगती है तो जब भक्तिबल में दुर्बल होते हैं वे बीच ही में उठकर भाग जाते हैं। ऐसे दुर्बल लोगों को दूर भागते हुए देखने पर कितने ही अन्य लोग मोहरूपी अँधेरे में ही दौड़ने लगते हैं। कुछ तो केशों की उलझन माथे पर वैसे ही रखकर उस उलझन में ही फँसे रहते हैं। कुछ जो बिलकुल ही अभागे होते हैं उनकी गुरु माँ से कभी भेंट ही नहीं होती। संसार में ऐसे अनेक बच्चे त्रिगुणों से उत्पन्न होने वाले दुःख भोगते रहते हैं। जिनकी आयु दो परार्ध से भी अधिक है ऐसे ब्रह्मदेव भी गुणों के विभाग नहीं कर पाते। फिर गुणों का सच्चा चयन करने का सामर्थ्य औरों में कैसे होगा? त्रिगुणों की ऐसी वृत्तियों का वर्णन मैं भी पूरी तरह नहीं कर पाता। अतः वैसा ध्वनितार्थ निकलने वाले शब्दों में संक्षेप में वर्णन किया।

संनिपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः।
व्यवहारः संनिपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः॥ ६॥

गुणसन्निपात का यह प्रकार है कि एक ही अहंकार गुणों की संगति से तीन प्रकार का हो जाता है। उसके सम्बन्ध में भी सुनो। वर्णाश्रम के अनुसार व्यवहार करना, वेदाज्ञा का पालन अवश्य करना और मैं ही ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ यह मानना, यह अहंकार सात्त्विक है। मैं स्वधर्म कर्म करने वाला, मैं स्वर्गादि सुखों का भोग करने वाला, नानाप्रकार के सुख विलास मुझे ही प्राप्त होते हैं, यह समझना राजस अहंता का लक्षण है। मैं देहधारी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

महान योद्धा हूँ, मैं ही शत्रु का संहारकर्त्ता हूँ, मैं सब में अजेय हूँ, यह समझना तामस अहंकार है। ममता का स्फुरण गुणानुरूप तीन प्रकार के स्वरूपों से होता है। इसी अर्थ का निरूपण श्रीकृष्ण स्पष्ट करके बताते हैं। 'मेरे हृदय में जो भगवान है, वही भगवान सभी प्राणियों के हृदय में है। समस्त प्राणी मेरे ही हैं' ऐसा समझना यही शुद्ध सात्विक गुण की ममता है। उद्धव! जो भक्त संत, साधु, सज्जन हैं, वही मेरे सगे सम्बन्धी हैं ऐसी जो पूर्व ममता होती है वही सात्विक ममता है, यह जान लो। जीव से अधिक प्रेम सद्गुरुचरणों पर करना यह जो ममता का प्रकार है वह भी सात्विक ही है। जिस देवता की उपासना करनी हो उसके अनुसार शैव अथवा वैष्णव की दीक्षा लेना अथवा देवधर्मों पर परिपूर्ण ममता रखना, यह भी सात्विक ममता ही है। शैव अथवा वैष्णव धर्म पर ढोंग न कर उस पर इच्छा रहित ममता रखना यह सात्त्विक ममता है। अब राजस की स्थिति सुनो। निवृत्ति मार्ग को मिथ्या समझना, केवल लौकिक भाग को ही मानना, लौकिक में मान-सम्मान की इच्छा रखना, ऐसी ममता राजसी है। प्रपंच से प्रेम रखना, लौकिक में चाह होना, नामरूप का झंडा फहराना, यह सच्ची राजसी ममता है। पत्नी, बच्चे मेरे हैं, शरीर संबंधी आप्तजन एवं परिवारजन को अपना समझना, धन का लोभ करना, ऐसी बुद्धि को राजस समझना चाहिये। जिन देवताओं की भक्ति करने से नाम, रूप और धन प्राप्त होता है, वे देवता अच्छे लगते हैं ऐसी ममता रजोगुणी है। काम्यकर्मों की चाह रखना, सकाम कर्म करने वालों को अपना समझना, स्वर्गादि विषय सुख को सच्चा मानना यह ममता राजस है। रजोगुण की यह ममता मैंने तुम्हें यथार्थ रीति से समझायी। अब तमोगुण का जो स्वरूप है उसकी व्यवस्था भी बताता हूँ, सुनो। जो अपने देह का अपमान करता है अथवा जो पूर्वजों से द्वेष करता है, उनके बाल-बच्चों से बैर करता है उसकी वह निष्ठुर बुद्धि तामस है। आगे बच्चों के भी बच्चों से जो हमारी जमीन जायदाद की देखभाल कर अपनी उपजीविका चलायेंगे उनसे तामसी बैर करता है, ऐसे मेरे पूर्व के शत्रुओं को मैं जान से मारूँगा और इसके लिये जारण मारण अभिचार कर्म करता है, उसकी ममता सचमुच तामसी है। अभिचार कर्म का मंत्र जानने वालों को वह अपना इष्ट और सगा समझता है, शाकिनी, डाकिनी आदि की उपासना करता है, यह पूर्णरूप से तामसी ममता है। यह वर्णन पर्याप्त हो गया। प्रत्येक गुण में अनेक शक्ति है। ये तीनों गुण जहाँ मिल जाते हैं उसे 'सन्निपात वृत्ति' कहते हैं। कफ, वात और पित्त जहाँ एकत्र होते हैं, वही सन्निपात उत्पन्न होता है। उसी प्रकार यहाँ भी तीन गुणों का सन्निपात होता है। संकल्प विकल्पात्मक मन, पंचविषय, पंचप्राण आदि दशेन्द्रियों का सम्पूर्ण व्यवहार इसी में तीन गुणों का सन्निपात होता है। उसी सन्निपात का निरूपण अर्थात् तीन गुणों का मिश्र लक्षण—जिसे मिश्रगुण सन्निपात कहते हैं—उसे श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं।

धर्मे चार्थे च कामे च यदासो परिनिष्ठतः।
गुणानां संनिकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः॥ ७॥

पुरुष में क्षण-प्रतिक्षण, क्रिया, कर्म, स्वधर्म, काम धन प्राप्त करने का उद्योग जैसी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का उद्भव होना, यही त्रिगुणों का सन्निपात है। गुणों का यह मिश्रण क्या करता है? तो इन तीन गुणों से धर्म तीन प्रकार का होता है, काम तीन प्रकार को होकर रहता है और अर्थ, स्वार्थ और निर्वाह ये भी तीन प्रकार के हो जाते हैं। इसमें कर्म का दोष नहीं है। दोष कर्त्ता की बुद्धि में होता है। वह जो कुछ भी कल्पना करता है, उसका फल स्वयं भोगता है। सुवर्ण अपने सोने के रूप में ही सम्माननीय है, यदि उसका श्वान बना दिया जाय तो वह उसका उपहास होगा। उसी प्रकार स्वकर्म गुणबुद्धि से दूषित होता है। भूमि मूलतः शुद्ध है। उसमें जैसा बीज

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बोयेंगे वैसा फल प्राप्त होगा। उसी प्रकार स्वकर्म स्वयं मूलतया शुद्ध है किन्तु गुणों की वृत्ति के कारण उसका फल भोगना पड़ता है। वाणी स्वाभाविक रूप से सरल और शुद्ध है। रामनाम से उसे ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होता है। लेकिन यदि वह व्यर्थ की बकवास करती है तो वह व्यर्थ हो जाता है और यदि वह निंदा करे तो उसके कारण बाद में महापाप भोगना पड़ता है। उसी प्रकार श्रद्धायुक्त बुद्धि से स्वधर्माचरण करें तो वह मनुष्य को विरक्त कर देता है किन्तु यदि त्रिगुणों का सन्निपात हो जाय तो वही श्रद्धा छल करने लगती है। उसके बारे में भी सुनो। स्वधर्म कर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है और उसके कारण मनुष्य क्षणभर में विरक्ति की ओर मुड़ता है (क्षणभर में उसकी भोगफल की आशा बढ़ने लगती है अथवा क्षण भर में वह ममता के साथ जुड़ जाता है। काम की भी वैसी ही स्थिति है। एक क्षण निष्कामता में प्रेम रहता है, क्षणभर में स्त्रीभोग के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है अथवा क्षणभर में परस्त्री के प्रति ही कामवासना उत्पन्न होती है। यही स्थिति धन की भी है। एक ही क्षण में धन की आशा छोड़ देता है, दूसरे ही क्षण धन के प्रति चाह उत्पन्न होती है अथवा क्षण भर में दूसरे का धन हड़प लेता है। धर्म तीन प्रकार का, कर्म तीन प्रकार का और धन प्राप्त करने में भी तीन भेद हैं। गुणवृत्ति के इस भेद के कारण लोग स्वधर्म छोड़कर अकर्म करते रहते हैं (धर्म सात्विक, अर्थ तामस और काम राजस है। श्रद्धा, रति और धन ये उनके क्रमानुसार फल हैं। मनुष्य धर्म-अर्थ काम इन तीनों में आसक्त होता है यह सन्निपात का काम है) इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम इनमें अनंत गुणों के सन्निपात हैं। यदि उन सबका यहाँ उल्लेख करें तो ग्रन्थ का विस्तार अत्यधिक बढ़ जायगा। इसलिये त्रिगुणों का सन्निपात संक्षेप में बताया। श्रीकृष्ण भी पुनः उसी अर्थ का निरूपण संक्षेप में सुना रहे हैं।

प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाश्रमे।
स्वधर्मे चानुतिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा॥ ८॥

पुरुष को जो गृहस्थाश्रम है वह केवल काम है ऐसा समझना चाहिये। उसमें चित्तशुद्धि के लिये नित्य नैमित्तिक करना यही स्वधर्म है। गृहस्थ के घर में चक्की चलाने में, ऊखल में अनाज कूटने, चूल्हा सुलगाने, पानी भरने और झाड़ू लगाने में जाने-अनजाने जीव हिंसा होती है, वही पंचसूना दोष हैं। गृहस्थाश्रम के कारण ये दोष होते हैं इसलिये उसमें तमोगुण ही प्रमुख होता है और घर में गृहस्थ स्त्रीसुख का उपभोग करता है इसलिये उसमें रजोगुण है। नित्य नैमित्तिक कर्म करना और स्वधर्म का पालन करना यही गृहस्थ का प्रमुख कर्त्तव्य है। यही चित्तशुद्धि का रहस्य है इसलिये गृहस्थाश्रम में सत्त्वगुण भी सुलभ है। गृहस्थाश्रम की जो प्रवृत्ति है वह सदा इन तीन गुणों से मिश्रित है। उन गुणों ने ही उसे गुणयुक्त बनाया है और वे उससे कर्माचरण करवाते हैं। किसी भी रंग से रंगे बिना ही स्फटिक उस रंग का दिखायी देने लगता है। उसी प्रकार गुणों की संगत से गुणात्मक आत्मा भी गुणकर्मों में विचरने लगता है। जिस प्रकार कसौटी स्वयमेव सोने का वर्ण स्पष्ट रूप से दिखाती है, उसी प्रकार पुरुष की क्रिया भी गुणलक्षण के विभाग प्रदर्शित करती हैं।

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः।
कामीदिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम्॥ ९॥

जो उचित ढंग से इन्द्रिय निग्रह करता है, जो शमदम में निरन्तर खेलता रहता है, जिसके अंतःकरण में शान्ति रहती है, वही सच्चा सात्त्विक है ऐसा मान लो। जो सदा फल की इच्छा से लोभी बना रहता है, संसार भोग के सुख की इच्छा करता है, धन के लिये चाहे जैसा ढोंग करता है, वह मनुष्य रजोगुणी है, इसे ध्यान में रखो। स्वधर्म में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिसकी रुचि नहीं होती, अधर्मप्रवृत्ति ही अच्छी लगती है, क्रोध और लोभ ने जिसका उत्साह निगल लिया रहता है, वह सचमुच तामस है, ऐसा समझ लो। इस प्रकार पुरुष का कर्माचरण देखकर उसका लक्षण पहचानना चाहिये। इसका नाम है अनुमान। विचारशील पुरुष इसे जानते हैं। सामान्य ढंग से इन तीनों गुणों का निरूपण किया। लेकिन यदि यह भी समझ में न आ रहा हो तो उन्हीं गुणों की भिन्न-भिन्न वृत्तियों का श्रवण करो।

यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् पुरुष स्त्रियमेव वा॥ १०॥

स्वकर्म का आचरण करते समय फल की इच्छा करना यही माया का परदा है लेकिन जो फल की आशा छोड़, मुझसे मत्स्वरूप होकर मेरे ही भजन में निमग्न रहते हैं, फल की आशा छोड़ स्वधर्म से ही मेरा भजन करते हैं, फिर वे पुरुष हों या स्त्री हों उन्हें सत्त्वगुण सम्पन्न समझना चाहिये। देह के अवयवों का जो स्वरूप होता है उसके अनुसार उसे स्त्री या पुरुष यह नाम प्राप्त होता है। लेकिन स्त्री-पुरुषों में आत्मा या आत्मी यह भेद नहीं होता। उनमें जीवभाव एक ही जैसा होता है। चित्त को एकाग्र कर जिस क्रिया का आचरण होता है, उसका नाम है कर्म। उसमें निरपेक्ष दृष्टि से मेरा भजन करना यही सम्पूर्ण स्वधर्म है। यहाँ ऐसी आशंका उत्पन्न होती है कि यदि कर्म करते समय फल की आशा बढ़ती चली जाय तो उस फल का भोग भोगना पड़ता है। फिर ऐसे स्वकर्म से भक्ति कैसे होगी? अर्थात् वह फल अत्यन्त खराब है। कर्म करने पर उसका फल बाधक होता है और न करने पर नरक भोगना पड़ता है। इस प्रकार इस संसार में कर्म से ही लोग बँधे हुए हैं। जो जीव स्वतंत्र था, उसे कर्म ने ही पराधीन किया। इस कर्म का चरित्र इतना विचित्र और अत्यन्त बाधक है। तब स्वकर्म से ही भक्ति किस प्रकार सम्भव है? इस शंका के उत्तर के रूप में भगवान उसका ही प्रकार बताते हैं यदि दौड़ कर सर्प का मुँह पकड़ा जाय तो वह पूरे शरीर को घेर लेता है और उससे बचने के लिये यदि उसका मुँह छोड़ दें तो वह दंश कर अपने प्रखर विष से प्राणनाश कर देता है। उस सर्प दंश का निवारण जिस प्रकार मंत्रवादी अथवा मदारी करता है, उसी प्रकार कर्म में ही उत्पन्न कर्म की बाधा गुरुराज तत्काल नष्ट कर देता है। सद्गुरु की शरण जाने से वह सारा कर्म ब्रह्मार्पण करा देता है और उद्धव! निष्काम बुद्धि से भगवत्सेवा करने का यही सच्चा लक्षण है, यह जान लो। ब्रह्म ही कर्म का प्रकाशक है अतः सारा कर्म ब्रह्मात्मक ही है। ऐसी भावना धारण करना यही सचमुच मुझे कर्म अर्पण करना है। इसी ढंग से मेरा भजन करना चाहिये। सारी इन्द्रियों में ज्ञान की स्फूर्ति होना, यही ब्रह्मा की ब्रह्मशक्ति है। ऐसे निश्चय से कर्म का आचरण करना, इसी का नाम स्वकर्म भक्ति है। इस प्रकार के स्वकर्म से स्वाभाविक रूप से जो भक्त मेरा भजन करते हैं वे सारे लोग हे उद्धव! शुद्ध सात्त्विक हैं, ऐसा निश्चयपूर्णक समझो। जो लोग स्वधर्म को पूरी तरह निष्फल मानते हैं, वे केवल मूर्ख हैं। स्वधर्म ही चित्त के मैल को स्वच्छ करता है और सारे कर्मों को समूल नष्ट करता है। स्वधर्म से होने वाले ऐसे लाभ को छोड़ जो लोग विषय माधुरी की इच्छा करते हैं वे बेचारे राजस हैं। वे विषयसुख में ही पागल दिखायी देते हैं। विषय फल की इच्छा करने से उसके लिये देह धारण करना पड़ता है और देहधारण करना दुःखदायी होने के कारण उसके योग से स्वर्ग, नरक आदि फल भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार संसार में राजस और तामस प्रकृति दुःखदायक ही है। उन दोनों प्रकारों की गुणवृत्ति सुनो। तुम्हें स्पष्ट करके बताता हूँ।

यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः।
तं रजःप्रकृतिं विद्याद्धिंसामाशास्य तामसम्॥ ११॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वधर्म का आचरण कर जो नाना प्रकार के फलों की इच्छा करता है, वह उसका कर्म काम्य है, यह जान लो। उसे राजस धर्म कहते हैं। जो अंत:करण में अत्यन्त लोभी होता है वह जो भी कर्म-धर्म-आचरण करता है वह सब लोभवश ही होता है क्योंकि उस कर्म का फल मिले यही उद्देश्य रहता है। कर्म के मूल स्वरूप में काम्यत्व बिलकुल नहीं होता। कामना उस कर्म को काम्य बनाती है। सुवर्ण वास्तव में अपने मूल स्वरूप में स्थिर रहता है किन्तु हम बड़े परिश्रम से उसके अलंकार बनाते हैं। उसी प्रकार स्वकर्म स्वभाव से पवित्र ही है। स्वधर्म से मेरा शुद्ध भजन घटता है लेकिन उसमें फल की इच्छा कर हम स्वयं ही उसे काम्य बना देते हैं। फल की इच्छा से मेरी जो उपासना की जाती है, वह मेरा भजन नहीं बल्कि केवल मेरे फल का भजन है। इस प्रकार जो सकाम स्वधर्माचरण किया जाता है, वह प्रकृति राजस है यह मान लो। इस प्रकार की प्रकृति का खेल जहाँ दिखायी दे, फिर वह स्त्री हो या पुरुष हो, वे सारे लोग राजस हैं, यह समझ लो। अब तामस की गुणवृत्ति सुनो। अंत:करण क्रोध से भरा होता है और उसी से उसका स्वधर्माचरण होता है इसलिये वह अपने शत्रु के लिये मृत्यु के फल की ही इच्छा करता है। वह प्रकृति तामस है। जिसके अंत:करण में द्वेष ने घर बनाया होता है, जिसके मन में असीम क्रोध रहता है, जो प्राणिमात्र के प्रति निष्ठुर होता है, जिसकी प्रकृति सदा क्रूर रहती है, ऐसे स्वभाव का पुरुष हो या स्त्री हो, उद्धव! वे लोग संसार में तामसी हैं यह निश्चयपूर्वक जान लो। देखो, "जीव यदि स्वरूपत: ब्रह्म ही है, तो फिर भगवान उसे 'मेरी (भगवान की) भक्ति करो' ऐसा क्यों कहते हैं? जीव ही सेवक क्यों बन गया? और भगवान ही 'सेव्य' (जिसकी सेवा की जाती है) कैसे बन गया?" यह शंकर नष्ट हो इसलिये श्रीकृष्ण इसी अर्थ का निरूपण करते हैं कि यह सेव्य-सेवक भाव गुण सम्बन्धों के कारण उत्पन्न हुआ है।

सत्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते॥ १२॥

जिस प्रकार छाया देह के साथ बँधी न होने पर भी सदा देह के साथ ही रहती है, उसी प्रकार माया भगवान के अधीन रहकर, उसे स्पर्श किये बिना ही वह अपने साथ चलाता रहता है। सचमुच माया को साथ चलाने वाला और उसे अदृष्य करने वाला प्रभु भगवान ही है। लेकिन वेद उसे ही माया का नियंता कहते हैं। सूर्य अँधेरे को नष्ट करता है, किन्तु वह अँधेरा जिस प्रकार उसके सामने कभी नहीं आता, उसी प्रकार माया का नियंता यद्यपि हरी है, फिर भी माया भगवान को नहीं दिखायी देती। मेरा केवल देखना यही माया का मुख्य लक्षण है। मेरे पास माया अपने गुणाभिमान के साथ नहीं रहती। माया में प्रतिबिम्बित जो चैतन्य होता है उसे ही जीवत्व कहते हैं। तीन गुणों ने उसे देह को आबद्ध कर देहाभिमान को दृढ़ कर दिया है। जीव को यदि देहाभिमान चिपका हुआ हो तो वह माया के अधीन होता है। अत: माया का नियंता मैं नारायण, वही जीव का भी स्वामी हो गया यह समझ लो। जीव गुणों के अभिमान से बद्ध रहता है इसलिये वह सेवक हो गया और आत्मा गुणों से अलिप्त अर्थात् निर्मल होने के कारण, वही जीव को जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ाने वाला हो गया। देखो! इस प्रकार सेव्य सेवक भाव का विभाग दिखाकर तीन गुणों का सम्बन्ध भगवान स्वयं स्पष्ट करके बता रहे हैं। तीन गुण समान ही हैं किन्तु उनमें जिन-जिन गुणों का क्षोभ होकर वे अधिक बढ़ जाते हैं उनका स्वरूप श्रीहरि बताते हैं। ब्रह्म अपनी पवित्रता के लिये प्रसिद्ध है। कर्म भी अपनी निर्मलता के कारण अत्यन्त शुद्ध है। फिर भी कर्म में जो कर्म का बन्धन उत्पन्न होता है वह गुण क्षोभ के योग से विकृत हुए चित्र का संबंध है। कर्म और ब्रह्म में कोई दोष नहीं है। दोष चित्तवृत्ति में है और वह भी गुणक्षोभ के कारण होता है। वही पुरुष

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को अनर्थ में फँसाता है। इस अर्थ का निरूपण कर मैंने गुणों का मिश्र लक्षण बताया। अब प्रत्येक गुण बढ़ने पर उस गुण का स्वरूप कैसा हो जाता है, सुनो। जो गुण अत्यधिक बढ़ता है, उसकी आज्ञा में अन्य गुण विचरण करते हैं। उस समय पुरुष की स्थिति कैसी रहती है वह श्रीहरि उद्धव को बताते हैं।

यदेतरौ जयेत् सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम्।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान्॥ १३॥

जो पुरुष फल की आशा समूल छोड़कर निर्विकल्प, अभिमानरहित होकर स्वधर्माचरण करने लगता है,उसका सत्त्वगुण रज और तम इन दोनों गुणों पर विजय प्राप्त करता है। जब भाग्य का भण्डार खुलता है, उस समय हरिकथा श्रवण का सुअवसर प्राप्त होता है, मुख से हरिनाम कीर्ति का वर्णन करना अच्छा लगता है और इस प्रकार अत्यन्त शुद्ध सत्त्व की वृद्धि होती है अथवा यदि ईश्वरकृपा से सत्संगति का लाभ प्राप्त हो जाय तो भगवान के गुणानुवाद सुनने के लिये कान आतुर हो उठते हैं और वाणी अत्यन्त प्रेम से रात दिन भगवान की नामकीर्ति का वर्णन करने में लीन हो जाती है। इस प्रकार के आचरण से रज और तम ये दोनों गुण क्षीण हो जाते हैं और सत्त्वगुण अत्यन्त उत्साह से बढ़ता है। उस सत्त्व की साद्यंत स्थिति सुनो। तेजरूप से अत्यन्त प्रकाशयुक्त, स्वच्छता से अत्यन्त निर्मल, शिव का अर्थ है शांत और सरल, यह सत्व का प्रमुख स्वरूप है। सत्व की यह सत्ववृत्ति जिसके हाथ लगती है, उस साधक पुरुष की स्थिति उस समय कैसी होती है, सुनाता हूँ। उसे उस समय विवेक की नौका मिल जाती है। उसे वैराग्य का आत्मरहस्य प्राप्त होता है। समस्त इन्द्रियों पर प्रकाश पड़ता है और स्वधर्म तो अपने शिखर पर पहुँच जाता है। उस समय लोग उसे जबर्दस्ती से अधर्म, अहंकार, अभिमान, झूठ आदि की शिक्षा भले ही देते हों लेकिन वह अधर्म के कृत्य बिलकुल नहीं करता। दुःख का साधन सन्निकट होने पर भी सात्त्विक वृत्ति का पुरुष सदा सुखसम्पन्न ही रहता है। सात्त्विक का मन बलात्कार से क्षुब्ध होने पर भी क्षुब्ध नहीं होता। ऐसी आत्मसत्त्व की दृष्टि से सुख ही सुख से मिलने आने पर, सारी सृष्टि आत्मानंद से भर गयी है ऐसा उसे लगता है। यही शुद्ध सत्व की बाढ़ है। जिसके पास ऐसा शुद्ध सत्त्व रहता है, उसकी सेवा शम और दम करते हैं। वैराग्य उनके चरणों पर गिर पड़ता है। उद्धव! ऐसा सात्विक पुरुष मानों सत्त्व गुण का भण्डार ही है। उसी प्रकार सत्व और तम को जीत कर जब रजोगुण बढ़ता है, उस समय का राजस का लक्षण सुनो। इतना कहकर श्रीकृष्ण आगे कहने लगे।

यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्ग भिदा बलम्।
तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया॥ १४॥

रजोवृद्धि का कारण है, देह में ज्ञानाभिमान उत्पन्न होना। ऐसा पुरुष पग-पग पर दूसरों के गुण और दोषों को देखता रहता है और सम्मान तथा प्रतिष्ठा की इच्छा करता है। रजोगुण की कीर्ति अद्भुत है। ऐसे मनुष्य को ज्ञान होते हुए भी कामासक्ति रहती है। वह मन में अनेक प्रकार के भोगों की इच्छा रखता है। इससे रज की बाढ़ अमर्यादित हो उठती है। इस प्रकार रजोगुण की बाढ़ प्रबल होकर वह सत्त्व और तम को जमीनदोस्त कर देती है। अब, जिससे रज का भी स्वरूप नष्ट हो जाता हो, ऐसी बात बताता हूँ। मूल श्लोक में रजोगुण 'सङ्ग-भिदा-बलभ्' इन तीन शब्दों में कहे गये तीन प्रकार से प्रबल होता है, यह केवल रजोगुण का वर्णन है। उसे ही श्रीकृष्ण स्पष्ट करके बताते हैं। संग का अर्थ है—देहाभिमान। भेद का अर्थ है 'मैं और मेरा' यह भेदभाव। बल का अर्थ है प्रबल इच्छा और प्रवृत्ति का पूर्व आग्रह। देहाभिमान से दुःख उत्पन्न होता है। भेद से भय पीछा करता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है और ऐसा मनुष्य उस नश्वर देह के बल से काम्य कर्म का आचरण शुरु करता है। जिस कर्म के योग से यश और अकूत धन प्राप्त हो ऐसा कर्म वह करता ही जाता है। रजोगुण से ऐसा आचरण घटता है। त्रिभुवन में मैं ही अकेला पवित्र हूँ। मेरा ही कर्माचरण श्रेष्ठ है, इस प्रकार की प्रवृत्ति, मान्यता और आसक्ति का होना, यही राजस स्थिति समझनी चाहिये। रज का बल बड़ा अद्भुत रहता है। उसके कारण मनुष्य अद्‌भुत काम करना स्वीकार कर लेता है और अपने उद्योग का दायरा बढ़ाता है। इसे श्रेष्ठ राजस गुण समझना चाहिये। ऊपर से उसकी वृत्ति सात्त्विक लगती है किन्तु अंत:करण में कर्म की वासना और धन का लोभ रहता है और जिसके मन में स्त्री की चाह होती है, वह सचमुच राजस है। अब सत्त्व और रजोगुण इन दोनों को जीतकर जब तमोगुण पूरी तरह बढ़ता है, उस समय के उस पुरुष के लक्षण स्वयं श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

यदा जयेद् रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम्।
युञ्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाऽऽशया॥ १५॥

सत्त्व और रज का लोप कर तमोगुण जब प्रबल होता है तो वह उस पुरुष को पूरी तरह जड़, मूढ़ और अत्यन्त स्तब्ध कर देता है। जब अत्यन्त विश्वास जताकर पराया धन डुबाने का कार्य होता है, अथवा परस्त्रीगमन होता है, उस समय उस घटना से तमोगुण बढ़ गया ऐसा समझना चाहिये। अपने ही मुख से दूसरों के दु:खों का उच्चार करना, स्वयं साधु की निंदा करना, संतसज्जनों का द्वेष करना, ये लक्षण जहाँ दिखायी दें वहाँ तमोगुण ने अड्डा जमा लिया है, ऐसा समझना चाहिये। कोहरा छाने पर सूर्य ढँक जाता है, उसी प्रकार विवेक के अस्तित्व को भी तमोगुण ढँक देता है। सत्वगुण प्रकाश देता है, रजोगुण प्रवृत्ति बढ़ाता है और इन दोनों को निगल कर तमोगुण की वृद्धि अधर्म के योग से बढ़ती ही जा रही है। श्रेष्ठ जनों का अपमान करने से अथवा साधु का गुणदोष देखने से तमोगुण किस प्रकार क्षुब्ध होता है उसका स्वरूप सुनो। तमोगुण जब पर्याप्त मात्रा में बढ़ता है तो स्फूर्ति मंद होती है और तमोगुण बुद्धिनाश कर जीव को जड़ बना देता है। कार्य कौन सा और अकार्य कौन-सा इस विचार का ज्ञान, उसकी स्फूर्ति पूर्ण रूप से अन्धी हो जाती है। इसका नाम है, मूढ़ता। अब लय का लक्षण सुनो। चित्त जागृत अवस्था में होते हुए भी जब अर्थ, स्वार्थ, परमार्थ अथवा कृत्य-अकृत्य कुछ नहीं सूझता, इसी का नाम है लय। उद्योग न करने से सारे इन्द्रियों के व्यापार कुंठित हो जाते हैं और ज्ञानशक्ति पूरी तरह लुप्त हो जाती है, इसका नाम है जड़त्वप्राप्ति। मूढत्व के कारण शोक और दु:ख प्राप्त होता है। जड़त्व से मिथ्या मोह उत्पन्न होता है और मोह के कारण अधर्म में अत्यन्त अविचारी होकर पाप हो जाता है। अब लय का चमत्कार सुनो। अहोरात अत्यन्त निद्रा आती है। तामस को निद्रा के सिवा ब्रह्मानन्द का सुख भी नहीं भाता। तमोगुण पूरी तरह बढ़ने पर पुरुष की ऐसी स्थिति होती है। अब सत्वादि गुण बढ़ने पर कौन-सा फल प्राप्त होता है, उसे श्रीकृष्ण बताते हैं।

यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः।
देहेऽभयं मनोऽसङ्ग तत्सत्व विद्धि मत्पदम्॥ १६॥

सत्वगुण बढ़ने पर अंत:करण सदासर्वदा प्रसन्न रहता है और काम, क्रोध और लोभ का बिलकुल स्फुरण नहीं होता। विषय भोग के लिये जो चित्त व्याकुल रहता था, वही अब विषयोपभोग में उदास रहता है। विषय भले ही देह पर गिर पड़े लेकिन वह उनसे नहीं उलझता। जिस प्रकार पानी में रहकर भी कमलिनी का पत्ता पानी से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार मेरे ज्ञान के कारण चित्त विषय में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देह को मृत्यु का भय तो सदा का लगा हुआ है। वह मृत्यु देह के पास आने पर भी सात्त्विक के मन में भय नहीं उत्पन्न होता क्योंकि ऐसे सात्विक लोग मेरे चरणों पर भक्तिरस में डूबे रहते हैं। जब तक 'मैं तुम' का भास होता है, तब तक मृत्यु अवश्य बाधक होती है। लेकिन सात्विक भक्त मेरे अधिकार से भिन्न नहीं होता इसलिये उसे मृत्यु का भय नहीं है। जो सात्विक है वह अनन्य भाव से मेरी शरण में आया रहता है इसलिये उसे जन्म-मरण बाधक नहीं होता। सत्त्वगुण मनुष्य से इस प्रकार का व्यवहार कराता है। अब रज का लक्षण सुनो।

विकुर्वन् क्रियया चाधीरनिदृत्तिश्च चेतसाम्।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्नीशामय॥ १७॥

जब रजोगुण उफनता है तो विषय की भयंकर चिन्ता उत्पन्न होती है। अतः कर्मेन्द्रियों से नाना प्रकार के ठाठ-बाट प्रारम्भ कर देता है। शरीर स्वस्थ होते हुए भी मन चिंतातुर और भ्रांत रहता है। विषयों का स्वार्थ बढ़ा कर वह सदा दुःखी रहता है। पत्नी, बच्चे, धन, सम्पत्ति आदि होते हुए भी वह रजोगुण मन का स्वार्थ और भी अधिक बढ़ाता है। राजस की चित्तवृत्ति क्षणभर के लिये भी निवृत्ति नहीं चाहती। हे उद्धव! विकार का कारण न रहते हुए भी हम मन में विकार का चिंतन करते हैं यही राजस का प्रमुख लक्षण है। न घना अँधेरा हो और प्रकाशयुक्त दिन भी न हो, ऐसी जो इन दोनों के बीच की हलकी अँधेरी शाम रहती है, ठीक वैसा ही रजोगुण होता है। अब तमोगुण का लक्षण सुनो। उसका लक्षण जड़त्व है।

सीदच्चितं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम्।
भनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय॥ १८॥

चित्त में गहन चिन्ता उत्पन्न होकर उस चिन्ता के असाध्य मोह में चित्त डूब जाता है और किसी भी प्रकार के ज्ञान का उसके हृदय में उदय नहीं होता। प्रगाढ़ निद्रा के अलावा जितना भी कुछ अज्ञान रहता है वह सब ज्ञान को देखकर भागने लगता है, लेकिन उसमें एक चमत्कार होता है और वह यह कि वह अज्ञान उस ज्ञान को निगल लेता है। तामस पुरुष जगा रहने पर भी सोया हुआ-सा लगता है। जिस प्रकार कोई अन्धा अमावस की रात जब आकाश बादलों से घिरा हो, उस समय किसी तरह लड़खड़ाता हुआ चलता है उसी प्रकार वह कर्म तो करता है लेकिन पर्याप्त उत्साह नहीं होता। पूरा आलस का गोला बना गठरी की तरह पड़ा रहता है। तमोगुण की ग्लानि की पीड़ा ऐसी होती है। उसके कारण चित्तवृत्ति की दृष्टि पर परदा पड़ा रहता है। मनोवृत्ति सदा संकल्पों और विकल्पों की कल्पना कर ऊँची उड़ान भरती है किन्तु तमोगुण के कारण उस मन की स्थिति जड़ हो जाती है और संकल्प का उत्साह भी नहीं रहता। इस प्रकार मनोवृत्ति का लय करने वाली ऐसी तमोवृत्ति की वृद्धि होती है। इस प्रकार जब तम का बाल बढ़ जाता है उस समय अज्ञान ही मन को खा जाता है। मन नष्टप्राय होकर मूढ़ होकर बेहोश पड़ा रहता है। लेकिन मन यदि पूरी तरह नष्ट ही हेा जाता तो फिर महादुःख कौन भोगता? इसलिये तम से ही एकरूप होकर मन जड़मूढ़ होकर पड़ा रहता है। उद्धव! इस प्रकार की जो स्थिति होती है वह अत्यन्त दुःखदायी होती है। इसी को तम की स्थिति समझ लो। गुणों की वृद्धि बढ़ाते समय किस गुण से कौन सी वृद्धि बढ़ती है इसका निरूपण श्रीकृष्ण स्वयं करते हैं।

एधमाने गुणे सत्वे देवानां बलमेधते।
असुराणां च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम्॥ १९॥

दैवी, आसुरी और राक्षसी यही तीन प्रकार के गुणों की सम्पत्ति है। इन्द्रियों की जो स्थिति ब्रह्माण्ड में रहती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है, वही स्थिति पिण्ड में रहती है। ब्रह्माण्ड के सारे देवता महापुरुष के अवयव हैं। पिण्ड में भी वे सब एक होकर रहते हैं। स्वधर्मशास्त्र के अनुसार उचित निष्कर्म की ओर जो प्रवृत्ति होती है, ऐसी इन्द्रिय प्रवृत्ति जहाँ होगी, वही दैवी या सत्वस्थ सम्पत्ति है। मन में दृढ़ कामासक्ति और स्वधर्म के अनुसार आचरण करने की जो इन्द्रिय प्रवृत्ति रहती है, वह राजस अर्थात् आसुरी सम्पत्ति है। लोभ और मोह के वश में होने के कारण मन में क्रोध का होना और अधर्म की ओर प्रवृत्ति होना, ऐसी जो इन्द्रियों की स्थिति होगी, वह तामसी और राक्षसी सम्पत्ति है। क्षण में इच्छारहित होना, ऐसा स्वधर्म जहाँ बढ़ता है उसे वह राक्षसी वृत्ति समझनी चाहिये। वह दैवी और आसुरी वृत्ति का विनाश करती है। सकाम-निष्काम मोहभ्रम में फँस कर जिसकी वृत्ति व्यवहार करती है, वहाँ देवता, असुर और राक्षस इन सब में भयंकर झगड़ा चलता रहता है। क्षणभर के लिये परमार्थ मे रुचि, क्षणभर के लिये द्रव्य की इच्छा, क्षणभर के लिये अनर्थ करने में रुचि, क्षण में पराया धन और परायी स्त्री में रुचि। ऐसी चित्तवृत्ति में सच्ची शांति कभी नहीं प्राप्त होगी। फिर परमार्थ की प्राप्ति किस ढंग से होगी? साधक लोग हमेशा पूछते रहते हैं कि चित्तवृत्ति में कौन-सी पीड़ा होती है? उसी पीड़ा की स्थिति तुम्हें स्पष्ट करके बतलायी। यदि एक ही गुण पूर्ण रूप से स्थिर हो जाय तो एक ही प्रकार की वृत्ति बढ़नी चाहिये, लेकिन वैसा होता नहीं है। गुण एक-दूसरे का अपमान करते हुए झगड़ते रहते हैं। एक ही गुणावस्था प्राप्त नहीं होती इसलिये एकविधता नहीं हो पाती और अमर्याद भवपीड़ा की बाधा होती रहती है। तमोगुण अधर्म की ओर बढ़ता रहता है, रजोगुण देहकर्म में लगता है और सत्त्वगुण की वृद्धि ही नहीं होती। फिर जीव की मुक्ति कैसे हो? रज और तम इन दोनों के चंगुल में सत्त्व फँसा रहता है। वह बढ़ ही नहीं सकता। उस सत्त्व गुण की बाढ़ केवल आशा को समूल नष्ट करने से होती है। तीन गुणों की त्रिकुटी हमने अपने अंत:करण में कल्पना के ही बल पर खड़ी की रहती है और अंत में वही संसार भय के रूप में बाधक बनकर खड़ी रहती है। सत्त्व के योग से देवताओं को बल प्राप्त होता है, रजोगुण से दैत्य प्रबल होते हैं और तमोगुण से केवल राक्षसों का जोर बढ़ता है। इन तीन गुणों की वृत्तियों की व्यवस्था तुम्हें बतायी। अब तीन अवस्थाओं के सम्बन्ध में भी बताऊँगा।

सत्वाज्जागरणं विद्याद् रजसा स्वप्नमादिशेत्।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु संततम्॥ २०॥

सत्वगुण देह में हो तो जीव को स्वप्न और सुषुप्ति स्पर्श नहीं करती और जीव में जो निरन्तर जागृति रहती है, उससे इन्द्रिय प्रवृत्ति सचेत रहती हैं। रजोगुण प्रबल होने पर स्वप्न चित्तवृत्ति पर विजय प्राप्त करता है। जागृति और सुषुप्ति दूर चली जाती हैं और वह राजस पुरुष बैठे-बैठे ही स्वप्न देखने लगता है। तमोगुण जब बढ़ जाता है तो वह जागृति और स्वप्न इन दोनों को दूर भगाता है और जीव पर गहरी निद्रा का प्रभाव छा जाता है। उसे सभा में बैठाने पर वह बात करते-करते ही झपकी लेने लगता है। खाना खाते-खाते ही वह गहरी निद्रा में सो जाता है। हे उद्धव! क्षण में जागृति, क्षण में सुषुप्ति अर्थात् निद्रा, क्षण में स्वप्न का अनुभव; यह वास्तव में तीन गुणों की मिश्र वृत्ति है। अब जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं को प्रकट करने वाला जो आत्मतत्व है, उस चौथी अवस्था को ज्ञाता लोग तुर्यावस्था कहते हैं। उद्धव! जो जागृति को जगाती है, जो स्वप्न में स्वप्न को परिचालित करती है और जो निद्रा को भी सुलाती है, उस अवस्था को तुरीय अवस्था कहते हैं। जो तीनों अवस्थाओं में होते हुए भी उनमें भासित नहीं होती, जो निर्गुण होते हुए नित्य रहती है, उस अवस्था को ही तुरीय कहते हैं। जिस प्रकार पुत्र के जन्म के कारण पुरुष को 'पिता' यह नाम प्राप्त होता है, उसी प्रकार तीनों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अवस्थाओं के गुण उसमें होने के कारण ही उसे तुरीय कहते हैं। परब्रह्म में इन सभी अवस्थाओं का आभास होता है और इस प्रकार भासमान होने वाली अवस्था तत्काल नष्ट हो जाती है। किन्तु उस भास के विनाश के कारण परब्रह्म नष्ट नहीं हो जाता। वह तुरीय भी शेष रहता है। तुरीय यह अवस्था त्रिकाल निरन्तर रहने वाली है। अब गुणवृद्धि के कारण कर्म की जैसी गति होती है उसका वर्णन श्रीकृष्ण सुनाते हैं।

उपर्युपरि गच्छन्ति सत्वेन ब्राह्मणा जनाः।
तमसाधोऽध आमुख्याद् रजसान्तरचारिणः॥ २१॥

ब्राह्मणजन ही मुख्यतः सत्वगुण के आश्रय स्थान हैं। ऐसे जो ब्राह्मण ब्रह्मार्पण न करने पर भी स्वधर्माचरण करते हैं, उन्हें स्वधर्म की कर्मशक्ति से ही ऊर्ध्वलोक में जाने को मिलता है। अब उन ब्राह्मणों को अलग-अलग लोग कैसे प्राप्त होते हैं, वह भी सुनो। जो सात्त्विक ब्राह्मण होते हैं, वे स्वर्गलोक और महर्लोक को पार कर जनलोक में पहुँचते हैं और बाद में तपोलोक का भी उल्लंघन कर सत्यलोक पहुँचते हैं। रजोगुण बढ़ने पर जीव को शूद्रादिक चांडाल जाति प्राप्त होती है और वह बार-बार जन्म, मृत्यु के भोग भोगता ही रहता है। तमोगुण बढ़ने पर पश्वादि योनि में जन्म लेकर मच्छर, मक्खी, पेड़, पत्थर आदि योनि भोगनी पड़ती हैं। प्राणी के अंतकाल में देह में जो गुण बढ़ता है, उस मृत्यु का क्या फल है उसे श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं।

सत्वे प्रलीनः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः॥ २२॥

संसार में तीन गुण प्रमुख हैं। उसमें जिसे सत्वगुण बढ़कर मृत्यु आती है, वह स्वर्ग का सुख भोगने के लिये दिव्य देह प्राप्त करता है। इस प्रकार सात्विक पुरुष सत्वगुण के ही प्राबल्य में मृत्यु पाने पर स्वर्गलोक जाते हैं। रजोगुण में मृत्यु पाने पर उन्हें मनुष्यलोक प्राप्त होता है और अन्त में काल में तमोगुण की अधिकता होकर मृत्यु होने पर, वे अत्यन्त दुःखदायी और महाभयंकर नरक भोगते हैं। प्रेम से मेरी भक्ति करने पर भक्तों के हृदय में, अंत समय में मेरी आत्मतेज से दीप्त मूर्ति प्रकट होती है। शंख, चक्र, गदा आदि सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र धारण किये पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण का ध्यान कर जो मरण प्राप्त करता है, वह वैकुण्ठ में मत्स्वरूप हो जाता है। समस्त प्राणिमात्र में मैं ही आत्मा के रूप में परिपूर्ण विद्यमान हूँ। इस प्रकार जिनका भजन अखण्ड चलता रहता है, वे जीवित अवस्था में ही तीनों गुणों को जीत कर निर्गुण पद को प्राप्त करते हैं। यदि दैवयोग से उन्हें मरण आ जाय तो मेरे सिवाय उन्हें कोई स्थान नहीं है। निजानंद से परिपूर्ण होने के कारण वे स्वयं ही निर्गुण स्वरूप हो जाते हैं। मेरा निर्गुण स्वरूप, अथवा वैकुण्ठ में मेरा सगुण स्वरूप ये दोनों सचमुच एक ही हैं। जो कोई स्वर्ग, नरक, मृत्युलोक अथवा शुद्ध निर्गुण स्वरूपं प्राप्त करते हैं, उनके साधनों का चमत्कार श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं।

मदर्पण निष्फलं वा सात्विकं निज कर्म तत्।
राजसं फलसंकल्पं हिंसाप्रायदि तामसम्॥ २३॥

सारी क्रियाओं तथा कर्म आदि का आचरण बिना संकल्प लिये करने से, वह स्वयं ही ब्रह्मार्पण हो जाता है। यही शुद्ध सत्त्व से निर्गुणस्वरूप का साधन है। वही सभी वर्णाश्रम धर्म का आचरण करता है लेकिन उसके फलों की इच्छा नहीं करता। उसमें मेरी भक्ति का प्रेम ही रहता है। मेरा भजन करना यही स्वधर्म है। इसी का नाम है, अपना कर्त्तव्य। यह रहस्य जो जानता है उसके ही कर्म को 'सात्त्विक कर्म' कहते हैं। जो अपने धर्म के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनुसार आचरण कर, इन्द्रादि देवताओं को यज्ञयाग कर सन्तुष्ट करता है और उससे ऐहिक और पारलौकिक फलों की इच्छा करता है, उसका यह कर्म 'राजस' है। जिस कर्म में प्रत्यक्ष हिंसा घटती है अथवा जारणमारणादि प्रयोग करना आवश्यक रहता है और कर्म का स्वरूप ही घृणित मालूम होता है वह कर्म स्पष्ट ही तामस है। जिस कर्म में ढोंग ही दिखाई देता है, जिसमें साधुओं के प्रति ईर्षा की जाती है, जिसमें दूसरों की पर्याप्त निन्दा की जाती है, वह कर्म तामस है। अब तीन गुण और निर्गुण इन चार प्रकारों का लक्षण श्रीकृष्ण आगे के श्लोक में स्वयं बताते हैं।

कैवल्यं सात्विक ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्टं निर्गुणस्मृतम्॥ २४॥

देह में रहते हुए हम देह से भिन्न हैं, समस्त प्राणिमात्र में भगवान परमात्मा के रूप में अंतर्बाह्य व्याप्त है, यह ज्ञान सचमुच सात्विक है। भिन्न जाति, भिन्न आकार, भिन्न नाम, भिन्न क्रिया इन सबमें ब्रह्म को अभिन्न स्वरूप समझना, यह ज्ञान सचमुच ही सात्विक है। वेदशास्त्र पठन कर, आत्मज्ञान का विचार करते समय जो विकल्प के कारण सन्देह करता है, उसके वे विकल्प पूरी तरह राजस हैं। वार्तिक का अध्ययन करने पर भी जिसके चित्त में अद्वैत का निश्चय नहीं हो पाता, अपने ही तर्क से उसमें विकल्प खोजता है, यह उसका ज्ञान राजस है। वेदशास्त्र श्रवण करने पर भी जो शिश्नोदर परायण होता है, इन्द्रियों की संतुष्टि के प्रति ही जिसकी चाह रहती है, वह पूर्णरूप से राजस है। मन का कोई निश्चय न हो और अनेक विकल्प उत्पन्न होते हों, यह रजोगुण की ज्ञानवृत्ति है। अब तमोगुण के बारे में सुनो। ज्ञान की जितनी भी स्फूर्ति होती है उसे महामोह ग्रस लेता है। मैं जड़-अंध हूँ यही सच मानता है। क्षणभंगुर पदार्थों पर आसक्ति धरता है। उसका वह ज्ञान सचमुच ही तामस है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन यही पशुतुल्य ज्ञान सचमुच तामस है, इसे ध्यान में रखो। अब निर्गुण के बारे में सुनो। उद्धव! कार्य, कर्त्ता और कारण यह त्रिकुटी तीन गुणों को शून्य कर चैतन्यस्वरूप में रहती है, वह निर्गुण ज्ञान है। सत्व के उल्हास से सर्वेन्द्रियों में जो ज्ञान प्रकट होता है, उसे वह व्यर्थ समझता है क्योंकि वह कहता है कि ज्ञानरूप में मैं अनादि हूँ। समुद्र के पानी से ही नदियाँ बहती हैं। वे नदियाँ समुद्र में आकर मिलती हैं, लेकिन इससे समुद्र इतराता नहीं है। उसी प्रकार ज्ञान की स्फूर्ति होने से उसे उसका महत्त्व नहीं मालूम होता। रजोगुण के कारण यदि उसके मन में कोई इच्छा उत्पन्न हो तो भी वह उसे क्षुब्ध नहीं कर सकती। वह कहता है कि मेरे कारण ही काम्य कर्म चलता है, किन्तु अन्त में मैं स्वयं निश्काम ही हूँ। जिस प्रकार सूर्य को ग्रीष्म ऋतु की बाधा नहीं होती उसी प्रकार काम्य कर्म का विधि होते समय उस कर्म में मेरा सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु मेरे ही कारण काम सवेग और सोज्वल होता है। तमोगुण बढ़ने पर महामोह का घेरा जकड़ लेता है। लेकिन उस मोह की परवाह न कर वह मोह का सच्चा स्वरूप अच्छी तरह जानता रहता है। जहाँ सूर्य नहीं दिखायी देता, वहाँ अन्धकार छा जाता है, उसी प्रकार स्वरूप निष्ठा के कारण मोह का संकट कभी बाधक नहीं होता। तीनों गुण भले ही शरीर पर क्यों न गिर पड़ें लेकिन वह अपना सन्तुलन नहीं खोता। उद्धव! वही सचमुच निर्गुण की आत्मनिष्ठा है, इसे ध्यान में रखो। अज्ञान के प्रसंग में जो ज्ञान की इच्छा नहीं करता, अथवा विषयों में प्रवृत्त होकर निष्कामता की इच्छा नहीं करता अथवा मोह की झड़ी लगने पर भी जिसके ज्ञान में कोई परिवर्तन नहीं होता, ऐसा मेरा भक्त मेरी श्रद्धा के कारण त्रिगुण में ही निर्गुणत्व से रहता है। तीन गुणों का तीन प्रकार से रहना और निर्गुणत्व से रहना, इसके सम्बन्ध में भी श्रीकृष्ण स्पष्टीकरण करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम्॥ २५॥

पवित्र तीर्थस्थल, एकान्त निर्जन वन, ऐसे स्थानों में रहने में जिसका मन प्रफुल्लित होता है, उसका वह रहना वास्तव में सात्विक है। सार्वजनिक व्यवहार अथवा व्यापार में स्थल में निवास करना अथवा सम्मानपूर्वक राजदरबार में रहना, अथवा विवाह-मण्डप में विचरना जिसे अच्छा लगता है, जिस धन, सम्पत्ति, चारों ओर युवतियों का समूह जिसे अच्छा लगता है, जो सदा बड़े-बड़े शहरों और गाँवों में रहता है, उसका वह रहना राजस है। जहाँ मन सम्मान की इच्छा करता है, जो मन विषयासक्त होकर सदा क्षुब्ध रहता है ऐसे लोग जहाँ दिखायी पड़ें, समझ लो कि वे राजस हैं। जहाँ साधु की निंदा होती है, जहाँ सदा दूसरों के गुणदोष देखने की प्रवृत्ति रहती है, ऐसे स्थान पर रहना जिसे अच्छा लगता है वह स्थान तामस है इसे अच्छी तरह समझना चाहिये। जहाँ कलह का मूल हो, जहाँ मन अविचार करेगा, जहाँ वेश्या, द्यूत और शराब का अड्डा होगा, वह तामस के रहने का स्थान है और हे उद्धव! देवालय की मेरी रमणीय मूर्ति को देखकर जिसकी चित्तवृत्ति को आनन्द होता है, वही निर्गुण की बस्ती है। अभेदभाव के भक्त का जो घर है, वही मुझ निर्गुण का वसतिस्थान है। जहाँ सुख से चित्तवृत्ति स्थिर होती है, वही वास्तव में निर्गुण की बस्ती है। किन्तु निर्गुण का घरबार है, यह बात ही बिलकुल व्यर्थ है क्योंकि जहाँ ब्रह्मभावना उत्पन्न होती है, वही निर्गुण की बस्ती है। देखो! उद्धव! विषय से दूर और केवल आनंद में सन्तुष्ट रहने की वृत्ति, वही निर्गुण की बस्ती है। आकार को भूलकर जो निराकार में सुखी रहता है, वहीं जिसकी वृत्ति पूर्णरूप से स्थिर होती है, फिर वहाँ लोग हों या न हों, उसे निर्गुण की बस्ती समझना चाहिये। तीन गुणों के संबंधों के कारण कर्त्ता भी तीन प्रकार के होते हैं और निर्गुण लक्षण का कर्त्ता चौथा है। उन चारों कर्त्ताओं की व्यवस्था बताता हूँ, सुनो।

सात्त्विकःकारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः॥ २६॥

काँटे से ही काँटा निकाल देने से जिस प्रकार दुःख कम होता है, उसी प्रकार संग से ही संग का नाश करने से सात्त्विक कर्त्ता अलिप्त हो जाता है। जो सात्विक कर्त्ता होता है वह सद्गुरुचरणों की संगति से, विरक्ति के योग से सभी संग नष्ट कर देता है और विषयों की संगति में होते हुए भी निःसंग रहता है। मन में फलाभिलाषा होने के कारण विवेक की दृष्टि अन्धी हो जाती है और इस प्रकार राजस कर्ता फल की आशा में बँध कर अत्यन्त भयंकर, करोड़ों दुःख भोगता रहता है। विचारज्ञान का पूर्णरूप से विलय हो जाता है; स्मृति वन में भटकती रहती है; कार्य क्या है और कारण क्या है इसकी याद ही नहीं रहती, ऐसा पुरुष तामस कर्त्ता होता है। अनन्यभाव से जो श्रीहरि की शरण में जाता है और कर्म का चल केवल नारायण है यह समझ कर जो कर्म का अभिमान नहीं करता, वही सचमुच निर्गुण कर्त्ता है। इन तीन गुणों की श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती है और निर्गुण की श्रद्धा शुद्ध होती है। इसी बात को श्रीकृष्ण स्पष्ट करके बताते हैं।

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्म श्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धामत्सेवायां तु निर्गुणा॥ २७॥

देह, इंद्रिय, चेतना और प्राण आदि से जो 'मैंपन' का भास होता है, उसका पूरी तरह विचार कर हमारा 'मैंपन' हम स्वयं देखते हैं। वह कहता है, देह जड़-मूढ़ होने के कारण वह देह तो मैं नहीं हूँ; इन्द्रिय एकदेशी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होने के कारण वह भी मैं नहीं हूँ, प्राण चपल होने के कारण वह भी मैं नहीं हूँ और मन चंचल होने के कारण वह तो मैं हूँ ही नहीं। चित्त चिन्ता करता है, इसलिये वह भी मैं नहीं हूँ, जिसका धर्म है बोध का होना, तो वह बुद्धि भी मैं नहीं हूँ, अहं बाधक होने के कारण वह भी मैं नहीं हूँ, तो फिर 'मैं' नाम से जो भी कुछ है, वह अनादिसिद्ध है। इस प्रकार जो बुद्धि से चतुर रहता है वह 'मैंपन' का सार क्या है, इसका विचार कर सकता है। यही श्रेष्ठ अध्यात्मश्रद्धा है। सात्विक लोग इसी श्रद्धा को पास में रखते हैं और जो 'मैं' नहीं कहता रहता है, वह सचमुच वही रहता है; इसलिये मेरे 'मैंपन' के चरण पकड़ने से, चारों ओर मैं ही मैं रह जाता हूँ। यही शुद्ध अध्यात्म श्रद्धा है। वह सदा सात्विक के पास रहती है। अब हे बुद्धिमते! राजस की श्रद्धा कैसी होती है, वह भी सुनो। वर्णाश्रम के अनुसार रहने वाला एक मैं हूँ, आश्रमधर्म का आचरण करने वाला एक मैं हूँ, कर्म करने वाला एक मैं ही हूँ, यही भावना मन में दृढ़ करना और इसी हेतु से कर्म का आडम्बर फैलाना; दर्भ, मृत्तिका आदि साहित्य बड़ी आस्था से एकत्र करना; शुचिता का महत्त्व इतना अधिक बढ़ाना कि उसके चारों ओर विधि निषेधों का चक्र सदा घूमता रहता है। दोष दृष्टि के आँगन में गुणदोषों की तो ढेर सारी राशियाँ पड़ी रहती हैं। पवित्रता के अभिमान के साथ शुचिता के मामले में वह ब्रह्मदेव को भी तुच्छ मानता है। उद्धव! देहाभिमान को कंधे पर बिठाकर कर्मबाधा को ही सत्य मानना। यही राजस श्रद्धा है, उद्धव! अविचार जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, हाथ से अकर्म घटता है और अधर्म का लाभ होता है, यह श्रद्धा तामस को अच्छी लगती है। जिसमें स्वैराचार, अपेय का पान तथा मनचाहा अभक्ष्य भक्षण होता है, अथवा अगम्यागमन की घटना होती है, तो वह सारी श्रद्धा तामसी है। अधर्म को ही धर्म मानना, यही तामसी श्रद्धा का प्रमुख रहस्य है। अब जो सबसे उत्तम निर्गुण श्रद्धा है, उसके बारे में सुनो। समस्त प्राणिमात्र में परमेश्वर ही भरा हुआ है, ऐसी श्रद्धा से जो एकनिष्ठा से प्राणिमात्र का ही निर्गुण है। पत्नी, बच्चे, धन दौलत तथा प्राण भी जो मुझ पर न्योछावर कर देते हैं और एकनिष्ठा से मेरा भजन करते हैं, वह श्रद्धा सचमुच ही निर्गुण है। चारों पुरुषार्थ छोड़, चारों मुक्तियों को दूर कर जो ऐक्य भाव से मेरा भजन करते हैं, वह श्रद्धासम्पत्ति निर्गुण है। उद्धव! निष्काम होकर नामस्मरण करना, निर्लोभ वृत्ति से हरिकीर्तन करना, ऐसी भक्तिभावना से जो मेरा भजन करता है, वही निर्गुण श्रद्धा है। तीन गुणों का आहार भी तीन प्रकार का है। उसे श्रीकृष्ण बताते हैं और साथ में निर्गुण आहार के बारे में भी बताते हैं जिसका विचार गहन है।

पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यां सात्विकं स्मृतम्।
राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि॥ २८॥

पवित्र होते हुए भी जो हलका हो, सत्ववृद्धि के लिये उपयुक्त और विशेष प्रयास न कर प्राप्त होने वाला जो अन्न होता है वही सात्विक आहार है। अल्पाहार का ही नाम है पथ्य। पवित्र का अर्थ है धर्म से सम्पादित किया हुआ और वह भी विशेष प्रयत्न के बिना मिला हुआ जो अन्न हो वही सात्त्विक आहार है। आम्ल, कतरा या मधुर, तीखा, तला, मसालेदार, चटपटा या ऊष्ण, बार-बार भुना हुआ, एक रस में दूसरा रस मिलाकर, पन्हा, कढ़ी या सारण, पापड़ आदि नमकीन सामग्री यह सब राजस आहार है। नाना प्रकार के प्रयास कर, कष्ट सह कर राजस भोजन करते हैं। अब तामस का भोजन सुनो। खाना खाते समय जो मादक और दुर्गंधियुक्त हो ऐसा आहार वह मूर्ख करता है। अमंगल और दुःखदायी ऐसा जो आहार हो उसे तामस ही समझना चाहिये। भगवान का जूठा प्रसाद, साधु-सज्जनों का बचा हुआ पवित्र अन्न, यह निर्गुण का आहार तो प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार श्लो में 'च' अक्षर से ही भगवान ने उच्चार करके बतलाया। हर ग्रास पर 'गोविंद', 'गोविंद' कहने से अन्न शुद्ध होता है। यही प्रसिद्ध निर्गुण का आहार है। अन्न भी ब्रह्म, मैं भी ब्रह्म और पंगत में उपस्थित रहने वाला भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्मस्वरूप ही है। ऐसा जिसका भोजनानुक्रम रहता है, वह भी निर्गुण का ही श्रेष्ठ आहार है। तीन गुणों का सुख भी तीन प्रकार का होता है और निर्गुण का सुख तो अलौकिक है। उस सुख का प्रकार भी यदुनायक श्रीकृष्ण बताते हैं।

सात्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तुराजसम्।
तामसं योहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्॥ २९॥

विषयसुख की स्फूर्ति छोड़कर आत्मसुख से ही चित्तवृत्ति आनन्दित होती है, ऐसी जो आत्मसुख प्राप्ति है वह सचमुच सात्त्विक है। गंगा में जब बाढ़ आती है तो जिस प्रकार नाले आदि पानी से भर जाते हैं, उसी प्रकार आत्मसुख का लाभ होते ही उस आनन्द से इन्द्रियाँ भी तृप्त हो जाती हैं। नाना प्रकार के विषयों में रुचि, इन्द्रियों की धमाचौकड़ी, विषयसुख प्रिय लगना, यह सच्चा राजस सुख है और, हे उद्धव! अत्यन्त निन्दनीय और मद चढ़ने वाला जो सुख होता है, वही बुद्धि को प्रिय लगना यही तामस सुख की सिद्धि है। हृदय में मेरी मूर्ति प्रकट होते ही, संसार की इच्छा समाप्त हो जाती है और उसके उपरान्त जिस सुख का लाभ होता है वह सचमुच निर्गुण सुख है। सारे प्राणिमात्र में जो परमेश्वर रहता है वह मैं ही हूँ, यह तत्त्व जानकर, मेरे ऐक्य से जो सुख प्राप्त होता है वही निर्गुण का सच्चा आत्मसौख्य है। आत्मस्वरूप के सुख का स्वरूप दिखाई पड़ने पर हम स्वयं भी सुखस्वरूप हो जाते हैं। पाप और पुण्य झड़ जाने पर ही निर्गुण सुख का दीप हाथ लगता है। स्वयं सर्वांग से सुखस्वरूप होने पर ही स्वयं उस आनन्द का उपभोग प्राप्त होता है। निर्गुण सुख का मार्ग भक्तों को ही अपने अंत:करण में भोगना चाहिये। कल्पांतजल प्रलय में जब पूरी तरह ज्वार आ जाता है तो वह नदी, नाले किसी को नहीं छोड़ता। उसी प्रकार निर्गुण सुख भी देहेन्द्रियों को नहीं छोड़ता। जिस प्रकार मृगजल में जल नहीं होता, उसी प्रकार परब्रह्म में प्रपंच का स्पर्श भी नहीं है। वह जो भी सुख भोगता है वही निर्गुण है। जिस सुख की कोई मर्यादा नहीं होती, सदासर्वकाल सुख से सुखस्वरूप होकर रहा जा सकता है, वह सुख-सम्पदा निर्गुण की ही है। इस प्रकार श्रीहरि के त्रिगुण और निर्गुण के भेद लक्षण बताये। अब ग्रन्थ के अन्त में उसका उपसंहार करते हैं।

द्रव्यं देश: फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारक:।
श्रद्धावस्थाऽऽकृतिनिष्ठा त्रैगुण्य: सर्व एवहि॥ ३०॥

'द्रव्यं' शब्द से तीन प्रकार का आहार, 'देश' शब्द से वन और ग्राम के बीच का भेद, 'फल' शब्द से सुख का बोध, इस प्रकार सत्त्व से सम्बन्धित विभाग हैं। 'काल' शब्द से भगवद्भजन समझना चाहिये। 'कैवल्य निष्ठा' का अर्थ है ज्ञान। कर्म का अर्थ है, मुझे अर्पण करना और कर्त्ता अलिप्त है, यह ध्यान में रखो। 'श्रद्धा' का अर्थ अध्यात्मिकी श्रद्धा समझना चाहिये। 'अवस्था' शब्द से जागरणादिक समझना चाहिये। 'आकृति' से ऊर्ध्व लोक के देवताओं के विलास समझने चाहिये। देह के अंत में जो गुण बढ़ता है, अथवा उद्धव! जिस गुण से अंत:स्थिति होती है, उसे वास्तव में निष्ठा कहते हैं। इस प्रकार इसके भिन्न-भिन्न अनेक भाग हैं। उनमें से एक-एक का वर्णन कैसे करूँ? मेरे भक्त के लिये सारा संसार ही त्रिगुणात्मक है। सारा संसार तीन गुणों से भरा हुआ है। इसमें निर्गुण एक मैं हूँ। यह रहस्य तुम्हें बताने के लिये मैंने गुणों का निरूपण किया।

सर्वे गुणमया भावा: पुरुषाव्यक्तधिष्ठिता:।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ॥ ३१॥

आप जो भी कुछ देखते हैं, सुनते हैं या जिसका चिन्तन करते हैं, वह सब माया के गुणों के कार्य से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

त्रिगुणात्मक हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। इन तीन गुणों को निर्मूल करने के लिये प्रकृति का नियंता जो पुरुष है, वह प्रकृति से भिन्न है। वह सदा सर्वांग से निर्गुण रहकर अपनी सत्ता से ही गुणों को चलाता रहता है। उद्धव! पुरुष के बिना प्रकृति का जो भी कार्य है, उसे मिथ्या समझना चाहिये। उसे त्रिगुणात्मक कहते हैं, यह याद रखो। यहाँ नरदेह प्राप्त होते हुए भी जो गुणातीतता नहीं साधते वे लुट गये समझो और उनका स्वार्थ डूब गया। लेकिन तुम्हारी बुद्धि वैसी नहीं है। तुमने भगवद्भक्ति को अंगीकार किया तभी तुमने गुणातीतता प्राप्त कर ली। उद्धव हरिभक्तों में श्रेष्ठ था इसलिये श्रीकृष्ण ने अपने मुख से उद्धव से कहा, हे पुरुषश्रेष्ठ! भाग्य से एक तुम ही श्रेष्ठ हो। इन तीन गुणों के विस्तार से ही संसाररूपी वृक्ष खूब फला-फूला है। उसे छेदने का प्रकार श्रीकृष्ण बताते हैं।

एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते॥ ३२॥

इसमें सत्त्वादि तीनों गुण, शुद्ध हों अथवा मिश्रित हों, वे पुरुष को गुणकर्मों से बद्ध कर संसारी बनाते हैं। घट का पानी जिस प्रकार सूर्य बिम्ब उसमें अटका हुआ दिखाता है, उसी प्रकार इन तीन गुणकर्मों के कारण जीव को दृढ़ बन्धन प्राप्त हुआ है। गागर में मटमैला पानी भरा हुआ हो तो बिम्ब भी मटमैला ही दिखायी देता है, अथवा यदि पानी हिल रहा हो तो बिम्ब भी हिलता हुआ-सा दिखायी देता है। उसी प्रकार तीन गुणों का जो कर्माचरण है, वही शुद्ध ब्रह्म में जीवत्व लाता है। जीव का वह बन्धन तोड़ने के लिये भगवद्भजन साधना चाहिये। गुणों के बंधन को जीतने के लिये सद्गुरु की शरण में जाएँ। मेरी ही भावना से सद्गुरु का भजन करने से अत्यन्त शुद्ध सत्त्वगुण की वृद्धि होती है। पैर में लोहे की बेड़ी पड़ी हो तो जिस प्रकार लुहार उसे लोहे से ही काटकर निकाल देता है, उसी प्रकार सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर गुरुराज ही तीनों गुणों को तोड़ डालता है। इसलिये यदि गुणातीत होना हो तो गुरुभक्ति अवश्य करें। गुरुभजन पर जो विश्वास करते हैं, चारों मुक्तियाँ उनकी दासी बन जाती हैं। गुरु चरणों में जिसकी भगवद्भावना रहती है, उसकी सेवा में ब्रह्मभावना भी तत्पर रहती है और हाँ! ब्रह्मभावना के साथ मैं देवाधिदेव भी अंतर्बाह्य उसकी बाट जोहता खड़ा रहता हूँ। जो अनन्यभाव से गुरु की शरण में जाता है, तो वह सहज ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। गुरुरूप से मेरा भजन करने से मेरे भक्त को ब्रह्मसुख प्राप्त होता है। उद्धव! मेरा भजन तुम अच्छी तरह जानते ही हो यह कहकर श्रीकृष्ण ने उसे 'सौम्य' इस नाम से सम्बोधित किया। अत्यन्त भाग्य से मनुष्यदेह प्राप्त होने पर, आस्थापूर्वक मेरा भजन करना चाहिये।

तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसन्वम्।
गुणवङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥ ३३॥

जिस मनुष्य देह को प्राप्त करने के लिये देवता भी मन से उत्कंठित रहते हैं, वह प्राप्त होने पर अखण्ड ज्ञान सम्पादन करना चाहिये। नरदेह प्राप्त हो गया इसलिये ब्रह्मज्ञान अपने आप ही नहीं प्राप्त हो जाता। इसलिये देहाभिमान छोड़कर मेरा ही भजन करना चाहिये। मेरा अनन्यभाव से भजन करने से सत्त्वगुण सहज ही बढ़ जाता है। उस सत्त्वगुण से ही विवेकयुक्त ज्ञान उत्पन्न होता है। विवेकज्ञान से युक्त वृत्ति हो जाने पर रज और तम ये दोनों अपने आप ही झड़ जाते हैं। शुद्ध सत्त्व की स्थिति में अभेदशक्ति बड़े उल्हास के साथ बढ़ती है। मेरा अभेद भजन करने से आत्मानंद का आस्वाद प्राप्त होता है और इसी को विज्ञान कहते हैं। वहाँ तीनों ही गुण मिथ्या है, ऐसा निश्चय होता है। नरदेह प्राप्त होने पर प्राणी को इतना लाभ होता है। इसलिये मनुष्य देह प्राप्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होने पर सबको भक्ति अवश्य करनी चाहिये। भागवत का यही अत्यन्त गुप्त ज्ञान है। वह मुख्यरूप से भक्तिप्रधान है। भक्तिभाव से मेरा भजन करने से स्त्रियों तथा शूद्रों का भी उद्धार होता है। इसलिये नरदेह प्राप्त होने पर ज्ञाता लोग मेरी ही भक्ति करते हैं और मेरे भजन से ही गुणों को जीत कर स्वयं परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति के लिये मेरी निरपेक्ष भक्ति करें। भजन का वही प्रकार श्रीकृष्ण बार-बार लोकार्थ से दृढ़ कर दिखलाते हैं।

निःसङ्गो मां भजेद् विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः।
रजस्तमश्चाभिजयेत् सत्वसंसेवया मुनिः॥ ३४॥

विषयों के प्रति विरक्ति रखें और अंतःकरण में मुक्ति की इच्छा न रखें। इस प्रकार मेरी निरपेक्ष भक्ति अधिक से अधिक प्रेमपूर्वक करें। इससे अपार प्रेमशुद्धि होती है और समस्त प्राणिमात्र के प्रति भगवद्भक्ति बढ़ती जाती है। साधकों के लिये ही भजनसिद्धि है। इस प्रकार मेरा भजन करने से विस्मरण की ही मृत्यु हो जाती है, और सभी इन्द्रियों में सजगता आ जाती है। उस समय रज और तम ये दोनों गुण पूरी तरह नष्ट हो जाते हैं और उस योग से शुद्ध सत्त्व की स्फूर्ति से साधकों को पूर्ण आत्मानंद प्राप्त होता है। जब केवल शुद्ध सत्वगुण शेष रहता है तो साधक को ऐसा स्फुरण होने लगता है कि संसार में एक मैं ही पावन और धन्य हूँ। मुझे शुद्ध आत्मज्ञान प्राप्त हो गया, मुझमें परमानंद प्रकट हो गया यह सुख सत्त्व का बोध होने वाले सात्त्विकों को होता है। लेकिन ऐसा जो सत्त्वगुण शेष रहता है, उसका निवारण होने का क्या साधन है? मैं स्वयं तो सुखस्वरूप ही हूँ और मुझे सुख का अनुभव होना यही माया है। क्या गुड़, गुड़ को ही मधुरता में श्रेष्ठ बनाता है? या दूध को ही दूध मीठा लगता है? तो फिर मैं ही सर्वांग से सुखस्वरूप होते हुए सुखोपभोग से व्यर्थ ही क्यों गर्व करूँ? साधक में जब ऐसी स्फूर्ति होती रहती है, तभी सत्वगुण आत्मरूप में लय हो जाता है। तब सुख का भी अनुभव समाप्त होता है और केवल आत्मशान्ति ही शेष रहती है। इस प्रकार तीन गुण नष्ट हो जाने से केवल निर्गुण ही बच रहता है। इसी अर्थ का निरूपण श्रीकृष्ण स्पष्ट करके बताते हैं।

सत्वं चाभिजयेद् युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः।
सन्पद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम्॥ ३५॥

सत्वगुण का हर्ष बढ़ने पर शुद्ध सत्वविवेक उस हर्ष को नष्ट करता है और फिर सत्व विवेक के साथ आत्मस्वरूप में विलीन हो जाता है। इस प्रकार तीन गुणों का नाश होने पर कार्य, कर्म और कारण भी नष्ट हो जाता है, पूरा लिंगदेह ही नष्ट हो जाता है और जीव का जीवत्व मिथ्या सिद्ध हो जाता है। तब कार्य, कर्म, कर्ता अथवा भोग्य, भोग और भोक्ता; ज्ञान, ज्ञेय अथवा मैं ही एक ज्ञाता यह त्रिकुटी जैसी बात ही नहीं रह जाती। इस प्रकार जीवत्व का लय होने पर, वह स्वयं सहज निर्गुण होकर परिपूर्ण ब्रह्म ही होकर रहता है। इस प्रकार, जो मेरे भक्त होते हैं वे परिपूर्ण ब्रह्म हो जाते हैं। वही पूर्ण ब्रह्म होने का लक्षण श्रीकृष्ण आधे श्लोक में वर्णन करते हैं।

जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत्॥ ३६॥

पहले प्रपंच था, यह बात ही मिथ्या है अर्थात् वह पुनः कभी हो, ऐसा कभी नहीं होगा। जिस प्रकार शक्कर में भीतर और बाहर का भाग अलग-अलग नहीं होता (वह सर्वांग से समान रूप से मधुर रहती है), उसी प्रकार ब्रह्म अन्तर्बाह्य दोषरहित और निजानंद से परिपूर्ण रहता है। ऐसा परिपूर्ण ब्रह्म प्राप्त होने पर साधक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को मरण आता ही नहीं है। इतने पर भी प्रारब्ध से आयु शेष होने पर उसे देहाभिमान की बाधा नहीं होती। वह बाहर के दृश्य पदार्थ नहीं देखता। उसके अंत:करण में विषय का स्फुरण नहीं होता, और वह देह का देहपन भी नहीं देखता। यही जीवन्मुक्ति का लक्षण है। बाहर दृश्य सुख का अनुभव लेना और हृदय में विषयों की आसक्ति रखना, यही है अज्ञान की स्थिति। यह अविद्या की शक्ति है तथा बाधक है। अविद्या का यह बन्धन तोड़ने के लिये मेरा भजन करना चाहिये। इसीलिये साधु संतों ने भक्ति पर प्राण न्योछावर किये रहते हैं। मेरी भक्ति से उत्तम कोई गति नहीं है और वह भजन अभेदभाव से करने पर चारों मुक्तियाँ दासी बन जाती हैं। हृदय में विषय के प्रति विरक्ति हो और तिस पर अभेद भाव से मेरी भक्ति हो और वह भजन अनन्य भाव से किया हुआ हो तो मैं श्रीकृष्ण उसका आज्ञाधारी हूँ। भक्ति शब्द का अर्थ इतना ही है कि मेरे स्वरूप पर अभेद भाव से श्रद्धा रखना। इसी योग से परमार्थ का लाभ होता है। शास्त्रों की सफलता यही है। मेरे प्रति भक्ति के कारण मैं जब पशु-पक्षियों का उद्धार करता हूँ तो मनुष्य यदि भक्तिभाव से मेरा भजन करते हैं तो उन्हें निजधाम तक पहुँचाना मेरा काम है। इसलिये विद्वत्ता को एक ओर रखकर सभी को श्रद्धापूर्वक भगवद्भक्ति करनी चाहिये, जिससे अनायास ही आत्मस्वरूप को लाभ होगा। श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करने से अपने आप ही तीनों गुणों का नाश होता है और हमारा निर्गुणत्व स्वयमेव प्रकट हो आता है। श्रीकृष्ण ने ही यह तथ्य समझने के लिये कहा। जहाँ गुणों की उलझन समाप्त होती है, वहाँ आत्मशान्ति प्रकट होती है। इसी बात का निरूपण श्रीकृष्ण ने इस अध्याय में उद्धव से किया। जहाँ भक्ति होती है, वहाँ वृत्ति को गुणों पर विजय प्राप्त होती है और सहज आत्मशांति प्राप्त हो, स्वयंसिद्ध आत्मस्वरूप प्राप्त होता है। वही आत्मभक्ति मेरी माँ है। जिस जनार्दन ने मुझे उस भक्ति तक पहुँचाया, उस जनार्दन के चरणों के पास एकनाथ तल्लीन होकर भजन कर रहा है। अगले अध्याय में ऐल-उर्वशी उपाख्यान की कथा नितांत मनोहारी है। उस अध्याय का पठन करने से अगम्यागमन के दोष भी समाप्त हो जाते हैं। उसमें पुरूरवा की जिस विरक्ति का वर्णन श्रीकृष्ण अपने मुख से करेंगे उस विरक्ति के योग से निजात्म प्राप्ति होती है। केवल भाग्यशाली लोग ही उस वैराग्य को प्राप्त कर सकते हैं। उस वैराग्य का निरूपण श्रीकृष्ण ने अत्यन्त रसीले ढंग से किया है। अत: श्रोतागण कृपया ध्यान देकर कथा सुनें। उस कथा पर ध्यान देने से महापातक जैसे दोष भी जल जाते हैं, ब्रह्म में ही ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होती है और मनुष्य ज्ञानस्वरूप में रह पाता है। उस निरूपण का माधुर्य उत्कृष्ट है। एकनाथ पर जनार्दन की असीम कृपा है। वह उसे परात्पर तीर के पार पहुँचाएगा। भक्ति-भाव से जनार्दन के चरण पकड़ने से दु:ख की बाधा नहीं हो सकती। एकनाथ जनार्दन की शरण में है। आगे रस से पूर्ण निरूपण है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे श्रीकृष्ण उद्धव संवादे एकाकार टीकायां गुण निर्गुण निरूपण नाम पंचविंशतितमोऽध्याय: ॥ २५ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

छब्बीसवाँ अध्याय

हे देव जगन्मोहन! मोहिनी की मोहकता के प्रमुख कारण! तुम्हें नमस्कार है। कार्यकारणातीत तथा ज्ञानस्वरूप, जगद्गुरु जर्नादन की जय हो। संसार पर माया की जो मोहरूपी छाया पड़ती है, उसे तुम ज्ञानस्वरूप होने के कारण दूर करते हो। संसार में सब कुछ जगद्रूप से जनार्दन ही है। वह दीनों के प्रति पूर्णरूप से कृपालु है। देवता ही माया स्त्री के रूप में उसके हावभाव और नेत्रकटाक्षों से मोहिनी डाल कर दीन दुखियों को भुलावे में रखती है। लेकिन स्त्री के मोह जैसे मोहक सारे स्वरूप जनार्दन की कृपा से नष्ट हो जाते हैं। जहाँ परिपूर्ण वैराग्य की वृद्धि होती है, वहाँ जनार्दन की पूर्ण कृपा समझनी चाहिये। जहाँ वैराग्य होता है, वहाँ ब्रह्मज्ञान सहज ही होता है। जीव मूलतय: ब्रह्म ही है लेकिन वह माया के गुणों से जीवत्व पालता है। जिस प्रकार पलंग पर सोया हुआ राजा स्वप्न में स्वयं को भिकारी के रूप में देखता है किन्तु उसके सेवक उसे राजसिंहासन पर बैठने के लिये जगाते हैं, उसी प्रकार वैराग्य जब त्रिगुणों का नाश करता है, उस समय जीव स्वयंसिद्ध ही ब्रह्म है। इस प्रकार स्वयंभू ही परब्रह्म प्राप्त होने पर स्त्री और पुरुष यह ज्ञान मिथ्या हो जाता है और भोग्य और भोक्तापन शेष नहीं रहता। अस्तु! साधक के पास देवता की माया स्त्री के रूप में भुलावा देने आती है। उस समय भक्तिपूर्वक गुरुराया का स्मरण करने से उस स्त्री की पीड़ा समाप्त हो जाती है। सद्गुरु का केवल एक ही नाम बड़े-बड़े दोषों की बाधा को दूर करता है और लौकिक वैराग्य उत्पन्न करता है, जिससे साधकों को अत्यन्त सुख होता है। सचमुच, हमें अबाध रूप से सुख देने वाला एक सद्गुरु ही है। उसके चरणों पर मस्तक रखने से साधकों को सुखलाभ होता है। संत वास्तव में साधकों की सच्ची माता है और शान्ति आत्मसुख की छाया है। जनार्दन के कृपालु चरणों के प्रसाद से यही कथा यथार्थ रीति से चल रही है। निर्गुण हाथ लगने पर साधक सुखसम्पन्न होते हैं, इसलिये मेरा भजन करना चाहिये ऐसा श्रीकृष्ण ने पचीसवें अध्याय में कहा था। भक्तिभाव से भगवद्भजन करने से भगवान स्त्री के रूप में बाधा डालते हैं। उस विघ्न का निवारण करने के लिये मेरा नामस्मरण करना चाहिये। अच्युत नाम से स्मरण करने से वे अपने प्रभाव से ही कर्माकर्म का नाश करते हैं और समस्त पातकों को भस्म कर डालते हैं। हरि के नाम में इतना अधिक सामर्थ्य है। नाम से ही मनुष्य निर्मल होता है, नाम से ही चित्त निर्मल होता है, नाम से ही गुणातीतता प्राप्त होती है और नाम से ही संसारपाश टूटते हैं। नाम से ही, चित्त आसक्त होने पर संसारभय का प्रवेश नहीं होता। इस प्रकार जहाँ नाम पर विश्वास रहता है, वहाँ भगवान प्रसन्न है, ऐसा समझना चाहिये। दुष्ट की संगत से यदि विषयासक्त पुरुष विषय में ही पूरी तरह रममाण हो गया हो, तो उसे पश्चात्ताप होते ही वह आधे क्षण में ही विरक्त हो जाता है। बड़े-बड़े दोषों के लिये सच्चा पश्चात्ताप यही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। अनुताप हुए बिना प्रायश्चित्त करना केवल उपहास है। लोगों के लिये संसार में पश्चात्ताप जैसा मित्र नहीं है। एक बार पश्चात्ताप हो जाय तो वह समस्त पातकों को भस्म कर देता है। पश्चात्ताप होते ही वह क्षणार्ध में विरक्त कर छोड़ता है। इसी अर्थ का 'ऐलगीत' श्रीकृष्ण उद्धव को सुना रहे हैं। यहाँ इस छब्बीसवें अध्याय में जिसका चित्त विषयासक्त से उसे विरक्त होने के लिये यह 'ऐलगीत' की प्रस्तावना है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीभगवानुवाच

मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः।
आनन्दंपरमात्मानमात्मस्थं समुपैति मान्॥ १॥

ब्रह्म को पूरी तरह जानना यही इस नरदेह का प्रमुख कर्त्तव्य है। वह यह मानव शरीर तीनों लोकों में पवित्र है। इस मनुष्य देह कों पा कर अधर्म करने से परब्रह्म हाथ नहीं लगता। इसलिये जो परम पावन भागवत धर्म है, उसका आचरण करना चाहिये। भागवत धर्म के अनुसार भक्ति करने से चित्तवृत्ति निर्मल होती है और जीव ही ब्रह्म है यह ज्ञान निश्चयपूर्वक मन में अंकित हो जाता है। ब्रह्मस्फूर्ति मन में अंकित होते ही, उससे साधक परमानन्द में लीन हो जाते हैं। यही मेरी सच्ची प्राप्ति है। मेरी प्राप्ति होने का लक्षण है, प्रत्यक्ष देह में होते हुए भी विषय का बिलकुल स्मरण न होना। उसी का निरूपण श्रीकृष्ण करते हैं।

गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया।
गुणेषु मायामात्रेषु दृश्मानेष्ववस्तुतः।
वर्तमानोऽपि न पुमान् युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः॥ २॥

जो मूल अज्ञान की खान है, जो संसार प्रवाह की पंक्ति है, जो तीन गुणों की माँ है, वह अनादि मायारानी है। अरे देखो! इस मायागुणों के योग से सोलह कलाओं युक्त (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच विषय और मन को मिलाकर कुल सोलह) वासनात्मक लिंगदेह, वही जीव से चिपक कर बैठ जाता है। जिस लिंगदोह के कारण ही वह जीव नानाप्रकार के सुख-दुःख भोगता है, स्वर्ग-नरक के भँवरे में फँसता है और मिथ्या जन्म-मरण के फेरों को सहता है, वह संसार जीव के लिये बाँझ के बच्चे के गृहस्थाश्रम जैसा है। देहाभिमान ने उसे अपार तथा असीम बढ़ाया है। परन्तु गुरुपदेश के कारण ज्ञान का अनुभव आने पर माया का अभाव होता है, लिंगदेह मिथ्या लगने लगता है और जीव का जीवत्व भी मिथ्या लगने लगता है। जिस प्रकार सूर्योदय होते ही अन्धकार के साथ रात्रि समाप्त होती है, उसी प्रकार गुरुपदेश से ज्ञानप्राप्ति होने पर माया का स्वरूप धुँधला पड़ने लगता है। इस प्रकार गुणों का विकार नष्ट होने पर पुरुष जीवन्मुक्त होता है। जिस प्रकार कुम्हार का पहिया पूर्व प्राप्त गति से घूमता रहता है, उसी प्रकार पूर्वप्रारब्ध की बची हुई वृत्ति से ज्ञाता भी अपने देह में विचरण करते रहते हैं। लेकिन इस प्रकार देह में विचरण करते हुए भी उन्हें देह का अभिमान नहीं होता। जिस प्रकार यदि कोई अपनी छाया को कष्ट दे अथवा उसकी पूजा करे तो किसी को उसमें रुचि नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञाता को भी देह के विचरण में कोई रुचि नहीं होती। वह भले ही देह के ही भाग्य से विषयों में लिप्त हो, लेकिन उसकी वृत्ति उस विकार के साथ मलिन नहीं होती। उसके लिये विषयों का दर्शन पूर्णतया मिथ्या रहता है। मृगजल पीने से किसी के हाथ गीले नहीं होते। यदि आकाशकमल के मकरंद और सुवास का सेवन भ्रमर करेगा तभी ज्ञाता के शरीर को विषय का स्पर्श होगा। अस्तु। मुक्तों की स्थिति अतर्क्य है। किन्तु श्रीकृष्ण मुमुक्षुओं को आत्मप्राप्ति के लिये उससे सम्बन्धित नियम बता रहे हैं।

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत्॥ ३॥

कामविषय भोग तथा उदरभरण इसी में आसक्त होकर, स्वधर्म का त्याग कर अधर्म में मग्न रहने वाले जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विषयासक्त होते हैं, उन्हें सचमुच असाधु ही समझो। ऐसे जो भी असाधु हों, उनके साथ कभी भी काया, वाचा, मन के साथ संगत नहीं करनी चाहिये। आवारा मवेशियों के संगत में यदि कोई अच्छी गौ चली जाय तो उस संगत से उसके गले में जीवनभर के लिये मोटा लक्कड़ पड़ जाता है। इस प्रकार दुर्जनों की क्षणभर की संगत से भी अनर्थ हो जाता है। मुमुक्षुओं को ऐसे स्थान पर क्षणभर के लिये भी नहीं जाना चाहिये। लोहार की भट्टी से कोई भी सहज ही झुलस सकता है, उसी प्रकार दुर्जनों की संगत भावुक लोगों को भ्रम में डालती है। गलती से भी यदि असाधु की संगति हो जाय तो विषयासक्ति बढ़ती है जिससे विवेक स्फूर्ति को नष्ट करने वाले अधर्म की प्रीति होती है। विवेकवृत्ति का अस्त होते ही ज्ञानस्फूर्ति अन्धी होकर मेघों से व्याप्त अमावस्या की रात्रि की तरह हो जाती है और अपनी ही गति नहीं दिखायी देती। अन्धा यदि अन्धे का हाथ पकड़ता है तो दोनों ही खड्ग में गिर जाते हैं, उसी प्रकार अविवेक की स्थिति के कारण विषयांध लोग 'अंधतम' नामक नरक में गिरते हैं। कुसंगति से नरकवास प्राप्त होता है। उससे छुड़ाने वाला एक पश्चात्ताप ही है। उस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण 'ऐलगीत' सुनाते हैं।

ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत वृहच्छ्रवाः।
उर्वशीविरहान्मुह्यन् निर्विण्णः शोकसंयमे॥ ४॥

समुद्र से घिरी हुई पृथ्वी का पालन करने वाला, सभी राजाओं का मुकुटमणि चक्रवर्ती राजा पुरुरवा की कीर्ति पुराणों में प्रसिद्ध है। तेज, प्रभाव, महाशौर्य, उचित दातृत्व, गांभीर्य, मस्ती, पराक्रम तथा धार्मिक धैर्य आदि गुणों से राजा पुरुरवा पूरी तरह युक्त था। राजधर्म की नीति के अनुसार वह स्वधर्म से पृथ्वी का पालन करता था। ब्राह्मण जितना था उतना ही ब्रह्म की मूर्ति था। चाहे प्राण चला जाय लेकिन वह ब्राह्मण की निन्दा नहीं करता था। गौ के लिये तो प्राण देने के लिये भी तत्पर था। दीनों का रखवाला था। पुरुरवा का दूसरा नाम 'ऐल' था। ऐसा वह धार्मिक चक्रवर्ती राजा उर्वशी के फेर में अपनी स्थिति भूल गया। उस समय उसने पश्चात्तापपूर्वक गीत गाया, उसके बारे में तुम्हें सुनाता हूँ। लेकिन उसकी पूर्व कथा तथा कामासक्तता के बारे में सुनो। वह अपना बड़प्पन भूलकर, लंपट होकर वेश्या के आगे दीन बन गया। काम मनुष्य को किस प्रकार पागल बना देता है यह श्रीकृष्ण ऐला के इतिहास से बताते हैं। ऐल (अर्थात् इला से बुध को हुआ पुत्र) पुरुरवा राजा उर्वशी के प्रति कितना लपंट था और उसे किस प्रकार पश्चात्ताप होकर विरक्ति हुई, यह कथा वेदों में भी बतायी गयी है। उर्वशी और पुरुरवा का सम्बन्ध नौवें स्कन्ध में विस्तार से आया है। इसे ध्यान में रखकर श्रीकृष्ण ने वह कथा विस्तार से नहीं बतायी। उर्वशी, को स्वर्ग के भूषण स्वरूप नारायण ने स्वयं स्वर्ग में भेजा था; लेकिन वहाँ वह स्वयं को श्रेष्ठ समझ कर अहंकार से फूल गयी। उसी अहंकार में शान से नृत्य करते समय ताल पर पैर गलत पड़ गया और ब्रह्मदेव ने उसे शाप दिया कि तुम मृत्युलोक में जाओगी और मनुष्य तुम्हारा उपभोग करेंगे। इस पर उसने उःशाप माँगा। इस पर ब्रह्मदेव ने कहा कि यदि तुम पुरुरवा को नग्न देख लो तो तुम स्वर्ग में आ सकोगी। ऐसा शाप प्राप्त कर उर्वशी मृत्युलोक में आयी। उसका स्वरूप देखकर राजा पुरुरवा उस पर लट्टू हो गया। अपनी महानता भूलकर वह उस वेश्या के वश में हो गया। उसके रूप पर वह इतना पागल हो गया कि उसे विचार करने तक का भान नहीं हुआ। राजा को नग्न स्थिति में देखने के बाद, उर्वशी उसे छोड़कर चली जाय यह करार मानकर राजा उसे अपने उपभोग के लिये ले आया। वह अपने शाम के परिहार के लिये अपने साथ दो भेड़ ले आयी थी। उनका पुत्रवत पालन किया जाय इस सम्बन्ध में उसने राजा को कसम दिलाई थी। इस प्रकार उर्वशी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

से भेंट होते ही राजा की कामेच्छा भी प्रबल हो गयी। उसके साथ विलास करने में कब सुबह हुई और कब रात हुई, कुछ समझ में नहीं आया। इसी प्रकार कई दिन बीत गये। उर्वशी के साथ विलास कर्म करने में वह अपना स्वधर्म कर्म भी भूल गया। उसके नियम-संयम टूटते चले गये, विलासभोग की अति हो गयी। भेड़ों के रूप में उर्वशी के साथ आये वे दोनों अश्विनीकुमार थे। इन्द्र ने उर्वशी का भोगक्षय करने के लिये उन्हें उसके साथ भेजा था। पुरुरवा के भोग के अन्त में उर्वशी को स्वर्ग में ले जाने के लिये चोर उन भेड़ों को रात में चुरा ले गये, तब वे 'ब्याँ', 'ब्याँ' कहकर चिल्लाने लगे। भेड़ों की आवाज सुनकर उर्वशी दु:ख से व्याकुल हो उठी और राजा की भर्त्सना करती हुई बोली, "तुम नपुंसक हो। व्यर्थ ही पुरुषार्थ की शेखी बघारते हो। मेरे बच्चों को चोर उठा कर ले गये, तुम्हारे काले मुँह में आज लगे।" विलाप करते हुए वह अपना सिर पीटने लगी। उर्वशी का वह शोक देखकर पुरुरवा ने तत्काल शस्त्र उठाया और चोरों का पीछा करने लगा। दौड़ने में उसका पीताम्बर खुल गया। उसे उसका भान नहीं रहा। उसने भेड़ों को चोरों से मुक्त कर उनहें उर्वशी के सामने खड़ा कर दिया। इतने में बड़े जोर से आकाश में बिजली चमकी और राजा का नग्न शरीर चमक उठा। राजा को नग्न देखते ही उर्वशी अपनी शर्त के अनुसार स्वर्ग चली गयी और उसके शोक में राजा व्याकुल हो उठा।

त्यक्त्वाऽऽत्मानं व्रजन्तींतांनग्नउन्मत्तवन्नृपः।
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विल्कवः॥ ५॥

पृथ्वी का पालन करने में वरिष्ठ; स्वधर्म में श्रेष्ठ धार्मिक, शत्रु का संहार करने में वीर तथा पराक्रम में महावीर; वेदशास्त्र विवेक जानने वाला, जिसका सभी लोग वन्दन करते हैं, ऐसा व्यक्ति एक वेश्या का दास बन गया? देवदानवों के सामने भी जिसकी गर्दन नहीं झुकती, जो जरा-सा भी अपमान सहन नहीं कर सकता, वह अपनी श्रेष्ठता भूलकर एक वेश्या के आगे दीन बन गया? उर्वशी को जाते देख वह वैसा ही नग्न अवस्था में खड़ा रहा और बेहोश होकर रोते-रोते उसके पीछे लग गया; उसके मुँह से शब्द नहीं निकल रहा था। जरा एक बार तुम्हें देख तो लूँ; प्रेम की दो-चार बातें कर लूँ, तुम आँखों से दूर चली जाती हो तो प्राण निकलने लगते हैं। अपने पूर्वजों की कसम खाकर कहता हूँ कि तुम्हारे वचन का कभी उल्लंघन नहीं करूँगा, मेरी बात को सच मानो, तुम्हें मुझ से नाराज होने का कारण ही क्या है? चलते समय तुम्हारे पैरों में कंकड़-पत्थर लगेंगे, तुम कहाँ जा रही हो? मैं भी आता हूँ, तुम्हारे साथ। एक बार मेरी ओर मुड़कर तो देख लो। कह कर वह उसके पैर पकड़ने लगा। वह उसकी ओर बिना देखे चली गयी। जिसे बड़े-बड़े राजा साष्टांग दण्डवत किया करते थे, वह राजाधिराज एक वेश्या के पैर पकड़ रहा है? काम की करनी कितनी अद्‌भुत है। उसने कहा, तुम्हारे लिये मेरा चित्त व्याकुल हो रहा है, तुम इतनी पाषाण हृदया कैसे हो गयी हो? मुझ पर इतना गुस्सा भला क्यों करती हो? इस प्रकार राजा का चित्त अत्यन्त विरहातुर और शोक से भर गया। वह अत्यन्त ग्लानियुक्त हो गया। श्रीकृष्ण उसकी ग्लानि का वर्णन कर रहे हैं।

कामानतृप्तोऽनुजुषन् क्षुल्लकान् वर्षयामिनीः।
न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः॥ ६॥

उर्वशी का कामभोग में राजा का चित्त बिलकुल तल्लीन हो गया था। सूर्य कब उदित होता है और कब अस्त होता है इसका भी उसे पता नहीं चलता था। मदन ने उसे इतना पागल कर दिया था। एक बार भोग की हुई स्त्री को प्रतिदिन भोगते रहने से उसके प्रति प्रेम बढ़ जाता है। उसी प्रकार उसकी अवस्था हुई और वह उसका

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आसक्त हो गया। उर्वशी का भोग करते कितने दिन, मास और वर्ष बीत गये कुछ पता ही नहीं चला। जीवन का नाश हुआ इसका भी स्मरण नहीं रहा। अग्नि में घृत पड़ने पर उसकी ज्वालायें अधिकाधिक तीव्र हो जाती हैं, उसी प्रकार स्त्री का बार-बार भोग करने से काम भी बढ़ जाता है। स्त्री विषय का विचार करने पर वह अत्यन्त तुच्छ मालूम होता है किन्तु रात-दिन भोग करते हुए भी राजा के मन में वैराग्य नहीं उत्पन्न हुआ। उर्वशी में उसके प्राण बसे हुए थे इसलिये उसने उससे करुणा की गुहार की। लेकिन राजा की ओर मुड़कर देखे बिना ही वह तेजी से चली गयी। जब उर्वशी सामने नहीं दिखायी दी तो राजा विरह शोक से मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। फिर उठकर इधर-उधर देखने लगा। जोर-जोर से रोते हुए उसने ताण्डव मचा दिया। इस प्रकार दसों दिशाओं में भटकते हुए वह एकाएक कुरुक्षेत्र आ गया। वहाँ अन्तरिक्ष में बैठी हुई उर्वशी उसे दिखायी दी। उसे देखते ही वह चिल्लाया, ''दौड़ो उर्वशी! मुझे अपने आलिंगन में ले लो।'' तब वह बोली, हे विषयांध! यह सारी मूर्खता अब त्याग दो; भूपते, हम स्त्रियों की आसक्ति कभी अच्छी नहीं होती। हे महाराज! स्त्रियाँ स्वभाव से ही दुष्ट होती हैं। विशेष रूप से वेश्याएँ तो स्वच्छंद होती हैं। अपने मन के अनुसार व्यवहार करती हैं, और परपुरुष से स्वेच्छा से संग करती हैं; इसलिये हे राजा! तुम मन में हमारा कभी भी विश्वास न करना। हे राजा! हम स्त्रियों की संगत से आज तक कितने लोग फँसे हैं इसका कोई पता नहीं है; तुम अब हमारी आसक्ति छोड़कर परमार्थ मार्ग का अनुसरण करो। इतने दिन तक तुमने मेरा भोग किया लेकिन तुम्हें अभी वैराग्य प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये अब तुम कामासक्ति समूल छोड़ दो और अपने सच्चे स्वार्थ की साधना में लग जाओ। लेकिन उसका वह भाषण उसे अच्छा नहीं लगा। वह पुनः उसके पैर पकड़ कर उसकी प्रार्थना करने लगा। कहने लगा, ''तुम कुछ भी करो लेकिन एक बार अपना अंग संग दो। हे सुन्दरी! एक बार तुम अपना सुख संभोग दो।'' उसकी वह ग्लानि देखकर उर्वशी का मन पसीज उठा। वह राजा को अपना पूर्व वृत्तांत सुनाने लगी। मैं अत्यन्त सुन्दर स्वर्गांगना हूँ, मुझे ब्रह्मदेव ने शाप दिया था; किन्तु तुम अत्यन्त पुण्यवान राजा होने के कारण तुम्हारी संगति से मैं उस पाप से मुक्त हो गयी। तुम्हारी संगत से मैं निष्पाप हुई, मेरे शाप का निवारण हो गया। अब तुम्हारा और मेरा संग इस लोक में असम्भव है। मैं अब स्वर्ग जा रही हूँ। उर्वशी का यह भाषण सुनकर राजा उसके विरह में रोने लगा। उर्वशी का मन व्याकुल हो उठा और उसने उसे एक अच्छा उपाय बतलाया। पहले उसने गन्धर्व की प्रार्थना कर एक अग्निपात्र प्राप्त किया और उसे राजा को देकर बोली, इस अग्निपात्र पर यज्ञ करो, जिससे तुम्हें मेरी प्राप्ति होगी। उर्वशी के वियोग में व्याकुल होने के कारण राजा अग्निपात्र वहीं छोड़कर अपने मन्दिर में चला आया। उस समय अत्यन्त शोक से व्याप्त होने के कारण वह अत्यन्त दुःखी हो गया था। उसके मन में उर्वशी का दुःख था इसलिये वह उसे स्वप्न में दिखायी दी। वह जागृत होकर तत्काल अग्निपात्र देखने पहुँचा। तो उसे वहाँ अश्वत्थ के वृक्ष पर शमी का पेड़ दिखाई दिया। उसने उस अश्वत्थ की ही अरणी तैयार की और यज्ञ के लिये पवित्र अग्नि तैयार किया और विधिपूर्वक यज्ञ कर कामसुखभोगेच्छा के कारण वह उर्वशी के लोक में पहुँचा। उस उर्वशी से विलास करते-करते राजा को विरक्ति हुई और उसने क्या कहा, तुम्हें बताता हूँ। वह निरूपण राजा ने अठारह श्लोकों में किया है। उसमें के आठ श्लोकों में उसका सच्चा पश्चात्ताप है। वही श्रीकृष्ण सुनाते हैं।

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः।
देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डाइमेस्मृताः ॥ ७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पुरुरवा का यह पश्चात्ताप गीत सुनने से अगम्यागमन पातक का नाश होता है। उसे सुनने वाला निष्पाप हो जाता है और साधकों को कभी भी मदन की बाधा नहीं होती। मत्त हाथी जिस प्रकार हथिनी के साथ नाना प्रकार की आपदायें भोगता है, उसी प्रकार उर्वशी की संगति से पुरुरवा भी दुःख भोग कर विरक्त हो गया। जो उर्वशी पर अत्यधिक लुब्ध हुआ था वही उससे ऊब गया और वैराग्य से पश्चात्ताप पाकर पुरुरवा राजा स्वयं ही बोलने लगा। मेरे मोह के कारण विषयवासना बहुत बढ़ गयी जिससे उस अमंगल मदन के घर का मैंने ही सेवन किया। उर्वशी के लालच में मैं अत्यधिक लंपट हो गया। मेरा चित्त काम से व्याप्त हो गया और मैंने बहुत बड़ा अनर्थ कर दिया। मेरा जीवन मैंने व्यर्थ गँवाया। गले से सटे हुए उर्वशीरूप शस्त्र ने जिसमें जीवन को काटने की तेज धार है, कितने ही जीवन नष्ट कर दिये हैं। लेकिन मुझ पापी को उसकी स्मृति ही नहीं रही। कामेच्छा के भुलावे में मैंने कांता-आलिंगनरूपी विष की बेल गले में लटका ली। उसने सारे जीवन की होली जलाकर विचार को निगल ही लिया। स्त्री का आलिंगन रूपी दावाग्नि मैंने अपने गले में जला लिया जो आयुष्यरूपी वन में भड़क कर उसने विवेकरूपी भूमि को भी झुलसा दिया। नरदेह का उत्तम से उत्तम जीवन मैंने भस्म कर दिया। मैंने एक निंदनीय अधर्म ही कर दिया। नरदेह के आयुष्य के सहारे साधक बैकुण्ठ पहुँच जाते हैं, ज्ञानी तो देखते-देखते ब्रह्मपद प्राप्त कर लेते हैं। उस आयुष्य को मैंने स्त्रीवसन में नष्ट कर दिया।

नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया।
मुषितो वर्षपूगानां वताहानि गनान्युत॥ ८॥

नरदेह के आयुष्य का एक क्षण करोड़ों सुवर्ण मुहरें देने पर भी नहीं मिलेगा। वह सारा आयुष्य नष्ट कर मैंने अपना विनाश कर लिया। साधुओं का हित करने के लिये ही प्रतिदिन सूर्य का उदय होता है। इसीलिये साधु क्षण-प्रतिक्षण परमार्थ साधते रहते हैं। वही सूर्य स्त्रीलंपट पुरुष की आयु रात-दिन कम करता रहता है। यह बात जो नहीं जानता वह स्वयं ही नरक पात का असली मूल है। दूसरों की बात क्यों करूँ? मैं स्वयं ही उर्वशी के फेर में फँस गया, मेरे जीवन की हानि हो गयी। यह बात किसे बताऊँ? लोगों का हित करने के लिये ही रोज सूर्य का उदय होता है यह बात पुरुष होते हुए भी मैंने नहीं जानी। उर्वशी के जाल में फँस कर उन्मत्त हो गया। सूर्योदय और सूर्यास्त होते हुए वर्ष के वर्ष बीत गये। लेकिन मुझे उसका विचार नहीं आया। उर्वशी के अधरामृत का पान करते-करते मैं उसी बेहोशी में रहा। शराब की खुमारी अगले दिन उतरती है, धन की मस्ती दरिद्र होने पर उतरती है; शक्ति क्षीण होने पर यौवन का ज्वार थमता है; लेकिन स्त्री का नशा कभी नहीं उतरता। नरदेह का जीवन अत्यन्त दुर्लभ है। वह पुनः हाथ नहीं आता। मरे वह देवांगना, उर्वशी! सचमुच, इसने मेरा सत्यानाश कर दिया। मैं निर्भय, सबकी रक्षा करने वाला, लेकिन इसने मुझे नंगा कर दिया। यह लज्जास्पद बात बताऊँ तो किसे बताऊँ? इतना कह कर वह सुबकने लगा। मेरे हित की चोरी करने वाली उर्वशी है। इसे मार डालना चाहिये। उसने कहा। लेकिन फिर वह सोचने लगा कि इसमें उसका क्या दोष है? अविचारी तो मैं हूँ। एक मैं ही अभागा हूँ, कामचेष्टा में मैंने ही अपने जीवन का विनाश कर लिया। बहुत बड़ी हानि हो गयी। फिर बड़े जोर का आक्रोश करते हुए बोला, इस मदन ने मुझे नंगा कर दिया। मैंने अपना जीवन गँवाया। वास्तव में इससे अधिक हानि संसार में और कोई नहीं है।

अहो मे आत्मसम्मोहोयेनात्मायोषितां कृतः।
क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः॥ ९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बड़े-बड़े वीर पराक्रमी मुकुटमणि राजा भी मेरी शरण में आते हैं और मैं एक तुच्छ वेश्या के चरण पकड़ रहा था, इससे अधिक निर्लज्जता और क्या होगी? मुझ पुरुरवा की आज्ञा पर सारे राजा कठपुतली की तरह नाचते रहते हैं और मैं स्वयं एक वेश्या की आज्ञा से श्वान की तरह लांगूलचालन कर रहा था। मदारी के बन्दर की तरह मैं स्त्री के इशारों पर नाचता रहा। मेरे चक्रवर्ती होने का ऐसा निंद्य फल मुझे प्राप्त हुआ? सारे राजा मुझे बहुत सम्मान देते हैं, भूपति मेरे चरणों का वंदन करते हैं और मैं एक स्त्री का दास बनकर हीन, दीन, भिखारी बन गया। स्त्री को प्रसन्न रखने के लिये उसके पैरों पर गिरना उचित है ऐसा कहने वाले कामी पुरुषों के मुँह में आग लगे क्योंकि वह मदन का बहुत बड़ा प्रहार है। मैं समुद्रवलयोक्ति पृथ्वी का सार्वभौम हूँ और उसे एक वेश्या ने भँवर जाल में फँसाया? उसी भँवर जाल का वर्णन राजा स्वयं कर रहे हैं।

सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम्।
यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद् रुदन्॥ १०॥

स्त्री केवल साकार-माया-भ्रम है। इसीलिये स्त्री को 'प्रमदा' कहते हैं। इन स्त्रियों के मोह में बड़े-बड़े लोग फँस चुके हैं। स्त्रियाँ, वस्त्र और अलंकार ये माया के प्रमुख तत्त्व हैं; जिसके भुलावे में बड़े-बड़े लोग आ चुके हैं। उसी प्रकार मैं भी स्त्री की संगति में पापी बना मुझे स्वयं ही अपना कार्य दीन-हीन लगता है क्योंकि उर्वशी तो वैसे भी एक वेश्या थी। उसे कितने ही लोगों ने भोगा होगा। ऐसी कामासक्ति के कारण में सब कुछ भूल गया। अपनी भूलने की कथा पश्चात्तापपूर्वक राजा स्वयं बता रहा है। धर्मपत्नी के साथ कामोपभोग करने से सहसा स्वधर्म की हानि नहीं होती किन्तु मेरा दुष्कर्म आड़े आया और मैं वेश्या के जाल में फँस गया। जो परस्त्री की अभिलाषा करते हैं वे तो निश्चित रूप से नरक में जाते ही हैं, लेकिन जो अपनी पत्नी पर भी आसक्त होते हैं उन्हें भी अधोगति नहीं छोड़ती। स्त्रियों ने हरिहर पर भी मोहिनी डाली है, स्त्रियों ने बड़े-बड़े ऋषियों को भी भुलावा दिया हे, स्त्रियों ने बड़ों-बड़ों को अपने पाश में उलझाया है, उसी प्रकार मुझे भी स्त्रियों ने दास बनाया। राज्य और राजवैभव मैंने वेश्या के हवाले किया। इतना ही नहीं, बल्कि उसके लिये मैंने अपना जीवन भी अर्पण किया। सारे राजाओं का मैं मुकुटमणि था, लेकिन मैं उसके चरणों का दास बन गया। मदन की करनी अद्‌भुत है। उसने मुझे स्त्री के वश में कर दिया। मुझ राजराजेश्वर को उस वेश्या ने लात मार कर, मेरी उपेक्षा कर मेरा बहिष्कार किया, मेरे सामने मुझे छोड़कर चली गयी। उसे जाता देख मैं नग्न अवस्था में उसके पीछे दौड़ा, लाज-लज्जा छोड़कर रोया लेकिन उसने मेरी ओर देखा तक नहीं। किसी उन्मत्त ब्रह्मपिशाच की तरह, मैं नग्नावस्था में रोता हुआ उसके पीछे दौड़ रहा था लेकिन उसका चित्त द्रवित नहीं हुआ। फिर भी मैं रोता हुआ, लड़खड़ाते हुए किसी निर्लज्ज की तरह उसके पीछे दौड़ रहा था, मेरे मोह के कारण हुए अनर्थ के कारण मैं अपमानग्रस्त हो गया।

कुतस्तस्यानुभावः स्यात्तेज ईशत्वमेव वा।
योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत् पादताडितः॥ ११॥

मैं बहुत बड़ा राजराजेश्वर हूँ, ऐसा असाध्य अहंकार मुझे था। लेकिन मैं स्वयमेव वेश्या का नौकर और दास बन गया। नौकर की तरह उसके पीछे-पीछे दौड़ रहा था, फिर भी उसने मेरा अंगीकार नहीं किया, बल्कि जिस प्रकार गदही लात मार कर गधे को दूर भगा देती है, उसी प्रकार उसने मुझे भगा दिया। गदही को देखकर जिस प्रकार गधा उसकी खुशामद करता है लेकिन गदही उसे लात मारती रहती है। उसकी लातें सिर पर लगती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रहती हैं, फिर भी गधा पीछे नहीं मुड़ता। उस गधे की ही तरह मूर्खता मुझ पर पूरी तरह हावी हो चुकी थी। कामदृष्टि से वह उदासीन थी लेकिन मैं ही आसक्त होकर उसके पीछे पड़ा हुआ था। मेरे पराक्रम की बात सुनाते हुए मुझे स्वयं भी लज्जा होती है। इस प्रकार, जिसका मन स्त्री के विषय में लंपट हुआ उसका सारा योग, याग, अनुष्ठान, सब कुछ व्यर्थ हो जाता है।

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥ १२॥

जिसका मन स्त्रीकाममय हो जाता है, उसकी विद्या, तप, धन, त्याग और संन्यास वगैरह सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। उसका एकांतवास व्यर्थ, उसका मौन व्यर्थ उसी प्रकार राख में हवन करने की तरह उस स्त्रैण का अनुष्ठान सब कुछ व्यर्थ है। जिसका चित्त कामासक्त हुआ हो उसके सारे नियम भी व्यर्थ हैं। इस प्रकार अपने पूर्व आचरण की निन्दा करता हुआ राजा पश्चात्ताप कर रहा है।

स्वार्थस्याकोविदं धिङ्मां मूखपण्डितमानिनम्।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रोभिर्गोखरवज्जितः॥ १३॥

चारों पुरुषार्थों का अधिष्ठान जो पावन नरदेह है, उसका योगपूर्वक भजन करने से सनातन ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है। नरदेह का एक-एक क्षण भी जन्म-मरण का विनाश करता है, भक्तिभाव से हरि का स्मरण करने से बड़े-बड़े पातक भी नष्ट हो जाते हैं। ऐसे नरदेह का लाभ लेकर नृपश्रेष्ठ चक्रवर्ती राजा बना और वेश्या के भुलावे में आ गया। मैं स्वयं को श्रेष्ठ और ज्ञानी कहता था किन्तु अज्ञों से भी अधिक अज्ञानी था। मेरा सच्चा हित किसमें है यह मेरी समझ में नहीं आया और मैं वेश्या के अधीन हो गया। नरदेह जैसी निधि मिलने पर भी मैंने मन में ज्ञान का अभिमान किया और स्वहित का कोई साधन नहीं किया यह मेरी मूर्खता है। बैल, उल्लू होकर गाय के पीछे दौड़ता रहता है, आगे क्या अनर्थ होगा, यह वह नहीं जानता। जिस प्रकार गदही के पीछे गधा दौड़ता है, उसी प्रकार मैं कामासक्त और निर्लज्ज बन गया था। गदही गधे को लात मारती रहती है फिर भी वह आगे बढ़ता रहता है। उसी प्रकार मैं भी विषय की इच्छा से वेश्या के पीछे पागल था। 'काम भोग के अन्त में विरक्ति उत्पन्न होती है' ऐसा विचारी लोग कहते हैं, लेकिन वे मूर्ख हैं। वे अधःपात की ही ओर ले जाते हैं, यह मेरा अपना अनुभव है।

सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम्।
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा॥ १४॥

सत्ययुग का मेरा आयुष्य, ऐश्वर्य तो सार्वभौम राजा का। उर्वशी अपने स्वर्ग के स्वार्थ के लिये मुझसे अनेक प्रकार के भोग भोग रही थी। ऐसा विलासपूर्ण सुख भोगते-भोगते करोड़ों वर्ष बीत गये। किन्तु मुझमें विरक्ति की बात नहीं आयी। 'भोग के अंत में वैराग्य आता है' ऐसा कुछ लोग कहते हैं लेकिन वह मूर्खों की बकवास है। स्त्री के अधरपान को 'अमृत' कहते हैं वे भी मूर्ख ही हैं। वह अमृत तो नहीं ही है, अपितु नशा लाने वाली शराब है और वह चित्त को भ्रमित करती है। स्त्री के अधरपान की जो माधुरी है, उसके आगे सारे मद्य बेकार हैं क्योंकि वह तत्काल अनर्थ में ढकेलती है और निजस्वार्थ को नष्ट कर देती है। जिस प्रकार घृत की करोड़ों आहुतियों से भी अग्नि की तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार स्त्रीसंग से कभी विरक्ति नहीं होती। इस प्रकार राजा ने अपना पश्चात्ताप आठ श्लोकों में व्यक्त कर दिया क्योंकि जब हृदय में विवेकदीप प्रज्ज्वलित हुआ, तो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मदन का ताप किससे नष्ट होगा, इसका उसे स्मरण हुआ। कामिक पुरुष विषय का त्याग करे, फिर भी उसकी वासना बिलकुल नहीं छूटती और जब रुचि से विषय सेवन कर रहा हो तो फिर विरक्ति कैसे उत्पन्न होगी? उसका क्या उपाय है इसका विचार कर स्त्रीविषय त्याग का सच्चा विचार राजा बता रहा है।

पुंश्चल्याहृतं चित्तं को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम्॥ १५॥

पुरुष सदा ही स्त्री पर अनुरक्त रहता है; लेकिन वह एकाएक उससे अति प्रसंग नहीं कर सकता। इसलिये वेश्या की संगत मिलने पर वह उसके हावभाव से कामपीड़ित होता है। वेश्या के नेत्रकटाक्ष ही पुरुष को बन्धन में डालने के लिये पर्याप्त हैं। स्त्री विषय का यह बन्धन नारायण के अलावा और कौन छुड़ाएगा? स्त्रीविषय से मुक्त करने वाला केवल एक ईश्वर ही समर्थ है। आत्माराम भगवंत से उससे निश्चित रूप से छुड़ा सकता है। काम का संचार माया के गुणों से होता है; अविद्या उसकी वृद्धि करती रहती है। इसलिये माया का नियंता जो ईश्वर है, वही मदन की पीड़ा दूर कर सकता है। आत्मस्वरूप में लीन, आनन्दस्वरूप रहने वाला वह आत्माराम, वही सारे विषयों का निवारण कर आत्मस्वरूप विषयक भ्रम को दूर करता है। भोग करते हुए भी वह अभोक्ता रहता है, उस अनंत की शरण में जाने से ही विषय विकार बाधा नहीं कर पायेंगे। स्त्रीसंग से छुड़ाने वाला एक वही है। अधोगति से छुड़ाने वाला जो अधोक्षज है, वह भक्तों का पालन करने वाला होने के कारण, उसकी शरण में जाने से वही कामासक्ति का निवारण करता है। राजा कामासक्ति से अत्यन्त त्रस्त हो गया, विषय के प्रति अंतर्बाह्य उदासीन हुआ, लेकिन हृदय की वासनाओं का त्याग वह नहीं कर पा रहा था। सर्वोपरि हरि की शरण में जाने से ही सारी वासनाओं का निवारण अपने आप होता है। कुछ लोग ऐसा भी मत प्रतिपादित करते हैं कि वेदाध्ययन कर इन्द्रादि देवताओं के प्रीत्यर्थ यज्ञयाग करने से हृदय की वासनाओं की निवृत्ति होती है। लेकिन जो ज्ञानी ऐसा कहते हैं, वे अज्ञानी हैं क्योंकि श्रीहरि की शरण में गये बिना कामबाधा का शमन नहीं होता। इन्द्रादि देवताओं की भी कामासक्ति के कारण कितनी दुर्दशा हुई इसका उन्हें पता नहीं है। ऐसा होते हुए, उनके भजन से काम की निवृत्ति होती है, ऐसा जो कहते हैं वे अतिमूर्ख हैं।

बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः।
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः॥ १६॥

काम्य कर्म से सुख होगा यह कहना ही बिलकुल मिथ्या है क्योंकि काम्य कर्म में अधिक दुःख होता है। लेकिन उन मूर्ख सकाम लोगों की समझ में यह बात नहीं आती। मैंने याग कर इन्द्रादि देवताओं का यजन कर उर्वशी का उपभोग किया फिर भी मैं अत्यन्त दुःखी हुआ। नारायण ऋषि के ऊरू अर्थात् जंघा से उत्पन्न हुई इसलिये उसका नाम 'उर्वशी' पड़ा। उसने मुझे निष्काम भाव से शुद्ध वेदवाक्य से उपदेश किया। श्रुति का निष्कामवचन श्रवण करने पर भी मेरी सकाम भूल नष्ट नहीं हुई। जब तक श्रीहरि की कृपा नहीं होगी, तब तक काम की चाल नहीं रुकेगी। भक्तिभाव से श्रीहरि की शरण जाने से हृदयस्थ नारायण प्रकट होता है तब हृदय के सारे काम अपने आप भाग जाते हैं। उर्वशी की आसक्ति के कारण मैंने तो अत्यधिक कष्ट सहन किये लेकिन इसमें उसका क्या दोष है? मुझे स्वयं ही श्रीहरि का विस्मरण हो गया था। यदि मैंने ही श्रीहरि का स्मरण किया होता तो बेचारा काम क्या मुझे बाधा पहुँचाने वाला था? यदि मुझे ही मेरा स्मरण रहता, तो उर्वशी मुझे बिलकुल तुच्छ लगी होती।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः।
रज्जुस्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः॥ १७॥

मैं भी मूर्खतावश अब तक उर्वशी को ही अपराधी मान रहा था। लेकिन ठीक तरह से विचार करने पर देखा कि मैं ही सकाम और मतिमंद हूँ। उर्वशी को देखते ही मैं कामासक्त हो गया और अपनी ही लंपटता के कारण मैंने स्वयं को कष्ट दिया। शाम को रस्सी दिखायी देने पर भीरु व्यक्ति को वह बड़ा सर्प ही मालूम होता है और अगर ठीक से न देखो तो वह एक भयानक अजगर मालूम होता है। साँप के भय से दौड़ने में रस्सी उसके पैर में फँस जाती है और उसे वह साँप की कुण्डली समझ लेता है। इसमें उसकी कल्पना ही उसे बाधक सिद्ध होती है। उसी प्रकार मेरी कामभ्रांति से उर्वशी मुझे सुन्दर स्त्री लगी और मेरी ही कामासक्ति से भी रतिविलास में नग्न हो गया। इस प्रकार मैं ही अविचारी प्राणी उस उर्वशी के काम पर लुब्ध हो गया था, ऐसी स्थिति में उस पर नाराज होना अधर्म है। स्त्री देखने पर विषयलंपट पुरुष को वह अत्यन्त रमणीय मालूम होती है, किन्तु विचारी पुरुष को वही अत्यन्त गन्दी और नरक की खान लगती है। सुअर को जिस प्रकार विष्ठा से प्रेम रहता है, उसी प्रकार विषयी पुरुष को स्त्री का संग रमणीय मालूम होता है किन्तु विचारी लोग उसकी ओर देखकर थूकते हैं, यही बात राजा श्लोकरूप में बता रहे हैं।

कायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः॥ १८॥

स्त्री, पुरुष ये जो नाम हैं वे केवल देह के ही लिये हैं। उसमें, स्त्रीदेह के गुणधर्म देखने से उसमें मलीनता ही भरी हुई है। जो नित्य नये स्राव की खान है, रजस्वला के प्रवाह की वह नाली, दुर्गंधि का स्रोत और विष्ठा से भरी हुई गठरी जो दोषों का जन्मस्थान है, विकल्प का आश्रय है, जो महादुःख का पात्र है और जिसके कारण अधःपतन होता है। वह मन का उद्वेग बढ़ाने वाली, जिसके योग से मन को क्षयरोग की बाधा होती है, अत्यन्त निर्लज्जता के कारण जिसका अंगसंग त्रस्त कर देता है। जिस प्रकार गन्दे मटके का गोल किनारा बिल्ली के गले में फँस जाने पर वह घर-घर में उसी अवस्था में जाती है और पवित्र घरों के बर्तनों को अपवित्र कर देती है उसी प्रकार स्त्रियों की संगत है। वह जिसके गले में फँस जाती है, वापस नहीं जाती। स्त्री काम में लंपट कितने लोगों की दुर्दशा हो चुकी है, उसका कोई अन्त नहीं है। वह बिल्ली जिस बर्तन में भी मुँह लगाती है, उसे वह किनारा अवरोध कर देता है; उसी प्रकार स्त्रीसंगति से अपार दुःख होता है, लेकिन पुरुष उसमें सुख ही मानते हैं। मृगजल का कमल अत्यन्त मनोहर दिखाई देता है उसी प्रकार स्त्री का मुख सुन्दर, सुहास्य, रमणीय और सुकुमार है ऐसा विषयी पुरुष वर्णन करते हैं किन्तु यदि उनके मुँह की वास्तविक स्थिति देखें तो वहाँ नाक में सदा कफ की बस्ती रहती है। ऐसी स्थिति में वे विष को अमृत की उपमा देते हैं। स्त्रियों के मुख से लार झरती रहती है, उसे वे अधरामृत कहते हैं। अविद्या का बल भी धन्य है। ऐसे स्त्री देह पर देव-दानव दोनों ही लुब्ध दिखायी देते हैं। स्त्री और पुरुष इन दोनों में आत्मा एक है। लेकिन स्त्री का रूप अविद्यात्मक है। विषयी पुरुष उसके भुलावे में आ जाते हैं। सारांश, माया का गुण प्रबल है। स्त्री संभोग के समय आत्मा नित्यमुक्त होकर अलिप्त रहता है। यदि स्त्री संयोग में देह को भोक्ता कहें तो देह जड़ है। वहाँ विषय भोग का कारण मुख्य रूप से देहाभिमान है। लेकिन उसमें भी कई हिस्सेदार हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः।
किमात्मनः किं सुहृदामिति योनावसीयते॥ १९॥

माँ गर्भ धारण करती है, उसका पोषण करती है और स्वयं कष्ट सह कर उसका पालन-पोषण करती है अतः वह देह 'माता' का है। लेकिन यदि माता अकेली ही हो तो उसे पुत्र की बात स्वप्न में भी नहीं लानी चाहिये क्योंकि वहाँ वीर्य का निक्षेप करने वाला पिता होता है। इसलिये वास्तव में यह देह पिता का है और अग्नि-ब्राह्मण की साक्षी से जिसे शपथ दिलाकर भार्या बनाकर लाया रहता है और जो प्राण देकर भी सेवा के लिये तत्पर रहती है, जिसे उसके कारण ही सुख और शोभा, जिसे इसके ही कारण इहलोक और परलोक है; इन सबका सूक्ष्म रीति से विचार करने पर यह देह सचमुच 'स्त्री' का ही है। 'सुहृद-बंधु-मित्र' भी इस देह के लिये आवश्यक है। उन्हें भी इस देह के सुख से सुख प्राप्त होता है, इसलिये एक दृष्टि से यह देह उनका भी है। उसी प्रकार स्वयं वेतन लेकर स्वयं ही जिसे देह विक्रय किया रहता है, जिसकी आज्ञा के बिना क्षणभर के लिये भी इधर-उधर घूमना नहीं हो सकता, उस दृष्टि से वह देह 'स्वामी' का अर्थात् 'मालिक' का है। श्वान, लोमड़ी, गिद्ध इनका यह देह खाद्य ही है अर्थात् यह देह उनका भी मानना चाहिये। खैर! जीव के कारण ही देह से कर्म होता रहता है अतः यह देह 'जीव' का भी है। माँ-बाप, पत्नी-बच्चे, इष्ट-मित्र देह का दहन करते हैं, इसलिये विद्वान लोग इस देह को 'अग्नि' का कहते हैं। इस प्रकार इस देह के आठ भागीदार हैं। ऐसी स्थिति में 'मैं भोक्ता हूँ' यह अभिमान पूर्णरूप से मूर्खतापूर्ण है। यहाँ 'मैं' एक विशेष भोक्ता हूँ यह समझना अथवा 'मेरी' देह यह अभिमान पूर्णतयः मूर्खतापूर्ण है। यहाँ 'मैं' एक विशिष्ट भोक्ता हूँ यह समझना अथवा 'मेरा' देह कहकर उसके प्रति ममता रखना सचमुच अधःपात की ओर ले जाने वाला है।

तस्मिन् कलेवरेऽमध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते।
अहोसुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः॥ २०॥

देह कुल मिलाकर अमंगल ही है, उसमें स्त्रीदेह तो अत्यन्त पवित्र, निरन्तर स्राव करने वाला गन्दा पात्र है। उसका भोक्ता भी स्वयं अत्यन्त अमंगल है। ऐसे विषय लंपट अविचारी लोग ही स्त्री विषय पर लुब्ध होते हैं और यही मूर्ख लोग स्त्रियों का वर्णन करते रहते हैं। अरे! यह मुखकमल कितना सुन्दर है। कितना सुरेख है। बिलकुल चन्द्रमा जैसा लगता है और नाक से यह कितनी सरल और सुन्दर है। ऐसी सुन्दर स्त्री हम भाग्यवान थे इसलिये हमें मिली, इस प्रकार विषय लंपट लोग मन ही मन स्त्रियों के भुलावे में आते हैं। इस प्रकार स्त्रीदेह का विचार करने से ही मुझे कै होने लगती है। स्त्रियों का जीवन अत्यन्त निन्दनीय है। आग लगे ऐसे जीने को। मूर्ख लोग ही उनके साथ रमण करें।

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमदोमज्जास्थिसंहतौ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम्॥ २१॥

स्त्रीदेह की रचना देखें तो वह हड्डियों का एक ढाँचा दिखायी देता है। उस पर स्नायु, शिरायें आदि बाँध कर उसे पक्का किया गया है। मांस और रक्त मिलाकर उस हड्डियों के ढाँचे को लीपा गया है। हड्डियों पर जो आवरण है उसे 'मज्जा' कहते हैं। हड्डियों के भीतर जो मगज होता है उसे 'मेह' कहते हैं। उसके ऊपर अच्छी तरह चमड़े से लपेटा रहता है, जिसे 'त्वचा' कहते हैं। इस देह में क्या भरा हुआ है? केवल मल-मूत्र। ऐसे देह में जो रममाण होते हैं, वे नररूपी कीट ही हैं। जिस प्रकार विष्ठा में कीड़े चरते हैं, उसी प्रकार स्त्री के देह पर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिसकी आसक्ति होती है वे कीड़ों की ही तरह हैं। इस प्रकार विचार करें तो स्त्रियों का देह अत्यन्त गन्दा है। उसे वस्त्रालंकार से सुशोभित कर पुरुष उस पर आसक्त होते हैं। बहेलिया जाल लगाकर हिरनों को पकड़ता है लेकिन पुरुष स्त्रियों का शृंगार कर स्वयं ही उस जाल में फँसता है। इसलिये विरक्तों को स्त्री की संगत कभी नहीं करनी चाहिये, गृहस्थाश्रमियों को भी उसकी आसक्ति छोड़नी चाहिये। इसके सम्बन्ध में राजा बता रहे हैं।

अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित्।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा॥ २२॥

स्त्रियों का यह देह यदि वास्तव में सुन्दर होता, तो वस्त्रालंकार के बिना भी सुन्दर लगता। लेकिन वह अत्यन्त निंद्य और गन्दा होने के कारण वस्त्रों के बिना बिलकुल अच्छा नहीं लगता इसीलिये स्त्रियाँ अपना देह वस्त्रालंकारों में लपेटती हैं। जिस प्रकार धोखेबाज ब्राह्मण का स्वांग बनाकर विश्वास जता कर घात करते हैं, उसी प्रकार यह स्त्रियों की संगत है। स्त्रियों की संगत नाना प्रकार के तरीकों से दास्यत्व कराती है और अन्त में अपने साथ नरक ले जाती है। इसलिये विरक्तों को उधर नहीं जाना चाहिये। यदि स्त्री विरक्त हो तो भी साधक को उसकी संगत नहीं करनी चाहिये। अग्नि के संग से जिस प्रकार घी पिघलता है, उसी प्रकार स्त्री की संगत से भी वृत्तियों में विकार उत्पन्न होता है। अमृत के स्थान पर विष खा लेने से मृत्यु अवश्यंभावी है, उसी प्रकार स्त्री सात्त्विक है यह जानकर सेवन करने पर भी वह दु:ख ही देती है। यदि अग्नि में घृत बहुत समय तक रह पाता तो स्त्री की संगत से भी पारमार्थिक लोग आत्मस्वरूप प्राप्त करते। घृत समाप्त होकर यदि साठ वर्ष भी हो गये हों तो भी अग्नि के संगत से घृत की गागर द्रवित हो उठती है। उसी प्रकार स्त्रियों के सहवास से वृद्धावस्था में भी काम विकार प्रबल होता है। कपूर अगर अग्नि में बिना जले रह गया होता तो स्त्री की संगत से सबको परब्रह्म का लाभ हुआ होता। अग्नि हाथ में लेते ही, वह जलाता है वैसी ही स्त्रियों की संगत है। उसकी संगति से आसक्ति बढ़ती है और वह पुरुष को अनर्थ में डालती है। स्त्री से भी ज्यादा यदि स्त्रैण की संगति मिले तो वह करोड़ों अनर्थ का मूल है। उसकी संगति से अध:पतन ही होगा। स्त्रीलंपट पुरुष से यदि भेंट हो जाय तो वह सारा ब्रह्मानन्द स्त्री सुख में ही है, ऐसा आदेश विरक्त को देता है। इससे तत्काल स्त्री कामना उत्पन्न होती है। फिर वह स्वदारा और परदारा का विचार ही नहीं करने देती और स्वेच्छाचार की ओर प्रवृत्ति मुड़ती है। इसलिये स्त्रैण ही वास्तव में घातकी है। स्त्रैण जहाँ प्रवेश करता है, वहाँ अनाचार की बेल बढ़ी ही समझिये। अधर्म सर्वांग से फलता-फूलता है और वह बाधक बनकर अनर्थ के फल देता है। इसलिये जिसे परमार्थ साधना हो उसे स्त्री की अथवा स्त्रैण की संगत कभी नहीं करनी चाहिये क्योंकि उनकी संगत अनर्थ में डालती है। लेकिन यदि स्त्रैण को ही वर्जित कर दिया जाय तो फिर स्त्रीसंग रह ही कहाँ जाता है? सारांश यह संगत ही परमार्थ के लिये उपयोगी नहीं है। इसलिये साधक को स्त्रियों की ओर नहीं देखना चाहिये और बातें तो नहीं ही करनी चाहिये और एकान्त में भी कभी नहीं बैठना चाहिये। अब आप यह कहेंगे कि जो विचारी है उसे स्त्रीसंगति क्या करेगी? तो भाई! इस स्त्री की संगत के पीछे बड़े-बड़े ज्ञाताओं ने भी आघात सहे हैं। पराशर ऋषि को नाव में क्षणभर के लिये नाविक की कन्या मिली, लेकिन उतने ही क्षणों के लिये उन पर अपयश का आघात हुआ। ऋष्यश्रृंग बहुत बड़ा तपस्वी था किन्तु वह भी वेश्या के वश में हो गया, औरों की क्या बात करें? साक्षात महादेव पर भी मोहिनी ने मोहिनी डाली। विषय और इन्द्रियों की संगत से चित्तवृत्ति निश्चित रूप से क्षुब्ध होती है। सज्ञान भी जब उनमें बँध जाते हैं तो अज्ञानों की क्या कथा? लेकिन, स्त्रियों की प्रत्यक्ष संगत न होते हुए भी स्त्री के स्मरण मात्र से भी काम विकार उत्पन्न होता है। इसी का स्पष्टीकरण राजा कर रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अदृष्टादश्रुताद् भावान्न भाव उपजायचे।
असप्रयुञ्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः॥ २३॥

जिसे न कभी देखा है न सुना है, ऐसे विषय से पुरुष का मन कभी क्षुब्ध नहीं होता। लेकिन पहले के भोगे हुए जो विषय हैं, उनका स्मरण मन में होते ही स्त्री की संगत न होने पर भी वृत्ती का क्षोभ होता है। इस प्रकार पहले से चली आ रही विषयासक्ति ही पुरुष को निश्चित रूप से बाधक होती है। वह एकान्त में अकेला ही बैठा हो, लेकिन वासना के संस्कार से उसकी वृत्ति सकाम होकर क्षुब्ध होती है। पिछली रात के पकवान ढँककर रखे रहते हैं, वे दूसरे दिन सुबह बिना पकाये खाये जा सकते हैं। उसी प्रकार वासना में स्थित काम ही पुरुष को सकाम कर देता है। उस काम का क्षोभ होने पर कर्म और अकर्म का स्मरण नहीं हो पाता। सारांश, वासना-कामसंगति यही परमार्थ में साधक होते हैं। इसलिये सभी साधकों को स्त्री विषय की आसक्ति छोड़ देनी चाहिये। मन में यदि कामासक्ति क्षुब्ध हो जाय तो साधकों को एक उपाय करना चाहिये। उन्हें बाह्य इन्द्रियवृत्ति पर नियंत्रण रखना चाहिये, ताकि धीरे-धीरे मन को शान्ति प्राप्त हो। कर्मेन्द्रियों को दृढ़ वैराग्य से वश में रखने से, मन में काम कितना ही क्षुब्ध क्यों न हो जाय लेकिन वह अपने आप ही शान्त हो जाता है। जिससे अनर्थ हो जाता है। वह संगत ही छोड़ देनी चाहिये। वह संगत्याग कैसे किया जाय उसका स्पष्टीकरण राजा श्लोकार्थ में कर रहे हैं।

तस्मात्सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः।
विदुषां चात्यविश्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम्॥ २४॥

जो ज्ञानियों को भी चक्कर में डालता है, कामी पुरुष को तत्काल अपने वश में कर लेता है, ऐसा यह स्त्रीसंग अनर्थकारी है और स्त्रैण पुरुषों के लिये तो और भी अधिक अनर्थकारी है। इसलिये जो अपना सच्चा हित साधने के इच्छुक हों ऐसे परमार्थी लोग कर्मेन्द्रियों को स्त्री और स्त्रैण की संगत न होने दें। मन विषयों में भले ही क्षुब्ध हो जाय फिर भी हमें अपने इन्द्रियों को काबू में रखना चाहिये। जिससे मन का विषय अपने आप ही समाप्त हो जाता है। विषय और स्त्रीसंगत साथ होने पर विषयासक्ति से मन क्षुब्ध होता है। क्षणार्ध के लिये हुए स्त्रीसंग के कारण भी सज्ञान लोग अनर्थ में पड़े हैं। स्त्री को देखकर देवेन्द्र कामातुर हो गया और उसके शरीर में छिद्र पड़ गये और गुरुपत्नी तारा ने चन्द्रमा को भी कलंकित करके छोड़ा। सौभरी नाम का ऋषि महान तपस्वी था, वह मत्स्य का मैथुन देखकर कामातुर हो गया (यह कथा नौंवे स्कंध के छठवें अध्याय में आयी है) इस प्रकार यह स्त्रियों का स्कंध अनर्थकारी है। जब ब्रह्मदेव अपनी ही कन्या को देखकर कामासक्त हो गया तो औरों की क्या बात की जाय? कामिनी का संग महाभयंकर है। शिव का लिंगपतन इसी कारण हुआ। इन स्त्रियों की संगत में बड़े-बड़े सज्ञान और योगी भी फँस गये हैं। नारद ने केवल विनोद ही विनोद में कृष्ण की स्त्री माँग ली, उसके लिये गंगातट पर उसकी नारदी बना दी और उसके गर्भ से साठ पुत्र उत्पन्न हुए। सहज मौज के लिये भी यदि स्त्रियों के पास जाएँ तो जब सज्ञानों के लिये भी वह संगत बाधक होती है तो औरों की क्या बात करें? आधे क्षण के लिये स्त्रियों की संगत करके ज्ञानी भी ठग गये हैं। इसलिये जो स्त्रीसंग पर विश्वास करेंगे वे मेरी ही तरह दुःखी होंगे। इसलिये स्त्री संग पर विश्वास रखने से छह इन्द्रियों का समूह सबको चक्कर में डाल देता है। इसीलिये इन्द्रियों को वश में रखकर स्त्रियों का सर्वथा त्याग करना चाहिये। इस प्रकार स्त्रियों की संगति छोड़कर इन्द्रिय वृत्तियों को नियंत्रण में रखकर राजा ने परम शान्ति प्राप्त की। यही बात श्रीकृष्ण बताते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीभगवानुवाच

एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः स उर्वशीलोकमथो विहाय।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः॥ २५॥

जिसने उर्वशी सह स्वर्ग के सारे भोगों का भोग किया, जिसे देवता भी श्रेष्ठ मानते हैं; जो सभी समस्त राजाओं का मुकुटमणि था, जिसके आगे राजा साष्टांग दण्डवत् करते थे, ऐसा चक्रवर्ती राजा पुरु उर्वशी का तथा स्वर्ग का उपभोग कर विरक्त हुआ, इसलिये वह एक भाग्यशाली राजा था। जिन्हें विषयों का लाभ ही नहीं हुआ ऐसे विरक्त योगी बहुत दिखायी देते हैं किन्तु स्वर्ग की देवांगना का उपभोग कर राजा पुरुरवा विरक्त हुआ, इस दृष्टि से वह बहुत ही धन्य है। पुरुरवा जैसी विरक्ति अन्य किसी में नहीं देखी, इसलिये पुरुरवा सारे त्रिभुवन में धन्य हे ऐसा स्वयं श्रीकृष्ण अपने मुख से वर्णन करते हैं। अनुताप के आवेग में उसने अपनी स्थिति की निन्दा कर स्त्रीविषय की आसक्ति छोड़ दी और मोह को सचमुच ही धो डाला। पश्चात्ताप की अँगीठी सुलगा कर, वैराग्य का पुट देकर, विचारों से भलीभाँति इन्द्रियदमन कर उसने काममोह का दाग धो दिया। जिस प्रकार सुवर्ण का पुट देने से उसका वजन घट जाता है किन्तु गुणवत्ता बढ़ जाती है, उसी प्रकार आत्मानुभव के लाभ से वृत्ति को भलीभाँति धो-पोंछ दिया। इस प्रकार ऐसी अत्यन्त शुद्ध वृत्ति हो जाने के कारण विवेक वैराग्य रूप सम्पत्ति से और पूर्ण पश्चात्ताप से वह मेरे कृपा प्रसाद का सुपात्र बना। मेरी कृपा के बिना देह में कभी अनुताप उत्पन्न नहीं होता। जिसमें पूर्ण अनुताप हुआ दिखायी दे उसके प्रति मेरी पूर्ण कृपा है, ऐसा समझना चाहिये। मेरी कृपा होने से जीव पूर्ण ब्रह्मरूप होता है और देहाभिमान समूल नष्ट होकर 'मैं' 'तू' का आभास ही नहीं होता। फिर कार्य, कर्म, और कर्त्ता; भोग्य, भोग और भोक्ता; दृश्य, दर्शन और द्रष्टा यह त्रिपुटी बिलकुल शेष नहीं रहती। तीन गुणों की त्रिपुटी का कारण जो मूलभूत अज्ञान है वह सद्गुरु कृपा से समाप्त हो जाता है। रस्सी से सर्प का भास होना जिस प्रकार रस्सी को पहचानने से समाप्त हो जाता है उसी प्रकार गुणों के साथ अविद्या भी गुरुपदेश से अदृश्य हो जाती है। सद्गुरु के उपदेश के अनुसार जब द्वैत का भान नहीं होता तो फिर उर्वशी का भोग कौन करेगा? राजा आत्मानंद से अत्यन्त तृप्त हो गया। राजा जब ब्रह्मरस से तृप्त हुआ, तब वह उर्वशी को छोड़, स्वर्गलोक छोड़कर आत्मानंद से तृप्त होकर वहाँ से चल पड़ा। अन्य ज्ञाता स्त्रियों को अवश्य त्याग करते हैं किन्तु उनसे कामासक्ति का त्याग नहीं होता। लेकिन राजा की वैसी स्थिति नहीं थी। वह वास्तविक विरक्ति में पहुँच गया था ऐसी विरक्ति में जहाँ स्त्री विषय की बात ही नहीं उठती, ब्रह्मानन्द से सारी सृष्टि भर जाती है, ऐसे आत्मानंद की पुष्टि से वह तृप्त हुआ। ऐसे आनन्दरूप में वह सहज ही मत्स्वरूप होकर मुझसे मिल गया। कल्पना से उत्पन्न काम-विषय को जीत कर वह आत्मानंद में नाचने लगा। ऐसे दृढ़निश्चय से उसे मेरा निजस्वरूप प्राप्त हुआ और उसी ने अपना इतिहास अपने सुख समाधान के लिये सुनाया। अनुताप के आवेग में सहज ही अविद्या का नाश हो वह आत्मसुख से तृप्त हुआ। ऐसा निजलाभ प्राप्त करना हो तो स्त्रियों की विषयासक्ति छोड़ देनी पड़ेगी और अच्छी संगति करनी होगी। यही बात श्रीकृष्ण उद्धव को बता रहे हैं।

ततोदुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सुसज्जेतबुद्धिमान्।
सन्त एतस्यच्छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥ २६॥

यदि दुःसंग हो तो उसे अवश्य छोड़ देना चाहिये। अब दुःसंग कैसा? तो स्त्री और स्त्रैण इनसे अधिक दुःसंग और कोई नहीं है जो वेदशास्त्र को नहीं मानता, जो परमार्थ पर विश्वास नहीं करता और जिसका अन्तर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विकल्प से भरा रहता है वह भी सचमुच दुःसंग ही है। जो अत्यन्त विरक्ति की बात करता है किन्तु हृदय में अधर्म काम की प्रीति रहती है; कामना के आड़ आते ही द्वेष बढ़ता है; वह भी सचमुच दुःसंग है। उसी प्रकार स्वधर्म, कर्म, विनय, और सात्त्विक वृत्ति का बाहर प्रदर्शन करना और अंतःकरण में संतों के दोष देखना; और संवाद में उसका उदाहरण देना, वह अत्यन्त कठिन दुःसंग है। मुख्यतः हमारी सकामता ही सचमुच दुःसंग है। उस काम का समूल त्याग कर देने से दुःसंग का त्याग होता है। काम कल्पना की मार यही सबसे असाध्य दुःसंग है। जो पुरुष कामकल्पना का त्याग करेगा उसी का संसार सुखमय होगा। कामकल्पना छूटने के लिये सत्संग ही प्रमुख कारण है। संतों के चरणों में लीन होने से कल्पना और काम का अपने आप लय हो जाता है। संग सभी अर्थों में बाधक है इसलिये यदि सभी प्रकार का संग छोड़ने को कहें तो सत्संग न करें तो साधक कैसे छूट पायेंगे? सत्संग के बिना जो साधन है वही साधक के लिये दृढ़ बन्धन हो जाता है। सत्संग के बिना किया हुआ त्याग ढकोसला है। चित्त और विषय का बन्धन दृढ़ है; उसे विवेक से छुड़ाने से केवल साधु ही समर्थ है। संतों की सहज बातें करोड़ों उपदेशों से अधिक प्रभावी होती हैं; देहात्म भाव से उत्पन्न हुए जीवों के बन्धन वे शब्दों से काट देते हैं। सद्भाव से संगत करने से साधकों की संसारपाश से मुक्ति होती है। इसलिये बुद्धिमानों को संतों की संगति अवश्य करनी चाहिये। उन संतों के लक्षण यथार्थ ढंग से और अपनी प्रसाद वाणी से श्रीकृष्ण अत्यन्त संक्षेप में और अत्यन्त प्रेम से उद्धव को बता रहे हैं।

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥ २७॥

साधुओं के अनेक लक्षण हैं किन्तु श्रीकृष्ण उनमें से केवल आठ लक्षण चुनते हैं। सुनो। लाभ अथवा हानि साधुओं के चित्त को बाधा नहीं पहुँचा सकते, चित्त सदा भगवान की ही ओर लगा रहता है। इसी का नाम है 'निरपेक्षण'। कोई एक विशिष्ट विषय मुझे प्राप्त हो इसका स्मरण भी जीव को नहीं होता। उद्धव! साधुओं की यह निरपेक्षता की निधि, यह उनका पहला गुण है। चित्त से चैतन्य का ही चिन्तन करना, इसी का नाम है 'मच्चित्त' होना। इसी का नाम है, पूर्ण निरपेक्षता। अन्य किसी भी बात का चिन्तन करना संसार बाधा का कारण बनता है। इस प्रकार निरपेक्ष होने के लिये जागृती में, स्वप्न में और सुषुप्ति में चित्स्वरूप में दृढ़ रहना, इसी का नाम है 'मच्चित्त'। यह दूसरा गुण है। देह का चाहे शृंगार हुआ हो या वह आपत्ति से ग्रस्त हुआ हो, फिर भी परमानन्द में निमग्न रहना, इसी का नाम है 'मच्चित्त'। चित्त जब कामलोभादि से दोषरहित होकर परमानन्द में स्थिर हो जाता है, तभी वहाँ शान्ति का वास होता है, इसीलिये उसे प्रशान्त कहते हैं। कोई प्राणान्त होने तक अपराध करता रहे फिर भी जो उसे 'दुष्ट' नहीं कहता, उलटे उस अपकार करने वाले पर भी उपकार करता है, उसी को उत्कृष्ट 'शांति' कहते हैं। कोई सब कुछ ठग ले फिर भी जो उस पर क्रोध नहीं करता, उसे दोषी नहीं कहता, बल्कि उसे ब्रह्मार्पण समझता है; इसी कारण उसके शरीर में प्रशांतता आती है। सचमुच, ब्रह्मभावना से सभी प्राणियों पर विश्वास करना तथा चित्त में किसी प्रकार का विकल्प उत्पन्न न होने देना, इसी का नाम 'प्रशांतता' है। यह तीसरा गुण है। यह गुण आने का कारण यही है कि संसार में सर्वत्र वैषम्य ही भरा हुआ है, फिर भी जो उस वैषम्य में भी 'समभाव' देखता है, वही सच्चा 'समदर्शी' है। यही निरुपम चौथा गुण है। यह समदृष्टि हाथ लगने के लिये, भक्तिभाव से भगवान का भजन कर अहंता और ममता का पूर्णरूप से त्याग करना चाहिये। उसके बारे में भी सुनो। देह में देहाभिमान रखने से 'अहंता' 'मैं' पन बढ़ाती है और उस 'मैं पन' के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कारण देह सम्बन्धी 'ममता' बढ़ती है। यह बढ़ी हुई अहंममता महादुःख के भँवर में फँसती है। उसी निज दुःख का निवारण करने के लिये भक्तिभाव से श्रीगुरु की शरण में जाना चाहिये। गुरु की कृपा पूर्ण होने तथा उनके द्वारा देह की अहंत प्रकट कर देने से सारा संसार 'मैं' ही हूँ ऐसा अनुभव होता है। छोटा-बड़ा जो भी कुछ सृष्टि में दिखायी पड़ता है, वह सब मेरा ही स्वरूप है, मेरे 'मैं' पन की इतनी प्रसिद्धि है कि वह सारे त्रैलोक्य को व्याप लेती है। ऐसे शुद्ध 'मैं' पन से परिपूर्ण होने पर देह को मैं कहने वाला कौन होगा? 'मैं' 'तू' सब कुछ वहाँ समाप्त हो जाता है। इसी का नाम है 'निरभिमान'। इस प्रकार मेरे 'मैं' पन का विचार करने पर 'मेरा पन' अर्थात् 'ममता' पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। यदि मेरे 'मैं' कहने लायक कोई दूसरा स्थान शेष हो तभी वहाँ ममता का स्फुरण हो सकता है। उसे मैंने चिन्मात्रस्वरूप से निगल ही लिया है। इसलिये मैं पन से 'मैं और मेरा', तथा 'तू' पन से तेरा कहने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसा परब्रह्म से ऐक्य होने के कारण ही सहज ही 'निर्मम' होता है। उद्धव! 'निर्मम' और 'निरभिमान' वह यही है। संतों का निजगूढ़ तथा पाँचवाँ और छठवाँ लक्षण यही है। इस प्रकार जो सचमुच ही निर्मम और अहंकार रहित होकर रहते हैं, उन्हें द्वंद्व दुःख के पहाड़ों की भी बाधा नहीं होती। देह को प्रारब्ध के भरोसे छोड़ देने पर चाहे सुख दुख की झड़ी भी लग जाय तो भी वह ब्रह्मसुख के चौराहे पर देह का केवल द्रष्टा-साक्षी होकर रहता है। देह को बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर भी वह मन में हर्षित नहीं होता अथवा कोई देह को नरक में ढकेल दे तो दुःखी नहीं हेाता। देह बाघ के मुँह में फँस जाय तो भी वह दुःख से विह्वल नहीं होता अथवा पालकी में बैठने पर आनन्दित नहीं होता। परछाई विष्ठा पर पड़े अथवा पालकी पर चढ़े इससे उस पुरुष को सुख या दुःख कुछ भी नहीं होता। उसी प्रकार देहभोग मुक्त के लिये होते हैं। उसकी दृष्टि में दुःख दुःख से वंचित होता है और सुख सुख को भूलता है, इसीलिये वह निर्द्वंद्व बनता है। उसी प्रकार जो निर्मम और अभिमानरहित होता है उसे भेद का भान नहीं रहता और अभेद में द्वंद्व बन्धन मिथ्या होता है। यह 'निर्द्वंद्व' अर्थात् अभेद भाव मुक्त का सातवाँ गुण है। अरे! जरा देखो। जो निर्द्वंद्व और निरभिमान होता है, उसे जब अपना देह बिलकुल मिथ्या लगता है तो उसे देह सम्बन्धी परिवार बढ़ाने का अवकाश कहाँ है? अपने सगे-सम्बन्धी, धन सम्पदा, पत्नी-बच्चे इनके साथ रहकर भी वह इन्हें स्पर्श नहीं करता। जिस प्रकार जगे हुए व्यक्ति के लिये स्वप्न का व्यवहार नहीं रहता, उसी प्रकार साधुओं का भी संसार नहीं होता। सारांश, साधु परिग्रही होते हुए भी पूर्णरूप से 'अपरिग्रही' होते हैं। यह उनका आठवाँ मुख्य लक्षण है। संसार के लिये यह दुर्गम है क्योंकि साधु परिग्रही दिखाई देते हैं किन्तु परिग्रही नहीं होते हैं। संतों की यह स्थिति प्राप्त करने के लिये उनकी ही भक्ति करनी चाहिये। साधुओं के ये आठ लक्षण वास्तव में ब्रह्मा के अष्ट अंग ही हैं अथवा निर्गुण की ये अष्ट महासिद्धियाँ ही साधु के आठ पंखुड़ियों का कमल खिला हो, ऐसा यह संतों का स्वानंदशील साधु का लक्षण है। ये श्रेष्ठ आठ गुण सभी भूषणों के भूषण हैं। ये गुण जिनमें पूर्णरूप से अंकित हो जायें वे साधु सज्जन नितांत पवित्र हैं। अन्य किसी का भी संग अत्यन्त बाधक होता है। लेकिन यह सत्संगति वैसी नहीं है। इस संग के योग से देहसंग की आसक्ति टूटती है। इसके लिये उन्हें उपदेश नहीं करना पड़ता। केवल संग ही देही को विदेही बनाता है। वही अपूर्वता सात श्लोकों में श्रीहरि वर्णन करते हैं।

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः।
सम्भवन्ति हिता नृणांजुषतां प्रपुनन्त्यघम्॥ २८॥

इन्द्र पद से ब्रह्मलोक तक प्राप्त होने को बड़ा 'भाग्य' कहते हैं। लेकिन यह भी सत्संग का एक अंश भी नहीं है। ऐसी सत्संगति महाभाग्यवानों को ही प्राप्त होती है। साधु मेरी यशगाथा का गायन करते हुए

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भगवद्भावना से ही व्यवहार करते हैं। वह कथा यदि अकस्मात भी सुनायी पड़ी तो कलियुग के सारे पाप तत्काल धो देती है। वह गंगा से भी अधिक पवित्र है। जहाँ मेरी निजकथा का गायन होता है, वह तीर्थ स्थान भी पवित्र हो जाते हैं। ऐसे भगवान की कथा कीर्ति का साधु घोष करते रहते हैं। स्वयं भागीरथी भी मन ही मन चिन्तन करती रहती है कि कभी कोई साधु मेरे पास आये तो मेरे सारे पाप धुल जायें। मेरे मन में पार्वती का द्वेष होने के कारण मैं भी पाप से बद्ध हूँ। वह पातक भी संतचरणों से झड़ जायगा क्योंकि सत्संगति से सारे पाप घुल जाते हैं अथवा जिसके मुख में हरिनाम की कीर्ति होगी उसके पैर यदि मेरे पात्र तक पहुँचेंगे तो मेरे सारे पाप चले जायेंगे, ऐसा स्वयं भागीरथी कहती है। इस प्रकार भागीरथी भी संतों के संगति की निरन्तर इच्छा करती है। ऐसा उन संतों के मुख से मेरी कथा अत्यन्त आदर से जो श्रोता सुनेगा उसका भाग्य सचमुच मैं भी वर्णन नहीं कर पाऊँगा। मेरी कथा में रुचि रखने से उसमें नित नया माधुर्य मिलने लगता है और आदरपूर्वक सुनने से करोड़ों पाप जल कर नष्ट हो जाते हैं। मेरी कथा अथवा मेरा नाम सारे पातकों को भस्म कर देता है। उद्धव! चित्तशुद्धि का अत्यन्त सुगम मर्म यही है। अनेक प्रकार के योग अथवा वेदाध्ययन करने से भी मन पवित्र नहीं होता। उसी हरिकथा का श्रवण करने से अंत:करण पवित्र होता है। अबद्ध रीति से वेद का पठन करने से अनेक प्रकार के दोषों की बाधा होती है। किन्तु नाम यदि अशुद्ध भी कहा जाय तो भी उसे कहने वाले परमार्थ से शुद्ध ही हो जाते हैं। अनेक प्रकार के योग, याग अथवा वेदाध्ययन के अधिकारी केवल ब्राह्मण ही होते हैं। किन्तु उद्धव! कथा के श्रवण से चारों वर्ण पावन होते हैं। जब कथाश्रवण से इतना लाभ है तो फिर सभी लोग उसका श्रवण क्यों नहीं करते, ऐसा यदि कोई कहे तो उसका उत्तर है भगवत्कृपा के बिना किसी को वह भाग्य प्राप्त नहीं होता। जिन पर भगवान की पूर्ण कृपा रहती है, उनका ही कथा कीर्तन से प्रेम रहता है। भाग्य से वही श्रेष्ठ हैं। ऐसा श्रीकृष्ण स्वमुख से बताते हैं। मेरा नाम और यश संसार को पवित्र कर देता है ऐसा श्रीकृष्ण ने विह्वल होकर उद्धव से कहा। किन्तु ऐसी भगवद्त्कथा हमें कैसे प्राप्त हो? उसी के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण अगले श्लोकार्थ में स्पष्ट करके बताते हैं।

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दति ते मयि॥ २९॥

कोई अपने घर के काम से कहीं जा रहा हो और जाते-जाते सहज ही उसके कान में हरिकथा पड़ जाय तो कृष्ण कीर्ति की कथा के अक्षर कर्णद्वार में घुसते ही भीतर के सारे पातक खड़बड़ा कर बाहर आ जाते हैं। सिंह की गर्जना कान पर आते ही जिस प्रकार मदमत्त हाथी की हालत खराब हो जाती है, उसी प्रकार हरिकथा कान पर पड़ते ही महापापों की राख हो जाती है। इस प्रकार पातकों का कचरा साफ होते ही हरिकथा में रुचि जगती है और कथा श्रवण की ओर ध्यान देने से मन भी हर्ष से प्रफुल्लित होता है। जैसे-जैसे कथा का रहस्य समझ में आने लगता है वैसे-वैसे उसके प्रति प्रेम बढ़ने लगता है और उसी प्रेम के आवेग में वह स्वयं ही वह कथा गाने लगता है। लोकलज्जा की गाँठ खोलकर खुले मन से हरि के गुणानुवाद गाने से रुचि अपने आप उत्पन्न होने लगती है तो वह मन में लज्जा नहीं करता। भक्तिभाव से भगवत्कथा गाने से अपने आप रुचि उत्पन्न होती है। इसलिये वह अधिक आदर से और अधिकाधिक श्रद्धा से कथा सुनाने लगता है और जैसे-जैसे रुचि से कथा सुनाता है वैसे-वैसे श्रद्धा भी अधिक बढ़ने लगती है और अन्त में प्रेम का ज्वार आकर उसमें श्रद्धा भी डूब जाती है। कथा कीर्तन का प्रतिपादन बढ़ती श्रद्धा में होने पर विषयासक्ति की बाधा नहीं होती और इस प्रकार साधकों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को मत्परायण स्थिति प्राप्त होती है। भगवद्भजन न कर वेदाध्ययन अथवा यज्ञदान करने से ही हम तर जायेंगे ऐसा कहने वाले लोग महामूर्ख हैं। इसमें भगवद्भक्ति ही मुख्य है, ऐसा मन में विश्वास करने पर वृत्ति भगवत्परक ही होती है और इस प्रकार सभी प्राणियों में मद्भाव उत्पन्न होता है। ऐसा भाव अंत:करण में धारण कर मेरी भक्ति करने के अलावा वे और कुछ नहीं करते। इस प्रकार वे मत्पर हो जाते हैं। ऐसी मत्पर वृत्ति से वे निजस्थिति में सावधान रहते हैं। इससे उन भक्तों में चौथी भक्ति उत्पन्न होती है। वहाँ स्मरण किये बिना ही हरि का अखण्ड स्मरण होता रहता है। जो-जो क्रिया होती है उससे निरन्तर भगवद्भजन सहज ही होता रहता है। दृष्टि से वह जो भी दृश्य देखता है, वह भले ही बड़ा हो या छोटा हो उसमें हरि का ही दर्शन होता है। यही अहेतुक और सहज भजन है। उसकी वाणी से जो निकलता है, वह सब स्तव्य, स्तविता आदि लक्षणों को भूलकर केवल हरि का स्तवन होता है। शब्दों से शब्द सजाते समय शब्दरूप से वह हरि की सत्ता ही रहती है। इसी प्रकार शब्द जिस शब्दार्थ का द्योतक रहता है वह अर्थग्राहकता भी हरि की अर्थात् हरिरूप ही है। उसी प्रकार कानों से शब्दों का श्रवण होते समय वह सारा शब्दार्थ ब्रह्मार्पण ही होता रहता है। नाक और सुवास का मिलन होता है, उस समय भोक्ता के रूप में हरि ही खड़ा रहता है। अर्थात् जिसकी गंध लेनी है, वह वस्तु, गन्ध लेने वाला तथा नाक यह त्रिगुट गन्ध निगल लेता है। 'रस', 'रसना' और 'रसाभिरुचि' इसमें भी श्रीहरि ही भोक्ता रहता है। इसलिये भोग्य, भोक्ता और भोजन सम्बन्ध निजबोध के योग से वह परमानन्दरूप कर देता है। शीत-उष्ण-मृदु-कठोर ('स्पर्श' विषय के चार गुण) आदि का शरीर से स्पर्श होते ही वह सारा वह स्वयं हो जाता है क्योंकि मृदु, कठिन आदि भेद वह मिथ्या समझता है। उसे इस सबमें चित्सत्ता का ही स्फुरण होता है। हाथ की क्रिया वह अकर्त्ता के ही रूप में करता रहता है इसलिये लेने-देने में भी अकर्त्तात्मभाव से हरि का ही भजन होता है। निजरूप पर निश्चल हो जाने के कारण वह चपल कदमों को इस सूक्ष्मता से चलाता है जिस प्रकार सूर्य किरणों के कारण मृगजल पर लहरें चलती हैं। जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति में वृत्ति चित्स्वरूप में ही लगी रहती है, इसलिये उद्धव! 'चित्त' को अंत:करण की स्फूर्ति का ही विस्मरण हो जाता है। इसी का नाम 'मद्भक्ति' है। यह मेरे पसन्द की भक्ति है। इसी का नाम 'चौथी भक्ति' है। इस भक्ति का भाग्य जिसे प्राप्त होता है, उसकी चारों मुक्तियाँ दासी बन जाती हैं।

भक्ति लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते।
मध्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि॥ ३०॥

यह मेरी अत्यन्त प्रिय चौथी भक्ति है। यदि यह भाग्य से प्राप्त हो जाय तो चारों मुक्तियाँ तृणवत् हो जाती हैं। जहाँ मेरी निरपेक्ष भक्ति रहती है वहाँ चारों मुक्तियाँ चरणों पर गिरती हैं लेकिन भक्त उनका स्पर्श तक नहीं करते। मेरे भजन से उन्हें इतना अधिक प्रेम रहता है। मेरे भजनों से प्रेम के कारण उन्हें स्वप्न में भी किसी प्रकार की बद्धता का आभास नहीं होता और बिना बद्धता के मुक्ति व्यर्थ है इसलिये मेरे भक्त मुक्ति स्वीकार नहीं करते। जहाँ समूल बद्धता ही मिथ्या वहाँ बेचारी मुक्ति क्या है? मेरे भजन की चाह में ही मेरे भक्तों को स्वानंद की राशि मिलती है। निरपेक्ष और प्रेमयुक्त भक्ति से मेरा अनन्य भजन करने से, उस भजनास्थिति में ही भक्तों को स्वानंद की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार गर्भवती स्त्री गर्भ के साथ बढ़ती है अथवा कोई युवती अपने यौवन के साथ व्यवहार करती है, उसी प्रकार आत्मानंद की परिपूर्णता के साथ मेरे भक्त मेरे भजन में लीन रहते हैं। उस समय सगुण अथवा निर्गुण इन दोनों रूपों से परिपूर्ण ब्रह्म मैं ही रहता हूँ। इसलिये भक्ति से मेरा भजन करने से मेरे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भक्त ब्रह्मसम्पन्न होते हैं। निष्ठा से मेरी भक्ति करने से ऐसी कौन-सी वस्तु है जो भक्तों को नहीं मिल सकती? विवेक, वैराग्य, ज्ञानसम्पत्ति ये मेरे भक्तों के चरणों पर गिर पड़ते हैं। मेरे भजन से भेदभाव नष्ट होता है और अभेदज्ञान अपने आप प्रकट होता है। इससे परमानंद भर जाता है और वह स्वत:सिद्ध स्वानंद का स्वरूप बन जाता है। मेरे स्वरूप का अंत नहीं है इसीलिये मुझे 'अनंत' कहते हैं। किन्तु भक्त का भाव इतना समर्थ और श्रेष्ठ रहता है कि वह अनंत को भी बाँध कर रख सकता है। जिनका प्रेम इतना मधुर है, उनकी सेवा की मुझे चाह रहती है। उनका संकट मैं सहन करता हूँ और मुझ निरिच्छ को भी उनकी इच्छा रहती है। देव प्रेम के वश में हो गया और बोला कि मैं उन्हीं का अंकित हूँ। मैं जीवकाल से उस पर न्योछावर हूँ और सारे त्रिभुवन में उन्हीं का होकर रह गया हूँ। अकस्मात सत्संगति होने से मेरे भक्तों को जब इतनी प्राप्ति होती है तो फिर अनन्य भक्ति से साधु की सेवा करते हैं उनकी गति मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। ऐसे संतों की महिमा का वर्णन करने से श्रीकृष्ण को संतोष नहीं हुआ इसलिये वही संतमहिमा अगले चार श्लोकों में वर्णन कर रहे हैं।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥ ३१॥

उद्धव! तेजोमूर्ति अग्नि की सेवा करना जो जानते हैं, उनकी ठंडक, अन्धकार और भय का वह (अग्नि) निवारण करता है। उसके पास रहने से ठंडक नष्ट हो जाती है, उसकी तेजोवृद्धि से अन्धकार नष्ट होता है और उस पर ईश्वर भावना रखने से भय का निवारण हेाता है। सत्संगति को भी तुम उसी प्रकार समझो। उस संगति से त्रिविध तापों का निवारण होता है। यही बात उद्धव तुम्हें स्पष्ट करके बताता हूँ। ठंडक अर्थात् द्वंद्व के कारण होने वाली पीड़ा साधु समूल नष्ट कर देते हैं। तम का अर्थ है अज्ञानांधकार। इसका भी वे आत्मज्ञानोपदेश से विनाश करते हैं। भय में, मरने जैसा भय नहीं है। ज्ञानी साधु उसका निवारण करते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि वे जन्ममरण को दूर कर देते हैं क्योंकि वे दीनों के प्रति पूर्णरूप से दयालु हैं। अब साधु अग्नि जैसे हैं यह कहना भी विसंगत है, क्योंकि साधु अग्नि से भी श्रेष्ठ हैं। अग्नि के पास भीषण धुआँ रहता है और साधु क्रोधरहित तथा धूम्ररहित होते हैं। अग्नि अधम और उत्तम दोनों को ही झुलसाता है, किन्तु साधु सबके लिये, समान रूप से सुखदायी होते हैं। साधु की संगति धन्य है। वे अपनी संगति से जड़ का जड़त्व नष्ट करते हैं, कर्म का कर्मत्व तोड़ते हैं और निजसंगति से डूबते हुए को बचाते हैं।

निमज्जयोन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदःशान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥ ३२॥

संसारसागर में क्षण-प्रतिक्षण ज्वार आता रहता है और उसका आकार असीम बढ़ता रहता है। उसमें गोता खाते हुए लोगों में अधर्म बुद्धि ही उत्पन्न होती है। अधर्म से नरक में डूबते हैं और स्वधर्म से स्वर्ग में जाते हैं। इस प्रकार संसारी लोग स्वर्ग और नरक में डूबते-उतराते रहते हैं। उन्हें तारने के लिये साधु सज्जन ही मजबूत नौका है। पानी के समुद्र में गिरने पर संसार सागर में डूबने वालों के लिये भी सज्जनरूप नौका ही पार लगाती है। कामक्रोध रहित शान्ति यही नाव की अछिद्रता है। वह ब्रह्मज्ञान से सुदृढ़ होने के कारण सुरक्षित है। काम-क्रोधादि भयंकर जलचर आमिष खाने के लिये इस नाव तक कभी नहीं आ पाते। सारांश, सत्संग सभी को तारता है। इस नाव की एक बात बिलकुल अद्‌भुत है और वह यह कि वह कल्पांत में भी पुरानी नहीं होती। बड़े प्रवाह के भँवरों में भी उसे डुबाया नहीं जा सकता। वह अपनी संगति से सभी को तारती है। लेकिन उद्धव! इस नाव

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का एक और चमत्कार है। वह यह कि इस नाव पर जो चढ़ते हैं वे डूबते हैं और जो 'तल' में रहते हैं, वे तर जाते हैं। यहाँ दीनों के प्रति दया ही मुख्य रूप से उपाय है। इस दया का उद्देश्य स्वयं श्रीकृष्ण बताते हैं।

अन्नं हि प्राणिनां आर्तादां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् विभ्यतोऽरणम्॥ ३३॥

अन्न के बिना प्राण कभी नहीं बचता, क्योंकि प्राणियों के पोषण का पूर्ण सामर्थ्य अन्न में ही होता है। धर्म से प्राप्त की हुई सम्पत्ति इस लोक में हमारा संरक्षण करती है। वही धर्मरूप धन देह में भी उत्तम गति प्रदान करता है। संसार में नितांत त्रस्त और त्रिविध तापों संतप्त शरणागतों का आश्रयस्थान होने के नाते मैं नारायण ही उनका संरक्षक होता हूँ। मेरा नामस्मरण करने से जन्म-मरण सहज ही दूर होता है; मेरी शरण आने पर भला कौन-सा दु:ख उसे पीड़ा देगा? दु:ख का भय होने के पहले ही जो सद्बुद्धि से साधु की सेवा करते हैं उन्हें संसारभय की व्याधि जरा भी नहीं सताती। यदि प्राणी का पतन हो जाय और वहाँ सौभाग्य से सज्जनों की भेंट हो जाय तो अधोगति का निवारण कर वे जन्म-मरण को भी समाप्त कर देते हैं। संसारसागर तरने के लिये सत्संगति यही सबसे अच्छा आधार है! भक्ति भाव से संतों के चरण छूने से उनके द्वारा दीनों का उद्धार होता है।

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥ ३४॥

जिस प्रकार सूर्य अपने तेज से अन्धकार के साथ-साथ रात्रि को भी समाप्त कर देता है, उसी प्रकार सत्संगरूपी सूर्य का उदय होते ही, वह अविद्या की रात्रि निश्चित रूप से समाप्त कर देता है। बाहर सूर्योदय होते ही चोरों का भय दूर होता है, उसी प्रकार सत्संगति प्राप्त होने से संसार का भय कल्पांत में भी शेष नहीं रहता। बाहर का सूर्योदय होते ही पक्षी अपना घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार सत्संग का सूय्रोदय होने पर जीव अपने देहरूपी घोंसले छोड़ देते हैं (देहाभिमान छोड़ देते हैं)। बाहर के सूर्यकिरणों से कमलिनी हर्ष से विकसित होती हैं, उसी प्रकार सत्संग रूपी सूर्य के प्रकाश से निर्विकल्प कमलिनी प्रफुल्लित होती है। आकाश में सूर्योदय होते ही नरमादा चक्रवाक का मिलन होता है। उसी प्रकार सत्संग प्राप्त होने पर जीव और शिव ये दोनों एक हो जाते हैं। बाहर सूर्य की भोर होते ही लोग अपने गाँव का रास्ता चलने लगते हैं, उसी प्रकार सत्संग सूर्य का प्रकाश होते ही मुमुक्षु निजधाम चले जाते हैं। बाह्य सूर्य का उदय होते ही कर्म की गति शुरू होती है, उसी प्रकार सत्संग सूर्य की संगति से निष्कर्म प्रवृत्ति प्रारम्भ होती है। सूर्य के उदय के समय वेदज्ञ लोग अर्घ्यदान देते हैं, उसी प्रकार सत्संग सूर्य का उदय होते ही मुमुक्षु देहबुद्धि को तिलांजलि देते हैं। सूर्योदय होने पर याज्ञिक होम में आहुति देते हैं, उसी प्रकार सत्संगरूप सूर्योदय होने पर मुमुक्षु ज्ञानाग्नि में अहंता की आहुति देते हैं। सूर्य आकाश में उदित होकर संसार में जड़ निद्रा को दूर भगाता है; संत चिदाकाश में उदित होकर जीवों को चिद्प्रकाश से जागृत करते हैं। इसलिये साधु को सूर्य जैसा कहा जाय तो उचित ही है, लेकिन यह बात पूरी तरह गौण है क्योंकि सूर्य का अस्त होता है किन्तु साधु सदासर्वदा प्रकाशमान ही रहते हैं। सूर्य को बादल ढँक सकते हैं किन्तु साधु संसार में सदा निर्मल ही रहते हैं। सूर्य को सदा सर्वदा परिक्रमा करनी पड़ती है किन्तु साधु सदा अटल ही रहते हैं। ग्रहण काल में सूर्य को राहु ग्रस लेता है किन्तु साधु ग्रहों का अस्तित्व ही नष्ट कर आत्मानंद में रहते हैं। गहरा धुँधलका छा जाने पर रविमण्डल आच्छादित हो जाता हे किन्तु साधु को अन्धकार, धुँधलका अथवा मोहपटल की जरा भी बाधा नहीं होती। सूर्य अपनी किरणों से सबको तप्त करता है लेकिन साधु अपने अंग से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

संसार को शान्त करते हैं लेकिन साधु अपने अंग से संसार को शान्त करते हैं। सूर्य दृष्टि को सहायक होने पर दृष्याकार से सृष्टि दिखाई देने लगती है और सत्संग दृष्टि को सहायक होने पर चिन्मात्र स्वरूप से सृष्टि की स्थिति अंकित होती है। इस प्रकार विचार करने से मालूम होता है कि साधु सूर्य से श्रेष्ठ हैं। साधु पृथ्वी पर के ज्ञानसूर्य हैं और अपनी संगति से संसारीजनों को संसार से तारते हैं। मृत्युलोक में साधु ही सच्चे देवता हैं; साधु हीनों के मित्र तथा सखा बन्धु हैं। मैं स्वयं परमानन्दस्वरूप परमात्मा साधु रूप में ही संसार में विचरण कर रहा हूँ। देवताओं को बलि प्रदान करने से वे प्रसन्न होते हैं किन्तु सज्जन पूर्णरूप से दयालु होने के कारण वे केवल अपनी कृपा से तारते हैं। इष्ट, मित्र, भाई बन्धु आदि केवल धन के लोभ से भजन सम्बन्ध रखते हैं किन्तु साधु लोभरहित तथा कृपालु होने के कारण दीनों के सच्चे मित्र और बन्धु हैं। संत कृपा के दीप हैं, संत मेरा निजस्वरूप हैं। इसीलिये सत्संग से पाप नष्ट होता है और साधक निष्पाप हो जाते हैं। साधकों को निष्पाप कर उन्हें वे ब्रह्मस्वरूप तक पहुँचाते हैं। उद्धव! साधुओं में सचमुच ही इतनी कृपालुता होती है। मैं निर्गुणरूप में पूर्ण ब्रह्म हूँ और साधु चलते-फिरते ब्रह्म हैं। उनकी शरण में जाने से जन्म-मरण समाप्त हो जाता है। भक्तिभाव से साधुओं की शरण में जाने से जन्म-मरण का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। उद्धव! सचमुच साधु शरणागत के लिये आश्रयरूप हैं। भक्तिभाव से सत्संगति करने से इन संसारी लोगों को मुक्ति मिलती है, ऐसा उद्धव ने श्रीकृष्ण को प्रतिज्ञापूर्वक बतलाया। सद्भाव से सत्संगति करने से ब्रह्मस्थिति स्वयं चलती हुई आती है। यह निजमर्म भगवान ने उद्धव को अध्याय के अन्त में बतलाया। परम विरक्ति के साधन के रूप में पुरूरवा का आख्यान सुना कर श्रीकृष्ण अध्याय के अन्त में उसका उपसंहार करते हैं।

वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिःस्पृहः।
मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह॥ ३५॥

पहले सूर्यवंश प्रसिद्ध था और उसमें सोमवंश का सम्बन्ध श्रीकृष्ण 'वैतसेन' इस पद के श्लोक में समाहित कर बताते हैं। एक बार पार्वती के क्रीड़ावन में सम्पूर्ण एकान्त में शंकर और पार्वती वस्त्ररहित होकर आनन्दयुक्त लीला कर रहे थे। तभी शिव के दर्शन के लिये अकस्मात सप्तर्षि प्रकट हुए। पार्वती को अत्यन्त लज्जा हुई और उसने उस वन को शाप दिया। शाप यह था कि जो पुरुष उस वन में प्रवेश करेगा वह वहाँ आते ही स्त्रीरूप हो जायगा। एक दिन सूर्यवंश का राजा सद्युम्न शाप का सामर्थ्य न जानने के कारण अपनी सेना के साथ उस वन में शिकार के लिये आया। लेकिन वन में घुसते ही शाप के प्रभाव से वे सब स्त्रीरूप हो गये। उनके मन में उनके पुरुषत्त्व की स्मृति ही नहीं रही। तत्काल घोड़ा घोड़ी हो गये, हाथी हथिनी हो गये; जो पुरुष थे वे स्त्रियाँ बन गये। तब पुरुष की इच्छा से कामातुर स्त्रियाँ तत्काल वन के बाहर चली गयीं। राजा सद्युम्न भी अत्यन्त सुन्दर, सुकुमार युवती बन गया और उसने सोम के पुत्र बुध को, प्रेम वश होकर प्रीति की माला पहनायी। बुध भी सद्युम्न को युवती के रूप में देखकर उस पर आसक्त हो गया। इस प्रकार वे दोनों एक-दूसरे पर लुब्ध हो गये। राजा चूड़ामणि बुधराजा ने सद्युम्नरूपी स्त्री से विवाह कर उसे अपनी पटरानी बनाया। कर्म की गति कैसी विचित्र है। उस सद्युम्नरूपी स्त्री के गर्भ से बुध के वीर्य से पुरुरवा उत्पन्न हुआ। इस प्रकार सूर्यवंश में सोमवंश घुस गया। यह सोमवंश के मूल की कथा है। यहीं से सोमवंश की वृद्धि हुई। सद्युम्न बुध की स्त्री बना तो उसके बाद राज्य का कोई अधिकारी नहीं रहा और बहुत बड़ा संकट उत्पन्न हो गया। तब सूर्यवंश के कुलगुरु महायोगीश्वर वसिष्ठ ने अत्यन्त भक्तिभाव से गौरीहर की प्रार्थना की। पार्वती को प्रसन्न कर सद्युम्न के लिये उ:शाप माँगा। तब

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसने शंकर से ही कहा कि आप वसिष्ठजी को समझाइये। उनसे कहिये कि पार्वती का शापवचन कभी असत्य नहीं होगा। तब वसिष्ठ को समझाने-बुझाने के लिये शंकर ने एक तीसरा चमत्कार किया। उन्होंने कहा कि शुक्लपक्ष में सद्युम्न को पुरुषत्त्व प्राप्त होगा। कृष्णपक्ष में उसने स्त्री के रूप में बुध के साथ विलास किया। एक पक्ष पुरुष और दूसरे पक्ष स्त्री, इस प्रकार उ:शाप का पर्याय कर शिव ने उस पर कृपा की और उसे उसके राज्य का अधिकारी बनाया। इस प्रकार सद्युम्न को पुरुषत्व अवश्य प्राप्त हुआ लेकिन वह पुरुषत्व उसे अच्छा नहीं लगा। स्त्री संभोग के कारण उसे बुध से ही प्रीति हो गयी थी। स्वर्ग की अप्सराएँ सद्युम्न के पास आतीं लेकिन वे उसे अच्छी नहीं लगती थीं। स्त्री के नाते उसकी बुध से ही पराकाष्ठा की प्रीति हो गयी थी। बुध को भी सद्युम्न से ऐसी प्रीति हो गयी थी कि उसे उपभोग के लिये देवांगनाएँ अच्छी नहीं लगती थीं। पुरुष का पुरुष से ही रममाण होने का मर्म मुझ श्रीकृष्ण को ही मालूम है। अन्य पापी बेचारे स्त्रीदेह पर ही आसक्त हो जाते हैं। स्त्री देह में जो आत्मा है उसका भोग मैं श्रीकृष्ण ही कर सकता हूँ। अन्यों को विषय की इच्छा से स्त्री देह की ही चाह होती है। अस्तु! और कितना बताऊँ? काम में निष्काम होकर रमना में रमापति ही जानता हूँ अथवा जिनका निज का अनुभव है, वे जानते होंगे। पुरुषत्व की अपेक्षा कामरति में स्त्री देह में ही अधिक आसक्ति रहती है। उस स्त्री विषय की निवृत्ति केवल सत्संग से ही होती है। वसिष्ठ की सत्संगति से स्त्रीभाव की निवृत्ति हुई और सद्युम्न को पुरुषत्त्व प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट है कि सत्संग सारे त्रिभुवन में धन्य है। सद्युम्न को पुरुषत्त्व प्राप्त होते ही वह अपने नगर में आया। किन्तु सारी सेना स्त्री रूप होने के कारण नष्ट हो गयी थी। इस प्रकार उसकी सारी सेना विगत हो जाने के कारण उसे 'वीतसेन' यह नाम पड़ा। वीतसेन का पुत्र 'वैतसेन' अर्थात् पुरूरवा था। उसने आत्मस्वरूप पहचान कर, विरक्ति से स्वर्ग की सारी भोग सम्पत्ति छोड़कर, उर्वशी के प्रति कामासक्ति का त्याग कर, वह आत्मस्वरूप में रममाण हो गया। इस प्रकार आत्मस्वरूप में स्थिर होकर देहसंग और अन्य संगतियों को मिथ्या मान वह त्रिभुवन में स्वानंद से संचार कर रहा था। जहाँ-जहाँ वह पग धरता वहाँ सुख की राशियाँ एकत्र हो जाती थीं क्योंकि उसे आत्मानंद से सारी सृष्टि भरी हुई मालूम होती थी। इस प्रकार वह ब्रह्ममय दृष्टि से ही विचरण करता रहता था। ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्म में संचार करते हुए उसका पूरा जीवन ही ब्रह्मरूप हो गया। वह जन्म-मरण भूलकर पूरी तरह पूर्ण मैं ही पूर्णस्वरूप होकर रहा। उर्वशी पुरूरवा का यह आख्यान जो ध्यानपूर्वक श्रवण करेगा, उसके अगम्यागमनादि दोष नष्ट होंगे और साधकों को पूर्ण विरक्ति प्राप्त होगी। इस प्रकार वैराग्य के बल पर वह राजा ब्रह्मपद पर पहुँचा। वैराग्य सत्संगति से उत्पन्न होता है और मेरे भजन से सत्संग और विरक्ति ये दोनों प्राप्त होते हैं। सद्भाव से मेरी भक्ति करने से साधकों में विरक्ति उत्पन्न होती है, ऐसा श्रीकृष्ण ने बताया जिसे उद्धव ने मन में ग्रहण किया। अब उस भजन प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रश्न उद्धव अगले अध्याय में पूछेगा और उससे श्रीकृष्ण के मन को संतोष प्राप्त होगा। उद्धव अत्यन्त मधुर प्रश्न पूछेगा और उससे श्रीकृष्ण को आनन्द होगा। उसी आनन्द के आवेग में वे भजन का मार्ग बतायेंगे। उपासना काण्ड का सम्पूर्ण रहस्य, मुख्यरूप से क्रियायोग का निरूपण तथा आगम का सारा लक्षण स्वमुख से श्रीकृष्ण बताएँगे। श्रोतागण उस कथा की ओर ध्यान दें। आत्मानन्द के मेघ गुरु जनार्दन ने इस प्रकार ज्ञानबोध से एकनाथ को तृप्त किया।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे श्रीकृष्णोद्धव संवादे एकाकार टीकायां ऐलगोतोपाख्यान नाम षड़ विंशोऽध्याय: ॥ २६ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सत्ताईसवाँ अध्याय

हे ओंकारस्वरूप सहज आत्मस्वरूप देव! तुम्हें नमस्कार है। तुम विश्वात्मा होते हुए चतुर्भुज हो। अष्टभुज भी तुम्हीं हो और विश्वभुज अर्थात् अनंतभुज भी तुम्हीं हो। तुम्हारा मैं गुरुत्व से ही गौरव करता हूँ। अपने शिष्यों के भावार्थ गुरु के नाम से अभय देने वाले तुम्हीं हो। अभय देकर संसार दुःख का निवारण करने वाले तुम्हीं हो। जन्म-मरण का निवारण कर तुम स्वयं स्वयं से ही मिलन करते हो। अतः गुरु और शिष्य इन नामों से तुम्हारा ऐक्य मालूम होने लगता है। यह ऐक्य दृष्टि को दिखायी पड़ते ही एकनाथ और जनार्दन ये एकरूप ही हो जाते हैं। सारी सृष्टि गुरुत्व से भर कर सारा संसार स्वानंद से विचरने लगता है। ऐसा वह स्वानंदैक्य चिद्धनस्वरूप जगद्गुरु जनार्दन है। उस जनार्दन को शरण जाकर एकनाथ ने अपनी एकता दृढ़ की। यह दृढ़ हुआ ऐक्य भी सद्गुरु ही बन गया। तब एकनाथ और जनार्दन एक हो जाने के कारण 'मैं' पन 'तू'पन समाप्त हो गया। इस प्रकार अकेले एक होते हुए भी एकनाथ को जनार्दन ने कवि बना दिया। तब उसे एकादश के गहरे एकत्व का सहज ही बोध हो गया। उसी ऐक्य की सच्ची स्थिति राजा पुरुरवा को भी प्राप्त हो गयी थी ओर सत्संग से उसका यह अनुताप, विरक्ति और भगवद्भक्ति दृढ़ हो गयी। यह बात छब्बीसवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अपने ही मुख से बतायी। सत्संग से भगवद्भक्ति होती है और उससे साधकों को विरक्ति के बिना ही पूर्ण वैराग्य प्राप्त होता है। भगवद्भक्ति किये बिना विरक्ति कभी उत्पन्न नहीं होगी और साधकों को विरक्ति के बिना भगवत्प्राप्ति कल्पांत में भी नहीं होगी। ऐसा श्रीकृष्ण ने कहा; उसे पूरी तरह मन में रखकर उद्धव भगवद्भक्ति, पूजा विधान और उसके क्रियायोग पूछ रहा है।

उद्धव उवाच

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो।
यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ॥ १॥

अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये तुम सत्वमूर्ति अनंत हो, तुम्हारा पूजन तुम्हारे सात्विक भक्त किस विधि से करते हैं? वह साधु का आराधन और क्रियायोग से तुम्हारा पूजन किस प्रकार होता है? मुझ पर कृपा करते हुए मुझे वह सब बतायें। आप कहेंगे कि यह तुम किसी से पूछो, तो वह मुझसे नहीं होगा। तुम्हें छोड़कर दूसरे के पास जाने में मुझे लज्जा लगती है। जीव भाव से मैं तुम्हारा दास हूँ, तुम्हारे स्वामित्व के सामर्थ्य पर मैं कलिकाल की भी चिन्ता नहीं करूँगा। यह तुम्हारी कृपा का ही प्रभाव है। तुम कृपा से युक्त कृपालु हो; कृपा से ही तुम भक्तों के भक्त बनते हो। तुम्हारे उन्हीं चरणों का मैं दास हूँ। इसलिये तुम्हारे सान्निध्य के कारण स्वयं गूढार्थ पूछता हूँ। तुम पूछोगे कि इतने आदर से पूजा प्रकार क्यों पूछ रहे हो? तो वह प्रश्न अन्य बड़े लोगों ने भी पूछा है। तो मैं उसे बताता हूँ, सुनो।

एतद् वदन्तिमुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम्।
नारदो भगवान् व्यास आचार्योऽङ्गिरसःसुतः॥ २॥

प्राचीन वेदविचारनिष्ठ बड़े-बड़े देवतागण, महान ऋषि, अत्यन्त श्रेष्ठ विचारकों ने भी यही बात स्पष्ट रूप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

से कही है। सत्यवती का पुत्र, व्यास, साक्षात् नारायण जिसने वेद का अर्थ स्पष्ट किया है और जो महाकवि के रूप में प्रसिद्ध है, वह समस्त पुराणों का कर्त्ता है और जिसके कारण 'सारा संसार व्यासोच्छिष्ट है' ऐसा कहा जाता है, उसने भी भगवत्पूजा के मार्ग तथा इस क्रियायोग का प्रतिपादन किया है। इनकी तो बात ही छोड़ो लेकिन सारे संसार के दादा, विष्णु के पुत्र ब्रह्मदेव ने भी यही विचार दृढ़ किया है।

निःलृतं ते मुखाम्भोजाद् यदाह भगवानजः।
पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान् भवः॥ ३॥

तुमने कल्प के प्रारम्भ में यही पूजाविधि पुत्र बुद्धि से स्वयं ब्रह्मदेव को बतायी है। उसने भी स्वयं कल्प के पूर्व नाभिकमल में बैठकर भृगुकश्यपादि पुत्रों को भी यह पूजाविधान बताया है। श्री महादेव ने भी स्वयं यह क्रियायोग विधि विधान भक्तिभाव से पार्वती को एकान्त में निरूपित किया है।

एतद् वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च सम्मतम्।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणां च मानद॥ ४॥

हे दीनोद्धारा! इस प्रकार दीनोद्धार के लिये तुमने यह श्रेष्ठ परम्परा शुरू की है। तुम सचमुच दीनों के प्रति दयालु हो। अतः उसका भी विचार सुनो। आश्रमधर्म और विधि विधान इनके अधिकारी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य हैं। विधिविधान में त्रुटि होने से उन्हें दोष लगता है। इसलिये ब्राह्मण कर्मों में व्यस्त रहते हैं। लेकिन तुम्हारा भजन वैसा नंहीं है। भजन का अधिकार सबका है। भजन दीनों का पूर्णरूप से उद्धार करने वाला है। उसने स्त्रियों का और शूद्रों का उद्धार किया है। उत्तमोत्तम लोग कर्म में व्यस्त रहते हैं और अधमाधमों का भी भजन उद्धार होता है। भजन सभी के लिये सुगम है। भजन से स्वधर्म का सार्थक होता है। भजन की महिमा अपूर्व है। उसके योग से अधम को भी उत्तमोत्तम पद प्राप्त होता है और जो उत्तम होते हुए भजनहीन रहते हैं, वे स्वयं अधमाधम हो जाते हैं। सभी वर्णों के और आश्रमों के लोगों को भगवद्भजन से ही सद्गति प्राप्त होती है। यही भक्ति का रहस्य है और इसे निष्काम भक्त ही जानते हैं। भक्त भगवद्भक्ति करके ही स्वयं भगवद्रूप होते हैं, इसीलिये हे श्रीकृष्ण! तुम भक्तों को अत्यन्त प्रेम से सम्मान देते हो। तुम्हारा भजन-पूजन करने से तुम अपने भक्तों को तारते हो, तुम्हीं भक्तों के सम्मानदाता बनते हो, अतः तुम्हारी पूजा की कथा (विधानतः) मुझे बतायें।

एतत्कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम्।
भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर॥ ५॥

हे कमलनाथ नारायण! हे भक्तविश्राम कमलवदन श्रीकृष्ण! मेरी विनती सुनें। तुम्हारा कृपादृष्टि से देखना ही पर्याप्त है, तत्काल कर्मबन्धन की गाँठें खुल जाती हैं। भक्तों को स्वानंद की पुष्टि मिलती है। जिस प्रकार घृत की कड़ाही को सूर्य के किरण एक ही क्षण में पिघला देते हैं, उसी प्रकार हे श्रीकृष्ण! तुम्हारा कृपावलोकन कर्मबंधन का निवारण ही कर देता है। जिस प्रकार नमक का बड़ा पर्वत भी समुद्र में घुल जाता है, उसी प्रकार, श्रीकृष्ण! तुम्हारी कृपा कर्मबन्धन को भस्म कर देती है। जिस प्रकार सूर्योदय हो जाने के बाद जुगनूँ दिखायी नहीं पड़ता उसी प्रकार तुम्हारी कृपादृष्टि पड़ते ही, कर्माकर्म से छुटकारा मिल जाता है। अन्धकार में करोड़ों जुगनूँ चमकते हैं उसी प्रकार अज्ञान में कर्मों का आडम्बर फैलता है। तुम्हारे कृपारूपी सूर्य का साथ मिलते ही कर्म बेचारे कर्महीन हो जाते हैं। ऐसी निष्कर्म कृपा से युक्त होकर तुम्हारे भक्त विचरण करते हैं और वे विषय के प्रति सदा विरक्त रहकर हरिचरणों के प्रति ही अनुरक्त रहते हैं। इसके अलावा तुम्हारी पूर्ण कृपा का स्थान ही जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तुम्हारी पूजा का विधान है उसके सम्बन्ध में कृपया मुझे बताएँ। मैं तुम्हारा अत्यन्त दीन बालक हूँ। शायद तुम कहोगे कि यह जानने का मेरा अधिकार नहीं है। लेकिन हे श्रीकृष्ण, मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ और दूसरी बात यह है कि तुम्हारे यहाँ शरणागत की उपेक्षा नहीं होती है। तुमने जटायु-संपाती-गजेन्द्र आदि पशु-पक्षियों का उद्धार किया है। तुमने गणिका और वेश्या का भी उद्धार किया है। हे कृपालु ऋषिकेशी वही कृपा तुम मुझ पर भी करो। शायद तुम कहोगे कि सृष्टि में ब्रह्मदेव, शंकर आदि सबके होते हुए मुझे ही कहने की श्रद्धा तुम्हारे मन में कैसे उत्पन्न हुई? तो उसका कारण भी बताता हूँ। ब्रह्मदेव संसार का निर्माणकर्त्ता होते हुए भी वह आत्मस्वरूप भूल गया इसीलिये वह तुम्हारा ही पुत्र बनकर तुमसे आत्मज्ञान सीखा। शंकर ने भी तुम्हारे चरणों की तीर्थ-गंगा को अपने मस्तक पर धारण कर, तथा सदासर्वदा तुम्हारे ही नाम का जप कर, सचमुच तुम्हारी की कृपा के कारण उन्होंने आत्मस्वरूप प्राप्त किया। इस प्रकार तुम ज्ञान के निधि हो तथा पूर्णबोध के सागर हो। इसलिये जिससे आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है वह पूजाविधि मुझे बताओ। ऐसे भक्त के भाषण से संतोष प्राप्त करने वाले, पूर्ण निजबोध से द्रवित होने वाले तथा आत्मकृपा से विह्वल श्रीकृष्ण ने क्या कहा?

श्रीभगवानुवाच

न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव।
संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ ६॥

जिसका वचन सुनते ही वेदवाणी मौन हो जाती है, जिसका स्मरण करते ही मन अपना मनं पन भूलता है, जो वेदार्थ का प्रकाशक, जो सूर्य का भी आदिसूर्य, वह यदुनायक श्रीकृष्ण उद्धव को अपने मुख से बताने लगा। वेद और शास्त्रों ने मेरी पूजा की जो विधि बतायी है, उसे यदि विस्तार से बताने लगूँ तो वह अनन्त और अपार है। ब्रह्मादिक देवता भी उसका पार नहीं पा सकेंगे। उद्धव! सुनो। मैं देवाधिदेव यदि बताने भी लगूँ तो पूरा विधि विधान मैं भी नहीं बता पाऊँगा। कोई कितना ही ज्ञानसम्पन्न क्यों न हो लेकिन पूजाविधि का विधान बताने का सामर्थ्य कभी भी किसी में नहीं हो सकता। इसलिये वेदशास्त्र का सार तत्त्व लेकर तुम्हें संक्षेप में बताऊँगा। पूजाविधि का सार वैदिक, तांत्रिक और मिश्र इन तीन प्रकार का है। विधि प्रक्रिया के अनुसार उनके विभागों के बारे में सुनो।

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥ ७॥

वेद के ही मंत्र और वेद की ही विधि लेकर मेरी यथासाङ्ग पूजा करना 'वैदिक मार्ग' है। अब आगम, प्रयोग के बारे में भी सुनो। आगम के ही मंत्र और आगम की ही विधि लेकर मेरी पूजा आगमोक्त रीति से करने का ही नाम है 'तंत्रमार्ग'। अब मिश्रविधि के सम्बन्ध में भी सुनो। वेद के मंत्र और तंत्र की विधि को लेकर पूजा करना, इसी का नाम है 'मिश्रमार्ग'। इन तीन प्रकार की विधियों से मेरी यथासाङ्ग पूजा करना, यही मेरा तीन प्रकार का याग है। इसके योग से मैं श्रीकृष्ण संतोष प्राप्त करता हूँ और सपरिवार साथ में खड़ा रहता हूँ। इस प्रकार मेरा भजन तीन प्रकार का है। इनमें से जिस पर जिसकी पूर्ण श्रद्धा हो, उस विधि से उसे पूजा करनी चाहिये। भक्ति से किये जाने पर मुझे प्रत्येक विधि में समान रूप से तृप्ति होती है। भक्तिभाव से जो मेरा पूजन होता है, उससे मैं जनार्दन अत्यन्त तृप्त होता हूँ। यह आगमोक्त यज्ञ है और तीनों लक्षण समान हैं। वैदिकादि तीन प्रकारों से मेरा पूजन करने पर मैं श्रीकृष्ण तृप्त होता हूँ। अब पूजा के अधिकार के सम्बन्ध में भी बताता हूँ। सुनो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरूषः।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे॥ ८॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये द्विजन्मा तीन वर्ण, इनके अधिकारों का लक्षण इस प्रकार है—गर्भ से आठवें वर्ष में उपनयन करना यह पूर्ण अधिकार ब्राह्मण का है। क्षत्रियों का शुद्ध अधिकार यह है कि उन्हें बारहवें वर्ष में व्रतबंध करना चाहिये तथा वैश्यों को सोलहवें वर्ष में व्रतबन्ध करना चाहिये। गायत्री मंत्र के उपदेश के साथ उपनयनविधि करना यह दूसरा जन्म है इसे 'सावित्री जन्म' कहते हैं। तीनों वर्णों के लोग द्विजन्मा होने के कारण वेदोक्त विधि के लिये उपयुक्त हैं। उद्धव इसी का नाम वेदोक्त अधिकार लक्षण है। अब मेरे प्रिय भक्त उद्धव! मेरी पूजाविधि का स्थान बताता हूँ, सुनो।

अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरू माममायया॥ ९॥

मेरी पूजा करने के स्थान आठ प्रकार के हैं। उनके लक्षण ध्यान से सुनो। जो 'प्रतिभा' हमें प्रिय हो वह मेरी पूजा का पहला स्थान है। जमीन पर स्थंडिल (मिट्टी का चौकोर चबूतरा) बनाकर पूजा करना दूसरा स्थान है। 'अग्नि का तेज' मेरा ही स्वरूप है, अतः वह मेरी पूजा का तीसरा स्थान है और 'सूर्यमण्डल' में जो पूजा करते हैं वह मेरा चौथा पूजास्थान है। 'उदक' में मेरा पूजन करना पाँचवाँ पूजास्थान है और 'हृदय' में मेरा आवाहन करना छठवाँ पूजास्थान है। शालिग्राम मेरा अचेतन स्वरूप है तथा 'ब्राह्मण' मेरा सचेतन स्वरूप है। वह अखण्ड पूर्ण परब्रह्म ही है। इसलिये उनकी सम्मानपूर्वक षोडशोपचार पूजा करनी चाहिये। ब्राह्मणों के प्रति जिसकी ब्रह्मभावना होती है उसे अत्यन्त भाग्यवान समझना चाहिये। वह ब्रह्मादिकों को भी पूज्य है। इतना ही नहीं बल्कि मैं देवाधिदेव भी उसे वंदन करता हूँ सभी पूजनीयों में मुख्यरूप से ब्राह्मण पूज्य हैं। उद्धव! वही मेरा अत्यन्त श्रेष्ठ सातवाँ पूजास्थान है। इन समस्त पूजनीयों में पूज्यत्व की दृष्टि से पूजा करने योग्य, वरिष्ठों में भी अति वरिष्ठ, जो मेरा आत्मा ही है वह 'गुरुराजा' सबको वन्दनीय है। सद्भाव से जिसके चरण छूने से मैं पूर्णब्रह्म सुखी होता हूँ, उसका मद्रूप से स्तवन करने से मुझ परमात्मा को अत्यन्त उल्हास होता है। सद्गुरु का नामस्मरण भयंकर संसारभय का निवारण करता है। जन्म-मरण का निराकरण कर निजात्मबोध से पूरी तरह तृप्त कर देता है। मैं परमात्मा नारायण गुरूरूप से प्रकट होकर शिष्य के द्वारा परब्रह्म का पूर्णत्त्व प्रकाशित करता हूँ। ब्रह्म का परब्रह्मत्त्व सद्गुरु के कारण ही सत्य होता है। गुरु की महिमा इतनी अगाध और गहन है। सारांश, सद्गुरु ज्ञानधन हैं तथा हरिहर के लिये भी पूर्णरूप से वन्दनीय हैं। सद्गुरु मेरा सत्स्वरूप अधिष्ठान है तथा आठवाँ पूजास्थान है। उद्धव! मेरे इस आठवें पूजास्थान का अखण्ड स्मरण रखने से उस स्मरण से ही मेरी पूजा हो जाती है। इस प्रकार इन आठ पूजास्थानों के बारे में उत्तम लक्षणों से युक्त जानकारी तुम्हें दी। अब उस पूजा के भिन्न-भिन्न प्रकार भी तुम्हें बताता हूँ। इन सारे अधिष्ठानों में हमें जो सबसे प्रिय लगता हो, उसे ही पूजा का मुख्य लक्षण मानना चाहिये। उसमें भी रहस्य की पहचान बताता हूँ, सुनो। लोकरंजन करने की प्रवृत्ति छोड़ कर, दंभ के उपाय त्याग कर, कपट का व्यवहार न कर, सच्चे भक्तिभाव से भजनतत्पर रहना चाहिये। उद्धव! ये जो आठ पूजास्थान बताये, उनमें निष्कपट रूप से पूजा करना यही सबसे उत्तम पूजन है। उसमें जो निष्कपट सेवा होती है, वह देवाधिदेव को अत्यन्त प्रिय है। अब पूजा की विस्तृत विधि भी बताता हूँ। सुनो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पूर्वे स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये।
उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना॥ १०॥

मल विसर्जन तथा दंतधावन कर प्रातःकाल मृत्तिका ग्रहणपूर्वक देहशुद्धि के लिये स्नान करना चाहिये। इस प्रकार यह मलत्याग स्नान होने के उपरान्त वैदिक-तांत्रिक पद्धति से यथाविधि जैसी दीक्षा ग्रहण की हो उसके अनुसार मंत्रस्नान करें। सद्गुरु का जो सम्प्रदाय हो, उसके अनुसार परम्परागत आचार का पालन करें। यथाविधि स्नान कर निर्मल भाव धारण करें।

संध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेनाचोदितानिमे।
पूजां तैः कल्पयेत् सम्यक् संकल्पः कर्मपावनीम्॥ ११॥

अपनी-अपनी वर्णाश्रम विधि के अनुसार वेद में जिस प्रकार उल्लिखित है उस प्रकार उन-उन वर्णाश्रमों में नित्य नैमित्तिक कर्मों के साथ संध्या करनी चाहिये। वेदों के अनुसार स्वकर्म का आचरण करें। निषिद्ध कर्म और काम्य कर्म का पूर्णरूप से बहिष्कार करें। इसी का नाम है शुद्ध स्वकर्म और उत्तमोत्तम अधिकार। वेदों में वर्णित स्वकर्म का त्याग करना यही मुख्य रूप से अत्यन्त अधर्म है। परब्रह्म प्राप्त होने पर, कर्म का त्याग किये बिना ही कर्म अपने आप बन्द हो जाता है। स्वयं ही स्वधर्म का त्याग करना यही अधर्म का मुख्य लक्षण है। स्वधर्म से चित्त की शुद्धि करनी होती है और इसीलिये अहंता का त्याग करना होता है। इस प्रकार स्वधर्म कर्म करते समय मन में ऐसा भाव उत्पन्न होता है कि इसमें मैं कर्मकर्त्ता भी नहीं हूँ और फलभोक्ता भी नहीं हूँ। देह जड़, गूढ़ और अचेतन है। उसे जनार्दन चेतना देता रहता है। उसमें मेरा 'मैं' अथवा मेरा कर्तापन प्रवेश नहीं करता। ऐसी बुद्धि से किया हुआ कर्माचरण भक्ति के कारण ब्रह्मार्पण ही होता है। इस प्रकार साधकों को मेरी अभिमानरहित उपासना का लाभ मिलता है। अस्तु! मेरी प्रतिभा का पूजाविधान यही मेरा प्रथम पूजास्थान है। वे प्रतिमाएँ कैसे बनायी जाएँ उसके लक्षण बताता हूँ, सुनो।

शैली दारुमयी लौही लेप्या च सैकती।
दनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टधि स्मृता॥ १२॥

प्रतिमाएँ आठ प्रकार की होती हैं, उनकी पूजा करने से वे तत्काल कल्याण करती हैं। गंडकी नदी में प्राप्त शालिग्रामादि 'शिला की मूर्ति'—देवदार, मंदार अथवा ब्रह्मकाष्ठ (पीपल) आदि, 'लकड़ी की मूर्ति' अथवा सुवर्णादि 'धातुओं की मूर्तियाँ' साधकों को तत्काल लाभ प्रदान करती हैं। उसी प्रकार मिट्टी, कपड़ा आदि की लेप्य मूर्ति तैयार करते हैं, उन्हे लेप्पा कहते हैं और कुछ लोग अत्यन्त भक्ति से स्थंडिल पर भी प्रतिमा का चित्र बनाते हैं। उन्हें लेख्या मूर्ति कहते हैं। बालू की मूर्ति बनाते हैं, उसे 'सिकतामूर्ति' कहते हैं। वह भी सुवर्ण की मूर्ति की ही तरह पूजनीय है। रत्नों की सुन्दर मूर्ति, हीरे की मूर्ति, मरकत की मूर्ति, नीलमणि की, पद्मराग की अथवा मोती की मूर्ति भी अत्यन्त पूज्य है। सभी मूर्तियों में जो अत्यन्त श्रेष्ठ है, वह है मनोमय मूर्ति। वह अत्यन्त पवित्र है। उसकी उपासना करने से साधकों को अत्यन्त समाधान प्राप्त होता है। अब उन प्रतिमानों का पूजाविधान तथा चल-अचल लक्षण आदि का निरूपण भी श्रीकृष्ण स्पष्ट करके बताते हैं।

चाललेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम्।
उद्वासवाहने न स्तः स्थिरायमुद्ववार्चने॥ १३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अचेतन को चेतनता देने वाला, जड़ को जीवत्व देने वाला—'जीवत्व का अर्थ है चिन्मात्रत्त्व' उसे ही परमेश्वर समझना चाहिये। शुद्ध भक्तिभाव से निर्मित जीव का निज मन्दिर—अर्थात् आगमशास्त्र की सम्मति से स्थापित स्थावर-जंगम प्रतिमा समझनी चाहिये। साधक यदि 'स्थावर' मूर्ति का पूजन करता है तो उसका आवाहन या विसर्जन नहीं करना पड़ता। उसमें अधिष्ठान स्वयंभू रहता है।

अस्थिरायं विल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद् द्वयम्।
स्नपन्नंत्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम्॥ १४॥

'जंगम' प्रतिमाओं में भी किसी में आवाहन विसर्जन रहता है और किसी में नहीं रहता। शालिग्राम की मूर्ति में मेरा स्वयंभू अधिष्ठान ही रहता है। इसलिये इसमें आवाहन या विसर्जन की आवश्यकता नहीं रहती। शालिग्राम का टूटा-फूटा टुकड़ा भी जिसके पास पूजा में हो वहाँ निज सखा परमात्मा सदा सर्वकाल विद्यमान रहता है, ऐसा समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त अन्य जंगम अर्थात् चलमूर्ति हैं जिन पर आवाहन और विसर्जन लागू है। उसे निष्ठापूर्वक करना चाहिये। यही आगमोक्त विधि विधान है। स्थंडिल पर बनायी हुई मूर्ति का आवाहन करें और पूजा होते ही उसका विसर्जन करें। ये दो प्रकार के भावना विधान स्थंडिल पर करना आवश्यक है। हृदय में स्थित चिद्धन परमात्मा का ही मूर्ति में आवाहन करें और पूजा होने के बाद उसका विसर्जन कर उसे पुनः हृदय में धारण करें। इसमें, हम स्वयं ही परिपूर्ण ब्रह्म हैं इसका निजस्मरण होने के लिये ही आवाहन विसर्जन करना होता है। इसके द्वारा साधक को आत्मस्वरूप का स्मरण होता रहता है। आगम शास्त्र का गूढ़ार्थ यही है कि हम स्वयं ही देवता हैं और स्वयं ही अपने पूजक हैं। इस प्रकार अपनी पूजा में अपने ही आत्मस्वरूप की पहचान होती हे। स्वयं देव बनकर ही देवता की पूजा करें, यही आत्मस्वरूप का प्रिय खाद्य है जिसे उपासना काण्ड के रूप में श्रीकृष्ण ने उद्धव को दिया है। आत्मस्वरूप का यह माधुर्य यदि पग-पग पर न मिले तो उपासना का शुष्क प्रयास कौन करेगा? यही आगमशास्त्र का गूढ़ रहस्य है। हे उद्धव! इससे साधक पग-पग पर सुख-सम्पन्न होकर स्वयं ही चिद्धन बन जाते हैं; ऐसी यह उपासना है। कृष्ण का यह भाषण सुनकर उद्धव आनन्द से ओतप्रोत हो गया, उसने श्रीकृष्ण के पैर पकड़ लिये और वह निरूपण साद्यंत सुनने की इच्छा प्रकट की। इस पर श्रीकृष्ण बोले, रुको, यह आगमोक्त गूढ़ साधकों को मेरी कृपा के बिना प्राप्त नहीं होगा। यह अत्यन्त गहन है। यह मेरा गुप्त धन है। अस्तु! हे उद्धव! तुमने पूजा का विधान पूछा था, उसे ध्यानपूर्वक सुनो। 'लेप्या' और 'लेख्या' मूर्तियों को स्नान नहीं कराना चाहिये। अन्य मूर्तियों को यथाविधि स्नान कराना चाहिये।

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चेवहि॥ १५॥

पूजक यदि सकाम अर्थात् फल की इच्छा करने वाला हो तो पूजा साहित्य यथाविधि रहना चाहिये। पूजा साहित्य में यदि कमी होगी तो फल भी निर्व्यंग नहीं मिलेगा। भक्त निष्काम हो और उसे पूजा में लगाव हो तो उसे पूजा साहित्य का कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा क्योंकि भगवान को उपचार की अपेक्षा भाव ही अधिक प्रिय रहता है। ऐसे समय अनायास जो कुछ भी मिल जाय उसमें भगवान सन्तुष्ट रहता है। वही पूजायाग यथोचित है। निष्काम वृत्ति हो तो फल, मूल, दूब अथवा निर्मल जल इतने से ही अर्थात् सद्भाव से ही पूरा पूजायाग सफल होता है। जहाँ मेरा भाव दृढ़ रहता है, वहाँ अन्य उपचारों की क्या प्रतिष्ठा है? भक्तों का भाव ही मुझे प्रिय लगता है, इससे मेरे भक्त को भी महासुख का लाभ होता है। जो भी बाह्योपचार किये जाते हैं वे सब प्रतिमा मूर्ति

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की पूजा में ही लगते हैं, मानस पूजा में तो इन उपचारों की कोई आवश्यकता नहीं है। वहाँ मन ही मेरी मूर्ति रहती है और उपचार का साहित्य भी मनोमय ही रहता है। लेकिन यह उपचार सम्पत्ति भी वे मुझे निर्लोभ होकर अर्पित करते हैं। इससे मैं श्रीपति सन्तुष्ट होता हूँ। अस्तु! प्रतिमा आदि को लेकर आठ पूजास्थान हैं, उनका भी यथोचित पूजा विधान तुम्हें बताता हूँ। तो सुनो, उद्धव!

स्नानालंकारणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव।
स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यलुप्तं हविः॥ १६॥
सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः।

प्रतिमामूर्ति यह एक पूजास्थान है। उस मूर्ति को जो महाभिषेक करते हैं, उसी को 'स्नान' कहते हैं। मुकुट आदि सभी अलंकार मूर्ति को पहनायें। जो पदार्थ अत्यन्त अच्छे लगते हों अथवा जो अत्यन्त मूल्यवान अलंकार हों उन्हें लेकर उनसे श्रद्धापूर्वक श्रीहरि की पूजा करनी चाहिये। स्नान, भोजन, अलंकार आदि सर्वोपचारों के साथ यथाविधि पूजा करना यही प्रतिमा पूजा का ढंग है। अब स्थंडिल के बारे में सुनो। स्थंडिल पर जो पूजास्थान होता है, वहाँ तत्त्वों का ध्यान लगाकर उस पर तत्त्वविन्यास का लेखन करना चाहिये। यही उसका पूजा विधान है। आत्मतत्त्व आदि के विचारों का स्थंडिल पर विचार कर हृदय, मस्तक, शिखा, कवच, नेत्र, अस्त्र आदि उस पर बनाकर उनका दिशाबन्धन कर पूजा करनी चाहिये। अग्नि की जहाँ पूजा करनी हो, वहाँ मेरा ध्यान कर घृतपूर्ण आहुति देकर होम करना यही अग्नि का पूजाविधान है। अग्नि देवताओं का मुख है इस श्रद्धा से हविद्रव्य का हवन करना यही 'अग्निपूजन' है। सूर्य में प्रकाशमान होने वाला मंडलात्मा जो सूर्यनारायण है, उसका सौर मंत्रों से पूजन एवं स्तवन करें। यही सूर्य का पूजाविधान है। श्रुति के अर्थ का विचार करने पर 'आप' अर्थात् जल साक्षात नारायण स्वरूप ही है। उसका यथोचित पूजा विधान है जल में ही जल का तर्पण करना। 'हृदय' में मेरा जो पूजास्थान है, वहाँ मन से ही मन की पूजा की जाती है। मूर्ति भी मनोमय और पूजाविधि भी मानसिक। मेरा मुख्य अधिष्ठान है, ब्रह्ममूर्ति ब्राह्मण। उनका दासत्व से आज्ञापालन करना यही उनका पूजाविधान है। ब्रह्मा को भी जिससे ब्रह्मत्व प्राप्त होता है, वह 'सद्गुरु' तो मेरे सबसे श्रेष्ठ और पवित्र पूजास्थान है। उसका पूजन इस प्रकार है—स्वयं जीवप्राण से उसकी अनन्य शरण में जाना और उसके वचन पर प्राण न्योछावर करना। गुरु की छोटी से छोटी सेवा भी चाहपूर्वक करना यही उसकी पूजा का विधान है। इसी से साधकों को सच्चा सुख प्राप्त होता है। सद्गुरु की सेवा करने से ब्रह्मसायुज्य प्राप्त होता है। गुरुसेवा से श्रेष्ठ अन्य कोई साधन है ही नहीं। सद्गुरु का स्वरूप यह अखण्डपूर्ण ब्रह्म है। उसका आवाहन और विसर्जन कभी नहीं करना चाहिये। सम्पूर्ण निष्कपट भाव से जो सद्गुरु की शरण में जाता है, उसका चरण मैं भी वन्दन करता हूँ। वह इतना धन्य है। निर्लोभ भाव से सहज पूजा करने से भगवान को संतोष होता है। उसी भाव का रहस्य श्रीकृष्ण बताते हैं।

श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि॥ १७॥
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।
गन्धो धूपः सुमनसो दोपोऽन्नाद्यं च किं पुनः॥ १८॥

जो मेरे प्रति अत्यन्त प्रेम और श्रद्धायुक्त अनन्य भक्ति से मुझे केवल उदक अर्पण करते हैं, उससे भी मैं श्रीपति सन्तुष्ट होता हूँ। वह जलबिन्दु मैं आदिपुरुष अत्यन्त प्रेम से मुख में ग्रहण करता हूँ और मूलतः सुख

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वरूप होते हुए भी भक्तकाम के हर्ष से अधिक सुखी होता हूँ। त्रैलोक्य मुझसे सुख प्राप्त करता है, ऐसा सुख का सागर होते हुए भी, भक्त का उदक पीने से मुझे परम सन्तोष हेाता है। उस जलबिन्दु से प्रिय मुझे मेरी सुन्दर लक्ष्मी भी नहीं लगती; ब्रह्मदेव मेरा अपना पुत्र है लेकिन वह भी मुझे उतना अच्छा नहीं लगता। भक्तों के जल बिन्दु के सामने मुझे मेरा वैकुण्ठ भी फीका लगता है। शेष पर शयन करने का सुख भी उसके आगे हलका मालूम होता है। भक्तों के उदक के सामने मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता; तिस पर गंधादि के साथ पूजा की, षड्रस का नैवैद्य मिला। उस पूजा के सुख की त्रिभुवन में कोई उपमा ही नहीं है। भक्तों की भक्ति से मैं श्रीपति इतना अधिक सुखी होता हूँ। भाव के साथ भक्ति कर स्वयं कृतकृत्य होने का जिसका निश्चय रहता हे उसी के उदक से मैं तृप्त होता हूँ। अन्य जो ढोंगी भक्त मन में धन की आशा तथा बाहर विरक्ति का ढोंग करता है, लोगों में प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये मेरी भक्ति प्राप्त करता है, ऐसा अभक्त मुझे छत्र, चामर अथवा गजान्त लक्ष्मी भी अर्पण करता है तो भी मेरे चित्त में सुख का संचार नहीं होता। दूध और पानी को अलग करने वाले राजहंस के सामने यदि धुनकने के लिये रुई रखी जाय तो उसे जिस प्रकार संतोष नहीं होता, उसी प्रकार अभक्तों के भजन पूजन से मुझ हृषीकेश को संतोष प्राप्त नहीं होता। कौओं की गायनकला देखकर जिस प्रकार किन्नरों को संतोष नहीं होता, उसी प्रकार अभक्तों की भजन लीला देखकर मेरी ज्ञानकला को संतोष नहीं होता। रजस्वला स्त्री द्वारा बनाया गया पकवान कितना ही उत्तम क्यों न हो लेकिन वह अत्यन्त अमंगल होता है, उसी प्रकार अभक्तों के भजन को जनार्दन कभी स्पर्श नहीं करता। जिस भजन को नारायण स्पर्श नहीं करता, ऐसे अभक्त के भजन से जनार्दन को जरा भी संतोष नहीं होता। इस प्रकार भक्त और अभक्त के मार्ग और उनके अधिकार के क्षेत्र बतला दिये। अब श्रीकृष्ण साद्यंत पूजामार्ग ही बता रहे हैं।

शुचिःसम्भृतसम्भारःप्राग्दर्भैः कल्पितासनः।
असीनः प्रागुदृग् वार्चेदर्चायामथ सम्मुखः॥ १९॥

शरीर शुद्धि का स्नान हो जाने के बाद वैदिक तांत्रिक मंत्रस्नान करें तथा नित्यकर्म पूरा करें। इसका नाम है 'शुचिर्भूत' होना। इसके उपरान्त देवपूजा की सामग्री खोज कर उसे पवित्र करें और फिर गंधादिक पूजा सामग्री यथास्थान रखें। श्वेत कम्बल, मृगचर्म और पूर्वाभिमुख दर्भाग्र आसन बिछाकर उस पर पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होकर बैठें। स्थावर मूर्ति की पूजा करते समय अपना आसन मूर्ति के सामने बिछाएँ। यह निर्दोष आसनविधि है। अब पूजान्यास आदि के बारे में श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिनामृजेत्।
कलशं प्रोक्षणीयं च यथावदुपसाधयेत्॥ २०॥

इस प्रकार विधिपूर्वक आसन बिछाकर गुरु को प्रणाम करें; परमगुरु (गुरु के गुरु) तथा परमेष्ठी गुरु (परमगुरु के गुरु) का भी प्रेमपूर्वक अभिनन्दन करें। गुरु से जो मंत्र मिला हो उस मंत्र का देह पर न्यास करें। कलश और प्रोक्षण पात्र (पंचपात्र आदि) को उचित स्थान पर रखकर, उसे जल से भरकर, उसमें दूब, चन्दन आदि पूजाद्रव्य डालें।

तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च।
प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत्॥ २१॥

उस प्रोक्षण पात्र के जल में उँगलियाँ बिना डुबाये, सारी पूजा सामग्री का उस जल से दर्भ के शीर्ष से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

केवल प्रोक्षण करें। उसी से देवपूजाघर का भी प्रोक्षण करें, स्वयं प्रोक्षण कर लें तथा देवपूजा स्थान का प्रोक्षण कर पूजा प्रारम्भ करें। पाद्य, अर्घ्य और आचमन के लिये तीन पात्र रखें और उनमें पानी भर कर तीनों पात्रों में भिन्न-भिन्न पदार्थ डालें। श्यामाक, कमल, दूब और विष्णुकांता ये पाद्य पात्रों के शुद्ध द्रव्य हैं। गन्ध, फूल, फल, अक्षत और दर्भाग्र ये अर्घ्य पात्रों में डाले जाने वाले शुद्ध द्रव्य हैं। इलायची, खस, जायफल, लौंग, कपूर, कंकोल ये 'आचमनीय' पात्रों में डाले जाने वाले शुद्ध पदार्थ हैं।

पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणी पात्राणि दैशिकः।
हृदा शीर्ष्णाथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत्॥ २२॥

जैसी गुरुमंत्र की दीक्षा हो उसके अनुसार मार्ग पकड़कर गुरु सम्प्रदाय के अनुसार, पाद्यादि तीनों पात्र रखें। हृदय मंत्र से पाद्य दें, शिरोमंत्र पढ़कर अर्घ्य अर्पण करें तथा शिखामंत्र से आचमन करें। आगमोक्त गुरुसंस्कार जैसा हो उसके अनुसार यह सब करें। ये तीनों पात्र स्वयं गायत्री मंत्र से अभिमंत्रित कर देवता को अर्पण करें। गुरुसम्प्रदाय से पवित्र हो जाने के कारण आत्मद्रष्टा तथा दीक्षा का विवेक जानने वाला जो श्रीकृष्ण है, उसने स्वयं ही पूजक को 'देशिक' कहा है। आगमशास्त्र का निजमार्ग, भूतशुद्धि और प्राणप्रतिष्ठा का योग, इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण अगले श्लोक में सब कुछ बता रहे हैं।

पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभावितम्॥ २३॥

वायु बीज से आवाहन कर, पिंगला नाड़ी से प्राण को पूरी तरह भर कर (दाहिनी नासिका से भीतर की ओर श्वाँस लेकर, कुंभक से उसे रोक कर मात्रा धारण से धारण करें।) (उदाहरणार्थ—पूरक चार मात्राओं से करने पर कुंभक १६ मात्राओं से तथा रेचक मात्राओं से करना चाहिये।) वायु को उतनी ही देर तक रोक कर रखना चाहिये ताकि वह किसी अन्य रास्ते से न निकल जाय और फिर उसे धीरे-धीरे बाहर छोड़ना चाहिये। ऐसा प्राणायाम करने से शरीर क्षीण हो गया है ऐसी कल्पना करें। इस प्रकार शरीर शुष्क हो गया है, ऐसी कल्पना कर उसका दहन प्रारम्भ करना चाहिये। मूलाधार चक्र का अग्नि अग्निमंत्रों से जागृत कर और उसे देह से लगाकर अपना देह भस्म हो गया है ऐसी कल्पना करनी चाहिये। देह अग्नि से अत्यन्त तप्त हुआ है, यह मानकर उसे चन्द्रमा के बीज से चन्द्रामृत लाकर उससे शरीर को शीतल करना चाहिये। इसमें जिस नये देह की कल्पना करें वह सभी इन्द्रियों से युक्त, निरोगी और कार्यक्षम हो और उसके हृदय कमल में मेरी आण्विक अर्थात् सूक्ष्म जीवकला है यह देखें। मेरी वह जीवकला सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है इसीलिये उसे अणुरूप (अग्नि) कहते हैं। वही सारे संसार का विश्राम स्थल है। अकार, उकार और मकार को भी अण्वी जीवज्योति ही प्रकाशित करती है। वह तो शब्दों से परे होने के कारण योगी लोग नाद के अंत में उसे देखते हैं। देह में वह अन्तर्बाह्य परिपूर्ण से भरी हुई है लेकिन सूक्ष्म होने के कारण उसका आभास नहीं होता। योगी लोग उसे आसन-प्राणायाम आदि के योग से हृदयकमल में देखते हैं। वह अणुरूपी जीवकला अव्यक्त रहती है, उसे योगी लोग आत्मनिष्ठा से व्यक्त कर उसकी महामूर्ति का हृदय में चिन्तन करते हैं। 'नार' अर्थात् जीवसमुदाय, उसका 'आयतन' अर्थात् आधारस्थान, वही श्रीनारायण की महामूर्ति है जिसका सज्जन लोग हृदय में चिन्तन करते हैं।

तयाऽऽत्मभूतया पिण्डे व्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः।
आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत्॥ २४॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दीपक जिस प्रकार घर को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जीवज्योति देह को प्रकाशित करती है। वही मेरी साकार मूर्ति का हृदय में चिन्तन करती है। घृत जमने पर स्वयं रंगविहीन होने पर भी रंग, रूप, आकार लेता है, उसी प्रकार मेरा चैतन्य ढल कर रूप में साकार हो गया है। ऐसी वह मेरी सगुण मूर्ति चिन्मात्र तेज से हृदय को प्रकाशित करती है। वही सारे देह में समाकर मन में भक्ति उत्पन्न करती है। देह जड़, मूढ़ और अचेतन है। उसमें चिन्मय मूर्ति प्रकट होकर अचेतन को सचेतन कर उल्हास से भजन करवाती है। हिरन का स्वांग करने वाला जिस प्रकार हिरन के ही रूप में नाचता रहता है, उसी प्रकार भक्त के रूप में भजन पूजन करने वाला स्वयं नारायण ही है। इस प्रकार चिन्मय-चिद्धन मूर्ति की पूजा करने से अभेद भक्ति उत्पन्न होती है और पूज्य और पूजक यह स्मृति सहज ही धुँधली पड़ जाती है। यह भजनभेद समाप्त होते ही भक्ति का अभेद बोध बढ़ता जाता है। यही अतिशुद्ध, प्रसिद्ध और मुझे प्रिय गुरुमार्ग है। जहाँ मेरी अभेद भक्ति रहती है, वहाँ मैं स्वानंद प्रेम के उल्लास से पूर्णतया भक्तों के अधीन रहता हूँ। जिस प्रकार अपार वर्षा के जल को बाँध बनाकर तालाब में एकत्र किया जाता है, उसी प्रकार अभेद भजन के योग से मुझ अनंत से ऐक्य किया जाता है। जंगल में अतुल वर्षा होने से उत्तम फल नहीं आएगा, लेकिन वर्षा का जल तालाब में एकत्र करने से उससे अच्छे चावल की खेती हो सकती है। उसी प्रकार मेरा अनंत अपार स्वरूप प्रेमपूर्वक अभेद भावना के भक्तों में ही दिखाई देता है। तब ब्रह्मानन्द परमोत्कर्ष पर पहुँचता है और भक्ति अपने शिखर पर जा पहुँचती है। अभेद भावना के भक्त के पास तीर्थ भी पवित्र होने के लिये आते हैं। देव और मानव उसके चरणों पर गिरते हैं और मैं भगवान भी उसके पास रहता हूँ। अभेद भावना के भक्त के पास सारे तीर्थ आकर निर्दोष हो जाते हैं। वह भक्ति का मायका है। मुझे भी उनके ही कारण सुख प्राप्त होता है। अभेद भक्ति का ही नाम 'उत्तम भक्ति' है ऐसा श्रीकृष्ण ने अत्यन्त उल्लास से उद्धव से कहा। अभेद भक्ति के सम्बन्ध में प्रेम से बताते समय कथा भाग एक ओर रह गया इसका उन्हें स्मरण ही नहीं रहा। भगवान निरूपण भूल गये लेकिन उद्धव के मन पर भक्ति की पहचान अमिट हो गयी। वह भी अपने उद्धव को भूल गया और कृष्ण भी अपने अस्तित्व को भूल गये। अभेद भजन के हर्ष से देव और भक्त एक हो गये। दोनों स्तब्ध होकर बैठ गये और परम सुखी हो गये। उद्धव जब आत्मज्ञान से इतना अधिक पूर्ण था तो फिर उसे पूजाविधान पूजने की क्या आवश्यकता थी? ऐसी शंका मन में होगी। तो उद्धव के मन में यह था कि यदि मैं चुपचाप बैठा रहा तो यह निजधाम चला जायेगा। इसलिये वह प्रश्न पूछने लगा। उपासना कांड का गुप्त ज्ञान, आगमोक्त पूजा विधान आदि वेद का अर्थ उद्धव के बहाने श्रीकृष्ण स्वयं ही बताने लगे। सचमुच, साधकों की जैसी श्रद्धा हो, वैसी ही सिद्धि प्राप्त हो, इसलिये वेदार्थ का सारा शास्त्रविधि श्रीकृष्ण इस ग्रन्थ में प्रतिपादित कर रहे हैं। अद्वैत भक्ति के बारे में सुनते-सुनते उद्धव मन में तृप्त हो गया। इससे श्रीकृष्ण को भी समाधान हुआ। उसने आनन्दपूर्वक कहा, उद्धव! ध्यान से सुनो, आगे का यथोक्त पूजाविधान तुम्हें सुनाता हूँ। पूज्य और पूजक की एकात्मता का ध्यान दृढ़ कर, उसका ही बाह्य पूजा के लिए प्रतिमा में आवाहन करें। स्वयं प्रतिमा के सामने बैठ कर, आवाहन मुद्रा दिखाकर, मेरा सारी चित्कला उस प्रतिभा में आ गयी है ऐसी भावना करें। उस समय मूर्ति की जड़ता का ख्याल न करें, मूर्ति चैतन्यरूप है, ऐसी ही कल्पना करें। इसी का नाम है मुख्य 'आवाहन'। गुरु के मुख से मिला हुआ मंत्र निद्रोष होता है। इसलिये उस मंत्र से मूर्ति के सर्वांग पर, आगमशास्त्र के अनुसार सभी न्यास धीरे-धीरे करें। इस प्रकार आवाहन, संस्थापन, संन्निधि, संनिरोधन, संमुखीकरण, स्वायतन ये मुद्रायें करके दिखायें।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान् प्रकल्पयेत्।
धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वाऽऽसनं मम॥ २५॥

पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम्।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये॥ २६॥

स्नान मण्डप की कल्पना कर वहाँ चित्स्वरूप देवता को लायें और पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क आदि विधियाँ करें। अभ्यंग से अंगमर्दन कर पुरुष सूक्त से स्नान करायें और स्नान के मण्डप में ही देवता को पीताम्बर धारण करायें। अन्य यथोक्त पूजन सिंहासन पर ही करायें। उस आसन और पीठावरण के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं। सिंहासन पर के आवरण क्रम में आधारशक्ति, मूलप्रकृति, क्षीराब्धि, श्वेतदीप तथा वहाँ के मनोरम कल्पवृक्ष इत्यादि की वहाँ भावना करें। उसके नीचे सुन्दर रत्न मण्डप, उसमें सुवर्ण के पलंग की कल्पना करें। उस पलंग के बारे में श्रीकृष्ण बताते हैं धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये उस मंचक के चार पैर हैं। अधर्म, अज्ञान, अनैश्वर्य तथा अवैराग्य ये उस मंचक के चौखट की चार आड़ी लकड़ियाँ हैं। ईश्वर तत्त्व सूत है, गुणागुण से उसे बुनकर यह मंचक योगयुक्त महामुद्रा से मजबूती से बुना हुआ है ऐसी कल्पना करें। उस मंचक पर अत्यन्त सुन्दर और सुशोभित शेष कुण्डली मार कर बैठा है तथा उसके पीछे उसके सहस्र फन रत्नों की दिव्यता से दमक रहे हैं। शेष के वर्तुल में डंठल के साथ निर्मल लाल कमल खिला हुआ है, उसकी आठ पंखुड़ियाँ हैं जो अपनी मनोहर शोभा बिखेर रही हैं। सत शक्ति यह उस कमलकंद का मूल है तथा ज्ञान उसकी सरल नाल है और अष्टधा प्रकृति उस कमल की आठ पंखुड़ियाँ हैं। ऐसा वह सुन्दर कमल है तथा षड्विकार उसके केसर हैं और वैराग्य उसका सुगन्धित मकरंद है। पूर्वादि अष्टदिशा के कमलदलों में उन-उन देवताओं का न्यास करें। विमला, उत्कर्षिणी ज्ञाना और चौथी क्रियाशक्ति। उसी प्रकार योगा, प्रह्वी, सत्या और ईशाना इन अष्टशक्तियों की स्थापना करें। उसी प्रकार अनुपम कल्पना से सजे हुए कमल के मध्यभाग में नौवें अनुग्रह की स्थापना करें। आत्मा, अंतरात्मा और परमात्मा यह देवोत्तम का अगला भाग है। सत्त्व, रज, मोह, तम, यह उस पुरुषोत्तम का पृष्ठभाग है। इस प्रकार धीरे-धीरे आगमोक्त पीठ न्यास कर देवाधिदेव को सिंहासन पर ले आयें। छत्र और दो चँवर के साथ अनेक प्रकार के वाद्यों के जयघोष में उचित ढंग से मुद्रा दिखाकर श्रीहरि को आसन पर बिठायें। मैं सर्वव्यापी होते हुए मेरा आवाहन करते हैं, मुझ निर्विकार को विकार मुद्रा दिखाते हैं। मुझ ज्ञानस्वरूप को आँखें, निःशब्द को कान तथा मुझ विश्वतोमुख को सुन्दर मुख है ऐसी कल्पना करते हैं। मैं विश्वपाद होते हुए दो पैरों से चलता हूँ; मुझ विश्वबाहु को चार हाथ हैं; और सर्वगत को एकदेशी स्थान की कल्पना करते हैं। मुझ निरूपचार को उपचार; मुझ निदेह को अलंकार और सदा सम रहने वाले को शत्रु-मित्र; ऐसी विचित्र कल्पना करते हैं। मुझ अकर्त्ता को कर्मबन्धन; अजन्मा को जन्म-निधन; नित्य-तृप्त को भोजन; और निर्गुण को सगुण ऐसी कल्पना करते हैं। इन सबका यही तात्पर्य है कि उपासना काण्ड का निर्वाह हो। उपासकों की जैसी भावना रहती है, उसके अनुसार मैं उनका देव बनता हूँ। मैं पूर्णकाम होते हुए भी भक्त के प्रेम के लिये सकाम बनता हूँ। भक्तों का जैसा भाव होता है उसके अनुसार मैं पुरुषोत्तम उन्हें दिखायी देता हूँ। भक्त मेरे प्रति जैसी भावना रखता है, वैसा ही मैं उसके लिये हो जाता हूँ। वह भावार्थ से मुझे जो भी अर्पण करता है, वह सहज ही मेरे पास पहुँचता है। मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ, भक्त मुझे अर्पण करने के लिये जहाँ भी कहीं बैठा हो लेकिन वह मुझे अनायास सहज ही अर्पण होता है। मैं देवाधिदेव सर्वत्र उपस्थित हूँ ऐसी प्राणियों में भावना नहीं होती,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इसलिये जहाँ भक्तों की भावना रहती है, वहाँ सहज ही मैं देव प्रकट हो जाता हूँ। सारांश, भक्तों को भावार्थ मुझे अत्यन्त प्रिय लगता है, उसके आगे मुझे वैकुण्ठ अथवा क्षीराब्धी भी अच्छा नहीं लगता। भक्तों के भावार्थ का अलंकार धारण करने के लिये मुझ निर्गुण श्रीकृष्ण को सगुण रूप लेना पड़ता है। यह सब भक्तों के भावार्थ के लिये। इसीलिये मैं अजन्मा होते हुए जन्म लेता हूँ, अकर्मा होते हुए भी कर्म करता हूँ, अनामा होते हुए भी भक्तों को मनोधर्म से प्रसन्न करने के लिये नाम धारण करता हूँ। निर्गुण के प्रति मन रमने पर वह चैतन्यरूप हो जाता है और सगुण स्वरूप में मन लीन हो जाने पर साधक स्वयं ही श्रीकृष्णरूप हो जाते हैं। निर्गुण का ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है, इसीलिये यह उपासना की योजना की गयी है। सगुण मूर्ति की भावना मन में रखकर साधना करने से साधक अनायास तर जाते हैं। यह उपासना विधि का आगमोक्त विधान था। इससे साधकों को भोग और मोक्ष दोनों साध्य होते हैं और मैं कृपानिधि सन्तुष्ट होता हूँ। अब आवरण पूजा का विधि बताता हूँ।

सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान्।
मुसलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सं चानूपूजयेत्॥ २७॥

अण्वी-जीवकला को देहावरण, सिंहासन पर शक्ति का आवरण और सुदर्शनादि अस्त्रों के बारे में श्रीकृष्ण स्वयं ही बता रहे हैं। लपलपाता हुआ तेज धार का 'सुदर्शन'; शोभायमान 'पांचजन्य', शंख, 'नंदक' नाम का खड्ग और 'कौमोदकी' नामक प्रचण्ड गदा अत्यन्त मजबूत 'शार्ङ्ग' नामक धनुष्य; सुवर्णमय पंख के सरल बाण; 'हल' और 'मूसल' इन प्रबल अस्त्रों की पूजा करें। सशस्त्र सरल आठ हाथ, गले में कौस्तुभ मणि और वनमाला; कटि के नीचे परिधान किया पीला पीताम्बर, ऐसी मेघ जैसी श्यामवर्ण सुन्दर मूर्ति की कल्पना करें। साक्षात् लक्ष्मी का पति लेकिन ब्राह्मण ने मारी हुई लात अलंकार के रूप में हृदय पर अंकित करने वाला ब्राह्मण भक्त देव उस श्रीवत्स चिह्न से विलक्षण शोभा प्रदान करता है। उस वत्स की पूजा करें। चिद्रत्नों के अलंकार में से गुण बाहर निकाल कर अत्यन्त कुशलतासे पिरोयी हुई वैजयन्ती माला भी हृदय पर लहरा रही है। इस प्रकार सालंकार और सायुध; शंख, चक्र, पद्मादि के साथ अद्‌भुत दीखने वाला स्वयंबोध (स्वयंप्रकाश) भगवान जिसके पास नारदादि सदा उपस्थित रहते हैं। इस प्रकार अलंकारों के साथ पूज्य जो श्रीहरि हैं उसकी पूजा कर फिर उसके परिवार की पूजा करें। वह पार्षद भी तुम्हें विस्तार से बताता हूँ।

नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च।
महाबलं बलं चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम्॥ २८॥

नंद और सुनंद ये सदा देव के पास रहते हैं। गरुड़ तो सदा आँख के सामने खड़ा ही रहता है। चण्ड और प्रचण्ड ये दोनों ओर रात-दिन खड़े रहते हैं। बल और महाबल ये नेत्र संकेत से ही किसी भी आशा का पालन करने के लिये तत्पर रहते हैं और कुमुद और कुमुदाक्ष ये दोनों महाबलि पीछे खड़े रहते हैं। गरुड़ आँखों के सामने ही खड़ा रहता है; और शेष नंदादिक आठ असामी आठ दिशाओं की ओर रहते हैं। इस प्रकार श्रीहरि के सान्निध्य में रहने वाला पार्षदावरण है।

दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून सुरान्।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान् पूजयेत् प्रोक्षणादिभिः॥ २९॥

इसके अतिरिक्त दुर्गा, विनायक, व्यास और विष्वक्सेन को चार कोनों में स्थापित कर, देवताओं के साथ ही उनका भी पूजन करें। मूल मूर्ति से एकरूप रहने वाले गुरु और परम गुरु का परमेष्ठी गुरु से ऐक्य स्थापित कर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उनका पूजन करें। गुरु-दुर्गादिक तथा अष्ट लोकपालों की, प्रोक्षण पाद्य आदि उपचारों से निश्चल मन से यथासांग पूजा करें। उस पूजा के क्या उपचार हैं आदि के बारे में श्रीकृष्ण अगले छह श्लोकों में संक्षेप में बता रहे हैं।

चन्दनोशीरकर्पूरकुंकुमागुरुवासितैः।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति॥ ३०॥

स्वर्णधर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः॥ ३१॥

इलायची, खस, कर्पूर, चन्दन, रोरी, केशर तथा उसमें अगर मिलाकर उससे सुगन्धित किया हुआ जल स्नान करने के लिये दें। सुगन्धित किया हुआ यह पवित्र गंगा जल शंख में शंखमुद्रा दिखाकर भरें। ऐसा शुद्ध जल लेकर आपस्तंभ शाखा का 'सुवर्णधर्म' अनुवाक पढ़कर उससे अभिषेक करें अथवा केवल पुरुषसूक्त, रुद्राभिषेक या विष्णुसूक्त मंत्रों से देवता को स्नान करायें अथवा सामवेद का गायन कर अर्थात् उसमें के राजनादि साम गाकर उससे देवता को स्नान करायें। द्रव्य की अनुकूलता के अनुसार इस ठाठ से प्रतिदिन महाभिषेक करें। अन्यथा किसी विशेष पर्व पर अथवा जयन्ती उत्सवों के समय इस प्रकार का स्नान करायें। आगमशास्त्र में वर्णित सुलक्षण महापुरुष विद्या आदि के साथ देवता को स्नान करायें। देवता का सम्पूर्ण स्नान होने के बाद मंगलारती करें और फिर देवता को वस्त्र, आभूषण आदि से अलंकृत करें।

वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्त्रग्गन्धलेपनैः।
अलंकुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम्॥ ३२॥

देव मेघ की तरह श्यामवर्ण का है। उसकी कटि में जरी का पीताम्बर पहनायें, गले में सुवर्ण यज्ञोपवीत डालकर कटि में रत्नजड़ित करधनी पहनायें। कंकण चूड़ियों का सुमधुर घोष, पैरों में घुँघरू की झंकार, मस्तक पर मनोरम मुकुट, कान में कुण्डल तथा हृदय पर सुन्दर महापदक! कपाल पर जड़ित मोतियों की बेल, उसके नीचे पीले चंदन का टीका, कंठ में शोभे कौस्तुभ, बाहुओं पर कंकण, उँगलियों में रत्नों से जड़ी अँगूठियाँ और पीताम्बर की आभा तो ऐसी कि उसके तेज के आगे सूर्य का तेज भी फीका पड़ जाये। भगवान के साँवले अंग पर शुभ्र चन्दन का लेप शोभा दे रहा है मस्तक पर केशों पर लपेटी पुष्पों की माला है जिस पर भ्रमर अपने घोंसले बनाने की ताक में हैं। 'वैजयंती' और वनमाला पैरों तक झूल रही हैं और आँखों को भव्य दिखायी दे रही हैं। इस प्रकार वह मेघ श्याम देव सुशोभित दिखायी दे रहा है। इस प्रकार वस्त्रालंकार भूषणों से श्रीहरि की पूजा करें। लेकिन पूजा से भी अधिक श्रद्धा मन में होनी चाहिये। भक्त अत्यन्त सम्पन्न हो अथवा द्ररिद्र हो, जहाँ परिपूर्ण श्रद्धा होती है वहीं नारायण सन्तुष्ट होता है। सकल पूजा में श्रद्धा ही प्रमाण है। जो अत्यन्त श्रद्धालु होता है वही देव का अत्यन्त लाडला होता है।

पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनोसोऽक्षतान्।
धूपदीपोहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः॥ ३३॥

इस प्रकार मूर्ति का पूरी तरह शृंगार करने के बाद पाद्य, अर्घ्य और आचमन करें और मधुपर्क विधान कर श्रद्धायुक्त पूजा करें। गन्ध, अक्षत, अच्छे सुगन्धित फूल, दशांग धूप, दीपदान, नीरांजन आदि साहित्य के साथ साधकों को पूण श्रद्धा से मेरी पूजा करनी चाहिये।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गुडपाययससर्पीषि शष्कुल्यापूपमोदकान्।
संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत्॥ ३४॥

धूप, दीप, नीरांजन आदि दिखाने के बाद देवता को भोजन अर्पण करें। उनमें नाना प्रकार के पकवान तथा षड्रसयुक्त भोजन हो। सादे और शर्करायुक्त पराठे, गुजिया, अमृत फल, रबड़ी, दूध औटा कर उसमें बनायी हुई खीर, विभिन्न प्रकार के बड़े, तिल्ली के तथा बेसन के लड्डू, खट्टे पकौड़े आदि पदार्थ भगवान को परोसें। दूसरी पंक्ति में सब्जियाँ हों, बीच में पतले और मुलायम चावल का भात हो, उस पर मूँग की दाल तथा घर में तैयार किया हुआ सुगन्धित घृत हो। गुड और केसर मिलाकर तैयार किया हुआ हलुआ हो, उसी प्रकार छाछ की कढ़ी हो, आमरस से भरी हुई कटोरी हो जिसे देखकर इन्द्र की भी लार टपकने लगे। नैवेद्य में दही, दूध, मलाई, शक्कर आदि पदार्थ रखें। लेकिन इस बात का ध्यान रखें कि देवता उपचारों की ओर ध्यान नहीं देते। वे श्रद्धा से ही तृप्त हो जाते हैं। यदि सामर्थ्य हो तो इतने पदार्थ रोज तैयार कर देवता को नैवेद्य अर्पण करें। अन्यथा किसी विशेष पर्व पर अर्पण करें। सचमुच, जो अपनी उपास्य मूर्ति हो उसके जयन्ती अथवा विशेष पर्व पर अर्पण करने का पूजोपचार श्रीहरि बता रहे हैं।

अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम्।
अन्नाद्य गीतनृत्यादि पर्वणि स्युरुतान्वहम्॥ ३५॥

आगमशास्त्र में बताये गये पर्व अथवा अन्य वार्षिक पर्व आते हैं, अथवा अपनी उपास्य मूर्ति की जयन्ती आती है उस दिन की पूजा श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं। दंतधावन, उद्वर्तन, अभ्यंजन मूर्ति को देकर पंचामृत से स्नान करायें और नाना प्रकार के आभूषणों के साथ उसकी पूजा करें। इसके उपरान्त उसे षड्रस अन्न का नैवेद्य अर्पण करें। फिर हाथ धोने के लिये सुगन्धित उदक देकर मुखशुद्धि के लिये ताम्बूल अर्पण करें। देव को अपने देवत्व का विस्मरण हो गया था। वह देवत्व अब उसे प्राप्त हो गया, इस भावना से देवता को दर्पण दिखायें। इससे भगवान को सन्तोष प्राप्त होता है। विशेष पर्व के दिन अथवा जयंती के दिवस पर संत वैष्णवों को एकत्र कर, प्रेमपूर्वक रात-दिन गीत, नृत्य और कीर्तन का आयोजन करें। उसी प्रकार शास्त्रों के अनुसार दीक्षा लेकर हवन करने से भी देवता तत्काल प्रसन्न होता है। उद्धव! उस होम का विधिविधान भी अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।

विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्तवेदिभिः।
अग्निमाधाय परितः समूहेत् पाणिनोदितम्॥ ३६॥

परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि।
प्रोक्षण्याऽऽसाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम्॥ ३७॥

कुण्ड का विधान अर्थात् आगमशास्त्र में वर्णित उसकी लम्बाई, चौड़ाई, गहराई तथा कोनों का प्रमाण लेकर ऊँचाई भी ठीक तरह से नाप लें तथा कुण्ड तैयार करें। अपनी शाखा के वेद में वर्णित मेखला के साथ गर्त को साधकर योनि के साथ यथोक्त लक्षण की वेदी तैयार करें। उस पर अग्न्याधान कर जो अग्नि तैयार किया गया हो, उसका करस्पर्श कर परिसमूहन करें। दर्भ से परिस्तरण करें और तदुपरान्त परिसमूहन करें। दर्भ से परिस्तरण करें और तदुपरान्त पर्युक्षण करें। इष्णार्बह का विसर्जन कर उस पर त्रिसंधान रखें। बर्ही का आस्तरण कर उस पर घृत का बर्तन रखें। ब्याहर्ती से समिधाओं का होम करने की क्रिया को 'अन्वाधान' कहते हैं। प्रोक्षणीपात्र का जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विधान हो उसे पूरा कर उसे जल से पूरा भर लें। फिर दर्भ (कुश) के शीर्ष से उसमें का उदक लेकर सारे होमद्रव्यों पर प्रोक्षण करें। फिर कुण्ड के प्रदीप्त अग्नि में मेरा ध्यान करें। उस ध्यान की मूर्ति का लक्षण स्वयं श्रीकृष्ण ही बताते हैं।

तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः।
लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिञ्जल्कवाससम्॥ ३८॥

स्फुरत्किरीटकटककटिसूत्रवराङ्गदम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम्॥ ३९॥

तप्तसुवर्ण की कांति के समान उस मूर्ति की अंग कांति है तथा अत्यन्त सुशोभित और चिन्मात्र गाभा वाली ऐसी साकार है। हाथ में शंख, चक्र, पद्म ये अस्त्र कटि पर पीताम्बर, आभा ऐसी कि उसके आगे अग्नि की आभा भी फीकी पड़ जाय। मुकुट, कुण्डल, मेखला अर्थात् कमरपट्टा, वक्षःस्थल पर शोभा देने वाला श्रीवत्सलांछन, पैरों तक लटकने वाली वनमाला और गले में झलकने वाला कौस्तुभमणि, ऐसी मूर्ति का ध्यान करें।

ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणिहधिषाभिघृतानि च।
प्रास्याज्यभागावाधारौ दत्त्वा चोज्यप्लुतं हविः॥ ४०॥

इस प्रकार अग्नि में यथासांग मेरे ध्यान की कल्पना कर, उसका आवाहन और पूजन कर विधियुक्त होम की शुरुआत करें। अग्नि का विधियुक्त आवाहन कर समिधायें घृत में भिंगो कर पहले होम में दो आज्य भाग की आहुति दें। उसमें तिल्ली, घृत आदि होमद्रव्य लेकर घृत में भिंगोकर आगमोक्त विधि से होम करें। वह विधान श्रीकृष्ण स्वयं बता रहे हैं।

जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोउशर्चावदानतः।
धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टकृतं बुधः॥ ४१॥

देवता के मुख की ओर ध्यान देकर साधकों को अष्टाक्षरी मूलमंत्र से होम करना चाहिये अथवा पुरुषसूक्त की सोलह ऋचायें पढ़ कर होम करने की भी विधि है। पहले बताये गये पीठार्चन में से धर्मादिक देवताओं को, तथा अन्य देवताओं की यदि पूजा की हो तो उन्हें भी नाममंत्र से एक-एक अवदान दें। फिर साधक को 'स्विष्टकृता' का भी विधियुक्त अवदान करना चाहिये। मेरा ऐसा भजन सज्ञान भक्त जानते हैं। होम आदि की सहायता से मूर्तिभजन की विधि से साधकों को तत्काल सिद्धि प्राप्त होती है और हे उद्धव! ऐसे भक्त ब्रह्मपद प्राप्त करते हैं यह निश्चित रूप से जान लो।

अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत्।
मूलमन्त्रं जपेद् ब्रह्म स्मरन् नारायणात्मकम्॥ ४२॥

इस प्रकार विधियुक्त होम और पूजन कर देव को साष्टांग नमस्कार करें और फिर देव के सेवकों को बलि अर्पण करें। इसके उपरान्त जहाँ बाह्य प्रतिमा का पूजास्थान हो वहाँ जाकर ध्यानपूर्वक मूलमंत्र का स्मरण करें। पूज्य और पूजक से जो भिन्न नहीं है उस परात्पर नारायण को उस परब्रह्म के प्रति मन में ध्यान कर अंतःकरण से आसन लगायें। ध्यान में जब तक मन स्थिर रहे तब तक आसन स्थिर रखें। जब वहाँ मन को शान्ति मिले तो अगली पूजा विधि कैसी हो इसके बारे में श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दत्त्वाऽऽचमनमुच्छेषंविष्वक्सेनाय कल्पयेत्।
मुखवासं सुरभिमत् ताम्बूलाद्यमथार्हयेत्॥ ४३॥

इस प्रकार ध्यान का विसर्जन होने पर देवता का भोजन हो गया ऐसी कल्पना कर, उसे शुद्ध आचमन अर्पण करें। अग्नि का मूर्तिध्यान एवं स्वयं पूजी हुई प्रतिमा इन दोनों स्थानों में यथोक्त रीति से शुद्ध आचमन समर्पित करें। देवता के नैवेद्य का अवशिष्ट भाग विष्वक्सेना को दें और फिर जूठन साफ करवाये। देवता के हाथ धुलवायें। कर्पूर मिलायी हुई सुपारी के कतरे, पके पान का ताम्बूल, कत्था आदि मिलाकर रुचि के लिये दें। इलायची, लौंग, कंकोल, थोड़ा जायफल, इन पदार्थों से युक्त ताम्बूल से देव का मुख रंग जाता है और अत्यन्त सुन्दर लगता है। चोवा, (चंदन से तैयार किया एक सुगन्धित पदार्थ) कस्तूरी, बुक्का तथा पुष्पांजलि अर्पण करें। अब जिससे श्रीकृष्ण शीघ्र प्राप्त होंगे उस प्रेम के बारे में श्रीहरि बता रहे हैं।

उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम।
मत्कथाःश्रावयञ्छृण्वन् मुहूर्तं क्षणिको भवेत्॥ ४४॥

ज्ञान, ध्यान, उपासना ये सब गौण बातें हैं; देव भाव का भोक्ता। सचमुच देव भाव से ही प्राप्त होता है। मन ध्यान से फिसल जाय तो मेरा नामस्मरण करें; अथवा आदरपूर्वक मेरे गुणों का श्रवण करें। हरि के गुणों का अथवा हरि के यश का श्रवण करने से अंत:करण को सुख प्राप्त होता है। उस सुख से उत्स्फूर्त्त हो स्वयं हरिकीर्तन करें। बहुरुपिया की तरह स्वच्छंद होकर हरि के सभामण्डप में नाचें गायें। गोवर्धन पर्वत किस तरह उठाया होगा इसका अभिनय स्वयं करके दिखायें और फिर आसन जमा कर राम ने शिव का धनुष किस प्रकार तोड़ा इसका प्रदर्शन करें। पूतना का प्राणहरण, कुवलय हाथी का संहार अथवा मल्लमर्दन का प्रदर्शन कर फिर हरिकीर्तन करें। प्रेम का आविर्भाव अद्‌भुत होता है। उसमें गद्य, पद्य, नामप्रबन्ध, भुजंग प्रयातादि छंद में भक्त आनन्दपूर्वक स्तुतिगोत्र गाते हैं।

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत्॥ ४५॥

मेरे स्तुतिस्तोत्र और पुराण आदरपूर्वक श्रवण करें। कोई सुनने वाला हो तो स्वयं ही कथा का निरूपण करें। स्तोत्रपहुन यदि शुद्ध पढ़ने में या ठीक तरह से गाने में कठिनाई हो तो भी प्रेम से कहने वाले को दोष नहीं लगता। बल्कि उससे महादोष का निर्मूलन ही होता है। वेदों के उपनिषदों का पठन, अथवा ऋचामंत्रों से हरि का स्तवन, इनमें लौकिक दृष्टि से ऊँच-नीच का भाव है किन्तु देवता को भक्तिभाव के कारण दोनों ही प्रिय है। पुराणों के बड़े-बड़े स्तोत्र पढ़े या केवल नाम ले लें, अर्थ और भाव की दृष्टि से मैं उन्हें एकसमान मानता हूँ। कोई भोला भाला व्यक्ति जिसे वेद, शास्त्र, पुराण आदि कुछ भी समझ में न आता हो, और वह प्राकृत में ही स्तवन करे तो भी मैं श्रीकृष्ण सन्तुष्ट होता हूँ। वेद पठन करने में यदि कोई स्वर-वर्ण चूक जाता है तो पठन करने वाले को दोष लगता है; किन्तु प्राकृत में ही श्रीहरि का स्तवन करें तो उससे दोषों का निर्दलन होता है। शास्त्रश्रवण के लिये अथवा पुराण प्रवचन के लिये पंचमी-सप्तमी आदि विभक्तियों का ज्ञान आवश्यक होता है किन्तु प्राकृत में नामकीर्ति यदि अशुद्ध भी गायी जाय तो भी वह भगवत्प्राप्ति करा देती है। संस्कृत भाषा यदि भगवान ने बनायी तो क्या प्राकृत चोरों ने बनायी? इसमें केवल पक्षाभिमान की बात है। ईश्वर के काम में अभिमान की बात नहीं होती है। चाहे वेदशास्त्र हो या पुराण हो, या प्राकृत भाषा में स्तवन हो, उसमें भक्तिभाव

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही मुख्य है। उसी से नारायण सन्तुष्ट होता है। देव को भक्ति-प्रेम की ही चाह है। वह भाषा का आडम्बर नहीं देखता। भाविक का भावार्थ ही उसे प्रिय लगता है। इसलिये देव के लिये भक्तों की बात टालना कठिन हो जाता है। सारांश, भक्तिभाव से स्तवन करने से देव भक्तों के वश में हो जाता है। इसलिये भक्तिभाव से ही नमस्कार कर हरि चरणों में मत्था नवाना चाहिये। मुहूर्त, निमेष अथवा क्षणभर के लिये भी यदि मन हरिचरणों में सुखी हुआ तो उस सुख से अन्य कार्य सहज ही सम्पन्न हो जाते हैं। जिससे मेरा अनुसंधान टूट रहा हो, ऐसा कर्म छोड़ दें और जिससे मन स्वरूपनिष्ठ हो कर रहे, ऐसा ही समाधान रखें। जिससे भगवान को सप्रेम नमन करने से नित्य नया समाधान प्राप्त होता हो, उस नमन का क्या लक्षण है? तो साष्टांग दण्डवत् यही लक्षण है। हाथ से डण्डा छूट रहा हो फिर भी जो आगे-पीछे मुड़ कर नहीं देखता उसी प्रकार देहाभिमान त्याग कर अहेतुक होकर साष्टांग दण्डवत् करें। देह की ओर ध्यान देते हुए भी जो परमार्थ सिद्धि के लिये नमन करता है उसका लक्षण श्रीकृष्ण बताते हैं।

शिरोमत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम्।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात्॥ ४६॥

भक्त मेरे चरणों पर शीश रखकर दोनों पैर भक्तिभाव से पकड़ता है और कहता है कि संसारसागर के गर्भ में मृत्युरूपी मगर ने मुझे पकड़ रखा है; इसलिये हे जगजेठी, मुझे इस मगर की पकड़ से बचाइये। संसार भय से आक्रांत होने के कारण मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। मुझे जन्म-मरण की बाधा से मुक्त कीजिये। मैंने भक्तिभाव से तुम्हारे पूज्य चरण कस कर पकड़ रखे हैं। तुम्हारे जैसा स्वामी मेरी रक्षा में हो तो बेचारा मृत्यु मुझे कैसे मार सकता है? इसलिये भक्तिभाव से आपके चरणों पर दण्डवत कर रहा हूँ। हे कृपालु! कृपा करके मेरा उद्धार करें। वह साष्टांग नमस्कार और भयभीत होकर किया हुआ स्तवन सुनकर नारायण प्रसन्न हुआ ऐसी मन में भावना करें।

इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम्।
उद्वासयेच्चेदुद्वास्यंज्योतिर्ज्योतिषि तत् पुनः॥ ४७॥

तदुपरान्त मैंने दिया हुआ शेष प्रसाद प्रसन्नतापूर्वक धारण करें। जहाँ प्रसिद्ध अचल (स्थावर) मूर्ति हो, वहाँ विसर्जन विधि नहीं करनी चाहिये। किन्तु जहाँ चल (जंगम) प्रतिमामूर्ति हो, उसमें जिस आत्मज्योति से आवाहन किया हो, उस ज्योति को पुनः अपने हृदय में स्थापित करें। पुनः उसका अपनी आत्मज्योति से मिलन करायें। इस प्रकार विसर्जन तक की पूजा-विधि सुनकर उद्धव के मन में आया कि साधकों की पूज्य मूर्ति कौन-सी है? उद्धव का यह मनोगत जानकर उसके सम्बन्ध में ही देव बताते हैं।

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत्।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः॥ ४८॥

उद्धव! जिसे जो मूर्ति अच्छी लगी हो, वह उसके लिये पूज्य है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। विष्णु, ब्रह्मदेव, सूर्य, शिव, शक्ति अथवा गणपति इनमें से किसी भी मूर्ति में मैं सर्वात्मा समान हूँ। किसी भी प्रतिमा का पूजन करो लेकिन वह पूजा मेरे लिये समान है। भक्तों का प्रेम जिसमें अधिक रहता है, उसके अधीन मैं परमात्मा रहता हूँ। बच्चे के साथ खेलते समय जिस प्रकार माँ उसी की इच्छा के अनुसार खेलती है। उसी प्रकार भक्त प्रेम की लीला के अनुसार मैं भी क्रीड़ा करता हूँ। मैं इन सभी प्राणियों में तथा अवतारों में लिये गये देह में एक समान हूँ, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। उद्धव! मैं जहाँ न रहूँ ऐसा कोई स्थान ही नहीं लेकिन प्राणियों का भाग्य

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जरा देखो। वे ऐसे विश्वास से मेरा भजन नहीं करते। जो जहाँ भी मेरा भजन करने बैठता है, वहाँ मैं उसे वैसा ही दिखायी देता हूँ, यह रहस्य उपासना मार्ग प्रकट करने के बहाने सहज ही प्रकट किया। उपासनाकाण्ड का मर्म यही है कि समस्त प्राणियों में मैं देवाधिदेव हूँ। यह बात जिनकी समझ में नहीं आती उनके लिये यह मूर्ति प्रकार बताया। मेरी प्रतिमामूर्ति ही क्यों न हो, लेकिन वह भी चिदात्मरूप मैं ही हूँ। उद्धव! उसकी भावपूर्ण भक्ति करने से भी भक्तों का उद्धार होता है।

एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम्॥ ४९॥

सारांश, क्रियायोग का लक्षण वैदिक और तांत्रिक अर्थात् मिश्र है। उसका वेदशास्त्र में अत्यधिक विस्तार है। उसका थोड़ा सार-तत्व तुम्हें बताया। इस क्रियायोग के भजनमार्ग से भक्त यदि भोग और मोक्ष माँगे तो इन दोनों की सिद्धि श्रीहरि उन्हें तत्काल देता है। भक्त यदि निष्काम बुद्धि से अनन्य भक्ति करने लगे तो भोग मोक्षादि सम्पत्ति लेकर मैं श्रीपति उसके द्वार पर उसकी सदा प्रतीक्षा करता रहता हूँ।

मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद् दृढम्।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान्॥ ५०॥

मेरे भक्त अत्यन्त प्रेम से मेरी निर्व्यंग प्रतिमा तैयार कराकर सद्भाव से स्थापित करते हैं और मजबूत देवालय बनवाते हैं। वन, उपवन, उद्यान, पुष्पवाटिका आदि का आयोजन करते हैं और विधियुक्त नित्य पूजा कर उत्साहपूर्वक महापूजा करते हैं। उस देवता की यात्रा का आयोजन हो, बहुजन समाज एकत्र हो, वार्षिक पर्व में महापूजा आयोजित हो और वह अखण्ड चलती रहे, इसके लिये श्रीकृष्ण सहज उपाय बताते हैं।

पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम्।
क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्वा मत्सार्ष्टितामियात्॥ ५१॥

नित्यपूजा, महापूजा अथवा वाचिक पूर्व नियमित रूप से चलें इसके लिये राजा ग्रामवासियों को कुछ वार्षिक सहायता देकर निर्वाह की व्यवस्था करता है। 'क्षेत्र' अर्थात् बड़ा खेत, 'बाजार' उस बाजार में होने वाली आमदनी देता है, जो बिना बाजार के होता है, वह है 'ग्राम'। अब 'पुर' का अर्थ सुनो। 'बाजार' जहाँ लगता है वह है 'पुर' अर्थात् शहर। इस प्रकार जो लोग देवालय को अर्पण करते हैं, वे सर्वत्र मेरा ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। देवालय में मूर्ति की प्रतिष्ठा करने से अथवा पूजा करने से कर्त्ता को क्या फल मिलता है, इसके सम्बन्ध में श्रीकृष्ण बताते हैं।

प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात्॥ ५२॥

जो मूर्ति की प्रतिष्ठा करके रखता है, उसे सार्वभौम राज्य प्राप्त होता है, जो स्वयं देवालय बनवाता है, वह त्रिभुवन का स्वामी बनता है। जो पूजाविधान करता है वह सत्यलोक में जाता है। जो ये तीनों बातें करता है उसे मेरे जैसा ऐश्वर्य प्राप्त होता है। ये तीनों प्रकार के साधक सकाम होते हुए भी अपने इच्छित लोक में जाते हैं। लेकिन जो निष्काम भक्त होते हैं, उन्हें क्या प्राप्त होता है, उनका लक्षण श्रीकृष्ण अत्यन्त आदर से बता रहे हैं।

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत् माम्॥ ५३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मुख्यरूप से मुझे अंत:करण में रखकर जो मेरा निष्काम भजन करते हैं, जो निष्कामता में अनन्य होते हैं, वे पुरुष मैं बन जाते हैं। विद्यमान स्वरूप में रहते हुए भी वास्तव में मेरा ही स्वरूप रहते हैं। हम दोनों में कोई अन्तर नहीं होता। निष्काम भजन करने के कारण वह भक्त मुझ जैसा हो जाता है। 'समान' भी क्यों कहा जाय, उसमें और मुझमें कोई भेद नहीं रहता। इस प्रकार वह भक्त मुझमें और मैं भक्त के अन्दर-बाहर मिलकर विचरते रहते हैं। गुड़ जिस प्रकार माधुरी से अभिन्न रहता है या जिस प्रकार लहरें समुद्र से अभिन्न रहती हैं, उसी प्रकार वह और मैं अभिन्न रूप में रहते हैं। इस प्रकार जो निष्काम भक्ति करता है वह चराचर में धन्य है। अब जो देवता को और ब्राह्मण को दी हुई वृत्ति (खेत इत्यादि) हरा करता है, वह अघोर नरक में जाता है। उसके बारे में भी सुनो।

यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः।
वृत्ति स जायते विड्भुग् वर्षाणामयुतायुतम्॥ ५४॥

कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत्फलम्॥ ५५॥

जो देवालय की प्राप्ति का हरण करता है, ब्राह्मण की वृत्ति का अपहार करता है, वह करोड़ों वर्ष तक सुअर की योनी में जन्म लेकर विष्ठा खाता रहता है। उसी प्रकार ब्राह्मण की वृत्ति हरण करने के काम में जो सहायता करता है, अथवा उसका जो अनुमोदन करता है, वे तीनों अघोर नरक में जाते हैं। उद्धव! वे जन्म-मरण के भँवर में फँस कर वही फल मर-मर कर बार-बार भोगते रहते हैं। मेरी प्राप्ति की यदि मन में इच्छा हो तो मन को अकर्म का स्पर्श नहीं होने देना चाहिये। अधर्म कर्म की बात नहीं करनी चाहिये। किसी के दोष नहीं देखने चाहिये, किसी को चोट पहुँचे ऐसी बातें नहीं करनी चाहिये और प्राणिमात्र का द्वेष कभी नहीं करना चाहिये। दूसरे की निन्दा कभी नहीं सुननी चाहिये, दूसरे के दोष नहीं कहने चाहिये, अधर्म के भाषण में कभी भी किसी से नहीं मिलना चाहिये। त्रिभुवन के सारे पातक जिसे अपने माथे पर लेने हों, वह अपने मुख से साधुओं की निन्दा कर सकता है। दु:खों की सारी राशियाँ अपने पास आ जायें ऐसी जिसे इच्छा हो वह अवश्य ब्रह्मद्वेष करे। सारा समय व्यर्थ ही बीत जाय, ऐसी जिसे इच्छा हो वह रात-दिन चौपड़ का खेल रचाये। हृदय में रहने वाला, मैं आत्माराम, स्वत: सिद्ध परब्रह्म हूँ उसके दुर्गम होने के लिये ही संसार को अधर्म कर्म लगा हुआ है। वह कर्माकर्म नष्ट करना अत्यन्त आसान है। पुरुषोत्तम, अच्युत, रामराम का अखण्ड नामस्मरण करते रहना चाहिये। जहाँ हरिनाम का अखण्डघोष चलता है, वहाँ कर्माकर्म की राशियाँ पूरी तरह जल जाती हैं। उनकी जरा-सी राख भी शेष नहीं रह जाती। हरि का नाम इतना पवित्र है। हरि का नाम सारे पापों का विनाश करता है, यह बात सारे शास्त्र बता रहे हैं। ऐसा होते हुए भी जो इसमें सन्देह करता हो उसे वज्रपापी समझना चाहिये। श्रीमहाभागवत् ऐसे वज्रपापों के पर्वत भी भस्म कर देता है। जनार्दन की कृपा से वह मुझे अनायास प्राप्त हो गया है। इस भागवत का अर्थ यही है कि हरि का नाम अत्यन्त समर्थ है। इस सम्बन्ध में हरि ने स्वमुख से पराकाष्ठा का वर्णन किया है। यहाँ भी जो विकल्प करे उसे संसार में अत्यन्त भाग्यहीन समझना चाहिये। विकल्प के कारण वह महादोषों के दु:ख सागर में डूबा ऐसा समझना चाहिये। संकल्प-विकल्प के ही कारण लोगों के दृढ़बन्धन को काटने के लिये एक जनार्दन का नाम ही समर्थ है। कैसा भी भवभय क्यों न हो लेकिन जनार्दन का नाम उसका विनाश कर देता है। वह नाम जो अंतर-प्रेम से स्मरण करता है, वह स्वयं ही पुरुषोत्तम बन जाता है। स्वयं ही पूर्ण ब्रह्म कैसे बनें इस विषय का सुमधुर निरूपण अट्ठाइसवें अध्याय में श्रीकृष्ण उद्धव को सुनायेंगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वह कथा कान में पहुँचते ही जीव को स्वयंभू सुख प्राप्त होगा और भीतर-बाहर वह भर जाएगा। जिस कथा की माधुरी प्राण जाने पर भी नहीं छूट सकेगी, ऐसा रसमय निरूपण श्रीकृष्ण उद्धव को सुनायेंगे। उसे सुनते ही ब्रह्मभाव उत्पन्न होगा। यह अट्ठाइसवाँ अध्याय ब्रह्मसुख की संचित निधि है, यह ध्यान रखो। इसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म बात श्रीकृष्ण उद्धव को स्पष्ट करके बतायेंगे। यह कृष्ण-उद्धव का आत्मज्ञान है। एकनाथ जनार्दन की शरण में जाकर बिनती करता है कि आपकी पूर्ण कृपा से श्रोतागण इधर मेरी ओर ध्यान दें। श्रोताओं के ध्यान देने से ग्रन्थ के निरूपण का उल्हास बढ़ता है। इसलिये एकनाथ जनार्दन की शरण जाकर उनके चरणों का वन्दन कर रहा है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे श्रीकृष्णोद्धव संवादे एकाकार टीकायां
प्रकृति पुरुष सांख्य योग नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अट्ठाईसवाँ अध्याय

हे परम सद्गुरु! तुम्हारी जय हो। हे सद्गुरु पुरुषोत्तम! तुम्हारी जय हो। हे सद्गुरु परब्रह्म! तुम्हारी जय हो। ब्रह्मा को 'ब्रह्म' यह नाम तुम्हारे ही कारण प्राप्त हुआ है। हे चितैक्य स्वरूपी सद्गुरु। तुम्हारी जय हो। इन साकार और निराकार पदार्थों में चिद्रूप से तुम ही भरे हुए हो। हे सद्गुरु सत्क्षेत्र! तुम्हारी जय हो। सद्गुरु सत्पात्र! तुम्हारी जय हो। हे स्वानंदपूर्ण सद्गुरु! तुम्हारी जय हो। हे स्वानंदघन सद्गुरु! तुम्हारी जय हो। आनन्द को मधुरता तुम्हारी ही कारण आयी है। हे देव-अग्रणी सद्गुरु। तुम्हारी जय हो। हे देवशिरोमणि! तुम्हारी जय हो। हे देवश्रेष्ठ गुरुराया! सारे देवता तुम्हारे चरणों को प्रणाम करते हैं। हे जीवादिजीव तुम्हारी जय हो। हे शिवादिशिव! तुम्हारी जय हो। हे देवादिदेव तुम्हारी जय हो। हे अभिनव गुरुराया! तुम्हारी जय हो। हे सद्गुरु सुखसम्पन्न! तुम्हारी जय हो। हे सद्गुरु सुखनिधान तुम्हारी जय हो। हे सुखैकघना सद्गुरु! तुम्हारी जय हो। सुख को सुख भी तुम्हारे ही कारण प्राप्त हुआ है। तुम्हारे ही कारण आनन्द को निजानंद प्राप्त होता है; तुम्हारे ही कारण बोध को निजबोध का लाभ होता है; तुम्हारे ही कारण ब्रह्म को ब्रह्मत्व प्राप्त होता है। तुम्हारे जैसे समर्थ एक तुम ही हो। ऐसे श्रीगुरु तुम अनंत हो। तुम्हारे स्वरूप का अंत नहीं है। तुम कृपालु होकर अपने भक्तों को निजात्म स्वरूप से ज्ञान प्रदान करते हो। अपने निजरूप का बोध करा कर देव-भक्त का भाव नहीं रहने देते हो। उस पर पुनः पूर्ण अद्वैतभाव से आत्मभजन कराते हो। गंगा समुद्र में मिलने पर भी उस पर चमकती रहती है, उसी प्रकार भक्त तुम्हारे साथ मिल जाने पर भी तुम्हारे ही कारण तुम्हारा भजन करते हैं। अद्वैतभाव से तुम्हारी भक्ति करने से तुम्हें परमसंतोष होता है और प्रसन्न होने पर तुम शिष्य के हाथों आत्मसम्पत्ति अर्पण करते हो। शिष्य को निजात्मस्वरूप का दान देकर उसे महान बनाते हो, यह तुम्हारा अद्भुत चमत्कार है। यह अतर्क्य विचार अंतहीन है। जो वेदशास्त्रों की समझ में नहीं आता; जिसके लिये वेद रातदिन विवाद कर रहे हैं वह आत्मज्ञान तुम तच्छिष्य को एक क्षण में करा देते हो। करोड़ों वेद एवं वेदान्त का पठन करने पर भी तुम्हारे आत्मोपदेश की शैली किसी को नहीं आ सकती। अदृष्ट वस्तु ध्यान में आना सम्भव नहीं है। अनेक लोग जानने का दम भरते हैं। अनेक प्रकार की युक्तियाँ करते हैं लेकिन उनकी बकवास तोता रटंत जैसी होती है। इसलिये तुम्हारी बोध कराने वाली शक्ति सबकी समझ में आने लायक नहीं है। तुम्हारी कृपा युक्ति का लाभ होने पर ही दुर्गम सरल हो जाता है। श्रीभागवत अगम्य है, तिस पर एकादश स्कंध का अर्थ अत्यन्त गहन है लेकिन तुम सद्गुरु और कृपालु होने के कारण तुमने मुझसे उसका अर्थ प्राकृत में करवाया। माँ जिस प्रकार दही को मथ कर उसका मक्खन निकाल कर बालक को देती है, उसी प्रकार जनार्दन ने यहाँ किया है। वेदशास्त्रों का मंथन कर व्यासजी ने भागवत निकाला; उस भागवत का मतितार्थ यह ग्यारहवाँ स्कंध है, ऐसा समझो। उस एकादश स्कंध का माधुर्य स्वयं मेरी समझ में नहीं आया इसलिये जनार्दन ने उसका मंथन कर उसका सारतत्त्व मुझे निकाल कर दिया। उसे सहज ही मुख में डाला तो उस एकादश की माधुरी मेरी समझ में आयी। उसी माधुर्य की चाह से यह टीका तैयार हो रही है। इसलिये एकादश स्कंध पर की यह टीका अकेले एक एकनाथ से नहीं बल्कि एक से एक मिलकर बाहर आ रही है। एक पीछे और एक आगे यही एकादश का अर्थात् ग्यारह का स्वरूप है। जनार्दन ने अपना एकपन एका (एकनाथ) में (अद्वैत में) दृढ़ किया। वही एकादश स्कंध के अर्थ में आया है। एका (एकनाथ) में एकत्व घुलमिल गया। भोजन में जिस प्रकार मिष्ठान्न का ग्रास होता है, उसी प्रकार भागवत में यह एकादश स्कंध है। उसमें भी अट्ठाईसवाँ अध्याय अत्यन्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सुरस और मधुर है। सारे अवयवों में जिस प्रकार मस्तक श्रेष्ठ है, उसी प्रकार यह अट्ठाईसवाँ अध्याय श्रेष्ठ है। उसमें जो भी निरूपण है वह सब शुद्ध आत्मानंद ही है। यह अट्ठाईसवाँ अध्याय मानों ब्रह्मसुख का खजाना ही है। मजे की बात है कि श्रीकृष्ण उद्धव के पूछे बिना ही सब कुछ बता रहे हैं। उद्धव के प्रश्न किये बिना ही श्रीकृष्ण क्यों बता रहे हैं, इसका कारण ध्यानपूर्वक सुनें। कृष्ण का भाषण सुनकर उद्धव को आत्मज्ञान हुआ और यह ज्ञानसम्पन्न हो गया। इससे अत्यधिक ज्ञातृत्व हो जाने के कारण ज्ञानाभिमान होने की सम्भावना हुई। सारा संसार मूर्ख है और एक मैं ज्ञाता हूँ, ऐसा जो अहंकार बढ़ता रहता है वही गुणदोषों की सर्वत्र चर्चा कराता है और जहाँ गुणदोषों का दर्शन होता है,वहाँ ज्ञान का लोप होते-होते वह निःशेष हो जाता है। साधकों के लिये इतना अधिक ज्ञानाभिमान बाधक है। अभिमान के कारण जहाँ सदाशिव को भी जीवदशा प्राप्त हुई वहाँ मनुष्य की क्या गति है? अहंता से जीव को मुक्ति कैसे मिलेगी? ईश्वर भी यदि गुणदोष देखने लगे तो उसका भी नाश होगा। इस प्रकार गुणदोषों का दर्शन साधक के लिये पूरी तरह घातक है इसलिये प्रश्न किये बिना ही श्रीकृष्ण उसका उपाय बताते हैं। बालक को उसका हित समझ में नहीं आता अतः उसकी माँ ही निष्ठापूर्वक उसका ख्याल रखती है। उसी प्रकार उद्धव के सच्चे हित की चिन्ता श्रीकृष्ण को थी। ज्ञानाभिमान कितना बाधक होता है, यह साधक की समझ में नहीं आता। इसलिये प्रश्न किये बिना ही श्रीकृष्ण उसका निराकरण बताते हैं। उद्धव का जन्म यादववंश में हुआ था और यादव तो ब्रह्मशाप से मरने वाले थे। तिस पर उद्धव को बचाने के लिये श्रीकृष्ण उसे सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान बता रहा था। जहाँ देहातीत ब्रह्मज्ञान रहता है, वहाँ शाप का बन्धन बाधक नहीं होता। यह जानकर ही श्रीकृष्ण ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने लगे। शक्कर पर बैठी मक्खी की तरह कृष्ण की प्रतिमा पर उद्धव की प्रीति जड़ गयी थी अर्थात् उसका वह भाव एकदेशी हो गया था। कृष्ण से दूर जाने पर उद्धव सचमुच प्राण ही त्याग देगा इसलिये उसकी एकदेशीयता समाप्त करने के लिये श्रीकृष्ण ब्रह्मसमता का पाठ दे रहा हे। एकदेशी भाव श्रीकृष्ण को अच्छा नहीं लगा, इसलिये देवाधिदेव उसे ब्रह्मसमन्वय अर्थात् ब्रह्म की व्यापकता के बारे में बताते हैं। उद्धव यदि कृष्ण के पास रह गया तो ब्रह्मशाप से उसकी होली हो जायगी इसलिये श्रीकृष्ण उसे ब्रह्मसुख की समृद्धि में ले जाना चाहते हैं। उद्धव श्रीकृष्ण को छोड़कर जाने पर भी उसे वियोग की बाधा न हो ऐसा सर्वदेशी व्यापकता का उपदेश उद्धव श्रीकृष्ण को दे रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च॥ १॥

निःशब्द का वह स्वच्छ शब्द; जिसके श्वासोच्छ्वास से वेदों का निर्माण हुआ, वह श्रीकृष्ण उद्धव के हित में विशुद्ध ज्ञान बताने लगा। संसार में मुख्य रूप से तीन गुण हैं। उन गुणों के कारण लोग भी तीन प्रकार के हो गये हैं। उनका शान्त,दारुण और मिश्र इस प्रकार का कर्म है। उस कर्म की निन्दा या स्तुति हमें कभी नहीं करनी चाहिये क्योंकि एक के भलेपन का वर्णन करने से, उन्हीं शब्दों से दूसरे की निन्दा हो जाती है। पाँच लोगों में से यदि हम एक की ही स्तुति करने लगें तो शेष चार की निन्दा करने जैसी बात हो जाती है। दाहिना और बायाँ ये दो भाग होने पर भी उनसे एक ही अंग का बोध होता है; उसी प्रकार प्रकृतिपुरुषात्मक यह संसार चिद्रूप से एक ही रूप है। संसार परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप है। इसलिये निन्दा अथवा स्तुति किसी भी प्राणी की नहीं करनी चाहिये। सभी प्राणियों में आत्माराम है, इसलिये प्राण जाने पर भी निन्दा या स्तुति नहीं करें। उद्धव! निन्दा स्तुति की बात

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सदा के लिये त्याग दो, तभी तुम्हें परमार्थ साध्य होगा और निजबोध से निजस्वार्थ प्राप्त होगा। उद्धव! समस्त प्राणिमात्र में भगद्भाव रखना यही ब्रह्मस्वरूप होने का मार्ग है। इसमें कोई धोखा नहीं है। वह भाव अब सुनो। जहाँ से खतरे की सम्भावना हो, यदि वहीं भगवद्भावना दृढ़ता से बढ़ायी जाय, तो जो खतरा है वहीं उपाय हो जायगा और विद्या को स्थान नहीं बचेगा। इस स्थिति को छोड़ जो 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसा अहंकार करेगा और निन्दा स्तुति का आश्रय लेगा, वह अनर्थ में पड़ेगा।

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः॥ २॥

मैं ही एक सर्वज्ञ हूँ, ऐसा ज्ञानाभिमान कर जो संसार के गुणदोष देखता रहता है; और मुख्यरूप से ब्राह्मण की निन्दा करता है, दूसरे के स्वाभाविक कर्म की निन्दा करना अधर्म है। मारुति इतना बड़ा ज्ञाता था लेकिन वह भी वानरचेष्टा से नहीं बच पाया। नारद भी बहुत बड़ा ज्ञानसम्पन्न और बड़ों के लिये भी पूज्य, लेकिन वह कलह कराने में उद्भट था। इसलिये स्वभावधर्म अनिवार्य है, ऐसा मानना चाहिये। गरुड़ देवता का वाहन, सदा हाथ जोड़कर भगवान के सामने खड़ा रहने वाला; लेकिन वह भी सर्प खाता है। ऐसा यह स्वाभाविक कर्म है। विकार करने पर यह संसार त्रिगुणात्मक होने के कारण गुणों के अनुसार कर्मों का आचरण होता है। इसलिये उसमें गुणदोष देखने पर देखने वाला ही दोषी होता है। संसार में एकात्मता ही देखी जाय यही सच्ची ब्रह्मस्थिति है। इसे देखना छोड़ जो गुणदोष देखता रहता है, वह आत्मघात की ही ओर प्रवृत्त होता है। सहज ही किसी के मिलने पर वह जानबूझकर उसके गुणदोष देखने लगता है और इस प्रकार ज्ञानाभिमान निन्दा और स्तुति उत्पन्न करता है। अभिमान का स्वभाव ही ऐसा है कि वह ज्ञाता के पास अधिक उत्तेजित होता है; और वही गुणदोषों को दिखाकर निन्दा स्तुति उत्पन्न करता है। अपने स्वभाव के साथ जिसका मेल खाता है, उसकी वह थोड़ी तारीफ करता है और जिसके गुण उसे अच्छे नहीं लगते उसकी पर्याप्त निन्दा करता है। निन्दा और स्तुति जहाँ उत्पन्न होती है, वहाँ भेद क्षुब्ध हो उठता है और वह परमार्थ को चकनाचूर कर देता है। इस प्रकार उसका बहुत बड़ा अनर्थ होता है। निंदा के पीछे अनर्थ खड़ा ही रहता है, उसमें उधार की बात नहीं होती। निजस्वार्थ का घात करने वाला वह सीधे शरीर पर गिर पड़ता है। भेद का अर्थ दूजापन यह बात ही यहाँ मिथ्या है। दृढ़ परमार्थ साधने के लिये भेद के मिथ्यत्व के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण स्वप्न का दृष्टांत सुनाते हैं।

तैजसे निद्रयाऽऽपन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक् पुमान्॥ ३॥

रजोगुण से इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है। तमोगुण से तन्मात्रा विषय उत्पन्न हुए हैं। वे इन्द्रिय जागृति में विषय सेवन कर निद्रा में निश्चल होकर रहते हैं। जागृति अवस्था का अभिमानी 'विश्व' और जागृति इन दोनों का जब अस्त होता है, उस समय स्वप्न में 'तैजस' अभिमानी 'मिथ्या' प्रपंच की सृष्टि करता है। उस समय स्थूल देह निश्चल रहता है; स्वप्न में केवल मन का विचरण होता है और वह भवजाल उत्पन्न कर त्रैलोक्य की सृष्टि करता है। उस स्वप्न की सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय हम स्वयं देखते रहते हैं, फिर भी वह जन्म-मरण (उत्पत्ति और विनाश) मिथ्या ही है। उसी प्रकार अविद्या भी एक प्रदीर्घ स्वप्न ही है। वह केवल अभिमान को बढ़ाता है। उसका जन्म-मरण मिथ्या ही है और तुम पूर्णत्व से परिपूर्ण ब्रह्म ही हो। तुम्हारे निजस्वरूप में दूजेपन की गन्ध भी नहीं है। इसलिये उसका शुभाशुभ तुम्हें बिलकुल स्पर्श नहीं करता।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यायतमेव च॥ ४॥

जिसने जन्म ही नहीं लिया, वह काला है या गोरा है यह कैसा कहा जाय? बिना ग्रहण के खग्रास नहीं दिखाई देता। यदि ऊसर भूमि पर मृगजल का आभास हो तो वह गहरा है या छिछला है, मीठा या खारा है, यह बताने में विचार कुंठित होगा। उसी प्रकार जब प्रपंच का भान ही मिथ्या है, तब उसमें के गुण और दोष खोजने वाले ज्ञाता अज्ञान में डूबे ऐसा समझना चाहिये। यदि अमावस्या की रात्रि को अँधेरे का वजन करने अन्धे आये तो वे दोनों हाथ से तौलें तो भी वजन एक रत्ती भी नहीं होगा। उसी प्रकार प्रपंच मिथ्या होने के कारण उसमें कान का सुनना, या आँखों से देखना, जीभ से चखना अथवा शरीर से स्पर्श करना, उसी प्रकार हाथ से लेना-देना, पैरों का चलना, वाचा का बोलना अथवा मन से कल्पना करना यह सब मिथ्या है। उसी प्रकार अहंकार का जोश, चित्त का चिंतन, बुद्धि का विवेक-विचार यह विचार समूल मिथ्या है। दीवार पर बने चित्र का पानी और अग्नि, अंत्यज और ब्राह्मण, बाघ और हिरन यह दिखाई देने पर भी दीवार पर दिखाई देने वाला आभास ही है। उसी प्रकार यह द्वैतमय प्रपंच दिखाई देते हुए भी उसमें अद्वैत वस्तु का ही भास होता है। उसमें शुभ-अशुभ कैसा? सर्वत्र ब्रह्म ही परिपूर्ण है। केले के खोल खोलते समय प्रत्येक परदा रीता दिखाई देता है, उसी प्रकार देहादि प्रपंच का विचार करने पर वह भी सचमुच मायिक अर्थात् मिथ्या है। उस मिथ्या प्रपंच में शुभाशुभ भी मिथ्या है। परब्रह्म जो सत्य है, वह अपने स्थान पर स्थिर है। उसमें रत्तीभर भी शुभाशुभ नहीं है। जो इसे शुभाशुभ कहता है, उसकी कल्पना ही उसके सामने खड़ी रहती है और वह अपनी ही कल्पना के महाभय से मिथ्या जन्म-मरण भोगता रहता है।

छायाप्रत्याह्ययाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः।
एवं देहादयो भावायच्छन्त्या मृत्युतो भयम्॥ ५॥

वास्तव में पानी में प्रतिबिम्ब रहता ही नहीं है, जो देखता है वही उसमें प्रतिबिम्बित रहता है, उसी प्रकार प्रपंच का स्वरूप भी मिथ्या है। वह हमारी कल्पना के कारण ही भासित होता है। उस प्रतिबिम्ब को आँखों से देखकर, वह मैं ही हूँ कह कर कपाल पर टीका लगाये उसी प्रकार देहाभिमान में फँस कर जीव का सर फूटता है। अपना अपने ही शब्दों की प्रतिध्वनि के प्रत्युत्तर आते हैं, जो मिथ्या होते हैं। लेकिन कान को वे शब्द सच्चे ही लगते हैं। रस्सी का मूल स्वरूप वैसा ही रहता है किन्तु भ्रमवश बड़े सर्प का आभास होता है। वह रहता मिथ्या ही है, फिर भी भय से शरीर काँपने लगता है और अफरातफरी कर देता है। इस प्रकार देहादिक मिथ्या होते हुए भी देहाभिमान के कारण जीव को जन्म-मरण के अनेक भँवरों में उलझा कर आकल्प दुःख भोगने को बाध्य करता है। आत्मा से ही देहादि भेद उत्पन्न हुए हैं ऐसा वेद कहते हैं; और वेद तुम्हारा ही रूप है यह प्रसिद्ध है, अतः वेदवाद मिथ्या कैसे होगा? उद्धव को वेदवाद की शंका हुई। श्रीकृष्ण ने उसे पूरी तरह जान लिया इसलिये वह उत्तर दे रहा है।

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥ ६॥
तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः।
निरूपितेयं त्रिविधा निर्मूला भातिरात्मनि॥ ७॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रपंच प्रत्यक्ष दिखायी देता है, जिससे मन में दुविधा हो जाती है। इसलिये मेरा वेदवचन प्रपंच आत्मरूप से अभिन्न है, ऐसा उपदेश करता है। ईख बीज में ही विद्यमान रहता है और वही ऊपर एक कांड़ से दूसरे कांड़ में चढ़ता है, उसी प्रकार प्रपंच भी ब्रह्मा के कारण ही तद्रूप बढ़ता है। जिस प्रकार सुवर्ण के अलंकार बनाने पर वे सुवर्ण के ही रूप में रहते हैं, उन्हें तोड़ने पर भी वे सुवर्ण के रूप में ही रहते हैं, तिल की पुतली बनाने पर भी वह तिल के अवयवों से शोभा प्रदान करती है और तोड़ने पर भी वह तिल के ही रूप में रहती है, उसी प्रकार प्रपंच को भी उत्पत्ति, स्थिति और लय प्राप्त होने पर भी आदि, मध्य और अन्त में यह परब्रह्म से परिपूर्ण रहता है। यहाँ जिस चराचर का आभास होता है, वह सचमुच मैं आत्मा ही हूँ। मेरे बिना इस संसार में अणुमात्र का भी स्थान नहीं है क्या? इस प्रकार सृज्य और सृजित पाल्य और प्रतिपालक, संहार और संहारकर्त्ता एकात्मरूप से मैं भगवंत ही हूँ। यहाँ उत्पत्ति, स्थिति और लय इन तीन विविध स्वरूपों से प्रपंच भले ही भिन्न दिखायी देता हो लेकिन इन सबका आधार मैं ही हूँ। मेरे सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार मृगजल के उदक से सूर्य कभी नहीं भींगता, उसी प्रकार मुझ पर प्रपंच का आभास होता है, लेकिन मैं प्रपंच में नहीं रहता। त्रिविध प्रपंचों का जाल मुझ पर अवश्य ही दिखायी देता है, लेकिन वह मिथ्या है। जिस प्रकार आकाश सुन्दर नीलवर्ण का दिखाई देता है, लेकिन वहाँ अणुमात्र के लिये भी नील वर्ण नहीं रहता। संसार जो आँखों को साक्षात् दिखाई देता है, उसे तुम समूल मिथ्या कैसे कहते हो? यदि मन में ऐसी शंका आ रही हो तो उसका प्रकार भी सुनो।

इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम्॥ ७॥
एतद् विद्वान् मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम्।
न निन्दति न च स्तौति लोके चरित सूर्यवत्॥ ८॥

अध्यस्थ, अधिदैव तथा अधिभूत यह तीन प्रकार का संसार माया द्वारा निर्मित है। न होते हुए भी वह मुझ में भासित होता है। लेकिन वह निश्चित रूप से त्रिगुणात्मक है, यह जान लो। उद्धव! यह संसार मिथ्या है, इसलिये शायद तुम उसका त्याग करोगे। लेकिन मेरे इसी भाषण से साधु-संतों को ज्ञान और विज्ञान प्राप्त हुआ है। प्रपंच का आभास मिथ्या है यह ज्ञान का मुख्य ज्ञान है। इस ज्ञान से जो सम्पन्न होता है वही समस्त प्राणियों के प्रति समान भाव रखता है। इसीलिये वह प्राणिमात्र के गुण-अवगुण अथवा निन्दा स्तुति की बात नहीं करता। सूर्य की ही तरह सबसे समान भाव से व्यवहार करता है। बद्रिकाश्रम उत्तर दिशा में है और सेतुबंध-रामेश्वर दक्षिण में है, फिर भी सूर्य सबके सामने ही है। वह उनसे कभी विन्मुख नहीं होता। पूर्व के लोगों को सूर्य सन्मुख और पश्चिम के लोगों को विन्मुख कभी नहीं होता। उसी प्रकार मैं सर्वत्र सबके सन्मुख ही हूँ। किसी से विन्मुख नहीं होता। अपने सामर्थ्य से अन्धकार को दूर कर प्राणिमात्र से सूर्य स्वयं होकर मिलता है, उसी प्रकार संसार के गुणदोषों के एक ओर रखकर साधुगण संचार में विचरण करते रहते हैं। मैंने बताया हुआ यह ज्ञान का लक्षण ही सिद्धों की पूर्णता है ताकि मुमुक्षु इस अनुसंधान को सामने रखकर सावधान होकर यह स्थिति साध सकें। जिससे यह निजज्ञान प्राप्त हो ऐसे विषयों का साधन श्रीकृष्ण उद्धव को अपने मुख से बता रहे हैं।

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा।
आद्यान्तवदसज्ज्ञात्वा निस्सङ्गो विचरेदिह॥ ९॥

जो उत्पन्न होकर नष्ट होता है, वह सब मिथ्या है यह जान लें और उस पर आसक्ति त्याग कर उदास और विरक्त होकर रहें। वंध्या के पुत्र का नामकरण कोई आनन्दपूर्वक नहीं करता; उसी प्रकार नाशवान देह के बढ़ने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

से मूर्खों का ही मन आनन्दित होता है। उत्पत्ति और विनाश का लक्षण भगवान उदाहरण देकर बताते हैं। प्राणिमात्र का जन्ममरण हम नित्य आपकी आँखों से देखते हैं। अनुमान करके देखें तो भी गेरू पर्वत, पृथ्वी आदि जो भी साकार दिखाई देता है वह सब प्रलय के अंत में नष्ट होने ही वाला है। वेदोक्ति भी यही बताती है कि अष्टधा पृथ्वी भी नाशवान है। जीवभावना भी अन्त में विनष्ट होती है, ऐसा श्रुति भी जोर-शोर से कहती है। साथ ही जो भी जड़ और विकारी है वह सब नष्ट होता है यह अनुभव हमें भी है। इससे यह भी अपने आप ही मालूम होता है कि संसार 'नश्वर' ही है। पिता को मरा हुआ देखते हैं और पुत्र-पौत्र उनके सारे संस्कार करते हैं। फिर भी अपनी मृत्यु की चिन्ता नहीं करते। देह की आसक्ति के कारण ऐसा भ्रम हो जाता है। पुत्र पितरों को पिण्डदान देते हैं और उन्हें सद्गति प्राप्त हो, ऐसा कामना करते हैं किन्तु अपनी गति का विचार नहीं करते। देह के लोभ के कारण नश्वर की इतनी आसक्ति रहती है। आत्मा केवल प्रकाशमय है और प्रपंच जड़, मूढ़ और अज्ञान है। यह सुनकर उद्धव भगवान से प्रश्न करता है।

उद्धव उवाच

नैवात्मानो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टदृश्ययोः।
आनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते॥ १०॥

आत्मा नित्यमुक्त है तथा ज्ञानस्वरूप है। उसे संसार का बन्धन आवश्यक नहीं है। देह जड़, मूढ़ और अज्ञान है। उसे भी संसार की आवश्यकता नहीं होती। अतः हे श्रीकृष्ण! फिर संसार का बन्धन किसे बाधक होता है? तुम कहते हो संसार है ही नहीं, लेकिन वह तो प्रत्यक्ष दिखायी देता है। आत्मा का विचार करने पर संसार बन्धन को कोई स्थान ही नहीं है, इसी अर्थ का निरूपण उद्धव स्वयं ही करते हैं।

आत्मव्यायोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः।
अग्निवद् दारुवदचिद् देहः कस्येह संसृतिः॥ ११॥

आत्मा नित्यमुक्त होते हुए चित्स्वरूप है। उसे गुण अथवा निर्गुण बिलकुल स्पर्श नहीं करते। उसके पास कर्माकर्म अथवा पाप पुण्य के लिये कोई स्थान नहीं है। परादि वाणी से उसका उच्चार नहीं होता, इसलिये उसे 'परात्पर' कहते हैं। प्रकृति गुणों से उस पर विकार का प्रभाव नहीं होता क्योंकि परमात्मा प्रकृति से परे है। जिसके प्रकाश की दीप्ति से सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशित होते हैं, जिसके प्रकाश से त्रिभुवन प्रकाशित होता है, ऐसा वह परमात्मा तेजोमूर्ति है। ऐसे आत्मा को संसार बन्धन नहीं हो सकता। यदि मृगजल के कुण्ड में सूर्य डूबे तभी आत्मा को बन्धन होगा। जुगनू के प्रकाश से यदि सूर्य जले, बगुले के भय से यदि काल पलायित हो, चींटी के पर से यदि सारा आकाश उड़ जाय, वायु यदि लड़खड़ा कर कुएँ में गिर पड़े, गड्ढे के पानी में यदि मेरू डूब जाय तो भी हे गोविन्द! आत्मा को संसार बन्धन कभी नहीं होगा। उसी प्रकार देह के लिये संसार बन्धन है ऐसा कोई मूर्ख भी नहीं कहेगा क्योंकि देह जड़, मूढ़ और अज्ञान होने के कारण उसे संसार बन्धन की बाधा कभी नहीं होगी। हाँ, यदि पत्थर के पेट में दर्द होने लगे, सूखी लकड़ी भूख के मारे तड़पना शुरू करे तो अवश्य ही देह को संसारबन्धन होगा। पर्वत अगर हिलने लगे, मृत्तिका यदि स्नान करने के लिये व्याकुल हो जाय, कोयले से यदि अन्धकार काला हो जाय, तो संसारबन्धन की बाधा देह को होगी। अब आप यह कहेंगे कि देह और आत्मा की संगति से संसार बन्धन होता है, तो विचार करने से मालूम होता है कि बात ऐसी नहीं है। क्यों नहीं है, वह भी सुनो कृष्ण! आत्मा यह स्वयंप्रकाश बड़ा अग्नि ही है और देह जड़ और मूढ़ होने के कारण काष्ठ की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जगह है। वह यदि आत्मा से मिलता है तो आत्मा उसे तत्काल जला कर भस्म कर देगा। कर्पूर यदि अग्नि में एकरूप आठों पहर रह सके तो देह और आत्मा एकरूप होकर देह भी संसार बन्धन में रह सकता था। काष्ठ में अग्नि रहता है लेकिन वह काष्ठ बनकर नहीं रहता। उसका घर्षण कर मूलतेज से बाहर निकालने पर वह लकड़ी को जलाकर भस्म कर देता है। उसी प्रकार आत्मा देह में रहता है लेकिन वह देहरूप नहीं रहता। वह चिद्रूप से ज्ञानस्वरूप से देह का प्रकाशक है, उसे संसार बन्धन की बाधा नहीं होती। आप कहेंगे कि यदि आत्मा की संगति से देह जल जायेंगे, तो फिर प्राणी जीवित कैसे रहते हैं? वह भी सुनो। रूपहले परदे पर दीपक के प्रकाश की सहायता से कागज की पुतलियाँ नाचती रहती हैं लेकिन यदि उन्हें दीपक से लगा दिया जाय तो वह उन्हें जला देगा। उसी प्रकार आत्मा की सत्ता शक्ति से प्राणि अपने प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार करते रहते हैं; लेकिन वही आत्मा स्वयंभू स्वस्वरूप में स्थिर हो जाने पर आत्मा का अनुसंधान करने पर संसार का भान नहीं रहता फिर भिन्न-भिन्न आकार के बद्ध जीव कैसे रहेंगे? इस प्रकार देखने पर संसार बन्धन मुझे मिथ्या ही लगता है। संसार बन्धन के लिये निश्चित स्थान कोई नहीं है। आत्मा मैं और देह दोनों में कोई भवबंध नहीं है, इसलिये वह मिथ्या है, उसे कहीं कोई ठिकाना नहीं है। श्रीकृष्ण! तुम नाराज न हो। मेरा निश्चय है कि संसारबन्धन सचमुच ही मिथ्या है। उद्धव का यह भाषण सुनकर श्रीकृष्ण के आनन्द में उफान आ गया। उन्होंने मन ही मन कहा, मेरा उद्धव अब ज्ञानी हो गया, उसे निजात्म की पहचान हो गयी। भवबन्धन सचमुच मिथ्या है, यह उद्धव का भाषण सुनकर श्रीकृष्ण परमानंद से डोलने लगे और उद्धव पर प्राण न्योछावर करने की उन्हें इच्छा हुई। आत्मा को भवबन्धन नहीं है, देह में भी वह नहीं दिखायी देता, यह विचार जिनकी समझ में नहीं आता उन्हीं को भवबन्धन है, ऐसा श्रीकृष्ण बताते हैं।

श्रीभगवानुवाच

यावद् देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः संनिकर्षणम्।
संसारः फलवास्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः॥ १२॥

जो वर्णाश्रम से परे है, जो बंधमोक्ष से अलिप्त है, जो देहद्वंद्व को स्पर्श न करने वाला है, वह श्रीहरि उद्धव के हित की बात करने लगा। मैं स्थूल, मैं कृश, मैं गोरा, मैं काला, ये देह के 'देहधर्म' हैं और मैं काना, मैं गूँगा, मैं बहरा, ये इन्द्रियों के इन्द्रियधर्म हैं। क्षुधा, तृषा आदि 'प्राणधर्म' हैं। काम, क्रोध, लोभ आदि जो संभ्रम हैं वह मन का 'मनोधर्म' है। सत्वगुण से जागृति, रजोगुण से स्वप्नस्फूर्ति और तमोगुण से जड़ता और सुषुप्ति, ये वास्तव में देह के योग से होते हैं। देह को मारण आने पर 'मैं मेरा' कहता है और देह का जन्म होने पर 'मैं जनमा' समझता है। इन्द्रिय विषय सेवन करते रहते हैं फिर भी मैं स्वयं उसका सेवन कर रहा हूँ, ऐसा मानता है; स्वर्ग-नरक के भोग देहात्मता के कारण ही सच मालूम होते हैं। प्राण अन्न की इच्छा करता है, उसे खाता है अग्नि; लेकिन वह स्वयं चिदात्मा उसका साक्षी होते हुए, वह अन्न मैंने ही खाया ऐसा समझता है। ये सारे धर्म 'मेरे ही हैं' ऐसा जब तक आत्मा को पक्का भ्रम है, तब तक वह मिथ्या ही रहने वाला अत्यन्त दुर्गम और विषम संसार का भ्रमवश भोग करता रहता है। उस भोग का फल अत्यन्त कठिन है अविराम जन्म-मरण, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, यह सब वह भ्रम के कारण सच ही मानता है। संसार तो वास्तव में निर्मूल है; लेकिन वह भ्रम के फल से सदा फलता-फूलता है। अविवेकी लोग उसे अत्यन्त प्रबल समझते हैं और वह निरन्तर फलता-फूलता है। जिसका सचमुच कोई अर्थ नहीं है, उसे 'अनर्थ' कहते हैं। उस अनर्थ का फलभोग भी वही भोगते हैं जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बच्चों के हौवे से भय खाते हैं। (आशंका) आकाशपुष्पों की माला यदि बाँझ का लड़का पहने तभी संसार भोग का मेला आत्मा के पास दिखायी देगा। ऐसी न होने वाली बात कैसे होगी? इसी अर्थ का निरूपण बड़े चाव से श्रीकृष्ण उद्धव को सुनाते हैं।

अर्थे ह्यविद्यमानेपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥ १३॥

सत्य का अंश न होते हुए भी यह संसार अत्यन्त असाध्य है और छूटता नहीं है, इसी अर्थ का निर्णयात्मक विचार सुनाता हूँ। बाँझ स्त्री के बच्चे की ही तरह संसार की कोई वास्तविकता नहीं है। उसे सच माना जाय तो उसका कालांतर में ही विनाश होने वाला है। संसार यदि वास्तविक होता तो उसका ब्रह्मज्ञान से भी विनाश नहीं हुआ होता। इसलिये वह सत्य है या मिथ्या है इसका निर्णय ही नहीं लिया जा सकता। उसी प्रकार इसकी बात अनिर्वचनीय है। अविचार के कारण इसकी चाह उत्पन्न होती है, अविवेक के कारण यह अतिमधुर लगता है; विषय के ध्यान से यह बढ़ता है और संकल्प ही इसका सशक्त मूल है। न रहते हुए भी इसका आभास होता है। सोये हुए को स्वप्न में अनर्थ का आभास होता है उसी प्रकार यह संसार माया के योग से भ्रान्ति से विषय भोगने को बाध्य करता है। विषयों का जैसे-जैसे सेवन किया जाता है वैसे-वैसे विषयों का ध्यान बढ़ता जाता है और हे उद्धव! विषय की लगन से सुदृढ़ संसार बन्धन प्राप्त होता है। विषय सेवन के कारण ही जीव का भवबन्धन दृढ़ हो गया है। उन्हीं विषयों का भान जीवन्मुक्तों को दैवयोग से दिखायी देता है। जीवन्मुक्तों को विषयप्राप्ति होने से उनकी मुक्ति का विलय हो जायेगा, ऐसी शंका मन में न लाओ। इसी का स्पष्टीकरण श्रीकृष्ण करते हैं।

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापे बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते॥ १४॥

सज्ञान और अज्ञान का जो विषय सेवन होता है, उनका अनुभव भिन्न-भिन्न होता है। इसका भी लक्षण सुनो। उसका भी लक्षण सुनो। स्वप्न में मिले हुए विषयों को स्वप्नस्थ लोग किस प्रकार सच मान लेते हैं, लेकिन नींद खुलने पर उसकी सत्यता में विश्वास नहीं होता उसी प्रकार अज्ञानी जब विषयों का सेवन करते हैं तो उनका मन विषयासक्त होता है; लेकिन वही विषय जीवन्मुक्तों को दिखाई देने पर वे उसे मिथ्या मानते हैं। नाटक में जिस प्रकार अभिनेता लोकदृष्टि के अनुसार स्त्री-पुरुष के रूप में विचरण करते हैं, उसी प्रकार मुक्तपुरुष के घर में स्त्री बच्चों के साथ व्यवहार करते हैं अथवा जिस प्रकार बालक खेल-खेल में तुलसी-पत्र लेकर उससे विविध वस्तुओं की कल्पना करते हैं, उसी प्रकार जीवन्मुक्तों के लिये संसार में एक ही विषय रहता है। लेकिन जीवन्मुक्त लोग इन विषयों को अनेकत्व से नहीं देखते। देहाभिमान दृढ़ रहने पर 'मैं' और 'मेरा' इस विषय का स्फुरण ही संसारबन्धन का कारण है। इसी का स्पष्टीकरण श्रीकृष्ण करते हैं।

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः।
अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः॥ १५॥

देहाभिमान के उदर में सहस्रों दुःख भरे रहते हैं। उनके गुणकार्य सारांश रूप में श्रीकृष्ण जगसेठी बता रहे हैं। देहाभिमान का कार्य ऐसा है कि वह अद्वैत में भेद उत्पन्न करता है। इससे यह सारा संसार इष्ट और अनिष्ट बातों से भर गया है। अपने नाशवान इष्ट वस्तुओं का नाश होते ही उससे देह का अहंकार दुःख करने लगता है। इसी को सब लोग शोक कहते हैं। नश्वर विषयों की प्राप्ति होने पर मन को बड़ा संतोष होता है। उद्धव! इसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

को लोग 'हर्ष' कहते हैं। सारे बलवान सम्बन्धी मिलकर अपनी पसन्द की वस्तु के लिये मारपीट करने आते हैं, जिससे मन व्याकुल होता है। इसी को 'भय' कहते हैं। अपने इष्ट काम में किसी के व्यवधान करने पर उसका विनाश करने के लिये दौड़ना, इसे 'क्रोध' कहते हैं। करोड़ों की सम्पत्ति संग्रह में होने पर कौड़ी खर्च करने के लिये प्राण छोड़ना यह 'कंजूस' व्यक्ति की रीति है। इसी का नाम है 'लोभ का बंधन'। कर्म क्या है और अकर्म क्या है, हित किसमें हैं और अहित किससे है, इष्ट क्या है और अनिष्ट क्या है, इसका विचार न होना और समझ में न आना, इसी का नाम 'मोह' है। नित्य विषय सेवन करते हुए भी मन में बार-बार विषय की प्रबल इच्छा उत्पन्न होना, अखण्ड विषयों का ही ध्यान करना, इसका नाम 'स्पृहा' है। ये जो नानाप्रकार के गुण अथवा जन्म-मरण है उनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सारा भोग देहाभिमान ही भोगता है। जागृति और स्वप्न देखने में देहाभिमान होता है। इसलिये वहाँ ये गुण दिखायी देते हैं। लेकिन सुषुप्ति में ये गुण नहीं होते। वृत्ति जब निरभिमान रहती है उस समय जन्म-मरणादि गुण नहीं उभरते। गुणों का कारण केवल अभिमान है। वायु पानी पर बहता है और जमीन पर भी बहा है लेकिन जल पर लहरें उठती हैं, वे जमीन पर नहीं उठतीं। अतः लहरों का उठना यह धर्म पानी में रहता है। उसी प्रकार शोक आदि करोड़ों धर्म अहंता में होते हैं। इससे अहंकार को ही बन्धन है। अतः उसी को मुक्ति मिले ऐसा यदि तुम कहो, तो वह अहंता जीव के साथ लगी हुई है। जिसे अंत्यज से छूत लगती है, उसे गंगास्नान से शुद्धि मिलती है, लेकिन वही गंगा स्नान अंत्यज की शुद्धि के लिये व्यर्थ है। उसी प्रकार अहंता जीव के साथ जुड़ी हुई है, उसे छोड़ देने पर उसे मुक्ति है। लेकिन अहंकार को मुक्ति कल्पांत में भी सम्भव नहीं है।

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः संसार आधावति कालतन्त्रः॥ १६॥

आत्मा अनंत, अपार, ज्ञानमय, मायातीत और सम्पूर्ण है। वही माया का अधिष्ठान बनता है, इसीलिये उसे 'अंतरात्मा' कहते हैं। माया को व्याप कर भी वह अपार है। इसीलिये उसे परमेश्वर कहते हैं। वही माया का नियंता है इसलिये उसे 'ईश्वर' कहते हैं। 'अविद्या' में प्रतिबिम्बित हुआ है इसलिये उसे 'जीव' कहते हैं और वही देह की लगन से प्रबल होकर 'अहंकार' बन गया। वही 'संकल्प', 'विकल्प' इन विकारों के संसर्ग से 'मन' बन कर विद्यमान है और उस मन के गमन के लिये वह इन्द्रिय भी वही बन गया है। उन इन्द्रियों को आधार, सुख-दुःख भोगों का समुदाय, पाप-पुण्य का चमत्कार इस प्रकार 'देह' का आकार भी वही बन गया है और उस देह का कारण जो सत्त्व, रज और तम गुण हैं, वे भी वह स्वयं ही हो गया है। गुणक्षोभ का मुख्य मर्म 'पंचविषय', विषय भोग आदि क्रिया कर्म और 'स्वधर्म' भी वह स्वयं ही बन गया है। तीनों गुणों के जन्म का कारण जो यह 'महतत्त्व' अथवा 'प्रधान सूत्र' है वह भी वह स्वयं ही हो गया है। इस प्रकार सारा संसार ईश्वर स्वयं ही बन गया है। उसी संसार को आश्रयभूत ऐसी गुणसाम्यरूप प्रकृति वही बना हुआ है। उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली क्षोभक शक्ति तो 'काल' है वह भी वह स्वयं ही बन गया है। वह काल अपने सत्ता सामर्थ्य से जीव की अथवा संसार की उत्पत्ति करता है, पालन करता है और अन्त में संहार करता है। ऐसी आवृत्ति वह कितनी बार करता है, इसका पता नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि परब्रह्म की स्फूर्ति ही संसार है। उसी को लीला शक्ति से साकार स्थिति प्राप्त हुई है। मैं विश्वेश्वर होते हुए विश्वस्वरूप हूँ। नानापदार्थ मैं ही हूँ। इसलिये जो भी पदार्थ दिखाई देता है वह आत्मा का ही स्वरूप है। मुझसे अलग कोई पदार्थ नहीं है,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऐसा जिसका विश्वास है, वह धन्य है। मैं स्वयं ही नाना रूपों में व्यक्त हुआ हूँ। वेद भी इसके साक्षी हैं। 'विश्वतश्चक्षुः' इस वेदश्रुति द्वारा मेरा सर्वकाल गान हो रहा है और आश्चर्य तो देखो। जीव कल्पना में ही भूला हुआ है। वह देह की लगन से अहंता बढ़ाता है और कहता है कि देव त्रैलोक्य में भी नहीं दिखायी देता। द्वैत का भाव सच है यह मानकर जीव अत्यन्त अज्ञानी बन गया है। वह अपने आप को ही भूल गया, इतना देहाभिमान दृढ़ हो गया है। देहाभिमान की दृढ़ता ही 'बद्धता' का लक्षण है और देहाभिमान का निराकरण ही 'मुक्तता' है। देहाभिमान समूल 'मिथ्या' है। भेद का भवमान भी मिथ्या है। उसका समूल निर्दलन कैसे किया जाय इसका उपाय श्रीकृष्ण बताते हैं।

अमूलमेतद् बहुरूपरूपितं मनोवचःप्राणशरीरकर्म।
ज्ञानासिनोपासनया शितेनच्छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः॥ १७॥

द्वैत भावना से ही संसार का भान उत्पन्न होता है; और उद्धव! मन, वाणी, कर्म, प्राण यह देहद्वय का जो स्फुरण है, वह निर्मूल है, यह तुम जान लो। भेद के ही कारण बहुरूप दिखायी देने वाले भवजाल का विचार करने पर वह बिलकुल निर्मूल है। यह संसार का जाल विचित्र आभासित करने के लिये आत्मा के सिवा कोई स्थान नहीं है। जो आत्मा को संसार से भिन्न मानते हैं, वह उनका अज्ञान है। उनका देहाभिमान ही नाना प्रकार का भेदभाव बढ़ाता रहता है। उस देहाभिमान के उदर में ही कर्माकर्म की झंझट, कोटि-कोटि जन्म-मरण तथा दुःख और संकटों को जीव भोगता रहता है। ऐसा यह देहाभिमान पूर्ण रूप से दुःख देने वाला है यह ध्यान में रखकर जो उसके नाश के लिये पूर्णरूप से पश्चात्ताप करता है, उसे गुरु की सेवा कर ज्ञानरूप खड्ग प्राप्त करना चाहिये और गुरुपदेश रूप पत्थर पर उस खड्ग को घिस-घिस कर धारदार बनाना चाहिये। उसे संसारवृक्ष का मूल जो देहाभिमान है उसे समूल काट देना चाहिये। इस प्रकार देहाभिमान को काट कर सज्जन लोग शेष जीवन अभिमानरहित जीते हैं तथा आत्मनिष्ठा से पृथ्वी पर संचार करते हैं। उन्हें इच्छा, निन्दा, द्वेष अथवा तृष्णा बिलकुल स्पर्श नहीं करते। मन ही जहाँ मनोभाव से वंचित रहता है वहाँ इच्छा और तृष्णा को कहाँ स्थान मिलेगा? (आशंका) इस प्रकार जो सारे संसार का निर्दलन कर सके वह ज्ञान क्या है? उसे प्राप्त करने का साधन क्या है? और वह ज्ञान प्राप्त करने से क्या लाभ है? इन बातों का साद्यंत श्रवण करने की उद्धव की इच्छा हुई यह जान कर श्रीकृष्ण स्वयं उसका निरूपण करते हैं।

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम्।
आद्यान्तयोरस्य यदेव केवलं कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥ १८॥

नित्य क्या है और अनित्य क्या है, इसका जो विवेक है, उसी का नाम 'ज्ञान' है। ऐसा ज्ञान रखनेवाले दाता दोनों देहों का प्रकाशक आत्मा है, यह बात जानते हैं। रस की मिठास जाँचने के लिये, पहले गन्ने के छिलके साफ कर लिये जाते हैं; गन्ने को कोल्हू में डाल कर उसका रस निकालते हैं। फिर उस रस को औटाते हैं तभी चीनी प्राप्त होती है। उस चीनी का सीरा बनाकर उस चीनी के ही केले, नारियल आदि फल उसी मिठास के तैयार करते हैं। उसी प्रकार स्थूल देह का निराकरण कर, लिंगदेह का मर्दन कर, अहंकार का संहार कर ज्ञाता पूर्व ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। वह ब्रह्म निर्गुण-निराकार है, उसी रूप में वह पूरे चराचर को देखते हैं। इस रीति से ज्ञानी परब्रह्म का निश्चय करते हैं। उद्धव! इसी का नाम है निश्चित 'विवेकज्ञान'। ब्रह्म निःशब्द और निर्गुण है। उसमें जो श्रुति का स्फुरण-अद्यतन शब्दज्ञान है, वही मेरा निगम वेद है, यह जान लो। वही मैं वेदरूप नारायण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हूँ। इसीलिये 'वेदवचन' प्रमाण है। श्रुति का शब्दज्ञान पठन करने वाले को पावन करता है। उद्धव! आत्मस्वरूप जानने के लिये देहादि विषयों का जो अनुताप है, जिससे साधक निष्पाप होते हैं, उसका नाम 'तप' है। अनुताप से मन का दमन करने से पातकों का क्षालन होता है। तब वह श्रुति के अर्थ के अनुरोध से परब्रह्म का 'अनुमान' करने में समर्थ होता है। देह जड़, मूढ़ और अचेतन है, उसमें चैतन्यस्वरूप नारायण है और देह मिथ्या है इस बात का निश्चय होकर मन अद्वैत में रंग जाता है। उस अद्वैत प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम अभिमानरहित होकर भक्तिभाव से सद्गुरु की अनन्य भाव से शरण जायें। उसे गुरु की कृपा होती है। शरणागत का अधिकार और लक्षण देखकर गुरु भी उसे गुरुज्ञान का उपदेश करते हैं। 'सब में निर्मल परब्रह्म ही है' यही श्रुति का उत्तम गुह्य है। जो परम सौभाग्यशाली होता है उसके मन में ही यह सुगम रीति से अंकित होता है। गुरु के वचन कान में पड़ते ही आत्मसमाधान से वृत्ति चित्स्वरूप में तल्लीन होकर स्वानंद में समरस हो जाती है। अब उसके लिये आगे साधन अथवा कर्म का आचरण रह गया है, ऐसा कौन कहेगा? वेद भी वहाँ मौन रह गये हैं। जहाँ द्वंद्व की स्फूर्ति नहीं रह जाती सारे दुःखों की समाप्ति हो जाती है, देह में ही विदेह परब्रह्म की प्राप्ति होती है; उसे ही 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। विस्मृति की ठौर पूछकर, स्मरण के बिना ही नित्य स्मरण होना और अखण्ड स्वस्वरूप का अनुभव प्राप्त होना, इसी का नाम है 'प्रत्यक्षता'। मैं स्वानंदकंद आत्मा हूँ, इस प्रकार का परमानन्द का अनुभव, यही 'प्रत्यक्ष' पद का वास्तविक अर्थ है, ऐसा स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा। भाग्यशाली साधक को यह बोध श्रवण होते ही प्राप्त होता है, किसी को मनन से प्राप्त होता है और किसी को अनवरत चिन्तन से प्राप्त होता है। कइयों को स्वरूपाकार वृत्ति के अभ्यास से यह बोध प्राप्त होता है और कइयों को मेरी अद्वैत भक्ति के योग से यह बोध अर्थात् मैं श्रीकृष्ण पूरी तरह प्राप्त होता हूँ। उद्धव! पूर्ण रूप से आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने के लिये यह साधन प्रमुख है। इस प्रकार आत्मज्ञान प्राप्त होने पर उसका क्या 'फल' मिलता है वह भी बताता हूँ। मैं अनंत सृष्टि का मूल कारण हूँ, किन्तु नित्यमुक्त होने के कारण अहेतुक, वही मैं श्रीकृष्ण लीला से सारी सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण हूँ उसी प्रकार रजोगुण की सहायता से मैं उत्पन्नकर्ता के रूप में अद्वैत में ही अनेक व्यक्ति दिखाता हूँ। जिस प्रकार जड़ के बिना फलदार वृक्ष बढ़ता है, उसी प्रकार सृष्टि के संरक्षण का मुझ निष्काम को शौक है। एक लकड़ी से शतरंज की गोटियाँ बनती हैं। उनमें राजा, प्रधान पशु और प्यादे बनते हैं। उनके अपने पूर्वकर्म नहीं होते, उसी प्रकार निष्कर्म से सृष्टि को प्रकाशित करने वाला मैं हूँ। निष्कर्म करके ही सृष्टिकर्त्ता ने इस संसार का निर्माण किया यह देखकर मीमांसकों का मन कुंठित हो गया। सारांश यह संसार सदा से ही निष्कर्म ब्रह्मस्वरूप ही है। जिस प्रकार शतरंज के खेल में अचेतन को भी शुद्ध करना पड़ता है, उसी प्रकार लोकरक्षण की आत्मीयता से मैं सृष्टि का प्रतिपाल करता हूँ। प्रकृति की सारी गोटियाँ जड़मूढ़ ही होती हैं, उसे पुरुष के हाथ से सचेतन कर, हाथ में काल के पासे लेकर चराचर का खेल खेलाने वाला मैं एक विष्णु हूँ। निर्जीवों के इस झगड़े में न मरने वाले को भी मृत्यु आती है। एक की जीत और एक की हार ऐसे दो पक्षों को खेल खेलाने वाला मैं ही हूँ। गोटी मरने पर कौन पुण्यवान वैकुण्ठ में जाता है और कौन पापी नरक में जाता है? इस सृष्टि के बंध-मोक्ष इस प्रकार के हैं। उसी प्रकार अपना 'एकपन' छोड़े बिना, उस खेल की ही तरह मैं संसार का पालन 'दूजे'पन का स्पर्श किये बिना करता हूँ। रस्सी का सर्पाकार अपने सामर्थ्य से वीर पुरुष मार कर नष्ट करता है, उसी प्रकार मैं प्रलयरुद्र इस सृष्टि का संहार करता हूँ। स्वप्न में देखे हुए संसार को जागने पर नष्ट करने में कष्ट कैसा? उसी प्रकार मैं प्रलयकर्त्ता हूँ, ऐसा समझ लो। उत्पत्ति, स्थिति और लय केवल सृष्टि पर ही लागू होती है, आत्मा आत्मस्वरूप में अखण्ड परिपूर्ण है। वही स्वरूप ज्ञानसम्पन्न लोग स्वानुभव से स्वयं होकर रह रहे हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'वह आत्मस्वरूप मैं बना' यह कहना भी लज्जास्पद है क्योंकि वह आत्मरूप ब्रह्मत्व से स्वयंभू होने के कारण होना या न होना यह कहना केवल भ्रम है। रस्सी के मिथ्या सर्पाकार का आभास होने पर भी वह रस्सी ही रहती है और सर्प का आभास समाप्त होने पर भी रस्सी ही रहती है। उसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति के समय आत्मा जन्म नहीं लेता; अथवा सृष्टि का पालन-पोषण होते समय उसमें वृद्धि नहीं होती। सृष्टि का प्रलय होने पर आत्मा को उसकी खबर भी नहीं होती। उत्पत्ति, स्थिति और लय इन तीनों स्थितियों में आत्मा वास्तव में अविकारी ही रहता है। इसी साधन से ज्ञान साध्य कर साधक सज्ञान होते हैं और वे स्वयं अबाधित होकर पूर्ण ब्रह्म होकर रहते हैं। साधक अज, अव्यय और आनन्दपूर्ण ब्रह्म हो जाते हैं। उद्धव! यही सब ज्ञान का फल है, यह जान लो। ज्ञान का यह फल प्राप्त होते ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होने पर भी आत्मस्वरूप अखण्ड और परिपूर्ण ही रहता है। यही बात श्रीकृष्ण दृष्टांत के साथ बताते हैं।

यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत्॥ १९॥

मुकुट, कुण्डल, कंकण आदि न बनाने पर भी सुवर्ण सोने के ही रूप में रहता है और बनाने पर भी उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं आती। उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और लय इनके योग से मेरा चित्त अविनाशी ही रहता है। मेरा स्वरूप शुद्ध परब्रह्म है उसमें नाना प्रकार के रूप और नामों का आभास होने से संसार विषम दिखाई देने पर भी ब्रह्म सर्वत्र सम ही है। सूर्य के किरण जिस प्रकार सूर्य से अलग नहीं होते, उसी प्रकार यह संसार भी मुझसे भिन्न नहीं है। वही निरूपण श्रीकृष्ण बताते हैं।

विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च येनैव तुर्येण तदेव सत्यम्॥ २०॥

सत्त्वगुण से जागृति, रजोगुण से स्वप्न और तमोगुण से गहरी, मूढ सुषुप्ति होती है। इस प्रकार मन तीन अवस्थायुक्त है। कार्य, कर्त्तत्व और कारण इन तीन से तीन प्रकार के संसार का भास होता है किन्तु ब्रह्म सदा से सम ही है। मिट्टी के बिना घट नहीं होता, तन्तु के बिना वस्त्र नहीं बनता; उसी प्रकार मुझसे संसार भिन्न नहीं है। जो-जो दिखायी देता है, वह मेरा ही स्वरूप है। मैं जो तीनों गुणों को स्पर्श नहीं करता, तीनों अवस्थाओं में दिखायी नहीं देता और तीनों अवस्थाओं को प्रकाशित करता हूँ, वह मैं चौथा 'तुरीय' हूँ यह जान लो। तीनों अवस्थाएँ, तीनों गुण, दृश्य, द्रष्टा और दर्शन यह त्रिपुटी पूर्ण रूप से प्रकाशित करने वाला मैं चौथा 'तुरीय' हूँ। ऐसा तुरीय सच्चिद्धन मैं, अवस्था गुण न होते हुए भी जिस प्रकार आकाश में नीलेपन का भास होता है, उसी प्रकार मुझमें अवस्थाओं का आभास होता है। (आशंका) तीनों अवस्थाओं का ज्ञान सबमें दिखायी पड़ता है किन्तु हे श्रीकृष्ण! चौथा 'तुरीय' ज्ञान के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है। इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं, चौथा ज्ञान अर्थात् तुरीयावस्था का विचार न कर, वह मिथ्या ही है ऐसा सोचोगे तो उसका स्पष्टीकरण सुनो। (व्यतिरेकतथ्य) देहादिक प्रपंच का व्यतिरेक, अर्थात् भूतों में ही होने वाले भूतों के लय को देखने पर गुणावस्था भी उसी में लीन होकर, मैं चौथा 'तुरीय' शेष रहता हूँ। इस सम्बन्ध में कुछ बोलते समय वेदों को तो मौन ही रहना पड़ता है। यह वास्तव में अनुभव से ही जानने की पीड़ा है, यहाँ शब्द पांडित्य काम नहीं आता। यहाँ युक्ति-प्रयुक्ति नहीं चलती, ज्ञान की व्युत्पत्ति अथवा लक्ष्य-लक्षण स्थिति नहीं चलती, केवल गुरुकृपा से ही 'तुरीय' की प्राप्ति होती है। जागृत्यादि सारी सत्ता; अथवा सुषुप्ति में साक्षी रूप में रहने वाला वह चौथा 'तुरीय' मैं हूँ यह जान लो। वही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मेरा सत्य स्वरूप है, ऐसा वेदों ने निश्चित किया है। इस स्वरूप के अतिरिक्त यहाँ जो कुछ दिखायी देता है वह सब मिथ्या है। उसके सम्बन्ध में ही श्रीकृष्णनाथ निज अनुभव से बता रहे हैं।

न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।
भूतं प्रसिद्ध च परेण यद् यत्तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा॥ २१॥

जागृति में जो भी दिखायी देता है, वह जागृति के साथ ही नष्ट हो जाता है। स्वप्न में जिस-जिस का भास होता है वह सब स्वप्न के साथ अस्त हो जाता है। जागृति और स्वप्न अपने-अपने कार्यों के साथ सुषुप्ति में लय हो जाते हैं और सुषुप्ति भी जागृति में नष्ट हो जाती है। इस प्रकार प्रपंच को सत्यत्व नहीं है। प्रपंच सृष्टि के पहले नहीं होता, प्रलय के बाद भी शेष नहीं रहता। इस बीच जो कुछ भासित होता है, उसे मिथ्या और असद्रूप जानना चाहिये। प्रपंच का आडम्बर नामरूप का समुदाय तैयार करता है जो आकाश में दिखाई देने वाले गन्धर्व नगर की तरह नश्वर प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है। पिता के सामने पुत्र मरता है, पुत्र के सामने पिता घुलता है, काल के प्रवाह में सब कुछ नष्ट हो जाता है, क्रिया करने के लिये भी कोई नहीं बचता। समुद्र में लहर उठती है और देखते-देखते गायब हो जाती है, उसी प्रकार नामरूप जो भी दिखायी देता है, वह सहज ही नष्ट हो जाता है। यह प्रपंच केवल नाममात्र का है। लेकिन मैं ही स्वतंत्र परमात्मा हूँ। संसार की ऐसी जन्मपत्रिका है लेकिन उसे न जानकर जीव उसे 'असाध्य' कहते हैं। जिससे यह प्रपंच उत्पन्न हुआ है, उसने उसे प्रकाशित किया है और अन्त में वह जिसमें विलीन होता है वह सस्वरूप आत्मा तद्रूप से भरा हुआ है। सीप पर चाँदी का आभास होता है लेकिन वह सीप ही रहती है। इस दृष्टि से प्रपंच ब्रह्मा से अभिन्न रहता है। उद्धव! प्रपंच का जो स्फुरण होता है वह भी ब्रह्मरूप ही है। जिस मेरे कारण श्रुति और स्मृति सत्यत्त्व में आयीं उस सत्यप्रतिज्ञ, मैं, श्रीकृष्ण ने तुम्हें उसका सच्चा भावार्थ बतलाया। देव का यह भाषण सुनकर उद्धव के मन में शंका हुई कि कुछ लोग प्रपंच को भिन्न मानते हैं। देव प्रपंच को स्पर्श नहीं करते। ऐसी कोई कल्पना तुम्हारे मन में आ रही हो तो उसके बारे में भी बताता हूँ, सुनो।

अविद्यमानोऽप्यवभासते यो वैकारिको राजससर्ग एषः।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम्॥ २२॥

मुख्यतः यह मन पूर्णरूप से विकारी है। वह तीनों गुणों से मिलकर एक नया ही संसार चित्रित करके दिखलाता है। उद्धव! मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को उनके अधिष्ठाता देवता ये सब वास्तव में सत्त्वगुण के विकार हैं। दशेन्द्रियों की उत्पत्ति रसोगुण से हुई है तथा पंचमहाभूत और पाँच विषय ये तमोगुण के विकार हैं। ये सब विषय मिलकर जीव को भुलावे में डाल देते हैं। मदारी का मिथ्या खेल जिस प्रकार सत्य होने का भास होता है, उसी प्रकार त्रिगुणों का जाल बहुत बड़ा है, मिथ्या होते हुए भी उसका भास होता है। ब्रह्म स्वयं भी अकारण ही है, वह स्वयं प्रकाश से ही प्रकाशित है। वही प्रपंच का महाकारण होकर, स्वयं ही उसका प्रकाशक हो गया है। छायामण्डप के नानाप्रकार के चित्रों की तरह दीपक का प्रकाश होने का भी जिस प्रकार आभास होता है, उसी प्रकार मैं स्वयंप्रकाश चिन्मूर्ति परमात्मा भी जगत के आकार से भासमान होता हूँ। सारांश, प्रपंच का स्फुरण स्वयंप्रकाश पूर्णब्रह्म ही है। इस ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर विकल्प का छेदन कैसे किया जाय, इसका उपाय श्रीकृष्ण बताते हैं।

एवं स्फूटं ब्रह्मविवेक हेतुभिः परापवादेन विशारदेन।
छित्त्वांऽऽमसंदेहमुपारमेत स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः॥ २३॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

नाना प्रकार के उपायों से ब्रह्मज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय, उसे पहले बता चुका हूँ और उसे अनुभव के साथ स्पष्ट भी कर चुका हूँ। श्रुति-युक्ति-अनुभव के साथ ब्रह्मोपदेश का लक्षण बताकर ज्ञान और अज्ञान का फल भी तुम्हें बता दिया है। उसी में देहेन्द्रियों का मिथ्यत्त्व, देहात्मभाव का निराकरण और ब्रह्म अद्वितीय तथा परिपूर्ण है यह गुरुज्ञान भी प्रकट कर दिया। अत्यन्त दुर्लभ, दुर्गम तथा प्राप्त होने में कठिन पूर्ण ज्ञान मैंने प्रकट कर दिया। यह सिद्धों का समाधान भी है और साधकों का साधन भी। मैंने अभी जो ब्रह्मज्ञान बताया उसी उपदेशरूपी तेज शस्त्र को पूरी तरह साध्य कर साधक संशय का उच्छेद कर देते हैं। मैंने बताये हुए ब्रह्मज्ञान में मन सन्देह करने लगता है, जिसमें देहाभिमान बढ़ता है, ऐसे सन्देह के साथ देहाभिमान को साधक इस शस्त्र से छेद देते हैं। इस प्रकार संशय को काट कर द्वैत को दूर भगाते हैं और 'मैं' 'तू' का भाव नष्ट कर साधक स्वानंद में निमग्न हो जाते हैं। उद्धव! वर्णाश्रम, कुल, जाति, जीव-शिव स्थिति आदि के प्रति अहंकार उत्पन्न न होना, इसी का नाम 'उपरति' (विराग) है। ऐसी उपरति प्राप्त हो जाने पर ऐहिक और पारलौकिक फलों की कामना कौन करेगा? क्योंकि यहाँ विषय, विषयी और विषयोपभोग का अस्तित्व ही नहीं होता। इस प्रकार नित्य निष्काम रहने वाले साधक आत्माराम स्वरूप होकर परमानन्द स्वरूप में निमग्न होने के कारण परम उपशम प्राप्त करते हैं। अब, देहेन्द्रियों में प्राण रहते हुए देहाभिमान कैसे जाता है ऐसा तुम सोच रहे हो, उद्धव! तो उसका निरूपण श्रीकृष्ण सुनाते हैं।

नात्मा बपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि देवा ह्यसुर्धायुजलं हुताशः।
मनोऽन्नमात्र धिषणा चहंसत्त्वमं कृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम्॥ २४॥

देह यह पृथ्वी का अंश अर्थात् जड़ होने के कारण वह कोई आत्मा नहीं है, उसी गुणों के कारण इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हैं, वे तो देह की उपकरण हैं, उनका व्यवहार भी एकपक्षीय होता है। इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव भी आत्मा नहीं होते, उन्हें इन्द्रियों का अभिमान होता है। इसलिये उन्हें आत्मपद में कहाँ स्थान मिल सकता है? देह को चलाने वाला जो प्राण है, वह भी आत्मा नहीं है। प्राण तो केवल अज्ञान है जो देह को वश होते समय, उसके साथ आता-जाता रहता है, बस इतना ही। प्राण ही अगर आत्मा होता तो वह देह के साथ न चला जाता। इसीलिये प्राण में भी आत्मत्व नहीं होता। पृथ्वी जड़ होने के कारण आत्मा नहीं होती। जल भी आत्मा नहीं है क्योंकि उसमें द्रवत्त्व होता है। अग्नि दाहक होने के कारण वह भी आत्मा नहीं है। चंचलता के कारण वायु भी आत्मा नहीं है। आकाश शून्य होने के कारण आत्मा भी आकाश नहीं है। संकल्प गुणों के कारण मन भी आत्मा नहीं है। नश्वर होने के कारण आत्मा अंतःकरण नहीं है। चित्त चिन्तन करता रहता है इसलिये वह भी आत्मा नहीं है। अभिमान भी आत्मा नहीं है क्योंकि उसे सुख-दुःख का बन्धन होता है। बुद्धि आत्मा नहीं है क्योंकि उसमें बोधकता है। तीन गुण भी आत्मा नहीं है क्योंकि गुण तो विकारों से भरे होते हैं। महतत्त्व गुणों का कारण हैं। इसलिये वे तो कभी भी आत्मा नहीं हो सकते। प्रकृति अर्थात् गुण साम्यावस्था भी सचमुच आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मदृष्टि से प्रकृति की ओर देखने पर वह भी मिथ्या ही लगती है। मूल प्रकृति ही जहाँ मिथ्या सिद्ध होती है, वहाँ उसके कार्यों में सत्यत्व कहाँ से आयेगा? इस प्रकार साधक निश्चित होकर आत्मा का अनुभव लेते हैं। इस प्रकार ज्ञान को साध्य कर साधक देहाभिमान को नष्ट कर देते हैं, और निरभिमान होकर सदा सुखी रहते हैं। सारांश, जो साधक इस प्रकार निरभिमान रहते हैं, वह यदि प्रारब्ध के अनुसार विषम सेवन करें तो भी उन्हें गुणदोषों की बाधा नहीं होती, यही बात श्रीकृष्ण निरुपित करते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभिर्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः।
विक्षिप्तमाणेरुत किं नु दूषणं घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम्॥ २५॥

देह और इन्दियों से आत्मा बिलकुल भिन्न है इसे जिन्होंने स्वानुभव से जान लिया है, उन्हें इन्द्रियों पर नियंत्रण करने की क्या आवश्यकता है? अथवा इन्द्रिय यदि विषयों के प्रति चंचल हो भी जाएँ तो क्या हानि है? कोई रस्सी वाले सर्प को मंत्रवाद्य से मोहित कर, निश्चिंत होकर यदि हाथ में पकड़े और कोई दूसरा उसे मोहित किये बिना हाथ पकड़े तो उसे भी वह साँप नहीं काटेगा। जो मृगजल को तैर कर पार करता है, क्या वह भाग्यवान तर जाता है और जो नहीं तैरता वह क्या डूब जाता है? उसी प्रकार देहेन्द्रियों का भान मिथ्या है, यह जानकर जो ज्ञानसम्पन्न होते हैं, उनके लिये इन्द्रियों का बन्धन व्यर्थ है। जिसे मेरा अपरोक्ष ज्ञान हो गया, उसे आसन लगाकर अखण्ड ध्यान करने से कोई लाभ नहीं है। जिस प्रकार मैं लीलाविग्रहधारी हूँ, उसी प्रकार वे भी शरीर में विचरण करते समय इन्द्रिय कर्मों के कारण संसार समुद्र में डूबते नहीं हैं अथवा जो इन्द्रियों की संगति से प्रारब्ध से प्राप्त हुए विषयों का दिन-रात सेवन करता है, उसके ब्रह्मस्वरूप में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। कारण यही है कि वे मेरे स्वयंप्रकाश, आनन्दघन निजधाम पूर्णब्रह्म तक पहुँचते रहते हैं और वहाँ विषयों का स्फुरण बाधक नहीं होता। सूर्य आकाश में उदित होकर लोगों को निद्रा से जगाता है और उन लोगों को काम पर लगाता है, फिर भी वह संसार के उस कर्म से अलिप्त ही रहता है, उसी प्रकार मैं परमात्मा स्वयंप्रकाश होकर त्रैलोक्य को प्रकाशित करता हूँ ताकि लोग अपना-अपना काम कर सकें लेकिन मैं उनका आत्मा उनके कर्मों से अलिप्त रहता हूँ। मुक्त को भी बाल बच्चे, घर-बार आदि रहता ही है, उनसे वह घिरा रहता है, अतः उसे निःसंग कैसे कहा जाय? यदि ऐसी शंका मन में हो तो उसके लिये श्रीकृष्ण सूर्य का दृष्टांत देते हैं। रविमण्डल लक्ष योजन ऊँचा है और मेघपटल केवल बारह योजन ऊँचा है। उस मेघ के कारण सूर्य ढँक गया ऐसा सब लोग मानते हैं किन्तु सूर्य और मेघ की कल्पांत में भी भेंट नहीं होती। उसी प्रकार इन्द्रियों का कर्म ज्ञाता को कभी भी स्पर्श नहीं करता। मेघ संसार की ही आँखें ढाँप देता है और संसार कहता है कि सूर्य को मेघ ने ढँक दिया। माया के कारण भ्रमित हुए लोगों को इस प्रकार का ज्ञान होता रहता है। अभ्र आयें या निकल जायें लेकिन उससे सूर्य को कोई लाभ या हानि नहीं होती। उसी प्रकार घरबार और पत्नी-बच्चों की संगति से ज्ञाता भी संकट में नहीं पड़ते। सूर्य को आकाश स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार ज्ञाता को सारे संग अथवा इन्द्रियों के कर्मों की छूत नहीं लगती। ऐसे उस ज्ञाता का परम स्वरूप बताता हूँ, सुनो। वह देह में होते हुए भी परब्रह्म रहता है। इसलिये उसे इन्द्रियों का समविषयम कर्म बिलकुल बाधक नहीं होता। ज्ञाता सभी दृष्टियों से अलिप्त ही रहता है। यही निश्चित करने के लिये श्रीकृष्ण परिश्रमपूर्वक दृष्टांत देकर बताते हैं।

यथा नभो वाय्यव नलाम्बुभूगुणैगतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते।
तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलैरहं मतेः संसृतिहेतुभिः परम्॥ २६॥

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन सब पर आकाश छाया हुआ है। लेकिन पृथ्वी आदि का मैल आकाश को नहीं लगता। आकाश पृथ्वी की धूल से कभी भी मैला नहीं होता; धुएँ के कैसे भी बादल क्यों न उठें, लेकिन वह धुएँ से मटमैला नहीं होता। अग्नि की बड़ी ज्वालाओं से भी वह नहीं जलता। भीषण आँधी से आकाश कभी उड़ नहीं जाता; पानी की कैसी भी बाढ़ क्यों न आये लेकिन वह डूब नहीं जाता अथवा सूर्य की तप्त किरणों से उसे कभी पसीना नहीं आता। बर्फ की ठंडक से आकाश कभी जम नहीं जाता। कैसा भी मूसलाधार पानी क्यों न

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आये लेकिन आकाश जरा भी गीला नहीं होता। इस प्रकार आकाश निर्मल है। उसे मैल लगाने पर भी नहीं लगता। जो आकाश से भी अलिप्त, जो क्षर-अक्षर से भी अतीत है, वह अक्षर परब्रह्म सदा तीन गुणों से अतीत और चिन्मात्रस्वरूप है। जो अजरामर, अविनाशी और स्वयं प्रकाश से प्रकाशमान है, ऐसे परब्रह्म की जिसे अद्वयत्व से प्रतीती हुई, उसी प्रकार जैसे सोने का सिक्का सर्वांग से सोना ही रहता है, उसी प्रकार जो बिना किसी कर्म के ऊपरी साधनों से परब्रह्म होते हैं उनके शरीर में गुणों की त्रिकुटी नहीं लगती, विषयों का भोग भोगते हुए भी, वे उससे अलिप्त ही रहते हैं। मेघों में चन्द्रमा का बिम्ब दिखायी देता है लेकिन वह घटाओं को स्पर्श नहीं करता अथवा उसके जल से वह गीला नहीं होता। उसी प्रकार देह में जीव अलिप्त ही रहता है। उन घटाओं में यदि गोबर मिलायें या कस्तूरी मिलायें तो भी वह जिस प्रकार उस प्रतिबिम्ब से नहीं चिपकता, उसी प्रकार देह के पाप पुण्य का प्रभाव जीव शिव पर नहीं होता। आकाश को जलाने के लिये यदि घृत को जलाकर अग्नि प्रज्वलित की जाय तो उस समय आकाश अग्नि के बिलकुल निकट रहता है लेकिन इससे आकाश को उसकी आँच नहीं लगती। उसी प्रकार ज्ञाता भी विषय की भीड़ में कभी विषयी नहीं होता। गुणों के और देह की संगति में योगी भले ही विचरण करते हों तो भी विषयों का भोग करते हुए भी वे सदा सर्वांग से अलिप्त ही रहते हैं। भोग का यह मर्म जिसने जान लिया वह देह में होते हुए भी परब्रह्मस्वरूप ही है। वे स्वयं ही शुद्ध अक्षर होने के कारण उन्हें भोगभ्रम की बाधा नहीं होती। 'वे अब अक्षर हो गये' यह कहना भी कम ही है क्योंकि संसार भले ही ज्ञान अथवा अज्ञान में विचरण करता हो लेकिन अक्षरता कायम ही रहती है। उस ब्रह्मस्वरूपता को भूलकर, देहअहंता 'मैं देही' कहती है, उस समय विषयावस्था बढ़ कर दृढ़ बन्धन प्राप्त होता है। उस बन्धन को दूर करने के लिये विषयलोलुपता का त्याग करना होगा क्योंकि विषयत्याग किये बिना नित्यमुक्तता कभी नहीं हो पायेगी। नित्यमुक्तता यदि साध्य न हुई हो तो साधक कितना भी बड़ा ज्ञानी क्यों न हो जाय लेकिन उसे उस ज्ञातृत्व के लिये विषयासक्ति कभी नहीं करनी चाहिये।

तथापि सङ्गः परिवर्तनीयो गुणेषु मायारचितेषु तावत्।
मद्भक्तियोगे न दृढ़ेन यावद् रजो निरस्येत मनःकषायः॥ २७॥

सम्पूर्ण स्वरवर्णों से युक्त चारों वेदों में कोई भले ही निपुण हो जाय लेकिन उसके बल पर यदि वह विषयाचरण करता है तो वह उसे अत्यन्त बाधक होता है। केवल शब्दज्ञान के लिये विषयाचरण बाधक ही है। प्राणापान को सम कर मृत्यु को टालने का भले ही सामर्थ्य आ जाय लेकिन विषयाचरण उसके लिये भी बाधक है। शाप अथवा वरदान देने का सामर्थ्य रखने वाले पुरुष भले ही अपने को महान समझें लेकिन यदि वे विषयाचरण करने लगेंगे तो उन्हें वह घातक होगा। कोई योग सामर्थ्य से अंतरिक्ष में आसन उड़ाते हैं और सिद्धि के अनेक प्रकार दिखाते हैं। उन्हें भी विषय भोग की चाह निश्चित रूप से बाधक होती है। मंत्रानुष्ठान के योग से प्रत्यक्ष मंत्रदेवता भले ही प्रसन्न हो जाय, लेकिन उनके लिये भी विषय वासना घातक ही है। किसी की किंचित स्वस्वरूप का अनुभव होकर 'मैं मुक्त हूँ' ऐसा स्फुरण होने लगता है, उनके लिये भी विषय की संगति निश्चित रूप से बाधक है। स्वयं अभिमान का निर्दलन कर जब तक नित्यमुक्त नहीं हुआ तब तक विषयाचरण बाधक ही है। जिस प्रकार चकमक की आग खम्भे को नहीं जला सकती, उसी प्रकार ब्रह्म प्राप्ति प्रथम रंग प्रपंच की संगति से नष्ट हो जाता है। ये विषय मिथ्या और मायिक हैं फिर भी उनका भोग करते समय जब तक हर्ष होता है, तब तक हे उद्धव! विषय सचमुच ही बाधक हैं, यह जान लो। उन विषय भोगों से छूटने के लिये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

देहाभिमान को नष्ट करना चाहिये और इसके लिये निष्ठापूर्वक मेरा भजन करना चाहिये। व्रत, तप, तीर्थ, दान आदि करने से; या योग, त्याग और यजन आदि करने से; वेदशास्त्र अथवा पुराणश्रवण करने से भी देहाभिमान नहीं ढलता। किन्तु भक्तिभाव से मेरा भजन करने से देहाभिमान का समूल लय हो जाता है। उसके लिये भक्ति ही उत्तम साधन है। परब्रह्म भक्ति के अधीन रहता है। उद्धव! ज्ञान, वैराग्य, निवृत्ति, धृति, शान्ति और ब्रह्मस्थिति आदि की जननी मेरी भक्ति है यह स्मरण रखो। मेरी भक्ति चारों मुक्तियों से अधिक श्रेष्ठ है। उनकी शक्ति अपार है। सचमुच, मैं उससे बँध गया हूँ। मेरा स्वरूप अनंत और अपार होते हुए भी, मैं सचमुच भक्ति में उलझ गया हूँ। इसीलिये मैं निरन्तर मेरे भक्तों के द्वार में उपस्थित रहता हूँ। मैं भक्ति से बंध गया हूँ, इसीलिये मैं भक्तों के अधीन रहता हूँ। मेरी भक्ति की महिमा स्वयं मैं भी नहीं जानता। अनेक लोग मेरी भक्ति कर मुझसे मोक्ष की ही माँग करते हैं किन्तु चारों मुक्तियों की उपेक्षा कर जो मेरी भक्ति करता है, वह धन्य है। मेरे प्रति ऐसी भक्ति जहाँ होती है, वहाँ चारों मुक्तियाँ पैरों पर आकर गिरती हैं। उसके भावार्थ पर मैं श्रीकृष्ण पूर्णरूप से न्योछावर हूँ। उसके लिये वह भक्ति ही प्रमुख साधन रहती है, इसलिये मैं भी भक्तों के अधीन रहता हूँ। उसके वचन का मैं कभी भी उल्लंघन नहीं करता। वह मुझे सगुण होने के लिये कहते हैं तो मैं तत्काल सिंह, बराह आदि बन जाता हूँ; उनके लिये मैं विदेही होते हुए भी पूर्ण देहधारी बनता हूँ। अम्बरीष के लिये मैंने दस जन्म भोगे। अजन्मता का व्रत भी मैं तोड़ देता हूँ लेकिन भक्त को किसी बात की कमी नहीं होने देता। कौरव द्रौपदी को विवस्त्र कर रहे थे यह देखकर मैं उसकी सहायता के लिये दौड़ पड़ा और उसे एक क्षण के लिये अनावृत्त नहीं रहने दिया। उसे करोड़ों वस्त्र पहनाये। इस प्रकार मैं भक्तों का सहायक हूँ। अजन्मा होते हुए उनके लिये जन्म लेता हूँ। अरिमित्रों से सम होते हुए मैं अपने भक्तों का पक्षधर बन जाता हूँ। जो मेरे भक्तों का हित करता है, वह संसार में मेरा बहुत बड़ा मित्र होता है और जो मेरे भक्तों से बैर करता है, उसका मैं अनेक प्रकार से विनाश करता हूँ। इस प्रकार मैं भक्तों का सहायक होते हुए, भी वे अभागे लोग मुझ श्रीकृष्ण का भजन न कर अधःपतन की ओर अग्रसर होते हैं। तुम कहोगे कि जब शरीर में पाप है तो तुम्हारा भजन कैसे सम्भव होगा? तो सुनो। मेरा नाम क्षणभर में सारे पापों का विनाश कर देता है और उन्हें भस्म कर देता है। नाम का घोष सुनकर महापापों का समुदाय सरपट भागने लगता है, नाम के पास पापों का ठौर नहीं मिल पाता। सूर्य अन्धकार में डूब सकता है लेकिन पाप भक्त के पास नहीं आयेगा। जहाँ भक्तों के चरणों की धूलि पड़ती है वहाँ पापों का मूल ही नष्ट हो जाता है। मेरा नाम समझ लो संसार का एक ब्रह्मास्त्र है और महापातक बेचारी चींटी है। नाम के सामने उसका अस्तित्व टिक नहीं सकता। जब मेरे नाम का ऐसा प्रताप है, तो फिर मेरे भक्तों की दशा का क्या वर्णन करें? मेरी भक्ति की मुहर लगते ही वह सहसा कलिकाल की भी परवाह नहीं करता। इसलिये भजन देहाभिमान का नाश करता है, मेरे निजभजन के बिना देहाभिमान नहीं जाता। जिससे देहाभिमान टूटता है वह तुम्हारी भक्ति कैसी है? इसका उत्तर यही है कि अभेदभाव से पूर्णभक्ति करनी चाहिये, इससे देहाभिमान नष्ट होता है। समस्त प्राणिमात्र के प्रति भगवद्भावना रखना इसी का नाम है 'अभेद भक्ति'; यह भजन साध्य होते ही अहंकार शेष नहीं रहता। उसके मुख में मेरा नाम, उसके कान में मेरी कीर्ति, उसके मन में मेरी भक्ति और उसके हाथ पैर आदि अवयवों में मेरी क्रिया अर्थात् सेवा रहती है। वह जागृति में मुझे ही देखता है, वह स्वप्न में मुझ अकेले को ही देखता है, सारांश वह अपनी निष्ठा से मेरे सिवा चित्त को खाली नहीं रखता। इस प्रकार के भजन से तीनों गुणों का विलय हो जाता है। जिससे अहंकार से निवृत्ति होकर विषयासक्ति भी नष्ट होती है। ऐसे भक्तों को विषयों का सेवन कभी भी बाधक नहीं होता। सारे विषय वह मुझे ही अर्पण करता रहता है इसलिये उसे उनकी बाधा नहीं होती।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग कर जो विषय का त्याग करते हैं उन्हें ऐसा करने में अत्यन्त दुःख होता है लेकिन मेरे भक्त अपने विषय भगवान को ही अर्पण करते हैं इसलिये वे नित्यमुक्त होते हैं। हर ग्रास पर हरि का स्मरण करने से वह अन्न पूर्णरूप से परब्रह्म हो जाता है। उसकी बाधकता नष्ट होकर वह अपने ही आप ब्रह्मार्पण होता रहता है। भक्तों की भजन करने की रीति कुछ ऐसी होती है कि वे विषय में भी मेरे ही स्वरूप की भावना रखते हैं, जिससे विषय की स्फूर्ति मुरझा जाती है और वह बाधक नहीं होते। इस रीति से मेरा भजन करने से मन का मैल साफ हो जाता है और विकार सहित तीनों गुण और देहाभिमान नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जो मेरी भक्ति नहीं करते, अहंकार नहीं छोड़ते, विषय की आसक्ति करते हैं वही वास्तव में बाधक होती है। अकर्तात्मबोध पूरी तरह अंकित हुए बिना विषय का सम्बन्ध नहीं करना चाहिये क्योंकि विषयों की विषयरूप में निहित जागरूकता अत्यन्त अमंगल और बाधक है। विषय यद्यपि मिथ्या और मायिक हैं फिर भी साधकों को वे बाधक होते हैं। इसी विषय को श्रीकृष्ण स्पष्ट करके बताते हैं।

यथाऽऽमयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां पुनः पुनः संतुदति प्ररोहन्।
एवं मनोऽपकषायकर्म कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम्॥ २८॥

जिस वैद्य को रोग का निदान नहीं है, धातु पुष्ट है या क्षीण है यह समझ में नहीं आता, पथ्य और अनुपान का भी ज्ञान नहीं है और नाड़ी ज्ञान भी नहीं है, ऐसे वैद्य से दवा लेने से रोग और भी अधिक बढ़ जाएगा। उसी प्रकार वैराग्य हुए बिना विषय का त्याग करने से साधक को वह अपार बाधक सिद्ध होता है। अंतःकरण में विषय के प्रति घृणा नहीं है और ऊपरी त्याग से विरक्ति का भाव प्रदर्शित करता है, ऐसी पाखण्डी वृत्ति को 'कुयोग' समझना चाहिये। भगवद्भजन छोड़ तथा वेदविधि का मार्ग छोड़कर त्याग करना इसी का नाम है 'कुयोग'। कनककांता विषयों की आसक्ति और मन में दृढ़तर वासना के कायम रहते हुए बाह्य तौर पर झूठी विरक्ति दिखाने का नाम है 'कुयोग'। स्वयं को बहुत बड़ा राजयोगी समझना और पर्याप्त विषय सेवन करना इसी का नाम उत्तम 'कुयोग' है। अपनी विषयासक्ति को छिपाकर बाहर से विरक्ति का प्रदर्शन करना, यही 'कुयोग' का लक्षण है, उद्धव! ऐसे कुयोगी बार-बार जन्म लेकर और पुनः-पुनः मर कर दुःख के भँवर में गोते लगाते रहते हैं। उन्हें कौन छुड़ाएगा? न इहलोक का विषयभोग ही पूर्ण हुआ और न परमार्थ के लिये आवश्यक त्याग ही हुआ है। दोनों से वंचित होने के कारण कुयोगी के भाग्य में दुःख ही आता है। परमार्थ के लिये विषय त्याग का साधन करते हुए उन्हें भले ही रुकावट या विघ्न आयें, फिर भी जिन्हें पूर्ण अनुताप हुआ रहताहै उन्हें दुर्गति नहीं प्राप्त होती, यह ध्यान में रखो।

कुयोगिनो ये विहतान्तरायैर्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो युञ्जन्ति योगं न तुकर्मतन्त्रम्॥ २९॥

साधक ब्रह्मज्ञान के लिये विषय का त्याग करे और ठीक से अभ्यास करने लगे तो बीच में ही कोई विघ्न उपस्थित हो जाता है; साधकों के मार्ग में अनेक विघ्न आते हैं। काम की ही इच्छा प्रबल हो उठती है; संताप बढ़कर खलबली मचा देता है; शिष्य और सगे-सम्बन्धियों का उपसर्ग होता है और मन में स्वहित के प्रति ही ऊब उत्पन्न होती है। स्त्री के रूप में देवता भी अनेक प्रकार के उपसर्ग देने लगते हैं। ऐसे विघ्नों से योग का भंग होता है। वहाँ अनुराग अथवा अनुताप उसका उद्धार करता है। एकनिष्ठा से अभ्यास शुरू करने पर भी दैवयोग से विघ्न आते हैं। उस समय मन में वैराग्य उत्पन्न होने से वह योगी नियमित रूप से अभ्यास करने लगता है और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अपने योगाभ्यास के सामर्थ्य से विघ्नादि दोषों को समूल जला देता है। किन्तु कर्म के कर्मठ जाल को योगी स्पर्श भी नहीं करता। योग में विघ्न आकर उसमें योगी यदि मर भी जाता है तो भी अगले जन्म में वह कर्माधीन नहीं होता। यही बात श्रीकृष्ण ने स्वयं श्लोकार्ध में बतायी। योगसाधना करते प्रारब्ध से उसमें विघ्न आकर योगी यदि मर जाए तो उसमें क्या हानि है? विघ्न आने के कारण उसे पुनः जन्म लेना पड़ता है, बस इतना ही। लेकिन इस जन्म में भी वह कर्म के जाल में नहीं फँसता। पूर्वाभ्यास के योग से वह योगी पुनः नये सिरे से पहले के अभ्यास में लग जाता है। प्रवासी को यदि मार्ग में कोई संकट आता है तो वह बीच में ही कहीं मुकाम कर लेता है और दूसरे दिन पुनः उसी मार्ग पर लग जाता है। इस प्रकार योगी स्वयं ही प्रारब्ध के पूर्व संसार के योग से अपना योगाभ्यास पूरा करने लगता है किन्तु कभी भी कर्म के अधीन नहीं होता। साधनों में यदि मेरी भक्ति है तो अणुमात्र भी विघ्न नहीं आयेगा क्योंकि मैं भक्तों का पक्षधर श्रीपति दिन-रात अपने भक्तों का संरक्षण करता रहता हूँ। जहाँ मेरी भक्ति की चाह है, वहाँ बेचारे विघ्न क्या करेंगे? उद्धव! मेरा केवल नाम ही करोड़ों महा विघ्नों का नाश कर सकता है। भजन न करने वाले महायोगी, अभ्यास में विघ्न आने पर दूसरा जन्म लेते हैं, लेकिन वे भी पूर्व संस्कार से कर्म में उलझे नहीं रहते। जो जीवन्मुक्त हो जाते हैं, वे भी प्रारब्ध के ही अनुसार व्यवहार करते हैं; फिर योगभ्रष्ट पुरुष कर्मों का त्याग कैसे कर सकते हैं? उसका कारण भी सुनो। मुक्त का जो मोक्ष का लक्षण है वही साधक का मुख्य साधन रहता है, इसलिये उन दोनों को ही कर्मों का बन्धन बाधक नहीं होता। मैं कर्म कर्त्ता हूँ ऐसा अहंकार जिसे नहीं होता, उसे भी कभी कर्मबन्धन का स्पर्श नहीं होता।

करोति कर्म क्रियते च जन्तुः केनाप्यसौ चोदित आनिपातात्।
न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोऽपि निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या॥ ३०॥

जन्म से मृत्यु तक प्राणी जो भी कर्म करता है, वह सब 'प्रारब्ध कर्म' के रूप में कोई अपनी सत्ता से कराता है। उनमें सज्ञान और अज्ञान दोनों ही प्रारब्ध कर्म के अनुसार कर्म के ही अधीन रहते हैं; परन्तु अज्ञानी को 'मैं कर्त्ता' इस बात का अहंकार रहता है और ज्ञाता कर्म में निरभिमान होकर रहते हैं। अब तुम कहोगे कि देह में प्राण होते हुए देहाभिमान हुए बिना कैसे रहेगा? तो ज्ञाता आत्मसुखानुभव से पूर्ण होने के कारण उसे अहंकार का स्फुरण ही नहीं होता। रस्सी के साँप का भय रस्सी है यह देखकर जब बाधा समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मसुख का अनुभव प्राप्त होने के बाद बाधा करनेवाली अहंता का स्फुरण नहीं होता। अब योगकष्ट का लक्षण सुनो। उसका प्राचीन संस्कार, उसका योग पूरी तरह सिद्ध हो इसलिये उसमें देहाभिमान उत्पन्न ही नही होने देता। जो देह में नित्य अभिमानरहित रहते हैं, वही ब्रह्मसुख से सदा सम्पन्न रहते हैं, उन्हें देह का कर्माचरण कभी बाधक नहीं होता। ज्ञाता देहकर्म से अलिप्त रहता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। वह देहातीत ही रहता है। यही बात श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं।

तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम्।
स्वभावमन्यत् किमपीहमानमात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद॥ ३१॥

देह खड़ा रहता है लेकिन ज्ञाता को खड़े रहने का अनुभव नहीं होता; फिर देह के बैठने पर उसके बैठने को कौन स्वीकार करेगा? परिपूर्ण ब्रह्म में उठना और बैठना ये दोनों ही नहीं है और ज्ञाता तो ब्रह्म ही हुआ रहता है, इसलिये उठने या बैठने का उसे अनुभव नहीं होता। देह यह दैवयोग के अनुसार एकदेशी होता है किन्तु अपने को सर्वत्र देखता है। देह परदेश जाने लगता है तो ज्ञाता उसमें अपने गमन का विचार नहीं करता क्योंकि

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

परब्रह्म स्वरूप से परिपूर्ण है; उसका आना-जाना कैसा? ज्ञाता सदा तद्रूप ही रहने के कारण उसे रहने या जाने का भाव स्पर्श नहीं करता। ज्ञाता स्वयं शयन करने जाता है लेकिन वह भूमि पर की शैय्या नहीं देखता। इतना ही नहीं, अपितु मैं सोया हूं यह भी वह नहीं मानता। वह सदासर्वदा स्वरूप में ही निमग्न रहता है। ज्ञाता प्रसन्नतापूर्वक भोजन करने बैठता है; लेकिन मैं भूखा हूँ इसका भी उसे स्मरण नहीं रहता। रसना के जाने बिना वह सारे रस चखता है। ऐसी आत्मसुख की मधुरता में ही वह भोजन करता है। वह पर्याप्त भोजन कर चुका है ऐसा लगता है लेकिन न वह तृप्त ही रहता है और न क्षुधित ही रहता है, वह खाना झूठा भी नहीं करता और भरे संसार से उठ जाता है। वह भले ही सहज बात करता है लेकिन उसकी बातों में अनकही ही अधिक रहती है। उस बातचीत में भले ही रसमय माधुर्य उत्पन्न होता हो लेकिन उसकी मौन की गाँठ ढीली नहीं होती। मैं एक बहुत अच्छा और चतुर वार्ताकार हूँ, इसका अभिमान भी उसमें उत्पन्न नहीं होता। निरर्थक बात करना तो उसे आता ही नहीं। ठीक तरह बात करने पर भी वह न बोलने की तरह की रहता है। ज्ञाता सृष्टि की ओर आत्मसुख से देखता है; 'मेरा' और 'तुम्हारा' यह भी समझता है लेकिन वह आँखों से देखता ही नहीं है। सारे त्रैलोक्य को वह अपनी ही तरह समझता है। वह जिस दृष्य को देखने जाता है उस दृष्य का ठिकाना ही अदृष्य हो जाता है। वह जो कुछ भी देखता है वह सब उसे अपने जैसा ही दिखायी देता है क्योंकि वह सारी सृष्टि को स्वयं ऐक्यरूप से ही देखता है। आँखों का अंत कर ही ज्ञाता दर्शन रूप से देखता है, लेकिन उस देखने का सच्चा अर्थ वेदशास्त्र भी नहीं समझ सकेंगे। वह शब्दों का शब्दज्ञान जानता है, किन्तु 'मैं श्रोता' हूँ इस बात का उसे स्मरण ही नहीं होता। वह देह के कान की उपेक्षा कर सर्वांग से श्रवण करता रहता है। इस प्रकार वह स्वयं सज्ञान होकर जागृत रहता है। शब्दज्ञान को छील कर उसमें का स्वाभाविक अर्थ वह ग्रहण करता रहता है। वह घ्राण से सुगन्ध और दुर्गन्ध पहचानता है लेकिन उसका भोग करते समय वह नाक की अपेक्षा नहीं करता। पुष्प के अंतर्बाह्य सुगन्ध का आस्वाद वह सदा लेता रहता है। त्वचा से वह मृदु-कठोर आदि स्पर्श को जानता है; किन्तु 'मैं जानता हूँ' इस बात का उसे स्फुरण नहीं होता। जिसका अंग से स्पर्श हो उसे निजांगरूप करना, इस प्रकार का स्पर्श ज्ञाता अनुभव करते रहते हैं, ज्ञाता चरणों से चलता रहता है, लेकिन चलते समय भी वह अचरणीय होता है। वह भले ही स्वेच्छा से पृथ्वी पर विचरण कर रहा हो लेकिन वह अपने स्थान से हिलता भी नहीं है। वह अपने हाथ से दान देता है लेकिन तब भी 'मैं दाता हूँ' इस बात का उसे स्मरण नहीं होता। दिया हुआ और लिया हुआ दान वह स्वयं ही हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञाता हाथों की हलचल करता है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म स्वाभाविक रूप से ही होता रहता है किन्तु ज्ञाता ब्रह्मरूप से निर्दोष ही रहता है। वह देह का स्पर्श ही नहीं करता। ज्ञाता अकर्ता होता है तथा आत्मसत्ता से सारे कर्मों में विचरण करता रहता है। निरन्तर आत्मबोध में स्वस्वरूप में ही रहने के कारण वह कर्म, क्रिया अथवा कर्त्तव्यता को नहीं देखता। ज्ञाता नित्य आत्मसुख में ही रहने के कारण वह देह में होते हुए भी देह की ओर नहीं देखता। परमात्मसुख में ही सन्तुष्ट रहने के कारण वह देहकर्म में कैसे फँसेगा? सारे संसार को कर्मबन्धन लगा हुआ है। ऐसा होते हुए खाने-पीने वाले ज्ञाता को कर्मबन्धन क्यों नहीं होता। उसी का निरूपण श्रीहरि करते हैं।

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं नानानुमानेन विरुद्धमन्यत्।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम्॥ ३२॥

लोकरीति के अनुसार ज्ञाता भी लोकाचार से चलता रहता है। वह भी प्रपंच के लौकिक कर्म करता ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रहता है। किन्तु कार्य, कर्म और कर्तव्यता यह अहंता ज्ञाता को नहीं होती क्योंकि वह प्रपंच में ही निजात्मस्वरूप निश्चित रूप से वश में कर लेता है। विषयादि प्रपंचों का भान अज्ञानी सत्य मानते हैं; किन्तु ज्ञाता उसी प्रपंच को परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। शर्करा से बनाया करेला मीठा ही लगेगा, उसी प्रकार प्रपंच की कथा है। लाभ और हानि यह ज्ञान और अज्ञान पर निर्भर करता है। सुवर्ण की गुल्ली देखकर मूर्ख लोग उसे ईंट या पत्थर समझते हैं, किन्तु ज्ञाता उसकी कद्र करते हैं और ज्ञानदृष्टि से अच्छा मोल देकर खरीदते हैं। उसी प्रकार सांसारिक क्रिया कर्म मूर्ख को मूर्खता के कारण विषम लगता है; किन्तु ज्ञाता को वही परब्रह्म लगता है और वह सर्वकाल उसमें स्वानंद से सन्तुष्ट रहता है। पहले प्रपंच को खन कर हटा देना और फिर ब्रह्मभाव धारण करना इस बात की भी उस भाग्यवान को आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि वह सब कुछ ब्रह्मरूप देखता रहता है किन्तु अनाड़ी लोग मिलकर उससे भीषण अनुमान निकालते हैं और उन्हें सच समझते हैं। उसी प्रकार प्रपंच का मिथ्या भान अज्ञानी लोग बाधक मानते हैं किन्तु ज्ञाता लोग उसे ही परिपूर्ण ब्रह्म समझते हैं। सोये हुए व्यक्ति को स्वप्न सच ही मालूम होता है, उसी प्रकार अपने भ्रम के कारण प्रपंच सच ही मालूम होता है, लेकिन जिसका आत्मज्ञान जागृत होता है, उसे वही प्रपंच स्वस्वरूपज्ञान के बोध से निश्चित ही मिथ्या मालूम होता है। प्रपंच का भास मिथ्या है यह जानकर जो ज्ञानसम्पन्न होते हैं, उन्हें किसी भी कर्म में विचरण करते समय कभी भी देहाभिमान उत्पन्न नहीं होता। साधकों का स्वार्थ साधने के लिये पहले 'स्वस्वरूप से भगवान हो गया' यह कहने से वह सचमुच विचारवश हो गया है ऐसा कहोगे तो उचित नहीं होगा क्योंकि परब्रह्म और आत्मतत्त्व कभी विकारवश नहीं होते। वह सदा सर्वदा समसाम्य अर्थात् निर्विकार ही रहता है। इसी सम्बन्ध में श्रीकृष्ण आत्मज्ञान से बता रहे हैं।

पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्रमज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग।
निवर्तते तत् पुनरीक्षयैव न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा॥ ३३॥

यह संसार साधकों की पूर्वावस्था में मायावशता के कारण अत्यन्त अतर्क्य मालूम पड़ता है, किन्तु शुद्ध परब्रह्म गुणकर्मों के प्रकारों से अनेक रूपों में भासित होता है। नाम, रूप, व्यक्ति, वर्ण, कुल, गोत्र, क्रियाचरण इस प्रकार प्रपंच को अज्ञानी भिन्न और सत्य मानते है। लेकिन यह प्रपंच ब्रह्म के स्थान पर आरोपित है, इसलिये ब्रह्म भी तद्रूप ही मालूम होता है। स्फटिक किसी भी रंग से अलिप्त रहता है, लेकिन जिसके साथ उसका सम्बन्ध होता है, उसी की तरह वह भी लगता है। इस प्रकार अज्ञान के कारण संसार भिन्न मालूम होता है, इसीलिए आत्मा को भी विकारी कहते हैं। लोग अज्ञान के कारण इतने अविचारी हो जाते हैं। उस अज्ञान की निवृत्ति हो जाए तो साधकों को मेरी प्राप्ति सुलभ हो जाएगी। इसलिये मेरी सच्ची भक्ति मैंने यथार्थ रूप में प्रकाशित की। साधकों का सच्चा स्वार्थ शीघ्र पूर्ण हो सके इसीलिये 'समस्त प्राणिमात्र में भगवान है' यह गुह्यार्थ मैंने बता दिया। इस अनुसंधान को धारण कर मेरा मनोभाव के साथ भजन करने से 'मैं' 'तू' वाली भावना नष्ट होकर, अविद्या के साथ अज्ञान भी समूल नष्ट हो जाता है। फिर दृश्य, द्रष्टा, दर्शन, त्रिगुणों के साथ कार्य, कारण और प्रपंच का भान भी नहीं रहेगा। परिपूर्ण ब्रह्म ही पूर्णत्व से भर जायेगा। वहाँ नाम, रूप, गुण, जाति, महाभूत तथा भूतव्यक्ति इनमें से कुछ भी नहीं रह जाता। सहज स्थिति में परिपूर्ण चैतन्य ही रहता है। ब्रह्म के ब्रह्म की स्फूर्ति भी उत्पन्न नहीं होती। वह ऊँचा भी नहीं है और नाटा भी नहीं है। मोटा भी नहीं है और कृष भी नहीं है, सरल भी नहीं है और वक्र भी नहीं है। उसे किसी भी प्रकार का विकार नहीं है। वहाँ न ठंडक है, न उष्णता है। वह मृदु भी नहीं है और कठोर भी नहीं है। वह मीठा भी नहीं है और कडुआ भी नहीं है। सुख-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

दुःख रहित वह केवल निर्द्वंद्व ही है। चिद्रूप होने के कारण वह न आँखवाला है न अन्धा है। वह यहाँ भी नही है, वहाँ भी नहीं है, वह न आता है न जाता है, वह न निकट है न पास में है, वह सदा सर्वसिद्ध ही है। वह खाता भी नहीं है और भूखा भी नहीं है; वह न देता है, न लेता है; वह न जीता है न मरता है, वह परादि वाचा के परे होने के कारण परात्पर है। वह बद्ध भी नहीं है और मुक्त भी नहीं है; वह नित्य भी नहीं है और अनित्य भी नहीं है; वह नाराज भी नहीं होता और प्रसन्न भी नहीं होता। परब्रह्म सदा सत्वस्वरूप में ही रहता है। वहाँ पाप भी नहीं है और पुण्य भी नहीं है; वह साकार भी नहीं है और शून्य भी नहीं है। वह सगुण भी नहीं है और निर्गुण भी नहीं है; वह स्वानंद से पूर्ण सुखस्वरूप है। समस्त प्राणिमात्र भगवान के ही रूप हैं, इस दृष्टि से मेरे भक्त मेरा भजन कर स्वयं मेरा परिपूर्ण स्वरूप बनकर रहते हैं। संत के रूप में कुछ लेना अथवा असंत के रूप में कुछ त्यागना ऐसा अलग कुछ उनमें रह ही नहीं जाता क्योंकि वे ब्रह्मस्वरूप में परिपूर्ण हुए रहते हैं। बद्धकाल की बद्धता आत्मा स्वीकार नहीं करता अथवा मुक्तकाल की मुक्तता को भी आत्मा स्पर्श नहीं करता। आत्मा अविकारी है, वह इस निरूपण से तुम्हारी समझ में आ जायेगा। इतने पर भी न समझ में आये तो पुनः बताता हूँ, सुनो। आत्मा सर्वदा नित्य है, इसलिये उसे उत्पत्ति नहीं है। जिसे उत्पत्ति ही नहीं है वह कभी गर्भ को स्पर्श नहीं करेगा और जिसे गर्भ और जन्म नहीं है, उसे देह भी नहीं है और देह के बिना वृद्धि भी सम्भव नहीं है। जो सदा विदेही है, उसे कर्म सम्भव नहीं होता और बिना कर्म के आत्मा को बन्धन भी नहीं होता। जिसे कोई अवयव ही नहीं है, उसका कोई संस्कार ही नहीं होगा और जिसका आकार ही नहीं है, उसे विकार भी स्पर्श नहीं करेगा। जो गर्भ और जन्म से विरहित है, उसके पास मृत्यु भी नहीं आ सकती। काल भी उस पर आघात नहीं कर सकता। इस प्रकार परमात्मा क्षयातीत है। जिसे जन्म, कर्म और मरण नहीं है उसे विकारी कौन कहेगा? इस प्रकार उद्धव! परब्रह्म पूर्ण अविकारी है यह जान लो। प्रगाढ़ अज्ञान फैलने पर भी आत्मा को नष्ट नहीं किया जा सकता; अथवा ज्ञान कितना ही प्रखर हो तो आत्मा नया नहीं हो सकता। आत्मा ज्ञान, अज्ञान से अलिप्त नित्य तथा निर्विकार है। यही बात श्रीकृष्ण दृष्टांत देकर बताते हैं।

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्यान्न तु सद् विधत्ते।
एवं समीक्षा निपुणा सतो मे हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः॥ ३४॥

आँखों की दृष्टि पर अन्धकार प्रतिबन्ध करता है। सूर्य का उदय होने पर वह उस अन्धकार को दूर करता है लेकिन नयी दृष्टि उत्पन्न नहीं करता। उसी प्रकार अविद्या क्षुब्ध होकर कितनी भी उग्र हो जाय लेकिन वह आत्मा को नष्ट नहीं कर सकती। वह पुरुष की बुद्धि पर परदा डाल कर झूठा द्वंद्व दिखाती है। शुद्ध ज्ञान प्राप्त होने पर वह अविद्या का मल निकाल देती है लेकिन नया आत्मा उत्पन्न करने का सामर्थ्य ज्ञान में नहीं है। आत्मा अपने प्रकाश से ज्ञान को तथा अज्ञान को भी प्रकाशित करती है अर्थात् वह ज्ञान अथवा अज्ञान परमात्मा को कभी भी स्पर्श नहीं करता। ज्ञानाज्ञान विकार सचमुच अविद्याजन्य है और आत्मा अविद्या से परे है। इसीलिये वह नित्य और निर्विकार है। सूर्य को यदि रात्रि नहीं है तो उसके लिये दिन भी कौन-सा है? उसी प्रकार आत्मा को भी ज्ञान और अज्ञान दोनों ही स्पर्श नहीं करते। आत्मा निर्विकार एवं स्वयंप्रकाश है। वह ज्ञान की और अज्ञान की स्थिति से अलिप्त है। ऐसी उस स्वरूप की सुलभ प्राप्ति का उपाय श्रीकृष्ण उद्धव को बता रहे हैं।

एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेया महानुभूतिः सकलानुभूतिः।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे येनेषिता वागसवश्चरन्ति॥ ३५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'एष स्वयंज्योति' का अर्थ यह है कि परमात्मा स्वप्रकाशघन है और साधक भी परमात्मा से अभिन्न होने के कारण तद्रूप ही है। आत्मा अपने पूर्णत्व से ही परिपूर्ण है; उसे निराली माता, पिता कहाँ से होंगे? इसलिये आत्मा को जन्म की बात ही नहीं है। त्रिगुणों के तीन प्रकार के मल समूल मिथ्या अर्थात् मायिक हैं। उनका आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं होता। इसलिये आत्मा निर्मल है। अब उसे 'अप्रमेय' क्यों कहते हैं, यह सुनिये। उसके सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं बताया जा सकता। काला, गोरा, साँवला, नीला, सफेद, पीला अथवा यहाँ, वहाँ, दूर, पास, इन सारे प्रमाणों से अलग ही परमात्मा है 'महानुभूति' इस पद का अर्थ—आत्मा अखण्ड दंडायमान अर्थात् सर्वव्यापी, अपने आत्मस्वरूप में ही समसमान तथा सदा-सर्वदा स्वानंदघन है। यहाँ देश, काल वर्तमान, ध्येय, ध्याता, ध्यान अथवा ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान; यह भी सच नहीं रहता। नाम, रूप, जाति, गोत्र और क्रियाकर्म आदि से अलिप्त रहने वाला, उसे जन्म और मरण किसका? आत्मावस्तु सर्वदा स्वानंदपूर्ण ही रहती है। वहाँ वृद्धि और ऱ्हास या आदि-मध्य-अन्त का खेल अथवा परिणामादि विकार आदि का भी प्रवेश नहीं होता। तुम कहोगे कि पहले बताये हुए धर्म इसमें कैसे प्रवेश नहीं करते? तो 'सकलानुभूति' इस पद से आत्मवस्तु सर्वोपरि अलिप्त है यह बताया गया है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार धर्म और अधर्म, तथा प्राणिमात्रों का क्रिया कर्म इनका प्रकाश मैं आत्माराम ही हूँ। श्रेष्ठ परमात्मा इससे भी अलिप्त है। घर के गंगाजल को अथवा मद्य को आकाश का आवरण रहता है, लेकिन वह दोनों से ही अलिप्त रहता है। इस प्रकार परमात्मा भी ज्ञान-अज्ञान से अलिप्त रहता है। जहाँ ज्ञान-अज्ञान का ही अभाव है, वहाँ कर्माकर्म को कहाँ स्थान है? इसी का नाम है 'सकलानुभूति' यहाँ स्वानंद के कारण भेदभाव नहीं है। ऐसा परमात्मा परमानंदरूप है। इसमें सजातीय, विजातीय तथा स्वगत का भेदभाव नहीं है। इस प्रकार आत्मवस्तु शुद्ध होती है, यह प्रसिद्ध ही है यह आत्मज्ञान से जानना चाहिये। मैं देह हूँ यह कहना 'विजातीय भेद' है। मैं जीव हूँ यह कहना 'सजातीय भेद' है और मैं ब्रह्म हूँ इस बात का स्फुरण यह 'स्वगत भेद' है। ये तीनों ही भेद परमात्मा को नहीं मालूम हैं। वहाँ युक्ति प्रयुक्ति लक्षण की आवश्यकता नहीं होती। ब्रह्म परिपूर्ण एवं एक है। ऐसा एक ही अद्वितीय परब्रह्म आत्मगुह्य का गुह्य है। जो इसे जान ले वह बहुत भाग्यवान है। उसे संसार भ्रम की बाधा नहीं होगी। देह में रहने पर भी उसे देह की बाधा नहीं होती। उन्हें कर्माचरण भी कमी बाधक नहीं होता और जन्म-मरण की भी बाधा नहीं होती। ऐसे ज्ञान के बारे में सुनकर यदि तुम उसे स्पष्ट करने को कहो तो उसे करने में वाचा समर्थ नहीं है। शब्दों के साथ श्रुति भी पीछे हट जाती हैं। जहाँ विवेक सम्पन्न बुद्धि भी प्रवेश नहीं कर सकती, चंचल होने के कारण मन भी जहाँ पहुँच नहीं पाता, वह परब्रह्म वाणी के अधीन कैसे रह सकता है? अर्थात्, कभी नहीं होगा। शास्त्रों की व्युत्पत्ति समाप्त हो गयी, दर्शन अभी तक वाद-विवाद ही कर रहे हैं; श्रुति भी 'जहाँ नेति नेति' - न इति कहकर थक गयी वहाँ वाणी क्या करेगी? वह भी ठहर गयी। जिज्ञासा की उत्कंठा से शब्द ज्ञान ने पहल की। लेकिन परब्रह्म का एक भी नाम लेने के लिये ज्ञान कम पड़ा। इस प्रकार अच्छी तरह विचार करने पर परादि वाणी भी उसका उच्चार नहीं कर सकी। इसीलिये यह ब्रह्म परात्पर और क्षर-अक्षर से परे है। वह सदा सभी अवयवों से शून्य लेकिन अन्त में स्वयं भी शून्य है। शून्य का प्रकाशक चित्स्वरूप परब्रह्म भी एकत्व से परिपूर्ण है। वहाँ प्रवेश करने के लिये अनेक प्रकार की युक्तियाँ चलायी लेकिन जिस प्रकार सूर्योदय होते ही जुगनूँ अदृष्य हो जाते हैं उसी प्रकार वे चिदाकाश में लुप्त हो गयी। जुगनूँ यदि सूर्य से गले मिल सकता तो ब्रह्म भी वाचा के हाथ लग जाता है। आत्मवस्तु के आगे शब्दों का सारा पांडित्य लुप्त हो जाता है। सूर्योदय हो जाने पर जुगनू जिस प्रकार खोजने पर भी नहीं मिलता उसी तरह आत्मवस्तु जब हाथ में आ जाती है तब शब्दों का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। अँधियारी रात में जो दीपक से काम चलाते हैं, वे सूर्योदय होने पर दीपक को त्याग देते हैं। उसी प्रकार साधक शाब्दिक ज्ञानयुक्ति से, अनुतापयुक्त अंत:करण से ब्रह्म का विचार करते हैं, लेकिन जिन्हें ब्रह्मप्राप्ति हो चुकी है, वे शब्द की उपेक्षा करते हैं। जैसे-जैसे शब्दों का अभिमान बढ़ता है, वैसे-वैसे ब्रह्मज्ञान दूर भागता जाता है। उद्धव, उसका भी लक्षण बताता हूँ, सुनो। जब वर को कन्या देनी होती है तो माता, पिता, बन्धु, ज्योतिषी तथा इष्टमित्रों से मिलकर वह कन्या वर को अर्पण करते हैं। किन्तु पति के साथ एकान्त के समय माता, पिता और रिश्तेदारों की उपस्थिति उसके लिए पति सुख में व्यवधान उपस्थित करती है। उसी प्रकार योग्यता, चातुर्य, शब्द ज्ञान आदि होने पर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। जिस प्रकार आँख में एक कण भी सहन नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म में भी कल्पना सहन नहीं होती। इसलिये निर्विकल्प भाव से देखने पर ही शुद्ध ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। जब सारे ज्ञान का अन्त और सारे भाषणों का जहाँ विराम होता है, तभी परब्रह्म की प्राप्ति होती है, ऐसा श्रीकृष्ण ने बताया। जिसका बुद्धि से आकलन नहीं होता, वह मन को कभी प्राप्त नहीं होता, जो शब्द का विषय ही नहीं है वहाँ प्रमाण के कदम नहीं बढ़ते। इस प्रकार आत्मवस्तु किसी उपाय से नहीं प्राप्त होती इसलिये वह वस्तु ही नहीं है, ऐसा यदि तुम मन में विचार कर रहे हो, तो उसके बारे में सुनो। मूल श्लोक का पद—'येनेषिता वागसवश्चशति', अर्थात् देह, इन्द्रिय और प्राण ये जड़मूढ़ और अचेतन हैं; उन्हें चिद्धन आत्मा ही चैतन्य प्रदान करता है। उसका भी लक्षण सुनो। आत्मा के प्रकाश से ही दृष्टि प्रकाशित होती है लेकिन आत्मा दृष्टि को स्पर्श भी नहीं करता, दृष्टि में भीतर और बाहर आत्मा ही रहता है, लेकिन वह अदृष्य होने के कारण दिखायी नहीं देता। आत्मा की सत्ता से ही कान श्रवण करते हैं, लेकिन उस कान को आत्मा स्पर्श नहीं करता। कान के भीतर और बाहर व्याप्त होने पर भी आत्मा श्रवण का विषय नहीं बनता। आत्मसत्ता से ही वाणी प्रकट होती है लेकिन वाणी के शब्दों को आत्मा स्पर्श नहीं करता। शब्द के आगे-पीछे आत्मा भरा रहता है लेकिन उस शब्द को आत्मा का अनुभव नहीं होता। आत्मसत्ता से ही मन चपल है; मन के भीतर और बाहर आत्मा है लेकिन वह मन को बिलकुल स्पर्श नहीं करता। आत्मा को मन नहीं जान पाता। चैतन्य ही चित्त को जागृत करता है, चित्सत्ता से ही चित्त में चिन्तन उत्पन्न होता है; चित्त के भीतर-बाहर परिपूर्ण चैतन्य ही रहता है; फिर भी उस चित्त को चैतन्य मालूम नहीं होता। आत्मा के संयोग से 'अहं' उल्हसित होता है लेकिन उस अहंता को आत्मा कभी स्पर्श नहीं करता। अहंता के अंतर्बाह्य आत्मा रहता है लेकिन वह अहंकार को दिखायी नहीं देता। आत्मप्रभा के प्रकाश से ही विवेकबुद्धि प्रकाशित होती है; बुद्धि के भीतर और बाहर आत्मा रहता है लेकिन बुद्धि आत्मा को नहीं पहचानती। आत्मा की प्रभा से ही प्राण चालित होता है, फिर भी प्राण को आत्मा स्पर्श नहीं करता। प्राण के भीतर-बाहर आत्मा रहता है लेकिन प्राण परमात्मा को नहीं पहचानता। उद्धव तुम इस प्रकार देखने का प्रयत्न करो। जिसके योग से जड़ व्यवहार कर रहा है, वह आत्मा स्वत: सिद्ध ही होता है। वह नहीं है, ऐसा कल्पांत में भी नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मा स्वत:सिद्ध है। भेद में रमण कर अभेद ही रहता है, द्वंद्व प्रकाशित करके भी निर्द्वंद्व रहता है। इस आत्मज्ञान को दृढ़ करना चाहिये। सारांश आत्मा निर्द्वंद्व और अद्वैत है, वह है या नहीं यह कहने के लिये भी कोई नहीं बचता क्योंकि आत्मा आत्मस्वरूप से परिपूर्ण है। आत्मा सदा आत्मस्वरूप में ही रहता है, व्यर्थ ही उस पर सांसारिक होने का आरोप लगा है। इस विषय में श्रीकृष्ण अगले श्लोक में बता रहे हैं।

एतावानात्मसम्मोहौ यद् विकल्पस्तु केवले।
आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि॥ ३६॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आत्मा नित्यमुक्त है, तीन गुणों से परे है; सर्वदा परिपूर्ण ही रहने के कारण वह आकाश से भी अत्यन्त अलिप्त रहता है। ब्रह्म अखण्ड दण्डायमान होकर सदा सर्वदा आनन्दघन है। ऐसी अलिप्त वस्तु पर प्रपंच का आरोप मिथ्या है। उस आरोप का अधिष्ठान भी स्वयं परमात्मा ही है। इसलिये प्रपंच का भान होता है। प्रपंच को परमात्मा से अलग कोई स्थान ही नहीं है; इसलिये उत्पत्ति, स्थिति और लय का भी वहाँ भास होता है। रस्सी वाला सर्प रस्सी से अलग नहीं दिखायी देता लेकिन वह रस्सी सर्प नहीं बन जाती, फिर भी वहाँ सर्प का आभास होता ही है। उसी प्रकार ब्रह्म पूर्व निर्विकल्प है। उसे रूप, नाम, गुण, कर्म आदि स्पर्श भी नहीं करते। फिर भी मन का भ्रम विषम प्रपंच की कल्पना करता ही है। जिस प्रकार रस्सी में मिथ्या सर्प का आभास होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में संसार का मिथ्या आरोप होता है। अर्थात्, उसमें सुख, दुःख, भय, कम्पन यह प्रयास भी मायिक ही है। सारांश प्रपंच का भास मिथ्या है, आत्मवस्तु शुद्ध एवं आनन्दमय है। उसी प्रकार ब्रह्म परिपूर्ण एवं अद्वय है, ऐसा निरूपण से स्पष्ट हुआ है। इस प्रकार अनेक युक्तियों से ब्रह्म की अद्वयता अबाधित रूप से सिद्ध की। जो पण्डित यह नहीं मानते उनके मत का श्रीकृष्ण खण्डन करते हैं।

यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम्।
व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽप्यं द्वयं पण्डिमानिनाम्॥ ३७॥

इस प्रकार वेदों द्वारा प्रतिपादित, सभी शास्त्रों का मतिमार्थ जो ब्रह्म है वह सदासर्वदा अद्वय ही रहता है यह मैंने सिद्ध करके दिखला दिया। मेरे इस मत को पण्डित लोग झटक कर, अपने ज्ञान में अत्यन्त उन्मत्त होकर अपने पांडित्य के अभिमान में चूर हो जाते हैं। उनका मत है कि जब प्रपंच अनुभव सिद्ध है, तो उसे मिथ्या मानकर यह अद्वैत कहाँ से निकल आया? अद्वैत को स्थान ही नहीं है, कहीं भी जाकर देखिये, अद्वैत का कोई निश्चित ठिकाना नहीं है। इसलिये वह सारा झूठ है। ये पण्डित लोग रूप, नाम, गुण, कर्म विषम से पंचमहाभूत और भौतिक, चातुर्वर्ण्य और चार आश्रम ये सत्य हैं, ऐसा मानते हैं। इन्हें सत्य मानने का कारण यह है कि ये मन के भ्रम से भ्रमित हुए रहते हैं, ज्ञानाभिमान के कारण फँस जाने के कारण वे अपने आप को ही भूल जाते हैं। वे विषय के सुख को प्रमुख मानते हैं और उसके लिये उत्कृष्ट पुण्य कमाकर स्वर्ग का भोग अवश्य करना चाहिये यही सत्य है, ऐसा मानते हैं। विषय को बिलकुल सच मानना यह देहाभिमान का असली मर्म है। उसने सज्ञान लोगों को अधम बनाकर जन्म-मरण भोगने को बाध्य किया है। पुनः स्वर्ग, पुनः नरक, पुनः गर्भवास, इस प्रकार पण्डित लोगों के अहंकार ने पठत मूर्ख बना दिया है। उनका ज्ञान वेदबाह्य होने के कारण बिलकुल ग्राह्य नहीं है। अंत्यजों का अन्न जिस प्रकार अग्राह्य है, उसी प्रकार उनका ज्ञान भी अत्यन्त त्याज्य है। ज्ञानाभिमानी लोगों का विचार अज्ञान का शुद्ध सार है। उनका जो दृढ़ निश्चय है वह सचमुच महामोह है। उनका विवेक इन्द्रायण फल जैसा है, ऊपर से देखने में सुन्दर किन्तु भीतर विष से भरा हुआ। प्रपंच नामरूपात्मक है, मायिक होने के कारण वह मिथ्या है यह बिलकुल सच है किन्तु ज्ञानाभिमानी उसे ही सच मानकर व्यर्थ की कचकच करते रहते हैं। प्रपंच की रचना को यदि सत्य मानें तो 'मैं देह हूँ' यह बुद्धि माथे पर बैठ जाती है और दारिद्रय में गिराती है। उनकी योग्यता देखें तो उनका वेदपठन बिलकुल गायत्रीतुल्य रहता है। सारे शास्त्र, श्रुति, पुराण, इतिहास सब कुछ उन्हें अवगत रहता है, उत्कृष्ट वक्तृत्त्व और समय-सूचक भाषण करने में पारंगत होने के कारण वह अहंकार से फूल जाता है। अद्वैत का समाधान उन्हें मालूम नहीं होता फिर भी योग्यता का अहंकार कम नहीं होता। ऐसे अहंकारी पण्डितों की बात गरीब अज्ञजनों को नहीं सुननी चाहिये क्योंकि देहाभिमान से जिन्हें लूट

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लिया है ऐसे लोगों के सौजन्य से भी अध:पतन होता है। विष खानेवालों की पंक्ति में जो पुरुष अन्न की आशा से बैठेगा उसे, बिना बुलाये ही मृत्यु का निमंत्रण प्राप्त हो जायेगा। इसलिये ऐसे लोगों की संगत नहीं करनी चाहिये, उनसे बात भी नहीं करनी चाहिये; उनके घर कभी नहीं जाना चाहिये, जीवभाव से उनका त्याग ही करना चाहिये। उनके मुँह नहीं लगना चाहिये, उनके मार्ग पर नहीं चलना चाहिये, जो ज्ञान के अभिमान में भूल जाते हैं, वे अपने हित से वंचित हो जाते हैं। उन्हें अपने घर नहीं जाना चाहिये, स्वयं उनके घर नहीं जाना चाहिये। जो अभिमान से लुट जाते हैं, उनसे कोई बात नहीं करनी चाहिये। उनसे बाजार में भी नहीं मिलना चाहिये; उन्हें आँखों से देखना भी नहीं चाहिये; धर्मशील मनुष्य के लिये जिस प्रकार परनिंदा त्याज्य है, उसी प्रकार उसे भी पूरी तरह त्याज्य समझना चाहिये। वेदशास्त्रों का मतितार्थ अद्वैत परमार्थ जो स्वार्थ सिद्ध करने वाला है, उसे जो नहीं पसन्द करते हैं, उनके यहाँ अनर्थ विचरता रहता है। इसीलिये उनकी संगत से दूर रहना चाहिये। अब साधकों के योग का स्वरूप और उसमें आने वाले विघ्नों की निवृत्ति श्रीकृष्ण बताते हैं।

योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः॥ ३८॥

योगी योगाभ्यास प्रारम्भ करता है तो उसके पूर्ण होने के बीच अनेक प्रकार के विघ्न उसे कष्ट देते हैं। शरीर में कोई रोग ही उत्पन्न होता है; अथवा विषय का विकार खलबली मचा देता है; अथवा जल्दीबाजी या भ्रान्ति के कारण संकट आता है; या विकल्प उत्पन्न होकर ही योग का भंग होता है। अथवा ज्ञान का अहंकार ही बहुत बढ़ जाता है जिससे दूसरों के गुणदोषों की कुचेष्टा करना यही एकान्त में बात करने का विषय बन जाता है। कभी देह में शीत बढ़ जाता है या ऊष्मा बढ़ जाती है; प्राणवायु गलत राह पकड़ लेता है या क्षुधा अधिक बार लगने लगती है। कभी कल्पना का भय तथा प्रकाश दर्शन आदि विघ्न उपस्थित हो जाते हैं अथवा पराया धन और परस्त्री का चस्का लग जाता है। इस प्रकार के अनेक उपसर्ग आते हैं। उन्हीं के निवारण के लिये श्रीकृष्ण उपाय बताते हैं।

योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत्॥ ३९॥

देह में ठंडक बढ़ने पर, अग्निधारण करने से उसका निवारण होता है; देह में उष्णता बढ़ने पर सोमधारणा करने से वह दूर होती है। अकस्मात् वायु वाममार्ग पर चला गया हो तो देह में वायु भर लेना चाहिये, वायु में वायु मिलने पर, अभ्यास से वह पूर्व स्थिति पर आ जाता है। कभी-कभी जब वायु का क्षोभ बढ़ कर उसका दबाव पेट पर होता है, तब क्षुधा अत्यन्त बढ़ जाती है, कभी खाने से तृप्ति नहीं होती। ऐसे समय प्राणवायु का उत्सर्ग कर अपानवायु को अन्दर करें। वह जठर की ओर आता है तो क्षुब्ध हुआ प्राणवायु सहज ही उधर ही आता है। उस समय साधक को प्राण और अपान की एकता सहज ही प्राप्त होती है; फिर षट्चक्र भेद कर निकलने में क्षणभर का समय भी नहीं लगता। तब साधक को सत्रहवीं को अमृतपान करने का अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार योगी क्षुधा की बाधा को समाप्त कर देते हैं। अब हे उद्धव! परद्रव्य और परस्त्री पर आसक्ति होना, पापों का फल है। उसका निवारण करने के लिये तपश्चर्या ही एकमेव साधन है। भक्तिभाव से मंत्रों का अनुष्ठान करने से वैराग्य उत्पन्न होता है; उस वैराग्य से साधक की विषयवृत्ति का सहज ही निर्दलन होता है। शुद्ध मंत्रों का पुरश्चरण सभी विघ्नों का नाश करता है। उससे पिशाच बाधा का भी समूल विनाश होता है। शरीर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में व्याधि का प्रवेश होने पर दिव्यौषधि उसका संहार करती है; उसी प्रकार मन की व्याधि दूर करने के लिये निश्चयपूर्वक योग की साधना करें। योगसिद्धि साध्य होने से आधिव्याधि समूल नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार उद्धव! वह योगसिद्धि अन्य भी कई विघ्नों का नाश करती है। ये भिन्न-भिन्न उपाय कितने बतायें? भक्तिभाव से मेरा ध्यान करने पर सारे विघ्नों का नाश होता है। उसी का निरूपण श्रीकृष्ण करते हैं।

कांश्चिन्ममानुध्यायेन नाम संकीर्तनादिभिः।
योगेश्वरानुवृत्या वा हन्यादशुभदाञ्छनैः॥ ४०॥

उद्धव! मेरा क्षण भर ध्यान करने से ही आधि-व्याधि सहित सारे विघ्न, विकल्प, विकर्म, देहाभिमान तथा ज्ञानाभिमान आदि सारे भस्म हो जाते हैं। मेरा ध्यान करने की आदत डालने से सभी उपसर्ग धीरे-धीरे भाग जाते हैं, खोजने से भी विघ्न नहीं दिखायी देता। साधकों के लिये सारी सृष्टि निर्द्वंद्व हो जाती है। सारे विघ्नों का अभाव होकर विकल्प अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं। अब तुम पूछोगे कि आसन लगाकर कब बैठा जाय? मन को कब एकाग्र किया जाय? इतना करके भी जब तुम्हारा ध्यान मन में बसेगा तभी तो विघ्नों की बाधा होगी? तो सुनो! मेरा ध्यान भी मन में न बसता हो तो दूसरा आसान उपाय है। वह यही है कि मेरा नामकीर्तन करो। हरिनाम से भी विघ्नों का नाश होता है। जहाँ नाम की घड़घड़ाहट होती है वहाँ विघ्नों को रास्ता ही नहीं मिल पाता। मेरे नाम की कीर्ति जिसके मुख में अखण्ड बस्ती करती है, उसे देखकर सारे विघ्न भाग जाते हैं। समस्त उपसर्गों का नाश हो जाता है। मेरे नाम का गजर महापातकों का संभार भगा देता है। विघ्नों के लिये स्थान ही नहीं छोड़ता। हरि के नाम में इतना सामर्थ्य है। भूल कर भी मेरा नाम ले लेने से वह समस्त पातकों को भस्म कर देता है। फिर जहाँ मेरे गुण नाम-कर्म का अखण्ड गायन चल रहा हो वहाँ विघ्नों का स्पर्श भी नहीं होगा। जिसकी वाणी मेरे नाम की बिरुदावली गाती हो, उसके सामने विघ्न उसी प्रकार नहीं आते, जिस प्रकार सूर्य के सामने अन्धकार नहीं आ पाता। इस लोक में मेरी नामकीर्ति के अलावा जिसका मुँह खाली नहीं रहता, वह जिस प्रकार पतंगे को अग्नि जलाता है, उसी प्रकार महाविघ्नों को भस्म कर देता है। 'नामकीर्ति' श्रेष्ठ है यह तो विश्वासपूर्वक स्वीकार है, किन्तु वह नाम मुख में रहे तो कैसे? उसके लिये क्या करना चाहिये? यह कहोगे तो इसके लिये साधु की सेवा करे, संतों की सेवा पर जीव-भाव से भक्ति करें। इससे, वहाँ विघ्नों का प्रवेश नहीं होता। सद्भावना से सत्संगति करने से उससे मुख में नामकीर्ति बस जाती है और चित्त में विकल्प उत्पन्न नहीं होता। मुख को हरिनाम की मधुरता तथा मन को संतसेवा की चाह हो तो उसके प्रभाव से कोटि-कोटि विघ्नों का नाश होता है। साधकों का रक्षक संतसंग यदि निजसखा हो जाय तो वह एक ही क्षण में महाविघ्नों के मुँह तोड़ देता है। साधु का चरणोदक सेवन करने से साधक अत्यन्त शुद्ध हो जाते हैं और उस शुद्धत्व से महादोष निर्मूल हो जाते हैं। साधु के चरणतीर्थ के पास सारे तीर्थ शुद्धि के लिये आते हैं, इसलिये वह तीर्थ भक्तिभाव से सेवन करने से सारे विघ्न नष्ट हो जाते हैं। साधुओं की चरणधूलि का वन्दन करने से साधकों का कार्य सिद्ध होता है। विघ्नों का बीज ही नष्ट होकर उन्हें स्वानंद का अनुभव होता है। भाग्य से यदि संतों की चरणरज मस्तक पर पड़ जाय तो वह कलिकाल को भी लात मारता है फिर विघ्नों की क्या बिसात है? निर्भय वीर वैसे ही बलशाली होता है, फिर उसके हाथ में अच्छा सा शस्त्र देकर युद्ध में भेजें और उसकी पीठ थपथपायें तो उस उल्हास से वह शत्रुओं का भीषण संहार करने लगता है। उसी प्रकार भक्तिभाव से सत्संगति धारण कर मुख में अखण्ड नामकीर्ति रखें और भावपूर्वक संतों की भक्ति करें तो साधक सहज ही महाविघ्नों का विनाश कर सकते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कीर्ति, भक्ति और सत्संगति इस त्रिवेणी का जिसे स्नान होता है, उन्हें विघ्न स्पर्श भी नहीं करते, उनके कारण त्रिभुवन पावन हो उठता है। मेरी भक्ति और नामकीर्ति की सत्संगति माता समान है। वह सत्संग प्राप्त हो जाय तो साधकों को विघ्नों की बाधा नहीं होती। योग, याग, आसन, ध्यान, तप, मंत्र, औषधि आदि साध्य करने से भी देहाभिमान नहीं छूटता। लेकिन सत्संग से वह समूल नष्ट हो जाता है। योग आदि समस्त उपायों से छोटे-छोटे विघ्न दूर हो जाते हैं लेकिन सारे विघ्नों का राजा देहाभिमान उनसे नहीं हिल पाता। देहाभिमान असाध्य है, वह विद्वत्ता के अहंकार से तो और भी भयंकर हो उठता है। इसका समूल निर्दलन केवल सत्संग ही कर सकता है। अज्ञानी लोगों का अभिमान तो तत्काल चला जाता है लेकिन ज्ञानाभिमान वैसा नहीं है। वह जानकार के लिये सदा बाधक होता है। लेकिन सत्संग उस अभिमान का भी पीछा कर उसका अस्तित्व समाप्त कर देता है, इसलिये सत्संग जैसा अन्य कोई साधन नहीं है। देह को ही अजर-अमर करने की कोई बात करता है तो उस मूर्ख के चक्कर में पड़कर लोग योगादि साधन को सिद्ध करने के फेर में पड़ जाते हैं।

केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये॥ ४१॥

देह प्रारब्ध के वश में है; उसे प्रारब्ध से ही जन्म और मरण आता है। उस देह को पामर अमर करने का प्रयत्न करते हैं। उस प्रारब्ध का सूत्र काल के हाथ में रहता है इसलिये काल द्वारा निर्धारित जन्म और मरण सबके पीछे लगा ही रहता है। मार्कण्डेय को चौदह कल्प की आयु थी, फिर भी काल ने उसे दबोचा ही; लोमहर्ष का एक-एक केश एक-एक युग में झरता था, उसका गला भी काल ने दबा ही दिया। चार-हजार युगों का एक दिन ऐसी जिस ब्रह्मदेव ने कालगणना कर दी है वह सारी सृष्टि का कर्त्ता ब्रह्मदेव, वह भी काल की सत्ता से नहीं बच पाता। उत्पत्तिकर्ता ब्रह्मदेव को काल निगल लेता है, उसी प्रकार पालनकर्ता विष्णु को भी वह ग्रस लेता है, वह प्रलयकर्त्ता रुद्र को भी अपने सामर्थ्य से भस्म कर देता है। इस प्रकार काल अत्यन्त असाध्य है, लेकिन यह जाने बिना अविचारी लोग देह को अजर-अमर करने के लिये काल पर ही प्रभाव जमाने का प्रयास करते हैं। जो-जो दिखायी देता है, वह सब नष्ट होता है। काल की यह सत्ता देखकर भी मूर्ख लोग अजर-अमर होने के लिये कितना प्रयास करते हैं। जलकुण्ड का तरंग अमर होने की इच्छा करता है तभी जलकुण्ड सूख जाता है। उसी प्रकार यह संसार नाशवान है; उसमें पामर लोग देह को अजर-अमर करने की इच्छा करते हैं और उसके लिये अथक प्रयास करते हैं। देह जाता है तो उसे जाने दें किन्तु जीव चिरंजीव रहे और उसके लिये प्रयास करें, उसी में नरदेह का अमरत्व है। देह तो पूरी तरह नाशवान है; अविवेकी लोग उसे अनेक कष्टकारी उपायों से अजर-अमर करने का प्रयत्न करते हैं। देह तो काल का एक खाद्य है, उसे अमर करने का उपाय साधक के लिये हानिकारक होता है। सारांश, मूर्खतावश, देह के अमरत्व के लिये उपाय कर हठयोगी ठगे गये हैं। परकाया प्रवेश साधने के लिये प्राण धारण करते-करते योगी थक गये हैं। सारांश, देहाभिमान के कारण ही योगी लोग अपनी हानि कर चुके हैं। देह की नश्वरता को जान कर ही ज्ञानी लोग देहाभिमान नहीं करते। श्रीकृष्ण उसी का निरूपण कर रहे हैं।

नहि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥ ४२॥

विचार करने से मालूम होता है कि यह संसार समूल नश्वर है; इसलिये ज्ञानी लोग देह के अजर-अमर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होने की ओर ध्यान नहीं देते क्योंकि देह को प्राप्त होने वाली सिद्धि सचमुच बाधक ही है। ज्वर से शरीर तप्त होने पर, वह मृत्यु के भय से काँपने लगता है; लेकिन शीतोपचार करने पर भी उसे मृत्यु आती है। मिथ्या देह का अभिमान ही हमेशा जन्म-मरण का भोग कराता है; ऐसे देह को अजर-अमर करने से देह बंधन और भी कस जाता है। योगसाधन से देहबन्धन दृढ़ करने पर तथा देह की सिद्धि भोगने पर भी अधःपतन नहीं टलता। ज्ञान के ही लिये क्यों न हो, लेकिन योग साधन करते हुए यदि सिद्धि समय पर आ जाय तो अपने कल्याण के लिये उसका भी त्याग करना चाहिये जिसका राजा के पास आना-जाना रहता है उसी को रिश्वत मिलती है लेकिन उसके कारण ही उसका अपमान होता है। उसी प्रकार साधक की सिद्धियाँ उसके लिये घातक होती हैं। वृक्ष पर फल आते हैं लेकिन वृक्ष उन्हें नहीं छूता। उसी प्रकार सिद्धि प्राप्त होने पर भी उन्हें वैराग्य बल से छोड़ देना चाहिये। सूखे वैराग्यबल से त्याग करने पर वह स्थायी नहीं होता। विवेकयुक्त वैराग्य से त्याग करने पर सिद्धियाँ तृणवत हो जाती हैं। अन्धा हाथी जब मदमस्त हो जाता है तो उसे अपना पतन नहीं दिखायी देता। उसी प्रकार जो अविवेक से त्याग करते हैं, उनका अधःपतन होता है। जब देह ही नश्वर है तो उससे प्राप्त सिद्धि कितनी शाश्वत होंगी? ऐसे विवेक से जो वैराग्य सम्पन्न रहते हैं, वही देह के भोग से अलिप्त रहते हैं। यहाँ देह जितना अनित्य है वहीं आत्मा सत्य और नित्य है। यह जानकर ही विवेकी लोग आत्माभ्यास के लिये तैयार हो जाते हैं।

योगं निषेवतो नित्यंकायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः॥ ४३॥

परमार्थ के लिये योगसाधन करते समय यदि सिद्धि प्राप्त हो जाए तो अपने हित के लिये उन्हें छोड़ देना चाहिये। लेकिन सिद्धि छोड़ने पर भी नहीं छूटती प्रारब्ध के बल से गले पड़ जाती हैं। यदि ऐसा हो जाय तो योगाभ्यास छोड़कर मेरे भजनमार्ग पर लग जाएँ। मेरे भक्ति मार्ग में विघ्नों का प्रवेश नहीं होता क्योंकि मैं श्रीरंग भक्त के प्रेमरंग में रंग जाता हूँ। सद्भाव से मेरी भक्ति करने से विघ्न कभी नहीं आते क्योंकि मैं श्रीकृष्ण रात-दिन भक्तों के साथ रह कर उनका संरक्षण करता हूँ। ऐसी भक्ति की महिमा का वर्णन श्रीकृष्ण करते हैं।

योगचर्यामिमां योगी विचरन् मदपाश्रयः।
नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहं स्वसुखानुभूः॥ ४४॥

जो अनन्यप्रीति से मेरी शरण में आते हैं, समस्त प्राणिमात्र में मेरी ही भावना रखते हैं और अभेद बुद्धि से मेरा भजन करते हैं उन्हें विघ्नों की बाधा बिलकुल नहीं होती। मेरे भक्तों के सारे उपसर्ग मैं श्रीकृष्ण निवारण करता हूँ। जिसे अनन्य भजनयोग है ऐसे भक्त को मैं अपना अंग ही बस्ती के लिये देता हूँ। मेरे भक्तों की ओर विघ्न आने लगते हैं तो मैं वहाँ कूद पड़ता हूँ। मेरे भक्तों का संकट मैं निवारण करता हूँ क्योंकि वे मेरे लाडले हैं। वे कितने लाडले हैं, उसके बारे में सुनो। उनके संकट मैं निरन्तर सहन करता हूँ। राजा हिरण्यकश्यपु प्रह्लाद को यातना दे रहा था उस समय मैंने उसकी पूरी तरह सुरक्षा की। अम्बरीष पर संकट आया तो मैंने दुर्वासा का अपमान किया। उसके दसों गर्भवास मैंने झेले लेकिन भक्तों को कमी नहीं होने दी। गजेन्द्र को पीड़ा हुई तो मैं हाथ में सुदर्शन लेकर, कूद कर उसके पास पहुँचा और क्षण भर में उसे छुड़ाया। कौरव सभा में द्रौपदी के असाध्य संकट में, दुष्ट लोग उसे नग्न करने लगे, उस समय मैंने उसे वस्त्रों का ढेर उपलब्ध कराकर उसे उस संकट से बचाया। यदि द्रौपदी के हाथ में साड़ी देता तो उसे पहनते समय वह नग्न दिखाई देती इसलिये मैं स्वयं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही उसकी साड़ी बन गया। जब दावाग्नि ने गोपालों को पीड़ा दी तो मैंने अपने मुँह से ही वे ज्वालायें निगल लीं। उद्धव! अपने भक्तों के प्रति मेरे मन में अत्यधिक करुणा रहती है। अश्वत्थामा के शस्त्र की पीड़ा से मैंने परीक्षित की गर्भ में रक्षा की। इन्द्र ने गोकुल को त्रस्त किया तब मैंने गोवर्धन को हाथ पर उठा लिया। अर्जुन को बचाने के लिये मैंने दिन में ही सूर्य को छिपा दिया। रणभूमि पर हार ले जाकर मैंने ही भीष्म को सत्यप्रतिज्ञ किया। भक्तों का ऐसा सहायक सिर पर हो तो उन्हें विघ्न कौन करेगा? मैं श्रीहरि उनका रक्षक हूँ। जो मेरी भक्ति का अनुसरण करते हैं, उन भक्तों पर मैं कभी विघ्न नहीं आने देता। मैं अपना देह उन्हें अर्पण कर उन्हें निजस्वरूप में परमानन्द में रखता हूँ। सद्भाव से मेरी भक्ति करने पर साधकों को आत्मसुख का लाभ होता हे। तब वासना के साथ ही काम और लोभ लोप हो जाता है और भक्तों को मेरा सुख प्राप्त होता है। तुम कहोगे, देह के अन्त में भक्त को आत्मसुख की प्राप्ति होगी लेकिन मेरी चौथी भक्ति वैसी नहीं है। इसके योग से देह में रहते हुए ही आत्मसुख की प्राप्ति होती है। देह रहे या जाये, उस सुख का कभी भी अभाव नहीं रहता। इस प्रकार मेरे भक्त सुखपूर्वक आत्मसुख का भोग करते रहते हैं। भक्त देह में विचर रहे हैं ऐसा लगता है, लेकिन वे मुझमें ही विचरते रहते हैं। मैं सदा सर्वदा उनके हृदय में ही वास करता हूँ। भक्त आत्मज्ञान से मुझमें और मैं निजांग से उनके भीतर और बाहर रहता हूँ। इस प्रकार आत्मसुख के बीच वाले घर में हम दोनों परस्पर विचरण करते रहते हैं। मैं देव और वह भक्त यह तो बाहर कहने की बात है। गूढ़ दृष्टि से विचार करें तो मैं और भक्त दोनों एक हैं। घी पिघला हुआ हो या जमा हो। उसी प्रकार मैं और भक्त दोनों एक हैं। मुझमें और भक्त में कल्पांत में भी भेदभाव नहीं है। तब मैं और वह एक हैं, यह कहनेवाला भी कोई नहीं रहता। इस प्रकार भक्त मत्स्वरूप से मिलकर आत्मानंद प्राप्त करते हैं। ऐसा यह अट्ठाईसवाँ अध्याय ब्रह्मज्ञान का कलश है। श्रीकृष्ण कुशल कारीगर है, उसने मन्दिर पर यह कलश चढ़ाया। अलंकारों में जिस प्रकार 'मुकुटमणि' रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान का यह अट्ठाईसवाँ अध्याय है। श्रीकृष्ण भक्तों की माता होने के कारण उसने उद्धव का शृंगार किया। उत्तम से उत्तम अलंकार पहना कर जिस प्रकार माँ अपने मुन्ने का शृंगार करती है, उसी प्रकार उत्तम से उत्तम ज्ञाननिर्णय से उद्धव का शृंगार किया। माँ अपने बच्चे को अलंकार पहनाती है और बाद में उन्हें उतार लेती है किन्तु श्रीकृष्ण ने एक बार उद्धव का शृंगार किया तो वह शृंगार-शरीर से निकल ही नहीं पाया। शरीर पर वह अमूल्य अलंकार स्थायी हो गया, इसमें उद्धव अनमोल हो गया। सारा त्रैलोक्य उसके पैरों पर गिरने लगा और ब्रह्मदेव आदि देवतागण भी उसकी पूजा करने लगे। श्रीकृष्ण ने स्वस्वरूपालंकार से उद्धव का शृंगार किया था इसलिये वह ब्रह्मस्थिति तक पहुँच गया, इसीलिए वह त्रिभुवन में वन्दनीय हो गया और पुराण में भी महाकवि उसका वर्णन करने लगे। माधुर्य में अमृत श्रेष्ठ है, उसे भी फीका बना कर श्रीकृष्ण ने उद्धव को परमामृत पिलाया। देव अमृतपान करते हैं लेकिन वे भी मृत्युरूपी संसार में डूबते ही हैं। श्रीकृष्ण ने उद्धव को कथामृत से तृप्त कर अक्षय बना दिया। वह सर्वांग से शान्त हुआ, परमानन्द से तृप्त हुआ; इस प्रकार मैं उद्धव हूँ इसका भान ही वह भूल गया और स्वानंद से डोलने लगा। फिर परमानन्द के उन्माद में वह जहाँ भी 'दूजा' देखता उसे मार कर गिरा देता। इस प्रकार संसार को लात से ठुकरा कर वह देवताओं के मस्तक पर चढ़ गया। देवताओं के माथे पर चढ़कर उनका देवत्व भी भक्तों का भक्तपन भी उसने निगल लिया और फिर सच्चिदानन्द के स्वानंद से स्वयं ही आत्मस्वरूप बन गया। वहाँ सत्, चित् और आनन्द का त्रिविध भेद भी नहीं रहा। सदैव परमानन्द और आनन्द ही भर गया। नश्वर का त्याग करते समय अविनाश को 'सत्' कहते हैं, जड़ की निवृत्ति करते समय वस्तु को 'चित्' कहते हैं और जहाँ दुःख की बाधा नहीं है उसे 'आनन्द' कहते हैं। इस प्रकार 'सच्चिदानन्द' शब्द की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

व्याख्या है लेकिन वह मायिक ज्ञान सम्बन्ध है क्योंकि आत्मवस्तु सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है, उसी प्रकार वह चित् भी नहीं है और अचित् भी नहीं है। उसे सुख दुःखातीत तथा सन्मात्रस्वरूपी समझ लो। इस प्रकार अट्ठाईसवें अध्याय का यह आत्मबोध आनन्दकंद श्रीकृष्ण ने सन्तुष्ट होकर उद्धव को दिया। निजधाम जाना स्थगित कर श्रीकृष्ण ने अपनी गुप्तनिधि उद्धव को दी। उसके भाग्य का वर्णन किन शब्दों में करें? जो अपने पिता वसुदेव को नहीं दिया, अपने बन्धु बलिभद्र को नहीं दिया, पुत्र प्रद्युम्न को नहीं दिया, वह उद्धव को दिया। जो माँ देवकी को नहीं दिया। फूफी कुन्ती को नहीं दिया, यशोदा को भी नहीं दिया, वह उद्धव को दिया। आप कहेंगे कि यह तो अर्जुन को भी बताया था। वह भी उसका लाडला था यह सच है; लेकिन उसके हाथ से पृथ्वी का बोझ कम हो इसलिये उसे जल्दबाजी में युद्ध में उपदेश दिया था। उद्धव की बात वैसी नहीं थी। उसे उसने निश्चित रूप से अपने निर्णय की बात अर्थात् गुप्त निधि उसे सौंपी। पिता की कमाई का धन, उसका स्वामित्व उसके पुत्र के पास आता है; उसी प्रकार श्रीकृष्ण के गूढ़ ज्ञान का हकदार उद्धव बन गया। पाण्डवों में अर्जुन धन्य है और यादवों में उद्धव धन्य है। त्रिभुवन में इन दोनों के जैसा भाग्य किसी का नहीं दिखायी देता। सारे सार का सार यह एकादश स्कंध का अट्ठाईसवाँ अध्याय है। संन्यासियों में जिस प्रकार परमहंस श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार पूरे भागवत में यह अध्याय श्रेष्ठ है। जिस प्रकार क्षीराब्धी में शेष और उसके ऊपर नारायण है, उसी प्रकार भागवत में भी यह अट्ठाईसवाँ अध्याय पूर्णब्रह्मरूप है। जिस प्रकार परमपावन वैकुण्ठ में भगवान शोभायमान हैं, उसी प्रकार भागवत में अट्ठाईसवाँ अध्याय शोभा दे रहा है। ऐसा लोकोत्तर वैभव कृष्ण की कृपा से उद्धव को प्राप्त हुआ। उसके निजभाग्य की गति अत्यन्त तीव्र है। वह स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप हो गया। उद्धव पूर्णब्रह्म हो गया उसका प्रमाण कृष्ण कृपा ही है। मैं अज्ञानी, प्राकृत देशी भाषा में उसका वर्णन कर रहा हूँ। अन्धे पर जब सूर्य प्रसन्न हो जाता है तो वह पृथ्वी के भीतर का गुप्त खजाना भी देख पाता है, उसी प्रकार जनार्दन प्रकट होकर यह गुप्त ज्ञान मुझसे कहलवा रहा है। जनार्दन अब प्रकट हुआ यह कहना भी मेरी मूर्खता ही है क्योंकि वह तो सदासर्वदा स्वतः सिद्ध ही है। लेकिन यह भी उसकी ही कृपा से मालूम हुआ। उसकी कृपा ने मेरा 'मैंपन' भी समाप्त कर दिया। जिस प्रकार सूर्य अँधेरे को ले जाता है वैसे ही वह मेरा 'मैंपन' ले गया। जनार्दन मुझ पर कृपा करता है यह भी मुझ अज्ञानी को मालूम नहीं होता। उस दयाघन ने कृपा करके यह गुह्यज्ञान मुझसे कहलवाया। वह मेरे सान्निध्य में होते हुए भी मुझे उसकी महिमा नहीं मालूम हुई। उसने अपनी महिमा स्वयं ही मेरे मुख से कहलवायी। जिसे मैं 'मेरा मुख' कहता हूँ, वह भी सचमुच जनार्दन ही बन गया है। उस मुख से निःशंकर आत्मसत्ता से ही आत्मसुख कहलवाया। सारांश, मेरे नाम से भले ही कविता दिखायी दे रही हो लेकिन उसका वक्ता जनार्दन ही है। उसी ने अपने वक्तृत्व से यह रसमयी कथा चलायी है। ब्रह्मरस से सनी हुई कथा अर्थात् श्रीभागवत का निरूपण उसी ने किया है। उसमें अट्ठाईसवाँ अध्याय तो वास्तव में ब्रह्मस्वरूप की तल्लीनता है। अट्ठाईसवें अध्याय का निरूपण वस्तुतः परिपूर्ण ब्रह्म ही है। उसका श्रद्धा से श्रवण करने के कारण उद्धव ने पूर्ण समाधान प्राप्त किया। उद्धव स्वयं तृप्त तो हुआ लेकिन उसने विचार किया कि यह शुद्ध आत्मज्ञान अवश्य है लेकिन वह निर्बल और अज्ञानियों को प्राप्त होना कठिन है। अतः इस चित्स्वरूप की प्राप्ति साधकों को कैसे सुलभ होगी, इसकी विनती वह अगले अध्याय में करेगा। पर्वत की चट्टान काट कर मार्ग बनाया जाय या ऊँचाई चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ बनायी जायँ ताकि सुगम रीति से निर्गुणत्व तक पहुँचा जा सके, वह उपाय उद्धव पूछेगा। तो अगला अध्याय सुरस होते हुए साधकों को परमार्थ सिद्धि कराएगा। दुर्बल पुरुषों को तैरने की अपेक्षा पैदल चलकर ही संसार समुद्र पार करना चाहिये। श्रीकृष्ण इसके लिये सरल उपाय बतायेंगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सीता पर अत्यन्त कृपा होने के कारण रामचन्द्र ने सेतु का निर्माण किया। उस पर से जंगली और मूढ वानर भी उस पार चले गये। उसी प्रकार उद्धव के प्रश्न के प्रति प्रेम के कारण अपनी भक्ति के उपाय का भवाब्धि सेतु श्रीकृष्ण ने बनाया। उस पर से दीन, दुर्बल और भाविक लोग सहज ही उस पार चले जायेंगे। कृष्णभक्ति के सेतु पर चलकर जड़, मूढ़ पामर सब तर कर चले गये। वही भक्ति यादवेन्द्र श्रीकृष्ण बतायेंगे, उसे श्रोतागण आदरयुक्त चित्त से सुनें। एका जनार्दन की शरण में होने के कारण श्रोता भी प्रसन्न हो उठे हैं। इस प्रकार अगले अध्याय के निरूपण से साधक लोग तर जाएँगे। अपना एकपन त्याग कर एका जनार्दन की शरण में है। अब जिससे आत्मज्ञान सुगम रीति से समझ में आ सके वह भक्तिसाधन श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधेभगवद्उद्धवसंवादेपारमहंससंहितायां
एकाकार टीकायां परमार्थ निर्णयोनाम अष्ट विशंतितमोऽध्यायः ॥ २८ ॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उनतीसवाँ अध्याय

हे ओंकारस्वरूपी श्री सद्गुरु दयासागर! तुम्हें नमस्कार! तुम्हारी कृपा का कोई अन्त नहीं है। तुम अपनी कृपा से जीव का उद्धार करते हो। हे कृपानिधि! हे गुरुराया! तुम जीवभाव दूर कर तथा जीवोपाधि नष्ट कर भक्तों को संसारसमुद्र से तारते हो। तुम्हारी कृपालुता अद्भुत है। तुम जीव को मारते हो; उसका नामरूप शून्य कर देते हो और समस्त जातिगोत्र का संहार कर देते हो। अपना-पराया की भावना का निर्दलन कर संसार को संतान-विहीन कर देते हो। ऐसा प्राणप्रिय मित्र और सच्चे कृपालु तुम कैसे हो सकते हो? जिस प्रकार अन्धकार में दृष्टि काम करती है; उसमें कोटि-कोटि नक्षत्र और जुगनू दिखाई पड़ते हैं; लेकिन उन्हें अन्धकार के साथ सूर्य ग्रस लेता है; उसी प्रकार साधकों की तुमसे भेंट है। तुमसे जब सचमुच ही भेंट होती है, और जब तुम कृपादृष्टि करते हो तब संसारभेद की त्रिकुटी और त्रिगुण युक्त सृष्टि भी नहीं दिखायी देती। गुणों वाली सृष्टि न दिखाकर अद्वय ब्रह्म दिखाते हो। एक बार तुमसे सचमुच भेंट होने पर, भेंट में कभी विराम नहीं होता। जो कभी दृष्टि को नहीं दिखायी देता, उससे भेंट कैसे होगी? और भेंट में कभी खण्ड नहीं पड़ेगा यह कैसे घटित होगा? तो जिस प्रकार गर्भ माँ के पेट में रहने से उसे नहीं दिखायी देता, फिर भी उनकी दोनों की भेंट होती रहती है, उसी प्रकार साधक तुम्हारे पेट में ही रहते हैं। माँ बड़े प्यार से बच्चे का लालन-पालन करती है लेकिन वह जिस प्रकार माँ को नहीं पहचानता; उसी प्रकार तुझ में अज्ञानी जन रहते हैं, उन्हें तुम अपने ही प्रेम से सँभालते हो। बालक का जन्म होने पर माँ उसे अपनी बुद्धि से पालती-पोसती है उसी प्रकार तुम्हारे निजज्ञान से साधक भी सज्ञान होते हैं। साधकों को तुम्हारा ज्ञान प्राप्त होते ही उन्हें 'मैं तू' का स्मरण नहीं होता। जीव अद्वयभाव से पूर्ण परमात्मा ही बन जाता है और अपना जीवपन भूल जाता है। यदि सद्गुरु की कृपा न हो तो कोटि उपाय करने पर भी परमार्थ से भेंट नहीं होगी। सद्गुरु की कृपा होने पर साधनों की आवश्यकता नहीं रह जाती। सृष्टि ब्रह्मानन्द से भर जाती है और साधकों को आत्मानंद का लाभ मिलता है। सद्गुरु की कृपा होने पर उपनिषदों का अर्थ साधकों के हाथ लगता है। श्रीगुरु की कृपा इतनी समर्थ है। इसीलिये उनकी कृपा से श्रीभागवत का शुद्ध और सरल मथितार्थ मैंने प्राकृत में वर्णन किया। श्रीजनार्दन की कृपादृष्टि से ही मेरी अनाड़ी बातें, स्वानंद के जोश में, निजबोध से एकादशस्कंध में प्रवेश कर सकीं। संस्कृत और प्राकृत भाषाएँ भिन्न होने पर भी उसमें निहित स्वानंद की माधुरी ही ज्ञाता लोग सेवन करते हैं। गाय लाल हो अथवा काली हो, उससे दूध के स्वाद में अन्तर नहीं आता। उसी प्रकार भाषा संस्कृत हो या पाली हो, उससे ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं पड़ता (मैंने) एकनाथ ने दोनों भाषाओं का तत्त्व बिना किसी भेदभाव के बतलाया। इसमें मेरा सखा जनार्दन मेरा सहायक है। उसकी कृपा से ही अट्ठाईसवें अध्याय का गुह्य, गम्भीर और स्वानंदपूर्ण निरूपण किया। उसमें नानाप्रकार की उपपत्तियों से आत्मज्ञान की युक्ति साधकर, निःशंक ब्रह्मस्वरूप का स्वयं श्रीकृष्ण ने वर्णन किया है। ब्रह्म अद्वयत्व से परिपूर्ण है; उसमें हेतु, अनुमान, बुद्धि, युक्ति अथवा मन आदि का प्रवेश नहीं हो पाता। वहाँ दृश्य, द्रष्टा, दर्शन नहीं है; ध्येय, ध्याता, ध्यान नहीं है; कर्म, कर्ता, कारण नहीं है; अथवा 'मैं' या 'तू' वाला भाव नहीं है। युक्तियाँ वहाँ गतप्राण हो गयीं, दृष्टांत बेकार हो गये, प्रमाण अप्रमाण हो गये और ज्ञान के साथ विचार क्षीण हो गया। वहाँ न वाचा है न मौन है, आकार है न शून्य है; न गुण है न निर्गुण है। इस प्रकार की ब्रह्मस्थिति कृष्ण की कृपा से उद्धव को प्राप्त हुई; लेकिन वह दुर्बल अज्ञानियों को प्राप्त होना कठिन है; फिर वे लोग कैसे तर पायेंगे?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्मस्थिति अत्यन्त कठिन है यह मर्म उद्धव के ध्यान में आया; इसलिये साधकों का काम हो जाय इसलिये वह सरल उपाय पूछ रहा है। कृष्ण अब निजधाम जायेंगे और तब ब्रह्मप्राप्ति हाथ नहीं लगेगी; साधक संकट में पड़ जायेंगे फिर सही उपाय कौन बतायेगा? इस प्रकार साधकों के हितों के प्रति विह्वल होकर, सुगम रीति से ब्रह्मप्राप्ति हो सके ऐसा उपाय वह श्रीकृष्ण से पूछ रहा है। उन्नीसवें अध्याय में, ब्रह्मप्राप्ति का सुगम साधन, अर्थात् जो सप्रेम भगवद्भजन है उसका लक्षण श्रीहरि बताने वाले हैं। जिससे दुर्बल अज्ञानियों को ब्रह्मप्राप्ति सुलभ हो, वह रीति बतलाने के लिये उद्धव छः श्लोकों में भगवान से विनती कर रहा है।

उद्धव उवाच

सुदुश्चरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः।
यथाञ्जसा पुमान् सिद्धयेत् तन्मेब्रूह्यञ्जसाच्युत॥ १॥

पूर्वाध्याय में जिस ब्रह्मस्थिति का वर्णन किया उसे साध्य करना अत्यन्त कठिन है। दुर्बल, भोले भाले भक्त इसे नहीं साध्य कर पायेंगे। ब्रह्म वस्तु व्यक्त भी नहीं है और अव्यक्त भी नहीं है; प्रकट भी नहीं है और गुप्त भी नहीं है। वह मूर्त है वा अमूर्त है इसका पता नहीं चलता। वहाँ साधकों का प्रवेश कैसे होगा? वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है; वह है यह कहना भी कठिन है और नहीं है यह कहना भी सम्भव नहीं है। जहाँ देखना और देखने की वस्तु ये दोनों ही समाप्त हो जाते हैं वह साधकों को कैसे साध्य होगा? जो दिखायी देता है उसी को ब्रह्म कहें तो वह नाम और रूप से माया होगी; वह नहीं है यह मानकर छोड़ दें तो उससे साधकों का नुकसान होगा। जो आकार वाला भी नहीं है और शून्य भी नहीं है; जिसमें ध्येय और ध्यान प्रवेश नहीं करता; जिससे ज्ञेय और ज्ञान भी शरमाता है और साधन जिसे स्पर्श भी नहीं करता; जो शब्दों के हाथ नहीं लगता; जो मौन में भी नहीं मिलता; जहाँ भीतर और बाहर नहीं है, वहाँ साधक बेचारा क्या करे? जो विचारों के अन्दर भी नहीं है और बाहर भी नहीं है; जिसका पूरी तरह निश्चय करने में बुद्धिमान को भी साहस नहीं होता; वहाँ साधक किस तरह निश्चय करें? जहाँ साधकों को अपना मन स्थिर करने के लिये कोई आधार ही नहीं दिखायी देता; वहाँ अनात्मनिष्ट अज्ञानी लोगों के लिये क्या यह योग अत्यन्त कठिन नहीं है। तुम यदि निजधाम जाने की जल्दी कर रहे हो तो अज्ञान लोगों के लिये तरने का सुलभ साधन बताओ। यह कह कर उसने साष्टांग दण्डवत किया, दौड़कर श्रीकृष्ण के चरण पकड़ लिये और सुलभ साधन बताने की विनती की। नदी को तैरकर पार करने की अपेक्षा उसे चलकर पार करना स्त्रियों और बच्चों को आसान रहता है। इसलिये हे श्रीकृष्ण! कुछ ऐसा ही उपाय बताइये। तुम्हारे प्रति सद्भाव तो पूरा है लेकिन शब्दज्ञान समझ में नहीं आता; ऐसे अज्ञानी लोगों को समझ में आ सके ऐसा तैर कर पार जाने का सुगम साधन बताइये। मनोनिग्रह करना अत्यन्त कठिन है; वह साधकों को पूरी तरह साध्य नहीं होता। इसी अर्थ का निरूपण अब उद्धव कर रहे हैं।

प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः॥ २॥

हे कमलनयन कृष्ण! सुनो! साधक साधना करके कितना भी थक जाये लेकिन वह मन का आकलन नहीं कर पाता। साधक लोग मन का निग्रह करने के लिये प्राणापान साध्य करते हैं लेकिन मन उन्हें भी मूर्ख बनाकर तत्काल चला जाता है। कुछ लोग एकांत में आसन लगाकर मनोनिग्रह के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी दिखलाते हैं, लेकिन उन्हें भी ठग कर मन अत्यन्त चपलता से वहाँ से निकल जाता है। मनोनिग्रह करने में हम बड़े निश्चयी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

हैं, यह कह कर गिरिकंदराओं में चले जाते हैं किन्तु मन उन्हें भी ठग कर सबके सामने चपलता से निकल जाता है। कोई मन का निग्रह करने के लिये अन्न का त्याग करते हैं लेकिन उसका परिणाम विचित्र होता है। उनका मन जागृति में और स्वप्न में अन्नमय ही हो जाता है। इस प्रकार मनोनिग्रह करते समय मन और भी अधिक क्षुब्ध हो उठता है। इस प्रकार मन का नियमन करने वाले बड़े-बड़े ज्ञाता साधन करके थक जाते हैं। वायु को गठरी में बाँध सकते हैं, अग्नि को भी एक बार में पी सकते हैं; समुद्र को भी निगल सकते हैं लेकिन यह मन कभी भी आत्मस्वरूप में नहीं रह पायेगा। आकाश को तह करके रख सकते हैं; महामेरु को पुड़िया में बाँध सकते हैं; शून्य का गला टीप सकते हैं लेकिन इस मन का नियमन असम्भव है। सचमुच काल पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है; त्रिभुवन की सत्ता भी प्राप्त की जा सकती है; परन्तु हे अच्युत! मनोनिग्रह की बात तुम्हारे बिना कैसे साध्य होगी? मन तपस्वी लोगों को तत्काल धोखे में डालता है; मन नेमी लोगों का नियम टालता है; इस प्रकार यह मन बल से भी अधिक बलशाली है। वह धैर्य की राख कर देता है। मन इन्द्र को नीचा दिखाता है, ब्रह्मदेव को भी हठ से अटकाता है; इस प्रकार मन की जिद बहुत खराब है; उसे साधक अपने वश में नहीं कर सकते। साधना करके मन कितना भी थक जाय, लेकिन मन पर विजय नहीं प्राप्त होती। हे अच्युत! तुम्हारे बिना यह मन नियमित नहीं होता। यदि अत्यन्त प्रयास करने से मनोजय प्राप्त हो भी जाय तो सिद्धियों का ढेर लग जाता है और उससे साधकों का मन असमंजस में पड़ जाता है। तुम्हारी कृपा हुए बिना साधक मन को कभी वश में नहीं कर सकते। तुम जनार्दन यदि सन्तुष्ट हो जाओ तो मन स्वयं ही अपना मनपन भूल जाता है। सारांश, भक्तिभाव से तुम्हारी शरण में गये बिना साधक अपने मन को वश में नहीं कर सकते। इसलिये मनोनिग्रह के लिये तुम्हारी शरण में आना ही पड़ेगा।

अथात आनन्ददुधं पदाम्बुजं हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभिस्त्वन्माययामी विहता न मानिनः॥ ३॥

हे कमलापति! हे कमलवदन! हे कमलालय! हे कमलनयन! नाभिकमल में वास करने वाले ब्रह्मदेव को तुमने ही ब्रह्मज्ञान दिया है। तुम्हारे चरणों का चरणामृत तुम्हारी कृपा से जिसे प्राप्त होता है, उसका मनोजय सुनिश्चित हो जाता है। वह सांसारिक सुख के प्रति विरक्त हो जाता है। तुम्हारे चरणामृत की माधुरी तत्काल मनोजय का लाभ करा देती है। आधिव्याधियों का विनाश करती है जिससे साधकों को स्वानंद की राशि प्राप्त हो जाती है। इसलिये इस सारे साधनों का सार, महासमर्थ सांख्य योग और विवेक का भी सार कहना चाहिये। हे श्रीकृष्ण! भक्ति का रहस्य जान कर हृदय के प्रेम के प्रति जो आकृष्ट हुए वे ही विज्ञानयुक्त राजहंस भजन सार का सेवन करते हैं। जिनका काया, वाचा और मन सद्भाव से सदा सम्पन्न रहता है, ऐसे भक्तों को तुम्हारे चरण परिपूर्ण स्वानंद प्रदान करने वाले हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये विधियुक्त साधनों से ही प्राप्त होते हैं। उन साधनों में जरा भी कमी होने से साधकों की हानि होती है लेकिन तुम्हारी भक्ति वैसी नहीं है। जीव-भाव से तुम्हें भजने से भजन करने वालों पर कोई विघ्न नहीं आता। इसके विपरीत भक्त ही विघ्नों का नुकसान करता है। सूर्य और जुगनू की यदि आराम से भेंट होगी, तभी विघ्न भक्तों के पास आने का साहस करेंगे। सिंह की गन्ध आते ही मदोन्मत्त हाथी भी भागने लगते हैं। उसी प्रकार तुम्हारे भक्तिभावयुक्त भजन से विघ्न भागने लगते हैं। ऐसे निश्चय से सम्पन्न होकर जो तुम्हारे चरणों के पास अनन्य भाव से आते हैं, उन्हें जन्म-मरण भी स्पर्श नहीं करता, फिर अन्य विघ्नों की क्या बिसात है? ऐसी भावना से जो तुम्हारी शरण में आते हैं, उन्हें तुम्हारे चरण, कामधेनु जिस प्रकार वत्स को तृप्त करती है, उसी प्रकार स्वानंद से सदा तृप्त करते हैं। भक्तिरूप निर्मल सरोवर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

में नवविधा रसों का मधुर जल होता है, उसमें डूबे हुए तुम्हारे चरणकमल भावर्थ सूर्य के उदय के साथ ही विकसित होते हैं। उसमें स्वानुभवी भ्रमर उन कमलों पर झपट्टा मारकर, आहिस्ते से, केसर को धक्का दिये बिना सौख्यरूपी मकरंद का सेवन करते हैं। वहाँ आत्मानात्मविवेक करने वाले परमहंस उस सरोवर के राजहंस हैं। वे तुम्हारे चरणकमलों के सान्निध्य में रहकर सरस मकरंद का उपभोग करते हैं। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त ही क्यों न हों, वे भी उसी सरोवर में रहते हैं, लेकिन उन्हें कमल के मकरंद के बारे में मालूम नहीं रहता। वे कमल के तल के पास क्रीड़ा करते रहते हैं। श्रीकृष्ण! ऐसे भोले भक्तों को तुम तारते हो। इस प्रकार जो भी तुम्हारी भक्ति करते हैं उनका कोई नुकसान नहीं होता। भक्तिभाव से तुम्हारा भजन करने से, उस भावार्थ से ही तुम प्रसन्न होते हो और तुम्हारे प्रसन्न होते ही तुम्हारे चरण उस भक्त पर स्वानंद की परिपूर्ण वर्षा करने लगते हैं। तुम विश्वमूर्ति और विश्वंभर हो; तुम ही ब्रह्मादि देवताओं के ईश्वर हो। तुम्हारा अभयहस्त एक बार मस्तक पर पड़ने पर भक्तों को भवभार स्पर्श नहीं करता। तुम्हारी भक्ति ही तुम्हारा सत्कर्म है, तुम्हारा भाव ही उनका स्वधर्म है; तुम्हें उत्तम नैवेद्य अर्पण करना यही भक्तों का बहुत बड़ा यज्ञ है। नित्य तुम्हारे नाम का स्मरण करना यही भक्तों का जप है और तुम्हारा मनोरम कीर्तन करना यही भक्तों की परम समाधि है। इस प्रकार भक्त जो जो कर्म करते हैं, वह कर्म तुम स्वयं ही हो जाते हो। तुम मेघश्याम श्रीकृष्ण जिस पर प्रसन्न होते हो उसे भवभ्रम स्पर्श नहीं करता। इस प्रकार तुम भजन के द्वारा भक्तों को आत्मसुख देकर तारते हो और उनके सुख के आनन्द में झूमते रहते हो। इस प्रकार भक्तों को अनपेक्षित ढंग से, निजसुख से परिपूर्ण करते हो। ऐसा होते हुए भी जो तुम्हारी शरण में नहीं आते, वे माया के मोह में फँस जाते हैं। तुम्हारे चरणों से जो विमुख हो जाते हैं; वे स्वप्न में भी सुख का दर्शन नहीं करते। वे सदा निरन्तर बढ़ने वाला दुःख ही भोगते रहते हैं। माया ने उन्हें इस सीमा तक मूर्ख बनाया रहता है। तुम्हारे चरणों का ध्यान न कर योग यागादि साधन करने से वह साधकों के लिये बन्धन ही हो जाता है क्योंकि ज्ञातापन की अकड़ से अभिमान क्षुब्ध होता है। पूर्वश्लोक का चरण, 'त्वन्माययाऽमी विहता न मानिनः' यह श्लोक का अन्तिम चरण है। उसका विचार करने पर, उसमें पण्डितों का ज्ञानाभिमान और अभक्त भाव ही प्रकट होता है। हम ज्ञाता, हम योगी, हम ही श्रोत्रिय सारे संसार में पवित्र; हमारा ही मार्ग अत्यन्त शुद्ध है; लोग अज्ञानी हैं, वैसे हम नहीं हैं; हमारा वचन सबके लिये प्रमाण होना ही चाहिये। इस प्रकार ज्ञाता लोग अपने मन में ऐसा ही समझते रहते हैं। इस ज्ञानाभिमान ने ही उन्हें मूर्ख बनाया रहता है। वे शब्द पांडित्य के घमण्ड में अपार दुःख भोगते हैं। सारांश, संसार में अभिमान जैसा बैरी कोई और नहीं है। वह ज्ञानाभिमान से सज्ञानों को भी चक्कर में डाल देता है। खैर, इन अभक्तों की कथा रहने दीजिये। वे भक्तिमार्ग से भटके रहने के कारण ही, देह के अहंकार से व्यर्थ नाना प्रकार की व्यथा भोगते हैं। लेकिन जो भक्ति पर अपना चित्त न्योछावर कर तुम्हारी अनन्य शरण में आये हैं उनको तुम जगन्नाथ तारने वाले हो। तुम अपने भक्तों को आत्मसुख में रखते हो। तुम्हारे जो भी भक्त हैं, जिन्होंने भक्ति पर ही अपने प्राण न्योछावर किये हैं, उन्हें बिना माँगे ही आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। हे श्रीकृष्ण! तुम्हारा भजन करते रहने से, विघ्न भक्तों को कभी पीड़ा नहीं देते। वे अत्यन्त सुखसम्पन्न हो जाते है कैसा आश्चर्य है! जो अनन्य रूप से तुम्हारी शरण में आते हैं, तुम सदा उनके अधीन रहते हो। इसी अर्थ का निरूपण उद्धव स्वयं सुना रहा है।

किं चित्रमच्युत तवेतदशेषवन्धो दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्।
योऽरोचयत् सह मृगैःस्वयमीश्वराणां श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः ॥ ४ ॥

हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे भक्तों को विघ्नों की बाधा नहीं होती यह बहुत बड़ी बात नहीं है क्योंकि तुम भक्तों के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रेम में भूलकर सदासर्वदा भक्तों के अधीन होकर रहते हो। तुमने अपने दासों के अधीन रह कर (द्रौपदी के लिये दुर्वासा को) आधीरात को भी अन्न की आपूर्ति की। अन्त में तुम तो भूखे ही रह गये। तुम्हारे हिस्से में सब्जी का पत्ता ही आया। दोनों सेनाओं के बीच शस्त्रों की झंकार में अर्जुन के रथ का सारथी बनकर तुमने कष्ट सहे। अन्त में उनके घोड़ों की भी धुलाई की। तुम्हारे मुकुट का आकलन वेदों को भी नहीं होता। घोड़ों की लगाम खींच कर तुम वहीं घोड़ों को धोने लगे। तुम्हें इसमें लाज भी नहीं आयी। तुम भक्तों के इतने अधीन हो जाते हो यह निश्चित है। जिसे कारागार से छुड़ाया, उस उग्रसेन को तुमने राजा बनाया; धर्मराज के घर की तो तुमने जूठन उठायी; और नन्द के गौओं की रक्षा की। अस्तु! तुम बालगोपालों के साथ मिलकर उनके साथ खड़े-खड़े भात खाते थे और उनकी ही ताल पर नाचते थे। छुआछूत की बात नहीं की; वे केवल चरवाहा थे लेकिन उनका उच्छिष्ट खाकर तुम स्वानंद में झूमते रहे। द्रौपदी पर आये भीषण संकट के समय उसकी पहनने वाली साड़ी तुम स्वयं ही बन गये। गोपियों के प्रति प्रेम के कारण तुम उनके साथ नानाप्रकार से नाचे। एक गोपी पानी से भरी गगरी लेकर जा रही थी, उसके पैर में काँटा गड़ा तो तुमने दोनों हाथों से उसका पैर पकड़कर काँटा निकाल दिया। दुर्वासा को तुमने कन्धे पर वहन किया; बली के तो तुम द्वारपाल बन गये। इस प्रकार तुम भक्तों के अधीन रहकर उनकी बात मानते हो। भगवान आप कहेंगे कि केवल मैं ही तुम्हारे गोपालत्व को सत्य मानता हूँ लेकिन ऐसी बात नहीं है क्योंकि देवताओं को भी तुम पूज्य हो। हे श्रीकृष्ण! इन्द्र, चन्द्र, महेन्द्र, ब्रह्मवेद, बृहस्पति और शंकर ये जो पूज्य देवता हैं, वे भी तुम्हारे दास हैं। तुम्हें नमस्कार करने के लिये देवताओं की भीड़ एकत्र होती है जिससे तुम्हारी आसनी पर उनके कोटि-कोटि मुकुटों का घर्षण होता है जिसकी तीव्र झंकार उठती है। तुम्हारी आज्ञा का पालन न करने पर ब्रह्मदेव जैसे देवता के मस्तक पर भी प्रहार होता है। तुम्हारी आज्ञा के भय से वायु भी नियम से प्राण का संचालन करता है। उसी प्रकार हे गोविन्द! तुम्हारी आज्ञा के भय से ही सूर्य दिनमान चलाता है। तुम्हारी ही आज्ञा के भय से समुद्र सीमा का उल्लंघन नहीं करता और तुम्हारी ही आज्ञा से मेघ यथासमय जल की वृष्टि करता है। तुम्हारी आज्ञा की महानता अगाध है। उसे साक्षात मृत्यु भी शिरसा वन्दन करता है। योग्य समय पर ही वह प्रलय लाता है। आज्ञा के विपरीत काम नहीं करता। (आशंका) हे मुरारी! शायद तुम कहोगे-कि मैं तो नंद का चरवाहा हूँ, उग्रसेन की सेवा करता हूँ इसलिये मेरा यह बखान व्यर्थ है। लेकिन ऐसी बात नहीं है। तुमने काल के भी दाँत तोड़ कर गुरु के पुत्र को जीवित किया; इन्द्र ने गोकुल पर अतिवृष्टि की उस समय तुमने उसे अच्छा सबक सिखाया। औरों की क्या बात करें? गोपालों के साथ वत्स बनकर तुमने ब्रह्मदेव को भी पागल बना दिया, अन्त में नंद के चरवाहा ही बन कर रहे। बाणासुर की पैरवी करने के लिये शंकर लाल-लाल आँखें दिखाते हुए आये थे, किन्तु हे शारंगपाणी! हे ईश्वरेश्वर! तुमने आधे ही क्षण में उन्हें पराजित किया। तुमसे भेंट करने की उत्कंठा क्षीरसागर वाले नारायण को लगी हुई थी। वह ब्राह्मण लड़के के बहाने तुमसे भेंट करने की इच्छा कर रहा था। तुम भक्तों का कार्य सिद्ध करने वाले सिंह हो। अर्जुन की प्रतिज्ञा सत्य करने के लिये कृष्ण-नारायण ने क्षीरसागर से भेंट की। उन दोनों के मिलन का आनन्द या रहस्य संत ही जानें। उन दोनों ने एक-दूसरे को प्रगाढ़ आलिंगन में बाँध लिया। उस समय निजात्मसुख की माधुरी अभिन्न थी। कृष्ण में नारायण मिले या नारायण में कृष्ण लीन हुए, यह समझ में ही नहीं आया। दोनों का द्वैतभाव जाकर परिपूर्ण एक ही स्वरूप रह गया। तब अर्जुन को व्यथा हुई। उसे लगा मैं व्यर्थ ही कृष्ण से दूर चला गया। इतने में उसे शेषशय्या पर श्रीकृष्ण ही नारायण स्वरूप में दिखाई दिये। तो तुम इस प्रकार भक्तों की सहायता करने वाले तथा लीला भय से शरीर अवतार लेने वाले पुरुष हो। हे दीनोद्धारक श्रीकृष्ण! तुम नाना प्रकार के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अवतार धारण करते हो। इस प्रकार हे ऋषीकेशी! तुम्हारी महिमा अगाध है। यह बात तुम्हारे इसी अवतार में समझ में आयी। अखण्ड ऐश्वर्य की स्थिति, माया के आवरण के बिना होने वाली ज्ञानस्फूर्ति, अद्वयानंद कभी च्युत नहीं होता इसलिये तुम्हें 'अच्युत' कहते हैं। इस प्रकार तुम अनंत और अपार हो। नियंता ईश्वर के भी ईश्वर हो; भक्तों पर करुणा करने वाले हो। उसके बारे में भी सुनो। देवताओं के नमस्कार के लिये भी दुर्लभ तुम रामचन्द्र लीलावतार चरित्र में रीछ और वानर को आलिंगन दे रहे थे। तुमसे बात करने के लिये वेद भी प्रतीक्षा करते रहते हैं और तुम वानरों के कान में कहानियाँ सुना रहे थे। तुम्हारा ज्ञान वेदशास्त्रों की भी समझ में नहीं आता। तुम वानरों से सलाह ले रहे थे और उनकी सलाह पर चल रहे थे। यज्ञों की आहुति भी तुम सरलता से नहीं लेते लेकिन तुम बड़े प्रेम से वानरों के दिये फल उन पर कृपा करने के लिये खा रहे थे। इस प्रकार तुम भक्तों के प्रेम का ख्याल करते हो। तुझमें विषमभाव नहीं है। तुम सारे संसार के आत्माराम हो। तुम अंतर्यामी के निजसखा हो। तुम हृदयस्थ परमात्मा हो। तुझ में भूतों और भौतिकों के प्रति भिन्न भाव नहीं है। तुम जड़ को चेतनता प्रदान करते हो, मूढ़ को ज्ञान देते हो और समस्त प्राणिमात्र को आनन्द प्रदान करते हो; तुम्हारी चित्सत्ता पर ही सारा संसार चल रहा हे। माता-पिता के प्रेम में सांसारिक भावना रहती है। तुम हृदयस्थ निजसखा हो तथा सभी को सुख प्रदान करने वाले हो। इस प्रकार तुम सबके हृदय में वास करते हो तथा समर्थ होने के कारण सबको वंद्य हो। तुम दीनों के कृपालु स्वामी हो तथा उनका हृद्गत जानने वाले हो। इस प्रकार, हे श्रीकृष्ण! तुम भक्तों के दीनदयाल हो। ऐसे प्रभु को छोड़कर सम्पत्ति से उन्मत्त हुए लोगों का भजन कौन करेगा?

तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां सर्वार्थदंस्वकृतविद् विसृजेत को नु।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनु भूत्यै किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां न॥ ५॥

ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये मायागुणों के अवतार हैं और तुम माया का नियंता ईश्वर होकर भक्तों पर करुणा करने वाले एवं सुखदाता हो। तुम्हारी भक्ति करने से चारों पुरुषार्थ और चारों मुक्ति भक्तों को दण्डवत करती आती हैं। तुम भगवान सर्वज्ञ होने के कारण भक्तों का मनोगत जानते हो। इतना ही नहीं बल्कि उन्हें जो चाहिये वह सब तुम उन्हें देते हो। भावार्थ का भोक्ता एक तुम श्रीकृष्ण ही हो। वह लक्षण तुम्हारे सिवा किसी और पर लागू नहीं होता। तुम उत्तमोत्तम स्वामी हो, तुम्हारे कारण साधकों को अत्यन्त सुख प्राप्त होता है। तुम्हारे जैसा कोई अन्य है ही नहीं। तुम पुरुषोत्तम सबके स्वामी हो। तुम सभी के स्वामी हो; किन्तु अपने भक्तों पर कृपालु हो। अग्नि, विष आदि संकटों से तुमने ही प्रह्लाद को बचाया। तुम्हें भक्तों पर करुणा आती है; उत्तानपाद राजा के नन्हे बालक को वैराग्य सम्पन्न कर, उस ध्रुव को तुमने अटल बना दिया। विभीषण शत्रु का भाई था लेकिन अनन्य भाव से तुम्हारी शरण में आया, उस पर कृपा करने के लिये तुमने रावण का उसके कुल के साथ उद्धार किया। तुमने बली को धोखा देकर बाँधा लेकिन अन्त में तुझमें इतनी अधिक करुणा उपजी कि तुम लाज छोड़कर उसके घर के द्वारपाल बन गये। इस प्रकार तुम्हें भक्त पर करुणा हो आती है; तुम भक्त के हृदय की बात जानते हो। ऐसे स्वामी को छोड़ धनांध लोगों की कौन सेवा करेगा? देहेन्द्रियों को सुख का जो आभास होता है वह तुम्हारे ही सुख का अंश होता है। इस प्रकार तुम अपने सारे सुखों की निधि के साथ अनायास ही अपने भक्तों पर प्रसन्न होते हो। केवल साधु ही तुम्हारी महिमा जानते हैं, तुम ज्ञानी पुरुषों का अभेद आत्मा हो। हे पुरुषोत्तम! तुम भक्तप्रिय हो। तुम्हारे सुख का कोई अन्त नहीं है। तुम्हारी सेवा के प्रेम के कारण भक्त आत्मसुख से सुखी होते हैं। दैहिक द्वंद्वों के अथवा जन्म-मरण के दुःख स्वप्न में भी उनके निकट नहीं आयेंगे। तुम्हारे भक्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तुम्हारे भजनसुख के कारण विषयों के प्रति विरक्त होकर समुद्रवलयांकित पृथ्वी का राज्य भी तुच्छ मानकर त्याग देते हैं। सारे ऐश्वर्य के साथ यदि स्वर्ग भी भक्तों के पास आ जाय, तो जिस प्रकार राजहंस कीचड़ का कुण्ड छोड़ देते हैं, उसी प्रकार वे भी स्वर्ग की उपेक्षा करते हैं। जो भजन में तल्लीन हो जाते हैं उन्हें तुम सुख स्वरूप बना देते हो और देह में होते हुए भी विदेही बना देते हो। ऐसे भक्त सर्वत्र समभाव रखते हैं। हे श्रीकृष्ण! तुम सर्वश्रेष्ठ स्वामी इस प्रकार भक्तों पर सदा सन्तुष्ट रहते हो। तुम्हारी सेवा करना भी कठिन नहीं है। सेवा करने के लिये परदेश जाने की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार सेवा के लिये किसी विशेष समय की आवश्यकता नहीं होती। सबके हृदय में रहने वाले तुम रात-दिन भक्तों के पास ही रहते हो। तुम्हारी सेवा के लिये धन की आवश्यकता नहीं होती, अथवा शारीरिक कष्ट की भी जरूरत नहीं होती। तुम्हारे चरणों में मन रखना ही पर्याप्त है। इतने से ही तुम स्वानंदधन सन्तुष्ट होते हो। सन्तुष्ट होकर तुम प्रपंच का भ्रम दूर करते हो। त्रिगुणों के साथ सारा त्रिकूट मिथ्या होकर नष्ट हो जाता है। तुम ऐसे सेवनीय तथा कृपालु और दीनदयालु स्वामी हो। जो तुम्हारी सेवा का त्याग करता है वह संभ्रमित, मूर्ख और मन्दबुद्धि है। पलकों का झपकना भी तुम्हारी ही इच्छा से होता रहता है। तुम्हारी सेवा से जो पुरुष विन्मुख रहते हैं, वे भाग्यहीन और अत्यन्त पामर हैं। तुम्हारी सेवा सुख स्वरूप ही है। उसकी उपेक्षा कर जो सर्वदा विषयों की विषैली लहरों की इच्छा करता है वह मूर्ख है जिन विषयों का विशय लेश पास के आत्मसुख का विनाश करता है और जन्म-मरण के फन्दे में फँसा कर दुःसह दुःख भोगने को विवश करता है, उन विषयों के विषदाता इन्द्र-महेन्द्र आदि अत्यन्त कंजूस रहते हैं। जो विषय स्वार्थ के लिये उन्हें भजते हैं वे भी सचमुच भाग्यहीन ही हैं। भगवन्! तुम्हारी कृपा से तुम्हारे भक्त अत्यन्त सुखसम्पन्न, अत्यन्त समर्थ एवं संसार में रहकर भी विरक्त हो जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। तुम्हारे चरणरज की सेवा करने वाले जो पृथुजनकादि राजा हैं, उन्हें इन्द्रादिक देवता भी वन्दन करते हैं और ऋद्धि-सिद्धि भी उनके चरण छूती हैं। आकल्प तपश्चर्या कर जिन सिद्धियों की प्राप्ति नहीं होती, वे भक्तों की शरण में आती है, इतनी तुम्हारी भक्ति श्रेष्ठ है। अन्य साधनों की अपेक्षा तुम्हारे भजन में मन रखने से सारी सिद्धियाँ स्वाभाविक रूप से भक्तों की शरण में आती हैं। इस प्रकार भक्तों पर तुम्हारे अपार उपकार होते रहते हैं। उस श्रीहरि के चरणों में लीन होने पर ही उस उपकार से उऋण हुआ जा सकता है। विलीन होना उसी प्रकार जैसे प्रतिबिम्ब बिम्ब से मिल जाय, अथवा घट का आकाश महादाकाश में प्रवेश करे। इस प्रकार यदि तुझमें विलीन न हों तो तुम्हारे उपकार की परिपूर्ति नहीं होती क्योंकि जो हमारे सारे मनोरथ पूर्ण करता है, उसे भूलना अधःपतन है।

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति॥ ६॥

सचमुच, तुझमें विलीन न होकर जो पुरुष ब्रह्मायु होकर, योगयाग करके थक गये, फिर भी उससे तुम्हारे उपकारों की पूर्ति नहीं हुई। अस्तु! ज्ञानसम्पन्न लोग नाना प्रकार के साधन करते हैं, फिर भी उससे तुम्हारे उपकारों की पूर्ति रत्तीभर भी नहीं होती। वह उपकार कौन सा है? तो हे दयासागर! तुम अपने भक्तों के अन्तर के और बाहर के पातक नष्ट कर देते हो। अंतःकरण के पातक अंतर्यामी के रूप में तथा बाहर के पातक सद्गुरु के रूप से तुम संकल्प के साथ विलीन कर देते हो। अंतर्यामी और सद्गुरु इन दोनों रूपों से तुम्हीं करुणा कर भक्तों का संसारभार दूर कर आत्मनिश्चय धारण कराते हो। आत्मनिश्चय होने का लक्षण यही है कि 'मैं' तू बन सहज ही विलीन हो जाता है; देहाभिमान अपने आप दूर हो जाता है; और जन्म, जरा, मरण का ही विलय हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जाता है। जन्म, जरा, मरण समाप्त होने पर भक्त सहज ही आनंदघन होकर रहते हैं। तुम्हारी इस कृपा से भक्त पूर्णरूप से उपकृत हो जाते हैं। हे कृपामूर्ति! तुम अपनी ऐसी स्वरूपस्थिति भक्तों को अर्पण करते हो। हमारे स्वामी तुम श्रीकृष्ण, त्रिभुवन में देवताओं के भी पूज्य हो। ऐसे तुम्हारे प्रसाद से भक्त स्वानंद से सुखी होते हैं और शेष प्रारब्ध के अनुसार सदा स्वानंद बोध से विचरण करते हैं। वे देह में होते हुए विदेही और कर्म करते हुए अकर्ता बने रहते हैं। इस प्रकार भक्तों पर तुम्हारे अनेक उपकार हैं। उनसे वे कैसे उबर पायेंगे? उबर पाने के लिये वे क्या करें? क्योंकि मन को मनपन तुम्हारे ही कारण आता है। बुद्धि को निश्चय तुम्हारे ही योग से आता है; और इन्द्रियों का स्फुरण तुम्हारे ही कारण होता है। आँखों का खुलना, बन्द होना तुम्हारे ही योग से होता है। ऐसे तुम्हारे नित्य नये उपकार हैं। तुम्हारे उन उपकारों की पूर्ति मनुष्यों से कभी नहीं होगी। जो भी कोई साधन करो वह तुम्हारी ही कृपा से सिद्ध होता है। इस प्रकार उपकार कर तुमने बड़े-बड़े लोगों का उद्धार किया है। लेकिन जिससे भोले-भाले लोग सुलभ तरीके से यह संसारसमुद्र तर सकें ऐसा उपाय बताओ। हे कृपामूर्ति श्रीकृष्ण! भले, श्रद्धालु स्वस्वरूप की प्राप्ति सुगम रीति से कर सकें ऐसा उपाय बताओ। तुम्हारे निजधाम जाने के बाद, हे मेघश्याम! हे पुरुषोत्तम! जिससे दीन दुर्बल तर कर जा सकें ऐसा उपाय मुझे बता कर रखिये। यह कहकर उद्धव ने दण्डवत किया और श्रीकृष्ण के चरण मस्तक से लगाकर बोला, गरीब श्रद्धालु लोगों के तरने का उपाय बताइये। उद्धव ने दीनजनों का तथा त्रिभुवन का भी उद्धार हो इसलिये प्रार्थना की। उसे सुनकर कृपासागर श्रीकृष्ण सन्तुष्ट हुए। उद्धव ने इस प्रकार श्रीकृष्ण की प्रार्थना की यह देखकर शुक्राचार्य को भी मन ही मन आनन्द हुआ और आनन्द के उसी आवेग में उन्होंने कहा, हे राजा परीक्षित! ध्यानपूर्वक सुनो। त्रिभुवन का उद्धार करने के लिये सुगम उपाय बताने के लिये उद्धव ने श्रीकृष्ण से बिनती की, इससे दयासागर श्रीकृष्ण सन्तुष्ट हुए। संसाररूपी समुद्र को तारने के उपाय का बीज जिस मार्ग से सुलभ रीति से साध्य होगा, उसे श्रीकृष्ण अब बताएंगे। श्रीकृष्णनाथ निजधाम को चले जाने के बाद सारे दुर्बल लोगों को तरने के लिये तथा ब्रह्म प्राप्ति के लिये उद्धव ने यह सेतु ही बना दिया है। उद्धव ही इस प्रश्नोत्तरी से शुक्राचार्यजी को भी अत्यन्त आनन्द हुआ और उसी का निरूपण वे परीक्षित को सुना रहे हैं।

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा पृष्टो जगत्कीडनकः स्वःशक्तिभिः।
गृहीतमूर्तित्रय ईश्वरेश्वरो जगाद सप्रेममनोहरस्मितः॥ ७॥

जो ज्ञानियों का शिरोमणि है, जो ब्रह्मचारियों का मुकुटमणि है, योगियों में जो अग्रगण्य है, जिन्हें सिद्ध भी वन्दन करते हैं; जो ब्रह्मज्ञान का निजनिधि है, जो स्वानंदबोध का समुद्र है, जो भूतदया का क्षीराब्धि है, वह शुक स्वानुभव से बताने लगा। हे भाग्यवान परीक्षित! पाण्डव कुल की तुम अगाध कीर्ति हो, कौरव कुल में तुम्हारे रूप से भक्ति कायम है। त्रिभुवन में आजकल धर्म संस्थापक तुम ही हो। मेरी बात सुनो। संसार का जो यह अद्‌भुत रूप दिखायी देता है, वह उसकी लीला का एक खिलौना है। वह खिलौना भी वह स्वयं ही बनकर, अलिप्त होकर खेलाता है। अद्‌भुत दिखायी देने वाला यह संसार, उसकी सत्ता से क्रीड़ा करता है और यह सारा संसार ही जिसका क्रीड़ास्थल है, उसके कारण ही संसार को संसारपन प्राप्त हुआ है। इस प्रकार जगद्रूप से क्रीड़ा करने वाला श्रीकृष्ण, जो ईश्वर का भी ईश्वर है; मायादि तीनों गुण उसके ही योग से प्रकाशित होते हैं। मायागुणों के अवतार जो उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं वे भी उसके

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आशाधारी हैं। श्रीकृष्ण से अनेक लोगों ने प्रार्थना की थी, लेकिन वह सब उनके अपने कार्य तक सीमित थी किन्तु उद्धव ने नम्रतापूर्वक जो प्रश्न पूछा वह संसार के उद्धार के लिये उपकारी था। उस प्रश्न से श्रीकृष्ण को अत्यन्त संतोष हुआ वे अब सुगम उपाय से ब्रह्मप्राप्ति का साधन बतायेंगे। इसलिये, जिससे भोले-भाले श्रद्धालुजन तत्काल समाधान प्राप्त कर सकें ऐसा सरल ब्रह्मज्ञान श्रीकृष्ण उद्धव को बता रहे हैं। ज्ञानमार्ग के राही यदि जीवभाव से छलांग लगायेंगे तो उद्धव के प्रश्न की चाह से उन्हें भी सुलभ रीति से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होगा। मोहमाया की जंजीर पहनकर जो अहंकार के कारागार में पड़े हुए हैं, उन्हें भी तत्काल छुटकारा प्राप्त हो, इसकी उद्धव के मन में चिन्ता थी। उद्धव भाग्यवान था, उसने संसार का उपकार करने के लिये प्रश्न किया; इसलिये श्रीकृष्ण सन्तुष्ट होकर, अत्यन्त आदर के साथ बोलने लगे। श्रीकृष्ण का मुख वैसे भी सुन्दर था, तिस पर मनोहर हास्ययुक्त हो जाने के कारण वह और भी अधिक रमणीय दिखायी देने लगा। श्रीकृष्ण उल्हास से, गम्भीर वाणी में बोलने लगे।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान्।
याच्छ्रद्धयाऽऽचरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम्॥ ८॥

जो प्रणव का शुद्ध सार है, जो ज्ञान की सच्ची लगन है, जो चैतन्य का मानों चमत्कार हैं और जो परावाणी से भी परे है, वे श्रीकृष्ण मेघसमान गम्भीर वाणी से गर्जना करते हुए स्वानंद से बोले, उद्धव! तुम्हारी वाणी धन्य है। तुम्हारे प्रश्न से मुझे समाधान हुआ। यदि भोले-भाले लोगों को सुगमरीति से ब्रह्मप्राप्ति होनी है तो उसके लिये मेरी भक्ति समर्थ है। मैं श्रीकृष्ण सदा उसके ही वश में रहता हूँ। मेरा अनन्य भाव से भजन करने से मैं सदा भक्त के अधीन रहता हूँ। उसमें जाति, गोत्र, ज्ञातापन, ऊँच-नीच, वर्ण आदि मैं कुछ भी नहीं देखता। अब जिससे उत्तम भजन हो सके, वह भागवत धर्म तुम्हें बताता हूँ। इससे कर्माकर्म आदि सब नष्ट होकर जन्म-मरण का भी नाश होता है। उस धर्म का स्वयं आचरण करने से भवव्यथा समूल खन कर बाहर निकल आती है। उस धर्म के योग से साधकों को स्वभावतः सुख सम्पत्ति प्राप्त होती है। जिस धर्म का स्तवन करने से असत्यादि दोषों का निर्मूलन होता है, जिस धर्म का निष्ठापूर्वक श्रवण करने से विषयवासना का नाश होता है, वे मेरे धर्म अत्यन्त पवित्र हैं तथा कलियुग के पातकों और दोषों को नष्ट करने वाले हैं; उनके भजन से मंगल का भी मंगल होता है। मेरे धर्म का श्रद्धापूर्वक आचरण करने से मेरे स्वरूप के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है और उससे भवभ्रम नष्ट होकर जन्म-मरण चूक जाता है। जो मृत्यु ब्रह्मदेव को भी निगल लेता है; हरिहर का भी संहार करता है, वह मृत्यु संसार में अत्यन्त असाध्य है। देवदानव भी उससे थर-थर काँपते हैं। उस मृत्यु का भय खनकर बाहर निकालकर, कलिकाल के दाँत तोड़कर; मेरे भक्त अद्वय भजन से संसार में सुखपूर्वक रहते हैं। उद्धव! तुम मेरे निजसखा हो, इसलिये मेरे भजन का सामर्थ्य उसकी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर संक्षेप में बताता हूँ, सुनो। कोटि-कोटि शस्त्रों का घाव शरीर पर लगने पर भी वीर योद्धा उसमें से बच जाता है लेकिन वही मर्म पर एक ही प्रहार होने पर तत्काल मर जाता है। उसी प्रकार नानाप्रकार के साधन करने से भी जन्म-मरण नहीं टलता लेकिन मेरा थोड़ा-सा भी भजन करने से उनका समूल विनाश हो जाता है। शुक्राचार्य एकनाथ के मुख से बोलते हैं। घनश्याम मेघ यही एक बड़ा मेघ है; उसने उद्धवरूपी चातक के लिये स्वानंदरूपी जीवन की वृष्टि की जिससे त्रिभुवन सुखी हुआ। वर्षाकाल समाप्त होने पर शरदऋतु का जल अत्यन्त मनोरम दिखायी देता है, उसी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकार यह उनतीसवाँ अध्याय भजन से समर्थ होने के कारण उसमें सुख के कल्लोल सुनाई देते हैं। एकादश स्कंध के अन्त में सुगम रीति से ब्रह्मप्राप्ति हो इसलिये श्रीकृष्ण स्वमुख से भक्ति के उत्तम से उत्तम प्रकार बता रहे हैं।

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैःस्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः॥ ९॥

देशाचार, कुलाचार अथवा वृद्धाचार आदि के अनुसार प्राप्त हुए वेदोक्त नित्यनैमित्तिकादि कर्तव्यों को 'कर्म' कहते हैं। इसी में मेरे सन्दर्भ में किये हुए कर्म को 'साधारण' मदर्पण कहते हैं और कर्म के अन्दर बाहर मैं ही हूँ यह जानकर किये हुए कर्म को 'मुख्य-मदर्पण' कहते हैं और यह बिना प्रयास किये होता है। सारा कर्म मेरे ही कारण प्रकाशित होता है; कर्म क्रिया मेरे ही कारण भासित होती है; इस दृष्टि से जहाँ समूल कर्म को देखा जाता है वह अनायास होने वाला मदर्पण है। कर्म का आदि मैं; कर्मकर्ता मैं; कर्म में कर्मसिद्धि का दाता मैं; कर्म में कर्म का फलभोक्ता भी मैं, इसी को कर्म का 'कृष्णार्पण' कहते हैं। परन्तु सहसा मन ऐसा नहीं करता। इसके लिये धीरे-धीरे अनुसंधान अखण्ड चालू रखने से मन स्वस्वरूप में प्रवीण अर्थात् तल्लीन होता रहता है। लेकिन जब मन को यह अनुसंधान अच्छा न लगने लगे, उस समय मेरा नामस्मरण करें। मेरे स्मरण से मन मेरे भजन में अनुसंधान करने लगता है। भजन का इस प्रकार अभ्यास बढ़ने पर, मन को आत्मस्वरूप से प्रीति होने लगती है और फिर बुद्धि भी वहीं डुबकी लगाती है और अभिमान भी देह की अहंता छोड़ देता है। मन को मेरे स्वरूप से अलग कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार मन मेरे प्रति रहने से उसे 'मदर्पण' कहते हैं। इस प्रकार मत्स्वरूप में मन निमग्न हो जाय तभी उसे मेरा भजन अच्छा लगा ऐसा समझना चाहिये। मेरी भक्ति से ही मेरे भक्त परम पावन होते हैं। तुम कहोगे कि विषयनिष्ठ मन भजन का अनुसंधान कभी नहीं करेगा। उसके लिये भी श्रीकृष्ण उत्तम उपाय बता रहे हैं।

देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान्।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च॥ १०॥

कुरुक्षेत्र यह पवित्र देश है; अयोध्या भी पवित्र देश है। गंगायमुना के दोनों किनारों पर के प्रदेश और अर्बुदाचल भी अत्यन्त पवित्र है। कलापग्राम, नंदिग्राम, बद्रिकाश्रम देश भी अत्यन्त पवित्र हैं। पंचवटी का श्रीराम का आश्रम और गोदावरी तट भी अत्यन्त पवित्र है। जहाँ श्रीराम ने अपने चरण रखे थे वह दण्डकारण्य भी अत्यन्त पवित्र देश है। मथुरा, गोकुल, वृन्दावन और ब्रह्मगिरी भी अत्यन्त पावन हैं। पांडुरंग क्षेत्र भी अत्यन्त पावन है, उसी को दक्षिण द्वारावती भी कहते हैं। वहाँ विट्ठल की मूर्ति है जहाँ पंढरी का जयघोष होता है। पंचक्रोशी काशी तो सभी पातकों का संहार करती है। वाराणसी यह देश पुण्यकारक होते हुए साधकों के लिये अत्यन्त सहायक है। जहाँ पवित्र नदियाँ बहती हैं, वह प्रदेश भी साधकों के लिये पवित्र है। गंगा, यमुना, सरस्वती, साबरमती, वैतरणी, गंडकी, नर्मदा, तापी, गोदावरी, भीमा, कृष्णा, वेण्या, तुंगभद्रा, गोमती ये नदिर्या तथा श्रीशैलस्थान भी पावन है। कावेरी के दोनों तट तथा चिदम्बर क्षेत्र भी पवित्र है। प्रतीची नदी भी उसी प्रकार पवित्र है। उसके जल से मनुष्य पावन होते हैं। कृतमाला, पयस्विनी, अत्यन्त पवित्र ताम्रपर्णी, उसी प्रकार नैमिषार अरण्य के पवित्र प्रदेश ये सब साधकों के सेवन के लिये सुयोग्य स्थल हैं। इस पवित्रता की महिमा छोड़िये। पवित्रता की अपेक्षा भी एक और बात है। जहाँ सज्जन भक्त रहते हैं, वह देश भी सभी दृष्टियों से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पवित्र है। जिस गाँव में मेरे भक्त रहते हैं, उनकी संगति से वह गाँव भी पवित्र हो जाता है और जिस देश में साधु-महात्मा रहते हैं, उनकी संगति से वह देश भी पवित्र हो जाता है। भक्तों की हवा जिधर भी लगती है उधर पवित्रता होने लगती है। वह सत्संगति जिन्हें प्राप्त होती है उनमें भी पवित्रता आती है। चंदन की संगति से बैर, बबूल भी सुवासिक हो जाते हैं और उन्हें देवता तथा ब्राह्मण मस्तक पर धारण करते हैं। उसी प्रकार सत्संग भी साधकों को सर्ववंद्य कर देता है। इस प्रकार शुष्क काष्ठ भी संगति से मूल्यवान हो जाता है; अमीर उन्हें पसन्द करते हैं और वह हरिहर के मस्तक पर भी चढ़ता है। भाग्य यदि अनुकूल हो तभी सत्संगति प्राप्त होती है; सत्संग से साधक पवित्र हो जाते हैं, यह निश्चित जान लो। जिसका चित्त भजनयुक्त होकर मुझमें रम जाता है, उसी को भक्त कहना चाहिये और वे ही संत सज्जन हैं। मेरे भक्तों के आचरण को सुर, नर और असुर भी वंदन करते हैं; साधकों को भी निश्चित रूप से इसी की साधना करनी चाहिये। नारद, प्रह्लाद, अंबरीष आदि श्रेष्ठ लोगों ने जिस भक्ति का अनुसरण किया वही भक्ति साधकों को भी रात-दिन सद्भावपूर्वक साधनी चाहिये।

पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान्।
कारयेद गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः॥ ११॥

प्रतिवर्ष यात्राओं का आयोजन करें, पर्वकाल की पूजा में गरुड़ध्वजांकित चिह्नों से युक्त छत्रचामरादि राजोपचार भक्तिभाव से श्रीकृष्ण को अर्पण करें। इस प्रकार के सार्वभौम राजेश्वर्य का भोग श्रद्धापूर्वक भगवान को अर्पण करें, भजन के प्रति रात-दिन मन में अदम्य उल्हास रखें। अश्व, हाथी अथवा शेष, गरुड़ आदि वाहनों पर अथवा पालकी में उनकी शोभायात्रा निकालें। उसी प्रकार रथोत्सव भी करें। करताल, मृदंग, झण्डे, शंख, झांझ आदि वाद्यों का गजर ऐसे करें कि आकाश में उसका स्वर गूँज उठे, जयजयकार की गर्जना करें। गायन और नृत्य का कार्यक्रम करें, पोवाड़े गायें, प्रेमपूर्वक कीर्तन करें। उसी प्रकार भगवान के सामन उछलकूद करते हुए कीर्तन करें, मुँह टेढ़ाकर भगवान के साथ मसखरी करें; सभा में गर्जना कर भगवान का गुणगान करें। गोपालकाला और रासक्रीड़ा का खेल करें। अनेक प्रकार के कौशल से दण्ड, छाती, मस्तक आदि की टक्कर से शरीर की स्वस्थता का प्रदर्शन करें। कुवलयापीड नामक मत्त हाथी के दाँत उखाड़कर गोपालकृष्ण के वेश में झूमते हुए सभा में प्रवेश करें। भगवान की महानता की स्तुति का पाठ करें। यदि धन की समर्थता हो तो उत्सव स्वयं ही करें अन्यथा लोगों के साथ मिलजुल कर उत्सव करें। इस प्रकार एकनिष्ठ प्रेम से और चाव से भजन करने से मेरी भक्ति की चाह बढ़ती है और सहज ही हरि का प्रेम उत्पन्न होता है। सप्रेम भक्ति करने से 'मैं' भक्तों पर प्रसन्न होता हूँ और मेरे भक्त को अंतरंग भजन स्वयमेव प्राप्त होता है। अब 'अंतरंग भक्ति' के बारे में पूछोगे तो उसका लक्षण उद्धव को श्रीकृष्ण स्वयं अपने मुख से बता रहे हैं।

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥ १२॥

श्रद्धायुक्त भक्ति करने से चित्तवृत्ति शुद्ध होती है और उससे गुरुकृपा से मेरे भक्तों को आत्मदृष्टि की स्थिति प्राप्त होती है। उस आत्मदृष्टि से देखने से समस्त प्राणिमात्र भीतर उसे मैं ही दिखायी देने लगता हूँ, अन्दर में मैं हूँ ऐसा निश्चय जो करता है तभी प्राणिमात्र के बाहर भी मैं ही उसे दिखायी देने लगता हूँ। पर और अवर से परे रहने वाला अनंत, मैं भगवान प्राणिमात्र के अन्दर-बाहर रहता हूँ। मेरा भक्त मैं बनकर ही मद्रूप से मुझमें आकर मिलता है। जितनी और जैसी मेरी व्याप्ति होती है उसी के अनुसार मेरे भक्त की स्थिति होती है। इसलिये वह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिस व्यक्ति को भी देखता है, उसमें उसे मेरे स्वरूप का अनुभव होता है। जिस प्रकार घट में घटाकाश रहता है और वही घर के भीतर-बाहर महदाकाश के रूप में रहता है, उसी प्रकार मैं चित्स्वरूप प्राणीमात्र के भीतर-बाहर आत्मस्वरूप बनकर रहता हूँ। निश्चयपूर्वक तथा आत्मप्रतीती से समस्त प्राणिमात्र के प्रति भगवद्भावना रखना यही भक्तों के भगवद्भजन करने की पद्धति है। उसी को श्रीकृष्ण यथार्थ रूप से बताते हैं।

इति सर्वाणि भूतनिमद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥ १३॥

उद्धव! तुम बहुत भाग्यवान हो। तुम ज्ञान के निधि तथा कैवल्य के दीप हो। समस्त प्राणिमात्र में रहने वाला मेरा रूप वास्तव में सबाह्य व्यापने वाला चित्स्वरूप है। इस प्रकार समस्त प्राणिमात्र में मेरा स्वरूप समाया हुआ है, इस भावना से जो मेरी भक्ति करता है, वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को समदृष्टि से देखता है। भिन्न रूप, भिन्न नाम, भिन्न स्थिति, भिन्न कर्म, इस प्रकार यह संसार विषम दिखाई देते हुए भी मेरे भक्तों के प्रति मेरी भावना सर्वत्र सम ही रहती है। भिन्न-भिन्न प्राणियों को देखकर भी जिसका ज्ञान भिन्न नहीं होता, जो मेरी भावना से सबकी समान रूप से सेवा करता है, उस पर मेरी भक्ति प्रसन्न होती है और मेरी भक्ति जिस पर प्रसन्न रहती है उसका मैं श्रीकृष्ण आज्ञाधारक रहता हूँ क्योंकि वह सभी भूतों में निश्चित भगवदभावना धर कर उपासना करता है। (आशंका) तुम्हारे वेदों की आज्ञा तो माननी ही चाहिये। उसमें कहा गया है कि ब्राह्मण को अत्यन्त पूज्य मानें, असुरों की अर्थात् दुष्टों की उपेक्षा करें। चाण्डालों को अत्यन्त निंद्य समझें। जो भी कर्मभ्रष्ट हो उनका मुँह भी न देखें। यह निष्ठुर वेदमर्यादा तुमने ही बना दी है। अतः सारे प्राणी एकसमान हैं इस दृष्टि से भगवद्भजन कैसे सम्भव है? यदि ऐसा विकल्प तुम्हारे मन में आ रहा हो तो भक्ति की महिमा सुनो। जब तक घनी अँधेरी रात रहती है, तभी तक दीपक की प्रतिष्ठा है। सूर्योदय के उपरान्त दीपक का प्रकाश नहीं के बराबर होता है। उसी प्रकार जब तक दृढ़ अज्ञान है, तभी तक वेदाज्ञा प्रमाण है; किन्तु जिसे मेरा अभेद भजन प्राप्त हो उसे वेद स्वयं प्रणाम करता है। बेचारे वेद की क्या बिसात है? जिसे मेरी अभेद भक्ति प्राप्त हुई हो, उसे मैं श्रीकृष्ण भी वन्दन करता हूँ और सदा उसके वश में होकर रहता हूँ। जहाँ पूर्ण अभेद भक्ति रहती है उसके घर मैं सेवक बनकर रहता हूँ। उसके संसार की देखरेख मुझ पर निर्भर होने के कारण मैं उसका योगक्षेम चलाता हूँ। अभेद भक्ति की महिमा ही ऐसी है कि आत्मज्ञान उसके चरण छूता है। वहाँ वंद्य-निंद्य एक समान रहते हैं। विषम में भी मन में विकार उत्पन्न नहीं होता।

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिंगके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥ १४॥

जिनके पदरज का वंदन करने से हम पवित्र होते हैं, ऐसे पुण्यपूज्य ब्राह्मण, जिनका चरण श्रीहरि ने अपने हृदय पर धारण किया है, ऐसे अत्यन्त वन्दनीय ब्राह्मण, और चाण्डालों में भी अत्यन्त निंद्य पुल्कस भी उस श्रेष्ठ ब्राह्मण की ही तरह हरिरूप है ऐसा जो भक्त समझता है, सुवर्ण का विष्णु हो और सुवर्ण का ही श्वान हो तो उसमें से एक वंदनीय और दूसरा निंदनीय लगता है लेकिन बाजार में बेचने जाओ तो दोनों का एक ही मूल्य मिलता है। उसी प्रकार आत्मस्वरूप में निंद्य और वंद्य दोनों एक समान हैं। पुल्कस और ब्राह्मण जातिभेद के अनुसार विषम हैं किन्तु आत्मदृष्टि से देखने पर दोनों ही चिद्रूप में समान हैं। जो जानबूझकर ब्राह्मण का धन चुराता है और वह जो ब्राह्मण पर उपकार करता है, वे दोनों ही आत्मदृष्टि से सम हैं तथा मद्रूप दिखाई देते हैं।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऐतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च।
साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम्॥ ३१॥

उपदेश देने के लिये पूर्ण अधिकार यह है कि उसमें प्रखर वैराग्य हो। वह भी पिशाच वैराग्य नहीं, बल्कि विवेकसम्पन्न तथा शास्त्र शुद्ध वैराग्य चाहिये। अन्यथा चार दिन वैराग्य धारण करेगा और तत्काल विषयों की ओर मुड़ जायेगा। ऐसे को उपदेश करना, दूध पिलाने की तरह है क्योंकि वैराग्य चला जाने के बाद केवल ज्ञान का अभिमान शेष रहता है। उस अभिमान से यह क्या करता है? तो श्रेष्ठ लोगों के गुणदोष देखता है। कनिष्टोंकी अवहेलना कर उनकी निन्दा करना तथा श्रेष्ठ लोगों के गुणदोष देखना। वैराग्य क्षीण होने पर इस प्रकार का ज्ञानाभिमान जागृत होता है। उद्धव! इस संसार में केवल दो ही अवस्थाएँ हैं। पहली विरक्ति तथा दूसरी विषयासक्ति तीसरी कोई अवस्था होती ही नहीं। जहाँ विवेक से विषय क्षीण होते हैं वहाँ परिपूर्ण वैराग्य बढ़ता है और जहाँ विवेक के साथ वैराग्य क्षीण होता है, वहाँ ज्ञानाभिमान से विषयाचरण होने लगता है। इसलिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने तक पूणरूप से वैराग्य कायम रखता है तथा वैराग्य युक्त होकर अनन्य भाव से गुरु की शरण में जाता है वही उपदेश के लिये अधिकारी रत्न है, ऐसा समझना चाहिये। पिछले श्लोक में दोषों का निरूपण वैराग्य के लिये समझना चाहिये। इन दोषों से जो रहित होता है, वही सच्छिष्य है। जो ब्राह्मणों की ब्रह्मभाव से भक्ति करता है, जो भूतों को अनन्य भगवद् भाव से भजता है, उसकी भक्ति और विरति दासी बन जाती हैं। उसे ही सचमुच अधिकारी समझना चाहिये। गुरु का अत्यन्त प्रिय भी हो लेकिन यदि अभक्त हो तो भजन करने तक उसे भी ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होगा। गुरु को प्रिय तथा भजनशील और दोषरहित हो तो ऐसे शिष्य की विरक्ति को अटल बनाकर उसे पूर्ण ईमानदारी से इस गुप्त ज्ञान का उपदेश करना चाहिये। स्वपत्नी तथा स्वधन का जिसे अत्यन्त लोभ हो तो उसे न स्वर्ग मिलेगा, न मुक्ति ही। असीम जन्म-मरण अवश्य भोगना पड़ेगा। परस्त्री और पराया धन को जिसका मन कभी स्पर्श नहीं करता, ऐसे पवित्र व्यक्ति को इस ज्ञान का उपदेश करना चाहिये। जो वैराग्य के साँचे में ढला हुआ है, विवेक से जो परिपूर्ण है, जीवभाव से जो सद्गुरु की सेवा के लिये समर्पित है और अनन्यभाव से उनके चरणों पर गिरा हुआ है; उसी प्रकार अपनी महानता भूलकर जो गुरु सेवा के लिये रंक होने को तत्पर है, ऐसी सेवा के प्रति जिसका पूर्ण सद्भाव रहता है, इनद्र जैसे बड़े-बड़े देवतागण को भी जो सद्गुरु का दास मानता है और सद्गुरु की अपेक्षा हरिहर को भी श्रेष्ठ नहीं मानता; जिसमें न गर्व है न मद, जिसमें कामक्रोध नहीं है, जिसे विकल्प भेद पसन्द नहीं है, उसी शिष्य को पूर्णरूप से परमार्थी समझना चाहिये। काया, वाचा, मन, धन छोड़ तथा बड़प्पन की अकड़ छोड़कर जो अनन्य भाव से सद्गुरु की शरण में जाता है, उसे ही साधुत्व की दृष्टि से सच्छिष्य समझना चाहिये। लोकलज्जा को छोड़कर जो ब्रह्मज्ञान का याचक बनता है और सद्गुरु के उपदेश के लिये चातक बनकर रहता है, उसे अवश्य उपदेश करना चाहिये। जो तीन वर्णों से अलग हैं, वेदों ने जिन्हें अपने से दूर करके रखा है, जिन्हें मंत्रों का अधिकार नहीं है, जो श्रवण के भी अधिकारी नहीं हैं, जिनका आश्रमधर्म नहीं है, वैदिक कर्म नहीं है, जप अथवा होम नहीं है, जो अधमवर्ण के कारण नीच हैं, ऐसे शूद्रादि लोग, उनमें भी इस ग्रन्थ का ज्ञान पढ़कर जन्म-मरण निवारण करने के लिये तीव्र वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसे लोगों को मन से विषयों से घृणा होती है और वे काया, वाचा तथा मन से सद्गुरु को अनन्य भाव से शरण जाते हैं। गुरु से किस तरह प्रश्न किया जाय, यह भी उनकी समझ में नहीं आता। जन्म-मरण से मुक्ति पाने के लिये वे भक्ति से साष्टांग दण्डवत करते हैं। परमार्थ के प्रति उन्हें शुद्ध और परिपूर्ण श्रद्धा रहती है। ऐसे लोग भले ही शूद्र क्यों न हों लेकिन उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने से कभी दोष नहीं लगता। मेरे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। अरे! मनुष्य देह में ही जो ब्रह्मस्वरूप की भावना रखता है, वही सच्चा भाग्यवान है। चारों मुक्ति का राजा संसार में निश्चित रूप से वही है। समस्त प्राणियों में भगवद्भाव रखना यही जिसका अखण्ड साधन है, उस पुरुष का देहाभिमान एक क्षण में, अपने आप निकल जाता है। देह का अहंकार निकल जाता है, उस समय वह स्पर्धा, ईर्षा, तिरस्कार आदि परिवार के साथ समूल बाहर निकलता है। देह पर ममता करना यही 'अभिमान' है। अपने साथ वाले लोगों के ज्ञान की भर्त्सना करना, इसी का नाम 'स्पर्धा' है और अपनी अपेक्षा दूसरे का ज्ञान अधिक है, यह जानकर भी उसके गुणों में दोष खोजना इसी का नाम 'ईर्षा' है। श्रद्धालु साधकों की साधना को छल करके नष्ट करना, उनका धि:कार कर उनकी पूर्ण भर्त्सना करना इसका नाम 'तिरस्कार' है। देखो! सारे भूतों में भगवद्भाव देखने से उपर्युक्त सारे दोष लेकर अहंभाव भागने लगता है। समस्त प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखकर भजना, यह साधन ही सबमें श्रेष्ठ है। इसके योग से ही पूर्ण ब्रह्म हाथ लगता है और यह लाभ नरदेह में ही होता है। ममत्व को दूर करें, महानता की आकांक्षा छोड़ दें, लोकलज्जा पर पानी छोड़ें, सभी ब्रह्म सायुज्यता का लाभ होता है। देह का अहंकार छोड़ दें, सम्मान और अहंता का त्याग करें, महानता और घमण्ड का त्याग करें, तभी ब्रह्मसायुज्यता प्राप्त होती है। तत्काल पूर्णब्रह्म होने का यह सुलभ साधन है लेकिन वह किसी से भी नहीं हो पाता क्योंकि लोगों में लौकिक की प्रबल इच्छा रहती है। वर्ण का अभिमान त्याग दें, स्वयं ही ज्ञातापन को दूर कर दें और अणुरेणु को भी नमस्कार करें तभी परब्रह्म की प्राप्ति होती है। लौकिक की लज्जा जो छोड़ता है, उसका काम तत्काल होता है। उसी विषय का गुप्त रहस्य श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥ १६॥

नाते रिश्तेवालों के सामने दण्डवत करने से वे हँसेगे इसलिये परदेश में जाकर गौ, गधे तथा कुत्तों के सामने साष्टांग नमस्कार करें। यदि लोगों की लज्जा करें तो कार्य पूरा नहीं होगा इसलिये खूब दण्डवत करें और लोकलज्जा का ख्याल न कर नाते-रिश्तेदारों के सामने खूब नाचें। सास, ससुर, दामाद, इष्ट, मित्र, समधी, भाई आदि को देखने से मनुष्य मन ही मन लज्जा से नत हो जाता है। इसलिये उनके सामने ही लज्जा छोड़ कर चांडालादि हीन जाति को तथा गौ, गधा तथा श्वान को भी वंदन करें। वह वन्दन भी साष्टांग दण्डवत के समान हो। अगर वहाँ ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण हों अथवा नीच जाति अंत्यज हो, उन्हें भी सद्भावनापूर्वक दण्डवत् करें। अपने कार्य पूरा करने के लिये लोकलज्जा को निर्मूल हटा दें। गाय, गधा आदि की चरण रज का वंदन करने से भगवद्भजन का तेज प्रकट होता है। इसलिये स्वजनों की लज्जा का त्याग कर सबको दण्डवत् करें। संशय, वैषम्य आदि छोड़ लोकलज्जा को लात मारकर भगवद्बुद्धि से समस्त प्राणियों को दण्डवत करें। इसकी मर्यादा भगवान बता रहे हैं।

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥ १७॥

अपने देह के साथ जो भी प्राणी अपने दृष्टि पथ में आये, उस पर जब सहज ही भगवद्स्वरूप की भावना अंकित होगी; उसी प्रकार दृष्टि से देखते समय जिस-जिस चीज का आभास होता है अथवा दृष्टि के बिना जो-जो दिखायी देता है वह सब जब उसे सहज ही चिद्रूप स्फुरने लगे; मन की कल्पना में जो भी आये अथवा जो कल्पना के बाहर का हो, वह सब मद्रूप से मेरा ही स्वरूप है, ऐसा अनुभव होगा; देह से होने वाला कर्म का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

आचरण अथवा वैदिक और लौकिक आचार, ये सारे व्यापार तथा चराचर भी उसे मद्रूप से मदाकार ही दिखायी देंगे; जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति में जो सुख हम देखते हैं या भोगते हैं, वह सब मद्रूप ही है ऐसा जब मन में निश्चित रूप से बैठ जाएगा, अथवा देह में जो स्वाभाविक असंख्य व्यापार उत्पन्न होते हैं, वे भी सचमुच मद्रूप ही रहते हैं; यह निश्चय जिसका नहीं ढलेगा, सारांश, इतनी अवस्था प्राप्त होने तक सर्वभूतों में भगवद्भावना धारण कर निजस्वार्थ के लिये भजन करें। भजन का यह प्रकार छोड़कर अनेक प्रकार के साधनों का प्रयास करने पर, मेरे अनुभव की बात कल्पांत में भी नहीं प्राप्त होगी। यही जानकर निश्चयपूर्वक समस्त प्राणिमात्र में परमेश्वरस्वरूप ही है इस भावना का ज्ञान अथवा भाषण छोड़कर समस्त प्राणिमात्र में भगवद्भावना धारण करने से ही मेरी प्राप्ति सुगम है, यह जान लो। उद्धव, यही ब्रह्मप्राप्ति का सच्चा उपाय है। यही मेरे जीव की पहचान है। इसके योग से ज्ञान सुगम होता है; इसके योग से ही मेरी भक्ति सुगम होती है; और हे उद्धव! इसके योग से ही मेरी प्राप्ति सुगम है, यह निश्चित रूप से जान लो। समस्त प्राणिमात्र के प्रति ब्रह्मभावना की स्थिति जिन्हें निश्चित रूप से प्राप्त हो गयी, उनकी भजनवृत्ति भी समाप्त हो जाती है।

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया।
परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥ १८॥

काया, वाचा तथा मन से जो सर्वभूतों में मद्भाव रख कर मेरा भजन करते हैं, उन्हें सभी भूत भगवत्स्वरूप हैं इस बात का निश्चय होता है। इसलिये 'मैं एक यहाँ सारे प्राणियों को भगवद्रूप देखता हूँ' यह भी उसकी वृत्ति समाप्त हो जाती है और वह अपने चारों ओर परब्रह्म ही देखने लगता है। इसके उपरान्त जिस प्रकार घृत का रवा पिघलने के बाद घी का रूप प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार वह सर्वत्र परब्रह्म देखने वाली वृत्ति भी ब्रह्म में विलीन हो जाती है। (यही अंतिम स्थिति है) तब सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म ही भरा हुआ है यह स्फूर्ति भी शेष नहीं रह जाती। 'मैं' 'तू' का निगल कर ब्रह्मस्वरूप ब्रह्म में ही एकरूप हो जाता है। तब हेतु, भाषण, दृष्टांत, वेद के साथ शास्त्रार्थ आदि सारी बातें समाप्त हो जाती हैं। देवता और भक्त ये भाव भी समाप्त हो जाते हैं। केवल अद्वय और अखण्ड परब्रह्म ही शेष रह जाते हैं। रस्सी और सर्प का भ्रम समाप्त होने पर रस्सी पूरी तरह रस्सी के ही रूप में शेष रह जाती है अथवा सर्प का भास होने पर भी रस्सी में रस्सी ही अवशिष्ट रहती है। उसी प्रकार अविद्या के कारण से प्रपंच नष्ट होते ही सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है; अथवा प्रपंच का भान होने पर भी ब्रह्म के स्थान पर शुद्ध ब्रह्मत्व ही रहता है। इसलिये हे उद्धव! समस्त प्राणियों के प्रति भगवद्भावना धारण कर मेरी भक्ति करने से साधकों को इतना लाभ होता है, यह जान लो। पूर्ण ब्रह्म की शीघ्र प्राप्ति के लिये गुणदोष छोड़कर सारे भूतों में भगवद्भाव रखकर भजन करना यह प्रमुख साधन है। इससे श्रेष्ठ साधन और कोई नहीं है। यही परम साधन है। निश्चित रूप से यह मुझे भी मान्य है।

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥ १९॥

समस्त प्राणियों को भगवद्दृष्टि से देखना यही एक पूँजी मेरे पास है और इसी पूँजी के सहारे कोटि-कोटि सृष्टि की रचना करके भी मैं अकर्त्ता ही रहता हूँ। आत्मदृष्टि से मेरी ओर देखने पर सभी भूतों के प्रति भगवद्दृष्टि रखना यही मेरी सुन्दर भक्ति है और वह कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड को तारने वाली है। सभी भूतों के प्रति भगवद्भावना रखना यही भक्ति मैंने कल्प के आरम्भ के समय नाभाकमल से उत्पन्न हुए ब्रह्मदेव को उपदेश के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

रूप में बतायी। व्रत, तप, दान अथवा योग, याग, ध्यान करके यदि वेदशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया तो भी वह मेरी भक्ति के बराबर नहीं होगा। साधक अट्टहास कर नाना प्रकार के साधन भले ही कर लें लेकिन मेरी भक्ति के बिना, मेरे प्रेम की वार्ता उन्हें नहीं मिलेगी। मेरे भक्तों की संगति से ही साधकों को मेरी भक्ति प्राप्त होती है। उद्धव! अभेद भजन से ही मेरी प्राप्ति होती है यह निश्चित रूप से जान लो। सर्वभूतों के प्रति भगवद्भजन करने का लक्षण सुनो। प्राणी भले ही भिन्न-भिन्न स्वभाव के हों लेकिन उनके प्रति मन में परिपूर्ण ब्रह्मभावना रखनी चाहिये। दुष्ट, दुरात्मा, अपरिचित, नष्ट, चाण्डाल, पतित के प्रति भी निर्मल ब्रह्मभावना रखना यह 'मानसिक' भजन है। समस्त प्राणिमात्र में परिपूर्ण भगवंत समाया हुआ है यह जानकर वह किसी से निष्ठुर भाषण नहीं करता। भले ही वहाँ प्राण चले जाएँ लेकिन फिर भी उद्धव! वह लोगों के गुण-दोषों का उच्चार नहीं करता। यह सचमुच 'वाचिक' भजन है। प्राणियों का जिससे उपकार हो, ऐसा ही देह व्यापार वह करता है; कोई उसका मर्मभेद भी करे तो भी वह उसके अपकार के लिये हाथ नहीं उठता। बल्कि अपकार करने वाले का वह उपकार ही करता है। यह सचमुच 'कायिक' भजन है। इस प्रकार काया, वाचा तथा मन से समस्त भूतों में भगवद्भजन करना यही मुख्य रूप से श्रेष्ठ साधन है, इसे ज्ञानी भक्त जानते हैं। ब्रह्मप्राप्ति का परम कारण यही एक सुगम साधन है। उद्धव! देवकी की शपथ लेकर कहता हूँ कि इसे मैं भी मानता हूँ। यह भजनधर्म अत्यन्त शुद्ध है तथा इसमें विघ्नों का संबंध अथवा पीड़ा प्रवेश नहीं कर सकती। यही बात श्रीकृष्ण स्पष्ट करके बताते हैं।

न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।
मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वादनाशिषः॥ २०॥

मनु आदि शास्त्रकारों ने नाना प्रकार के शास्त्रार्थों में अनेक साधन बताये हैं; किन्तु साधकों को सर्वभूतों में भगवद्भक्ति यही सर्वोत्तम साधन है। इस भक्ति की यही श्रेष्ठता है कि इसके प्रारम्भ से ही साधक को बाधा पहुँचाने के लिये विघ्न नहीं आ सकता। इस भक्ति का लक्षण यही है कि इसका मूल आरम्भ ही निर्गुण होने के कारण इसमें विघ्न प्रवेश करने का साहस ही नहीं करता। गरुड़ के झपट्टे के साथ जिस प्रकार सर्प के शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार इस भक्ति के पास विघ्नों की अपने आप ही होली जल जाती है। मेरे केवल नाम के सामने विघ्न बेचारा खड़ा नहीं रह पाता। इस प्रकार यह भक्ति समर्थ है। उद्धव! तुम्हारा भाग्य अच्छा है कि मैंने तुम्हें अपना यह गुप्त भण्डार खोलकर असली रहस्य तुम्हें बताया। मेरी निष्काम भक्ति में विघ्नों की गड़बड़ी नहीं चलती तथा साधकों को परब्रह्म स्वरूप की सुलभ रीति से प्राप्ति होती है। हेतु मन में रखकर किया हुआ कर्म हो या अहेतुक कर्म हो, वह सारा कर्म जो कृष्णार्पण करेगा, वही मेरी उत्तम भक्ति है। उसी का निरूपण श्रीकृष्ण कर रहे हैं।

यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत्।
तदायासो निरर्थः स्याद् भयादेरिव सत्तम॥ २१॥

व्यवहार के लिये जो कुछ प्रयत्न किया वह फलित न होकर व्यर्थ गया; उसे भी यदि ब्रह्मार्पण किया तो सद्भाव के कारण वह भी मेरे भजन में जुट जाता है। होली का त्योहार बहुत बड़ा होता है; उसमें आपने जो खेल खेला हो, वह भी यदि कृष्णार्पण कर दिया जाय तो वह भक्ति भी मुझे ही अर्पित होती है। चोर के भय से कोई जंगल की ओर भाग जाय और वहाँ उसे अनायास ही खजाना मिल जाय; उसी प्रकार निरर्थक किया हुआ कर्म भी यदि मुझे अर्पण किया जाय तो वह भी मेरे भजन में लग जाता है और उससे बड़ा लाभ होता है। लोग सड़ा-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

गला जमीन पर फेंक देते हैं; लेकिन यदि साधक उसे दृढ़ निश्चय से ब्रह्मार्पण मान ले तो वह भी मेरी भक्ति में जमा होता है। इतना ही नहीं बल्कि कड़ुए कद्दू की खीर जिसे श्वान और सुअर भी नहीं खायेंगे, वह भी यदि आनन्द से कृष्णार्पण करें तो वह कर्म भी ब्रह्मार्पण होता है। जो खोयी हुई वस्तु न मिल रही हो, वह भी कृष्णार्पण करने से अनायास मुझे मदार्पण होती है। सारांश यही है कि प्रत्येक कर्म कृष्णार्पण करें। उसे मनःपूर्वक अर्पण करने का ही नाम है 'सद्बुद्धि'।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥ २२॥

मन में तो विषय की आसक्ति है और ऊपरी मन से ब्रह्मार्पण करें, ऐसे लोग अनेक दृष्टि से फँस जाते हैं। यही बात श्रीकृष्ण बताते हैं। कुछ लोग अत्यन्त बुद्धिमान रहते हैं, वे अपनी बुद्धि हाथ में लेकर अन्त में विषय का स्वार्थ सिद्ध करने में लग जाते हैं। वह अपनी देहममता के कारण अवश्य ही फँस जाते हैं। किसी की बुद्धि अत्यन्त उत्तम रहती है, वेदशास्त्र में वे अत्यन्त पारंगत रहते हैं; किन्तु गर्व अभिमान के कारण ज्ञान के गर्व में फँस जाते हैं। कुछ बुद्धिमान योगाभ्यास में पारंगत रहते हैं। वे अभ्यास से प्राणायाम साध्य कर योगरूप किले में घुस जाते हैं और वहाँ की सिद्धि के वैभव की बलि चढ़ते हैं। कुछ लोग कर्म को श्रेष्ठ मानते हैं और कर्म का हो-हल्ला मचाते हैं। विधि निषेध से ही उनका मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण लोग कर्म में ही डूब जाते हैं। इस प्रकार नाना प्रकार के प्रयास कर कितने लोग फँस गये हैं उनकी कोई गिनती नहीं है। लेकिन मेरी भक्ति वैसी नहीं है। वह केवल भाग्यवान को ही प्राप्त होती है जिसका सर्वभूमि भगवद्भजन रहता है, उसकी बुद्धि की बुद्धि मैं स्वयं बन जाता हूँ। वह बुद्धि कौन सी होती है? तो कर्म को ब्रह्मार्पण करना यही 'महाबुद्धि' है। समस्त प्राणियों के प्रति मेरा भजन और सभी कर्म मदर्पण यही बुद्धि की 'महाबुद्धि' है। इसी के योग से वे स्वयं पूर्णब्रह्म होते हैं। चतुर लोगों की चातुरी इसे ही कहनी चाहिये। क्योंकि वे मिथ्या देह के योग से भजन कर स्वयं सत्य सनातन ब्रह्म बन जाते हैं। पहले तो माया ही मिथ्या है और उस माया से कल्पित देह भी मिथ्या! लेकिन देखो। उसी देह का कर्म मुझे अर्पण करने से वे स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। मिथ्या देह के भजन से स्वयं सत्यस्वरूप परब्रह्म होना यह भूसा देकर अनाज की ढेर लेने की तरह है। अथवा फूटी कौड़ी देकर चिन्तामणि गठियाने की तरह है। उसी प्रकार मिथ्या देह का कर्माचरण जिसके योग से जीव को दृढ़तर बन्धन प्राप्त होता, उसे ही अर्पण कर वे स्वयं परिपूर्ण ब्रह्म बन जाते हैं। अनित्य देह के कारण ही नित्य वस्तु प्राप्त होती है। यही बुद्धिमानों की श्रेष्ठ बुद्धि है। इसी को 'ज्ञान का संतोष' कहते हैं। इस प्रकार परमशुद्ध परमार्थ श्रीकृष्ण ने अपने मुख से सुनाया। उस ग्रन्थ की अब परिसमाप्ति करने के लिये उपसंहार के रूप में निरूपण सुनाते हैं।

एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः।
समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः॥ २३॥

अनेक मत-मतान्तरों को छोड़कर, कहीं संक्षेप में तो कहीं विस्तार में मैंने अत्यन्त शुद्ध ब्रह्मज्ञान तुम्हें बताया। मैंने तुम्हें इसे अत्यन्त सुगम बनाकर बताया, अन्यथा यह ब्रह्मादि देवताओं के लिये भी दुर्लभ है। जो आगम निगम शास्त्र का अध्ययन करते हैं उनके लिये तो यह और भी असाध्य है। वस्तु का साक्षात्कार न कर अनेक प्रकार के शास्त्रार्थों का खोखले शब्दों से साक्षात्कार करते रहते हैं। ब्रह्म का वाद करते समय वेद भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

'नेति' शब्द से निःशब्द हो गये हैं। उसी आत्मज्ञान का सार तथा परमार्थ का गुप्त भण्डार और मुझ परमात्मा का अंतःकरण खोल कर तुम्हें बताया है।

अभीक्ष्णशस्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत्।
एतद् विज्ञान मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः॥ २४॥

जो वेदशास्त्रों के लिये कठिन है, जिसे शब्दों में वर्णन करना कठिन है, वह ज्ञान मैंने तुम्हें चुनकर बताया है और वह ज्ञान तुम्हारे मन पर अंकित हो, इसलिये उसे अनेक प्रकार की युक्ति-प्रयुक्तियों से बार-बार बतलाया है। तुम्हें अधिक प्रयास न करना पड़े और तुम्हें अधिक कष्ट न हो, इस दृष्टि से सारे संशय निर्मूल करते हुए तुम्हें स्पष्ट ज्ञान दिया है। इस ज्ञान को जानने से सारे संशय जल जाते हैं और साधक ब्रह्मसम्पन्न होकर निरन्तर स्वानंद में तृप्त रहते हैं। उद्धव! मैंने यह जो गुप्तज्ञान बताया, उस एकादश स्कंध के निरूपण का श्रवण, पठन और मनन जो करेगा वह धन्य है।

सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत्।
सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति॥ २५॥

ज्ञाता तर जाएँ तो इसमें कैसा आश्चर्य है? लेकिन जो भोले-भाले और अज्ञानी हैं, उनका भी उद्धार करने के लिये तुमने प्रश्न पूछा है। उस प्रश्न के अनुसार मैंने स्वयं सन्तुष्ट होकर तुम्हें गुप्त ज्ञान अर्थात् परम कारण जो परब्रह्म है, उसके सम्बन्ध में बताया। जिस प्रकार बछड़े की हुँकार से गाय के स्तन में दूध उतरता चलता है, उसी प्रकार तुम्हारे प्रश्न के आदर से मैं भी स्वानंद से भर गया। कछुए के पिल्लों को उनकी माँ बिन माँगे ही अपने नेत्रों के द्वारा अमृतपान कराती है। उसी प्रकार तुम्हें देखते ही मेरे हृदय में जो ब्रह्मज्ञान था वह पूरी तरह उफन कर बाहर आ गया, वही यह निरूपण है। उसी निरूपण के बहाने मैंने तुम्हें स्वानंद रस से युक्त परमामृत का पान कराया। समुद्र मेघ को पानी पिलाता है और उस जल से मेघ संसार को तृप्त करता है; उसी प्रकार उद्धव को प्राप्त ब्रह्मपद से मूढ़ जीवों का भी उद्धार होने वाला है। बछड़े के प्रेम के कारण गाय के स्तन में दूध उतरता है, वह दूध पूरे परिवार का पोषण करता है, उसी प्रकार उद्धव के आग्रहपूर्वक किये गये प्रश्न से संसार का अनायास ही उद्धार होने वाला है। वह प्रश्नोत्तरी कथाभाग अर्थात् मेरा और तुम्हारा ब्रह्मसंवाद—एकादश स्कंध के निरूपण का अर्थबोध जो ध्यान में रखेगा अथवा इस निरूपण का अर्थ जो श्रवण करेगा, वे श्रोता और वक्ता दोनों ही स्वयं ही सनातन ब्रह्म हो जायेंगे। संसार में ब्रह्म परिपूर्ण भरा रहने पर भी वह मन को, बुद्धि को और इन्द्रियों को नहीं दिखायी देता। जहाँ वेद भी मौन हो जाते हैं, वहाँ यह ब्रह्मज्ञान उपयोगी होगा। (उन श्रोता वक्ताओं के लिए) एक बार यह ज्ञान प्राप्त होने पर वह टस से मस नहीं होता। एकादश स्कंध का अर्थ मन में धारण करने से परमपद की अटल प्राप्ति होगी। इस एकादश स्कंध से श्रोताओं और वक्ताओं को इतना बड़ा पद प्राप्त होता है, तब मेरे भक्तों को जो प्रेमपूर्वक इस ज्ञान का उपदेश करेंगे, उन्हें किस फल की प्राप्ति होती है वह तथा ज्ञानोपदेश की शुद्ध स्थिति उद्धव को श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रेम से स्वमुख से बता रहे हैं।

य एतन्मम भक्तेषु सम्प्रदद्यात् सुपुष्कलम्।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददान्यात्मानमात्मना॥ २६॥

काया, वाचा, मन, घरबार, पत्नी, बच्चे, धन और प्राण आदि जो मुझे निष्काम बुद्धि से अर्पण करते हैं, वे ही मेरे अनन्य भक्त हैं। ऐसे भक्तों को इस ज्ञान का अवश्य उपदेश करें। उस उपदेश का भी परिपक्व तथा पूर्ण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लक्षण इस प्रकार है। साधक का मन जिधर भी जाता है, वहाँ परिपूर्ण ब्रह्म रहता ही है; वहाँ से मन हटकर कहीं और जाने के लिये खाली स्थान ही नहीं है ऐसा अनुसंधान मन में करने से मन चैतन्य में समरस हो जाता है। इसी को 'पुष्कल ज्ञान' कहते हैं, और इसी का नाम है 'पूर्ण उपदेश'। इस प्रकार का सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान जो मेरे भक्तों को दान करेगा, उसका हे उद्धव! मैं पूर्णरूप से ब्रह्मऋणी होकर रहता हूँ। उसके उपकार की पूर्ति करने के लिये मेरी गाँठ में कुछ नहीं है। इसलिये मेरा आत्मरूप उसे देकर मैं रात-दिन उसकी सेवा के लिये खड़ा रहता हूँ। जो शिष्य को ब्रह्मज्ञान देता है, उसके अधीन मैं परमात्मा रहता हूँ और उस ब्रह्मज्ञान देने वाले के शब्द से ही मैं शूद्र आदि का उद्धार करता हूँ। परब्रह्म देकर जो भक्तों को निष्कर्म कर देता है; वह मुझे अत्यन्त प्रिय है और मैं पुरुषोत्तम उसका दास बनकर रहता हूँ। उद्धव! मेरे भक्तों को जो ब्रह्मज्ञान देता है, उससे अधिक लाडला मेरा कोई नहीं है यह तुम निश्चित रूप से जान लो। वह आत्मा और मैं शरीर हूँ और वह शरीर भी मैं स्वयं ही बनता हूँ; उसी प्रकार उसका जो भी कर्माचरण रहता है, वह भी पूरी तरह मैं ही रहता हूँ। जैसे मैं अवतारधारी हूँ, उसी प्रकार यह भी अवतारधारी है। उसमें और मुझमें तिलमात्र का भी अन्तर नहीं है। जो इस ब्रह्मज्ञान का दान करेगा, उसे मैं स्वयं इस प्रकार अपना आत्मा अर्पण करता हूँ, फिर भी उसकी पूर्ति नहीं होती। इसलिये मैं शरीर से विचरण करते हुए भी उसकी अखण्ड सेवा करता हूँ। उसके प्रेम के खातिर ही मैं उसे अपना आत्मा अर्पण कर सदा उसके घर में रहता हूँ। उस पर जो भी संकट आये, वह सब मैं अपने ऊपर ले लेता हूँ। मेरे चैतन्य साम्राज्य का वैभव उसके घर में निरन्तर रहता है। इस एकादश स्कन्ध के ब्रह्मज्ञान का उपदेश कर मेरे भक्तों को जो ज्ञानदान देगा, उसे मैं इस प्रकार अपना आत्मा अर्पण करता हूँ। अस्तु! यह ब्रह्मज्ञान यदि साध्य न हो सके, तो हे उद्धव! इस ग्रन्थ का जो सावधानीपूर्वक सर्वकाल पठन करेगा वह भी परम पावन होगा।

य एतत् समधीयीत पवित्र परमं शुचि।
स पूयेताहरहर्मा ज्ञानदीपेन दर्शयन्॥ २७॥

तुम्हारा और मेरा यह संवाद शुद्ध ब्रह्मज्ञान है। इसका जो भी कोई श्रद्धालु पुरुष ध्यानपूर्वक, आदरपूर्वक श्रवण करेगा, जो निरन्तर बढ़ते प्रेम से शुद्ध सात्त्विक श्रद्धा मन में दृढ़ कर, पग-पग पर नित्य नयी बात पढ़ने की चाह उत्पन्न करेगा, वाणी के कसोरे में श्रद्धा का तेल डालकर तथा जिह्वा की बाती बनाकर जो इस ज्ञानज्योति को प्रज्वलित करेगा, जो इस एकादश स्कंध की ज्ञानज्योति से एकादश इन्द्रियों की बाती बनाकर और उन्हें प्रज्वलित कर मेरी आरती उतारेगा, उन्हें मैं कितना पवित्र कह कर पुकारूँ? इस प्रकार का ग्रन्थ पठन मेरा ज्ञान-दीप है। उस ज्ञानदीप से जो मेरा स्वरूप प्रकाशित करता है, उनकी संगति में जो रहते हैं, उन्हें ब्रह्मादि देवता भी वन्दन करते हैं। उद्धव! सचमुच, उनके कारण त्रिभुवन पावन होता है, यह निश्चित रूप से जान लो। अस्तु! जो इसका पठन नहीं कर सकता, वह यदि श्रद्धापूर्वक इसका श्रवण करे तो उसे भी संसार बन्धन की बाधा नहीं होगी। उसी का निरूपण श्रीकृष्ण कर रहे हैं।

य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः।
मयि भक्तिं परां कुर्वन् कर्मभिर्न स बध्यते॥ २८॥

यदि अध्ययन नहीं कर सकता तो कोई हर्ज नहीं, श्रद्धा से, ध्यानपूर्वक जो एकादश स्कंध का श्रवण करेगा उसे कर्मबन्धन बाधक नहीं होगा। अत्यन्त श्रद्धा से श्रवण करने पर भी, उससे अधिक मनन करना चाहिये। मनन के बिना किया गया श्रवण नपुंसक है। क्योंकि उससे ब्रह्मप्राप्ति पूरी तरह फलदायी नहीं होगी। कथा सुनना भले

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ही समाप्त हो जाय किन्तु मनन समाप्त नहीं होना चाहिये। लालची आदमी को जिस प्रकार मन में धन की याद रहती है, उसी प्रकार कथा का मन में स्मरण रहना चाहिये। मनन करने से भजन और पराभक्ति उत्पन्न होती है। ऐसा करने से आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी इनकी स्थिति छोड़कर मेरी चौथी भक्ति बढ़ती है। इसी को ज्ञाता 'पराभक्ति' कहते हैं। पराभक्ति से मेरा भजन करने से तत्काल आत्मदर्शन होता है। इससे मेरे भक्तों को कर्मबन्धन की बाधा नहीं होती। यह अत्यन्त गुप्त बात है; इस एकादश स्कंध का श्रवण कर 'मैं तरूँगा' ऐसा विश्वास जिसने अंत:करण में दृढ़ कर लिया और इस प्रकार जो श्रवण के प्रति लुब्ध हो गया, वह यदि मेरी भक्ति को घर से बाहर निकालने का भी प्रयास करे तो भी वह उसके घर में घुस आयेगी। वह भक्ति घर में घुस कर निष्काम भक्तों के सारे कर्मों का नाश करती है। इसी का नाम है 'पराभक्ति'। यह श्रोताओं का विश्राम मन्दिर है। एकादश स्कंध का श्रद्धापूर्वक श्रवण करने से इतना लाभ होता है। श्रवण के योग से मेरा भजन उत्पन्न होता है और भजन से भक्तजन मुक्त होते हैं। खैर यह तो औरों की बात हुई लेकिन तुम्हें जो ज्ञानकथा मैंने सुनायी, वह तुम्हारा निश्चय दृढ़ होने के लिये सुनायी, उसका तत्त्वबोध तुम्हें हो ही गया होगा।

अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे समवधारितम्।
अपि ते विगतो मोहः शौकश्चासौमनोभवः॥ २९॥

हे उद्धव! तुम्हारा प्रेम देखकर मैंने तुम्हें अत्युत्तम गुप्त ज्ञान अर्थात् शुद्ध जो परब्रह्म है उसे सम्पूर्ण बताकर, उसे सुगम बनाकर उसका निरूपण किया। यह ज्ञान का शुद्ध सार तथा वेदों का विश्राम स्थल है। अविद्या का पराभव इसी से होता है तथा जीव शिव का समाधान भी यही है। यह गुप्त ज्ञान मन, बुद्धि तथा वाणी को अगम्य होते हुए भी तुम्हारी पूर्ण श्रद्धा देखकर तुम्हें बताया। एक घनिष्ठ मित्र जिस प्रकार अपनी सम्पत्ति अपने मित्र को अर्पण करता है, उसी प्रकार यह ब्रह्मस्थिति मैंने तुम्हारे हाथ में दी है। मैंने जो परम रहस्य तुम्हें बतलाया वह परब्रह्म तुम्हारी समझ में आ गया न? यदि समझ में नहीं आया हो तो अधिक सुगम करके बताऊँगा। अंत:करण में चैतन्य जमकर बैठ गया हो और जहाँ ब्रह्मस्थिति प्राप्त हो गयी हो, वहाँ मोह ममता की बस्ती बिलकुल नहीं होनी चाहिये। ब्रह्मज्ञान का आकलन होने का लक्षण यही है कि उसके बाद संकल्प विकल्प के विचार मन में नहीं आते। ब्रह्म को पूरी तरह जान लेने के बाद 'मैं' और 'तू' का भाव नहीं उत्पन्न होता, ध्येय, ध्याता, ध्यान नहीं रह जाता और कर्मठता भी शेष नहीं बचती। जिसने ब्रह्मज्ञान जान लिया, उसे कर्मबन्धन की बाधा नहीं होती क्योंकि कर्म का जो आचरण है, वह मूलत: मायिक ही है। जिस प्रकार पुरुष के योग से छाया हिलती है लेकिन पुरुष उसका लोभ नहीं करता, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी भी देह को चलाता है किन्तु वह देहाभिमानी नहीं होता। सूर्य के सामने जिस प्रकार अन्धकार क्षणभर की भी प्रतीक्षा नहीं करता, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी को भी कर्म का आदर जरा भी नहीं रहता। इसका कारण यही है कि कर्म का कर्मबन्धन यह केवल मन का संकल्प है। किन्तु जहाँ मन का मनपन ही टूट जाता है, वहाँ कर्माचरण भी बीजरहित हो जाता है। ब्रह्मवस्तु नित्य निर्विकल्प है। वहाँ संकल्प विकल्प नहीं है। यही परब्रह्म का सच्चा स्वरूप है और उसी का स्वानुभव होता रहता है। इस प्रकार स्वयं ही ब्रह्मरूप होने के बाद, 'मैं एक उद्धव हूँ' इस प्रकार का उद्धव का ठौर ही नहीं रह जाता। फिर वहाँ शोक और मोह किस बात का? उद्धवपन की बस्ती में शोकमोह की उत्पत्ति होती थी; किन्तु ब्रह्म की प्राप्ति होने के बाद वह उद्धवपन याद ही नहीं आता। देव का यह भाषण सुनकर उद्धव का उद्धवपन उड़ गया। वह स्वानंद में लीन हो गया और उसका वाचालपन बन्द हो गया। अपने आत्मस्वरूप पर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पहुँचते ही उद्धव का उद्धवपन लुप्त हो गया; देह की अहंता नष्ट होकर वह स्वानंद में तल्लीन हो गया। वहाँ देवता ने जो प्रश्न किया उसका उत्तर कौन देगा? कृष्ण के साथ उद्धवपन का विलय होकर वह पूर्ण वस्तुरूप बन गया था। उद्धव की वह अवस्था देखकर श्रीकृष्ण के ध्यान में आ गया कि वह निजात्मज्ञान से ब्रह्मरूप हो गया। श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष हृदयस्थ होने के कारण, यह न जान सके ऐसी कौन सी बात है? शिष्य को सच्चा अनुभव प्राप्त होने पर, जिस प्रकार बच्चे की तृप्ति का सुख माँ अनुभव करती है, उसी प्रकार सद्गुरु सुख के शिखर पर पहुँचते हैं। शत्रु सेना पर विजय प्राप्त करते देख राजा को अत्यन्त सन्तोष होता है और वह ध्वजा पताकाओं के साथ समारोह की धूम मचा देता है। बच्चों से किस प्रकार लाड़ किया जाता है यह प्रसूति की वेदना सहन करने वाली माँ ही जानती है। उसी प्रकार शिष्य को स्वानुभव प्रदान करना केवल सद्गुरु ही जानते हैं। पुत्र का खजाना मिलने पर जिस प्रकार पुत्र को संतोष होता है, उसी प्रकार उद्धव के अनुभव से श्रीकृष्ण को भी संतोष हुआ। कृष्ण तो नित्य से ही सुखस्वरूप था, शिष्य के अनुभव से वह सुख के चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। गुरु की बात गुरु ही जाने, दूसरे के लिये वह अगम्य है। शिष्य को उपदेश करते समय यदि गुह्य को सुख न हुआ होता तो इस लोक में उपदेश परम्परा का अस्तित्व ही नहीं रहा होता। गुरु यदि ऊब कर उपदेश करे तो वह शिष्य की समझ में ही नहीं आयेगा। फिर उसकी आत्मानुभव से कैसे भेंट होगी? जिस प्रकार बालक को अलंकार पहनाने से उसे कुछ अनुभव नहीं होता लेकिन उसकी माँ को प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार शिष्य को आत्मानुभव प्राप्त होने पर वास्तव में सद्गुरु को आनन्द होता है। उसी प्रकार उद्धव को ब्रह्मस्थिति पर पहुँचा देखकर श्रीकृष्ण को अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्हें लगा कि अब मेरे उद्धव का सन्देह दूर हो गया। उसे ब्रह्मस्वरूपानुभव हुआ। उसकी ब्रह्मनिष्ठ स्थिति देखकर उसे आत्मस्वरूपानुभव प्राप्त हुआ है इसका श्रीकृष्ण को अनुभव हुआ। अब उसे दूसरे को उपदेश करना सिखाते हैं। तुमने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है। अब शिष्योपदेश करने का ढंग तथा शिष्य का अधिकार कैसे पहचानते हैं, वह सुनो।

नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम्॥ ३०॥

धूर्त, नास्तिक, ढोंगी, सेवा न करने वाला तथा भक्तिहीन, उसी प्रकार उद्धत स्वभाव के शिष्य को छोड़ देना चाहिये। जिससे अधिक से अधिक लोग एकत्रित हों ऐसे पर्याप्त मात्रामें मिलने की इच्छा करने वाले, ऐसे ढोंगियों का भजन, उन्हें यह एकादश स्कंध का ज्ञान स्वप्न में बड़बड़ाते हुए भी नहीं देना चाहिये। मोह ममता के प्रावल्य के कारण जिसकी आस्तिकता का लय हो गया हो, वेद और शास्त्र के प्रति जो पूरी तरह नास्तिक हों; देवता का अस्तित्व ही न मानते हों; इस प्रकार नास्तिकता का बिगुल बजाने वाले जो लोग हों, उनके कान में इस ज्ञान का एक भी शब्द नहीं पड़ना चाहिये क्योंकि नास्तिकता के कारण उनकी श्रद्धा शुष्क हो जाती है। नास्तिकवाद के आगे ज्ञान की क्या कीमत है? अनीश्वरवाद का विद्रोह अत्यन्त कठिन होता है। ऐसे नास्तिकवादी लोगों को तत्काल छोड़ देना चाहिये। अनन्यभाव से शरण न आकर, मीठी-मीठी बातें कर धूर्तता से ज्ञान प्राप्त करने का जो प्रयत्न करता है, ऐसे धूर्तों का भी त्याग करना चाहिये। धूर्त दूसरों से अपने मतलब की बात निकाल लेते हैं और अपनी बात या युक्ति दूसरों को नहीं बताते। काया, वाचा मन और धन इस सम्बन्ध में जो गुरु से छल करता है और उसके गुण-दोष देखता है उस धूर्त का भी पूर्णरूप से त्याग करना चाहिये। मेरी योग्यता बहुत अधिक है, मैं स्वयं गुरु की सेवा कैसे करूँ? मेरा बड़प्पन कम होगा। इस भय से

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो गुरु की सेवा नहीं करता, उस शिष्य का भी त्याग करना चाहिये। स्वयं ऊँचे आसन पर बैठकर जो सेवकों के हाथों गुरु की सेवा कराता है, उस शिष्य को पाखंडी समझकर उसका त्याग करना चाहिये। उसे इस ग्रन्थ का उपदेश नहीं करना चाहिये। सद्गुरु के सामने जो बड़ी शान से अपने शब्द पांडित्य की शेखी बघारता है, जो अहंकार के कारण ठीक से सेवा नहीं करता, ऐसे शिष्य का भी त्याग करना चाहिये। मैं बहुत बड़ा दानी हूँ यह कहकर जो छोटे काम को हाथ नहीं लगाता है, ऐसे अभिमानी का भी त्याग करना चाहिये। जो लोकलज्जा के भय से गुरु की सेवा नहीं करता, जिसे लौकिक का बहुत अभिमान रहता है, ऐसे शिष्य का भी त्याग करना चाहिये। मैं अमीर हूँ यह कहकर जो गुरु के घर का छोटा काम नहीं करता, उस घमण्डी और अभिमानी शिष्य को भी छोड़ देना चाहिये। जो नम्रतापूर्वक गुरु की सेवा नहीं करता; अखण्ड ध्यान करना ही हमारी गुरुभक्ति है; इस युक्ति से जो सेवा से बचने का बहाना करता है, उसका भी त्याग करें। मैं सेवा के छोटे-मोटे काम नहीं करूँगा; धन जितना भी चाहें दे दूँगा, ऐसा कहने वाला तथा धन का अभिमान करने वाले को शिष्य नहीं बनाना चाहिये। धन की आशा कर गुरु यदि शिष्य को उपदेश देता हो तो समझ लो कि ब्रह्मसान उजाड़ हो गया या धन देकर ब्रह्मज्ञान चाहने वाले को भी शिष्य कभी नहीं बनाना चाहिये। समय के अनुसार गुरु की जो सेवा करना उचित है, उसे जो नहीं करता, उसे 'अशुश्रूषु' कहते हैं, उसका भी सचमुच त्याग करना चाहिये। सद्गुरु की भक्ति करने से सचमुच मेरा उद्धार होगा ऐसा जिसका निश्चय हो ऐसा शिष्य नहीं करना चाहिये। सद्गुरु ही परब्रह्ममूर्ति है, ऐसी भावना जिसके अंत:करण में न हो और जिसके मूल में ही विकल्प हो, उसे भी शिष्य नहीं बनाना चाहिये। गुरु से ब्रह्म भिन्न है ऐसा जिसका ज्ञान हो उसे निश्चय से अभक्त मानना चाहिये। उसे भी शिष्य नहीं करना चाहिये। सद्गुरु भी एक मनुष्य ही है, यह जानकर जो उसकी आज्ञा का उल्लंघन करेगा, वह संभ्रम में पड़कर रास्ता भटक गया ऐसा समझना चाहिये। ऐसे शिष्य को छोड़ देना चाहिये। जो शिष्य अपनी पवित्रता सद्गुरु से अधिक मानता है, वह अभक्तों में अग्रगण्य है। उसका भी तत्वत: त्याग करना चाहिये। उद्धव! गुरु में ब्रह्म स्थिति है ऐसी जिसकी पूर्ण श्रद्धा नहीं होती, उसी का नाम है 'अभक्ति' यह जान लो। अथवा इस ग्रन्थ का ब्रह्मज्ञान जिसे नहीं भाता, उसे भूलकर भी कभी शिष्य नहीं बनाना चाहिये। उसी प्रकार इस ग्रन्थ का ब्रह्मज्ञान बतलाने वाला मैं साक्षात परब्रह्म मूर्ति, उसके प्रति जिसे भक्ति न हो, उस शिष्य का भी निश्चयपूर्वक त्याग करना चाहिये। उसी प्रकार, इस ग्रन्थ का ज्ञान तो अच्छा लगता है, गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा भी रहती है, किन्तु उसका व्यवहार उद्धत रहता है, तो ऐसे शिष्य का भी त्याग करें। मेरी साक्षात मूर्ति जो संत सज्जन हैं और मेरे प्राणप्रिय भक्तों का जो उपहास करता है उसे 'दुर्विनीत' अर्थात् उद्धत कहते हैं। मेरे भक्तों में यदि कोई अत्यन्त दरिद्र भी हो तो उसके चरणों का वन्दन करना चाहिये। यह जिसे अच्छा नहीं लगता, उसे 'दुर्विनीत' कहते हैं। साधु संतों से भेंट करने जाता है और पाखण्डपूर्ण नम्रता से उनके चरणों का वन्दन करता है लेकिन उनके गुणदोष खोजता रहता है, उसमें 'दुर्विनीतता' रहती है। दुष्ट बुद्धि से विनय दिखलाने को 'दुर्विनीतता' कहते हैं। वह जिस शिष्य में दिखायी दे उसका भी सचमुच त्याग करना चाहिये। यह निरूपण सुनकर तुम कहोगे कि तब तो मैं शिष्य ही नहीं बनता। लेकिन ऐसा नहीं करना चाहिये क्योंकि जो सच्छिष्य को ब्रह्मदान का उपदेश करता है, वह मेरा आत्मा है, ऐसा मैं समझता हूँ। अब उपदेश करने के लिये पूर्ण उपयुक्त सच्छिष्य का लक्षण बताता हूँ। उद्धव! उसे ध्यान देकर सुनो।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऐतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च।
साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम्॥ ३१॥

उपदेश देने के लिये पूर्ण अधिकार यह है कि उसमें प्रखर वैराग्य हो। वह भी पिशाच वैराग्य नहीं, बल्कि विवेकसम्पन्न तथा शास्त्र शुद्ध वैराग्य चाहिये। अन्यथा चार दिन वैराग्य धारण करेगा और तत्काल विषयों की ओर मुड़ जायेगा। ऐसे को उपदेश करना, दूध पिलाने की तरह है क्योंकि वैराग्य चला जाने के बाद केवल ज्ञान का अभिमान शेष रहता है। उस अभिमान से यह क्या करता है? तो श्रेष्ठ लोगों के गुणदोष देखता है। कनिष्टोंकी अवहेलना कर उनकी निन्दा करना तथा श्रेष्ठ लोगों के गुणदोष देखना। वैराग्य क्षीण होने पर इस प्रकार का ज्ञानाभिमान जागृत होता है। उद्धव! इस संसार में केवल दो ही अवस्थाएँ हैं। पहली विरक्ति तथा दूसरी विषयासक्ति तीसरी कोई अवस्था होती ही नहीं। जहाँ विवेक से विषय क्षीण होते हैं वहाँ परिपूर्ण वैराग्य बढ़ता है और जहाँ विवेक के साथ वैराग्य क्षीण होता है, वहाँ ज्ञानाभिमान से विषयाचरण होने लगता है। इसलिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने तक पूणरूप से वैराग्य कायम रखता है तथा वैराग्य युक्त होकर अनन्य भाव से गुरु की शरण में जाता है वही उपदेश के लिये अधिकारी रत्न है, ऐसा समझना चाहिये। पिछले श्लोक में दोषों का निरूपण वैराग्य के लिये समझना चाहिये। इन दोषों से जो रहित होता है, वही सच्छिष्य है। जो ब्राह्मणों की ब्रह्मभाव से भक्ति करता है, जो भूतों को अनन्य भगवद् भाव से भजता है, उसकी भक्ति और विरति दासी बन जाती हैं। उसे ही सचमुच अधिकारी समझना चाहिये। गुरु का अत्यन्त प्रिय भी हो लेकिन यदि अभक्त हो तो भजन करने तक उसे भी ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होगा। गुरु को प्रिय तथा भजनशील और दोषरहित हो तो ऐसे शिष्य की विरक्ति को अटल बनाकर उसे पूर्ण ईमानदारी से इस गुप्त ज्ञान का उपदेश करना चाहिये। स्वपत्नी तथा स्वधन का जिसे अत्यन्त लोभ हो तो उसे न स्वर्ग मिलेगा, न मुक्ति ही। असीम जन्म-मरण अवश्य भोगना पड़ेगा। परस्त्री और पराया धन को जिसका मन कभी स्पर्श नहीं करता, ऐसे पवित्र व्यक्ति को इस ज्ञान का उपदेश करना चाहिये। जो वैराग्य के साँचे में ढला हुआ है, विवेक से जो परिपूर्ण है, जीवभाव से जो सद्गुरु की सेवा के लिये समर्पित है और अनन्यभाव से उनके चरणों पर गिरा हुआ है; उसी प्रकार अपनी महानता भूलकर जो गुरु सेवा के लिये रंक होने को तत्पर है, ऐसी सेवा के प्रति जिसका पूर्ण सद्भाव रहता है, इनद्र जैसे बड़े-बड़े देवतागण को भी जो सद्गुरु का दास मानता है और सद्गुरु की अपेक्षा हरिहर को भी श्रेष्ठ नहीं मानता; जिसमें न गर्व है न मद, जिसमें कामक्रोध नहीं है, जिसे विकल्प भेद पसन्द नहीं है, उसी शिष्य को पूर्णरूप से परमार्थी समझना चाहिये। काया, वाचा, मन, धन छोड़ तथा बड़प्पन की अकड़ छोड़कर जो अनन्य भाव से सद्गुरु की शरण में जाता है, उसे ही साधुत्व की दृष्टि से सच्छिष्य समझना चाहिये। लोकलज्जा को छोड़कर जो ब्रह्मज्ञान का याचक बनता है और सद्गुरु के उपदेश के लिये चातक बनकर रहता है, उसे अवश्य उपदेश करना चाहिये। जो तीन वर्णों से अलग हैं, वेदों ने जिन्हें अपने से दूर करके रखा है, जिन्हें मंत्रों का अधिकार नहीं है, जो श्रवण के भी अधिकारी नहीं हैं, जिनका आश्रमधर्म नहीं है, वैदिक कर्म नहीं है, जप अथवा होम नहीं है, जो अधमवर्ण के कारण नीच हैं, ऐसे शूद्रादि लोग, उनमें भी इस ग्रन्थ का ज्ञान पढ़कर जन्म-मरण निवारण करने के लिये तीव्र वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसे लोगों को मन से विषयों से घृणा होती है और वे काया, वाचा तथा मन से सद्गुरु को अनन्य भाव से शरण जाते हैं। गुरु से किस तरह प्रश्न किया जाय, यह भी उनकी समझ में नहीं आता। जन्म-मरण से मुक्ति पाने के लिये वे भक्ति से साष्टांग दण्डवत करते हैं। परमार्थ के प्रति उन्हें शुद्ध और परिपूर्ण श्रद्धा रहती है। ऐसे लोग भले ही शूद्र क्यों न हों लेकिन उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने से कभी दोष नहीं लगता। मेरे

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस वचन को तुम सत्य मान लो। अब धन की इच्छा से जो चतुर्वर्णों को उपदेश करते हैं, उन्हें धनलोभी समझना चाहिये। उन्हें गुरुपद नहीं देना चाहिये। जहाँ गुरु को ही लोभ रहता है वहाँ शिष्य की विरक्ति डूब जाती है। ऐसे ही विरक्तों से उपदेश लेने से परमार्थ की हानि होती है। लोकरहित होकर तथा पूर्ण कृपा से यदि सद्गुरु शूद्र लोगों को उपदेश करें और इस प्रकार दीनों का उद्धार करें तो इस उपदेश से कभी दोष नहीं लगेगा। जिसके योग से वैरागी की छटपटाकर मृत्यु होती है, जिसके कारण ज्ञाता को दोष लगता है, वह स्त्रीसंग हमें नहीं करना चाहिये। स्त्री का अकस्मात दर्शन होने से भी अध:पतन होता है। फिर उनकी संगत होने से ज्ञाता का कैसे भला होगा? सभी प्रकार से प्रमाद में अर्थात् दोष में पड़ने के कारण इसे 'प्रमदा' कहते हैं। उसका नित्य संग हो जाय तो परमार्थी लोग कैसे तरेंगे? जिसका मुख देखते ही मदन तत्काल कटाक्ष बाण छोड़ता है, वहाँ किस बात का उपदेश किया जाय? परमार्थ की निश्चित हानि समझ लें। इसलिये हे उद्धव! तुमसे यही कहता हूँ कि स्त्रियों से बात भी न करो, स्त्रियों का अवलोकन न करो, उनका शब्द भी कानों पर न आने दो। नहीं-नहीं; स्त्रियों से बात न करो, उनसे एकांत न करो, उनकी संगत न करो क्योंकि यह लोगों में सभी दृष्टियों से निन्दनीय है। स्त्रियों का अनुवाद न करो, उनसे संवाद न करो, उन्हें उपदेश न करो, क्योंकि उससे व्यर्थ के लोकापवाद की आशंका है। कोई सात्त्विक स्वभाव की स्त्री यदि सहज ही परमार्थ की बातें करने लगती है तो इष्ट मित्रों को उसमें कुछ अन्य का सन्देह होता है। इसलिये स्त्री का सर्वोपरि त्याग ही करना चाहिये। स्त्रियों के संग से ब्रह्मज्ञान तो कभी बढ़ेगा नहीं। (आशंका) उपदेश के लिये यदि स्त्रियों को वर्ज्य माना जाय तो पहले के बड़े लोगों ने उन्हें कैसे उपदेश दिया होगा? तो सुनो। याज्ञवल्क्य अत्यन्त श्रेष्ठ था। उसने उपनिषद में मैत्रेयी को अनेक प्रकार की युक्ति से ज्ञानोपदेश किया। महामुनि नारद ने प्रह्लाद की माता को इन्द्र से छुड़ाकर ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है। कपिल मुनि ने अवतार लेकर सिद्धासन पर बैठकर देवहूती को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है। योगियों का मुकुटमणि कैलासाधिपति शंकर ने भवानी को आत्मबोध से ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है। औरों की क्या बात करें। हे कृष्ण! तुमने ही तो यज्ञ-पत्नियों को उपदेश किया था, ऐसा भी तुम कहोगे उद्धव अस्तु! सद्भक्ति देखकर करुणा दृष्टि से स्त्रियों को उपदेश करना चाहिये। ऐसा यदि तुम कहोगे, तो उद्धव! उसमें भी अधिकार देखना चाहिए। इस सम्बन्ध में, उद्धव! निश्चित बात बताता हूँ, सुनो। वाचाल स्वभाव की स्त्री अयोग्य है। उसे उपदेश करना व्यर्थ है और उससे गुरुत्व को आघात पहुँचता है। जिस स्त्री को अधिक बोलने की आदत रहती है जिसके मुख में ब्रह्मज्ञान गूँजता है, जिसके अंत:करण में विषय का कोलाहल मचता रहता है, पर पुरुष से परमार्थ की बातें करना जिसे प्रिय लगता है; जो स्त्री ब्रह्मज्ञान की बात करने में ढीठ रहती है तथा मुख से बड़बड़ करती रहती है, उसे उपदेश कभी नहीं करना चाहिये, उससे अपवाद की उँगली उठेगी। (श्रीएकनाथ कहते हैं) "श्री जनार्दन स्वामी से मैंने भी विनती की, कि स्त्रियाँ और शूद्र उपदेश के लिये आते हैं, उन्हें क्या कहा जाय? गुरु के बिना कोई मार्ग नहीं है, इसलिये वे उपदेश के लिये आते हैं, उन्हें क्या उपदेश किया जाय, यह समझ में नहीं आता।" यह सुनकर श्रीजनार्दन को संतोष हुआ और उन्होंने कहा, उन्हें भगवन्नाम का उपदेश करें, उससे उनकी चित्तशुद्धि होगी। चित्तशुद्धि होने के बाद उनमें जब ज्ञान की उत्कंठा जगे और वे अनन्य भाव से शरण में आये तो उन्हें ब्रह्मज्ञान बताना चाहिये। अस्तु। श्रीकृष्ण बताते हैं। स्त्री अथवा पुरुष जिन्हें दृष्टि से सम लगें, ऐसे अनुभव से जो परिपूर्ण हों, उनको ही स्त्रियों का उपदेश करना चाहिये। वह भी उनका अधिकार देखे बिना नहीं करना चाहिये। उस उपदेश की भी वास्तविकता सुनो। मैंने जिन स्त्रियों की निन्दा की, उसमें जो सात्विकता से भाग्यवान हो और विषय वासना त्याग कर परमार्थ की ओर उद्यत होगी; प्रपंच के अलावा जिसे विषय का नाम

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी अच्छा नहीं लगता; परमार्थ की ओर उन्मुख होकर, वैराग्य के कारण जिसमें सद्भक्ति उत्पन्न हुई हो, भोजन के समय अतिथि, पति और पुत्र जिसे एकसमान दिखायी देते हों, जिसके मन में धन का लोभ न हो, उसी को परमार्थ का अधिकार है। जन्म-मरण से मुक्ति मिले यही जिसके मन की तिलमिलाहट हो और क्या मेरे संसार का पाश तोड़ने वाला कोई धर्मदाता मिलेगा इस प्रकार जिसके मन में सद्गुरु प्राप्ति की लगन लगी हुई हो, परमार्थ के लिये भक्तिभाव से जो अपनी काया, वाचा, मन, धन और जीवन को न्योछावर कर देती है, उद्धव! इस प्रकार जो स्त्री निष्ठा से परमार्थ के प्रति उद्यत होती है, उसे उपदेश देने में कभी भी दोष नहीं लगेगा। क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री अथवा शूद्र इनकी दृढ़ श्रद्धा देखकर ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने से शिष्यों के दोष का निर्मूलन होता है। ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने से यदि गुरु को ही दोष लगता हो तो शिष्य का उद्धार कौन करेगा? यह बात ही असंबद्ध है। उपदेश करते समय पात्र की शुद्धता परखने के लिये ही मैंने इन दोषों का उल्लेख किया था। इन्हें जाँच कर उपदेश करने से दोष नहीं रहता। यह ज्ञान प्राप्त करने के बाद, संसार में जानने के लिये कुछ भी नहीं रह जाता; संसार समाप्त हो जाता है और दोष की बात ही नहीं रह जाती।

नैतद् विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते॥ ३२॥

इस ग्रन्थ का ज्ञान जान लेने के बाद मुमुक्षु अथवा साधकों को जानने लायक कुछ शेष नहीं रहता। जिस प्रकार अमृतपान करने के बाद और कुछ प्राशन करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, उसी प्रकार यह ज्ञान प्राप्त करने के बाद ज्ञातव्य और ज्ञातापन समूल नष्ट हो जाता है। (आशंका) धर्मार्थ काम मोक्ष के कितने साधन हैं, उनका पता नहीं है। ऐसा होते हुए आपने केवल एक ही कैसे बताया? (उत्तर) उद्धव! जो अनेक साधन बताये हैं, उन्हें अभक्त लोग सहन करते हैं। किन्तु मेरे भक्तों के लिये एक मैं ही साधन हूँ।

ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः॥ ३३॥

मोक्ष के लिये 'ज्ञान' यह साधन है; धर्म के लिये 'स्वधर्माचरण' साधन है; संन्यासी के लिये दण्डधारण साधन है; और उपजीविका के लिये 'व्यापार' साधन है। इहलोक और पारलौकिक सुख के लिये 'योगयाग' करते हैं। चारों पुरुषार्थों के लिये अभक्तों को ही ये साधन बताये गये हैं। इन साधनों के संकट सहने पर भी उन्हें उसमें सहजता से सिद्धि नहीं प्राप्त होती। अनेक विकलता के दोष उभर आते हैं, फिर देवता भी विघ्न उपस्थित कर उनका छल करते हैं। वैसा मेरे भक्तों के साथ नहीं होता। मेरा अनन्य भजन करने पर चारों पुरुषार्थ उसकी ही शरण में आते हैं और देवतागण भी उसके पैर छूते हैं। उद्धव! जो अनन्यभाव से मेरी शरण में आते हैं उनका धर्म और अर्थ मैं ही हो जाता हूँ, उनका काम भी मैं ही होता हूँ और उनका सम्पूर्ण मोक्ष भी मैं ही होता हूँ। उद्धव! अभक्तों को पुण्य भोगों के क्षय से पुनरावृत्ति प्राप्त होती है और भक्तों को भोग भोगते हुए भी नित्यमुक्ति रहती है। मेरी भक्ति की इतनी योग्यता है, यह जान लो। देव का यह भाषण सुनकर कर उद्धव का प्रेम उफन उठा; उस प्रेम पर श्रीकृष्ण भी लुब्ध हुए और हर्षपूर्वक बोलने लगे। हे उद्धव! साक्षात भगवान जो मैं हूँ, वही तुम्हारे चारों पुरुषार्थ हैं। इस प्रकार आनन्द से बोलकर उन्होंने प्रेम से उसे आलिंगन दिया। इस प्रकार हर्ष से आलिंगन देते ही कृष्ण अपना कृष्णपन भूल गये और उद्धव स्वानंद में निमग्न होकर अपना उद्धवपन भूल गया। आलिंगन का चमत्कार ऐसा हुआ कि दोनों का दूजापन समाप्त हो गया और वे परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप और

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्वानंदघन बन गये। फिर हेतु दब गया, वेद मौन हो गये; और एक में एक मिलकर देव और भक्त एक हो गये। तब धर्माधर्म का अस्त हो गया। क्रिया के साथ कर्म नष्ट हो गया और भ्रम और विभ्रम का नाम भी शेष नहीं रहा। भेद अभेद को ले गया। बोध अपने साथ आत्मबोध को ले गया और आनन्द का आनन्द लजा गया। उद्धव ऐसे स्वरूप में पहुँच गया। 'मैं परब्रह्म स्वरूप हो गया' यह भी मुख्य रूप से भ्रम ही रहता है। श्रीकृष्ण के आलिंगन का यह विशेष गुण है कि उससे उद्धव निरूपम ब्रह्मस्वरूप हो गया। तदुपरान्त सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ने उद्धव का आलिंगन छुड़ा कर उसे ऐक्यज्ञान से ही उसके भक्त होने का ज्ञान कराया। तब उद्धव को बड़ा आश्चर्य हुआ। क्षणभर के लिये वह तटस्थ खड़ा रहा। फिर बोला, यह आत्मस्वरूप स्वतः सिद्ध अपने पास होते हुए, लोगों को मालूम नहीं होता, फिर वह साधकों के हाथ कैसे लगेगा? उद्धव के मन की बात जानकर उसका निश्चित उपाय श्रीकृष्ण बता रहे हैं।

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै॥ ३४॥

धर्म, अर्थ, काम-मोक्षप्राप्ति के जो साधन बताये गये हैं, उन सबको छोड़कर जो अनन्य भाव से, विश्वास से और भक्ति से मेरी शरण में आते हैं, उन्हें हे उद्धव! तुमने अभी-अभी अनुभव की हुई स्वरूप स्थिति अर्थात् आत्मप्रतीति प्राप्त होती है, यह निश्चित रूप से जान लो। धर्मार्थ कामवासना होते हुए भी मेरी भक्ति में लगने से मैं उनकी वह वासना भी पूर्ण कर उन्हें सायुज्य पद तक पहुँचाता हूँ। भक्तों को यदि स्वधर्म कर्म में रुचि हो और यदि वह उन कर्मों को मेरे भजन मार्ग में लगाता है, तो उस स्वधर्म में अकर्मता किस प्रकार होती है इसका मैं अपने भक्तों को उपदेश करता हूँ। अथवा, यदि कोई भक्त सुखोपभोग की इच्छा करता है तो उस सुख का उपभोग करते समय किस प्रकार निष्काम रहना चाहिये, इस ज्ञान का मर्म भी मैं आत्माराम उन्हें बताता हूँ। कोई भक्त दरिद्र होने के कारण यदि विपुल धन माँगता है तो मैं उन्हें अपना षढगुणैश्चर्य ही अर्पण करता हूँ। भक्त यदि सर्वभूतों में मेरी भक्ति रखता है और अनन्य प्रीति से मेरा भजन करता है तो चारों मुक्ति उसकी शरण में आती हैं, क्योंकि मेरे भक्तों को मुक्ति स्वतः सिद्ध होती है। वैद्य यदि सचमुच ही धन्वंतरी, अर्थात् प्रवीण हो तो वह रोगी की वासना पूर्ण कर, उसंकी मनचाही चीज उसे खाने को देकर भी, अपनी रासायनिक कुशलता से उसे बचा लेता है। उसी प्रकार भक्त की धर्म-अर्थ-काम ये वासनायें पूर्ण करके भी मैं उसे सायुज्य पद तक पहुँचाता हूँ। उद्धव! नाना प्रकार के साधनों का अभिमान छोड़ जो मेरी शरण में आता है, उसे भी पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति होती है, यह निश्चित रूप से जान लो। भक्त मन में सकाम हो और वह यदि अनन्य भाव से मेरी भक्ति करे, तो उसकी वह इच्छा पूर्ण कर मैं उसे मुक्ति प्रदान करता हूँ। भक्तों की अधोगति कभी नहीं होती। जिस प्रकार बालक किसी हठ के कारण माँ के पैर पकड़ लेता है तो वह चाहे जितना पैसा खर्च करके भी उसे वह चीज ला देती है। उसी प्रकार मेरी अनन्यभक्ति करते समय, भक्त मन में जो भी इच्छा करता है उसे पूर्ण कर मैं उसे मुक्ति दिलाता हूँ किन्तु उसकी अधोगति नहीं होने देता। बच्चे का दुःख देखकर जिस प्रकार माँ छटपटाती है, उसी प्रकार मेरे भक्त का दुःख मुझसे नहीं सहा जाता। उसकी भोगेच्छा पूर्ण कर उसे मुक्ति दिलाने की शक्ति क्या मुझमें नहीं है? मैं श्रीपति भक्तों का रखवाला होने के कारण कभी उनकी अधोगति नहीं होने देता। मेरा नाम अकस्मात भी यदि अंतकाल में मुख में आ जाय, तो जब रंक को भी सायुज्य प्राप्ति होती है तो मेरी अनन्यभक्ति करने पर भक्तों की दुर्गति कैसे होगी? मेरा भक्त कृपादृष्टि से जिसकी ओर देखे, उसे भी मेरी भक्ति प्राप्त होती

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। फिर मेरे भक्तों की अधोगति कैसे होगी? मैंने स्वयं गर्भवास भोग कर अंबरीष को मुक्त किया और हिरण्यकश्यपु का विदारण कर प्रह्लाद का संरक्षण किया। मैंने हाथ में चक्र लेकर परीक्षित का गर्भ में संरक्षण किया। मैं भक्तों की कल्पांत में भी अधोगति नहीं होने दूँगा। मेरे भक्त के नाम पर मैं तृण का भी उद्धार करता हूँ। फिर जो जीवभाव से मेरा भजन करते हैं, उन भक्तों की अवनति कैसे होगी? काया, वाचा, मन तथा धन न छिपाकर जो अनन्यभाव से मेरी शरण में आते हैं, उनके कुशलक्षेम का भार मैं श्रीकृष्ण स्वयं सहन करता हूँ। ऐसी अनन्यभक्ति की महिमा का वर्णन करते समय श्रीकृष्ण को भी उल्हास प्राप्त हुआ जिससे उद्धव को भी प्रेम का ज्वार आया, उसके सारे शरीर से पसीना चुहचुहाने लगा और उसके शरीर पर रोमांच उभर आये। भक्ति की यह महिमा सुनकर तथा उद्धव का वह पूर्ण प्रेम देखकर शुक्राचार्य को भी आनन्द हुआ और वे आत्मानंद में झूमने लगे। अत्यन्त हर्षपूर्वक उन्होंने परीक्षित से कहा, भक्त त्रिभुवन में धन्य हैं। उन्हें सर्वतोपरी मुक्ति होने की बात श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने मुख से कही है। भक्ति की महिमा जिस प्रकार अगाध है, उसी प्रकार उद्धव का प्रेम भी अगाध ही था। उद्धव के उस प्रेम का लक्षण श्रीशुक्राचार्य स्वयं ही बताते हैं।

श्रीशुकउवाच

स एवमादर्शितयोगमार्गस्तदोत्तमश्लोकवचो निशम्य।
बद्धाञ्जलिः प्रोत्युपरुद्धकण्ठो न किंचिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः॥ ३५॥

विष्टभ्य चित्तं प्रणयावधूर्णं धैर्येण राजन् बहुमन्य मानः।
कृताञ्जलिः प्राह यदुप्रवीरं शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम्॥ ३६॥

जो ज्ञाताओं का ज्ञाननिधि है, जो आत्मज्ञान का सागर है, जो आनन्द की क्षीराब्धि है, वह श्रीशुक आत्मानंद से सन्तुष्ट होकर बोलने लगा। हे श्रवण सौभाग्य चक्रवर्ति परीक्षित राजा! बताता हूँ, सुनो। देव, दानव, मानव जिसका वर्णन करते हैं और महासिद्ध भी जिसकी स्तुति करते हैं; जिसका वेद निरन्तर गायन करते हैं, योगी वृन्द भी जिसकी कीर्ति की प्रशंसा करते हैं, उस श्रीकृष्ण ने परम प्रीति से भक्ति की निर्मल स्तुति की सचमुच अनन्य भक्ति की अपेक्षा अन्य कोई सुख नहीं है। देवताओं को भी भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ लगती है। भक्तियोग का समूल, सप्रेम और शुद्ध योगमार्ग श्रीकृष्ण ने उद्धव को श्रीमुख से सम्पूर्ण बताया और उद्धव ने उसे ध्यानपूर्वक सुना। भक्ति का वह निरूपण सुनकर उद्धव का मन द्रवित हो उठा, आँखें अश्रुओं से भींग गयी और स्वानंद की बाढ़ आ गयी। शरीर रोमांचित हो उठा, चित्त को हर्ष हुआ, गला भर आया और शरीर पर स्वेदबिन्दु चमकने लगे। प्राण अपनी जगह स्थिर रह गया, शरीर थोड़ा काँपने लगा, आँखें अर्धोन्मीलित होने लगीं। औत्सुक के अत्यन्त प्रेम से आत्मानंद में चित्तवृत्ति स्थिर हो जाने के कारण उद्धव का देह विलीन होने लगा लेकिन प्रारब्ध ने ही उसकी रक्षा की। जिस प्रकार पानी में डूबती हुई नौका को डोर ही सँभाले रखती है, उसी प्रकार विलीन होने को उद्यत उद्धव को प्रारब्ध ने ही रोक कर रखा। फिर उसने अत्यन्त धैर्यपूर्वक प्रेम के आवेग को रोका और उसे कृतकृत्य होने का विश्वास हुआ। श्रीकृष्ण ने मेरा उद्धार किया यह बहुत बड़ा उपकार किया, अब किस तरह उसकी पूर्ति की जाय? वह मन ही मन इस प्रकार का विचार करने लगा। गुरु को यदि चिन्तामणि दिया जाय तो वह गुरु की चिन्ता ही बढ़ाता है। गुरु ने तो अचिंत्य वस्तु दी है, उसकी पूर्ति कभी नहीं होगी। गुरु को यदि कल्पतरु दें तो वह कल्पना ही बढ़ाता है। गुरु ने तो निर्विकल्पता प्रदान की है अतः उसकी पूर्ति उससे भी नहीं होगी। गुरु को पारस दें तो वह धातु को स्पर्श कर उसे सुवर्ण बनाता है; किन्तु गुरु के चरणस्पर्श से ब्रह्मस्वरूप

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्राप्त होता है, अतः पारस देने से भी उसकी पूर्ति नहीं हो पायेगी। गुरु को यदि कामधेनु लाकर दें तो वह धन देकर कामना बढ़ाती है और गुरु तो निष्काम बुद्धि से निर्गुणदान देते हैं अतः उसकी पूर्ति के लिये कामधेनु भी उपयुक्त नहीं है। त्रिभुवन की सारी उत्तम सम्पत्ति यदि गुरु को दें तो वह मायिक है। जिन्होंने अमायिक वस्तु दी है उसकी पूर्ति किससे होगी? देह से यदि गुरु के उपकार की पूर्ति की जाय तो देह तो नश्वर है। नश्वर से अनश्वर की पूर्ति तो नहीं हो पायेगी। जिसने बड़ी चाह से दाहिने हाथ का शंख दिया उसे फूटी कौड़ी देकर उस उपकार की पूर्ति कर सन्तुष्ट हो उसी प्रकार यह देहभाव वाली बात है। यदि गुरु को प्राण देकर उनके उपकार की पूर्ति करें तो वह तो मिथ्या है। जिसने सत्य ब्रह्म हमें दिया है उसे मिथ्या देते समय लज्जा नहीं आती? जिसने अमूल्य रत्न दिया है, उसे वंध्यापुत्र दें; उसी प्रकार जीवभाव मिथ्या होने के कारण उससे उपकार की पूर्ति नहीं होगी। इस प्रकार काया, वाचा, मन, धन और प्राण अर्पण करने से भी गुरु के उपकार की पूर्ति नहीं होगी, यह उद्धव ने अच्छी तरह जान लिया। जिसमें अणुमात्र का भी दुःख नहीं है ऐसा आत्मसुख जिसने दिया, उस गुरु के उपकार की पूर्ति करने में शिष्य के पास कोई रास्ता नहीं है। इसलिये उद्धव ने साष्टांग दण्डवत किया और श्रीकृष्ण के चरणों को पूरी तरह मस्तक पर धारण किया। देखो! पहले श्रीकृष्ण ने ही 'तुम्हारा शोक और मोह समाप्त हो गया न' ऐसा प्रश्न उद्धव से किया था। इसलिये उद्धव को आश्चर्य हुआ था और उसे उत्तर देने का होश ही नहीं रहा। इसलिये अब उसके चरणों का वन्दन कर, हाथ जोड़कर, उत्तर देने के लिये वह श्रीकृष्ण के मुख की ओर देखने लगा। चन्द्रमा के किरण सेवन करने पर जिस प्रकार चकोर तृप्त हो कर ढकार देता है, उसी प्रकार उद्धव भी श्रीकृष्ण सुख पर निर्भर होकर क्या उत्तर देगा, देखिये।

उद्धव उवाच

विद्रावितो मोहमहान्धकारो य आश्रितो मे तव संनिधानात्।
विभावसोः किं नु समीपगस्य शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य॥ ३७॥

जो समस्त देवताओं में श्रेष्ठ, जो यादवों में अग्रगण्य, जो अविद्या रात्रि का सूर्य, जो ब्रह्मवेत्ताओं का शिरोमणि है ऐसे श्रीकृष्ण को स्वानंद की स्फूर्ति से अपनी स्थिति का वर्णन करते समय उद्धव मुख्य रूप से श्रीहरि की स्तुति करने लगा। उसने कहा, विचार करने से लगता है कि ब्रह्मदेव यह सबका आदिकर्त्ता है; लेकिन वह भी वास्तव में 'अज' इस नाम से नारायण की नाभि से उत्पन्न हुआ। तो तुम कमलनाभि नारायण ही मायासंवलित ब्रह्म हो। उस माया के आद्य कारण तुम हो; इसलिये आद्य स्वरूप तुम पर ही शोभित होता है। अविद्या की महारात्रि में, मोहरूपी अन्धकार में भी फँसा हुआ था। उसमें से बाहर आने के लिये किसी दूसरे का सामर्थ्य काम न आता। इसलिये तुम्हारे वचनरूपी सूर्य से शोकमोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर अत्यन्त चमत्कार से मुझे बाहर निकाला। तुम्हारे निकट अविद्या का ठौर ही नहीं है। श्रीकृष्ण! तुम्हारे रहते मोह ममता का क्या प्रभाव होगा? घनघोर अँधेरी रात्रि में जो शीत से ठिठुर रहा हो उसे यदि आग मिल जाय तो जाड़ा और अन्धकार दोनों तत्काल भाग जाते हैं। उस अग्नि को यदि सदा साथ में ही रखा जाय तो शीत और अँधेरे के भय की कभी पीड़ा नहीं होगी। तुम्हारे सान्निध्य का यह फल है। इस प्रकार मोह ममता से माया लोगों को संसारपाश में बाँध लेती है; लेकिन तुम्हारे पास आते ही वह अपने आप अदृश्य हो जाती है। जन्म-मरण के दुःख पहले भी अनेक बार भोगे हैं; लेकिन जिसे तुम्हारा सान्निध्य प्राप्त होता है, उसे वह भय समूल मिथ्या लगता है। तुम्हारे सान्निध्य से माया का समूल निर्दलन होता है। इसी अर्थ का निरूपण उद्धव स्वयं कर रहा है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं कोऽन्यत् समीयाच्छरणं त्वदीयम्॥ ३८॥

केवल तुम्हारा सान्निध्य ही अज्ञान का निघातक है, और यह बात सात्त्विक भक्तों को भली-भाँति मालूम है। औरों की बात तो है ही लेकिन स्वयं मैंने भी अनुभव लिया है। अविद्या को समाप्त करने के लिये सत्संगति ही समर्थ है। सत्संग में भी तुम्हारी संगत अत्यन्त पवित्र है। दीनों का उद्धार करने के लिये तुमने ही यह आत्मज्ञान प्रकट किया है। मेरा बहाना बनाकर दीन जनों का उद्धार हो अज्ञान का विनाश हो, इसलिये तुमने ज्ञानदीप पूरी तरह प्रज्वलित किया। उपदेश के लिये श्रद्धा उत्पन्न होना आवश्यक है। वही कसोरे में भरा हुआ तेल है। विवेक वैराग्य धारण करना यह उसमें की बाती है। वहाँ ज्ञानधन चित्प्रभापूर्ण महाद्वीप प्रज्वलित किया हुआ है। नैराश्य ही वैराग्यधारण है। उसमें ही ज्ञानदीप पूर्णरूप से प्रज्वलित होता है और आशा ही उस दीप को बुझाना है। दीप बुझाने के बाद वहाँ चारों ओर अँधेरा छा जाता है। उस दीप को कर्णद्वार में रखा तो उसका अंतर्बाह्य प्रकाश फैल गया। अज्ञान-अन्धकार नष्ट होकर वह दीपक स्वयं से प्रदीप्त हो गया। उस अंतर्बाह्य सत्प्रकाश से तुम्हारा स्वरूप स्पष्ट दिखायी देने लगा। इस प्रकार हृषीकेश ने स्वयं ही अपना स्वरूप मुझे अनायास अर्पण किया। तुमने अंतर्यामित्व से अपना स्वरूप मुझे पहले ही दिया था, किन्तु अपना भजन प्रकट हो इसलिये तुमने उसे समेट लिया। तुम्हारे सच्चे भजन का लक्षण यह है कि सभी भूतों के प्रति भगवद्भजन करें। इस प्रकार तुम सचमुच प्रसन्न होकर पहले अर्पण किया हुआ ज्ञान ही पुनः अर्पण करते हो। आत्मभजन की वृद्धि कर मेरा ही ज्ञान मुझे अर्पण करते हो। इसे ही ज्ञानी लोग 'प्रत्यर्पण' कहते हैं। अपनी भक्ति बढ़ाकर मेरा ही ज्ञान मुझे प्रदान किया जिससे माया और विकल्पवृत्ति मुझे स्पर्श भी नहीं करती। जो स्वरूप स्थिति तुमने दी उसे कल्पांत में भी छिपाया नहीं जा सकता। इस प्रकार हे श्रीकृष्ण! तुमने सचमुच बड़ी कृपा की। इस प्रकार तुम अत्यन्त कृपालु हो और अपने दासों के प्रति सदय हो। तुम्हें छोड़कर अनाड़ी लोग दूसरों का भजन करने दौड़ते हैं। स्वामी श्रीकृष्ण को छोड़कर जो दूसरे के भजन में लगता है, उसे हरिभजन पर विश्वास नहीं है, वह शुद्ध पशु ही नहीं, अपितु पशुओं में भी निरा गधा है। तुमने लोगों पर जो उपकार किया है, अव्यंग इन्द्रिय देकर ज्ञान का अधिकार दिया है, यह उपकार जो मनुष्य भूल जायगा वह सचमुच ही कृतघ्न है। जो कोई तुम्हारा उपकार जानता है, वह काया, वाचा, मन और धन देकर किसी अन्य को नहीं भजता, इस बात का मुझे विश्वास हो गया। मेरे बहाने तुमने जो आत्मज्ञान प्रकट किया, उसके श्रवण से, मनन से और कीर्तन से पूरे संसार का उद्धार होगा। इस प्रकार तुम पूर्ण कृपालु हो, इसीलिये मेरा संसारबंधन तोड़ दिया, इसी अर्थ का निरूपण उद्धव स्वयं कर रहा है।

वृक्णश्च मे सुदृढः स्नेहपाशो दाशार्हबृष्ण्यन्धकसात्वतेषु।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना॥ ३९॥

तुमने माया से लोग उत्पन्न किये हैं, सृष्टि को बढ़ाने के लिये स्त्री, पुत्र, सुहृद, सज्जन इनके प्रति स्नेह पूरी तरह बढ़ा दिया है। मैंने यादवकुल में जन्म लिया। उसमें वृष्णि, अंधक, सात्वत आदि सारे भाई, आत्मीयता के कारण मुझे प्रिय लगते थे। लेकिन मेरे बचपन में मैं खेलते समय जब मुझे तुम्हारा ध्यान लगा हुआ था, उसी समय, इन भाईयों तथा स्त्रीपुत्रों के स्नेहपाश का बन्धन तुमने ही तोड़ डाला है। जिस प्रकार मदारी खेल दिखलाने के पहले अपनी मोहिनी विद्या का असर फैलाता है, उस प्रभाव को दूर करने की सामर्थ्य केवल उस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मदारी में ही होता है, उसी प्रकार तुम्हारी यह माया तुम्हारे ही वश में रहती है, उसके स्नेहपाश भयंकर हैं, उसने लोगों को बद्ध करके रखा है। तुमने मेरे वे पाश पहले ही तोड़ दिये हैं। जब मेरी बाल्यावस्था थी, तभी तुमने मुझ पर कृपा की थी। संसार बन्धन काटने वाला शस्त्र तुमने धार तेज कर मेरे हाथ में दिया है। अब इस शस्त्र के बल पर मैं संसार का बन्धन भी तोड़ सकूँ, इतनी तुमने दयालु होकर मुझ पर कृपा की है। संसार जो दुःखरूप था वह मेरे लिये सुखरूप हो गया। इस प्रकार तुमने कृपा का वरद्हस्त रखकर मेरा सचमुच उद्धार किया। इससे मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, लेकिन अब मैं तुमसे कुछ माँगने वाला हूँ, उसे देने की श्रीकृष्ण कृपा करें। इतना कह कर वह श्रीकृष्ण के चरणों में गिर गया।

नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम्।
यथात्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी॥ ४०॥

जो घटना सम्भव नहीं होता, उसे सम्भव कर देते हो, अलौकिक चमत्कार दिखाते हो, चैतन्य और जड़ देह का विवाह कराकर माया से उनका उत्तम संसार बसा देते हो। जो योगियों के लिये भी कठिन है, जिसने ब्रह्मदेव और शंकर को भी छला, वह माया तुम्हारी दासी है। तुम परात्पर महायोगी हो। तुम्हारी उस कृपा के कारण ही मैं आज कृतकृत्य हुआ। संसार भय आदि दुःखों का भान ही न रहकर मैं सर्वदा स्वानंद में ही निमग्न रहता हूँ। दृश्य, द्रष्टा, दर्शन यह त्रिपुटी भी नहीं है और त्रिगुण में नहीं हैं; आत्मबोध से पूर्णानंद प्राप्त होने के कारण 'मैं' 'तू'पन के भाव का विलय हो गया। आत्मज्ञान के कारण स्वानंद पूर्ण हो गया यह कहना भी मायिक है क्योंकि, परादि चारों वाणियाँ मूक हो गयीं, इसीलिये वेदवाद मौन हो गये। कार्य, कारण और कर्त्तव्यता मेरे लिये नहीं रह गये। फिर भी हे श्रीकृष्णनाथ! मैं अब तुमसे कुछ तो माँगूँगा। माँ जिस प्रकार बालक का हठ आत्मीयता से सुनती है, उसी प्रकार मेरी माँग भी तुम सुन लो। यह मेरी अन्तिम माँग है। भगवान इसे ध्यान देकर सुनें, यह कह कर उसने श्रीकृष्ण के चरणों का वन्दन कर विचित्र-सी माँग प्रस्तुत की। मुझे भ्रम था कि जीवन्मुक्ति बड़ी मधुर पीड़ा होगी, लेकिन उसमें मुझे तुम्हारी भक्ति नहीं दिखायी देती। इसलिये वह शुष्क मुक्ति मुझे नहीं चाहिये। इसलिये मैं पुनः तुम्हारी शरण में आया हूँ। सद्गुरु के वचन से शिष्य को तत्काल मुक्ति मिलती है, लेकिन जिसमें सद्गुरु की भक्ति नहीं है, उस मुक्ति को आग लगे। मुझे वह नहीं चाहिये। इसलिये मैं पुनः तुम्हारी शरण में आया हूँ; मुझे तुम अपना गुरु भजन दो। पहले अनेकों ने भक्ति की, उन्हें मैंने मुक्ति ही दी, लेकिन उनमें से किसी ने मुक्ति के बाद भक्ति नहीं माँगी ऐसा यदि कहोगे तो पहले जिन्होंने तुम्हारी भक्ति की थी उन्हें तुमने मुक्ति देकर फँसाया लेकिन तुम्हारी यह चातुरी मेरे साथ नहीं चलेगी। क्योंकि जिनकी वृत्ति अहंकारशून्य होकर जो सहज ही आत्मारामस्वरूप हो गये, वे भी तुम्हारी निष्काम भक्ति करते हैं। तुम्हारे स्वरूप का यही धर्म है। अतः तुम्हारी गुरुभक्ति के बजाय मुक्ति माँगना यह केवल भ्रम है। तुम्हारी वह मुक्ति मुझे नहीं चाहिये। मुझे गुरुभक्ति ही दो। जब स्वयं ही मुक्ति प्राप्त हो गयी, उसे अब भक्ति नहीं दी जा सकती, ऐसा यदि तुम कहोगे तो ऐसी बातें मुझे न समझाओ। तुम्हारा सामर्थ्य मैं अच्छी तरह जानता हूँ। जो कभी हो नहीं सकता, उसे तुम सम्भव कर देते हो; जो हिल नहीं सकता उसे हिला देते हो; जो किसी से नहीं हो सकता वह तुम कर देते हो, तुम्हारे सामर्थ्य का अन्त नहीं है। हे श्रीराम! सेतु बाँधने के लिये तुमने डूबते हुए पत्थरों को तैरा दिया और उसके ऊपर से वानर सेना को ले गये। जंगल में रहने वाले और पेड़ के पत्ते खाने वाले वे वानर उनकी दासी चारों मुक्त हो गये और बड़े-बड़े देवता भी उन्हें नमन करने लगे। जो व्यभिचारिणी तथा गोबर में खेलने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वाली ग्वालिनें थीं उनके पैरों पर मोक्ष आ लगा और उनकी चरण रज को ब्रह्मदेव ने भी दण्डवत किया। तुम परमात्मा परमेश्वर हो, यह बात उन ग्वालिनों को तथा वानरों को नहीं मालूम थी। फिर भी तुम्हारी भक्ति ही उन्हें सचमुच परब्रह्मस्वरूप के कारण मालूम हुई। इस प्रकार तुम्हारा भजन अगाध है, उसकी महिमा भी समझ से बाहर है; तुम्हारा देवत्व यदि भक्ति के ही अधीन है, तो फिर मोक्ष में अधिक क्या है? भक्ति से ही मुक्ति का जन्म हुआ, भक्ति के कारण ही वह बढ़ी; वही मुक्ति यदि भक्ति के विनाश का कारण बनती है तो ऐसी मातृघातक मुक्ति को मैं स्पर्श भी नहीं करूँगा। जिससे मुक्ति पर आया हुआ दोष दूर होकर वह अत्यन्त पवित्र होगी, ऐसी एक गुप्त बात मैं तुम्हें बताता हूँ। श्रीकृष्ण! उसे कृपया ध्यानपूर्वक सुनें। वह गुप्त बात यही है कि मोक्ष प्राप्त होते हुए भी आप मुझे अपना गुरुभजन भी दें, उससे मुक्ति भी पावन होगी। इतना कहकर उसने श्रीकृष्ण को साष्टांग दण्डवत किया। उद्धव ने श्रीकृष्ण के चरण अपने मस्तक पर रखे, वह उसे छोड़ ही नहीं रहा था। इससे श्रीकृष्ण आश्चर्यचकित हो गया और उसे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उद्धव ने कहा, मैं मुक्त हो गया यह जानकर भी मैं तुम्हारा भजन नहीं छोड़ूँगा। मुझ पर ऐसी ही कृपा करो। पूर्ण मुक्तता प्राप्त होने के बाद मुझे सद्गुरु भजन का लाभ नहीं मिलेगा, लेकिन मुझे इस विघ्न की बाधा न हो ऐसी भक्ति मुझे बतायें। तुम कहोगे कि कोटि-कोटि जन्म लेने पर भी जब मुक्ति नहीं मिल पाती, उस मुक्ति को ही तुम विघ्न कहते हो? तुम पक्के मूर्ख हो। लेकिन जिसके कारण तुम्हारा भजन छूट रहा हो, उसे मैं बहुत बड़ा विघ्न समझता हूँ। हे श्रीकृष्ण! तुम्हारी भक्ति के बिना मिली हुई मुक्ति मुझे स्वादहीन लगती है। हे श्रीकृष्ण! ऐसी कृपा करो कि मेरी नित्यमुक्तता भी न टूटे और अहेतुक भक्तिमार्ग भी चलता रहे। इसमें जरा भी संकोच न करो। तुम कहोगे, मैंने तुम्हें नित्य मुक्ति दी; लेकिन मुक्ति तो मेरे पास तैयार ही थी। वह तुमने मुझे दी यह कहना व्यर्थ है। दातृत्व का यह व्यर्थ का ही अहंकार है। अब मैं आपसे भक्ति माँग रहा हूँ, उसे आप दें तभी आप सच्चे दाता हैं, इसी को मैं आपकी उदारता कहूँगा। लेकिन प्रसन्न होकर मुझे भक्ति दिलाने में आपको उत्साह नहीं दिखायी देता। कृष्ण! आप मेरे प्रति अत्यन्त कंजूस हो गये हैं। सद्गुरु भक्ति को नष्ट करने वाली जीवन्मुक्ति हमें बिलकुल नहीं चाहिये। उसे मुक्ति कहना यह भी भ्रांति है। हे श्रीकृष्ण! जब बद्धता ही नहीं है, तो फिर मुक्ति कहाँ से आयी? अतः ऐसी मिथ्या मुक्ति को मैं स्पर्श भी नहीं करूँगा। मेरी गुरुभक्ति ही मुझे दे दो। पहले तुमने जिन्हें मुक्ति दिलायी थी, उन्हें भी तुमने ऐसा ही ठगा था। मुझे इस प्रकार की झूठी आशा मत दिलाओ। मोक्ष से ऊपर जो भक्ति है वही मुझे दीजिये। यह कह कर उसने साष्टांग दण्डवत किया और उसके दोनों चरण पकड़ लिये। तब श्रीकृष्ण के प्रेम को भी ज्वार आ गया और वह उद्धव पर अत्यन्त प्रसन्न हो उठा। मोक्ष से भी श्रेष्ठ जो गुरुभक्ति, वही उद्धव ने अनेक युक्तियों से माँगी और उस समय उसने जो भाषण किया उससे श्रीकृष्ण अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। प्रेमसुख में वह झूमने लगा। उसी सुखमय स्थिति में उसने भक्ति और मुक्ति दोनों ही उद्धव को अर्पण की। संसार में उद्धव ही पुण्य शुद्ध है; संसार में उद्धव ही सबसे धन्य है क्योंकि श्रीकृष्ण ने उसे मोक्ष से भी श्रेष्ठ गुरुभजन अर्पित किया। गुरु और ब्रह्म दोनों एक ही हैं, यह भी पूरी तरह सद्गुरु ही सिखाते हैं। इसलिये मोक्ष से भी श्रेष्ठ जो गुरुभजन है, उसका सच्छिष्य को दोष नहीं लगता। पहले श्रीकृष्ण ने सन्तुष्ट होकर अपने भक्तों को उन्होंने माँगी हुई मुक्ति दी थी। लेकिन उन्हें इस भक्ति का आकलन ही नहीं हुआ। लेकिन उद्धव ने उन सब पर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की। मुक्ति के मस्तक पर भक्ति को बिठाया और दुर्गम स्थिति माँगी जो श्रीकृष्ण ने उसे दी। उद्धव! मुक्ति से भी श्रेष्ठ जो भक्ति है, वही मेरे अवतारों की अवतारशक्ति है। उसी के योग से मैं श्रीपति उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कर अन्त में अलिप्त ही रहता हूँ और सचमुच इसी के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सामर्थ्य से मैं कर्म करके भी अकर्ता और भोग करके भी अभोक्ता बना रहता हूँ। यह योग जिसकी समझ में नहीं आता उसे यह संसार दुःखस्वरूप हो जाता है; लेकिन मेरे पास यह योग अखण्ड होने के कारण मैं संसार में रहते हुए भी सुखस्वरूप ही हूँ। यह योग शंकर जानता है और मैं जानता हूँ। वह योग दुर्गम होने के कारण दूसरों की समझ में नहीं आता। यह गुप्त बात श्रीकृष्ण ने बतायी और वह उद्धव के मन में बैठ गयी। आत्मज्ञान से दोनों में एकरूपता हो गयी और उसे भजन की महत्ता मालूम हो गयी। मुक्ति का आधार भक्ति है, यह बात उद्धव की समझ में अच्छी तरह आ गयी। इससे उसे जो आनन्द हुआ वह उसके हृदय में नहीं समा रहा था। वह स्वानंद से भर गया। बालक के हठ के कारण जिस प्रकार माँ उसे अपने आभूषण पहनाती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने उद्धव को अपनी अवतार स्थिति अर्पण की। न मन ने सुना, न बुद्धि ने देखा और भगवान ने आकाश से भी चुरा कर भगवान ने अपना स्वरूप उद्धव को अर्पण किया। जो ब्रह्मवेत्ता को भी नहीं दिखायी देता, जिसका आकलन वेदों को भी नहीं होता, वह स्थिति श्रीकृष्ण ने कृपा के बल से उद्धव को दी। देखो! पहले जब श्रीकृष्ण ने पूछा था, उस समय 'मेरा उद्धार हो गया' ऐसा उद्धव ने कहा था और अब उसने भजनभाव माँगा। इसका गूढ़ अर्थ भगवान ही जानें। मुक्ति से ऊपर की भक्ति माँगने के कारण, श्रीकृष्ण की अवतारशक्ति अर्थात् माया नियंत्रण की पूर्णस्थिति उद्धव के हाथ में सहज ही आ गयी। माया का मिथ्यत्व पूरी तरह जान कर ही उसकी प्रेरणा और आवरण यह जो 'मायानियंत्रण' का लक्षण है वही श्रीकृष्ण ने स्वयं दिया। शतरंज के खेल में जिस प्रकार किसी तरह का पूर्वकर्म न होने पर भी राजा, प्रधान, हाथी, घोड़े, प्यादा ये सब मारामारी पर उतर आते हैं, जबकि सबमें लकड़ी एक ही होती है। दोनों ओर की सेनाओं में लकड़ी एक ही होती है, फिर कौन किसका शत्रु है? लेकिन सचमुच बैर न होते हुए भी युद्ध में निर्जीव में ही मारामारी होती है। हाथी, घोड़ा, प्रधान मरा ऐसा कहा जाता है, लेकिन क्या इसमें किसी का प्राण जाता है? अथवा जो प्यादा है, वह प्रधान बन जाता है, तो क्या उसे अकूत सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है? सचमुच, प्राण न होते हुए भी मारने की बात करते हैं और चिल्लाते है। एक की जय और दूसरे की पराजय होती है। लेकिन उन गोटियों को इसका कोई ज्ञान नहीं होता। गोटियाँ मर जाती हैं तो उनमें से कौन धर्मात्मा वैकुण्ठ जाता है और कौन नरक भोगता है? उसी प्रकार बन्धन और मोक्ष की बातें समूल मिथ्या हैं। सारांश, शतरंज की ही तरह जिसका संसार में ध्यान रहता है वही अवतारों का अवतार है और वही सचमुच भगवान है। वेदोक्ति भी मिथ्या ही है, बन्धन और मुक्ति भी मिथ्या ही हैं, यह जानते हुए भी वह वेद विहित धर्म के अनुसार चलता है, यही मुक्ति से भी श्रेष्ठ भक्ति है। संसार से मुक्त होकर अनेक नित्यमुक्त हुए हैं; उनके लिये यह भक्ति असाध्य है। उन्हें इस अगम्य स्थिति की कल्पना भी नहीं होगी। उद्धव! जिसके पास मेरी ऐसी स्थिति होगी, वही मोक्ष से श्रेष्ठ वाली भक्ति करेगा। औरों के लिये वह सोच से परे है। इस प्रकार उद्धव को अगाध गति प्राप्त हुई। उसे लोकोपकार की दृष्टि से ब्रह्मशाप से बचाने के लिये श्रीकृष्ण ने स्वयं उपाय ढूँढ़ा। नारद के पास ब्रह्मज्ञान था, फिर भी उसे ब्रह्मशाप का बन्धन था, उस शाप के कारण वह भ्रमण करता रहता था। एक स्थान पर वह कहीं रहता ही नहीं था। ब्रह्मज्ञान होने पर भी ब्रह्मशाप का भयानक भय नहीं चूकता। यह जानकर ही श्रीकृष्ण ने ब्रह्मज्ञान का उपदेश देकर उद्धव को दूर हटाया। उद्धव का जन्म यादव वंश में हुआ था और यादव ब्रह्मशाप से मरने वाले थे। उससे उद्धव को बचाने के लिये उन्होंने उसे बदरिकाश्रम में भेजा। उद्धव को जो ज्ञान प्राप्त हुआ था, उससे बदरिकाश्रम पवित्र था, ऐसी बात नहीं थी किन्तु ब्रह्मशाप के भय से ही उसे श्रीकृष्ण ने दूर भगाया। उद्धव सरीखा मूल्यवान रत्न, जिसे पूर्ण स्थिति मालूम थी, उसे बचाने के लिये श्रीकृष्ण ने स्वयं ही बदरिकाश्रम भेजा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीभगवानुवाच

गच्छोद्धव मयाऽऽदिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम्।
तव मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचिः॥ ४१॥

न बुद्धि भेदं जनयेत् अज्ञानांलोक संग्रहम्।
जोषयेत सर्व कर्माणि विद्वान्युक्त समाचरन्॥

श्रीकृष्ण गम्भीर वाणी में बोले, उद्धव! तुम्हें अब ब्रह्मज्ञान हो गया और तुम्हारा स्नेहपाश बन्धन भी टूट गया, अब तुम मेरी आज्ञा से बदरिकाश्रम जाओ। उस बदरिकाश्रम की महिमा लोकसंग्रह तथा जड़-मूढ़ जनों के उद्धार के लिये श्रीकृष्ण अपने मुख से बताते हैं। वह बदरिकाश्रम मेरा स्थान है। वहाँ मैं नित्य अनुष्ठान करता हूँ। उस स्थान का दूर से दर्शन करने पर भी कलिकल्मष का नाश होता है। उस पर्वत के स्पर्शमात्र से मनुष्य पवित्र हो जाता है, उस बद्री के नामस्मरण से भी बड़े-बड़े दोषों का विलय हो जाता है। वहाँ भी मेरे चरणों का तीर्थ 'अलकनंदा' नामक नदी के नाम से प्रवाहित हो रहा है। उसके स्पर्शमात्र से लोग पवित्र हो जाते हैं। वहाँ श्रद्धापूर्वक स्नान करने से संसार बंधन नहीं रहता और जो उसका आचमन करता है उसका पितरों के साथ उद्धार हो जाता है। ऐसा मेरा बदरिकाश्रम है। वह अत्यन्त पवित्र है। उद्धव! अब शायद तुम यह कहोगे कि आपने यह स्थान कब बनाया? तो उसका भी वर्णन सुनो। मैंने रजोगुण वाले लोग उत्पन्न किये। वे सुखविलास में निमग्न हो गये। वे भोगासक्ति में डूब गये। तब मैंने दो रूपों में अवतार लिया। रवि और चन्द्र जिस प्रकार अन्धकार का पूर्ण विनाश करते हैं, उसी प्रकार मैं भी नर-नारायण बना और बदरिकाश्रम में नित्य उदित होने लगा। वहाँ मैंने भक्ति, वैराग्य तथा ज्ञान का स्वयं आचरण कर प्रकाशन किया। ऐसा वह बदरिकाश्रम मेरा स्थान है तथा वहाँ मैं अभी भी भक्ति, ज्ञान, वैराग्य का अनुष्ठान करता रहता हूँ। नरनारायण के रूप में जिस पर्वत पर मैंने अवतार लिया, वहाँ तोड़े हुए बैर के समान मेरी भक्ति फलती-फूलती रहती है। इसीलिये मैंने उसका नाम बदरिकाश्रम रखा है। यहाँ संसार का सारा भ्रम समाप्त हो जाता है, इतना वह पवित्र है। इसलिये तुम अब बदरिकाश्रम जाओ। लेकिन उद्धव! तुम्हारे मन में यह विचार आयेगा कि अब तीर्थ जाने की क्या आवश्यकता है? तुमने मोक्ष से भी श्रेष्ठ भक्ति दी, जिससे मैं अत्यन्त कृतकृत्य हो गया हूँ, अब तीर्थ जाने की मुझे जरा भी इच्छा नहीं है। लेकिन मेरी आज्ञा है कि तुम वहाँ अवश्य जाओ। इतना सुनते ही उद्धव ने मौन धारण कर श्रीकृष्ण की आज्ञा का वंदन किया। सद्भाव से वन्दन कर बदरिकाश्रम का दर्शन करने से वह नर का नारायण हो जाता है, इतनी उस स्थान की महिमा है। उद्धव! तुझमें पूर्ण ज्ञान है, इसके साथ ही तुम मेरा भजन करते हो; इससे तुम्हारे चरण-स्पर्श से वह बदरिकाश्रम भी पवित्र हो जायेगा। श्रीकृष्ण का यह भाषण सुनकर उद्धव को रुलाई आ गयी; उसने दौड़कर श्रीकृष्ण चरणों का वन्दन किया और वहाँ जाने का आश्वासन दिया। ब्रह्मशाप से होने वाले नाश से बचाने के लिये श्रीकृष्ण ने उसे पूर्ण उपदेश कर बदरिकाश्रम जाने को बाध्य किया। उद्धव ज्ञानियों में रत्न था, ब्रह्मशाप से बचने के लिये उद्धव को बदरिकाश्रम भेजा। अन्यथा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के बाद कृष्ण किसी को तीर्थाटन करने के लिये नहीं कहेंगे। उद्धव का भवबन्धन बचपन में ही समाप्त हो गया था। श्रीकृष्ण ने जानबूझ कर उसे बदरिकाश्रम भेजा और कहा कि इससे बहुत बड़ा लोकोपकार होगा। तुम्हारे धर्म से समस्त अज्ञानियों का उद्धार होगा। अब तुम पूछो कि उस तीर्थ में जाने के बाद वहाँ किस तरह रहा जाय? तो उस सम्बन्ध में लोककल्याण के लिये तुम्हें निर्णय बताता हूँ। उद्धव! तुम्हारा आचरण ही जनता को उपदेश मालूम होगा। इसलिये वैराग्य,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भक्ति, ज्ञान और स्वधर्माचरण का त्याग न करो। उद्धव! मुझे ही देखो न। इस त्रिभुवन में मेरा कोई कार्य नहीं है। लेकिन लोगों को मार्ग दिखाने के लिये मैं स्वधर्माचरण के अनुसार व्यवहार करता हूँ। इस पर तुम कहोगे कि पूरे त्रैलोक्य की जिम्मेदारी तुम्हारी है इसलिये लोगों को व्यवहार सिखाने के लिये आप स्वधर्म पर चलते हैं। लेकिन मैं अब निजधाम जा रहा हूँ इसलिये मेरी परिपूर्ण स्थिति तुम्हें अर्पण कर दी, इसलिये अब लोकसंग्रह के लिये तुम पूरी तरह विरक्त होकर रहो। अभेद भक्ति, वैराग्य, ज्ञान का स्वयं आचरण कर, अन्य लोगों से वैसा ही आचरण कराने का ही नाम है, लोकसंग्रह। उद्धव! मेरे ज्ञान की प्राप्ति होने के कारण तुम त्रिभुवन में भी वन्दनीय हो गये हो। इसलिये तुम जैसा आचरण करोगे, उसी के अनुसार लोग व्यवहार करेंगे। अब तुम्हारे ही बहाने लोकसंग्रह के लिये साढ़े-तीन श्लोकों का निरूपण करता हूँ। उसी के अनुसार तुम व्यवहार करो। तुम बदरिकाश्रम जाओगे तो वहाँ अनेक तीर्थ दिखायी देंगे लेकिन उनमें अलकनंदा ही प्रमुख है। वह गंगा ही है; उसके दर्शन मात्र से सभी दोषों का परिहार होता है।

ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः।
वसानो वल्कलान्यङ्ग वन्यभुक्सुखनिःस्पृहः॥ ४२॥

उस अलकनंदा का स्नान कर शास्त्रोक्त पद्धति से तीर्थविधान करें और फिर वहाँ रहें। अब, कैसे रहा जाय उसके सम्बन्ध में सुनो। वस्त्रों का त्याग कर वल्कल पहनें। वन के फलों का भक्षण कर उद्वेगरहित वृत्ति से रहें। लोगों को अनुशासन का पाठ पढ़ाने के लिये पूरी तरह निःस्पृहता का व्यवहार करें और निजसुख से वहाँ रहते हुए शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वंद्वों के प्रति सहिष्णुता दिखायें।

तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशीलः संयतेन्द्रियः।
शान्तः समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुतः॥ ४३॥

तुम ज्ञानविज्ञान सम्पन्न हो, अतः तुम्हें द्वंद्वों की बाधा होना सम्भव नहीं है। लेकिन लोकहित की दृष्टि से शीतोष्णादि द्वंद्वों की सहनशीलता अवश्य दिखायें। तुम्हें विषय की आसक्ति नहीं है। फिर भी इन्द्रिय और विषय का नियंत्रण करें। अपनी सुशीलता प्रकट कर आत्मशान्ति का प्रदर्शन करें। आत्मबुद्धि का समाधान कैसा होता है उसे सहज ढंग से प्रकट करें और मुझसे जो ज्ञान तुमने प्राप्त किया है, उसका अनुभव लोगों को दिखायें।

मत्तोऽनुशिक्षितं यत्ते विविक्तमनुभावयन्।
मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव॥

यदि तुम इस प्रकार रहोगे तो अनेक लोग तुम्हारी शरण में आयेंगे क्योंकि मेरा ज्ञान तुम्हें प्राप्त होने की बात सबको ज्ञात है। हम ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर केवल अपना उद्धार कर लें और दीनजनों का उद्धार न करें तो उसमें ज्ञाता की कमी दिखायी देती है। कुछ लोग ब्रह्मज्ञान का सम्पादन कर, शिष्य को भी उसका उपदेश करते हैं, किन्तु वह उन्हें ठीक तरह बोध नहीं करा पाते; उनकी वह निष्ठा हीन और निर्वीर्य है। ठीक से बोध न होने के कारण शिष्य छटपटाता रहता है और गुरु अपने गुरुत्व के कारण बड़बड़ाता रहता है। घर में ही इतनी बड़ी त्रुटि। उपदेश का यह प्रकार अबद्ध है। दूसरे के अंतःकरण में बोध का प्रकाश फैलाना सरल कार्य नहीं है। उद्धव! सचमुच इसी का नाम है ब्रह्मज्ञान की पूर्ण प्राप्ति। स्वयं तरकर दूसरे को तारना यही ज्ञान की महानता है। मैंने वह तुम्हें सौंपी है। इसलिये मेरे कहने के अनुसार ठीक तरह से व्यवहार कर लोगों का उद्धार करते रहो। शिष्यरूपी उत्तम खेत में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जिसके ब्रह्मज्ञान की फसल नहीं फलती, उसका वह ज्ञान पूरा नहीं है। जिस प्रकार पके हुए फलों के वृक्ष के पास पक्षी अपने आप एकत्र होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मस्थिति अपने पूर्णत्त्व पर पहुँचती है उस समय शिष्यों का वहाँ जमघट होने लगता है। शब्दों से ब्रह्मज्ञान का उपदेश करते हैं लेकिन यदि वह मन को रुचता नहीं है तो वह ब्रह्मज्ञान निर्वीर्य है। उद्धव! जानते हो, ऐसा क्यों होता है? ब्रह्मज्ञान का अनुभव होते ही उससे देह में ज्ञातव्य का बोध होता है और उससे ज्ञानाभिमान उत्पन्न होता है। इससे ज्ञान का सामर्थ्य कम हो जाता है। ज्ञाता जितना निरहंकारी होगा, उतना ही ज्ञान का सामर्थ्य बढ़ता है। उसकी कृपा होते ही सच्छिष्य को तत्काल बोध होता है। उद्धव! तुम्हें मेरा ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका शिष्यों को उपदेश करो ताकि वे तुम्हारा सम्मान करें। फिर भी तुम ज्ञानाभिमान न करो। शिष्य जो सम्मान दे रहे हैं, उसे न लेने से अपरिपक्तता दिखायी देती है और लेने से ज्ञानाभिमान बढ़ता है। यह भी ज्ञाता का विघ्न ही है। इसलिये शिष्य जो सम्मान दे रहे हैं उसे बिना झिझक के लेना चाहिये लेकिन ज्ञानाभिमान नहीं करना चाहिये। यही ज्ञाता का मुख्य लक्षण है। तुम्हें मेरा पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ है अतः एकान्त हो या लौकिक में हो, तुम निरभिमान स्थिति में ही रहो। सदा स्वानंदस्फूर्ति रहने दो। इस निरभिमान स्थिति का उपदेश शिष्यों को भी करो क्योंकि निरभिमान होने जैसी स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति त्रिभुवन में और कोई नहीं है। इस उपदेश का लक्षण है, वाणी में मेरे नाम का कीर्तन, शरीर से मेरा नित्य भजन और मन को सदा मेरे स्वरूप में निमग्न रखना। ज्ञानी कहने से अभिमान नहीं होना चाहिये और मूर्ख कहने से क्रुद्ध नहीं होना चाहिये। स्वयं उद्वेगरहित अवस्था में रहना चाहिये। यही ज्ञाता की उत्तम स्थिति है। इस प्रकार नित्य अभिमानरहित रहकर, भक्तियुक्त वैराग्य तथा ज्ञान का स्वयं आचरण कर सच्छिष्यों को वैसा ही उपदेश करते रहना चाहिये। जो शिष्य तुम्हारी शरण में आयें उन्हें नीच न समझो। शिष्य को भी पूज्य समझना गुरुत्व की पूर्णता का लक्षण है। जिस प्रकार सद्गुरु को समस्त प्राणिमात्र में निरन्तर ब्रह्म के ही दर्शन होते हैं, यदि उनमें शिष्य भिन्न-भिन्न दिखायी देने लगें तो क्या उनकी ब्रह्मस्थिति भाग गयी? इसलिये शिष्य अपने से क्षुद्र है ऐसा कभी नहीं समझना चाहिये। शिष्य भी पूर्ण ब्रह्मरूप है ऐसा मानना चाहिये, यही गुरु का प्रमुख लक्षण है। जिस प्रकार माँ को अपने नन्हे बालक से दुलार रहता है, उसी प्रकार गुरु को शिष्य के सच्चे हित का ख्याल रहना चाहिये। इसी को शुद्ध 'सद्गुरुत्व' कहते हैं। शिष्य के लक्षण के बारे में पहले ही बताया जा चुका है। वैसा अधिकारी शिष्य जहाँ भी दिखायी पड़े, उसे सचमुच उपदेश करो। तुम्हें अब तक जो कुछ पढ़ाया, वह सब शिष्योपदेश के ही लिये था, ऐसा समझ लो। वास्तव में तुम तो मूलतयः गुणातीत हो इसलिये यह तुम पर लागू नहीं होता।

अतिव्रज्य गीतस्तिस्त्रो मामेष्यसि ततः परम्॥ ४४॥

इस प्रकार ज्ञान का उपदेश करोगे तो तुम्हारी गुणातीतता तो भंग नहीं होगी; बल्कि तुम जिसे उपदेश करोगे वह भी त्रिगुणावस्था पर विजय प्राप्त करेगा। पहले बताये हुए उपदेश के अनुसार जो शिष्य सदा व्यवहार करेंगे, वे भी गुरुकृपा से त्रिगुण की जो तीन वृत्तियाँ हैं उन्हें पार कर जायेंगे। तीन गुणों के तीन प्रकार हैं। दृश्य, द्रष्टा और दर्शन; जागृति, सुषुप्ति और स्वप्न; ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान। कार्य, कारण और कर्त्ता; भोज्य, भोजन और भोक्ता; शत्रु, मित्र और उदासीन; ये तीन गुणों की तीन अवस्थाएँ हैं जो बाधक हैं। किन्तु इस उपदेश से सच्छिष्य मेरा भजन कर त्रिगुणों के त्रिगुण का नाश कर स्वयं मेरा स्वरूप बन जायेंगे। मेरे स्वरूप में न गुण हैं न गुणवृत्ति ही है। इसलिये भक्त सद्भाव से गुणातीत स्थिति तक पहुँच कर सहज स्वानंद प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्ण ने उद्धव को ऐसी आज्ञा की। इसके बाद की उसकी अवस्था की महिमा का वर्णन परीक्षित को स्वयं शुक्राचार्य किस प्रकार करते हैं, देखें।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

श्रीशुक उवाच

स एवमुक्तो हरिमेधसोद्धवः प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः।
शिरो निधायाशुकलाभिरार्द्रधीर्न्यषिञ्चदद्वन्द्वपरोऽप्यपक्रमे॥ ४५॥

जो निजमुक्ति के कारण नित्य निष्काम है; जिसने परब्रह्म का अनुभव लिया है; उस श्रीशुक्राचार्य को उद्धव का प्रेम वर्णन करने में अत्यन्त उल्हास प्राप्त हुआ। उसने कहा, हे परीक्षित! श्रीकृष्ण ने इस प्रकार उद्धव को आज्ञा की; उसका प्रेम अद्‌भुत था, उसका वर्णन में कर रहा हूँ, सुनो। उद्धव भले ही गुणातीत हो गया हो लेकिन उसे गुरुचरण से विलक्षण प्रेम था। उसका सद्‌गुरु श्रीकृष्णनाथ तो साक्षात परब्रह्म ही था। वह हरि के चरण छोड़ना नहीं चाहता था, हरि के प्रति उसकी पूर्ण श्रद्धा थी, इसलिये उस ज्ञानसम्पन्न उद्धव को 'हरिमेधा' कहा गया है। जो अपनी इच्छा से हरि का ध्यान करता है, उसके ध्यान के साथ उसका मन भी हरि हरण करता है; जो हरि के समाधान का विचार करता है, उसकी बुद्धि का हरि हरण करता है। जो हरि का चिन्तन करता है, उसके चित्त का हरि हरण करता है; जो हरि का स्मरण करता है उसका सारा संसार ही हरि हरण करता है। उस हरि के प्रति मुक्तिपद पर पहुँचे उद्धव की सप्रेम श्रद्धा थी इसलिये उसे 'हरिमेधा' कहते थे। जो गुणातीत पद पर पहुँच गये उन्हें भी जिसकी भक्ति प्रिय थी, उस श्रीकृष्ण ने उद्धव का जाना निश्चित किया। किन्तु बदरिकाश्रम दूर का पल्ला था। एक बार वहाँ जाने के बाद उससे पुनः भेंट नहीं होगी इस विचार से उसका मन व्याकुल हो उठा। यद्यपि वह सुख-दुःख से मुक्त हो चुका था, फिर भी प्रयाणकाल में उसने व्याकुल मन से श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा की। चरणों पर मस्तक रखते समय उसकी आँखों से प्रेमाश्रु की धारा फूट पड़ी। उस धारा से श्रीकृष्ण के चरण धुल गये।

सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः।
कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके विभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः॥ ४६॥

अन्य लोगों का स्नेह बाधक रहता है, किन्तु वेदांत विचार उनसे साधकों को छुड़ाता है; लेकिन श्रीकृष्ण का स्नेह वैसा नहीं है। वह सुखदायक और प्रिय रहता है। उद्धव के लिये स्वाभाविक तौर पर गुरु और परब्रह्म दोनों एक ही थे और लोगों को दोनों में 'ऐक्य' भावना करनी होती है; लेकिन उद्धव के लिये वह स्वतःसिद्ध था। इस प्रकार का यह स्नेह उद्धव के लिये अत्यन्त सुखदायी था। इसलिये श्रीकृष्ण को छोड़ते समय गुरुप्रेम के कारण वह भी व्याकुल हो उठा। स्नेह, द्वेष अथवा विषय कामना से जो भी कोई श्रीकृष्ण पर लुब्ध हुआ, उन्हें परमानन्द ही प्राप्त हुआ। ऐसे श्रीकृष्ण को कौन छोड़ना चाहेगा? अविधि से श्रीकृष्ण से रत हुए लोग भी जब ब्रह्मादि देवताओं के लिये वंदनीय हो गये तो फिर उद्धव तो गुरुप्रेम पर न्योछावर ही था, वह श्रीकृष्ण को कैसे छोड़ेगा? जिसे गुरुभक्ति परब्रह्मतुल्य लगती है, उसके लिये जीवन्मुक्ति तृणप्राय है; मिली हुई मुक्ति का भी वे त्याग कर देते हैं और अनन्यभाव से गुरुभक्ति की शरण में चले जाते हैं। सद्‌गुरु की आज्ञा का उल्लंघन न किया जाय इसलिये बदरिकाश्रम जाना चाहिये यह बात सच है; किन्तु श्रीकृष्ण का प्रेम अत्यन्त मधुर है वह उसे जाने से रोक रहा था। इस प्रकार उद्धव दोतर्फा संकट में पड़ गया। श्रीकृष्ण के प्रेम से उसका पेट फटने लगा; उसे बदरिकाश्रम का मार्ग ही नहीं दीख रहा था। श्रीकृष्ण को यदि छोड़ दें तो वह निजधाम चला जाएगा, मुझे पुनः दिखायी नहीं देगा; इसलिये उसका गला रुंध गया। जल से भरे नूतन मेघ की तरह श्यामवर्ण, कमलनयन आनन्दमूर्ति श्रीकृष्ण पूर्णत्व से परिपूर्ण ब्रह्म है। मुकुट, कुण्डल, कमरबंद, पीले रंग का टीका धारण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किया हुआ, गले में एक लड़ी का पदक और कंठ में कौस्तुभमणि। पैरों में पैंजनी की रुनझुन, बाहों में बाजुबंद और कटि पर शोभा देने वाला पीत रंग का पीताम्बर, पैरों तक लटकी हुई वनमाला ऐसा अत्यन्त सुन्दर घनश्याम देखकर मन तृप्त हो जाता था। श्रीकृष्ण का ऐसा दर्शन पुनः प्राप्त नहीं होगा इसलिये उद्धव प्रेमविह्वल हो उठा। उद्धव पूर्णब्रह्म हो चुका था। उसे सगुण की इतनी चाह कैसे हो गयी? क्योंकि कृष्णप्रभा से प्रकाशित होने वाली चिद्धन आत्मवस्तु श्रीकृष्ण ही था। घी जमा हुआ हो या पतला हो, लेकिन वह घी के गुण से वंचित नहीं होता; उसी प्रकार सगुणानर्गुणत्त्व के साँचे में ढली हुई परब्रह्म की मूर्ति साक्षात् श्रीकृष्ण ही थे। सगुण रूप त्याज्य है और निर्गुण रूप पूज्य है यह विचार भी आज की स्थिति का है। जो तृण-पाषाण को भी ब्रह्मरूप मानता है, वह सगुण रूप का कभी भी तिरस्कार नहीं करेगा। इस प्रकार उद्धव को सगुण के लिये सगुण और निर्गुण ये दोनों ही रूप समान थे किन्तु गुरु की दृष्टि से श्रीकृष्ण पर उसका अत्यन्त प्रेम था। इसलिये उसे छोड़कर जाने में उद्धव अत्यन्त विह्वल हो उठा। किन्तु आज्ञा का उल्लंघन करना नहीं चाहता था, इसलिये बदरिकाश्रम जाने के लिये उद्यत हुआ तो श्रीकृष्ण को छोड़कर जाने में अत्यन्त कष्ट हुआ। जाने से पहले वह श्रीकृष्ण के चरणों पर लोट गया। पैरों को आलिंगन में बाँधकर उसे हृदय से कसकर बाँध लिया लेकिन वहाँ से निकल कर जाने का साहस नहीं हुआ। यदि मैं यहाँ से चला गया तो पुनः श्रीकृष्ण के दर्शन नहीं होंगे। इस विचार से उसकी अवस्था अत्यन्त कठिन हो गयी और उसके पैर ठिठक कर वहीं रह गये। कृष्ण के चरणामृत से ही मैं तृप्त हो गया हूँ। मुझे अब महातीर्थों की आवश्यकता नहीं है। ऐसा होते हुए भी मेरा प्रारब्ध मुझे श्रीकृष्ण का वियोग करा रहा है। इतना कहकर वह थर-थर काँपने लगा; उसका गला रुंध गया, आँखों में आँसू भर आये और वह बार-बार सुबकने लगा। वह रोमांचित होकर पसीने से तर हो गया। वह जाने के लिये बिलकुल तैयार हो गया; श्रीकृष्ण के चरणों पर गिरता, फिर वहाँ से चला जाता और पुनः आकर चरणों पर लोट जाता। उद्धव का वह श्रद्धा भाव देखकर श्रीकृष्ण परमानंद से सन्तुष्ट हो गये। वे मन ही मन बोले, मेरे प्रति इसका अत्यन्त स्नेह है; और गुरुत्व भावना से तो वह अनन्य हो गया है। श्रीकृष्ण को उस पर दया आयी और उसने अपने चरणों की पादुकाएँ उद्धव को सौंप दीं। उसने उन्हें अपने मस्तक से लगाया। उसे मस्तक से लगाते ही उद्धव भूल गया कि मैं कृष्ण से दूर जा रहा हूँ। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने उसे उपदेश दिया। वे पादुकाएँ मस्तक पर रखते ही उसकी व्याकुलता अपने आप शान्त हो गयी और वह श्रीकृष्ण को नमस्कार कर उनसे आज्ञा लेकर जाने के लिये निकला। त्रिवार प्रदक्षिणा कर उसने श्रीकृष्ण का मुखावलोकन किया; उसके चरणों को नमस्कार किया और उसकी आज्ञा से चला गया। अब तृतीय स्कंध की कथा सुनें—उद्धव को विदुर का दर्शन हुआ, दोनों ने एक-दूसरे को आलिंगन देकर कुशल क्षेम पूछा। तब कृष्ण के निधन की वार्ता सुनाते समय उद्धव की चर्या पर दुःख की हलकी सी छटा भी नहीं दिखायी दी। इससे विदुर ने भाँप लिया कि इसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ है। मरता गुरु हो और रोता हुआ चेला हो तो समझ लो कि ज्ञान व्यर्थ गया। इस पार कृपामूर्ति श्रीकृष्ण प्रसन्न हुआ, इसलिये इसकी मोह ममता वाली वृत्ति समाप्त हो गयी, इसलिये यह परमानंद में निमग्न होकर आत्मस्वरूप में झूम रहा है। शब्दों को स्पर्श किये बिना ही वह बोल रहा है, पृथ्वी का स्पर्श किये बिना ही यह सहज रूप से चल रहा है, नामरूप में रहकर भी नामरूप को स्पर्श नहीं करता; जिह्वा के बिना ही रसास्वादन करता है; नेत्रों के बिना ही देखता रहता है; इन्द्रियों के बिना ही निर्मल सुख का निजात्मतृप्ति से भोग कर रहा है। निर्विकल्प आत्मज्ञान; तिसपर भक्ति, ज्ञान, वैराग्य! उद्धव की ऐसी स्थिति देखकर विदुर के मन को अत्यन्त संतोष हुआ। फिर उसने उद्धव से विनती की कि हे भगवन्! श्रीकृष्ण तुझ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पर प्रसन्न हुए जिससे तुम्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ। भगवन्! उसी ब्रह्मज्ञान का उपदेश तुम भी मुझे करो। इस पर उद्धव बोला, 'धन्य तुम्हारा भाग्य' क्योंकि श्रीकृष्ण ने अन्त समय में तुम्हारा स्मरण किया और तुम्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने के लिये मैत्रेयी को आज्ञा की। कृष्ण ने यदि मुझे आज्ञा की होती तो मैं ही तुम्हें तत्काल उपदेश करता किन्तु तुम्हें परमार्थ का उपदेश करने के लिये मैत्रेयी को सद्गुरु नियुक्त किया गया है। उद्धव का यह भाषण सुनकर विदुर प्रेम से पसीज गया और उसने क्या कहा, कृपया ध्यान से सुनें। तृतीय स्कंध का यह निरूपण यहाँ प्रसंगवश आ गया है। विदुर ने अत्यन्त गहन भाषण किया, कृपया सुनें।

संमन श्लोक क्काहं कटिककवत्तुच्छः कवच कारूण्य वारिधि।
तेनाहं स्मारितोऽस्म्यध मुमुर्षुः केशवं यथा॥ १॥

विदुर ने कहा, मैं तो तुच्छ व्यक्ति हूँ; रंकों में भी अतिरंक; श्रीकृष्ण ने मेरा स्मरण किया यह उसकी इस दास पर अलौकिक कृपा है। उसने वसुदेव देवकी को स्मरण नहीं किया; बलराम अथवा पाण्डवों का भी स्मरण नहीं किया, उस कृपालु श्रीकृष्ण ने मुझ दासीपुत्र को स्मरण किया। मरनेवाला व्यक्ति जिस प्रकार अन्त समय में नारायण का स्मरण करता है, उसी समय श्रीकृष्ण ने अन्त समय में मेरा स्मरण किया। ऐसा वह श्रीकृष्ण भक्तप्रतिपालक तथा पूर्ण कृपासागर है। (आशंका) श्रीकृष्ण द्वारका में था तभी उद्धव वहाँ से चला गया था, अतः प्रभास में हुआ कृष्ण का निधन उसने नहीं देखा ऐसा यदि आप कहेंगे तो वैसी बात नहीं है। उद्धव और विदुर का संवाद उसका सबूत है। उसी अर्थ का निरूपण साद्यंत वर्णन करता हूँ, कृपया ध्यानपूर्वक सुनें। उद्धव चलने लगा तभी उसे रास्ते में एकाएक स्मरण हुआ कि कृष्ण का निधन बिना देखे ही मैं क्यों जा रहा हूँ? श्रीकृष्ण का चरित्र अत्यन्त मधुर है। उसे छोड़कर तीर्थ में क्या रखा है? ऐसा दृढ़ विचार कर उसने अपने मन की श्रद्धा और दृढ़ की और मन में कहा, मैं वापस यदि कृष्ण के पास जाऊँ तो वह मुझे वहाँ रहने नहीं देगा। इसलिये कृष्ण के जाने बिना व उसके पीछे गुप्त रूप से प्रभास गया। यहाँ भी वह गुप्त रूप से ही कृष्ण-चरित्र देखने लगा। तो वहाँ यादव कुल का संहार उद्धव ने देखा। सारे कुल का संहार कर अकेला कृष्ण अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठा था। जराव्याध ने उसे मृग समझकर दूर से ही बाण चलाया। वह पैर में लगते ही देव को अत्यन्त आनन्द हुआ। निजधाम जाने के काम में अनायास ही सुविधा हुई, उसने कहा। किसी अन्य को बाण लगा होता तो वह व्याकुल हो उठता, लेकिन कृष्ण को वैसा कुछ नहीं हुआ क्योंकि देहत्व उसके लिये अत्यन्त मिथ्या था। छाया पर प्रहार होने से जिस प्रकार पुरुष नहीं घबराता उसी प्रकार बहेलिये के तीर से कृष्ण को ग्लानि नहीं मालूम हुई। तभी मैत्रेय आया। उसे उन्होंने ज्ञानोपदेश किया। तभी श्रीकृष्ण को विदुर का स्मरण हुआ और उसका मन व्याकुल हो उठा। उसने कहा, आज यहाँ विदुर उपस्थित होता तो मैंने उसे भी ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया होता। अतः हे मैत्रेय! तुम स्वयं ही उसे उपदेश करो। इस प्रकार कृष्ण का गुह्यज्ञान प्राप्त होने के कारण मैत्रेय को परम समाधान हुआ। उसने कहा, धन्य है यह कलियुग, अब ब्रह्मवाची अनेक होंगे।

सर्वे ब्रह्म वदिष्यंति संप्राप्ते च कलौयुगे।
नैव तिष्ठंति मैत्रेय शिश्नोदरपरायणाः॥ २॥

इस पर श्रीकृष्ण ने कहा, मैत्रेय! कलियुग में ब्रह्मवादी अनेक होंगे किन्तु वे निश्चित रूप से ब्रह्मस्थिति में नहीं रहेंगे। ब्रह्मज्ञान बताकर वे शिस्नोदर परायण होंगे, जिह्वा और शिस्न को जो पूरी तरह नियंत्रण में रखेगा, उसी को कलियुग में ब्रह्मज्ञान प्राप्त होगा। मैत्रेयी और श्रीकृष्ण का यह संवाद सुनकर उद्धव श्रीकृष्ण के पास

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पहुँचा और उसे प्रदक्षिणा कर उसके चरणों के पास बैठ गया और मैत्रेय का ज्ञान सुनकर और कृष्ण का निर्वाण देखकर उद्धव वहाँ से चला गया। हे परीक्षित! वह वृत्तांत सुनो।

ततस्तमन्तर्हृदि संनिवेश्य गतो महाभागवतो विशालाम्।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना तपः समास्थाय हरेरगाद् गतिम्॥ ४७॥

जो संसार का विश्रामस्थल है; जो पुरुषों में पुरुषोत्तम है; उस आत्माराम को हृदय में धारण कर उद्धव प्रेम से चला गया। कृष्ण की पूर्ण स्थिति को निश्चयपूर्वक हृदय में धारण कर उद्धव स्वानंद स्थिति में विशाल तीर्थ के लिये चल पड़ा। उद्धव स्वानंद की स्थिति में पहुँच गया था इसलिये वह जहाँ जाता था वहाँ के लोग भक्ति, ज्ञान और वैराग्य से पावन हो जाते थे। जैसी भी विवेकशक्ति और विरक्ति दिखायी देती, उसी के अनुसार बोधकशक्ति से ज्ञान और भक्ति का उपदेश करते हुए वह त्रिभुवन का उद्धार करता चला गया। जिनकी उद्धव से भेंट होती, उनका हरिभजन में मिलना होता, संसार का भय वह उनकी दृष्टि में लाता ही नहीं था, इतना वह श्रेष्ठ उपदेशक था। भगवद्भक्ति जो भी करते हैं उन्हें 'भागवत' कहते हैं; उद्धव मुक्ति प्राप्त करके भी भजन करता था, इसलिये वह 'महाभागवत' है। उद्धव ने जिस भक्ति को स्वीकार किया था, उसकी तो नित्यमुक्ति दासी थी; इसलिये उद्धव की स्थिति को महाभागवत स्थिति कहना चाहिये। अत्यन्त निर्मल शान्ति और अत्यन्त प्रांजल आत्मानुभव, और मोक्ष के बाद भी भजनशीलता, ऐसा उद्धव अत्यन्त श्रेष्ठ भक्त था। ऐसी विशालता होते हुए भी वह 'विशाल' तीर्थ पहुँचा। अब उस तीर्थ को विशाल क्यों कहते हैं, उसकी भी कथा सुनाता हूँ। जहाँ केवल श्रद्धा से ही चित्त की शुद्धि होती है, श्रवण मात्र से ही बुद्धि निर्विकल्प होती है और 'नारायण' नाम से मोक्षसिद्धि होती है; अतः बदरिकाश्रम को विशाल कहते हैं। वहाँ लोककल्याण के लिये नारायण आज भी अनुष्ठान कर रहे हैं। मोक्षमार्ग पर लगने वाले पर उसकी पूर्ण कृपा होती है। इस प्रकार बदरिकाश्रम को 'विशालत्व' प्राप्त हुआ है। जहाँ अल्प तप से ही बड़ा फल प्राप्त होता है, अल्प ध्यान से परिपूर्ण ज्ञान होता है, अल्प विरक्ति से ही मोक्ष प्राप्त होता है; ऐसा बदरिकाश्रम विशाल रूप से फलप्रद होता रहता है। जो अन्तर्यामी गोविन्द, जो संसार का सुहृद और बन्धु है, उसी प्रकार जो प्रसिद्ध आत्माराम है, जिससे उद्धव को आत्मज्ञान हुआ उस श्रीकृष्ण ने जैसा उपदेश किया था, उसी के अनुसार उद्धव वहाँ रहा। इससे लोगों को परमार्थ निष्ठा पर विश्वास हुआ। उद्धव की स्थिति, उसकी ज्ञानभक्ति, उसकी विरक्ति लोगों के लिये उपदेशस्वरूप हो गयी। गुरु ही जहाँ विषयसक्त होता है वहाँ शिष्य को विरक्ति कैसे आयेगी? गुरु की प्रवृत्ति ही जहाँ अधर्म की हो वहाँ शिष्य को निवृत्ति कभी नहीं होगी। इसलिये उद्धव जैसा आचरण कर रहा था, उसी प्रकार सभी लोग आचरण करने लगे। इस प्रकार उद्धव बदरिकाश्रम में विरक्त होकर रहा। कृष्ण उसे जिस प्रकार पढ़ा कर गया था, उसी के अनुसार वह व्यवहार करने लगा। उसके धर्म से सारे लोग परमार्थी और विरक्त बन गये। परब्रह्म की सच्ची प्राप्ति कराकर श्रीकृष्ण निजधाम चले गये थे। वही ब्रह्मस्थिति उद्धव में रात-दिन विद्यमान थी। आसन लगाकर बैठने या जाने पर भी उसका ब्रह्मत्व टूटता नहीं था। विरक्ति और भोगासक्ति ये दोनों ही शरीर पर दिखायी देती हैं, किन्तु उद्धव की ब्रह्मस्वरूप स्थिति इन दोनों से परे थी। वह विरक्ति में होते हुए भी विरक्त नहीं था ओर भोग में रहते हुए भी भोगासक्त नहीं था; इन दोनों से परे वह सदा ब्रह्मस्वरूप ही था। उसी में प्रारब्ध क्षय से देह की मृत्यु होने पर भी उद्धव ब्रह्म में पूर्ण ब्रह्म ही होकर रहा था। जन्म और मरण वह जानता ही नहीं था। श्रीकृष्ण ने उद्धव के देह की देहबुद्धि पूरी तरह नष्ट करके उसे निःसन्देह ब्रह्मस्वरूप का अनुभव दृढ़ कर दिया था। हे परीक्षित! ऐसे उद्धव को देह के

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अन्त में विदेह कैवल्य की प्राप्ति हुई यह कहना वक्ता का भ्रम है। सोने का कंगन बनाओ या उसे तोड़ो लेकिन यह सब सोने को नहीं मालूम होता, उसी प्रकार जन्म और मरण केवल देह के ही लिये है। उद्धव परिपूर्ण परब्रह्म था। देह में रहते हुए भी वह नित्यमुक्त विदेही ही था। उसे देह के अन्त में विदेह मोक्षप्राप्ति हुई, यह कहना भी केवल लौकिकता है। देह जाये या रहे, उस सम्बन्ध में ज्ञाताओं को कोई दुःख नहीं होता। उनकी ब्रह्मभावना अखण्ड और अनस्यूत रहती है। देह को दैव चलाता है और मरण भी दैव ही लाता है। ज्ञाता ब्रह्म में ही पूर्णब्रह्म होकर रहने के कारण, जन्म और मरण उसे मालूम नहीं होता। देह रहे या जाये, मैं परब्रह्म ही हूँ। जिस प्रकार डोर में साँप का मिथ्यापन डोर के ही कारण मिथ्या होता है। जहाँ का मृगजल घट गया वहाँ की भूमि सूख गयी, ऐसा यदि कहें तो क्या जहाँ जल भरा रहता है वहाँ की भूमि गीली रहती है? उसी प्रकार देह की वर्तमान स्थिति समूल मिथ्या है ऐसा प्रतीत होता है तो उस देह का अन्त होने पर विदेह कैवल्य की प्राप्ति हो, ऐसा नहीं होता। इस प्रकार बदरिकाश्रम में अनेक दिन रहने के बाद उसी निजदेह के अन्त में वह भगवद्गति को प्राप्त हो गया। यह कहना भी केवल लौकिक दृष्टि से ही है। वह प्रारम्भ से अन्त तक परब्रह्मस्वरूप ही था, वह अपने स्वाभाविक स्वरूप से मिल गया। उद्धव की भगवद्भक्ति और अंतकाल की उसकी स्थिति का विचार कर शुक्राचार्य को अत्यन्त आनन्द हुआ और वे कृष्ण कृपा का वर्णन करने लगे।

य एतदानन्दसमुद्रसम्भृतं ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम्।
कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा सच्छ्रद्धयाऽऽसेव्य जगद् विमुच्यते॥ ४८॥

जो योगेश्वर योगमार्ग से (अथवा ज्ञानमार्ग से) जीवन्मुक्ति तक पहुँचते हैं, वे भी कृष्ण चरणों की सेवा करते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण की मूर्ति पूज्य है। उनके चरणों पर सनकादिक सरीखे संत तल्लीन रहते हैं, ब्रह्मदेव जैसे देवता भी उनके आगे रंक की तरह प्रतीक्षारत रहते हैं। उस श्रीकृष्ण ने स्वानंद की स्थिति में अपनी भक्ति प्रकट की। उद्धव पर उसकी अत्यन्त कृपा थी इसीलिये उसने अपने मुख से उसे सुनायी। भगवद्भक्ति यही एक महासागर है; उसमें धैर्य मंदराचल है; और गुरु-शिष्य यही मंथन करने को तत्पर होने वाले सुर और असुर हैं। श्रद्धा और विश्वास ये मथनी को खम्भे से बाँधने वाली दो डोरियाँ हैं और बोध नामक मजबूत रस्सी से उन्होंने मंथन करना शुरू किया। उसी मंथन में पहले 'अहं ज्ञाता' अर्थात मैं ज्ञानी नामक अहंकाररूपी हलाहल की उत्पत्ति हुई। उसे विवेकरूपी शंकर ने कंठ में धारण कर, पुनः 'मैं' का अहंकार नहीं होगा इसलिये निगल लिया। इस प्रकार अभिमानरहित होकर मंथन कर भक्तिसाररूपी अमृत निकाला ओर उसे श्रीकृष्ण ने कृपा कर उद्धव को अर्पण किया। धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति इन चार पुरुषार्थों से भी श्रेष्ठ भक्तिसारामृत उद्धव के हाथ में दिया। निजबोध का पात्र निजानुभव से स्वच्छ धोकर उसमें यह सारामृत भरकर उद्धव को उसका प्राशन कराया। उससे उद्धव तृप्त हुआ, त्रिविध तापों से मुक्त हुआ परमसुख से सुखी हुआ और ब्रह्मस्वरूप में परब्रह्म से ही मिला। इस प्रकार उद्धव भक्तिसारामृत प्राशन कर परम सन्तुष्ट हुआ। श्रीकृष्ण निजभक्तों पर इस प्रकार कृपा करता था। कृष्ण और उद्धव का यह पूरा संवाद अर्थात भक्तिसारामृत रूपी गुह्यज्ञान, इसका जो श्रवण, मनन और अनवरत चिन्तन से सेवन करेगा, उसके भय से संसारबंधन दूर भाग जायेगा। स्वप्न में भी उसे जन्म-मरण का दर्शन नहीं होगा। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उसकी संगति में रहकर जो इस कथा की भक्ति में रंग जायेंगे उन्हें भी, हे परीक्षित! संसार बंधन की कल्पांत में भी बाधा नहीं होती। जिसकी इस कथा पर पूर्ण श्रद्धा होगी, जिसे इस कथा की लगन होगी, जो इस कथा का अनुष्ठान करेगा वह सारे संसार का उद्धार करने वाला

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होगा। जो सूर्य के घर में रहता है, उसके लिये अन्धकार का अस्तित्व ही नहीं होता और जो उसके ही गाँव में जाकर रहेगा वह भी रात्रि से वंचित रहेगा। जब सूर्य के लिये रात्रि नहीं है तो फिर दिन का उदय कैसे होगा? उसी प्रकार स्वरूप के पास बन्धन और मोक्ष अत्यन्त मिथ्या हैं। उसी प्रकार यदि इस कथा का अनुसंधान नहीं हो पाया, केवल श्रवण ही सम्भव हुआ तो उसे भी संसार बंधन की बाधा नहीं होगी। खैर, उसे भी छोड़ो। जिससे इस कथा का श्रवण भी नहीं हुआ, लेकिन यदि उसने प्रेम से उसका पठन किया तो भी प्रत्येक श्लोक के साथ उसके दुःख और दोष का भस्म हो जायेगा। जिससे श्रवण पठन का प्रयास सम्भव न हो, वह यदि इस ग्रन्थ के निरूपण की बातें गाँठ में बाँध लेता है तो वह भी संसार में देवताओं को वंद्य होगा। अधिक क्या कहें? जिसे इस कथा से प्रेम होगा, जिसे इस कथा से भक्ति होगी, उसकी संगत जिन्हें अच्छी लगेगी, उन्हें भी यम और काल वन्दन करेंगे। इस कथा के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखकर जो इसका सेवन करता है, जो श्रद्धापूर्वक इसका श्रवण और मनन करता है, उससे दूर श्रीकृष्ण कभी नहीं जाते। भोली-भाली कथाएँ सुनकर जिसकी इस कथा पर श्रद्धा होती है, उसके हृदय में श्रीकृष्ण प्रकट होकर वे धीरे-धीरे संसारपाश तोड़ देते हैं। इस प्रकार श्रद्धालुओं के प्रति श्रीकृष्ण प्रभु दयालु है। इसीलिये श्री शुक्राचार्य उन्हें अत्यन्त श्रद्धा से नमन करते हैं।

भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं निगमकृतदुपजह्रे भृङ्गवद् वेदसारम्।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान् पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि॥ ४९॥

संसारभय से त्रस्त होकर जो श्रीकृष्ण की शरण में आये, उनका संसारभय दूर हो इसलिये श्रीकृष्ण ने वेदार्थ का मंथन किया और उपनिषद्धार का भी मंथन कर यह ज्ञान-विज्ञान का रूप सार निकाला। बड़े-बड़े ज्ञाता भी जिसके लिये थक गये वे भी उसका पार नहीं पा सके। तुम कहोगे कि निगमों का मंथन करने के कारण वेदों को कष्ट हुआ होगा, किन्तु कृष्ण वेदों का आदिकर्त्ता होने के कारण उसने वेदों को जरा भी दुःख नहीं होने दिया। जिस प्रकार बछड़ा जब स्वयं ही माँ का दूध पीने लगता है तब उसके पैर नहीं बाँधने पड़ते, उसी प्रकार जब श्रीकृष्ण ही वेदों का मंथन करने लगे, तब वेदों को भी कोई व्यथा नहीं हुई। श्रीकृष्ण सर्वज्ञ था; वेदार्थ का सार निकालने में राजहंस था; उसने वेदों को दुःख दिये बिना वेद का सार निकाल लिया। इस प्रकार मथ कर निकाला हुआ वेदार्थ का सार अथवा ज्ञान-विज्ञान सारामृत कृष्ण ने एकत्र कर कृपापूर्वक भक्तों के कल्याणार्थ अर्पण किया। जिस प्रकार भ्रमर कमल को दुःख पहुँचाये बिना उसका मकरंद आहिस्ते से निकाल लेता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने वेदों का मंथन कर यह शुद्ध सार निकाला है। इस प्रकार कृपालु और भक्तों के हितैषी श्रीकृष्ण ने वेदसारामृत निकाल कर निर्भय होकर अपने भक्तों को दिया। इस प्रकार अपने सेवकों को पूर्ण वेदसारामृत पिलाकर श्रीकृष्ण ने उनका जन्म-मरण और संसार का भय नष्ट कर दिया। माया संसार का मूल कारण है; लेकिन श्रीकृष्ण माया का भी मूल कारण है। 'सच्चिदानन्दघन' नाम का जो स्वरूप है, वही 'श्रीकृष्ण' हैं। माया के योग से मनुष्य वेष धारण करने वाला, पुरुषों में पुरुष श्रेष्ठ, पूर्णज्ञान के कारण ज्ञाननिष्ठ ऐसा जो श्रीकृष्ण है वह समस्त वंद्य पुरुषों में अत्यन्त श्रेष्ठ है। उसे काया, वाचा, मन से सभी प्रकार से अनन्य शरण जाकर श्रीशुक ने स्वयं ही श्रद्धापूर्वक नमस्कार किया। श्रीशुक ने नमन किया यह देखकर परीक्षित के मन में भी प्रेम उत्पन्न हुआ और उसने भी कहा कि भक्त कृपालु केवल एक श्रीकृष्ण ही हैं। उद्धव ने परम निर्वाण प्राप्त किया यहाँ ज्ञानकथा का निरूपण समाप्त हुआ। संसार में भगवद्भजन श्रेष्ठ है क्योंकि श्रीकृष्ण भक्त के अधीन रहता है। भक्तों के मनोरथ श्रीकृष्ण पूरे करता है और अन्त में उसे अपना पद भी देता है। भक्तों पर उसकी इतनी अगाध

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

कृपा रहती है। श्रीकृष्ण निजधाम की ओर चले उस समय यदि उद्धव ने ये प्रश्न नहीं किये होते, तो श्रीकृष्ण ने यह परमामृत का कथन नहीं किया होता। लेकिन उद्धव का संसार पर बहुत उपकार है क्योंकि उसी के कारण श्रीकृष्ण ने भक्ति-ज्ञान-वैराग्य के सार का कथन किया। उद्धव के धर्म से सारा त्रिभुवन संसार समुद्र पार कर लेगा। ऐसे गुप्त ज्ञान का श्रीकृष्ण ने भजन के साथ कथन किया। चारों मुक्तियों की उपेक्षा कर उद्धव ने हरिभक्ति की महिमा बढ़ायी। त्रैलोक्य को पार करने के लिये उद्धव ने इतनी ख्याति बढ़ायी। एकादश स्कंध के बहाने भक्ति और मुक्ति का पौसरा बैठा दिया। जड़ जीवों के उद्धार के लिये उद्धव ने इतनी बड़ी कीर्ति स्थापित की। गाय के स्तन में दूध भरा होता है लेकिन वह बछड़े के बिना हाथ में नहीं आता उसी प्रकार श्रीकृष्ण का पूर्ण ज्ञान उद्धव ने प्रकट किया। कृष्ण और उद्धव का यह संवाद वास्तव में गहन ज्ञान है। उसका व्याख्यान मैं अपूर्ण ज्ञानी कैसे कर पाऊँगा? कृष्ण और उद्धव का यह गहन ज्ञान लोगों तक पहुँचाने में सर्वज्ञ जनार्दन ही सहायक हुआ। श्लोक के पदों के अर्थ की संगति, ज्ञान की परिपाक स्थिति, वैराग्ययुक्त भक्ति और मुक्ति इनकी व्युत्पत्ति मैं नहीं जानता। मेरा 'मैं'पन भी जनार्दन ही बन गया। अतः इस पदार्थ का स्पष्टीकरण करने वाला वही एक है। एकनाथ को एकपन की भावना से ऐक्यता सहज ही सम्भव हुई और 'एका-जनार्दन' इस नाम से यह ग्रन्थ भगवान ने ही तैयार किया। अर्थ करते समय जनार्दन ही मेरी बुद्धि बन गया। उसी प्रकार कवित्वयुक्त पदबंध भी वही बोला। मेरा नाम, रूप, कर्म, गुण आदि मिथ्या ही है; लेकिन वह भी जनार्दन ही बना। 'एकपन' उसे इतना अधिक प्रिय है। नाम से तथा भाव से भी 'एक' होने के कारण जनार्दन प्रसन्न हुआ; उसने मेरे नाम की ही तरह संसार में 'एकपन-ऐक्य' प्रकट किया। 'एका' इस नाम का जनार्दन को इतना अधिक कौतूहल है कि वह एक में ही अनेक प्रकट करता है और अनेक में एक को अविकारी दिखा देता है। जिसका नाम भी एक है और भाव भी एक है उसका भगवान से सदा ऐक्य रहता है। इसलिये आगे वह एक और अनेक देखने पर भी उसमें भिन्नता नहीं रहती। यह एकत्व जब तक प्राप्त नहीं होता, तब तक भगवान को प्रसन्नता नहीं प्राप्त होती और एकत्व के बिना अकर्त्तात्मता भी नहीं मालूम होती। जब तक कर्त्तव्य का अभाव है, तब तक, भगवान कभी नहीं मिलेंगे। अहंकार के ही पास बन्धन रहता है; उसे छोड़ते ही मुक्ति मिलती है। नामस्वरूप में ऐक्य देखना यही मेरा अनुष्ठान है। इसीलिये जनार्दन सन्तुष्ट होकर वह मेरा 'मैं'पन बन गया है। कठपुतलियों के खेल में कुछ पुतलियाँ नाराज होती हैं तो कुछ प्रसन्न दिखायी देती हैं, लेकिन वह सब खेल दिखलाने का कौशल होता है। कठपुतली को उसका अर्थ मालूम नहीं होता। उसी प्रकार मेरे नाम से कविता लिखकर जनार्दन वक्ता बन गया है। इसीलिये इस ग्रन्थ की कथा साधु-संतों को पसन्द है। ग्रन्थ लिखते समय यदि देह की अहंता विद्यमान हो तो एक भी ओवी नहीं लिखी जाएगी। यहाँ जनार्दन ही कर्ता बन जाने के कारण इस ग्रन्थ का अर्थ ठीक-ठीक लग सका। सज्जनों को चाहिये कि वे आत्मदृष्टि से ही इसकी ओर देखें। केवल संस्कृत वन्दनीय है और प्राकृत निंद्य है, यह कहना क्या उचित है? यह भी अभिमान की ही बात है और अहंकार परमार्थ में बाधक है। जौहरी मजदूर लगाकर खान खोदता है और उसमें उसे मूल्यवान रत्न मिलता है; लेकिन यदि वैसा ही रत्न उसे झाड़ू लगाते समय कचरे में मिल जाए तो क्या कोई बुद्धिमान व्यक्ति उसे फेंक देगा? उसी प्रकार संस्कृत पढ़ने के प्रयास में परमार्थ साध्य नहीं होता और अगर देशी भाषा में वह चीज प्राप्त हो जाय तो ज्ञाता उस पर टूट पड़ेंगे। चकोर चन्द्रामृत प्राशन करता है और वही कौवे को खाने के लाले पड़ जाते हैं, उसी प्रकार यह देशी भाषा का ग्रन्थ है। उसका फलीभूत होना ज्ञान और अज्ञान पर निर्भर है। भगवान को भाषा का अभिमान नहीं है, उसके लिये संस्कृत और प्राकृत दोनों एक समान है। जिस भाषा में ब्रह्मज्ञान पढ़ा जाता है, उससे श्रीकृष्ण सन्तुष्ट रहता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

है। यदि सुवर्ण के फूल हों तो उसमें ताजा और बासी का प्रश्न नहीं उठता। उसी प्रकार संस्कृत और प्राकृत ये दोनों भाषाएँ ब्रह्म कथन की दृष्टि से समान ही हैं। संस्कृत भाषा में निन्दा करने से क्या वह पवित्र हो जायेगी? या प्राकृत भाषा में हरिकथा करने से क्या वह व्यर्थ हो जायेगी? नहीं, बिलकुल नहीं। भाषा का जितना भी अभिमान करें, वह वक्ता के लिये बाधक ही होता है। जिस भाषा में ब्रह्म कथन किया जाता है वह भाषा हरि चरणों में पवित्र ही होती है। श्री जनार्दन का यह कवितारूपी बागीचा है जिसमें ब्रह्मरस बह रहा है। इसका माधुर्य संतजन जानते हैं। इसीलिये यह ग्रन्थ इस रूप में तैयार हुआ है। उद्धव के बहाने श्रीकृष्ण ने स्वयं ब्रह्मज्ञान दिया वह संसार बन्धन तोड़कर दीनजनों का उद्धार हो इसलिये वह एकादश स्कंध सरीखा ग्रन्थ जिसमें शुद्ध परमार्थ भरा हुआ है और बड़े-बड़े कवि अपने स्वयं के लाभ के लिये उस पर टूट पड़ रहे हैं। पके हुए फल पर जहाँ तोता चोंच मारता है, वहीं चींटी भी जा पहुँचती है। उसी प्रकार महाकवियों का पीछा करते-करते मैं भी प्राकृत भाषा में अपने हित के लिये पहुँच गया हूँ। सार्वभौम राजा के थाली के पास बड़े-बड़े भी नहीं जा पाते लेकिन मक्खी सहज ही जा पहुँचती है। उसी प्रकार हमें यह प्राकृत ग्रन्थ मिल गया है। पिता के साथ खाना खाते समय बालक मीठा पकवान पहले खाता है, उसी प्रकार महाकवियों के अनुभव का परमार्थ प्राकृत के द्वारा मुझे भी मिला। मुझे सद्गुरुचरण का लाभ हुआ, जिससे यह निरूपण चला। जनार्दन स्वामी अत्यन्त कृपालु हैं। उन्होंने ही यह ग्रन्थ पूरा किया। आप कहेंगे अब परमार्थ समाप्त हुआ, इसके आगे महान अनर्थ है। लेकिन ऐसी बात नहीं है। गुह्य-ज्ञान का अनुभव कैसा होता है यह श्रीकृष्ण स्वयं दिखला देंगे। माता, पिता, स्त्री, पुत्र तथा अन्य लोग, जाति, गोत्र, सुहृद, सज्जन आदि के साथ सारे कुल की मृत्यु हो गयी फिर भी श्रीकृष्ण ने उनके प्रति ममता नहीं रखी। श्रीकृष्ण की आज्ञा को काल भी स्वीकार करता है, इतनी सत्ता होते हुए भी श्रीकृष्ण ने कुल का संरक्षण करने की ममता नहीं की। जो देह से अभिमानरहित है, जिसे कुल की ममता बाधक नहीं होती, वह देह की अहंकारहीनता श्रीकृष्ण अब स्वयं दिखलाने वाले हैं। वह परिपक्व ज्ञान निर्वाण का अत्यन्त मधुर निरूपण, अगले दो अध्यायों में श्री शुक्राचार्य स्वयं करेंगे। ज्ञान-रहस्य की वह निजकथा जनार्दन की कृपा से एकाजनार्दन सुना रहा है। श्रोतागण कृपया मुझे अवधान दें क्योंकि जिस कथा की ओर संत अवधान देते हैं, वह कथा परमार्थ में श्रेष्ठ बन जाती है। इसलिये एकाजनार्दन की प्रार्थना है कि ग्रंथार्थ निर्दोष होने के लिये मुझे अपना अवधान प्रदान करें।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादश स्कंधे भगवदुद्धव संवादे एकाकार टीकायां परमार्थप्राप्तिसुगमोपायकथनोद्धवबद्रीकाश्रमप्रवेशो नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तीसवाँ अध्याय

हे अनादि सद्गुरु! तुम्हारी जय हो। हे सर्वादि सद्गुरु! तुम्हारी जय हो। हे सर्वसिद्धि सद्गुरु! तुम्हारी जय हो। हे कृपालु, हे कृपानिधि! तुम्हारी जय हो। हे वेदवक्ता! तुम्हारी जय हो, हे वेदार्थ प्रकट करने वाले! तुम्हारी जय हो। हे वेद प्रतिपालक तुम्हारी जय हो। हे वेदात्मक! हे वेदज्ञ! तुम्हारी जय हो। हे विश्व प्रकाशक! तुम्हारी जय हो। हे विश्वप्रतिपालक! तुम्हारी जय हो। हे विश्वनिवासक! हे अकर्त्तात्मक अव्यय! तुम्हारी जय हो तुम्हारी स्थिति अक्षर और अव्यय है। तुम्हें नाम, रूप, वर्ण और व्यक्तित्व नहीं है, फिर भी तुम जाति गोत्र में, लोकव्यवहार के अनुसार विचरण करते हो। संसार में तुम्हारा कोई नहीं है, फिर भी तुम गृहस्थ धर्म के अनुसार घरबार बसा कर रहते हो। तुम सचमुच नपुंसक, स्त्री-पुरुष स्थिति विरहित हो फिर भी स्त्रियों तथा बच्चों के साथ रहते हो। तुम अजन्मा होते हुए भी पिता का वन्दन करते हो, उसी प्रकार माता को भी नमस्कार करते हो। संसार में तुम्हें सब एक समान हैं फिर भी शत्रु-मित्र का चुनाव करते हो। तुम जगन्नाथ होते हुए जगच्चालक हो, लेकिन एक के सेवक भी बनते हो। तुम पूर्णात्मा परिपूर्ण हो लेकिन रंक बनकर भीख भी माँगते हो। तुम निष्ठावंत ब्रह्मचारी होकर व्यभिचारी स्त्रियों का उद्धार भी करते हो। तुमने सर्वज्ञ होकर गुरु के घर मस्तक पर घास और लकड़ी भी ढोयी है। कलिकाल का भी संहार करने वाले तुम हौवे के भय से छिप कर भी बैठते हो। हे श्रीकृष्ण! तुम माया के नियंता होते हुए भी अन्त में माया ने ही तुम्हें ओखली से बाँधा। तुम नित्यतृप्त आत्माराम होते हुए गोपालों का भात खाते थे। तुम्हारा अंत ब्रह्मादि देवतागण भी नहीं जानते। फिर भी तुम यशोदा के पास रोते हुए खड़े रहते थे। अपने पेट में पूरे त्रैलोक्य का दर्शन कराने वाले तुम गोपियों की गोद में बैठा करते थे। तुम संसार के चालक श्रीहरि हो, तुम्हें लड़के चलना सिखाते थे। सर्ववंद्य और सर्वेश्वर हो तुम फिर भी तुम सफेद सुअर (वराह अवतार) बने थे। सारांश, तुम्हारे बारे में वेद भी कोई निर्णय नहीं कर सकते। वेद पूरी तरह मौन हो गये। बड़े-बड़े ज्ञाता आये लेकिन वे भी तुम्हारा पता-ठिकाना नहीं लगा सके। योगी जंगल में जाकर बैठे, लेकिन वे भी तुम्हारी महिमा नहीं समझ सके। मुख्यतः जब कृष्ण को जन्म ही नहीं है तो उसकी मृत्यु कैसे दिखायेंगे? इससे सम्बन्धित निरूपण सुनने के लिये परीक्षित के मन में उत्कंठा लगी हुई थी। प्रथमाध्याय में वैराग्य के लिये शापयुक्त मूसल का उल्लेख किया था। वही बात अब ग्रन्थ के अन्त में परीक्षित पूछ रहा है।

राजोवाच

ततो महाभागवत उद्धवे निर्गते वनम्।
द्वारवत्यां किमकरोद् भगवान् भूतभावनः॥ १॥

पाण्डव कुल का रत्न अथवा कौरवकुल का भूषण, जिसने धर्म की रक्षा के लिये कली का निग्रहण किया, ऐसा राजा परीक्षित, धीर, वीर और उदार कीर्ति के रूप से प्रसिद्ध है, उसने स्वमुख से अत्यन्त श्रद्धापूर्वक श्री शुक्राचार्य से विनती की। पूछा कि उद्धव को पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने के बाद जब वह बदरिकाश्रम गया तो उसके बाद द्वारका में श्रीकृष्ण ने क्या किया? उत्पत्ति, स्थिति और लय जो अपनी इच्छा के अनुसार किया करता है, उस श्रीकृष्ण ने अपने देह का विसर्जन किस प्रकार किया?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः।
प्रेयसीं सर्वनेत्राणां तनुं स कथमत्यजत्॥ २॥

श्रीकृष्ण ने ब्रह्मशाप से अपने कुल का निःशेष विनाश किस प्रकार किया? इसे निश्चित रूप से बतायें। लोगों के नेत्रों को आल्हाद देने वाली कृष्ण की छवि अत्यन्त सुन्दर थी। उसे देखकर शंकर भी स्वानंद से झूमने लगते थे। इतने मनोरम शरीर का श्रीकृष्ण ने कैसे त्याग किया? ब्रह्मशाप के भय से उन्होंने अपना शरीर किसलिये छोड़ा? कृष्ण परिपूर्ण ब्रह्म था। उसे शाप बन्धन की बाधा होने लायक नहीं थी; लेकिन उसने भी यादववंश का शरीर त्याग कर ब्रह्मशाप सच कर दिखाया। श्रीकृष्ण को केवल देखने भर से जीवप्राण आनन्द से भर जाता था, उसके सौन्दर्य का वर्णन राजा स्वयं कर रहा है।

प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला यत्र लग्नं न शेकुः कर्णाविष्टं न सरति ततो यत् सतामात्मलग्नम्।
यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं किं नु मानं कवीनां दृष्टवाजिष्णोर्युधि रथगतं यच्च तत्साम्यमीयुः॥ ३॥

जिसकी ग्यारहों इन्द्रियों को निरन्तर माधुर्य लगा रहता था और जिसे भोगते हुए उसकी माधुरी बढ़ती ही जाती थी, जिससे कभी भी अरुचि या उकताहत नहीं होती थी, ऐसी उस कृष्ण की माधुरी असीम थी। बाला, मुग्धा, प्रौढ़ा तथा प्रगल्भा ये चार प्रकार की स्त्रियाँ, एक बार श्रीकृष्ण की मूर्ति देखने पर उनकी दृष्टि पीछे की ओर नहीं मुड़ती थी। जो स्त्रियाँ धार्मिक, धैर्यवान तथा पतिव्रता साध्वी थीं वे भी यदि एक बार कृष्ण की मूर्ति देख लेतीं तो उनकी दृष्टि पीछे नहीं मुड़ती थी। जिन स्त्रियों ने काम को भोगा ही नहीं है या जो अत्यन्त वृद्ध हो जाने के कारण अतिनिष्काम हो गयी हैं; वे भी यदि श्यामसुन्दर हरि का स्वरूप देखती हैं तो उनकी आँखें भी हरिरूप में लुब्ध हो जाती हैं। पानी और नमक से एक बार मेल हो जाय, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति स्त्रियों की दृष्टि एक बार आकृष्ट हो जाय तो फिर वह टूटती ही नहीं थी। आँखों को श्रीकृष्ण दर्शन का पागलपन हो जाता था। लेकिन बेचारी स्त्रियाँ ही क्यों? जो संत, विरक्त और परमार्थी होते, उनके कान पर भी यदि कृष्ण कीर्ति की बात आती थी तो उसकी मूर्ति उनके मन में भी बस जाती थी। कृष्ण की कीर्ति चित्तवृत्ति को इतना अधिक आकर्षित कर लेती थी कि पूरा चित्त ही कृष्णस्वरूप हो जाता था। कृष्ण की कीर्ति संतों को आकर्षित कर लेती थी, इसमें विशेष आश्चर्य नहीं है क्योंकि असंत भी उसकी कीर्ति सुनकर तद्रूप हो जाते थे। चन्दन की हवा लगने से खैर तथा सागवान भी चन्दन हो जाते हैं उसी प्रकार कृष्ण कीर्ति सुनकर सभी का समानरूप से समाधान हो जाता था। श्रीकृष्ण की कीर्ति भक्तिभाव से श्रवण करने से असंत भी संत का पद प्राप्त कर लेते हैं और फिर संत और असंत ये भेद नष्ट होकर दोनों एक जैसे हो जाते हैं। महाकवि कृष्ण की कीर्ति का वर्णन कर परम भाग्यशाली हो गये; ऐसी कृष्णकीर्ति का जो वर्णन करते हैं, वे भी वैसी ही शोभा प्राप्त करते हैं। महाकवियों को नवरस में रँगने वाला एक ही पुरुष श्रीकृष्ण दिखायी देता है। वे जिस विशिष्ट रस का वर्णन करने लगते हैं, वह रस कृष्ण स्वयं ही हो जाते हैं। महाकवि आदि से लेकर काव्यकर्त्ताओं की स्फूर्ति की जननी कृष्णकीर्ति ही है। जो हरिकीर्तन में रंग जाते हैं, उनकी वाणी वंद्य हो जाती है। श्रीकृष्ण का गुणानुवाद गाते समय यदि कोई त्रुटि भी हो जाती है तो भी उस वाणी को शंकर नमन करते हैं। यम और काल भी उनके चरण छूते हैं। जहाँ श्रीकृष्ण कीर्ति का कीर्तन चलता है, वहाँ कर्माकर्म की समाप्ति होकर जन्म-मरण के साथ संसार की बिदाई होती है। इस प्रकार कीर्ति की महिमा सभी दृष्टियों से अगाध है। कृष्णकीर्ति का काव्य भी तीनों लोकों में अत्यन्त पावन है। बड़े-बड़े कवियों द्वारा वर्णन की हुई कृष्ण की कीर्ति सुनने से श्रद्धा और प्रेम की वृद्धि होती है। इसकी कृष्ण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

की भक्ति में वृद्धि होती है। कविता का ऐसा अद्‌भुत सामर्थ्य है। कृष्ण की कीर्ति अगाध है। फिर उसी कृष्णमूर्ति का जो अखण्ड ध्यान करते हैं, वे तद्रूप हो जाते हैं यह कहना आवश्यक नहीं है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि जो उसकी ओर द्वेष से देखते हैं, वे भी मुक्त हो जाते हैं। मेघश्याम श्रीकृष्ण रथ पर सारथी बना था, इसीलिये अर्जुन का पराक्रम 'विजय' नाम से विख्यात है। वह सदा पूर्ण विजय प्राप्त करता था इसलिये अर्जुन को 'जिष्णु' यह नाम मिला है। युद्ध में उसकी प्रतिज्ञा कितनी ही कठिन क्यों न हो लेकिन श्रीकृष्ण उसे पूर्ण करता था। अर्जुन के रथ पर बैठकर रणभूमि में भ्रमण करते समय जिसने भी उसकी मूर्ति देखी वे उसके स्वरूप तक पहुँच गये। जहाँ भी कृष्ण की चरणरज पड़ती थी वहाँ चारों मुक्तियों का उत्सव हो जाता था। ऐसे उस परम पवित्र श्रीकृष्ण का शरीर उसने कैसे छोड़ा? आप कहेंगे कि ब्रह्मशाप के भय से श्रीकृष्ण ने शरीर का त्याग किया होगा, लेकिन यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि कृष्ण परमात्मा पूर्ण ब्रह्म है। किसी को भी ब्राह्मण की अवहेलना, छल, निन्दा अथवा अपमान नहीं करना चाहिये। उनका सम्मान बढ़ाना चाहिये, इसीलिये श्रीकृष्ण ने शरीर त्याग कर ब्राह्मण का शाप सच कर दिखाया कृष्ण परिपूर्ण परमात्मा थे, उन्होंने अपने पूरे कुल का संहार कर ब्राह्मण की बात सच की और उसके शाप के लिये अपने देह का त्याग किया। देह त्याग का वह सारा वृत्तांत योगेश्वर शुक सविस्तार बता रहे हैं और राजा परीक्षित संकल्प का उदक छोड़कर उसे सुन रहा है। पाण्डव कुल में कुलदीपक एक परीक्षित ने ही जन्म लिया था। वह उदक छोड़कर भागवत का परिपाक सेवन कर रहा था। ब्रह्मदेव नारद-व्यास तक भागवत का उपदेश गुह्य और गुप्त ही था। दीनजनों का उद्धार हो इसलिये परीक्षित के बहाने शुक्राचार्य ने उसे प्रकट किया। धर्मराज के वंश में अत्यन्त धार्मिक एक परीक्षित ही था। वह भागवतामृत का अत्यन्त रसिक था और उसे श्रवण करने की अत्यन्त उत्कंठा थी। उस परीक्षित ने इस प्रकार विनती की। तब शुक्राचार्य ने मन में संतुष्ट होकर उससे क्या कहा, सुनें।

ऋषिरुवाच

दिवि भुव्यंतरिक्षे च महोत्पातान् समुत्थितान्।
दृष्ट्वाऽऽसीनान् सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम्॥ ४॥

शुक्राचार्य बोले, हे परीक्षित! उद्धव बदरीवन में जाने के बाद द्वारका में अनेक विघ्न आये। वह तीन प्रकार के उत्पातों से घिर गयी। पृथ्वी पर, अंतराल तथा आकाश में उत्पातों से घिर गयी। पृथ्वी पर, अंतराल तथा आकाश में अर्थात् भूर-भुवर स्वर्लोक में बड़े-बड़े उत्पात उत्पन्न हो गये। दिन में आकाश से तारे टूटकर गिरने लगे और अंतरिक्ष में भूतों ने हाहाकार करना शुरू किया। आकाश में लाठी की तरह सीधे, पीछे फौवारा लगा हुआ तथा आगे चुटिया इस प्रकार तीन तरह के धूमकेतु उत्पन्न हो गये और दिन में सबको दिखायी देने लगे। भीषण आवाज के साथ भूमि कंपायमान हुई। द्वारका नगरी के द्वार में बहुत बड़ा विस्फोट हुआ। तीन दिन तक उस भूकम्प के झटके लगते रहे और उससे सारे मकान हिल गये। आँधी से वृक्ष समूल जमीन पर गिर पड़े। द्वारका में इतने जोर का अंधड़ चला कि उससे लोगों को आँख खोलने में कठिनाई होने लगी। आकाश में नग्न अवस्था में भूत चिल्लाने लगे। आकाश साफ था तभी रक्त की वृष्टि होने लगी। सूर्य और चन्द्रमा में गड्ढे बन गये। ग्रह ग्रहमण्डल से बाहर आ गये। शत्रु के घर में सारे ग्रह एकत्र हो गये। सामने आकाश में दिशाएँ चलती हुई दिखायी दीं। बादल न रहते हुए भी आकाश में जोर की गड़गड़ाहट शुरू हो गयी और बिजली गिरने लगी। जोर-शोर से चीलें मँडराने लगीं और भोजन करने वालों के सामने से थालियाँ ले जाने लगीं। दिनदहाड़े उल्लू बोलने लगे और राजमहल के सामने कुत्तों का रुदन शुरू हो गया। जिस 'सुधर्मा' सभा में संकल्प-विकल्पों की

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

निवृत्ति होती थी, उस सभा में बैठे वीर अचानक ही 'मारो-मारो' कहकर चिल्लाने लगे। उनका यह भाषण सुनकर बड़े-बड़े वीरों को झटका लगा। सभा के सारे यादववीर चिंतित हो उठे। यादव सभा में बैठे थे और उनकी छायाएँ मस्तकविहीन दिखायी दे रही थीं। इस प्रकार 'सुधर्मा' सभा में सकंट आ गया। ऐसे दुःख सूचित करने वाले संकट देखकर यादव उन विघ्नों का विचार करने लगे। द्वारका के विघ्न दूर करने के लिए सुदर्शन की योजना है, ऐसी स्थिति में द्वारका में विघ्न उत्पन्न होने का क्या कारण है? पलक झपकती है, इस बीच सुदर्शन २१ बार द्वारका के चारों ओर घूमता है, तिस पर भी द्वारका पर विघ्न आया देखकर लोग आश्चर्यचकित हो गये। सारे विघ्नों को आकर्षित करता है, इसलिये उसे 'कृष्ण' कहते हैं। वह कृष्ण यहाँ होते हुए ऐसे भीषण उत्पात क्यों हो रहे हैं? इन विचारों से चिंतातुर हुए यादवों को श्रीकृष्ण क्या उपाय बताते हैं, सुनें।

एते घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यमकेतवः।
मुहूर्तमपि न स्थेयमत्र नो यदुपुङ्गवाः॥ ५॥

जो इस संसार का सूत्रधार है, मायायंत्र का चालक है, वह श्रीकृष्ण यादवों के साथ विघ्नों के सम्बन्ध में विचार करने लगा। यादवकुल का अन्त निकट आ गया यह श्रीकृष्ण को मालूम हों गया, लेकिन उनका विनाश द्वारका में न हो इसलिये उसने उन्हें प्रभास भेज दिया। कारण यह था कि द्वारका सातवीं मोक्षपुरी होने के कारण वहाँ की मृत्यु मोक्षदायी होती है; किन्तु सारे यादव 'अधिकारिक' कोटि के थे। उन्हें इतने में मोक्ष न प्राप्त हो इसलिये श्रीकृष्ण ने उन्हें द्वारका से बाहर किया। कुल नाश का मूल जो पटेर था वह प्रभास में उत्पन्न हुआ था। उसमें भी कृष्ण का उद्देश्य था इसलिये उसने उन्हें प्रभास भेज दिया। यादवों को भयानक ब्रह्मशाप लगा था इसीलिये द्वारका में उत्पातरूप में संकट उत्पन्न हुए। अनेक प्रकार के होने वाले वे उत्पात अनर्थ के सूचक हैं, अतः यदि अब विलम्ब करेंगे तो बहुत बड़े संकट में फँस जाएंगे इसलिये आप लोग यहाँ दो घड़ी के लिये भी न रहें। बच्चे, स्त्रियाँ, इष्ट मित्र आदि को लेकर शीघ्र यहाँ से निकल जाइये। 'हम यादववीर अत्यन्त बलशाली हैं, संकट हमारा क्या कर लेंगे?' ऐसा कहेंगे तो उस गर्व का अनिष्ट परिणाम भोगना पड़ेगा ब्राह्मण के शाप के आगे आपका शौर्य क्या करेगा? इसलिये आगा-पीछा सोचे बिना तत्काल निकल जाइये। आज द्वारका में कोई पानी भी न पिये, स्त्रियाँ-बच्चे, नाते-रिश्तेदार आदि सब सपरिवार निकल जायें। हमारे कुल को ब्रह्मशाप लगा है, इसलिये द्वारका पर संकट आया है। कुल के इस पाप को धोने के लिये प्रभास यही पुण्य क्षेत्र है।

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च शङ्खोद्धारं व्रजन्त्वितः।
वयं प्रभासं यास्यामो यत्र प्रत्यक्तसरस्वती॥ ६॥

शंखोद्धार तीर्थ रहने के लिये अत्यन्त सुरक्षित है, वहाँ स्त्रियों, बच्चों को तथा वृद्धजनों को रखें; और शेष सारे यादववीरों को तत्काल प्रभास क्षेत्र के लिये कूच करना चाहिये। वहाँ सरस्वती पश्चिमवाहिनी हो गयी है और समुद्र से मिल गयी है, वहाँ जाकर सब लोग शास्त्रोक्त तीर्थविधि करें।

तत्राभिषिच्य शुचय उपोष्य सुसमाहिताः।
देवताः पूजयिष्यामः स्नपनालेपनार्हणैः॥ ७॥

वहाँ वेदोक्त विधि के अनुसार स्नान करें, तीर्थविधि के अनुसार निराहार व्रत करें। सभी लोग सद्भाव से शुचिर्भूत होकर, शापमुक्त होने के लिये तीर्थ देवताओं का विधिपूर्वक पूजन करें। स्नान, वस्त्र, अलंकार, चंदनादि पूजा साहित्य अर्पित कर षोडशोपचार से श्रद्धापूर्वक हरिहर का पूजन करें।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ब्राह्मणांस्तु महाभागान् कृतस्वस्त्ययना वयम्।
गोभूहिरण्यवासोभिर्गजाश्वरथवेश्मभिः ॥ ८ ॥

तदुपरान्त शांति के लिये वेदवेदांग परांगत शमदमादि तप से युक्त तथा स्वधर्म में तत्पर ब्राह्मणों की पूजा करें। अरिष्ट की शान्ति के लिये जो स्वस्तिवाचन करें उन ब्राह्मणों को श्रद्धापूर्वक दान दें, अत्यन्त श्रद्धा से गोदान, भूमिदान, गजदान, अश्वदान, सुवर्णदान, तिलदान, वस्त्रदान, गृहदान आदि दान दें। रथ में घोड़े जोड़कर वे रथ दान में दें; जिससे ब्राह्मणों को संतोष हो, वह सब कार्य करें। ब्राह्मणों को जो भी चाहिये, वह सब श्रद्धायुक्त बुद्धि से अर्पण करें। ब्राह्मण जहाँ सन्तुष्ट रहते हैं, वहाँ विघ्न प्रवेश नहीं करते।

विधिरेष ह्यरिष्टघ्नो मङ्गलायनमुत्तमम्।
देवद्विजगवां पूजा भूतेषु परमो भवः ॥ ९ ॥

जहाँ हरि का देवतार्चन होता है; जहाँ शालिग्राम शिलार्चन होता है, जहाँ साधु संतों का सम्मान होता है; वही अरिष्टनाशक महापूजा है। जहाँ श्रद्धा भक्ति से ब्राह्मणों की पूजा होती है, जहाँ श्रद्धापूर्वक गौ की पूजा होती है; जहाँ पूर्ण भूतदया का वास होता है; वहाँ विघ्न कभी प्रवेश नहीं करते। अन्धे, अपाहिज, दुर्बल लोगों को जहाँ अन्न मिलता है; जहाँ दीन-दुखी सुखी होते हैं, वहाँ विघ्नों की कभी बाधा नहीं होती। अलौकिक भूत दया यह सकल अरिष्टों का निवारण करती है, तथा परम मंगलप्रकाशक तथा सभी दृष्टियों से सुखदायी है।

इति सर्वे समाकर्ण्य यदुवृद्धा मधुद्विषः।
तथेति नौभिरुत्तीर्य प्रभासं प्रययू रथैः ॥ १० ॥

इस प्रकार मधुकैटभ का संहार करने वाले मधुसूदन मुरारी, परमात्मा श्रीकृष्ण ने सबको प्रभास जाने के लिये कहा। यादवों में जो वृद्ध, ज्ञानी, पुत्र, मित्र, संबंधी और इष्ट लोग थे, उन्होंने श्रीकृष्ण का वचन बड़े आदर से शिरसावंद्य किया। सारी सामग्री लेकर स्त्रियाँ, वृद्ध, बच्चे नौकाओं में बैठ कर शंखोद्धार की ओर चल पड़े। रथ, हाथी आदि तैयार कर तथा चतुरंगी सेना के साथ कृष्ण के साथ सारे यादववीर चल पड़े।

तस्मिन् भगवताऽऽदिष्टं यदुदेवेन यादवाः।
चक्रुः परमया भक्त्या सर्वश्रेयोपबृंहितम् ॥ ११ ॥

यादव प्रभास गये और जितना श्रीकृष्ण ने बताया था उससे भी विशेष स्नान, दान आदि किया। सारे यादवों ने मिलकर भोजन किया और विधिपूर्वक पारन किया। फिर मूल्यवान मद्य मँगवाकर मद्यपान करना प्रारम्भ किया।

ततस्तस्मिन् महापानं पपुर्मैरेयकं मधु।
दिष्टविभ्रंशितधियो यद्द्रवैर्भ्रश्यते मतिः ॥ १२ ॥

तीर्थविधि करके अरिष्टों का निवारण करना था, लेकिन प्रारब्ध की गति कैसी विचित्र थी। इधर उन्होंने मद्यपान शुरु किया। एक बार उसमें रुचि जगने पर लोग उस पर टूट पड़ते हैं। इसमें अत्यधिक उन्माद बढ़ता है। ऐसा मद्य बच्चे और बड़ों ने साथ-साथ पीना शुरु किया। 'मैरेयक' नाम का अत्यन्त मधुर मद्य एक बार मुँह में लगते ही सज्ञान को भी पागल कर देता है। उस मद्य का यादववीर डट कर पान करने लगे। छोटे-बड़े सभी एक-दूसरे को आग्रह करके पीने लगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

महापानाभिमत्तानां वीराणां दृप्तचेतसाम्।
कृष्णमायाविमूढानां संघर्षः सुमहानभूत्॥ १३॥

पहले के अंतरंग मित्र थे लेकिन मद्यपान से मदोन्मत्त होकर अत्यन्त गर्व से एक-दूसरे की निन्दा करने लगे। कृष्णमाया ने उनका ज्ञान नष्ट कर दिया, इससे सभी की बुद्धि मंद हो गयी। उन्होंने आत्मीयता का सम्बन्ध तोड़कर युद्ध ही प्रारम्भ कर दिया। एक-दूसरे को बुरा-भुला कहने से दोनों में ही क्रोध जगा और वे हाथ में शस्त्र लेकर आपस में लड़ने लगे।

युयुधुः क्रोधसंरब्धा वेलायामाततायिनः।
धनुर्भिरसिभिर्भल्लैर्गदाभिस्तोमरर्ष्टिभिः॥ १४॥

क्रोध से आँखें लाल करते हुए उन्होंने तत्काल शस्त्र निकाल लिये और वे महान वीर समुद्र तट पर घनघोर युद्ध करने के लिये उद्यत हो गये। धनुष्य की प्रत्यंचा खींच कर एक-दूसरे पर बाणों की वर्षा करने लगे। अपने ही आत्मीय-स्वजनों के प्राण लेने के लिये तलवार से एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे। कोई भाला उठाकर एक-दूसरे पर मार करने लगे तो कोई जोर-जोर से गदा घुमाकर लाशें बिछाने लगे। किसी ने शीघ्रता में तोमर लिये और संतप्त होकर एक-दूसरे पर रण में टूट पड़े। इस प्रकार चतुरंगी सेना एक-दूसरे से मिलकर परस्पर लड़ने लगे। अपने सामर्थ्य के अनुसार वे समरांगण में हाथी, घोड़ा ले आये।

पतत्पताकै रजकुञ्जरादिभिः खरोष्ट्रगोभिर्महिषैर्नरैरपि।
मिथः समेत्याश्वतरैः सुदुर्नदा न्यदञ्छरैर्दद्भिरिव द्विपा वने॥ १५॥

उन वीरों ने ध्वजों के साथ अनेक रथ और हाथी रण में गिराये। अनेक भैंसे भी रण में मारी गयीं और मृत वीरों के तो ढेर लग गये। मत्त हाथी जिस प्रकार जंगल में एक-दूसरे को दाँत से प्रहार कर टक्कर देते हैं, उसी प्रकार वीर आपस में भिड़ने लगे। इस प्रकार महाशूर यादववीर रण में मत्त हो गये और उन्होंने निष्ठुर होकर एक-दूसरे पर प्रहार कर असंख्य लोगों को रण में गिराया। कृष्णमाया ने उन पर मोहिनी डाल दी; युद्ध में उन्हें अपना हित नहीं दिखायी दिया; बिना किसी कारण के ही उन्होंने परस्पर अपने नाते-रिश्तेदारों का ही विनाश किया। इस प्रकार असंख्य लोगों को रण में मरा हुआ देख कृष्ण के लड़के बौरा गये। जिनमें परस्पर प्रेम था, वे एक-दूसरे से परस्पर युद्ध के लिये आतुर हो उठे।

प्रद्युम्नसाम्बौ युधि रूढमत्सरावक्रूरभोजावनिरुद्धसात्यकी।
सुभद्रसंग्रामजितौ सुदारुणौ गदौ सुमित्रासुरथौ समीयतुः॥ १६॥

जिनमें अत्यन्त प्रीति थी, वे सब निर्वाण युद्ध करने लगे। काल की संहारक गति अत्यन्त भयानक होती है क्योंकि मित्र ही मित्र को काटने लगे। प्रद्युम्न और सांब में अत्यन्त प्रेम था लेकिन इस समय वे परस्पर युद्ध करने लगे। उसी प्रकार अक्रूर और भोडर ने भी युद्ध का श्रीगणेश किया। अनिरुद्ध और सात्यकी भी क्रोध के आवेग में उठे और बाण छोड़कर आपस में युद्ध करने लगे। सुभद्र और संग्रामजीत भी खौआ कर समरांगण में आये और प्रखर बाणों की वर्षा कर रण में उन्मत्त हो गये। कृष्ण का पुत्र और कृष्ण का भाई इन दोनों का ही नाम 'गद' था। उनमें भी क्रोध और ईर्षा उत्पन्न हुई और वे परस्पर युद्ध करने लगे। सुमित्र और सुरथ इन दोनों में भी द्वेष उत्पन्न हो गया और वे भी एक-दूसरे का संहार करने के लिये युद्ध में सम्मिलित हो गये।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अन्ये च ये वै निशठोल्मुकादयः सहस्त्रजिच्छतजिद्भानुमुख्याः।
अन्योन्यमासाद्य मदान्धकारिता जघ्नुर्मुकुन्देन विमोहिता भृशम् ॥ १७॥

यादवकुल के महाबली निशठ, उत्मुकादिक, तथा शतजित, सहस्त्रजित, भानुप्रभृति आदि युद्ध में क्रोध में उबल रहे थे। मद्यपान के कारण गर्व से फूले हुए तथा कृष्ण की माया से मोहित वे यादव अपने सुहृद सम्बन्धियों का विनाश करने लगे। ब्रह्मशाप का प्रहार कितना प्रखर होता है। भाई ही भाई को जान से मारने लगा। कृष्ण की माया से भ्रमित होकर उन्होंने जाति में ही युद्ध प्रारम्भ कर दिया।

दाशार्हवृष्ण्यन्धकभोजसात्वता मध्यर्बुदा माथुरशूरसेनाः।
विसर्जनाः कुकुराः कुन्तयश्च मिथस्ततस्तेऽथ विसृज्य सौहृदम्॥ १८॥

यादवों की प्रमुख जाति तो एक ही थी किन्तु उनमें बड़े बारह भेद थे। वे बारहों जातियाँ युद्ध में सम्मिलित हो गयीं। हे परीक्षित! उनके नाम सुनो। दाशार्ह, सात्वत, अंधक, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, कुंती, कुकुर, विसर्जन, मधुद्र भोग और वृष्णव ये बारह जातियाँ थीं। पहले यादवों की ऐसी प्रतिज्ञा थी कि यदि वे किसी दूसरे से अपनी जाति के बारे में अच्छा या बुरा सुनते तो अपने प्राण तक दे देते थे और अपनी जाति का संरक्षण करते थे। लेकिन इस समय वे ही यादव आत्मीयता को भूलकर, जिनके चरणों पर मस्तक रखना चाहिये उनके भी प्राण लेने के लिये उद्यत हो गये थे।

पुत्रा अयुध्यन् पितृभिर्भ्रातृभिश्च स्वस्त्रीयदौहित्रपितृव्यमातुलैः।
मित्राणि मित्रैः सुहृद्धिर्ज्ञातींस्त्वहञ्ज्ञातय एव मूढाः॥ १९॥

उनका चित्त कृष्ण की माया ने हर लिया था, जिससे वे नितांत बेसुध हो गये थे। उनमें अपने और पराये का अन्तर समाप्त हो गया था। रण में वे इतने अधिक उन्मत्त हो गये थे। भक्तिभाव से जिनके चरणों का तीर्थ लेना चाहिये, ऐसे अपने पिता के मस्तक पर प्रहार करने के लिये भी पुत्र तत्पर हो गये थे। जहाँ अपने भाई को युद्ध में संकट से बचाने के.लिये उसका भाई दौड़कर युद्ध में जाता था, वही भाई इस युद्ध में प्रखर बाणों से एक-दूसरे को पीड़ा पहुँचाने लगे। जिन्होंने बड़े लाड़-प्यार से अपने शरीर पर खेलाया वह चाचा पिता की तरह है, लेकिन उसके ही गर्दन पर तलवार रखकर भतीजा उसका प्राण लेने चल पड़ा लड़की का पुत्र जो नाती है और जिसे मातामह का श्राद्ध करने का अधिकार है वह नाना पर निर्दयता से प्रहार कर उसके प्राण लेने लगा। मामा और भांजा परस्पर मारपीट करने लगे और प्रिय मित्र भी तेज शस्त्रों से एक-दूसरे के प्राण लेने लगे। मित्रों की मैत्री में वे एक-दूसरे पर प्राण देने में भी नहीं हिचकिचाते; लेकिन वही मित्र अब दाँत-होंठ चबाकर प्राण लेने के लिये उद्यत हो गये। उनका आयुष्य समाप्त हो गया था, इसलिये कालसर्प का विष चढ़ गया। सभी मूर्ख बनकर स्वजाति का वध करने लगे।

शरेषु क्षीणमाणेषु भज्यमानेषु धन्वसु।
शस्त्रेषु क्षीणमाणेषु मुष्टिभिर्जह्रु रेरकाः॥ २०॥

घनघोर युद्ध हुआ; भाते में के बाण भी समाप्त हो गये। फिर वे धनुष्य के डंडे से ही एक-दूसरे को मारने लगे। जोर-जोर से प्रहार करने के कारण उनके धनुष भी टूट गये और उनके टुकड़े-टुकड़े हो गये। सारे शस्त्र समाप्त हो जाने के बाद शस्त्रों का युद्ध समाप्त हो गया। तब ब्रह्मशाप से उपजा हुआ पटेर मुट्ठी में भरकर वे उससे एक-दूसरे को मारने लगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ता वज्रकल्पा ह्यभवन् परिघा मुष्टिना भृताः।
जघ्नुर्द्विषस्तैः कृष्णेन वार्यमाणास्तुतं च ते॥ २१॥

यादवों ने पटेर हाथ में लेते ही वे वज्र की दहकने लगे। फिर अत्यन्त प्रखर होकर उन्होंने 'परिधि' की आकृति धारण कर ली। फिर वे उसी से एक-दूसरे को मारने लगे। पहले अन्य शस्त्रों का उन पर कोई प्रभाव नहीं होता था लेकिन पटेर की मार से वे तत्काल मर जाते थे। उस पटेर की मार के आगे यादवों की चल नहीं पा रही थी और वे एक-दूसरे का शिरच्छेद कर गिराने लगे। रण में शेष यादवों को मारने के बाद जो महावीर यादव थे वही बच गये। ये यादव हाथी की तरह उन्मत्त थे और किसी के वश में आने लायक नहीं थे, इसलिये उनका निश्चित रूप से निर्दलन करने के लिये श्रीकृष्ण प्रतिज्ञा पूरी करने की दृष्टि से दौड़ कर गये। उसने उनसे कहा, यह पटेर ब्रह्मशाप से उत्पन्न हुआ है, उसे हाथ भी मत लगाइये, युद्ध की इच्छा छोड़िये, मेरी बात मानिये। इस प्रकार धर्मनीति सुनाकर श्रीकृष्ण उनका निवारण करने लगा लेकिन शेष बचे हुए यादव उसे मारने के लिये उसकी ओर दौड़ पड़े। यह सब कृष्ण की माया की ही लीला थी। उन्हें अचूक मृत्यु प्राप्त हुई। किसी ने कहा, पहले इस कृष्ण की ही पिटाई करें, यह हमें ठगने आया है, कहकर वे हाथ में पटेर लेकर दौड़े। किसी ने कहा, देखते क्या हो, उसका झोंटा पकड़ो, उससे इतना डरते क्यों हो? किसी ने कहा, श्रीकृष्ण को मैं एक ही झटके में गिरा दूँगा।

प्रत्यनीकं मन्यमाना बलभद्रं च मोहिताः।
हन्तुं कृतधियो राजन्नापन्ना आततायिनः॥ २२॥

किसी ने कहा, अरे उसे देखो! उधर बलराम खड़ा हे वही हमारा मुख्य शत्रु है। पहले इसे ही मारें और इस प्रकार यादवों का एक झुण्ड उस पर चढ़ गया। उन दुष्टों में अत्यन्त तेज नशा चढ़ने के कारण वे वज्र सरीखा पटेर हाथ में लेकर बलराम पर चढ़ गये। तब उसका रक्त भी उबलने लगा।

अथ तावपि संक्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन।
एरकामुष्टिपरिधौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि॥ २३॥

शुक्राचार्य परीक्षित से बोले, यादवों पर मृत्यु ने अधिकार जमाया, इसलिये वे आततायी लोग रामकृष्ण को ही मारने के लिये उद्यत हो उठे। वे हमें ही मारने आये हैं यह देख उन्हें भी क्रोध आ गया और वे भी युद्ध करने लगे। उन्होंने भी वह दहकता हुआ परिधि हाथ में लेकर यादवों को अपना पराक्रम दिखाया। रामकृष्ण का विनाश करने के लिये सभी जातियों और सभी गोत्र के लोग उन दोनों पर टूट पड़े। तब कृष्ण कालशक्ति से क्षुब्ध हो गया। अपने सारे कुल का संहार हुआ देख श्रीकृष्ण को अपने कर्त्तव्य पूर्ण होने का विश्वास हुआ।

ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमायावृतात्मनाम्।
स्पर्धाक्रोधःक्षयं वैणवोऽग्निर्यथा वनम्॥ २४॥

प्रारब्ध के अनुसार वे ब्रह्मशाप से ठगे गये। कृष्ण की माया से उनकी बुद्धि का भ्रंश हो गया। मद्यपान के उन्माद और क्रोध से उनका क्षय हुआ। बाँस के द्वीप में बाँस ही एक-दूसरे पर रगड़ कर आग की चिनगारी निकलती है जिससे पूरा जंगल जलकर खाक हो जाता है, उसी प्रकार यादवकुल का विनाश हो गया।

एवं नष्टेषु सर्वेषु कुलेषु स्वेषु केशवः।
अवतारितो भुवो भार इति मेनेऽवशेषितः॥ २५॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार चक्रधारी श्रीकृष्ण ने जब अपने स्वकुल का विनाश किया, तो शेष बचा पृथ्वी का भार भी कम हो गया होगा ऐसा उसे लगा और इससे उसे अत्यन्त समाधान हो गया। जिस प्रकार माली जमीन में अदरक बोता है, पानी डालकर उसकी सेवा करता है और अन्त में उसे खन कर निकाल लेता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण ने भी अपने यादववंश की हालत कर दी। यादवों का उसने ही अपने सामर्थ्य से संरक्षण किया था और उसी ने उन्हें मार भी डाला। इससे मैं ममत्त्व से कितना दूर हूँ इसका उसने दिग्दर्शन कर डाला। कृष्ण समस्त यादवों का प्रतिपालक था; उनके प्रति उसने आज तक ममत्व प्रकट किया था और अन्त में कुल का नाश कर उसने अभिमानरहित होना भी प्रकट किया। अपने साथ-साथ स्त्री-बच्चों का और पूरे कुल नाश करने पर भी ज्ञाता को मोह नहीं उत्पन्न होता। इस नित्यमुक्तता का श्रीकृष्ण ने आचरण कर दिखाया। ज्ञाता के मन में अहंकार तथा ममता नहीं होती, पूरे कुल के साथ पुत्रनाश होने पर भी ज्ञाता को जरा भी दुःख नहीं होता यह श्रीकृष्ण ने दिखला दिया। ब्राह्मण के भयंकर शाप को उसने झूठ सिद्ध नहीं होने दिया। कुलक्षय का काम करने से श्रीकृष्ण को सुख प्राप्त हुआ। यह देखकर बलराम ने भी अपने मन में विचार किया कि मेरा अवतार कार्य समाप्त हो गया।

रामः समुद्रवेलायां योगमास्थाय पौरुषम्।
तत्याज लोकं मानुष्यं संयोज्यात्मानमात्मनि॥ २६॥

फिर बलराम ने भी समुद्रतट पर अटल आसन लगाया और निर्वाण ध्यान प्रारम्भ किया। देह में प्राण को आकृष्ट कर सारा देहाभिमान छोड़ दिया और परम पुरुष का ध्यान करते ही वह भी तद्रूप हो गया। घट का आकाश जिस प्रकार सहज ही महदाकाश हो जाता है, उसी प्रकार देहाभिमान का त्याग करते ही बलराम संकर्षणस्वरूप हो गया। मनुष्यधारी का जो रूप लिया था वह देह निःशेष छोड़ दिया और अपने पहले के स्वरूप में रह लिया। समुद्र तट पर उसने अपना निर्जीव देह त्याग दिया। बलराम का यह निर्वाण देखकर श्रीकृष्ण ने भी अपनी तैयारी प्रारम्भ की।

रामनिर्याणमालोक्य भगवान् देवकीसुतः।
निषसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलम्॥ २७॥

बलराम ने देह त्याग किया यह देखकर श्रीकृष्ण ने भी स्वयं निजधाम जाने की तैयारी की। पृथ्वीपालक, श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण चुपचाप अश्वत्थ के नीचे वीरासन लगाकर बैठ गया। जिसके स्वरूप के माधुर्य से ब्रह्मदेव और शंकर भी पागल हो गये, जिसके दर्शन को छोड़ दृष्टि आधे क्षण के लिये भी दूर नहीं जाती, दृष्टि से स्वाद चखा यह देख रसना मन ही मन तड़फड़ाने लगी। वह उसके कीर्तन रस का स्वाद चटखारे लेकर लेने लगी। बिना प्राशन किये ही अत्यन्त मधुर कृष्णरस जिह्वा चखने लगी तब विषय रस अपने आप ही फीका पड़ गया और संसार नीरस हो गया। श्रीकृष्ण की कीर्ति जब कान में पड़ती है तब त्रिविध तापों की शान्ति होती है और उसके गुणनाम की कीर्ति का वर्णन करने पर चारों मुक्तियाँ दासी बनकर रहती हैं। जिसके चरण कमलों का तुलसी से सुगन्धित हुए मकरंद को नाक से ग्रहण करने से बाकी सारे गन्ध तुच्छ लगने लगते हैं, जिसके देह का स्पर्श होने से देहबुद्धि का नाश हो जाता है, ऐसे आनन्द की मूर्ति जो श्रीकृष्ण है वह शरीर में प्रत्येक अंग को सुखद मालूम होता है। इच्छापूर्वक जिसके चरणों का वन्दन करने से समाधि भी लजा जाती है, वह श्रीकृष्ण अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठकर अत्यन्त सुन्दर लग रहा था। श्रीकृष्ण का वह आखिरी ध्यान शुक्राचार्य को बहुत अच्छा लगा और वे प्रसन्नता से उसके ध्यान का वर्णन करने लगे।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्राजिष्णु प्रभया स्वया।
दिशो वितिमिराः कुर्वन् विधूम इव पावकः॥ २८॥

वह अन्तिम ध्यान पाँच श्लोकों में निरुपित है। ध्यान देकर सुनने वाला श्रोता था परीक्षित और वक्ता था ज्ञानमूर्ति श्रीशुक योनीन्द्र। उस समय पीपल के वृक्ष के नीचे बैठी हुई वह मूर्ति अत्यन्त तेज:पुंज तथा देदीप्यमान थी और उससे दसों दिशाएँ प्रकाशित थीं। न धुआँ, न कोयला और जिसका रंग भी लाल न हो, ऐसी अग्नि की ज्वाला की तरह श्रीकृष्ण के शरीर की कांति सतेज और प्रखर दिखायी दे रही थी। कृष्णमूर्ति की प्रभा से सूर्य और चन्द्रमा का तेज भी फीका पड़ गया। शून्य के कारण आकाश के लिये भी स्थान नहीं बचा क्योंकि सच्चिदानंद का पूरा स्वरूप ही साकार हो गया था। वह मूर्ति चैतन्य तेज और शान्ति रस से ढली हुई थी तथा चतुर्भुज स्वरूप में व्यक्त हुई थी। इससे सभी दिशाओं से कालिमा दूर हो गयी।

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं तप्तहाटकवर्चसम्।
कौशेयाम्बरयुग्मेन परिवीतं सुमङ्गलम्॥ २९॥

सुन्दरस्मितवक्त्राब्जं नीलकुन्तलमण्डितम्।
पुण्डरीकाभिरामाक्षं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥ ३०॥

श्रीकृष्ण की मूर्ति स्वच्छ और स्वयंभू, उसके प्रत्येक अवयव में आकाश प्रतिबिम्बित है; जिससे उसकी नीलमेघ जैसी कांति अत्यन्त तेज:पुंज और सुन्दर दिखायी देने लगी है। श्रीकृष्ण पहले ही मनोहर हैं, तिस पर मेघ श्याम वर्ण और भी खिल उठा है। उसके कारण उसे विशेष सौन्दर्य प्राप्त हो गया था और इसीलिये स्त्री-पुरुषों का ध्यान उसमें लगा रहता था। बेचारे साधारण स्त्री-पुरुषों की कथा का क्या वर्णन किया जाय? परमार्थ के मार्ग पर लगे हुए विरक्त संन्यासी भी उस पर मोहित हो उठते थे। कृष्ण की मूर्ति देखकर वे पागल हो जाते थे। श्रीकृष्ण का दर्शन होते ही शिवा को उसका नित्य ही ध्यास लगा रहता था। पार्वती ने भी अपना मन कृष्ण को ही अर्पण कर दिया था। इस प्रकार मूल से ही अप्रतिम सौन्दर्य, उसमें सुहास्य वदन और कमल जैसे रक्तिम वर्ण के आकर्ण सुशोभित आँखें। मस्तक पर काले केश और उसमें सुन्दर और सुवासिक फूल गुँथे हुए; और उस पर कृष्णरूप अर्थात् काले भ्रमर उन काले बालों में लुब्ध होकर बैठे हुए। कान में मकराकार कुण्डल थे, ऐसी छवि का वर्णन कवि करते हैं; लेकिन वह साकार में भी निर्विकार ही थे क्योंकि उस श्रवण से विकार नष्ट होते हैं। कृष्ण श्रवण प्राप्त होने पर आकार और विकार का विलयन ही होता है। उस कृष्ण के श्रवण में वे पूर्ण देदीप्यमान कुड़ल थे। तत्पसुवर्णकांति दो पीताम्बर शोभायमान थे; एक परिधान किया हुआ और दूसरा प्रावरण के रूप में ओढ़ा हुआ। ब्राह्मण को ही देवता मानने वाला श्रीकृष्ण लक्ष्मी को भी एक ओर रखकर दाहिनी ओर ब्राह्मण के चरण श्रीवत्सलांछन को सुशोभित करता था।

कटिसूत्रब्रह्मसूत्र किरीटकटकाङ्गदैः।
हरिनूपुरमुद्राभिः कौस्तुभेन विराजितम्॥ ३१॥

वनमालापरीताङ्गं मूर्तिमद्भिर्निजायुधैः।
कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पङ्कजारुणम्॥ ३२॥

गले में चमकने वाला कौस्तुभमणि, कमरे में सुशोभित रत्नजड़ित मेखला; गले में लटकने वाला यज्ञोपवीत

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

और पैरों पर लटकने वाली शोभायमान वनमाला; मस्तक पर रत्नजड़ित मुकुट; उसमें चमकने वाले मूल्यवान रत्न कीर्तिमुख के बाहुभूषण और अनेक रत्नों के हार, उपासक के यंत्र जैसी उँगलियों में अँगूठियाँ, उनमें त्रिकोण, षट्कोण के आकार के हीरे जड़े हुए, गले में वैजयंती माला तथा मोतियों की एक लड़ी की माला और उसमें पदक; नानाप्रकार के रत्नों के हार और सुगन्धयुक्त तुलसी की मालाएँ; पीताम्बर रत्नों से जड़ा हुआ जिसके दोनों छोरों में मोतियों की जाली टंकी हुई; कमर में चित्रविचित्र नूपुर शोभायमान हो रहे थे, पैरों में नूपुर की झंकार तथा पैंजनी आदि शोभा दे रहे थे। कमल से भी नाजुक श्रीकृष्ण के चरण थे। इस प्रकार देदीप्यमान कृष्ण अप्रतिम रूप से शोभायमान था। शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि आयुध लेकर वह पीपल के आश्रय में वीरासन लगाकर बैठा था। वह वीरासन इस प्रकार था कि दाहिना पैर नीचे रखकर उस जाँघ पर बायाँ आरक्त चरण रखा हुआ था। सायंकाल के संधि प्रकाश को लज्जित करने वाली तथा बालसूर्य को न्यूनता दिखलाने वाली अत्यन्त देदीप्यमान और कोमल आरक्त कांति श्रीकृष्ण के पैरों की थी।

मुसलावशेषायः खण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा।
मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया॥ ३३॥

अपने कुल की होली खेल सरस्वती के तट पर श्रीकृष्ण पीपल से टेक कर बैठा था, दाहिने पैर पर रखे बायें पैर का उसका आरक्त तलुवा दिखायी दे रहा था। उसे मृग का मुख समझ कर 'जरा' नामक बहेलिये ने उसका निशाना साधा और तीव्र गति से उसके पैर को छेद दिया। ब्राह्मण के शाप से जो लोहे का मूसल तैयार हुआ था उसका चूर्ण करने के बाद यादवों ने लोहे का जो छोटा-सा टुकड़ा बच रहा था उसे समुद्र में फेंक दिया था। समुद्र में एक मछली ने उसे निगल लिया था। उस मछली को 'जरा' नामक बहेलिये ने अपने जाल में फाँस लिया। उसने उस मछली को चीरा, तो उसके पेट में से वह लोहे का टुकड़ा निकला। उस लोहे के टुकड़े का बहेलिये ने बाण बनाया और उस बाण ने श्रीकृष्ण के चरण को भेद दिया। मछली के पेट में से निकले लोहे का बाण तैयार करने से मनचाहा शिकार अवश्य प्राप्त होता है, इस विचार से बहेलिये ने उसका बाण तैयार किया था। श्रीकृष्ण के पैर भेदने का प्रमुख कारण ब्राह्मण का शाप ही था। इसीलिये 'जरा' बहेलिया का वह बाण कृष्ण के पैर में घुसा। लेकिन कृष्ण जरा भी नहीं चौंका। इसके विपरीत, बाण लगते ही उसे प्रसन्नता ही हुई।

चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्विषः।
भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः॥ ३४॥

श्रीकृष्ण के पैर में बाण पूरी तरह घुसते ही 'जरा' बहेलिया का हाथ तृप्त हो गया। उसने कहा, आज मैंने बहुत बड़ा मृग मारा और वह मृग को पकड़ने के लिये दौड़ा। सामने चतुर्भुज पुरुष को देखकर 'जरा' बहेलिया को अत्यन्त भय लगा। उसने मन ही मन कहा, मुझसे बहुत बड़ा पाप हो गया, मैंने एक महान पुरुष को मार दिया। हाय! हाय रे मेरा प्रारब्ध। तुमने मुझसे कितना दुष्ट कृत्य कराया। अब मुझ जैसे महापापी के असाध्य दुःख का कौन निवारण करेगा? संसार का परमात्मा जो श्रीकृष्ण है उस पर मैंने प्रहार किया। मुझ जैसा पाप किसी का नहीं होगा। भय से उसके शरीर में सिहरन होने लगी। उसने कहा, मेरे हाथ से बहुत बड़ा पाप हो गया। संसार को जो ध्येयस्वरूप है, उसे ही मैंने ताप दिया। देवता भी जिसके चरणों का वंदन करते हैं, संत जिसे साक्षात दण्डवत करते हैं, उस श्रीकृष्ण को ही मैंने बाणों से घायल कर दिया। इससे मुझे भयानक पातक लग गया। कभी आत्महत्या करने पर वह पाप कभी नहीं गिरता और सारे संसार का प्रिय आत्मा जो श्रीकृष्ण है,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उसकी हत्या याने कितनी बड़ी आत्महत्या का पाप मुझ पर लग गया? सारे संसार की आत्महत्या करने वाला मैं पूर्णरूप से पातकी हूँ। इस पाप से निवृत्त होने का कोई प्रायश्चित्त मुझे नहीं दिखायी देता। गलती से ब्रह्महत्या होने पर, उस पाप में समूल डूब जाता है, और मैं मूर्ख पूर्ण ब्रह्म को ही तीव्र बाणों से घायल कर बैठा। मैं मूलतया पापी बहेलिया हूँ; उसमें मैंने एक अपरिमित पाप जोड़ लिया। चित्स्वरूप जो कृष्ण परमात्मा है, उसे भी मैंने दुःख दिया। इस पश्चात्ताप से वह इतना अधिक व्याकुल हो उठा कि उसने दौड़कर कृष्ण को साष्टांग दण्डवत किया और उसके चरण मस्तक से लगा लिये। दैत्यों का अभिमान दूर करने वाले, मधु दैत्य का नाश करने वाले मधुसूदन के पैर कस कर पकड़कर वह जोर-जोर से रोने लगा। उसने उनके पैर कस कर पकड़ लिये, उसे उठाने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं उठा; और कृपादृष्टि से मुझे क्षमा करें, संसार में दयालु केवल तुम हो, इस प्रकार विनती करने लगा।

अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन।
क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽघ॥ ३५॥

अत्यन्त भयभीत हुआ वह जरा बहेलिया बोला, मैं अत्यन्त दुष्ट पापात्मा हूँ, यह अपराध मुझसे अनजाने में हुआ। मेरे हाथ से ईश्वर लिंग भंग हुआ। जो ईश्वर प्रतिमा का उच्छेद करता है, वह मूर्तिभंग करने वाला महापापी है। दुर्भाग्य से तुझ ईश्वर को मुझ दुष्ट ने बाण से मारा। ऐसा मैं पापकर्ता महापापी हूँ। मेरे पाप जैसा अन्य कोई उदाहरण नहीं है। अतः हे पुरुषोत्तम! हे कृपालु! मेरा अपराध क्षमा करें। त्रिभुवन में तुम ही सच्चे कृपालु हो। तुमने परीक्षित का गर्भ में संरक्षण किया और हे कृपामूर्ति! गजेन्द्र के आतंक के समय तुम ही रक्षार्थ कूद पड़े थे। जब पाण्डव लाक्षागृह में थे, उस समय विवर के द्वार से तुमने ही उन्हें बाहर निकाला। अन्त में अर्जुन का पक्ष लेकर तुमने ही भीष्म से युद्ध किया। द्रौपदी के असाध्य संकट में तुमने ही दौड़कर उसे तिल भर भी नग्न नहीं दीखने दिया। उसकी पहनने वाली साड़ी तुम बने। तुम्हारी कृपालुता की कहानियाँ वेद और पुराण भी वर्णन करते हैं। बड़े-बड़े सिद्ध महर्षि उत्तम श्लोक में तुम्हारी कीर्ति का गायन करते हैं। अनजाने में मैंने दुष्कर्म किया, उसके लिये मुझे क्षमा करें। हे पुरुषोत्तम! तुम परमात्मा होने के साथ ही कृपालु और क्षमाशील हो। अजामिल दुराचारी था। उसने केवल तुम्हारे नाम का उच्चार किया, तभी उसका पाप भस्म हो गया। निष्पाप करने के सम्बन्ध में तुम्हारे नाम का इतना अधिक महत्त्व है। दुर्बुद्धि लोग नाम से ही निष्पाप हो जाते हैं। पितृघाती भी नाम से निष्पाप होते हैं; दुराचारी भी नाम से तर जाते हैं। तुम्हारे नाम की इतनी अधिक ख्याति है।

यस्यानुस्मरणं नृणामज्ञानध्वान्तनाशनम्।
वदन्ति तस्य ते विष्णो मयासाधु कृतं प्रभो॥ ३६॥

जिस विष्णु का नामस्मरण कोटि-कोटि जन्मों का अज्ञान नष्ट कर सभी प्रकार का कल्याण करता है, इतनी जिसके नामस्मरण की योग्यता है, उसके शरीर को मैंने अपने हाथ से निर्वाण बाण से विद्ध किया। यह पूर्णरूप से मेरा अपराध है। साधु-सज्जन जिसके महात्म्य का निरन्तर वर्णन करते हैं, जो स्वरूप से सच्चिद्धन है, ऐसा वह श्रीकृष्ण सारे जगत का स्वामी है। श्रीकृष्ण का अर्थ है संसार का जीवन, ऐसे कृष्ण को भी मैंने निर्वाण बाण से घायल किया। मेरा यह बहुत बड़ा अपराध है। कृष्ण तो पूरे त्रैलोक्य का समर्थ राजा है, मेरे हाथ से यह राजघात हुआ। उसी प्रकार श्रीकृष्ण संसार का होने के कारण मैंने आत्मघात भी किया। श्रीकृष्ण संसार का पिता है, अतः मैंने पितृघात भी किया। संसार का प्रतिपालन करने के कारण श्रीकृष्ण इस संसार की माँ है, अर्थात् मैंने

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मातृघात भी किया। श्रीकृष्ण ब्रह्मवेत्ता होने के कारण ब्राह्मण हैं, अत: मैंने ब्रह्मवध भी किया। इस अपराध से बड़ा दूसरा कोई अपराध संसार में नहीं है। राजघात, आत्मघात, मातृघात, पितृघात, ब्रह्मघात ये सारे ही घात श्रीकृष्ण को बाण से विद्ध करने के कारण मेरे हाथ से हुए।

तन्माऽऽशुजहिवैकुण्ठपाप्मानं मृगलुब्धकम्।
यथा पुनरहं त्वेवं न कुर्यो सदतिक्रमम्॥ ३७॥

हे श्रीकृष्ण! ऐसे मुझ सरीखे पापात्मा को आप क्षमा करें। इस पाप का क्षालन हो सके ऐसा कोई उपाय तत्काल बताइये तुम्हारे केवल कृपा करने से इस पाप का दोष दूर नहीं होगा अत: जब तुम मेरा वध करोगे तभी मैं शुद्ध हो सकूँगा। मैं बहेलिया, मूल से ही पापबुद्धि हूँ; मृग का लोभी होने के कारण पशुओं का शिकार करता हूँ; तुम अपने हाथ से मुझे मारो, तभी मेरा उद्धार होगा। हे पुरुषोत्तम! जिस देह से मैंने पापकर्म किया, उस देह का ही तुम नाश करो ताकि भविष्य में उसके हाथ से कोई ऐसा असत्कर्म या अधर्म न हो। तुम्हारे पैर में बाण मारकर, इस देह से बहुत बड़ा पाप हुआ है। इसलिये हे श्रीकृष्ण! इस देह का ही तुम वध कर दो, तभी उस महापाप की निष्कृति होगी। जिस देह ने पापाचरण किया उसका सच्चा प्रायश्चित्त यही है कि तुम अपने हाथ से उसे भिक्षा दो और यह कहकर उसने उनके पैर कसकर पकड़ लिये। देह ने यह पापाचरण किया है, और देह का लोभी पूरी तरह पापी है। इसलिये तुम स्थूल, लिंग और कारण इन तीनों देहों का अपने तेजस्वी चक्र से छेदन करो।

यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरिञ्चो रुद्रादयोऽस्य तनया: पतयो गिरां ये।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्ज: कि तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीम: ॥ ३८॥

देहोत्पत्ति का मूल स्थूल, सूक्ष्म और कारण है। किन्तु हे श्रीकृष्ण! इन तीनों प्राकृत देहों को स्पर्श किये बिना तुम अप्राकृत चतुर्भुज देह धारण करते हो। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों देहों को तथा प्रकृति के तीनों गुणों को स्पर्श किये बिना तुम अपनी योगमाया के सामर्थ्य से नानाप्रकार के अवतार देह धारण करते हो। तुम्हारे लीला देह विचित्र हैं। मत्स्य, कूर्म, वराह होते समय तुम्हें जरा भी संकोच नहीं होता। तुम्हें जन्मों का भय ही नहीं है। जहाँ एक जन्म प्राप्त होने में ब्रह्मदेव आदि बिलकुल दीन हो जाते हैं वहीं तुम आत्मसामर्थ्य से अनेक अवतार अर्थात् जन्म धारण करते हो। प्रारब्ध के अनुसार देह को नाना प्रकार के भोग भोगने पड़ते हैं, लेकिन तुम श्रीकृष्ण! प्रारब्ध के बिना ही नाना प्रकार की भोग सम्पत्ति का उपभोग करते हो। जब तक आयु है, तब तक देहधारण है, यह वेदों ने निश्चित कर रखा है, लेकिन तुम्हारी लीला विचित्र है। तुम आयु के बिना ही देह धारण करते हो। काल की सत्ता परम असाध्य है। ब्रह्मदेवादि देवताओं को भी मृत्यु से छुटकारा नहीं मिलता। लेकिन तुम काल और समय न होते हुए भी स्वेच्छा से मरण का वरण करते हो। तुम्हारा योगमाया का जो योगमार्ग है, और लीला के कारण देह की जो स्थिति है, वह सबकी समझ के बाहर है। उसका भी कारण सुनो। ब्रह्मदेव संसार का आदिकर्ता है, लेकिन उसे भी तुम्हारी सत्ता समझ में नहीं आती। तुम नाना अवतारों के देह धारण करते हो। उन देहों का कर्त्ता ब्रह्मदेव नहीं है। तुम अपनी लीला से किस प्रकार देह धारण करते हो? अवतार चरित्र कैसे निभाते हो? और उस दिव्य देह का किस तरह त्याग करते हो? यह ब्रह्मदेवादि देवताओं की भी समझ में नहीं आता। जिसे तुम अत्यन्त पूज्य मानकर सम्मान प्रदान करते हो उस त्रिकालदर्शी सदाशिव को भी तुम्हारी करनी अतर्क्य है। सदाशिव की विनती से तुम दूसरी बार मोहिनी बने लेकिन यह बात शिवा को नहीं मालूम हुई। वह तत्काल उस पर मोहित हो गया। योग और ज्ञान में पारंगत ब्रह्मज्ञानी सनकादिक जो माया का परदा दूर कर आत्मस्वरूप में निश्चिंत रहते हैं,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

उन्हें भी हे श्रीकृष्ण! तुम्हारी लीला का सामर्थ्य समझ में नहीं आता। उन्होंने वैकुण्ठ में क्रोध में जय-विजय को शाप दिया था। वेदशास्त्रों में पारंगत बृहस्पति आदि जो वाणी के नियंता हैं, उन्हें भी हे श्रीकृष्ण! तुम्हारी लीला का खेल समझ में नहीं आता। जब परमार्थ के सज्ञान ज्ञाता तुम्हारी अवतार शक्ति का आकलन नहीं कर पाते, तो फिर इन्द्रादि देवताओं को वह स्थिति कैसे मालूम हो पायेगी? हे जगजेठी श्रीकृष्ण! इन्द्रादि देवताओं को स्वर्ग के दिव्य भोगों की लालसा होने के कारण उनकी आँखों पर माया का आवरण रहता है, उन्हें तुम्हारी लीला की बात समझ में नहीं आती। फिर अविद्यात्मक देह धारण करने वालों को इस बात का ज्ञान कैसे होगा? हे श्रीकृष्ण तुम्हारी लीला सबको सभी दृष्टियों से अतर्क्य है। ब्रह्मज्ञान भी सहज ही प्राप्त किया जा सकता है लेकिन तुम्हारी अपनी ही लीला से देह धारण करना इसका पूर्ण आकलन बड़े-बड़े ज्ञाता भी नहीं कर पाते। तिस पर मैं तो अधम पुरुष हूँ, अतः तुम्हारी लीला का वर्णन करना मेरे लिये असम्भव है। अब यह सब कहना व्यर्थ है। कृष्णा! मेरे देह को दण्ड देकर मेरे पाप का निवारण करो। तुम्हारे हाथ से दण्ड पाने से मेरे सारे पापों का क्षालन होगा। इसलिये मेरा उद्धार करने के लिये मुझ पर इतनी कृपा कीजिये। इतना कहकर उसने साष्टांग दण्डवत किया और दौड़कर उसके दोनों पैर पकड़ लिये। यह स्तवन सुनकर श्रीकृष्ण कृपा से सन्तुष्ट हो गये।

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम्॥ ३९॥

वेदों से मंथन किया हुआ बोध; जो जगत का आनन्दकंद है, जो स्वरूप से शुद्ध आनन्द है वह श्रीकृष्ण कृपामय होकर ब्याध से बोला, तुम जीवों का शिकार करने वाले बहेलिया हो और मुझ पर किये अपराध के कारण भयभीत हो, किन्तु मैं तुम्हें अभय देता हूँ, क्योंकि तुमने मेरा बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न कर दिया है। लड़कों ने सांब को स्त्रीवेश दिया था, उस कपट के कारण ब्राह्मण को कोप हुआ जिसके कारण यादव कुल को ब्राह्मण का शाप लगा। यह त्रिविध संकल्प मेरा ही है। उस शाप में शेष बचा हुआ लोहा, उसका बाण बनाकर तुमने मृग के शिकार के लोभ में मेरे पैर को घायल कर दिया; उसके लिये भी मेरा संकल्प ही कारण है। बुद्धि की अनादि बुद्धि मैं हूँ, क्रिया की क्रिया भी सचमुच मैं हूँ, ऐसा होते हुए तुम व्यर्थ के अभिमान से स्वयं को अपराधी मान रहे हो। किन्तु मेरा दर्शन ही इस पाप का प्रायश्चित्त है। मेरे एक नाम से कोटि-कोटि महापातक जलकर नष्ट हो जाते हैं। तुमने मुझे देख लिया, मेरा दर्शन तुम्हें बड़े भाग्य से ही हुआ। क्षणार्ध की मेरी भेंट के लिये कोई गिरिकन्दराओं में जाते हैं, कोई योग-याग का प्रयास करते हैं तो कोई हठयोग का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार के नाना प्रकार के प्रयासों से कोटि-कोटि कल्प तक कष्ट सहने पर भी स्वप्न में भी मेरी भेंट नहीं होती। तुमने तो मुझे प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देख लिया। मेरा दर्शन होने से समस्त पापों का नाश होता है अतः तुम पूर्ण रूप से पुण्यात्मा ही हो। व्यर्थ में अपने मन में पाप का अभिमान मत रखो। पापाभिमान से नरक प्राप्ति, पुण्याभिमान से स्वर्गप्राप्ति और अभिमानरहित होने पर मेरी प्राप्ति होती है, इस मेरी वचनोक्ति को सत्य समझो। तुम्हें लगता है कि श्रीकृष्ण परब्रह्म और परमात्मा है, उसे मैंने तीक्ष्ण बाण मारा यह अत्यन्त घोर और अनिवार्य पातक है। किन्तु लोहे का और पारस का मिलन होने पर लोहा सुवर्ण बन जाता है; लोहे का हथौड़ा यदि पारस पर मारें तो भी उसके आघात से वह सुवर्ण ही बन जाता है; उसी प्रकार भक्ति से मेरी भेंट होने पर पातक पलक झपकते ही नष्ट हो जाते हैं अथवा द्वेष से भी मेरी ओर देखने पर पातक नष्ट हो जाते हैं। औरों का अपराध करने पर प्राणियों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

का अधःपतन होता है, लेकिन मेरा अपराध करने पर अपराधी को नित्यमुक्ति ही मिलती है। मेरा अपराध करने से यदि नरक प्राप्ति होती है तो मेरा सारा सामर्थ्य व्यर्थ ही समझो। तो मेरे अपराध से उसे सुख ही प्राप्त होता है और वह मुक्ति वैभव तक पहुँच कर भयमुक्त होता है। वह यदि विष भी प्राशन करे तो अमर होने से कोई नहीं रोक सकता। उसी प्रकार द्वेष से भी वह मेरा दर्शन करे तो वह प्राणी को पावन ही करता है। जानबूझ कर घर में आग लगाने से वह पूरे घर को भस्म कर देता है अथवा अनजाने ही छप्पर पर अग्नि रखने से भी वही बात होती है। उसी प्रकार पूर्ण भक्ति से हो या द्वेष से हो जिसे मेरे दर्शन होता है वह अत्यन्त पावन हो जाता है। मेरा निजधाम जाने का कार्य तुमने अनायास ही सरल कर दिया है, इसलिये मैं तुमसे अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। तुम तीनों लोकों में परम पावन हो। जिसे तुम पूर्ण पातक समझते हो, जिस देह से तुमने मुझे बाण मारा, उसी देह से तुम स्वर्ग के भूषण बनकर देवताओं में भी वन्दनीय होगे। यज्ञ करके याज्ञिक लोग पतनात्मक सुख प्राप्त करते हैं लेकिन तुम्हारे साथ वैसा नहीं घटेगा। तुम अक्षय सुख ही प्राप्त करोगे। हे बहेलिये! मन के सारे संशय मिटा कर तुम शीघ्र उठो मेरी बातें मिथ्या नहीं हैं, तुम अक्षय सुख प्राप्त करोगे। अब तुम शायद मन में यह कहोगे कि आप तो निजधाम जा रहे हैं, फिर मैं आपके बाद अक्षय सुख किससे माँगूँगा? लेकिन मेरी आज्ञा औरों की तरह नहीं है। तुम निश्चित रूप से अक्षय सुख प्राप्त करोगे। मेरी आज्ञा के कारण ही आज ध्रुव अपने पद पर स्थिर है। कलिकाल भी मेरी आज्ञा का वन्दन करता है। उसे कोई भी विकल नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण के मुख से ये शब्द निकलने की ही देर थी कि तब तक बहेलिये के लिये एक बड़ा-सा विमान नीचे उतरा।

इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा।
त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ॥ ४०॥

देवता और दावन जिसकी निरन्तर पूजा करते हैं, जो चराचर व्यापक परमात्मा है; जो लीला से देह धारण करता है, बड़े-बड़े योगी जिसे वंदन करते हैं; ऐसे अत्यन्त श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने जरा बहेलिये को आज्ञा की; तभी कृष्ण की आज्ञा से जो देदीप्यमान विमान आया था उसे देखकर जरा के मन में अत्यन्त आनन्द हुआ और वह श्रीकृष्ण को तीन प्रदक्षिणा कर तथा उसे नमस्कार कर विमान में चढ़ गया। इस प्रकार बहेलिया विमान में बैठकर इन्द्र, चन्द्र आदि ग्रहों को पीछे छोड़ कृष्ण की कृपा से उससे भी ऊपर के स्वर्ग में, वहाँ अक्षय सुख में पहुँचा। जिसने पूर्ण उपकार किया, उस पर उपकार ही करना चाहिये, यह सच्चे शान्ति ज्ञान का लक्षण श्रीकृष्ण ने स्वयं आचरण करके दिखलाया। ब्रह्मज्ञान की बकवास करने वाले अनेक होते हैं, लेकिन श्रीकृष्ण वैसे नहीं थे। उन्होंने स्वयं वैसा आचरण कर बहेलिया का उद्धार किया। सारे कुल का संहार हो गया किन्तु श्रीकृष्ण ने मोह नहीं किया और जिसने स्वयं बाण मारकर घायल किया था, उस बहेलिया को भी सुखी कर दिया। उधर समुद्र के तट पर दारूक रथ आकर खड़ा था। उसे श्रीकृष्ण नहीं दिखायी दिया, इसलिये वह उसकी खोज में निकल पड़ा।

दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छन्नधिगम्य ताम।
वायुं तुलसिकामोदमाघ्रायाभिमुखं ययौ॥ ४१॥

कृष्ण कहीं दिखाई नहीं दे रहा था, इसलिये दारुक का मन छटपटा रहा था। वह कृष्ण के पगचिह्नों को देखते हुए आगे चलने लगा। तभी कृष्ण के गले की तुलसी माला की गन्ध उसे अपनी ओर आकर्षित करने लगी। सुवास के ही आधार पर वह आगे बढ़ा, तभी उसे दिव्यप्रकाश दिखायी पड़ा।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतं ह्यश्वत्थमूले कृतकेतनं पतिम्।
स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो रथादवप्लूत्य सबाष्पलोचनः॥ ४२॥

इतने में तेजस्वी प्रकाश से युक्त दिव्य आयुधों के साथ मेघश्याम श्रीकृष्ण उसे दिखाई पड़ा। अश्वत्थ के नीचे वीरासन लगाकर बैठा हुआ तथा अपनी प्रभा से सतेज दिखाई देने वाला श्रीकृष्ण दारुक को दिखाई दिया। कृष्ण को देखते ही वह तत्काल रथ से कूछ पड़ा और अंतःकरण के अत्यन्त प्रेम से उद्वेलित होकर उसने श्रीहरि के चरण पकड़ लिये। उसकी आँखों से अश्रुओं की धारा बहने लगी और उसका शरीर थर-थर काँपने लगा। वह बोला, हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे बिना आँखों के आगे अन्धकार छा रहा है।

आपश्यतस्त्वच्चरणाम्बुजं प्रभो दृष्टिः प्रणष्टा तमसि प्रविष्टा।
दिशो न जाने न लभे च शान्तिं यथा निशायामुडुपे प्रणष्टे॥ ४३॥

हे प्रभो, श्रीकृष्ण! सुनो। तुम्हारे चरण नहीं दिखाई देते तो आँखों को पूरा संसार ही नहीं दिखाई देता। फिर दिशाओं की गणना कौन करे? ज्ञान के साथ विवेक भी नष्ट होता है। जरा भी सुख नहीं मालूम होता। तुम्हारे न दिखायी देने से मैं जड़, मूढ़ और मूर्ख होकर रह गया हूँ। जिस रात्रि में चन्द्रमा का उदय नहीं होता ऐसी अमावस्या के बीहड़ अँधेरे में जैसी अवस्था होती है, उसी प्रकार हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे बिना संसार में सर्वत्र अँधेरा ही छा जाता है। किन्तु तुम्हारे चरण दिखाई देते ही, जिस प्रकार सूर्य के किरण फैलते ही अँधेरे के साथ रात्रि समाप्त होती है, उसी प्रकार सारा अज्ञान नष्ट हो जाता है।

इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलाञ्छनः।
खमुत्पपात राजेन्द्र साश्वध्वज उदीक्षतः॥ ४४॥

दारुक इस प्रकार विनती कर रहा था, तभी उसे एक अत्यन्त अद्भुत और अलौकिक आश्चर्य दिखाई पड़ा। वह यह कि पास में खड़ा रथ बिना पंख के ही आकाश में उड़ गया। चारों घोड़ों के साथ, गरुड़ध्वज के साथ वह श्रीकृष्ण का रथ दारुक के देखते-देखते ऊर्ध्व गति से आकाश में उड़ गया। शुक कहते हैं, हे परीक्षित! श्रीकृष्ण निजधाम जाते समय अपना ऐश्वर्य और सम्पत्ति स्वेच्छा से ऊर्ध्व गति से ले गये। इस लोक में अपनी कीर्ति कायम रख वे अपना वैभव और विलास सम्पत्ति तथा अपनी शक्ति सँभालकर अपनी सत्ता से ऊर्ध्वगति से ले गये।

तमन्वगच्छन् दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च।
तेनातिविस्मितात्मानं सूतमाह जनार्दनः॥ ४५॥

वह रथ ऊर्ध्व मण्डल में जातें ही शंख, चक्र, गदा, पद्म, ये आयुध भी तत्काल उनके पीछे-पीछे चल पड़े। यह देखकर दारुक आश्चर्यचकित रह गया। उसने मन ही मन कहा, मैं नित्य जिसकी धुरा पर बैठकर श्रीकृष्ण का रथ हाँकता था, वह रथ कृष्ण आकाश मार्ग से ले जाकर मुझे यहाँ क्यों छोड़ गये? मुझे यहाँ छोड़कर श्रीकृष्ण अपने दिव्य अस्त्र भी ले गये। मैं अभागा था, इसीलिये श्रीकृष्ण ने मेरी उपेक्षा की। मैं रथ से कूद पड़ा यही मैंने गलती की। अन्यथा मैं भी रथ के साथ ही आकाश में गया होता। श्रीकृष्ण मुझ पर क्यों नाराज हो उठे? जिसने पैर पर बाण मारा उस बहेलिया का भी उद्धार किया और मैं भाग्यहीन, अभागा, इसीलिये श्रीकृष्ण ने मेरा त्याग किया। श्रीकृष्ण नित्य मुझे दिखायी देता था, धुरा पर बैठकर मैं उसके अश्व हाँकता था। वह मैं अब कृष्ण के बिना रह गया। सारांश, मेरा ही भाग्य खोटा था। मैं श्रीकृष्ण का सारथी, सारे त्रिभुवन में लोग मुझे जानते थे,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वही मैं अब अलग-थलग पड़ गया। श्रीकृष्ण मुझसे क्यों रुष्ट हो गये? जीवनपर्यंत कृष्ण का सुख भोगा अब वियोग का दुःख भोगना पड़ा। कृष्ण! तुमने मुझे क्यों वंचित किया? मैं तुम्हारा दीनदास हूँ। मेरे शब्द की तुमने आज तक कभी भी उपेक्षा नहीं की। उसे ही श्रीहरि! तुमने अब दूर ढकेल दिया? अपराधी बहेलिये को भी तारा; अश्वध्वज के साथ रथ को भी आकाश में ले गये और मेरा उद्धार करने में क्यों हिचकिचा रहे हो? इस प्रकार वह अत्यन्त व्याकुल हो गया। श्रीकृष्ण के मुख की ओर देखकर उसे रुलाई आ गयी। आँखें आँसुओं से भर आयीं। दारुक फुक्का फाड़कर सर नीचा करके रोने लगा। फिर बोला, अन्त में श्रीकृष्ण मुझसे विन्मुख हो गये, इसका मुझे अत्यन्त दुःख है। वह दुःख से छटपटाने लगा। हाथ से सिर पीटने लगा। हे विधाता! मर जाओ। मेरे ललाट पर तुमने यह क्या लिख दिया? फिर वह श्रीकृष्ण नाथ से बोला, तुम्हारे आगे विधाता की क्या बिसात है? मैं यदि तुम्हें छोड़कर रहा, तो अत्यन्त दीन-हीन हो जाऊँगा। श्रीकृष्ण! तुम्हारे सामर्थ्य पर मैं कलिकाल को भी डाँट-फटकार देता था; उसे ही तुमने काल का दास और संसार पर पोषित बना दिया। उसका यह भाषण सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा, "तुम डरो मत।" और उसे गुप्त सलाह देकर वहाँ से चला गया। देखो! काल की गति के अनुसार आज तुम ही मेरे निकट के रह गये हो। तुम्हें मैंने अपने काम के ही लिये रख लिया। तुम अब शीघ्र द्वारका जाओ।

गच्छ द्वारवतीं सूत ज्ञातीनां निधनं मिथः।
संकर्षणस्य निर्याणं बन्धुभ्यो ब्रूहि मद्दशाम्॥ ४६॥
द्वारकायां च न स्थेयं भवद्भिश्च स्वबन्धुभिः।
मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति॥ ४७॥
स्वं स्वयं परिग्रहं सर्वे आदाय पितरौ च नः।
अर्जुनेनाविताः सर्व इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ॥ ४८॥

द्वारका जाकर यादव आपस में कलह करके मर गये, यह पूरा वृत्तांत लोगों को दे दो। उसी प्रकार बलराम द्वारा योगगति से देह विसर्जन करने की बात, तथा मेरी अवस्था के बारे में भी बताना। तुम वहाँ जाकर सबसे कह दो कि वे द्वारका में न रहें, शीघ्र बाहर निकलें, यह मेरी आज्ञा उनसे कह दो। द्वारका छोड़कर जाने का कारण तुम्हें बताता हूँ। दारुक! तुम उत्तमज्ञानी हो, तुम्हारे ऊपर मेरा पूर्ण विश्वास है। इसीलिये तुम्हें यहाँ रोककर अन्त समय का गुप्त रहस्य बताता हूँ। वह रहस्य यही है कि द्वारका जाकर वहाँ से सबको बाहर निकालो। इसका कारण यह है कि मेरे द्वारका छोड़ते ही समुद्र चारों ओर से आकर इस नगर को डुबो देगा। मैंने समुद्र से जमीन माँग कर ही वहाँ द्वारका बसायी थी, इसलिये मेरे निजधाम जाते ही वह आकर इसे डुबा देगा। इसलिये तुम अतिशीघ्र जाओ और मेरे माता-पिता तथा अन्य सारे लोगों को द्वारका से बाहर निकालो। समुद्र वह स्थान डुबा दे इससे पहले स्त्री-बच्चों आदि सबको बाहर निकालो। शासन समाप्त हो जाने से रास्ते चारों से भर जायेंगे इसलिये कोई इक्का-दुक्का बाहर न निकले। अर्जुन को साथ में ले कर सब लोग इन्द्रप्रस्थ जायें, ताकि वह मार्ग में आपकी सुरक्षा करेगा। कृष्ण का यह भाषण सुनकर दारुक को पुनः रुलाई आ गयी। उसकी जाने की इच्छा नहीं थी और मछली जिस प्रकार पानी के बिना तड़पती है, उसी प्रकार उसके प्राण व्याकुल हो उठे। वह बोला, अपने सारे कुल का विनाश कर श्रीकृष्ण आखिर चला ही गया। और मैं यह अपना काला मुँह लेकर यह वृत्तांत बताने जाऊँगा। लोग कहेंगे कि श्रीकृष्णरूपी निजसुख खोकर यह अपना काला मुँह दिखाने यहाँ आया है। इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्रकार सबके दु:ख का कारण मैं बनूँगा। मेरा भाषण सुनकर सबका प्राणांत हो जाएगा इसलिये इतना भयंकर दु:ख देने के लिये मैं वहाँ नहीं जाऊँगा क्योंकि जिन्हें यह बात बताऊँगा वह उनके लिये जानलेवा ही सिद्ध हो सकती है। कृष्ण! इतना घोर निष्ठुर मैं नहीं हो सकता। हे श्रीकृष्ण! चींटियों के बिल को आग लगाने की तरह मुझे यह वार्ता द्वारका में मेरे इष्टमित्रों को बतानी होगी। फले-फूले वन में जैसे कोई आग लगा दे, उस प्रकार कृष्ण निधन का दहकता समाचार सुहृदों के कानों तक कौन ले जायेगा? डूबने वाले के मस्तक पर जिस प्रकार शिला नहीं रखी जाती उसी प्रकार कृष्ण के साथ पूरे कुल का विनाश हो गया यह समाचार मैं इष्ट मित्रों को नहीं बताऊँगा। कृष्ण! आप्त इष्टोंको सुख देने के बजाय महदु:खों की राशि लेकर मैं इष्ट मित्रों के पास नहीं जाऊँगा। अब आप कहेंगे कि तुम बुद्धिमान हो, सारे जनम में तुमने मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया, ऐसा होते हुए अब अन्त समय में तुम मेरी आज्ञा का उल्लंघन क्यों कर रहे हो? तो हे कृष्ण! अंतकाल का आपका सुख देखने में मुझे प्रसन्नता हो रही है। उसे छोड़ लोगों को दु:ख देने के लिये मैं नहीं जाऊँगा। कुलनाश का दु:ख अत्यन्त भयंकर है। कृष्ण का निधन तो और भी अधिक तापदायक है। अत: ऐसा भाषणरूपी विष मैं संसार को नहीं दे सकता। तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँ तो संसार को महदु:ख देना होगा और यदि तुम्हारी अवज्ञा करूँ तो मुझे नरक भोगना होगा। इसलिये अब स्वयं ही विष खाकर तुम्हारे सामने मरूँ यही अच्छा होगा। इससे मुझे निश्चित रूप से अलौकिक उत्तम गति प्राप्त होगी। इतना कहकर दारुक ने साष्टांग दण्डवत किया और मस्तक पर श्रीकृष्ण ने दोनों पैर रख लिये। दारुक की वह भक्ति देखकर श्रीकृष्ण का हृदय पसीज उठा और जिससे उसका शोक और मोह नष्ट होगा ऐसा मर्म वह उसे बताने लगा।

त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षक:।
मन्मायारचनामेतां विज्ञायोपशमं व्रज॥ ४९॥

मेरे धर्म का जो लक्षण है उस पर यदि तुम दृढ़ होकर रहो तो मेरा ज्ञान विज्ञान तुम्हें प्राप्त होकर तुम स्वयं ब्रह्मस्वरूप होकर रहोगे। अब तुम पूछोगे कि धर्म का लक्षण क्या है? तो हे दारुक! ध्यान देकर सुनो। मेरे सारे सद्धर्म ऐसे हैं। हृदय में नित्य मेरा ध्यान रखो, मुख में मेरा नामकीर्तन रहने दो। कानों से मेरी कथा श्रवण करो और हाथों से नित्य मेरी पूजा करो। आँखों से मेरी मूर्ति का दर्शन करो, पैरों से मेरे मन्दिर में जाओ और रसना से मेरे तीर्थ का प्राशन करो और मेरे प्रसाद का आदर के साथ भक्षण करो। मुझे साष्टांग नमस्कार करो। मेरे भक्तों का आनन्दपूर्वक आलिंगन करो। प्रेमपूर्वक मेरी सेवा किये बिना एक भी क्षण व्यर्थ न जाने दो। देखो, इस प्रकार मेरी सेवा करते हुए सभी प्राणियों में मेरा ही भाव रखना, यह सभी धर्मों का राजा है। इसमें विघ्न प्रवेश कर ही नहीं सकता। समस्त प्राणियों में जब मैं ही दिखायी देने लगता हूँ तो वैराग्य पूर्णरूप से मर जाता है। तब देहाभिमान को नष्ट करने वाला शुद्ध ज्ञान सहज उत्पन्न हो जाता है। देहाभिमान नष्ट होने पर आशा भी शून्य रह जाती है, तभी निरपेक्षता पूर्णरूप से, अपने आप प्राप्त होती है। यह निरपेक्षता ऐसी ही है कि जिस प्रकार ज्ञाता लोग मृगजल की उपेक्षा करते हैं, उसी प्रकार विषय मिलने पर इन्द्रिय उनकी उपेक्षा करते हैं। इस दृष्टि से चराचर की ओर देखने पर सारा व्यवहार ही मिथ्या लगने लगता है। जिस प्रकार डोर का आकार सर्प की तरह लगता है, उसी प्रकार संसार का भास भी भ्रम के ही कारण होता है। उसी प्रकार विषय में व्यवहार और संसार यह भी मिथ्या और मायिक ही है। जिस प्रकार सीप का रंग चाँदी की तरह दिखायी देता है लेकिन उसका कोई अलंकार नहीं बनता उसी प्रकार यह संसार भी मिथ्या अर्थात् भासमान मायिक व्यवहार है। संसार का भान ही मूलतय: मिथ्या है, उसका बन्धन भ्रांत व्यक्ति को ही होता है। अत: उसमें भुक्ति भी शुद्ध भ्रम ही है। हम पूर्ण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ज्ञानी हैं; हमने संसार बन्धन तोड़ कर नित्यमुक्ति प्राप्त की; यह बकवास भी मायिक ही है। जो जानता है कि संसार मायिक सृष्टि है, उसका मन मन से लजाता है। इसी का नाम 'विज्ञान' है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति और संसार का भान ये सब मिथ्या बातें हैं यह बात पूरी तरह मन में अंकित होना इसी का नाम 'विज्ञान' है, यह ध्यान में रखो। साधक का पूर्णतयः ब्रह्मस्वरूप होना यही विज्ञान का प्रमुख लक्षण है और संसार में 'मैं' या 'तू' जैसी बात का न दिखायी देना, इसी का नाम 'उपराम' है। ऐसा उपशम जिसे प्राप्त होता है, उसमें और मुझमें कोई भेद नहीं है। यह निरूपण सुनते ही दारुक के हृदय में वह संकेत चमत्कारपूर्ण ढंग से अंकित हो गया। कोई सुवर्ण का अलंकार देखने जाय और स्वयं ही सुवर्ण बन जाय, उसी प्रकार मैं भी कृष्णरस से ही ओतप्रोत हूँ। इस देहलोभ का यह वियोग व्यर्थ का है। मैं स्वयं ही कृष्णरूप हूँ। मुझमें और कृष्ण में भिन्नता जरा भी नहीं है। पूर्णत्त्व से परिपूर्ण ब्रह्म हूँ, यह पहचान उसकी समझ में अच्छी तरह से आ गयी।

इत्युक्तस्तं परिक्रग्य नमस्कृत्य पुनः पुनः।
तत्पादौशीष्यर्यु पाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम्॥ ५०॥

कृष्ण का यह भाषण सुनकर उन्होंने श्रीकृष्ण की आज्ञा शिरसावंद्य की और मन का खेद भुलाकर वह श्रीकृष्ण के चरणों में लग गया। त्रिवार प्रदक्षिणा कर तथा पुनः-पुनः श्रीकृष्ण चरणों का नमन कर अन्त में उनके चरणों पर मस्तक रख दिया और उनकी आज्ञा लेकर निकल पड़ा। ब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण है इसका ज्ञान कराने वाला श्रीकृष्ण निजधाम की ओर चल पड़ा। इससे दारुक को अत्यन्त दुःख हुआ। कृष्ण का पुनः दर्शन नहीं होगा इससे अत्यन्त खिन्न होकर वह द्वारका चला गया। दारुक को द्वारका भेजा, इतने में मैत्रेय कृष्ण के पास आया। उस समय उसे भी श्रीकृष्ण ने ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया। ब्रह्मज्ञान का वह उपदेश विधि शुक ने तृतीय स्कंध में बताया है। कृष्ण का निर्वाण देखने के लिये उद्धव छिप कर बैठा था। उसने ज्ञान का वह निरुपण सुनकर संतोष से श्रीकृष्ण को नमस्कार किया। उसी समय श्रीकृष्ण ने स्वमुख से मैत्रेय को बताया कि तुम्हारे पास विदुर आयेगा, उसे भी तुम गुह्यज्ञान का उपदेश करो। मैत्रेय को उपदेश कर भगवान ने उसे अपने आश्रम में भेजा। तब उद्धव भी श्रीकृष्ण को नमस्कार कर बदरिकाश्रम चला गया। दारुक को द्वारका भेजा, मैत्रेय को अपने आश्रम में भेजा, उद्धव को बदरिकाश्रम भेजा और जरा व्याध को स्वर्ग भेजा। घोड़ों सहित अपने रथ और अस्त्रों को पहले भेज दिया, अब स्वयं भी आनन्दपूर्वक निजधाम की ओर प्रस्थान करेगा। उसे निजधाम जाते देखने देवतागण आयेंगे। वह रसपूर्ण और सुमधुर प्रसंग अगले अध्याय में आयेगा। जो अजन्मा होते हुए जन्म लेता है, विदेही होते हुए देह धारण करता है; स्वयं अक्षयी होते हुए मृत्यु दिखलाता है वह श्रीकृष्ण अत्यन्त मोहक है। जिसका निजधाम प्रयाण शिवब्रह्मादि देवताओं के लिये भी अतर्क्य है उसका उपलक्षण मैं बताऊँगा। श्रोतागण मुझे अवधान दें। श्रीकृष्ण का निजनिर्वाण एकादश स्कंध का शिखर है जिसे देहाभिमान नहीं होता वह पूर्ण परिपक्व ब्रह्म है। जन्म लेने पर भी भय नहीं है; देह में विचरण करने पर भी भय नहीं है और देह का त्याग करने पर भी भय नहीं है; यह ब्रह्मस्वरूप की परिपूर्णता श्रीहरि ने दिखा दी है। एकनाथ जनार्दन की शरण में है। आगे अत्यन्त रसपूर्ण और सुमधुर निरूपण है। उसका सद्गुरु कृपा से आख्यान सुनाऊँगा। संतजन कृपया ध्यानपूर्वक श्रवण करें।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे पारमहंससंहितायां
एकाकार टीकायां परमार्थ स्वकुलनिर्दलनम् नाम त्रिंशत्तमोमोऽध्यायः॥ ३०॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

इकतीसवाँ अध्याय

हे ओंकारस्वरूप सद्गुरु अच्युत! तुम्हें नमस्कार है। तुम देहधारी होते हुए भी देहातीत हो। गुणों में रहते हुए भी निर्गुणत्व से विचरण करते हो। तुम्हें देह के प्रति ममता नहीं है। बचपन में तुमने विष प्राशन किया था; पूतना का प्रत्यक्ष शोषण किया था और दावाग्नि का प्राशन किया था। तुम वैकुण्ठ के सिंहासन को सुशोभित करते हो, तुम्हें देहाभिमान नहीं है। स्वयं गोपालकों के साथ रहकर उनके साथ कबड्डी खेलते हो। कर्मशील ब्राह्मण कर्म के बल पर तुम तक पहुँचने के लिये सदा छुआछूत का आश्रय लेते हैं और तुम ग्वालों के बेटों के साथ मिल-जुल कर खाना खाते थे। जिसे दुराचार कहते हैं, वह व्यभिचार कर गोपियों का उद्धार किया। तुम्हारा यह चरित्र वेदशास्त्रों को भी अगम्य है। घर में सोलह हजार स्त्रियाँ और एक लाख साठ हजार बच्चे खेलते हुए भी, तुम्हें बाल ब्रह्मचारी के रूप में सनत्कुमार वंदन करते हैं। तुम्हारे ब्रह्मचर्य की महत्ता को शुक नारद भी मान्य करते हैं और मारुति भी चरणों पर लोटते हैं। तुम ऐसे निष्ठावान ब्रह्मचारी हो। व्रतबंध होने के पूर्व ही तुमने ग्वालों की लड़कियों का भोग किया, तुम निश्चय ही ऊर्ध्वरेता हो, तुम्हें भीष्म भी वन्दन करते हैं। नौ लाख गौवों की रस्सी से भी तुम नहीं बँध सके लेकिन श्रद्धा के बल पर रासक्रीड़ा में तुम्हें गोपियों ने बाँध लिया। तुम उनकी इच्छानुसार क्रीड़ा कर रहे थे। छह महीने तक तुमने उनके साथ क्रीड़ा की। इस प्रकार काम को स्पर्श किये बिना तुम स्त्रियों का काम पूरा कर रहे थे। विधि वेदार्थ को लज्जित कर तुमने सारी गोपियों को तारा। गोपियों को अद्भुत प्रेम से तारा; वेणुगीत से गौओं का उद्धार किया और श्रीकृष्ण! निजयोग सामर्थ्य से समस्त ग्वालों का तारा। दुष्ट बुद्धि कंस और अपराधी व्याध को भी तारा। श्रीकृष्ण! तुम संसार की सीमा होते हुए भी कृपालु हो। कृष्ण की बात नहीं काट सकता था इसलिये यम भी गुरु के पुत्र को वापस ले आया। जो कलिकाल से भी कभी हार नहीं मानता, उस श्रीकृष्ण ने क्या देह त्याग कर दिया? देव निजधाम जाते हैं यह अध्याय भागवत का कलश है। इसका गहन अभिप्राय शुकदेव परीक्षित को बताते हैं। कलश के ऊपर कोई चीज नहीं चढ़ायी जाती। उसी प्रकार भगवान निजधाम जाने के बाद निरूपण कुछ भी शेष नहीं रह जाता। इसीलिये उसे कलश कहते हैं। वेदशास्त्रों का रहस्य यही है कि अहंभाव नहीं होना चाहिये। श्रीकृष्ण का निजधामगमन ब्रह्मादि देवताओं के लिये भी अतर्क्य है। फिर भी जनार्दन की कृपा होने के कारण एकनाथ उसका विशद वर्णन करके बताएगा। दारुक द्वारका जाने के बाद श्रीकृष्ण निजधाम के लिये निकल पड़े। उस समय उनका निर्वाणकाल का दर्शन लेने के लिये समस्त देवतागण वहाँ आये। उसी अर्थ का निरूपण श्रीशुक्राचार्य बता रहे हैं और श्रोता परीक्षित भी कृष्ण का निर्वाण सुनने के लिये सावधान होकर बैठा है।

श्रीशुक उवाच

अथ तत्रागमद् ब्रह्मा भवान्या च समं भवः।
महेन्द्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः॥ १॥

पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः।
चारणा यक्षरक्षांसि किन्नराप्सरसो द्विजाः॥ २॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

जो व्यास का प्राण है, योगियों का मुकुटमणि है, वह श्रीशुक स्वयं श्रीकृष्ण के निर्वाण का निरूपण कर रहे हैं। शुक्राचार्य कहते हैं, हे परीक्षित! श्रीकृष्ण ने निजधाम के लिये प्रस्थान किया उस समय सारे देवतागण विमानों में बैठकर अत्यन्त तीव्रता से वहाँ आये। ब्रह्मदेव द्रुत गति से आये। शंकर भी पार्वती को लेकर आये। इन्द्रप्रमुख सारे देवतागण अपने गणों के साथ वहाँ आये। सनकादिक मुनियों की पंक्तियाँ तथा दक्ष आदि प्रजापति भी वहाँ आये। अर्यमादि आदि पितर आये और कपिलादि महासिद्ध भी दौड़ते हुए आये। गन्धर्व और विद्याधर आये। यक्ष, चारण, किन्नर तथा विभीषणादि बड़े-बड़े राक्षस भी श्रीकृष्ण को देखने के लिये दौड़ते हुए आये। श्रीकृष्ण को देखने के लिये पाताल से नाग भी आये; जिन्हें 'महोरग' अर्थात् प्रचण्ड सर्प कहते हैं, वे भी शीघ्रता से आये। दत्तात्रेय आदि द्विज आये। नारद भी कौतुक देखने आये। उसी प्रकार गरुड़ आदि पक्षी भी तत्परता से एकत्र हो गये। रंभा, उर्वशी, मेनका आदि अष्टनायिका अप्सरा भी कृष्णदर्शन के हेतु वहाँ एकत्र हो गयीं। कृष्णस्वरूप देखने की लालसा से देवताओं का समूचा समुदाय वहाँ एकत्र हो गया।

द्रष्टुकामा भगवतो निर्याणं परमोत्सुकाः।
गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्माणि जन्म च॥ ३॥

कृष्ण को देखने के लिये दृष्टि आतुरता से दौड़ रही थी। सर्वत्र गड़बड़ी मच गयी। कृष्णरूप की माधुरी इतनी विलक्षण थी। अब पुनः कृष्ण का दर्शन कैसे होगा? इसलिये कृष्ण का निर्वाण काल का दर्शन लेने के लिये सारे देवतागण अत्यन्त आतुरता से वहाँ आये हुए थे। घनश्याम जैसी सुन्दर मूर्ति तो सौन्दर्य की पराकाष्ठा थी। उस कृष्ण के निजधाम जाने पर फिर हमें दर्शन कब मिलेगा? देवताओं को श्रीकृष्ण दर्शन की लालसा लगी हुई थी। इसीलिये वे अत्यन्त शीघ्रता से दर्शन के लिये आये थे। कोई श्रीकृष्ण के कार्यों का वर्णन कर रहा था, तो कोई उसके चरित्र के गीत गा रहा था, इस प्रकार सभी उनके दर्शन के लिये अत्यन्त आतुरता से आये थे।

ववृषुः पुष्पवर्षाणि विमानावलिभिर्नभः।
कुर्वन्तः संकुलं राजन् भक्त्या परमया युताः॥ ४॥

आकाश में चारों ओर विमानों की भीड़ लगी हुई थी। उनमें बैठे देवताओं ने श्रीकृष्ण को देखते ही उनकी जय-जयकार की। श्रीकृष्ण को देखकर उनका अन्तःकरण भक्ति से आर्द्र हो उठा और उन सबने मिलकर अनवरत पुष्पवृष्टि की। कृष्ण के चारों ओर फूलों का ढेर लग गया। उस समय साँवले सलोने श्रीकृष्ण की शोभा अत्यन्त न्यारी लग रही थी।

भगवान् पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनोविभुः।
संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत्॥ ५॥

समस्त देवतागण तीव्र गति से वहाँ एकत्र हो गये। तब सामने ही खड़ा ब्रह्मदेव श्रीकृष्ण को दिखायी पड़ा और अपनी ही जैसी विभूति शंकर को भी श्रीकृष्ण ने देखा। उसी प्रकार इन्द्रादि देवतागण, जो उनकी अपनी ही विभूतियाँ थीं उन्हें देखकर श्रीकृष्ण ने अपनी पद्मपत्र जैसी पलकें सहज ही बन्द कर लीं। आँखें खोलीं, बन्द कीं, लेकिन उसमें कोई परिवर्तन नहीं दिखायी दिया। वह आत्मस्वरूप से परिपूर्ण आत्मा ही था; फिर कृष्ण ने आँखें क्यों बन्द कर ली थीं? देवताओं का समुदाय देखकर कृष्ण ने कुछ बोले बिना आँखें बन्द कर लीं, उसका कारण सुनिये। श्रीकृष्ण जब द्वारका में थे, उस समय बड़े-बड़े देवतागण प्रार्थना करने आये थे। उन्होंने देवकी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

पुत्र श्रीकृष्ण से आदरपूर्वक बिनती की थी कि हम दासों की ओर कृपा की दृष्टि से देखें (अर्थात् हमारा रक्षण करें) समस्त देवताओं का समुदाय, स्वर्णेकादि लोकपाल ये सब तुम्हारे दास हैं इसलिये निजधाम जाते समय एक बार हमारे यहाँ आकर हमारे आश्रम को पवित्र करें। उन सब देवताओं को श्रीकृष्ण ने अपने मुख से बताया था कि यादवकुल का क्षय होने के बाद, अन्त में मैं इस मार्ग से अवश्य आऊँगा। श्रीकृष्ण का भाषण सुनकर सारे देवताओं को अत्यन्त आनन्द हुआ था; वे समझ गये कि श्रीकृष्ण हमारे वश में हैं, इसीलिये उन्होंने हमारा वचन अस्वीकार नहीं किया। उस दिन का स्मरण कर इस मौके का लाभ उठाने के लिये देवताओं का समुदाय यहाँ आया था। उनका वह अभिमान उतर जाने के लिये ही श्रीकृष्ण ने आँखें बन्द कर ली थीं। देवताओं का समुदाय बहुत बड़ा है, मैं किसके-किसके यहाँ जाऊँ? उनको छकाने के लिये ही भगवान ने आँखें बन्द कर समाधि लगाने का अभिनय किया। कृष्ण परिपूर्ण परब्रह्म ही था। उसके लिये न समाधि है, न व्युत्थान है। उसने समाधि लगाने का केवल अभिनय किया। योगियों को स्वच्छंद मृत्यु रहती है लेकिन श्रीकृष्ण की स्थिति वैसी भी नहीं थी। शंकरादि देवताओं को भी उसकी गति अतर्क्य थी। वही स्थिति शुक्राचार्य परीक्षित को बताते हैं।

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥ ६॥

जो योगी लोग कलिकाल को भी जीत कर इच्छा मृत्यु प्राप्त करते हैं, वे पूर्णरूप से अग्निधारणा कर, अपना देह जलाकर स्वरूप में मिल जाते हैं। जैसे घृत पिघलता है, उसी प्रकार जो सगुण है वह निर्गुणत्व प्राप्त करता है। इसी को 'योगाग्निधारण' कहते हैं। कृष्ण देह दहन कदापि नहीं होगा। श्रीकृष्ण का स्वरूप परिपूर्ण था। वह योगधारणा क्यों करेगा? उसका देह लीलाविग्रही था। तो फ़िर दहन किसका किया जाय? उसे आँखों से देखना ही पर्याप्त है, ध्यान वहीं लग जाता है। मन उसी में लगा रहता है। कृष्ण का सौन्दर्य परिपूर्ण तथा संसार को मोहित करने वाला है। जिसके सौन्दर्य का दर्शन कर मदन स्वयं गर्भ में आ गये थे, चैतन्यधन श्रीकृष्ण के चरणों को देखकर लक्ष्मी भी मोहित हो गयी थीं। योगी सदा जिसका ध्यान करते रहते हैं, शंकर आदि भी जिसका नित्य चिंतन करते हैं; ऐसे सर्व-मंगल का जो अधिष्ठान है, वही चैतन्यघन श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्ण स्वयं आत्माराम होने के कारण वह संसार को भी आराम ही दिलाने वाला है। वह लीलाविग्रही घनश्याम ध्यानगम्य और चिद्रूप है। जमे हुए घृत की जैसे मूर्ति बनायी जाय, उसी प्रकार चैतन्य में ढली हुई कृष्णमूर्ति स्वलीला से बनी हुई थी। इसीलिये जब उस देह ने दावाग्नि प्राशन किया, तो उस पर कालिया सर्प के विष का असर नहीं हुआ क्योंकि वह देह था ही नहीं। फिर उसे मृत्यु कैसे आयेगा? कृष्ण जिसके हृदय में प्रकट होता है, वह देह में होते हुए भी विदेही हो जाता है, ऐसे उस कृष्ण में देहत्व कैसे होगा? कृष्ण का देह नष्ट नहीं हुआ; दर्पण का प्रतिबिम्ब जिस प्रकार स्वयं में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार जो भास था वह मूल स्वरूप में मिल गया। जिसका नामस्मरण करते ही भक्तों का जन्म-मरण समाप्त हो जाता है, वह कृष्ण ही यदि मर जायेगा तो भक्तों का उद्धार कौन करेगा? आत्ममाया की लीला से कृष्ण, कृष्ण के रूप में प्रकट हुआ था, वह लीला छोड़कर निजरूप में निजत्व में स्थिर हो गया। कृष्ण देह को न ले गया, न छोड़ गया। उसने लीला से ही उसे भक्तों के ध्यान में रखा और स्वयं निजधाम चला गया। जैसी भक्त की श्रद्धा होती है, वैसा ही भगवान होता है। इसलिये देखो! वह भक्त के ध्यान में ही अपना देह स्थापित कर, निजधाम न जाकर ही चला गया। कृष्ण की मूर्ति यद्यपि सगुण साकार थी, लेकिन उस देह का दहन होना सम्भव नहीं था क्योंकि सारा संसार ही श्रीकृष्ण के आश्रय में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

होने के कारण, यदि कृष्ण के देह का दहन होता तो सारे संसार का ही दहन हो जाता। जिसने अपनी माँ को बचपन में, पेट में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का दर्शन कराया था, उस कृष्ण के देह का दहन हो जाने पर संसार की बात करना ही सम्भव नहीं होगा। श्रीकृष्ण का देह विदेहरूप था, उसका दहन कैसे होता? कृष्ण का रहना और जाना अकेले कृष्ण ही जानें। उसके सम्बन्ध में वेद की वाचा भी मौन हो जाती है। उसका ज्ञान यहाँ नहीं चल पाता। कृष्ण की यह अगम्य गति ब्रह्मदेव और शंकर के भी समझ में नहीं आती। उनका विचार था कि श्रीकृष्ण हमारे साथ चलेंगे। इसी विचार से देवताओं का समुदाय आनन्दित हुआ और उन्होंने बड़े आनन्दोत्सव का आयोजन किया।

दिवि दुन्दुभयोनेदुः पेतुः सुमनसश्च खात्।
सत्यं धर्मो धृतिर्भूमेः कीर्तिः श्रीश्चानु तं ययुः॥ ७॥

देव अत्यन्त आनन्दित हुए, उन्होंने दुन्दुभी बजाना शुरू किया और आकाश से श्रीकृष्ण पर दिव्य पुष्पों की वर्षा की। वैकुण्ठ तथा स्वर्ग से श्रीकृष्ण मृत्युलोक में सम्पत्ति ले आये थे, वह अब हमें वापस मिल जायेगी यह सोच कर देवतागण हर्षित हो गये और वे कृष्ण पर बार-बार पुष्पवृष्टि करने लगे, किन्तु शंकरादि देवतागण जब ध्यानपूर्वक श्रीकृष्ण की ओर देख रहे थे तभी अतर्क्य गति से श्रीकृष्ण निजधाम चले गये। कैसे गये, किसी को मालूम नहीं हुआ। हम सब माया के नियंता हैं, सर्वद्रष्टा तथा सर्वज्ञाता हैं ऐसा देवताओं को अभिमान था, किन्तु श्रीकृष्ण ने उन सबको लज्जित कर दिया। कृष्ण की गति अतर्क्य थी, वह ब्रह्मदेव और शंकर की भी समझ में नहीं आयी इसलिये वे चकित रह गये। अन्य सारे देवता भी आश्चर्य करने लगे। देवतागण आश्चर्य कर रहे हैं, तभी सत्य, धर्म, धृति और कीर्ति ये देवता भी लक्ष्मी के साथ पृथ्वी छोड़कर कृष्ण की ओर देखकर चल दीं। सत्य, धर्म, श्री, धृति और कीर्ति इनकी श्रीकृष्ण चरणों के पास बस्ती थी, इसलिये वे भी पृथ्वी छोड़कर तत्काल कृष्ण के साथ चल दीं। लेकिन हे परीक्षित! शायद तुम सोचोगे कि क्या सत्य, धर्म, श्री, धृति और कीर्ति ये सभी पृथ्वी छोड़ कर चली गयीं? उसके बारे में भी सुनो। हे कुरुश्रेष्ठ! मेरा विचार है कि जिनके हृदय में श्रीकृष्ण की मूर्ति अंकित रहती है, वहाँ सत्य, धर्म, श्री, धृति और कीर्ति का साम्राज्य रहता है। केवल भक्तों का अनुग्रही श्रीकृष्ण स्वयं लीलाविग्रही (अर्थात् स्वेच्छा से, विग्रह अर्थात् देह धारण करने वाला) कृष्ण की गति ब्रह्मादि देवताओं की भी समझ में नहीं आयी।

देवादयो ब्रह्ममुख्या न विशन्तं स्वधामनि।
अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृतुश्चातिविस्मिताः॥ ८॥

इन्द्र, बृहस्पति और मुख्य रूप से ब्रह्मदेव इन सभी देवताओं को भ्रम में डालकर श्रीकृष्ण ने निजधाम में प्रवेश किया। हरि की यह महिमा अतर्क्य है। श्रीकृष्ण की अतर्क्य गति, देवताओं को भी अपने सामर्थ्य से नहीं मालूम हुई इसलिये वे मन ही मन विस्मित होकर अपने-अपने गंतव्य स्थल की ओर चल पड़े। वे इस बात से चकित थे कि कृष्ण की गति अलक्ष्य है। वह समझ में आने लायक नहीं है। शंकर के लिये भी वह अतर्क्य है। कृष्ण की ऐसी अतर्क्य गति, जो देवताओं को दैवी शक्ति के रहते भी समझ में नहीं आयी, वही शुक्राचार्य दृष्टांत देकर परीक्षित को समझा रहे हैं।

सौदामन्या यथाऽऽकाशे यान्त्याहित्वाभ्रमण्डलम्।
गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यै स्तथा कृष्णस्य दैवतैः॥ ९॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मेघमण्डल में बिजली कड़कती है, लेकिन वह कहाँ से आती है और कहाँ जाती है, यह जिस प्रकार पृथ्वी पर के लोगों को नहीं मालूम होता; उसी प्रकार कृष्ण की अवतार शक्ति भी देवताओं को नहीं मालूम हुई। वैकुण्ठ से आना और वापस जाना यह कृष्ण को सम्भव ही नहीं है क्योंकि वह सदा-सर्वदा परिपूर्ण भरा ही हुआ है। आकाश में बस्ती करने के लिये जिस प्रकार खाली मकान नहीं मिलेगा, उसी प्रकार श्रीकृष्ण परमात्मा सर्वत्र व्याप्त होने के कारण उसे दूसरी ओर जाने के लिये कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार श्रीकृष्ण निजधाम गया। उसकी महिमा अत्यन्त अद्‌भुत है। कृष्ण की महत्ता अतर्क्य होने के कारण उसके सम्बन्ध में तर्क नहीं चलता यह सोचकर देवतागण अपने-अपने गंतव्य स्थान की ओर चल दिये।

ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा योगगतिं हरेः।
विस्मितास्तां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा॥ १०॥

"हम अपने सामर्थ्य से माया के नियंता हैं। योग की दुर्गम गति हमें मालूम है, हम त्रिभुवन में सर्वद्रष्टा अर्थात् सर्वज्ञ हैं।" इस प्रकार का अहंकार देवताओं में था। कृष्ण की गति देखकर उनकी जानकारी पानी पानी हो गयी। लज्जा से अहंकार चूर-चूर हो गया। तब उन्होंने कृष्ण की स्तुति करना प्रारम्भ किया। शंकर पाँच मुखों से स्तुति करने लगा। ब्रह्मदेव चार मुखों से कीर्ति का वर्णन करने लगा। कृष्ण की अगम्य गति देखकर समस्त देवतागण आश्चर्यचकित रह गये। श्रीकृष्ण की स्तुति करके देवताओं को संतोष ही नहीं हो रहा था। वे उसी प्रकार उनकी कीर्ति का वर्णन करते-करते अपने-अपने लोक चले गये। पहले कृष्ण की जो गति बतायी थी उसी को अत्यन्त प्रेमपूर्वक, स्पष्ट करके श्रीशुक्राचाय पुनः परीक्षित को सुनाते हैं।

राजन् परस्य तनुभृज्जननाण्ययेहा मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य।
सृष्ट्वाऽऽत्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते संहृत्य चात्ममहिमोपरतः स आस्ते॥ ११॥

राजा परीक्षित! सुनो। श्रीकृष्ण इन सारे कारणों का कारण था। वह माया की भी चेतनाशक्ति था। जिसे व्यक्तित्व नहीं है और वर्ण नहीं है, जिसे रूप नहीं है और गुण भी नहीं है, उस श्रीकृष्ण ने अपनी लीला से ही यदुवंश में अवतार लिया था। जो सारे वंश का मूल पुरुष, जो गोत्रों का गोत्रज, जो सारे जातियों की जाति, वही यह श्रीकृष्ण स्वयं सबका आदिस्थान है। यदुवंश में उसका जन्म, अथवा गोवर्धन पर्वत उठाना आदि कर्म, उसी प्रकार स्वकुल का क्षय, अथवा स्वयं का निर्वाण, यह सारा योगमाया का खेल है। उसी की सत्ता से उसने मत्स्य कूर्मादि अवतार लिये। अन्त में उसी सत्ता से वह श्वेतवराह भी बना। श्रीकृष्ण की यह योग्यता अतर्क्य है। श्रीकृष्ण केवल अवतार ही नहीं, अपितु वह तो चित्स्वरूप पूर्णब्रह्म है। उसका चरित्र अत्यन्त अतर्क्य, वह ब्रह्मदेव, शंकर आदि के भी समझ में नहीं आता। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी प्रकार यदुवंश में कृष्ण का जन्म हुआ। दर्पण में जिस प्रकार व्यक्ति के हाव-भाव दिखायी देते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण के कर्म थे। हाथ से दर्पण गिरा दें तो जिस प्रकार सामने का प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार कृष्ण का निधन मिथ्या और मायिक है। जिस प्रकार बहुरुपिया अनेक प्रकार के वेश धारण करता है और फिर उसे उतार देता है, लेकिन बहुरुपिया नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार श्रीकृष्ण का अवतार था। यदुवंश में कृष्ण का जन्म हुआ था, फिर भी वह सारे कर्मों से अलिप्त ही था। सृष्टि, स्थिति और अन्त होने पर भी वह नित्यमुक्त ही था। उसमें परम अद्‌भुत ऐसे क्या होगा? किसी से किसी भी प्रकार की सहायता लिये बिना कृष्ण स्वयं ही सृष्टि की उत्पत्ति करता है; उसका उचित प्रतिपालन करता है और फिर उसका संहार कर स्वयं शेष रहता है। कृष्ण उत्पत्ति,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्थिति और लय करता है, उसकी यह महत्ता संसार में प्रत्यक्ष दिखायी देती है। कृष्ण सारे कर्म करके भी सदा अविकारी रहता है। कभी भी विकारी नहीं होता। वह प्रत्येक प्राणिमात्र का अंतर्यामी है। संसार के सारे कर्मों का कर्ता होते हुए भी वह अकर्ता और स्वस्वरूप से विदेही ही था। ऐसे श्रीकृष्ण की महिमा अगाध है। शिव, इन्द्र और ब्रह्मदेव भी उसकी थाह नहीं पा सकते। उसका देह ही विदेह रूप था। उसी योग से वह निजधाम गया, इसी अवतार में कृष्ण ने देह में विदेह कर्म दिखला दिया। यह तुम्हें पहले बता ही दिया है और भी बताता हूँ, सुनो। उसने सात दिन तक अपने हाथ पर गोवर्धन पर्वत उठाकर इन्द्र का घमण्ड चूर कर दिया था। स्वयं दावाग्नि प्राशन कर अग्नि को लज्जित किया और रासक्रीड़ा करके मदन का गर्व भी शान्त कर दिया। समुद्र को पीछे हटा कर अपनी द्वारका नगरी बसायी और निद्रा भंग किये बिना सारी मथुरा द्वारका ले आये। सब्जी का पत्ता खिलाकर सारे ऋषियों को तृप्त किया और अपने अंतर्यामी होने का लक्षण दिखला दिया। इसी देह से वह बछड़े और उसका पालन करने वाला गोपाल बना और ब्रह्मदेव को लज्जित कर उसका अहंकार नष्ट किया।

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम्।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम्॥ १२॥

श्रीकृष्ण ने इसी देह से यमलोक जाकर यम का निग्रह कर मृत गुरुपुत्र को वापस लाया। उत्तरा के गर्भ में ब्रह्मास्त्र की महाशक्ति से तुम जल रहे थे, ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण ने अपने चक्र से तुम्हारा संरक्षण किया। तुम्हारा संरक्षण करने का कारण यही था कि तुम्हारी माँ उसकी शरण में चली गयी और कृष्ण शरणागत की रक्षा करने वाला है तथा भक्तों का संकट दूर करने वाला है। द्वारका में अर्जुन ने यादवों के सामने प्रतिज्ञा की थी कि षष्ठी के दिन द्विज के पुत्र का मैं संरक्षण करूँगा। लेकिन वह लड़का उसी रात सदेह अदृश्य हो गया। तब उस ब्राह्मण ने अर्जुन की भर्त्सना की। इससे अर्जुन को लज्जित होना पड़ा। इससे कृष्ण के मन में दया का उदय हुआ और वह भक्त ही सहायता के लिये आ पहुँचा। अर्जुन को लेकर कृष्ण रथ में बैठा और क्षीरसागर की ओर चल पड़ा। वहाँ नारायण के पास उस ब्राह्मण का पुत्र था, उसे द्वारका लाया। इस प्रकार श्रीकृष्ण भक्त का संकट स्वयं दूर करते थे। श्रीकृष्ण प्रताप की महिमा अलौकिक है और भी सुनो। बाणासुर की सहायता करने शंकर युद्ध करने आया, उस समय कृष्ण ने नंदी, भृंगी, वीरभद्र तथा कार्तिक स्वामी आदि के साथ शंकर को पराजित किया। उग्र से भी उग्र, भयंकर से भी भयंकर कालाग्निरुद्र को पराजित कर बाणासुर की भुजाओं का भार कम कर दिया। कृष्ण का वचन भी अगाध है। जिसने महान अपराध किया था, उस जरा व्याध को अपने वचन पर दृढ़ रह कर देह के साथ स्वर्ग भेज दिया। इतना सामर्थ्य जिस श्रीकृष्ण के पास था, क्या वह अपना देह बचाने में असमर्थ था? लेकिन उसके देह में देहत्व था ही नहीं। वह निजात्म रूप से निजधाम गया। इतना सामर्थ्य होते हुए वह निजधाम क्यों गया? उसी देह से इस लोक में रहने में क्या उसे किसी का भय था? ऐसा विकल्प तुम्हारे मन में शंका उत्पन्न कर सकता है। तो सुनो। श्रीकृष्ण के मन में लोकाभिमान जरा भी नहीं था। उसकी स्थिति स्वेच्छा की थी। (अर्थात् अन्य जीवों की तरह कर्म परतंत्र नहीं था।)

तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्ययेष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक्।
नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन्॥ १३॥

माया तथा उसके सत्त्वादि तीनों गुणों का कारण स्वयं श्रीकृष्ण हैं। अनादित्व के कारण उसका कोई कारण नहीं है। अनंतकोटि ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति और लय करके भी वह अलिप्त ही रहता है। श्रीकृष्ण में अनेक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अद्‌भुत सामर्थ्य थे। संसार में जो बड़ी-बड़ी शक्तियाँ हैं, उनमें श्रीकृष्ण की शक्ति के अंश से ही सामर्थ्य प्राप्त हुआ है। उसका देह विदेहस्थिति का होने के कारण ही वह अपनी इच्छा से निजधाम गया। श्रीकृष्ण के मन में इहलोक की आसक्ति नहीं थी और वैसे निजधाम के प्रति भी आतुरता नहीं थी। इसी देह से इस लोक में रहना भी उसे उपयुक्त नहीं लगा क्योंकि उसने सोचा कि मेरे देह की अगम्य स्थिति को देखकर साधकों की स्थिति बिगड़ जायेगी। मेरा देह चैतन्यघन होने के कारण उसे विषय की बाधा नहीं होती, यह देखकर साधक भी देहसाधना करने लगेंगे। वायु का पूर्ण निरोध कर अपना देह अमर कर, मेरी तरह विषय सेवन करने का उन्हें मोह होगा और देहाभिमान भी बढ़ेगा और ऐसा देहाभिमान बढ़ने पर उनका निजात्मज्ञान नष्ट हो जायेगा। इस विचार से श्रीकृष्ण विदेहरूप से निजधाम चले गये। मेरे आत्मज्ञान का आकलन तो नहीं होगा लेकिन योगी लोग मेरी तरह विषयसेवन अवश्य करने लगेंगे। इसीलिये वह निजधाम चला गया। जिसके देह का दर्शन करने से मन अंतर्बाह्य तृप्त हो जाता है, वह देह ही मिथ्या है यह दिखाकर वह निजधाम चला गया। इस प्रकार देहाभिमान छोड़ने के लिये ही कृष्ण ने निजधाम का गमन किया। उस कृपा सागर ने साधक जनों को तारने के लिये ही यह दीक्षा दी। यहाँ तक वैराग्य की स्थिति दृढ़ हो और देहाभिमान के प्रति विरक्ति उत्पन्न कर आत्मज्ञान साध्य किया जाय यही दीक्षा श्रीकृष्ण ने दी। इसके अतिरिक्त, श्रीकृष्ण ने जिस देह से अनेक लीलायें कीं लेकिन उस देह के कर्म से ज्ञाता को दोष नहीं लगता, यह भी उन्होंने प्रकट किया। जय मिले या पराजय, किसी भी स्थिति में ज्ञाता का मन मलिन नहीं होता। जिसे पुरुषों का और स्त्रियों का भास भी मिथ्या लगता है, वह व्यभिचार में भी निरन्तर ब्रह्मचारी ही है। स्त्री बच्चों के साथ गृहस्थी करते हुए भी कोई नित्य संन्यासी हो सकता है यह लक्षण भी श्रीकृष्ण ने अपने अवतार में दिखला दिया। मूलरूप में ग्वाला, लेकिन शीघ्र ही मथुरा में पूर्ण स्वामित्व प्राप्त हुआ और अन्त में स्वयं सेवक ही बना लेकिन पूर्णत्व में बाधा नहीं आयी। एक के घर जूठन उठायी, एक के घोड़ों को नहलाया-धुलाया फिर भी पूर्णत्व में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आयी। किसी को उसके मृत पुत्र लौटाये; किसी के पूरे कुल का ही नाश कर दिया लेकिन इन दोनों कृतियों में उसका ज्ञान मलिन नहीं हुआ यह भी दिखा दिया। एक का पूर्ण समर्थक बना तो दूसरे का कट्टर शत्रु बन गया लेकिन चराचर में स्थापित ऐक्य रत्तीभर भी कम नहीं हुआ। जिसके चरणों पर गिरते ही उनका उद्धार हो गया, वह स्वयं भी किसी के चरणों पर मस्तक रखता है। उसके ज्ञान का महत्त्व किन शब्दों में वर्णन किया जाय? परस्पर विरुद्ध कृतियों में भी उसके ज्ञान में कमी नहीं आयी। अन्य ज्ञातागण अपना ज्ञान शब्दों में व्यक्त करते हैं किन्तु कृष्ण की बात वैसी नहीं थी। उसने उसके अनुसार आचरण कर मार्ग दिखला दिया। ज्ञान के अत्यन्त गूढ़ लक्षण श्रीकृष्ण ने अपने आचरण में दिखला दिये, फिर भी पूर्णत्व के कारण अपने में कोई कमी नहीं आने दी। जिस देह की इतनी ख्याति है, जिस देह के कारण ही दीनजनों का उद्धार होता है, जिस देह को देव, दानव और मानव भी वन्दन करते हैं और जिस देह की कीर्ति त्रैलोक्य वर्णन करता है, उस देह का नि:शेष अभिमान त्याग कर, अपनी मूर्ति स्वभक्तों के ध्यान में रखकर श्रीकृष्ण निजधाम चला गया। श्रीकृष्ण देह को ले भी नहीं गये और छोड़ भी नहीं गये। वह लीला विग्रह से समस्त विश्व में व्याप्त होकर, वह लीलादेह अपने भक्तों के ध्यान में प्रतिष्ठित किया और स्वयं निजात्म योग से निजधाम चला गया।

य एतां प्रातरुत्थाय कृष्णस्य पदवीं पराम्।
प्रयतः कीर्तयेद् भक्त्या तामेवाप्नोत्यनुत्तमाम्॥ १४॥

श्रीकृष्ण अवतार के अन्त में कृष्ण की जो परमगति हुई, वह सर्वोत्तम योगस्थिति है। वह देवश्रेष्ठों को भी

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

अतर्क्य है। उस गति से ऊँची कोई गति ही नहीं है। इसीलिये ज्ञाता वेदशास्त्र में उसे 'परा पदवी' कहते हैं। कृष्ण की इस 'परमपदवी' का जो कोई भक्तियुक्त भावना से, शुद्ध अंत:करण से, नित्य नियमपूर्वक प्रात:काल पठन करेगा; भक्तियुक्त हृदयकमल में जो इन श्लोकों की जपमाल करेगा और नित्य नियमपूर्वक प्रात:काल जिह्वाग्र पर रखेगा, जो प्राण रहने तक इस नियम को भंग नहीं करेगा, वह उत्तमत्व प्राप्त करेगा। कृष्ण की इस उपाधि का गायन करने से चारों मुक्तियाँ चरण छुएँगी। उनकी भी उपेक्षा कर वह स्वयं कृष्ण उपाधि तक निश्चित रूप से पहुँचेगा। ये चौदह श्लोक वास्तव में चौदह विद्याओं का जन्मस्थान है। उनका जो प्रात:काल पठन करेगा, वह पूर्ण रूप से कृष्ण उपाधि तक पहुँचेगा। ये चौदह श्लोक भुवनों का जीवन है। उनका नियमपूर्वक पठन करने से कृष्ण की पूर्ण उपाधि अवश्य प्राप्त होगी। ये चौदह श्लोक चौदह पदों का गयावर्जन है। उनका नियमपूर्वक पठन करने से विष्णुपद पर पिण्डदान करने का फल प्राप्त होता है। (जीव को शिवपद का समाधान प्राप्त होता है) ये चौदह श्लोक चौदह इन्द्रों के जीवों का जीवन है। उनका नियम से पठन करने से हम इन्द्रों के भी इन्द्र बन जाते हैं। ये चौदह श्लोक वास्तव में चौदह काण्डों का पूर्ण वेद ही है। उसका नियमपूर्वक पठन करने से वेद पठन का समाधान प्राप्त होता है। इनका नियमपूर्वक पाठ करने से संसार के गुण, कर्म, वर्ण आदि का निराकरण होकर पूर्ण ब्रह्म प्राप्त होता है। प्रात:काल इसका नियमपूर्वक पठन करने से परिपूर्ण ब्रह्म प्राप्त होगा और जो इसका त्रिकाल पाठ करेगा वह तो अपने ही देह से कृष्णस्वरूप बन जायेगा और जो इसके पठन के अलावा इसके अर्थ पर विचार करेगा वह स्वयं श्रीकृष्ण ही हो जायेगा। श्रीकृष्ण की उपाधि उसकी दासी बनकर रहेगी। कृष्ण उपाधि (अर्थात् कृष्ण का निर्वाण वृत्तांत) के श्रवण, पठन और अर्थ से भी साधकों को पूर्ण ब्रह्म प्राप्त होता है, यही परमार्थ सिद्धि का गूढ़ निरूपण है। इसमें अधिक साधना की भी आवश्यकता नहीं है, अनायास ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। श्रद्धा से तथा नियमपूर्वक पठन करने से कृष्ण की पूर्ण उपाधि प्राप्त होती है। तक्षक के भय से मुक्त होने के लिये तथा देह में रहकर विदेहता प्राप्त करने के लिये यह अत्यन्त सरल उपाय है ऐसा शुक्राचार्य ने परम कृपा से परीक्षित को बताया। जो नियमपूर्वक इसका पठन करेगा उसे पूर्णब्रह्म की प्राप्ति होगी, ऐसी शुक्राचार्य की पूर्ण प्रतिज्ञा है। इतना सुलभ उपाय होते हुए जो उस पर श्रद्धा नहीं रखेगा वह अविद्या का घरजमाई होकर रहेगा और उसका संसार डूब जायेगा। वह अविद्या का गुलाम, विषयों में पला हुआ श्वान सदा अहंकार के गड्ढे में बैठकर भौंकता रहेगा। उन मूर्खों की बात न करो। इससे मिला हुआ आनन्द कम हो जायेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि इन श्लोकों के पठन से परब्रह्म की भेंट होती है। कृष्ण की इस निजानंद उपाधि का वर्णन करने में मैं दीन असमर्थ हूँ। लेकिन जनार्दन ने कृपापूर्वक यह निरूपण मुझसे कराया। एका (जनार्दन) की शरण में है। श्रीकृष्ण उपाधि का निरूपण इस एकादश स्कंध का कलश है। उसे व्यासजी ने पूर्ण कराया। यह निरूपण समाप्त हुआ यह जनार्दन की पूर्ण कृपा है। इस प्रकार श्रीकृष्ण निजधाम चले गये। वहाँ का वृत्तांत शुक्राचार्य परीक्षित को बताते हैं।

दारुको द्वारकामेत्य वसुदेवोग्रसेनयोः।
पतित्वा चरणावस्त्रैर्न्यषिञ्चत् कृष्णविच्युतः॥ १५॥

दारुक ने द्वारका की ओर देखा तो वह प्राणहीन प्रेत की तरह अथवा पदच्युत राजा की तरह कलाहीन दिखायी देने लगी। रस निचोड़ने के बाद जिस प्रकार ऊख दिखायी देता है; अथवा जिस प्रकार दाना के बिना भूसा दिखायी देता है, उसी प्रकार कृष्ण के बिना द्वारका भी चारों ओर से उदास दिखायी देने लगी। दारुक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

राजमहल में पहुँचा, उस समय वसुदेव और उग्रसेन को देखते ही उसकी आँखों से आँसू झरने लगे। उसके हृदय का बाँध टूट गया और उसने चीख कर उनके पैर पकड़ लिये। कृष्ण के वियोग से दारुक के अश्रु संतप्त हो उठे थे। उन आँसुओं से वसुदेव के पैर भी जलने लगे। वह पेट-फाड़ कर रोने लगा। उस दुःख से उसका हृदय फटना चाहता था। उसकी जिह्वा सूखने लगी थी, गला भर आया था, मुँह से शब्द नहीं निकल पा रहे थे। दुःख में व्याकुल दारुक की यह अवस्था देखकर द्वारका के सारे लोगों के तो प्राण ही सूख गये। देवकी और रोहिणी भी घबरायी हुई वहाँ आयीं और वहाँ का कोलाहल देखकर कृष्ण की स्त्रियाँ भी वहाँ आ पहुँचीं। रनिवास की सारी स्त्रियाँ और पुरुष दौड़ते हुए वहाँ आ पहुँचे और सभामण्डप में एकत्र हो गये। देखा तो दारुक फूट-फूटकर रो रहा है। सभी का हृदय बैठ गया। फूट-फूट कर रोने से उसकी साँस रूक जा रही थी। कृष्ण के वियोग की वार्ता बताते हुए वह बेहोश होकर गिर पड़ा। तब वसुदेव और उग्रसेन ने उसके पास जाकर उसे सांत्वना दी और क्या हुआ है इसके बारे में उत्कंठा व्यक्त की। तब दारुक बताने लगा।

कथयामास निधनं वृष्णीनां कृत्स्नशो नृप।
तच्छ्रुत्वोद्विग्नहृदया जनाः शोकविमूर्च्छिताः॥ १६॥

दारुक ने कहा, पहले आप सब लोग अर्जुन को लेकर भागिये। यहाँ एक भी क्षण के लिये न रुकिये। सारे यादव मर गये हैं। यादवों ने प्रभास क्षेत्र में जाकर यथाविधि तीर्थविधि किया। ब्राह्मणों को दान दिया। भोजन कराया और फिर मद्यपान प्रारम्भ किया। मद्य से उन्माद उत्पन्न हुआ और यादवों के मित्र, भाई आदि में परस्पर युद्ध होकर सारे कुल का अन्त हो गया। यादव किसी भी शस्त्र से न मरते लेकिन वहाँ एक अपूर्व चमत्कार हुआ और वह यह कि वे सब एरिका से मारे गये। बलराम ने देह त्याग किया; श्रीकृष्ण निजधाम गये, और आप सब एक क्षण के लिये भी द्वारका में न रहें यह कहने के लिये मुझे यहाँ भेजा है। श्रीकृष्ण ने द्वारका छोड़ी अब समुद्र उसे तत्काल डुबो देगा। इसलिये कृष्ण ने ही आपको यहाँ से तुरन्त जाने के लिये कहा है। दारुक का यह भाषण सुनते ही द्वारका में हाहाकार मच गया। उग्रसेन सिर पीटने लगा और वसुदेव भी सिर पीटने लगा। कोई हाथ पर हाथ रगडने लगा, कोई छटपटाने लगा, कोई चीख-चीख कर रोने लगा तो कोई बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा। रोते-रोते किसी का गला सूखने लगा, कोई फूट-फूटकर रोने लगा; किसी का कलेजा फटने-फटने को हो आया, सभी का दुःख चरमसीमा पर पहुँच गया। कोई जोर-जोर से रो रहा था, कोई छाती पीट रहा था, कोई कान और बाल खींच रहा था तो कोई दुःख में पागल हो गया था। कोई जोर से चिल्लाने लगा, तो कोई मुँह के बल गिरने लगा, कोई मछली की तरह तड़पने लगा। नर नारी हो हल्ला करने लगे, घर-घर शंख ध्वनि होने लगी, सबका दुःख एक जैसा था, फिर कौन किसे सांत्वना देता? देवकी और रोहिणी बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ीं। फिर उठकर जोर-जोर से विलाप करने लगीं। देवकी कहने लगी, हे कृष्ण! हमारे विश्रामदाता! हे कान्हा! क्यों रूठे हो? तुम्हारे पैरों पर गिरती हूँ। तुम मेरे सहकारी हो, यहाँ मुझे अँधेरे में छोड़कर तुम कहाँ चले गये? कंस और केशी को जीत कर हमें कारावास से बाहर निकाला और अन्त में मुझे यहाँ छोड़कर मेरे साथ ठगी की? मृत पुत्रों को भी तुम वापस ले आये और मुझे सुखी किया और अन्त में मुझे यहाँ छोड़ दिया? तुम इतने निष्ठुर कैसे हो गये? मेरे पुत्र कृष्णराया! कान्हा! शीघ्र आओ। क्या मैंने तुम्हें दूध नहीं पिलाया इसलिये रूठ गये हो? तुमने जिसका स्तनपान किया, वह यशोदा ही दीन हो गयी है। तुम्हारा मुख देखे बिना उसके प्राण भी कैसे बचेंगे? कृष्ण! आओ बेटा! दौड़कर आओ। चारों हाथों से मुझे आलिंगन दो। अरे! मैं तुम्हारे मुख का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

चुम्बन लूँगी। तुम्हारे बिना मैं अत्यन्त दीन हो गयी हूँ। हे मेरे श्यामसुन्दर! हे सुकुमार! हे कमलाक्ष! हे चतुर्भुज! हे शारंगधर! हे उदार श्रीकृष्ण! मैं क्या करूँ? कृष्णा, तुम्हारे बिना मैं अन्धी हो गयी हूँ! हे वनमाली! मेरी उँगली पकड़ने दौड़ते हुए आओ। मुझ अन्धी की वह लाठी था। उसे बैकुण्ठ में कौन छोड़ आया? अब मैं अपना रास्ता कैसे पार करूँ? हे जगजेठी कृष्ण! पुत्र, नाती, पौत्र आदि पूरे वंश की ही होली जल गयी? यादवों के कुल में कोई नहीं बचा? कहते हुए वे वक्ष पीटने लगी। देवकी का रुदन सुनकर वसुदेव, उग्रसेन आदि सारे लोग रोते-चिल्लाते प्रभास की ओर चल पड़े।

तत्र स्म त्वरिता जग्मुः कृष्णविश्लेषविह्वलाः।
व्यसवः शेरते यत्र ज्ञातयो घ्नन्त आननम्॥ १७॥

स्त्रियाँ, पुरुष, सुहृदजन आदि सभी एकत्र होकर रोते-चिल्लाते प्रभास की ओर चल पड़े। उनके चीख, कोलाहल से वातावरण गूँज उठा। स्त्रियों ने तो आकाश-पाताल एक कर दिया। कृष्ण के वियोग में विह्वल सभी लोग चल पड़े। यादव रण में जहाँ निर्जीव पड़े थे, वहाँ सभी लोग रोते-चिल्लाते जा पहुँचे।

देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ।
कृष्णरामावपश्यन्तः शोकार्ता विजहुः स्मृतिम्॥ १८॥
प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुराः।
उपगुह्यपतींस्तात चितामारुरुहुः स्त्रियः॥ १९॥

देवकी और रोहिणी, वसुदेव और उग्रसेन ये दोनों, समरांगण में जहाँ यादव मृत पड़े थे वह स्थल देखने पहुँचे। देखा तो वहाँ यादव वीरों की पंक्तियाँ महानिद्रा ले रही थीं। किन्तु उनमें बलराम और कृष्ण ये उनके पुत्र नहीं दिखायी दिये। तब कृष्ण के विरह में शोकाकुल होकर उनका दुःख का आवेग नहीं थम पा रहा था। चारों वहीं दहाड़ मारकर मूर्च्छित होकर गिर पड़े। निवर्तमान राम-कृष्ण का मुख भी हमें नहीं दिखायी दे रहा, इससे उनके दुःख की पराकाष्ठा हो गयी और इसमें उनके प्राण भी निकल गये। सारे यादवों की पत्नियाँ अपने-अपने पति का प्रेत लेकर सती होने के लिये चिता पर चढ़ गयीं। यादवों की स्त्रियाँ असंख्य थीं। उसमें कौन किस तरह सती चली गयीं, उस अग्नि प्रवेश का शुक्राचार्य वर्णन करते हैं।

रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन्।
वसुदेवपत्न्यस्तद्गात्रं पद्युम्नादीन् हरेःस्नुषाः।
कृष्णपत्नोऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः॥ २०॥

रेवतीप्रमुख बलराम की स्त्रियों ने अपने पति का मन में ध्यान कर अग्नि में प्रवेश किया। देवकी और रोहिणी तो वहाँ पहले से ही मृत पड़ी थीं। वसुदेव की जो शेष स्त्रियाँ थीं, उन्होंने भी अपने पति का देह ले कर सहगमन किया। पद्युम्न के साथ महासाध्वी रती ने सहगमन किया और सांबा के साथ दुर्योधन की कन्या रूपवती ने सहगमन किया। उसी प्रकार अनिरुद्ध के साथ रोचना और उरवा ने अग्निप्रवेश किया। इस प्रकार कृष्ण की सभी बहुओं और यादवों की नायिकाओं ने अग्नि में प्रवेश किया। लेकिन श्रीकृष्ण की स्त्रियों ने जो अग्नि प्रवेश किया, उसकी कृति अलौकिक थी। उन स्त्रियों में सभी सतियों में शिरोमणि जगन्माता रुक्मिणी प्रमुख थी। कृष्ण का निर्वाण सुनने के बाद वह तत्क्षण तद्रूप हो गयी; ज्वाला जिस प्रकार अग्नि से जाकर मिलती है उसी प्रकार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वह कृष्णत्व में लीन हो गयी। कृष्ण चला गया यह मालूम होते ही रुक्मिणी तटस्थ हो गयी और देह की खोल त्याग कर कृष्णस्वरूप में मिलकर तद्रूप हो गयी। उसके देह का दहन करने के लिये देह बचा ही नहीं था। जिस प्रकार कृष्ण स्वयंभू परिपूर्ण थे। वैसी ही वह भी थी। उन दोनों की गति एक जैसी थी। रुक्मिणी की तरह ही सात अन्य पटरानियाँ थीं, वे तथा सोलह हजार स्त्रियाँ, इन्होंने भी तादात्म्य भाव से अग्नि में प्रवेश किया। जिन्होंने कृष्णमुख का सुख भोगा, उनकी इससे कम गति हुई यह कहने में भी पाप लगेगा क्योंकि कृष्ण के अंगसंग से ही वे ज्ञानस्वरूप हो गयी थीं। वाणी से 'कृष्ण कृष्ण' कहकर स्मरण करने से ही जब कोई पूर्ण कृष्णस्वरूप हो जाता है तो फिर जिसने कृष्ण के साथ प्रत्यक्ष उपभोग किया, उसकी योग्यता कभी कम नहीं होगी। जिसे कृष्ण का अंगसंग प्राप्त होगा, उसका वासनात्मक लिंगदेह भंग हो जायगा और अविनाशी की उपाधि प्राप्त होकर, भोग भोगते हुए भी उसका कृष्ण के साथ तादात्म्य स्थापित रहेगा। जिसके ध्यान में श्रीकृष्ण की मूर्ति रहती है, उसे चारों मुक्तियाँ वन्दन करती है। फिर जिसने स्वयं ही कृष्ण का उपभोग किया, उन्हें दूसरी गति कभी नहीं प्राप्त होगी। इहलोक में जिसे कृष्ण का साथ होता है, उन्हें परलोक में दूसरी गति प्राप्त होगी ऐसा कहने से ज्ञाता लोग रुष्ट हो जायेंगे। अतः उन्हें पूर्णत्व के कारण पूर्णस्वरूप की ही प्राप्ति होगी। जो लड़खड़ाकर गंगा में गिरता है उसका पाप तत्काल नष्ट हो जाता है; लेकिन जो विधियुक्त स्नान करता है उसका पाप क्यों नहीं नष्ट होगा? उसी प्रकार कृष्ण से व्यभिचार संगति करने से जब असंख्य गोपियों का उद्धार हुआ तो फिर उसकी शादीशुदा स्त्रियों को दूसरी गति कैसे प्राप्त होगी? अधिक क्या कहें, कृष्ण के पादस्पर्श से, अंगस्पर्श से जब गोकुल वृन्दावन के तृण, वल्ली, मृग, पाषाण, गौएँ, गोपियाँ और ग्वाला लोग तर गये तो फिर कृष्ण की स्त्रियों को अन्य गति कैसे मिलेगी? इसलिये, किसी भी ढंग से क्यों न हो लेकिन जिसका कृष्ण से संग हुआ उनका हे परीक्षित, कुरुराज अवश्य उद्धार हुआ।

अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः।
आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः॥ २१॥

जिसका रथ श्रीकृष्ण स्वयं हाँक रहा था, जिसका वह सारथी बना था, ऐसा वह प्रिय सखा अर्जुन तो कृष्ण के विरह से अत्यन्त उद्विग्न हो गया था। इतने में उसे कृष्ण ने गीता में कही हुई सुदुक्ति का स्मरण हो आया। फिर उसने अपने मन को किस प्रकार समझाया, जरा सुनिये। कृष्ण मेरे मन का मन है, कृष्ण मेरी बुद्धि का अधिष्ठान है, कृष्ण प्रकाश से ज्ञान प्रकाशित होता है फिर उसमें और मुझमें भिन्नत्व कहाँ रह गया? कृष्णप्रभा से आँखें देखने का काम करती हैं, कृष्ण की अवधान शक्ति से कान सुनने का कार्य करते हैं, कृष्ण की अनुवाद शक्ति से वाणी बोलती है, ऐसा होते हुए उसमें और मुझमें अन्तर है, यह मानना व्यर्थ है। कृष्ण ही हृदय में रहने वाला अव्यंग आत्मा है, कृष्ण ही मेरे अंग का अवयव है; ऐसे उस कृष्ण का और मेरा वियोग हुआ यह मानना भी केवल मिथ्या और मायाजनित है। कृष्ण मेरे जीव का जीवन है, कृष्ण मुझमें अंतर्बाह्य व्याप्त है, कृष्ण का वियोग मानने वाला मेरा मन भी श्रीकृष्ण में ही लीन हो गया है। भिन्न-भिन्न प्राणियों के जो आकार हैं, उनमें कृष्ण ऐक्यरूप से विद्यमान है। विषम में भी सम रहने वाला जो श्रीपति है उससे वियोग कभी नहीं होगा। घर मिट्टी से भिन्न नहीं होता। तंतु का त्याग कर वस्त्र को अलग नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार मैं अर्जुन श्रीकृष्ण से बिलकुल अलग नहीं हूँ। जब मैं श्रीकृष्ण से वियोग की बात करता हूँ, उस समय भी श्रीकृष्ण वहाँ उपस्थित रहता है। अतः जिसे लोग सच्चा वियोग कहते हैं, वह भ्रम के कारण तथा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

मूर्खतावश है। नित्य सर्वगत, परिपूर्ण तथा अखण्ड दण्डायमान श्रीकृष्ण में और मुझमें कोई अन्तर नहीं है। 'न जायते म्रियते' अर्थात् जो जन्म भी नहीं लेता और मरता भी नहीं, ऐसा अपने सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने स्वयं ही कहा है। उन श्रीकृष्ण को जन्म और मरण है ऐसा मूर्ख लोग ही स्वीकार करेंगे। 'मैं अक्षर और परब्रह्म' हूँ, ऐसा स्वयं पुरुषोत्तम ने ही कहा है। क्षर और अक्षर इनसे भी परे रहने वाला 'उत्तम पुरुष' श्रीकृष्ण, उसे भ्रांत लोग अपने मनोधर्म के अनुसार जन्म-मरण के फेरे हैं ऐसी कल्पना करते हैं। उस कृष्ण में और मुझमें कल्पांत में भी भिन्नता नहीं है। इस प्रकार गीतार्थ का स्मरण करते ही उसे अपने पूर्णत्व की प्रतीति होती है। मैं अजन्मा, आद्य, अचल, नित्य, निर्मल तथा आत्मस्वरूप हूँ। मेरे स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन नहीं है। त्रैलोक्य मेरा ही खेल है। संसार को नियमों का बोध कराने वाला वेद मेरे ही श्वासोच्छवास से निकला हुआ बोध है। आनन्द का परमानन्द और स्वानंद का कंद मैं स्वयं हूँ। उदक के रूप में मैं ही हूँ तथा प्रकृति पुरुषों का जनक हूँ। मेरे ही स्वरूप के आधार पर मैं ही कृष्ण रूप में अवतार लेकर, अपनी ही लीला से नाना प्रकार के चरित्रों का आचरण कर अन्त में स्वस्वरूप में समाविष्ट हो गया। मेरे निजस्वरूप के ही बल पर मैंने कृष्णरूप से क्रीड़ा की और अन्त में अपने में ही आपनिष्ठा से एकरूप होकर स्वयं में ही मिल गया। एक नर और एक नारायण, वे परस्पर अभिन्न ही थे इसीलिये अर्जुन अपने को पूर्ण स्वरूप में देखने लगा। वह कृपासागर कितना कृपालु है। युद्ध के समय उसने अर्जुन को उपदेश किया; लेकिन उस समय उसकी जो समाधि लगी, वह सचमुच कल्पांत में नहीं टूट पाएगी। वास्तव में देखा जाय तो वह स्थान भी बहुत पवित्र था एकांत में नहीं था। वहाँ असंख्य रथों की घड़घड़ाहट चल रही थी और शस्त्रों की खनखनाहट हो रही थी। किन्तु वैसे स्थान पर भी निर्दोष परमनिष्ठा मन पर अंकित कर दी। समाधि भी ऐसी लगी कि महायुद्ध में भी नहीं टूटी। अन्त में वह बोध कृष्ण के निर्वाण प्रसंग में पूर्णरूप से प्रकट हुआ। जिसे श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता का उपदेश किया, वह उस पर प्रभावकारी नहीं हुआ यह कहने से वाणी को दोष लगेगा। वह वाणी गलित कुष्ठ से झड़ जायेगी, उसमें विकल्प के कीड़े लगेंगे। कृष्णोक्ति से बोध नहीं हुआ यह कहने वाली जीभ ही झड़ कर गिर जायेगी। गीता के उपदेश से पूर्णत्व नहीं आता, यह कहते समय वाणी की देवता सरस्वती थर-थर काँपने लगेगी। फिर दूसरों की क्या कथा कहें? जो गीता सुनता है, देखता है और पठन करता है, जिसे गीता का केवल स्मरण होता है उसे भी पूर्णत्व प्राप्त होता है; फिर जिसे प्रत्यक्ष उपदेश हुआ था, उसे पूर्णत्व क्यों नहीं आयेगा? गीतार्थ का पूर्णत्व या तो उसका वक्ता श्रीकृष्ण जानता है या फिर उसका श्रोता अर्जुन जानता है क्योंकि उसका रहस्य उसके ही अंत:करण में अंकित था। वेदार्थ का सारांश निकालकर श्रीकृष्ण ने गीता प्रकट की। उसका रहस्य जानने पर मोक्ष अनायास ही प्राप्त होता है। वेदान्त परदेशी हो गया था। उसे गीतार्थ ने आश्रय प्रदान किया। उसी के बल पर वह सबका मन जीत कर समर्थ हो गया। वेदों का जन्म कृष्ण के श्वासोश्वास से हुआ; लेकिन गीता प्रत्यक्ष उसके मुख से प्रकट हुई। इसीलिये गीता का अर्थ अगाध है। उसके ही योग से वेद सशक्त हुए। वेद ने ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य इन तीन वर्णों को अपनाया था और शूद्र तथा स्त्रियों को दूर ढकेल दिया था। उनके कानों को भी वह स्पर्श नहीं करता था। यह वेद में कमी थी। वेद की यह न्यूनता दूर करने के लिये श्रीकृष्ण ने गीता का आविर्भाव किया। गीता के श्रवण से और पठन से सभी का उद्धार होता है। अर्जुन से प्रेम के कारण श्रीकृष्ण ने गीतार्थ प्रकट किया। उस गीता के श्रवण से और पठन से जड़-जीवों का उद्धार होता है। सारांश, गीता की महिमा महान है। उस गीतार्थ से ही अर्जुन ने अपनी सांत्वना कर ली और पहले की तरह देहभाव स्थिर कर स्वस्थचित्त हो गया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

बन्धूनां नष्टगोत्राणामर्जुनः साम्परायिकम्।
हतानां कारयामास यथावदनुपूर्वशः॥ २२॥

सभी यादव अपने कुल के साथ मर गये। उनकी उत्तर क्रिया करने के लिये भी कोई गोत्रज शेष नहीं बचा। वज्र नाम का अनिरुद्ध का पुत्र* द्वारका में रहता था इसलिये वह सारा उत्तर कार्य अर्जुन को करना पड़ा। मैं अब निष्कर्म ब्रह्मस्वरूप हो गया हूँ, अतः मैं यह अंत्यकर्म नहीं करूँगा ऐसी ज्ञानगर्व की अकड़ अर्जुन में नहीं थी। 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' अर्थात् कर्म में जो अकर्म देखता है वह बुद्धिमान और योगी है (गीता अ ४/१८) यह गीता का गूढ़ रहस्य अर्जुन के अंतःकरण में अंकित था। इसलिये उसने उन सबका अंत्यकर्म शान्त मन से किया। पहले वरिष्ठों का दहन किया, फिर कनिष्ठों का किया। उसी क्रम में सबका पिण्डदान कर सबका तिल तर्पण भी किया। इस पर सारी उत्तर क्रिया करके अर्जुन द्वारका लौटा। तो वहाँ दूसरा ही अरिष्ट सामने खड़ा था। समुद्र अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा था।

द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात्।
वर्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवदालयम्॥ २३॥
नित्यं संनिहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः।
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम्॥ २४॥

कृष्ण के द्वारका छोड़कर जाते ही समुद्र ने क्षणभर का भी विलम्ब न कर द्वारका क्षणभर में डुबो दी। तब सभी लोग हाहाकार करते हुए भागने लगे। समुद्र ने पूरी द्वारका डुबोयी लेकिन भगवान का स्थान छोड़ दिया क्योंकि पाताल से वह कुशनिर्दलन करने आया था। भगवान का स्थान समुद्र ने नहीं डुबोया क्योंकि वहाँ श्रीकृष्ण का संन्निधान नित्य नूतन स्फूर्ति का स्रोत रहता है। जिसका स्मरण करते ही महापातकों का नाश होता है और जो सर्वमंगल का अधिष्ठान है, वह श्रीहरि का स्थान बना हुआ है। उस द्वारका में अभी भी श्रीकृष्ण की पूजा होती है। हे महाराज परीक्षित! वह अधोसज का जागृत स्थल है।

स्त्रीबालवृद्धानादाय हतशेषान् धनंजयः।
इन्द्रप्रस्थं समावेश्य वज्रं तत्राभ्यषेचयत्॥ २५॥

इस प्रकार द्वारका के डूबने के बाद शेष बचे छोटे-छोटे बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष तथा स्त्रियों को साथ लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ जाने के लिये तैयार हुआ। जो यादव प्रभास तक गये थे वे सभी मर गये। वज्रादिक जो शेष बचे थे उनको लेकर अर्जुन निकल पड़ा। इस प्रकार उन सबको लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आया और यादववंश के राजकर्ता के रूप में उसने वज्र का राज्याभिषेक किया। अनिरुद्ध का पुत्र वज्र यही यादववंश के राज्य का उत्तराधिकारी था, इसलिये उसका राज्याभिषेक कर वीर अर्जुन तत्काल धर्मराज के पास जाने के तैयार हुआ।

श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहाः।
त्वां तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम्॥ २६॥

अर्जुन ने श्रीकृष्ण के निजधाम जाने का समाचार युधिष्ठिर को सुनाया। फिर परीक्षित, तुम्हें राजपाट देकर

* अनिरुद्ध को रुक्मिणी की नतिनी से हुआ पुत्र; यादवी के बाद अर्जुन उसे इन्द्रप्रस्थ ले गये और उसे राजगद्दी पर बिठाया।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

वे तत्काल निर्वाण के पथ पर चल पड़े। श्रीकृष्ण निजधाम गये यह सुनते ही कुंती ने वहीं प्राण त्याग दिये और द्रौपदी सहित पाँचों पाण्डव महापंथ पर चल पड़े।

य एतद् देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च।
कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ २७॥

ऐसा वह देवाधिदेव सर्वेश्वर, उसके मत्स्यकूर्मादि अवतार और जन्मकर्मादि नाना चरित्रों का जो गायन करते हैं, वे अत्यन्त पवित्र और पुण्यराशि हैं। उस चरित्र का श्रद्धापूर्वक गायन करने से प्रयागादि सारे तीर्थों को उसके योग से पवित्रता प्राप्त होगी। हे परीक्षित! श्रद्धायुक्त हरिकीर्तन करने से, उससे अधिक पवित्र कुछ है ही नहीं। वह श्रद्धा कैसी होती है, यह पूछो तो जिस प्रकार धन का लोभी धन के पास चिपक कर बैठता है, अथवा चींटा को जिस प्रकार गुड़ से प्रेम होता है, वैसा ही प्रेम कीर्तन में होना चाहिये। अनेक दिन कष्ट करने के बाद बाँझ स्त्री को जब बच्चा पैदा होता है तो उसे जिस प्रकार उसके प्रति अत्यन्त ममत्त्व होता है, उसी प्रकार कीर्तन के प्रति प्रेम होना चाहिये। हे परीक्षित! हरिकीर्तन के वैभव से बेहोश होकर श्रीहरि का चरित्र भक्तिभाव से गाने के लिये जो पतंग की तरह दौड़कर आता है उसका नाम 'श्रद्धा' है। ऐसी श्रद्धासम्पत्ति से युक्त होकर भगवान की गुणानुवाद कीर्ति का वर्णन करने पर, हे राजश्रेष्ठ! उस श्रद्धावान को 'परमप्राप्ति' होती है, यह निश्चित रूप से जान लो। परमेश्वर ने यद्यपि अपनी लीला से नाना प्रकार के अवतार लिये हैं, फिर भी उनमें श्रीराम और श्रीकृष्ण इनके चरित्र अत्यन्त गम्भीर और पवित्र हैं। कृष्ण की चोटी का गीतों में वर्णन करने से सुवर्णचोटी का पाप धुल जाता है। कृष्ण के व्यभिचार का वर्णन करने से गुरुपत्नीगमन का पाप भी नष्ट हो जाता है। पूतना के दुग्धप्राशन का चरित्र पढ़ने से, श्रद्धालु पुरुष के सुरापानादि दोष दूर हो जाते हैं। रावण राक्षस कुल का था किन्तु वह शुद्ध ब्राह्मण जाति का था। वह नित्य वेदपाठ करता था क्योंकि वह ब्रह्मदेव का पोता है। श्रीराम ने उसके पूरे कुल का नाश किया। उस चरित्र का पठन करने से ब्रह्म हत्या का लय होता है। श्रीकृष्ण धर्म का सहायक था। इसलिये उसने पाण्डवों का संरक्षण किया। उस महाभारत के श्रवण से मृत ब्राह्मण जीवित हो उठे। जनमेजय ने अठारह ब्रह्महत्याएँ की थीं। उसे महाभारत के अठारह पर्व सुनाकर मृत अठारह ब्राह्मणों को जीवित किया। कृष्ण की यह कीर्ति अत्यन्त पावन है। श्रीराम और श्रीकृष्ण की कीर्ति सुनने पर बेचारे महापातक हैं ही कितने? श्रद्धापूर्वक कीर्ति का गायन करने से चारों मुक्तियाँ चरण स्पर्श करती हैं। श्रद्धा के वैभव से तथा प्यार से श्रीकृष्ण के चरित्र का गायन करने से देह को होते हुए ही वे सायुज्य स्थिति तक पहुँचते हैं। जिसके हृदय में और मुख में हरिकीर्तन रहता है वह भले ही देह में विचरण करता दिखायी देता हो लेकिन वह देह में नहीं बल्कि हरि के पास रहता है और हरि भी पूर्ण रूप से उसके हृदय में रहता है। वह भी हरि में ही रहता है और हरि भी उसमें अन्तर्बाह्य रहता है। हे परीक्षित! इस प्रकार 'कीर्तिवंत' अर्थात् कीर्ति गाने वाले संसार में विचरण कर रहे हैं। अतः इस मृत्युलोक में हरिकीर्तन से अधिक सरल कोई अन्य साधन नहीं है। जो हरिकीर्तन में रममाण होते हैं वे देहबंधन का स्पर्श भी नहीं करते। कृष्ण के कीर्तन से अंतःकरण एक बार शुद्ध और स्वच्छ होने पर वह कल्पांत में भी मलिन नहीं होता। देह अवश्य कर्म करता है लेकिन उससे अंतर की स्थिति मलिन नहीं होती। आकाश बारिश से नहीं भींगता; अथवा कुण्ड के जल का सूर्य का प्रतिबिम्ब उससे गीला नहीं होता। उसी प्रकार हरिकीर्ति-कीर्तन के घोष से जिसकी निष्कामदशा उज्वल होती है, वे देहकर्म में विचरण करते हुए भी देह की मलिनता से अलिप्त रहते हैं। अपने भक्तों का शरीर कर्म पुरुषोत्तम स्वयं चलाता है, इसलिये भक्तों को अच्छे-बुरे कर्मों की बाधा नहीं होती। वास्तव में भक्तों के और अभक्तों के कर्म भगवान ही करता है; फिर भक्तों की ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

स्थिति अलिप्त क्यों रहती है? और अभक्त ही अत्यन्त बद्ध क्यों होते हैं? तो कृष्णकीर्ति का कीर्तन करने में भक्तों का देहाभिमान नष्ट होता है, इसलिये वे अलिप्त रहते हैं और अभक्तों को अहंभाव होने के कारण बन्धन प्राप्त होता है। हे परीक्षित! यह स्थिति माँगने से नहीं मिलती। बिलकुल इच्छापूर्वक श्रीकृष्ण कीर्ति गाने से अपने आप ही अंकित हो जाती है। श्रीकृष्ण कीर्ति के कीर्तन से और पठन से सन्तुष्ट होकर श्रीकृष्ण ने अनेक लोगों का संसार धारण छुड़ा दिया है। कृष्ण कीर्ति के कीर्तन में रुचि अहंकार का कारावास तोड़ देती है और असीम रुचि से कीर्ति गाने से जीव का जीवन बंध टूट जाता है। इस प्रकार कृष्ण की कीर्ति का कीर्तन कर भक्तों को 'कृष्ण की उपाधि' प्राप्त कर लेनी चाहिये। संसार का उद्धार करने के लिये ही श्रीकृष्ण ने अपनी कीर्ति का प्रसार किया है। ऐसा यह परमामृत का सार श्रीकृष्ण का चरित्र जन्म से अन्त तक परम अद्‌भुत है।

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतारवीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत॥ २८॥

ज्ञानधन श्रीकृष्ण का चरित्र जन्म से ही पावन है। जिसके संग से ग्वालों जैसे अज्ञानी जनों का उद्धार हुआ, जिसके साथ व्यभिचार करने से कितनी ही गोपियों का उद्धार हुआ; क्योंकि उन्होंने कृष्ण की श्यामसुन्दर मूर्ति देखकर मन में दृढ़ अभिलाषा रखी थी। कृष्ण की सुन्दर मूर्ति देखकर गौएँ भी सम्मोहित हो जाती थीं और तटस्थ खड़ी रहती थीं। इस प्रकार कृष्ण की संगति से पशुओं का भी उद्धार हो गया। फिर गोपियों का उद्धार क्यों नहीं होगा? वृन्दावन के तृण तथा पाषाण का (तृणजीव और पाषाण रूप के जीव) भी कृष्ण की संगति से उद्धार हुआ, ऐसा वह श्रीकृष्ण ज्ञान का साक्षात पुतला था। स्तन में विष भर कर पूतना कृष्ण का प्राण हरने आयी, उसका भी कृष्ण की संगति से उद्धार हो गया। कंस-शिशुपाल आदि का कृष्ण ने द्वेष के ही कारण उद्धार किया। अंग में चन्दन लगाया इसलिये कुब्जा को तारा मद से उन्मत्त मूढ़ कवलयापीड हाथी मारने के लिये आया, उसने कृष्ण को जोर से चोट पहुँचायी इसलिये उसे मोक्ष सुलभ कर उसका उद्धार किया। श्रीकृष्ण पर अरिष्ट लादने के लिये अरिष्टासुर आया था, उसे सींग से पकड़ कर तारा। अघासुर ने श्रीकृष्ण को निगल लिया था, उसे तत्काल चीर कर उसके दो फाँक कर उसका उद्धार किया। कृष्ण की प्रतीक्षा करते हुए बकासुर यमुना के जल में ध्यानस्थ बैठा था, उसने कृष्ण को तत्काल निगल लिया। तब उसके दो फाँक कर उसका उद्धार किया। तृणावर्त कृष्ण को उड़ाने आया था, उसे लट्टू की तरह घुमाकर मारा। ऐसा कृष्ण बैरी को भी अंगसंग से कृपालु होकर तारता है। गोपालों को चोर चुरा कर ले गये, उस ठग व्योमासुर को मार कर उसका भी उद्धार किया। श्रीकृष्ण मोक्ष दिलाने में उदार हैं। उसने कंस का केशी नामक घोड़ा मारकर उसे तारा। अखाड़े में मल्लों का संहार कर मोक्ष की खैरात कर दी। विषैले कालिया सर्प को समाप्त कर दिया। वत्सासुर को वृक्ष पर फेंक कर मारा। ऐसा श्रीकृष्ण संसार समुद्र की नौका है। वह स्वसंगति से जड़मूढ़ जीवों का उद्धार करता है। जिन्होंने कृष्ण के साथ खेल खेले थे, जिनके घर का वह पानी पिया था, जिनके घर का मक्खन चुरा कर खाया था, उन ग्वालिनों का भी उसने उद्धार किया। रुक्मिया की दुर्गत कर उसे तारा, बाणासुर की भुजाएँ तोड़कर उसे तारा। कुशराक्षस का प्राण लेकर उसे तारा। इस प्रकार श्रीकृष्ण मोक्षदाता है। जिन्होंने श्रीकृष्ण से संबंध किया अथवा जो मौज में उसे देखने आये उन्हें उसने दर्शन सुख से तृप्त कर लिया। पाण्डवों का पक्ष लेकर उन्हें तारा, बैरियों को शस्त्राघात से तारा। इस प्रकार कृष्ण ने अपनी संगति से अनेक लोगों का उद्धार किया। वैरियों को द्वेषभाव से ही तारा; भक्त भक्तिभाव से उसके पास पहुँचे और जीव भाव से अनुसरण करने वाली गोपियों को प्रत्यक्ष संगति का अनुभव देकर उनका उद्धार किया। संरक्षण कर गौओं को तारा; मुकुट पर मोरपंख लगाकर मयूरों का उद्धार

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

किया। केशों में फूलों के गुच्छे खोंस कर वृक्षों का उद्धार किया। ऐसा कृष्ण पूर्णब्रह्म होने के कारण सभी दृष्टियों से तारक ही है। श्रीकृष्णावतार पूर्ण ब्रह्म था। उसका लीलाचरित्र ज्ञानप्रधान था। उसमें भी उसका बालचरित्र परम पावन है। वह सर्वत्र ज्ञानियों के लिये वन्दनीय है। षट्गुणों का वैभव लेकर श्रीकृष्ण का अवतार हुआ था। यश, श्री, औदार्य, कीर्ति, ज्ञान और वैराग्य की स्थिति उसके पास अक्षय थी। अन्य अवतारों में ये गुण पूर्ण रूप में नहीं थे। किन्तु कृष्णावतार परिपूर्ण ब्रह्म होने के कारण ये सारे गुण उसमें पूर्णरूप से प्रकट हुए थे। इसलिये कृष्णावतार छहों गुणों से सम्पन्न था। इसलिये उसकी संगति से सभी का सदासर्वदा उद्धार हुआ। कृष्ण की संगति से उद्धार हुआ हो, या कृष्ण की मूरत देखकर लोग तर गये हों इनमें कोई आश्चर्य नहीं है। लेकिन इस कृष्णकीर्ति का ही गायन कर कितनों का उद्धार हो गया उनकी कोई गिनती नहीं है। अभी भी श्रद्धालु लोगों का उद्धार हो ही रहा है। इच्छापूर्वक कृष्ण कीर्ति का गायन करने से सद्गति का लाभ होता है; और जिसे परा कहते हैं, वह चौथी भक्ति घर चल कर आती है। आर्त्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी इनकी स्थिति तो सहज रहती ही है, लेकिन श्रीकृष्ण कीर्ति का स्वयं गायन करने से अखण्ड चौथी भक्ति प्रकट होती है, विषयों के प्रति अपने आप ही विरक्ति उत्पन्न होती है और शमदम भी सहज ही चरण चूमते हैं। कृष्ण कीर्ति का जो निरन्तर जप करता है, उसके पास श्रीकृष्ण सदा निवास करते हैं। श्रीकृष्ण की कीर्ति का भक्तिभाव से जप करने से समस्त प्राणिमात्र में श्रीकृष्ण प्रकट होता है और परमात्म स्थिति के साथ चौथी भक्ति अपने आप हृदय में स्थापित हो जाती है। उस भक्ति में पूज्य और पूज्यक दोनों श्रीकृष्ण ही रहते हैं। अर्थात् पूजा, अर्चना आदि सारे उपचार भगवान स्वयं ही हो जाता है। इत्र, गंध (पुष्प), धूप, दीप आदि सब कुछ श्रीकृष्ण स्वयं ही बन जाता है। स्वयं ही स्वयं को भजना यही चौथी भक्ति का लक्षण है। चौथी भक्ति का स्वरूप यही है कि भोग्य और भोक्ता श्रीकृष्ण स्वयं ही होने के कारण भक्त और श्रीकृष्ण में क्षणार्ध के लिये भी अलगाव नहीं होता। उस समय भक्त का देह, घर, द्वार सब कुछ श्रीकृष्ण ही बन जाता है। जिस स्वरूप में कभी च्युति नहीं है, वह निश्चित रूप से कृष्ण स्वरूप ही है। कृष्ण की कीर्ति वर्णन करने से भक्त स्वयं तद्रूप होकर रहते हैं। कृष्णकीर्ति का प्रत्येक अक्षर वेदों का आत्मलिंग है। हे परीक्षित! कृष्ण चरित्र सभी शास्त्रों का परमसार है। वेदों का जन्मस्थान, सकल शास्त्रों का समाधान, षट्दर्शनों का ज्ञान अथवा समन्वय यही श्रीकृष्ण का आठवाँ पूर्णावतार है। हरि के ऐसे अनंत अवतार हुए हैं किन्तु कृष्णावतार यह ज्ञानघन अवतार है। उसका चरित्र अत्यन्त पवित्र तथा भवबंधन नष्ट करने वाला है। हे नृपनाथ! उस कृष्णकीर्ति का सादर स्मरण करने से संसारबन्धन की सचमुच ही समाप्ति होती है। श्रीकृष्णकीर्ति के साथ वैभव रहता है, श्रीकृष्ण कीर्ति के पास वैराग्य रहता है; जिनके मन में श्रीकृष्ण की कीर्ति रहती है वे कलिकाल से भी भयभीत नहीं होते। यदि आलस में भी कृष्णमूर्ति का स्मरण करें तो भी सारे पातक भस्म हो जाते हैं। कृष्ण की कीर्ति का जो सदासर्वदा गायन करते हैं, उनके पास चारों मुक्तियाँ दासी बनकर रहती हैं, श्रीकृष्ण कीर्ति का एक अक्षर भी महापातकों की राशि भस्म कर देता है। वह मोक्ष दिलाकर, उदारतापूर्वक संसार का उद्धार करने वाला है। भगवान ने अनेक अवतार लिये हैं, लेकिन इस अवतार की बात निराली है। इसकी सारी लीला ज्ञानप्रधान है। इसका रहस्य अगम्य है, वह ब्रह्मादिक देवताओं की भी समझ में आने लायक नहीं है। जन्म से ही जो कर्म किये, वे सब एक से एक अद्भुत थे। नित्य नया चमत्कार और ब्रह्मसुख का सुकाल कर दिया। अवतारों में केवल श्रीकृष्ण ही निश्चित पूर्ण ब्रह्मस्वरूप है। उसके ज्ञानधन चरित्र के पठन से लोग पवित्र होते हैं। इस प्रकार कृष्णकीर्ति पावन है। उसका पठन करने से पाठकों का उद्धार होता है और श्रद्धापूर्वक श्रवण करने वाले भी संसार सागर तर जाते हैं। कलियुग में लोग मंद बुद्धि होंगे। उसका सुगम रीति से निदान हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सके इसलिये कृष्णकीर्तिका विस्तार किया है। ऐसी परमपावन भगवान की कीर्ति का श्रीभागवत में विस्तार से वर्णन हुआ है। उसमें दशमस्कंध की श्रीकृष्ण की कीर्ति तो अत्यन्त मधुर है। दीनजनों के तरने के लिये श्रीकृष्ण नित्य नूतन दिन बढ़-चढ़ कर अपनी कीर्ति का प्रसार करते हैं। नट का वेश धारण कर श्रीकृष्ण ने अवतार लिया था। उसके अनुसार उसने प्रतिदिन नाना प्रकार के चरित्रों का अभिनय किया। उसका बालचरित अत्यन्त मधुर, सुन्दर और पवित्र है। उसमें अखाड़े में मल्लों का गर्व हरण करने का चरित्र परम पावन है। जरासंघ को पराजित कर, कालयवन का नाश कर श्रीकृष्ण ने अद्‌भुत चरित्र दिखलाया है। रण में रुक्मिया को दुर्गत कर तथा शिशुपालादि वीरों का दमन कर कृष्ण ने रुक्मिणी का हरण किया। वह लीला भी परम पावन है। पटरानियों का विवाह, भौमासुर का संहार, पारिजातक का हरण, सोलह सहस्र स्त्रियों का पाणिग्रहण, समुद्र में द्वारका की बस्ती बसाकर रातों रात किसी की निद्रा को भंग किये बिना पूरी मथुरा वहाँ ले आये, यह कृष्ण की लीला अघटित ही हे। बछड़े और गोपाल बनकर उसने अपना पूर्णत्व प्रकट किया, ऐसा कृष्ण पूर्णरूप से अवतारी है, यह ब्रह्मादिदेवताओं को भी नहीं मालूम हुआ। सब्जी का एक पत्ता खाकर समस्त ऋषि समुदाय का तृप्त किया। ऐसे ज्ञानप्रधान तथा परमपावन चरित्रों का उसने निर्वाह किया। कृष्ण की ऐसी लीलाएँ अद्भुत हैं। वह पठन करने वालों को पुनीत करती हैं। वह साद्यंत कथा दशम स्कंध में कही गयी है। एकादश स्कंध उससे अलग है। उसमें मूल से ही परम पद की प्राप्ति है। ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और मुक्ति इनके बारे में श्रीकृष्ण ने अपने मुख से बताया है। पहले अध्याय में नारद और वसुदेव का संवाद तथा वैराग्य पूर्णरूप से भरा हुआ है। वही साधकों की भूमिशुद्धि अर्थात् स्थान का चयन है। उसमें निमिजायंत का सवांद निर्भयस्थान कौन सा है? उत्तम भागवत कौन है? माया और उससे तरना, कर्म और ब्रह्म आदि जनक के नौ प्रश्नों के सम्पूर्ण उत्तर, वही जमीन की जुताई है। प्रश्नोत्तर रूप हल से खेत जोत कर तैयार किया। छठवें अध्याय में देवताओं ने श्रीकृष्ण की प्रार्थना की, उस समय कृष्ण कुलक्षय के अन्त में निजधाम के लिये प्रयाण करेगा, इस बात को ध्यान में रखकर उद्धव ने जो खेद प्रकट किया, उसने कल्पनाकाश का निर्दलन कर विकल्प के पत्ते तोड़ दिये। काम और लोभरूपी गुप्त खूँट भीतर रह गये थे, वे अवरोध उत्पन्न करने लगे। उन्हें तीव्र अनुताप से समूल उखाड़ कर समतल भूमि तैयार की। क्रोध की मोटी जड़ें थीं उन्हें शान्ति ने समूल उखाड़ दिया। उद्धव स्वरूप चातक का दुःख हरण करने के लिये श्रीकृष्ण ने कृपारूपी मेघ की जलवृष्टि की। इससे सारा खेत अच्छी तरह गीला हो गया और तत्काल आमज्ञान की वाष्प तैयार हो गयी। फिर पूर्ण ब्रह्मरूपी बीज, व्यर्थ के तन्तु, रस्सी आदि सब छोड़कर केवल कर्णरूपी नली से श्रीकृष्ण ने स्वयं बोये। इसके उपरान्त यदु अवधूत संवाद के रूप में चौबीस गुरुओं की उपपत्ति सुनायी। यही उस खेत के चारों ओर खोदा हुआ खंदक है ताकि कोई जानवर खेत में न घुस सके। इसके बाद जब फसल पकने लगी तब वहाँ फसल का नाश करने वाली चिड़ियों को श्रीकृष्ण ने दसवें अध्याय में भजनरूपी गुलेल से उड़ा दिया। अर्थात् उन सभी मतों का खण्डन किया। ग्यारहवें अध्याय में मुक्त के हस्त से ज्ञाताओं को तिलगुड़ के साथ ज्वार के भुट्टे, गेहूँ की बालियाँ तथा बजरे का परमल खिलाया। उस वैभव के भोक्ता यहाँ सत्संगति करने वाले भगद्‌भक्त हैं, ऐसा बारहवें अध्याय में कृपापूर्वक बतलाया। विषयों की विषयावस्था साधक के चित्त को बाधक न हो ऐसी कथा तेरहवें अध्याय में सुनायी। इस प्रकार तेरहवें अध्याय में फसल पूरी तरह पक गयी। वही हंसगीत का निरूपण और समाधि श्रीकृष्ण ने बतायी। उस समाधि में एकत्र फसल साधकों को कैसे प्राप्त हो? इसी उद्देश्य से भजनपूर्वक चौदहवाँ अध्याय सुनाया। वह फसल हाथ में आते-आते ऋद्धि-सिद्धि बीच में ही झपट्टा मार कर ले जाती हैं इसलिये उन्हें टालने का उपाय पन्द्रहवें अध्याय में बताया। वह फसल पूरे त्रिभुवन में

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

भी नहीं समा पाती। उसके संग्रह कितने हैं उनके सम्बन्ध में विभूति के रूप में श्रीकृष्ण ने सोलहवें अध्याय में बताया। इस खेत के अधिकारी यहाँ चार आश्रम और चार वर्ण हैं; अत: सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में उनके विभागों के बारे में बतलाया। उन्नीसवें अध्याय में बताया कि फसल काटकर अनाज प्राप्त करने के लिये जिस छिलके से अनाज तैयार हुआ है उसे पछोड़ कर अलग करना चाहिये। फिर अनाज के जो दाने अपने हिस्से में आये हों उन्हें हमें सुरक्षित रखना चाहिये क्योंकि गुणदोषरूपी चोर अनाज चुराकर ले जाते हैं। अनाज सभी को मिलता है लेकिन चोरों के भय से वे खा नहीं पाते। उन चोरों ने बड़े-बड़े लोगों को हानि पहुँचायी है। इसलिये उसकी अच्छी तरह सुरक्षा करनी चाहिये। गुणदोषों की बात विचित्र-सी है। वे चोर हमसे मिल-जुल कर, स्नेह दिखाकर सब कुछ ठग कर ले जाते हैं। एक दाना भी हाथ में नहीं आने देते। गुण-दोष अत्यन्त बलवान हैं, ज्ञानियों का तो वे निश्चित रूप से छल करते हैं। उन गुणदोषों का जो संहार करता है वही त्रैलोक्य में बलशाली है। यह उपदेश उद्धव ने सुना तो उसने तत्काल ही कहा, इन चोरों को आश्रय देने वाला तो आपका वेद ही है। उसी की सहायता से ये गुणदोष बढ़े हैं। तुम्हारा वेद ही खराब है। वही मुख्य चोरों का बाड़ा है। उसी में गुणदोषों ने आश्रय लिया है। वही हर प्रकार की चिहुल सिखाता है। इस प्रकार गुणदोषों का पालन-पोषण कर वेद ही सबको लूटता है, ऐसी स्थापना वेद के सम्बन्ध में उद्धव ने की। लेकिन वेद की बात में दुष्टता नहीं है ऐसा प्रत्येक शब्द में स्पष्ट कर दिया है। वही इक्कीसवाँ अध्याय है। चोर किस मार्ग से आते हैं, किस रास्ते फसल ले जाते हैं उन रास्तों को ही बन्द करने के लिये तत्व संख्या का विचार बाईसवें अध्याय में बताया। मुख्यरूप से ज्ञान का संरक्षण करने के लिये दृढ़ शान्ति ही कारण है। उसी भिक्षुगीत का निरूपण श्रीकृष्ण ने किया। प्रमुख चोर की चुराने की प्रवृत्ति मन में रहती है। इसी मनोजय का लक्षण ही तेईसवें अध्याय का निरूपण है। चोर जहाँ जन्म लेता है, वह प्रकृति ही झूठी है इसलिये पकी हुई फसल को लूट कर वे अन्त में उसी में छिप कर बैठ जाते हैं। आदि भी निर्गुण और अहं भी निर्गुण; बीच ही में उत्पन्न प्रकृति के तीन गुण होते हैं, इसलिये मुख्य फसल को उससे बचाना चाहिये। यही निरूपण चौबीसवें अध्याय में किया गया है। खेत में फसल पड़ी हो फिर भी पशु, पक्षी अथवा चोर उसमें प्रवेश न कर सकें ऐसी सहज सुरक्षा का उपाय निर्गुणोक्ति ने पचीसवें अध्याय में बताया। स्त्रीभोग की इच्छा प्रबल होने पर पूरा अनाज नष्ट हो जाता है, जहाँ राजा पुरूरवा नष्ट हुआ वहाँ औरों की क्या बिसात है? काम की आसक्ति से जो पूर्णरूप से स्त्रियों के मोह जाल में फँसते हैं उन्हें पश्चात्ताप से छुटकारा मिलता है, इसी का छब्बीसवें अध्याय में निरूपण हुआ है। निरोग फसल प्राप्त होने पर भी उसकी पाक क्रिया जानना आवश्यक है। इसलिये कर्मयोग का स्वरूप सत्ताईसवें अध्याय में प्रकट किया गया है। इस प्रकार पूरी फसल हाथ में आने पर भी उसके स्वादिष्ट पकवान की विधि आनी चाहिये। ऐसे सरस अमृत फलों का वर्णन अट्ठाईसवें अध्याय में किया गया है। वे पकवान इतने मृदु, मधुर और कुरकुरा होते हैं कि उसके सुवास से ही भोजन करने वाले तृप्त हो जाते हैं और उसका ग्रास मुँह में डालना ही काफी है, अंतर्बाह्य नित्य तृप्ति ही हाथ लगती है। तब इच्छा के अनुसार भूख शांत होती है, सुख पर भी तृप्ति सुख का आवरण रहता है अपने माधुर्य के कारण अपूर्व वह अट्ठाईसवाँ अध्याय है। इस अध्याय का माधुर्य इतना अनूठा है कि उसे चखने के लिये ब्रह्मदेवादि देवता भी छटपटाते रहते हैं। यह भोजन जिसके बिना खाया जाता है, रसना के बिना उसका माधुर्य चखा जाता है। अदंत के दाँत गिराकर ही स्वयं उसे चखना पड़ता है। श्रीकृष्ण की कुशलता इसमें है कि उसने उद्धव को थाल बनाया। एकनाथ जनार्दन चरण की मक्खी बनकर उस रस का आस्वाद ले रही है। जहाँ बड़ों-बड़ों का प्रवेश नहीं हो पाता, वहाँ मक्खी आराम से चली जाती है। सारांश, जो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सबसे छोटे बन जाते हैं, उन्हें ही भगवद् रस सहज ही चखने को मिलता है। ऐसे अगम्य योग का भण्डार, गूढ़ ज्ञान का गहन ज्ञान, परमसुख का सुखसार, अट्ठाईसवाँ अध्याय है। इस भोजन से जो लोग तृप्त हो गये, वही यह समर्थ उन्नीसवाँ अध्याय है। उसका निरूपण अत्यन्त अद्‌भुत है। इस अध्याय का रहस्य यदि मन में बस जाय तो पूरे भागवत का फल उसके पास दौड़ कर आयेगा। इस अध्याय में साध्य-साधनों की एकात्मता हो गयी है। इसलिये अहंकार का नाश होकर वह परमानन्द की ढकार दे रहा है। पूरे भोजन की शोभा ताम्बूल और चन्दन है। वही तीसवाँ और इकतीसवाँ अध्याय है। उसमें कृष्णनिर्वाण का आत्मज्ञान है। इस भोजन से जो तृप्त हो गये उन्हें ममतापाश कभी बाधक नहीं बनता। इस प्रकार सारे कुल का संहार कर श्रीकृष्ण निजधाम चले गये। जिन्हें पूर्ण ब्रह्मानुभव प्राप्त हुआ हो, उसमें अब तक ममता नहीं होनी चाहिये; यह प्रतीत कराकर श्रीकृष्ण निजधाम चला गया। श्रीभागवत एक बड़ा खेत है। इसमें प्रमुख बीज धारण करने वाला है, ब्रह्मदेव! क्योंकि आदिकल्प में नारायण से इसे ही पहली बार चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश हुआ था। नारद इस खेत का जमींदार है (क्योंकि उसे ब्रह्मदेव से भागवत का उपदेश प्राप्त हुआ था।) उसने भी अद्‌भुत ढंग से बीड़ा बोये। उसमें श्री व्यास ने इस प्रकार के लक्षण जोड़ दिये। इससे फसल बहुत ही अच्छी हुई। उससे स्वानंदबोध परिपक्व हुआ है। शुक वहाँ रखवालदार बन गये। उन्होंने हरि कथारूपी गोफन फड़का कर पातकरूपी पक्षियों का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया। उद्धव ने एकादश स्कंध में उस फसल की कटाई की और कृष्णोक्ति से पछोड़े हुए स्वच्छ दाने एकत्र किये। वहाँ नाना प्रकार की युक्ति-प्रयुक्ति से, प्रश्नों की मालिका से स्वादिष्ट पकवान तैयार किये। उनका माधुर्य नित्य नूतन और अविनाशी है। उसकी वह अविनाशी मिठास एकादश स्कंध में प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। इसलिये उद्धव के ही साथ संसार पर भी उपकार हुआ है। उद्धव की पिछली पंक्ति में श्रवण के संकप लेकर बैठे परीक्षित शुक के मुख से आत्मज्ञान से तृप्त होकर सन्तुष्ट हुआ। उन्हीं बड़ों की पंक्ति में श्रीधर भावार्थ दीपिका रूप दीपक हाथ में ले कर पदरूपी पदार्थ दिखाकर आत्मज्ञान से तृप्त हुआ। उसमें देशी भाषा में एकनाथ कृपा की मक्खी भी भोजन करके तृप्त हुई क्योंकि उसे कहीं भी कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है। एकनाथ जनार्दन की दुलारी बिल्ली है। भावार्थ दीपिका के प्रकाश से उसे यह उत्तम दिखायी पड़ा इसलिये वह थाली में पहुँची। "मियो मियो कहकर क्या मैं आऊँ यह शब्द सुनते ही सज्जन प्रसन्न हो उठे और उन्होंने कृपाकर शेष प्रसाद देकर मुझे सन्तुष्ट किया। एका जनार्दन का दास है अतः मैंने नम्रभाव धारण कर बिल्ली का रूप लिया और संतों का उच्छिष्ट पत्तल चाट कर मैं पूर्णरूप से तृप्त हुआ। जो काया वाचा मन से सद्भक्ति से नम्र होता है, नीच के सामने भी नम्र होता है—वही एकादश स्कंध का अधिकारी है, ऐसा जनार्दन का उपदेश है। जब तक ज्ञान का अभिमान रहता है, जब तक मान-सम्मान की इच्छा रहती है, तब-तब एकादश स्कंध के ज्ञान से अपरिचय रहेगा ही। पूर्ण सद्भावना से जब तक समस्त प्राणिमात्र में भगवद्भाव उत्पन्न नहीं हुआ, तब तक एकादश स्कंध का ज्ञान बिलकुल समझ में नहीं आयेगा। इस प्रकार श्रीभागवतरूपी खेत में परम पवित्र फसल तैयार हुई है। जिन्हें समस्त प्राणिमात्र के प्रति अपार आदर हो वही साधकजन यहाँ सुखी होंगे। एकादश स्कंध केवल खेत नहीं है, वह तो परिपूर्ण चित्समुद्र है। इसमें जो जितना डूबेगा उतने ही अधिक चिद्रत्न वह प्राप्त करेगा। यह केवल एकादश स्कंध ही नहीं, अपितु जीवरूपी गजेन्द्र के उद्धार के लिये हाथ में ज्ञानचन्द्र लेकर वेग से आये श्रीकृष्ण ही हैं। लेकिन इस उपमा से भी एकादश स्कंध की महानता का वर्णन पर्याप्त नहीं हो पाता; बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि अहंकार रूपी हिरण्यकश्यपु का विदारण करने के लिये पूर्ण कृपालु और भक्तों का पक्षधर यह नरहरि ही प्रकट हुआ है। या ऐसे कहें कि कृष्ण और उद्धव ये गंगा और यमुना हैं और ज्ञानधारा यह गुप्त सरस्वती है। अतः

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एकादश स्कंध को त्रिवेणी संगम का प्रयाग ही समझना चाहिये। यहाँ वैराग्यरूपी माघ मास में, श्रद्धा के अरुणोदय के समय जो भी नित्य स्नान करेगा, वह पावन होकर पूर्ण कृष्ण-पद को प्राप्त करेगा। लेकिन यह उपमा भी एकादश स्कंध के लिये उपयुक्त नहीं है। तो कृष्ण उद्धव का यह गुह्य संवाद साधकों के लिये लम्बे समय बाद आने वाला कपिला षष्ठी का सुन्दर पर्वकाल है। इस पर्वकाल में जो डुबकी लगायेंगे उनका तत्काल कल्याण होगा। उन्हें जन्म-मरण की बाधा नहीं होगी, वे स्वयं परिपूर्ण ब्रह्म होंगे। यह एकादश स्कंध नहीं, अपितु एकतीस खण्ड का एक तुलसी वृन्दावन ही है; उसमें ज्ञानमंजरी के गुच्छे शोभा दे रहे हैं। उनमें जो अपना जीवित जलरूप डालेगा, वे परमपावन होंगे और परिपूर्ण ब्रह्म होकर स्वानंदरूप कृष्ण सदन पहुँचेंगे। जो मूल के उदक का वंदन करेंगे, जो मूल की मिट्टी लगायेंगे वे त्रिभुवन में वंद्य होकर उन्हें नित्य निजसखा कृष्ण की प्राप्ति होगी। उसी प्रकार, हे सुजान परीक्षित! जो भी कोई पठन के द्वारा प्रत्यगावृत्ति अर्थात स्वस्वरूपाकार वृत्ति के इस वृन्दावन को सद्भावना से प्रदक्षिणा करेगा, वे भी श्रीकृष्ण चरणों में रंग जायेंगे। जो इस कथा की विचित्र लीलाओं की रंगोली इस तुलसी वृन्दावन के सामने नित्य सजायेंगे वे कलिकाल को भी जीतेंगे व उनके साथ श्रीकृष्ण सदासर्वदा खड़ा रहेगा। इस एकादश स्कंध रूप वृन्दावन की जो श्रवणरूप से नित्य पूजा करेगा, उस पर श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर उसका देहाभिमान नष्ट करेगा। जो मनन की पुष्पांजलि (मंत्रपुष्प) नित्य त्रिकाल अर्पण करेगा, वह भी आत्मनिष्ठा से हरि के पास पहुँचेगा। श्रीभागवतरूपी वृन्दावन के पास संत-सज्जनों को एकत्र कर, इसकी कथा का जो निरूपण करेंगे वह वृन्दावन की निरपेक्ष महापूजा होगी। यह महापूजन देखकर श्री जनार्दन सन्तुष्ट होगा और जो श्रोता-वक्ता सावधान रहेंगे उन्हें वह स्वयं आत्मज्ञान देगा। श्रवण से, पठन से, मनन से तथा अर्थनिरूपण से एकादश स्कंध समान फल देगा। उसके मन में ज्ञाता और अज्ञानी के प्रति कोई भेद नहीं है। यदि श्रवण, मनन अथवा पठन सम्भव न हो तो एकादश स्कंध की पुस्तक ही ब्राह्मण को दान में दें। इससे विवेक ज्ञान उत्पन्न होगा। एकादश स्कंध का दान दें, एकादश स्कंध की पूजा करें अथवा केवल एकादश स्कंध का स्मरण करें तो भी सारे पातकों का नाश होगा। एकादश स्कंध का जो संग्रह करता है, उसके घर में श्रीकृष्ण का वास रहता है। एकादश स्कंध में जो श्रद्धा रखता है, उसमें ज्ञान अपने आप प्रवेश करता है। जिसके मुख से इसके श्लोकों का, आधे श्लोक का अथवा एक चतुर्थांश श्लोक का नित्य स्मरण होता है, वह भी परम पवित्र होता है। इस प्रकार एकादश स्कंध अत्यन्त उदार है। किसी काम के लिये जाते समय यदि अकस्मात भी एकादश स्कंध पर दृष्टि पड़ जाये तो सारे पातक भय के मारे भाग जाते हैं। एकादश स्कंध जिसके हाथ में हो, उसे देवतागण भी प्रणाम करते हैं। वह स्वयं सारे संसार का उद्धार कर सकता है। एकादश स्कंध का इतना माहात्म्य है। सारे पुराणों में एकादश स्कंध एक वनकेशरी (सिंह) है वह एक श्लोकार्ध में ही, क्षणभर में संसाररूपी गज का विदारण कर देता है। 'मामेकमेवशरणं' (अ० १२, श्लोक १७) इस श्लोक का पठन करने से, वह माया का गला दबाकर भय से ही संसार को नष्ट देता है। 'निरपेक्षं मुनि शांत' (अ० १४, श्लोक १६) यह श्लोक यदि अंत:करण में बस गया तो उस भक्त की कृष्ण भी सेवा करता है, फिर संसार का भय कहाँ रहेगा? एकादश स्कंध का प्रत्येक श्लोक भवबंध को काटने वाला है। जिसमें साक्षात श्रीकृष्ण ही वक्ता हैं, उसमें किसी एक को ही अच्छा कैसे कहा जा सकता है? श्रीभागवत में एकादश स्कंध ही मोक्ष का स्थान है। इसलिये आधे श्लोक से भी संसार बंधन का पूरी तरह नाश होता है। श्रीकृष्ण वेदों का जन्मस्थान है और निरूपण उसके मुख से निकला है। इसलिये सारे वेदों का अर्थ स्वयमेव ही यहाँ अपने मैके आया है। इसलिये एकादश स्कंध में वेदार्थ मैके में रहकर सुखी हो गया है। वे साधक को स्वानंदरूप सम्पूर्ण परमार्थ देते हैं। वेदशास्त्रों का मंथन कर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

व्यासजी ने महाभारत रचा। उस महाभारत का अर्थ अर्थात् भागवत में हरि की लीला है। ऐसे उस भागवत का सारांश यह एकादश स्कंध है। वहाँ वक्ता स्वयं श्रीकृष्ण हैं, तथा उसने परब्रह्मरस का प्रबोधन किया है। जिस प्रकार संन्यासियों में परमहंस, अथवा देवताओं में विष्णु हैं, उसी प्रकार भागवत में एकादश स्कंध परम वंदनीय है। जिस प्रकार पक्षियों में राजहंस है अथवा रसों में अमृत है, उसी प्रकार भागवत में यह एकादश स्कंध भी परम सरस और वन्दनीय है। तीर्थक्षेत्र में जिस प्रकार काशी है अथवा नदियों में पावनगंगा है, अथवा व्रतों में जिस प्रकार उद्धार करने वाली एकादशी है, उसी प्रकार इस एकादश स्कंध की महिमा भी अवर्णनीय है। उस एकादश स्कंध पर जनार्दन की कृपा से एकनाथ ने एक टीका प्रस्तुत की है। जो इसे सद्भावना से पढ़ेगा वह एकत्व के निजसुख को प्राप्त करेगा। बच्चे का हाथ थाम कर बाप जिस प्रकार स्वयं ही अक्षर लिखता है उसी प्रकार एकादश स्कंध का अर्थ अर्थात् परमार्थ मुझसे जनार्दन ने ही बुलवाया। ग्रन्थ कैसे लिखा जाता है, शब्द का अर्थ कैसे किया जाता है, इस व्युत्पत्ति की मुझे कोई वार्ता ही नहीं है, लेकिन समर्थ जनार्दन ही मुझसे यह सब कहलवा रहा है। जनार्दन ने एक बड़े आश्चर्य की यह बात की कि मुझ मूर्ख के मुख से ज्ञान कहलवाया; ग्रन्थ को परमार्थ का स्वरूप प्रदान किया और एकादश स्कंध का वर्णन करवाया। एकादश स्कंध के प्रत्येक पद का अर्थ शास्त्रकारों को भी अत्यन्त गूढ़ मालूम होता है, किन्तु वह भी मुझसे कहलवाया। इस प्रकार जनार्दन समर्थ होते हुए कृपालु है और जनार्दन ने यह किया कि मेरा 'मैं'पन समूल समाप्त कर दिया और फिर अपनी सत्ता से परमार्थ कहलवाया। सूत्रधार जिस प्रकार कठपुतली अच्छी तरह नचाता है, उसी प्रकार ग्रन्थ की भाषा जनार्दन ने कहलवायी। सर्वत्र जनार्दन ही व्याप्त है। वही एका (एकनाथ) बना और उसी नाम से सुन्दर ग्रन्थ तैयार कर सात्त्विक लोगों को तत्वार्थ दिखला दिया। कवित्त्व में मेरा नाम है अवश्य, लेकिन अन्त में नाम के लिये भी स्थान नहीं रखा। इस प्रकार जनार्दन का वैभव नितांत चमत्कारी और अलौकिक है। ज्ञानी लोग इस ग्रन्थ को देखकर एकाजनार्दन को ज्ञानी समझ बैठेंगे। एकाजनार्दन की स्थिति देखकर कोई कहता है कि वह बहुत बड़ा भक्त है, कोई कहता है वह जीवन्मुक्त है, कोई कहता है कि वह सचमुच प्रापंचिक है। फिर ऐसा भी कहते हैं कि इसे आसन की जानकारी नहीं है, ध्यान नहीं जानता, नियम, मुद्रा, माला जपना आदि, इनमें से एक भी उपासना का लक्षण नहीं है। इसका मंत्र क्या है? शिष्य को यह कैसा उपदेश देता है? वह किसी को यह सब नहीं मालूम होने देता। ऐसा होते हुए भी श्रद्धालु लोग उस पर अत्यन्त मोहित हैं। केवल हरिनाम का घोष कर इसने लोगों पर मोहिनी डाल दी है। ऐसे नाना प्रकार के विकल्प स्वयं जनार्दन ही लोगों में उत्पन्न कर रहा है। उसका उत्तर मैं देने लगता हूँ तो जनार्दन स्वयं ही बोलने लगता है। मेरा 'मैं'पन जनार्दन ने आत्मसात कर लिया है। इस समय मेरी उँगली जो हिल रही है, वह प्रक्रिया भी जनार्दन ही कर रहा है। आँखों का खुलना-बन्द होना, श्वासोश्वास के प्रकार तथा चलने वाला प्रवाह और इन्द्रियों का सारा व्यापार करने वाला सचमुच जनार्दन ही है। जब मैं कविता कहने लगता हूँ, तब वह भी जनार्दन ही कहता है। सारांश, मेरा 'मैं'पन धरने के लिये जगह ही नहीं बच रहती। मेरा जो 'मैं'पन था वह सब जनार्दन स्वयं हो गया है। इस प्रकार एका जनार्दन की पूरी तरह शरण में आने के कारण, उसी ने यह पूरा ग्रन्थ पूर्ण किया। लेकिन यह कहने लगता हूँ तो जनार्दन इशारे से ही मना कर देते हैं। अब एक कहिये या अलग कहिये, जनार्दन सर्वत्र व्याप्त है। देखो! उसी ने इस ग्रन्थ के लेखों को विस्तृत रूप दिया। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है अतः कृपया पण्डितजन इसकी अवहेलना न करें। आत्मनिष्ठा से देखें कि परमात्मस्थिति का अर्थ ठीक है या नहीं? जो इस ग्रन्थ का आदर करेंगे, अथवा जो उपेक्षा करेंगे अथवा खरी-खरी निन्दा ही करेंगे, वे भी हमारी दृष्टि में सद्गुरुस्वरूप परब्रह्ममूर्ति ही हैं। जनार्दन ने मुझे यह

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

सिखाया है कि सारे प्राणियों में स्वयं देखें। प्रकृति-गुणों के लक्षण हमें कभी नहीं देखने चाहिये। जिन्हें शिष्य का क्षोभ सहन न होता हो, निंदकों की निन्दा हजम न होती हो, वह साधक परमार्थ में कोरा ही है ऐसा समझना चाहिये। उसे क्रोध निश्चित रूप से डुबो देगा, यह जान लो। सारांश, दूसरे की प्रकृति के गुण देखकर मन क्षुब्ध हो जाता है अतः उन्हें नहीं देखना चाहिये। समस्त प्राणियों में चैतन्य ही भरा हुआ है यह देखें। यही उपदेश मुझे जनार्दन ने अत्यन्त आग्रह से किया है। इसके बिना ज्ञातागण भवसागर का पार नहीं पा सकेंगे। इसी निश्चय से देखने पर हमारे लिये गुरु तो गुरु ही है और शिष्य संवाद गुरु और निंदक परमगुरु; और नीच और दुष्ट तो सद्गुरु है; यह जनार्दन कृपा की सीख है। जनार्दन की कृपा से गुरु के बिना कोई खाली स्थान दिखायी ही नहीं देता। उसी ने सचमुच 'मैं'पन के साथ सारे ही प्राणिमात्र गुरुस्वरूप तक लाये हैं। उसी ने यह ग्रन्थकथा परमार्थ सिद्धि तक पहुँचायी। यह योग्यता मेरी अपनी नहीं है, यह मैंने श्रोताओं से पहले ही कह दिया है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ पैठण में हुआ और वहाँ पाँच अध्याय पूरे कर शेष ग्रन्थ आनन्दवन अर्थात् काशी में पूरा हुआ। 'अविमुक्त', 'महाश्मशान', 'आनन्दवन' ये सब काशीक्षेत्र के ही नाम हैं। उसका भी कारण सुनें। जहाँ अन्तिम मुक्ति प्राप्त होती है, सुजन और दुर्जन को एक ही गति प्राप्त होती है, बार-बार जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसना पड़ता इसलिये इस क्षेत्र को 'अविमुक्त' कहते हैं। जिस श्मशान में प्राण त्यागने पर, प्राणी को पुनः श्मशान का दर्शन नहीं करना पड़ता इसलिये इसे 'महाश्मशान' कहते हैं, यहाँ अंतकाल में शंकर जीव को ब्रह्मज्ञान सुनाता है। 'वरुणा' और 'अस्सी' इन दो नदियों के बीच पंचक्रोशी है, इसमें पातकों का प्रवेश नहीं है इसलिये इसे 'वाराणसी' कहते हैं। वरुणा पातकों का संहार करती है, असी महादोष का नाश करती है और बीच में विश्वेश्वर का नगर है। इसीलिये यह वास्तव में 'वाराणसी' है। विश्वेश्वर का यह क्रीड़ास्थल, जहाँ शंकर स्वानंद से स्वयं क्रीड़ा करते रहते हैं इसलिये इसे 'आनंदवन' कहते हैं। देवता भी यहाँ मरने की इच्छा करते हैं। यहाँ जीवितावस्था में स्वादिष्ट भोजन मिलता है और मरने के बाद अचूक मुक्ति मिलती है। इसलिये इसे 'आनंदवन' कहते हैं, ऐसा शंकर ने पार्वती से कहा है। उस वाराणसी नामक मुक्तिक्षेत्र में, मणिकर्णिका के महातट पर, पंचमुद्रा नामक पीठ में यह एकादश स्कंध पर टीका लिखी है। उसे सुनकर सज्जनों को संतोष प्राप्त हुआ और जनार्दन भी आनन्द से प्रसन्न हो उठे। उन्होंने पाँच अध्याय पूर्ण होने पर ही अपने मुख से वरदान दिया था। वरदान यह था कि यह ग्रन्थ निर्विघ्न रूप से सम्पन्न होगा; इसके योग से ज्ञाताओं को भी संतोष होगा, मुमुक्षुओं को परमार्थ का लाभ होगा और साधक संसार सागर पार कर जायेंगे। भोले भाले और विषयी लोग यदि इसका श्रवण और पाठ करेंगे तो वे भी हरि के भक्त होकर पूर्ण सन्मार्गी होंगे। संस्कृत भाषा में न होते हुए भी यह ज्ञानदान करने में महासमर्थ है। ऐसा स्वमुख से कहकर उन्होंने कृपादृष्टि से मेरी ओर देखा। तब मैंने भी उनसे विनती की कि, "जो लोग इस ग्रन्थ का अर्थ ग्रहण करेंगे, उन्हें ब्रह्मभावना से ब्राह्मणों के प्रति भक्ति और नाम के प्रति अखण्ड प्रीति प्रदान करें। वे ब्रह्मद्वेष्टा न बने, उन्हें निन्दा का स्पर्श भी न हो; क्योंकि ब्रह्मद्वेष से समूल क्षय होता है और निन्दा के पास सारे पातक रहते हैं।" यह विनती सुनकर जनार्दन कृपापूर्वक प्रसन्न हो उठे और उन्होंने मुझे इच्छित वरदान दिया। इस ग्रन्थ पर जो अत्यन्त भक्ति करेंगे उनके मन में निन्दा और द्वेष का प्रवेश ही नहीं होगा; और रामनाम का प्रेम निश्चित रूप से बढ़ेगा। ब्राह्मण जाति में विद्वान और अविद्वान का भेद न कर ब्रह्मभावना से ही उनमें भक्ति उत्पन्न होगी; और इससे अचूक ब्रह्मप्राप्ति होगी। साधकों के लिये नाम से सरल और कोई साधन नहीं है और ब्राह्मण के अतिरिक्त कोई देवता नहीं है। वह भजनभाव इस ग्रन्थ के कारण नित्य नूतन बढ़ता रहेगा। ऐसा वरदान देकर जनार्दन ने मुझे अपने पेट से कसकर चिपका लिया और कहा, "इस

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ग्रन्थ पर जो भक्ति करेंगे उनके संसारबंधन मैं तोड़ डालूँगा।'' मेरा अहो भाग्य कि मेरे समस्त श्रोताओं ने मुझ पर पूर्ण कृपा की। अर्थ परमार्थ की दृष्टियों से उन्होंने मुझे समान रूपसे संबल प्रदान किया। आगे भी इस ग्रन्थ का जहाँ निरूपण होगा, अथवा जहाँ-जहाँ यह कथा कही जायेगी, वहाँ भी इसी प्रकार अवधान दें ऐसी मुझ दीन की उनसे प्रार्थना है। यह प्रार्थना सुनकर सज्जन श्रोतागण सन्तुष्ट हो गये और बोले, यह कथा हमारा प्राण है, इसका जहाँ-जहाँ निरूपण होगा वहाँ हम रहेंगे ही। इस प्रकार श्रोता सन्तुष्ट हो गये और वर प्रदान कर जनार्दन भी प्रसन्न हो उठे। एका (एकनाथ) जनार्दन की शरण में जाने के कारण ग्रन्थ पूर्ण हुआ। वाराणसी नामक महामुक्ति क्षेत्र में, विक्रमशक (संवत) १६३०, वृषनाम संवत्सर में जनार्दन कृपा से एकनाथ ने यह टीका प्रस्तुत की। महामंगल कार्तिक मास के शुद्ध पौर्णिमा के दिन सोमवार को शिवयोग के दिन यह एकादश स्कंध की टीका समाप्त हुई। अब स्वदेश का शक और संवत्सर बताता हूँ। दण्डकारण्य स्थित श्रीरामक्षेत्र तथा गोदावरी के तट पर बसा हुआ गाँव पैठण! वहाँ का उल्लेख सुनिये। इस ग्रन्थ में १५०० सरस श्लोक हैं और उसके ३१ अध्याय हैं। उसमें का ज्ञानरहस्य श्रीकृष्ण ने स्वमुख से सुनाया है। यह एकादशस्कंध ऐक्य से भरा है, इसमें दूजापन नहीं है। ग्यारह का अर्थ है, एक पर एक! उसमें दूसरे-अंक के प्रवेश के लिये स्थान नहीं है। उन्हीं ग्यारह इन्दियों का सुख उसमें एक होकर अद्‌भुत ढंग से परिपक्व हुआ है। उस एकादश स्कंध की टीका, एक ब्रह्मरस से ही एकनाथ ने की है, वह जनार्दन कृपा से साधकों को भी एकत्व के आत्मसुख से ही फलदायी होगी। यह चिद्रत्न रूप ज्ञानग्रन्थ यथार्थ रूप से अर्थ बताकर प्रस्तुत किया है। मेरे नाम से श्रीजनार्दन स्वयं ही ग्रन्थकर्ता बन गया है। एका जनार्दन की शरण में है और जनार्दन को एकपन की चाह है। सूर्य के किरण जिस प्रकार अपने तेज से सारा अन्धकार नष्ट करते हैं, उसी प्रकार जनार्दन के तेज से एका (एकनाथ) का एकपन प्रकाशित हुआ है। इसीलिये यह ग्रन्थ प्रकाश में आया। वह एकपन से ही जनार्दन को अर्पित है। 'जन और जनार्दन एक है' इसे जो जान लेगा वही वास्तव में मुक्त होगा लेकिन यह न जानने के कारण ही लोग भ्रम में पड़े हुए हैं।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यांसंहितायां एकादश स्कंधे
एकाकार टीकायां मौसलोपाख्यानं नाम एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एकनाथ का जन्म संत परिवार में हुआ था। उनके परदादा भानुदास महाराष्ट्र के महान् संत थे। उनके पुत्र थे चक्रपाणि और उनके पुत्र थे सूर्यनारायण। एकनाथ ने सूर्यनारायण के घर में शक १४५० में पैठण में जन्म लिया। एकनाथ को ज्ञानेश्वर का अवतार कहा जाता है क्योंकि उन्होंने ज्ञानेश्वर के कार्य को पूरा किया। तेरहवीं सदी के अन्तिम दशक में ज्ञानेश्वर ने अपनी इहलीला समाप्त की।

एकनाथ का जन्म मूल नक्षत्र में हुआ था। उनके जन्म के कुछ ही महीने बाद उनके माता-पिता की मृत्यु हो गयी। वे अकेले रह गये तो उनके दादा-दादी लाड़-प्यार से उन्हें 'एका' कहकर पुकारने लगे। छठवें वर्ष ही उनका जनेऊ हो गया और उन्हें घर में ही ब्रह्मकर्म की शिक्षा दी जाने लगी। घर में जो गुरु पढ़ाने आते थे वे उनकी बुद्धि की तीव्रता से परेशान थे। एक दिन उन्होंने चक्रपाणीजी से कह ही दिया, "मैंने तो पेट के लिये कथा कहना सीखा था किन्तु आपका पौत्र ऐसे जटिल प्रश्न करता है कि मैं उसका समाधान नहीं कर पाता।" बारह वर्ष की आयु तक आते-आते उसने रामायण, महाभारत आदि पौराणिक ग्रन्थों का अध्ययन पूरा कर लिया था। दैनिक कृत्य के उपरान्त वे भगवद्भजन में लग जाते। एक रात वे अकेले ही शिवालय में बैठकर राम-कृष्ण-हरि का मंत्र जप रहे थे कि तभी उन्हें आत्मिक प्रेरणा हुई कि देवगढ़ जाकर जनार्दन स्वामी के चरणों में गिरना है। वे दादा-दादी से बिना कुछ कहे ही देवगढ़ के लिये चल पड़े। तीसरे दिन प्रातःकाल वे देवगढ़ पहुँचे। गुरु के दर्शन होते ही वे मानों गद्‌गद् हो गये। उन्होंने स्वयं को उनके चरणों में सौंप दिया। यह शक संवत् १४६७ की घटना है। देवगढ़ में एकनाथ को दत्तात्रेय के दर्शन हुए।

एकनाथजी ने विपुल ग्रन्थ रचना की जिसमें प्रमुख हैं—स्वात्मबोध, चिरंजीव पद, आनन्द लहरी आदि। नाथभागवत आपका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'भावार्थ रामायण' भी आपका महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

विश्वविद्यालय प्रकाशन
विशालाक्षी भवन, चौक, वाराणसी - 221 001
ISBN : 81-7124-402-5 मूल्य : 600.00 रुपये

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri